संख्या १—६ ["अ" से "कंदा" तक] शब्द १८०११

हिंदी-शब्दसागर

अर्थात्

हिंदी भाषा का एक बृहत् कोश

[पहला खंड]

संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

सहायक संपादक

बालकृष्ण भट्ट रामचंद्र शुक्ल

अमीरसिंह जगन्मोहन वर्म्मा

भगवानदीन

प्रकाशक

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

१९२९

मूल्य ६) डाकव्यय अतिरिक्त

संकेताक्षरों के विवरण

अं०=अँगरेज़ी भाषा
अ०=अरबी भाषा
अनु०=अनुकरण शब्द
अने०=अनेकार्थनाममाला
अप०=अपभ्रंश
अयोध्या०=अयोध्यासिंह उपाध्याय
अर्द्धमा०=अर्द्ध मागधी
अल्पा०=अल्पार्थक प्रयोग
अव्य०=अव्यय
आनंदघन०=कवि आनंदघन
इब०=इबरानी भाषा
उ०=उदाहरण
उत्तरचरित=उत्तररामचरित
उप०=उपसर्ग
कठ० उप०=कठवल्ली उपनिषद्
उभ०=उभयलिंग
कबीर=कबीरदास
केशव=केशवदास
क्रि०=क्रिया
क्रि० अ०=क्रिया अकर्मक
क्रि० प्र०=क्रिया प्रयोग
क्रि० वि०=क्रिया विशेषण
क्रि० स०=क्रिया सकर्मक
क्व०=क्वचित् अर्थात् इसका प्रयोग बहुत कम देखने में आया है।
खानखाना=अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना
गि० दा० वा गि० दास=गिरिधरदास (बा० गोपालचंद्र)
गिरिधर=गिरिधरराय (कुंडलिया-वाले)
गुमान=गुमान मिश्र
गोपाल=गिरिधरदास (बा० गोपाल-चंद्र)
चरण=चरणचंद्रिका
चिंतामणि=कवि चिंतामणि त्रिपाठी
छीत=छीतस्वामी
जायसी=मलिक मुहम्मद जायसी
ज्यो०=ज्योतिष
डिं०=डिंगल भाषा
तु०=तुरकी भाषा
तुलसी=तुलसीदास
तोष=कवि तोष
दादू=दादूदयाल
दीनदयालु=कवि दीनदयालु गिरि
दूलह=कवि दूलह
दे०=देखो
देव=देव कवि (मैनपुरीवाले)
देश०=देशज
नागरी=नागरीदास
नाभा=नाभादास
निश्चल=निश्चलदास
पं०=पंजाबी भाषा
पद्माकर=पद्माकर भट्ट
पर्या०=पर्य्याय
पा०=पाली भाषा
पुं०=पुंल्लिंग
पु० हिं०=पुरानी हिंदी
पुर्त्त०=पुर्त्तगाली भाषा
पू० हिं०=पूर्वी हिंदी
प्रताप=प्रतापनारायण मिश्र
प्रत्य०=प्रत्यय
प्रा०=प्राकृत भाषा
प्रिया=प्रियादास
प्रे० सा०=प्रेमसागर
फ़्र०=फ़रासीसी भाषा
फ़ा०=फ़ारसी भाषा
बंग०=बँगला भाषा
बरमी=बरमी भाषा
बेनी=कवि बेनी प्रवीन
भूषण=कवि भूषण त्रिपाठी
मतिराम=कवि मतिराम त्रिपाठी
बहु०=बहुवचन
बिहारी=कवि बिहारीलाल
मलूक०=मलूकदास
मुहा०=मुहाविरे
यू०=यूनानी भाषा
यौ०=यौगिक तथा दो वा अधिक शब्दों के पद
रघु० दा०=रघुनाथदास
रघुनाथ=रघुनाथ वंदीजन
रघुराज=महाराज रघुराजसिंह रीवाँ नरेश
रसखान=सैयद इब्राहीम
रसनिधि=राजा पृथ्वीसिंह
रहीम=अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना
लक्ष्मणसिंह=राजा लक्ष्मणसिंह
लल्लू०=लल्लूलाल
लाल=लाल कवि (छत्रप्रकाशवाले)
वि०=विशेष
विश्राम=विश्रामसागर
व्यंग्यार्थ=व्यंग्यार्थकौमुदी
व्या०=व्याकरण
व्यास=अंबिकादत्त व्यास
शं० दि०=शंकर दिग्विजय
शृं० सत०=शृंगार सतसई
सं०=संस्कृत
संयो०=संयोजक अव्यय
सबल=सबलसिंह चौहान
सभा० वि०=सभाविलास
सर्व०=सर्वनाम
सुधाकर=सुधाकर द्विवेदी
सूदन=सूदन कवि (भरतपुरवाले)
सूर=सूरदास
स्त्रि०=स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त
स्त्री०=स्त्रीलिंग
स्पे०=स्पेनी भाषा
हिं०=हिंदी भाषा
हनुमान=हनुमन्नाटक
हरिदास=स्वामी हरिदास
हरिश्चंद्र=भारतेंदु हरिश्चंद्र

* यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त होता है।
† यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है।
‡ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि शब्द का यह रूप ग्राम्य है।

हिन्दी-शब्दसागर

अ

अ–संस्कृत और हिन्दी वर्णमाला का पहिला अक्षर। इसका उच्चारण कंठ से होता है इससे यह कंठ्य वर्ण कहलाता है। व्यंजनों का उच्चारण इस अक्षर की सहायता के बिना अलग नहीं हो सकता इसीसे वर्णमाला में क, ख, ग आदि वर्ण अकार संयुक्त लिखे और बोले जाते हैं।

विशेष–अक्षरों में यह सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। उपनिषदों में इसकी बड़ी महिमा लिखी है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—"अक्षराणामकारोस्मि"। वास्तव में कंठ खुलते ही बच्चों के मुँह से यह अक्षर निकलता है इसीसे प्रायः सब वर्णमालाओं में इसे पहिला स्थान दिया गया है। वैयाकरणों ने मात्राभेद से इसे तीन प्रकार का माना है, ह्रस्व जैसे–अ; दीर्घ जैसे–आ; प्लुत जैसे–अ ३। इन तीनों में से प्रत्येक के दो दो भेद माने गये हैं; सानुनासिक और निरनुनासिक। सानुनासिक का चिह्न चंद्रबिन्दु ँ है। तंत्रशास्त्र के अनुसार यह वर्णमाला का पहिला अक्षर इसलिये है कि यह सृष्टि उत्पन्न करने के पहिले सृष्टिकर्त्ता की अकुल अवस्था को सूचित करता है।

अंक–संज्ञा पुं० [सं] (१) चिह्न। निशान। छाप। आँक। (२) लेख। अक्षर। लिखावट। उ०–मेटत कठिन कुअंक भाल के।—तुलसी। (३) संख्या का चिह्न, जैसे १,२,३,४,५ आदि। आँकड़ा। अदद। (४) लिखन। भाग्य। क़िस्मत। (५) काजल की बिन्दी जिसे नज़र से बचाने के लिये बच्चों के माथे पर लगा देते हैं। डिठौना। अनखा। (६) दाग़। धब्बा। (७) नौ की संख्या, क्योंकि अंक नौ ही तक होते हैं। (८) नाटक का एक अंश जिसके अंत में जवनिका गिरा दी जाती है और जो नायक वा नायिका के चरित के एक विशेष भाग की समाप्ति सूचित करता है। (९) दस प्रकार के रूपकों में से एक जिसमें ऐसे नायक का चरित्र हो जिसे सब लोग जानते हों और जिसका आख्यान रसयुक्त हो। इसकी भाषा सरल और पद छोटा होना चाहिए। (१०) गोद। अँकवार। क्रोड़। (११) शरीर। अंग। देह। (१२) पाप। दुःख। (१३) बार। दफ़ा। मर्तबा। उ०—एकहु अंक न हरि भजेसि रे शठ सूर गँवार।—सूर।

मुहा०–**देना वा लगना**=गले लगना। आलिंगन देना।–**भरना वा लगाना**=हृदय से लगाना। लिपटाना। गले लगाना। दोनों हाथों से घेर कर प्यार से दबाना। परिरंभण करना। आलिंगन करना।

अंकक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अंकिका] (१) चिह्न करने वाला। (२) गिनती करने वाला। हिसाब रखने वाला।

अंककार–संज्ञा पु० [सं०] युद्ध वा बाज़ी में हार और जीत का निर्णय करने वाला।

अंकगणित–संज्ञा पु० [सं] १, २, ३ आदि संख्याओं का हिसाब। संख्या की मीमांसा। वह विद्या जिससे पूर्ण संख्या की विभाज्यता तथा विभाग के अनंतर शेष आदि का ज्ञान हो।

अँकटा†–संज्ञा पु० [सं० कर्कर, प्रा० कक्कर] (१) कंकड़ का छोटा टुकड़ा। (२) कंकड़ पत्थर आदि का महीन टुकड़ा वा चूरा जो अनाज में से चुन कर निकाल दिया जाता है।

अँकटी–संज्ञा स्त्री० [अकटा शब्द का अल्पार्थक प्रयोग]

अँकड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० अकुर=अखुआ, टेढ़ी नोक] (१) कँटिया। हुक। (२) तीर का मुड़ा हुआ फल। टेढ़ी गाँसी (३) बेल। लता। (४) लग्गी। फल तोड़ने का बाँस का डंडा जिसके सिरे पर फँसाने के लिये एक छोटी लकड़ी बँधी रहती है।

अंकधारण–संज्ञा पुं० [सं०] तप्तमुद्रा के चिह्नों का दगवाना। शंख चक्र, त्रिशूल आदि के चिह्न गरम धातु से छपवाना।

क्रि० प्र०—**करना**।

अंकधारिणी–वि० [सं०] तप्तमुद्रा के चिन्ह धारण करने वाली। दे० "अंकधारी"।

अंकधारी–वि० [सं०] [स्त्री० अंकधारिणी] तप्तमुद्रा के चिन्ह धारण करने वाला जिसने शंख, चक्र या त्रिशूल के चिन्ह गरम धातु से अपने शरीर पर छपवाए हों।

अंकन–संज्ञा पु० [सं०] [वि० अंकनीय, अंकित, अंक्य] (१) चिन्ह करना । निशान करना । (२) लेखन । लिखना । उ०–चित्रांकन, चरित्रांकन । (३) शंख, चक्र, गदा, पद्म वा त्रिशूल के चिन्ह गरम धातु से बाहु पर छपवाना ।

विशेष–वैष्णव लोग शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि विष्णु के चार आयुधों के चिन्ह छपवाते हैं और दक्षिण के शैव लोग त्रिशूल वा शिवलिंग के । रामानुज संप्रदाय के लोगों में इसका चलन बहुत है । द्वारिका इसके लिये प्रसिद्ध स्थान है ।

(४) गिनती करना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अँकना*–क्रि० स० दे० "आँकना" ।

अंकनीय–वि० [सं०] अंकन योग्य । चिन्ह करने के योग्य । छापने के लायक ।

अंकपरिवर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] करवट लेना । करवट बदलना । करवट फिरना । एक ओर से दूसरी ओर पीठ करके सोना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अंकपल्लई–संज्ञा स्त्री० [सं० अंकपल्लव] वह विद्या जिसमें अंकों को अक्षरों के स्थान पर रखते हैं और उनके समूह से उसी प्रकार अभिप्राय निकालते हैं जैसे शब्दों और वाक्यों से । इसमें इक्कीस अक्षर लेकर उनकी संख्याएँ नियत कर दी गई हैं । जैसे १ से "प" अक्षर समझते हैं ।

अंकपालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "अंकपाली" ।

अंकपाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] धाय । दाई । धातृ ।

अंकमाल–संज्ञा पुं० [सं] आलिंगन । भेंट । परिरंभण । गले लगना ।

मुहा०–देना=आलिंगन करना । गले लगाना । भेंटना ।

अंकमालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा हार । छोटी माला । (२) आलिंगन । भेंट ।

अँकरा–संज्ञा पुं० [सं० अंकुर] (१) एक खर वा कुधान्य जो गेहूँ के पौधों के बीच जमता है । इसे काट कर बैलों को खिलाते हैं और इसका साग भी खाते हैं । इसका दाना वा बीज काला, चिपटा, छोटी मूँग के बराबर होता है और प्रायः गेहूँ के साथ मिल जाता है । इसे ग़रीब लोग खाते भी हैं । खेसारी इसीका एक रूपांतर है ।

अँकरास†–संज्ञा पुं० दे० "अकरास" ।

अँकरी–संज्ञा स्त्री० [अंकरा का अल्पार्थक प्रयोग]

अँकरोरी, अँकरौरी†–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्कर = कंकड़] कंकड़ी । सिटकी । कंकड़ वा खपड़े का बहुत छोटा टुकड़ा ।

अँकवार–संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्कपालि; अङ्कमाल] (१) गोद । छाती ।

मुहा०–देना = गले लगना । छाती से लगना । आलिंगन करना । भेंटना । —भरना=(१) आलिंगन करना । भेंटना । गले मिलना । हृदय से लगाना । दोनों हाथों से घेर कर मिलना । (२) गोद में बच्चा रहना । संतानयुक्त होना । उ०–बहू तुम्हारी अँकवार भरी रहे ।—आशीर्वाद । (३) आलिंगन । भेंट । मिलना । उ०–चिट्ठी में हमारी भेंट अँकवार लिख देना ।—स्त्रि० ।

अंकविद्या–संज्ञा स्त्री० दे० "अंकगणित" ।

अँकाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० आँकना] (१) कूत । अंदाज़ा । अटकल । तख़मीना । (२) फ़सल में से ज़मींदार और काश्तकार के हिस्सों का ठहराव ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अँकाना–क्रि० स० [सं० अङ्कन] [संज्ञा—अंकाव, अंकाई] कुतवाना । मूल्य निर्धारित कराना । अंदाज़ कराना । परीक्षा कराना । परखाना ।

अँकाव–संज्ञा पुं० [हिं० आंकना] कूतने वा आँकने का काम । कुताई । अंदाज़ वा तख़मीना करने का काम ।

क्रि० प्र०—होना ।

अंकावतार–संज्ञा पुं० [सं०] नाटक के एक अंक के अंत में आगामी दूसरे अंक के अभिनय की पात्रों द्वारा सूचना वा आभास ।

क्रि० प्र०—होना ।

अंकिका–संज्ञा पु० [सं०] (१) चिन्ह करनेवाली । (२) गिनती करनेवाली । (३) हिसाब रखनेवाली ।

अंकित–वि० [सं०] (१) चिन्हित । निशान किया हुआ । दाग़दार । (२) लिखित । खचित । (३) वर्णित ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अंकिल †–संज्ञा पुं० [सं० अंकित] दाग़वाला । दाग़ा हुआ साँड़ । साँड़ । बछड़ा जिसे हिन्दू वृषोत्सर्ग में दाग़ कर छोड़ देते हैं ।

अँकुड़ा–संज्ञा पु० [सं० अंकुर] (१) लोहे का झुका हुआ टेढ़ा काँटा । (२) लोहे का झुका हुआ टेढ़ा छड़ जिससे चुड़िहार लोग भट्ठी से गला हुआ काँच निकालते हैं । (३) गाय बैल के पेट का दर्द वा मरोड़ जिसे 'ऐंचा' भी कहते हैं । (४) टेढ़ी झुकी हुई कील वा कटिया जिसमें तागे अँटकाकर पटवा वा पटहार काम करते हैं । (५) लोहे का एक टेढ़ा काँटा जो लकड़ी आदि तौलने वाली बड़ी तराज़ू की डाँड़ी के बीचोबीच लगा रहता है । इसी काँटे में रस्सी लगाकर उसे धरन में टाँगते हैं । (६) कुलाबा । पायजा । (७) लोहे का एक गोल पच्चड़ जो किवाड़ की चूल में ठोंका रहता है । (८) रेशमी कपड़ा बुनने वालों का मछली के आकार का काठ का एक औज़ार जिसके सिरे पर एक छेद होता है । इस छेद में एक खूँटी लगी रहती है जिसमें दलथंभन से बँधी हुई रस्सी लपेटी रहती है । (९) लोहे का एक छड़ जिसका एक सिरा चिपटा होता है और दूसरा टेढ़ा तथा झुका हुआ । चिपटे सिरे को काँटे से किवाड़ के पल्ले में जड़ देते हैं और झुके हिस्से को साह के कोढ़ों में डाल देते हैं । इसी पर पल्ला घूमता है अर्थात् खुलता और बंद होता है ।

अँकुड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंकुड़ा] [अँकुड़ा का अल्पार्थक प्रयोग] [वि० अकुड़ीदार] (१) टेढ़ी कँटिया। हुक। (२) लोहे का एक छड़ जिसका सिरा कुछ झुका रहता है और जिससे लोहार लोग भट्ठी की आग खोदते हैं। (३) हल की वह लकड़ी जिसमें फाल लगाया जाता है। (४) एक्के के पहिये के जोड़ों पर लगी हुई लोहे की कील वा जोंकी।

अँकुड़ीदार–वि० [हिं० अकुड़ी+फ़ा० दार] (१) जिसमें अँकुड़ी वा कटिया लगी हो। जिसमें अँटकाने के लिये हुक लगा हो। हुकदार। (२) एक प्रकार का कसीदा जिसे "गबारी" भी कहते हैं।

अंकुर–संज्ञा पुं० [सं०] [क्रि० अंकुरना, वि० अंकुरित] (१) अँखुआ। नवोद्भिद। प्ररोह। गाभ। अँगुसा। (२) डाभ। कल्ला। कनखा। कोपल। आँख।

क्रि० प्र०—आना।–उगना।–जमना।–निकलना।–फूटना। –फेंकना।–फोड़ना।–लाना।–लेना।

(३) कली। (४) नोक। (५) रुधिर। रक्त। खून। (६) रोंआँ। लोम। (७) जल। पानी। (८) मांस के बहुत छोटे लाल लाल दाने जो घाव भरते समय उत्पन्न होते हैं। मांस के छोटे दाने। अंगूर। भराव।

अंकुरक–संज्ञा पुं० [सं०] घोंसला। खोंता।

अंकुरना, अंकुराना*–क्रि० अ० [सं० अंकुर] अंकुर फोड़ना। उगना। जमना। निकलना। पैदा होना। उत्पन्न होना।

अंकुरित–वि० [सं०] (१) अँखुवाया हुआ। उगा हुआ। जमा हुआ। निकला हुआ। जिसमें अंकुर होगया हो। उत्पन्न।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अंकुरित यौवना–वि० [सं०] वह स्त्री जिसके यौवनावस्था के कुच आदि चिन्ह निकल आए हों। उभड़ती हुई युवती। स्त्री जिसकी उभड़ती जवानी हो।

अंकुरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंकुर+ई] चने की भिगोई हुई घुघनी।

अंकुश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का छोटा शस्त्र वा टेढ़ा काँटा जिसे हाथी के मस्तक में गोदकर महावत उसे चलाता वा हाँकता है। हाथी को हाँकने का दोमुँहा भाला जिसका एक फल झुका होता है। आँकुस। गजबाग। शृणि।

क्रि० प्र०—देना।—मारना।—लगाना।

मुहा०—देना=ठेलना। ज़बरदस्ती करना।

(२) प्रतिबंध में रखना। दबाव में रखना। रोक। दबाव।

अंकुशग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] महावत। हाथीवान। निषादी। फ़ीलवान।

अंकुशदंता–वि० [सं० अंकुशदन्त] हाथी का एक भेद। इसका एक दाँत सीधा और दूसरा पृथ्वी की ओर झुका रहता है। यह और हाथियों से बलवान और क्रोधी होता है तथा झुंड में नहीं रहता। इसे "गुण्डा" भी कहते हैं।

अंकुशदुर्धर–संज्ञा पुं० [सं०] मतवाला हाथी। मस्त हाथी।

अँकुस–संज्ञा पुं० दे० "अंकुश"।

अँकुसा–संज्ञा पुं० दे० "अंकुश"।

अँकुसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंकुस+ई] [अंकुस का अल्पार्थक प्रयोग] (१) टेढ़ी करके झुकाई हुई लोहे की कील जिसमें कोई चीज़ लटकाई या फँसाई जाय। हुक। कँटिया। (२) पीतल वा लोहे का एक लंबा छड़ जिसका एक सिरा घुमावदार होता है। इससे ठठेरे भठुली की राख निकालते हैं। (३) लोहे का टेढ़ा छड़ जिसको किवाड़ के छेद में डालकर बाहर से अगरी वा सिटकिनी खोलते हैं। यह कुंजी का काम देता है। (४) वह छोटी लकड़ी जो फल तोड़ने की लग्गी के सिरे पर बँधी रहती है। (५) लोहे का एक बित्ता लंबा सूजा जिसका सिरा झुका होता है। इससे नारियल के भीतर की गरी निकालते हैं।

अंकोट–संज्ञा पुं० दे० "अंकोल"।

अंकोटक–संज्ञा पुं० दे "अंकोल"।

अँकोड़ा–संज्ञा पुं० [सं० अंकुर] एक प्रकार का लोहे का काँटा जो पाल की रस्सी खींचने में काम आता है। एक प्रकार का लंगड़। बड़ी कँटिया।

अँकोर–संज्ञा पुं० [सं० अंकमाल वा अंकपालि; हिं० अंकवार] (१) अंक। गोद। छाती। उ०–खेलत रहौं कतहुँ मैं बाहिर चितै रहति सब मोरी ओर। बोलि लेति भीतर घर अपने मुख चूमति भरि लेति अँकोर।—सूर। दे० "अँकवार"। (२) भेंट। नज़र। घूस। रिशवत। उ०–(क) टका लाख दस कीन्ह अँकोरा। बिनती कीन्ह पाँय गहि गोरा॥—जायसी। (ख) सूरदास प्रभु के जो मिलन को कुच श्रीफल सों करति अँकोर।—सूर। (ग) बिथुरित सिरुह वरूथ, कुंचित बिच सुमनजूथ, मनि जुत सिसु फनि अनीक, ससि समीप आई। जनु सभीत दै अँकोर, राखे जुग रुचिर मोर, कुंडल छबि निरखि चोर, सकुचत अधिकाई।—तुलसी।† (३) खोराक वा कलेवा जो खेत में काम करनेवालों के पास भेजा जाता है। छाक। कोर। दुपहरिया। जलपान।

अँकोरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अँकोर+ई] [अंकोर का अल्पार्थक प्रयोग] (१) गोद। अंक। (२) आलिंगन। दे०—"अँकवार"।

अँकोल–संज्ञा पुं० [सं०] एक पेड़ जो सारे भारतवर्ष में प्रायः पहाड़ी ज़मीन पर होता है। यह शरीफ़े के पेड़ से मिलता जुलता है। इसमें बेर के बराबर गोल फल लगते हैं जो पकने पर काले हो जाते हैं। छिलका हटाने से इसके भीतर बीज पर लिपटा हुआ सफेद गूदा होता है जो खाने में कुछ मीठा होता है। इस पेड़ की लकड़ी कड़ी होती है और छड़ी

आदि बनाने के काम में आती है। इसके जड़ की छाल दस्त लाने, वमन कराने, कोढ़ और उपदंश आदि चर्म रोगों को दूर करने तथा सर्प आदि विषैले जंतुओं के विष को हटाने में उपयोगी मानी जाती है।

पर्य्या०-अंकोलक। अंकोट। ढेरा। अकोला।

अंक्य-वि० [सं०] चिन्ह करने योग्य। निशान लगाने लायक़। संज्ञा पुं० (१) दागने के योग्य अपराधी।

विशेष—प्राचीन काल में राजा लोग विशेष प्रकार के अपराधियों के मस्तक पर कई तरह के चिह्न गरम लोहे से दाग़ देते थे। इसीसे आजकल भी किसी घोर अपराधी को जो कई बेर सजा पा चुका हो 'दाग़ी' कहते हैं।

(२) मृदंग, तबला, पखावज आदि बाजे जो गोद में रख कर बजाए जायँ।

अँखड़ी†-संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षि, प्रा० अक्खि, पं० अक्ख+ड़ी] (१) आँख। नेत्र। (२) चितवन। दे० "आँख"।

अँखमीचनी-संज्ञा स्त्री० दे० "आँखमिचौली"।

अँखाना*-क्रि० अ० दे० "अनखाना"।

अँखिया-संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षि, प्रा० अक्खि, पं० अक्ख, हि० आँख] (१) लोहे का एक ठप्पा वा कलम जिससे बरतन पर हथौड़ी से ठोंक ठोंककर नक्क़ाशी बनाते हैं। ‡ (२) दे० "आँख"।

अँखुआ-संज्ञा पुं० [सं० अंकुर] [क्रि० अखुआना] (१) अंकुर। बीज से फूटकर निकली हुई टेढ़ी नोक जिसमें से पहिली पत्तियाँ निकलती हैं। (२) बीज से पहिले पहिल निकली हुई मुलायम बँधी पत्ती। डाभ। कल्ला। कनखा। कोंपल। फुनगी।

क्रि० प्र०—आना।-उगना।-जमना।-निकलना।-फूटना।-फेंकना।-फोड़ना।-लाना।-लेना।

अँखुआना-क्रि० अ० [हि० अखुआ] अंकुर फोड़ना वा फेंकना। उगना। जमना। अंकुरित होना।

अंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर। बदन। देह। तन। गात्र। जिस्म। (२) अवयव। (३) भाग। अंश। खंड। टुकड़ा। (४) भेद। प्रकार। भाँति। तरह। उ०—अंग अंग नीके भाव गूढ़ भाव के प्रभाव, जानै को सुभाव रूप पचि पहिंचानी है।—केशव। (५) उपाय। (६) सहायक। सुहृद्। पक्ष का। तरफ़दार। उ०-(क) रउरे अंग जोग जग को है?—तुलसी। (ख) अपने अँग के जानि के, जोवन नृपति प्रवीन।—बिहारी। (७) प्रत्यययुक्त शब्द का प्रत्यय रहित भाग। प्रकृति।—व्या० (८) जन्मलग्न। (९) साधन जिसके द्वारा कोई कार्य्य संपादित किया जाय। (१०) बंगाल में भागलपुर के आस-पास का प्रदेश जिसकी राजधानी चंपापुरी थी। कहीं कहीं इसका विस्तार वैद्यनाथ से लेकर भुवनेश्वर (उड़ीसा) तक लिखा है। (११) ध्रुव के वंश का एक राजा। (१२) एक भक्त का नाम। (१३) एक संबोधन। प्रिय। प्रियवर। उ०—यह निश्चय ज्ञानी को जाते कर्त्ता दीखै करै न, अंग-निश्चल। (१४) ६ की संख्या। (१५) ओर। तरफ़। उ०-तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।-तुलसी। (१६) नाटक में श्रृंगार और वीर रस को छोड़ शेष रस जो अप्रधान रहते हैं। (१७) नाटक में नायक वा अंगी का कार्यसाधक पात्र। जैसे, बीरचरित में सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि। (१८) वेद के ६ अंग; यथा-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द। दे० "वेदांग"। (१९) सेना के चार अंग वा विभाग; यथा—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। दे० "चतुरंगिणी"। (२०) योग के आठ अंग; यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। दे० "योग"। (२१) राजनीति के सात अंग; यथा—स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना।

मुहा०—**छूना**=शपथ खाना। माथा छूना। कसम खाना। उ०—सूर हृदय तें टरत न गोकुल अंग छुअत हौं तेरो—सूर। **अंग टूटना**=अगड़ाई आना। जम्हाई के साथ आलस्य से अंगों का फैलाया जाना। **अंग तोड़ना**-अगड़ाई लेना।-**धरना**=पहिनना। धारण करना। व्यवहार करना। **फूले अंग न समाना**=अत्यंत प्रफुल्लित होना। बहुत प्रसन्न होना।—**मोड़ना**-(१) शरीर के भागों का सिकोड़ना। लज्जा से देह छिपाना। अगड़ाई लेना। उ०—अंगन मोरति भोर उठी छिति पूरति अंग सुगंध झकोरन। व्यंग्यार्थ। (३) पीछे हटना। भागना। नटना। बचना। उ०—रे पतंग निःशंक जल, जलत न मोड़ै अंग। पहिले तो दीपक जलै, पीछे जलै पतंग।—**लगना**=(१) लिपटना। आलिंगन करना। छाती से लगाना। (२) शरीर को पुष्ट करना। शरीर को बलवान करना। उ०—वह खाता तो बहुत है पर उसके अंग नहीं लगता। (३) काम मे आना। उ०—किसी के अंग लग गया पड़ा पड़ा क्या होता। (४) हिलना। परचना। उ०—यह बच्चा हमारे अंग लगा है।—**लगाना**,—* **लाना**=(१) आलिंगन करना। छाती से लगाना। लिपटाना। परिरंभण करना। उ०—परनारी पैनी छुरी कोउ नहिँ लाओ अंग। (२) हिलाना। परचाना। (३) विवाह देना। विवाह में देना। उ०—इस कन्या को किसी के अंग लगा दे। (४) अपने शरीर के आराम में खर्च करना। **अंग करना**=अँगीकार करना। उ०—जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्यो—तुलसी। जाको मनमोहन अंग करै —सूर।

वि० (१) अप्रधान। गौण। (२) उलटा। प्रतीक। (३) प्रधान।

अंगकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर को सँवारना वा मलना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अंगग्रह-संज्ञा० पुं० [सं०] (१) शरीर की पीड़ा। बदन का दर्द।

देह का जकड़ना। वह रोग जिसमें देह में पीड़ा हो। (२) स्थापत्य में जहाँ इस प्रकार की रक्षा आवश्यक होती है कि पत्थर एक दूसरे के ऊपर से फिसल न जायँ अथवा उनके जोड़ अलग न हो जायँ वहाँ उनके बीच एक कबूतर की पूँछ के आकार का लोहे वा ताँबे का टुकड़ा बैठा दिया जाता है जो 'अंगग्रह' कहलाता है। पाहू।

अंगचालन- संज्ञा पुं० [सं०] हाथ पैर हिलाना। अंग डोलाना।

अंगज-वि० [सं०] शरीर से उत्पन्न। तन से पैदा।

संज्ञा पुं० [स्त्री० अंगजा, अंगजाता] (१) पुत्र। बेटा। लड़का। (२) पसीना। (३) बाल। केश। रोम। (४) काम क्रोध आदि विकार (५) साहित्य में स्त्रियों के यौवन-संबंधी जो सात्विक विकार हैं उनमें हाव, भाव और हेला ये तीन 'अंगज' कहलाते हैं। कायिक। (६) कामदेव। (७) मद। (८) रोग।

अंगजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] [पुं० अंगज, अंगजात] कन्या। पुत्री। बेटी।

अंगजाई- संज्ञा स्त्री० [सं० अंगजा] पुत्री। बेटी। कन्या।

अंगजात-संज्ञा पुं० दे० "अंगज"।

अंगजाता-संज्ञा स्त्री० दे० "अंगजा"।

अंगड़-खंगड़-वि० [अनु०] (१) बचाखुचा। गिर पड़ा। इधर उधर का (२) टूटा फूटा।

अँगड़ाई-संज्ञा स्त्री० [हि० अँगड़ाना+ई] [क्रि० अंगड़ाना] देह टूटना। बदन टूटना। आलस से जम्हाई के साथ अंगों को तानना वा फैलाना। देह के बंद वा जोड़ के भारीपन को हटाने के लिये अवयवों को पसारना वा तानना। शरीर के लगातार एक स्थिति में रहने के कारण जोड़ों वा बंदों के भर जाने पर अवयवों को फैलाना।

विशेष-सो के उठने पर वा ज्वर आने के कुछ पहिले यह प्रायः आती है।

क्रि० प्र०—आना।—तोड़ना।—लेना।

मुहा०-तोड़ना=आलस्य में बैठे रहना। कुछ काम न करना।

अँगड़ाना-क्रि० अ० [सं० अङ्ग+अट्] [संज्ञा अंगड़ाई] देह तोड़ना। सुस्ती से ऐंड़ाना। बंद वा जोड़ों के भारीपन को हटाने के लिये अंगों को पसारना वा तानना। शरीर के लगातार एक स्थिति में रहने के कारण जोड़ों वा बंदों के भर जाने पर अवयवों को तानना वा फैलाना।

अंगण-संज्ञा पुं० [सं०] आँगन। सहन। चौक। अजिर। घर के बीच का खुला हुआ भाग।

विशेष-शुभाशुभ निश्चय के लिये इसके दो भेद माने गए हैं, एक 'सूर्यवेधी' जो पूर्व-पश्चिम लंबा हो, दूसरा 'चंद्रवेधी' जिसकी लंबाई उत्तर-दक्षिण हो। चंद्रवेधी आँगन अच्छा समझा जाता है।

अंगति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्निहोत्री। (२) ब्रह्मा। (३) विष्णु। (४) अग्नि।

अंगत्राण-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर को ढकनेवाला। अँगरखा। कुरता।

अंगद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहु पर पहिनने का एक गहना। बिजायठ। बाजूबंद। (२) बालि नामक बंदर का पुत्र जो रामचंद्रजी की सेना में था। (३) लक्ष्मण के दो पुत्रों में से एक।

अंगदान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ दिखलाना। युद्ध से भागना। लड़ाई से पीछे फिरना। (२) तनुदान। तन समर्पण। सुरति। रति। विशेष—यह स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है।

क्रि० प्र०-करना=(१) पीठ दिखलाना। भागना। पीछे फिरना। (२) रति करना। संभोग करना।

अंगदीया-संज्ञा स्त्री० [सं०] कारुपथ नामक देश की नगरी जो लक्ष्मण के पुत्र अंगद को मिली थी।

अंगद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के मुख, नासिका आदि दस छेद।

अंगधारी-संज्ञा पुं० [सं०] शरीरी। प्राणी। शरीर धारण करने वाला।

अंगन-संज्ञा पुं० [सं० अङ्गण] आँगन। सहन। चौक। दे० "आँगन"।

अँगना†-संज्ञा पुं० दे० "आँगन"।

अंगना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अच्छे अंगवाली स्त्री। स्त्री। कामिनी। (२) सार्वभौम नामक उत्तर के दिग्गज की हथिनी।

अँगनाई-संज्ञा स्त्री० दे० "आँगन"।

अँगनाप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] अशोक का पेड़।

अँगनैया‡-संज्ञा स्त्री० दे० "आँगन"

अंगन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रशास्त्र के अनुसार मंत्रों को पढ़ते हुए एक एक अंग को छूना।

अंगपाक- संज्ञा पुं० [सं०] अंगों का पकना वा सड़कर उनमें मवाद भरना। अंग पकने का रोग।

अंगपाली-संज्ञा पुं० [सं०] आलिंगन।

अंगप्रोक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंग पोंछना। देह अँगोछना। शरीर पोंछना। शरीर को गीले कपड़े से मल कर साफ़ करना।

अंगभंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी अवयव का खंडन वा नाश। अंग का खंडित होना। शरीर के किसी भाग की हानि। उ०—(क) रसना द्विज सो दुखित होइ बहुतौ रिस कहा करै। यद्यपि अंग विभंग होत है पै समीप संचरै।—सूर। (ख) उसका अंगभंग हो गया। * (२) स्त्रियों को मोहित करने की चेष्टा। स्त्रियों की कटाक्ष आदि क्रिया। अंगभंगी। वि० जिसका कोई अवयव कटा वा टूटा हो। जिसके शरीर का कोई भाग खंडित हो। अपाहज। लँगड़ा लूला। लुञ्ज। जिसके हाथ पैर टूटे हों। उ०—अंगभंग कर पठवहु बंदर।—तुलसी।

क्रि० प्र०-करना।—होना।

अंगभंगी-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों की चेष्टा। स्त्रियों की मोहित करने की क्रिया।

अंगभाव-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में नेत्र भृकुटी और हाथ पैर आदि अंगों से मनोविकार का प्रकाश। अंगों की गति से

मनोवेगों को प्रकट करना। गाने में शरीर की विविध मुद्राओं द्वारा चित्त के उद्वेगों का प्रकाशन।

अंगभूत-वि० [सं०] अंग से उत्पन्न। देह से पैदा। (२) अंतर्गत। भीतर। अंतर्भूत।

संज्ञा पुं० पुत्र। बेटा।

अंगमर्द-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हड्डियों का फूटना। हड्डियों में दर्द। हड़फूटन रोग। (२) संवाहक। अंग मलनेवाला। हाथ पैर दबानेवाला। नौकर। सेवक।

अंगमर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] अंगों की मालिश। देह दबाना। हाथ पैर दबाना।

अंगरक्षा-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर की रक्षा। देह का बचाव। बदन की हिफ़ाज़त।

अँगरखा-संज्ञा पुं० [सं० अंग=देह+रक्षक=बचानेवाला] बंददार अंगा। चपकन। एक पहिनावा जो घुटनों के नीचे तक लंबा होता है और जिसमें बाँधने के लिये बंद टँके रहते हैं। इसे हिन्दू और मुसलमान दोनों बहुत दिनों से पहिनते आते हैं। इसके दो भेद हैं—

(१) छः कलिया, जिसमें छः कलियाँ होती हैं और चार बंद लगे रहते हैं। इसके बगल के बंद भीतर वा नीचे की ओर बाँधे जाते हैं, ऊपर नहीं दिखाई पड़ते अर्थात् इसका वह पल्ला जिसका बंद बगल में बाँधा जाता है भीतर वा नीचे होता है, उसके ऊपर वह पल्ला होता है जिसका बंद सामने छाती पर बाँधा जाता है।

(२) बालाबर, जिसमें चार कलियाँ होती हैं और छः बंद लगे रहते हैं। इसका बगल में बाँधनेवाला पल्ला तो नीचे रहता है और दूसरा उसके ऊपर छाती पर से होता हुआ दूसरी बग़ल में जाकर बाँधा जाता है। अतः इसके सामने के ओर एक बगल के बंद दिखाई पड़ते हैं।

अंगरस-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पत्ती वा फल का कूट कर निचोड़ा हुआ रस। स्वरस। रॉग।

अँगरा†-संज्ञा पुं० [सं० अङ्गार] (१) अँगार। अँगारा। दहकता हुआ कोयला। (२) बैल के पैर टपकने वा रह रहकर दर्द करने का एक रोग। इस रोग में बैल बार बार पैर उठाया करता है

अंगराग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन आदि लेप। उबटन। बटना। केसर, कपूर, कस्तूरी आदि सुगंधित द्रव्यों से मिला हुआ चंदन जो अंग में लगाया जाता है। (२) वस्त्र और आभूषण। (३) शरीर की शोभा के लिये महावर आदि रँगने की सामग्री। (४) स्त्रियों के शरीर के पाँच अंगों की सजावट—माँग में सेंदुर, माथे में रोली, गाल पर तिल की रचना, केसर का लेप, हाथ पैर में मेंहदी वा महावर। (५) एक प्रकार की सुगंधित देशी बुकनी जिसे मुँह में लगाते हैं।

अंगराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगदेश का राजा कर्ण। (२) राजा लोमपाद जो दशरथजी के परम मित्र थे।

अँगराना*-क्रि० अ० दे० "अँगड़ाना।"

अँगरी-संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्ग+रक्ष] (१) कवच। झिलम। बख़्तर (बक्तर)।

संज्ञा स्त्री० [सं० अंगुलीय] अंगुलित्राण। उँगलियों को धनु की रगड़ से बचाने के लिये गोह के चमड़े का दस्ताना।

अँगरेज़-संज्ञा पुं० [पुर्त० इंगलेज़] [वि० अंगरेज़ी] इँगलैंड देश का निवासी। इँगलिस्तान देश का रहनेवाला आदमी।

अँगरेज़ी-वि० [हि० अँगरेज़] अंगरेज़ों की। इंगलैंड देश की। विलायती।

संज्ञा स्त्री० अँगरेज़ लोगों की बोली। इँगलैंड निवासियों की भाषा। अँगरेज़ी भाषा।

अंगलेट-संज्ञा पुं० [सं० अङ्ग] शरीर की गठन। काठी। उठान। देह का ढाँचा।

अँगवना*-क्रि० स० [सं० अङ्ग] अंगीकार करना। स्वीकार करना। (२) ओढ़ना। अपने सिर पर लेना। (३) सहना। बरदाश्त करना। उठाना। उ०—धरती भार न अँगवै, पाँव धरत उठ हाल। कूर्म टूट भुइँ फाटी, तिन हस्तिन की चाल।—जायसी।

अंगवारा†-संज्ञा पुं० [सं० अङ्ग=भाग, सहायता+कार] (१) गाँव के एक छोटे भाग का मालिक। (२) खेत की जोताई में एक दूसरे की सहायता।

अंगविकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपस्मार। मृगी वा मिरगी रोग। मूर्छा रोग।

अंगविक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंग हिलाना। चमकाना। मटकाना। बोलते, वक्तृता देते वा गाते समय हाथ, पैर, सिर आदि का हिलाना। (२) नृत्य। नाच। (३) कलाबाज़ी।

अंगविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर के चिह्नों को देखकर जीवन की घटनाओं को बतलाने की विद्या। शरीर की रेखाओं से शुभाशुभ फल कहने की कला। सामुद्रिक विद्या।

अंगविभ्रम-संज्ञा पुं० [सं०] अंगभ्रांति। एक रोग जिसमें रोगी अंगों को और का और समझता है।

अंगशैथिल्य-संज्ञा पुं० [सं०] बदन की सुस्ती। अंग का ढीलापन। थकावट।

अंगशोष-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें शरीर क्षीण होता वा सूखता है। सुखंडी रोग।

अंगसंग-संज्ञा पुं० [सं०] रति संयोग। मैथुन। संभोग।

[illegible]-संज्ञा पुं० [सं० अङ्ग+सम्प्रेक्ष] अंग नामक देश। हिं०

अंगसंस्कार-संज्ञा पुं० [सं०] अंगों का सँवारना। देह का बनाव सजाव। सुगंधित द्रव्यों से शरीर की सजावट।

अंगसख्य-संज्ञा पुं० [सं०] अभिन्न मैत्री। गाढ़ी मित्रता। गहरी दोस्ती।

अंगसिहरी–संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्ग=शरीर+हर्ष=कंप] कंप। कँपकँपी। ज्वर आने के पहिले देह की कँपकँपी। (२) जूड़ी।

अंगहार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगविक्षेप। चमकना। मटकना। हाथ पैर हिलाना। (२) नृत्य। नाच।

अंगहीन–वि० [सं०] (१) जिसका कोई एक अंग न हो। जिसके शरीर का कोई भाग खंडित वा टूटा हो। लूला लँगड़ा। लुञ्ज। अवयवरहित। (२) कामदेव का एक नाम वा विशेषण।

अंगांगीभाव–संज्ञा पुं० [सं०] अवयव और अवयवी का परस्पर संबंध। उपकारक उपकार्य्य संबंध। अंश का संपूर्ण के साथ आश्रय आश्रयी रूप संबंध अर्थात् ऐसा संबंध कि उस अंग वा अवयव के बिना संपूर्ण अवयवी की सिद्धि न हो। जैसे—त्रिभुज की एक भुजा का सारे त्रिभुज के साथ संबंध। (२) गौण और मुख्य का परस्पर संबंध। (३) अलंकार में संकर का एक भेद। जहाँ एक ही श्लोक वा पद में कुछ अलंकार प्रधान रूप से आवें और उसके आश्रय वा उपकार से दूसरे और अलंकार भी आजावें। उ०—अबही तो दिन दस बीते नाहिँ नाह चले अब उठि आई कह कहाँ लौं बिसूरि हैं। आओ, खेलैं चौपर बिसारैं मतिराम दुःख, खेलन को आई जानि बिरह को चूरि है। खेलत ही काहू कह्यो जुग जिन फूटौ, प्यारी, न्यारी भई सारी को निदाह होनो दूरि है। पासे दिए डारि मन साँसे ही में बूड़ि रह्यो बिसरयो न दुःख, दुःख दूनो भरपूरि है'।—मतिराम। यहाँ "जुग जनि फूटौ" वाक्य के कारण प्रिय का स्मरण हो आया इससे स्मरण अलंकार हुआ। और इस स्मरण के कारण विरह निवृत्ति के साधन से उलटा दुःख हुआ अर्थात् "विषम" अलंकार की सिद्धि हुई। अतः यहाँ स्मृति अलंकार विषम का अंग है।

अंगा–संज्ञा पुं० [सं० अङ्ग] अंगरखा। चपकन। एक पहिनावा जो घुटनों के नीचे तक लंबा होता है और जिसमें बंद लगे रहते हैं। दे० "अँगरखा"।

अंगाकड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्गार+हिं० कड़ी] अंगारों पर सेंकी हुई मोटी रोटी। लिट्टी। बाटी।

मुहा०—करना।—लगाना=बाटी तैयार करना वा पकाना।

अंगार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दहकता हुआ कोयला। आग का जलता हुआ टुकड़ा। बिना धुएँ की आग। निर्धूम अग्नि। (२) चिनगारी।

मुहा०—उगलना=कड़ी कड़ी बातें मुँह से निकालना। ऐसी बात बोलना जिससे सुननेवाले को अत्यंत क्रोध उत्पन्न हो। अंगारों पर पैर रखना=(१) जान बूझकर हानिकारक कार्य्य करना। अपने को ख़तरे में डालना। (२) ज़मीन पर पैर न रखना। इतरा कर चलना। अंगारों पर लोटना=(१) अत्यंत रोष प्रगट करना। आग बबूला होना। झल्लाना। (२) दाह से जलना। ईर्षा से व्याकुल होना। उ०—वह मेरे बच्चे को देखकर अंगारों पर लोट गई।—बनना=(१) खा पी कर लाल होना। मोटा ताज़ा होना। (२) क्रोध में भरना।—बरसना=(१) अत्यंत अधिक गरमी पड़ना। (२) दैवी आपत्ति आना। लाल अंगारा–(१) बहुत लाल। खूब सुर्ख। उ०—काटने पर तरबूज़ लाल अंगारा निकला। (२) अत्यंत क्रुद्ध। उ०—यह सुनते ही वह लाल अंगारा हो गई। अंगारा होना=क्रोध से लाल होना। गुस्से में होना।

अंगारक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दहकता हुआ कोयला। आग का जलता हुआ टुकड़ा। (२) मंगल ग्रह। (३) भृङ्गराज। भँगरैया। भँगरा। (४) कटसरैया का पेड़। कुरंटक। पियाबासा।

अंगारकमणि–संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा।

अंगारधानिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] अंगेठी। बोरसी। आतिशदान। आग रखने का बरतन।

अंगारपाचित–संज्ञा पुं० [सं०] अंगार वा दहकती हुई आग पर पकाया हुआ खाना, जैसे कबाब, नानखताई इत्यादि।

अंगारपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] इंगुदी वृक्ष जिसके फूल अंगार के समान लाल होते हैं। हिङ्गोट का पेड़।

अंगारवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] गुञ्जा लता। घुंघची की बेल। चिरमटी की बेल।

अंगारमणि–संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा।

अंगारमति–संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्ण की स्त्री।

अंगारा–संज्ञा पुं० दे० "अंगार"।

अंगारिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंगेठी। बोरसी। आतिशदान। (२) दिशा जिस पर डूबे हुए सूर्य की लाली छाई हो।

अंगारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दहकते हुए कोयले का छोटा टुकड़ा। (२) चिनगारी। †(३) अंगार वा दहकती हुई बिना लपट की आग पर पकाई हुई रोटी। लिट्टी। बाटी। †(४) अँगेठी। बोरसी।

अँगारी–संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्गारिका] (१) ईख के सिर पर की पत्ती जिसे काटकर गाय बैल को खिलाते हैं। (२) गड़ासे से कटे हुए ईख के छोटे टुकड़े जो कोल्हू में पेरने के लिये तैयार किए जाते हैं। गँडेरी। गँड़ी।

अंगिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगिया। चोली। स्त्रियों की कुरती। छोटा कपड़ा। कंचुकी।

अँगिया–संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्गिका। प्रा० अंगिआ] (१) चोली। छोटा कपड़ा। स्त्रियों का एक पहिनावा जिससे केवल स्तन ढँके रहते हैं, पेट और पीठ खुली रहती है। इसमें चार बंद होते हैं जो पीछे बाँधे जाते हैं।

अँगिया की कटोरी वा मुलक्कट=अँगिया का वह भाग जो स्तनों के ऊपर पड़ता है।

अँगिया का घाट=अंगिया का गला वा गरेबान।

अँगिया की चिड़िया=अंगिया की वह सीवन जो दोनों कटोरियों के बीच में होती है।

अँगिया की दीवार=कटोरियों के नीचे का भाग।

अँगिया का बँगला=कटोरी का कली वा फाँक जो जोड़ों पर गोखरू टाँकने से बन जाता है।

अंगिरस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन ऋषि का नाम जो दस प्रजापतियों में गिने जाते हैं। ये अथर्ववेद के प्रादुर्भावकर्त्ता कहे जाते हैं। इसी से इनका नाम अथर्वा भी है। इनकी उत्पत्ति के विषय में कई कथाएँ हैं। कहीं इनके पिता को उरु और माता को आग्नेयी लिखा है और कहीं इनको ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न बतलाया है। स्मृति, स्वधा, सती और श्रद्धा इनकी स्त्रियाँ थीं जिनसे ऋचस् नाम की कन्या और मनस् नामक पुत्र हुए। इनकी बनाई एक स्मृति भी है। (२) बृहस्पति का नाम। (३) साठ संवत्सरों में से छठें संवत्सर का नाम। (४) कटीला। कटीला गोंद। कतीरा।

अंगिरा-संज्ञा पुं० दे० "अंगिरस"।

अँगिराना*-क्रि० अ० दे० "अँगड़ाना"।

अंगी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीरी। देहधारी। शरीरवाला। (२) अवयवी। उपकार्य। अंशी। समष्टि। (३) प्रधान। मुख्य। (४) चौदह विद्याएँ। डिं० (५) नाटक का प्रधान नायक, जैसे सत्यहरिश्चंद्र में हरिश्चन्द्र। (६) नाटकों में शृङ्गार और वीर ये दो रस अंगी (प्रधान) कहलाते हैं और शेष रस अंग (अप्रधान)।

अंगीकार-संज्ञा पुं० [सं०] स्वीकार। मंजूर। कबूल। ग्रहण।

क्रि० प्र०--करना।

अंगीकृत-वि० [सं०] स्वीकृत। मंजूर। स्वीकार किया हुआ। ग्रहण किया हुआ। अपनाया हुआ। लिया हुआ।

अंगीकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वीकृति। मंजूरी। अंगीकरण।

अंगीठा-संज्ञा पुं० [सं० अग्नि=आग+स्था=ठहरना। अग्निस्था। अग्निष्ठा। प्रा० अग्गिठ्ठा] बड़ी अँगीठी। बड़ा आतिशदान। बड़ी बोरसी। आग रखने का बरतन। उ०—या मन को बिसमिल करूँ, दीठ करूँ अदीठ। जो सिर राखूँ आपना, पर सिर जलौ अँगीठ।—कबीर।

अंगीठी-संज्ञा स्त्री० [सं० अग्नि=आग+स्था=ठहरना। अग्निस्था। प्रा० अग्गिठ्ठा] [अँगीठा का अल्पार्थक प्रयोग] आग रखने का बरतन। आतिशदान।

विशेष-यह मिट्टी और लोहे की गोल, चौखूँटी, अठपहली आदि कई आकारों की बनती है।

अंगुठी-संज्ञा स्त्री० [सं० अंगुष्ठ। प्रा० अंगुठ्ठ] काँसे का एक ढाल कर बनाया हुआ गहना जो पैर के अँगूठे में अनवट के स्थान पर पहिना जाता है। इसका व्यवहार नीच जाति की स्त्रियों में है।

अंगुर-संज्ञा पुं० दे० "अंगुल"।

अँगुरिया-बेल-संज्ञा पुं० [फा०-अंगूर] कालीन वा गलीचे के किनारे पर की एक बेल वा नक्काशी जो अंगूर की लता के ढंग पर बनाई जाती है।

अँगुरी†-सं० स्त्री० [सं० अंगुरी] उँगली।

अँगुरी की चाँदी=यह चांदी बबई की सिल की चांदी को खूब साफ़ करके बनाई जाती है। इसी को पीटकर चांदी का बरक बनाते हैं। बरक पीटने की चाँदी।

अंगुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लंबाई की एक नाप। एक आयत परिमाण। आठ जौ के पेट की लंबाई। आठ यवोदर का परिमाण। १२ अंगुल का एक बित्ता और २ बित्ते का एक हाथ होता है। (२) ग्रास या बारहवाँ भाग—ज्यो०।

अंगुलित्राण-संज्ञा पुं० [सं०] गोह के चमड़े का बना हुआ एक दस्ताना जिसे बाण चलाते समय उँगलियों को रगड़ से बचाने के लिये पहिनते हैं। गोह के चमड़े का दस्ताना। उँगलियों की रक्षा के निमित्त गोह के चमड़े का एक आवरण।

अंगुलितोरण-संज्ञा पुं० [सं०] त्रिपुण्ड तिलक। तीन पतली अर्द्धचंद्राकार समानांतर रेखाओं का टीका जिसे शैव लोग माथे पर लगाते हैं।

अंगुलिपंचक-संज्ञा पुं० [सं०] हाथ की पाँच उँगलियाँ जिनके नाम ये हैं—अंगुष्ठ, प्रदर्शिनी वा तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका।

अंगुलिपर्व-संज्ञा पुं० [सं०] उँगलियों की पोर। उँगली की गाँठें वा जोड़।

अंगुलिमुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगूठी जिस पर नाम खुदा हो। मुहर लगाने के लिये नाम खोदी हुई अँगूठी। नामांकित अँगूठी।

अंगुलिवेष्टन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दस्ताना। हथेली और उँगलियों के ढाँकने का आवरण। (२) अंगुलित्राण।

अँगुली-संज्ञा स्त्री० [सं० अंगुली] † (१) उँगली। (२) हाथी के सूँड़ का अगला भाग। (३) एक नदी का नाम।

अंगुल्यादेश-संज्ञा पुं० [सं०] उँगली का इशारा। उँगली से अभिप्राय प्रकट करना। इशारा। संकेत।

क्रि० प्र०—करना।

अंगुल्यानिर्देश-संज्ञा पुं० [सं०] बदनामी। कलंक। लांछन। अंगुश्तनुमाई। बुराई। दोषारोपण।

क्रि० प्र०—करना।

अंगुश्तनुमाई-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बदनामी। कलंक। लांछन। दोषारोपण।

क्रि० प्र०—करना।

अंगुश्तरी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] अँगूठी। मुंदरी। मुद्रिका।

अंगुश्ताना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) उँगली पर पहिनने की लोहे या

पीतल की एक टोपी जिसमें छोटे छोटे गड्ढे बने रहते हैं। उसे दरज़ी लोग सीते समय एक उँगली में पहन लेते हैं जिसमें सुई न चुभ जाय। इसीसे वे सुई को उसका पिछला हिस्सा दबाकर आगे बढ़ाते हैं। (२) सोने वा चाँदी की एक प्रकार की मुँदरी जो हाथ के अँगूठे में पहनी जाती है। आरसी। अबसी।

अंगुष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] अँगूठा। हाथ वा पैर की सबसे मोटी उँगली।

अँगुसा †–संज्ञा पुं० [सं० अंकुश=टेढ़ी नोक] अंकुर। अँखुआ।

अँगुसाना †–क्रि० अ० [हिं० अँगुसा] बोए हुए अनाज का अँखुआ फोड़ना। जमना। अंकुरित होना। अँखुआना।

अँगुसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अँगुसा+ई] (१) हल का फाल। (२) सोनारों की बकनाल वा टेढ़ी नली जिससे दीये की लौ को फूँक कर टाँका जोड़ते हैं।

अँगूठा–संज्ञा पुं० [सं० अंगुष्ठ, प्रा० अंगुट्ठ] मनुष्य के हाथ की सब से छोटी और मोटी उँगली। पहिली उँगली जिसमे दूसरा स्थान तर्जनी का है। तर्जनी की बगल में छोर पर की वह उँगली जिसका जोड़ हथेली में दूसरी उँगलियों के जोड़ों से नीचे होता है।

विशेष–मनुष्य के हाथ में दूसरे जीवों के हाथों से इस अंगूठे की बनावट में बड़ी भारी विशेषता है। यह बड़ी सुगमता से इधर उधर फिरता है और शेष चार उँगलियों में से प्रत्येक पर सटीक बैठ जाता है। इस प्रकार यह पकड़ने में चारों उँगलियों को एक साथ भी और अलग अलग भी सहायता देता है। बिना इसकी शक्ति और सहायता के उँगलियाँ कोई वस्तु अच्छी तरह नहीं पकड़ सकतीं।

मुहा०–**चूमना**=(१) खुशामद करना। शुश्रूषा करना। (२) अधीन होना।—**दिखाना**-(१) किसी वस्तु को देने मे अवज्ञापूर्वक नाहीं करना। (२) किसी कार्य को करने मे हट जाना। किसी कार्य का करना अस्वीकार करना। **अँगूठे पर मारना**-तुच्छ समझना। परवा न करना।

अँगूठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अँगूठा+ई] (१) मुँदरी। मुद्रिका। उँगली में पहनने का एक गहना। अंगुश्तरी। एक प्रकार का छल्ला जिसपर नग जड़ा हो। (२) जुलाहे जब पाई को राछ में जोड़ने लगते हैं तब पाई के थोड़े थोड़े तागों को ऐंठ कर उँगली में लिपटा लेते हैं और फिर उँगली में से एक एक तागा निकाल कर राछ में जोड़ते हैं। इस उँगली में लिपटाए हुए तागे को अँगूठी वा अँगुठी कहते हैं।

अंगूर–संज्ञा पुं० [फा०] एक लता और उसके फल का नाम। द्राक्षा। दाख।

विशेष–यह भारत के उत्तर पश्चिम और पंजाब तथा काश्मीर आदि प्रदेशों में बहुत लगाया जाता है। हिमालय के पश्चिमीय भागों में यह आपसे आप भी होता है। और और जगह भी लगाया जाता है। संयुक्त प्रदेश के कमाऊ, कनावर और देहरादून तथा बम्बई प्रांत के अहमदनगर और औरंगाबाद, पूना और नासिक आदि स्थानों में भी इसकी उपज होती है। बंगाल में पानी अधिक बरसने के कारण इसकी बेल वैसी नहीं बढ़ सकती। वहाँ केवल तिरहुत और दानापुर में थोड़ी बहुत टट्टियाँ हैं।

अंगूर की बेल होती है जो टट्टियों पर फैलती है। पत्तियाँ इसकी कुम्हड़े वा नेनुए की पत्तियों से मिलती जुलती होती हैं। फल इसके छोटे, बड़े, गोल और लंबे कई आकार के होते हैं। कोई नीम के फल की तरह लंबे और कोई मकोय की तरह गोल होते हैं और गुच्छों में लगते हैं। अंगूर की मिठास तो प्रसिद्ध ही है। भारतवासी इसे 'द्राक्षा' और 'मृद्वीका' के नाम से बहुत दिनों से जानते हैं। चरक और सुश्रुत में इसका उल्लेख है। पर भारतवर्ष में इसकी खेती कम होती थी। फल प्रायः बाहर ही से मँगाए जाते थे। मुसलमान बादशाहों के समय में अंगूर की ओर अधिक ध्यान दिया गया। आजकल हिन्दुस्तान में सबसे अधिक अंगूर काश्मीर में होते हैं जहाँ ये क्वार महीने में पकते हैं। वहाँ इनकी शराब बनती है और सिरका भी पड़ता है। महाराष्ट्र देश में जो अंगूर लगाए जाते हैं उनके कई भेद हैं, जैसे—आबी, फ़कीरी, हबशी, गोलकली और साहेबी इत्यादि। अफ़ग़ानिस्तान, बिलूचिस्तान और सिंध में अंगूर बहुत अधिक और कई प्रकार के होते हैं। जैसे—हेटा, किशमिशी, कलमक, हुसैनी इत्यादि। किशमिशी में बीज नहीं होता। कंधारवाले हेटा अंगूर को चूना और सज्जी खार के साथ गरम पानी में डुबाकर 'आबजोश' और किशमिशी को धूप में सुखा कर 'किशमिश' बनाते हैं।

मुनक्का जो दवा के काम में आता है वह सुखाया हुआ अंगूर है। यह दस्तावर है और ज्वर की प्यास को कम करता है। खाँसी के लिये भी अच्छा है। 'द्राक्षारिष्ट' आदि कई आयुर्वेदिक ओषधियाँ इससे तैयार होती हैं। हकीमी में इसका बहुत व्यवहार है।

अंगूर का मँड़वा वा अँगूर की टट्टी=(१) अंगूर की बेल को चढ़ने और फैलने के लिये बाँस की धज्जियों का बना हुआ मंडप। (२) एक प्रकार की आतिशबाज़ी जिससे अंगूर के गुच्छे के समान चिनगारियाँ बन कर निकलती हैं।

संज्ञा पुं० [सं० अंकुर] (१) मांस के छोटे छोटे लाल दाने जो घाव भरते समय दिखाई पड़ते हैं।

मुहा०–**तड़कना वा फटना**=भरते हुए घाव पर बँधी हुई मांस की झिल्ली का अलग हो जाना।–**बँधना वा भरना**=घाव के ऊपर

मास की नई झिल्ली चढ़ना। घाव भरना।

(२) अंकुर। अँखुवा। उ० – सोपै जानै नैन रस, हिरदै प्रेम अँगूर। चंद जो बसै चकोर चित, नैनहिं आव न सूर।—जायसी।

अँगूरशेफ़ा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक जड़ी जो हिमालय पर शिमले से लेकर काश्मीर तक होती है। इसे संग अंगूर, सूची, जवराज तथा गिरबूटी भी कहते हैं। इसकी जड़ और पत्तियाँ दमे और वायु के दर्द को दूर करती हैं।

अंगूरी–वि० [फ़ा० अंगूर+ई] (१) अंगूर से बना हुआ। (२) अंगूरी रंग का।

संज्ञा पुं० कपड़ा रँगने का हलका हरा रंग जो नील और टेसू के फूल को मिलाकर बनाया जाता है।

अँगेजना*–क्रि० स० [सं० अङ्ग=शरीर+एज=हिलना, कंपना] (१) सहना। बरदाश्त करना। उठाना। (२) अंगीकार करना। स्वीकार करना।

अँगेठा†–संज्ञा पुं० दे० "अँगीठा"।

अँगेठी–संज्ञा स्त्री० दे० "अँगीठी"।

अँगेरना*–क्रि० स० [सं० अंग=देह+ईर=जाना] (१) अंगीकार करना। स्वीकार करना। मंजूर करना। (२) सहना बरदाश्त करना।

अँगोछना–क्रि० अ० [सं० अंगप्रोक्षण] [संज्ञा अंगोछा, अंगोछी] गीले कपड़े से देह पोंछना। शरीर पर गीला वा भींगा वस्त्र रख कर मलना। गीला कपड़ा फेर कर बदन साफ़ करना।

अँगोछा–संज्ञा पुं० [सं० अङ्गप्रोक्षक] [क्रि० अंगोछना] (१) देह पोंछने का कपड़ा। तौलिया। पू० गमछा। (२) उपरना। उपवस्त्र। ऊपर रखने के लिये एक कपड़े का टुकड़ा। इसे प्रायः लोग कंधे पर रखते हैं।

अँगोछी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंगोछा+ई] [अंगोछे का अल्पार्थक प्रयोग] (१) देह पोंछने के लिये छोटा कपड़ा। (२) छोटी धोती जिससे कमर से आधी जाँघ तक ढक जाय। यह प्रायः छोटे लड़के लड़कियों के लिये होती है।

अँगोजना* क्रि० स० दे० "अँगेजना"।

अँगोटना–क्रि० स० दे० "अगोटना"।

अँगोरा–संज्ञा पुं० [देश०] मच्छर। भुनगा।

अँगोरी–संज्ञा स्त्री० दे० "अँगारी"।

अँगौंगा–संज्ञा पुं० [सं० अग्र=अगल+अंग=भाग] अन्न वा और किसी वस्तु का वह भाग जो धर्मार्थ पहिले निकाल लिया जाय। धर्मार्थ बाँटने वा देवता को चढ़ाने के लिये अलग निकाला हुआ अंश। अँगऊँ। पुजौरा।

अँगौरिया–संज्ञा पुं० [सं० अंग=भाग] (१) वह हलवाहा जिसे कुछ मज़दूरी न देकर हल बैल देते हैं जिनसे वह अपने खेत जोत लेता है। (२) मज़दूरी के स्थान पर हल बैल मँगनी देना।

अँग्रेज–संज्ञा पुं० दे० "अँगरेज़"।

अँग्रड़ा–संज्ञा पुं० [सं० अंघ्रि] काँसे का एक प्रकार का छल्ला जिसे नीच जाति की स्त्रियाँ पैर के अँगूठे में पहनती हैं।

अँग्रराई–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक कर जो पहिले पशुओं पर लगाया जाता था।

अंघस–संज्ञा पुं० [सं०] पाप। पातक। अपराध।

अँघिया–संज्ञा स्त्री० [देश०] आटा वा मैदा चालने की चलनी जो झीने कपड़े से मढ़ी होती है। अँगिया। आखा।

अंघ्रि–संज्ञा पुं० [सं०] पैर। चरण। पाँव।

अंघ्रिप–संज्ञा पुं० [सं०] पेड़। वृक्ष। दरख़्त।

अँचरा–संज्ञा पुं० [सं० अञ्चल] (१) साड़ी का वह छोर जो छाती पर रहता है। साड़ी वा ओढ़नी का वह भाग जो सिर पर से होता हुआ सामने छाती पर फैला हो। पल्ला। (२) दुपट्टे वा दुशाले के दोनों छोर। छोर।

मुहा०–पसारना=(१) किसी बड़े या देवता से कुछ माँगते समय (स्त्रियों का) अपने अंचल को आगे फैलाना जिससे दीनता और उद्वेग सूचित होता है। विनती करना। दीनता दिखाना। उ०—ए विधना तो सों अँचरा पसारि माँगों जनम जनम दीजो याही ब्रज बसिबो—छीत। (२) भीख माँगने की एक मुद्रा। कोई वस्तु लेने के लिये देनेवाले के सामने अंचल रोपना। (३) दीनता और विनय के साथ माँगना। दे० "आँचल"।

अंचल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) साड़ी का छोर। साड़ी वा ओढ़नी का वह भाग जो सिर पर से होता हुआ सामने छाती पर फैला हो। आँचल। पल्ला। छोर। दे० "अँचरा" और "आँचल"। (२) देश का एक भाग या प्रांत जो सीमा के समीप हो। (३) किनारा। तट।

अँचला–संज्ञा पुं० [सं० अञ्चल] (१) दे० "अँचरा"। (२) कपड़े का एक टुकड़ा जिसे साधु लोग नाभि के ऊपर धोती के स्थान पर लपेटे रहते हैं।

अँचवन–संज्ञा पुं० दे० "अचवन"।

अँचवना–क्रि० स० दे० "अचवना"।

अँचवाना–क्रि० स० दे० "अचवाना"।

अंचित–वि० [सं०] पूजित। आराधित।

अंछर–संज्ञा पुं० [सं० अक्षर] (१) मुँह के भीतर का एक रोग जिसमें काँटे से उभड़ आते हैं।

† (२) अक्षर। (३) मंत्र। टोना। जादू।

मुहा०–मारना=जादू करना। टोना करना। मंत्र प्रयोग करना। जैसे—मेरे अंछुर मारि परान लिए, सुध लाग रही भइ बावरिया।—गीत।

अंछूया–संज्ञा पुं० [सं० इच्छा, गु० इंछा] लोभ। लालच। इच्छा। कामना। लालसा।—डिं०।

अंज–संज्ञा पुं० [सं० कंज] कमल । कमल का फूल ।

अंजन–संज्ञा पुं० [सं०] [क्रि० अँजवाना, अँजाना] (१) श्यामता लाने वा रोग दूर करने के निमित्त आँख की पलकों के किनारों पर लगाने की वस्तु । सुरमा । काजल ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना ।—लगाना ।—सारना ।

विशेष—अंजन लगाना स्त्रियों के सोलह शृङ्गारों में से है ।

(२) रात । रात्रि । (३) स्याही । रोशनाई । (४) अलंकार में एक वृत्ति जिसमें कई अर्थों वाले किसी शब्द का प्रयोग किसी विशेष अर्थ में हो और वह विशेष अर्थ दूसरे शब्द वा पद के योग से अर्थात् प्रसंग से खुले । (५) पश्चिम का दिग्गज । (६) छिपकली । (७) एक जाति का बगला जिसे नटी भी कहते हैं । (८) एक पेड़ जो मध्य-प्रदेश, बुन्देलखंड, मद्रास, मैसूर आदि में बहुत होता है । इसकी लकड़ी श्यामता लिए हुए लाल रंग की और बड़ी मज़बूत होती है । यह पुलों और मकानों में लगती है, और इसके असबाब भी बहुत से बनते हैं । (९) सिद्धांजन, जिसके लगाने से कहा जाता है कि ज़मीन में गड़े ख़ज़ाने देख पड़ते हैं । (१०) एक पर्वत का नाम । (११) कद्रु से उत्पन्न एक सर्प का नाम । (१२) लेप । (१३) माया ।

वि० काला । सुरमई ।

अंजनकेश–संज्ञा पुं० [सं०] दीपक । दीया । चिराग़ ।

अंजनकेशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नख नामक सुगंध-द्रव्य जिसके जलाने से अच्छी महक उड़ती है ।

अंजन शलाका–संज्ञा स्त्री० [सं०] अंजन वा सुरमा लगाने के लिये जस्ते वा सीसे की सलाई । सुरमचू ।

अंजनसार–वि० [सं० अञ्जन+साधन] सुरमा लगा हुआ । अंजन युक्त । अँजा हुआ । जिसमें अंजन सारा या लगाया गया हो । उ०—एक तो नैना मद भरे दूजे अंजनसार । ए बौरी कोउ देत है मतवारे हथियार ।

अंजनहारी–संज्ञा स्त्री० [सं० अञ्जन+कार] (१) आँख की पलक के किनारे की फुंसी । बिलनी । गुहांजनी । गुहाई । अंजना । भृङ्गी । (२) एक प्रकार का उड़ने वाला कीड़ा जिसे कुम्हारी वा बिलनी भी कहते हैं । वह प्रायः दीवार के कोनों पर गीली मिट्टी से अपना घर बनाता है । कहते हैं कि इस मिट्टी को घिस कर लगाने से आँख की बिलनी अच्छी हो जाती है । इसी कीड़े के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि वह दूसरे कीड़ों को पकड़ कर अपने समान कर लेता है । उ०—भइ गति कीट भृङ्ग की नाईं । जहँ तहँ मैं देखौं रघुराई ।—तुलसी ।

अंजना–संज्ञा स्त्री० [सं०] कुंअर नामक बंदर की पुत्री और केशरी नामक बंदर की स्त्री जिसके गर्भ से हनुमान उत्पन्न हुए थे । हनुमान की माता । कहीं कहीं अंजना को गौतम की पुत्री भी लिखा है । (२) आँख की पलक के किनारे पर होनेवाली एक लाल छोटी फुंसी जिसमें जलन और सूई चुभाने के समान पीड़ा होती है । बिलनी । अंजनहारी । गुहांजनी । (३) दो रंग की छिपकली ।

संज्ञा पुं० (१) एक जाति का मोटा धान जो पहाड़ी प्रदेशों में पैदा होता है ।

*क्रि० स० [सं० अञ्जन] दे० 'आँजना' ।

अंजनाद्रि–संज्ञा पुं० [सं०] अंजन नामक पर्वत जिसका उल्लेख संस्कृत ग्रंथों में है । यह पश्चिम दिशा में माना जाता है ।

अंजनानंदन–संज्ञा पुं० [सं०] अंजना के पुत्र, हनुमान ।

अंजनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हनुमान की माता अंजना । (२) माया । (३) चंदन लगाए हुई स्त्री । (४) एक काष्ठ ओषधि । कुटकी । (५) बिलनी । आँख की पलक की फुड़िया ।

अंजबार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक पौधा जिसकी जड़ का काढ़ा और शरबत हकीम लोग सरदी और कफ़ के रोग में देते हैं ।

अंजरपंजर–संज्ञा पुं० [सं० पंजर] देह का बंद । शरीर का जोड़ । ठठरी । पसली ।

मुहा०—ढीला होना=शरीर के जोड़ों का उखड़ना वा हिल जाना । देह का बंद बंद टूटना । शिथिल होना । लस्त होना ।

क्रि० वि०—अगल बगल । पार्श्व में ।

अंजल } संज्ञा पुं० [सं० अञ्जलि] दोनों हथेलियों को मिलाकर
अंजला } बनाया हुआ संपुट वा गड्ढा जिसमें पानी वा और कोई वस्तु भर सकते हैं । उ०—अंजल भर आया साईं का । बेटा जीवै माई का । [फ़क़ीरों की बोली ।]

अंजली } संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दोनों हथेलियों को मिलाकर
अँजली } बनाया हुआ संपुट । दोनों हथेलियों को मिलाने से बना हुआ ख़ाली स्थान या गड्ढा जिसमें पानी वा और कोई वस्तु भर सकते हैं (२) उतनी वस्तु जितनी एक अँजुली में आवे । प्रस्थ । कुड़व । दो प्रसृति । एक नाप जो बीस मागधी तोले वा सोलह व्यावहारिक तोले अथवा एक पाव के बराबर होती है । दो पसर (३) अन्न की राशि में से तौलते समय दोनों हथेलियों से दान देने के लिये निकाला हुआ अन्न ।

अंजलिगत–वि० [सं०] (१) अँजली में आया हुआ । हाथ में पड़ा हुआ । दोनों हथेलियों पर रक्खा हुआ । (२) हाथ में आया हुआ । प्राप्त ।

अंजलिपुट–संज्ञा पुं० [सं०] दोनों हथेलियों को मिलाने से बना हुआ ख़ाली स्थान जिसमें पानी वा और कोई वस्तु भर सकते हैं । अँजली ।

अंजलिबद्ध–वि० [सं०] हाथ जोड़े हुए ।

अँजवाना–क्रि० स० [सं० अञ्जन] अंजन लगवाना । सुरमा लगवाना ।

अंजहा†–वि० [हिं० अनाज+हा] [स्त्री० अंजही] अनाज का। अन्न के मेल से बना हुआ।

अंजही–संज्ञा स्त्री० [देश०] वह बाज़ार जहाँ अन्न बिकता है। अनाज की मंडी।

वि० स्त्री० अनाज की।

अँजाना–क्रि० स० [हिं० अंजन] अंजन लगवाना। सुरमा लगवाना।

अंजाम–संज्ञा पुं० [फा०] समाप्ति। पूर्त्ति। अंत। (२) परिणाम। फल। नतीजा।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—पर पहुँचना = पूरा करना। समाप्त करना। निपटाना। प्रबंध करना।

अंजित–वि० [सं०] (१) अंजन लगाए हुए। अंजनसार। आँजे हुए। (२) [सं० अर्चित] पूजित। आराधित।—डिं०।

अंजीर–संज्ञा पुं० [सं०] एक पेड़ तथा उसका फल जो गूलर के समान होता है और खाने में मीठा होता है। यह भारतवर्ष में बहुत जगह होता है। पर अफ़ग़ानिस्तान, बिलोचिस्तान और काश्मीर इसके मुख्य स्थान हैं। इसके लगाने के लिये कुछ चूना मिली हुई मिट्टी चाहिए। लकड़ी इसकी पोली होती है। इसके कलम फागुन में काट कर दूर दूर क्यारियों में लगाए जाते हैं। क्यारियाँ पानी से खूब तर रहनी चाहिएँ। लगाने के दो ही तीन वर्ष बाद इसका पेड़ फलने लगता है और १४ या १५ वर्ष तक रहता और बराबर फल देता है। यह वर्ष में दो बार फलता है। एक जेठ असाढ़ में और फिर फागुन में। माला में गुथे हुए इसके सुखाए हुए फल अफ़ग़ानिस्तान आदि से हिन्दुस्तान में बहुत आते हैं। सुखाते समय रंग चढ़ाने और छिलके को नरम करने के लिये या तो गंधक की धूनी देते हैं अथवा नमक और शोरा मिले हुए गरम पानी में फलों को डुबा देते हैं। भारतवर्ष में पूना के पास खेड़ शिवापुर नामक गाँव के अंजीर सबसे अच्छे होते हैं। पर अफ़ग़ानिस्तान और फारस के अंजीर हिन्दुस्तानी अंजीरों से उत्तम होते हैं। सुखाया हुआ फल स्निग्ध, शीतल, पुष्टिकर और रेचक होता है। यह दो तरह का होता है, एक जो पकने पर लाल होता है और दूसरा काला।

अंजुमन–संज्ञा पुं० [फा०] सभा। समाज। समिति। मजलिस। मंडली।

अँजुरी, अँजुली*†–संज्ञा स्त्री० [सं० अंजलि] दे०—"अंजली, अँजली"।

अँजोर*†–संज्ञा पुं० [सं० उज्ज्वल, हिं० उज्ज्वल, उजला, उजाला, उजेरा] उजाला। उजेला। प्रकाश। रोशनी। चाँदनी।

अँजोरना*†–क्रि० स० [हिं० अँजुरी] (१) बटोरना। छीनना। हरना। हरण करना। लेना। मूसना। उ०–(क) करौं जो कछु धरौं सचि पचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि।—तुलसी।

(ख) ठाढ़ी भई बिथकि मारग में माँझ हाट मटकी सो फोरि। सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि चित चिंतामणि लियो अँजोरि।—सूर।

(ग) मेरे नैनन ही सब खोरि।

श्यामबदन छबि निरखि जो अटके बहुरे नहीं बहोरि। जो मैं कोटि जतन करि राखति घूँघट ओट अगोरि। ज्यों उड़ि मिलै बधिक खग छन में पलक पींजरन तोरि। बुधि बिवेक बल बचन चातुरी पहिले हि लई अँजोरि।—सूर।

(घ) राधा सहित चंद्रावलि दौरी। औचक लीनी पीत पिछौरी। देखत ही लै गई अँजोरी। डारि गई सिर श्याम ठगोरी।—सूर।

क्रि० स० [सं० उज्ज्वलन] जलाना। प्रकाशित करना। बालना। उ०—दीपक अँजोरना।

अँजोरा†–वि० [सं० उज्ज्वल] उजेला। प्रकाशमान।

यौ०–अँजोरा पाख=शुक्ल पक्ष।

अँजोरी*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० अँजोर+ई] (१) प्रकाश। रोशनी। चमक। उजाला। उ०—महिमा अमित मोरि मत थोरी। रवि सनमुख खद्योत अँजोरी।—तुलसी।

(२) चाँदनी। चंद्रिका। चंद्रमा का प्रकाश।

वि० स्त्री० (१) उजियाली। उजेली। प्रकाशमयी। उज्ज्वल। उ०—(क) अँजोरी रात आने दो। (ख) पदिक-पदारथ लिखी सो जोरी। चाँद सुरज जस होइ अँजोरी।—जायसी।

अंझा–संज्ञा पुं० [सं० अनध्याय प्रा० अनज्झा] नागा। तातील। छुट्टी। काम न करने का दिन। उ०—(क) मन को मसूसि मनभावन सों रूसि सखी दासिन को दूसि रही रंभा झुकि झंझा सी। सोवै, सुख मोचै, सुक सारिका लचावै चोचै, रोचै न रुचिर बानि, मानि रहै अंझा सी।—भूषण। (ग) काम में चार दिन का अंझा हो गया।

अँटकना–क्रि० अ० दे० "अटकना"।

अँटना–क्रि०अ० [सं० अट्=चलना] (१) समाना। किसी वस्तु के भीतर आना। उ०—दूध इस बरतन में न अँटेगा। (२) किसी वस्तु के ऊपर सटीक बैठना। ठीक चपकना। उ०—यह जूता मेरे पैर में नहीं अँटता है। (३) भर जाना। ढँक जाना। उ०—कूड़े से कूआँ अँट गया। (४) पूरा पड़ना। काफी होना। बस होना। चलना। उ०—(क) इतना कमाते हैं पर अँटता नहीं। (ख) अकेले हम इतने कामों को नहीं अँट सकते। * (५) पूरा होना। खपना। लग जाना। उ०—जिनके मुख की दुति देखत ही निसि बासर के सब दीठि अटी। तिनके संग छूटत ही फटु, रे हिय, तोहि कहा न दरार फटी।—केशव।

अंटा–संज्ञा पुं० [सं० अण्ड] (१) बड़ी गोली।

विशेष—इसका प्रयोग अफ़ीम और भंग के सम्बन्ध में अधिक

होता है। उ०—अफ़ीम का अंटा चढ़ा लिया अब क्या है?. (२) सूत वा रेशम का लच्छा। (३) बड़ी कौड़ी। (४) एक खेल जिसे अँगरेज़ लोग हाथी दाँत की गोलियों से मेज़ पर खेला करते हैं। इसको अँगरेज़ी में बिलियर्ड कहते हैं।

अंटागुड़गुड़-वि० [हिं० अंटा०+गुड़गुड़] नशे में चूर। बेख़बर। संज्ञाशून्य। बेहोश। बेसुध। अचेत।

क्रि०प्र०—होना।

अंटाघर-संज्ञा पुं० [हिं० अंटा+घर] वह घर जिसमें गोली का खेल खेला जाय।

अंटाचित-क्रि० वि० [हिं० अंटा+चित=संचित, ढेर लगाया हुआ] पीठ के बल। सीधा। पीठ ज़मीन पर किए हुए। पट और औंधा का उलटा।

क्रि० प्र०-गिरना।—पड़ना।—होना=(१) स्तंभित होना। अवाक होना। सन्न होना। उ०—इस ख़बर को सुनते ही वह अंटाचित हो गया। (२) बेकाम होना। बरबाद होना। किसी काम का न रह जाना। उ०—व्यापार में उसे ऐसा घाटा आया कि वह अंटाचित हो गया। (३) नशे में बेसुध होना। बेख़बर होना। अचेत होना। चूर होना। उ०—वह भंग पीते ही अंटाचित हो गया।

अंटाबंधू-संज्ञा पुं० [हिं० अंटा+सं० बन्धक] जुए में फेंकनेवाली कौड़ी जिसे जुआरी सब कुछ हारने पर दाँव पर रख देता है।

अँटिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० अंटी] घास, खर वा पतली लकड़ियों आदि का बँधा हुआ मुट्ठा। छोटा गट्ठा। गठिया। पूला।

अँटियाना-क्रि० स० [हिं० अंटी] (१) उँगलियों के बीच में छिपाना। हथेली में छिपाना (२) चारों उँगलियों में लपेट कर डोरे की पिण्डी बनाना (३) घास, खर व पतली लकड़ियों का मुट्ठा बाँधना। (४) ग़ायब करना। हज़म करना।

अंटी-संज्ञा स्त्री० [सं० अंड] [क्रि० अँटियाना] उँगलियों के बीच का स्थान या अंतर। घाई। (२) गाँठ। धोती की वह लपेट जो कमर पर रहती है।

मुहा०—करना=किसी का माल उड़ा लेना। धोखा देकर कोई वस्तु लेलेना।—मारना= (क) जुवा खेलते समय कौड़ी को उंगलियों के बीच में छिपा लेना। (ख) आँख बचा कर धीरे से दूसरे की वस्तु खिसका लेना। धोखा देकर कोई चीज़ उड़ा लेना। (ग) तराज़ू की डांडी को इस ढङ्ग से पकड़ना कि तौल में चीज़ कम चढ़े। कम तौलना। डाँडी मारना।—रखना=छिपा रखना। दबा रखना। प्रगट न होने देना।

(३) एक दूसरे पर चढ़ी हुई एक ही हाथ की दो उँगलियाँ। तर्जनी के ऊपर मध्यमा को चढ़ा कर बनाई हुई मुद्रा। डोड़ैया। डँड़ोइया।

विशेष-इसका चलन लड़कों में है। जब कोई लड़का किसी अपवित्र वस्तु वा अंत्यज से छू जाता है तब उसके साथ के और लड़के उँगली पर उँगली चढ़ा लेते हैं जिसमें यदि वह उन्हें छू ले तो छूत न लगे और कहते हैं कि "दो बाल की अंटी काला बाला छू ले।"

क्रि० प्र०—चढ़ाना।—बाँधना।—लगाना।

(४) लच्छा। अट्टी। सूत वा रेशम की लच्छी।

क्रि० प्र०—करना=अंटेरना। लछियाना। लपेटना। लच्छा बाँधना। (५) अंटेरन। वह लकड़ी की वस्तु जिसपर सूत लपेटते हैं। (६) विरोध। बिगाड़। लड़ाई। शरारत। (७) कान में पहनने की छोटी बाली जिसे धोबी, काछी, कहार आदि नीच जाति के लोग पहनते हैं। मुरकी। छोटी बाली।

अँटौनल-संज्ञा पुं० [हिं० अटना] ढक्कन जिन्हें तेली लोग कोल्हू में जोतने के समय बैल की आँखों पर चढ़ा देते हैं।

अँठई†-संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टपदी] किलनी। चिचड़ी। छोटे छोटे कीड़े जो प्रायः कुत्तों के बदन में चिमटे रहते हैं।

अँठी-संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टि=गुठली, गाँठ] (१) चीयाँ। गुठली। बीज। (२) गाँठ। गिरह। (३) नवोढ़ा के निकलते हुए स्तन। अँठली। (४) गिलटी। कड़ापन।

अंठली-संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टि=गुठली, गाठ] नवोढ़ा के निकलते हुए स्तन।

अंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडा। (२) अंडकोश। फोता। (३) ब्रह्मांड। लोकपिण्ड। लोकमंडल। विश्व। (४) वीर्य। शुक्र। (५) नाफ़ा। कस्तूरी का नाफ़ा। मृगनाभि। (६) पंच आवरण। दे० "कोश"। (७) कामदेव। उ०—अति प्रचंड यह अंड महा भट जाहि सबै जग जानत। सो मदहीन दीन ह्वै बपुरो कोपि धनुष शर तानत।— सूर।

(८) मकानों की छाजन के ऊपर के गोल कलश जो शोभा के लिये बनाए जाते हैं।

अंडकटाह-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मांड। विश्व। लोकमंडल।

अंडकोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फ़ोता। खुशिया। आँड। बैजा। वृषण। लिंगेंद्रिय के नीचे वह चमड़े की दोहरी थैली जिसमें वीर्यवाहिनी नसें और दोनों गुठलियाँ रहती हैं। दूध पीकर पलनेवाले उन समस्त जीवों को यह कोश वा थैली होती है जिनके दोनों अंड वा गुठलियाँ पेड़ू से बाहर होती हैं। (२) ब्रह्मांड। लोकमंडल। संपूर्ण विश्व। उ०—जा बल सीस धारत सहसानन। अंडकोश समेत गिरि कानन॥—तुलसी। (३) सीमा। हद।

(४) फल का छिलका। फल के ऊपर का बोकला।

अंडज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडे से उत्पन्न होनेवाले जीव, जैसे सर्प, पक्षी, मछली इत्यादि। ये चार प्रकार के जीवों में से हैं।

अंडजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी।

अंडबंड–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) असंबद्ध प्रलाप। बे सिर पैर की बात। ऊटपटांग। अनाप शनाप। अगड़ बगड़। व्यर्थ की बात। (२) गाली। बुरी बात।

क्रि० प्र०—कहना।—बकना।—बोलना।

वि० असंबद्ध। बे सिर पैर का। इधर उधर का। अस्त व्यस्त। व्यर्थ का। प्रयोजनरहित।

अँडरना†–क्रि० अ० [सं० अतरण] धान के पौधे का उस अवस्था में पहुँचना जब बाल निकलने पर हों। रेंड़ना। गरभाना।

अँडवृद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें अंडकोश वा फ़ोता फूलकर बहुत बढ़ जाता है। फ़ोते का बढ़ना।

विशेष–शरीर का बिगड़ा हुआ वायु या जल नीचे की ओर चलकर पेड़ू की एक ओर की संधियों से होता हुआ अंडकोश में जा पहुँचता है और उसको बढ़ाता है। वैद्यक में इसके वातज, पित्तज, आदि कई भेद माने गए हैं।

अंडस–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्तर=बीच में, दाब में] कठिनता। कठिनाई। मुश्किल। संकट। असुविधा।

अंडा–संज्ञा पुं० [सं० अंड] [वि० अंडैल] बच्चों को दूध न पिलाने वाले जंतुओं (मादा) के गर्भाशय से उत्पन्न गोल पिण्ड जिसमें से पीछे से उस जीव के अनुरूप बच्चा बन कर निकलता है। वह गोल वस्तु जिसमें से पक्षी, जलचर और सरीसृप आदि अंडज जीवों के बच्चे फूटकर निकलते हैं। बैज़ा।

मुहा०—खटकना=अंडा फूटना।—ढीला होना वा सरकना=(क) नस ढीली होना। थकावट आना। शिथिल होना। उ०—यह काम सहज नहीं है, अंडा ढीला हो जायगा। (ख) खुक्ख होना। निर्द्रव्य होना। दिवालिया होना। उ०—खर्च करते करते अंडे ढीले हो गए।—सरकना=हाथ पैर हिलाना। अंग डोलाना। उठना। उ०—बैठे बैठे बताते हो, अंडा नहीं सरकता।-सरकाना=हाथ पैर हिलाना। अंग डोलाना। उठना। उठकर जाना। उ०—अब अंडा सरकाओ तब काम चलेगा। (प्रायः मोटे वा बड़े अंडकोश वाले आदमी को लक्ष्य करके यह मुहाविरा बना है)।-सेना=(क) पक्षियों का अपने अंडों पर गर्मी पहुँचाने के लिये बैठना। (ख) घर में बैठ रहना। बाहर न निकलना। उ०—क्या घर में पड़े अंडे सेते हो। अंडे का शाहज़ादा=वह व्यक्ति जो कभी घर से बाहर न निकला हो। वह जिसे कुछ अनुभव न हो।

अंडाकार–वि० [सं०] अंडे के आकार का बैज़ावी। उस परिधि के आकार का जो अंडे की लंबाई के चारों ओर खींचने से बने। लंबाई लिए हुए गोल।

अंडाकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अंडे का आकार। अंडे की शकल। वि० अंडे के आकार का। अंडाकार। अंड इव।

अंडिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों का एक योनिरोग जिसमें कुछ मांस बढ़ कर बाहर निकल आता है। इसे 'योनिकंद' रोग भी कहते हैं।

अँड़िया†–संज्ञा पुं० [देश०] (१) बाजरे की पकी हुई बाल। (२) परेते पर लपेटा हुआ सूत। कुकड़ी।

अंडी–संज्ञा स्त्री० [सं० एरण्ड] (१) रेंड़ी। रेंड़ के फल का बीज। (२) रेंड़ वा एरंड का पेड़। (३) एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जो रद्दी रेशम और छाल आदि से बनता है।

अँडुआ–संज्ञा पुं० [क्रि० अडुआना] वह पशु जो बधिया न किया गया हो। आँड़ू।

वि० जो बधिया न किया गया हो। आँड़ू।

अँडुआना–क्रि० स० [सं० अण्ड] बधिया करना। बैल के अंडकोश को कुचलना जिसमें वह नटखटी न करे और ठीक चले। बधियाना।

अँडुआ बैल–संज्ञा पुं० [हिं० अडुआ+बैल] (१) बिना बधियाया हुआ बैल। साँड़। (२) बड़े अंडकोशवाला आदमी जो उसके बोझ से चल न सके। (३) सुस्त आदमी।

अँडुवारी–संज्ञा स्त्री० [सं० अणु=छोटा टुकड़ा] एक प्रकार की बहुत छोटी मछली।

अंडैल–वि० [हिं० अंडा] जिसके पेट में अंडे हों। अंडवाली।

अंत–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अंतिम, अंत्य] (१) वह स्थान वा समय जहाँ से किसी वस्तु का अंत हो। समाप्ति। आखीर। अवसान। इति। उ०—(क) बनकर अंत कतहुं नहिँ पावहिँ। (ख) दिन के अंत फिरी दोउ अनी।—तुलसी। इस शब्द में 'में' और 'को' विभक्ति लगने से 'आखिरकार', 'निदान' अर्थ होता है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) शेष भाग। अंतिम भाग। पिछला अंश।

मुहा०—बनाना=अंतिम भाग का अच्छा होना।—बिगड़ना=अंतिम वा पिछले भाग का बुरा होना।

(३) पार। छोर। सीमा। हद। अवधि। पराकाष्ठा। उ०—(क) अस अँवराउ सघन बन, बरनि न पारौं अंत।—जायसी। (ख) तुमने तो हँसी का अंत (हद) कर दिया।

क्रि० प्र०—करना।—पाना।—होना।

(४) अंतकाल। मरण। मृत्यु। नाश। विनाश। उ०—(क) जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं।—तुलसी। (ख) कहै पद्माकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं डारत करेई जातुधानन को अंत हौं।—पद्माकर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(५) परिणाम। फल। नतीजा। उ०—(क) बुरे काम का अंत बुरा होता है। (ख) कर भला हो भला अंत भले का भला।—कहावत। (६) समीप। निकट। (७) बाहर। दूर। (८) प्रलय।—डिं०।

संज्ञा पु० [स० अन्तर] (१) अंतःकरण । हृदय । जी । मन । उ०—(क) तुम अपने अंत की बात कहो । (ख) मैं तुम्हें अंत से चाहता हूँ । (२) भेद । रहस्य । छिपा हुआ भाव । मन की बात । उ०—हे द्विज ! मैं हौं धर्म, लेन आयों तव अंता । —विश्राम ।

मुहा०—पाना=भेद पाना । पता पाना ।—**लेना** । भेद लेना । मन का भाव जानना । मन छूना ।

*संज्ञा पुं० [सं० अन्त्र] आँत । अँतड़ी । उ०—झरै शोन धारा परै पेट ते अंत ।—सूदन ।

क्रि० वि० अंत में । आख़िरकार । निदान । उ०—(क) उघरै अंत न होहि निबाहू ।—तुलसी । (ख) कोटि जतन कोऊ करौ परै न प्रकृतिहिँ बीच । नल बल जल ऊँचो चढ़ै अंत नीच को नीच ।—बिहारी ।

क्रि० वि० [सं० अन्यत्र—अनत—अंत] और जगह । और ठौर । दूसरी जगह । और कहीं । दूर । अलग । जुदा । उ०—(क) कुंज कुंज में क्रीड़ा करि करि गोपिन को सुख दैहौं । गोप सखन संग खेलत डोलौं ब्रज तजि अंत न जैहौं ।—सूर । (ख) एक ठाँव यदि थिर न रहाहीं । रस लै खेलि अंत कहुँ जाहीं ।—जायसी । (ग) धनि रहीम गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय । जियत कंज तजि अंत बसि, कहा भौंर को भाय ।—रहीम ।

अंतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंत करनेवाला । नाश करनेवाला । (२) मृत्यु जो कि प्राणियों के जीवन का अंत करती है । मौत । (३) यमराज । काल । (४) सन्निपात ज्वर का एक भेद जिसमें रोगी को खाँसी, दमा और हिचकी होती है और वह किसी वस्तु को नहीं पहचानता । (५) ईश्वर, जो कि प्रलय में सबका संहार करता है । (६) शिव ।

अंतकर, अंतकर्त्ता-संज्ञा० पुं० [सं०] अंत वा नाश करनेवाला । संहार करनेवाला ।

अंतकारक-संज्ञा पुं० [सं०] अंत करनेवाला । विनाश करनेवाला । संहार करनेवाला ।

अंतकारी-संज्ञा पुं० [सं०] अंत करनेवाला । विनाश करने वाला । संहार करनेवाला । मार डालनेवाला ।

अंत काल-संज्ञा पुं० [सं०] अंतिम समय । मरने का समय । आख़िरी वक्त । मृत्यु । मौत । मरण ।

अंतकृत-संज्ञा पुं० [सं०] अंत वा विनाश करनेवाला । यमराज । धर्मराज । उ०—भूमिजा दुःख संजात रोषांतकृत यातना जंतु कृत यातुधानी ।—तुलसी ।

अंत क्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] अन्त्येष्टि कर्म्म । क्रिया कर्म्म । मरने के पीछे मृतक की आत्मा की भलाई के लिये जो दाह और पिण्डदान आदि कर्म्म किए जायँ ।

अंतग-संज्ञा पु० [सं०] अंतगामी । पारगामी । पारांगत जानकारी में पूरा । निपुण ।

अंतगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंतिम दशा । मृत्यु । मरण । मौत ।

अंतघाई-वि० [सं० अन्तघाती] विश्वासघाती । अंत में धोखा देनेवाला । दग़ाबाज़ । उ०—साँझ ही स्याम ते दूरि बैठी परदानि दै कै, संक मोहिं एकै या कलानिधि कसाई की । कंत की कहानी सुनि श्रवन सोहानी, रैनि रंचक बिहानी या बसंत अंतघाई की ।—कोई कवि ।

अँतड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्त्र] आँत । नली ।—दे० "आँत" ।

मुहा०—टटोलना=रोग का पहिचान के लिये पेट को दबा कर देखना ।—**जलना**=पेट जलना । बहुत भूख लगना ।—**गले में पड़ना**=किसी आपत्ति मे फँसना । **अँतड़ियों का बल खोलना**=बहुत दिन के बाद भोजन मिलने पर ख़ूब पेट भर खाना । **अँतड़ियों में बल पड़ना**=अंतड़ियों का ऐंठना वा दुखना । पेट मे दर्द होना । उ०—हँसते हँसते अँतड़ियों में बल पड़ गए ।

अंतपाल-संज्ञा पुं० [सं०] द्वारपाल । ड्योढ़ीदार । पहरू । दरबान ।

अंतरंग-वि० [सं०] (१) अत्यंत समीपी । आत्मीय । निकटस्थ । दिली । जिगरी । भीतरी । (२) मानसिक । "बहिरंग" इसका उलटा है ।

संज्ञा पुं० (२) मित्र । दिली दोस्त । आत्मीय स्वजन ।

अंतरंगी-वि० [सं०] दिली । भीतरी । जिगरी ।

संज्ञा० पुं० गहरा मित्र । दिली दोस्त ।

अंतर-संज्ञा० पुं० [सं०] [क्रि० अंतराना । वि० अंतरित] (१) फ़र्क़ । भेद । विभिन्नता । अलगाव । फेर । उ०—(क) जानहि भक्तिहि अंतर केता । सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता ।—तुलसी । (ख) ब्रजबासी लोगन सों मैं तो अंतर कछु न राख्यो ।—सूर । (ग) इसके और उसके स्वाद में कुछ अंतर नहीं है ।

क्रि० प्र०—(१) करना ।—देना ।—पड़ना ।—होना ।

(२) बीच । मध्य । फ़ासला । दूरी । अवकाश । दो वस्तुओं के बीच में का स्थान । उ०—यह विचारो कि मथुरा और वृन्दावन का अंतर ही क्या है ?—प्रेमसागर । (३) मध्यवर्ती काल । दो घटनाओं के बीच का समय । बीच । उ०—(क) इहि अंतर अर्जुन फिरि आयो । राजा के चरनन सिर नायो ।—सूर । (ख) इस अंतर में स्तन दूध से भर जाते हैं ।—वनिताविनोद । (४) ओट । आड़ । परदा । दो वस्तुओं के बीच में पड़ी हुई चीज़ । उ०—(क) कठिन बचन सुनि श्रवण जानकी सकी न बचन सहार । तृण अंतर दै दृष्टि तिरौंछी दई नैन जल धार ।—सूर । (ख) अपने कुल को कलह क्यों, देखहिं रवि भगवंत । यहै जानि अंतर कियो, मानो यही अनंत ।—केशव ।

क्रि० प्र०—करना।—डालना।—देना।—पड़ना।

(५) छिद्र। छेद। रंध्र।

वि० (१) अंतर्द्धान। गायब। लुप्त। उ०—मोहीं ते परी री चूक अंतर भए हैं जातें तुमसों कहति बातैं मैं ही कियो द्वंदन।—सूर (ख) करी कृपा हरि कुँवरि जिआई। अंतर आय भए सुराई।—सबल।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) दूसरा। अन्य। और।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रायः यौगिक शब्दों में मिलता है, जैसे ग्रंथांतर, स्थानांतर, कालांतर, देशांतर, पाठांतर, मतांतर, यज्ञांतर इत्यादि।

क्रि० वि० दूर। अलग। जुदा। पृथक। विलग। उ०—(क) कहाँ गए गिरिधर तजि मोकों ह्यां कैसे मैं आई। सूरश्याम अंतर भए मोते अपनी चूक सुनाई।—सूर। (ख) सूरदास प्रभु को हियरेतें अंतर करौं नहीं छिनहीं।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

संज्ञा० पुं० [सं० अन्तर] हृदय। अंतःकरण। जी। मन। चित्त। उ०—अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना।—तुलसी।

क्रि० वि० भीतर। अंदर। उ०—(क) संधानेउ प्रभु बिशिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला।—तुलसी। (ख) मोहन मूरति श्याम की अति अद्भुत गति जोइ। बसत सुचित अंतर तऊ प्रतिबिम्बित जग होइ।—बिहारी। (ग) चिंता ज्वाल शरीर बन दावा लगि लगि जाइ। प्रकट धुआँ नहिं देखिये उर अंतर धुँधुँआय।—गिरधर—(घ) बाहर गर लगाइ राखौंगी अंतर करौंगी समाधि।—हरिश्चन्द्र।

क्रि० प्र०—करना=भीतर करना। ढाँकना। छिपाना। उ०—फिरी चमक चोप लगाइ चंचल तनहिं तब अंतर करै।

अंतर अयन—संज्ञा० पुं० [सं०] (१) अंतर्गृही। तीर्थों की एक परिक्रमा विशेष। (२) एक देश का नाम।

अंतरग्नि—संज्ञा स्त्री० [सं०] पेट की अग्नि। जठराग्नि। पेट की गरमी जिससे खाई हुई वस्तु पचती है।

अंतर चक्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिशाओं और विदिशाओं के बीच के अंतर को चार चार भागों में बाँटने से बने हुए ३२ भाग। (२) दिशाओं के ऊपर कहे हुए भिन्न भिन्न विभागों में चिड़ियों की बोली सुन कर शुभाशुभ फल बताने की विद्या। जिस दिशा में पक्षी बैठ कर बोले उसका विचार करके शकुन कहने की विद्या। (३) तंत्र के अनुसार शरीर के भीतर माने हुए मूलाधार आदि कमल के आकार के छः चक्र। षट् चक्र। (४) आत्मीय वर्ग। स्वजन समूह। भाई बंधु की मंडली।

अंतरछाल—संज्ञा स्त्री० [सं० अन्तर+छाल] छाल के नीचे की कोमल छाल वा झिल्ली। बोकले के भीतर का कोमल भाग।

अंतरजामी—संज्ञा पुं० दे० "अंतर्यामी"।

अंतरजाल—संज्ञा पुं० [सं० अन्तर+जाल] कसरत करने की एक लकड़ी।

अंतरज्ञ—वि० [सं०] (१) भीतर की बात जाननेवाला। अंतःकरण का आशय जाननेवाला। हृदय की बात जानने वाला। अंतर्यामी। (२) भेद जाननेवाला।

अंतरदिशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दो दिशाओं के बीच की दिशा। कोण। विदिशा।

अंतरपट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परदा। आड़। ओट। आड़ करने का कपड़ा। (२) विवाह मंडप में मृत्यु की आहुति के समय अग्नि और वर कन्या के बीच में एक परदा डाल देते हैं जिसमें वे दोनों उस आहुति को न देखें। इस परदे को अंतरपट कहते हैं।

क्रि० प्र०—करना।—डालना।—देना।

मुहा०—साजना=छिपकर बैठना। सामने न होना। ओट में रहना।

(३) परदा। छिपाव। दुराव। भेद। उ०—तासों कौन अँतरपट जो अस प्रीतम पीव।—जायसी। (४) धातु वा ओषध को फूँकने के पहिले उसकी लुगदी वा संपुट पर गीली मिट्टी के लेव के साथ कपड़ा लपेटने की क्रिया। कपड़मिट्टी कपड़ौरी। कपरौटी। उ०—का पूछौ तुम धातु निछोही। जो गुरु कीन्ह अँतरपट ओही।—जायसी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(५) गीली मिट्टी का लेव देकर लपेटा हुआ कपड़ा।

अंतर पुरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आत्मा। (२) परमात्मा। अंतर्यामी। परमेश्वर।

अंतरप्रभव—संज्ञा पुं० [सं०] वर्णसंकर। जो दो भिन्न भिन्न वर्णों के माता पिता से उत्पन्न हो।

अँतररति—संज्ञा स्त्री० [सं०] संभोग के सात आसन। यथा स्थिति, तिर्यक, सम्मुख, विमुख, अध, ऊर्ध और उत्तान।

अंतरशायी—संज्ञा पुं० [सं०] अंतरस्थ जीव। जीवात्मा।

अंतरसंचारी—संज्ञा पुं० [सं०] वे अस्थिर मनोविकार जो बीच बीच में आकर मनुष्य के हृदय के प्रधान और स्थिर मनोविकारों में से किसी की सहायता वा पुष्टि करके रस की सिद्धि करते हैं। इसे केवल "संचारी" भी कहते हैं। 'अंतर' शब्द इस कारण लगाया गया कि किसी किसी ने अनुभाव के अंतर्गत सात्विक भावों को तन संचारी लिखा है। ये ३३ माने गए हैं। दे० "संचारी"।

अंतरस्थ—वि० [सं०] भीतर का। भीतरी। अंदर का। भीतर रहनेवाला।

अँतरा–संज्ञा पुं० [सं० अन्तर] (१) अंतरा । नागा । वक्फा । अंतर । बीच ।

क्रि० प्र०—करना ।—डालना ।—पड़ना ।

(२) वह ज्वर जो एक दिन नागा देकर आता है ।

क्रि० प्र०—आना । उ०–उसे अँतरा आता है ।

(३) कोना ।

वि० एक बीच में छोड़कर दूसरा ।

विशेष–विशेषण में इसका प्रयोग साधु भाषा में केवल 'ज्वर' शब्द के साथ और प्रांतीय भाषाओं में कालसूचक शब्दों के साथ होता है । उ०—अँतरा ज्वर । अँतरे दिन ।

अंतरा–क्रि० वि० [सं० अन्तरा] (१) मध्य । (२) निकट । (३) अतिरिक्त । सिवाय । (४) पृथक् । (५) बिना । संज्ञा पुं० (१) किसी गीत में स्थाई वा टेक के अतिरिक्त बाकी और पद वा चरण । (२) प्रातःकाल और संध्या के बीच का समय । दिन ।

अंतरात्मा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जीवात्मा । (२) जीव । आत्मा । प्राण । (३) अंतःकरण ।

अँतराना*–क्रि० स० [सं० अन्तर] (१) अलग करना । दूर करना । जुदा करना । (२) भीतर करना । भीतर ले जाना ।

अंतरापत्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] गर्भिणी । गर्भवती । हामिला ।

अंतराय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विघ्न । बाधा । (२) ज्ञान का बाधक ।

(३) योग की सिद्धि के विघ्न जो नौ प्रकार के हैं यथा (क) व्याधि । (ख) स्त्यान=संकोच । (ग) संशय । (घ) प्रमाद । (च) आलस्य । (छ) अविरति=विषयों में प्रवृत्ति । (ज) भ्रांति दर्शन=उलटा ज्ञान जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि । (झ) अलब्ध भूमिकत्व=समाधि की अप्राप्ति । (ट) अनवस्थितत्व=समाधि होने पर भी चित्त का स्थिर न होना ।

(४) जैन दर्शन में दर्शनावरणीय नामक मूल कर्म के नौ भेदों में से एक, जिसके उदय होने पर दानादि करने में अंतराय वा विघ्न होते हैं । ये अंतराय कर्म पाँच प्रकार के माने गए हैं—दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय ।

अंतरायाम–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें वायुकोप से मनुष्य की आँखें, ठुड्ढी और पसुली स्तब्ध हो जाती हैं और मुँह से आपही आप कफ गिरता है तथा दृष्टिभ्रम से तरह तरह के आकार दिखाई पड़ते हैं ।

अंतराल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घेरा । मंडल । घिरा हुआ स्थान । आवृत स्थान । (२) मध्य । बीच ।

अंतराल दिशा–संज्ञा० पुं० [सं०] दो दिशाओं के बीच की दिशा । विदिशा । कोण । कोना ।

अंतरिक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] पृथिवी और सूर्यादि लोकों के बीच का स्थान । कोई दो ग्रहों वा तारों के बीच का शून्य स्थान । आकाश । अधर । रोदसी । शून्य । (२) स्वर्गलोक । (३) प्राचीन सिद्धांत के अनुसार तीन प्रकार के केतुओं में से एक, जिसके घोड़े, हाथी, ध्वज, वृक्ष आदि के समान रूप हों । (४) एक ऋषि का नाम ।

वि० अंतर्द्धान । गुप्त । अप्रगट । उ०—भखे ते अंतरिक्ष रिक्ष लक्ष लक्ष जातहीं ।—केशव । (ख) फ्लोड़ो आर्डो अंतरिक्ष अर्थात् लोप हो गया । (ग) अविलाइनो इतने समय में अंतरिक्ष था ।—अयोध्यासिंह ।

अंतरिक्षसत्–वि० [सं०] अंतरिक्ष वा शून्य आकाश में गमन करनेवाला । आकाशचारी ।

संज्ञा पुं० (१) आत्मा । (२) पक्षी ।

अंतरिख–संज्ञा पुं० दे० "अंतरिक्ष" ।

अंतरिच्छ–संज्ञा पुं० दे० "अंतरिक्ष" ।

अंतरित–वि० [सं०] (१) भीतर किया हुआ । भीतर रक्खा हुआ । भितराया हुआ । छिपा हुआ ।

क्रि० प्र०—करना=भीतर करना । भीतर ले जाना । छिपाना । —होना=भीतर होना । अंदर जाना । छिपाना ।

(२) अंतर्द्धान । गुप्त । गायब । तिरोहित ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(३) आच्छादित । ढका हुआ ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अंतरीक*–संज्ञा पुं० [सं०] अंतरिक्ष । आकाश ।—डिं० ।

अंतरीप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्वीप । टापू । (२) पृथ्वी का वह नोकीला भाग जो समुद्र में दूर तक चला गया हो । रास ।

अंतरीय–संज्ञा पुं० [सं०] अधोवस्त्र । कमर में पहनने का वस्त्र । धोती । वि० भीतर का । अंदर का । भीतरी ।

अँतरौटा–संज्ञा पुं० [सं० अन्तर+पट] महीन साड़ी के नीचे पहनने का कपड़ा । कपड़े का वह टुकड़ा जिसे स्त्रियाँ इस लिये कमर में लपेट लेती हैं जिसमें महीन साड़ी के ऊपर से शरीर न दिखाई दे । अस्तर । छनना । उ०—चोली चतुरानन ठग्यो अमर उपरना राते । अँतरौटा अवलोकिकै सब असुर महामदमाते ।—सूर ।

अँतर्गडु–वि० [सं०] व्यर्थ । निष्प्रयोजन । निरर्थक । वृथा ।

अंतर्गत–वि० [सं०] [संज्ञा अंतर्गति] (१) भीतर आया हुआ । समाया हुआ । शामिल । अंतर्भूत । सम्मिलित । उ०—(क) ऐसे बड़े बड़ के वृक्ष इन्हीं छोटे बीजों के अंतर्गत हैं ।—हरिश्चन्द्र । (ख) इस समय इतना भूभाग मलाबार के अंतर्गत है ।—सरस्वती । (२) भीतरी । छिपा हुआ । गुप्त । उ०—यह फोड़ा कभी प्रत्यक्ष कभी अंतर्गत रहता है ।—अमृतसागर ।

(३) हृदय के भीतर का। अंतःकरणस्थित। उ०—उनके अंतर्गत भावों को कौन जान सकता है?

संज्ञा पुं० मन। जी। हृदय। चित्त। उ०—(क) रुक्म रिसाइ पिता सों कह्यो। सुनि ताको अंतर्गत दह्यो।—सूर। (ख) तुलसीदास जद्यपि निसि बासर छिन छिन प्रभु मूरतिहि निहारति। मिटति न दुसह ताप तउ तन की यह बिचारि अंतर्गत हारति।—तुलसी।

अंतर्गति—संज्ञा स्त्री० [सं०] मन का भाव। चित्तवृत्ति। भावना। चित्त की अभिलाषा। हार्दिक इच्छा। मनोकामना। उ०—(क) देखो रघुपति छबि अतुलित अति। जनु तिलोक सुखमा सकेलि बिधि राखी रुचिर अंग अंगन प्रति। पदुम राग रुचि मृदु पद तल ध्वज अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति। रही आनि चहुँ बिधि भगतन की जनु अनुराग भरी अंतर्गति।—तुलसी। (ख) श्रीपार्वतीजी ने ऊषा की अंतर्गति जानि उसे अतिहित से निकट बुलाय प्यार कर समझाय के कहा।—प्रेमसागर।

अंतर्गांधार—संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में तीसरे स्वर के अंतर्गत एक विकृत स्वर जो प्रसारिणी नामक श्रुति से आरंभ होता है और जिसमें चार श्रुतियाँ होती हैं।

अंतर्गृह—संज्ञा पुं० [सं०] भीतर का घर। भीतर की कोठरी।

अंतर्गृही—संज्ञा स्त्री० [सं०] तीर्थ स्थान के भीतर पड़नेवाले प्रधान प्रधान स्थलों की यात्रा।

अंतर्घट—संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के भीतर का भाग। अंतःकरण। हृदय। मन।

अंतर्जानु—वि० [सं०] हाथों को घुटनों के बीच किए हुए।

अंतर्ज्योति—संज्ञा स्त्री० [सं०] अंतर्यामी। परमेश्वर।

अंतर्ज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतःकरण की बात का जानना। परोक्षदर्शन। दूसरे के दिल की बात जानना। (२) परिज्ञान। अंतःकरण का अनुभव। अंतर्बोध।

अंतर्दशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार मनुष्य के जीवन में जो ग्रहों के भोगकाल नियत हैं उन्हें दशा कहते हैं। मनुष्य की पूरी आयु १२० वर्ष की मानी गई है। इस १२० वर्ष के पूरे समय में प्रत्येक ग्रह के भोग के लिये वर्षों की अलग अलग संख्या नियत है जिसे महादशा कहते हैं जैसे सूर्य की महादशा ६ वर्ष, चन्द्रमा की १० वर्ष इत्यादि। अब इस प्रत्येक ग्रह के नियत भोगकाल वा महादशा के अंतर्गत भी नव ग्रहों के भोगकाल नियत हैं जिन्हें अंतर्दशा कहते हैं। जैसे सूर्य के ६ वर्ष में सूर्य का भोगकाल ३ महीने १८ दिन और चंद्रमा का ६ महीने इत्यादि। कोई कोई अष्टोत्तरी गणना के अनुसार अर्थात् १०८ वर्ष की आयु मानकर चलते हैं।

अंतर्दशाह—संज्ञा पुं० [सं०] मरने के पीछे दस दिन तक मृतक की आत्मा वायु रूप में रहती है और प्रेत कहलाती है। इन दस दिनों के भीतर हिन्दूशास्त्र के अनुसार जो कर्मकांड किए जाते हैं उन्हें "अंतर्दशाह" कहते हैं।

अंतर्दृष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्ञानचक्षु। प्रज्ञा। हिये की आँख। (२) आत्मचिंतन। आत्मा का ध्यान।

अंतर्द्धान—संज्ञा पुं० [सं०] लोप। अदर्शन। छिपाव। तिरोधान। वि० गुप्त। अलक्ष। ग़ायब। अदृश्य। अंतर्हित। अप्रगट। लुप्त। छिपा हुआ।

क्रि० प्र०—करना=छिपाना। दूर रहना। नज़र से ग़ायब करना। उ०—ताते महा भयानक भूप। अंतर्द्धान करो सुर भूप।—सूर।—होना।

अंतर्द्वार—संज्ञा पुं० [सं०] घर के भीतर का गुप्त द्वार। घर में जाने के लिये प्रधान द्वार के अतिरिक्त एक और द्वार। पीछे का दरवाज़ा। खिड़की। चोर दरवाज़ा।

अंतर्निविष्ट—वि० [सं०] भीतर बैठा हुआ। अंदर रक्खा हुआ। अंतःकरण में स्थित। मन में जमा हुआ। हृदय में बैठा हुआ।

मुहा०—करना=(१) भीतर बैठाना। अंदर ले जाना। भीतर रखना। (२) मन में रखना। जी में बैठाना। हृदयंगत करना। दिल में जमाना।—**होना**=(१) भीतर बैठना। भीतर जाना। भीतर पहुँचना। (२) मन में धँसना। चित्त में बैठना। दिल में जमना। हृदयंगत होना।

अंतर्बोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आत्मज्ञान। आत्मा की पहिचान। (२) आंतरिक अनुभव।

अंतर्भाव—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अंतर्भावित, अंतर्भूत। संज्ञा अंतर्भावना] (१) मध्य में प्राप्ति। भीतर समावेश। अंतर्गत होना। शामिल होना। उ०—अन्य अर्थालंकारों का उपमा, दीपक और रूपक में अंतर्भाव है (अर्थात् अन्य अलंकार उपमा, दीपक आदि के अंतर्गत हैं)। (२) तिरोभाव। विलीनता। छिपाव। (३) नाश। अभाव। (४) आर्हत वा जैन दर्शन में आठ कर्मों का क्षय जिससे मोक्ष होता है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(५) भीतरी मतलब। आंतरिक अभिप्राय। आशय। मंशा।

अंतर्भावना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ध्यान। सोच विचार। चिन्ता। चिन्तवन। (२) गुणन फल के अंतर से संख्याओं को ठीक करना।

अंतर्भावित—वि० [सं०] (१) अंतर्भूत। अंतर्गत। शामिल। भीतर। (२) भीतर किया हुआ। छिपाया हुआ। लुप्त।

अंतर्भूत—वि० [सं०] अंतर्गत। शामिल।

संज्ञा पुं० जीवात्मा। प्राण। जीव।

अंतर्भूमि—संज्ञा० स्त्री० [सं०] पृथिवी के भीतर का भाग। भूगर्भ।

अंतर्मना-वि० [सं०] व्याकुल चित्त। घबड़ाया हुआ। विकल। उदास।

अंतर्मल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भीतर का मल। पेट के भीतर का मैला। पेट के अंदर की अलाइश। (२) चित्त का विकार। मन का दोष। हृदय की बुरी वासना।

अंतर्मुख-वि० [सं०] जिसका मुँह भीतर की ओर हो। भीतर मुँहवाला। जिसका छिद्र भीतर की ओर हो। उ०—यह फोड़ा अति कठोर और अंतर्मुख होता है।—अमृतसागर।
क्रि० वि० भीतर की ओर प्रवृत्त। जो बाहर से हटकर भीतर ही लीन हो।

क्रि० प्र०—करना=भीतर की ओर ले जाना वा फेरना। भीतर नियुक्त करना। उ०—अकामी पुरुष इंद्रियों को विषयों से हटाय अंतर्मुख कर उनके द्वारा अपनी महिमा का साक्षात् अनुभव करता है।—कठ० उप०।

अंतर्यामी-वि० [सं०] (१) भीतर की बात जाननेवाला। हृदय की बात का ज्ञान रखनेवाला। (२) अंतःकरण में स्थित होकर प्रेरणा करनेवाला। चित्त पर दबाव वा अधिकार रखनेवाला।
संज्ञा पुं० ईश्वर। परमात्मा। चैतन्य। परमेश्वर। पुरुष।

अंतर्लंब-संज्ञा पुं० [सं०] वह त्रिकोण क्षेत्र जिसके भीतर लंब गिरा हो।

अंतर्लापिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह पहेली जिसका उत्तर उसी पहेली के अक्षरों में हो।
उ०—(क) कौन जाति सीता सती, दई कौन कहँ तात।
कौन ग्रंथ बरण्यो हरी, रामायण अवदात।—केशव।
इस दोहे में पहले पूछा है कि सीता कौन जाति थी? उत्तर "रामा=स्त्री"। फिर पूछा कि उनके पिता ने उन्हें किसको दिया? "रामाय=राम को"। फिर पूछा किस ग्रंथ में हरण लिखा गया है। उत्तर हुआ "रामायण"।
(ख) चार महीने बहुत चलै औ आठ महीने थोरी।
अमीर खुसरो यों कहैं तू बूझ पहेली मोरी।—
इसमें "मोरी" शब्द ही उत्तर है।

अंतर्लीन-वि० [सं०] मग्न। भीतर छिपा हुआ। डूबा हुआ। ग़र्क़। विलीन।

अंतर्वती-वि० स्त्री० [सं०] (१) गर्भवती। गर्भिणी। हामिला। (२) भीतरी। भीतर की। अंदर रहनेवाली। अंतरस्थित।

अंतर्वत्नी-वि० स्त्री० [सं०] (१) गर्भवती। गर्भिणी। हामिला।

अंतर्वाणी-संज्ञा पुं० [सं०] शास्त्रज्ञ। पंडित। शास्त्रवेत्ता। शास्त्रों का जाननेवाला। विद्वान्।

अंतर्वाष्प-संज्ञा पुं० [सं०] भीतरी दुःख जिसमें आँसू न निकलें।

अंतर्विकार-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर का धर्म। मन का शरीर संबंधी अनुभव, जैसे भूख, प्यास, पीड़ा इत्यादि।

अंतर्वेगी ज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ज्वर जिसमें भीतर दाह, प्यास, चक्कर, सिर में दर्द और पेट में शूल होता है। इसमें रोगी को पसीना नहीं आता और न दस्त होता है। इसे कष्टज्वर भी कहते हैं।

अंतर्वेद-संज्ञा पुं० [सं० अन्तर्वेदि] [वि० अन्तर्वेदी] (१) देश जिसके अंतर्गत यज्ञों की वेदियाँ हों (२) गंगा और जमुना के बीच का देश। गंगा जमुना के बीच का दोआब। ब्रह्मावर्त देश। (३) दो नदियों के बीच का देश। दोआब।

अंतर्वेदी-वि० [सं० अंतर्वेदीय] अंतर्वेद का निवासी। गंगा जमुना के बीच के देश में रहनेवाला। गंगा जमुना के दोआब में बसनेवाला।

अंतर्वेशिक-संज्ञा पुं० [सं०] अंतःपुर-रक्षक। ज़नानख़ाने की रखवाली करनेवाला। ख़्वाजा सरा।

अंतर्हास-संज्ञा पुं० [सं०] भीतरी हँसी। भीतर भीतर हँसना। मन ही मन की हँसी। अप्रकट हास। गूढ़ हास।

अंतर्हित-वि० [सं०] तिरोहित। अंतर्द्धान। गुप्त। ग़ायब। छिपा हुआ। अदृश्य। अलक्ष्य। लुप्त। उ०।—यहि विधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अंतर्हित प्रभु भयऊ।—तुलसी।
क्रि० प्र०—करना।—होना।

अंतलघु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छंद का चरण जिसके अंत में लघु वर्ण वा मात्रा हो। (२) वह शब्द जिसका अंतिम वर्ण लघु हो।

अंतवर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] अंतिम वर्ण का। चतुर्थ वर्ण का। शूद्र।

अंतविदारण-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य और चंद्रग्रहण के जो दस प्रकार के मोक्ष माने गये हैं उनमें से एक, जिसमें चंद्रमा के बिम्ब के चारों ओर निर्मलता और मध्य में गहरी श्यामता होती है। इसमे मध्य देश की हानि और शरद ऋतु में कुआर की खेती का विनाश वराहमिहिर ने माना है।

अंतशय्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृत्युशय्या। मरनखाट। भूमिशय्या। (२) श्मशान। मसान। मरघट। (३) मरण। मृत्यु।

अंतश्छद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भीतरी तल। भीतरी आच्छादन। (२) मिहराब में नीचे का तल।

अंतस्-संज्ञा पुं० [सं०] अंतःकरण। हृदय। चित्त।

अंतसद्-संज्ञा पुं० [सं०] शिष्य। चेला।

अंतसमय-संज्ञा पुं० [सं०] मृत्युकाल। मरणकाल।

अंतस्ताप-संज्ञा पुं० [सं०] मानसिक व्यथा। चित्त का संताप। आंतरिक दुःख। भीतरी खेद।

अंतस्थ-वि० [सं०] [वि० अंतस्थित] (१) भीतर का। भीतरी। (२) बीच में स्थित। मध्य का। मध्यवर्ती। बीचवाला। (३) य, र, ल, व, ये चारों वर्ण अंतस्थ कहलाते हैं क्योंकि इनका स्थान स्पर्श और ऊष्म वर्णों के बीच में है।

अंतस्थित–वि० [सं०] (१) भीतर स्थित। भीतरी। (२) हृदय स्थित। हृदय का। चित्त के भीतर का। अंतःकरण का।

अंतस्नान–संज्ञा पुं० [सं०] अवभृत स्नान। वह स्नान जो यज्ञ समाप्त होने पर किया जाता है।

अंतस्सलिल–वि० [सं०] [स्त्री० अंतस्सलिला] जिसके जल का प्रवाह बाहर न देख पड़े, भीतर हो। उ०–अंतस्सलिला सरस्वती।

अंतस्सलिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती नदी। फल्गू नदी।

अंतावरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंत+सं० आवली] अँतड़ी। आँतों का समूह। उ०—अंतावरी गहि उड़त गीध पिसाच कर गहि धावहीं।—तुलसी।

अंतावशायी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्राम की सीमा के बाहर बसनेवाला। (२) अस्पृश्य वर्ण, जैसे चांडाल।

अंतावसायी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाई। हज्जाम। (२) हिंसक। चांडाल।

अंतिम–वि० [सं०] (१) जो अंत में हो। अंत का। आख़िरी। सबसे पिछला। सबके पीछे का। (२) चरम। सबसे बढ़ के। हद दरजे का।

अंतिम यात्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] महायात्रा। महाप्रस्थान। आख़िरी सफर। अंतकाल। मृत्यु। मरण। मौत। मृत्यु के पीछे उस स्थान तक जीवात्मा की यात्रा जहाँ अपने कर्मानुसार उसे रह कर कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

अंतेउर, अंतेवर*–संज्ञा पुं० [सं० अन्तःपुर] घर के भीतर का भाग जिसमें स्त्रियाँ रहती हैं। अंतःपुर। जनानख़ाना। ड़िं०

अंतेवासी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुरु के समीप रहनेवाला। शिष्य। चेला। (२) ग्राम के बाहर रहनेवाला। चांडाल। अंत्यज।

अंतःकरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह भीतरी इंद्रिय जो संकल्प विकल्प, निश्चय, स्मरण, तथा सुख दुःखादि का अनुभव करती है।

कार्यभेद से इसके चार विभाग हैं—

(क) मन, जिससे संकल्प विकल्प होता है। (ख) बुद्धि, जिसका कार्य विवेक वा निश्चय करना है। (ग) चित्त, जिससे बातों का स्मरण होता है। (घ) अहंकार, जिससे सृष्टि के पदार्थों से अपना संबन्ध देख पड़ता है। (२) हृदय। मन। चित्त। बुद्धि।

(३) नैतिक बुद्धि। विवेक। उ०—हमारा अंतःकरण इस बात को क़बूल नहीं करता।

अंतःकुटिल–वि० [सं०] भीतर का कपटी। खोटा। धोखेबाज़। छली।

अंतःकोण–संज्ञा पुं० [सं०] भीतरी कोना। भीतर की ओर का कोण। जब एक रेखा दो रेखाओं को स्पर्श करती वा काटती है तब उन दो रेखाओं के मध्य में बने हुए कोण को अंतःकोण कहते हैं।

अंतःक्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भीतरी व्यापार। अप्रगट कर्म। (२) अंतःकरण को शुद्ध करनेवाला कर्म्म।

अंतःपटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन, नगर आदि का दिखलाया हुआ दृश्य। (२) नाटक का परदा।

संज्ञा स्त्री० सोमरस जब वह छानने के लिये छनने में रक्खा हो।

अंतःपरिधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी परिधि वा घेरे के भीतर का स्थान। (२) यज्ञ की अग्नि को घेरने के लिये जो तीन हरी लकड़ियाँ रक्खी जाती हैं उनके भीतर का स्थान।

अंतःपवित्रा–वि० स्त्री० [सं०] (१) शुद्ध अंतःकरणवाली। शुद्ध चित्त की।

अंतःपुर–संज्ञा पुं० [सं०] [संज्ञा अंतःपुरिक] घर के मध्य वा भीतर का भाग जिसमें स्त्रियाँ रहती हों। जनानख़ाना। जनाना। भीतरी महल। रनिवास। हरम।

अंतःपुरप्रचार–संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों की गप्प। प्रपंच।

अंतःपुरिक–संज्ञा पुं० [सं०] अंतःपुर का रक्षक। कंचुकी।

अंतःप्रज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] आत्मज्ञानी; तत्वदर्शी।

अंतःशरीर–संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत के अनुसार स्थूल शरीर के भीतर का सूक्ष्म शरीर। लिंगशरीर।

अंतःशल्य–वि० [सं०] भीतर सालनेवाला। गाँसी की तरह मन में चुभनेवाला। मर्मभेदी।

अंतःशुद्धि–संज्ञा पुं० [सं०] अंतःकरण की पवित्रता। चित्त की स्वच्छता। दिल की सफ़ाई।

अंतःसंज्ञा–संज्ञा पुं० [सं०] जो जीव अपने सुख दुःख के अनुभव को प्रगट न कर सके, जैसे वृक्ष।

अंतःसत्वा–वि० [सं०] गर्भवती।

संज्ञा पुं० भिलावाँ।

अंतःसार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अंतःसारवान्] भीतरी तत्व। गुरुता।

वि० जिसके भीतर कुछ तत्व हो। जो भीतर से पोला न हो। जिसके भीतर कुछ प्रयोजनीय वस्तु हो।

अंतःसारवान–वि० [सं०] (१) जिसके भीतर कुछ तत्व हो। जो पोला न हो। जिसके भीतर प्रयोजनीय वस्तु हो। (२) सारगर्भित। तत्वपूर्ण। प्रयोजनीय। काम का।

अंतःस्वेद–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके भीतर स्वेद वा मदजल हो। हाथी।

अंत्य–वि० [सं०] अंत का। अंतिम। आख़िरी। सब से पिछला।

संज्ञा पुं० (१) वह जिसकी गणना अंत में हो जैसे, (क) लग्नों में मीन, (ख) नक्षत्रों में रेवती, (ग) वर्णों में शूद्र, (घ) अक्षरों में "ह"। (२) एक संख्या। दस सागर की संख्या (१०००,०००,०००,०००,०००)। दस करोड़। यम।

अंत्यकर्म–संज्ञा पुं० [सं०] अंत्येष्टि क्रिया।

अंत्यज–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अंतिम वर्ण में उत्पन्न हो। वह शूद्र जो छूने के योग्य न हो वा जिसका छुआ हुआ जल द्विज ग्रहण न कर सकें; जैसे, धोबी, चमार, नट, बरूड़, डोम, मेद, भिल्ल।

अंत्यभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतिम नक्षत्र अर्थात् रेवती। (२) मीन राशि।

अंत्ययुग–संज्ञा पुं० [सं०] युगों के गणना-क्रम में अंत में आनेवाला युग। कलियुग।

अंत्यवर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतिम वर्ण। शूद्र। (२) अंत का अक्षर 'ह'। (३) पद के अंत में आनेवाला अक्षर।

अंत्यविपुला–संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्या छंद का एक भेद। इसके दूसरे दल के प्रथम तीन गणों तक चरण पूर्ण नहीं होता और दोनों दलों में दूसरा और चौथा गण जगण होता है। इसे अंत्यविपुला महाचपला, अंत्यविपुला जघनचपला या अंत्यविपुला मुखचपला भी कहते हैं।

अंत्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] चांडाली। चांडाल की स्त्री, चंडालिनी।

अंत्याक्षर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी शब्द वा पद के अंत का अक्षर। (२) वर्णमाला का अंतिम अक्षर "ह"।

अंत्याक्षरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी कहे हुए श्लोक वा पद्य के अंतिम अक्षर से आरंभ होनेवाला दूसरा श्लोक पढ़ना। किसी श्लोक के अंतिम पद के अंत्य अक्षर से दूसरे श्लोक का आरंभ।

विशेष—विद्यार्थियों में इसकी चाल है। एक विद्यार्थी जब एक श्लोक पढ़ चुकता है दूसरा उस श्लोक के अंतिम अक्षर से आरंभ होनेवाला दूसरा श्लोक पढ़ता है। फिर पहिला उस दूसरे विद्यार्थी के कहे हुए पद्य का अंतिम अक्षर लेता है और उससे आरंभ होनेवाला एक तीसरा श्लोक पढ़ता है। यह क्रम बहुत देर तक चलता है। अंत में जो श्लोक न पाकर चुप हो जाता है उसकी हार मानी जाती है।

अंत्यानुप्रास–संज्ञा पुं० [सं०] पद्य के चरणों के अंतिम अक्षरों का मेल। तुक। तुकबंदी। तुकांत। उ०—सिय शोभा किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।—तुलसी। इस चौपाई के दोनों चरणों के अंतिम अक्षर "नी" हैं।

हिंदी कविता में ५ प्रकार के अंत्यानुप्रास मिलते हैं। (१) सर्वांत्य, जिसके चारों चरणों के अंतिम वर्ण एक हों। उ०—न ललचहु। सब तजहु। हरि भजहु। यम करहु। (२) समांत्य विषमांत्य, जिसके सम से सम और विषम से विषम के अंत्याक्षर मिलते हों। उ०—जिहि सुमिरत सिधि होइ, गणनायक करिवर बदन। करहु अनुग्रह सोइ, बुद्धि-राशि शुभ गुण सदन। (३) समांत्य, जिसके सम चरणों के अंत्याक्षर मिलते हों विषम के नहीं। उ०—सब तो। शरणा। गिरिजा। रमणा। (४) विषमांत्य, जिसके विषम चरणों के अंत्याक्षर एक हों सम के नहीं। उ०—लोभिहि प्रिय जिमि दाम, कामिहि नारि पियारि जिमि। तुलसी के मन राम, ऐसे ह्वै कब लागि हौ॥ (५) समविषमांत्य, जिसके प्रथम पद का अंत्याक्षर द्वितीय पद के अंत्याक्षर के और तृतीय पद का अंत्याक्षर चतुर्थ पद के अंत्याक्षर के समान हो। उ०—जगो गुपाला। सु भोर काला। कहै यसोदा। लहै प्रमोदा।

अंत्यावसायी–संज्ञा पुं० [सं०] अत्यंत नीच जाति का व्यक्ति। चांडाल। मनु ने इसकी उत्पत्ति निषाद स्त्री और चांडाल पुरुष से लिखी है। अंगिरा के अनुसार इसके अंतर्गत सात जातियाँ हैं, चांडाल, श्वपच, क्षत्ता, सूत, वैदेहक, मागध और योगव।

अंत्येष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] मृतक का शवदाह से सपिंडन तक कर्म। क्रिया कर्म। अंत्य क्रिया।

अंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँत। अँतड़ी। रोधा।
* (२) कहीं कहीं 'अंतर' का अपभ्रंश है।

अंत्रकूजन–संज्ञा पुं० [सं०] आँतों का शब्द। आँतों की गुड़गुड़ाहट। अँतड़ियों की कुड़कुड़ाहट।

अंत्रवृद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] आँत उतरने का रोग।

अंत्रांडवृद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें आँतें उतर कर फ़ोते में चली आती हैं और फ़ोता फूल जाता है।

अंत्रालजी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पीव से भरी एक प्रकार की ऊँची, गोल फुंसी जो वैद्यक के अनुसार कफ और वात के प्रकोप से होती है।

अंत्री*–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्त्र] अँतड़ी। आँत।

अँथऊ–संज्ञा पुं० दे० "अथऊ"।

अंदर–क्रि० वि० [फ़ा०] [वि० अंदरी, अंदरूनी] भीतर।

अँदरसा–संज्ञा पुं० [फ़ा० अंदर+सं० रस] एक प्रकार की मिठाई जो चौरेठे वा पिसे हुए चावल की बनती है। चौरेठे को चीनी के कच्चे शीरे में डालकर थोड़ा घी देकर पका लेते हैं। जब वह गाढ़ा हो जाता है तब उतारकर दो दिन तक रखकर उसका ख़मीर उठाते हैं। फिर उसीकी छोटी छोटी टिकियाँ बनाकर उन पर पोस्ते का दाना लपेटकर उन्हें घी में तलते हैं।

अंदरी–वि० [फ़ा० अंदर+ई] भीतरी। अंदरूनी।

अंदरूनी–वि० [फ़ा०] भीतरी। भीतर का। आभ्यन्तरिक।

अंदाज़–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [संज्ञा अंदाज़ी, क्रि० वि० अंदाज़न] (१) अटकल। अनुमान। मान। नाप जोख। कूत। तख़मीना। दे० "अंदाज़ा"। (२) ढब। ढंग। तौर। तर्ज़। (३) मटक। भाव। चेष्टा। ठसक।

क्रि० प्र०—करना।—लगाना।—होना।

मुहा०—उड़ाना=दूसरे की चाल ढाल पकड़ना। पूरी पूरी नकल करना।

अंदाज़न–क्रि० वि० [फा०] (१) अंदाज़ से । अटकल से । तख़मीनन । (२) लगभग । करीब ।

अंदाज़ पट्टी–संज्ञा पुं० [फा० अंदाज+पट्टी (भूभाग)] खेत में लगी हुई फसल के मूल्य को कूतना । कनकूत ।

अंदाज़पीटी–संज्ञा स्त्री० [फा० अंदाज+हिं० पिटना (हैरान होना)] वह स्त्री जो दिन रात अपने बनाव सिंगार में लगी रहे । अपनी सुंदरता और चाल ढाल पर इतरानेवाली स्त्री ।

अंदाज़ा–संज्ञा पुं० [फा०] अटकल । अनुमान । कूत । नाप जोख । परिमाण । तख़मीना ।

अँदाना–क्रि० स० [सं० अदि=बाँधना, बंधन करना] बचाना । बरकाना । उ०—परिवा नवमी पुरुब न भाये । दूइज दसमी उतर अँदाये ।—जायसी ।

अंदु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर में पहनने का स्त्रियों का एक गहना । पाज़ेब । पैरी । पैंजना । (२) साँकड़ा । हाथी को बाँधने का सीकड़ा । अलान । बाँधने की रस्सी ।

अँदुआ–संज्ञा पुं० [सं० अन्दुक] हाथियों के पिछले पैर में डालने के लिये एक लकड़ी का बना काँटेदार यंत्र । यह दो धनुषाकार लकड़ियों का बना होता है जिनके मुँह एक ओर कील से मिले रहते हैं । इसे हाथी के पैर में डालकर दूसरे छोर को भी बाँध देते हैं ।

अंदुक–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "अंदु" ।

अंदेशा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) सोच । चिंता । फ़िक्र । उ०—सिय अंदेश जानि सूरज प्रभु लियो करज की कोर । टूटत धनु नृप लुके जहाँ तह ज्यों तारागण भोर ।—सूर । (२) संशय । अनुमान । संदेह । शक । (३) खटका । आशंका । भय । डर । (४) हरज । हानि । (५) दुबिधा । असमंजस । आगा पीछा । पसोपेश ।

अंदोर–संज्ञा पुं० [सं० अन्दोल=झूलना, हलचल] हलचल । शोर । हल्ला । कोलाहल । हुल्लड़ । (क) उ०—घरी एक सुठि भयउ अँदोरा । पुनि पाछे बीता होइ गेरा ।—जायसी । (ख) भहरात झहरात दवानल आयो ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायो ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—मचाना ।—होना ।

अंदोह–संज्ञा पुं० [फा०] (१) शोक । दुःख । रंज । खेद । (२) तरद्दुद । खटका । असमंजस । संदेह ।

अंद्रसस्त्र*–संज्ञा पुं० [सं० इन्द्रशस्त्र] वज्र । डिं० ।

अंध–वि० [सं०] [संज्ञा अंधता] (१) नेत्रहीन । बिना आँख का । अंधा । जिसकी आँखों में ज्योति न हो । जिसमें देखने की शक्ति न हो । (२) अज्ञानी । अजानकार । अनजान । मूर्ख । बुद्धिहीन । अविवेकी । (३) असावधान । अचेत । ग़ाफ़िल । (४) उन्मत्त । मतवाला । मस्त ।

संज्ञा पुं० (१) वह व्यक्ति जिसे आँखें न हों । नेत्रहीन प्राणी । अंधा । (२) जल । पानी । (३) उल्लू । (४) चमगीदड़ । (५) अँधेरा । अंधकार । (६) कवियों के बाँधे हुए पथ के विरुद्ध चलने का काव्य-संबंधी दोष ।

अंधक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेत्रहीन मनुष्य । दृष्टिरहित व्यक्ति । अंधा । (२) कश्यप और दिति का पुत्र एक दैत्य जिसके सहस्र सिर थे, यह अंधक इस कारण कहलाता था कि देखते हुए भी मद के मारे अंधों की नाईं चलता था । स्वर्ग से पारिजात लाते समय यह शिव के द्वारा मारा गया । इसीसे शिव को अंधकारि वा अंधकरिपु कहते हैं ।
(३) क्रोष्ट्री नामक यादव के पौत्र और युधाजित के पुत्र । अंधक नाम की यादवों की शाखा इन्हीं से चली । इनके भाई वृष्णि थे जिनसे वृष्णिवंशी यादव हुए जिनमें कृष्ण थे । (४) बृहस्पति के बड़े भाई उतथ्य ऋषि के पुत्र महाताप नामक ऋषि । इनकी माता का नाम ममता था ।

अंधकरिपु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंधक नामक दैत्य के शत्रु, शिव । (२) अंधकार का नाश करनेवाले, सूर्य्य । (३) चंद्रमा । (४) अग्नि ।

अंधकार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अँधेरा ।

विशेष—महा अंधकार को अंधतमस, सर्वव्यापी वा चारों ओर के अंधकार को संतमस और थोड़े अंधकार को अवतमस कहते हैं । (२) अज्ञान । मोह । (३) उदासी । कांतिहीनता । उ०—उसके चेहरे पर अंधकार छाया है ।

अंधकारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी । भैरव राग की पाँच स्त्रियों में से एक । दे० "रागिनी" ।

अंधकूप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंधा कूँआ । अँधेरा कूँआ । सूखा कूँआ । वह कूँआ जिसका जल सूख गया हो और जो घास पात से ढका हो । (२) एक नरक का नाम (३) अँधेरा । उ०—अंधकूप भा आवई, उड़त आव तस छार । ताल तलाव पोखरे, धूर भरे ज्यों नार ।—जायसी ।

अंधखोपड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्ध+हिं० खोपड़ी] जिसके मस्तिष्क में बुद्धि न हो । मूर्ख । गाउदी । भोंदू । अज्ञानी । नासमझ ।

अंधड़–संज्ञा पुं० [सं० अन्ध] गर्द लिए हुए बड़े झोंके की वायु । वेगयुक्त पवन । आँधी । तूफ़ान ।

अंधतमस–संज्ञा पुं० [सं०] महा अंधकार । गहिरा अँधेरा । गाढ़ा अँधेरा ।

अंधता–संज्ञा स्त्री० [सं०] अंधापन । दृष्टिहीनता ।

अंधतामिस्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोर अंधकारयुक्त नरक । बड़ा अँधेरा नरक । २१ बड़े नरकों में से दूसरा । (२) सांख्य में इच्छा के विघात अर्थात् जो इच्छा में आने उसे करने की अशक्ति को विपर्य्यय कहते हैं । इस विपर्य्यय के पाँच भेद हैं जिनमें से अंतिम को अंधतामिस्र वा अभिनिवेश कहते हैं ।

जीने की इच्छा रहते भी मरने का भय। (३) योग शास्त्र के अनुसार पाँच क्लेशों में से एक। मृत्यु का भय। अभिनिवेश।

अंधधुंध*–संज्ञा पुं० [सं० अन्ध–अंधकार+हिं० धुंध] (१) अंधकार। अंधेरा। (क) उ०–अति विपरीत तृणावर्त आयो। बात चक्र मिस ब्रज के ऊपर नंद पँवरि के भीतर आयो। अंधधुंध भयो सब गोकुल जो जहाँ रह्यो सो तहाँ छपायो।—सूर। (ख) कोउ लै ओट रहत वृक्षन की अंधधुंध दिसि बिदिसि भुलाने।—सूर। (२) अंधाधुंध। अंधेर। अनरीति। दुराचार। अनियमित व्यापार। उच्छृंखल कर्म्म।

अंधपरंपरा–संज्ञा पुं० [सं०] बिना समझे बूझे पुरानी चाल का अनुकरण। एक को कोई काम करते देख दूसरे का बिना किसी विचार के उसे करना। लीक पिटौअल। भेड़िया धँसान।

अंधपूतनाग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] बालकों का रोग विशेष। इसमें वमन, ज्वर, खाँसी, प्यास आदि की अधिकता होती है। बालक के शरीर से चरबी की सी गंध आती है और वह रोता बहुत है। दे० "पूतना"।

अंधबाई*–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्धवायु] धूल लिए हुए वेगयुक्त पवन। ऐसी तेज़ हवा जिसमें गर्द के कारण कुछ सूझ न पड़े। आँधी। तूफान। उ०—श्याम अकेले आँगन छाँड़े आपु गई कछु काज घरै। यहि अंतर अँधबाई उठी इक गरजत गगन सहित घहरै।—सूर।

अँधरा*†–संज्ञा पुं० [सं० अन्ध] [स्त्री० अधरी] अंधा। नेत्रविहीन प्राणी। दृष्टिरहित जीव। चक्षुहीन मनुष्य।

वि० अंधा। बिना आँख का। दृष्टिरहित।

अँधरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अँधरा+ई] † (१) अंधी। अंधी स्त्री। (२) पहिये की पुट्ठियों अर्थात् गोलाई पूरा करने वाली धनुषाकार लकड़ियों की चूल जो दूसरी पुट्ठी के भीतर ऐसे घुसी रहती है कि ऊपर से मालूम नहीं देती।

अंधबिंदु–संज्ञा पुं० [सं०] आँख के भीतरी पटल पर का वह स्थान जो प्रकाश को ग्रहण नहीं करता और जिसके सामने पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती।

विशेष–नेत्रपटल पर ज्ञानतंतु पीछे से आकर शिराओं के रूप में फैले हुए हैं और मुड़कर शंकु और छड़ियों के आकार में हो गए हैं। मनुष्य की आँख में इन शंकुओं की संख्या ३३,६०,००० मानी गई है। ये छड़ियाँ वा शंकु आकार और रंग का परिज्ञान कराने में काम देते हैं। यदि प्रकाश ऐसे स्थान पर पड़े जहाँ कोई शंकु न हो तो कुछ देख नहीं पड़ता। यही स्थान "अंधबिंदु" कहलाता है।

अंधविश्वास–संज्ञा पुं० [सं०] बिना विचार किए किसी बात का निश्चय। बिना समझे बूझे किसी बात पर प्रतीति। संभव-असंभव-विचार-रहित धारणा। विवेकशून्य धारणा।

अंधस–संज्ञा पुं० [सं०] पका हुआ चावल। भात।

अंधा–संज्ञा पुं० [सं० अन्ध] [स्त्री० अंधी] बिना आँख का जीव। वह जीव जिसकी आँखों में ज्योति न हो। वह जिसको कुछ सूझता न हो। दृष्टिरहित जीव।

वि० (१) बिना आँख का। दृष्टिरहित। जिसे देख न पड़े। देखने की शक्ति से रहित। (२) विवेक शून्य। विचाररहित। अविवेकी। अज्ञानी। भले बुरे का विचार न रखने वाला। उ०—क्रोध में मनुष्य अंधा हो जाता है।

क्रि० प्र०—करना।—बनना।—बनाना।—होना।

मुहा०—**बनना**=जान बूझकर किसी बात पर ध्यान न देना। —**बनाना**=आँख में धूल डालना। बेवकूफ बनाना। धोखा देना। **अंधे की लकड़ी वा लाठी**=(१) एक मात्र आधार। सहारा। आसरा। (२) एक लड़का जो कई लड़कों में बचा हो। इकलौता लड़का।—**घोड़ा**=साधू फकीर लोग जूते को कहते हैं।—**दीया**=वह दीपक जो धुंधला वा मंद जलता हो। धुंधले प्रकाश का दीपक।—**तारा**=नेपचून तारा।—**भैंसा**–लड़कों का एक खेल जिसमें एक लड़का दूसरे लड़के की पीठ पर चढ़कर उसकी आँखें बंद कर लेता है और दूसरे लड़के उस भैंसा बने हुए लड़के के नीचे से एक एक करके निकलते हैं। सवार लड़का ऊपर से प्रत्येक निकलने वाले लड़के का नाम पूछता जाता है। भैंसा बना हुआ लड़का जिसका नाम ठीक बता देता है उसे फिर वह भैंसा बना कर उसकी पीठ पर सवारी करता है। **अंधी सरकार**=राज्य जिसका प्रबंध बुरा हो। मालिक जो अपने नौकरों का तनख्वाह ठीक समय पर न देता हो।

(३) जिसमें कुछ दिखाई न दे। अँधेरा। प्रकाशशून्य। उ०-जहाँ युगानयुग की एक बड़ी अंधी गुफ़ा थी।–प्रे० सा०।

यौ०–**अंधा शीशा वा आइना**=धुंधला शीशा। वह दर्पण जिसमें चेहरा साफ न दिखाई देता हो। **अंधा कुँआ**=(१) सूखा कुआ। वह कुआ जिसमें पानी न हो और जिसका मुह घास पात से ढका हो। (२) लड़कों का एक खेल जो चार लकड़ियों से खेला जाता है।

अंधाधुंध–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंधा+धुंध] (१) बड़ा अँधेरा। घोर अंधकार। (२) अंधेर। अविचार। अन्याय। गड़बड़। धींगाधींगी। कुप्रबंध। भौंग। उ०—वहाँ कोई किसी को पूछने वाला नहीं अंधाधुंध मची है।

वि० (१) बिना सोच विचार का। विचाररहित। बेधड़क। बेरोक टोक। बेठिकाने। बेतहाशा। मारामार। (२) अधिकता से। बहुतायत से। उ०—(क) वह अंधाधुंध दौड़ा आता है। (ख) वह अंधाधुंध खाए जाता है।

अंडजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

अंडबंड-संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) असंबद्ध प्रलाप । बे सिर पैर की बात । ऊटपटांग । अनाप शनाप । अगड़ बगड़ । व्यर्थ की बात । (२) गाली । बुरी बात ।

क्रि० प्र०—कहना ।—बकना ।—बोलना ।

वि० असंबद्ध । बे सिर पैर का । इधर उधर का । अस्त व्यस्त । व्यर्थ का । प्रयोजनरहित ।

अँडरना†-क्रि० अ० [सं० अतरण] धान के पौधे का उस अवस्था में पहुँचना जब बाल निकलने पर हों । रेंड़ना । गरभाना ।

अँडवृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें अंडकोश वा फ़ोता फूलकर बहुत बढ जाता है । फ़ोते का बढ़ना ।

विशेष-शरीर का बिगड़ा हुआ वायु या जल नीचे की ओर चलकर पेड़ू की एक ओर की संधियों से होता हुआ अंडकोश में जा पहुँचता है और उसको बढ़ाता है । वैद्यक में इसके वातज, पित्तज, आदि कई भेद माने गए हैं ।

अंडस-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्तर=बीच में, दाब में] कठिनता । कठिनाई । मुश्किल । संकट । असुविधा ।

अंडा-संज्ञा पुं० [सं० अंड] [वि० अँडैल] बच्चों को दूध न पिलाने वाले जंतुओं (मादा) के गर्भाशय से उत्पन्न गोल पिण्ड जिसमें से पीछे से उस जीव के अनुरूप बच्चा बन कर निकलता है । वह गोल वस्तु जिसमें से पक्षी, जलचर और सरीसृप आदि अंडज जीवों के बच्चे फूटकर निकलते हैं । बैजा ।

मुहा०—खटकना=अंडा फूटना ।—ढीला होना वा सरकना=(क) नस ढीली होना । थकावट आना । शिथिल होना । उ०—यह काम सहज नहीं है, अंडा ढीला हो जायगा । (ख) खुक्ख होना । निर्द्रव्य होना । दिवालिया होना । उ०—खर्च करते करते अंडे ढीले हो गए ।—सरकना=हाथ पैर हिलाना । अंग डोलाना । उठना । उ०-बैठे बैठे बताते हो, अंडा नहीं सरकता ।-सरकाना=हाथ पैर हिलाना । अंग डोलाना । उठना । उठकर जाना । उ०—अब अंडा सरकाओ तब काम चलेगा । (प्रायः मोटे वा बड़े अंडकोश वाले आदमी को लक्ष्य करके यह मुहाविरा बना है) ।-सेना=(क) पक्षियों का अपने अंडों पर गर्मी पहुँचाने के लिये बैठना । (ख) घर में बैठ रहना । बाहर न निकलना । उ०—क्या घर में पड़े अंडे सेते हो । अंडे का शाहज़ादा=वह व्यक्ति जो कभी घर से बाहर न निकला हो । वह जिसे कुछ अनुभव न हो ।

अंडाकार-वि० [सं०] अंडे के आकार का बैज़ावी । उस परिधि के आकार का जो अंडे की लंबाई के चारों ओर खींचने से बने । लंबाई लिए हुए गोल ।

अंडाकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंडे का आकार । अंडे की शकल ।

वि० अंडे के आकार का । अंडाकार । अंड इव ।

अंडिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों का एक योनिरोग जिसमें कुछ मांस बढ़ कर बाहर निकल आता है । इसे 'योनिकंद' रोग भी कहते हैं ।

अँड़िया†-संज्ञा पुं० [देश०] (१) बाजरे की पकी हुई बाल । (२) परेते पर लपेटा हुआ सूत । कुकड़ी ।

अंडी-संज्ञा स्त्री० [सं० एरण्ड] (१) रेंड़ी । रेंड़ के फल का बीज । (२) रेंड़ वा एरंड का पेड़ । (३) एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जो रद्दी रेशम और छाल आदि से बनता है ।

अँडुआ-संज्ञा पुं० [क्रि० अडुआना] वह पशु जो बधिया न किया गया हो । आँड़ू ।

वि० जो बधिया न किया गया हो । आँड़ू ।

अँडुआना-क्रि० स० [सं० अण्ड] बधिया करना । बैल के अंडकोश को कुचलना जिससे वह नटखटी न करे और ठीक चले । बधियाना ।

अँडुआ बैल-संज्ञा पुं० [हिं० अडुआ+बैल] (१) बिना बधियाया हुआ बैल । साँड़ । (२) बड़े अंडकोशवाला आदमी जो उसके बोझ से चल न सके । (३) सुस्त आदमी ।

अँडुवारी-संज्ञा स्त्री० [सं० अणु=छोटा टुकड़ा] एक प्रकार की बहुत छोटी मछली ।

अँडैल-वि० [हिं० अंडा] जिसके पेट में अंडे हों । अंडवाली ।

अंत-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अंतिम, अंत्य] (१) वह स्थान वा समय जहाँ से किसी वस्तु का अंत हो । समाप्ति । आखीर । अवसान । इति । उ०—(क) बनकर अंत कतहुं नहिं पावहिं । (ख) दिन के अंत फिरी दोउ अनी ।—तुलसी । इस शब्द में 'में' और 'को' विभक्ति लगने से 'आख़िरकार', 'निदान' अर्थ होता है ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(२) शेष भाग । अंतिम भाग । पिछला अंश ।

मुहा०-बनाना=अंतिम भाग का अच्छा होना ।—बिगड़ना=अंतिम वा पिछले भाग का बुरा होना ।

(३) पार । छोर । सीमा । हद । अवधि । पराकाष्ठा । उ०—(क) अस अँवराउ सघन बन, बरनि न पारौं अंत ।—जायसी । (ख) तुमने तो हँसी का अंत (हद) कर दिया ।

क्रि० प्र०—करना ।—पाना ।—होना ।

(४) अंतकाल । मरण । मृत्यु । नाश । विनाश । उ०—(क) जनम जनम मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ।—तुलसी । (ख) कहै पद्माकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं डारत करेई जातुधानन को अंत हौं ।—पद्माकर ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(५) परिणाम । फल । नतीजा । उ०—(क) बुरे काम का अंत बुरा होता है । (ख) कर भला हो भला । अंत भले का भला ।—कहावत । (६) समीप । निकट । (७) बाहर । दूर । (८) प्रलय ।—डिं० ।

संज्ञा पुं० [सं० अन्तर] (१) अंतःकरण। हृदय। जी। मन। उ०—(क) तुम अपने अंत की बात कहो। (ख) मैं तुम्हें अंत से चाहता हूँ। (२) भेद। रहस्य। छिपा हुआ भाव। मन की बात। उ०—हे द्विज! मैं हौं धर्म, लेन आयों तव अंता।—विश्राम।

मुहा०—पाना=भेद पाना। पता पाना।—लेना। भेद लेना। मन का भाव जानना। मन छूना।

*संज्ञा पुं० [सं० अन्त्र] आँत। अँतड़ी। उ०—झरें शोन धारा परें पेट ते अंत।—सूदन।

क्रि० वि० अंत में। आखिरकार। निदान। उ०—(क) उघरैं अंत न होहि निबाहू।—तुलसी। (ख) कोटि जतन कोऊ करौ परै न प्रकृतिहिँ बीच। नल बल जल ऊँचो चढ़ै अंत नीच को नीच।—बिहारी।

क्रि० वि० [सं० अन्यत्र—अनत—अन] और जगह। और ठौर। दूसरी जगह। और कहीं। दूर। अलग। जुदा। उ०—(क) कुंज कुंज में क्रीड़ा करि करि गोपिन को सुख देहौं। गोप सखन संग खेलत डोलौं ब्रज तजि अंत न जैहौं।—सूर। (ख) एक ठाँव यदि थिर न रहाहीं। रस लै खेलि अंत कहुँ जाहीं।—जायसी। (ग) धनि रहीम गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय। जियत कंज तजि अंत बसि, कहा भौंर को भाय।—रहीम।

अंतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंत करनेवाला। नाश करनेवाला। (२) मृत्यु जो कि प्राणियों के जीवन का अंत करती है। मौत। (३) यमराज। काल। (४) सन्निपात ज्वर का एक भेद जिसमें रोगी को खाँसी, दमा और हिचकी होती है और वह किसी वस्तु को नहीं पहचानता। (५) ईश्वर, जो कि प्रलय में सबका संहार करता है। (६) शिव।

अंतकर, अंतकर्त्ता—संज्ञा पुं० [सं०] अंत वा नाश करनेवाला। संहार करनेवाला।

अंतकारक—संज्ञा पुं० [सं०] अंत करनेवाला। विनाश करनेवाला। संहार करनेवाला।

अंतकारी—संज्ञा पुं० [सं०] अंत करनेवाला। विनाश करनेवाला। संहार करनेवाला। मार डालनेवाला।

अंत काल—संज्ञा पुं० [सं०] अंतिम समय। मरने का समय। आखिरी वक्त। मृत्यु। मौत। मरण।

अंतकृत—संज्ञा पुं० [सं०] अंत वा विनाश करनेवाला। यमराज। धर्मराज। उ०—भूमिजा दुःख संजात रोषांतकृत यातना जंतु कृत यातुधानी।—तुलसी।

अंत क्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] अन्त्येष्टि कर्म्म। क्रिया कर्म्म। मरने के पीछे मृतक की आत्मा की भलाई के लिये जो दाह और पिण्डदान आदि कर्म्म किए जायँ।

अंतग—संज्ञा पुं० [सं०] अंतगामी। पारगामी। पारंगत जानकारी में पूरा। निपुण।

अंतगति—संज्ञा स्त्री० [सं०] अंतिम दशा। मृत्यु। मरण। मौत।

अंतघाई—वि० [सं० अन्तघाती] विश्वासघाती। अंत में धोखा देनेवाला। दगाबाज़। उ०—साँझ ही स्यमें ते दूरि बैठी परदानि दै कै, संक मोहिं एकै या कलानिधि कसाई की। कंत की कहानी सुनि श्रवन सोहानी, रैनि रंचक बिहानी या बसंत अंतघाई की।—कोई कवि।

अँतड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० अन्त्र] आँत। नली।—दे० "आँत"।

मुहा०—टटोलना=रोग की पहिचान के लिये पेट को दबा कर देखना।—जलना=पेट जलना। बहुत भूख लगना।—गले में पड़ना=किसी आपत्ति में फँसना। अँतड़ियों का बल खोलना=बहुत दिन के बाद भोजन मिलने पर खूब पेट भर खाना। अँतड़ियों में बल पड़ना=अँतड़ियों का ऐंठना वा दुखना। पेट में दर्द होना। उ०—हँसते हँसते अँतड़ियों में बल पड़ गए।

अंतपाल—संज्ञा पुं० [सं०] द्वारपाल। ड्योढ़ीदार। पहरू। दरवान।

अंतरंग—वि० [सं०] (१) अत्यंत समीपी। आत्मीय। निकटस्थ। दिली। जिगरी। भीतरी। (२) मानसिक। "बहिरंग" इसका उलटा है।

संज्ञा पुं० (२) मित्र। दिली दोस्त। आत्मीय स्वजन।

अंतरंगी—वि० [सं०] दिली। भीतरी। जिगरी।

संज्ञा० पुं० गहरा मित्र। दिली दोस्त।

अंतर—संज्ञा० पुं० [सं०] [क्रि० अतराना। वि० अंतरित] (१) फ़र्क। भेद। विभिन्नता। अलगाव। फेर। उ०—(क) ज्ञानहि भक्तिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता।—तुलसी। (ख) ब्रजबासी लोगन सों मैं तो अंतर कछू न राख्यो।—सूर। (ग) इसके और उसके स्वाद में कुछ अंतर नहीं है।

क्रि० प्र०—(१) करना।—देना।—पड़ना।—होना।

(२) बीच। मध्य। फ़ासला। दूरी। अवकाश। दो वस्तुओं के बीच में का स्थान। उ०—यह विचारो कि मथुरा और वृन्दावन का अंतर ही क्या है?—प्रेमसागर। (३) मध्यवर्ती काल। दो घटनाओं के बीच का समय। बीच। उ०—(क) इहि अंतर अर्जुन फिरि आयो। राजा के चरनन सिर नायो।—सूर। (ख) इस अंतर में स्तन दूध से भर जाते हैं।—बनिताविनोद। (४) ओट। आड़। परदा। दो वस्तुओं के बीच में पड़ी हुई चीज़। उ०—(क) कठिन बचन सुनि श्रवण जानकी सकी न बचन सहार। तृण अंतर दै दृष्टि तिरौंछी दई नैन जल धार।—सूर। (ख) अपने कुल को कलह क्यों, देखहिं रवि भगवंत। यहै जानि अंतर कियो, मानो यही अनंत।—केशव।

क्रि० प्र०—करना।—डालना।—देना।—पड़ना।

(५) छिद्र। छेद। रंध्र।

वि० (१) अंतर्द्धान। ग़ायब। लुप्त। उ०—मोहीं ते परी री चूक अंतर भए हैं जातें तुमसों कहति बातैं मैं ही कियो द्वंदन।—सूर (ख) करी कृपा हरि कुँवरि जिआई। अंतर आय भए सुराई।—सबल।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) दूसरा। अन्य। और।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रायः यौगिक शब्दों में मिलता है, जैसे ग्रंथांतर, स्थानांतर, कालांतर, देशांतर, पाठांतर, मतांतर, यज्ञांतर इत्यादि।

क्रि० वि० दूर। अलग। जुदा। पृथक। विलग। उ०—(क) कहाँ गए गिरिधर तजि मोकों ह्यां कैसे मैं आई। सूर-श्याम अंतर भए मोंते अपनी चूक सुनाई।—सूर। (ख) सूरदास प्रभु को हियरेतें अंतर करौं नहीं छिनहीं।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

संज्ञा० पुं० [सं० अन्तर] हृदय। अंतःकरण। जी। मन। चित्त। उ०—अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना।—तुलसी।

क्रि० वि० भीतर। अंदर। उ०—(क) संधानेउ प्रभु बिशिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला।—तुलसी। (ख) मोहन मूरति श्याम की अति अद्भुत गति जोइ। बसत सुचित अंतर तऊ प्रतिबिम्बित जग होइ।—बिहारी। (ग) चिंता ज्वाल शरीर बन दावा लगि लगि जाइ। प्रकट धुआँ नहिं देखिये उर अंतर धुँधुँआय।—गिरधर—(घ) बाहर गर लगाइ राखौंगी अंतर करौंगी समाधि।—हरिश्चन्द्र।

क्रि० प्र०—करना=भीतर करना। ढाँकना। छिपाना। उ०—फिरी चमक चोप लगाइ चंचल तनहिं तब अंतर करैं।

अंतर अयन—संज्ञा० पुं० [सं०] (१) अंतर्गृही। तीर्थों की एक परिक्रमा विशेष। (२) एक देश का नाम।

अंतरग्नि—संज्ञा स्त्री० [सं०] पेट की अग्नि। जठराग्नि। पेट की गरमी जिससे खाई हुई वस्तु पचती है।

अंतर चक्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिशाओं और विदिशाओं के बीच के अंतर को चार चार भागों में बाँटने से बने हुए ३२ भाग। (२) दिशाओं के ऊपर कहे हुए भिन्न भिन्न विभागों में चिड़ियों की बोली सुन कर शुभाशुभ फल बताने की विद्या। जिस दिशा में पक्षी बैठ कर बोले उसका विचार करके शकुन कहने की विद्या। (३) तंत्र के अनुसार शरीर के भीतर माने हुए मूलाधार आदि कमल के आकार के छः चक्र। षट् चक्र। (४) आत्मीय वर्ग। स्वजन समूह। भाई बंधु की मंडली।

अंतरछाल—संज्ञा स्त्री० [सं० अन्तर+छाल] छाल के नीचे की कोमल छाल वा झिल्ली। बोकले के भीतर का कोमल भाग।

अंतरजामी—संज्ञा पुं० दे० "अंतर्यामी"।

अंतरजाल—संज्ञा पुं० [सं० अन्तर+जाल] कसरत करने की एक लकड़ी।

अंतरज्ञ—वि० [सं०] (१) भीतर की बात जाननेवाला। अंतः-करण का आशय जाननेवाला। हृदय की बात जानने वाला। अंतर्यामी। (२) भेद जाननेवाला।

अंतरदिशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दो दिशाओं के बीच की दिशा। कोण। विदिशा।

अंतरपट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परदा। आड़। ओट। आड़ करने का कपड़ा। (२) विवाह मंडप में मृत्यु की आहुति के समय अग्नि और वर कन्या के बीच में एक परदा डाल देते हैं जिसमें वे दोनों उस आहुति को न देखें। इस परदे को अंतरपट कहते हैं।

क्रि० प्र०—करना।—डालना।—देना।

मुहा०—साजना=छिपकर बैठना। सामने न होना। ओट में रहना।

(३) परदा। छिपाव। दुराव। भेद। उ०—तासों कौन अँतरपट जो अस प्रीतम पीव।—जायसी। (४) धातु वा ओषध को फूँकने के पहिले उसकी लुगदी वा संपुट पर गीली मिट्टी के लेव के साथ कपड़ा लपेटने की क्रिया। कपड़मिट्टी कपड़ौटी। कपरौटी। उ०—का पूछौ तुम धातु निछोही। जो गुरु कीन्ह अँतरपट ओही।—जायसी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(५) गीली मिट्टी का लेव देकर लपेटा हुआ कपड़ा।

अंतर पुरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आत्मा। (२) परमात्मा। अंतर्यामी। परमेश्वर।

अंतरप्रभव—संज्ञा पुं० [सं०] वर्णसंकर। जो दो भिन्न भिन्न वर्णों के माता पिता से उत्पन्न हो।

अंतररति—संज्ञा स्त्री० [सं०] संभोग के सात आसन। यथा स्थिति, तिर्यक, सम्मुख, विमुख, अध, ऊर्ध्व और उत्तान।

अंतरशायी—संज्ञा पुं० [सं०] अंतरस्थ जीव। जीवात्मा।

अंतरसंचारी—संज्ञा पुं० [सं०] वे अस्थिर मनोविकार जो बीच बीच में आकर मनुष्य के हृदय के प्रधान और स्थिर मनो-विकारों में से किसी की सहायता वा पुष्टि करके रस की सिद्धि करते हैं। इसे केवल "संचारी" भी कहते हैं। 'अंतर' शब्द इस कारण लगाया गया कि किसी किसी ने अनुभाव के अंतर्गत सात्विक भावों को तन संचारी लिखा है। ये ३३ माने गए हैं। दे० "संचारी"।

अंतरस्थ—वि० [सं०] भीतर का। भीतरी। अंदर का। भीतर रहनेवाला।

अँतरा–संज्ञा पुं० [सं० अन्तर] (१) अंतरा । नागा । वक्फा । अंतर । बीच ।

क्रि० प्र०—करना ।—डालना ।—पड़ना ।

(२) वह ज्वर जो एक दिन नागा देकर आता है ।

क्रि० प्र०—आना । उ०–उसे अँतरा आता है ।

(३) कोना ।

वि० एक बीच में छोड़कर दूसरा ।

विशेष–विशेषण में इसका प्रयोग साधु भाषा में केवल 'ज्वर' शब्द के साथ और प्रांतीय भाषाओं में कालसूचक शब्दों के साथ होता है । उ०—अँतरा ज्वर । अँतरे दिन ।

अंतरा–क्रि० वि० [सं० अन्तरा] (१) मध्य । (२) निकट । (३) अतिरिक्त । सिवाय । (४) पृथक् । (५) बिना ।

संज्ञा पुं० (१) किसी गीत में स्थाई वा टेक के अतिरिक्त बाकी और पद वा चरण । (२) प्रातःकाल और संध्या के बीच का समय । दिन ।

अंतरात्मा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जीवात्मा । (२) जीव । आत्मा । प्राण । (३) अंतःकरण ।

अँतराना*–क्रि० सं० [सं० अन्तर] (१) अलग करना । दूर करना । जुदा करना । (२) भीतर करना । भीतर ले जाना ।

अंतरापत्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] गर्भिणी । गर्भवती । हामिला ।

अंतराय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विघ्न । बाधा । (२) ज्ञान का बाधक ।

(३) योग की सिद्धि के विघ्न जो नौ प्रकार के हैं यथा (क) व्याधि । (ख) स्त्यान=संकोच । (ग) संशय । (घ) प्रमाद । (च) आलस्य । (छ) अविरति=विषयों में प्रवृत्ति । (ज) भ्रांति दर्शन=उलटा ज्ञान जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि । (झ) अलब्ध भूमिकत्व=समाधि की अप्राप्ति । (ट) अनवस्थितत्व=समाधि होने पर भी चित्त का स्थिर न होना ।

(४) जैन दर्शन में दर्शनावरणीय नामक मूल कर्म के नौ भेदों में से एक, जिसके उदय होने पर दानादि करने में अंतराय वा विघ्न होते हैं । ये अंतराय कर्म पाँच प्रकार के माने गए हैं—दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय ।

अंतरायाम–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें वायुकोप से मनुष्य की आँखें, ठुड्डी और पसुली स्तब्ध हो जाती हैं और मुँह से आपही आप कफ गिरता है तथा दृष्टिभ्रम से तरह तरह के आकार दिखाई पड़ते हैं ।

अंतराल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घेरा । मंडल । घिरा हुआ स्थान । आवृत स्थान । (२) मध्य । बीच ।

अंतराल दिशा–संज्ञा० पुं० [सं०] दो दिशाओं के बीच की दिशा । विदिशा । कोण । कोना ।

अंतरिक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] पृथिवी और सूर्यादि लोकों के बीच का स्थान । कोई दो ग्रहों वा तारों के बीच का शून्य स्थान । आकाश । अधर । रोदसी । शून्य । (२) स्वर्गलोक । (३) प्राचीन सिद्धांत के अनुसार तीन प्रकार के केतुओं में से एक, जिसके घोड़े, हाथी, ध्वज, वृक्ष आदि के समान रूप हों । (४) एक ऋषि का नाम ।

वि० अंतर्द्धान । गुप्त । अप्रगट । उ०—भखे ते अंतरिक्ष रिक्ष लक्ष लक्ष जातहीं ।—केशव । (ख) फ्लोडो आर्डो अंतरिक्ष अर्थात् लोप हो गया । (ग) अविलाइनो इतने समय में अंतरिक्ष था ।—अयोध्यासिंह ।

अंतरिक्षसत्–वि० [सं०] अंतरिक्ष वा शून्य आकाश में गमन करनेवाला । आकाशचारी ।

संज्ञा पुं० (१) आत्मा । (२) पक्षी ।

अंतरिख–संज्ञा पुं० दे० "अंतरिक्ष" ।

अंतरिच्छ–संज्ञा पुं० दे० "अंतरिक्ष" ।

अंतरित–वि० [सं०] (१) भीतर किया हुआ । भीतर रक्खा हुआ । भितराया हुआ । छिपा हुआ ।

क्रि० प्र०—करना=भीतर करना । भीतर ले जाना । छिपाना । —होना=भीतर होना । अंदर जाना । छिपाना ।

(२) अंतर्द्धान । गुप्त । गायब । तिरोहित ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(३) आच्छादित । ढका हुआ ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अंतरीक*–संज्ञा पुं० [सं०] अंतरिक्ष । आकाश ।—डिं० ।

अंतरीप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्वीप । टापू । (२) पृथ्वी का वह नोकीला भाग जो समुद्र में दूर तक चला गया हो । रास ।

अंतरीय–संज्ञा पुं० [सं०] अधोवस्त्र । कमर में पहनने का वस्त्र । धोती ।

वि० भीतर का । अंदर का । भीतरी ।

अँतरौटा–संज्ञा पुं० [सं० अन्तर+पट] महीन साड़ी के नीचे पहनने का कपड़ा । कपड़े का वह टुकड़ा जिसे स्त्रियाँ इस लिये कमर में लपेट लेती हैं जिसमें महीन साड़ी के ऊपर से शरीर न दिखाई दे । अस्तर । छनना । उ०—चोली चतुरानन ठग्यो अमर उपरना राते । अँतरौटा अवलोकिकै सब असुर महामदमाते ।—सूर ।

अँतर्गडु–वि० [सं०] व्यर्थ । निष्प्रयोजन । निरर्थक । वृथा ।

अंतर्गत–वि० [सं०] [संज्ञा अंतर्गति] (१) भीतर आया हुआ । समाया हुआ । शामिल । अंतर्भूत । सम्मिलित । उ०—(क) ऐसे बड़े बड़ के वृक्ष इन्हीं छोटे बीजों के अंतर्गत हैं ।—हरिश्चन्द्र । (ख) इस समय इतना भूभाग मलाबार के अंतर्गत है ।—सरस्वती । (२) भीतरी । छिपा हुआ । गुप्त । उ०—यह फोड़ा कभी प्रत्यक्ष कभी अंतर्गत रहता है ।—अमृतसागर ।

(३) हृदय के भीतर का। अंतःकरणस्थित। उ०—उनके अंतर्गत भावों को कौन जान सकता है?

संज्ञा पुं० मन। जी। हृदय। चित्त। उ०—(क) रुक्म रिसाइ पिता सों कह्यो। सुनि ताको अंतर्गत दह्यो।—सूर। (ख) तुलसीदास जद्यपि निसि बासर छिन छिन प्रभु मूरतिहि निहारति। मिटति न दुसह ताप तउ तन की यह बिचारि अंतर्गत हारति।—तुलसी।

अंतर्गति—संज्ञा स्त्री० [सं०] मन का भाव। चित्तवृत्ति। भावना। चित्त की अभिलाषा। हार्दिक इच्छा। मनोकामना। उ०—(क) देखो रघुपति छबि अतुलित अति। जनु तिलोक सुखमा सकेलि बिधि राखी रुचिर अंग अंगन प्रति। पदुम राग रुचि मृदु पद तल ध्वज अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति। रही आनि चहुँ बिधि भगतन की जनु अनुराग भरी अंतर्गति।—तुलसी।

(ख) श्रीपार्वतीजी ने ऊषा की अंतर्गति जानि उसे अति-हित से निकट बुलाय प्यार कर समझाय के कहा।—प्रेमसागर।

अंतर्गांधार—संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में तीसरे स्वर के अंतर्गत एक विकृत स्वर जो प्रसारिणी नामक श्रुति से आरंभ होता है और जिसमें चार श्रुतियाँ होती हैं।

अंतर्गृह—संज्ञा पुं० [सं०] भीतर का घर। भीतर की कोठरी।

अंतर्गृही—संज्ञा स्त्री० [सं०] तीर्थ स्थान के भीतर पड़नेवाले प्रधान प्रधान स्थलों की यात्रा।

अंतर्घट—संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के भीतर का भाग। अंतःकरण। हृदय। मन।

अंतर्जानु—वि० [सं०] हाथों को घुटनों के बीच किए हुए।

अंतर्ज्योति—संज्ञा स्त्री० [सं०] अंतर्यामी। परमेश्वर।

अंतर्ज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतःकरण की बात का जानना। परोक्षदर्शन। दूसरे के दिल की बात जानना। (२) परिज्ञान। अंतःकरण का अनुभव। अंतर्बोध।

अंतर्दशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार मनुष्य के जीवन में जो ग्रहों के भोगकाल नियत हैं उन्हें दशा कहते हैं। मनुष्य की पूरी आयु १२० वर्ष की मानी गई है। इस १२० वर्ष के पूरे समय में प्रत्येक ग्रह के भोग के लिये वर्षों की अलग अलग संख्या नियत है जिसे महादशा कहते हैं जैसे सूर्य की महादशा ६ वर्ष, चन्द्रमा की १० वर्ष इत्यादि। अब इस प्रत्येक ग्रह के नियत भोगकाल वा महादशा के अंतर्गत भी नव ग्रहों के भोगकाल नियत हैं जिन्हें अंतर्दशा कहते हैं। जैसे सूर्य के ६ वर्ष में सूर्य का भोगकाल ३ महीने १८ दिन और चंद्रमा का ६ महीने इत्यादि। कोई कोई अष्टोत्तरी गणना के अनुसार अर्थात् १०८ वर्ष की आयु मानकर चलते हैं।

अंतर्दशाह—संज्ञा पुं० [सं०] मरने के पीछे दस दिन तक मृतक की आत्मा वायु रूप में रहती है और प्रेत कहलाती है। इन दस दिनों के भीतर हिन्दूशास्त्र के अनुसार जो कर्मकांड किए जाते हैं उन्हें "अंतर्दशाह" कहते हैं।

अंतर्दृष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्ञानचक्षु। प्रज्ञा। हिये की आँख। (२) आत्मचिंतन। आत्मा का ध्यान।

अंतर्द्धान—संज्ञा पुं० [सं०] लोप। अदर्शन। छिपाव। तिरोधान।

वि० गुप्त। अलक्ष। गायब। अदृश्य। अंतर्हित। अप्रगट। लुप्त। छिपा हुआ।

क्रि० प्र०—करना=छिपाना। दूर रहना। नज़र से गायब करना। उ०—ताते महा भयानक भूप। अंतर्द्धान करो सुर भूप।—सूर।—होना।

अंतर्द्वार—संज्ञा पुं० [सं०] घर के भीतर का गुप्त द्वार। घर में जाने के लिये प्रधान द्वार के अतिरिक्त एक और द्वार। पीछे का दरवाज़ा। खिड़की। चोर दरवाज़ा।

अंतर्निविष्ट—वि० [सं०] भीतर बैठा हुआ। अंदर रक्खा हुआ। अंतःकरण में स्थित। मन में जमा हुआ। हृदय में बैठा हुआ।

मुहा०—करना=(१) भीतर बैठाना। अंदर ले जाना। भीतर रखना। (२) मन में रखना। जी में बैठाना। हृदयंगम करना। दिल में जमाना।—**होना**=(१) भीतर बैठना। भीतर जाना। भीतर पहुँचना। (२) मन में धँसना। चित्त में बैठना। दिल में जमना। हृदयंगत होना।

अंतर्बोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आत्मज्ञान। आत्मा की पहिचान। (२) आंतरिक अनुभव।

अंतर्भाव—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अंतर्भावित, अंतर्भूत। संज्ञा अंतर्भावना] (१) मध्य में प्राप्ति। भीतर समावेश। अंतर्गत होना। शामिल होना। उ०—अन्य अर्थालंकारों का उपमा, दीपक और रूपक में अंतर्भाव है (अर्थात् अन्य अलंकार उपमा, दीपक आदि के अंतर्गत हैं)। (२) तिरोभाव। विलीनता। छिपाव। (३) नाश। अभाव। (४) आर्हत वा जैन दर्शन में आठ कर्म्मों का क्षय जिससे मोक्ष होता है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(५) भीतरी मतलब। आंतरिक अभिप्राय। आशय। मंशा।

अंतर्भावना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ध्यान। सोच विचार। चिन्ता। चिन्तवन। (२) गुणन फल के अंतर से संख्याओं को ठीक करना।

अंतर्भावित—वि० [सं०] (१) अंतर्भूत। अंतर्गत। शामिल। भीतर। (२) भीतर किया हुआ। छिपाया हुआ। लुप्त।

अंतर्भूत—वि० [सं०] अंतर्गत। शामिल।

संज्ञा पुं० जीवात्मा। प्राण। जीव।

अंतर्भूमि—संज्ञा० स्त्री० [सं०] पृथिवी के भीतर का भाग। भूगर्भ।

अंतर्मना–वि० [सं०] व्याकुल चित्त । घबड़ाया हुआ । विकल । उदास ।

अंतर्मल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भीतर का मल । पेट के भीतर का मैला । पेट के अंदर की अलाइश । (२) चित्त का विकार । मन का दोष । हृदय की बुरी वासना ।

अंतर्मुख–वि० [सं०] जिसका मुँह भीतर की ओर हो । भीतर मुँहवाला । जिसका छिद्र भीतर की ओर हो । उ०—यह फोड़ा अति कठोर और अंतर्मुख होता है ।—अमृतसागर ।

क्रि० वि० भीतर की ओर प्रवृत्त । जो बाहर से हटकर भीतर ही लीन हो ।

क्रि० प्र०—करना=भीतर की ओर ले जाना वा फेरना । भीतर नियुक्त करना । उ०—अकामी पुरुष इंद्रियों को विषयों से हटाय अंतर्मुख कर उनके द्वारा अपनी महिमा का साक्षात् अनुभव करता है ।—कठ० उप० ।

अंतर्यामी–वि० [सं०] (१) भीतर की बात जाननेवाला । हृदय की बात का ज्ञान रखनेवाला । (२) अंतःकरण में स्थित होकर प्रेरणा करनेवाला । चित्त पर दबाव वा अधिकार रखनेवाला ।

संज्ञा पुं० ईश्वर । परमात्मा । चैतन्य । परमेश्वर । पुरुष ।

अंतर्लंब–संज्ञा पुं० [सं०] वह त्रिकोण क्षेत्र जिसके भीतर लंब गिरा हो ।

अंतर्लापिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह पहेली जिसका उत्तर उसी पहेली के अक्षरों में हो ।

उ०—(क) कौन जाति सीता सती, दई कौन कहँ तात ।
कौन ग्रंथ बरण्यो हरी, रामायण अवदात ।—केशव ।

इस दोहे में पहले पूछा है कि सीता कौन जाति थी ? उत्तर "रामा=स्त्री" । फिर पूछा कि उनके पिता ने उन्हें किसको दिया ? "रामाय=राम को" । फिर पूछा किस ग्रंथ में हरण लिखा गया है । उत्तर हुआ "रामायण" ।

(ख) चार महीने बहुत चलै औ आठ महीने थोरी ।
अमीर खुसरो यों कहैं तू बूझ पहेली मोरी ।—

इसमें "मोरी" शब्द ही उत्तर है ।

अंतर्लीन–वि० [सं०] मग्न । भीतर छिपा हुआ । डूबा हुआ । ग़र्क़ । विलीन ।

अंतर्वती–वि० स्त्री० [सं०] (१) गर्भवती । गर्भिणी । हामिला । (२) भीतरी । भीतर की । अंदर रहनेवाली । अंतरस्थित ।

अंतर्वत्नी–वि० स्त्री० [सं०] (१) गर्भवती । गर्भिणी । हामिला ।

अंतर्वाणी–संज्ञा पुं० [सं०] शास्त्रज्ञ । पंडित । शास्त्रवेत्ता । शास्त्रों का जाननेवाला । विद्वान् ।

अंतर्वाष्प–संज्ञा पुं० [सं०] भीतरी दुःख जिसमें आँसू न निकलें ।

अंतर्विकार–संज्ञा पुं० [सं०] शरीर का धर्म । मन का शरीर संबंधी अनुभव, जैसे भूख, प्यास, पीड़ा इत्यादि ।

अंतर्वेगी ज्वर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ज्वर जिसमें भीतर दाह, प्यास, चक्कर, सिर में दर्द और पेट में शूल होता है । इसमें रोगी को पसीना नहीं आता और न दस्त होता है । इसे कष्टज्वर भी कहते हैं ।

अंतर्वेद–संज्ञा पुं० [सं० अन्तर्वेदि] [वि० अन्तर्वेदी] (१) देश जिसके अंतर्गत यज्ञों की वेदियाँ हों (२) गंगा और जमुना के बीच का देश । गंगा जमुना के बीच का दोआब । ब्रह्मावर्त देश । (३) दो नदियों के बीच का देश । दोआब ।

अंतर्वेदी–वि० [सं० अन्तर्वेदीय] अंतर्वेद का निवासी । गंगा जमुना के बीच के देश में रहनेवाला । गंगा जमुना के दोआब में बसनेवाला ।

अंतर्वेशिक–संज्ञा पुं० [सं०] अंतःपुर-रक्षक । ज़नानख़ाने की रखवाली करनेवाला । ख़्वाजा सरा ।

अंतर्हास–संज्ञा पुं० [सं०] भीतरी हँसी । भीतर भीतर हँसना । मन ही मन की हँसी । अप्रकट हास । गूढ़ हास ।

अंतर्हित–वि० [सं०] तिरोहित । अंतर्द्धान । गुप्त । ग़ायब । छिपा हुआ । अदृश्य । अलक्ष्य । लुप्त । उ० ।—यहि विधि हित तुम्हार मैं ठयऊ । कहि अस अंतर्हित प्रभु भयऊ ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अंतलघु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छंद का चरण जिसके अंत में लघु वर्ण वा मात्रा हो । (२) वह शब्द जिसका अंतिम वर्ण लघु हो ।

अंतवर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] अंतिम वर्ण का । चतुर्थ वर्ण का । शूद्र ।

अंतविदारण–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य और चंद्रग्रहण के जो दस प्रकार के मोक्ष माने गये हैं उनमें से एक, जिसमें चंद्रमा के बिम्ब के चारों ओर निर्मलता और मध्य में गहरी श्यामता होती है । इसमे मध्य देश की हानि और शरद ऋतु में कुआर की खेती का विनाश वराहमिहिर ने माना है ।

अंतशय्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृत्युशय्या । मरनखाट । भूमिशय्या । (२) श्मशान । मसान । मरघट । (३) मरण । मृत्यु ।

अंतश्छद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भीतरी तल । भीतरी आच्छादन । (२) मिहराब में नीचे का तल ।

अंतस्–संज्ञा पुं० [सं०] अंतःकरण । हृदय । चित्त ।

अंतसद्–संज्ञा पुं० [सं०] शिष्य । चेला ।

अंतसमय–संज्ञा पुं० [सं०] मृत्युकाल । मरणकाल ।

अंतस्ताप–संज्ञा पुं० [सं०] मानसिक व्यथा । चित्त का संताप । आंतरिक दुःख । भीतरी खेद ।

अंतस्थ–वि० [सं०] [वि० अंतरस्थित] (१) भीतर का । भीतरी । (२) बीच में स्थित । मध्य का । मध्यवर्ती । बीचवाला । (३) य, र, ल, व, ये चारों वर्ण अंतस्थ कहलाते हैं क्योंकि इनका स्थान स्पर्श और ऊष्म वर्णों के बीच में है ।

अंतस्थित–वि० [सं०] (१) भीतर स्थित । भीतरी । (२) हृदय स्थित । हृदय का । चित्त के भीतर का । अंतःकरण का ।

अंतस्नान–संज्ञा पुं० [सं०] अवभृत स्नान । वह स्नान जो यज्ञ समाप्त होने पर किया जाता है ।

अंतस्सलिल–वि० [सं०] [स्त्री० अंतस्सलिला] जिसके जल का प्रवाह बाहर न देख पड़े, भीतर हो । उ०–अंतस्सलिला सरस्वती ।

अंतस्सलिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती नदी । फल्गू नदी ।

अंतावरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंत+सं० आवली] अँतड़ी । आँतों का समूह । उ०—अंतावरी गहि उड़त गीध पिसाच कर गहि धावहीं ।—तुलसी ।

अंतावशायी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्राम की सीमा के बाहर बसनेवाला । (२) अस्पृश्य वर्ण, जैसे चांडाल ।

अंतावसायी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाई । हज्जाम । (२) हिंसक । चांडाल ।

अंतिम–वि० [सं०] (१) जो अंत में हो । अंत का । आख़िरी । सबसे पिछला । सबके पीछे का । (२) चरम । सबसे बढ़ के । हद दरजे का ।

अंतिम यात्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] महायात्रा । महाप्रस्थान । आख़िरी सफर । अंतकाल । मृत्यु । मरण । मौत । मृत्यु के पीछे उस स्थान तक जीवात्मा की यात्रा जहाँ अपने कर्मानुसार उसे रह कर कर्मों का फल भोगना पड़ता है ।

अंतेउर, अंतेवर*–संज्ञा पुं० [सं० अन्तःपुर] घर के भीतर का भाग जिसमें स्त्रियाँ रहती हैं । अंतःपुर । जनानख़ाना । डिं०

अंतेवासी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुरु के समीप रहनेवाला । शिष्य । चेला । (२) ग्राम के बाहर रहनेवाला । चांडाल । अंत्यज ।

अंतःकरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह भीतरी इंद्रिय जो संकल्प विकल्प, निश्चय, स्मरण, तथा सुख दुःखादि का अनुभव करती है ।

कार्यभेद से इसके चार विभाग हैं—

(क) मन, जिससे संकल्प विकल्प होता है । (ख) बुद्धि, जिसका कार्य विवेक वा निश्चय करना है । (ग) चित्त, जिससे बातों का स्मरण होता है । (घ) अहंकार, जिससे सृष्टि के पदार्थों से अपना संबन्ध देख पड़ता है । (२) हृदय । मन । चित्त । बुद्धि ।

(३) नैतिक बुद्धि । विवेक । उ०—हमारा अंतःकरण इस बात को क़बूल नहीं करता ।

अंतःकुटिल–वि० [सं०] भीतर का कपटी । खोटा । धोखेबाज़ । छली ।

अंतःकोण–संज्ञा पुं० [सं०] भीतरी कोना । भीतर की ओर का कोण । जब एक रेखा दो रेखाओं को स्पर्श करती वा काटती है तब उन दो रेखाओं के मध्य में बने हुए कोण को अंतःकोण कहते हैं ।

अंतःक्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भीतरी व्यापार । अप्रगट कर्म । (२) अंतःकरण को शुद्ध करनेवाला कर्म्म ।

अंतःपटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन, नगर आदि का दिखलाया हुआ दृश्य । (२) नाटक का परदा ।

संज्ञा स्त्री० सोमरस जब वह छानने के लिये छनने में रक्खा हो ।

अंतःपरिधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी परिधि वा घेरे के भीतर का स्थान । (२) यज्ञ की अग्नि को घेरने के लिये जो तीन हरी लकड़ियाँ रक्खी जाती हैं उनके भीतर का स्थान ।

अंतःपवित्रा–वि० स्त्री० [सं०] (१) शुद्ध अंतःकरणवाली । शुद्ध चित्त की ।

अंतःपुर–संज्ञा पुं० [सं०] [संज्ञा अंतःपुरिक] घर के मध्य वा भीतर का भाग जिसमें स्त्रियाँ रहती हों । जनानख़ाना । जनाना । भीतरी महल । रनिवास । हरम ।

अंतःपुरप्रचार–संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों की गप्प । प्रपंच ।

अंतःपुरिक–संज्ञा पुं० [सं०] अंतःपुर का रक्षक । कंचुकी ।

अंतःप्रज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] आत्मज्ञानी ; तत्वदर्शी ।

अंतःशरीर–संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत के अनुसार स्थूल शरीर के भीतर का सूक्ष्म शरीर । लिंगशरीर ।

अंतःशल्य–वि० [सं०] भीतर सालनेवाला । गाँसी की तरह मन में चुभनेवाला । मर्मभेदी ।

अंतःशुद्धि–संज्ञा पुं० [सं०] अंतःकरण की पवित्रता । चित्त की स्वच्छता । दिल की सफ़ाई ।

अंतःसंज्ञा–संज्ञा पुं० [सं०] जो जीव अपने सुख दुःख के अनुभव को प्रगट न कर सके, जैसे वृक्ष ।

अंतःसत्वा–वि० [सं०] गर्भवती ।

संज्ञा पुं० भिलावाँ ।

अंतःसार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अंतःसारवान्] भीतरी तत्व । गुरुता । वि० जिसके भीतर कुछ तत्व हो । जो भीतर से पोला न हो । जिसके भीतर कुछ प्रयोजनीय वस्तु हो ।

अंतःसारवान–वि० [सं०] (१) जिसके भीतर कुछ तत्व हो । जो पोला न हो । जिसके भीतर प्रयोजनीय वस्तु हो । (२) सारगर्भित । तत्वपूर्ण । प्रयोजनीय । काम का ।

अंतःस्वेद–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके भीतर स्वेद वा मदजल हो । हाथी ।

अंत्य–वि० [सं०] अंत का । अंतिम । आख़िरी । सब से पिछला ।

संज्ञा पुं० (१) वह जिसकी गणना अंत में हो जैसे, (क) लग्नों में मीन, (ख) नक्षत्रों में रेवती, (ग) वर्णों में शूद्र, (घ) अक्षरों में "ह" । (२) एक संख्या । दस सागर की संख्या (१०००,०००,०००,०००,०००) । दस करोड़ । यम ।

अंत्यकर्म–संज्ञा पुं० [सं०] अंत्येष्टि क्रिया ।

अंत्यज–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अंतिम वर्ण में उत्पन्न हो। वह शूद्र जो छूने के योग्य न हो वा जिसका छुआ हुआ जल द्विज ग्रहण न कर सकें; जैसे, धोबी, चमार, नट, बरूड़, डोम, मेद, भिल्ल।

अंत्यभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतिम नक्षत्र अर्थात् रेवती। (२) मीन राशि।

अंत्ययुग–संज्ञा पुं० [सं०] युगों के गणना-क्रम में अंत में आने वाला युग। कलियुग।

अंत्यवर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतिम वर्ण। शूद्र। (२) अंत का अक्षर 'ह'। (३) पद के अंत में आनेवाला अक्षर।

अंत्यविपुला–संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्या छंद का एक भेद। इसके दूसरे दल के प्रथम तीन गणों तक चरण पूर्ण नहीं होता और दोनों दलों में दूसरा और चौथा गण जगण होता है। इसे अंत्यविपुला महाचपला, अंत्यविपुला जघनचपला या अंत्यविपुला मुखचपला भी कहते हैं।

अंत्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] चांडाली। चांडाल की स्त्री, चंडालिनी।

अंत्याक्षर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी शब्द वा पद के अंत का अक्षर। (२) वर्णमाला का अंतिम अक्षर "ह"।

अंत्याक्षरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी कहे हुए श्लोक वा पद्य के अंतिम अक्षर से आरंभ होनेवाला दूसरा श्लोक पढ़ना। किसी श्लोक के अंतिम पद के अंत्य अक्षर से दूसरे श्लोक का आरंभ।

विशेष—विद्यार्थियों में इसकी चाल है। एक विद्यार्थी जब एक श्लोक पढ़ चुकता है दूसरा उस श्लोक के अंतिम अक्षर से आरंभ होनेवाला दूसरा श्लोक पढ़ता है। फिर पहिला उस दूसरे विद्यार्थी के कहे हुए पद्य का अंतिम अक्षर लेता है और उससे आरंभ होनेवाला एक तीसरा श्लोक पढ़ता है। यह क्रम बहुत देर तक चलता है। अंत में जो श्लोक न पाकर चुप हो जाता है उसकी हार मानी जाती है।

अंत्यानुप्रास–संज्ञा पुं० [सं०] पद्य के चरणों के अंतिम अक्षरों का मेल। तुक। तुकबंदी। तुकांत। उ०—सिय शोभा किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।—तुलसी। इस चौपाई के दोनों चरणों के अंतिम अक्षर "नी" हैं।

हिंदी कविता में ५ प्रकार के अंत्यानुप्रास मिलते हैं। (१) सर्वांत्य, जिसके चारों चरणों के अंतिम वर्ण एक हों। उ०—न ललचहु। सब तजहु। हरि भजहु। यम करहु। (२) समांत्य विषमांत्य, जिसके सम से सम और विषम से विषम के अंत्याक्षर मिलते हों। उ०—जिहि सुमिरत सिधि होइ, गणनायक करिवर बदन। करहु अनुग्रह सोइ, बुद्धि-राशि शुभ गुण सदन। (३) समांत्य, जिसके सम चरणों के अंत्याक्षर मिलते हों विषम के नहीं। उ०—सब तो। शरणा। गिरिजा। रमणा। (४) विषमांत्य, जिसके विषम चरणों के अंत्याक्षर एक हों सम के नहीं। उ०—लोभिहि प्रिय जिमि दाम, कामिहि नारि पियारि जिमि। तुलसी के मन राम, ऐसे है कब लागि हौ॥ (५) समविषमांत्य, जिसके प्रथम पद का अंत्याक्षर द्वितीय पद के अंत्याक्षर के और तृतीय पद का अंत्याक्षर चतुर्थ पद के अंत्याक्षर के समान हो। उ०—जगो गुपाला। सु भोर काला। कहै यसोदा। लहै प्रमोदा।

अंत्यावसायी–संज्ञा पुं० [सं०] अत्यंत नीच जाति का व्यक्ति। चांडाल। मनु ने इसकी उत्पत्ति निषाद स्त्री और चांडाल पुरुष से लिखी है। अंगिरा के अनुसार इसके अंतर्गत सात जातियाँ हैं, चांडाल, श्वपच, क्षत्ता, सूत, वैदेहक, मागध और योगव।

अंत्येष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] मृतक का शवदाह से सपिंडन तक कर्म्म। क्रिया कर्म्म। अंत्य क्रिया।

अंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँत। अँतड़ी। रोधा।

* (२) कहीं कहीं 'अंतर' का अपभ्रंश है।

अंत्रकूजन–संज्ञा पुं० [सं०] आँतों का शब्द। आँतों की गुड़-गुड़ाहट। अँतड़ियों की कुड़कुड़ाहट।

अंत्रवृद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] आँत उतरने का रोग।

अंत्रांडवृद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें आँतें उतर कर फ़ोते में चली आती हैं और फ़ोता फूल जाता है।

अंत्रालजी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पीब से भरी एक प्रकार की ऊँची, गोल फुंसी जो वैद्यक के अनुसार कफ और वात के प्रकोप से होती है।

अंत्री*–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्त्र] अँतड़ी। आँत।

अंथऊ–संज्ञा पुं० दे० "अथऊ"।

अंदर–क्रि० वि० [फ़ा०] [वि० अंदरी, अंदरूना] भीतर।

अँदरसा–संज्ञा पुं० [फ़ा० अंदर+सं० रस] एक प्रकार की मिठाई जो चौरेठे वा पिसे हुए चावल की बनती है। चौरेठे को चीनी के कच्चे शीरे में डालकर थोड़ा घी देकर पका लेते हैं। जब वह गाढ़ा हो जाता है तब उतारकर दो दिन तक रखकर उसका ख़मीर उठाते हैं। फिर उसीकी छोटी छोटी टिकियाँ बनाकर उन पर पोस्ते का दाना लपेटकर उन्हें घी में तलते हैं।

अंदरी–वि० [फ़ा० अंदर+ई] भीतरी। अंदरूनी।

अंदरूनी–वि० [फ़ा०] भीतरी। भीतर का। आभ्यन्तरिक।

अंदाज़–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [संज्ञा अंदाज़ी, क्रि० वि० अंदाज़न] (१) अटकल। अनुमान। मान। नाप जोख। कूत। तख़मीना। दे० "अंदाज़ा"। (२) ढब। ढंग। तौर। तर्ज़। (३) मटक। भाव। चेष्टा। ठसक।

क्रि० प्र०—करना।—लगाना।—होना।

मुहा०—उड़ाना=दूसरे की चाल ढाल पकड़ना। पूरी पूरी नकल करना।

अंदाज़न-क्रि० वि० [फा०] (१) अंदाज़ से । अटकल से । तख़मीनन । (२) लगभग । क़रीब ।

अंदाज़ पट्टी-संज्ञा पुं० [फा० अंदाज+पट्टी (भूभाग)] खेत में लगी हुई फसल के मूल्य को कूतना । कनकूत ।

अंदाज़पीटी-संज्ञा स्त्री० [फा० अंदाज+हिं० पिटना (हैरान होना)] वह स्त्री जो दिन रात अपने बनाव सिंगार में लगी रहे । अपनी सुंदरता और चाल ढाल पर इतरानेवाली स्त्री ।

अंदाज़ा-संज्ञा पुं० [फा०] अटकल । अनुमान । कूत । नाप जोख । परिमाण । तख़मीना ।

अँदाना-क्रि० स० [सं० अदि=बाँधना, बधन करना] बचाना । बरकाना । उ०—परिवा नवमी पुरुब न भाये । दूइज दसमी उतर अँदाये ।—जायसी ।

अंदु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर में पहनने का स्त्रियों का एक गहना । पाज़ेब । पैरी । पैंजना । (२) साँकड़ा । हाथी को बाँधने का साँकड़ा । अलान । बाँधने की रस्सी ।

अँदुआ-संज्ञा पुं० [सं० अन्दुक] हाथियों के पिछले पैर में डालने के लिये एक लकड़ी का बना काँटेदार यंत्र । यह दो धनुषाकार लकड़ियों का बना होता है जिनके मुँह एक ओर कील से मिले रहते हैं । इसे हाथी के पैर में डालकर दूसरे छोर को भी बाँध देते हैं ।

अंदुक-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "अंदु" ।

अंदेशा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) सोच । चिंता । फ़िक्र । उ०—सिय अंदेश जानि सूरज प्रभु लियो करज की कोर । टूटत धनु नृप लुके जहाँ तह ज्यों तारागण भोर ।—सूर । (२) संशय । अनुमान । संदेह । शक । (३) खटका । आशंका । भय । डर । (४) हरज । हानि । (५) दुबिधा । असमंजस । आगा पीछा । पसोपेश ।

अंदोर-संज्ञा पुं० [सं० अन्दोल=झूलना, हलचल] हलचल । शोर । हल्ला । कोलाहल । हुल्लड़ । (क) उ०—घरी एक सुठि भयउ अँदोरा । पुनि पाछे बीता होइ गेरा ।—जायसी । (ख) भहरात झहरात दवानल आयो । घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायो ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—मचाना ।—होना ।

अंदोह-संज्ञा पुं० [फा०] (१) शोक । दुःख । रंज । खेद । (२) तरद्दुद । खटका । असमंजस । संदेह ।

अंद्रसस्त्र*-संज्ञा पुं० [सं० इन्द्रशस्त्र] वज्र । डिं० ।

अंध-वि० [सं०] [संज्ञा अंधता] (१) नेत्रहीन । बिना आँख का । अंधा । जिसकी आँखों में ज्योति न हो । जिसमें देखने की शक्ति न हो । (२) अज्ञानी । अजानकार । अनजान । मूर्ख । बुद्धिहीन । अविवेकी । (३) असावधान । अचेत । ग़ाफ़िल । (४) उन्मत्त । मतवाला । मस्त ।

संज्ञा पुं० (१) वह व्यक्ति जिसे आँखें न हों । नेत्रहीन प्राणी । अंधा । (२) जल । पानी । (३) उल्लू । (४) चमगीदड़ । (५) अँधेरा । अंधकार । (६) कवियों के बाँधे हुए पथ के विरुद्ध चलने का काव्य-संबंधी दोष ।

अंधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेत्रहीन मनुष्य । दृष्टिरहित व्यक्ति । अंधा । (२) कश्यप और दिति का पुत्र एक दैत्य जिसके सहस्र सिर थे, यह अंधक इस कारण कहलाता था कि देखते हुए भी मद के मारे अंधों की नाईं चलता था । स्वर्ग से पारिजात लाते समय यह शिव के द्वारा मारा गया । इसीसे शिव को अंधकारि वा अंधकरिपु कहते हैं । (३) क्रोष्टी नामक यादव के पौत्र और युधाजित के पुत्र । अंधक नाम की यादवों की शाखा इन्हीं से चली । इनके भाई वृष्णि थे जिनसे वृष्णिवंशी यादव हुए जिनमें कृष्ण थे । (४) बृहस्पति के बड़े भाई उतथ्य ऋषि के पुत्र महाताप नामक ऋषि । इनकी माता का नाम ममता था ।

अंधकरिपु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंधक नामक दैत्य के शत्रु, शिव । (२) अंधकार का नाश करनेवाले, सूर्य्य । (३) चंद्रमा । (४) अग्नि ।

अंधकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अँधेरा ।

विशेष—महा अंधकार को अंधतमस, सर्वव्यापी वा चारों ओर के अंधकार को संतमस और थोड़े अंधकार को अवतमस कहते हैं । (२) अज्ञान । मोह । (३) उदासी । कांतिहीनता । उ०—उसके चेहरे पर अंधकार छाया है ।

अंधकारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी । भैरव राग की पाँच स्त्रियों में से एक । दे० "रागिनी" ।

अंधकूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंधा कूँआ । अँधेरा कूँआ । सूखा कूँआ । वह कूँआ जिसका जल सूख गया हो और जो घास पात से ढका हो । (२) एक नरक का नाम (३) अँधेरा । उ०—अंधकूप भा आवई, उड़त आव तस छार । ताल तलाव पोखरे, धूर भरे ज्यों नार ।—जायसी ।

अंधखोपड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्ध+हिं० खोपड़ी] जिसके मस्तिष्क में बुद्धि न हो । मूर्ख । गाउदी । भोंदू । अज्ञानी । नासमझ ।

अंधड़-संज्ञा पुं० [सं० अन्ध] गर्द लिए हुए बड़े झोंके की वायु । वेगयुक्त पवन । आँधी । तूफ़ान ।

अंधतमस-संज्ञा पुं० [सं०] महा अंधकार । गहिरा अँधेरा । गाढ़ा अँधेरा ।

अंधता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंधापन । दृष्टिहीनता ।

अंधतामिस्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोर अंधकारयुक्त नरक । बड़ा अँधेरा नरक । २१ बड़े नरकों में से दूसरा । (२) सांख्य में इच्छा के विघात अर्थात् जो इच्छा में आवे उसे करने की अशक्ति को विपर्य्यय कहते हैं । इस विपर्य्यय के पाँच भेद हैं जिनमें से अंतिम को अंधतामिस्र वा अभिनिवेश कहते हैं ।

जीने की इच्छा रहते भी मरने का भय। (३) योग शास्त्र के अनुसार पाँच क्लेशों में से एक। मृत्यु का भय। अभिनिवेश।

अंधधुंध*–संज्ञा पुं० [सं० अन्ध=अंधकार+हिं० धुंध] (१) अंधकार। अंधेरा। (क) उ०–अति विपरीत तृणावर्त आयो। बात चक्र मिस ब्रज के ऊपर नंद पँवरि के भीतर आयो। अंधधुंध भयो सब गोकुल जो जहाँ रह्यो सो तहाँ छपायो।—सूर। (ख) कोउ लै ओट रहत वृक्षन की अंधधुंध दिसि बिदिसि भुलाने।—सूर। (२) अंधाधुंध। अंधेर। अनरीति। दुराचार। अनियमित व्यापार। उच्छृंखल कर्म्म।

अंधपरंपरा–संज्ञा पुं० [सं०] बिना समझे बूझे पुरानी चाल का अनुकरण। एक को कोई काम करते देख दूसरे का बिना किसी विचार के उसे करना। लीक पिटौअल। भेड़िया धँसान।

अंधपूतनाग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] बालकों का रोग विशेष। इसमें वमन, ज्वर, खाँसी, प्यास आदि की अधिकता होती है। बालक के शरीर से चरबी की सी गंध आती है और वह रोता बहुत है। दे० "पूतना"।

अंधबाई*–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्धवायु] धूल लिए हुए वेगयुक्त पवन। ऐसी तेज़ हवा जिसमें गर्द के कारण कुछ सूझ न पड़े। आँधी। तूफान। उ०—श्याम अकेले आँगन छाँड़े आपु गई कछु काज घरै। यहि अंतर अँधबाई उठी इक गरजत गगन सहित घहरै।—सूर।

अँधरा*†–संज्ञा पुं० [सं० अन्ध] [स्त्री० अधरी] अंधा। नेत्रविहीन प्राणी। दृष्टिरहित जीव। चक्षुहीन मनुष्य।

वि० अंधा। बिना आँख का। दृष्टिरहित।

अँधरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अँधरा+ई] † (१) अंधी। अंधी स्त्री। (२) पहिये की पुट्ठियों अर्थात् गोलाई पूरा करने वाली धनुषाकार लकड़ियों की चूल जो दूसरी पुट्ठी के भीतर ऐसे घुसी रहती है कि ऊपर से मालूम नहीं देती।

अंधबिंदु–संज्ञा पुं० [सं०] आँख के भीतरी पटल पर का वह स्थान जो प्रकाश को ग्रहण नहीं करता और जिसके सामने पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती।

विशेष–नेत्रपटल पर ज्ञानतंतु पीछे से आकर शिराओं के रूप में फैले हुए हैं और मुड़कर शंकु और छड़ियों के आकार में हो गए हैं। मनुष्य की आँख में इन शंकुओं की संख्या ३३,६०,००० मानी गई है। ये छड़ियाँ वा शंकु आकार और रंग का परिज्ञान कराने में काम देते हैं। यदि प्रकाश ऐसे स्थान पर पड़े जहाँ कोई शंकु न हो तो कुछ देख नहीं पड़ता। यही स्थान "अंधबिंदु" कहलाता है।

अंधविश्वास–संज्ञा पुं० [सं०] बिना विचार किए किसी बात का निश्चय। बिना समझे बूझे किसी बात पर प्रतीति। संभव-असंभव-विचार-रहित धारणा। विवेकशून्य धारणा।

अंधस–संज्ञा पुं० [सं०] पका हुआ चावल। भात।

अंधा–संज्ञा पुं० [सं० अन्ध] [स्त्री० अंधी] बिना आँख का जीव। वह जीव जिसकी आँखों में ज्योति न हो। वह जिसको कुछ सूझता न हो। दृष्टिरहित जीव।

वि० (१) बिना आँख का। दृष्टिरहित। जिसे देख न पड़े। देखने की शक्ति से रहित। (२) विवेक शून्य। विचार-रहित। अविवेकी। अज्ञानी। भले बुरे का विचार न रखने वाला। उ०—क्रोध में मनुष्य अंधा हो जाता है।

क्रि० प्र०—करना।—बनना।—बनाना।—होना।

मुहा०—बनना=जान बूझकर किसी बात पर ध्यान न देना। —बनाना=आँख में धूल डालना। बेवकूफ बनाना। धोखा देना। अंधे की लकड़ी वा लाठी= (१) एक मात्र आधार। सहारा। आसरा। (२) एक लड़का जो कई लड़कों में बचा हो। इकलौता लड़का।—घोड़ा=साधू फकीर लोग जूते को कहते हैं।—दीया=वह दीपक जो धुंधला वा मंद जलता हो। धुंधले प्रकाश का दीपक।—तारा–नेपचून तारा।—भैंसा= लड़कों का एक खेल जिसमें एक लड़का दूसरे लड़के की पीठ पर चढ़कर उसकी आँखें बंद कर लेता है और दूसरे लड़के उस भैंसा बने हुए लड़के के नीचे से एक एक करके निकलते हैं। सवार लड़का ऊपर से प्रत्येक निकलने वाले लड़के का नाम पूछता जाता है। भैंसा बना हुआ लड़का जिसका नाम ठीक बता देता है उसे फिर वह भैंसा बना कर उसकी पीठ पर सवारी करता है। अंधी सरकार=राज्य जिसका प्रबंध बुरा हो। मालिक जो अपने नौकरों की तनखाह ठीक समय पर न देता हो।

(३) जिसमें कुछ दिखाई न दे। अँधेरा। प्रकाशशून्य। उ०-जहाँ युगानयुग की एक बड़ी अंधी गुफ़ा थी।–प्रे० सा०।

यौ०–अंधा शीशा वा आइना=धुंधला शीशा। वह दर्पण जिसमें चेहरा साफ न दिखाई देता हो। अंधा कुँआ=(१) सूखा कुआ। वह कुआ जिसमें पानी न हो और जिसका मुह घास पात से ढका हो। (२) लड़कों का एक खेल जो चार लकड़ियों से खेला जाता है।

अंधाधुंध–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंधा+धुंध] (१) बड़ा अँधेरा। घोर अंधकार। (२) अंधेर। अविचार। अन्याय। गड़बड़। धींगाधींगी। कुप्रबंध। [illegible]—वहाँ कोई किसी को पूछने वाला नहीं अंधाधुंध मची है।

वि० (१) बिना सोच विचार का। विचाररहित। बेधड़क। बेरोक टोक। बेठिकाने। बेतहाशा। मारामार। (२) अधिकता से। बहुतायत से। उ०—(क) वह अंधाधुंध दौड़ा आता है। (ख) वह अंधाधुंध [illegible] जाता है।

अँधार*†–संज्ञा पुं० [सं० अन्धकार, प्रा० अंधयार] (१) अँधेरा। अँधियारा। अंधकार। तम। (२) रस्सी का जाल जिसमें घास भूसा आदि भरकर बैल की पीठ पर लादते हैं।

अँधारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंधार+ई] आँधी। तेज़ हवा। तूफान। डि०।

अंधिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात। रात्रि। (२) जूआ। (३) आँख का एक रोग।

अँधियार†–संज्ञा पुं० [सं० अन्धकार प्रा० अंधयार] [स्त्री० अधियारी] (१) अँधेरा। अंधकार। तम।

वि० प्रकाशरहित। अँधेरा। तमाच्छादित। दे० "अँधेरा"।

अँधियारा*‡–संज्ञा पुं० [सं० अन्धकार प्रा० अंधयार] [स्त्री० अँधियारी] अंधेरा। अंधकार। तम। (२) धुँधलापन। धुंध।

वि० (१) प्रकाशरहित। अँधेरा। तमाच्छादित। (२) धुँधला। (३) उदास। सूना। मनहूस।

उ०–बीर कीर, सियराम लखन बिनु लागत जग अँधियारो।

अँधियारी कोठरी–संज्ञा स्त्री० (१) अँधेरा छोटा कमरा। (२) पालकी का अगला कहार जब रास्ते में पानी देखता है तब पीछेवाले कहारों को सावधान करने के लिये 'अँधियारी कोठरी' कहता है। (३) पेट। उदर। गर्भस्थान। कोख। धरन।

अंधु–संज्ञा पुं० [सं०] कूँआ। कूप।

अंधुल–संज्ञा पुं० [सं०] शिरीष वृक्ष। सिरिस का पेड़।

अंधेर–संज्ञा पुं० [सं० अन्धकार, प्रा० अंधयार] [क्रि० अंधेरना] (१) अन्याय। अविचार। अत्याचार। जुल्म। (२) उपद्रव। गड़बड़। कुप्रबंध। भामा। अंधाधुंध। धींगा धींगी। अनर्थ।

क्रि० प्र०–करना।–मचाना।–होना।

अंधेरखाता–संज्ञा पुं० (१) हिसाब किताब और व्यवहार में गड़बड़ी। व्यतिक्रम। (२) अन्यथाचार। अन्याय। कुप्रबंध। अविचार।

अँधेरना*–क्रि० स० [हिं० अंधेर] अँधेरा करना। अंधकारमय करना। तमाच्छादित करना। उ०–भरी खरी सटपट परी, बिधु आधे मग हेरि। संग लगे मधुपन लई, भागन, गली अँधेरि।—बिहारी।

अँधेरा–संज्ञा पुं० [सं० अन्धकार, प्रा० अंधयार] [स्त्री० अँधेरी] (१) अंधकार। तम। प्रकाश का अभाव। उजाले का उलटा। (२) धुँधलापन। धुंध। उसकी आँखों में अँधेरा छाया रहता है।

क्रि० प्र०–करना।–छाना।–दौड़ना।–पड़ना।–फैलना।—होना।

मुहा०–छोड़ना=उजाला छोड़ना। प्रकाश के सामने से हटना। (३) छाया। परछाईं। उ०–चिराग़ के सामने से हट जाओ तुम्हारा अँधेरा पड़ता है। (४) उदासी। उत्साहहीनता। शोक। उ०–उसके मरते ही समाज में अँधेरा छा गया।

वि०–(१) अंधकारमय। प्रकाशरहित। तमाच्छादित। बिना उजाले का। उ०–अँधेरे घर में मत जाओ।

मुहा०—अँधेरे घर का उजाला=(१) अत्यंत कांतिमान। अत्यंत सुंदर। (२) सुलक्षण। शुभलक्षणवाला। कुलदीपक। वंश की मर्य्यादा बढ़ानेवाला। (३) इकलौता बेटा। अँधेरे उजेले=अबेरे सबेरे। समय कुसमय। वक्त बेवक्त। अँधेरा पाख वा पक्ष=कृष्ण पक्ष। बदी। मुँह अँधेरे वा अँधेरे मुँह=सूर्योदय के पहिले जब मनुष्य एक दूसरे का मुह अच्छी तरह न देख सकते हों। बड़े तड़के। बड़े सबेरे।

अँधेरिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंधारी] (१) अंधकार। अँधेरा। (२) अँधेरी रात। काली रात। अँधेरा पक्ष। अँधेरा पाख। (३) ऊँख की पहली गोड़ाई। पैठावन। पटाँड़।

अँधेरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अंधेरा+ई] (१) अंधकार। तम। अँधियारी। तिमिर। प्रकाश का अभाव। (२) अँधेरी रात। काली रात। पू० अँधियरिया।

क्रि० प्र०—छाना।—झुकना।—दौड़ना।—फैलना।

(३) आँधी। अंधड़। (४) घोड़ों वा बैलों की आँख पर डालने का परदा।

क्रि० प्र०—डालना।—देना।

मुहा०—डालना वा देना=(१) किसी की आंखों को मूदकर उसकी दुर्गति करना। उसी को कम्बल ओढ़ना भी कहते है। (२) आँख मे धूल डालना। धोखा देना।

वि० प्रकाशरहित। तमाच्छादित। बिना उजेले की। उ०—अँधेरी रात।

मुहा०—कोठरी=(१) पेट। गर्भ। धरन। कोख। (२) गुप्त-भेद। रहस्य।—कोठरी का यार=गुप्त प्रेमी। जार।

अँधोटी–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्ध+पट, प्रा० अधवटी, अधौटी] बैल वा घोड़े की आँख बंद करने का ढक्कन वा परदा।

अंध्यार*†–संज्ञा पुं० दे० "अँधेरा"।

अंध्यारी*‡–संज्ञा स्त्री० दे० "अँधियारी"।

अंध्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहेलिया। व्याधा। शिकारी। (२) वैदिहिक पिता और कारावर माता से उत्पन्न नीच जाति के मनुष्य जो गाँव के बाहर रहते और शिकार करके अपना निर्वाह करते थे। (३) दक्षिण का एक देश जिसे अब तिलंगाना कहते हैं। इसके पश्चिम की ओर पश्छिमी घाट पर्वत, उत्तर की ओर गोदावरी और दक्षिण कृष्णा नदी है। (४) मगध का एक राजवंश जिसे एक शूद्र ने अपने मालिक कण्व वंश के अंतिम राजा को मारकर स्थापित किया था। इस अंध्रवंश का अंतिम राजा पुलोम था।

अंध्रभृत्य—संज्ञा पुं० [सं०] मगध देश का एक राजवंश। अंध्रवंश के अंतिम राजा पुलोम के गंगा में डूब मरने के पीछे उसका सेनापति रामदेव, फिर रामदेव का सेनापति प्रतापचंद्र, और फिर प्रतापचंद्र के पीछे भी अनेक सेनापति राजा बन बैठे। इन सेनापतियों का वंश अंध्रभृत्य कहलाता था।

अंब*—संज्ञा स्त्री० (१) दे० "अंबा"।

(२) संज्ञा पुं० [सं० आम्र, प्रा० अंब] आम का पेड़।

अंबक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँख। नेत्र। (२) ताँबा। (३) पिता।

अंबर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वस्त्र। कपड़ा। पट। (२) स्त्रियों के पहनने की एक प्रकार की एकरंगी किनारेदार धोती। (३) आकाश। आसमान।

मुहा०—अंबर के तारे डिगना=आकाश से तारे टूटना। असंभव बात का होना। उ०—अंबर के तारे डिगैं, जूआ लाडैं बैल। पानी में दीपक बलै, चलै तुम्हारी गैल॥

(४) कपास। (५) एक सुगंधित वस्तु। यह ह्वेल मछली की अँतड़ियों में जमी हुई एक चीज़ है जो भारतवर्ष, अफ्रिका और ब्रेजिल के समुद्री किनारों पर बहती हुई पाई जाती है। ह्वेल का शिकार भी इसके लिये होता है। अंबर बहुत हलका और बहुत शीघ्र जलनेवाला होता है तथा आँच दिखाते रहने से बिलकुल भाप होकर उड़ जाता है। इसका व्यवहार ओषधियों में होने के कारण यह नीकोबार (कालेपानी का एक द्वीप) तथा भारत समुद्र के ओर और टापुओं से आता है। प्राचीन काल में अरब, यूनानी और रोमन लोग इसे भारतवर्ष से ले जाते थे। जहाँगीर ने इससे राजसिंहासन का सुगंधित किया जाना लिखा है।

(६) एक इत्र। (७) अभ्रक धातु। अबरक।

(८) राजपुताने का एक पुराना नगर।

(९) अमृत। अने०।

(१०) प्राचीन ग्रंथों के अनुसार उत्तरीय भारत का एक देश।

* (११) बादल। मेघ। (क्व०)

उ०—आषाढ़ में सोवैं परी सब ख्वाब देखैं कामिनी। अंबर नवै, बिजली खवै, दुख देत दोनों दामिनी॥

अंबरबारी—संज्ञा पुं० [सं०] एक झाड़ी जो हिमालय और नीलगिरि पर होती है। इसकी जड़ और छाल से बहुत ही अच्छा पीला रंग निकलता है जिससे कभी कभी चमड़ा भी रँगते हैं। इसके बीज से तेल निकलता है। इसकी लकड़ी जिसे दारुहल्द वा दारुहल्दी कहते हैं ओषधियों में काम आती है। इसकी जड़ और लकड़ी से एक प्रकार का रस निकालते हैं जो रसवत वा रसौत कहलाता है।

पर्या०—पित्रा। दारुहल्द।

अंबरबेलि—संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाशबेल। आकाशबौर। अमरबेल। हकीमी नुसखों में इस्तीमून कहते हैं। यह सूत के समान पीली पीली एक बेल है जो प्रायः पेड़ों पर लिपटी मिलती है। इसकी जड़ पृथ्वी में नहीं होती और इसमें पत्ते और कनखे भी नहीं निकलते। जिस पेड़ पर यह पड़ जाती है उसे लपेटकर सुखा डालती है। यह बाल बढ़ाने की एक ओषधि है। हकीम लोग इसे वायु-रोगों में देते हैं।

अंबरमणि—संज्ञा पुं० [सं०] आकाश के मणि, सूर्य्य।

अंबरसारि—संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का कर वा टैक्स जो पहिले घरों के ऊपर लगता था।

अँबराई—संज्ञा स्त्री० [सं० आम्र अम+राजी-पंक्ति] आम का बगीचा। आम की बारी। नौरंगा।

अँबराव*—संज्ञा पुं० [सं० आम्रराजी] आम का बगीचा। आम की बारी। उ०—अस अँबराव सघन बन, बरनि न पारौं अंत। —जायसी।

अंबरांत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपड़े का छोर। (२) वह स्थान जहाँ आकाश पृथ्वी से मिला हुआ दिखाई देता है। क्षितिज।

अंबरीष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाड़। (२) वह मिट्टी का बर्त्तन जिसमें भड़भूँजा गरम बालू डालकर दाना भूनते हैं। (३) विष्णु। (४) शिव का एक नाम। (५) सूर्य्य का नाम। (६) किशोर अर्थात् ११ वर्ष से छोटा बालक। (७) एक नरक का नाम। (८) अयोध्या का एक सूर्य्यवंशी राजा जो प्रशुश्रक का पुत्र था और इक्ष्वाकु से २८ वीं पीढ़ी में हुआ। पुराणों में यह परम वैष्णव प्रसिद्ध है। जिसके कारण दुर्वासा ऋषि का विष्णु के चक्र ने पीछा किया था। महाभारत, भागवत और हरिवंश में अंबरीष को नाभाग का पुत्र लिखा है जो रामायण के मत के विरुद्ध है। (९) आमड़े का फल और पेड़। (१०) अनुताप। पश्चात्ताप। (११) समर। लड़ाई।

अंबरीसक*—संज्ञा पुं० [सं० अंबरीष] भाड़। भरसायँ।—डिं०

अंबरौक—संज्ञा पुं० [सं०] देवता।

अँबली—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का गुजराती कपास जो ढोलेरा नामक स्थान में होता है।

अंबष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अंबष्ठा] (१) एक देश का नाम। पंजाब के मध्यभाग का पुराना नाम। (२) अंबष्ठ देश में बसनेवाला मनुष्य। (३) ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न एक जाति। इस जाति के लोग चिकित्सक होते थे। (४) महावत। हाथीवान। फ़ीलवान। (५) कायस्थों का एक भेद।

अंबष्ठकी—संज्ञा स्त्री० दे० "अंबष्ठा"।

अंबष्ठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंबष्ठ की स्त्री। (२) एक लता का नाम। पाढ़ा। ब्राह्मणी लता।

अंबा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) माता। जननी। माँ। अम्मा। (२) गौरी। पार्वती। देवी। दुर्गा। (३) अंबष्ठा। पाढ़ा (४) काशी के राजा इंद्रद्युम्न की तीन कन्याओं में सब से बड़ी जिन्हें भीष्मपितामह अपने भाई विचित्रवीर्य्य के लिये हरण कर लाए थे। अंबा राजा शाल्व के साथ विवाह करना चाहती थी इससे भीष्म ने उसे शाल्व के पास भिजवा दिया। पर शाल्व ने उसे ग्रहण न किया और वह हताश होकर भीष्म से बदला लेने के लिये तप करने लगी। शिव जी इस पर प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे वर दिया कि तू दूसरे जन्म में बदला लेगी। यही दूसरे जन्म में शिखंडी हुई जिसके कारण भीष्म मारे गए। (५) ससुरखदेरी नदी जो फ़तेहपुर के पास से निकलकर प्रयाग से थोड़ी दूर पर जमुना में मिली है। ऐसी कथा है कि यह वही काशिराज की बड़ी कन्या अंबा है, जो गंगा के शाप से नदी होकर भागी थी।

अँबाड़ा–संज्ञा पुं० दे० "आमड़ा"।

अंबापोली–संज्ञा स्त्री [सं० आम्र–आम, प्रा० अंब+सं० पौलि=पोतला, रोटी] अमावट। अमरस।

अंबार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] ढेर। समूह। राशि। अटाला।

अंबारी–संज्ञा स्त्री० [अ० अमारा] (१) हाथी की पीठ पर रखने का हौदा जिसके ऊपर एक छज्जेदार मंडप होता है। (२) छज्जा। रविश।

अंबालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माता। माँ। जननी। (२) अंबष्ठा लता। पाढ़ा। पाठा। (३) काशी के राजा इंद्रद्युम्न की उन तीन कन्याओं में से सबसे छोटी जिन्हें भीष्म अपने भाई विचित्रवीर्य के लिये हर लाए थे। विचित्रवीर्य के मरने पर जब व्यासजी ने इससे नियोग किया तब पांडु उत्पन्न हुए।

अंबिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माता। माँ। (२) दुर्गा। भगवती। देवी। पार्वती। (३) जैनियों की एक देवी। (४) कुटकी का पेड़। (५) अंबष्ठा लता। पाढ़ा। (६) काशी के राजा इंद्रद्युम्न की उन तीन कन्याओं में मझली जिन्हें भीष्म अपने भाई विचित्रवीर्य के लिये हर लाए थे। विचित्रवीर्य के मरने पर जब व्यासजी ने इससे नियोग किया तब धृतराष्ट्र उत्पन्न हुए।

अंबिका वन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इलावृत खंड में एक पुराण-प्रसिद्ध स्थान जहाँ जाने से पुरुष स्त्री हो जाते थे। (२) ब्रज के अंतर्गत एक बन।

अंबिकेय–संज्ञा पुं० [सं०] अंबिका के पुत्र, (१) गणेश। (२) कार्त्तिकेय। (३) धृतराष्ट्र।

अँबिया–संज्ञा स्त्री० [सं० आम्र, प्रा० अंब] आम का छोटा कच्चा फल जिसमें जाली न पड़ी हो। इसकी खटाई कुछ हलकी होती है। इसे लोग दाल में डालते हैं। इसकी चटनी बनती और अचार भी पड़ता है। टिकोरा। केरी।

अँबिरथा*–वि० [सं० वृथा] वृथा। व्यर्थ। बेफ़ायदा। फ़ज़ूल। उ०—प्रेम कि आगि जरै जो कोई। ता कर दुख न अँबिरथा होई।—जायसी।

अंबु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल। पानी। (२) सुगंधबाला। (३) जन्मकुंडली के १२ स्थानों वा घरों में चौथा। (४) चार की संख्या, क्योंकि जल तत्वों की गणना में चौथा है।

अंबुकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] जलजंतु विशेष। मगर।

अंबुकिरात–संज्ञा पुं० [सं०] मगर।

अंबुकेशी–संज्ञा पुं० [सं०] एक जलजंतु। ऊद।

अंबुचर–संज्ञा पुं० [सं०] जलचर।

अंबुचामर–संज्ञा पुं० [सं०] शैवाल। सेवार।

अंबुज–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अंबुजा] (१) जल से उत्पन्न वस्तु। (२) कमल। (३) पानी के किनारे होनेवाला एक पेड़। हिज्जल। ईजड़। पनिहा। (४) बेंत। (५) वज्र। (६) ब्रह्मा। (७) शंख।

अंबुजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जिसे संगीतशास्त्रवाले मेघ राग की पुत्रवधू कहते हैं। दे० "रागिनी"।

अंबुजाक्ष–वि० [सं०] कमल के समान नेत्रवाला।
संज्ञा पुं० विष्णु।

अंबुजात–वि० [सं०] जल से उत्पन्न।
संज्ञा पुं० कमल।

अंबुजासन–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अंबुजासना] वह जिसका आसन कमल पर हो, ब्रह्मा।

अंबुजासना–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्त्री जिसका आसन कमल पर हो, लक्ष्मी। कमला।

अंबुताल–संज्ञा पुं० [सं०] शैवाल। सेवार।

अंबुद–वि० [सं०] जो जल दे।
संज्ञा पुं० (१) बादल। (२) मोथा। नागरमोथा।

अंबुधर–वि० [सं०] जो जल को धारण करे।
संज्ञा पुं० बादल।

अंबुधि–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

अंबुधिस्रवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] घृतकुमारी। घीकुआँर। ग्वारपाठा।

अंबुनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। सागर। उ०—निकाम श्याम सुंदरं। भवांबुनाथ मंदरं।—तुलसी। (२) वरुण देवता।

अंबुनिधि–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

अंबुप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। सागर। (२) वरुण। (३) शतभिषा नक्षत्र।
वि० पानी पीनेवाला। (४) चकौंड़ का पौधा। चक्रमर्द।

अंबुपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) वरुण।

अंबुपत्रा–संज्ञा स्त्री [सं०] नागरमोथा। मोथा। उच्चटा।

अंबुप्रसाद–संज्ञा पुं० [सं०] निर्मली। निर्मली का पौधा। कतक।

अंबुभृत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल। (२) मोथा। (३) समुद्र।

अंबुराशि–संज्ञा पुं० [सं०] जल का समूह अर्थात् समुद्र। सागर।

अंबुरुह–संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

अँबुवाची–संज्ञा पुं० [सं०] आषाढ़ में आर्द्रा नक्षत्र का प्रथम चरण अर्थात् आरंभ के तीन दिन और बीस घड़ी जिनमें पृथ्वी ऋतुमती समझी जाती है और बीज बोने का निषेध है।

अंबुवाह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल। मेघ। (२) मोथा। नागरमोथा।

अंबुवाहिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाव का जल उलीचने वा फेंकने का बरतन। यह या तो काठ का या कछुए के खोपड़े का होता है।

अंबुवेतस–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की बेंत जो पानी में होती है। बड़ी बेंत।

विशेष—यह बेंत पतली पर बहुत दृढ़ होती है। इसकी छड़ियाँ बहुत उत्तम बनती हैं। दक्षिण बङ्गाल, उड़ीसा, करनाटक, चटगाँव, वर्मा आदि में यह पाई जाती है।

अंबुशायी–संज्ञा पुं० [सं०] जल वा समुद्र में शयन करनेवाले, विष्णु। नारायण।

अंबुसर्पिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक।

अंबोह–संज्ञा पुं० [फा०] भीड़ भाड़। जमघट। झुंड। समाज। समूह।

अंभ–संज्ञा पुं० [सं० अम्भस] (१) जल। पानी। (२) पितर लोक। (३) लग्न से चौथी राशि। (४) चार की संख्या। (५) सांख्य में आध्यात्मिक तुष्टि के चार भेदों में से एक। दे० "अंभस्तुष्टि"। (६) देव। (७) असुर। (८) पितर।

अंभसार–संज्ञा पुं० [सं०] मोती। मुक्ता।

अंभसू–संज्ञा पुं० [सं०] (१) धुआँ। (२) भाप।

अंभस्तुष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य में चार आध्यात्मिक तुष्टियों में से एक। जब कोई व्यक्ति माया के प्रपंच में फँसकर यह संतोष करता है कि उसे होते होते प्रकृति की गति के अनुसार विवेक आदि की अवस्था प्राप्त हो ही जायगी तब उसकी इस तुष्टि को अंभस्तुष्टि कहते हैं।

अंभनिधि–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "अंभोनिधि"।

अंभोज–वि० [सं०] जल से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० (१) कमल। (२) सारस पक्षी। (३) चंद्रमा। (४) कपूर। (५) शंख।

अंभोजिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमल का पौधा। कमलिनी। पद्मिनी। (२) कमलों का समूह। (३) वह स्थान जहाँ पर बहुत से कमल हों।

अंभोद– वि० [सं०] जो पानी दे।

संज्ञा पुं० (१) बादल। (२) मोथा। नागरमोथा।

अंभोधर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल। मेघ। (२) मोथा।

अंभोधिवल्लभ–संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा। प्रवाल।

अंभोनिधि–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

अंभोराशि–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

अंभोरुह– संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

अँवरा
अँवला } †–संज्ञा पुं० दे० "आँवला"।

अँवदा*†–वि० [सं० अधोध] (१) औंधा। उलटा। (२) नीचे की ओर मुँह वाला।

उ०—आकाशे अँवदा कुआ, पाताले पनिहार।—कबीर।

अंश– संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाग। विभाग। (२) हिस्सा। बखरा। बाँट। (३) भाज्य अंक। (४) भिन्न की लकीर के ऊपर की संख्या। (५) चौथा भाग। (६) कला। सोलहवाँ भाग। (७) वृत्त की परिधि का ३६० वाँ भाग जिसे एकाई मानकर कोण वा चाप का प्रमाण बतलाया जाता है।

विशेष—पृथ्वी की विषुवत् रेखा को ३६० भागों में बाँटकर प्रत्येक विभाजक बिंदु पर से एक एक लकीर उत्तर-दक्षिण को खींचते हैं। इसी प्रकार इन उत्तर-दक्षिण लकीरों को ३६० भागों में बाँटकर विभाजक बिंदुओं पर से पूर्व-पश्चिम लकीर खींचते हैं। इन उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम लकीरों के परस्पर अंतर को अंश कहते हैं। इसी रीति से राशिचक्र भी ३६० अंशों में बाँटा गया है। राशि बारह हैं इससे प्रत्येक राशि प्रायः ३० अंश की होती है। अंश के साठवें भाग को कला और कला के साठवें भाग को विकला कहते हैं।

(८) कंधा। (९) बारह आदित्यों में से एक।

अंशक– संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अंशिका] (१) भाग। टुकड़ा। (२) दिन। दिवस। (३) हिस्सेदार। साझीदार। पट्टीदार। वि० (१) अंश धारण करनेवाला। अंशधारी। अंश रखने वाला। उ०—सुर अंसक सब कपि अरु रीछा। जिये सकल रघुपति की ईछा।—तुलसी। (२) बाँटनेवाला। विभाजक।

अंशतीसु–संज्ञा पुं० एक तीर्थ का नाम।

अंशपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह काग़ज़ जिसमें पट्टीदारों का अंश वा हिस्सा लिखा हो।

अंशसुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना नदी।

अंशावतार–संज्ञा पुं० [सं०] वह अवतार जिसमें परमात्मा की शक्ति का कुछ भाग ही आया हो, पूर्णावतार न हो।

अंशी–वि० [सं० अंशिन्] [स्त्री० अंशिनी] (१) अंशधारी। अंश रखनेवाला। (२) शक्ति वा सामर्थ्य रखनेवाला। अवतारी। संज्ञा पुं० हिस्सेदार। साझीदार। अवयवी।

अंशु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किरण। प्रभा। (२) लता का कोई भाग। (३) सूत। तागा। (४) तागे का छोर। (५) लेश। बहुत सूक्ष्म भाग। (६) सूर्य। (७) एक ऋषि का नाम।

अंशुक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपड़ा। वस्त्र। पतला कपड़ा। महीन कपड़ा। (२) रेशमी कपड़ा। (३) उपरना। उत्तरीय वस्त्र। दुपट्टा। (४) ओढ़ना। ओढ़नी। (५) तेजपात।

अंशुनाभि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विंदु जिस पर समानांतर प्रकाश की किरणें तिरछी और संकुचित होकर मिलें। सूर्य्यमुखी शीशे को जब सूर्य्य के सामने करते हैं तब उसकी दूसरी ओर इन्हीं किरणों का समूह गोल वृत्त वा विंदु बन जाता है जिसमें पड़ने से चीज़ें जलने लगती हैं।

अंशुमंत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) अंशुमान राजा।

अंशुमर्दन–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में ग्रहयुद्ध के चार भेदों में से एक। इस ग्रहयुद्ध में राजाओं से युद्ध, रोग और भूख की पीड़ा आदि होती है। दे० "ग्रहयुद्ध"।

अंशुमान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) अयोध्या के एक सूर्य्यवंशीय राजा जो सगर के पौत्र और असमंजस के पुत्र थे। सगर के अश्वमेध का घोड़ा ये ही ढूँढ़कर लाए थे और सगर के ६०,००० पुत्रों के शव को इन्हीं ने पाया था।

अंशुमाली–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

अंशल–संज्ञा पुं० [सं०] चाणक्य मुनि।

अंस–संज्ञा पुं० दे० "अंश"।

अंसकूट–संज्ञा पुं० [सं०] साँड़ के कंधों के बीच का ऊपर उठा हुआ भाग। कूबड़। कुब।

अँसुआ } **अँसुवा** } *‡–संज्ञा पुं० दे० "आँसू"।

अँसुवाना*–क्रि० अ० [सं० अश्रु] अश्रुपूर्ण होना। डबडबा आना। आँसू से भर जाना। उ०–उन्हीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं।–रसखान।

अंह–संज्ञा पुं० [सं० अंहस्] (१) पाप। दुष्कर्म्म। अपराध। (२) दुःख। व्याकुलता। (३) विघ्न। बाधा।

अंहति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दान। (२) त्याग। परित्याग। (३) रोग।

अँहुड़ी–संज्ञा स्त्री० [?] एक लता जिसमें छोटी छोटी गोल पेटे की फलियाँ लगती हैं। इन फलियों की तरकारी बनती है और इनके बीज दवा में पड़ते हैं। बाकला।

अ–उप० संज्ञा और विशेषण शब्दों से पहिले लग कर यह उनके अर्थों में फेरफार करता है। जिस शब्द के पहिले यह लगाया जाता है उस शब्द के अर्थ का प्रायः अभाव सूचित करता है। उ०–अधर्म्म, अन्याय, अचल। कहीं कहीं यह अक्षर शब्द के अर्थ को दूषित भी करता है। उ०–अभागा, अकाल। स्वर से आरंभ होनेवाले शब्दों के पहिले जब इस अक्षर को लगाना होता है तब उसे "अन्" कर देते हैं। उ०–अनंत, अनेक, अनीश्वर। पर हिंदी में कभी कभी व्यंजन के पहिले भी न को सस्वर करके "अन" लगा देते हैं। उ०–अनबन, अनहोनी, अनरीति।

संस्कृत के वैयाकरणों ने इस निषेध-सूचक उपसर्ग का प्रयोग इतने अर्थों में माना है–

(१) सादृश्य, उ०–अब्राह्मण=ब्राह्मण के समान आचार रखनेवाला अन्य वर्ण का मनुष्य। (२) अभाव, उ०–अफल=फलरहित। (३) अन्यत्व, उ०–अघट=घट से भिन्न पट आदि। (४) अल्पता, उ०–अनुदरी कन्या=कृशोदरी कन्या। (५) अप्राशस्त्य, उ०–अधन=बुरा धन। (६) विरोध, उ०–अधर्म=धर्म के विरुद्ध आचरण।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) विराट। (३) अग्नि। (४) विश्व। (५) ब्रह्मा। (६) इंद्र। (७) ललाट। (८) वायु। (९) कुबेर। (१०) अमृत। (११) कीर्त्ति। (१२) सरस्वती।

वि० (१) रक्षक। (२) उत्पन्न करनेवाला।

अउ*–संयो० [सं० अपर वा अवर] और। तथा।

अउठा–संज्ञा पुं० [?] नापने की दो हाथ की एक लकड़ी जिसे जुलाहे लिए रहते हैं।

अउर*–संयो० दे० "और"।

अऊत*–वि० [सं० अपुत्र, प्रा० अउत्त] [स्त्री० अऊती] बिना पुत्र का। निपूता। निःसंतान।

उ०–धन्य सो माता सुंदरी, जिन जाया वैष्णव पूत।
राम सुमिरि निर्भय भया, औ सब गया अऊत।–कबीर।

अऊलना*–क्रि० अ० [सं० उल=जलना] (१) जलना। गरम होना। (२) गरमी पड़ना। दे० "आलना"।

क्रि० अ० [सं० अ=अच्छी तरह+शूलन्, प्रा० सूलन्, हिं० हूलना] छिलना। छिदना। चुभना।

उ०–छत आजु को देखि कहौंगी कहा, छतिया नित ऐसे अऊलति है।–रघुनाथ।

अऋण–वि० [सं०] [संज्ञा अऋणा] बिना कर्ज़ का। जिस पर कर्ज़ न हो। ऋणमुक्त।

अऋणी*–वि० [सं०] जिस पर कर्ज़ न हो। ऋणमुक्त।

अएरना*–क्रि० स० [सं० अंगीकरण, प्रा० अंगिअरण, हिं० अगरेना] अंगीकार करना। अँगेरना। स्वीकार करना। धारण करना।

उ०–दियो सुसीस चढ़ाइले, आछी भाँति अएरि।
जापै चाहत सुख लयो, ताके दुखहिँ न फेरि।–बिहारी।

अकंटक–वि० [सं०] (१) बिना काँटे का। कंटकरहित (२) निर्विघ्न। बाधारहित। निरुपाधि। बिना रोक टोक का। बिना खटके का। बेधड़क। उ०–समुझि काम सुख सोचहिँ भोगी। भये अकंटक साधक जोगी।–तुलसी। (३) शत्रुरहित। उ०–जानहिँ सानुज रामहिँ मारी। करौं अकंटक राज सुखारी।–तुलसी।

अकंपन–वि० [सं०] [वि० अकंपित, अकंप्य, संज्ञा अकंपत्व] (१) न काँपनेवाला। स्थिर।

संज्ञा पुं० रावण का अनुचर एक राक्षस जिसने खर के बध का वृत्तांत उससे कहा था।

अकंपत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) न काँपने की दशा। कंपहीनता।

विशेष–बंशी बजाने में उंगलियों का एक गुण अकंपत्व वा न काँपना भी है।

अकंपित-वि० [सं०] जो कँपा न हो। अटल। निश्चल।
संज्ञा पुं० बौद्ध गणाधिपों का एक भेद।

अकंप्य-वि० [सं०] न काँपनेवाला। न हिलने वा डिगने वाला। स्थिर। अचल। अटल।

अक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप। पातक। (२) दुःख।

अकच-वि० [सं०] बिना बाल का। गंजा। खल्वाट।
संज्ञा पुं० केतुग्रह।

अकच्छ-वि० [सं० अ=रहित+कच्छ वा कक्ष=धोती, परिधान] (१) नग्न। नंगा। (२) व्यभिचारी। परस्त्रीगामी।

अकड़-संज्ञा स्त्री० [आ=अच्छा तरह+कटट=कड़ा होना] [क्रि० अकड़ना] ऐंठ। तनाव। मरोड़। बल।
[आ=अच्छी तरह+कट=दर्प, हर्ष] (१) घमंड। अहंकार। शेखी। (२) धृष्टता। ढिठाई। (३) हठ। अड़। ज़िद।

अकड़ तकड़-संज्ञा पुं० (१) ऐंठन। (२) तेज़ी। ताव। घमंड। अभिमान।

अकड़ना-क्रि० अ० [आ=अच्छी तरह+कटड=कड़ापन] [संज्ञा अकड़, अकड़ाव] (१) सूखकर सिकुड़ना और कड़ा होना। खरा होना। ऐंठना। उ०—पटरियाँ धूप में रखने से अकड़ गईं। (२) ठिठुरना। स्तब्ध होना। सुन्न होना। उ०—सरदी मे अकड़ जाओगे। (३) तनना। छाती को उभाड़कर डील को थोड़ा पीछे की ओर झुकाना। उ०—वह अकड़कर चलता है। [अ=अच्छा तरह+कड़=दर्प, हर्ष] (१) शेखी करना। घमंड दिखाना। अभिमान करना। उ०—वह इतने ही में अकड़ जाता है। (२) ढिठाई करना। (३) हठ करना। ज़िद करना। अड़ना। उ०—सब जगह अकड़ना अच्छा नहीं, दूसरे की बात भी माननी चाहिए। (४) फिर पड़ना। मिज़ाज बदलना। चिटकना। उ०—तुम तो ज़रा सी बात पर अकड़ जाते हो।

अकड़बाई-संज्ञा स्त्री० [सं० कटट=कड़ापन+वायु, हिं० बाई=हवा] ऐंठन। कुड़ल। शरीर की नसों का पीड़ा के सहित एक बारगी खिंचना।

अकड़बाज़-वि० [हिं० अकड़+फा० बाज़] [संज्ञा अकड़बाजी] ऐंठदार। शेख़ीबाज़। अभिमानी। अपने को लगानेवाला। नोक झोंकवाला। दे० "अकड़, अकड़ैत।"

अकड़बाज़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० अकड़+फा० बाज़ी] ऐंठ। शेख़ी। अभिमान।

अकड़ा-संज्ञा पुं० [सं० कट्ड=कड़ापन] चौपायों का एक छूत का रोग। जब चौपाये तराई की धरती में बहुत दिनों तक चर कर सहसा किसी ज़ोरदार धरती की घास पा जाते हैं तब यह बीमारी उन्हें हो जाती है।

अकड़ाव-संज्ञा० पुं० [हिं० अकड़] ऐंठन। खिंचाव।

अकड़ू†-संज्ञा पुं० [सं० कड्=दर्प करना] अकड़ दिखलानेवाला। अकड़बाज।

अकड़ैत-वि० दे० "अकड़बाज़"।

अकत-वि० [सं० अक्षत] सारा। सारा। समूचा।
क्रि० वि० बिलकुल। सरासर।

अकथ-वि० [सं०] [वि० अकथनीय, अकथ्य] जो कहा न जा सके। कहने की सामर्थ्य के बाहर। अकथनीय। अनिर्वचनीय। अवर्णनीय। वर्णन के बाहर। उ०—सुनहु नाथ यह अकथ कहानी। —तुलसी।

अकथनीय-वि० [सं०] न कहे जाने योग्य। जो कहने में न आ सके। अनिर्वचनीय। अवर्णनीय। वर्णन के बाहर। जिसका वर्णन न हो सके।

अकथ्य-वि० [सं०] न कहने योग्य। अवर्णनीय। अनिर्वचनीय।

अक़द-संज्ञा पुं० [अ०] इकरार। प्रतिज्ञा। वादा।

अक़दन-क्रि० वि० दे० "कदन"।

अक़दबंदी-संज्ञा स्त्री० [अ० अकद+बंदी] इक़रारनामा। प्रतिज्ञापत्र।

अकधक*†-संज्ञा पुं० [सं० ध्र=कांपना, धड़कना] आशंका। आगा पीछा। सोचविचार। भय। डर। उ०—ह्वै के लोभी लोभ बस, छबि मुक्ताहल लैन। कूदत रूप समुद्र में अकधक करत न नैन। —रतनहजारा।

अकनना†-क्रि० स० [सं० आकर्णन+सुनना] कान लगाकर सुनना। चुपचाप सुनना। आहट लेना। सुनना। कर्णगोचर करना। उ०—(क) पुरजन आवति अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता। —तुलसी।
(ख) अवनिप अकनि राम पगु धारे। धरि धीरज तब नयन उघारे। —तुलसी।
(ग) आलस गात जानि मनमोहन बैठे छाँह करत सुख चैन। अकनि रहत कहुँ सुनत नहीं कछु नहिं गौ रंभन बालक बैन। —सूर।

अकबक-संज्ञा पुं० [सं० अवाच्य, अवाक्य] [क्रि० अकबकाना] (१) निरर्थक वाक्य। अंड बंड। अनाप शनाप। असंबद्ध प्रलाप। उ०—जैसे कछु अकबक बकत हैं आज, हरि सँदइ जनि नाँव मुख काहू को निकसि जाय। —केशव।
(२) घबड़ाहट। धड़क। चिंता। खटका। उ०—इंद्र जू के अकबक, धाता जू के धकपक शंभू जू के सकपक केशोदास को कहै। जब जब मृगया को राम के कुमार चढ़ैं तब तब कोलाहल होत लोक लोक है। —केशव।
(३) अक्की बक्की। छक्का पंजा। होश हवास। चतुराई। सुध। उ०—सकपक होत पंकजासन परम दीन, अकबक भूलि जात गरुड़ नसीन के। —चरणचंद्रिका।
वि० [सं० अवाक्] भौचक्का। निस्तब्ध। अवाक्। चकित। उ०—यह वृत्तान्त सुनकर वह अकबक रहगया।

अकबकाना-क्रि० अ० [सं० अवाक्] चकित होना। भौचक्का होना। घबड़ाना। उ०—सकसकात तन धकधकात उर अक-

बकात सब ठाढ़े। सूर उपंगसुत बोलत नाहीं अति हिरदै हूँ गाढ़े।—सूर।

अकबरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) एक फलहारी मिठाई। तीखुर और उबाली अरई को घी के साथ फेंट कर उसकी टिकिया बनाते हैं और घी में तलकर चाशनी में पागते हैं। (२) एक प्रकार की लकड़ी पर की नक्काशी जिसका व्यवहार पंजाब में बहुत है। सहारनपुर के कारखानों में भी इसका चलन है।

यौ०—अकबरी अशरफ़ी-सोने का एक पुराना सिक्का जिसका मूल्य पहिले १६) था पर अब २५) हो गया है।

अक़बाल-संज्ञा पुं० दे० "इक़बाल"।

अकर-वि० [सं०] (१) दुष्कर। न करने योग्य। कठिन। विकट।

(२) बिना हाथ का। हस्तरहित।

(३) बिना कर वा महसूल का। जिसको महसूल न लगता हो।

अकरकरा-संज्ञा पुं० [सं० आकरकरभ] एक पौधा जो अफ़्रिक़ा के उत्तर अलजीरिया में बहुत होता है। इसकी जड़ पुष्ट और कामोद्दीपक ओषधि है। इससे मुँह में थूक आता है और दाँत की पीड़ा भी शांत होती है।

पर्या०—आकल्लक।

अकरखना*-क्रि० स० [सं० आकर्षण] (१) खींचना। तानना।

(२) चढ़ना।

अकरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अकरणीय] (१) कर्म का अभाव। कर्म का न किये हुए के समान होना। कर्म का फलरहित होना।

विशेष—सांख्य के अनुसार सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाने पर फिर कर्म्म अकरण अर्थात् बिना किये हुए के समान हो जाते हैं और उनका कुछ फल नहीं होता।

(२) इंद्रियों से रहित। ईश्वर। परमात्मा।

* वि० [सं० अकारण] (१) बिना कारण का। बेसबब। उ०—कर कुठार मैं अकरन कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही।—तुलसी।

(२) न करने योग्य। जिसका करना कठिन वा असम्भव हो। उ०—दयानिधि तेरी गति लखि न परै। रीती भरै, भरी ढरकावै अकरन करन करै।—सूर।

अकरणीय-वि० [सं०] न करने योग्य। न करने लायक़। करने के अयोग्य।

अक़रब-संज्ञा पुं० [अ०] जिस घोड़े के मुँह पर सफ़ेद रोएँ हों और उन सफ़ेद रोओं के बीच बीच में दूसरे रंग के भी रोएँ हों उसे अकरब कहते हैं। यह ऐबी समझा जाता है।

अकरा-वि० [सं० अक्रय्य] (१) न मोल लेने योग्य। महँगा। अधिक दाम का। क़ीमती। (२) खरा। श्रेष्ठ। उत्तम। अमूल्य। उ०—आरतपाल कृपाल जे राम जहीं सुमिरे तिहि को तहँ ठाढ़े। नाम प्रताप महा महिमा अकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े।—तुलसी।

अकराथ*-वि० [सं० अकार्य्यार्थ, प्रा० अकारियत्थ] अकारथ। व्यर्थ। निष्फल। उ०—आपा राखि प्रबोधिये, ज्ञान सुनै अकराथ। —कबीर।

अकराल-वि० [सं०] जो भयंकर न हो। सौम्य। सुंदर। अच्छा।

*(२) [सं० कराल] भयंकर। भयानक। डरावना।—डिं०

अकरास-संज्ञा पुं० [हिं० अकड़] (१) अँगड़ाई। देह टूटना। संज्ञा पुं० [सं० अकर] आलस्य। सुस्ती। कार्य्य-शिथिलता।

अकरी-संज्ञा स्त्री० [सं० आ-अच्छी तरह+किरण=बिखराना]

(१) हल में जो बीज गिराने के लिये पोला बाँस लगा रहता है उसके ऊपर का लकड़ी का चोंगा जिसमें बीज डालते जाते हैं।

(२) एक असगंध की जाति का पौधा वा झाड़ी जो पंजाब, सिंध और अफ़ग़ानिस्तान आदि देशों में होती है।

अकरुण-वि० [सं०] करुणाशून्य। निर्दयी। निष्ठुर। कठोर।

अकर्त्तव्य-वि० [सं०] न करने योग्य। करने के अयोग्य। जिसका करना उचित न हो।

संज्ञा पुं० न करने योग्य कार्य। अनुचित कर्म्म।

अकर्त्ता-वि० [सं०] (१) कर्म का न करनेवाला। कर्म से अलग।

(२) सांख्य के अनुसार पुरुष का एक नाम जो कर्मों से निर्लिप्त रहता है।

अकर्तृक-संज्ञा पुं० [सं०] बिना कर्त्ता का। जिसका कोई कर्त्ता वा रचयिता न हो। जो किसी के द्वारा रचा न गया हो। कर्त्ताविहीन।

अकर्तृभाव-संज्ञा पुं० [सं०] कुछ न करने का भाव। कर्म्म से पृथक्ता।

अकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) न करने योग्य कार्य। दुष्कर्म। बुरा काम। (२) कर्म का अभाव।

अकर्मक-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में क्रिया के दो मुख्य भेदों में से एक। यह उस क्रिया को कहते हैं जिसे किसी कर्म की आवश्यकता न हो। कर्त्ता ही तक क्रिया का कार्य समाप्त हो जाय। जैसे—लड़का दौड़ता है। यहाँ "दौड़ता है" अकर्मक क्रिया है।

अकर्मण्य-वि० [सं०] बेकाम। निकम्मा। कुछ काम न करने वाला। आलसी।

अकर्मा-वि० [सं०] काम न करनेवाला। निकम्मा। बेकाम। कार्य के लिये अनुपयुक्त।

अकार्मिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाप करनेवाली। पापिन। अपराधिनी। दुष्कर्मा।

अकर्मी-संज्ञा पुं० [सं० अकर्म्मिन] [स्त्री० अकर्म्मिणी] बुरा कर्म्म करनेवाला। पापी। दुष्कर्मी। अपराधी।

अकर्षण*–संज्ञा पुं० दे० "आकर्षण"।

अकलंक–वि० [सं०] [संज्ञा अकलंकता, वि० अकलंकित] निष्कलंक। दोषरहित। निर्दोष। बेऐब। बेदाग़।

† संज्ञा पुं० [सं० कलङ्क] दोष। लाञ्छन। ऐब। दाग़।

अकलंकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्दोषता। सफ़ाई। कलंकहीनता। उ०—लोभी लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई।—तुलसी।

अकलंकित–वि० [सं०] निष्कलंक। निर्दोष। बेऐब। बेदाग़। साफ़। शुद्ध।

अकल–वि० [सं०] (१) अवयवरहित। जिसके अवयव न हों। (२) जिसके खंड न हों। अखंड। सर्वांगपूर्ण। (३) परमात्मा का एक विशेषण। उ०—व्यापक, अकल, अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप।—तुलसी।

* (२) बिना कला वा चतुराई का। निर्गुणी।

* (३) [सं० अ–नहीं+हि० कल=चैन] विकल। व्याकुल। बेचैन।

अकलखुरा–वि० [हि० अकेला+फ़ा० खोर] अकेला खानेवाला अर्थात् (१) स्वार्थी। मतलबी। लालची। (२) रूखा। मनहूस। जो मिलनसार न हो। (३) ईर्षालु। डाही। उ०—(क) अकलखुरा किसी को देख नहीं सकता।

(ख) अकलखुरा जग से बुरा।

अकलबर–संज्ञा पुं० दे० "अकलबीर"।

अकलबीर–संज्ञा पुं० [सं० करवीर ?] भांग की तरह का एक पौधा जो हिमालय पर काश्मीर से लेकर नैपाल तक होता है। इसकी जड़ रेशम पर पीला रंग चढ़ाने के काम में आती है।

पर्या०—कलबीर। वज़। भंगजल।

अकल्मष–वि० [सं०] पापरहित। निर्दोष। निर्विकार। बेऐब।

अकल्याण–संज्ञा पुं० [सं०] अमंगल। अशुभ। अहित।

अकस–संज्ञा पुं० [अ०] [क्रि० अकसना] बैर। द्वेष। शत्रुता। डाह। अदावत। विरोध। लाग। बुरी उत्तेजना।

उ०—(क) हानि लाहु अनखु उछाहु बाहु बल कहि बंदी बोलै बिरद अकस उपजाइ कै। दीप दीप के महीप आए सुनि पैज पनु कीजै पुरुषारथ को अवसर भो आइ कै।—तुलसी।

(ख) मोर मुकुट की चंद्रिकन, यौं राजत नँद नंद। मनु ससि सेखर की अकस, किय सेखर सत चंद।—विहारी।

क्रि० प्र०—दिलाना।—ठानना।—पड़ना।—मानना।—रखना।

अकसना–क्रि० सं० [हि० अकस] अकस रखना। बैर करना। रार ठानना। शत्रुता करना। बराबरी करना। आँट करना। उ०—साहनि सों अकसिबो, हाथिन को बकसिबो, राव भाव सिंहजू को सहज सुभाव है।—मतिराम।

अकसर–क्रि० वि० [अ०] प्रायः। बहुधा। अधिकतर। बहुत करके। विशेष करके।

*क्रि० वि० [सं० एक=एक+सर (प्रत्य०)] अकेले। बिना किसी को साथ लिए। तनहा। उ०—(क) धनि सो जीव दगध इमि सहा। अकसर जरइ न दूसर कहा।—जायसी। (ख) करि पूजा मारीच तब, सादर पूछी बात। कवन हेतु मन व्यग्र अति, अकसर आयहु तात।—तुलसी।

वि० अकेला। बिना साथ का।

अकसीर–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वह रस वा भस्म जो धातु को सोना वा चाँदी बना दे। रसायन। कीमिया। (२) वह ओषधि जो प्रत्येक रोग को नष्ट करे। वह ओषधि जिसके खाने से कभी मनुष्य बीमार न हो।

वि० अव्यर्थ। अत्यंत गुणकारी। अत्यंत लाभकारी।

अकस्मात्–क्रि० वि० [सं० अकस्मात्] (१) अचानक। अनायास। एकबारगी। यकायक। सहसा। तत्क्षण। बैठे बिठाए। औचक। अतर्कित। अनचित्ते में। (२) दैवात्। दैवयोग से। संयोगवश। हठात्। आप से आप। अकारण।

अकह–वि० [सं० अकथ, प्रा० अकह] न कहने योग्य। जो कही न जा सके। अकथनीय। अवर्णनीय। अनिर्वचनीय। उ०—(क) नहीं ब्रह्म नहिं जीव न माया ज्यों का त्यों वह जाना। मन, बुधि, गुन, इंद्रिय नहिं जाना अलख अकह निर्वाना।—कबीर।

(ख) निज दल जागै ज्योति पर दल दूनी होति अचला चलनि यह अकह कहानी है। पूरण प्रताप दीप अंजन की राजै रेख राजत श्री रामचंद पानिन कृपानी है।—केशव। (२) मुँह पर न लाने योग्य। बुरी। अनुचित।

उ०—शील सुधा वसुधा लहि कै अकहै कहि कै यह जीभ बिगारिए।—देव।

अकहुवा*†–वि० [सं० अकथ, प्रा० अकह] जो कहा न जा सके। अकथनीय। उ०—जाकर नाम अकहुआ भाई। ताकर कहाँ रमैनी भाई।—कबीर।

अकांड–वि० [सं०] बिना डाली वा शाखा का।

क्रि० वि० अकस्मात्। सहसा। बिना कारण।

अकांडजात–वि० [सं०] होते ही मर जानेवाला। जन्मते ही मर जानेवाला।

अकांडतांडव–संज्ञा पुं० [सं०] व्यर्थ की उछल कूद। व्यर्थ की बकवाद। वितंडावाद।

अकांडपात–वि० [सं०] होते ही मर जानेवाला। जन्मते ही मर जानेवाला।

अकाउंट–संज्ञा पुं० [अं०] हिसाब। लेखा। हिसाब किताब।

अकाउंटेंट–संज्ञा पुं० [अं०] हिसाब जाँचनेवाला। निरीक्षक। मुनीब। लेखा लिखनेवाला।

अकाउंट बुक–संज्ञा पुं० [अं०] हिसाब की किताब। बही खाता। लेखा।

अकाज–संज्ञा पुं० [सं० अ+हिं० काज] [क्रि० अकाजना, वि० अकाजी] कार्य्य की हानि। नुकसान। हर्ज। विघ्न। बिगाड़। उ०—हरिहर यश राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से।—तुलसी।

(२) बुरा कार्य्य। दुष्कर्म्म। खोटा काम। [क्व०] * क्रि० वि० व्यर्थ। बिना काम। निष्प्रयोजन। उ०—बीति जैहैं बीति जैहैं जनम अकाज रे।—तेगबहादुर।

अकाजना*–क्रि० अ० [हिं० अकाज] (१) हानि होना। खो जाना। (२) गत होना। जाता रहना। मरना। उ०—मोक विकल अति सकल समाजू। मानहुँ राज अकाजेउ आजू।—तुलसी।

क्रि० स० अकाज करना। हर्ज करना। हानि करना। विघ्न करना।

अकाजी*–वि० [हिं० अकाज] [स्त्री० अकाजिन] अकाज करनेवाला। हर्ज करनेवाला। कार्य्य की हानि करनेवाला। बाधक। विघ्नकारी। उ०—लाज न लागति लाज अहै तुहि जानी मैं आज अकाजिनि, एरी!—देव।

अकाट्य–वि० [सं० अ+हिं० काटना] न काटने योग्य। जिसका खंडन न हो सके। दृढ़। मज़बूत। अटल।

यौ०—अकाट्य युक्ति।

अकाथ*–क्रि० वि० [सं० अकृतार्थ] अकारथ। व्यर्थ। निष्फल। निरर्थक। वृथा। फ़जूल। उ०—रह्यो न परै प्रेम आतुर अति जानी रजनी जात अकाथ।—सूर।

वि० [सं० अकथ्य] न कहने योग्य। अकथनीय। अनिर्वचनीय।

अकादर–वि० [सं० अकातर] जो कादर न हो। शूरवीर। साहसी। हिम्मतवर।

अकाम–वि० [सं०] बिना कामना का। कामनारहित। इच्छाविहीन। निस्पृह। बिना चाह का। उ०—हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी।—तुलसी।

क्रि० वि० [सं० अकर्म्म] बिना काम के। निष्प्रयोजन। व्यर्थ। उ०—बिना मान नर जगत में, धावन फिरै अकाम।

संज्ञा पुं० दुष्कर्म्म। बुरा काम। (क्व०)

अकामनिर्जरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन-मत के अनुसार तपस्या से जो निर्जरा वा कर्म्म का नाश होता है उसके दो भेदों में से एक। यह निर्जरा सब प्राणियों को होती है क्योंकि उन्हें बहुत से क्लेशों को विवश होकर सहना पड़ता है।

अकामा–वि० स्त्री० [सं०] (स्त्री) जिसमें काम का प्रादुर्भाव न हुआ हो। यौवनावस्था के पूर्व की।

संज्ञा स्त्री० कामचेष्टारहित स्त्री।

अकामी–वि० [सं० अकामिन्] [स्त्री० अकामिनी] (१) कामनारहित। इच्छाविहीन। निस्पृह। जिसे किसी बात की आकांक्षा न हो। निःस्वार्थ। उ०—भजामि ते पदाम्बुजम्। अकामिनां स्वधामदम्।—तुलसी।

(२) जो कामी न हो। जितेंद्रिय।

अकाय–वि० [सं०] (१) बिना शरीरवाला। देहरहित। कायाशून्य। (२) अशरीरी। शरीर न धारण करनेवाला। जन्म न लेनेवाला। (३) रूपरहित। निराकार।

अकार*–संज्ञा पुं० अक्षर "अ"। दे० 'आकार'।

अकारक मिलाव–संज्ञा पुं० [सं० अकारक+हिं० मिलाव] ऐसा रासायनिक मिश्रण व मिलावट जिसमें मिली हुई वस्तुओं के पृथक् गुण बने रहें और वे अलग की जा सकें।

अकारज*–संज्ञा० पुं० [सं० अकार्य्य] कार्य की हानि। हानि। नुकसान। हर्ज। उ०—(क) आप अकारज आपनो करत कुसंगत साथ। पायँ कुल्हाड़ी देत है मूरख अपने हाथ।—सभाविलास। (ख) नाते न मान समान अकारज जाको अयानु बड़ो अधिकारी। देव कहै कहिहौं हित की हरि जू सो हित न कहूँ हितकारी।—देव।

अकारण–वि० [सं०] (१) बिना कारण का। हेतुरहित। बिना वजह का। उ०—(क) जिमि यह कुशल अकारन कोही।—तुलसी।

(ख) संसार में अकारण प्रीति दुर्लभ होती है।

(२) जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण न हो। जो किसी से उत्पन्न न हो। स्वयंभू।

क्रि० वि०—बिना कारण के। बेसबब। व्यर्थ। अनायास। निष्प्रयोजन। उ०—क्यों अकारण हँसते हो।

अकारथ*†–वि० [सं० अकार्य्यार्थ, प्रा० अकारियत्थ] बेकाम। निष्फल। निष्प्रयोजन। वृथा। फ़जूल। लाभरहित।

उ०—बिना ब्याह यह तपस्या अकारथ होती है।—सदल मिश्र।

क्रि० प्र०—करना—होना।

क्रि० वि० व्यर्थ। बेकार। निष्प्रयोजन। वृथा। फ़जूल। बेफ़ायदा।

उ०—(क) ते दिन गए अकारथै, संगति भई न संत।—कबीर।

(ख) आछो गात अकारथ गार्‌यो। करी न प्रीति कमललोचन सों जन्म जुआ ज्यों हार्‌यो।—सूर।

(ग) स्वारथ हू न कियो परमारथ यों ही अकारथ बैस बिताई।—पद्माकर।

क्रि० प्र०—खोना।—जाना।

अकारन*–वि० दे० "अकारण"।

अकार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्य्य का अभाव । अकाज । हर्ज । हानि । (२) बुरा कार्य्य । कुकर्म । दुष्कर्म ।
वि० कार्य्यरहित । जिसका कोई परिणाम न हो ।

अकाल-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अकालिक] अनुपयुक्त समय । अनवसर । अनियमित समय । बेठीक समय । कुसमय । ठीक समय से पहिले वा पीछे का समय । उ०—(क) भय-दायक खल की प्रियबानी । जिमि अकाल के कुसुम भवानी । -तुलसी । (ख) तू रहि, सखि ! हौं ही लखौं, चढ़ न अटा, बलि बाल । बिनहीं ऊगे ससि समुझि, देहै अरघ अकाल ।—बिहारी । (२) दुष्काल । दुर्भिक्ष । महँगी । कहत ।
उ०—भारतवर्ष में कई बार अकाल पड़ चुका है ।
क्रि० प्र०-पड़ना ।
(३) घाटा । कमी । न्यूनता । उ०—यहाँ कपड़ों का अकाल नहीं है ।

अकालकुसुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिना समय वा ऋतु में फूला हुआ फूल ।
विशेष-यह दुर्भिक्ष वा उपद्रव-सूचक समझा जाता है ।
(२) बे समय की चीज़ ।

अकालभृत-संज्ञा पुं० [सं०] स्मृति के अनुसार १५ दासों में से एक । दास बनाने के लिये जिसकी रक्षा दुर्भिक्ष में की गई हो । अकाल में मिला हुआ दास ।

अकालमूर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह जिसकी स्थापना काल वा समय में न हो सके । नित्य वा अविनाशी पुरुष ।

अकाल मृत्यु-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेसमय की मृत्यु । असामयिक मृत्यु । ठीक समय से पहिले की मृत्यु । अनायास मृत्यु । थोड़ी अवस्था का मरना ।

अकालिक-वि० [सं०] असामयिक । बिना समय का । बे मौके का ।

अकाली-संज्ञा पुं० [सं० अकाल+हिं० ई] नानक पंथी साधु जो सिर में चक्र के साथ काले रंग की पगड़ी बाँधे रहते हैं ।

अकाव†-संज्ञा पुं० [सं० अर्क] आक । मदार ।

अकास-संज्ञा पुं० दे० "आकाश" ।

अकासकृत-संज्ञा पुं० [सं० आकाशकृत] बिजली ।—अनेक०

अकासदीया-संज्ञा पुं० [सं० आकाशदीपक] वह दीपक या लाल-टेन जो बाँस के ऊपर आकाश में लटकाई जाती है ।

अकासनीम-संज्ञा पुं० [सं० आकाशनिम्ब] एक पेड़ जिसकी पत्तियाँ बहुत सुंदर होती हैं ।

अकासबानी-संज्ञा स्त्री० दे० "आकाशवाणी" ।

अकास बेल- संज्ञा पुं० [सं० आकाशबेलि] अंबर बेलि । अमर बेल । आकास बौर ।

अकिंचन-वि० [सं०] [संज्ञा अकिंचनता] (१) जिसके पास कुछ न हो । निर्धन । धनहीन । कंगाल । दरिद्र । दीन । ग़रीब । मुहताज । (२) परिग्रहत्यागी । आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह न करनेवाला । (३) वह जिसे भोगने के लिये कुछ कर्म न रह गए हों । कर्मशून्य ।
संज्ञा पुं० (१) निर्धन मनुष्य । दरिद्र आदमी । ग़रीब आदमी । (२) जैन-मत के अनुसार परिग्रह का त्याग वा ममता से निवृत्ति जो इस प्रकार के साधु धर्मों में से एक है ।

अकिंचनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दरिद्रता । ग़रीबी । निर्धनता । (२) परिग्रह का त्याग जो कि योग का एक यम है ।

अकिंचित्कर-वि० [सं०] (१) जिसका किया कुछ न हो । असमर्थ । अशक्त । (२) तुच्छ ।

अकिल-संज्ञा स्त्री० दे० "अक़्ल" ।

अकिलबहार-संज्ञा पुं० [अ० अक़्लुलबहर] बैजयंती का पौधा वा दाना ।

अकिल्विष-वि० [सं०] (१) पापशून्य । निष्पाप । पवित्र । (२) निर्मल । शुद्ध ।
संज्ञा पुं० पापशून्य मनुष्य । शुद्ध प्राणी ।

अक़ीक़-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का प्रायः लाल पत्थर वा नगीना जिस पर मुहर भी खोदी जाती है । यह बंबई, बाँदा और खंभात से आता है । इसकी कई क़िस्में यमन और बग़दाद से भी आती हैं ।

अकीरति*-संज्ञा स्त्री० दे० "अकीर्त्ति" ।

अकीर्त्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अयश । अपयश । बदनामी ।

अकीर्त्तिकर-वि० [सं०] अकीर्त्ति करनेवाला । अपयश देने वाला । बदनाम करनेवाला । अपयश का भागी बनानेवाला । जिससे बदनामी हो ।

अकुंठ / **अकुंठि** -वि० [सं०] (१) जो कुंठित वा गुठला न हो । तेज़ । तीक्ष्ण । चोखा । (२) तीव्र । तेज़ । खरा ।
उ०—गयउ गरुड़ जहँ बसहि भुसुंडी । मति अकुंठ हरि भगति अखंडी ।—तुलसी ।
(३) खरा । चोखा । उत्तम ।

अकुटिल-वि० [सं०] [संज्ञा अकुटिलता] (१) जो कुटिल वा टेढ़ा न हो । सीधा । सरल । (२) सीधा सादा । भोला भाला । निश्छल । निष्कपट । साफ़ दिल का ।

अकुटिलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुटिलता का अभाव । सिधाई । (२) सादापन । निष्कपटता ।

अकुताना*-क्रि० अ० दे० "उकताना" ।

अकुल-वि० [सं०] (१) कुलरहित । परिवारविहीन । जिसके कुल में कोई न हो ।
उ०—निर्गुन निलज कुवेष कपाली । अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ।—तुलसी ।
(२) बुरे कुल का । अकुलीन । नीच कुल का ।

उ०—अकुल कुलीन होत, पाँवर प्रवीन होत, दीन होत चक्कवै चलत छत्र छाया के।—देव।

संज्ञा पुं० बुरा कुल। नीच कुल। बुरा ख़ानदान।

अकुलाना–क्रि० अ० [सं० आकुलन] (१) ऊबना। जल्दी करना। उतावला होना। उ०—चलते हैं क्यों अकुलाते हो। (२) घबड़ाना। व्याकुल होना। व्यग्र होना। दुखी होना। बेचैन होना। उ०—(क) अतिसय देखि धरम कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी।—तुलसी। (ख) इन दुखिया अँखियाँन को, सुख सिरजोई नाहिं। देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं।—बिहारी।

(३) विह्वल होना। मग्न होना। लीन होना। आवेग में आना। उ०—आए सुनि कौसिक जनक हरखाने हैं। बोलि गुरु भूसुर समाज सो मिलन चले जानि बड़े भाग अनुराग अकुलाने हैं।—तुलसी।

अकुलिनी*–वि० स्त्री० [सं० अकुलीना] जो कुलवती न हो। कुलटा। व्यभिचारिणी।

अकुलीन–वि० [सं०] बुरे कुल का। नीच कुल का। तुच्छ वंश में उत्पन्न। कमीना। क्षुद्र।

अकुशल–संज्ञा पुं० [सं०] अमंगल। अशुभ। बुराई। अहित।

वि० जो दक्ष न हो। अनिपुण। अनाड़ी।

अकुशलधर्म्म–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध धर्म्मानुसार प्राणियों का पाप करने का स्वभाव।

अकूत–वि० [सं० अ०+हि० कूतना] जो कूता न जा सके। जिसकी गिनती वा परिमाण न बतलाया जा सके। बे अंदाज़। अपरिमित। अगणित।

अकूपार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) बड़ा कछुआ। वह कच्छप जो पृथ्वी के नीचे माना जाता है। (३) पत्थर वा चट्टान।

अकूहल*–वि० [देश०] बहुत। अधिक। असंख्य। उ०—खेलत हँसत करें कौतूहल। जुरे लोग जहँ तहाँ अकूहल।—सूर।

अकृच्छ्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्लेश का अभाव। (२) आसानी। सुगमता। असंकोच।

वि० (१) क्लेशशून्य। जिसे किसी प्रकार का संकोच वा कष्ट न हो। (२) आसान। सुगम।

अकृत–वि० [सं०] (१) बिना किया हुआ। असंपादित। (२) अन्यथा किया हुआ। बिगाड़ा हुआ। अंडबंड किया हुआ।

(३) जो किसी का बनाया न हो। नित्य। स्वयंभू।

(४) प्राकृतिक। (५) निकम्मा। बेकाम। जिसकी कुछ करनी वा करतूत न हो। कर्म्महीन। बुरा। मंद।

उ०—नाहीं मेरे और कोउ, बलि, चरन कमल बिनु ठाउँ। हौं असोच, अकृत अपराधी सम्मुख होत लजाउँ।—सूर।

संज्ञा पुं० (१) कारण। (२) मोक्ष। (३) स्वभाव। प्रकृति।

अकृतकाल–वि० [सं०] जिसके लिये कोई काल नियत न हो। जिसके लिये कोई समय न बाँधा गया हो। बेमियाद।

विशेष–धर्म्म-शास्त्र में आधि वा गिरवी के दो भेद किए गए हैं जिनमें एक अकृतकाल है अर्थात् जिसका रखनेवाला वस्तु के छुड़ाने के लिये कोई अवधि नहीं बाँधता। ग़ैर मियादी (रेहन)।

अकृतज्ञ–वि० [सं०] [संज्ञा अकृतज्ञता] जो कृतज्ञ न हो। किए हुए उपकार को जो न माने। कृतघ्न। नाशुकरा। (२) अधम। नीच।

क्रि० प्र०—होना।

अकृतज्ञता–संज्ञा स्त्री० [सं०] उपकार न मानने का भाव। कृतघ्नता। नाशुकरापन।

क्रि० प्र०–करना।

अकृताभ्यागम–संज्ञा पुं० [सं०] बिना किए हुए कर्म्म के फल की प्राप्ति।

विशेष–न्याय वा तर्क में यह एक दोष माना गया है।

अकृतार्थ–वि० [सं०] (१) जिसका कार्य्य न हुआ हो। अकृतकार्य्य। जिसका कार्य्य पूरा न हुआ हो।

(२) जिसको कुछ फल न मिला हो। फलरहित। फल से वंचित।

(३) अपटु। अकुशल। कार्य्य में अदक्ष।

अकृती–वि० [सं० अकृतिन] [स्त्री० अकृतिनी] काम न करने योग्य। निकम्मा।

संज्ञा पुं० वह आदमी जो किसी काम लायक न हो। निकम्मा मनुष्य।

अकृत्रिम–वि० [सं०] बेबनावटी। आप से उत्पन्न। प्राकृतिक। स्वाभाविक। प्रकृतिसिद्ध। नैसर्गिक। (२) असली। सच्चा। वास्तविक। यथार्थ। (३) हार्दिक। आंतरिक। उ०—हमारा उसके ऊपर अकृत्रिम प्रेम है।

अकृपा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कृपा का अभाव। कोप। क्रोध। नाराज़ी। नामिहरबानी।

अकृष्टपच्य–वि० [सं०] [स्त्री० अकृष्टपच्या] जो बिना जोते पैदा हो।

अकेतन–वि० [सं०] बिना घर बार का। बेठिकाना। ख़ानाबदोश।

अकेल*–वि० दे० "अकेला"।

अकेला–वि० [सं० एक+हि ला (प्रत्य०)] [स्त्री० अकेली]

(१) जिसके साथ कोई न हो। बिना साथी का। एकाकी। तनहा। दुकेले का उलटा। उ०—(क) वह अकेला आदमी इतनी चीज़ें कैसे ले जायगा। (ख) रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिय न ताहि।—तुलसी।

(२) अद्वितीय । एकता । निराला । उ०—वह इस हुनर में अकेला है ।

यौ०—**अकेली कहानी**=एक पक्ष की ओर से किसी ऐसे समय कही हुई बात जब कि उसको काटनेवाला दूसरे पक्ष का कोई न हो । उ०—अकेली कहानी गुड़ से मीठी ।—**दम**=एक ही प्राणी । उ०—हम तो अकेले दम रहें चाहे जहाँ रहें । हमारा तो अकेला दम है जब तक जीते हैं ख़र्च करते हैं ।—**दुकेला**=(१) एक वा दो । (२) एकाकी । अकेला । उ०—कोई अकेली दुकेली सवारी मिले तो बैठा लेना ।

संज्ञा पुं० निराला । एकांत । शून्य स्थान । निर्जन स्थान । उ०—वह तुम्हें अकेले में पावेगा तो ज़रूर मारेगा ।

अकेले—क्रि० वि० [सं० एक+हिं० ला+ए] (१) किसी साथी के बिना । एकाकी । आपही आप । तनहा । उ०—(क) अकेले खाना किस काम का ? (ख) मैंने इस काम को अकेले किया । (२) सिर्फ़ । केवल । उ०—अकेले चिट्ठी लिखने से काम न चलेगा ।

अकेहरा†—वि० "एकहरा" ।

अकैतव—संज्ञा पुं० [सं०] कपट का अभाव । निष्कपटता । सिधाई ।

अकैया—संज्ञा पुं० [सं० अक्ष=संग्रह करना] खुरजी । गोन । कजावा । वस्तु लादने के लिये थैला वा कटोरा ।

अकोट*—वि० [सं० कोटि] करोड़ों । असंख्य । उ०—बाजे तबल अकोट जुझाऊ । चढ़ा कोप सब राजा राऊ ।—जायसी ।

अकोढ़ई—संज्ञा स्त्री० [सं० अक्रूर=सरल, मुलायम] वह भूमि जो सींचने से बहुत जल्दी भर जाती है । वह भूमि जिसमें पानी ठहरा रहता है ।

अकोतर सौ*—वि० [सं० एकोत्तरशत] सौ के ऊपर एक । एक सौ एक । उ०—खँड़रा खाँड़ जो खंडे खंडे । बरी अकोतर सौ कहँ हंडे ।—जायसी ।

अकोप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोप का अभाव । प्रसन्नता । खुशी । (२) राजा दशरथ के आठ मंत्रियों में से एक ।

अकोर*—संज्ञा पुं० दे० "अँकोर" ।

अकोरी*—दे० "अँकवार" ।

अकोला—संज्ञा पुं० [सं० अङ्कोल] अंकोल का पेड़ ।

अकोविद—वि० [सं०] जो जानकार न हो । मूर्ख । अज्ञानी । अनाड़ी । उ०—अज्ञ अकोविद अंध अभागी । काई विषय मुकुर मन लागी ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० [सं० अग्र] ऊख के सिर पर की पत्ती । अगोला । अगौरा । गेंड़ा ।

अकोसना*—क्रि० स० [सं० आक्रोशन] कोसना । बुरा भला कहना । गालियाँ देना ।

अकौआ†—संज्ञा पुं० [सं० अर्क] (१) आक । मदार । (२) कौआ । ललरी । घंटी ।

अकौटा†—संज्ञा पुं० [सं० अक्ष=धुरा+अटन=घूमना] डंडा जिस पर गड़ारी घूमती है । धुरा ।

अकौटिल्य—संज्ञा पुं० [सं०] कुटिलता का अभाव । निष्कपटता । सिधाई । सरलता ।

अक्का—संज्ञा स्त्री० [सं०] माता । माँ ।

विशेष—संबोधन में इस शब्द का रूप "अक" होता है ।

अक्के दुक्के†—क्रि० वि० दे० "इक्के दुक्के" ।

अक्खड़—वि० [सं० अक्षर=न टलनेवाला, टटा रहनेवाला, प्रा० अक्खड़] [संज्ञा अक्खड़पन] (१) न मुड़नेवाला । अड़नेवाला । किसी का कहना न माननेवाला । उग्र । उद्धत । उच्छृंखल । (२) बिगड़ैल । झगड़ालू । (३) निःशंक । निर्भय । बेडर । (४) असभ्य । अशिष्ट । दुःशील । (५) अनगढ़ । उजड्ड । जड़ । मूर्ख । (६) जिसे कुछ कहने वा करने में संकोच न हो । खरा । स्पष्टवक्ता ।

अक्खड़पन—संज्ञा पुं० [हिं० अक्खड़+पन] (१) अशिष्टता । असभ्यता । दुःशीलता । जड़ता । उजड्डपन । अनगढ़पन । उच्छृंखलता । (२) उग्रता । कड़ाई । उद्धतपन । कलह-प्रियता । (३) निःशंकता । (४) स्पष्टवादिता ।

अक्खर*—संज्ञा पुं० [सं० अक्षर] अक्षर । हरफ़ ।

अक्खा—संज्ञा पुं० [सं० अक्ष=संग्रह करना] टाट वा कंबल का दोहरा थैला जो अनाज आदि लादने के लिये घोड़ों वा बैलों की पीठ पर रक्खा जाता है । खुरजी । गोन ।

अक्खो मक्खो—संज्ञा पुं० [सं० अक्ष+मुख] दीपक की लौ तक हाथ ले जाकर बच्चे के मुँह पर फेरना ।

विशेष—स्त्रियाँ संध्या के समय छोटे बच्चों के चेहरे पर इस प्रकार हाथ फेरती हैं और यह कहती जाती हैं—अक्खो मक्खो दिया बरक्खो । जो कोई मेरे बच्चे को तक्के उसकी फूटें दोनों अंक्खें, इत्यादि ।

अक्टोबर—संज्ञा पुं० [अं०] अँगरेज़ी साल का दसवाँ महीना जो कुँआर में पड़ता है ।

अक्त—वि० [सं०] व्याप्त । संयुक्त । सफल । युक्त । रँगा हुआ । लिप्त । भरा हुआ ।

विशेष—यह प्रत्यय की भाँति शब्दों के पीछे जोड़ा जाता है; जैसे, विषाक्त, रक्ताक्त ।

अक्तूबर—संज्ञा पुं० दे० "अक्टोबर" ।

अक्रम—वि० [सं०] क्रमरहित । बिना क्रम का । अंडबंड । उलटा सीधा । बेसिलसिले । बेतरतीब ।

संज्ञा पुं० क्रम का अभाव । व्यतिक्रम । विपर्य्यय । अंडबंड । बेतरतीबी ।

अक्रम संन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] दो प्रकार के संन्यासों में से एक। वह संन्यास जो क्रम से ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, और वानप्रस्थ के पीछे न लिया गया हो, वरन बीच ही में धारण किया गया हो।

अक्रमातिशयोक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिशयोक्ति नामक अलंकार का एक भेद जिसमें कारण के साथही कार्य्य हो। जैसे,
उठ्यो संग गज कर कमल, चक्र चक्रधर हाथ।
कर तें चक्र सुनक्र सिर, धरतें विलग्यो साथ॥

अक्रिय–वि० [सं०] (१) क्रियारहित। जो कर्म्म न करे। व्यापाररहित। (२) चेष्टारहित। निश्चेष्ट। जड़। स्तब्ध।
क्रि० प्र०–करना।–होना।

अक्रूर–वि० [सं०] जो क्रूर न हो। सरल। दयालु। सुशील। कोमल।
संज्ञा पुं० श्वफल्क और गाँदिनी का पुत्र एक यादव जो श्रीकृष्ण का चाचा लगता था। इसीके साथ कृष्ण और बलदेव मथुरा गए थे। सत्राजित की स्यमंतक मणि लेकर यही काशी चला गया था।

अक्ल–संज्ञा स्त्री० [अ०] बुद्धि। समझ। ज्ञान। प्रज्ञा।
क्रि० प्र०–आना।–खोना।–गँवाना।–चलना।–जाना।–देना।–पाना।–रहना।–होना।
मुहा०–का दुश्मन=मूर्ख। बेवकूफ।–का पूरा=(व्यंग) मूर्ख। जड़।–का काम करना=समझ मे आना।–की कोताही=बुद्धि की कमी।–के घोड़े दौड़ाना=अनेक प्रकार की कल्पना करना।–के पीछे लट्ठ लिए फिरना=हर समय बुद्धिविरुद्ध कार्य्य करना।–खर्च करना=समझ को काम मे लाना। सोचना–चकराना,–का चक्कर में आना=विस्मित वा चकित होना। हैरान होना।–का चरने जाना=समझ का जाता रहना। बुद्धि का अभाव होना।–देना=समझाना। शिक्षा देना।–दौड़ाना वा लड़ाना वा भिड़ाना=बुद्धि का प्रयोग करना। सोचना विचारना। गौर करना।–मारी जाना=बुद्धि नष्ट होना।–सठियाना=बुद्धिभ्रष्ट होना। बुद्धि जीर्ण होना। उ०–इस बुड्ढे की अक्ल तो सठिया गई है।
विशेष–ऐसा कहते हैं कि साठ वर्ष के उपरांत मनुष्य की बुद्धि जीर्ण वा बेकाम हो जाती है।

अक्लमंद–संज्ञा पुं० [फा०] [संज्ञा अक्लमंदी] बुद्धिमान्। चतुर। सयाना। विज्ञ। समझदार। होशियार।
अक्लमंदी–संज्ञा स्त्री० [फा०] बुद्धिमानी। समझदारी। चतुराई। सयानापन। विज्ञता।

अक्लिन्नवर्त्म–संज्ञा पुं० [सं०] एक नेत्र-रोग जिसमें पलकें चिपकती हैं।

अक्लिष्ट–वि० [सं०] (१) बिना क्लेश का। कष्टरहित। (२) सुगम। सहज। आसान। सरल। सीधा।

अक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अक्षा] (१) खेलने का पासा। (२) पासों का खेल। चौसर। (३) छकड़ा। गाड़ी। (४) धुरी। किसी गोल वस्तु के बीचों बीच पिरोया हुआ वह छड़ वा दंड जिस पर वह वस्तु घूमती है। (५) पहिये की धुरी। (६) वह कल्पित स्थिर रेखा जो पृथ्वी के भीतरी केंद्र से होती हुई उसके आर पार दोनों ध्रुवों पर निकली है और जिस पर पृथ्वी घूमती हुई मानी गई है। (७) तराजू की डाँड़ी। (८) व्यवहार। मामला। मुकद्दमा। (९) इंद्रिय। (१०) तूतिया। (११) सोहागा। (१२) आँख। (१३) बहेड़ा। (१४) रुद्राक्ष। (१५) साँप। (१६) गरुड़। (१७) आत्मा। (१८) कर्ष नामक तौल जो १६ माशे की होती है। (१९) जन्मांध। (२०) रावण का पुत्र अक्षकुमार जिसे हनुमान ने लंका उजाड़ते समय मारा था।

अक्षकुमार–संज्ञा पुं० [सं०] रावण का एक पुत्र जिसे हनुमान ने लंका का प्रमोदवन उजाड़ते समय मारा था।

अक्षकूट–संज्ञा पुं० [सं०] आँख की पुतली।

अक्षक्रीड़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पासे का खेल। चौसर। चौपड़।

अक्षत–वि० [सं०] बिना टूटा हुआ। जिसमें क्षत वा घाव न किया गया हो। अखंडित। सर्वांगपूर्ण। साबित। समूचा।
संज्ञा पुं० बिना टूटा हुआ चावल जो देवताओं की पूजा में चढ़ाया जाता है। (२) धान का लावा। (३) जौ।

अक्षतवीर्य्य–वि० [सं०] जिसका वीर्यपात न हुआ हो। जिसने स्त्री-संसर्ग न किया हो।

अक्षतयोनि–वि० [सं०] (कन्या) जिसका पुरुष से संसर्ग न हुआ हो।
संज्ञा० स्त्री० (१) वह कन्या जिसका पुरुष से संसर्ग न हुआ हो। (२) वह कन्या जिसका विवाह हो गया हो पर पति से समागम न हुआ हो।

अक्षता–वि० [सं०] जिसका पुरुष से संयोग न हुआ हो।
संज्ञा स्त्री० (१) धर्मशास्त्र के अनुसार वह पुनर्भू स्त्री जिसने पुनर्विवाह तक पुरुष संयोग न किया हो। (२) वह स्त्री जिसका पुरुष से संयोग न हुआ हो। (३) ककड़ासींगी।

अक्षदर्शक–संज्ञा पुं० [सं०] धर्म्माध्यक्ष। न्यायाधीश। न्यायकर्त्ता।

अक्षदेवी–वि० [सं०] जूआ खेलनेवाला।

अक्षधुर–संज्ञा पुं० [सं०] पहिये की धुरी।

अक्षपरि–संज्ञा पुं० [सं०] हार का पासा। पासे की वह स्थिति जिससे हार सूचित हो।

अक्षपाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) १६ पदार्थवादी। न्यायशास्त्र के प्रवर्त्तक गौतम ऋषि। ऐसा कहा जाता है कि गौतम ने अपने मत के खंडन करनेवाले व्यास का मुख न देखने की प्रतिज्ञा की थी। जब पीछे से व्यास ने इन्हें प्रसन्न किया तब इन्होंने अपने चरणों में नेत्र कर के उन्हें देखा अर्थात् अपने

चरण उन्हें दिखलाए। इसी से गौतम का नाम अक्षपाद हुआ। (२) तार्किक। नैयायिक।

अक्षबंध–संज्ञा पुं० [सं०] वह विद्या जिससे आस पास के लोग कुछ देख नहीं सकते। नज़रबंदी।

अक्षम–वि० [सं०] [संज्ञा अक्षमता] (१) क्षमारहित। असहिष्णु। (२) असमर्थ। अशक्त। लाचार।

अक्षमता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्षमा का अभाव। असहिष्णुता। (२) ईर्ष्या। डाह। (३) असामर्थ्य।

अक्षमाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रुद्राक्ष की माला। (२) "अ" से "क्ष" तक अक्षरों की वर्णमाला। (३) वसिष्ठ की स्त्री अरुंधती।

अक्षय–वि० [सं०] (१) जिसका क्षय न हो। अविनाशी। अनश्वर। सदा बना रहनेवाला। कभी न चुकनेवाला। (२) कल्पांत स्थायी। कल्प के अंत तक रहनेवाला।

अक्षयकुमार*–संज्ञा पुं० दे० "अक्षकुमार"।

अक्षयतृतीया–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैशाख शुक्ल-तृतीया। आखातीज। इस तिथि को लोग स्नान दान आदि करते हैं। सतयुग का आरंभ इसी तिथि से माना जाता है। यदि इस तिथि को कृत्तिका वा रोहिणी नक्षत्र पड़े तो वह बहुत ही उत्तम समझी जाती है।

अक्षयनवमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिक शुक्ला नवमी। इस तिथि को लोग स्नान दान आदि करते हैं। त्रेतायुग की उत्पत्ति इसी तिथि से मानी गई है।

अक्षयवट–संज्ञा पुं० [सं०] प्रयाग और गया में एक बरगद का पेड़। यह अक्षय इसलिये कहलाता है कि पौराणिक लोग इसका नाश प्रलय में भी नहीं मानते।

अक्षयवृक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] अक्षयवट।

अक्षय्य–वि० [सं०] अक्षय। अविनाशी। सदा बना रहनेवाला।

अक्षय्योदक–संज्ञा पुं० [सं०] श्राद्ध में पिंडदान के अनंतर ब्राह्मण के हाथ पर "अक्षय्य हो" कहकर जो जल छोड़ा जाय।

अक्षर–वि० [सं०] अच्युत। स्थिर। अविनाशी। नित्य।

संज्ञा पुं० (१) अकारादि वर्ण। हरफ़। मनुष्य के मुख से निकली हुई ध्वनि को सूचित करने का संकेत वा चिह्न।

क्रि० प्र०—जानना।—जोड़ना।—टटोलना।—पढ़ना।—लिखना।

मुहा०—घोंटना=अक्षर लिखने का अभ्यास करना।—से भेंट न होना=मूर्ख रहना। अनपढ़ रहना। विधना के अक्षर=कर्मरेख। भाग्य। लिखन।

(२) आत्मा। (३) ब्रह्म। (४)। आकाश। (५) धर्म। (६) तपस्या। (७) चिचड़ा। (८) मोक्ष। (९) जल।

अक्षरन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लेख। लिखावट। (२) तंत्र की एक क्रिया जिसमें मंत्र के एक एक अक्षर को पढ़कर हृदय, नाक, कान आदि छूते हैं।

अक्षरपंक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] पंक्ति नामक वैदिक छंद का एक भेद जिसके चार पादों के वर्णों का योग २० होता है।

अक्षरमुख–वि० [सं०] अक्षर सीखनेवाला। जो अक्षर का अभ्यास करता हो।

संज्ञा पुं० शिष्य। छात्र।

अक्षरशः–क्रि० वि० [सं०] अक्षर अक्षर। एक एक अक्षर। लफ़्ज़ ब लफ़्ज़। संपूर्णतया। बिलकुल। सब। उ०—उसका कहना अक्षरशः सत्य है।

अक्षरशत्रु–संज्ञा पुं० [सं०] निरक्षर। मूर्ख। अनपढ़। जाहिल।

अक्षरेखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] धुरी की रेखा। वह सीधी रेखा जो किसी गोल पदार्थ के भीतर केंद्र से होती हुई दोनों पृष्ठों पर लंब रूप से गिरे।

अक्षरौटी–संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षरावर्त्तन, प्रा० अक्खरावट्टन] (१) वर्णमाला। (२) लेख। लिपि का ढंग। (३) अछरौटी। सितार पर गीत निकालने वा बोल बजाने की क्रिया।

अक्षवाट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जुआ खेलने का स्थान। जुआखाना। (२) अखाड़ा। कुश्ती लड़ने की जगह।

अक्षसूत्र–संज्ञा पुं० [सं०] रुद्राक्ष की माला।

अक्षसेन–संज्ञा पुं० [सं०] भारतवर्ष का एक प्राचीन राजा जिसका नाम मैत्र्युपनिषद् में आया है।

अक्षहीन–वि० [सं०] नेत्ररहित। अंधा।

अक्षांति–संज्ञा स्त्री० [सं०] ईर्ष्या। डाह। जलन। हसद।

अक्षांश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूगोल पर उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव से होती हुई एक रेखा मान कर उसके ३६० भाग किए गए हैं। इन ३६० अंशों पर से होती हुई ३६० रेखाएँ पूर्व पश्चिम भूमध्य रेखा के समानांतर मानी गई हैं जिनको अक्षांश कहते हैं। अक्षांश की गिनती विषुवत् वा भूमध्य रेखा से की जाती है। (२) वह कोण जहाँ पर क्षितिज का तल पृथ्वी के अक्ष से कटता है। (३) भूमध्य रेखा और किसी नियत स्थान के बीच में याम्योत्तर का पूर्ण झुकाव वा अंतर। (४) किसी नक्षत्र के क्रांतिवृत्त के उत्तर या दक्षिण की ओर का कोणांतर। (३) कोई स्थान जो अक्षांशों के समानांतर पर स्थित है।

अक्षारलवण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लवण जिसमें क्षार न हो। वह नमक जो मिट्टी से निकला हो।

विशेष—कोई कोई सेंधे और समुद्र लवण को अक्षारलवण मानते हैं।

(२) वह हविष्य भोजन जिसमें नमक न हो और जो अशौच और यज्ञ में काम आवे; जैसे दूध, घी, चावल, तिल, मूँग, जौ आदि।

अक्षि–संज्ञा स्त्री० [सं०] आँख। नेत्र।

अक्षिक–संज्ञा पुं० [सं०] आल का पेड़ ।

अक्षिगोलक–संज्ञा पुं० [सं०] आँख का ढेढ़न ।

अक्षितारा–संज्ञा स्त्री० [सं०] आँख की पुतली ।

अक्षिपटल–संज्ञा पुं० [सं०] आँख का परदा । आँख के कोए पर की झिल्ली ।

अक्षीण–वि० [सं०] (१) जो न घटे । जो कम न हो । (२) अविनाशी । नाशरहित ।

अक्षीव–वि० [सं०] जो मतवाला न हो । चैतन्य । धीर । शांत ।
संज्ञा पुं० (१) सहिजन का पेड़ । (२) समुद्री नमक ।

अक्षुण–वि० [सं०] (१) अभग्न । बिना टूटा हुआ । अच्छिन्न । समूचा । (२) अकुशल । अनाड़ी ।

अक्षेम–संज्ञा पुं० [सं०] अमंगल । अशुभ । अकुशल । बुराई ।

अक्षोट–संज्ञा पुं० [सं०] अख़रोट ।
पर्या०—कर्पराल । कंदराल । अक्षोण ।

अक्षोनि*–संज्ञा पुं० [सं० अक्षौहिणी] अक्षौहिणी । उ०—जुरे नृपति, अक्षोनि अठारह, भयो युद्ध अति भारी ।—सूर ।

अक्षोभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षोभ का अभाव ; अनुद्वेग । शांति । दृढ़ता । धीरता । स्थिरता । (२) हाथी बाँधने का खूँटा ।
वि० क्षोभरहित । चंचलतारहित । उद्वेगशून्य । स्थिर । गंभीर । शांत ।

अक्षौहिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूरी चतुरंगिनी सेना । सेना का एक परिमाण । सेना की एक नियमित संख्या । इसमें १,०९,३५० पैदल, ६५,६१० घोड़े, २१,८७० रथ और २१,८७० हाथी होते थे ।

अक्स–संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रतिबिंब । छाया । परछाईं ।
क्रि० प्र०—आना ।—डालना ।—पड़ना ।—लेना ।
(२) तसवीर । चित्र ।
क्रि० प्र०—उतारना ।—खींचना ।—पड़ना ।—डालना ।

अक्सर–क्रि० वि० दे० "अकसर" ।

अक्सी तसवीर–संज्ञा पुं० [फा०] फोटो । आलोकचित्र ।

अखंग*–वि० [सं० अखंड] न खँगनेवाला । न चुकनेवाला । न कम होनेवाला । अविनाशी ।

अखंड–वि० [सं०] [वि० अखंडनीय, अखंडित] (१) अटूट । जिसके टुकड़े न हों । अविच्छिन्न । सम्पूर्ण । समग्र । समूचा । पूरा । (२) लगातार । जिसका क्रम या सिलसिला न टूटे । जो बीच में न रुके । (३) बेरोक । निर्विघ्न ।
यौ०–अखंड ऐश्वर्य । अखंड कीर्त्ति । अखंड धार । अखंड पुण्य । अखंड प्रताप । अखंड यश । अखंड राज्य । अखंड वृष्टि ।

अखंडनीय–वि० [सं०] (१) जिसके टुकड़े न हो सकें । जिसका खंड न हो सके । जो काटा न जा सके । (२) जिसके विरुद्ध न कहा जा सके । पुष्ट । अकाट्य ।

अखंडल*–वि० [सं० अखण्ड] (१) अखंड । अटूट । अविच्छिन्न । (२) समूचा । संपूर्ण । पूरा । सारा । उ०—(क) मनु नखत मंडल में अखंडल पूर्ण चंद्र सुहाय ।—रघुराज । (ख) तवा सो तपत धरा मंडल अखंडल औ मारतंड मंडल हवा सो होत भोरतें ।—बेनी ।
संज्ञा [सं० अखण्डल] इंद्र ।

अखंडित–वि० [सं०] (१) जिसके टुकड़े न हुए हों । अविच्छिन्न । विभागरहित । (२) संपूर्ण । समूचा । परिपूर्ण । पूरा । उ०—वे हरि सकल ठौर के बासी । पूरन ब्रह्म अखंडित मंडित पंडित मुनिन विलासी ।—सूर ।
(३) जिसमें कोई रुकावट न हो । निर्विघ्न । बाधारहित । उ०—उसका व्रत अखंडित रहा ।
(४) लगातार । सिलसिलेवार । उ०—उमड़ी अँखियान अखंडित धार ।—कोई कवि ।

अख–संज्ञा पुं० [देश०] बाग । बगीचा ।–डिं० ।

अखगरिया–संज्ञा पुं० [फा०] वह घोड़ा मलते वक्त जिसके बदन से चिनगारी निकलती हो । ऐसा घोड़ा ऐबी समझा जाता है ।

अखड़ा†–संज्ञा पुं० [सं० आखात] ताल के बीच का गड्ढा जिसमें मछलियाँ पकड़ी जाती हैं । चँदवा ।

अखड़ैत–संज्ञा पुं० [हिं० अखड़ा+ऐत (प्रत्य०)] मल्ल । बलवान पुरुष ।—डिं० ।

अखती†–संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षयतृतीया—अखय तीज—अखती] अक्षय तृतीया ।

अखतीज–संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षयतृतीया] अक्षय तृतीया ।

अख़नी–संज्ञा स्त्री० [अ० यख़नी] मांस का रसा । शोरबा ।

अख़बार–संज्ञा पुं० [अ०] समाचारपत्र । संवादपत्र । सामयिक पत्र । ख़बर का काग़ज़ ।

अख़य*–वि० [सं० अक्षय, प्रा० अक्खय] जिसका क्षय न हो । न छीजनेवाला । अविनाशी । नित्य । चिरस्थायी ।

अखर*–संज्ञा पुं० दे० "अक्षर" ।

अखरना–क्रि० स० [सं० खर=तीव्र वा कटु] खलना । बुरा लगना । दुखदायी होना । कष्टकर होना ।

अखरा–वि० [सं० अ+हिं० खरा=सच्चा] जो खरा वा सच्चा न हो । झूठा । बनावटी । कृत्रिम । उ०—वारि विलासिनि ती के जपे अखरा अखरा नखरा अखरा के । पद्माकर ।
संज्ञा पुं० [सं० अक्षर] (१) अक्षर । हरफ़ । उ०—रसवंत कवित्तन को रस ज्यों अखरान के ऊपर ह्वै झलके ।–कोई कवि ।
(२) भूसी मिला हुआ जौ का आटा जिसको ग़रीब लोग खाते हैं ।

अख़रोट–संज्ञा पुं० [सं० अक्षोट] एक बहुत ऊँचा पेड़ जो हिमालय पर भूटान से लेकर काश्मीर और अफ़ग़ानिस्तान तक होता

है। खसिया की पहाड़ियां तथा और और स्थानों में भी यह लगाया जाता है। इसकी लकड़ी बहुत ही अच्छी, मज़बूत और भूरे रंग की होती है और उस पर बहुत सुंदर धारियाँ पड़ी होती हैं। इसकी मेज़, कुरसी, बंदूक के कुंदे, संदूक आदि बनते हैं। उसकी छाल रँगने और दवा के काम में भी आती है। इसका फल अंडाकार बहेड़े के समान होता है। सूखने पर इसका छिलका बहुत कड़ा हो जाता है जिसके भीतर से टेढ़ा मेढ़ा गूदा वा मीठी गरी निकलती है। गूदे में से तेल भी बहुत निकलता है। डंठल और पत्तियों को गाय बैल खाते हैं। अख़रोट बहुत गर्म होता है।

अख़रोट जंगली–संज्ञा पुं० जायफल।

अखर्ब–वि० [सं०] बड़ा। लंबा।

अखसत–संज्ञा पुं० [सं० अक्षत] चावल।—डिं०।

अखा†–संज्ञा पुं० दे० "आखा"।

अखाड़ा–संज्ञा पुं० [सं० अक्षवाट, प्रा० अक्खआडो] [संज्ञा अखड़ैत] (१) वह स्थान जो मल्लयुद्ध के लिये बना हो। कुश्ती लड़ने वा कसरत करने के लिये बनाई हुई चौखूँटी जगह, जहाँ की मिट्टी खोदकर मुलायम करदी जाती है।
(२) साधुओं की सांप्रदायिक मंडली। जमायत। जैसे निरंजनी वा नारायणी अखाड़ा।
(३) साधुओं के रहने का स्थान। संतों का अड्डा।
(४) तमाशा दिखानेवालों और गाने बजानेवालों की मंडली। जमायत। जमावड़ा। दल। उ०—आज पटेबाज़ों के दो अखाड़े निकले। (५) सभा। दरबार। मजलिस। रंगभूमि। रंगशाला। नृत्यशाला। अखाड़ा। परियों का अखाड़ा। (६) आँगन। मैदान।

अखात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विना खुदाया हुआ स्वाभाविक जलाशय। ताल। झील। (२) खाड़ी।

अखाद्य–वि० [सं०] न खाने योग्य। अभक्ष्य।

अखानी–संज्ञा स्त्री० [सं० आखनन=खोदना] एक टेढ़ी छुरी वा लकड़ी जिसमें दँवरी वा गल्ला पीटने के समय खेत से कट कर आए हुए डंठलों को बीच में करते जाते हैं।

अखार–संज्ञा पुं० [सं० अक्ष, प्रा० अक्ख=धुरी+आर (प्रत्य०)] मिट्टी का छोटा सा लोंदा जिसे कुम्हार लोग चाक के बीच में रख देते हैं और जिस पर थोथा रखकर नरिया उतारते हैं।

अखारा–संज्ञा पुं० दे० "अखाड़ा"।

अखिल–वि० [सं०] (१) संपूर्ण। समग्र। बिलकुल। पूरा। सब। (२) सर्वांग पूर्ण। अखंड। उ०—तुमहीं ब्रह्म अखिल अविनाशी भक्तन सदा सहाय।—सूर।

अखीन*–वि० [सं० अक्षीण, प्रा० अक्खीण] न छीजनेवाला। न घटनेवाला। चिरस्थायी। स्थिर। नित्य। अविनाशी। उ०—खममहि छोड़ि छेम ह्वै रहई। होय अखीन अखय पद गहई।—कबीर।

अख़ीर–संज्ञा पुं० [अ०] (१) अंत। छोर। (२) समाप्ति।

अखूट–वि० [सं० अ०=नहीं+खंडन=तोड़ना, खंडित करना] अखंड। जो न घटे वा चुके। अक्षय। बहुत। अधिक। उ०—(क) नैना अतिही लोभ भरे। संगहि संग रहत वे जहँ तहँ बैठत चलत खरे। काहू की परतीति न मानत जानत सब दिन चोर। लूटत रूप अखूट दाम को श्याम वश्य भो मोर। बड़े भाग मानी यह जानी इनते कृपिण न और।—सूर।
(ख) झूठ न कहिये साँच को, साँच न कहिए झूठ। साहब तो मानै नहीं, लागै पाप अखूट।—दादू।

अखेट*–संज्ञा पुं० दे० "आखेट"।

अखेटक–संज्ञा पुं० दे० "आखेटक"।

अखेद–संज्ञा पुं० [सं०] दुःख का अभाव। प्रसन्नता। निर्द्वंद्वता। वि० दुःखरहित। प्रसन्न। हर्षित।

अखेलत* –[सं० अ+केलि] बिना खेलते हुए अर्थात् (१) अचंचल। अलोल। भारी। (२) आलस्यभरा। उनींदा। उ०—भागी रस भीजे भाग भायनि भुजन भरे भावते सुभाइ उपभोग रस मोइगे। खेलत हीं खेलत अखेलत हीं आँखिन सों खिन खिन खीन ह्वै खरे ही खिन खोइगे।—देव।

अखै*–वि० [सं० अक्षय] अक्षय। अविनाशी।

अखैनी–संज्ञा स्त्री [सं० आखनन=खोदना] चार पाँच हाथ लंबी बाँस की एक लग्गी जिसकी एक छोर पर एक टेढ़ी छोटी लकड़ी चोंच की तरह बँधी होती है। खलिहान में जब अनाज कटकर आता है तब इसीसे उलट फेरकर उसे सुखाते हैं।

अखैबर–संज्ञा पुं० [सं० अक्षयवट] अक्षयवट।

अखोर*–वि० [फा० ख्वा] (१) अच्छा। भद्र। सज्जन। (२) सुन्दर। स्वरूपवान। (३) निर्दोष। बुराई से बचा हुआ। वि० [फा० आख़ोर] आखोर। निकम्मा। तुच्छ। बुरा। सड़ा गला।
संज्ञा पुं० (१) कूड़ा करकट। निकम्मी चीज़। दरिद्र वस्तु। उ०—कहाँ का अखोर बाज़ार से उठा लाए। (२) ख़राब घास। मुरझाई घास। बुरा चारा। बिचाली।
उ०—खाय अख़ोर भूख नित टारी। आठ गाँव की लगी पिछारी।—लल्लू०।

अखोला–संज्ञा पुं० दे० "अकोला"।

अखोह–संज्ञा पुं० [सं० क्षोभ=असमानता] ऊँची नीची भूमि। ऊभड़ खाबड़ पृथ्वी। असम भूमि।

अखौट } संज्ञा पुं० [सं० अक्ष=धुरा; पा० अक्ख] (१) जाँते
अखौटा } वा चक्की के बीच की खूँटी जिस पर ऊपर का पाट घूमता है। जाँते की किल्ली। (२) लकड़ी वा लोहे का। डंडा जिस पर गड़ारी घूमती है।

अख्खाह !– अव्य० [सं० अहह] उद्वेग वा आश्चर्यसूचक शब्द। जब एक व्यक्ति किसी से सहसा मिलता है अथवा उसे कोई स्वभावविरुद्ध कार्य करते देखता है तब इस शब्द का प्रयोग करता है।

उ०—(क) अल्लाह! आइए बैठिए! (ख) अल्लाह आप भी इसमें लगे हुए हैं!

विशेष–वास्तव में यह फ़ारसी वालों का किया हुआ "अहा" शब्द का रूपांतर है।

अख्ज–संज्ञा पुं० [अ०] लेना। ग्रहण।

क्रि० प्र०—करना=(१) लेना। ग्रहण करना। (२) निकालना। सारांश निकालना।

अख्तावर–संज्ञा पुं० [फा० आख्ता] वह घोड़ा जिसे जन्म से अंडकोश की कौड़ी न हो। ऐसा घोड़ा ऐबी समझा जाता है।

अख्तियार–संज्ञा पुं० दे० "इख्तियार"।

अख्यात–वि० [सं०] अप्रसिद्ध। अज्ञात। जिसे कोई जानता न हो। अविदित।

अख्यान*–संज्ञा पुं० दे० "आख्यान"।

अख्यायिका*–संज्ञा स्त्री० दे० "आख्यायिका"।

अगंड–संज्ञा पुं० [सं०] बिना हाथ पैर का कबंध। धड़ जिसका हाथ पैर कट गया हो।

अग–वि० [सं०] (१) न चलनेवाला। अचर। स्थावर। (२) टेढ़ा चलनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) पेड़। वृक्ष। (२) पर्वत। पहाड़। (३) सूर्य। (४) साँप।

*वि० [सं० अज्ञ] मूढ़। अनजान। अनाड़ी।

*संज्ञा पुं० [सं० अङ्ग] अंग। शरीर।—डिं०।

† संज्ञा पुं० [सं० अङ्गारी] ऊख के सिरे पर का पतला भाग जिसमें गाँठें बहुत पास पास होती हैं और रस फीका होता है। अगौरा। अगोरी।

अगई–संज्ञा पुं० [?] चलता की जाति का एक पेड़ जो अवध, बंगाल, मध्यदेश और मद्रास में बहुतायत से होता है। इसकी लकड़ी भीतर सफ़ेदी लिए हुए लाल होती है और जहाज़ों और मकानों में लगती है। इसका कोयला भी बहुत अच्छा होता है। इसके पत्ते दो दो फुट लंबे होते हैं और पत्तल का काम भी देते हैं। इसकी कली और कच्चे फलों की तरकारी बनती है।

अगज–वि० [सं०] पर्वत से उत्पन्न होनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) शिलाजीत। (२) हाथी।

अगट–संज्ञा पुं० [देश०] चिक वा मांस बेचनेवाले की दूकान।

अगटना–क्रि० अ० [सं० एकत्र, हिं० इकट्ठा] इकट्ठा होना। जमा होना।

अगड़*–संज्ञा पुं० [हिं० अकड़] अकड़। ऐंठ। दर्प।

उ०—सोभमान जग पर किए, सरजा सिवा खुमान। सादिन सों बिनु डर अगड़, बिनु गुमान को दान।—भूषण।

अगड़धत्ता–वि० [अग्रोद्धत=बढ़ा चढ़ा] (१) लंबा तड़ंगा। ऊँचा। (२) श्रेष्ठ। बढ़ा चढ़ा।

उ०—एक पेड़ अगड़धत्ता। जिसमें जड़ न पत्ता। अमरबेल।
—पहेली।

अगड़बगड़–वि० [अनु०] अंड बंड। बे सिर पैर का। ऊल जलूल। क्रमविहीन।

संज्ञा पुं० (१) अंड बंड बात। बे सिर पैर की बात। प्रलाप। (२) अंड बंड काम। व्यर्थ का कार्य। अनुपयोगी कार्य। उ०–वह दूकान पर नहीं बैठता, दिन रात अगड़बगड़ किया करता है।

अगड़ा†–संज्ञा पुं० [देश०] ज्वार बाजरे आदि अनाजों की बाल जिसमें से दाना झाड़ लिया गया हो। खुखड़ी। अखरा।

संज्ञा पुं० [सं०] बुरा गण। पिङ्गल वा छंद शास्त्र में तीन तीन अक्षरों के जो आठ गण माने गए हैं उनमें से चार अर्थात्–जगण, रगण, सगण और तगण अशुभ माने गए हैं और अगण कहलाते हैं। इनको कविता के आदि में रखना बुरा समझा जाता है। पर यह गणागण का दोष मात्रिक छंदों ही में माना जाता है वर्णवृत्तों में नहीं।

अगणनीय–वि० [सं०] (१) न गिनने योग्य। सामान्य। (२) अनगिनत। असंख्य। बेशुमार।

अगणित–वि० [सं०] जिसकी गणना न हो। अनगिनत। असंख्य। बेशुमार। बहुत। बेहिसाब। अनेक।

अगण्य–वि० [सं०] (१) न गिनने योग्य। सामान्य। तुच्छ। असंख्य। बेशुमार।

यौ०—अगण्य पुण्य।

अगत–क्रि० [सं० अग्रतः, प्रा० अग्गतो] 'आगे चलो'। महावत लोग हाथी को आगे बढ़ाने के लिये 'अगत' 'अगत' कहते हैं।

*† (२) दे० "अगति"।

अगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बुरी गति। दुर्गति। दुर्दशा। ख़राबी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) गति का उलटा। मृत्यु के पीछे की बुरी दशा। मोक्ष की अप्राप्ति। बंधन। नरक। मरने के पीछे शव की दाह आदि क्रिया का यथाविधि न होना। उ०—(क) काल, कर्म, गति, अगति, जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे।—तुलसी। (ख) कहो तो मारि संहारि निशाचर रावण करौं अगति को।
—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) स्थिर वा अचल पदार्थ। केशवदास के अनुसार २८ वर्ण्य विषय हैं। इनमें से जो स्थिर वा अचल हों उनकी 'अगति' संज्ञा दी है। यथा–अगति सिंधु, गिरि, ताल, तरु, बापी, कूप बखानि।—केशव।

उ०—कौलौं राखौं थिर वपु, बापी कूप सर सम, हरि बिनु कीन्हें बहु बासर व्यतीत मैं।—केशव।

अगतिक–वि० [सं०] जिसकी कहीं गति वा पैठ न हो। जिसे कहीं ठिकाना न हो। बेठिकाने। अशरण। अनाथ। निराश्रय। उ०—अगतिक की गति दीनदयाल।—कोई कवि।

अगती–वि० [सं० अगति] जो गति वा मोक्ष का अधिकारी न हो। बुरी गतिवाला। पापी। कुमार्गी। दुराचारी। कुकर्मी।

संज्ञा पुं० पापी मनुष्य। कुकर्मी मनुष्य। कुमार्गी आदमी। पातकी व्यक्ति। उ०—(क) जय जय जय जय माधव बेनी। जगहित प्रगट करी करुणामय अगतिन को गति देनी।–सूर। (ख) देखि गति गोपिका की भूलि जाती निज गति अगतिन कैसे धौं परम गति देत हैं।—केशव।

संज्ञा स्त्री० चकौंड़। दादमर्दन। चक्रमर्दक। दद्रुघ्न।

वि० स्त्री० [सं० अग्रतः] अगाऊ। पेशगी।

क्रि० वि० आगे से। पहिले से।

अगत्तर†–वि० [सं० अग्रतर] आनेवाला।

अगत्ता–क्रि० वि० [सं०] (१) आगे से। भविष्य में। (२) आगे चलकर। पीछे से। अंत में। (३) अकस्मात्।

अगद–वि० [सं०] नीरोग। चंगा।

संज्ञा पुं० औषधि। दवा।

यौ०—अगदंकार=वैद्य।

अगदतंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेद के आठ भागों में से एक जिसमें सर्प, बिच्छू आदि के विष से पीड़ित मनुष्यों की चिकित्सा का विधान हो।

अगन–संज्ञा स्त्री० (१) दे० "अग्नि"। (२) दे० "अगण"।

अगनत*–वि० दे० "अगणित"।

अगनित*–वि० दे० "अगणित"।

अगनी†–संज्ञा स्त्री० दे० "अग्नि"।

संज्ञा स्त्री० [सं० अग्र] घोड़े के माथे पर की भौंरी वा घूमे हुए बाल।

अगनू*–संज्ञा स्त्री० [सं० आग्नेय] अग्नि कोण। उ०—तीज एकादसि अगनू मारी। चौथ दुआदस नैऋत बारी।—जायसी।

अगनेउ*–संज्ञा पुं० [सं० आग्नेय] आग्नेय दिशा। अग्नि कोण। उ०—छठयें नैऋत दक्खिन लसें। बसे जाय अगनेउ सो अठें।—जायसी।

अगनेत*–संज्ञा पुं० [सं० आग्नेय] आग्नेय दिशा। अग्नि कोण। उ०—भौम काल पच्छिम बुध नैरिता। दक्खिन गुरु शुक्र अगनेता।—जायसी।

अगम–वि० [सं० अगम्य] (१) न जानने योग्य। जहाँ कोई जा न सके। दुर्गम। पहुँच के बाहर। अवघट। गहन। उ०—(क) यह तो घर है प्रेम का, मारग अगम अगाध।—कबीर। (ख) है आगे परवत की पाटी। विषम पहार अगम सुठि घाटी।—जायसी। (ग) अब अपने यदुकुल समेत लै दूरि सिधारे जीति जवन। अगम सुपंथ दूरिदक्षिण दिशि तहँ सुनियत सखि सिन्धु लवन।—सूर।

(२) विकट। कठिन। मुश्किल। उ०—एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जात सो नाहीं।—तुलसी।

(३) दुर्लभ। अलभ्य। न मिलने योग्य। उ०—सुनु मुनीस वर दरसन तोरे। अगम न कछु प्रतीति मन मोरे।—तुलसी।

(४) अपार। बहुत। अत्यंत। उ०—समुझ अब जानकी मन माहि। बड़ो भाग्य गुण अगम दशानन शिव बर दीनो ताहि।—सूर।

(५) न जानने योग्य। बुद्धि के परे। दुर्बोध।

(६) अथाह। बहुत गहरा। उ०—यहाँ पर नदी में अगम जल है।

* (७) संज्ञा पुं० दे० "आगम"।

अगमन*–क्रि० वि० [सं० अग्रवान्] आगे। पहिले। प्रथम। आगे से। पहिले से। उ०—(क) नाम न जानै ग्राम को, भूला मारग जाय। काल पड़ैगा काँटवा, अगमन कस न खोराय।—कबीर। (ख) तब अगमन ह्वै गोरा मिला। तुइ राजा लै चल बादला।—जायसी। (ग) पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूलि। ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया सी फूलि।—बिहारी। (घ) निशिचर सलभ कृसानु राम सर उड़ि उड़ि परत जरत जड़ जैहैं। रावन करि परिवार अगमनो जमपुर जात बहुत सकुचैहैं।—तुलसी। (च) पौढ़े हुत पर्यंक परम रुचि रुक्मिणि चमर डुलावति तीर। उठि अकुलाइ अगमने लीने मिलत नैन भरि आये नीर।—सूर। (छ) पिय आगम ते अगमनहिं, करि बैठी तिय मान।—पद्माकर।

अगमनीया–वि० स्त्री० [सं०] न गमन करने योग्य (स्त्री)। जिस (स्त्री) के साथ संभोग करने का निषेध हो।

अगमानी–संज्ञा पुं० [सं० अग्रगामी] (१) अगुआ। नायक। सरदार। उ०—है यह तेरे पुत्र को, रन अगमानी भूप। नाम जासु दुष्यंत है, कीरति जासु अनूप।—लक्ष्मणसिंह। (२) दे० "अगवानी"।

अगमासी–संज्ञा स्त्री० दे० "अगवाँसी"।

अगम्य–वि० [सं०] (१) न जाने योग्य। जहाँ कोई न जा सके। पहुँच के बाहर। अनघट। गहन। (२) विकट। कठिन। मुश्किल। (३) अपार। बहुत। अत्यंत। (४) जिसमें

बुद्धि न पहुँचे। बुद्धि के बाहर। न जानने योग्य। अज्ञेय। दुर्बोध। (५) अथाह। बहुत गहरा।

अगम्या–वि० स्त्री० [सं०] न गमन करने योग्य (स्त्री)। मैथुन के अयोग्य (स्त्री)।

संज्ञा स्त्री० न गमन करने योग्य स्त्री। वह स्त्री जिसके साथ संभोग करना निषिद्ध है। जैसे, गुरुपत्नी, राजपत्नी, सौतेली माँ, माँ, कन्या, पतोहू, सास, गर्भवती स्त्री, बहिन, सती, सगे भाई की स्त्री, भांजी, भतीजी, चेली, शिष्य की स्त्री, भांजे की स्त्री, भतीजे की स्त्री, इत्यादि।

अगम्यागमन–संज्ञा पुं० [सं०] अगम्या स्त्री से सहवास। उस स्त्री के साथ मैथुन जिसके साथ संभोग का निषेध है।

अगर–संज्ञा पुं० [सं० अगरू] एक पेड़ जिसकी लकड़ी सुगंधित होती है। यह पेड़ भूटान, आसाम, पूर्वी बंगाल, खासिया, और मर्तबान की पहाड़ियों में होता है। इसकी उँचाई ६० से १०० फुट और घेरा ५ से ८ फुट तक होता है। जब यह बीस वर्ष का होता है तब इसकी लकड़ी अगर के लिये काटी जाती है। पर कोई कोई कहते हैं कि ५० या ६० वर्ष के पहिले इसकी लकड़ी नहीं पकती। पहिले तो इसकी लकड़ी बहुत साधारण पीले रङ्ग की और गंधरहित होती है। पर कुछ दिनों में धड़ और शाखाओं में जगह जगह एक प्रकार का रस आजाता है जिसके कारण उन स्थानों की लकड़ियाँ भारी हो जाती हैं। इन स्थानों से लकड़ियाँ काट ली जाती हैं और अगर के नाम से बिकती हैं। यह रस जितना अधिक होता है उतनी ही लकड़ी उत्तम और भारी होती है। पर ऊपर से देखने से यह नहीं जाना जा सकता कि किस पेड़ में अच्छी लकड़ी निकलेगी। बिना सारा पेड़ काटे इसका पता नहीं लग सकता। एक अच्छे पेड़ में ३००) तक का अगर निकल सकता है। पेड़ का हलका भाग जिसमें यह रस वा गोंद कम होता है 'धूम' कहलाता है और सस्ता अर्थात् १), २) रुपये सेर बिकता है। पर असली काली लकड़ी जो गोंद अधिक होने के कारण भारी होती है 'गरकी' कहलाती है और १६) या २०) सेर बिकती है। यह पानी में डूब जाती है। लकड़ी का बुरादा धूप, दसांग आदि में पड़ता है। बंबई में जलाने के लिये इसकी अगरबत्ती बहुत बनती है। सिलहट में अगर का इत्र बहुत बनता है। चोवा नामक सुगंध इसीसे बनता है।

पर्या०—ऊद।

अव्य० [फा०] यदि। जो।

मुहा०—अगर मगर करना=(१) हुज्जत करना। तर्क करना। (२) आगा पीछा करना।

अगरई–वि० [सं० अगरू] श्यामता लिए हुए सुनहला संदली रंग का।

अगरचे–अव्य० [फा०] गोकि। यद्यपि। हरचंद। बावजूदे कि।

अगरना*–क्रि० अ० [सं० अग्र] आगे होना। आगे जाना। अगाड़ी चलना। आगे आगे भागना। बढ़ना। उ०—प्यारी अगरि चली हरि धाये। पकरि न पावत पैर थकाए।—गिरधरदास।

अगरपार–संज्ञा पुं० [सं० अग्र] क्षत्रियों की एक जाति। उ०—क्षत्री औ बचवान बघेली। अगरपार चौहान चँदेली।—जायसी।

अगरबत्ती–संज्ञा स्त्री० [सं० अगरूवर्तिका] सुगंध के निमित्त जलाने की पतली सींक वा बत्ती जिसमें अगर तथा कुछ और सुगंधित वस्तु पीसकर लपेटते हैं। इसका व्यापार मद्रास और बंबई में बहुत होता है।

अगरवाला–संज्ञा पुं० [हि० अगरोहावाला अथवा आगरेवाला] [स्त्री० अगरवालिन] वैश्यों की एक जाति जिसका आदि निवास दिल्ली से पश्चिम अगरोहा नामक स्थान कहा जाता है।

अगरसार–संज्ञा पुं० दे० "अगर"।

अगरी–संज्ञा स्त्री० [सं० अगर्रा] एक प्रकार की घास।

संज्ञा स्त्री० [सं० अर्गल] लकड़ी वा लोहे का छोटा डंडा जो किवाड़ के पल्ले में कोंढ़ा लगाकर डाला रहता है। इसके इधर उधर खींचने से किवाड़ खुलते और बंद होते हैं। किल्ली। ब्योंड़ा।

संज्ञा स्त्री० [सं० अग्र] फूस की छाजन का एक ढंग जिसमें जड़ ढाल वा उतार की ओर रखते हैं।

*संज्ञा स्त्री० [सं० अनर्गल] (१) अंडबंड बात। बुरी बात। अनुचित बात। (२) अगराई हुई बात (अगराना=स्नेह से धृष्टता का व्यवहार करना)। उ०—गेंडुरि दइ फटकारि कै हरि करत हैं लँगरी। नित प्रति ऐसइ ढंग करै हमसों कहै अगरी।—सूर।

अगरू–संज्ञा पुं० [सं०] अगर लकड़ी। ऊद।

अगरो*–वि० [सं० अग्र] (१) अगला। प्रथम। (२) बढ़ कर। श्रेष्ठ। उत्तम। उ०—सरसनेह ग्वारि मन अटक्यो छांड़हु दिए परत नहिं पगरो। परम मगन ह्वै रही चितै मुख सबते भाग यही को अगरो।—सूर। (३) अधिक। ज्यादा। उ०—योजन बीस एक अरु अगरो डेरा इहि अनुमान। ब्रजवासी नर नारि अंति नहिं मानो सिन्धु समान।—सूर।

अगर्व–वि० [सं०] गर्व वा अभिमान रहित। निरभिमान। सीधा सादा।

अगल बगल–क्रि० वि० [फा०] इधर उधर। दोनों ओर। आस पास। दोनों पार्श्व में। दोनों किनारे।

अगलहिया– संज्ञा स्त्री० [देश०] एक चिड़िया।

अगला–वि० [सं० अग्र] [स्त्री० अगली] (१) आगे का। अग्र भाग का। सामने का। अगाड़ी का। पिछला शब्द का उलटा। उ०—घोड़े का अगला पैर सफेद है।

(२) पहिले का। पूर्ववर्त्ती। प्रथम। (३) विगत समय का। प्राचीन। पुराना।

यौ०—अगले समय। अगले लोग।

(४) आगामी। आनेवाला। भविष्य। उ०—मैं अगले साल वहाँ जाऊँगा।

(५) अपर। दूसरा। एक के बाद का। उ०—उसमे अगला घर हमारा है।

संज्ञा पुं० (१) अगुआ। अग्रसर। अग्रगण्य। प्रधान। उ०—वे सब बात में अगले बनते हैं। (२) चतुर आदमी। चालाक आदमी। चुस्त आदमी। उ०—अगला अपना काम कर गया हम लोग देखते ही रह गए।

(३) पूर्वज। पुरखा।

विशेष—इसका प्रयोग बहुवचन ही में होता है। उ०—जो अगले करते हैं उसे करना चाहिए।

(४) स्त्रियाँ अपने पति को भी इस नाम से सूचित करती हैं।

(५) करनफूल के आगे लगी हुई जंज़ीर।

(६) गाँव और उसकी हद के बीच में पड़नेवाले खेतों का समूह। माँझा।

अगवाई—संज्ञा स्त्री० [सं० अग्र=आगे+आयान=आना] अगवानी। अभ्यर्थना। आगे से जाकर लेना।

संज्ञा पुं० [सं० अग्रगामी] आगे चलनेवाला। अगुआ। अग्रसर। उ०—इसमाइलराजेंद्र गुसाईं। सफ़दर जंग भए अगवाईं।—सूदन।

अगवाड़ा—संज्ञा पुं० [सं० अग्रवाट् अथवा अग्र+वार (प्रत्यय)] घर के आगे का भाग। घर के द्वार के सामने की भूमि। पिछवाड़ा शब्द का उलटा।

अगवान—संज्ञा पुं० [सं० अग्र+वान] (१) अगवानी करनेवाला। अभ्यर्थना करनेवाला। आगे से जाकर लेनेवाला। (२) विवाह में कन्या पक्ष के वे लोग जो बरात को आगे से जाकर लेते हैं। उ०—(क) अगवानन्ह जन दीख बराता। उर आनंद पुलक भर गाता।—तुलसी। (ख) सहित बरात राव सनमाना। आयसु माँगि फिरे अगवाना।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० अग्र+यान] (१) अगवानी। अभ्यर्थना। आगे से जाकर लेना। (२) विवाह में कन्या पक्ष के लोगों का बरात की अभ्यर्थना के लिये जाना। उ०—महाराज जयसिंह जय में सिंह के समान निरयान समय जासु गंग लीन्हीं अगवान।—रघुराज।

क्रि० प्र०—करना।—लेना।—होना।

अगवानी—संज्ञा स्त्री० [सं० अग्र+यान] (१) किसी अपने यहाँ आते हुए अतिथि से निकट पहुँचने पर सादर मिलना। आगे बढ़कर लेना। अभ्यर्थना। पेशवाई। (२) विवाह में बरात जब लड़की वाले के घर के पास आती है तब कन्या-पक्ष के कुछ लोग सज धजकर बाजे गाजे के साथ आगे जाकर उससे मिलते हैं। इसी को अगवानी कहते हैं। उ०—अगवानी तो आइया, ज्ञान विचार विवेक। पीछे हरि भी आयँगे, सारी सौंज समेक।—कबीर।

* संज्ञा पुं० [सं० अग्रगामी] अगुआ। अग्रसर। पेशवा। उ०—सखी री पुर वनिता हम जानी। याही तें अनुमान होत है षटपद से अगवानी।—सूर।

अगवार†—संज्ञा पुं० [सं० अग्र=आगे+वर=वारना] (१) खलिहान में अन्न का वह भाग जो राशि से निकालकर हलवाहे आदि के लिये अलग कर दिया जाता है।

(२) वह हलका अन्न जो ओसाने में भूसे के साथ चला जाता है और जिसे ग़रीब लोग ले जाते हैं। (३) गाँव का चमार।

† (४) दे० "अगवाड़ा"।

अगवाँसी—संज्ञा स्त्री० [सं० अग्रवासी] (१) हल की वह लकड़ी जिसमें फाल लगा रहता है। (२) मज़दूरी के स्थान पर हलवाहे का वह भाग जो वह पैदावार में से पाता है।

अगसारी—क्रि० वि० [सं० अग्रसर] आगे। उ०—हस्ति को जूह आय अगसारी। हनुमत तबै लँगूर पसारी।—जायसी।

अगस्त—संज्ञा पुं० [अं० आगस्ट] (१) अँगरेज़ी का आठवाँ महीना जो भादों में पड़ता है।

(२) दे० "अगस्त्य"।

अगस्त्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम जिनके पिता मित्रावरुण थे। ऋग्वेद में लिखा है कि मित्रावरुण ने उर्वशी को देख और कामपीड़ित हो वीर्य्यपात किया जिससे अगस्त्य उत्पन्न हुए। सायणाचार्य्य ने अपने भाष्य में लिखा है कि इनकी उत्पत्ति एक घड़े में हुई इसीसे इन्हें मैत्रावरुणि, और्वशेय, कुंभसंभव, घटोद्भव और कुंभज कहते हैं। पुराणों में इनके अगस्त्य नाम पड़ने की कथा यह लिखी है कि इन्होंने बढ़ते हुए विंध्याचल पर्वत को लिटा दिया। इनका एक नाम विंध्यकूट भी है। इनके समुद्र को चुल्लू में भरकर पी जाने की बात भी पुराणों में लिखी है जिससे ये समुद्रचुलुक और पीताब्धि भी कहलाते हैं। कहीं कहीं पुराणों में इन्हें पुलस्त्य का पुत्र भी लिखा है। ऋग्वेद में इनकी कई ऋचाएँ हैं। (२) एक तारे का नाम जो भादों में सिंह के सूर्य्य के १७ अंश पर उदय होता है। रंग इसका कुछ पीलापन लिए हुए सफ़ेद होता है। इसका उदय दक्षिण की ओर होता है इससे बहुत उत्तर के निवासियों को यह नहीं दिखाई देता। आकाश के स्थिर तारों में लुब्धक को छोड़कर दूसरा कोई इस जैसा नहीं चमचमाता। यह लुब्धक से ३५° दक्षिण है।

(३) एक पेड़ जो ऊँचा और घेरेदार होता है। इसकी पत्तियाँ सिरिस के समान होती हैं। फूल इसके टेढ़े टेढ़े अर्द्ध चंद्राकार लाल और सफ़ेद होते हैं। इसके छिलके का काढ़ा शीतला और ज्वर में दिया जाता है। पत्तियाँ इसकी रेचक हैं। पत्ती

और फूल के रस की नास लेने से बिनास फूटना, सिरदर्द और ज्वर अच्छा होता है। आँखों में फूलों का रस डालने से ज्योति बढ़ती है। फूलों की तरकारी और अचार भी होता है।

अगस्त्यकूट-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण मद्रास प्रांत में एक पर्वत जिससे ताम्रपर्णी नदी निकली है।

अगस्त्यहर्र-संज्ञा पुं० [सं० अगस्त्यहरीतकी] कई द्रव्यों के संयोग से जिनमें हर्र मुख्य है बनी हुई एक आयुर्वेदिक ओषधि जो खाँसी, हिचकी, संग्रहणी आदि रोगों में दी जाती है।

अगह*-वि० [सं० अग्राह्य] (१) न पकड़ने योग्य। न हाथ में आने लायक। चंचल। उ०—माधव जू नेकु हटकौ गाय। निसि बासर यह भरमति इत उत अगह गही नहिं जाय। —सूर।

(२) जो वर्णन और चिंतन के बाहर हो। उ०—कहैं गाधि-नंदन मुदित रघुनंदन सों नृपगति अगह गिरा न जाति गही है।—तुलसी।

(३) न धारण करने योग्य। कठिन। मुश्किल। उ०—ऊधो जो तुम हमही बतायो। सो हम निपट कठिनई करि करि या मन को समुझायो। योग याचना जबहि अगह गहि तबहीं सो है ल्यायो।—सूर।

अगहन-संज्ञा पुं० [सं० अग्रहायण] [वि० अगहनिया, अगहनी] प्राचीन वैदिक क्रम के अनुसार वर्ष का अगला वा पहिला महीना। गुजरात आदि में यह क्रम अभी तक है। पर उत्तरीय भारत में गणना चैत्र मास से आरंभ होती है। इस कारण यह वर्ष का नवाँ महीना पड़ता है। मार्गशीर्ष। मगसिर।

अगहनिया-वि० [सं० अग्रहायणी] अगहन में होनेवाला धान।

अगहनी-वि० [सं० अग्रहायणी] अगहन में तैयार होनेवाला।

संज्ञा स्त्री० वह फसल जो अगहन में काटी जाती है। जैसे, जड़हन धान, उरद इत्यादि।

अगहर*†-क्रि० वि० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+हिं० हर (प्रत्य०)] (१) आगे। (२) पहिले। प्रथम। उ०—राजत दौवा रायमनि, बाईं तरफ़ अडोल। डमगत अगहर जूझ को, ताकत प्रति भट गोल।—लाल।

अगहाट-संज्ञा पुं० [सं० अग्राह्य] वह भूमि जो किसी के अधिकार में चिर काल के लिये हो और जिसे वह अलग न कर सके।

अगहुँड़-वि० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+हिं० हुँड (प्रत्य०)] अगुआ। आगे चलनेवाला। उ०—बिलोके दूरिसें दोउ बीर।.... मन अगहुँड़ तन पुलकि सिथिल भयो नलिन नयन भरे नीर। —तुलसी।

क्रि० वि० आगे। आगे की ओर। पिछहुँड़ शब्द का उलटा। उ०—कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुँड़ परै न पाँऊ।—तुलसी।

अगाउनी*-क्रि० वि० [सं० अग्र] आगे। उ०—मुरली मृदंगन अगाउनी भरत स्वर भाक्ती सुजागरे भरी है गुन आगरे।—देव। दे० "अगौनी"।

अगाऊ-वि० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+हिं० आऊ (प्रत्य०)] (१) अग्रिम। पेशगी। उ०—उसको कुछ अगाऊ दाम दे दो। * (२) अगला। आगे का। उ०—धरि वाराह रूप रिपु मारयो लै छिति दंत अगाऊ।—सूर।

क्रि० वि०*-आगे। अगाड़ी से। आगे से। पहिले। प्रथम। उ०—(क) कबिरा करनी आपनी, कबहुँ न निष्फल जाय। सात समुद्र आड़ा परै, मिलै अगाऊ आय।—कबीर। (ख) साखि सखा सब सबल सुदामा देखु धौं बूझि बोलि बलदाऊ। यह तो मोहिं खिझाई कोटि विधि उलटि विवाहन आइ अगाऊ।—तुलसी। (ग) कौन कौन को उत्तर दीजै तातें भग्यों अगाऊँ।—सूर। (घ) उग्रसेन भी सब यदुवंशियों समेत गाजे बाजे से अगाऊ जाय मिले।—लल्लू०।

अगाड़-संज्ञा पुं० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+हिं० आड़ (प्रत्य०)] (१) हुक्के की टोंटी वा कुहनी में लगाने की सीधी नली जिसे मुँह में रखकर धुआँ खींचते हैं। निगाली। (२) खेत सींचने की ढेंकली की छोर पर लगी हुई पतली लकड़ी।

अगाड़ा†-संज्ञा पुं० [हिं० अगाड़] (१) कछार। तरी।

संज्ञा पुं० [सं० अग्र] यात्री का वह सामान जो पहले से आगे के पड़ाव पर भेज दिया जाता है। पेशख़ेमा।

अगाड़ी-क्रि० वि० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+हिं० आड़ी (प्रत्य०)] (१) आगे। उ०—इस घर के अगाड़ी एक चौराहा मिलेगा। (२) भविष्य में। उ०—अभी से इसका ध्यान रक्खो नहीं तो अगाड़ी मुश्किल पड़ेगी। (३) पूर्व। पहिले। उ०—अगाड़ी के लोग बड़े सीधे सादे होते थे। (४) सामने। समक्ष। उ०—उनके अगाड़ी यह बात न कहना।

संज्ञा पुं० (१) किसी वस्तु के आगे का भाग। (२) अँगरखे वा कुरते के सामने का भाग। (३) घोड़े के गराँव में बँधी हुई दो रस्सियाँ जो इधर उधर दो खूँटों से बँधी रहती हैं। (४) सेना का पहिला धावा। हल्ला। उ०—फ़ौज की अगाड़ी आँधी की पिछाड़ी।

अगाडू-क्रि० वि० दे० "अगाड़ी"।

अगाध-वि० [सं०] (१) अथाह। बहुत गहरा। अतलस्पर्श। उ०—सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू।—तुलसी। (२) अपार। असीम। अत्यन्त। बहुत। अधिक। उ०—(क) देखि मिटैं अपराध अगाध निमज्जत साधु समाज भलो रे।—तुलसी। (ख) लाल गुलाल घलाघल में दृग ठोकर दै गई रूप अगाधा।—पद्माकर। (३) जिसका कोई पार न पा सके। बोधागम्य। दुर्बोध। न समझ में आने योग्य। उ०—अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ, अगाध, अनादि, अनूपा।—तुलसी।

संज्ञा पुं० (१) छेद। गड्ढा।

अगामै*–क्रि० वि० [सं० अग्रिम] आगे।

अगार–संज्ञा पुं० [सं० अगार] (१) घर। निवासस्थान। धाम। गृह। (२) ढेर। राशि। समूह। अटाला। अलगार।
क्रि० वि० आगे। अगाड़ी। पहिले। प्रथम। उ०–प्रीतम को अरु प्रानन को हठ देखनो है अब होत सवारो। कैधों चलैगो अगार सखी यहि देह ते प्रान कि गेह ते प्यारो।–कोई कवि।

अगारी–क्रि० वि० दे० "अगाड़ी"।

अगाव†–संज्ञा पुं० [सं० अग्र] ऊँख के ऊपर का पतला और नीरस भाग जिसमें गाँठें बहुत पास पास होती हैं। अगौरा। अघोरी। अँगोरी।

अगास*–संज्ञा पुं० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+हिं० आस (प्रत्य०)] द्वार के आगे का चबूतरा।
संज्ञा पुं० [सं० आकाश] आकाश। उ०–हौं सँग साँवरे के जैहौं। होनी होय सो होवै अबहीं जश अपजश काहू न डरैहौं। कहा रिसाइ करै कोउ मेरो कछु जो कहै प्रान तेहि दैहौं। दैहौं त्यागि, राखिहौं यह व्रत हरि रति बीज बहुरि कब बैहौं। का यह सूर अजिर अवनी तनु तजि अगास पिय भवन समैहौं। का यह व्रजवापी क्रीड़ा जल भजि नँदनंद सबै सुख लैहौं।—सूर।

अगाह*–वि० [सं० अगाध] (१) अथाह। बहुत गहरा। (२) अत्यंत। बहुत। उ०—जो जो सुनै धुनै सिर, राजहि प्रीति अगाह।—जायसी। (३) गंभीर। चिंतित। उदास। उ०—जबहिं सुरुज कहँ लागा राहू। तबहिं कमल मन भयो अगाहू।—जायसी।
*वि० [फा० आगाह] विदित। प्रगट। ज्ञात। मालूम। उ०—जस तुम काया कीन्हेउ दाहू। सो सब गुरु कहँ भयउ अगाहू।—जायसी।

अगियाना–क्रि० अ० [सं० अग्नि] जल उठना। गरमाना। जलन वा दाहयुक्त होना। उ०—(क) चलते चलते उसका पैर अगिया गया। (ख) और कवन अवलन व्रत धारयो जोग समाधि लगाई। इहि उर आनि रूप देखे की आगि उठै अगिआई।—सूर।

अगिन–संज्ञा स्त्री० [सं० अग्नि] [क्रि० अगियाना]* (१) आग। (२) गौरैया वा बया के आकार की एक छोटी चिड़िया जिसका रंग मटमैला होता है। इसकी बोली बहुत प्यारी होती है। लोग इसे कपड़े से ढँके हुए पिंजरे में रखते हैं। यह हर जगह पाई जाती है। (३) एक प्रकार की घास जिसमें नीबू की सी मीठी महँक रहती है। इसका तेल बनता है। अगिया घास। नीली चाय। यज्ञकुश।
संज्ञा स्त्री० [सं० अंगारिका] ईख के ऊपर का पतला नीरस भाग। अगोरी।

वि० [सं० अ=नहीं+हिं० गिनना] अगणित। बेशुमार। उ०—साँब को लक्ष्मणा सहित लाए बहुरि दियो दायज अगिन गिनी न जाई।—सूर।

अगिनबोट–संज्ञा स्त्री० [सं० अग्नि+अं० बोट] एक प्रकार की बड़ी नाव वा जहाज जो भाप के एंजिन के ज़ोर से चलती है। स्टीमर। धुआँकश।

अगिनित*–वि० दे० "अगणित"।

अगिया–संज्ञा स्त्री० [सं० अग्नि, प्रा० अग्गि] (१) एक खर वा घास जिसमें पीले फूल लगते हैं और जो खेतों में उत्पन्न होकर कोदो और ज्वार के पौधों को जला देती है।
(२) एक प्रकार की घास जिसमें नीबू की सी सुगंधि निकलती है और जिससे तेल बनता है। दवाओं में भी यह पड़ती है। अगिया घास। नीली चाय। यज्ञकुश।
(३) एक दृढ़ ६ से १० फुट लंबा पौधा जो हिमालय, आसाम और ब्रह्मा में मिलता है। इसके पत्ते और डंठलों में जहरीले रोएँ होते हैं जिनके शरीर में धँसने से पीड़ा होती है। इसी से इसे चौपाए नहीं छूते। नैपाल आदि देशों में पहाड़ी लोग इसकी छाल से रेशे निकालकर भँगरा नामक मोटा कपड़ा बनाते हैं।
(४) घोड़ों और बैलों का एक रोग।
(५) एक रोग जिसमें पैर में पीले पीले छाले पड़ जाते हैं।
(६) विक्रमादित्य के दो बैतालों में से एक।

अगिया कोइलिया–संज्ञा पुं० [हिं० आग+कोयला] दो बैताल जिन्हें विक्रमादित्य ने सिद्ध किया था और जो सदा स्मरण करते ही उसकी सेवा में उपस्थित हो जाते थे। इनकी कहानी बैताल पचीसी और कथासरित्सागर में लिखी है।

अगिया बैताल—संज्ञा पुं० [सं० अग्नि, प्रा० अग्गि+बैताल] (१) विक्रमादित्य के दो बैतालों में से एक।
(२) उल्कामुख प्रेत। मुँह से लुक वा लपट निकालनेवाला भूत।
(३) दलदल या तराई में इधर उधर घूमते हुए फ़ासफरस के अंश जो दूर से जलते हुए लुक के समान जान पड़ते हैं। ये कभी कभी कब्रिस्तानों में भी अँधेरी रात में दिखाई देते हैं।

अगिरौं–संज्ञा० स्त्री० [सं० अग्र=आगे] मकान के आगे का भाग। द्वार। उ०–तुलसी सेव जानि छबि छाए। बरसाने मन मोहन आए। चारि दुआरे उन्नत भारे। करिवर बहु झूमत मतवारे। इमि देखत अगिरौं छबि छाए। अंतःपुर महँ माधव आए।–गोपाल०।

अगिला†–वि० दे० "अगला"।

अगिहाना†–संज्ञा पुं० [सं० अग्निधान] आग रखने का स्थान। वह स्थान जहाँ आग जलाई जाती हो।

अगीठा—संज्ञा पुं० [हिं० अगाल=आगे, सं० अग्र, प्रा० अग्ग+सं० इष्ट, प्रा० इट्ठ (प्रत्य०)] आगे का भाग । अगवाड़ा ।
उ०—काढ़ि किधौं कदली दल गोभ कों दीन्हों जमाय निहारी अगीठि है । काँध ते चाकरी, पातरी लंक लौं सोभित मानो सलोनी की पीठि है ।—सूर ।

अगीत पछीत—क्रि० वि० [सं० अग्रतः पश्चात्] आगे पीछे । आगे की ओर पीछे की ओर ।
संज्ञा पुं० अगवाड़ा पिछवाड़ा । आगे का भाग और पीछे का भाग । उ०—आय अगीत पछीत हैं जो नित टेरत मोहिं सनेह की कूकन । जानत हैं किन जानत कोउ जरैं नर नारि सरोष भभूकन ।—ठाकुर ।

अगु—संज्ञा पुं० [सं०] राहुग्रह ।

अगुआ—संज्ञा पुं० [सं० अग्र+हिं० आ] [क्रि० अगुआना । संज्ञा अगुआई, अगुआनी] (१) अग्रसर । आगे चलनेवाला । पेशवा । अग्रणी ।
(२) मुखिया । प्रधान । नायक । सरदार । नेता ।
(३) पथदर्शक । मार्ग बतानेवाला । रहनुमा । उ०—अगुआ भयउ सेख बुरहानू । पंथ लाइ जिन दीन गियानू ।—जायसी ।
(४) विवाह की बातचीत लानेवाला । विवाह ठीक करनेवाला ।

अगुआई—संज्ञा स्त्री० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+हिं० आइ (प्रत्य०)] (१) अग्रणी होने की क्रिया । अग्रसरता । (२) प्रधानता । सरदारी । (३) मार्गप्रदर्शन । रहनुमाई । रास्ता दिखलाना ।

अगुआना—क्रि० स० [सं० अग्र] [संज्ञा अगुआनी] आगे करना । अगुआ बनाना । सरदार नियत करना ।

अगुवानी—संज्ञा स्त्री० दे० "अगवानी" ।

अगुण—वि० [सं०] (१) गुणरहित । निर्गुण । धर्म वा व्यापारशून्य । रज, तम आदि गुणरहित ।
(२) निर्गुणी । अनाड़ी । मूर्ख । बेहुनर ।
संज्ञा पुं० अवगुण । बुरा गुण । दोष । दूषण । उ०—खल अघ अगुन साधु गुनगाहा । उभय अपार उदधि अवगाहा ।
—तुलसी ।

अगुणज्ञ—वि० [सं०] जो गुणज्ञ न हो । जिसे गुण की परख न हो । अनाड़ी । गँवार । नाकदरदान ।

अगुणी—वि० [सं०] निर्गुणी । गुणरहित । अनाड़ी । मूर्ख ।

अगुताना*†—क्रि० अ० दे० "उकताना" ।

अगुन—वि० दे० "अगुण" ।

अगुमन—क्रि० वि० दे० "अगमन" ।

अगुरु—वि० [सं०] (१) जो भारी न हो । हलका । सुबुक ।
(२) जिसने गुरु से उपदेश न पाया हो । बिना गुरु का ।
(३) लघु वा ह्रस्व (वर्ण) ।
संज्ञा पुं० (१) अगर वृक्ष । ऊद । (२) शीशम का पेड़ ।

अगुवा—संज्ञा पुं० दे० "अगुआ" ।

अगूढ़—वि० [सं०] जो छिपा न हो । स्पष्ट । प्रकट । सहज । आसान ।
संज्ञा पुं० अलंकार में गुणीभूत व्यंग के आठ भेदों में से एक । यह वाच्य के समान ही स्पष्ट होता है । जैसे, उदयाचल चुंबत रवी, अस्ताचल को चंद । यहाँ प्रभात का होना व्यंग्य होने पर भी स्पष्ट है ।

अगूढ़गंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] हींग । गाँधी ।

अगेथ—संज्ञा पुं० [सं० अग्निमन्थ] अरनी का पेड़ । गनियारी ।

अगेला—संज्ञा पुं० [सं० अग्र] (१) आगेवाली मठियाँ जिन्हें नीच जाति की स्त्रियाँ कलाई में पहिनती हैं । इस शब्द का उलटा पछेला है ।
(२) हलका अन्न जो ओसाते समय भूसे के साथ आगे जा पड़ता है और जिसे हलवाहे आदि ले जाते हैं ।

अगेह—वि० [सं०] गृहरहित । जिसे घर द्वार न हो । बेठिकाने का । उ०—तुम सम अधन भिखारि अगेहा । होत बिरंचि सिवहिं संदेहा ।—तुलसी ।

अगैरा—संज्ञा पुं० [सं० अग्र] नई फ़सल की पहिली आँटी जो प्रायः ज़मींदार को भेंट की जाती है ।

अगोई—वि० स्त्री० [सं० अ+गोप+हिं० ई (प्रत्य०)] जो छिपी न हो । प्रगट । ज़ाहिर ।
क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अगोचर—वि० [सं०] जिसका अनुभव इंद्रियों को न हो । बोधागम्य । इंद्रियातीत । अप्रत्यक्ष । अप्रगट । अव्यक्त । उ०—सियराम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहु न लखि परै । मन बुद्धि वर बानी अगोचर प्रकट कवि कैसे करै ।—तुलसी ।

अगोट—संज्ञा पुं० [सं० अग्र=आगे+हिं० ओट=आड़] [क्रि० अगोटना] (१) रोक । ओट । आड़ ।
(२) आश्रय । आधार । उ०—रहिहैं चंचल प्रान ये, कहि कौन की अगोट । ललन चलन की चित धरी, कलन पलन की ओट ।—बिहारी ।

अगोटना—क्रि० स० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग+हिं० ओट+ना (प्रत्य०)] (१) रोकना । छेंकना । उ०—(क) तुम नहिं करौ तुरुक सों मेरू । छल पै करहि अंत के फेरू । शत्रु कोट जो पाय अगोटी । मीठी खाँड़ जेवाए रोटी । हमसों ओछ के पावा छातू । मूल नए संग रहै न पातू । (ख) रही दै घूँघट पट की ओट । मनो कियो फिर मान मवासो मन्मथ बंकट कोट । नह सुत कील कपाट सुलच्छन दै दृग द्वार अगोटो । भीतर भाग कृष्ण भूपति को राखि अधर मधुमोटो । अंजन आड़ तिलक आभूषण सजि आयुध बड़ छोट । भृगुटी सूर गही कर सारँग निकट कटाच्छन चोट ।—सूर ।

(२) रोक रखना। बंद कर रखना। पहरे में रखना। कैद करना। उ०—जौ गुनही तौ राखिए आँखिन माँहि अगोट। —बिहारी।

(३) छिपाना। टाँकना। उ०—तेर तरेरे दगन ही राखति क्यों न अँगोट। छैल छबीले पै कहा करति कमल पै चोट।—पद्माकर।

क्रि० स० [सं० अङ्ग—शरीर+हि० ओट+ना (प्रत्य०)] (१) अंगीकार करना। स्वीकार करना। (२) पसंद करना। चुनना। उ०—तब भगवती सुजान बाणि बाणि बोली बिहँसि। चढ़ी मराल विमान दमयंती के दाहिने। आए लखि यहि ठौर, कोटि कोटि ये देवता। जित चित की दुव दौर, मन विचारि कह बाहु पति। लगत कल्प शत कोटि, एक एक के गुन गनत। मन में लेहि अगोटि, जो सुंदर नीको लगै। —गुमान।

क्रि० अ० रुकना। अड़ना। ठहरना। हँसना। उलझना। उ०—दोउ भैया मैया पै माँगत दे मोहिं माखन रोटी। सुनि भावति यह बात सुतन की झठहि धाम के काम अगोटी॥ —सूर।

अगोता—क्रि० वि० [सं० अग्रतः] आगे। सामने। उ०—बाजन बाजहिं होय अगोता। दोउ कंत लै चाहैं सोता।—जायसी।
संज्ञा स्त्री० अगवानी। पेशवाई।

अगोरदार—संज्ञा पुं० [हि० अगोरना+फा० दार] रखवाली करनेवाला। पहरा देनेवाला। चौकसी करनेवाला। रखवाला।

अगोरना—क्रि० स० [सं० अग्र—आगे] (१) राह देखना। बाट जोहना। इंतज़ार करना। प्रतीक्षा करना।
(२) रखवाली करना। पहरा देना। चौकसी करना। उ०—कुँवरि लाख दुइ बार अगोरे। दुहुँ दिसि पँवर ठाढ़ कर जोरे।—जायसी।
(३) रोकना। छेँकना। उ०—मेरे नैनन ही सब खोरि। श्याम बदन छबि निरख जु अटके बहुरे नहीं बहोरि। जो मैं कोटि जतन करि राखति घूँघट ओट अगोरि—सूर।

अगोरिया†—संज्ञा पुं० [सं० अग्र] खेत की रखवाली करनेवाला। फ़सल रखानेवाला। रखवाला।

अगोही†—संज्ञा पुं० [सं० अग्र] वह बैल जिसके सींग आगे की ओर निकले हों।

अगौंड़ी†—संज्ञा स्त्री० [सं० अग्र] ईख के ऊपर का पतला भाग। अगाव।

अगौढ़†—संज्ञा पुं० [सं० अग्र] पेशगी। अगाऊ। रुपया जो असामी ज़मींदार को नजर वा पेशगी की तरह देता है।

अगौनी*—क्रि० वि० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग] आगे। उ०—देव दिखावत कंचन सो तन औरन को मन तावै अगौनी।—देव।
संज्ञा स्त्री० (१) अगवानी। पेशवाई। (२) वह आतशबाज़ी जो बरात आने पर द्वारपूजा के समय छोड़ी जाती है।

अगौरा—संज्ञा पुं० [सं० अग्र+हि० और] ऊख के ऊपर का पतला नीरस भाग जिसमें गाँठें नज़दीक नज़दीक होती हैं।

अगौली—संज्ञा स्त्री० [देश०] ईख की एक छोटी और कड़ी जाति।

अगौहैं*—क्रि० वि० [सं० अग्रमुख] आगे। अगाड़ी। आगे की ओर। उ०—आए विदेस ते बेनी प्रवीन खरे अँगना अँगना मन मोहैं। भीतर भौन तें प्रान प्रिया सो कितो अहैं पैग पढ़ै न अगौंहैं।—बेनी प्रवीन।

अग्नायी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि की स्त्री स्वाहा।

अग्नि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आग। तेज का गोचर रूप। उष्णता। यह पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि पंच भूतों वा पंच तत्वों में से एक है।
(२) वैद्यक के मत से अग्नि तीन प्रकार की मानी गई है यथा, (क) भौम, जो तृण काष्ठ आदि के जलने से उत्पन्न होती है। (ख) दिव्य, जो आकाश में बिजली से उत्पन्न होती है। (ग) उदर वा जठर, जो पित्त रूप से नाभि के ऊपर हृदय के नीचे रहकर भोजन भस्म करती है। इसी प्रकार कर्मकांड में अग्नि छः प्रकार की मानी गई है।—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभ्याग्नि, आवसथ्य, औपासनाग्नि। इनमें पहिली तीन प्रधान हैं। (३) वेद के तीन प्रधान देवताओं (अग्नि, वायु, और सूर्य्य) में से एक। ऋग्वेद का प्रादुर्भाव इसीसे माना जाता है। वेद में अग्नि के मंत्र सबसे अधिक हैं। अग्नि की सात जिह्वाएँ मानी गई हैं जिनके अलग अलग नाम हैं, जैसे काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णा, उग्रा और प्रदीप्ता। भिन्न भिन्न ग्रंथों में ये नाम भिन्न भिन्न दिए हैं। यह देवता दक्षिण-पूर्व कोण का स्वामी है और आठ लोकपालों में से एक है। पुराणों में इसे वसु से उत्पन्न धर्म का पुत्र कहा है। इसकी स्त्री स्वाहा थी जिससे पावक, पवमान, और शुचि ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इन तीनों पुत्रों के भी पैंतालिस पुत्र हुए। इस प्रकार सब मिलकर ४९ अग्नि माने गए हैं जिनका विवरण वायुपुराण में विस्तार के साथ दिया है।
क्रि० प्र०—जलना।—जलाना।—डालना।—फूँकना।—बालना।—बुझना।—बुझाना।—भड़कना।—भड़काना।—लगना।—लगाना।—सुलगाना।
(४) जठराग्नि। पाचनशक्ति। उ०—अग्नि तो मंद हो गई है भूख कहाँ से लगे। (५) पित्त। (६) तीन की संख्या, क्योंकि कर्मकांड के अनुसार तीन अग्नि मुख्य हैं। (७) सोना। (८) चित्रक वा चीता। (९) भिलावाँ। (१०) नीबू।

अग्निक—संज्ञा पुं० [सं०] बीरबहूटी नाम का कीड़ा।

अग्निकर्म—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्निहोत्र। हवन। (२) अग्निसंस्कार। शवदाह।

अग्निकाष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] अगर का पेड़।

अग्निकीट—संज्ञा पुं० [सं०] समंदर नाम का कीड़ा जिसका निवास अग्नि में माना जाता है।

अग्निकुक्कुट—संज्ञा पुं० [सं] जलता हुआ तृण वा पयाल का पूला। लुक। लुकारी।

अग्निकुमार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्त्तिकेय। षडानन। (२) आयुर्वेद के अनुसार एक रस जो जुदे जुदे अनुपानों के साथ देने से अरुचि, मंदाग्नि, श्वास, कास, कफ़, प्रमेह आदि को दूर करता है।

अग्निकुल—संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रियों का एक कुल वा वंश विशेष। ऐसी कथा है कि ऋषियों के तप में जब दैत्य विघ्न डालने लगे तब उन्होंने वसिष्ठ की अध्यक्षता में आबू पर्वत पर एक यज्ञ किया। उस यज्ञ-कुंड से एक एक करके चार पुरुष उत्पन्न हुए, जिनसे चार वंश चले अर्थात् प्रमार, परिहार, चालुक्य वा सोलंकी, और चौहान। इन चार क्षत्रियों का कुल अग्निकुल कहलाता है।

अग्निकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव का एक नाम। (२) रावण की सेना का एक राक्षस।

अग्निकोण—संज्ञा पुं० [सं०] पूर्व और दक्षिण का कोना।

अग्निक्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] शव का अग्निदाह। मुर्दा जलाना।

अग्निक्रीड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] आतिशबाज़ी।

अग्निगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्यकांत मणि। सूर्य्यमुखी शीशा। आतिशी शीशा। (२) शमीवृक्ष।
वि० जिसके भीतर अग्नि हो। जो अग्नि उत्पन्न करे। उ०—अग्निगर्भ पर्वत।

अग्निगर्भ पर्वत—संज्ञा पुं० [सं०] ज्वालामुखी पहाड़।

अग्निचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] योग में शरीर के भीतर माने हुए छः चक्रों में से एक। इसका स्थान भौंहों का मध्य, रंग बिजली का सा और देवता परमात्मा माने गए हैं। इस चक्र में जिस कमल की भावना की गई है उसके दलों (पखुड़ियों) की संख्या दो और उनके अक्षर "ह" और "क्ष" हैं।

अग्निचित्—संज्ञा पुं० [सं०] अग्निहोत्री।

अग्निज—वि० [सं०] (१) अग्नि से उत्पन्न। (२) अग्नि को उत्पन्न करनेवाला। (३) अग्निसंदीपक। पाचक।
संज्ञा पुं० अग्निजार वृक्ष। समुद्रफल का पेड़।

अग्निजार—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र फल का पेड़।

अग्निजिह्व—संज्ञा० पुं० [सं०] देवता। अमर।

अग्निजिह्वा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आग की लपट। (२) अग्नि देवता की सात जिह्वाएँ। मुंडकोपनिषद् में इनके नाम ये दिए हैं— काली, कराली, मनोजवा, लोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरूपी। बृहत्संहिता में अंतिम दो नामों के स्थान में उग्रा और प्रदीप्ता ये नाम दिये हैं। (३) लाँगली। करियारी विष।

अग्निज्वाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आग की लपट। (२) धव का पेड़ जिसमें लाल फूल लगते हैं। (३) अग्निझाल। जलपिप्पली का पेड़।

अग्निझाल—संज्ञा पुं० [सं० अग्निज्वाल] जलपिप्पली का पेड़।

अग्नितुंडावटी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार अजीर्ण दूर करनेवाली गोली।

अग्निदाह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आग में जलाने का कार्य्य। भस्म करने का कार्य्य। जलाना। (२) शवदाह। मुर्दा जलाना।

अग्निदीपक—वि० [सं०] जठराग्नि को उत्तेजित करनेवाला। पाचनशक्ति को बढ़ानेवाला।

अग्निदीपन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अग्निदीपक] (१) अग्निवर्द्धन। जठराग्नि की वृद्धि। पाचनशक्ति की बढ़ती। (२) अग्निवर्द्धक ओषधि। पाचन शक्ति को बढ़ानेवाली दवा। वह दवा जिसके खाने से भूख लगे।

अग्निपरीक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलती हुई आग द्वारा परीक्षा वा जाँच। जलती हुई आग पर चलाकर अथवा जलता हुआ पानी, तेल वा लोहा छुलाकर किसी व्यक्ति के दोषी वा निर्दोष होने की जाँच।
विशेष—प्राचीन काल में जब किसी व्यक्ति पर किसी अपराध का संदेह होता था तब यह देखने के लिये कि वह यथार्थ में दोषी है वा नहीं, लोग उसे आग पर चलने को कहते थे, अथवा उसके ऊपर जलता हुआ तेल वा जल डालते थे। उनका विश्वास था कि यदि वह निरपराध होगा तो उसे कुछ आँच न आवेगी।
(२) सोने चाँदी आदि धातुओं की आग में तपाकर परख।

अग्निपुराण—संज्ञा पुं० [सं०] अठारह पुराणों में से एक। इसका नाम अग्निपुराण इस कारण है कि इसे अग्नि ने वशिष्ठजी को पहिले पहल सुनाया था। इसके श्लोकों की संख्या कोई १४०००, कोई १५०००, और कोई १६००० मानते हैं। इसमें यद्यपि शिवमाहात्म्य का वर्णन प्रधान है, पर कर्म्मकांड, राजनीति, धर्म्मशास्त्र, आयुर्वेद, अलंकार, छन्दःशास्त्र, व्याकरण आदि अनेक फुटकर विषय भी इसमें सम्मिलित हैं।

अग्निप्रस्तर—संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि उत्पन्न करनेवाला पत्थर। वह पत्थर जिससे आग निकले। चकमक पत्थर। पथरी।

अग्निबाण—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अस्त्र। वह बाण जिसमें से आग की ज्वाला प्रगट हो। वह तीर जिससे आग की लपट निकले। भस्म करनेवाला बाण।
विशेष—ऐसा कहा जाता है कि यह बाण मंत्र द्वारा चलाया जाता था और इससे अग्नि की वर्षा होने लगती थी।

अग्निबाव—संज्ञा पुं० [सं० अग्नि+वायु] (१) घोड़ों और दूसरे चौपायों का एक रोग जिसमें उनके शरीर पर छोटे छोटे आबले निकलते हैं और फूटकर फैलते हैं। यह रोग अधिकतर घोड़ों को होता है।

(२) मनुष्यों का एक चर्मरोग जिसमें शरीर पर बड़े बड़े लाल चकत्ते वा ददोरे निकल आते हैं और साथ ही कभी कभी ज्वर भी आजाता है। पित्ती। जुड़ पित्ती। ददरा।

अग्निबीज–संज्ञा पुं० [सं०] सोना।

विशेष–मनु आदि प्राचीन ग्रन्थों में सोने की उत्पत्ति अग्नि के संयोग से लिखी है।

अग्निभू–संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय।

अग्निमंथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अरणी वृक्ष जिसकी लकड़ी को परस्पर घिसने से अग्नि बहुत जल्द निकलती है। (२) अरणी नामक यन्त्र जिससे यज्ञ के लिये आग निकाली जाती है।

अग्निमणि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्यकांत मणि। एक बहुमूल्य पत्थर। (२) सूर्य्यमुखी शीशा। आतशी शीशा।

अग्निमांद्य–संज्ञा पुं० [सं०] मंदाग्नि। जठराग्नि की कमी। पाचन शक्ति की कमी। भूख न लगने का रोग।

अग्निमारुति–संज्ञा पुं० [सं०] अगस्त्य मुनि का एक नाम।

अग्निमुख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता। (२) प्रेत। (३) ब्राह्मण। (४) चीते का पेड़। (५) भिलाँवे का पेड़। (६) वैद्यक में अजीर्णनाशक एक चूर्ण का नाम जो जवाखार, सज्जी, चित्रक, लवण आदि कई वस्तुओं के मेल से बनता है। (७) एक रस औषधि का नाम जिससे वातशूल दूर होता है।

अग्नियुग–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में पाँच पाँच वर्ष के जो बारह युग माने गए हैं उनमें से एक। इस युग के वर्षों के नाम क्रम से चित्रभानु, सभानु, तारण, पार्थिव और व्यय हैं।

अग्निरोहिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यकमतानुसार एक रोग जिसमें अग्नि के समान झलकते हुए फफोले पड़ते हैं और रोगी को दाह और ज्वर होता है।

अग्निलिंग–संज्ञा पुं० [सं०] आग की लपट की रंगत और उसके झुकाव को देखकर शुभाशुभ फल बतलाने की विद्या।

अग्निवंश–संज्ञा पुं० [सं०] अग्निकुल।

अग्निवर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] इक्ष्वाकुवंशी एक राजा का नाम। यह रघु का प्रपौत्र और सुदर्शन का पुत्र था।

अग्निवल्लभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) साल वृक्ष। साखू का पेड़। (२) साल से निकली हुई गोंद। राल। धूप।

अग्निविद्–संज्ञा पुं० [सं० अग्निवित्] अग्निहोत्री।

अग्निविद्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्निहोत्र। प्रातःकाल और सायंकाल मंत्रों द्वारा अग्नि की उपासना की विधि।

यौ०—पंचाग्निविद्या=छांदोग्य उपनिषद् में सूर्य्य, बादल, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री संबंधी विज्ञान को 'पंचाग्निविद्या' कहा है।

अग्निविश्वरूप–संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार केतु ताराओं का एक भेद। ये केतु ज्वाला की माला से युक्त और संख्या में १२० कहे गए हैं।

अग्निवेश–संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेद के आचार्य्य एक प्राचीन ऋषि का नाम जो अग्नि के पुत्र कहे जाते हैं।

अग्निव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] वेद की एक ऋचा का नाम।

अग्निशाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह घर जिसमें अग्निहोत्र वा हवन करने की अग्नि स्थापित हो।

अग्निशिख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुसुम वा बर्रे का पेड़। (२) कुंकुम। केसर। (३) सोना। (४) दीपक। (५) बाण। तीर।

अग्निशिखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अग्नि की ज्वाला। आग की लपट। (२) कलियारी वा करियारी नामक पौधा जिसकी जड़ में विष होता है।

अग्निशुद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अग्नि से पवित्र करने की क्रिया। आग छुलाकर किसी वस्तु को शुद्ध करना। (२) अग्निपरीक्षा। दे० "अग्निपरीक्षा"।

अग्निष्टुत्–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जो एक दिन में पूरा होता है। यह अग्निष्टोम यज्ञ का ही संक्षेप है।

अग्निष्टोम–संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ जो ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ का रूपांतर है और जो स्वर्ग की कामना से किया जाता है। इसका काल वसंत है। इसके करने का अधिकार अग्निहोत्री ब्राह्मण को है। द्रव्य इसका सोम है। देवता इसके इंद्र और वायु आदि हैं। इसमें ऋत्विजों की संख्या सोलह होती है। यह यज्ञ पाँच दिन में समाप्त होता है।

अग्निसंस्कार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आग का व्यवहार। तपाना। जलाना। (२) शुद्धि के लिये अग्निस्पर्श कराने का विधान। (३) मृतक के शव को भस्म करने के लिये उस पर अग्नि रखने की क्रिया। दाह कर्म। (४) श्राद्ध में पिंड रखने की वेदी पर आग की चिनगारी घुमाने की रीति वा क्रिया।

अग्निसखा–संज्ञा पुं० [सं०] वायु। हवा।

अग्निसहाय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जंगली कबूतर क्योंकि उसके मांस से जठराग्नि तीव्र होती है। (२) वायु। हवा।

अग्निसाक्षिक–वि० [सं०] जिसका साक्षी अग्नि हो। जिसकी प्रतिज्ञा अग्नि को साक्षी देकर की गई हो। जो अग्नि देवता के सामने संपादित हो।

विशेष–जो बात अग्नि के सामने उसको साक्षी मानकर कही जाती है वह बहुत पक्की समझी जाती है और उसका पालन धर्मविचार से अत्यंत आवश्यक होता है। विवाह में वर-कन्या में जो प्रतिज्ञाएँ होती हैं वे अग्नि को साक्षी देकर की जाती हैं।

अग्निसात्–वि० [सं०] आग में जलाया हुआ। भस्म किया हुआ।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अग्निसेवन–संज्ञा पुं० [सं०] आग तापना।

अग्निष्वात्ता–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों का एक भेद। (२) अग्नि, विद्युत् आदि विद्याओं का जाननेवाला।

अग्निहोत्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ। वेदोक्त मंत्रों से अग्नि में आहुति देने की क्रिया। यह दो प्रकार की कही गई है।

(१) नित्य और (२) नैमित्तिक वा काम्य। अग्न्याधान-पूर्वक प्रति दिन जीवन भर प्रातः सायं अग्नि में घृतादि से आहुति देना। नित्य और किसी नियत समय तक किसी नियत उद्देश से इस विधान को करना नैमित्तिक वा काम्य कहलाता है।

अग्निहोत्री—संज्ञा पुं० [सं०] अग्निहोत्र करनेवाला। सबेरे संध्या अग्नि में वेदोक्त विधि से हवन करनेवाला। आहिताग्नि।

अग्नीध्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ में ऋत्विक् विशेष जिसका काम अग्नि की रक्षा करना है।

(२) स्वयंभू मनु के पुत्र एक राजा का नाम। (३) प्रियव्रत राजा का पुत्र।

अग्न्यस्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह मंत्र द्वारा फेंकनेवाला अस्त्र जिससे आग निकले। अग्नि घटित अस्त्र। आग्नेयास्त्र। (२) वह अस्त्र जो आग से चलाया जाय, जैसे बंदूक।

अग्न्याधान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि की विधानपूर्वक स्थापना। (२) अग्निहोत्र।

अग्न्याशय—संज्ञा पुं० [सं०] जठराग्नि का स्थान। पक्वाशय।

अग्म्य*—वि० दे० "अज्ञ"।

अग्यारी—संज्ञा स्त्री० [सं० अग्नि, प्रा० अग्गि+सं० कार्य] (१) अग्नि में धूप, गुड़ आदि सुगंध द्रव्य देने की क्रिया। धूपदान। (२) अग्निकुंड।

अग्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आगे का भाग। अगला हिस्सा। आगा। सिरा। नोक। उ०—(क) बहुरि करि कोप हल अग्र पर वक्र धरि कटक को सकल चाहत डुबायो। —सूर। (ख) जैसे जव के अग्र ओस कन, प्राण रहत ऐसे अवधिहि के तट।—सूर।

(२) स्मृति के अनुसार अन्न की भिक्षा का एक परिमाण जो मोर के ४८ अंडों के बराबर होता है।

क्रि० वि० आगे। उ०—चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई।—तुलसी।

वि० (१) अगला। प्रथम। श्रेष्ठ। उत्तम। प्रधान।

अग्रगण्य—वि० [सं०] जिसकी गिनती पहिले हो। प्रधान। मुखिया। श्रेष्ठ। बड़ा।

अग्रगामी—संज्ञा पुं० [सं०] आगे चलनेवाला। अग्रसर। अगुआ। नेता। प्रधान व्यक्ति।

वि० जो आगे चले। अग्रसर।

अग्रज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो भाई पहिले जन्मा हो। बड़ा भाई। ज्येष्ठ भ्राता। अनुज का उलटा।

*(२) नायक। नेता। अगुआ। उ०—सेना अग्रज हरयो पंच भट अक्षकुमारहि घाता।—रामस्वयंवर।

(३) ब्राह्मण।

*वि० श्रेष्ठ। उत्तम। उ०—बैठे विशुद्ध गृह अग्रज अग्र जाई। देखी बसंत ऋतु सुंदर मोददाई।—केशव।

अग्रजन्मा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा भाई। (२) ब्राह्मण। (३) ब्रह्मा।

अग्रजाति—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

अग्रणी—वि० [सं०] अगुआ। श्रेष्ठ। प्रधान। मुखिया।

संज्ञा पुं० प्रधान पुरुष। मुखिया। अगुआ।

अग्रदानी—संज्ञा पुं० [सं०] वह पतित ब्राह्मण जो प्रेत वा मृतक के निमित्त दिए हुए तिल आदि के दान को ग्रहण करे।

अग्रबीज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वृक्ष जिसकी डाल काटकर लगाने से लग जाय। पेड़ जिसकी कलम लगे। (२) कलम।

अग्रभाग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आगे का भाग। अगला हिस्सा। (२) सिरा। नोक। छोर।

अग्रभूमि—संज्ञा स्त्री० [सं०] घर की छत। पाटन।

अग्रयान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेना का आगे बढ़ना। सेना का पहिला धावा। (२) आगे बढ़ती हुई सेना। धावा करती हुई फ़ौज।

अग्रयायी—संज्ञा पुं० [सं०] अगुआ। अग्रसर।

अग्रवक्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत में वर्णित चीर फाड़ का एक यंत्र।

अग्रवर्ती—वि० [सं०] आगे रहनेवाला। अगुआ।

अग्रवाल—संज्ञा पुं० दे० "अगरवाल"।

अग्रशोची—संज्ञा पुं० [सं०] आगे से विचार करनेवाला। दूरदर्शी। दूरंदेश। उ०—अग्रशोची सदा सुखी।

अग्रसंध्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रातःकाल। प्रभात।

अग्रसर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आगे जानेवाला व्यक्ति। अग्रगामी पुरुष। अगुआ। (२) आरंभ करनेवाला। पहिले पहिल करनेवाला व्यक्ति। (३) मुखिया। प्रधान व्यक्ति।

क्रि० प्र०—होना।

वि० (१) जो आगे जाय। अगुवा। (२) जो आरंभ करे। (३) प्रधान। मुख्य।

अग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] गार्हस्थ को न धारण करनेवाला पुरुष। वानप्रस्थ।

अग्रहायण—संज्ञा पुं० [सं०] वर्ष का अगला वा पहिला महीना। अगहन। मार्गशीर्ष। प्राचीन वैदिक क्रम के अनुसार वर्ष का आरंभ अगहन से माना जाता था। यह प्रथा अब तक भी गुजरात आदि देशों में है। पर उत्तरीय भारत में वर्ष का आरंभ चैत्र मास से लेने के कारण यह महीना नवाँ पड़ता है।

अग्रहार—संज्ञा पुं० [सं० अग्रहार] (१) राजा की ओर से ब्राह्मण को भूमि का दान। (२) वह गाँव वा भूमि जो किसी ब्राह्मण को माफ़ी दी जाय।

अग्रांश—संज्ञा पुं० [सं० अग्रांश] (१) आगे का भाग।

(२) चंद्रमा का वह भाग जो पृथ्वी पर से सदैव नहीं दिखाई पड़ता, वरन कभी कभी चंद्रमा के अनियमित गति वा कंप से दिखाई पड़ जाता है।

विशेष—चंद्रमा में यह विलक्षणता है कि उसका प्रायः एक नियत भाग सदैव पृथ्वी की ओर रहता है। केवल कभी कभी वह कुछ काल के लिये हिल जाता है जिससे उसका कुछ और भाग भी दिखाई पड़ जाता है।

अग्राशन-संज्ञा पुं० [सं०] भोजन का वह अंश जो देवता के लिये पहिले निकाल दिया जाता है। यह अग्राशन पशुओं और संन्यासियों को दिया जाता है।

अग्राह्य-वि० [सं०] (१) न ग्रहण करने योग्य। अग्रहणीय। धारण करने के अयोग्य। (२) न लेने लायक। (३) त्याज्य। छोड़ने लायक।

अग्रिम-वि० [सं०] (१) अगाऊ। पेशगी। (२) आगे आनेवाला। आगामी। उ०—यही बात अग्रिम सूत्रों में सिद्ध करेंगे।—हरिश्चंद्र।

(३) प्रधान। श्रेष्ठ। उत्तम।

संज्ञा पुं० बड़ा भाई।

अग्रेदिधिषु-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसी स्त्री से विवाह करनेवाला पुरुष जो पहिले किसी और को व्याही रही हो।

संज्ञा स्त्री० वह कन्या जिसका विवाह उसकी बड़ी बहिन के पहिले हो जाय।

अग्र्य-वि० [सं०] प्रधान। श्रेष्ठ।

संज्ञा पु० (१) बड़ा भाई। (२) सब वेदों को अनन्यमन होकर एक रस पढ़ने में समर्थ ब्राह्मण, जो श्रद्धा के साधकों में गिना गया हो।

अघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप। पातक। अधर्म। गुनाह। दुष्कर्म। (२) दुःख। (३) व्यसन। (४) मथुरा के राजा कंस का सेनापति अघासुर जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था।

अघट-वि० [सं० अ=नहीं+घट्=होना] (१) जो घटित न हो। न होने योग्य। जो कार्य्य में परिणत न हो सके। (२) दुर्घट। कठिन। उ०—जयति दसकंठ घट करन वारिदनाद कदन कारन कालनेमि हंता। अघट घटना सुघट विघटन विकट भूमि, पाताल जल गगन जंता।—तुलसी। * (३) जो ठीक न घटे। जो ठीक न उतरे। अनुपयुक्त। बेमेल। अयोग्य। उ०—भूषणपट पहिरे विपरीता। कोउ अँग अघट कोउ अँग रीता।—विश्रामसागर।

वि० [सं० घट्=हिंसा करना] (१) जो न घटे। जो कम न हो। अक्षय। न चुकने योग्य। (२) जो समभाव रहे। एक रस। स्थिर। उ०—(क) कबिरा यह गति अटपटी, चटपट लखी न जाय। जो मन की खटपट मिटै, अघट भये ठहराय।—कबीर।

(ख) जहँ तहँ मुनिवर निज मर्य्यादा थापी अघट अपार।—सूर।

अघटित-वि० [सं०] (१) जो घटित न हुआ हो। जो हुआ न हो। (२) जिसके होने की संभावना न हो। असंभव। न होने योग्य। कठिन। उ०—हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं। तिनहिं कहत कछु अघटित नाहीं।—तुलसी। * (३) अवश्य होनेवाला। अमिट। अनिवार्य। उ०—जनि मानहु हिय हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी।—तुलसी।

(४) अयोग्य। अनुचित। अनुपयुक्त। ना मुनासिब।

*वि० [सं० घट=क्रिया] न घटने योग्य। बहुत अधिक। उ०—अघटित सोभा यदपि तदपि मनि घटित विराजत। —गि० दा०

अघवान्-वि० [सं०] पापी।

अघवाना-क्रि० सं० [सं० आघ्राण=नाक तक] (१) भरपेट खिलाना। भोजन से तृप्त करना। छकाना। (२) संतुष्ट करना। मन भरना।

अघमर्षण-वि० [सं०] पापनाशक।

संज्ञा पुं० (१) ऋग्वेद का एक सूक्त जिसका उच्चारण द्विज लोग संध्या वंदन के समय पाप की निवृत्ति के लिये करते हैं। (२) मंत्र द्वारा हाथ में जल लेकर नासिका से छुला कर विसर्जन करने की पापनाशिनी क्रिया।

अघाट-संज्ञा पुं० [देश०] वह भूमि जिसे बेचने वा अलग करने का अधिकार उसके स्वामी को न हो।

अघात*-संज्ञा पुं० [सं० आघात] चोट। मार। प्रहार। खड़का। उ०—बूँद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के वचन संत सहैं जैसे।—तुलसी। दे० "आघात"।

वि० [हि० अघाना] पेट भर। खूब। अधिक। ज़्यादः। बहुत। उ०—तब उन माँगी इन नहिं दीन्हीं बाढ्यो बैर अघात।—सूर।

अघाना-क्रि० अ० [सं० आघ्राण=नाक तक] (१) भोजन वा पान से तृप्त होना। अफरना। छकना। पेट भर खाना वा पीना। उ०—(क) पुरुष को भोग लगाय सखा मिलि पाइए। जुग जुग छुधा बुझाइ तो पाइ अघाइए।—कबीर। (ख) पपिहा बूँद सेवातिहि अघा। कौन काज जो बरसै मघा।—जायसी। (ग) राजनीति जानी नहीं गोसुत चरवारे। पीवहु छाँछ अघाइ के कब केरे बारे!—सूर। (२) संतुष्ट होना। तृप्त होना। मन का भरना। इच्छा का पूर्ण होना। परिपूर्ण होना। उ०—(क) रघुराज साज सराहि लोयन लाहु लेत अघाइकै।—तुलसी। (ख) नख सिख रुचिर विन्दु माधव छबि निरखहि नैन अघाई। (३) प्रसन्न होना। हर्ष से परिपूर्ण होना। उ०—ख्याल दली ताड़का देखि ऋषि देत असीस अघाई।—तुलसी। * (४) थकना। ऊबना। उ०—(क) प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊँ।—तुलसी। (ख) फूलेइ फूलन को तुम मोहि पठावति फूले जितै सत पात हैं। फूल सी जात है हौं हूँ तितै कर तोरत फूल न मेरे अघात हैं।······फूलेई

फल हौं लावति हौं, मुख रावरो देखि, कली भयो जात हैं।--कोई कवि।

* (५) पूर्णता को पहुँचना। उ०—(क) सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करै सिर मानि। सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि।—तुलसी। (ख) कैकेई-भव तनु अनुरागे। पाँवर प्रान अघाइ अभागे।—तुलसी।

अघारि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप का शत्रु। पापनाशक। पाप दूर करनेवाला। उ०—दुखहरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी।—तुलसी।

(२) अघ नामक दैत्य के मारनेवाले श्रीकृष्ण वा विष्णु।

अघासुर—संज्ञा पुं० [सं०] अघ नामक दैत्य, कंस का सेनापति जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था।

अघी—वि० [सं०] पापी। पातकी। कुकर्मी। उ०—क्रूर, कुजाति, कपूत, अघी, सबकी सुधरै जो करै नर पूजो।—तुलसी।

अघेरन—संज्ञा पुं० [देश०] जौ का मोटा आटा।

अघोर—वि० [सं०] (१) सौम्य। प्रियदर्शन। सुहावना।

(२) कहीं कहीं प्रायः कविता में घोर के अर्थ में भी इसका प्रयोग देखा गया है। वहाँ इसका अर्थ अत्यंत घोर समझना चाहिए अर्थात् जिससे अधिक घोर न हो सके।

संज्ञा पुं० (१) शिव का एक रूप। (२) एक पंथ वा संप्रदाय जिसके अनुयायी न केवल मद्य मांसही का व्यवहार अधिकता से करते हैं वरन वे नरमांस, मल-मूत्र आदि तक से घिन नहीं करते हैं। कीनाराम इस मत में बड़े प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं।

अघोरनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] भूतनाथ। शिव।

अघोरपंथ—संज्ञा पुं० [सं० अघोरपन्था] अघोरियों का मत वा संप्रदाय।

अघोरपंथी—संज्ञा पुं० [सं०] अघोर मत का अनुयायी। अघोरी। औघड़।

अघोरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] भाद्र कृष्णा चतुर्दशी। भादों बदी चौदस।

अघोरी—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अघोरिन] (१) अघोर मत का अनुयायी। अघोर पंथ पर चलनेवाला जो मद्य, मांस के सिवाय मल, मूत्र, शव आदि घिनौनी वस्तुओं को भी खा जाता है और अपना वेश भी भयङ्कर और घिनौना बनाए रहता है। कीनारामी। औघड़।

(२) घृणित व्यक्ति। घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करनेवाला। भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करनेवाला। सर्वभक्षी।

वि० घृणित। घिनौना। जो घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करे।

अघोष—वि० [सं०] (१) शब्दरहित। नीरव। (२) अल्पध्वनियुक्त। (३) ग्वाल वा अहीरों से रहित।

संज्ञा पुं० व्याकरण के एक वर्णसमूह का नाम जिसमें प्रत्येक वर्ग का पहिला और दूसरा अक्षर तथा श, ष और स, भी हैं—यथा—क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, श, ष, स।

अघौघ—संज्ञा पुं० [सं०] पापों का समूह। पाप का ढेर। उ०—पावस समय कछु अवध बरनत सुनि अघौघ नसावहीं।—तुलसी।

अघ्न्य—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

अघ्रान—संज्ञा पुं० [सं० आघ्राण] गंधग्रहण। महँक लेने की क्रिया। सूँघने का कार्य्य।

अघ्रानना*—क्रि० स० [सं० आघ्राण] आघ्राण करना। महँक लेना। सूँघना। उ०—असंख रवि जहाँ, कोटि दामिनि, पुहुप सेज अघ्रानियाँ।—कबीर।

अघ्रेय—वि० [सं०] न सूँघने योग्य।

अचंचल—वि० [सं०] [स्त्री० अचंचला, संज्ञा अचंचलता] (१) जो चंचल न हो। चंचलतारहित। स्थिर। ठहरा हुआ। उ०—भये विलोचन चारु अचंचल।—तुलसी।

(२) धीर। गंभीर।

अचंचलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्थिरता। ठहराव। (२) धीरता। गंभीरता।

अचंड—वि० [सं०] [स्त्री० अचंडी] जो चंड न हो। उग्रता रहित। शांत। सुशील। सौम्य।

अचंभव*—संज्ञा पुं० [सं० असम्भव] अचंभा। आश्चर्य्य। विस्मय। तअज्जुब। उ०—(क) अगम अगोचर समुझि परै नहिं भयो अचंभव भारी।—कबीर।

अचंभा—संज्ञा पुं० [सं० असंभव, पु० हिं० अचंभव, अचभो] [वि० अचंभित] (१) आश्चर्य। अचरज। विस्मय। तअज्जुब।

(२) अचरज की बात। विस्मय उत्पन्न करनेवाली बात।

अचंभित*—वि० [हिं० अचंभा] आश्चर्य्यित। चकित। विस्मित।

अचंभो*—संज्ञा पुं० [सं० असम्भव] आश्चर्य्य। विस्मय। तअज्जुब। उ०—(क) देखत रहे अचंभो, योगी हस्ति न आय। योगिहि कर अस जूझब, भूमि न लागत पाय।—जायसी। (ख) अचंभो इन लोगनि को आवै। छाँड़े स्वान अमीरस फल को, माया विष फल भावै।—सूर।

अचंभौ*—संज्ञा पुं० दे० "अचंभव"।

अचक—वि० [सं० चक्र=समूह, ढेर] भरपूर। पूर्ण। खूब ज्यादः। बहुत। उ०—जिनके घर अचक माया धरी है।—हिं० प्र०।

संज्ञा पुं० [सं० चक्=भ्रांत होना] घबराहट। भौचक्कापन। विस्मय। उ०—तोम तन छाए सुलतान दल आए, सो तो समर भजाए उन्हैं छाई है अचकसी।—सूदन।

अचकन—संज्ञा पुं० [सं० कंचुक, प्रा० अंचुक] एक प्रकार का लंबा अंगा जिसमें पाँच कलियाँ और एक बालाबर होता है। जहाँ बालाबर मिलता है वहाँ दो बंद बाँधे जाते हैं। अब बंदों के स्थान पर बटन भी लगने लगे हैं।

अचकाँ*—क्रि० वि० [हिं० अचानक, अचक्का] अचानक। अचक्के में। एकाएक। सहसा। उ०—जानत हौं तुम हौ बलपूरे। पै

अचकाँ आए नहिं सूरे। जो दिन दस पहिले कहि देते। तो यह भुव ऐसे नहिं लेते।—सूदन।

अचक्का–संज्ञा पुं० [सं० आ=भले प्रकार+चक=भ्रांति] अनजान। "में" लगने से=अचानक। सहसा। एकाएक।

अचक्षु–वि० [सं०] (१) बिना आँख का। नेत्ररहित। अंधा। (२) अतींद्रिय। इंद्रियरहित।

अचक्षुदर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] आँख को छोड़ और आभ्यंतरिक इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान।

अचक्षुदर्शनावरण–संज्ञा पुं० [सं०] वह कर्म जिससे अचक्षुदर्शन नामक ज्ञान न प्राप्त हो। अचक्षुदर्शन का निरोधकारक कर्म।

अचक्षुदर्शनावरणीय–वि० [सं०] जैन-शास्त्रकारों ने जीव के जो आठ मूल कर्म माने हैं उनमें से दर्शनावरणीय नामक कर्म के नौ भेदों में एक। अचक्षुदर्शन नामक ज्ञान का बाधक।

अचगरी–संज्ञा स्त्री० [सं० अति, प्र० अच+करणम् ज्यादती] ज्यादती। नटखटी। शरारत। छेड़ छाड़। उ०—(क) जो लरिका कछु अचगरि करहीं। गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं।—तुलसी। (ख) माखन दधि मेरो सब खायो बहुत अचगरी कीन्हीं। अब तो आइ परे हो ललना तुम्हें भले मैं चीन्हीं।—सूर (ग)। करत कान्ह ब्रज घर न अचगरी।—सूर।

अचना*–क्रि० स० [सं० आचमन] आचमन करना। पीना। उ०—फागुन लाग्यो सखी जबतें तबतें ब्रजमंडल धूम मच्यो है। नारि नवेली बचै नहिं एक बिसेख यहै सब प्रेम अच्यो है।—रसखान।

अचपल–वि० [सं०] (१) अचंचल। धीर। गंभीर। (२) चंचल। शोख। उ०—क्या काम उन्हें जो हँस बोले या शोखी में अचपल निकले।—नज़ीर।

अचपलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] अचंचलता। स्थिरता। धीरता। गंभीरता।

अचपली–संज्ञा स्त्री० [हि० अचपला+ई] अठखेली। किलोल। क्रीड़ा। उ०—गुलाल अबीर से गुलज़ार हैं सभी गलियाँ। कोई किसी के साथ कर रहा है अचपलियाँ।—नज़ीर।

अचभौन*–संज्ञा पुं० [असंभव] अचंभा। आश्चर्य। उ०—कहा कहत तू नंद ढुटौना। सखी सुनहु री बातें जैसी करत अतिहि अचभौना।—सूर।

अचमन*–संज्ञा पुं० दे० "आचमन"।

अचर–वि० [सं०] न चलनेवाला। स्थावर। जड़।
संज्ञा पुं० न चलनेवाला पदार्थ। जड़ पदार्थ। स्थावर द्रव्य। उ०–जे सजीव जगचर अचर, नारि पुरुष अस नाम। ते निज निज मरजाद तजि, भए सकल बस काम।—तुलसी।

अचरज–संज्ञा पुं० [सं० आश्चर्य, प्रा० अचरिय] आश्चर्य। अचंभा। तअज्जुब। विस्मय। उ०—(क) वह अगाध यह क्यों कहै, भारी अचरज होय।—कबीर। (ख) देखिय कछु अचरज अनभला। तरवर इक आवत है चला।—जायसी। (ग) यह सुनि नारद अचरज पायो ब्रह्म लोक ते धाये।—सूर।
क्रि० प्र०—करना।—मानना।—में आना।—में पड़ना।—होना।

अचरित–वि० [सं०] (१) जिस पर कोई चला न हो। (२) जो खाया न गया हो। (३) अछूता। नया।
संज्ञा० पुं० [सं०] गतिनिरोध। काम काज छोड़ अड़कर बैठना। धरना देना।

अचल–वि० [सं०] (१) जो न चले। स्थिर। जो न हिले। निश्चल। ठहरा हुआ। (२) चिरस्थायी। सब दिन रहनेवाला। उ०—(क) लंका अचल राज तुम करहू—तुलसी। (ख) होहि अचल तुम्हार अहिवाता।—तुलसी।
यौ०—अचल कीर्ति। अचल राज्य। अचल समाधि।
(३) ध्रुव। दृढ़। पक्का। अटल। न डिगनेवाला। न बदलनेवाला। उ०–(क) उसकी यह अचल प्रतिज्ञा है। (ख) वह अपनी बात पर अटल रहा। (४) जो नष्ट न हो। मज़बूत। पुख्ता। अटूट। अजेय। उ०—(क) अब इसकी नींव अचल हो गई। (ख) रहि न सकी सब जगत में, सिसिर सीत के त्रास। गरमि भाजि गढ़ वै भई, तिय कुच अचल मवास।—बिहारी।
संज्ञा पुं० पर्वत। पहाड़।

अचलकीला–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।
विशेष—यह नाम इसलिये है कि प्राचीन विद्वानों के विचार में पृथ्वी को स्थिर रखने के लिये उसमें जहाँ तहाँ पहाड़ कीलों के समान जड़े हुए हैं।

अचलधृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में ५ नगण और एक लघु होता है। यथा—लखि भव भयद छवि पुर-वटु कहत। सुधनि वर लखि जिन वपु जिउ रहत।

अचला–वि० स्त्री० [सं०] जो न चले। स्थिर। ठहरी हुई।
संज्ञा स्त्री० पृथ्वी।
विशेष—प्राचीन लोग पृथ्वी को स्थिर मानते थे। आर्यभट्ट ने पृथ्वी को चल कहा पर उनकी बात को उस समय लोगों ने दबा दिया। अचला नाम का कारण आर्यभट्ट ने पृथ्वी पर अचल अर्थात् पर्वतों का होना, अथवा उसका अपनी कक्षा के बाहर न जाना बतलाया है।

अचला सप्तमी–संज्ञा० स्त्री० [सं०] माघशुक्ला सप्तमी। इस तिथि को स्नान दान आदि करते हैं।

अचवन–संज्ञा पुं० [सं० आचमन] [क्रि० अचवना] (१) आचमन। पान। पीने की क्रिया। पीना। (२) भोजन के पीछे हाथ मुँह धोकर कुल्ली करना।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अचवना–क्रि० स [सं० आचमन] (१) आचमन करना । पान करना । पीना । उ०—(क) समुद्र पाटि लंका गए, सीता के भरतार । ताहि अगस्त मुनि अचै गए, इनमें को करतार ।—कबीर । (ख) सुनु रे तुलसीदास, प्यास पपीयहि प्रेम की । परिहरि चारिउ मास, जो अचवै जल स्वाति को ।—तुलसी । (ग) मोहन मांग्यो अपनो रूप । यहि ब्रज बसत अचै तुम बैठी ता बिन तहाँ निरूप ।—सूर । (२) भोजन के पीछे हाथ मुँह धोकर कुल्ली करना । उ०—अचवन करि पुनि जल अचवायो तब नृप बीरा लीनो ।
—सूर ।
(३) छोड़ देना । खो बैठना । बाकी न रखना । उ०—तुम तो लाज शरम अचै गए ।

अचवाई*–वि० [हिं० अचवना] धोई हुई । साफ़ । स्वच्छ । उ०–रूप सरूप सिंगार सवाई । अप्सर कैसी रहि अचवाई ।
—जायसी ।

अचवाना–क्रि० स० [सं० आचमन] (१) आचमन कराना । पान कराना । पिलाना । (२) भोजन पर से उठे हुए मनुष्य के हाथ पर मुँह-हाथ धोने और कुल्ली करने के लिये पानी डालना । भोजन करके, उठे हुए मनुष्य का हाथ मुँह धुलाना और कुल्ली कराना ।

अचांचक–क्रि० वि० [सं० आ=अच्छी तरह+चक्=भ्रांति] अचानक । बिना पूर्व सूचना के । एकबारगी । सहसा । एकाएक । अकस्मात् । दैवात् । हठात् ।

अचाक*–क्रि० वि० दे० "अचाका" ।

अचाका*†–क्रि० वि० [सं० आ=अच्छी तरह+चक् = भ्रांति] अचानक । अकस्मात् । सहसा दैवात् । उ०—(क) दिनहिँ राति अस परी अचाका । भा रवि अस्त, चंद्र रथ हाँका ।—जायसी । (ख) एहो नंदलाल ! ऐसी ब्याकुल परी है बाल हाल ही चलौ तो चलौ जोरि जुर जायगी । कहै पद्माकर नहीं तो ये झकोरैं लगैं औरै लौं अचाका बिन घोरे घुरि जायगी ।—पद्माकर ।

अचान*–क्रि० वि० [सं० आ+चक् अथवा सं० अज्ञान] अचानक । सहसा । अकस्मात् । उ०—देव अचान भई पहिचान चितैत ही श्याम सुजान के सौहैं ।—देव ।

अचानक–क्रि० वि० [सं० आ–अच्छा तरह+चक्=भ्रांति, अथवा सं० अज्ञानात्] बिना पूर्व सूचना के । एकबारगी । सहसा । अकस्मात् । दैवात् । हठात् । औचट में । अनचित्ते में । उ०—(क) हरि जू इते दिन कहाँ लगाए । तबहिँ अवधि मैं कहत न समुझि गनत अचानक आए ।—सूर । (ख) नाच अचानक ही उठे बिन पावस बन मोर ।—बिहारी ।

अचार–संज्ञा पुं० [फा०] मिर्च, राई, लहसुन आदि मसालों के साथ तेल, नमक, सिरका, वा अर्क नाना में कुछ दिन रखकर खट्टा किया हुआ फल वा तरकारी । कचूमर । अथाना ।
*संज्ञा पुं० [सं० आचार] आचार ।
संज्ञा पुं० [सं० चार] चिरौंजी का पेड़ । पियालद्रुम ।

अचारज*–संज्ञा० पुं० दे० "आचार्य" ।

अचारी*–वि० [सं० आचारी] आचार करनेवाला ।
संज्ञा पुं० (१) आचार विचार से रहनेवाला आदमी । वह व्यक्ति जो अपना नित्यकर्म विधि और शुद्धतापूर्वक करता है । (२) रामानुज संप्रदाय का वैष्णव जिसका काम हरि-पूजन में विशेष विधानों का संपादन करना है ।
संज्ञा स्त्री० [फा० अचार] [अचार का अल्पार्थक प्रयोग] छिले हुए कच्चे आम की फाँक जो नमक और मसालों के साथ धूप में सिझाकर तैयार की जाती है । यह कभी कभी मीठी भी बनाई जाती है ।

अचालू–संज्ञा पुं० [सं० अ+चालन] अनचालू जहाज़ । कम चलनेवाला भारी जहाज़ ।

अचाह*–संज्ञा स्त्री० [सं० अ+इच्छा] अनिच्छा । अप्रीति । अरुचि ।
वि० बिना चाह का । इच्छारहित । निरीह । निष्काम । जिसको कुछ अभिलाषा न हो ।

अचाहा*–वि० [सं० अ+इच्छा] [स्त्री० अचाही] (१) न चाहा हुआ । अवांछित । अनिच्छित । जिस पर रुचि वा प्रीति न हो । (२) जो प्रेमपात्र न हो ।
संज्ञा पु० (१) वह व्यक्ति जिसकी चाह न हो । वह व्यक्ति जो प्रेमपात्र न हो । (२) न चाहनेवाला । प्रीति न करनेवाला । निर्मोही । उ०—रावलि ! कहाँ हौ किन, कहत हौ काते अरी रोष तज रोष कै कियो का मैं अचाहे को ।—पद्माकर ।

अचाही*–वि० [सं० अ+इच्छा] किसी बात की इच्छा न रखनेवाला । निरीह । निस्पृह । निष्काम ।

अचिंत*–वि० [सं०] चिंतारहित । निश्चिंत । बेफ़िक्र । उ०—चिंता न करु अचिंत रहु, देनहार समरत्थ ।—कबीर ।

अचिंतनीय–वि० [सं०] जिसका चिंतन न हो सके । जो ध्यान में न आ सके । अज्ञेय । दुर्बोध ।

अचिंतित–वि० [सं०] जिसका चिंतन न किया गया हो । जिसका विचार न हुआ हो । बिना सोचा विचारा । असंभावित । आकस्मिक । (२) निश्चिंत । बेफ़िक्र ।

अचिंत्य–वि० [सं०] (१) जिसका चिंतन न हो सके । जो ध्यान में न आ सके । बोधागम्य । अज्ञेय । कल्पनातीत । (२) जिसका अंदाज़ा न हो सके । अकूत । अतुल । (३) आशा से अधिक । (४) बिना सोचा विचारा । आकस्मिक ।

संज्ञा पुं० एक अलंकार जिसमें अविलक्षण वा साधारण कारण से विलक्षण कार्य्य की उत्पत्ति और इसके विपरीत अर्थात् विलक्षण कारण से अविलक्षण कार्य्य की उत्पत्ति कही जाय। उ०—कोकिल को वाचालता विरहिनि मौन अनंत। देनहार यह देखिए आयो समय बसंत॥ इस दोहे में साधारण वसंत के आगमन रूप कारण से मौन और वाचालता रूप विलक्षण कार्य्यों की उत्पत्ति है।

अचित्यात्मा–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका स्वरूप ठीक ठीक ध्यान में न आ सके। परमात्मा। ईश्वर।

अचिकित्स्य–वि० [सं०] चिकित्सा के अयोग्य। जिसकी दवा न हो सके। असाध्य। लादवा।

अचित्–संज्ञा पुं० [सं०] जड़ प्रकृति। अचेतन। 'चित्' का उलटा।

अचिर–क्रि० वि० [सं०] शीघ्र। जल्दी।

अचिरद्युति–संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षणप्रभा। बिजली।

अचिरप्रभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] बिजली।

अचिरात्–क्रि० वि० [सं०] जल्दी। तुरंत।

अचीता–वि० [सं० अचिंतित] [स्त्री० अचीती] (१) बिना सोचा। जिसका पहिले से अनुमान न हो। असंभावित। आकस्मिक। (२) अचिंत्य। जिसका अंदाज़ा न हो। बहुत। अधिक। उ०—लिखी ख़बर जैसी हुत बीती। परी मुलुक पर धार अचीती।—लाल।

[सं० अचिंत] निश्चिंत। बेफ़िक्र। उ०—सुनो मेरे मीता सुख सोइए अचीता कहो सीता सोधि लाऊँ कहो सी मिलाऊँ राम को।—हृदयराम।

अचूक–वि० [सं० अच्युत] (१) जो न चूके। जो ख़ाली न जाय। जो ठीक बैठे जो अवश्य फल दिखावे। जो अवश्य अपना निर्दिष्ट कार्य्य करे। उ०—(क) उसका वार अचूक है। (ख) बाँकी तेग़ कबीर की, अनी परै द्वै टूक। मारे वीर महाबली, ऐसी मूठि अचूक।—कबीर।

(२) निर्भ्रांत। जिसमें भूल न हो। ठीक। भ्रमरहित। निश्चित। पक्का। उ०—वह समझता है कि जिस बात को सब लोग निर्भ्रांत कहते हैं वह अवश्य ही अचूक होगी।

क्रि० वि० (१) सफ़ाई से। पटुता से। कौशल से। उ०—मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग सुदृग मिचावनी के ख्यालन हितै हितै। नैसुक नवाय ग्रीव, धन्य धन्य, दूसरी को औचक अचूक मुख चूमत चितै चितै।—पद्माकर।

(२) निश्चय। अवश्य। जरूर। उ०—जहाँ मुख मूक, राम राम ही की कूक जहाँ, सबै सुख धूप तहाँ है अचूक जानकी।—हृदयराम।

अचेत–वि० (१) [सं०] चेतनारहित। संज्ञाशून्य। बेसुध बेहोश। मूर्च्छित। उ०—खोजत व्याकुल सरित सर जल बिनु भयउ अचेत।—तुलसी।

(२) व्याकुल। विह्वल। विकल। उ०—भो यह ऐसोई समौ, जहाँ सुखद दुख देत। चैत चाँद की चाँदनी, डारत किए अचेत।—बिहारी।

(३) असावधान। बेपरवाह। उ०—यह तन हरियर खेत, तरुनी हरनी चर गई। अजहूँ चेत अचेत, यह अधचरा बचाइ ले।—सम्मन।

(४) अनजान। बेख़बर। उ०—वृंदावन की बीथिन तकि तकि रहत गुमान समेत। इन बातन पति पावत मोहन जानन होहु अचेत।—सूर।

(५) नासमझ। मूढ़। उ०—(क) विनय न मानहि जीव जड़, डाँटे नवै अचेत।—तुलसी। (ख) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सु सूकरखेत। समुझी नहिँ तसु बालपन तब अति रहेउँ अचेत।—तुलसी।

*(६) जड़। उ०—(क) असम अचेत पखान प्रगट लै बनचर जल महँ डारत।—सूर। (ख) कामातुर होत हैं सदाहीं मतिहीन तिन्हैं चेत औ अचेत माँह भेद कहाँ पावैगो।—लक्ष्मणसिंह।

*संज्ञा पुं० [सं० अचित्] जड़ प्रकृति। जड़त्व। माया। अज्ञान। उ०—कहलौं कहौं अचेते गयऊ। चेत अचेत झगर थक भयऊ।—कबीर।

अचेतन–वि० [सं०] (१) चेतनारहित। जिस में चेतना का अभाव हो। जिसमें सुख दुःख आदि किसी प्रकार के अनुभव की शक्ति न हो। आत्माविहीन। जड़। 'चेतन' का उलटा। (२) संज्ञाशून्य। मूर्च्छित। उ०—वह अचेतन अवस्था में पाया गया।

संज्ञा पुं० अचैतन्य पदार्थ। जड़ द्रव्य।

अचेल परीसह–संज्ञा पुं० [अचेलपरिसह] आगम में कहे हुए वस्त्रादि धारण करने और उनके फटे और पुराने होने पर भी चित्त में ग्लानि न लाने का नियम।

अचैतन्य–वि० [सं०] चेतना रहित। आत्माविहीन। जड़।

संज्ञा पुं० निश्चेतता। चेतना का अभाव। अज्ञान।

अचैन–संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+शयन=सोना, आराम करना] बेचैनी। व्याकुलता। विकलता। दुःख। कष्ट। उ०—खिँचे मान अपराध तें चलिगे बढ़े अचैन। जुरत दीठि तजि रिस खिसी, हँसे दुहुँनि के नैन।—बिहारी।

वि० बेचैन। व्याकुल। विकल। उ०—चौंकै चिकै चितवै चहुँ ओर चलाचल चंचल चित्त अचैनी।—देव।

अचैना–संज्ञा पुं० [सं० छिन्न=कटा हुआ] (१) लकड़ी का मोटा कुंदा जो ज़मीन में गड़ा रहता है और जिस पर रख कर गड़ाँसे से चारा काटा जाता है। घासा। निहठा। ठीहा। हसुआ। (२) लकड़ी का कुंदा जिस पर बढ़ई दूसरी लकड़ी को रखकर काटते और छीलते वा गढ़ते हैं। निसुहा। ठीहा।

अचोना*–संज्ञा पुं० [सं० आचमन] आचमन करने का पात्र। पीने का बरतन। कटोरा। उ०—ना खिन टरत टारे, आँखि न लगत पल, आँखि न लगेरी स्याम सुंदर सलोने मे। देखि देखि गातन अघात न अनूप रस भरि भरि रूप लेत लोचन अचोने मे।—देव।

अच्छ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्फटिक। (२) भालू। (३) स्वच्छ-जल।—डिं०।

वि० स्वच्छ। निर्मल। पवित्र। अच्छा। उ०—(क) उदधि नाकपति शत्रु को, उदित जानि बलवंत। अंतरिक्ष ही लक्षि पद अच्छ छुयो हनुमंत।—केशव। (ख) मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज। दृग पग पोछन को किये भूषन पायंदाज़।—बिहारी।

*संज्ञा पुं० [सं० अक्ष] (१) आँख। नेत्र। उ०—कहै पद्माकर न तच्छन प्रतच्छ होत अच्छन के आगेहू अधिच्छ गाइयतु है।—पद्माकर। (२) रुद्राक्ष। (३) अक्षकुमार नामक रावण का बेटा। उ०-रखवारे हति विपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहि मारा।—तुलसी।

अच्छत–संज्ञा पुं० [सं० अक्षत] बिना टूटा हुआ चावल जो मंगल द्रव्यों में गिना जाता है और देवताओं को चढ़ाया जाता है।

वि० अखंडित। लगातार। उ०—राघौ हेरत जो गयो, अच्छत हिये समाधि। वह तन राघव घाघ भा, सकै न कै अपराध।—जायसी।

अच्छर†–संज्ञा पुं० [सं० अक्षर] अक्षर। वर्ण। हरफ़।

अच्छरा*–संज्ञा स्त्री० [सं० अप्सरा प्रा० अच्छरा] अप्सरा। उ०—रूप सरूप सिंगार सवाई। अच्छर जैसी रहि अचवाई।—जायसी।

अच्छरी*–संज्ञा स्त्री० [सं० अप्सरा प्रा० अच्छरा] अप्सरा। स्वर्ग की वारवनिता। उ०—नि नाचतीं सुर अच्छरी जिन भाव मोहत सिद्ध हैं।—गुमान।

अच्छा–वि० [सं० अच्छ=स्वच्छ, निर्मल] [स्त्री० अच्छी] (१) उत्तम। भला। बढ़िया। उमदा। खरा। चोखा।

मुहा०—आना=ठीक वा उपयुक्त अवसर पर आना। उ०—तुम अच्छे आए अब सब ठीक हो जायगा। ठीक उतरना। सुंदर बनना। उ०—इस काग़ज़ पर चित्र अच्छा नहीं आता।—करना=अच्छा काम करना। उ०—तुमने अच्छा नहीं किया जो चले आए।—कहना=प्रशंसा करना। उ०-कोई तुम्हें अच्छा नहीं कहता।–घर=संपन्न घर। प्रतिष्ठित कुल।—दिन=सुख संपत्ति का दिन। उ०—उसने अच्छे दिन देखे हैं। अच्छी बीतना= अच्छी तरह बीतना। आनंद से दिन काटना।—रहना=अच्छी दशा में रहना। लाभ में वा आराम में रहना। उ०—तुमसे तो हमी अच्छे रहे जो कहीं नहीं गए।—लगना—भला जान पड़ना। सजना। सोहना। उ०—तुम्हारे सिर पर यह टोपी नहीं अच्छी लगती। रुचिकर होना। पसंद आना। उ०—हमें यह फल अच्छा नहीं लगता। हमें तुम्हारी यह चाल नहीं अच्छी लगती।

विशेष–इस शब्द का प्रयोग व्यंग रूप से बहुत होता है, जैसे "आप भी अच्छे कहनेवाले आए।" जब कोई बात किसी को नहीं जँचती तब वह उसके कहने वा करनेवाले के प्रति प्रायः कहता है कि "अच्छे आए।" वा "अच्छे मिले।"

(२) स्वस्थ। चंगा। तंदुरुस्त। नीरोग। आरोग्य। उ०–तुम किसकी दवा से अच्छे हुए।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

संज्ञा पुं० (१) बड़ा आदमी। श्रेष्ठ पुरुष। उ०—मैंने अच्छे अच्छों को निकाले जाते देखा है तू क्या है। (२) गुरुजन। बाप दादा। बड़े बूढ़े। उ०—दोगे क्यों नहीं? मैं तो तुम्हारे अच्छों से लूँगा।

क्रि० वि० अच्छी तरह। ख़ूब। बहुत। उ०—तुमने यहाँ बुलाकर हमें अच्छा तंग किया।

अव्य=प्रार्थना वा आदेश के उत्तर में (प्रश्न के नहीं) स्वीकृति-सूचक शब्द। उ०—"आदेश" तुम कल न आना। "उत्तर"—अच्छा"। इच्छा के विरुद्ध कोई बात हो जाने पर अथवा उसे होती हुई वा होनेवाली सुन वा देखकर भी यह शब्द कहा जाता है। ख़ैर। उ०—(क) अच्छा, जो हुआ सो हुआ अब आगे से सावधान रहना चाहिये। (ख) अच्छा, हम देख लेंगे।

अच्छाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० अच्छा+ई] अच्छापन। उत्तमता। श्रेष्ठता। सुंदरता। सुघराई।

अच्छापन–संज्ञा पुं० [हिं० अच्छ+हिं० पन] अच्छे होने का भाव। उत्तमता। सुघराई।

अच्छावाक–संज्ञा पुं० [सं० अच्छावाक] आह्वान करनेवाला। यज्ञ करानेवाले होता, अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विजों में से एक। दे० "ऋत्विज"।

अच्छा विच्छा–वि० [हिं० अच्छा] (१) दुरुस्त। ख़ासा। चुना हुआ। (२) भला चंगा। नीरोग।

अच्छिन्न–वि० [सं०] (१) छिद्ररहित। (२) जो कटा न हो। अखंडित। साबित।

अच्छुप्ता–संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षुप्ता] जैनों की सोलह देवियों में से एक।

अच्छोत*–वि० [सं० अक्षत, प्रा० अच्छत,] पूरा। अधिक। बहुत। उ०—वृषभ धर्म पृथ्वी सो गाइ। वृष कह्यो तासों या भाइ। मेरे हेतु दुखी तू होत। कै अधर्म तुम अच्छोत।—सूर।

अच्छोहिनी–संज्ञा स्त्री० दे० "अक्षोहिणी"।

अच्युत–वि० [सं०] (१) जो गिरा न हो। (२) दृढ़। अटल स्थिर। नित्य। अविनाशी। (३) जो न चूके। जो त्रुटि न करे। जो विचलित न हो।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु और उनके अवतारों का नाम। (२) जैनियों के चार श्रेणी के देवताओं में चौथी अर्थात् वैमानिक श्रेणी के कल्पभव नामक देवताओं का एक भेद।

अच्युतकुल–संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णवों का समाज व उनकी शिष्य-परंपरा। विशेष कर रामानंदी संप्रदाय के वैष्णव लोग अपने को अच्युतकुल वा अच्युतगोत्र कहते हैं।

अच्युतगोत्र–संज्ञा पुं० दे० "अच्युतकुल"।

अच्युत मध्यम–संज्ञा पुं० [सं] संगीत में एक विकृत स्वर जो मार्जनी नामक श्रुति से आरंभ होता है और जिसमें दो श्रुतियाँ होती हैं।

अच्युत षड्ज–संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में एक विकृत स्वर जो छन्दवती नामक श्रुति से आरंभ होता है और जिसमें दो श्रुतियाँ होती हैं।

अच्युताग्रज–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु के बड़े भाई इंद्र। श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम।

अच्युतानंद–वि० [सं०] जिसका आनंद नित्य हो।
संज्ञा पुं० आनंदस्वरूप। परमात्मा। ईश्वर।

अछंभो*–संज्ञा पुं० [सं० असम्भव] अचंभा। आश्चर्य।—डिं०।

अछक*–वि० [सं० चष, प्रा० चक, छक] बिना छका हुआ। अतृप्त। भूखा। उ०—तेग या तिहारी मतवारी है अछक तो लौं जौ लौं गजराजन की गजक करै नहीं।—भूषण।

अछकना*–क्रि० वि० [अ=नहीं+चष-खाना] अतृप्त होना। तृप्त न होना। न अघाना। उ०—(क) चंपक बेलि चमेलिन में मधु छाक छक्यो अछक्यो अनुकूलै। मालती मंजु गुलाब समीर धर्‍यो नहिं धीर मनोज की हूलै। केतक केतिक जोही जुही मन भाइ छुही अवगाहि अतूलै। भूल्यो रह्यो अलि सेवती आब भयो गरगाब गुलाब के फूलै॥

अछत*–क्रि० वि० क्रि० अ० 'अछना' का कृदंत रूप जिसका प्रयोग क्रि० वि० की तरह होता है। (१) रहते हुए। उपस्थिति में। विद्यमानता में। सम्मुख। सामने। उ०—(क) पीपर एक जो महँगे मान। ताकर मर्म न कोऊ जान। डार लफायन कोऊ खाय। खसम अछत बहु पी पर जाय।—कबीर। (ख) सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेस। आपु अछत जुबराज पद, रामहिं देउ नरेस।—तुलसी। (ग) जाके सखा श्यामसुंदर से श्रीपति सकल सुखन के दात। उनके अछत आपने आलस काहे कंत रहत कृशगात।—सूर। (२) सिवाय। अतिरिक्त। उ०—लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा। तुमहि अछत को बरनै पारा।—तुलसी। *(३) [सं० अ=नहीं+अस्ति, प्रा० अच्छाइ=है] न रहते हुए अनुपस्थित। उ०—गनती गनबे तें रहे, छतहूं अछत समान। अलि अब ये तिथि औम लों, परे रहौ तन प्रान।—बिहारी।

अछताना पछताना–क्रि० अ० [सं० पश्चात्ताप, प्रा० पच्छाताव] पछताना। बार बार किसी भूल वा बीती हुई बात पर खेद करना। उ०—ऐसे सोच समझ अछताय पछताय मेघों सहित इंद्र अपने स्थान को गया।—लल्लूलाल।

अछन–संज्ञा पुं० [सं० अ+क्षण] क्षण नहीं। बहुत दिन। दीर्घकाल। चिरकाल। उ०—दैन कहहि फिर देत न जो है। अजस अछन को भाजन सो है।—पद्माकर।
क्रि० वि० धीरे धीरे। ठहर ठहर कर। उ०—प्यारे ए घन गलियन आव। नैनन जल सो धोइ सँवारीं अछन अछन धरि पाव।—रसिकबिहारी।

अछना*–क्रि अ० [सं० अस, प्रा० अच्छ–होना] रहना। विद्यमान रहना। उ०—(क) कह कबीर कछु अछलो न जहिया। हरि बिरवा प्रति पालेसि तहिया।—कबीर। (ख) तब मैं अछलौं मन बैरागी। तजलौं कुटुम राम रट लागी।—कबीर। (ग) अछहिं वे हंस तँबूल सों राती। जनु गुलाल देखैं बिहँसाती।—जायसी

विशेष—इस क्रिया के और सब रूपों का व्यवहार अब बोलचाल से उठ गया है, केवल 'अछत' (=होते हुए) रह गया है।

अछप–वि० [अ+छप–छिपना] न छिपने योग्य। प्रगट। प्रकाश-मान। जाहिर। उ०—खोइ ख्याल समरत्थ कर, रहे सो अछप छपाइ। सोइ संधि लै आयउ, सोवत जगिहि जगाइ।—कबीर।

अछय–वि० दे० "अक्षय"।

अछयकुमार–संज्ञा पुं० दे० "अक्षकुमार"।

अछरा*–संज्ञा स्त्री० [सं० अप्सरा, प्रा० अच्छरा] अप्सरा। स्वर्ग की वारवनिता। उ०—ओहि भँडहहिं सरि कोउ न जीता। अछरइँ छपीं, छपीं गोपीता।—जायसी।

अछरी–संज्ञा स्त्री० [सं० अप्सरा, प्रा० अच्छरा] अप्सरा। स्वर्ग की वारवनिता। उ०—मानउँ मयन मूरती, अछरी बरन अनूप। जेहि कहँ अस पनिहारी, सो रानी केहि रूप।—जायसी।

अछरौटी–संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षर+हिं० औटी (प्रत्य०)] वर्णमाला।
मुहा०–अछरौटी बर्त्तनी=किसी शब्द के प्रत्येक वर्ण का अलग अलग करना। हिज्जे करना।

अछल–वि० [सं०] छलरहित। निष्कपट। सीधा सादा। भोला-भाला।

अछवाना*–क्रि० स० [सं० अच्छ=साफ़] साफ़ करना। सँवारना। उ०—रूप सरूप सिंगार सवाई। अच्छर जैसी रहि अछवाई।—जायसी।

अछवानी–संज्ञा स्त्री० [सं० यवनिका वा यमानी] अजवाइन, सोंठ तथा मेवों को पीस कर घृत में पकाया हुआ मसाला जो प्रसूता स्त्रियों को पिलाया जाता है।

अछाम*–वि० [सं० अक्षाम्] (१) जो पतला न हो। मोटा। बड़ा। भारी। (२) जो क्षीण वा दुबला न हो। हृष्ट-पुष्ट। मोटा-ताज़ा। बलवान।

अछित–क्रि० वि० दे० "अछत"।

अछियार– संज्ञा पुं० [हिं० छीर=किनारा] एक प्रकार की गज्जी की साड़ी जिसमें लाल किनारे होते हैं।

अछी–संज्ञा स्त्री० [देश०] आल का पेड़।

अछूत*–वि० [सं० अ=नहीं+छुप्त=छुआ हुआ, प्रा० अछुत्त] (१) बिना छुआ हुआ। जो छुआ न गया हो। अस्पृष्ट। उ०—भीजे हार चीर हिय चोली। रही अछूत कंत नहिं खोली।—जायसी। (२) जो काम में न लाया गया हो। जो बर्त्ता न गया हो। नया। ताज़ा। कोरा। पवित्र। उ०—ओहि के अधर अँमी भरि राखे। अबहिं अछूत न काहू चाखे।—जायसी।

अछूता–वि० [सं० अ=नहीं+छुप्त=छुआ हुआ] [स्त्री० अछूती] (१) बिना छुआ हुआ। जो छुआ न गया हो। अस्पृष्ट। (२) जो काम में न लाया गया हो। जो बरता न गया हो। नया। कोरा। ताज़ा। पवित्र।

अछेद*–वि० [सं० अच्छेद्य] जिसका छेदन न हो सके। जो कट न सके। अभेद्य। अखंड्य। उ०—अभय अछेद रूप मम जान। जो सब घट है एक समान।—सूर।

संज्ञा पुं० अभेद। अभिन्नता। छलछिद्र का अभाव। उ०—चोला सिद्ध सो पावई, गुरु सों करै अछेद।—जायसी।

अछेद्य–वि० [सं०] जिसका छेदन न हो सके। जो कट न सके। अभेद्य। अविनाशी।

अछेव*–वि० [सं० अच्छेद्य वा अछिद्र] छिद्र वा दूषण रहित। निर्दोष। बेदाग़। उ०—बसन सपेद स्वच्छ पैन्हे आभूषण सब हीरन को मोतिन को रसमि अछेव को।—रघुनाथ।

अछेह*–वि० [सं० अछेद्य] (१) अखंड्य। निरंतर। लगातार। उ०—स्यो बिजुरी जनु मेह, आनि इहाँ बिरहा धर्‍यो। आठौ जाम अछेह, दृग जु बरत बरषत रहत।—बिहारी। (२) अनंत। बहुत अधिक। अत्यंत। ज़्यादा। उ०—(क) दुसह सौति सालैं जु हिय, गनति न नाह बिवाह। धरे रूप गुन को गरब, फिरैं अछेह उछाह।—बिहारी। (ख) बरसत मेह अछेह अति, अति अवनि रही जल पूरि। पथिक तऊ तुव गेह तें, उठी भभूरन भूरि।—पद्माकर। (ग) दरसि दौरि पिय पग परसि, आदर कियो अछेह। नेह गेह पति जानिगो, निरखि चौगुनो नेह।—पद्माकर।

अछोप*–वि० [सं० अ+छुप] आच्छादनरहित। नंगा। नीच। तुच्छ। दीन। उ०—सेवा संजम कर जप पूजा, सबद न तिनको सुनावै। मैं अछोप हीन मति मेरी, दादू को दिखलावै।—दादू।

अछोभ–वि० [सं० अक्षोभ] (१) क्षोभरहित। चंचलतारहित। उद्वेगशून्य। स्थिर। गंभीर। शांत। उ०—वीर व्रती तुम धीर अछोभा। गारी देत न पावहु शोभा।—तुलसी। (२) मोहरहित। मायारहित। खेदरहित। उ०—जब ते ब्राह्मण जनमिया, तबतें परधन लोभ। दे अक्षर कबहूँ नहीं, इन्हते कौन अछोभ।—कबीर। (३) निडर। निर्भय। (४) जिसे बुरा कर्म करते हुए क्षोभ वा ग्लानि न हो। नीच।

अछोह–संज्ञा पुं० [सं० अक्षोभ, प्रा० अच्छोह] (१) क्षोभ का अभाव। शांति। स्थिरता। (२) मोह-शून्यता। दया-शून्यता। करुणा का अभाव। निर्दयता।

अछोह, अछोही–वि० [सं० अक्षोभ, प्रा० अच्छोह] निर्दय। दया-शून्य। निठुर।

अजंगम–संज्ञा पुं० [सं०] छप्पय नामक मात्रिक छंद के ७१ भेदों में से एक। इसमें कुल ११४ वर्ण होते हैं जिनमें ३८ गुरु और ७६ लघु होते हैं। मात्राओं की संख्या १५२ है।

अजंट–संज्ञा पुं० [अं० एजेंट] (१) प्रतिनिधि। किसी दूसरे की ओर से कार्य्य करनेवाला। (२) किसी राजा वा सरकार की ओर से किसी दूसरे राजा वा सरकार के यहाँ नियुक्त किया हुआ व्यक्ति, जिसका कर्त्तव्य आवश्यकतानुसार अपने राजा वा सरकार की इच्छाओं का प्रगट करना और उनके अनुसार कार्य्य करना है। (३) किसी सौदागर की ओर से कमीशन वा कुछ द्रव्य लेकर उसका सौदा बेचनेवाला। गुमाश्ता। अढ़तिया।

अजंटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अजंट+ई] अजंट का कार्यालय। अजंट का दफ़्तर वा उसकी कचहरी।

अजंभ–वि० [सं०] बिना दाँत का। दंतरहित।

संज्ञा पुं० मेढक।

अजंसी–संज्ञा स्त्री० [अं० एजेंसी] (१) अजंट के रहने का स्थान। अजंट का दफ़्तर वा उसकी कचहरी। (२) आढ़त की दूकान जिसमें किसी दूसरे सौदागर वा कारखाने की चीज़ बेचने के लिये रक्खी जाय।

अज–वि० [सं०] जिसका जन्म न हो। अजन्मा। जन्म के बंधन से रहित। स्वयंभू।

संज्ञा पुं० (१) ब्रह्मा। (२) विष्णु। (३) शिव। (४) कामदेव। (५) सूर्य्यवंशीय एक राजा जो दशरथ के पिता थे। वाल्मीकीय रामायण में इन्हें नाभाग का पुत्र लिखा है, पर रघुवंश आदि में इन्हें रघु का पुत्र लिखा है। (६) बकरा। (७) भेंड़ा। (८) माया शक्ति। (९) ज्योतिष में शुक्र की गति के अनुसार तीन तीन नक्षत्रों की जो एक एक वीथी मानी गई है उनमें से एक, जो हस्त, विशाखा और चित्रा नक्षत्र में होती है।

* क्रि० वि० [सं० अद्य, प्रा० अज्ज] अब। अभी तक। यह शब्द "हूं" के साथ आता है अकेले नहीं। उ०—(क) तन मन जोबन जारि कै, भसम किया सब देह। उठी कबीरा बिरहिनी, अजहूं ढूँढ़ै खेह।—कबीर। (ख) अजहूं जाग अजाना, होत आउ निसि भोर। पुनि किछु हाथ न लागि-

हइ, मूसि जाहिं जव चोर।—जायसी। (ग) ताको देखि देखि जीवत हैं अजहूँ इन्द्र सुख पायं।—सूर

अजकर्णक-संज्ञा पुं० [सं०] साल का पेड़।

अजकव-संज्ञा पुं० दे० "अजगव"

अजकाजात-संज्ञा पुं० [सं०] आँख में होनेवाली लाल फूली जो पुतली को ढक लेती है। टेंटड़ वा ढेंढ़ंढ़। नाखुना।

अजगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा।

अजगंधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बर्बरी। बनतुलसी का पौधा।

अजगंधिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काकड़ासींगी।

अजगर-संज्ञा पुं० [सं०] बकरी निगलने वाला साँप। बहुत मोटी जाति का साँप जो अपने शरीर के भारीपन के कारण फुरती से इधर उधर डोल नहीं सकता और बकरी और हिरन ऐसे बड़े पशुओं को निगल जाता है। और सर्पों के समान इसके दाँतों में विष नहीं होता। यह जंतु अपनी स्थूलता और निरुद्यमता के लिये प्रसिद्ध है। उ०—(क) बैठि रहेसि अजगर इव पापी।—तुलसी। (ख) अति प्रचंड पौरुष बल पाए केहरि भूख मरै। बिन आशा बिन उद्यम कीने अजगर पेट भरै।—सूर। (ग) अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गए, सब के दाता राम।—मलूक।

अजगरी-संज्ञा स्त्री० [सं० अजगरीय] अजगर की सी निरुद्यम वृत्ति। बिना परिश्रम की जीविका। उ०—उत्तम भीख जो अजगरी, सुन लीजो निज बैन। कहै कबीर ताके गहे, महापरम सुख चैन।—कबीर।

वि० (१) अजगर की सी। (२) बिना परिश्रम की।

यौ०—अजगरी वृत्ति।

अजगलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूँग के दाने के बराबर छोटी पीड़ारहित फुंसी जो कफ और बात के प्रकोप से शरीर पर निकलती है।

अजगव-संज्ञा पुं० [सं०] शिवजी का धनुष। पिनाक।

अजगुत-संज्ञा पुं० [सं० अयुक्त, पुं० हिं० अजुगुति] (१) युक्ति-विरुद्ध बात। अचंभे की बात। आश्चर्य-जनक भेद। असाधारण बात। अस्वाभाविक व्यापार। अप्राकृतिक घटना। उ०—आई करगी भो अजगुता। जनम जनम जम पहिरे बुता।—कबीर। (२) अयुक्त बात। अनुचित बात। बेजोड़ बात। उ०—सरबस लूटि हमारो लीनो राज कूबरी पावै। ता पर एक सुनो री अजगुत लिख लिख जोग पठावै।—सूर।

वि० आश्चर्यजनक। अद्भुत। बेजोड़। उ०—पापी जाउ जीभ गलि तेरी अजगुत बात विचारी। सिंह को भक्ष्य शृगाल न पावै हौं समरथ की नारी।—सूर।

अज़गब*-संज्ञा पुं० [फा० अज+अ० गैब] अलक्षित स्थान। अदृष्ट स्थान। उ०—दादू हरिये लोकतें, कैसी धरहिं उठाइ। अनदेखी अजगैब, कैसी कहइ बनाइ।—दादू।

अजड़-वि० [सं०] जो जड़ न हो। चेतन।

संज्ञा पुं०। चेतन। चेतन पदार्थ।

अजण-संज्ञा पुं० [सं० अर्जुन] राजा सहस्रार्जुन।—डिं०।

अजथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीले रंग की जूही का पेड़ और फूल। (२) पीली चमेली। ज़र्द चमेली।

अज़दहा-संज्ञा पुं० [फा०] बड़ा मोटा और भारी साँप। अजगर।

अजन-वि० [सं०] जन्मरहित। अजन्मा। जन्म के बंधन से मुक्त। अनादि। स्वयंभू। उ०—शंख, चक्र, गदा, पद्म, चतुर्भुज अजन जन्म लै आयो।—सूर।

वि० [सं०] निर्जन। सुनसान।

अजनबी-वि० [फा०] (१) अज्ञात। अपरिचित। जिसे कोई जानता न हो। बिना जान पहिचान का। नया। परदेसी। (२) अनजान। नावाकिफ़।

अजन्म-वि० दे० "अजन्मा"।

अजन्मा-वि० [सं०] जन्मरहित। जिसका जन्म न हुआ हो। जो जन्म के बंधन में न आवे। अनादि। नित्य। अविनाशी।

अजन्य-संज्ञा पुं० [सं०] शुभाशुभसूचक सृष्टि-व्यापार, जैसे—भूकंप आदि।

अजप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुपाठक। बुरा पढ़नेवाला। (२) बकरी भेड़ पालनेवाला। गड़ेरिया।

अजपा-वि० [सं०] (१) जिसका उच्चारण न किया जाय। (२) जो न जपे वा भजे।

संज्ञा पुं० (१) उच्चारण न किया जानेवाला तांत्रिकों का मंत्र। वह जप जिसके मूल मंत्र "हंसः" का उच्चारण श्वास प्रश्वास के गमनागमन मात्र से होता जाय। हंसःमंत्र। इसका देवता अर्द्धनारीश्वर अर्थात् शिव और शक्ति की संयुक्त मूर्ति है। इस जप की संख्या एक दिन और रात में २१६०० मानी गई है। (२) बकरियों का पालक। गड़ेरिया।

अजब-वि० [अ०] विलक्षण। अद्भुत। आश्चर्यजनक। विचित्र। अनोखा। अनूठा। उ०—कारी निशिकारी घटा, कचरति कारे नाग। कारे कान्हइ पै चली, अजब लगन की लाग।—पद्माकर।

अजभक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बबूल का पेड़ जिसे बकरियाँ अधिक चाव से खाती हैं।

अज़मत-संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रताप। महत्व। शान। प्रभुत्व। (२) चमत्कार।

अज़माइश-संज्ञा स्त्री० दे० "आज़माइश"।

अज़माना-क्रि० स० दे० "आज़माना"।

अज़मूदा-वि० दे० "आज़मूदा"।

अजमोद-संज्ञा पुं० [सं० अजमोदा] [स्त्री० अजमोदिका] अजवायन की तरह का एक पेड़ जो सारे भारत में लगाया जाता है। इसके बीज वा दाने मसाले और ओषधि के

काम में आते हैं। यह अजीर्ण, संग्रहणी, तथा शरीर की पीड़ा दूर करने के लिये प्रसिद्ध है।

पर्या०—उग्रगंधा। बनयमानी। मर्कटी। गंधदला। हस्तिकारवी। मायूरी। शिखिमोदा। बह्निदीपिका।

अजय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराजय। हार (२) छप्पय छंद के ७१ भेदों में से पहिला जिसमें ७० गुरु और १२ लघु मिला कर ८२ वर्ण और १५२ मात्राएँ होती हैं।

वि० न जीतने योग्य। जो जीता न जा सके। अजेय। उ०—जीति को सकै अजय रघुराई। माया तें असि रची न जाई।—तुलसी।

अजयपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संगीत में भैरवराग का पुत्र। यह संपूर्ण जाति का राग है। इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। (२) एक राजा का नाम। (३) जमालगोटा।

अजया—संज्ञा स्त्री० [सं०] विजया। भाँग।

संज्ञा स्त्री० [सं० अजा] बकरी। उ०—खोज पकरि विश्वास गहु, धनी मिलैंगे आय। अजया गजमस्तक चढ़ी, निर्भय कोंपल खाय।—कबीर।

अजय्य—वि० [सं०] अजेय। जो जीता न जा सके।

अजर—वि० [सं०] (१) जरारहित। जो बूढ़ा न हो। जो सदा एक रस रहे। ईश्वर का एक विशेषण।

[सं० अ—नहीं+जृ—पचना] जो न पचे, न हज़म हो।—उ०—अजर अंस अतीथ का, गृही करै जो अहार। निश्चय होय दरिद्री, कहै कबीर विचार।—कबीर।

अजरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घृतकुमारी। घीकुआर। (२) विधारा।

अजरायल—वि० [सं० अजर] जो जीर्ण न हो। जो पुराना न पड़े। जो सदा एक सा रहे। अमिट। पक्का। चिरस्थायी। उ०—श्याम रंग राची ब्रज नारी। और रंग सब दीन्हे डारी। कुसुम रंग गुरुजन पितु माता। हरित रंग भैना अरु भ्राता। दिना चारि में सब मिटि जैहै। श्याम रंग अजरायल रैहै।—सूर।

वि० [सं० अ—नहीं+दर=भय] निर्भय। बेडर। निःशंक। —डिं०।

अजराल—वि० [सं० अ—नहीं+जृ—पुराना पड़ना] बलवान। जोरावर।—डिं०।

अजलोमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] केवाँच का पेड़।

अजवाइन—संज्ञा स्त्री० दे० "अजवायन"।

अजवायन—संज्ञा स्त्री० [सं० यवानिका] अजवायन। यवानी। एक पौधा जो सारे भारतवर्ष में विशेष कर बंगाल में लगाया जाता है। यह पौधा अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस और मिस्र आदि देशों में भी होता है। भारतवर्ष में इसकी बोआई कार्त्तिक, अगहन में होती है। इसके बीज जिनमें एक विशेष प्रकार की महँक होती है और जो स्वाद में तीक्ष्ण होते हैं, मसाले और दवा के काम में आते हैं। भभके पर उतारने से इसमें से अर्क (अमूम का पानी) और तेल निकलता है। भभके से उतारते समय तेल के ऊपर एक सफ़ेद चमकीली चीज़ अलग होकर जम जाती है जो बाज़ार में "अजवायन के फूल" के नाम से बिकती है। अजवायन का प्रयोग हैज़े, पेट के दर्द, बात की पीड़ा आदि में किया जाता है।

अजशृंगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वृक्ष जो भारतवर्ष में प्रायः समुद्र के किनारे होता है। इसकी छाल संकोचक है और ग्रहणी आदि रोगों में दी जाती है। इसका लेप घाव और नासूर को भी भरता है। मेढ़ासिंगी।

अजस*—संज्ञा पुं० [सं० अयश, प्रा० अजसो] अयश। अपयश। अपकीर्त्ति। बुरी ख्याति। बदनामी। उ०—सीय बरनि तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजस को लेई।—तुलसी।

अजसी—वि० [सं० अयशिन्] अपयशी। जिसकी बुरी कीर्त्ति हो। बदनाम। निंद्य। उ०—कौल कामबश कृपण विमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।—तुलसी।

अजस्र—क्रि० वि० [सं०] सदा। निरंतर। हमेशा।

अजहति—संज्ञा० स्त्री० दे० "अजहत्स्वार्था"।

अजहत्स्वार्था—संज्ञा स्त्री० [सं०] अलंकारशास्त्र में लक्षण के दो भेदों में से एक जिसमें लक्षक शब्द अपने वाच्यार्थ को न छोड़कर कुछ भिन्न वा अतिरिक्त अर्थ प्रगट करे। जैसे "भालों के आते ही शत्रु भाग गए"। यहाँ भालों से तात्पर्य्य भाला लिए सिपाहियों से है। इसे उपादान लक्षण भी कहते हैं।

अज़हद—क्रि० वि० [फ़ा०] हद से ज़्यादा। बहुत अधिक।

अजांबिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] भादों बदी एकादशी का नाम जो एक व्रत का दिन है।

अजा—वि० स्त्री० [सं०] जिसका जन्म न हुआ हो। जो उत्पन्न न की गई हो। जन्मरहित।

सं० स्त्री० (१) बकरी। (२) सांख्यमतानुसार प्रकृति वा माया जो किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं की गई और अनादि है। (३) शक्ति। दुर्गा। (४) भादों बदी एकादशी जो एक व्रत का दिन है।

अजाचक—संज्ञा पुं० [सं० अयाचक] न माँगनेवाला। वह जिसे कुछ माँगने की आवश्यकता न हो। संपन्न व्यक्ति।

वि० जो न माँगे। जिसे माँगने की आवश्यकता न हो। संपन्न। भरा पूरा। उ०—बिप्रन दान विविध विधि दीन्हें। जाचक सकल अजाचक कीन्हें।—तुलसी।

अजाची—संज्ञा पुं० [सं० अयाचिन्] न माँगनेवाला। संपन्न पुरुष।

वि० जो न माँगे। जिसे माँगने की आवश्यकता न हो। धन-धान्य से पूर्ण। संपन्न। भरा-पूरा। उ०—कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन को जो कियो अजाची। अब तुलसिहि दुख देत दयानिधि दारुन आस पिसाची।—तुलसी।

अजाजी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सफ़ेद और काला ज़ीरा ।

अजात-वि० [सं०] जो पैदा न हुआ हो । अनुत्पन्न । जन्मरहित । अजन्मा ।

अजातशत्रु-वि० [सं०] जिसका कोई शत्रु न हो । बिना बैरी का । शत्रुविहीन ।

संज्ञा पुं० (१) राजा युधिष्ठिर । (२) शिव । (३) उपनिषद् में वर्णित काशी का एक क्षत्रिय राजा जो बड़ा ज्ञानी था और जिसने गार्ग्य बालाकि ऋषि को बहुत से उपदेश दिए थे । (४) राजगृह (मगध) के राजा बिंबसार का पुत्र जो गौतम बुद्ध का समकालीन था ।

अजाती-वि० [सं० अ+जाति] जातिरहित । जाति से निकाला हुआ । जाति से बाहर । पतित । पंक्तिच्युत । उ०—उसको बिरादरी ने अजाती कर दिया है ।

क्रि०प्र०—करना ।—होना ।

संज्ञा पुं० जाति से अलग किया हुआ आदमी । जातिच्युत व्यक्ति ।

अजान-वि० [सं० अ०-नहीं+ज्ञान, प्रा० आन] (१) जो न जाने । अनजान । अबोध । अनभिज्ञ । अबूझ । नासमझ । उ०—(क) भक्त अरु भगवत एक है बूझत नहीं अजान ।—कबीर । (ख) जानि बूझि मैं होत अजाना । उपजत नाहीं मन मों ज्ञाना ।—सूर । (ग) मैं अजान ह्वै पूँछा साँई । तुम कस पूछहु नर की नाँई ।—तुलसी । (२) न जाना हुआ । अपरिचित । अज्ञात ।

संज्ञा पुं० (१) अज्ञानता । अनभिज्ञता । उ०—मुझ से यह काम अजान में हो गया ।

विशेष—इसका प्रयोग "में" के साथ ही होता है जहाँ दोनों मिलकर क्रियाविशेषणवत् हो जाते हैं ।

(२) एक पेड़ जिसके नीचे जाने से लोग समझते हैं कि बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । यह पेड़ पीपल के बराबर ऊँचा होता है और इसके पत्ते महुवे के से होते हैं । इसमें लंबे लंबे मौर लगते हैं । उ०-कोइ चंदन फूलहि जनु फूली । कोइ अजान बीरउ तर भूली ।—जायसी ।

अजानपन-संज्ञा पुं० [सं० अज्ञान, प्रा० अआन + हिं० पन] अनजानपन । अज्ञानता । नासमझी ।

अजानेय-वि० दे० "आजानेय" ।

अज़ाब-संज्ञा पुं० [अ०] सज़ा । पीड़ा । यातना । प्रायश्चित्त ।

अजामिल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराण के अनुसार एक पापी ब्राह्मण का नाम जो मरते समय अपने पुत्र 'नारायण' का नाम लेकर तर गया ।

अजाय-वि० [अ=नहीं+फा० जाय=जगह] बेजा । अनुचित । उ०—ह्वै सत निर्धन देखि कै मातु कह्यो अनखाय । भए पुत्र ह्वै रंक मम, कीन्हो कंत अजाय ।—रघुराज ।

अजायब-संज्ञा पुं० [अ०] अजब का बहुवचन । अद्भुत वस्तु । विलक्षण पदार्थ वा व्यापार । विचित्र वस्तु वा कर्म्म ।

अजायबख़ाना-संज्ञा पुं० [अ०] वह भवन वा घेरा जिसमें अनेक प्रकार के अद्भुत पदार्थ रक्खे जाते हैं । अद्भुत-वस्तु-संग्रहालय । म्यूज़ियम ।

अजायबघर-संज्ञा पुं० दे० "अजायबख़ाना" ।

अजार*-संज्ञा पुं० [फा० आज़ार] रोग । बीमारी । उ०—कब की अजब अजार में, परी बाम तनछाम । तित कोऊ मति लीजियो, चंद्रोदय को नाम ।—पद्माकर ।

अजारा-संज्ञा पु० दे० "इजारा" ।

अजिऔरा※†-संज्ञा पुं० [सं० आर्या=दादी, प्रा० अज्जा] आजी वा दादी के पिता का घर ।

अजित-वि० [सं०] अपराजित । जो जीता न गया हो ।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु । (२) शिव । (३) बुद्ध ।

अजितनाथ- संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के दूसरे तीर्थंकर का नाम ।

अजिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भादों बदी एकादशी का नाम, जो व्रत का दिन है ।

अजितेंद्रिय-वि० [सं०] जिसने इंद्रियों को जीता न हो । जो इंद्रियों के वश में हो । इंद्रियलोलुप विषयासक्त ।

अजिन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चर्म्म । खाल । छाल । (२) ब्रह्मचारी आदि के धारण करने के लिये कृष्णमृग और व्याघ्र आदि का चर्म्म ।

अजिनयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] मृग । हिरन ।

अजिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँगन । सहन । (२) वायु । हवा । (३) शरीर । (४) मेंढक । (५) इंद्रियों का विषय ।

अजी-अव्य० [सं० अयि !] संबोधन शब्द । जी । उ०—अजी, जाने दो ।

अजीगर्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि जो शुनःशेफ के पिता थे ।

अज़ीज़-वि० [अ०] प्यारा । प्रिय ।

संज्ञा पुं० संबंधी । मित्र । सुहृद् ।

अजीटन-संज्ञा पुं० [अं० अडजुटेंट] सेना का एक सहायक कार्म्मचारी जो कर्नल वा सेनापति को सहायता दे ।

अजीत-वि० दे० "अजित" ।

अजीब-वि० [अ०] विलक्षण । विचित्र । अनोखा । अनूठा । आश्चर्य्यजनक । विस्मयकारक ।

अजीरन-संज्ञा पुं० दे० 'अजीर्ण' ।

अजीर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपच । अध्यसन । बदहज़मी । प्रायः पेट में पित्त के बिगड़ने से यह रोग होता है जिससे भोजन नहीं पचता और वमन, दस्त और शूल आदि उपद्रव होते हैं । आयुर्वेद में इसके ६ भेद बतलाए हैं— (१) आमाजीर्ण जिसमें खाया हुआ अन्न कच्चा गिरे । (२) विदग्धाजीर्ण जिसमें अन्न जल जाता है । (३) विष्टब्धा-

जीर्ण जिसमें अन्न के गोटे वा कंडे बँध कर पेट में पीड़ा उत्पन्न करते हैं। (४) रसशेषाजीर्ण जिसमें अन्न पानी की तरह पतला होकर गिरता है। (५) दिनपाकी अजीर्ण जिसमें खाया हुआ अन्न दिन भर पेट में बना रहता है और भूख नहीं लगती। (६) प्रकृत्याजीर्ण वा सामान्याजीर्ण।

(२) अत्यंत अधिकता। बहुतायत। उ०—उसे वृद्धि का अजीर्ण हो गया (व्यंग्य)।

वि० जो पुराना न हो। नया।

अजीव—संज्ञा पु० [सं०] अचेतन। जीवतत्त्व से भिन्न जड़ पदार्थ।

वि० बिना प्राण का। मृत।

अजुगुत—संज्ञा पु० दे० "अजगुत"।

अजू*—अव्य० [सं० अयि] 'संबोधन शब्द'। "अजी" का व्रजरूपांतर।

अजूजा*—संज्ञा पु० [देश०] बिज्जू की तरह का एक जानवर जो मुर्दा खाता है। उ०—कहैं कवि दूलह समुद्र बड़े सोनित के जुग्गुनि परेते फिरै जंबुक अजूजा से।

अजूबा—वि० [अ०] अद्भुत। अनोखा। अनूठा।

अजूरा*—वि० [सं० अ+युज—जोड़ना] बिना जुड़ा हुआ। अप्राप्त। अनुपस्थित। पृथक्। अलग। जुदा। उ०—रहा जो राजा रतन अजूरा। केहक सिंहासन केहक पतूरा। —जायसी।

संज्ञा पु० [अ०] मजदूरी। भाड़ा।

यौ०—अजूरादार।

अजूह—संज्ञा पु० [सं० युद्ध, प्रा० जुज्झ] युद्ध। लड़ाई। उ०—ताको जो हिमाऊँ साहि हुअ। तासों पठान सों भयो अजूह।—सूदन।

अजे—संज्ञा पु० दे० "अजय"।

अजेइ—वि० दे० "अजेय"।

अजेय—वि० [सं०] न जीतने योग्य। जिसे कोई जीत न सके। उ०—कियो सबै जग काम बस, जीते जिते अजेय। कुसुम सरहिं सर धनुप कर, अगहन गहन न देय।—बिहारी।

अजै—संज्ञा पु० दे० "अजय"।

अजोग*—वि० [सं० अयोग्य] (१) जो योग्य न हो। अनुचित। नामुनासिब। बेठीक। (२) अयुक्त। बेजोड़। बेमेल। (३) नालायक। निकम्मा।

अजोता—संज्ञा पु० [सं० अयुक्त, प्रा० अजुत] चैत्र की पूर्णिमा का दिन। इस दिन बैल नहीं नाधे जाते।

अजोरना—क्रि० स० दे० 'अँजोरना'।

अजौं—क्रि० वि० [सं० अद्य, प्रा० अज्ज] अब भी। अद्यापि। अबतक। उ०—सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर। मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर।—बिहारी।

अज्ञ—वि० [सं०] अज्ञानी। जड़। मूर्ख। अनजान। नासमझ। नादान। उ०—सती हृदय अनुमान किय, सब जानेउ सर्वज्ञ। कीन कपट मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ।—तुलसी।

संज्ञा पु० मूर्ख मनुष्य। जड़ व्यक्ति। अनजान मनुष्य। नादान आदमी। उ०—अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटइ सो करहू।—तुलसी।

अज्ञता—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्खता। जड़ता। नादानी। नासमझी। अज्ञानपन। अनाड़ीपन।

अज्ञात—वि० [सं०] (१) बिना जाना हुआ। अविदित। अप्रगट। नामालूम। अपरिचित।

(२) जिसे ज्ञात न हो। उ०—अज्ञातयौवना।

*क्रि० वि० बिना जाने। अनजाने में। उ० -अनुचित बचन कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।—तुलसी।

अज्ञातनामा—वि० [सं०] (१) जिसके नाम का पता न हो। जिसका नाम विदित न हो। (२) जिसे कोई न जानता हो। अविख्यात। तुच्छ।

अज्ञातवास—संज्ञा पु० [सं०] छिपकर रहना। ऐसे स्थान का निवास जहाँ कोई पता न पा सके। उ०—विराट के यहाँ पांडवों ने एक वर्ष अज्ञातवास किया था।

अज्ञातयौवना—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुग्धा नायिका के दो भेदों में से एक, जिसे अपने यौवन के आगमन का ज्ञान न हो।

अज्ञान—संज्ञा पु० [सं०] (१) बोध का अभाव। जड़ता। मूर्खता अविद्या। मोह। अजानपन।

(२) जीवात्मा को गुण और गुण के कार्यों से पृथक् न समझने का अविवेक।

(३) न्याय में एक निग्रह स्थान। यह उस समय होता है जब वादी प्रतिवादी के तीन बार कहने पर भी किसी ऐसे विषय को समझाने में असमर्थ हो जिसे सब लोग जानते हों।

वि० ज्ञानशून्य। मूर्ख। जड़। नासमझ। अनजान।

अज्ञानता—संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्बोधता। जड़ता। मूर्खता। अविद्या। नासमझी। नादानी।

अज्ञानपन—संज्ञा पु० [सं० अज्ञान+हिं० पन] मूर्खता। जड़ता। नादानी। नासमझी। अजानपन।

अज्ञानी—वि० [सं०] ज्ञानशून्य। मूर्ख। जड़। अविद्याग्रस्त। अनाड़ी। नादान। नासमझ। अबोध।

अज्ञेय—वि० [सं०] न जानने योग्य। जो समझ में न आसके। बुद्धि की पहुँच के बाहर का। ज्ञानातीत। बोधागम्य।

अज्यों—क्रि० वि० दे० "अजौं"।

अझर—वि० [सं० अ=नहीं+झर] जो न झरे। जो न गिरे। जो न बरसे। उ०—चलि सुकेलि घर घन अझर, कारी निसि सुखदानि। कामिनि सोभावानि तू, दामिनि दीपतिवानि। —रामसहाय।

अझोरी*—संज्ञा स्त्री० [सं० दोल-झूलना] झोली। कपड़े की लंबी थैली जो कंधे पर लटकाई जाती है। उ०-बोझरी अझोरी

काँधे आँतिन्ह की मेली बाँधे, मूड़ के कमंडल खपर किए कोरि के। —तुलसी।

अटंबर—संज्ञा पुं० [सं० अट्ट—अधिक, फा० अंबार—ढेर] अटाला। ढेर। राशि।

अटक—संज्ञा पुं० [सं० अ—नहीं+टिक—चलना अथवा सं० आ+टक—बंधन] [क्रि० अटकना, अटकाना। वि० अटकाऊ] (१) रोक। रुकावट। अड़चन। विघ्न। बाधा। उलझन। उ०—घाट बाट कहुँ अटक होइ नहिं सब कोउ देइ निबाहि।—सूर। (२) संकोच। उ०—तुमको जो मुझ से कहने में कोई अटक न हो तो मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ।—ठेठ। (३) सिंध नदी। (४) सिंध नदी पर एक छोटा नगर जहाँ प्राचीन तक्षशिला का होना अनुमान किया जाता है। (५) अकाज। हर्ज। बड़ी आवश्यकता।

क्रि० प्र०—पड़ना। उ०—ह्यां ऊधो काहे को आये कौनसी अटक परी। —सूर।

अटकन*—संज्ञा पुं० दे० "अटक"।

अटकन बटकन—संज्ञा पु० [देश०] छोटे लड़कों का एक खेल। इसमें कई लड़के अपने दोनों हाथों की उँगलियों को ज़मीन पर टेक कर बैठ जाते हैं। एक लड़का सबके पंजों पर एक एक करके उँगली रखता हुआ यह कहता जाता है—"अटकन बटकन दही चटक्कन, अगला झूले बगला झूले, सावन मॉस करेला फूले, फूल फूल की बलियाँ, बाबा गये गंगा, लाए सात पियालियाँ, एक पियाली फूट गई, नेउले की टांग टूट गई, खंडा मारूँ या छुरी"। पूरब में इसको इस प्रकार कहते हैं—"उक्का बुक्का तीन तलुक्का लौवा लाठी चन्दन काठी चन्दन लावैं बूली बूला भादों मास करेला फूला, इजइल बिजइल पान फूल पचकजा" जिस लड़के पर अंतिम शब्द पड़ता है वह छूटता जाता है। जो सबसे पीछे बाकी बच जाता है उसे 'चोर' समझ कर खेल खेला जाता है।

अटकना—क्रि० अ० [सं० अ—नहीं+टिक=चलना] (१) रुकना ठहरना। अड़ना। उ०—तुम चलते चलते अटक क्यों जाते हो? (२) फँसना। उलझना। लगा रहना। उ०—यहि आसा अटक्यो रहै अलि गुलाब के मूल। ह्वैहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल।—बिहारी। (३) प्रेम में फँसना। प्रीति करना। उ०—फिरत जु अटकत कटनि बिनु, रसिक! सुरस न खियाल। अनत अनत निति निति हितनि, कत सकुचावत लाल।—बिहारी। (४) विवाद करना। झगड़ना। उलझना।

अटकर*—संज्ञा स्त्री० दे० "अटकल"।

अटकरना—क्रि० स० [हिं० अटकर] अन्दाज़ करना। अटकल लगाना। अनुमान करना। उ०—बार बार राधा पछितानी। निकसे श्याम सदन ते मेरे इन अटकरि पहिचानी।—सूर।

अटकल—संज्ञा स्त्री० [सं० अट=घूमना+कल=गिनना] [क्रि० अटकना] (१) अनुमान। कल्पना। (२) अंदाज़ तख़मीना। कूत।

क्रि० प्र०—करना।—बैठाना।—लगाना।

अटकलना—क्रि० सं० [स० अट+कल्] अटकल लगाना। अंदाज़ करना। अनुमान करना।

अटकलपच्चू—संज्ञा पु० [हिं० अटकल+सं० पच—पकाना] मोटा अन्दाज़। कपोलकल्पना। अनुमान। उ०—इस अटकलपच्चू से काम न चलेगा।

वि० अन्दाज़ी। ख़याली। ऊटपटाँग। उ०—ये अटकलपच्चू बातें रहने दीजिए।

क्रि० वि० अन्दाज़ से अनुमान से। उ०—रास्ता नहीं देखा है अटकलपच्चू चल रहे हैं।

अटका—संज्ञा पुं० [सं० अद—खाना] जगन्नाथ जी को चढ़ाया हुआ भात जो दूर देशों में भी सुखाकर प्रसाद की भाँति भेजा जाता है।

अटकाना—क्रि० स० [सं० अ नहीं+टिक—चलना [संज्ञा अटकाव] (१) रोकना। ठहराना। अड़ाना। लगाना। (२) फँसाना। उलझाना। (३) डाल रखना। पूरा करने में विलंब करना। उ०—उस काम को अटका मत रखना।

अटकाव—संज्ञा पु० [हिं० अटक] रोक। रुकावट। प्रतिबन्ध। अड़चन। बाधा। विघ्न।

अटखट*—वि० [अनु०] अटसट्ट। अंडबंड। टूटा-फूटा। उ०—बाँस पुराना साज सब अटखट, सरल तिकोन खटोला रे। हमहि दिहल करि कुटिल करमचन्द मंद मोल बिनु डोला रे।—तुलसी।

अटखेली—संज्ञा स्त्री० दे० "अठखेली"।

अटन—संज्ञा पु० [सं०] घूमना। चलना। फिरना। डोलना। यात्रा। भ्रमण।

अटना*—क्रि० अ० [सं० अट्] (१) घूमना। चलना। फिरना। (२) यात्रा करना। सफ़र करना। उ०—जाग जोग जप बिराग तप सुतीर्थ अटत।—तुलसी। (३) पूरा पड़ना। काफ़ी होना।

क्रि० अ० [सं० उट=घास फूस। हिं० ओट] पड़ना। आड़ करना। ओट करना। छेकना। उ०—(क) काटौ कपट्ट जो कान्ह सों कीजै री बाँटौ वे बोल कुबोल कसाई। फाटौ जो घूँघट ओट अटै, सोई दीठि फुरौ अधिकौ जु धँसाई।—केशव। (ख) नेकु अटे पट फूटत आँखि सु देखत हैं कबको ब्रज सोनो।—केशव।

अटपट—वि० [सं० अट=चलना+पत=गिरना] [स्त्री० अटपटी, क्रि० अटपटाना] (१) टेढ़ा। विकट। कठिन। मुश्किल। दुस्तर। (२) गूढ़। जटिल। गहिरा। अनोखा। उ०—(क) सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।—तुलसी (ख) सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरङ्ग उपजावति।—सूर। (ग) हलैं दुहूँ न चलैं दुहूँ, दुहूँ बिसरिगे गेह। इकटक दुहुन दुहूँ लखैं, अटकि अटपटे नेह।—पद्माकर।

(३) ऊटपटाँग । अंडबंड । उलटा-सीधा । बेठिकाने । उ०—(क) अटपटे आसन बैठि कै गोथन कर सीनो । धार अनत ही देखि कै ब्रजपति हँसि दीनों ।—सूर । (ख) कहा लेहुगे खेल में, तजौ अटपटी बात । नैकु हँसौही हैं भई, भौंहैं सौहैं खात ।—बिहारी । (४) गिरता-पड़ता । लड़खड़ाता । उ०—(क) वाही की चित चटपटी, धरत अटपटे पाय । लपट बुझावत बिरह की, कपट भरे हूँ आय ।—बिहारी । (ख) त्रिबली पलोटन सलोट लटपटी सारी चोट चटपटी, अटपटी चाल चटक्यो ।—देव ।

अटपटाना—क्रि० अ० [हिं० अटपट] (१) घबड़ाना । अटकना । अंडबंड होना । लड़खड़ाना । उ०—आलस हैं भरे नैन, बैन अटपटात जात, ऐंड़ात जम्हात गात अङ्ग मोरि बहियाँ झेलि ।—सूर ।

(२) हिचकना । संकोच करना । आगा पीछा करना । उ०—आप कहने में अटपटाते क्यों हैं ?

अटपटी*—संज्ञा स्त्री० [हिं० अटपट] नटखटी । शरारत । अनरीति । उ०—सूधे दान काहे न लेत । और अटपटी छाड़ि नंदसुत रहहु कँपावत बेत ।—सूर ।

अटब्बर—संज्ञा पुं० [सं० आडंबर] (१) आडंबर । दर्प । उ०—बाँधत पाग अटब्बर की ।—श्रीपति । (२) [पंजाबी—टब्बर= परिवार] खान्दान परिवार । कुटुम्ब । कुनबा । उ०—दब्बत अदब्ब महि पब्बय से पीलनु सों गब्बर गरह अरि ठट्ठन निघट्ट कर । बब्बर के बंस के अटब्बर के रच्छक हैं तच्छक अलच्छन सुलच्छन के स्वच्छ घर ।—सूदन ।

अटरनी—संज्ञा पुं० [अ० अटारनी] एक प्रकार का मुख्तार जो कलकत्ता और बंबई हाईकोर्टों में मुअक्किलों के मुकद्दमे लेकर उन्हें ठीक करता है और उनकी पैरवी के लिए बैरिस्टर नियुक्त करता है ।

अटल—वि० [सं० अ=नहीं+टल=व्याकुल वा चंचल होना] (१) जो न टलै । जो न डिगे । स्थिर । निश्चय । उ०—तुलसीस पवननंदन अटल, क्रुद्ध युद्ध कौतुक करै ।—तुलसी । (२) जो न मिटे । जो सदा बना रहे । नित्य । चिरस्थायी । उ०—करि किरपा दीन्हें करुनानिधि अटल भक्ति थिर राज ।—सूर । (३) जो अवश्य हो । जिसका होना निश्चित हो । अवश्यंभावी । उ०—यह बात अटल है, अवश्य होगी । (४) ध्रुव । पक्का । उ०—उसका इस बात में अटल विश्वास है ।

अटलस—संज्ञा पुं० [अं०] वह पुस्तक जिसमें पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों के मानचित्र हों ।

अटहर*—संज्ञा पुं० [सं० अट्ट=अटाला, ऊंचा ढेर] (१) अटाला । ढेर । (२) फेंटा । लपेट । पगड़ी उ०—आप चढ़ी शीश मोहिं दीन्ही बकशीश औ हजार शीश बारे की लगाई अटहर है ।

संज्ञा पुं० [हिं० अटक] अटकाव । अड़चन । दिक्कत । कठिनाई ।

अटा—संज्ञा स्त्री० [सं० अट्ट=अटारी] अटारी । कोठा । घर के ऊपर की कोठरी वा छत । उ०—(क) प्रगटहिं दुरहिं अटन पर भामिनि । चार चपल जनु दमकहिं दमिनि ।—तुलसी । (ख) छिनक चलति ठटकति छिनक भुज प्रीतम गर डारि । चढ़ी अटा देखति घटा, विज्जु छटासी नारि ।—बिहारी

संज्ञा पु० [अट्ट=अतिशय] अटाला । ढेर । राशि । समूह । उ०—एरी ! बलवीर के अहीरन के भीरन में सिमिटि समीरन अबीर को अटा भयो ।—पद्माकर ।

अटाउ—संज्ञा पुं० [सं० अट्ट=अतिक्रमण करना] बिगाड़ । बुराई । नटखटी । शरारत । उ०—आपही अटाउ कै ये लेत नाम मेरो, वे तो बापुरो मिलाप के संताप कर दीने हैं ।

अटाटूट—वि० [सं० अट्ट=ढेर+त्रुटि=टूटना] नितांत । बिल्कुल ।

अटारी—संज्ञा स्त्री० [सं० अट्टाली—कोठा] कोठा । दीवारों के ऊपर छत पाट कर बनाई हुई कोठरी । सबके ऊपर की कोठरी वा छत । चौबारा ।

अटाल—संज्ञा पुं० [सं० अट्टाल=कोठा] बुर्ज । धरहरा ।—डिं० ।

अटाला—संज्ञा पुं० [सं० अट्टाल] (१) ढेर । राशि । अंबार । (२) सामान । असबाब । सामग्री । (३) कस्साइयों की बस्ती या मुहल्ला ।

अटी—संज्ञा स्त्री० [सं० अटी] एक चिड़िया जो पानी के किनारे रहती है । चाहा ।

अटूट—वि० [सं० अ=नहीं+त्रुट=टूटना] (१) न टूटने योग्य । अखंडनीय । अछेद्य । दृढ़ । पुष्ट मज़बूत । (२) जिसका पतन न हो । अजेय (३) अखंड । लगातार । (४) जो न चुके । बहुत । उ०—अटूट संपत्ति ।

अटेरन—संज्ञा पुं० [सं० अट्=घूमना, एकत्र करना] [क्रि० अटेरना]

(१) सूत की आँटी बनाने का लकड़ी का एक यंत्र । ६ इंच की एक लकड़ी के दोनों सिरों पर सूत लपेटने के लिये दो आड़ी लकड़ियाँ लगाई जाती हैं जो दोनों ओर प्रायः तीन तीन इंच बढ़ी रहती हैं । इन लकड़ियों में नीचे की लकड़ी कुछ बड़ी और ऊपर की लकड़ी पृष्ठ के बल रक्खे हुए धनुष के आकार की होती है । ओयना ।

मुहा०—होना=हड्डी हड्डी निकलना । अत्यन्त दुर्बल होना ।

(२) घोड़े को कावा वा चक्कर देने की एक रीति ।

क्रि० प्र०—फेरना ।

(३) कुश्ती का एक पेंच ।

मुहा०—कर देना=दाव में डाल कर चकरा देना । दम न लेने देना ।

अटेरना—क्रि० सं० [हिं० अटेरन] (१) अटेरन से सूत की आँटी बनाना । (२) † मात्रा से अधिक मद्य वा नशा पीना उ०—क्या कहना है लाला जी खूब अटेरे हैं ।

अटोक*–वि० [सं० अ+तर्क, प्रा० तक्क=टोकना] बिना रोक टोक का । उ०—जुनि संवत चौंतीस में, दियो जलोदो ग्राम । अरु अटोक ड्योढ़ी करी, पैठत बखत तमाम ।—मतिराम ।

अट्ट*–संज्ञा पुं० [सं० हट्ट=बाजार] हाट । बाज़ार ।—डिं० ।

अट्टट्टहास–संज्ञा पुं० [सं०] बड़े जोर की हँसी । ठठाकर हँसना । क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अट्टहास–संज्ञा पुं० [सं०] जोर की हँसी । खिलखिलाना । क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अट्टहासक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खिलखिला कर हँसनेवाला । (२) कुंद का फूल और पेड़ ।

अट्टा–संज्ञा पुं० [सं० अट्ट=बुर्ज] मचान ।

अट्टाट्टहास–संज्ञा पुं० दे० "अट्टहास" ।

अट्टालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] अटारी । कोठा ।

अट्टी–संज्ञा स्त्री० [सं० अट्=घूमना, बढ़ाना] अटेरन पर लपेटा हुआ सूत वा ऊन । लच्छा । पोला । किरची ।

अट्ठा–संज्ञा पुं० [सं० अष्ट, प्रा० अट्ठ] ताश का एक पत्ता जिस पर किसी रंग की आठ बूटियाँ होती हैं ।

अट्ठाइस–वि० दे० "अट्ठाईस" ।

अट्ठाइसवाँ–वि० [हिं० अट्ठाईस] जिसका स्थान सत्ताइसवें के उपरांत हो । क्रम वा गिनती में जिसका स्थान अट्ठाइसवाँ हो ।

अट्ठाईस–वि० [सं० अष्टाविंशति, पा० अट्ठावीसा प्रा० अट्ठाइस, अप० अट्ठाइस] एक संख्या बीस और आठ । २८ ।

अट्ठानवे–वि० [सं० अष्टानवति, पा० अट्ठानवति, प्रा० अट्ठाणवइ] एक संख्या । नब्बे और आठ । ९८ ।

अट्ठानवेवाँ–वि० [दे० अट्ठानवे] जिसका स्थान सत्तानवे के उपरांत हो । क्रम वा संख्या में जिसका स्थान अट्ठानवेवाँ हो ।

अट्ठावन–वि० [सं० अष्टपंचाशत, प्रा० अट्ठावण्ण] एक संख्या । पचास और आठ । ५८ ।

अट्ठावनवाँ–वि० [दे० अट्ठावन] जिसका स्थान सत्तावन के उपरांत हो । क्रम वा संख्या में जिसका स्थान अट्ठावनवाँ हो ।

अट्ठासिवाँ–वि० [दे० अट्ठासी] जिसका स्थान सत्तासिवें के उपरांत हो । क्रम वा संख्या में जिसका स्थान अट्ठासिवाँ हो ।

अट्ठासी–वि० दे० "अठासी" ।

अठंग*—संज्ञा पुं० [सं० अष्टांग] अष्टांग योगी । उ०—उठत उरोजन उठाय उर ऐंठ भुज ओठन अमेठै अंग आठहू अठंग सी । देव मनमोहन की डीठिही भिठानी पीठि दै दै क्यों बढ़ानी सौहैं भौहैं भरि भंग सी । तेरेई अनूप रूप रीझै रिझवार जिन झाई सो रिझाई रमा रूप के तरंग सी । गरबीली गूजरी गोविंद को गनै न तू तो बाँधे गुन गगन चढ़ाए फिरै चंग सी ।—देव ।

अठ*–वि० [सं० अष्ट । प्रा० अट्ठ] आठ ।—डिं० ।

अठइसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० अट्ठाइस] २८ गाही अर्थात् १४० फलों की संख्या जिसे फलों के लेन देन में सैकड़ा मानते हैं ।

अठकौसल–संज्ञा पुं० [हिं० आठ+सं० कौशल] (१) गोष्ठी । पंचायत । (२) सलाह । मंत्रणा । क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अठखेलपन–संज्ञा पुं [सं० अष्टक्रीड़ा, प्रा० अट्ठखेड्डु, अट्ठखेल] चंचलता । चपलता । चुलबुलापन ।

अठखेली–संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टक्रीड़ा, प्रा० अट्ठखेड्डु, अट्ठखेल] (१) विनोदक्रीड़ा । चपलता । कलोल । चंचलता । चुलबुलापन । (२) मतवाली चाल । मस्तानी चाल । क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

अठत्तर–वि० दे० "अठहत्तर" ।

अठन्नी–संज्ञा स्त्री० [हिं० आठ+आना] आठ आने का चाँदी का सिक्का ।

अठपतिया–संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टपत्रिका, प्रा० अट्ठपत्तिका, प्रा० अट्ठपत्तिआ] एक प्रकार की पत्थर की नक्काशी जिसमें आठ दलों के फूल बनाए जाते हैं ।

अठपहला–वि० [सं० अष्टपटल, पा० अट्ठपटल] आठ कोनेवाला । जिसमें आठ पार्श्व हों ।

अठपाव*–संज्ञा पुं० [सं० अष्टपाद, पा० अट्ठपाद, प्रा० अट्ठपाव] उपद्रव । ऊधम । शरारत । उ०—भूषण क्यों अफ़ज़ल बचै अठपाव के सिंह को पाँव उमेठो ?—भूषण ।

अठबन्ना–संज्ञा पुं० [सं० अट्=घूमना+बंधन] वह बाँस जिस पर जुलाहे लोग करघे की लंबाई से बढ़ा हुआ ताने का सूत लपेट रखते हैं और ज्यों ज्यों बुनते जाते हैं उस पर से सूत खींचते जाते हैं ।

अठमासा–संज्ञा पुं० [सं० अष्ट, प्रा० अट्ठ+सं० मास] वह खेत जो आषाढ़ से माघ तक समय समय पर जोता जाता रहे और जिसमें ईख बोई जाय । अठवाँसा ।

अठमासी–संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टमाष] आठ माशे का सोने का सिक्का । सावरिन । गिनी ।

अठलाना*–क्रि० अ० [हिं० ऐंठ+लाना] (१) ऐंठ दिखलाना । इतराना । गर्व जनाना । ठसक दिखाना । उ०—(१) नंद दुहाई देत कहा तुम कंस दोहाई । काहे को अठिलात कान्ह, छाड़ो लरिकाई ।—सूर । (ख) कैसी फिरै अठिलाति गँवारिनि हार गरे पहिरे घुंघची को ।—रघुनाथ । (२) चोचला करना । नख़रा करना । उ०—(क) जैसे चले अठिलैये उतै इत कान्ह खरी वृषभानु कुमारि है ।—संभु । (ख) गदराने तन गोरटी, ऐपन आड लिलार । हूठ्यो दै अठिलाय दृग, करै गँवारि सुनार ।—बिहारी । (३) मदोन्मत्त होना । मस्ती दिखाना । उ०—देखौ जाय और काहू को हरि पै सबै हरित मँडरानी । सूरदास प्रभु मेरो

नान्हो तुम तरुणी डोलति अठिलानी ।—सूर । (४) छेड़ने के लिये जान बूझ कर अनजान बनना ।

अठवना*–क्रि० अ० [सं० स्थान, पा० ठान-ठहराव] जमना । ठनना । उ० -मैं आवत या थान दुग्ग की होय तयारी । करो मोरचा सबै तोपखानो सब जारी । सब जारी करि देहु शत्रु आवत है अठयो । सिंह बहादुर पास साँडिया को लिख पठयो ।—सूदन ।

अठवाँस–संज्ञा पुं० [सं० अष्टपार्श्व] अठपहली वस्तु । अठपहले पत्थर का टुकड़ा ।

वि० अठपहला । अठकोना ।

अठवाँसा-वि० [सं० अष्टमास, पा० अट्ठमास] वह गर्भ जो आठही महीने में उत्पन्न हो जाय ।

संज्ञा पुं० (१) सीमंत संस्कार । (२) वह खेत जो असाढ़ से माघ तक समय समय पर जोता जाता रहे और जिसमें ईख बोई जाय ।

अठवारा–संज्ञा पुं० [सं० अष्ट, पा० अट्ठ+सं० वार] आठ दिन का समय । पक्ष का आधा भाग । सप्ताह । हफ्ता ।

अठवारी–संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टवार, पा० अट्ठवार] वह रीति जिसके अनुसार असामी जोताई के समय प्रति आठवें दिन अपना हल बैल ज़मींदार को खेत जोतने के लिये देता है ।

अठवाली–संज्ञा स्त्री० [हिं० आठ+सं० वाही] (१) वह लकड़ी का टुकड़ा जो किसी भारी चीज़ में बाँधा जाता है और जिसमें संगरे लगाकर पेशराज लोग उस भारी चीज़ को उठाते हैं। (२) वह पालकी जिसको आठ कहार उठाते हैं। अठकरी ।

अठसिल्या*–संज्ञा पुं० [सं० अष्टशिला, पा० अट्ठसिला,] सिंहासन। उ०—देखि सखिन हँसि पाँय पखारे । मणिमय अठसिल्या बैठारे ।—विश्राम ।

अठहत्तर–वि० [सं० अष्टसप्तति, प्रा० अट्ठहत्तरि] एक संख्या । सत्तर और आठ । ७८ ।

अठहत्तरवाँ–वि० [दे० अठहत्तर] जिसका स्थान सतहत्तरवें के उपरांत हो । क्रम वा संख्या में जिसका स्थान अठहत्तरवाँ हो ।

अठान-संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+हिं० ठानना] (१) न ठानने योग्य कार्य्य । अकरणीय कर्म्म । अयोग्य वा दुष्कर कर्म । उ०—(क) तजत अठानन हठ परयो, सठमति आठौं जाम। रहै बाम वा बाम को भयो काम बेकाम ।—बिहारी । (ख) घरहाई चवाव न जो करती तो हितू तिनहूँ को बखानती मैं। हनुमान परोसिनहू हित की कहती तो अठान न ठानती मैं ।—हनुमान । (ग) क्यों मन मूढ़ छबीली के अंगनि जाय परयो रे मसा जिमि भीर में । ठानी अठान अयान जु आप तो ताहि को आनि मकै पुनि नीर में ।—कोई कवि ।

(२) बैर । शत्रुता । विरोध । झगड़ा । उ०—(क) ठाने अठान जेठानिन हूँ सब लोगन हूँ अकलंक लगाए ।—कोई कवि । (ख) है दुंदुभि डंके, होत निसंके क्रूर ग्रह ज्यों कोपि कढ़े । अहमद खाँ संगै करत उमंगै ठानि अठान पठान चढ़े ।—सूदन ।

अठाना*†–क्रि० स० [सं० अट्ट-वध करना] (१) सताना । पीड़ित करना । उ०—आजु सुन्यो अपने पिय प्यारे को काम महा रघुनाथ अठाए ।—रघुनाथ ।

(२) क्रि० स० [सं० स्थान=स्थिति, ठहराव, ठानना । प्रा० ठान] मचाना । ठानना । जमाना । छेड़ना । उ०—(क) जानि जुद्ध असनेक अठायो । तहवर खाँ इहि देश पठायो ।—लाल । (ख) घास हरैंथा कुँवरजी रनरंग अठाया । तिस कागज के बाँचते सूरज मुसक्याया ।—सूदन ।

अठारह–वि० [सं० अष्टादश, पा० अट्ठादस, प्रा० अट्ठारस] एक संख्या । दस और आठ । १८ ।

संज्ञा पुं० (१) काव्य में पुराणसूचक संकेत वा शब्द । (२) चौसर का एक दाव । पासे की एक संख्या । उ०—ढारि पासा साधु संगति केरि रसना सारि । दाँव अब के परयो पूरो कुमति पिछली हारि । राखि सत्रह सुनि अठारह चोर पाँचों मारि ।—सूर ।

अठारहवाँ–वि० [सं० अष्टादशन, प्रा० अट्ठारसम, अप० अट्ठारहम, अट्ठारहवाँ] जिसका स्थान सत्रहवें के उपरांत हो । क्रम वा गिनती में जिसका स्थान अठारह पर हो ।

अठासिवाँ–वि० [दे० अठासी] जिसका स्थान सत्तासिवाँ के उपरांत हो । क्रम वा संख्या में जिसका स्थान अठासिवाँ हो ।

अठासी–वि० [स० अष्टाशीति, प्रा० अट्ठासीइ, अप० अट्ठासि] एक संख्या । अस्सी और आठ । ८८ ।

अठिलाना*–क्रि० अ० दे० "अठलाना" ।

अठेल*–वि० [सं० अ=नहीं+हिं० ठेलना] बलवान् । मज़बूत ज़ोरावर ।—डिं० ।

अठोठ*– संज्ञा पुं० [सं० अष्ट+हिं० ओट । अथवा हिं० ठाट] ठाट । आडंबर । पाखंड । उ०—लाज के अठोठ कैकै बैठती न ओट दैदै घूँघट कै काहे को कपट पट तानती । डारि देती डर कर ऐंचती न कोप करि डीठे चोरि पीठि मोरि हौं न हठ ठानती । देव सुख सोवती न रोवती सुहाग रैन मेटि ताप ही ते आप ही ते सुख मानती। हाय हाय काहे को तितेक दुख देखती जो प्रीतम को मिले को इतेक सुख जानती ।—देव।

अठोतरसो–संज्ञा पुं० [सं० अष्टोत्तरशत, पा० अट्ठुत्तरसत] आठ के ऊपर सौ । एक सौ आठ ।

अठोतरी–संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टोत्तरी] एक सौ आठ दानों की जपमाला।

अठौरा–संज्ञा पुं० [सं० अष्ट, प्रा० अट्ठ+हिं० औरा (प्रत्य०)] लगे हुए पान की आठ बीड़ों की खोंगी ।

अड़ंगा–सं० [अ=नहीं+टिक–चलना] **टाँग अड़ाना । अटकाव । रुकावट । अड़चन । हस्तक्षेप ।**

क्रि० प्र०—डालना ।—लगाना ।

अडंड*–वि० [अदण्ड्य–न दंड देने योग्य] **(१) अदंडनीय । जिसको दंड न दे सकें । (२) निर्भय । निर्द्वंद्व ।**

अडंवर*–संज्ञा पुं० **दे० "आडंबर" ।**

अड़–संज्ञा पुं० [सं० हठ–ज़िद, वा अड्डु समाधान अभियोग] क्रि० अड़ना, अड़ाना । वि० अड़दार, अड़ियल] **हठ । टेक । ज़िद ।**

अड़काना†–क्रि० स० **दे० "अड़ाना" ।**

अडग–वि० [हिं० अड़ना+अग] **न डिगनेवाला । अटल ।** अचल । **—डिं० ।**

अडिगरध*–वि० [?] **स्थिर ।—डिं० ।**

अड़गोड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० अड़ रोक+हिं० गोड़–पाउ] **एक लकड़ी का टुकड़ा जिसे एक सिरे पर छेद कर नटखट चौपायों के गले में बाँधते हैं जो दौड़ते समय उनके अगले पैरों में लगता है और जिससे वे बहुत तेज़ भाग नहीं सकते । ठंगुर । ठेकुर । डेंगना ।**

अड़चन–संज्ञा स्त्री० [हिं० अड़ना+चल] **रुकावट । अंडस । बाधा । आपत्ति । कठिनाई । दिक़्क़त । उ०—आगे चलकर इस काम में बड़ी बड़ी अड़चनें पड़ेंगी ।**

अड़डंडा–संज्ञा पुं० [हिं० अड़–टिकाव+डंडा] **वह लकड़ी वा बाँस का डंडा जिसके दोनों छोरों पर लट्टू दने रहते हैं । यह डंडा मस्तूल पर चिड़ियों के अड्डे की तरह बँधा रहता है और इसी पर पाल चढ़ाई जाती है ।**

अड़ड़पोपो–संज्ञा पुं० [देश०] **(१) सामुद्रिक विद्या जाननेवाला । हाथ को देखकर जीवन की घटनाओं को बतलानेवाला । (२) पाखंडी । धर्मध्वजी । झूठमूठ आडंबर करनेवाला । (३) वृथालापी । बकवादी । गप्पी ।**

अड़तल–संज्ञा पुं० [हिं० आड़+सं० तल] **(१) ओट । ओझल । आड़ । (२) छाया । शरण । (३) बहाना । हीला । उज़्र ।**

मुहा०—पकड़ना वा लेना (१) पनाह लेना । शरण में जाना । (२) बहाना करना ।

अड़तालिस–वि० **दे० "अड़तालीस" ।**

अड़तालिसवाँ–वि० [दे० अड़तालीस] **जिसका स्थान सैंतालीसवें के उपरांत हो । क्रम वा संख्या में जिसका स्थान अड़तालिसवाँ हो ।**

अड़तालीस–वि० [सं० अष्टचत्वारिंशत, पा० अट्ठचत्तालीस, अटठतालीस] **एक संख्या । चालीस और आठ । ४८ ।**

अड़तीस–वि० [सं० अष्टत्रिंशत, प्रा० अट्ठतीस] **एक संख्या । तीस और आठ । ३८ ।**

अड़तीसवाँ–वि० [दे० अड़तीस] **जिसका स्थान सैंतीसवें के उपरांत हो । क्रम वा संख्या में जिसका स्थान अड़तीसवाँ हो ।**

अड़दार–वि० [हिं० अड़ना+फा० दार [प्रत्य०] **(१) अड़ियल रुकनेवाला । उ०—अली चली नवलाहि लै, पिय पै साजि सिंगार । ज्यों मतंग अड़दार को, लिए जात गड़दार ।—मतिराम । (२) ऐंड़दार । मस्त । मतवाला । उ०—अरे तैं गुसुलखाने बीच ऐसे उमराव लै चले मनाय महाराज सिवराज को । दावदार निरखि रिसानो दीह दल राय जैसे गड़दार अड़दार गजराज को ।—भूषण ।**

अड़ना–क्रि० अ० [सं० अल–धारण करना] **(१) रुकना । अटकना । ठहरना । (२) हठ करना । टेक बाँधना । ठानना । उ०—बिरहा सेती मति अड़ै, रे मन मोर सुजान । हाड़ मास रग खात है, जीवत करै मसान ।—कबीर ।**

अड़पायल–वि० [?] **ज़ोरावर । बलवान ।—डिं० ।**

अड़बंग*†–वि० पुं० [हिं० अड़ना+सं० वक्र, प्रा० वंक टेढ़ा] **(१) टेढ़ा-मेढ़ा । ऊँचा-नीचा । अड़बड़ । अटपट । (२) विकट । कठिन । दुर्गम । उ०—रास्ता अड़बंग है ।**

(३) विलक्षण । अनोखा । अद्भुत । उ०—नहिं जागत उपाय कछु लागत कुंभकरण अड़बंगा ।—रघुराज ।

अडर*–वि० [सं० अ०+हिं० डर] **निडर । निर्भय । बेडर । बेख़ौफ़ ।**

अड़व–संज्ञा पुं० [सं०] **वह राग जिसमें षड्ज, गांधार, मध्यम, धैवत और निषाद ये पाँच स्वर आवें ।**

अडवोकेट– संज्ञा पुं० [अं०] **वह वकील जिसको वकालतनामा दाख़िल करने की ज़रूरत नहीं होती ।**

अड़सठ–वि० [सं० अष्टषष्ठि, प्रा० अट्ठसट्ठि] **एक संख्या । साठ और आठ । ६८ ।**

अड़सठवाँ–वि० [दे० अड़सठ] **जिसका स्थान सड़सठवें के उपरांत हो । क्रम वा संख्या में जिसका स्थान अड़सठवाँ हो ।**

अड़हुल संज्ञा पुं [सं० ओड्र+फुल्ल, हिं० ओड़हुल] **देवी फूल । जप वा जवा पुष्प । इसका पेड़ ६, ७, फुट ऊँचा होता है और पत्तियाँ हरसिंगार से मिलती-जुलती होती हैं । फूल इसका बहुत बड़ा और ख़ूब लाल होता है । इसके फूल में महँक (गंध) नहीं होती ।**

अड़ाड़–संज्ञा पुं० [हिं० आड़] **(१) चौपायों के रहने का हाता जो प्रायः बस्ती के बाहर होता है । लकड़ियों का घेरा जिसमें रात को चौपाये हाँक दिये जाते हैं । खरिक । (२) दे० अड़ार ।**

अड़ान–संज्ञा पुं० [सं० अड्डु समाधान] **(१) रुकने की जगह । (२) पड़ाव । वह स्थान जहाँ पथिक लोग विश्राम लें ।**

अड़ाना–क्रि० सं० [हिं० अड़ना] **(१) टिकाना । रोकना । ठहराना । अटकाना । फँसाना । उलझाना । (२) टेकना । ठाट लगाना । उ०—अफ़सोस यहै कहि बेनी प्रवीन जो औरन के तू अराये अरै ।—बेनी प्रवीन ।**

(३) कोई वस्तु बीच में देकर गति रोकना। । उ०—पहिए में रोड़ा अड़ादे।
(४) ठूसना। भरना। उ०—इस बिल में रोड़ा अड़ादे।
(५) गिराना। ढरकाना।
संज्ञा पु० (१) एक राग जो कान्हड़ा का भेद है। (२) खड़ी वा तिरछी लकड़ी जो गिरती हुई छत, दीवार, वा पेड़ आदि को गिरने से बचाने के लिए लगाई जाती है। डाट। चाँड़। थूनी। ठेवा।

अड़ानी—संज्ञा पु० [देश०] बड़ा पंखा। उ०—बहु छत्र अड़ानी कलस धुज राजत राजत कनक के।—गि० दा०।
संज्ञा पु० [हिं० अड़ना] कुश्ती का एक पेंच। अड़ंगा। दूसरे की टाँग में अपनी टाँग अड़ाकर पटकने का दाँव।

अड़ायतो—वि० [हिं० अड़] अड़ैतो। जो आड़ करै। ओटकरनेवाला। (व्रज) उ०—क्यों न गड़ि जाहु गाड़ गहिरी गड़ति जिन्हें गोरी गुरुजन लाज निगड़ गड़ायती। ओड़ी न परत री निगोड़िन की ओड़ी दीठि लागे उठि आगे उठि होत हैं अड़ायती।—देव।

अड़ार—संज्ञा पु० [सं० अट्टाल—बुर्ज, ऊँचा स्थान] (१) समूह। राशि। ढेर। उ०—मम पितु अन्न अड़ार जुहायो। क्रम क्रम ते सब जनन बटायो।—विश्राम। (२) ईंधन का ढेर जो बेचने के लिये रक्खा हो। (३) लकड़ी वा ईंधन की दुकान।

अड़ाल—संज्ञा पु० [सं०] नृत्य का एक भेद। चिड़ियों के पंख की तरह हाथ फटफटा कर एक ही स्थान पर चक्कर देना। मयूरनृत्य।

अडिग*—वि० [सं०—नहीं+हिं० डिगना] जो हिले-डोले नहीं। निश्चल। स्थिर।

अड़ियल—वि० [हिं० अड़ना] (१) रुकनेवाला। अड़कर चलनेवाला। चलते चलते रुक जानेवाला। उ०—अड़ियल टट्टू। (२) सुस्त। काम में देर लगानेवाला। मट्ठर। (३) हठी। ज़िद्दी।

अड़िया—संज्ञा स्त्री० [हिं० अड़ना] अड्डे के आकार की एक लकड़ी जिसे टेक कर साधु लोग बैठते हैं। साधुओं की कुबड़ी वा तकिया।
मुहा०—अड़िया करना=जहाज के लंगर की रस्सी खींचना।

अड़िल्ल—संज्ञा पुं० दे० "अरिल"।

अड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० अड़ना] (१) अड़ान। ज़िद। हठ। आग्रह। (२) रोक।
क्रि० प्र०—करना=हिरन की तरह छलाँग मारना।
(३) ऐसा अवसर जब कोई काम रुका हो। ज़रूरत का वक्त। मौक़ा।

अड़ीखंभ*—वि० [हिं० अड़ा+खंभ] ज़ोरावर। बली।—डिं०।

अडीठ—वि० [सं० अदृष्ट, पा० अदिष्ट, प्रा० अदिट्ठ] (१) जो दिखाई न पड़े। लुप्त। (२) छिपा हुआ। अंतर्हित। गुपचुप।

अडूलना*—क्रि० स० [सं० उत्=ऊँचा+इल=फेंकना] ढालना। उड़ेलना। डालना। गिराना। उ०—जहाँ आठहूँ भाँति के कंज फूले। मनो नीर आकाश ते तारे अडूले। सूदन।

अडूसा—संज्ञा पु० [सं० अटरूष, प्रा० अटरूस] एक विशेष ओषधि जिसका पेड़ ३, ४ फुट तक ऊँचा होता है। इसका पत्ता हलके हरे रंग का आम के पत्ते से मिलता-जुलता होता है। इसकी प्रत्येक गाँठ पर दो दो पत्ते होते हैं। इसके सफ़ेद रंग के फूल जटा में गुथे हुए निकलते हैं जिनमें थोड़ा सा मीठा रस होता है जो कास, श्वास, क्षयी आदि रोगों में दिया जाता है।

अडोर—संज्ञा पु० [सं० आन्दोलन—हलचल] अंदोर। तुमुल शब्द। शोर। गुल। उ०—बाजन बाजे होय अडोरा। आवहिं बहल हरित औ घोरा।—जायसी।

अडोल—वि० [सं० अ—नहीं+हिं० डोलना] (१) अटल। जो हिले नहीं। उ०—प्रेम अडोल डुलै नहीं मुख बोलै अनखाय। चित उनकी मूरति बसी चितवन माहिं लखाय।—बिहारी।
(२) स्तब्ध। ठकमारा। उ०—चित्र के मंदिर ते इक सुंदरि क्यों निकसी जिन्हें नेह नसा है। त्यों पद्माकर खोलि रही दृग बोलै न बोल अडोल दसा है॥ भृंगी प्रसंग ते भृंगही होत जु पै जग में जड़ कीट महा है। मोहन मीत को चित्र लिखे भइ चित्र ही सी तो विचित्र कहा है।—पद्माकर।

अड़ोस पड़ोस—संज्ञा पुं० [सं० पार्श्व पड़ोस] आस पास। क़रीब।

अड़ोसी पड़ोसी—संज्ञा पु० [सं० पार्श्व—पड़ोस] आस पास का रहनेवाला। हमसाया।

अड्डा—संज्ञा पु० [सं० अट्टा—ऊँची जगह] (१) टिकने की जगह। ठहरने का स्थान। (२) मिलने वा इकट्ठा होने की जगह। (३) बदमाशों के मिलने वा बैठने की जगह। (४) वह स्थान जहाँ पर सवारी वा पालकी उठानेवाले कहार भाड़े पर मिलें। (५) रंडियों के इकट्ठा होने का स्थान। कुटनियों का डेरा जहाँ व्यभिचारिणी स्त्रियाँ इकट्ठी होती हैं। (६) केन्द्र स्थान। प्रधान स्थान। उ०—वही तो इन सब बुराइयों का अड्डा है। (७) लकड़ी वा लोहे की छड़ जो चिड़ियों के बैठने के लिये पिंजड़े के भीतर आड़ी लगायी जाती है। (८) बुलबुल, तोता आदि चिड़ियों के बैठने के लिये लोहे की एक छड़ जिसका एक सिरा तो ज़मीन में गाड़ने के लिये नुकीला होता है और दूसरे सिरे पर एक छोटी आड़ी छड़ लगी रहती है। (९) पचास साठ तह के कपड़े का गद्दा जिसको छीपी चौकी पर बिछा कर उसी के ऊपर कपड़ा रख कर छापते हैं। (१०) चौखूँटा लकड़ी का ढाँचा जिस पर

इज़ारबंद वग़ैरह बुने जाते हैं और कारचोबी का काम भी होता है। चौकठा। (११) एक चार हाथ लंबी, चार अंगुल चौड़ी और चार अंगुल मोटी लकड़ी जिसके किनारे पर बहुत सी खूँटियाँ, जिन पर बादले का ताना तना जाता है, लगी रहती हैं। (१२) ऊँचे बाँस पर बँधी हुई एक टट्टी जो कबूतरों के बैठने के लिये होती है। कबूतरों की छतरी। (१३) एक लंबा बाँस जो दो बाँसों को गाड़ कर उनके सिरों पर आड़ा बाँध दिया जाता है। (१४) लोहे वा काठ की एक पटरी जो बीचोबीच लगी हुई एक लकड़ी के सहारे पर खड़ी की जाती है। इसी पर रुखानी को टिका कर खरादनेवाले खरादते हैं। (१५) खँड़साल में काम आनेवाली एक बाँस की टट्टी। (१६) एक लकड़ी जो रहँट में इस अभिप्राय से लगाई जाती है कि वह उलटा न घूम सके। (१७) जुलाहे का करघा। उन लकड़ियों का समूह जिन पर जुलाहे सूत चढ़ा कर बुनते हैं। (१८) एक लकड़ी जिस पर नेवार बुन बुनकर लपेटी जाती है।

अड्डी–संज्ञा स्त्री० (हिं० अड्डा) (१) एक बरमा जिससे गड़गड़ा आदि लंबी चीज़ों को छेदते हैं। (२) जूते का किनारा।

अड्रेस–संज्ञा स्त्री० [अं] (१) अभिनंदनपत्र। वह लेख व प्रार्थनापत्र जो किसी महापुरुष के आगमन के समय उसे संबोधन करके सुनाया जावे। (२) पता। ठिकाना।

अढ़तिया–संज्ञा पुं० [हिं० आढ़त] (१) वह दुकानदार जो ग्राहकों वा दूसरे महाजनों को माल ख़रीद कर भेजता और उनका मँगाकर बेचता है और बदले में कुछ कमीशन वा आढ़त पाता है। आढ़त करनेवाला। आढ़त का व्यवसाय करनेवाला। (२) दलाल।

अढ़न*–संज्ञा पुं० [देश०] धाक। मर्य्यादा। उ०—चारिउ बरन चारि आश्रम हूँ मानत श्रुति की अढ़न।—देवस्वा०।

अढ़वना*–क्रि० स० [सं० आ+ज्ञा बोध कराना-आज्ञापनं, पा० अज्ञापनं, प्रा० आणवन] आज्ञा देना। कार्य्य में नियुक्त करना। काम में लगाना। उ०–कैसे बरजों करन को समर नीति की बान। अति साहस के काम को अढ़वत हियो सकात।—उत्तर चरित।

अढारटंकी*–संज्ञा पुं० [?] धनुष।—डिं०।

अढ़िया–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) काठ वा पत्थर का बना हुआ छोटा बर्तन। (२) काठ वा लोहे का पात्र जिसमें मज़दूर के लड़के गारा वा कपसा उठाकर ले जाते हैं।

अढुक–संज्ञा पुं० [देश०] ठोकर। चोट। उ०—(क) फोरहिं सिल लोढ़ा सदन लागे अढुक पहार। कायर कूर कपूत कलि घर घर सहस डहार।—तुलसी।

अढुकना–क्रि० अ० [सं० आ–अच्छी तरह+टक=बंधन, रोक] ठोकर खाना। उ०—अढुकि परहिं फिर हेरहिं पीछे। राम वियोग विकल दुख तीछे।—तुलसी।

(२) सहारा लेना। टेकना।

अढ़ैया–संज्ञा पुं० [हिं० अढ़ाई, ढाई] (१) एक तौल जो २॥ सेर की होती है। पंसेरी का आधा (२) ढाई गुने का पहाड़ा। [हिं० अढ़वना] काम करानेवाला।

अणक*–वि० [सं०] कुत्सित। निंदित। अधम। नीच। —डिं०।

अणद*–संज्ञा पुं० [सं० आनन्द] आनंद। चित्त की प्रसन्नता।—डिं०

अणमण*–वि० [सं० अन्=नहीं+मन] (१) अप्रसन्न। दुखित। नाराज़। (२) बीमार। रोगी।—डिं०।

अणसंक*–वि० [सं० अन्=नहीं+शंका=डर] जो डरे नहीं। निर्भय। निडर।—डिं०।

अणास*–संज्ञा पुं० [हिं० अंडस] अंडस। कठिनाई।—डिं०।

अणि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नोक। सुनुईं। (२) धार। बाढ़। (३) वह कील जिसे धुरे की दोनों छोरों पर चक्के की नाभि में इसलिये ठोंकते हैं जिससे चक्का धुरी की छोरों पर से बाहर न निकल जाय। धुरी की कील। (४) सीमा। हद। सिवान। मेड़। (५) किनारा। अत्यंत छोटा।

अणिमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अष्ट सिद्धियों में पहिली सिद्धि जिससे योगी लोग अणुवत् सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और किसी को दिखाई नहीं पड़ते। इसी सिद्धि के द्वारा योगी लोग तथा देवता लोग अगोचर रहते हैं और समीप होने पर भी दिखाई नहीं देते तथा कठिन से कठिन अभेद्य पदार्थ में भी प्रवेश कर जाते हैं।

अणिमादिक–संज्ञा स्त्री० [सं०] अष्ट सिद्धियाँ अर्थात् १ अणिमा, २ महिमा, ३ गरिमा, ४ लघिमा, ५ प्राप्ति, ६ प्राकाम्य, ७ ईशित्व, ८ वशित्व।

अणियाली*–संज्ञा स्त्री० [सं० आणि=धार] कटारी।—डिं०।

अणी*–संज्ञा स्त्री० दे० "अणि"।

संबो० [सं० अयि] (१) अरी। अनी। एरी। हेरी। उ०–डोलती डरानी खतरानी बतरानी बेबे, कुड़ियन देखी अणी माँ गुरून पावा हाँ।—सूदन।

अणीय–वि० [सं०] अति सूक्ष्म। बारीक। झीना।

अणु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्व्यणुक से सूक्ष्म, परमाणु से बड़ा कण। (२) ६० परमाणुओं का संघात वा बना हुआ कण। (३) छोटा टुकड़ा। कण। (४) परमाणु। (५) सूक्ष्म कण। (६) रज। रजकण। (७) संगीत में तीन ताल के काल का चतुर्थांश काल। (८) अत्यंत सूक्ष्म मात्रा। (९) एक मुहूर्त का ५४६७५००० वाँ भाग।

वि० (१) अति सूक्ष्म। क्षुद्र। (२) अत्यंत छोटा (३) जो दिखाई न दे वा कठिनाई से दिखाई पड़े।

अणुभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] बिजुली।

अणुवाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दर्शन वा सिद्धांत जिसमें

जीव वा आत्मा अणु माना गया हो। वल्लभाचार्य्य का मत। (२) वह शास्त्र जिसमें पदार्थों के अणु नित्य माने गए हों। वैशेषिकदर्शन।

अणुवादी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नैयायिक। वैशेषिक शास्त्र का माननेवाला। (२) वल्लभाचार्य्य का अनुयायी वैष्णव।

अणुवीक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक यंत्र जिसके द्वारा सूक्ष्म पदार्थ देखे जाते हैं। सूक्ष्मदर्शक यंत्र। (२) बाल की खाल निकालना। छिद्रान्वेषण।

अणुव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनशास्त्रानुसार गृहस्थधर्म्म का एक अंग। मूलव्रत। इसके ५ भेद हैं—(१) प्राणातिपात विरमण। (२) मृषावाद विरमण। (३) अदत्तदान विरमण। (४) मैथुन विरमण। (५) परिग्रह विरमण। पातंजलि योगशास्त्र में इनको यम कहते हैं।

अणुव्रीहि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बढ़िया धान जिसका चावल बहुत छोटा होता है और पकाने से बढ़ जाता है और महँगा भी बिकता है। मोतीचूर।

अणोरणीयान्-संज्ञा पुं० [सं०] उपनिषद् के एक मंत्र का नाम जिसके आदि में ये शब्द आते हैं। वह मंत्र यह है—अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितं गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।

वि० (१) सूक्ष्म से सूक्ष्म। अत्यंत सूक्ष्म। (२) छोटे से छोटा।

अतंक*-संज्ञा पुं० दे० "आतंक"।

अतंत†-संज्ञा पुं० दे० "अत्यंत"।

अतंद्रिक-वि० [सं०] (१) आलस्यरहित। निरालस्य। चुस्त। चंचल। उ०—मोर चंद्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमान। लखवी पायन पर लुठत सुनियत राधा मान। सुनियत राधा मान भये तू बिलुठति चरनन। रजमें धूसर होत तर्क करि को कवि बरनन। बिखरि जात पखुरी गरूर जनि करि अतंद्रिका। सुकवि दसा सब ह्वै है हरि सिर मोर चंद्रिका।—व्यास। (२) व्याकुल। विकल। बेचैन।

अतंद्रित-वि० [सं०] आलस्यरहित। निद्रारहित निरालस्य। चंचल। चपल।

अतः-क्रि० वि० [सं०] इस कारण से। इस वजह से। इस लिये। इस वास्ते। इस हेतु।

अतएव-क्रि० वि० [सं०] इसलिये। इस हेतु से। इस वजह से। इसी लिये। इसी कारण।

अतट-संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत का शिखर। चोटी। टीला।

अतथ्य-वि० [सं०] (१) अन्यथा। झूठ। असत्य। अयथार्थ। (२) अतद्वत्। असमान।

अतद्गुण-संज्ञा पुं० [सं०] एक अलंकार जिसमें एक वस्तु का किसी ऐसी दूसरी वस्तु के गुणों को न ग्रहण करना दिखलाया जाय जिसके कि वह अत्यंत निकट हो। उ०—गंगा जल सित अरु असित जमुना जलहु अन्हात। हंस! रहत तव शुभ्रता तें सिय बढ़ि न घटात।

अतद्वान्-वि० [सं०] अतद्वत्। असमान। जो (उसके) सदृश न हो।

अतनु-वि० [सं०] (१) शरीररहित। बिना देह का। (२) मोटा। स्थूल।

संज्ञा पुं० अनंग। कामदेव।

अतप्त-वि० [सं०] जो तपा न हो। ठंढा। (२) जो पका न हो।

अतप्ततनु-वि० [सं०] रामानुज संप्रदाय के अनुसार जिसने तप्त मुद्रा न धारण की हो। जिसने विष्णु के चार आयुधों के चिह्न अपने शरीर पर गरम धातु से न छपवाए हों। बिना छाप का।

संज्ञा पुं० बिना छाप का मनुष्य।

अतवान*-वि० [सं० अतिवान्] अधिक। अत्यन्त। उ०—सावन बरस मेह अतवानी। भरन परी हों बिरह झुरानी।—जायसी।

अतरंग-संज्ञा पुं० [देश०] लंगर को ज़मीन से उखाड़ कर उठाए रखने की क्रिया।

क्रि० प्र०—करना।

अतर-संज्ञा पुं० [अ० इत्र] निर्यास। पुष्पसार। भभके द्वारा खिंचा हुआ फूलों की सुगंधि का सार।

विशेष-ताजे फूलों को पानी के साथ एक बंद देग में आग पर रखते हैं जो नल के द्वारा उस भभके से मिला रहता है जिसमें पहिले से चंदन का तेल (जिसे जमीन का माबा कहते हैं) रक्खा रहता है। फूलों से सुगंधित भाप उठ कर उस चंदन के तेल पर टपक कर इकट्ठी होती जाती है और तेल (ज़मीन) ऊपर आ जाता है। इसी तेल को काछ कर रख लेते हैं और इसे अतर वा इतर कहते हैं। जिस फूल की भाप से यह बनता है उसी का अतर कहलाता है जैसे गुलाब का अतर, मोतिये का अतर, इत्यादि। उ०—रे गंधी मतिमंद तू, अतर दिखावत काहि। करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।—बिहारी।

अतरदान-संज्ञा पुं० [फा० इत्रदान] सोने चाँदी या गिलट का फूलदान के आकार का एक पात्र जिसमें इतर से तर किया हुआ रुई का फाहा रक्खा होता है और जो महफ़िलों में सत्कारार्थ सब के सामने उपस्थित किया जाता है।

अतरल-वि० [सं०] जो तरल वा पतला न हो। गाढ़ा।

अतरवन-संज्ञा पुं० [सं० अन्तर] (१) पत्थर की पटिया जिसे घोड़ेने के ऊपर बैठा कर छज्जा पाटते हैं। (२) वह खर वा मूँज जिसे टाट पर फैला कर ऊपर से खपड़ा वा फूस छाते हैं।

अतरसों-क्रि० वि० [सं० इतर+श्वः] (१) परसों के आगे का दिन। वर्त्तमान दिन से आनेवाला तीसरा दिन। उ०—

खेलत में होरी रावरे के कर परसों जो भीजी है अतर सों सो आइहै अतरसों।—रघुनाथ।

(२) परसों से पहिले का दिन। वर्तमान से तीसरा व्यतीत दिन।

अतरिख*–संज्ञा पुं० दे० "अंतरिक्ष"।

अतर्कित–वि० [सं०] (१) जिसका पहिले से अनुमान न हो। (२) आकस्मिक। (३) बेसोचा-समझा। जो विचार में न आया हो। जिस पर विचार न किया गया हो।

अतर्क्य–वि० [सं०] जिस पर तर्क वितर्क न हो सके। जिसके विषय में किसी प्रकार की विवेचना न हो सके। अनिर्वचनीय। अचिंत्य। उ०—राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी।—तुलसी।

अतल–संज्ञा पुं [सं०] सात पातालों में दूसरा पाताल।

अतलस–संज्ञा स्त्री० [अ०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जो बहुत नरम होता है।

अतलस्पर्शी–वि० [सं०] अतल को छूनेवाला। अत्यंत गहिरा अथाह। अतलस्पृक्।

अतलस्पृक्–वि० [सं०] अत्यंत गहिरा।

अतसी–संज्ञा स्त्री० [सं०] अलसी। तीसी।

अत्तवार–संज्ञा पुं० [सं० आदित्यवार, पा० आदिच्चवार, प्रा० आइत्तवार] रविवार। सप्ताह का पहिला दिन।

अता–संज्ञा स्त्री० [अ० अत्=अनुग्रह] अनुग्रह। दान।

क्रि० प्र०—करना=देना।—होना=दिया जाना। मिलना।

अताई–वि० [अ०] (१) दक्ष। कुशल। प्रवीण। (२) धूर्त। चालाक। (३) अर्द्ध शिक्षित। अशिक्षित। जो किसी काम को बिना सीखे हुए करे। पंडितंमन्य।

संज्ञा पुं० वह गवैया जो बिना नियमपूर्वक सीखे हुए गावे बजावे।

अताना–संज्ञा पुं० [?] मालकोस राग की एक रागिनी।

अतापी*–वि० [सं०] तापरहित। दुखरहित। शांत।

अतालीक–संज्ञा पुं० [अ०] शिक्षक। गुरु। उस्ताद। अध्यापक

अति–वि० [सं०] बहुत अधिक। ज़्यादा।

संज्ञा स्त्री० अधिकता। ज़्यादती। सीमा का उल्लंघन। उ०—(क) गंगाजू तिहारे गुनगान करैं अज गावै आन होत बरखा सुआनंद की अति की।—पद्माकर। (ख) उनके ग्रंथ में कल्पना की अति है।—व्यास।

अतिउक्ति–संज्ञा स्त्री० दे० "अत्युक्ति"।

अतिकाय–वि० [सं०] दीर्घकाय। बहुत लम्बा-चौड़ा। बड़े डील-डौल का। स्थूल। मोटा।

संज्ञा पुं० रावण का एक पुत्र जिसे लक्ष्मण ने मारा था।

अतिकाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिलंब। देर। (२) कुसमय

अतिकृच्छ्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत कष्ट। (२) छः दिन का एक व्रत जिसमें पहिले दिन एक ग्रास प्रातःकाल, दूसरे दिन एक ग्रास सायंकाल और तीसरे दिन यदि बिना माँगे मिल जाय तो एक ग्रास किसी समय खाकर शेष तीन दिन निराहार रहते हैं।

अतिकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] पचीस वर्ण के वृत्तों की संज्ञा जैसे, सुंदरी सवैया और क्रौंच।

अतिक्रम–संज्ञा पुं० [सं०] नियम वा मर्य्यादा का उल्लंघन। विपरीत व्यवहार।

अतिक्रमण–संज्ञा पुं० [सं०] उल्लंघन। पार करना। हद के बाहर जाना। बढ़ जाना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अतिक्रांत–वि० [सं०] (१) सीमा का उल्लंघन किए हुए। हद के बाहर गया हुआ। बढ़ा हुआ। (२) बीता हुआ। व्यतीत। गया हुआ।

अतिक्रांत भावनीय–संज्ञा पुं० [सं०] योगदर्शन के अनुसार चार प्रकार के योगियों में से एक। वैराग्यसंपन्न योगी।

अतिगंध–संज्ञा पुं० [सं०] चंपा का पेड़ वा फूल।

अतिगत–वि० [सं०] बहुतायत को पहुँचा हुआ। बहुत अधिक। ज़्यादा। अत्यंत। उ०—अतिगत आतुर मिलन को जैसे जल बिनु मीन।—दादू।

अतिगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तम गति। मोक्ष। मुक्ति। उ०—जनक कहत सुनि अतिगति पाई। तृणावर्त को है मुनिराई।—गि० दा०।

अतिचरणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों का एक रोग जिसमें कई बार मैथुन करने पर तृप्ति होती है। (२) वैद्यक मतानुसार वह योनि जो अत्यंत मैथुन से तृप्त न हो।

अतिचार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्रहों की शीघ्र चाल। जब कोई ग्रह किसी राशि के भोग काल को समाप्त किए बिना दूसरी राशि में चला जाता है तब उसकी गति को अतिचार कहते हैं। (२) जैनमतानुसार–विघात। व्यतिक्रम

अतिजगती–संज्ञा स्त्री० [सं०] तेरह वर्ण के वृत्तों की संज्ञा जैसे तारक, मंजुभाषिणी, माया आदि।

अतिजव–वि० [सं०] जो बहुत तेज़ चले। अत्यंत वेगगामी

अतिजागर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बगला।

अतितीव्र–संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में वह स्वर जो तीव्र से भी कुछ अधिक ऊँचा हो।

अतिथि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर में आया हुआ अज्ञातपूर्व व्यक्ति। वह जिसके आने का समय निश्चित न हो अभ्यागत। मेहमान। पाहुन। (२) वह संन्यासी जो किसी स्थान पर एक रात से अधिक न ठहरे। व्रात्य। (३) मुनि (जैन साधु)। (४) अग्नि का एक नाम। (५) अयोध्या के राजा सुहोत्र जो कुश के पुत्र और रामचंद्र के पौत्र थे। (६) यज्ञ में सोमलता को लानेवाला।

अतिथिपूजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिथि का आदर सत्कार । मेहमानदारी । यह पंच महायज्ञों में से गृहस्थ के लिये नित्य कर्त्तव्य कहा गया है ।

अतिथियज्ञ–संज्ञा पु० [सं०] अतिथि का आदर सत्कार जो पंचमहायज्ञों में पाँचवाँ है । नृयज्ञ । अतिथिपूजा । मेहमानदारी ।

अतिथिसंविभाग–संज्ञा पु० [सं०] जैन शास्त्रानुसार चार शिक्षा व्रतों में से एक जिसमें बिना अतिथि को दिए भोजन नहीं करते । इसमें पाँच अतिचार हैं—१ सचित्त निक्षेप, २ सचित्त पीहण, ३ कालातिचार, ४ परव्यपदेश मत्सर, ५ अन्योपदेश ।

अतिदेव–संज्ञा पु० [सं०] बड़ा देवता अर्थात् (१) विष्णु । (२) शिव ।

अतिदेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक स्थान के धर्म्म वा नियम का दूसरे स्थान पर आरोपण । (२) वह नियम जो अपने निर्दिष्ट विषय के अतिरिक्त और विषयों में भी काम आवे ।

अतिधृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] उन्नीस वर्ण के वृत्तों की संज्ञा, जैसे शार्दूल विक्रीड़ित ।

अतिनाट–संज्ञा पुं० [सं०] संकीर्ण नामक मिश्रित राग का एक भेद ।

अतिनाभ–संज्ञा पु० [सं०] हिरण्याक्ष दैत्य के नौ पुत्रों में से एक।

अतिपंथ–संज्ञा पु० [सं०] सन्मार्ग । अच्छी राह । सुपंथ ।

अतिपतन–संज्ञा पु० दे० "अतिपात ।

अतिपर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भारी शत्रु । प्रतिद्वंद्वी । (२) शत्रुजित । वह जिसने अपने शत्रुओं को परास्त किया हो ।

अतिपांडुकंबला–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन मतानुसार सिद्धशिला । के दक्षिण के सिंहासन का नाम जिस पर तीर्थंकर बैठते हैं ।

अतिपात–संज्ञा पु० [सं०] (१) अतिक्रम । अव्यवस्था । गड़बड़ी (२) बाधा-विघ्न । हानि ।

अतिपातक–संज्ञा पु० [सं०] धर्मशास्त्र में कहे हुए नौ पातकों में सब से बड़ा पातक । पुरुष के लिये माता, बेटी, और पतोहू के साथ गमन और स्त्री के लिये पुत्र, पिता और दामाद के साथ गमन अतिपातक है ।

अतिप्रभंजन वात–संज्ञा पु० [सं०] अत्यंत प्रचंड और तीव्र वायु जिसकी गति एक घंटे में ४० वा ५० कोस होती है।

अति बरवै–संज्ञा पु० [सं० अति+हिं० बरवै] एक छंद जिसके पहिले और तीसरे चरणों में बारह तथा दूसरे और चौथे चरणों में नौ मात्राएँ होती हैं । उसके विषम पदों के आदि में जगण न आना चाहिए और समपदों के अंत का वर्ण लघु होना चाहिए ।

अतिबरसण*–संज्ञा पुं० [सं० अतिवर्षण] मेघमाला । घटा ।–डिं० ।

अतिबल– वि० [सं०] प्रबल । प्रचंड । बली । उ०—नारी अति बल होत है, अपने कुल को नास ।—गिरिधर ।

अतिबला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्राचीन युद्धविद्या जिसके सीखने से श्रम और ज्वर आदि की बाधा का भय नहीं रहता था और पराक्रम बढ़ता था । विश्वामित्र ने इसे रामचन्द्र को सिखाया था ।

(२) एक ओषधि । कंगही वा ककही नाम का पौधा ।

अतिभारारोपण–संज्ञा पु० [सं०] जैनशास्त्र के अनुसार पशुओं पर अधिक बोझ लादने का अत्याचार ।

अतिमात्र–वि० [सं०] अतिशय । बहुत । ज़्यादा ।

अतिमानुष–वि० [सं०] मनुष्य की शक्ति के बाहर का । अमानुषी ।

अतिमित–वि० [सं०] अपरिमित । अतुल । बेअंदाज़ । बहुत अधिक । बेहिसाब । बेठिकाना ।

अतिमुक्त–वि० [सं०] (१) जिनकी मुक्ति होगई हो । निर्वाण-प्राप्त । (२) निःसंग । विषय-वासना-रहित । वीतराग ।

संज्ञा पु० (१) माधवीलता । (२) तिनसुना । तिरिच्छ । (३) मरुआ का पौधा ।

अतिमुशल–संज्ञा पु० [सं०] यदि किसी नक्षत्र में मंगल अस्त हो और उसके सत्रहवें नक्षत्र वा अठारहवें नक्षत्र से अनुवक्र हो तो इस वक्र को अतिमुशल कहते हैं । फलित ज्योतिष के अनुसार इससे चोर और शस्त्र का भय तथा अनावृष्टि होती है ।

अतिमूत्र–संज्ञा पु० [सं०] वैद्यक में आत्रेय मत के अनुसार छः प्रकार के प्रमेहों से एक । इसमें अधिक मूत्र उतरता है और रोगी क्षीण होता जाता है । बहुमूत्र ।

अतिमृत्यु–संज्ञा पु० [सं०] मोक्ष । मुक्ति ।

अतिमोदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] नेवारी का पौधा या फूल ।

अतियोग–संज्ञा पु० [सं०] (१) अधिक मिलाव। (२) किसी मिश्रित ओषधि में किसी द्रव्य का नियत मात्रा से अधिक मिलाव ।

अतिरंजना–संज्ञा स्त्री० [सं०] अत्युक्ति । बढ़ा चढ़ा कर कहने की रीति ।

अतिरथी–संज्ञा पु० [सं०] रथ पर चढ़ कर लड़नेवाला । जो अकेले बहुतों के साथ लड़ सके ।

अतिरात्र–संज्ञा पु० [सं०] (१) ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ का एक गौण अंग । (२) वह मंत्र जो अतिरात्र यज्ञ के अंत में गाया जाय । (३) चाक्षुष मनु के एक पुत्र का नाम ।

अतिराष्ट्र–संज्ञा पु० [सं०] पुराण के अनुसार एक नाग वा सर्प का नाम ।

अतिरिक्त–क्रि० वि० [सं०] सिवाय । अलावा । उ०—इसे हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता ।

वि० (१) अधिक । ज़्यादा । बढ़ती । शेष । बचा हुआ । उ०—खाने पहिनने से अतिरिक्त धन को अच्छे काम में लगाओ । (२) न्यारा । अलग । जुदा । भिन्न । उ०—जो सब में पूर्ण पुरुष और जीव से अतिरिक्त है वही जगत् का बनानेवाला है ।

अतिरिक्तकंवला–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनमत के अनुसार सिद्ध-शिला के उत्तर का सिंहासन जिसपर तीर्थंकर बैठते हैं।

अतिरोग–संज्ञा पु० [सं०] राजयक्ष्मा। क्षयीरोग।

अतिरोहण–संज्ञा पु० [सं०] जीवन। ज़िंदगी।

अतिवक्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] देवल के मत से बुध ग्रह की चार गतियों में से एक जिसका एक राशि पर वर्त्तमानकाल २४ दिन का होता है। यह धन का नाश करनेवाली मानी जाती है।

अतिवाद–संज्ञा पु० [सं०] (१) खरी बात। सच्ची बात। (२) परुष वचन। कड़ई बात। (३) बढ़ कर बात करना। डींग।

अतिवादी–वि० [सं०] (१) सत्यवक्ता। जो खरी बात कहे। (२) कटुवादी। (३) जो बढ़ कर बात करे। जो डींग मारे।

अतिवाहिक–संज्ञा पु० [सं०] (१) लिंगशरीर। (२) पाताल का निवासी।

अतिविश्रब्ध नवोढ़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] रसमंजरी के अनुसार वह मध्या नायिका जिसे अपने पति पर अतिशय प्रेम हो। यह धैर्य्ययुक्त अपराधी नायक के प्रति व्यंग्य और अधीर अपराधी नायक के प्रति कटुवचन का व्यवहार करती है।

अतिविष–संज्ञा स्त्री० दे० "अतिविषा"।

अतिविषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक ओषधि। अतीस।

अतिवृंहित–वि० [सं०] दृढ़। पुष्ट। मज़बूत।

अतिवृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] ६ ईतियों में से एक। पानी का बहुत बरसना जिससे खेती को हानि पहुँचे। अत्यंत वर्षा।

अतिवेल–वि० [सं०] अत्यंत। असीम। बेहद।

अतिवेला–संज्ञा स्त्री० [सं०] विलंब। देर।

अतिव्याप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] न्याय में एक लक्षण दोष। किसी लक्षण वा कथन के अंतर्गत लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य वस्तु के आ जाने का दोष। जहाँ लक्षण वा लिंग लक्ष्य वा लिंगी के सिवाय अन्य पदार्थों पर भी घट सके वहाँ "अतिव्याप्ति" दोष होता है, जैसे "चौपाए सब पिंडज हैं" इस कथन में मगर और घड़ियाल आदि चार पैर वाले अंडज भी आ जाते हैं अतः इसमें अतिव्याप्ति दोष है।

अतिशक्वरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पंद्रह वर्ण के वृत्तों की संज्ञा। इसके संपूर्ण भेद ३२७६८ हो सकते हैं।

अतिशय–वि० [सं०] (१) बहुत। ज़्यादा। अत्यंत।

संज्ञा पु० (१) प्राचीन शास्त्रकारों के अनुसार एक अलंकार जिसमें किसी वस्तु की उत्तरोत्तर संभावना वा असंभावना दिखलाई जाय। उ०—ह्वै न, होय तो थिर नहीं, थिर तौ बिन फलवान। सत्पुरुषन को कोप है, खल की प्रीति समान। कोई कोई इस अलंकार को अधिक अलंकार के अंतर्भूत मानते हैं।

अतिशयोक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अलंकार जिसमें लोकसीमा का उल्लंघन प्रधान रूप से दिखाया जाय। उ०—गोपिन के अँसुवान के नीर पनारे भए पुनि ह्वै गए नारे। नारे भए नदिया बढ़ि कै, नदिया नद ह्वै गईं काटि किनारे। वेगि चलो तो चलो व्रज में कवि तोख कहै व्रजराज हमारे। वे नद चाहत सिंधु भए अरु सिंधु ते ह्वै हैं हलाहल मारे।—तोष। इसके पाँच मुख्य भेद माने गए हैं यथा–१ रूपकातिशयोक्ति, २ भेदकातिशयोक्ति, ३ संबंधातिशयोक्ति, ४ असंबंधातिशयोक्ति, ५ पंचम भेद के अंतर्गत—अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अत्यंतातिशयोक्ति।

अतिशयोपमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] उपमा अलंकार का एक भेद जिसमें यह दिखाया जाय कि कोई वस्तु सदा अपने विषय में एक है, दूसरी वस्तु से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। उ०—केसोदास प्रगट अकास मों प्रकास पुनि ईश्वर के सीस रजनीस अवरेखिए। थल थल जल जल अमल अचल अति कोमल कमल बहु बरन बिसेखिए। मुकुर कठोर बहु नाहिं न अचल यश बसुधा सुधानि तिय अधरनि लेखिए। एक एक रूप जाकी गीता सुनि सुनि जैसो तेरो सो वदन तैसो तोहीं बिषे देखिए।—केशव।

अतिशीलन–संज्ञा पु० [सं०] अभ्यास। मश्क़। बारंबार मनन वा संपादन।

अतिशूद्र–संज्ञा पु० [सं०] वह शूद्र जिसके हाथ का जल उच्च वर्ण के लोग न ग्रहण करें। अंत्यज।

अतिसंध–संज्ञा पु० [सं०] प्रतिज्ञा वा आज्ञा का भंग करना। विधि वा आदेश के विरुद्ध आचरण।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अतिसंधान–संज्ञा पु० [सं०] (१) अतिक्रमण। (२) विश्वासघात। धोखा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अतिसर्जन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अधिक दान। दान। (२) वध।

अतिसांतपनकृच्छ्र–संज्ञा पु० [सं०] प्रायश्चित्त निमित्त एक व्रत जिसमें दो दिन गोमूत्र, दो दिन गोबर, दो दिन दूध, दो दिन दही, दो दिन घी और दो दिन कुशा का जल पीकर तीन दिन तक उपवास करने का विधान है।

अतिसामान्य–संज्ञा पु० [सं०] जो बात वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का अतिक्रमण वा उल्लंघन करे। जैसे किसी ने कहा कि ब्राह्मणत्व विद्याचरण संपत् है। पर विद्याचरण संपत्ति कहीं ब्राह्मण में मिलती है और कहीं नहीं, अतः यह वाक्य वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का उल्लंघन करनेवाला है, अतः अतिसामान्य है। (न्याय)

वि० अत्यंत साधारण। मामूली। सहज।

अतिसार–संज्ञा पु० [सं०] एक रोग जिसमें मल रुक कर उदराग्नि को मंद करता हुआ और शरीर के रसों को लेता हुआ बार-बार निकलता है। इसमें आमाशय की भीतरी झिल्लियों में

शोथ हो जाने के कारण खाया हुआ पदार्थ नहीं ठहरता और अँतड़ियों में से पतले दस्त के रूप में निकल जाता है। यह भारी, चिकनी, रूखी, गर्म, पतली चीज़ों के खाने से, एक भोजन के बिना पचे फिर भोजन करने से, विष से, भय और शोक से, अत्यंत मद्यपान से, तथा कृमि-दोष से उत्पन्न होता है। वैद्यक के अनुसार इसके छः भेद हैं—
१ वायुजन्य, २ पित्तजन्य, ३ कफजन्य, ४ सन्निपातजन्य, ५ शोकजन्य, ६ आमजन्य।

मुहा०—अतिसार होकर निकलना=दस्त के रास्ते निकलना। किसी न किसी प्रकार नष्ट होना। उ०—हमारा जो कुछ तुमने खाया है वह अतीसार हो कर निकलेगा।

अतिस्थूल-वि० [सं०] बहुत मोटा।
संज्ञा पुं० [सं०] मेद रोग का एक भेद जिसमें चरबी के बढ़ने से शरीर अत्यंत मोटा हो जाता है।

अतिहसित-संज्ञा पुं० [सं०] हास्य के छः भेदों में से एक जिसमें हँसनेवाला ताली पीटे, बीच बीच में अस्पष्ट वचन बोले, उसका शरीर काँपे और उसकी आँखों से आँसू निकल पड़ें।

अतींद्रिय-वि० [सं०] जो इंद्रिय ज्ञान के बाहर हो। जिसका अनुभव इंद्रियों द्वारा न हो। अगोचर। अप्रत्यक्ष। अव्यक्त।

अतीचार-संज्ञा पुं० दे० "अतिचार"।

अतीत-वि० [सं०] [क्रि० अतीतना] (१) गत। व्यतीत। बीता हुआ। गुज़रा हुआ। भूत। (२) निर्लेप। असंग। विरक्त। पृथक्। जुदा। अलग। न्यारा। उ०—धनि धनि साँईं तू बड़ा, तेरी अनुपम रीति। सकल भुवन पति साइयाँ, ह्वै के रहै अतीत।—कबीर। (३) मृत। मरा हुआ।
क्रि० वि० परे। बाहर। उ०—(क) माया-गुन-ज्ञानातीत अमाना वेद पुरान भनंता।—तुलसी। (ख) गुन अतीत अविगत अविनासी। सो ब्रज में खेलत सुख रासी।—सूर।
संज्ञा पुं० (१) वीतराग संन्यासी। यति। विरक्त साधु। उ०—(क) अजर धान्य अतीत का, गृही करै जु अहार। निश्चय होय दरिद्री, कहै कबीर विचार।—कबीर। (ख) अति सीतल अति ही अमल, सकल कामनाहीन। तुलसी ताहि अतीत गनु, वृत्ति सांति लवलीन।—तुलसी।
(२) [सं० अतिथि] अभ्यागत। अतिथि। पाहुन। मेहमान। उ०—आरत दुखी मीत भयभीता। आयो ऐसो गेह अतीता।—सबल। (३) संगीत में वह स्थान जो सम से दो मात्राओं के उपरांत आता है। यह स्थान कभी कभी सम का काम देता है। (४) तबले के किसी बोल या टुकड़े की सम से आधी वा एक मात्रा के पहिले समाप्ति।

अतीतना*-क्रि० अ० [सं० अतीत] (१) बीतना। गुज़रना। गत होना। उ०—रोग वियोग सोग सम संकुल बड़ी वय वृथहि अतीत।—तुलसी।
क्रि० स० बिताना। व्यतीत करना। विगत करना। छोड़ना। त्यागना। उ०—कुच्छ्र उसवास सब इंद्रियन जीतहीं। पुत्र-शिख-लीन, तन जौ लगि अतीतहीं।—केशव।

अतीथ*-संज्ञा पुं० दे० "अतिथि"।

अतीव-वि० [सं०] अधिक। ज़्यादा। बहुत। अतिशय। अत्यंत।

अतीस-संज्ञा पुं० [सं०] एक पौधा जो हिमालय के किनारे सिंध नदी से लेकर कुमाऊँ तक पाया जाता है। इसकी जड़ कई प्रकार की दवाओं में काम आती है और खाने में कुछ कड़ुई और चरपरी होती है। यह पाचक, अग्निसंदीपक और विषघ्न है तथा कफ, पित्त, आम, अतीसार, खाँसी, ज्वर, यकृत, और कृमि आदि रोगों को दूर करती है। बाल रोगों के लिये बहुत उपकारी है। यह तीन प्रकार की होती है—१ सफ़ेद, २ काली और ३ लाल। सफ़ेद अधिक गुणकारी समझी जाती है।
पर्या०-विषा, अतिविषा, काश्मीरा, श्वेता, अरुणा, प्रविषा, उपविषा, घुणवल्लभा, शृंगी, महौषध, भृंगी, श्वेतकंदा, विरूपा, विषरूपा, वीरा, माद्री, अमृता, श्वेतवचा, भंगुरा, मृद्वी, शिशुभैषज्य, शोकापहा, श्यामकंदा, विश्वा।

अतीसार-संज्ञा पुं० दे० "अतिसार"।

अतुराई*-संज्ञा स्त्री० [सं० आतुर] क्रि० अतुराना] (१) आतुरता। जल्दी। शीघ्रता। घबड़ाहट। हड़बड़ी। (२) चंचलता। चपलता। उ०—नैनन की अतुराई, बैनन की चतुराई, गात की गोराई ना दुरति दुति चाल की।—केशव।

अतुराना*-क्रि० अ० [सं० आतुर] आतुर होना। घबड़ाना। हड़बड़ाना। जल्दी मचाना। अकुलाना। उ०—(क) तुरत जाइ लै आओ हाँ ते बिलँब न करु अब भाई। सूरदास प्रभु वचन सुनत हनुमंत चल्यौ अतुराई।—सूर। (ख) सूरश्याम सुखद धाम, राधा है जाहि नाम, आतुर पिय जानि गवन प्यारी अतुरानी।—सूर। (ग) आए अतुराने, बाँधे बाने, जे मरदाने समुहाने।—सूदन।

अतुल-वि० [सं०] (१) जो तौला वा कूता न जा सके। जिसकी तौल वा अंदाज़ न हो सके। (२) अमित। असीम। अपार। बहुत अधिक। बेअंदाज़। उ०—आवत देखि अतुल बल सीवाँ।—तुलसी। (३) जिसकी तुलना वा समता न हो सके। अनुपम। बेजोड़। अद्वितीय। उ०—मुनि रघुपति छवि अतुल विलोकी। भये मगन मन सके न रोकी।—तुलसी।
संज्ञा पुं० (१) केशव के अनुसार अनुकूल नायक का दूसरा नाम। उ०—ये गुण केशव जाहि में, सोई नायक जान। अतुल, दक्ष, शठ, धृष्ट पुनि चौबिध ताहि बखान।—केशव। (२) तिल का पेड़।

अतुलनीय-वि० [सं०] (१) जिसका अंदाज़ न हो सके। अपरि-

मित। अपार। बेअंदाज़। बहुत अधिक। (२) अनुपम। बेजोड़। अद्वितीय।

अतुलित–वि० [सं०] (१) बिना तौला हुआ। (२) बेअंदाज़। अपरिमित। अपार। बहुत अधिक। उ०—बनचर देह धरी छिति माँही। अतुलित बल प्रताप तिन माँही। (३) असंख्य। उ०—जो पै अलि अंत इहै करिबे हो। तौ अतुलित अहीर अबलन को हठि न हिए हरिबे हो।—तुलसी। (४) अनुपम। बेजोड़। अद्वितीय। उ०—कहहिं परस्पर सिधि समुदाई। अतुलित अतिथि राम लघु भाई।—तुलसी।

अतुल्य–वि० [सं०] (१) असमान। असदृश। (२) अनुपम। बेजोड़। अद्वितीय। निराला।

अतुल्य योगिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] जहाँ कई वस्तुओं का समान धर्म कथन होने के कारण तुल्ययोगिता की संभावना दिखाई पड़ने पर भी किसी एक अभीष्ट वस्तु का विरुद्ध गुण बतला कर उसकी विलक्षणता दिखलाई जाय वहाँ इस अलंकार की कल्पना कविराजा मुरारिदान ने की है। उ०—हय चले, हाथी चले, संग तजि साथी चले, ऐसी चलाचल में अचल हाड़ा ह्वै रह्यो।

अतुहिनरश्मि–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

अतूथ*–वि० [सं० अति=अधिक+उत्थ=उठा हुआ] अपूर्व। उ०—देखो सखि अद्भुत रूप अतूथ। एक अंबुज मध्य देखियत बीस उदधिसुत यूथ। एक सुक दोउ जलचर उभयो अर्क अनूप। पंच बिराजे एकही ढिग कहु सखि कौन स्वरूप। शिशुता में सोभा भई करो अर्थ विचारी। सूर श्री गोपाल की छवि राखिये उर धारी।—सूर।

अतूल–वि० दे० "अतुल" और "अतुल्य"।

अतृप्त–वि० [सं०] [संज्ञा अतृप्ति] (१) जो तृप्त वा संतुष्ट न हो। असंतुष्ट। जिसका मन न भरा हो। (२) भूखा।

अतृप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] असंतोष। मन न भरने की अवस्था।

अतृष्ण–वि० [सं०] तृष्णारहित। निस्पृह। कामनाहीन। निर्लोभ।

अतेज–वि० [सं०] (१) तेजरहित। अंधकारयुक्त। मंद। धुँधला। (२) हतश्री। प्रतापरहित।

अतोर*–वि० [सं० अ=नहीं+हिं० तोड़] जो न टूटे। अभंग। दृढ़। उ०—जनु माया के बंधन अतोर।—गुमान।

अतोल–वि० [सं० अ=नहीं+हिं० तोल] (१) बिना तौला हुआ। बिना अंदाज़ किया हुआ। जो कूता न हो। (२) जिसकी तोल वा अंदाज़ न हो सके। बेअंदाज़। बहुत अधिक। (३) अतुल्य। अनुपम। बेजोड़।

अतौल–वि० दे० "अतोल"।

अत्त*†–संज्ञा स्त्री० [सं० अति] अति। अधिकता। ज़्यादती।

अत्ता–संज्ञा पुं० [सं०] चराचर का ग्रहण करनेवाला। ईश्वर का एक नाम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जेठी बहिन। (२) सास। माता। (३) मौसी।

अत्तार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) गंधी। सुगंधि वा इत्र बेचनेवाला। (२) यूनानी दवा बनाने और बेचनेवाला।

अत्ति*†–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "अत्त"।

अत्नु–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

अत्यंत–वि० [सं०] बहुत अधिक। बेहद। हद से ज़्यादा। अतिशय।

अत्यंत भाव–संज्ञा पुं० [सं०] किसी अवस्था में अभाव को न प्राप्त होनेवाला भाव। सदा बनी रहनेवाली सत्ता। अपरिमित अस्तित्व।

अत्यंताभाव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु का बिलकुल न होना। सत्ता की नितांत शून्यता। प्रत्येक दशा में अनस्तित्व। (२) वैशेषिक के अनुसार पाँच प्रकार के अभावों में से चौथा जो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव से भिन्न हो अर्थात् जो तीनों कालों में संभव न हो। जैसे—आकाश-कुसुम, वंध्यापुत्र, शशविषाण। (३) बिलकुल कमी।

अत्यंतिक–वि० [सं०] (१) समीपी। नज़दीकी। (२) जो बहुत घूमे। घुमक्कड़। (३) बहुत चलनेवाला।

अत्यम्ल–संज्ञा पुं० [सं०] इमली का पेड़।

अत्यम्लपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] रामचना वा खटुआ नाम की बेल।

अत्यम्ला–संज्ञा स्त्री० [सं०] जंगली बिजौरा नीबू।

अत्यय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृत्यु। ध्वंस। नाश। अतिक्रमण। हद से बाहर जाना। (२) दंड। सज़ा। (३) कृच्छ्र। कष्ट। (४) दोष।

अत्यष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] १७ वर्ण के वृत्तों की संज्ञा। शिखरणी, पृथ्वी, हरिणी, मंदाक्रांता, भाराक्रांता और मालाधर आदि छंद इसके अंतर्गत हैं।

अत्याग–संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहण। स्वीकार।

अत्यागी–वि० [सं०] दुर्गुणों को न छोड़नेवाला। विषयासक्त। दुर्व्यसनी।

अत्याचार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आचार का अतिक्रमण। विरुद्धाचरण। अन्याय। निठुराई। ज़्यादती। जुल्म। (२) दुराचार। पाप। (३) आचार की अधिकता। पाखंड। ढोंग। ढकोसला। आडंबर।

अत्याचारी–वि० [सं०] (१) अत्याचार करनेवाला। दुराचारी। अन्यायी। निठुर। ज़ालिम। (२) पाखंडी। ढोंगी। ढकोसलेबाज़। धर्मध्वजी।

अत्याज्य–वि० [सं०] (१) न छोड़ने योग्य। जिसका त्याग उचित न हो। (२) जो कभी छोड़ा न जा सके।

अत्यानंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार योनियों का एक

भेद। वह योनि जो अत्यंत मैथुन से भी संतुष्ट न हो। यह एक रोग है जिससे स्त्रियाँ वंध्या हो जाती हैं। इसका दूसरा नाम रतिप्रीता भी है।

अत्युक्त-वि० [सं०] जो बहुत बढ़ा चढ़ा कर कहा गया हो। अत्युक्तिपूर्ण।

अत्युक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] बढ़ा चढ़ाकर वर्णन करने की शैली। मुबालिग़ा। बढ़ावा। एक अलंकार जिसमें शूरता उदारता आदि गुणों का अद्भुत और अतथ्य वर्णन होता है उ०—जाचक तेरे दान तें भए कल्पतरु भूप।

अत्युक्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] दो वर्णों के वृत्तों की संज्ञा। इसके चार भेद हैं। कामा, मही, सार, और मधु छंद इसके अंतर्गत हैं।

अत्युग्रगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा।

अत्र-क्रि० वि० [सं०] (१) यहाँ। इस स्थान पर। संज्ञा पुं०† "अस्त्र" का अपभ्रंश।

अत्रक-वि० [सं०] (१) यहाँ का। (२) इस लोक का। लौकिक। ऐहिक।

अत्रत्य-वि० [सं०] यहाँ का। यहाँवाला।

अत्रभवान्-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अत्रभवती] माननीय। पूज्य। श्रेष्ठ।

अत्रस्थ-वि० [सं०] यहाँ रहनेवाला। इस स्थान का। यहाँ वाला। यहाँ उपस्थित रहनेवाला। यहाँ का।

अत्रि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सप्तर्षियों में से एक। ये ब्रह्मा के पुत्र माने जाते हैं। इनकी स्त्री अनसूया थीं। दत्तात्रेय, दुर्वासा और सोम इनके पुत्र थे। इनका नाम दस प्रजापतियों में भी है। (२) एक तारा जो सप्तर्षिमंडल में है।

अत्रिगुण-वि० [सं०] त्रिगुणातीत। सत, रज, तम, नामक तीनों गुणों से पृथक्।

अत्रिज-संज्ञा पुं० [सं०] अत्रि के पुत्र—(१) चंद्रमा, (२) दत्तात्रेय, (३) दुर्वासा।

अत्रिनेत्रज-संज्ञा पुं० [सं०] अत्रि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न चंद्रमा ऋषि।

अत्रिप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्दम मुनि की कन्या अनसूया जो अत्रि ऋषि को ब्याही थीं।

अत्रेय*-संज्ञा पुं० दे० "आत्रेय"।

अत्रैगुण्य-संज्ञा पुं० [सं०] सत, रज, तम इन तीनों गुणों का अभाव। सांख्य मतानुसार इस अवस्था का परिणाम मोक्ष वा कैवल्य है।

अथ-अव्य० [सं०] (१) एक मंगलसूचक शब्द जिससे प्राचीन काल में लोग किसी ग्रंथ वा लेख का आरंभ करते थे। उ०—(क) अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः—वैशेषिक। (ख) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—वेदांत। पीछे से यह ग्रंथ के आरंभ में उसके नाम के पहिले लिखा जाने लगा। उ०—अथ विनयपत्रिका लिख्यते। (२) अब। (३) अनंतर।

अथऊ†-संज्ञा पुं० [सं० अस्त, प्रा० अत्थ] वह भोजन जो जैन लोग सूर्यास्त के पहिले करते हैं।

अथक-वि० [अ=नहीं+हिं० थकना] जो न थके। अश्रांत।

अथ च-अव्य० [सं०] और। और भी।

अथमन†-संज्ञा पुं० [सं० अस्तमन] पश्चिम दिशा। 'उगमना' का उलटा।

अथरा-संज्ञा पुं० [सं० स्थिता] मिट्टी का एक बरतन वा नांद जिसमें (१) रंगरेज कपड़ा रँगते हैं, (२) सोनार मानिक रेत रखते हैं और (३) जुलाहे सूत भिँगोते हैं तथा ताने में लेई लगाते हैं।

अथरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० अथरा] [अथरा का अल्पार्थक प्रयोग] (१) छोटा अथरा। (२) मिट्टी का वह बरतन जिसमें कुम्हार हाँडी वा घड़े को रखकर थापी से पीटते हैं। (३) वह मिट्टी का बरतन जिसमें दही जमाते हैं।

अथर्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चौथा वेद जिसके मंत्र द्रष्टा वा ऋषि "भृगु या अंगिरा" गोत्रवाले थे जिस कारण इसको "भृग्वांगिरस" और "अथर्वांगिरस" भी कहते हैं। इसमें ब्रह्मा के कार्य्य का प्रधान प्रतिपादन होने से इसे "ब्रह्मवेद" भी कहते हैं। इस वेद में यज्ञ कर्मों का विधान बहुत कम है। शांति पौष्टिक अभिचार आदि का प्रतिपादन विशेष है। प्रायश्चित्त, तंत्र, मंत्र आदि इसमें मिलते हैं। इसकी नौ शाखाएँ थीं। यथा—पैप्पल, दांता, प्रदांता, स्नाता, स्नौता, ब्रह्मदावला, शौनकीय, देविदर्शती और चारणविद्या। कहीं कहीं इन नौ शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं—पिप्पलादा, शौनकीया, दामोदा, तोतायना, जाजला, ब्रह्मपलाशा, कौनखिना, देवदर्शिना, और चारणविद्या। इन शाखाओं में से आज कल केवल शौनकीय मिलती है जिसमें २० कांड, १११ अनुवाक, ७३१ सूक्त और ४७९३ मंत्र हैं। पिप्पलाद शाखा की संहिता प्रोफ़ेसर बूलर को काश्मीर में भोजपत्र पर लिखी मिली थी पर वह छपी नहीं। उपवेद इसका धनुर्वेद है। इसके प्रधान उपनिषद् प्रश्न, मुंडक और मांडूक्य हैं। इसका गोपथ ब्राह्मण आज कल प्राप्त है। कर्मकांडियों को इस वेद का जानना आवश्यक है। (२) अथर्व वेद का मंत्र।

अथर्वन-संज्ञा पुं० दे० "अथर्व"।

अथर्वनी-संज्ञा पुं० [सं० अथर्वणि] कर्मकांडी। यज्ञ करानेवाला। पुरोहित। उ०—बरे विप्र चहुँ वेद के रवि कुल गुरु ज्ञानी। आपु वसिष्ठ अथर्वनी महिमा जग जानी।—तुलसी।

अथर्वशिर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की ईंट जो तैत्तरेय शाखा के समय में यज्ञ की वेदी बनाने के काम में आती थी।

अथर्वशिरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद की एक ऋचा का नाम।

अथर्वांगिरस-संज्ञा पुं० दे० "अथर्व"।

अथल†-संज्ञा पुं० [सं० स्थल] वह भूमि जो लगान पर जोतने के लिये दी जाय।

अथवना*-क्रि० अ० [सं० अस्तमन-डूबना, प्रा० अत्थवन] (१) अस्त होना। डूबना। उ०—(क) जो ऊगै सो अथवै, फूलै सो कुम्हिलाय। जो चुनिए सो ढहि परै, जामै सो मरि जाय।—कबीर (ख) आज सूर दिन अथयो, आज रैन शशि बूड़। आज नाँच जिय दीजिए, आज आग हम जूड़।—जायसी। (ग) कौसल्या नृप दीख मलाना। रविकुल रवि अथयहु जिय जाना।—तुलसी। (घ) उदित सदा अथइहि कबहू ना। घटिहि न जग-नभ दिन दिन दूना।—तुलसी। (च) मिलि चलि, चलि मिलि, मिलि चलत, आँगन अथयो भान। भयो मुहूरत भोरतें पौरी प्रथम मिलान।—बिहारी। (२) लुप्त होना। तिरोहित होना। नष्ट होना। गायब होना। चला जाना। उ०—रामलखन उर लाय लये हैं। कहत ससोक बिलोकि बंधु मुख बचन प्रीति गथए हैं। सेवक, सखा, भगति, भायप गुन चाहत अब अथये हैं।—तुलसी।

अथवा-अव्य० [सं०] एक वियोजक अव्यय जिसका प्रयोग उस स्थान पर होता है जहाँ दो वा कई शब्दों वा पदों में से किसी एक का ग्रहण अभीष्ट हो। या। वा। किंवा। उ०—निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होहि अथवा अति फीका।—तुलसी।

अथाई-संज्ञा स्त्री० [सं० स्थायि=जगह, प्रा० ठायि, प्रा० ठाइ अ] (१) बैठने की जगह। घर की वह बाहरी चौपाल जहाँ लोग इष्ट मित्रों से मिलने तथा उनके साथ बैठ कर बात चीत करते हैं। बैठक। चौबारा। उ०—(क) हाट बाट घर गली अथाई। कहहिं परस्पर लोग लुगाई।—तुलसी। (ख) गोप बड़े बड़े बैठे अथाइन केशव कोटि सभा अवगाहीं। चंद्र सो आनन काढ़ि कहाँ चली सूझत है कछु तोहि कि नाहीं?—केशव। (२) वह स्थान जहाँ किसी गाँव वा बस्ती के लोग इकट्ठे होकर बातचीत और पंचायत करते हैं। उ०—कहँ पद्माकर अथाइन को तजि तजि गोप गन निज निज गेह के पथै गये।—पद्माकर।

(३) घर के सामने का चबूतरा जिस पर लोग उठते बैठते हैं। (४) गोष्ठी। मंडली। सभा। जमावड़ा। दरबार। उ०—गजमनि माल बीच भ्राजत कहि जाति न पदिक निकाई। जनु उडुगण मंडल वारिद पर नवग्रह रची अथाई।—तुलसी।

अथान, अथाना-संज्ञा पुं० [सं० स्थाणु=स्थिर] अचार। उ०—विधि पाँच अथान बनाइ कियो। पुनि द्वै विधि क्षीर सों माँगि लियो।—सूर।

अथाना*-क्रि० अ० [सं० अस्तमन, प्रा० अत्थवन] डूबना। अस्त होना। दे० "अथवना"।

क्रि० स० [सं० स्थान=जगह] (१) थहाना। थाह लेना। गहराई नापना। (२) ढूँढ़ना। छानना। उ०—फिरत फिरत बन सकल अथायो। कोऊ जीव हाथ नहिं आयो।—सबल। संज्ञा पुं० दे० "अथान"।

अथावत*-वि० [सं० अस्तमित-डूबा हुआ] अस्त। डूबा हुआ। उ०—बेर लगी रघुनाथ रहे कित हे मन! याको मैं भेद न पायो। चंदहु आयो अथावतो होत अजौं मनभावतो क्यों नहिं आयो।—रघुनाथ।

अथाह-वि० [सं० अ नहीं+स्था=ठहरना, अथवा "अगाध"] (१) जिसकी थाह न हो। जिसकी गहराई का अंत न हो। बहुत गहरा। अगाध। उ०—यहाँ अथाह जल है। (२) जिसका कोई पार वा अंत न पा सके। जिसका अंदाज़ न हो सके। अपरिमित। अपार। बहुत अधिक (३) गम्भीर। गूढ़। समझ में न आने योग्य। कठिन। उ०—करैं नित्य जप होम औ जानत वेद अथाह।

संज्ञा पुं० (१) गहराई। गड्ढा। जलाशय। (२) समुद्र। उ०—वा सुख के पुनि मिलन की, आस रही कछु नाहिं। परे मनोरथ जाय मम अब अथाह के माहिं।—लक्ष्मणसिंह।

मुहा०—में पड़ना-मुश्किल में पड़ना। उ०—हम अथाह में पड़े हैं कुछ नहीं सूझता।

अथिर*-वि० [सं० अस्थिर] (१) जो स्थिर न हो। चलायमान। चंचल। (२) क्षणस्थायी। न टिकनेवाला।

अथोर*-वि० [सं० अ=नहीं+सं० स्तोक, पा० थोक, प्रा० थोअ=थोड़ा] [स्त्री० अथोरी] कम नहीं। अधिक। ज़्यादा। बहुत। पूरा। उ०—भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर।—हरिश्चंद्र।

अदंक*-संज्ञा पुं० [सं० आतङ्क] डर। भय। त्रास। उ०—जसुमति बूझति फिरति गोपालहिं। जब ते तृणावर्त्त ब्रज तब ते मोहिं जिय संक। नैनन ओट होत पल एकौ मैं मन भरति अदंक।—सूर।

अदंड-वि० [सं०] (१) जो दंड के योग्य न हो। जिसे दंड देने की व्यवस्था न हो। सज़ा से बरी। (२) जिस पर कर वा महसूल न लगे। कर-रहित। (३) निर्द्वंद्व। निर्भय। स्वेच्छाचारी। उ०—उदधि अपार उतरत हू न लागी बार, केसरी कुमार सो अदंड ऐसो डाँड़िगो।—तुलसी।

संज्ञा पुं० वह भूमि जिसकी मालगुज़ारी न लगे। मुआफ़ी।

अदंडनीय-वि० [सं०] जो दंड पाने के योग्य न हो। जिसके दंड का विधान न हो। अदंड्य।

अदंडमान-वि० [सं०] दंड के अयोग्य। दंड से मुक्त। सज़ा से बरी। उ०—अदंडमान दीन, गर्व दंडमान भेद वै। अपट्टमान पाप ग्रंथ पट्टमान वेद वै—केशव।

अदंड्य-वि० [सं०] दंड न पाने योग्य। जिसे दंड न दिया जा सके। दंडमुक्त। सज़ा से बरी।

अदंत-वि० [सं०] (१) वेदांत का। जिसे दाँत न हो। (२) जिसे दाँत न निकला हो। बहुत थोड़ी अवस्था का। दूधमुहाँ। (३) जिसने दाँत न तोड़ा हो (चौपाया)।

अदंभ-वि० [सं०] (१) दंभरहित। पाखंडविहीन। सच्चा। बिना आडंबर का। निश्छल। निष्कपट। (२) प्राकृतिक। स्वाभाविक। अकृत्रिम। स्वच्छ। शुद्ध। उ०—भीति नग हीर, नग हीरन की कांति सों रतन खंभ पातिन अदंभ छवि छाई सी।—देव।

संज्ञा पुं० शिव।

अदंभित्व-संज्ञा पुं० [सं०] दंभशून्यता। दंभ का अभाव। पाखंड वा आडंबर का न होना।

अदक्षिण-वि० [सं०] (१) बायाँ। जो दहिना न हो। (२) प्रतिकूल। विरुद्ध। (३) बिना दक्षिणा का। दक्षिणारहित (यज्ञ इत्यादि)। (४) अकुशल। अनाड़ी।

अदग-वि० [सं० अदग्ध, प्रा० अदग्ग] (१) बेदाग़। निष्कलंक। शुद्ध। (२) निरपराध। निर्दोष। जिसे पाप न छू गया हो। (३) अछूता। अस्पृष्ट। लेशरहित। साफ़। बचा हुआ। उ०—जेते थे तेते लियो घूँघट माहँ समोय। कज्जल वाके रेख है, अदग गया नहिं कोय।—कबीर।

अदत्तदान-संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्र के अनुसार बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण। अपहरण। चोरी। डकैती। कोई कोई आचार्य्य इसके तीन भेद द्रव्यादत्तदान, भावादत्तदान, द्रव्यभावादत्तदान और कोई चार भेद, स्वामी अदत्तदान, जीव अदत्तदान, तीर्थंकर अदत्तदान और गुरु अदत्तदान मानते हैं। इससे बचने का नाम अदत्तदान-विरमण-व्रत है।

अदत्ता-वि० स्त्री० [सं०] न दी हुई।

संज्ञा स्त्री० अविवाहिता कन्या।

अदद-संज्ञा पुं० [अ०] (१) संख्या। गिनती। (२) संख्या का चिह्न वा संकेत।

अदन-संज्ञा पुं० [सं०] खाना। भक्षण।

[अ०] यहूदी, ईसाई और मुसलमान मत के अनुसार स्वर्ग का वह उपवन जहाँ ईश्वर ने आदम को बना कर रक्खा था।

अदना-वि० [अ०] [स्त्री० अदनी] (१) तुच्छ। छोटा। क्षुद्र। नीच। (२) सामान्य। मामूली।

अदनीय-वि० [सं०] खाने योग्य। भक्ष्य।

अदब-संज्ञा पुं० [अ०] शिष्टाचार। क़ायदा। बड़ों का आदर सम्मान।

अदबदकर-क्रि० वि० दे० "अदबदाकर"।

अदबदाकर-क्रि० वि० [सं० अधि+वद=वचन देना, कहना] हठ करके। टेक बाँधकर। अवश्य। ज़रूर। उ०—यों तो हम न जाते अब अदबदाकर जायँगे।

विशेष—यह शब्द केवल इसी रूप में क्रि० वि० के समान आता है परंतु वास्तव में यह क्रि० अ० है।

अदभ्र-वि० [सं०] (१) बहुत। अधिक। ज़्यादा। उ०—सुनु अदभ्र-करुना-मय, वारिज लोचन, मोचन भय भारी।—तुलसी। (२) अपार। अनंत। उ०—अगुन, अदभ्र गिरा गोतीता। सम-दरसी, अनवद्य अजीता।—तुलसी।

अदमपैरवी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] किसी मुकदमे में ज़रूरी कार्रवाई न करना। अभियोग में पक्षप्रतिपादन का अभाव। उ०—उसका मुकदमा अदमपैरवी में ख़ारिज हो गया।

अदमसबूत-संज्ञा पुं० [फ़ा०] किसी मुकदमे में सबूत का न होना। प्रमाण का अभाव।

अदमहाज़िरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] ग़ैरहाज़िरी। अनुपस्थिति।

अदम्य-वि० [सं०] जिसका दमन न हो सके। न दबने योग्य। प्रचंड। प्रबल। अजेय।

अदय-वि० [सं०] (१) दयारहित। करुणाशून्य (व्यापार)। (२) निर्दयी। निष्ठुर। कठोर-हृदय (व्यक्ति)।

अदरक-संज्ञा पुं० [सं० आर्द्रक, फ़ा० अदरक] तीन फुट ऊँचा एक पौधा जिसकी पत्तियाँ लंबी लंबी और जड़ वा गाँठ तीक्ष्ण और चरपरी होती है। यह भारतवर्ष के प्रत्येक गर्म भाग में तथा हिमालय पर ४००० से ५००० फुट तक की उँचाई पर होती है। इसकी गाँठ मसाला, चटनी, अचार, और दवाओं में काम आती है। यह गर्म और कटु होती है तथा कफ, वात, पित्त और शूल का नाश करती है। अग्निदीपन इसका प्रधान गुण है। गाँठ को जब उबाल कर सुखा लेते हैं तब उसे सोंठ कहते हैं।

पर्या०—शृंगवेर, कटुभद्र, कटूत्कट, गुल्ममूल, मूलज, कंदर, वर, महीज, सैकतेष्ट, अनूपज, अपाकशाक, चंद्राख्य, राहुच्छत्र, सुशाकक, शार्ङ्ग, आर्द्रशाक, सच्छाक।

अदरकी-संज्ञा स्त्री० [सं० आर्द्रक] सोंठ और गुड़ मिलाकर बनाई हुई टिकिया। सोंठौरा।

अदरा-संज्ञा पुं० दे० "आर्द्रा"।

अदराना-क्रि० अ० [सं० आदर] बहुत आदर पाने से शेखी पर चढ़ना। फूलना। इतराना। आदर वा मान चाहना। उ०—वे आजकल अदराए हुए हैं कहने से कोई काम जल्दी नहीं करते।

क्रि० स० आदर देकर शेखी पर चढ़ाना। फुलाना। घमंडी बनाना।

अदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अविद्यमानता। असाक्षात्। (२) लोप। विनाश।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अदर्शनीय-वि० [सं०] दर्शन के अयोग्य। जो देखने लायक न हो। बुरा। कुरूप। भद्दा।

अदल-संज्ञा पुं० [अ०] न्याय। इंसाफ़। उ०—अदल कहौं प्रथमै जस होई। चाँटा चलत न दुखवै कोई।—जायसी।

वि० [सं०] (१) बिना दल वा पत्ते का। पत्रविहीन। (२) बिना फ़ौज का। सेनारहित।

अदलबदल-संज्ञा पुं० [अ०] उलट-पुलट। हेर-फेर। परिवर्तन।

अदली॰-संज्ञा पुं० [अ० अदल] न्यायी। इंसाफ़वर। उ०—गुनिगन चोर जहाँ एक चित्त ही के, लोक बंधे जहाँ एक सरजा की गुन प्रीति है। कंप कदली में वारि बुंद बदली में, सिवराज अदली के राज में यों राजनीति है।—भूषण।

॰वि० [सं० अदल] बिना पत्ते का।

अदवाइन-संज्ञा स्त्री० दे० "अदवान"।

अदवान-संज्ञा स्त्री० [सं० अधः=नीचे+दाम=रस्सी] चारपाई के पैताने की वह रस्सी जिसे बिनावट को कसी रखने के लिये, कमधनी के छेदों में से ले जाकर सीरों में तान तान कर लपेटते हैं। ओनचन।

अदहन-संज्ञा पुं० [सं० आदहन=खूब जलाना] खौलता हुआ पानी। आग पर चढ़ा हुआ वह गरम पानी जिसमें दाल चावल आदि पकाते हैं।

अदाँत-वि० [सं० अदन्त] बिना दाँत का। जिसे दाँत न आए हों। (प्रायः पशुओं के संबंध में) उ०—अदाँत बरदै, दो दाँत ब्याय। आप जाय या खसमै खाय।—कहावत।

अदांत-वि० [सं०] जो इंद्रियों का दमन न कर सके। अजितेंद्रिय। विषयासक्त।

अदा-वि० [अ०] चुकता। बेबाक। दिया हुआ।

क्रि० प्र०—करना।—होना। उ०—(क) उसने सब रुपया अदा कर दिया। (ख) तुम्हारा क़र्ज़ अदा हो गया।

मुहा०—करना=पालन करना वा पूरा करना। उ०—सब को अपना फ़र्ज़ अदा करना चाहिए।

यौ०—अदाए ज़र डिगरी=डिगरी के देने वा रुपये को देना। अदाबंदी=किसी रुपये के बेबाक करने वा देने के लिये किस्त या समय का नियत करना। किस्तबंदी। अदा व बेबाक करना=सब चुकता कर देना, कौड़ी कौड़ी दे डालना। अदाए मालगुज़ारी=मालगुज़ारी का देना। अदाए शहादत=गवाही देना।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) भाव। हाव-भाव। नखरा। मोहित करने की चेष्टा। (२) ढंग। तर्ज़। आन। अँदाज़।

अदाई॰-वि० [अ०] (१) ढंगी। चालबाज़। चतुर। उ०—निर्गुण कहो कहा कहियत है तुम निर्गुण अति भारी। सेवत सगुन स्याम सुन्दर को लही मुक्ति हम चारी। हम सालोक्य, सरूप, सरोज्यो रहत समीप सहाई। सो तजि कहत और की औरै तुम अलि बड़े अदाई।—सूर।

अदायाँ॰-वि० [सं० अदक्षिण] वाम। प्रतिकूल। बुरा। उ०—परिवा नवमी पूर्व न भाए। दुईज दसमी उतर अदाँए—जायसी।

अदाग॰-वि० [सं० अ=नहीं+अ० दाग] (१) बेदाग़। निर्मल। स्वच्छ। साफ़। उ०—ज्ञान को भूखन ध्यान है, ध्यान को भूखन त्याग। त्याग को भूखन शांति पद, तुलसी अमल अदाग।—तुलसी। (२) निष्कलंक। निर्दोष। पवित्र। शुद्ध।

अदागी॰†-वि० दे० "अदाग"।

अदाता-संज्ञा पुं० [सं०] न देनेवाला। कृपण। कंजूस।

वि० जो न दे। कंजूस।

अदान॰-संज्ञा पुं० [सं० अ+दान] न देनेवाला। कंजूस। कृपण। उ०—हरि को मिलन सुदामा आयो। आदर बहुत कियो यादवपति मर्दन करि अन्हवायो। पूरब जन्म अदान जानि के ताते कछू मँगायो। मूठिक तंदुल बाँधि कृष्ण को बनिता विनय पठायो—सूर।

वि० [सं० अ=नहीं+फ़ा० दाना=जाननेवाला] अजान। नादान। नासमझ। उ०—ये अदान जानती नहीं कछु पालेहु भूल बिसारी।—रघुराज।

अदानी॰-वि० [सं०] जो दान न दे। कंजूस। सूम। कृपण। उ०-श्रवण नैन को नहीं लौं आँसु को निवास होत जैसे सोन भौन कोन राखत अदानी है।—रघुराज।

अदालत-संज्ञा स्त्री० [अ०] [वि० अदालती] न्यायालय। वह स्थान जहाँ न्यायाधीश बैठकर स्वत्वसंबंधी झगड़ों का निर्णय और अपराधों का विचार करता है। आज कल इसके प्रधान दो विभाग हैं, फ़ौजदारी और दीवानी। माल विभाग को दीवानी के अंतर्गत ही समझना चाहिए।

यौ०—अदालत अपील=वह अदालत जहाँ किसी मातहत अदालत के फ़ैसले की अपील हो। अदालत ख़फ़ीफ़ा=एक प्रकार की दीवानी अदालत जिसमें छोटे छोटे मुकदमे लिए जाते हैं। अदालत दीवानी=वह अदालत जिसमें सम्पत्ति वा स्वत्वसंबंधी बातों का निर्णय होता है। अदालत मराफ़ाऊला=वह अदालत जिसमें पहिले पहिल दीवानी मुकदमा दायर किया जाय। अदालत मराफ़ासानी=वह अदालत जिसमें अदालत मराफ़ाऊला की अपील हो। अदालत मातहत=वह अदालत जिसके फ़ैसले की अपील उसके ऊपर की अदालत में हुई हो। अदालत माल=वह अदालत जिसमें लगान और मालगुज़ारी-संबंधी मुकदमे दायर किए जाते हैं।

मुहा०—करना=मुकदमा लड़ना।—होना=अभियोग चलना।

अदालती-वि० [अ० अदालत] (१) अदालतविषयक। न्यायालय संबंधी (२) जो अदालत करे। मुकद्दमा लड़नेवाला।

अदावँ-संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+दाम=रस्सी वा बंधन] बुरा दाँव पेंच। असमंजस। कठिनाई। उ०—यह ऐसो अदावँ पर्‌यो या घरी घरहाइन के परि पुंजन में। मिस कोउ न आनि चढ़ै चित पै इनकी बतियाँन की गुंजन में।—राम।

अदावत-संज्ञा स्त्री० [अ०] [वि० अदावती] शत्रुता । दुश्मनी । लाग । वैर । विरोध ।

अदावती-वि० [अ० अदावत] (१) जो अदावत रक्खे । कसरी । जो लाग रक्खे । (२) विरोधजन्य । द्वेषमूलक ।

अदाह*-संज्ञा स्त्री० [अ० अदा] हाव-भाव । नखरा । आन । मोहित करने की चेष्टा । उ०—एतो सरूप दियो तो दियो पर एती अदाह तैं आनि धरी क्यों ? एती अदाह धरी तो धरी, पर ये अँखियाँ रिझवारि करी क्यों ?

अदाहत-वि० [सं०] न जलाने वाला । जिसमें जलाने व भस्म करने का गुण न हो, जैसे, जल में ।

अदित*-संज्ञा पुं० दे० "आदित्य" ।

अदिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रकृति । (२) पृथ्वी । (३) दक्ष प्रजापति की कन्या और कश्यप ऋषि की पत्नी जिससे सूर्य्य आदि तैंतीस देवता उत्पन्न हुए थे । ये देवताओं की माता कहलाती हैं । (४) द्युलोक । (५) अंतरिक्ष (६) माता । (७) पिता । (८) पुत्र । (९) विश्वेदेवा । (१०) पंचजन । (११) उत्पन्न करने की शक्ति । (१२) वाणी । (१३) प्रजापति ।

अदितिसुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता । (२) सूर्य्य ।

अदिन-संज्ञा पुं० [सं०] बुरा दिन । कुदिन । कुसमय । संकट वा दुःख का समय । अभाग्य । उ०-(क) परम हानि सब कहँ बड़ लाहू । अदिन मोर नहिँ दूषण काहू ।-तुलसी । (ख) यों कहि बार बार पायँ न परि पाँवरि पुलकि लई है । अपनो अदिन देखिहौं डरपत जेहि विष बेलि बई है ।-तुलसी ।

अदिव्य-वि० [सं०] (१) लौकिक । साधारण । सामान्य । (२) स्थूल । जिसका ज्ञान इंद्रियों द्वारा हो ।

अदिष्ट*-वि०, संज्ञा पुं० दे० "अदृष्ट" ।

अदिर्ष्टी*-वि० [सं० अ नहीं+दृष्टि=विचार (अथवा, अदृष्ट= भाग्य] (१) अदूरदर्शी, मूर्ख । अविचारी । दुष्ट (२) अभागा । बदकिस्मत ।

अदीठ*-वि० [सं० अदृष्ट, प्रा० अदिट्ठ] बिना देखा हुआ । अप्रत्यक्ष । अनदेखा । गुप्त । छिपा हुआ उ०-या मन को बिसमिल करूँ, दीठ करूँ अदीठ ।—कबीर ।

अदीन-वि० [सं०] (१) दीनतारहित । अनम्र । उग्र । अविनीत । प्रचंड । निडर । (२) उच्चाशय । ऊँची तबीयत का । उदार यौ०-अदीनात्मा ।

अदीयमान-वि० [सं०] जो न दिया जाय । उ०-अदीयमान दुःख सुख दीयमान जानिए ।—केशव ।

अदीह*-वि० [सं० अ=नहीं+दीर्घ, पा० दीघ, प्रा० दीह] जो बड़ा न हो । छोटा । सूक्ष्म । उ०-राधिका रूप निधान के पानिन आनि सबै छिति की छबि छाई । दीह अदीहन सूछम थूल गहै दग गोरी की दौरि गोराई ।—केशव ।

अदुंद*-वि० [सं० अद्वन्द्व, प्रा० अदुंद] (१) द्वंद्वरहित । निर्द्वंद्व । बिना झंझट का । बाधारहित । (२) शांत । निश्चिंत । (३) बेजोड़ । अद्वितीय । उ०-यौवन बनक पै कनक बसुधा धर सुधाधर बदन मधुराधर अदुंद री ।

अदुष्ट-वि० [सं०] (१) दूषणरहित । निर्दोष । शुद्ध । ठीक । यथार्थ । वास्तविक । (२) सज्जन । भला ।

अदूर-क्रि० वि० [सं०] समीप । निकट । पास ।

अदूरदर्शी-वि० [सं०] जो दूर तक न सोचे । अनग्रसोची । जो दूर के परिणाम का विचार न करे । अविचारी । स्थूल-बुद्धि । नासमझ ।

अदूषण-वि० [सं०] दूषणरहित । निर्दोष । बेऐब । शुद्ध । स्वच्छ । अच्छा ।

अदूषित-वि० [सं०] जिस पर दोष न लगा हो । निर्दोष । शुद्ध ।

अदृढ़-वि० [सं०] (१) जो दृढ़ न हो । कमज़ोर । (२) अस्थिर । चंचल ।

यौ०—अदृढ़चित्त ।

अदृप्त-वि० [सं०] दर्प वा अभिमानशून्य । निरभिमान । सीधासादा । सौम्य ।

अदृश्य-वि० [सं०] (१) जो दिखाई न दे । अलख । (२) जिसका ज्ञान पाँच इंद्रियों को न हो । अगोचर । परोक्ष । (३) लुप्त । गायब । अंतर्द्धान ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना । उ०-तब अदृश्य भए पावक सकल सभहि समुझाय । परमानंद मगन नृप हरष न हृदय समाय ।—तुलसी ।

अदृष्ट-वि० [सं०] (१) न देखा हुआ । अलक्षित । अनदेखा । (२) लुप्त । अंतर्द्धान । तिरोहित । गायब । ओझल ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

संज्ञा पुं० (१) भाग्य । प्रारब्ध किस्मत । भावी । उ०—केशव अदृष्ट साथ जीव जोति जैसी, तैसी लंकनाथ हाथ परी छाया जाया राम की ।-केशव । (२) अग्नि और जल आदि से उत्पन्न आपत्ति, जैसे, आग लगना, बाढ़ आना, तूफ़ान आना ।

अदृष्ट गति-वि० [सं०] (१) जिसकी चाल लखी न जाय । जो चुप चाप कार्य्य करे उ०—सहज सुवास शरीर की, आकर्षण विधि जानि । है अदृष्टगति दूतिका, इष्ट देवता मानि ।—केशव । (२) चालबाज़ । कूटनीतिपरायण ।

अदृष्टपूर्व-वि० [सं०] (१) जो पहिले देखा न गया हो । (२) अद्भुत । विलक्षण ।

अदृष्टवाद-संज्ञा पुं० [सं०] वह सिद्धांत जिसके अनुसार परलोक आदि परोक्ष बातों पर बिना किसी प्रकार का तर्क वितर्क किए केवल शास्त्र लेख के आधार पर विश्वास किया जाय ।

अदृष्टाक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसी युक्ति से लिखे हुए अक्षर जो बिना किसी क्रिया के पढ़े न जायँ । ऐसे अक्षर प्रायः प्याज़ नीबू आदि के रस से लिखे जाते हैं और सूखने पर दिखाई

नहीं पड़ते। विशेषत: आँच पर रखने से उभड़ आते और पड़े जाते हैं।

अदृष्टार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] न्यायदर्शन के अनुसार वह शब्दप्रमाण जिसके वाच्य वा अर्थ का साक्षात् इस संसार में न हो; जैसे, स्वर्ग, मोक्ष, परमात्मा इत्यादि।

अदृष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] शिष्यों के तीन भेदों में से एक। मध्यम अधिकारी शिष्य।

अदेख*-वि० [सं० अ = नहीं + हिं० देखना] जो न देखा जाय। अदृश्य। गुप्त। न देखा हुआ। अदृष्ट।

अदेखी-वि० [सं० अ = नहीं + हिं० देखना] जो न देख सके। डाही। द्वेषी। ईर्षालु। उ०—ए दई, ऐसो कछू करु ब्योंत जो देखे अदेखिन के दृग दागैं। जामें निशंक ह्वै मोहन को भरिये निज अंक कलंक न लागैं। —पद्माकर।

वि० स्त्री० बिना देखी हुई।

अदेव-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अदेवी] (१) वह जो देवता न हो। (२) राक्षस। दैत्य। असुर। (३) जैनियों के अनुसार तीर्थंकरों या जैनियों के देवताओं के अतिरिक्त अन्य देवता।

अदेय-वि० [सं०] न देने योग्य। जिसे दे न सकें। उ०—सकुच विहाय माँगु नृप मोही। मोरे नहिं अदेय कछु तोही।—तुलसी।

अदेस*-संज्ञा पुं० [सं० आदेश = आज्ञा, शिक्षा] (१) आज्ञा। शिक्षा (२) प्रणाम। दंडवत। उ०—औ महेश कहँ करौं अदेसू। जेहि यह पंथ दीन्ह उपदेसू। —जायसी।

(३) दे० "अंदेशा"।

अदेह-वि० [सं०] बिना शरीर का।

संज्ञा पुं० कामदेव।

अदोख* वि० दे० "अदोष"।

अदोखिल* वि० [सं० अदोष] निर्दोष। बेऐब। अकलंक। उ०—दुनिहाई सब टोल में, रही जो सौति कहाय। सुतौ ऐंचि पिय आप त्यों करी अदोखिल आय। —बिहारी।

अदोष*-वि० [सं०] निर्दोष। दूषणहीन। निष्कलंक। बेऐब। (२) निरपराध। पापरहित।

अदोस*-वि० दे "अदोष"।

अदौरी†-संज्ञा स्त्री० [सं० ऋद्ध, प्रा० उर्द, हिं० उर्द० + सं० वटी, हिं० बरी] केवल उर्द की सुखाई हुई बरी।

अद्ध*-वि० दे० "अर्द्ध"

अद्धरज-संज्ञा पुं० दे० "अध्वर्यु"

अद्धा-संज्ञा पुं० [सं० अर्द्ध, प्रा० अद्ध = आधा] (१) किसी वस्तु का आधा मान। (२) वह बोतल जो पूरी बोतल की आधी हो। (३) प्रत्येक घंटे के मध्य में बजनेवाला घंटा।

(४) चार मात्राओं का एक ताल जो कौआली का आधा होता है। इसमें तीन आघात और एक खाली होता है—

\+ ३ १ +
धिन धिन ता, ता धिन तानां तिनता ता धिन ता। धा।

(५) एक छोटी नाव।

यौ०-अद्ध खलासी = जहाज पर का साधारण मल्लाह।

क्रि० वि० [सं०] साक्षात्। प्रत्यक्ष।

अद्धामिश्रित वचन-संज्ञा पुं० [सं०] जैनमत के अनुसार कालसंबंधी मिथ्या भाषण, जैसे, सूर्योदय के पहिले कोई कहे कि दो घड़ी दिन चढ़ आया।

अद्धी-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्द्ध, प्रा० अद्ध + हिं० ई (प्रत्य०)] (१) दमड़ी का आधा। एक पैसे का सोलहवाँ भाग। इसका हिसाब कौड़ियों से होता है। (२) एक कपड़ा। बहुत बारीक और चिकनी तंजेब या नैनसुख जिसके थान की लंबाई साधारण तंजेब वा नैनसुख के थान से आधी होती है।

अद्भुत-वि० [सं०] [संज्ञा अद्भुतता अद्भुतत्व] आश्चर्यजनक। विस्मयकारक। विलक्षण। विचित्र। अजीब। अनोखा। अनूठा। अपूर्व। अलौकिक।

संज्ञा पुं० (१) काव्य के नौ रसों में से एक जिसमें अनिवार्य विस्मय की परिपुष्टता दिखलाई जाती है। इसका वर्ण पीत, देवता ब्रह्मा, आलंबन असंभावित वस्तु, उद्दीपन उसके गुणों की महिमा, तथा अनुभाव संभ्रमादिक हैं।

(२) केशव के अनुसार रूपक के तीन भेदों में से एक जिसमें किसी वस्तु का अलौकिक रूप से एक रस होना दिखलाया जाय। उ०—शोभा सरवर माँहि फूल्योई रहत सखि राजै राजहंसनि समीप सुख दानिये। केशवदास आस पास सौरभ के लोभ घने, आननि के देव भौंर भ्रमत बखानिये। होत ज्योति दिन दूनी, निशि में सहस गुनी सूरज सुहृदय चारु चंद्र मन मानिये। प्रीति को सदन, दुइ सकै न मदन, ऐसो कुशल बदन जग जानकी को जानिये।—केशव।

अद्भुतता-संज्ञा स्त्री० [सं०] विचित्रता। विलक्षणता। अनोखापन।

अद्भुतत्व-संज्ञा पुं० [सं०] विचित्रता। अनोखापन।

अद्भुतदर्शन-वि० [सं०] जो देखने में अद्भुत वा विचित्र लगे। विलक्षण।

अद्भुतालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ संसार के अद्भुत पदार्थ दिखलाने के लिये रक्खे हों। अजायबघर।

अद्भुतोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] उपमा अलंकार का एक भेद जिसमें उपमान के ऐसे गुणों का उल्लेख किया जाय जिनका होना उपमेय में त्रिकाल में भी संभव न हो। उ०—बंक बिलोकनि, बोल अमोलनि बोलत केशव मोद बढ़ावै। ऐसे बिलास जो होहिं सरोज में तौ उपमा मुख तेरे कि पावै।—केशव।

अद्भुतस्वन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विचित्र शब्द करनेवाला। (२) शिव।

अद्य—क्रि० वि० [सं०] अब। अभी। आज।

अद्यतन—वि० [सं०] [वि० अद्यतनीय] आज के दिन का। वर्तमान।
संज्ञा पुं०—बीती हुई आधी रात से लेकर आनेवाली आधी रात तक का समय। कोई कोई बीती हुई रात के शेष प्रहर से लेकर आनेवाली रात के पहिले प्रहर तक के समय को अद्यतन कहते हैं।

अद्यप्रभृति—क्रि० वि० [सं०] आज से। अब से।

अद्यापि—क्रि० वि० [सं०] आज भी। अब भी। इस समय भी। अब तक। आज तक।

अद्यावधि—क्रि० वि० [सं०] आज तक। अब तक। इस समय पर्य्यंत।

अद्रव—वि० [सं०] जो द्रव वा पतला न हो। गाढ़ा। घना। ठोस।

अद्रव्य—संज्ञा पुं० [सं०] सत्ताहीन पदार्थ। अवस्तु। असत। शून्य। अभाव।
वि० द्रव्य वा धनरहित। दरिद्र।

अद्रा×—संज्ञा स्त्री० दे० "आर्द्रा"।

अद्रि—संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत। पहाड़।

अद्रिकीला—संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी। धरती।

अद्रिछिद्—संज्ञा पुं० [सं०] वज्र। बिजली।

अद्रिजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती। (२) गंगा नदी।

अद्रितनया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती। (२) गंगा। (३) २३ वर्णों के एक वृत्त का नाम। इसे अश्वललित भी कहते हैं। उ०—न पति करैं सनेह तिनसों कदापि मन सों न दुःख भरतीं।

अद्रिपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्वतों में श्रेष्ठ। हिमालय।

अद्रिसार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहा। (२) शिलाजीत।

अद्वय—वि० [सं०] द्वितीय रहित। एकाकी। अकेला। एक।

अद्वितीय—वि० [सं०] द्वितीय रहित। अकेला। एकाकी। एक। (२) जिसके ऐसा दूसरा न हो। जिसके टक्कर का दूसरा न हो। बेजोड़। अनुपम। (३) प्रधान। मुख्य। (४) विलक्षण। विचित्र। अद्भुत। अजीब।

अद्वेष—वि० [सं०] द्वेषरहित। जो वैर न रक्खे। शांत।

अद्वैत—वि० [सं०] (१) द्वितीय रहित। एकाकी। अकेला। एक। (२) अनुपम। बेजोड़।
संज्ञा पुं० ब्रह्म। ईश्वर।

अद्वैतवाद—संज्ञा पुं० [सं०] वह सिद्धान्त जिसमें ब्रह्म ही को जगत का उपादान कारण मान कर संपूर्ण प्रत्यक्षादि सिद्ध विश्व को ब्रह्म में आरोपित करते हैं। इसके अनुयायी कहते हैं कि जैसे रस्सी के स्वरूप को न जानने से सर्प का बोध होता है वैसे ही ब्रह्म के रूप को न जानने से संसार वस्तुतः दिखाई देता है। अंत में अज्ञान दूर हो जाने पर सब यथार्थ ब्रह्ममय प्रतीत होता है।

अद्वैतवादी—संज्ञा पुं० [सं०] अद्वैत मत को माननेवाला। ब्रह्म और जीव को एक माननेवाला।

अधंतरी—संज्ञा स्त्री० [सं० अधः+अंतर] मालखंभ की एक कसरत।

अधः—अव्य० [सं०] नीचे। तले।

अधःकाय—संज्ञा पुं० [अधः—नीचे+काय—शरीर] कमर के नीचे के अंग। नाभि के नीचे के अवयव।

अधःपतन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे गिरना। (२) अवनति। अधःपात। तनज़्ज़ुली। (३) दुर्दशा। दुर्गति। (४) विनाश। क्षय।

अधःप्रस्तर—संज्ञा पुं० [सं०] अशौचवालों के बैठने के लिये तृणों का बना हुआ आसन। कुशासन।

अधःपात—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे गिरना। पतन। (२) अवनति। तनज़्ज़ुली। दुर्गति। दुर्दशा।

अधःपुष्पी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनंतमूल नामक ओषधि। (२) नीले फूल की एक बूटी जिसे अंधाहोली भी कहते हैं।

अधःशयन—संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी पर सोना। यह ब्रह्मचर्य का का एक नियम है।

अध—अव्य० दे० 'अधः'।
वि० [सं० अर्द्ध, प्रा० अद्ध] 'आधा' शब्द का संकुचित रूप। आधा।
विशेष—प्रायः यौगिक शब्द बनाने में इस शब्द का प्रयोग होता है। उ०—अधजल। अधकचरा। अधबावरा। अधचरा। हे। जानत जो नहिं नुगह, बोलत अध अखरान।—जायसी।

अधकचरा—वि० [सं० अर्द्ध आधा+हिं० कच्चा] (१) अपरिपक्व। अधूरा। अपूर्ण। (२) अकुशल। अदक्ष। जिसने पूरी तरह कोई चीज़ न सीखा हो। उ०—उसने अच्छी तरह पढ़ा नहीं, अधकचरा रह गया।
वि० [सं० अर्द्ध आधा+हिं० कचरना] आधा कूटा वा पीसा हुआ। दरदरा। अधपिसा। अधकुटा। अरदावा किया हुआ।

अधकच्छा—संज्ञा पुं० [सं० अधकच्छ] नदी के किनारे किनारे की वह ऊँची भूमि जो ढालुई होते होते नदी की सतह से मिल गई हो।

अधकच्छार—संज्ञा पुं० [सं० अधकच्छ] पहाड़ के अंचल की वह ढालुई भूमि जो प्रायः बहुत उपजाऊ और हरी-भरी होती है।

अधकपारी—संज्ञा स्त्री० [सं० अर्द्ध—आधा+कपाल सिर] आधे सिर का दर्द जो सूर्योदय से आरंभ होकर दोपहर तक बढ़ता जाता है और फिर दोपहर के बाद से घटने लगता है और सूर्यास्त होते ही बंद हो जाता है। आधा सीसी। सूर्यावर्त्त।

अधकरी-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्द्ध+कर] अठनिया किस्त । मालगुज़ारी, महसूल या किराए की आधी रकम जो किसी नियत समय पर दी जाय ।

अधखिला-वि० [सं० अर्द्ध+हि० खिलना] [स्त्री० अधखिली] आधा खिला हुआ । अर्द्धविकसित ।

अधखुला-वि० पु० [सं० अर्द्ध आधा+हि० खुलना] [स्त्री० अधखुली] आधा खुला हुआ । उ०—शुभ सिंगार साजे सबै, दै सखीनि को पीठि । चले अधखुले द्वार लौं, खुली अधखुली पीठि ।—पद्माकर ।

अधगति*†-संज्ञा स्त्री० दे० "अधोगति" ।

अधगो-संज्ञा पु० [सं० अधः=नीचे+गो=इंद्रिय] नीचे की इंद्रियां । शिश्न वा गुदा ।

अधगोरा-संज्ञा पु० [पु० अर्द्ध+गोरा] [स्त्री० अधगोरी] युरेशियन । युरोपीय और एशियाई माता पिता से उत्पन्न संतान ।

अधगोहुआँ-संज्ञा पु० [सं० अर्द्ध+गोधूम] जौमिला हुआ गेहूँ ।

अधघट*-वि० [सं० अर्द्ध आधा+हि० घटना=पूरा उतरना] जो ठीक वा पूरा न उतरे । जिससे ठीक अर्थ न निकले । अटपट । कठिन । उ०—कहैं कबीर अधघट बोलै । पूरा होइ विचार लै बोलै ।—कबीर ।

अधचरा-वि० [सं० अर्द्ध+हि० चरना] आधा चरा हुआ । अर्द्धभक्षित । आधा खाया हुआ । उ०—यह तन हरियर खेत, तरुनी हरिनी चर गई । अजहूँ चेत अचेत, यह अधचरा बचाइ ले ।

अधजर*-वि० पुं० [सं० अर्द्ध आधा+हि० जलना] अधजला । अधजरा । अर्द्धविदग्ध ।

अधड़ी*-वि० स्त्री० [सं० अधर] (१) न ऊपर न नीचे की । आधाररहित । निराधार । (२) ऊटपटांग । बेसिरपैर की । असंबद्ध । बेसिलसिला । न इधर की न उधर की । उ०—अधड़ी चाल कबीर की, असा धरी नहिं जाय । दादू डाँकहिं मिरिग ज्यों, उलटि पड़हिं भू आय ।—दादू ।

अधन*-वि० पुं० [सं० अ+धन] निर्धन । धनहीन । धन-रहित । कंगाल । ग़रीब । अकिंचन । उ०—तुम सम अधम भिखारि अगेहा । होत बिरंचि शिवहि संदेहा ।—तुलसी । (ख) अगुन, अलायक, आलसी, जानि अधन अनेरो । स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटको औचट उलटि न हेरो ।—तुलसी

अधन्ना-संज्ञा पुं० [हिं० आध+आना] एक आने का आधा । आध आने का सिक्का । टका । डबल पैसा ।

अधन्य-वि० [सं०] [स्त्री० अधन्या] जो धन्य न हो । भाग्यहीन । अभागा । गर्हित । निंद्य । बुरा ।

अधप-संज्ञा पुं० [सं०] भूखा सिंह । अर्द्धतृप्त केहरि ।

अधपई-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्द्ध=आधा+पाद=चौथाई] तौलने का एक बाट । एक सेर के आठवें हिस्से की तौल । आधा पाव तौलने का बाट वा मान । दो छटाँकी । दस भरी । अधपैया । अधपौवा ।

अधफर*-संज्ञा पुं० [सं० अर्द्ध=आधा+फलक=तख्ता] अंतरिक्ष । न नीचे न ऊपर का स्थान । बीच का भाग । अधर । उ०—अध अधफर ऊपर आकाश । चलत दीप देखियत प्रकाश । चौकी दै मनु अपने भेव । बहुरे देव लोक को देव ।—केशव ।

अधबर*-सं० पुं० [सं० अर्द्ध=आधा+वर्त्म=आधार] (१) आधा मार्ग । आधा रास्ता । (२) बीच । अधड़ । उ०—अनिरुध पर परैं हथ्यार । अधबर कटैं शिला की धार ।—लल्लू ।

अधबाँच†-संज्ञा पुं० [सं० अधि+वचन] (१) चमरावत । चमारों का जोरा । वह उजरत जो चमारों को चमड़े का मोट बनाने के लिये वर्ष भर में या फसल के समय दी जाती है ।

अधबुध*-वि० पु० [सं० अर्द्ध+बुध बुद्धिमान] अर्द्धशिक्षित । अधकचरा । जिसकी शिक्षा पूरी न हुई हो । उ०—दिना सात लौ बाकी सही । बुध अधबुध, अचरज एक कही ।—कबीर ।

अधबैस*-वि० स्त्री० [सं० अर्द्ध+वयस=उम्र] [स्त्री० अधबैसी] अधेड़ । मध्यम अवस्था की । ढलती उम्र की । उतरती जवानी की ।

अधम वि० [सं०] [संज्ञा अधमाई, अधमता । स्त्री० अधमा] (१) नीच । निकृष्ट । बुरा । खोटा । (२) पापी । दुष्ट ।

संज्ञा पुं० (१) एक पेड़ का नाम । (२) कवि के तीन भेदों में से एक । वह कवि जो दूसरों की निंदा करे ।

अधमई*†-संज्ञा स्त्री० [सं० अधम+हि० ई (प्रत्य०)] नीचता । अधमता । खोटापन ।

अधमता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अधमपना । नीचता । खोटाई ।

अधमरति-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्य्यवश प्रीति को अधमरति कहते हैं, जैसे वेश्या की प्रीति ।

अधमरा-वि० [सं० अर्द्ध, प्रा० अद्ध+हिं० मरा] आधा मरा हुआ । अर्द्धमृत । मृतप्राय । अधमुआ ।

अधमर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] ऋण लेनेवाला आदमी । क़र्ज़दार । ऋणी । धरता ।

अधमाँग-संज्ञा पुं० [सं०] चरण । पैर । पाँव ।

अधमाई-संज्ञा स्त्री० [सं० अधम] अधमता । नीचता । खोटाई । उ०—परहित सरिस धर्म नहिं भाई । परपीड़ा सम नहिं अधमाई ।—तुलसी ।

अधमा दूती-संज्ञा स्त्री० [सं०] अधम कुटनी । वह दूती जो उत्तम रूप से अपना कार्य्य न करे वरन कटु बातें कह कर नायक वा नायिका का संदेशा एक दूसरे को पहुँचावे ।

अधमाधम-वि० पुं० [सं० अधम+अधम] नीच से नीच । महानीच ।

अधमा नायिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रकृति के अनुसार नायिका के तीन भेदों में से एक। वह स्त्री जो प्रिय वा नायक के हितकारी होने पर भी उसके प्रति अहित वा कुव्यवहार। करे।

अधमुआ-वि० दे० "अधमरा"।

अधमुख-संज्ञा पुं० [सं० अधोमुख=नीचे की ओर मुह किए] मुँह के बल। सिर के बल। औंधा। उलटा। उ०—(क) स्याम भुजा की सुन्दरताई। बड़े बिसाल जानु लौं परसत यक उपमा मन आई। मनो भुजंग गगन ते उतरत अधमुख रह्यो झुलाई।—सूर। (ख) स्याम बिंदु नहिं चिबुक में, सो मन यों ठहराइ। अधमुख ठोड़ी गाड़ की, अँधियारी दरसाय।—रामसहाय।

अधरंगा-संज्ञा पुं० [हिं० आधा+रंग] एक प्रकार का फूल।

अधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे का ओठ। (२) ओठ।

यौ०—बिंबाधर। दयिताधर।

मुहा०—चबाना-क्रोध के कारण दांतों से ओठ दबाना। उ०—तदपि क्रोध नहिं रोक्यो जाई। भए अरुन चख अधर चबाई।—मन्नालाल।

संज्ञा पुं० [सं० अ नहीं+धृ=धरना] (१) बिना आधार का स्थान। अन्तरिक्ष। आकाश। शून्य स्थान। उ०—वह अधर में लटका रहा।

मुहा०—में झूलना।—में पड़ना।—में लटकना।—(१) अधूरा रहना। पूरा न होना। उ०—यह काम अधर में पड़ा हुआ है। (२) पशोपेश में पड़ना। दुविधा में पड़ना। (२) पाताल।

वि० (१) जो पकड़ में न आवे। चंचल। (२) नीच। बुरा। उ०—गूढ़ कपट प्रिय वचन सुनि, नीच अधर बुधिरानि। सुर माया वश वैरिनिहिं, सुहृद जानि पतिआनि।—तुलसी। (३) विवाद वा मुक़द्दमे में जो हार गया हो।

अधरज-संज्ञा पुं० [सं० अधर+रज] (१) ओठों की ललाई। ओठों की सुर्खी। (२) ओठों की धड़ी। पान वा मिस्सी के रंग की लकीर जो ओठों पर दिखाई देती है।

अधरपान*-संज्ञा पुं० [सं० अधर=ओठ+पान=पीना, चूसना] सात प्रकार की बाह्य रतियों में से एक रति। ओठों का चुंबन।

अधरबिंब-संज्ञा पुं० [सं०] कुंदरू के पके फल जैसे लाल ओठ।

अधरम*-संज्ञा पुं० दे० "अधर्म"।

अधरमकाय*-सं० पुं० दे० "अधर्मास्तिकाय"।

अधराधर-संज्ञा पुं० [सं० अधः+अधर] नीचे का ओठ।

अधरेद्युः-संज्ञा पुं० [सं०] गत दिन के पहिले का दिन। परसों।

अधरोत्तर-वि० सं० [सं०] (१) ऊँचा नीचा। खड़बीहड़। ऊबड़-खाबड़। (२) अच्छा-बुरा। (३) न्यूनाधिक। कमोबेश।

क्रि० वि० ऊँचे-नीचे।

अधरोंथा-वि० [सं० अर्द्ध आधा+रोमंथ जुगाली] आधा जुगाली किया हुआ। आधा पागुर किया हुआ। आधा चबाया हुआ।

अधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अधर्मात्मा, अधर्मिष्ठ, अधर्मी] पाप। पातक। असद्व्यवहार। अकर्त्तव्य कर्म। अन्याय। धर्म के विरुद्ध कार्य्य। कुकर्म। दुराचार। बुरा काम।

विशेष—शरीर द्वारा हिंसा चोरी आदि कर्म। वचन द्वारा अनृत भाषण आदि और मन द्वारा परद्रोहादि। यह गौतम का मत है। कणाद के अनुसार—वह कर्म जो अभ्युदय (लौकिक सुख) और नैश्रेयस् (पारलौकिक सुख) की सिद्धि का विरोधी हो। जैमिनि के मतानुसार—वेदविरुद्ध कर्म। बौद्धशास्त्रानुसार- वह दुष्ट स्वभाव जो निर्वाण का विरोधी हो।

अधर्मात्मा-वि० पुं० [सं] अधर्मी। पापी। दुराचारी। कुमार्गी। बुरा।

अधर्मास्तिकाय-संज्ञा पुं० [सं०] अधर्म। पाप। जैन शास्त्रानुसार द्रव्य के छः भेदों में से एक। यह एक नित्य और अरूपी पदार्थ है जो जीव और पुद्गल की स्थिति का सहायक है। इसके तीन भेद हैं—स्कंध, देश और प्रदेश।

अधर्मी-संज्ञा पुं० [सं० अधर्मिन्] [स्त्री० अधर्मिणी] पापी। दुराचारी।

अधर्षणी-वि० पुं० [सं०] जिसको कोई दबा या डरा न सके। जिस पर कोई ग़ालिब न आ सके। जिसको कोई पराजित न कर सके। प्रचण्ड। प्रबल। निर्भय।

अधवा-संज्ञा स्त्री० [सं० अ+धव पति] जिसका पति जीवित न हो। विधवा। बिना पति की स्त्री। राँड़। 'सधवा' का उलटा।

अधवारी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक पेड़ का नाम जिसकी लकड़ी मकान और असबाब बनाने के काम में आती है।

अधश्चर-वि० [सं०] जो नीचे नीचे चले।

संज्ञा पुं० सेंध लगा कर चोरी करनेवाला पुरुष। सेंधिया चोर।

अधसेरा-संज्ञा पुं० [सं० अर्द्ध आधा+सेटक=सेर] एक बाँट वा तौल जो एक सेर की आधी होती है। दो पाव का मान।

अधस्तल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे का कमरा। नीचे की कोठरी। (२) नीचे की तह। (३) तहख़ाना।

अधाँगा-संज्ञा पुं० [सं० अर्द्धांग] एक ख़ाकी रंग की चिड़िया जिसका गरदन से ऊपर का सारा भाग लाल होता है और डैने तथा पैर सुनहले होते हैं।

अधाधुंध–क्रि० वि० दे० "अंधाधुंध"।

अधाना–संज्ञा पुं० [सं० अर्द्ध] ख़्याल (आस्थायी) का एक भेद। यह तिलवाड़ा ताल पर बजाया जाता है।

अधावट–वि० पुं० [सं० अर्द्ध=आधा+आवर्त्त=चक्कर] आधा औटा हुआ। जो औंटाने वा गरम करते करते गाढ़ा होकर नाप में आधा हो गया हो।

अधारिया–संज्ञा पुं० [सं० आधार] बैलगाड़ी में गाड़ीवान के बैठने का स्थान जिसे मोढ़ा भी कहते हैं।

अधारी–संज्ञा स्त्री० [सं० आधार] (१) आश्रय। सहारा। आधार की चीज़। (२) काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पीढ़ा जिसे साधु लोग सहारे के लिये रखते हैं। उ०—ऊधो योग सिखावन आए। शृंगी भस्म अधारी मुद्रा दै यदुनाथ पठाए।—सूर। (३) यात्रा का सामान रखने का झोला वा थैला जिसे मुसाफ़िर लोग कंधे पर रख कर चलते हैं।

[हिं० आधा+आरिय–मध्य] बेनिकाला हुआ बैल।

वि० स्त्री० सहारा देनेवाली। प्रिय। प्यारी। भली। उ०—को मोहिं लै पिय कंठ लगावै। परम अधारी बात सुनावै।—जायसी।

अधार्मिक–वि० [सं०] अधर्मी। धर्म्मशून्य। पापी। दुराचारी।

अधि–एक संस्कृत उपसर्ग जो शब्दों के पहिले लगाया जाता है और जिसके ये अर्थ होते हैं—(१) ऊपर। ऊँचा। पर। उ०—अधिराज। अधिकरण। अधिवास। (२) प्रधान। मुख्य। उ०—अधिपति। (३) अधिक। ज़्यादा। उ०—अधिमास। (४) संबंध में। उ०—आध्यात्मिक। आधिदैविक। आधिभौतिक।

अधिक–वि० [सं०] [संज्ञा अधिकता, अधिकाई, क्रि० अधिकाना] (१) बहुत। ज़्यादा। विशेष। (२) अतिरिक्त। सिवा। फ़ालतू। बचा हुआ। शेष। उ०—जो खाने पीने से अधिक हो उसे अच्छे काम में लगाओ।

संज्ञा पुं० (१) वह अलंकार जिसमें आधेय को आधार से अधिक वर्णन करते हैं। उ०—तुम कहि बोलत मुद्रिके मून होत यह नाम। कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।—केशव।

(२) न्याय के अनुसार एक प्रकार का निग्रह-स्थान जहाँ आवश्यकता से अधिक हेतु और उदाहरण का प्रयोग होता है।

अधिकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुतायत। ज़्यादती। विशेषता। बढ़ती। वृद्धि।

अधिक मास–संज्ञा पुं० [सं०] अधिक महीना। मलमास। लौंद का महीना। पुरुषोत्तम मास। असंक्रांत मास। शुक्ल प्रतिपदा से लेकर अमावस्या पर्य्यंत काल जिसमें संक्रांति न पड़े। यह प्रति तीसरे वर्ष आता है और चांद्र वर्ष और सौर वर्ष को बराबर करने के लिये चांद्र वर्ष में जोड़ लिया जाता है।

अधिकरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधार। आसरा। सहारा। (२) व्याकरण में कर्त्ता और कर्म द्वारा क्रिया का आधार। सातवाँ कारक। इसकी विभक्तियाँ 'में' और 'पर' हैं। (३) प्रकरण। शीर्षक। (४) दर्शन में आधार विषय। अधिष्ठान। जैसे ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। (५) मीमांसा और वेदांत के अनुसार वह प्रकरण जिसमें किसी सिद्धांत पर विवेचना की जाय और जिसमें ये पाँच अवयव हों, विषय, संशय, पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष, निर्णय।

अधिकरण सिद्धांत–संज्ञा पुं० [सं०] न्यायदर्शन में वह सिद्धांत जिसके सिद्ध होने से कुछ अन्य सिद्धांत वा अर्थ भी स्वयं सिद्ध हो जायँ। जैसे आत्मा, देह और इंद्रियों से भिन्न है–इस सिद्धांत के सिद्ध होने से इंद्रियों का अनेक होना, उनके विषयों का नियत होना, उनका ज्ञाता के ज्ञान का साधक होना, इत्यादि विषयों की सिद्धि स्वयं हो जाती है।

अधिकर्णिक–संज्ञा पुं० [सं०] मुंसिफ़। जज। फ़ैसला करनेवाला। न्यायकर्त्ता।

अधिकर्मकृत–संज्ञा पुं० [सं०] काम करनेवालों का जमादार।

अधिकांग–संज्ञा पुं० [सं०] अधिक अङ्ग। नियत संख्या से विशेष अवयव।

वि०–जिसे कोई अवयव अधिक हो। उ०—छाँगुर।

अधिकांश–संज्ञा पुं० [सं०] अधिक भाग। ज़्यादा हिस्सा। उ०—लूट का अधिकांश सरदार ने लिया।

वि० बहुत।

क्रि० वि० (१) ज़्यादातर। विशेषकर। बहुधा। (२) अकसर। प्रायः। उ०—अधिकांश ऐसा ही होता है।

अधिकाई–संज्ञा स्त्री० [सं० अधिक+हिं० आई (प्रत्य०)] (१) ज़्यादती। अधिकता। विपुलता। विशेषता। बहुतायत। बढ़ती। उ०—लहहिं सकल सोभा अधिकाई।—तुलसी। (२) बड़ाई। महिमा। महत्व। उ०—उमा न कछु कपि की अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई।—तुलसी।

अधिकाधिक–वि० [सं०] ज़्यादा से ज़्यादा। अधिक से अधिक।

अधिकाना*–क्रि० अ० [सं० अधिक] अधिक होना। ज़्यादा होना। बढ़ना। विशेष होना। वृद्धि पाना। उ०—सुक से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस ते अधिकाने। —तुलसी।

अधिकाभेदरूपक–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रालोक के अनुसार रूपक अलंकार के तीन भेदों में से एक जिसमें उपमान और उपमेय के बीच बहुत सी बातों में अभेद वा समानता दिखला कर पीछे से उपमेय में कुछ विशेषता वा अधिकता बतलाई जाय। उ०—रहै सदा विकसित विमल, धरै वास

मृदु मंजु । उपज्यो नहिं पुनि पंक तें; प्यारी को मुखकंज। यहाँ मुख उपमेय और कमल उपमान के बीच सुबास आदि गुणों में समानता दिखाकर मुख के सदा विकसित रहने और पंक से न उत्पन्न होने की विशेषता दिखलाई गई है।

अधिकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्य्यभार। प्रभुत्व। आधिपत्य। प्रधानता। उ०—इस कार्य्य का अधिकार उन्हीं के हाथ में सौंपा गया है। (२) प्रकरण।

क्रि० प्र०—चलाना।—जताना।—देना।—सौंपना।

(२) स्वत्व। हक़। अख्तियार। उ०—यह पूछने का अधिकार तुम्हें नहीं है।

क्रि० प्र०—देना।—रखना।

(३) दावा। क़ब्ज़ा। प्राप्ति। उ०—सेना ने नगर पर अधिकार कर लिया।

क्रि० प्र०—करना।—जमाना।

(४) क्षमता। सामर्थ्य। शक्ति। (५) योग्यता। परिचय। जानकारी। ज्ञान। लियाक़त। उ०—(क) इस विषय में उसे कुछ अधिकार नहीं है। (ख) अनधिकार चर्चा बुरी होती है। (६) प्रकरण। शीर्षक। उ०—वातरोगाधिकार।

* वि० पुं० [सं० अधिक] अधिक। बहुत। उ०—चढ़े त्रिपुर मारन कूँ सारे। हरि हरि सहित देव अधिकारे।—निश्चल।

अधिकारविधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीमांसा में वह विधि वा आज्ञा जिससे यह बोध हो कि किस फल की कामनावाले को कौनसा यज्ञ वा कर्म करना चाहिए अर्थात् कौन किस कर्म का अधिकारी है। जैसे स्वर्ग की कामना करनेवाला अग्निहोत्र यज्ञ करे, राजा राजसूय यज्ञ करे, इत्यादि।

अधिकारी-संज्ञा पुं० [सं० अधिकारिन्] [स्त्री० अधिकारिणी] (१) प्रभु। स्वामी। मालिक। (२) स्वत्वधारी। हक़दार। (३) योग्यता वा क्षमता रखनेवाला। उपयुक्त पात्र। उ०—सब मनुष्य वेदांत के अधिकारी नहीं हैं।

अधिकार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] कोई वाक्य वा शब्द जिससे किसी पद के अर्थ में विशेषता आ जाय।

अधिकृत-वि० [सं०] (१) अधिकार में आया हुआ। हाथ में आया हुआ। उपलब्ध। जिस पर अधिकार किया गया हो। संज्ञा पुं० अधिकारी। अध्यक्ष।

अधिक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] आरोहण। चढ़ाव। चढ़ाई।

अधिक्षिप्त-वि० [सं०] (१) फेंका हुआ। (२) अपमानित। निंदित। तिरस्कृत। बुरा ठहराया हुआ।

अधिक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेंकना। (२) तिरस्कार। निंदा। अपमान। (३) तानाज़नी। व्यंग्य।

अधिगणन-संज्ञा पुं० [सं०] अधिक गिनना। किसी चीज़ का अधिक दाम लगाना।

अधिगत-वि० [सं०] (१) प्राप्त। पाया हुआ। (२) जाना हुआ। ज्ञात। अवगत। समझा बूझा। पढ़ा हुआ।

अधिगम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राप्ति। पहुँच। ज्ञान। गति। (२) जैन दर्शन के अनुसार व्याख्यान आदि परोपदेश द्वारा प्राप्त ज्ञान। (३) ऐश्वर्य। बड़प्पन।

अधिगुप्त-वि० पुं० [सं०] रक्षित। रक्खा हुआ। छिपाया हुआ। दबा हुआ।

अधिजिह्व-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक बीमारी जिसमें रक्त से मिले हुए कफ के कारण जीभ के ऊपर सूजन हो जाती है। यह सूजन पक जाने पर असाध्य हो जाती है।

अधिज्य-वि० [सं०] जिसकी डोरी खिँची हो। (धनुष) जिसकी प्रत्यंचा वा जिसका चिल्ला चढ़ा हो।

यौ०—अधिज्यधन्वा।

अधित्यका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पहाड़ के ऊपर की समतल भूमि। ऊँचा पथरीला मैदान। टेबुललैंड। इसका उलटा "उपत्यका" है।

अधिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अधिदेवी] इष्टदेव। कुलदेव।

अधिदैव-वि० [सं०] दैविक। दैवयोग से होनेवाली। आकस्मिक।

अधिदैवत-संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रकरण वा मंत्र जिसमें अग्नि वायु सूर्य्य इत्यादि देवताओं के नाम कीर्तन से इष्ट अर्थ का प्रतिपादन होकर ब्रह्मविभूति अर्थात् सृष्टि के पदार्थों के गुण आदि की शिक्षा मिले। पदार्थसंबंधी विज्ञान विषय वा प्रकरण। वि०—देवतासंबंधी।

अधिनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सब का मालिक। सब का स्वामी। (२) सरदार। अफ़सर।

अधिनायक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अधिनायिका] (१) अफ़सर। सरदार। मुखिया। (२) मालिक। स्वामी।

अधिप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वामी। मालिक। (२) अफ़सर। सरदार। मुखिया। नायक। (३) राजा।

अधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अधिपत्नी] सरदार। मालिक। अधीश। नायक। अफ़सर। स्वामी। मुखिया। हाकिम। राजा। वि०—बौद्ध दर्शन के अनुसार अधिपति चार प्रकार के होते हैं। १ यज्ञाधिपति। २ चित्ताधिपति। ३ वीर्य्याधिपति। ४ न्यायाधिपति।

अधिपतिप्रत्यय-संज्ञा पुं० [सं०] जैन दर्शन के अनुसार वह प्रत्यय वा संयम जिसके अनुसार विषय को ग्रहण करने का नियम होता है।

अधिपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] परमपुरुष। परमात्मा। ईश्वर।

अधिविन्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अध्यूढ़ा। प्रथम स्त्री। प्रथम विवाह की स्त्री। वह स्त्री जिसके रहते उसका पति दूसरा विवाह कर ले।

अधिभौतिक-वि० दे० "आधिभौतिक"।

अधिमंथ-संज्ञा पुं० [सं०] अभिष्यंद रोग का एक अंश।

अधिमांसक-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें कफ के विकार से नीचे की डाढ़ में विशेष पीड़ा और सूजन हो कर मुँह से लार गिरती है।

अधिमास-संज्ञा पुं० दे० "अधिक मास"।

अधिमित्र-वि० पुं० [सं०] (१) परस्पर मित्र। (२) ज्योतिष में दो परस्पर मित्र ग्रहों के योग का नाम।

अधियज्ञ-वि० पुं० [सं०] यज्ञ-संबंधी। यज्ञ से संबंध रखनेवाला।

अधिया-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्द्धिका] (१) आधा हिस्सा। गाँव में आधी पट्टी की हिस्सेदारी। (२) एक रीति जिसके अनुसार उपज का आधा मालिक को और आधा उसके संबंध में परिश्रम करनेवाले को मिलता है।

संज्ञा पुं० [सं० अर्द्धिक] आधा हिस्सेदार। गाँव में आधी पट्टी का मालिक। अधियार।

अधियान*-संज्ञा पुं० [सं०] जपनी। गोमुखी। एक थैली जिसमें हाथ डाल कर माला जपते हैं।

अधियाना-क्रि० सं० [हिं० आधा] आधा करना। दो बराबर हिस्सों में बाँटना।

अधियार-संज्ञा पुं० [हिं० आधा] (१) किसी जायदाद में आधा हिस्सा। (२) आधे का मालिक। वह ज़िमींदार वा असामी जो किसी गाँव के हिस्से वा जोत में आधे का हिस्सेदार हो। (३) वह ज़िमींदार वा असामी जिसका आधा संबंध एक गाँव से और आधा दूसरे गाँव से हो और जो अपना समय दोनों में लगावे।

अधियारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० अधियार] (१) किसी जायदाद में आधी हिस्सेदारी। (२) किसी ज़िमींदार वा असामी की ज़िमींदारी वा जोत का दो भिन्न भिन्न गाँवों में होना।

अधिरथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रथ पर चढ़ा हुआ सारथी। रथ का हाँकनेवाला। गाड़ीवान। (२) करण को पालनेवाले सूत का नाम। (२) बड़ा रथ। उत्तम रथ।

अधिराज-संज्ञा पुं० [सं०] राजा। बादशाह। महाराज। प्रधान राजा। चक्रवर्ती। सम्राट्।

अधिराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] साम्राज्य। चक्रवर्ती राज्य।

अधिरोहण-संज्ञा पुं० [सं०] चढ़ना। सवार होना। ऊपर उठना।

अधिरोहिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीढ़ी। निःश्रेणी। निसेनी। ज़ीना।

अधिलोक-संज्ञा पुं० [सं०] संसार। ब्रह्मांड।

वि० ब्रह्मांडसंबंधी।

अधिवचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बढ़ाकर कही हुई बात। (२) नाम। संज्ञा।

अधिवाचन-संज्ञा पुं० [सं०] नामज़दगी। निर्वाचन। चुनाव।

अधिवास-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अधिवासित] निवासस्थल। स्थान। रहने की जगह। (२) महासुगंध। खुशबू। (३) विवाह से पहिले तेल हलदी चढ़ाने की रीति। (४) उबटन। (५) अधिक ठहरना। अधिक देर तक रहना। (६) दूसरे के घर जाकर रहना। मनु के अनुसार स्त्रियों के ६ दोषों में से एक।

अधिवासी-संज्ञा पुं० [सं० अधिवासिन्] निवासी। रहनेवाला।

अधिवेत्ता-संज्ञा पुं० [सं०] पहिली स्त्री के रहते दूसरा विवाह करनेवाला।

अधिवेदन-संज्ञा पुं० [सं०] एक स्त्री के रहते दूसरा विवाह करना।

अधिवेशन-संज्ञा पुं० [सं०] बैठक। संघ। जलसा।

अधिश्रयण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आग पर चढ़ाना। आग पर रखना। (२) तंदूर। भाड़। अँगीठी। चूल्हा।

अधिश्रयणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीढ़ी। निसेनी। निःश्रेणी। ज़ीना।

अधिष्ठाता-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अधिष्ठात्री] (१) अध्यक्ष। मुखिया। करनेवाला। प्रधान। नियंता। (२) किसी कार्य की देख भाल करनेवाला। वह जिसके हाथ में किसी कार्य का भार हो। (३) प्रकृति को जड़ से चेतन अवस्था में लानेवाला पुरुष। ईश्वर।

अधिष्ठान-संज्ञा पुं० [सं] [वि० अधिष्ठित] (१) वासस्थान। रहने का स्थान। (२) नगर। शहर। जनपद। बस्ती। (३) स्थिति। रहाइस। क़याम। पड़ाव। मुक़ाम। ठिकान। (४) आधार। सहारा। (५) वह वस्तु जिसमें भ्रम का आरोप हो जैसे रज्जु में सर्प और सुक्ति में रजत का। यहाँ रज्जु और सुक्ति दोनों अधिष्ठान हैं क्योंकि इन्हीं में सर्प और रजत का भ्रम होता है। (६) सांख्य में भोक्ता और भोग का संयोग। जैसे, आत्मा का शरीर के साथ और इन्द्रियों का विषय के साथ। (७) अधिकार। शासन। राजसत्ता। (८) गच जिसपर खंभा या पाया आदि बनाया जाय। (वास्तु)

अधिष्ठान शरीर-संज्ञा पुं० [सं] वह सूक्ष्म शरीर जिसमें मरण के उपरांत पितृलोक में आत्मा का निवास रहता है।

अधिष्ठित-वि० [सं०] (१) ठहरा हुआ। स्थापित। बसा। (२) निर्वाचित। नियुक्त।

अधीत-वि० पुं० [सं०] पढ़ा हुआ। बाँचा हुआ।

अधीन-वि० [सं०] [संज्ञा अधीनता] (१) आश्रित। मातहत। वशीभूत। आज्ञाकारी। दुर्बल। बस का। क़ाबू का। (२) विवश। लाचार। दीन।

संज्ञा पुं० दास। सेवक।

अधीनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परवशता। परतंत्रता। आज्ञाकारिता। मातहती। (२) लाचारी बेबसी। दीनता। ग़रीबी।

अधीर-वि० पुं० [सं०] [संज्ञा-अधीरता] (१) धैर्य्यरहित। घबराया हुआ। उद्विग्न। व्यग्र। बेचैन। व्याकुल। विह्वल।

(२) चंचल। अस्थिर। बेसब्र। उतावला। तेज़। आतुर। (३) असंतोषी।

यौ०—अधिराक्षी। अधीर विप्रेक्षित।

अधीरा-वि० स्त्री० [सं०] जो धीर न धरे।

संज्ञा स्त्री० मध्या और प्रौढ़ा नायिकाओं के तीन भेदों में से एक। वह नायिका जो नायक में नारीबिलाससूचक चिह्न देखने से अधीर होकर प्रत्यक्ष कोप करे।

अधीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वामी। मालिक। सरदार। (२) राजा।

अधीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अधीश्वरी] (१) मालिक। स्वामी। पति। अध्यक्ष। (२) अधिपति। भूपति। राजा।

अधीष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] किसी को सत्कारपूर्वक किसी कार्य्य में लगाना। नियोग।

वि० सत्कारपूर्वक नियोजित। आदर के साथ बुलाकर किसी काम में लगाया हुआ।

अधुना-क्रि० वि० [सं०] [वि० आधुनिक] अब। संप्रति। आज कल। इस समय।

अधुनातन-वि० [सं०] सांप्रतिक। वर्त्तमान समय का। अब का। हाल का। 'सनातन' का उलटा।

अधूत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अकंपित। (२) निर्भय। निडर। ढीठ। उचक्का। उ०—शंखचूड़ धनपति कर दूता। लै भागा एक सखी अधूता।

अधूरा-वि० [सं० अर्द्ध, हिं० अध+पूरा वा ऊरा (प्रत्य०)] [स्त्री० अधूरी] अपूर्ण। जो पूरा न हो। आधा। खंडित। असमाप्त। अधकचरा।

मुहा०—अधूरा जाना=असमय गर्भपात होना। कच्चा बच्चा होना। कच्चा जाना। उ०—इस स्त्री को अधूरा गया।

अधृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धृति की विपरीतता। अधीरता। उद्वेग। दृढ़ता का अभाव। घबड़ाहट। (२) आतुरता।

अधेंगा-संज्ञा पुं० दे० 'अधांगा'।

अधेड़-वि० [सं० अर्द्ध+एर (प्रत्य०)] आधी उम्र का। उतरती अवस्था का। ढलती जवानी का। बुढ़ापे और जवानी के बीच का।

अधेला-संज्ञा पुं० [सं० अर्द्ध, हिं० आधा+ला (प्रत्य०)] आधा पैसा। एक छोटा ताँबे का सिक्का जो पैसे का आधा होता है।

अधेलिका†-संज्ञा पुं० दे० "अँधियार"।

अधैर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धैर्य्य का अभाव। घबड़ाहट। व्याकुलता। उद्विग्नता। चंचलता। (२) धैर्य्यरहित। व्याकुल। उद्विग्न। चंचल। (३) उतावलापन। (४) उतावला। आतुर।

अधैर्य्यवान्-वि० [सं०] (१) धैर्य्यरहित। व्यग्र। उद्विग्न। घबड़ानेवाला। (२) आतुर। उतावला।

अधोंशुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे का वस्त्र, जैसे पायजामा, धोती इत्यादि। (२) अस्तर।

अधो-अव्य० दे० "अधः"।

अधोक्षज-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम। कृष्ण का एक नाम।

अधोगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पतन। गिराव। उतार। (२) अवनति। दुर्गति। दुर्दशा।

अधोगमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे जाना। (२) अवनति। पतन। दुर्दशा।

अधोगामी-वि० [सं० अधोगामिन्] [स्त्री० अधोगामिनी] (१) नीचे जानेवाला। (२) अवनति की ओर जानेवाला। बुरी दशा को पहुँचनेवाला।

अधोघंटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चिचड़ी। अपामार्ग।

अधोतर-संज्ञा पुं० [देश०] एक देशी कपड़ा जो गज़ी और गाढ़े से भी मोटा होता है।

अधोदेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे का स्थान। नीचे की जगह। (२) नीचे का भाग।

अधोभुवन-संज्ञा पुं० [सं०] पाताल। नीचे का लोक।

अधोमार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे का रास्ता। सुरंग का रास्ता। (२) गुदा।

अधोमुख-वि० [सं०] (१) नीचे मुँह किए हुए। मुँह लटकाए हुए। (२) औंधा। उलटा।

क्रि० वि० औंधा। उलटा। मुँह के बल। उ०—यह अधोमुख गिरा।

अधोरध*-क्रि० वि० [सं० अधोर्ध] ऊपर नीचे। उ०—दिसि पूरब पच्छिम दाहिने बाएँ अधोरध संकन मेली फिरै। —सेवक।

अधोर्द्ध-क्रि० वि० [सं०] ऊपर नीचे। तले ऊपर।

अधोलंब-संज्ञा पुं० [सं०] वह खड़ी रेखा जो किसी दूसरी सीधी आड़ी रेखा पर आकर इस प्रकार गिरे कि पार्श्व के दोनों कोण समकोण हों। लंब। (२) साहुल। वह सूत में बँधा हुआ लोहे वा पत्थर का गोला वा घंटे के आकार का लट्टू जिसे मकान बनानेवाले कारीगर परते की सीध लेने के लिये काम में लाते हैं। इस लट्टू को दीवार के सिरे पर से नीचे की ओर लटकाते हैं और इस सूत और दीवार के अंतर का मिलान करते हैं। यह यंत्र जल की गहराई नापने के काम में भी आता है।

अधोलोक-संज्ञा पुं० [सं०] नीचे का लोक। पाताल।

अधोवातावरोधोदावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] रोग विशेष। अधोवायु के वेग को रोकने से उत्पन्न उदावर्त्तरोग।

विशेष—इस रोग के ये लक्षण हैं—मल मूत्र का रुक जाना, अफरा चढ़ना, गुदा-मूत्राशय-लिंगेंद्रिय में पीड़ा तथा बादी से पेट में अन्य रोगों का होना।

अधोवायु-संज्ञा पुं० [सं०] अपान वायु । गुदा की वायु । पाद । गोज़ । नीचे की हवा ।

अधौड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० आधा+औड़ी (प्रत्य०)] (१) आधा चरसा । चरसे वा पूरे चमड़े का सिझाया हुआ आधा टुकड़ा ।

विशेष-सिझाने के लिये चमड़े को दो टुकड़े करने की आवश्यकता होती है । इसीसे एक एक टुकड़ा अधौड़ी कहलाता है । (२) मोटा चमड़ा । 'नरी' का उलटा जो प्रायः बकरी आदि के पतले चमड़े का होता है ।

यौ०-अधौड़ी अस्तर=(१) जूते के तले के ऊपर का मोटा चमड़ा जिस पर नरी न हो । (२) वह जूता जिस पर केवल अधौड़ी चमड़े का मोटा अस्तर हो । ऊपर से नरी का लाल चमड़ा न हो ।

मुहा०—अधौड़ी तनना=अघाना । खूब पेट भर जाना ।

उ०—आज तो निमंत्रण था ख़ूब अधौड़ी तनी होगी । अधौड़ी तानना=खूब पेट भर कर खाना ।

अध्मान-संज्ञा पुं० [सं०] रोग विशेष । पेट का अफरना ।

विशेष—इस रोग में पेट अधिक फूल जाता है, दर्द होता है और अधोवायु का छूटना बन्द हो जाता है ।

अध्यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वामी । मालिक । (२) अफ़सर । नायक । सरदार । प्रधान । मुखिया । (३) अधिकारी । अधिष्ठाता ।

अध्यक्षर-क्रि० वि० [सं०] अक्षरशः । अक्षर-अक्षर । जैसे "यह बात अध्यक्षर सत्य है ।"

अध्यग्नि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का स्त्री धन । यौतुक वा दायज जो अग्नि को साक्षी कर कन्या को विवाह के समय मायकेवालों की ओर से दिया जाता है ।

अध्यच्छ*-संज्ञा पुं० दे० "अध्यक्ष" ।

अध्ययन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पठन-पाठन । पढ़ाई । (२) ब्राह्मणों के षट् कर्म्मों में से एक कर्म ।

अध्यर्ध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) डेढ़ । (२) वायु, जो सब को धारण करनेवाली और बढ़ानेवाली है और सारे संसार में व्याप्त है ।

अध्यर्बुद-संज्ञा पुं० [सं०] रोग विशेष । जिस स्थान पर एक बार अर्बुद रोग हुआ हो उसी स्थान पर यदि फिर अर्बुद हो तो उसे अध्यर्बुद कहते हैं ।

अध्यवसाय-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अध्यवसायी] (१) लगातार उद्योग । अविश्रांत परिश्रम । निःसीम उद्यम । दृढ़ता-पूर्वक किसी काम में लगा रहना । (२) उत्साह । (३) निश्चय । प्रतीति ।

अध्यवसायी-वि० [सं०] [वि० अध्यवसायिन्] [स्त्री० अध्यवसायिनी] (१) लगातार उद्योग करनेवाला । परिश्रमी । उद्योगी । उद्यमी । (२) उत्साही ।

अध्यशन-संज्ञा पुं० [सं०] अजीर्ण । अनपच ।

अध्यस्त-वि० [सं०] जिसका भ्रम किसी अधिष्ठान में हो जैसे रज्जु में सर्प, सुक्ति में रजत और स्थाणु में पुरुष का भ्रम । यहाँ सर्प, रजत और पुरुष अध्यस्त हैं और रज्जु आदि अधिष्ठानों में इनका भ्रम होता है ।

अध्यात्म-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मविचार । ज्ञानतत्त्व । आत्मज्ञान ।

अध्यात्मा-संज्ञा पुं० [सं०] परमात्मा । ईश्वर ।

अध्यात्मिक*-वि० दे० "आध्यात्मिक" ।

अध्यापक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अध्यापिका] शिक्षक । गुरु । पढ़ाने वाला । उस्ताद । मुदर्रिस । मुअल्लिम ।

अध्यापकी-संज्ञा स्त्री० [सं० अध्यापक+ई] पढ़ाई । पढ़ाने का काम । मुदर्रिसी ।

अध्यापन-संज्ञा पुं० [सं०] शिक्षण । पढ़ाने का कार्य ।

अध्याय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्रंथविभाग । (२) पाठ । सर्ग । परिच्छेद ।

अध्यारोप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक के व्यापार को दूसरे में लगाना । अपवाद । दोष । अध्यास । (२) झूठी कल्पना । वेदांत के अनुसार अन्य में अन्य वस्तु का अभाव वा भ्रम, जैसे ब्रह्म में जो कि सच्चिदानन्द अनन्त अद्वितीय है अज्ञानादि सकल जड़ समूह का आरोपण । (३) सांख्य के अनुसार एक के व्यापार को अन्य में लगाना । जैसे प्रकृति के व्यापार को ब्रह्म में आरोपित कर उसको जगत का कर्त्ता मानना, वा इन्द्रियों की क्रियाओं को आत्मा में लगाना और उसको उनका कर्त्ता मानना ।

अध्यावाहनिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह द्रव्य जो कन्या को पिता के घर से पति के घर जाते समय मिलता है । यह स्त्रीधन समझा जाता है ।

अध्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अध्यारोप । भ्रांतज्ञान । मिथ्याज्ञान । कल्पना । और में और वस्तु की धारणा ।

अध्यासन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपवेशन । बैठना । (२) आरोपण ।

अध्याहार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तर्कवितर्क । उहापोह । विचिकित्सा । विचार । बहस । (२) वाक्य को पूरा करने के लिये उसमें और कुछ शब्द ऊपर से जोड़ना । (३) अस्पष्ट वाक्य को दूसरे शब्दों में स्पष्ट करने की क्रिया ।

अध्युष्ट-वि० पुं० [सं०] बसा हुआ । आबाद ।

अध्यूढ़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रथम विवाहिता स्त्री । वह स्त्री जिसका पति दूसरा विवाह करले । ज्येष्ठा पत्नी ।

अध्येतव्य-वि० पुं० [सं०] पढ़ने के योग्य । अध्ययन के योग्य । पठन के योग्य ।

अध्येता-संज्ञा पुं० [सं०] पढ़नेवाला विद्यार्थी ।

अध्येय-वि० [सं०] पढ़ने योग्य । अध्ययन करने योग्य ।

अध्येषण-संज्ञा पुं० [सं०] याचना। माँगना। मंगनपन।

अध्रियामणी-संज्ञा स्त्री० [?] कटार। कटारी।—डिं०।

अध्रुव-वि० पुं० [सं०] (१) चल। चंचल। चलायमान। डांवा-डोल। अस्थिर। (२) अनित्य। अनिश्चित। बेठौर ठिकाने का।

अध्व-संज्ञा पुं० [सं०] रास्ता। मार्ग। पथ।

अध्वग-संज्ञा पुं० [सं०] बटोही। पथिक। यात्री। मुसाफ़िर।

अध्वर-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ।

अध्वर्यु-संज्ञा पुं० [सं०] चार ऋत्विजों वा यज्ञ करानेवालों में से एक। यज्ञ में यजुर्वेद का मंत्र पढ़नेवाला ब्राह्मण।

यौ०—अध्वर्यु वेद=यजुर्वेद।

अध्वशल्य-संज्ञा पुं० [सं०] अपामार्ग। चिचड़ी।

अध्वशोषि-संज्ञा पुं० [सं०] रोग विशेष। रास्ता चलने से उत्पन्न यक्ष्मा रोग।

अन्-अव्य० [सं०] संस्कृत व्याकरण में यह निषेधार्थक 'नञ्' अव्यय का स्थानादेश है और अभाव वा निषेध सूचित करने के लिये स्वर से आरंभ होनेवाले शब्दों के पहिले लगाया जाता है। उ०—अनंत, अनधिकार, अनीश्वर। पर हिन्दी में यह अव्यय वा उपसर्ग कभी कभी सस्वर होता है और व्यंजन से आरंभ होनेवाले शब्दों के पहिले भी लगाया जाता है। उ०—अनहोनी। अनबन। अन-रीति। इत्यादि।

अनंग-वि० [सं०] [क्रि० अनंगना] बिना शरीर का। देह रहित। उ०—अंगी अनंग कि मूढ़ अमूढ़ उदास अमीत कि मीत सही को। सो अथवै कबहूँ जनि केशव जाके उदोत उदै सब ही को।—केशव।

संज्ञा पुं० कामदेव।

अनंगक्रीड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रति। संभोग। (२) छन्दः-शास्त्र में मुक्तक नामक विषम वृत्त के दो भेदों में से एक जिसके पूर्व दल में १६ गुरु वर्ण और उत्तर दल में ३२ वर्ण हों। उ०—आठौ जामा शंभू गाओ। भौफन्दा ते मुक्ती पाओ। सिख मम धरि हिय भ्रम सब तजि कर। भज नर हर हर हर हर हर हर।

अनंगना*-क्रि० अ० [सं०] विदेह होना। शरीर की सुध छोड़ना। बेसुध होना। सुधबुध भुलाना। उ०—नागरि नागरि जल भरि घर लीन्हें आवै। भृकुटी धनुष, कटाक्ष मनो पुनि पुनि हरिहि लगावै। जाको निरखि अनंग अनं-गत ताहि अनंग बढ़ावै।—सूर।

अनंगवती-वि० स्त्री० [सं०] कामवती। कामिनी। उ०—मुँह धोवति, एँड़ी घँसति, हँसति अनँगवति तीर। धँसति न इन्दीवर नयनि, कालिंदी के नीर।—बिहारी।

अनंगशेखर-संज्ञा पुं० [सं०] दंडक नामक वर्ण वृत्त का एक भेद जिसमें ३२ वर्ण होते हैं और लघु गुरु का कोई क्रम नहीं होता। उ०—गरज्जि सिंहनाद लों निनाद मेघनाद वीर क्रुद्धमान सान सों कृसानु बाण छंडियं।

अनंगारि-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव के बैरी। शिव।

अनंगी-वि० [सं० अनङ्गिन] [स्त्री० अनंगिनी] (१) अंगरहित बिना देह का। अशरीर।

संज्ञा पुं० (१) परमेश्वर। (२) कामदेव।

अनंत-वि० [सं०] (१) जिसका अंत न हो। जिसका पार न हो। असीम। बेहद। अपार। बहुत बड़ा। (२) बहुत अधिक। असंख्य। अनेक। (३) अविनाशी। नित्य।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु। (२) शेषनाग। (३) लक्ष्मण। (४) बलराम। (५) आकाश। (६) जैनों के एक तीर्थंकर का नाम। (७) अभ्रक। (८) एक गहना जो बाहु में पहिना जाता है। (९) एक सूत का गंडा जो चौदह सूत्र एकत्र कर उसमें चौदह गाँठ देकर बनाया जाता है और जिसे भादों सुदी चतुर्दशी वा अनंत के व्रत के दिन पूजित कर बाहु में पहनते हैं। (१०) अनंत चतुर्दशी का व्रत। (११) रामानुजाचार्य्य के एक शिष्य का नाम।

अनंतकाय-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार उन वनस्पतियों का समुदाय विशेष जिनके खाने का निषेध है। इसके अंतर्गत वे पेड़ वा पौधे माने जाते हैं जिनके पत्तों, फलों और फूलों की नसें इतनी सूक्ष्म हों कि देख न पड़ें, जिनकी संधियां गुप्त हों, जो तोड़ने से एक बारगी टूट जाँय, जो जड़ से काटने पर फिर हरे हो जाँय, जिनके पत्ते मोटे, दलदार और चिकने हों वा जिनके पत्ते, फूल और फल कोमल हों। ये संख्या में बत्तीस हैं।

अनंतचतुर्दशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भाद्रशुक्ल चतुर्दशी। इस दिन हिन्दू लोग अलोना व्रत करते हैं और चौदह तागों के अनंत सूत्र को, जिसमें चौदह गाँठें दी होती हैं, पूजन कर बाँधते हैं और तत्पश्चात् भोजन करते हैं। यह व्रत मध्याह्न पर्यंत का है।

अनंतटंक-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग विशेष जो कि मेघ राग का पुत्र माना जाता है।

अनंतता-संज्ञा स्त्री० [सं०] असीमत्व। अमितत्व। अत्यंत अधिकता।

अनंतदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] जैनमत के अनुसार केवल दर्शन या सम्यक् दर्शन। सब बातों का पूरा ज्ञान। ऐसा ज्ञान जो दिशा कालादि से बद्ध न हो।

अनंतदृष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] इन्द्र का एक नाम।

अनंतनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] जैन लोगों के चौदहवें तीर्थंकर।

अनंतमूल-संज्ञा पुं० [सं०] एक पौधा वा बेल जो सारे भारत-वर्ष में होती है और औषध में काम में आती है। इसके पत्ते गोल और सिरे पर नुकीले होते हैं। यह दो प्रकार की

होती है—काली और सफ़ेद । यह स्वादिष्ट, स्निग्ध, शुक्र-जनक, तथा मंदाग्नि, अरुचि, श्वास, खाँसी, विष, त्रिदोष आदि को हरनेवाली है । रक्त शुद्ध करने का भी गुण इसमें बहुत है इसीसे इसे हिंदी सालसा वा उशबा भी कहते हैं ।

पर्या०—सारिवा । अनंता । गोपी । भद्रवल्ली । नागजिह्वा । कराला । गोपवल्ली । सुगंधा । भद्रा । श्यामा । शारदा । प्रतानिका । आस्फोता ।

अनंतर-क्रि० वि० [सं०] (१) पीछे । उपरांत । बाद । (२) निरंतर । लगातार ।

वि०-(१) अंतर-रहित । निकटस्थ । पट्टीदार (२) अखंडित ।

यौ०—अनंतरज । अनंतरजात ।

अनंतरज-संज्ञा पु० [सं०] वह व्यक्ति जिसके पिता का वर्ण माता के वर्ण से एक वर्ण ऊँचा हो, जैसे माता शूद्रा हो और पिता वैश्य । अथवा माता वैश्या हो और पिता क्षत्रिय, अथवा माता क्षत्राणी और पिता ब्राह्मण हो ।

अनंतरजात-संज्ञा पु० दे० "अनंतरज" ।

अनंतरित-वि० [सं०] (१) जिसमें बीच न पड़ा हो । निकटस्थ । (२) अखंडित । अटूट ।

अनंतर्हित-वि० [सं०] (१) जो अलग न किया गया हो । मिला हुआ । निकटस्थ । पास का । (२) शृंखलाबद्ध । अखंडित ।

अनंतविजय-संज्ञा पु० [सं०] युधिष्ठिर के शंख का नाम ।

अनंतवीर्य-वि० [सं०] अपार पौरुष वाला ।

संज्ञा पुं० जैनों के तेईसवें तीर्थंकर का नाम ।

अनंता-वि० स्त्री० [सं०] जिसका अंत वा वारापार न हो ।

संज्ञा स्त्री० (१) पृथ्वी । (२) पार्वती । (३) करियारी का पौधा । (४) अनंतमूल । (५) दूब । (६) पीपर । (७) जवासा । (८) अरणीवृक्ष । (९) अनंतसूत्र ।

अनंतानुबंधी-संज्ञा पुं० [सं०] जैनमतानुसार वह दोष वा दुःस्वभाव जो कभी न जावे, जैसे अनंतानुबंधी क्रोध,—लोभ,—माया, मान ।

अनंताभिधेय-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके नामों का अंत न हो । ईश्वर ।

अनंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चौदह वर्णों का एक वृत्त जिसका क्रम इस प्रकार है—जगण रगण जगण, रगण, लघु, गुरु । *(२) दे० "आनंद" ।

अनंदना*-क्रि० अ० [सं० आनंद] आनंदित होना । ख़ुश होना । प्रसन्न होना । उ०—पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे । अभिमत आशिष पाइ अनंदे ।—तुलसी ।

अनंदी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धान । (२) दे० "आनंदी" ।

अनंभ-वि० [सं० अन्=नहीं+अम्भ=जल] बिना पानी का ।

*[सं० अन्=नहीं+अहं=पाप, विघ्न, बाधा] निर्विघ्न । बाधारहित । बेआँच । उ०—मोहन बाण हमार है, देखत मोहत शंभु । मोहन बाण तुम्हार जो, हमको करत अनंभु ।—सबल ।

अनंश-वि० [सं०] जो पैत्रिक संपत्ति पाने का अधिकारी न हो ।

अन*-क्रि० वि० [सं० अन्] बिना । बग़ैर । उ०—(क) हँसि हँसि मिले दोऊ, अनही मनाए मान छूटि गयो एही छोर राधिका रमन को ।—केशव । (ख) छिन छिन में खटकति सुहिय खरी भीर में जात । कहि जु चली अनहीं चितै, ओठनिही में बात ।—बिहारी ।

वि० [सं० अन्य=दूसरा] अन्य । और । दूसरा । उ०—अनजल सींचे रूख की छाया तें बर घाम । तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रवीन को काम ।—तुलसी ।

संज्ञा पु० [सं०] अन्न । अनाज ।

अनअहिवात-संज्ञा पुं० [सं० अन्=नहीं+हिं० अहिवात=सौभाग्य] अहिवात का अभाव । वैधव्य । विधवापन । रँड़ापा । उ०—कुमतिहि कसि कुवेषता फावी । अन अहिवात सूच जनु भावी ।—तुलसी ।

अनइस-संज्ञा पुं० दे० "अनैस" ।

अनइसी-वि० दे० "अनैसा" ।

अनऋतु-संज्ञा पुं० [सं० अन्+ऋतु] (१) विरुद्ध ऋतु । अनुपयुक्त ऋतु । बेमौसिम । अकाल । असमय । उ०—(क) जातें पर्‌यो श्याम घन नाम । इनते निठुर और नहिं कोऊ कवि गावत उपमान । चातक की रट नेह सदा, वह ऋतु अनऋतु नहिं हारत ।—सूर । (ख) सब तरु फरे राम हित लागी । ऋतु अनऋतुहि काल गति त्यागी ।—तुलसी । (२) ऋतु-विपर्यय । ऋतु के विरुद्ध कार्य ।

अनकंप*-संज्ञा पुं० दे० "अकंप" ।

अनक-संज्ञा पुं० दे० "आनक" ।

अनकना-क्रि० सं० [सं० आकर्ण, प्रा० आकणन, हिं० अकनना, अनकना] (१) सुनना । (२) चुपचाप सुनना । छिपकर सुनना ।

अनकरीब-क्रि० वि० [अ०] क़रीब क़रीब । लगभग । प्रायः ।

अनकहा-वि० [सं० अन्=नहीं+कथ्=कहना] [स्त्री० अनकही] बिना कहा हुआ । अकथित । अनुक्त ।

मुहा०—अनकही देना=अवाक् रहना । चुपचाप होना । उ०—मो मन उनही को भयो । पर्‌यो प्रभु उनके प्रेमकोश में तुमहूँ बिसरि गयो । तिनहिं देखि वैसोई ह्वैगयो लयो उनहि मिलि गावन । समुझि परी षटमास बीते तें कहाँ हुतो हो आयो । सूर अनकही दै गोपिन सों श्रवन मूँदि उठि धायो ।—सूर ।

अनख-संज्ञा पुं० [सं० अन्=बुरा+अक्ष=आँख, प्रा० अनक्ख]

[क्रि० अनखना] (१) झुँझलाहट। रिस। क्रोध। कोप नाराज़ी। उ०—(क) धनि धनि अनख उरहनो धनि धनि धनि माखन धनि मोहन खाए।—सूर। (ख) भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।—तुलसी। (ग) बिलखै लखै खरी खरी, भरी अनख वैराग। मृगनैनी सैनन भजै, लखि बेनी के दाग।—बिहारी। (घ) ह्याँ न चलै बलि रावरी, चतुराई की चाल। सनख दिये खिन खिन नटन, अनख बढ़ावत लाल।—बिहारी। (२) दुःख। ग्लानि। खिन्नता। उ०—जो पै हिरदय माँझ हरी। तोपै इती अवज्ञा उनपै कैसे सही परी। तब दावानल दहन न पायो, अब यहि विरह जरी। उरते निकसि नंदनंदन हम शीतल क्यों न करी। दिन प्रति इंद्र नैन जल बरसत घटत न एक घरी। अतिही शीत भीत भीजत तनु गिरिवर क्यों न धरी। कर कंकन दरपन लै देखो इहि अति अनख मरी। क्यों जीवे सुयोग सुनि सूरज विरहिनि विरह भरी।—सूर। (३) ईर्षा। द्वेष। डाह। उ०—श्रीफल कनक कदलि हरपाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं। किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया वेगि प्रगटसि कस नाहीं।—तुलसी।

(४) झंझट। अनरीति। उ०—बाबू ऐसो है संसार तिहारो ये कलि है व्यवहारा। को अब अनख सहै प्रतिदिन को, नाहिन रहनि हमारा।—कबीर।

(५) डिठौना। काजल की बिंदी जिसे डीठ (नज़र) से बचाने के लिये माथे में लगाते हैं। उ०—अनधन देखि लिलरवा, अनख न धार। समलहु दिय दुति मनसिज, भल करतार। जलज बदन पर गिर अलि, अनखन रूप। लीन हार हिय कमलहि, डसत अनूप।—ख़ानख़ाना।

वि० [सं० अ=नहीं+नख=नाखून] बिना नख का। उ०—मिहिर नजर सों भावते, राख याद भरि मोद। अनखन खनि अनखन अरे, मत मो मनहिं करोद।
—रसनिधि।

अनखना*-क्रि० अ० [हिं० अनख] क्रोध करना। रुष्ट होना। रिसाना। उ०—हम अनखीं या बात सों लेत दान को नाँव। सहज भाव रहो लाड़िले बसत एकही गाँव।—सूर।

अनखाना*-क्रि० अ० [हिं० अनख] क्रोध करना। रिसाना। रुष्ट होना। (क) कापै नैन चढ़ाए डोलति या ब्रज में तिनका सो तोर।। सूरदास यशुदा अनखानी यह जीवनधन मोर। —सूर। (ख) तुलसी सो पोच न भयो, न ह्वैहै नहीं कोऊ, सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहैं। मेरे तो न डर रघुबीर सुनो साँची कहौं खल अनखैहैं तुम्हें सज्जन निगमिहैं। भले सुकृती के संग मोहूँ तुला तौलिए तो नाम के प्रसाद भार मेरी ओर नमिहैं।—तुलसी।

क्रि० स०—अप्रसन्न करना। नाराज़ करना। खिझाना। उ०—उठत सभा दिन मध्य सियापति देखि भीर फिरि आऊँ। न्हात खात सुख करत साहिबी कैसे करि अनखाऊँ।—सूर।

अनखी*†-वि० [हिं० अनख] क्रोधी। ग़ुस्सावर। जो जल्दी नाराज़ हो।

अनखौहा*†-वि० [हिं० अनख] [स्त्री० अनखौहीं] (१) क्रोध से भरा। कुपित। रुष्ट। उ०—रवि बंदौं कर जोरि कै, सुनत श्याम के बैन। भए हँसौंहैं सबन के, अति अनखौहैं नैन।—बिहारी।

(२) चिड़चिड़ा। जल्दी क्रोध करनेवाला। छोटी सी बात पर चिढ़ जानेवाला। (३) क्रोधजनक। क्रोध दिलानेवाला। उ०-निपट निदरि बोले बचन कुठारपानि, मानी त्रास अवनि पति मानो मौनता गही। रोखे माखे लखन अकनि अनखौंही बातें तुलसी बिनीत बानी बिहँसि ऐसी कही।—तुलसी।

(४) अनुचित। खोटा। बुरा। उ०—(क) कबहूँ मोको कछु लगावति कबहुँ कहति जनि जाहु कहीं। सूरदास बातैं अनखौंहीं नाहिन मो पै जाति सहीं।—सूर। (ख) कीस निसाचर की करनी न सुनी न बिलोकि न चित्त रही है। राम सदा सरनागत की अनखौंही अनैसी सुभाय सही है।—तुलसी।

अनगढ़-वि० [सं० अन्=नहीं+हिं० गढ़ना] (१) बिना गढ़ा हुआ। (२) जिसे किसी ने बनाया न हो। स्वयंभू। उ०—ऊधो राखिए यह बात। कहत हौ अनगढ़ व अनहद सुनत ही चपि जात।—सूर।

(३) बेडौल। भद्दा। बेढंगा। (४) असंस्कृत। अपरिष्कृत। उजड्ड। अक्खड़। पोंगा। अनाड़ी। (६) बेतुका। अंडबंड। बेसिर पैर का। उ०—अनगढ़ बात।

अनगन*-वि० [सं० अन्+गणन] [स्त्री० अनगनी] अगणित। बहुत। उ०—निज काज सजत सँवारि पुर नर नारि रचना अनगनी।—तुलसी।

अनगना-क्रि० स० [सं० अनग्न=ढका हुआ] खपड़ा फेरना। छाजन में टूटे हुए खपड़ों के स्थान पर नए लगाना। टपकते हुए खपड़ैल की मरम्मत करना।

वि०-[सं० अन्=नहीं+हिं० गनना] (१) न गिना हुआ। अगणित। बहुत।

संज्ञा पुं० गर्भ का आठवाँ महीना। जैसे इस स्त्री का अब अनगना लगा है।

अनगिन-वि० दे० "अनगिनत"।

अनगिनत-वि० [सं० अन्=नहीं+गणित=गिना हुआ] जिसकी गिनती न हो। अगणित। असंख्य। बेशुमार। बेहिसाब। बहुत।

अनगिना-वि० पुं० [सं० अन्+हिं० गिनना] [स्त्री० अनगिनी]

(१) बिना गिना हुआ। जो गिना न गया हो। (२) अगणित। असंख्य। बहुत।

अनगैरी*–वि० [अ० ग़ैर] ग़ैर। पराया। अपरिचित। बेजाना। उ०—(क) कह गिरिधर कविराय घरे आवैं अनगैरी। हित की कहैं बनाय चित्त में पूरे बैरी।—गिरिधर। (ख) मूरख करै सबल ते बैरू। मूरख घर राखै अनगैरू।—विश्राम।

अनग्नि–वि० [सं०] अग्निहोत्ररहित। श्रौत और स्मार्त कर्म से विमुख वा हीन।

अनघ–वि० [सं] (१) निष्पाप। पातकरहित। निर्दोष। बेगुनाह। (२) पवित्र। शुद्ध।

संज्ञा पुं० वह जो पाप न हो। पुण्य। उ०—तुलसिदास जगदघ जवास ज्यों अनघ आगि लागे डाढ़न।—तुलसी।

अनघरी*–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्-विरुद्ध+घरी-घड़ी] असमय। कुसमय। अनवसर। बेवक्त। बेमौक़ा।

अनघैरी*–वि० [सं० अन्+हिं० घेरना] बिना बुलाया हुआ। अनिमंत्रित। अनाहूत।

अनघोर*–संज्ञा [सं० घोर] अंधेर। अत्याचार। ज़्यादती। उ०—यह अनित्य तनु हेतु तुम, करहु जगत अनघोर।—रघुराज।

अनचहा*–वि० [सं० अन+हिं० चाहना] नहीं चाहा हुआ। अनिच्छित। अप्रिय।

अनचाहत*–वि० [सं० अन्-नहीं+हिं० चाहना] जो न चाहे।

संज्ञा पु० न चाहनेवाला आदमी। प्रेम न करनेवाला पुरुष। उ०—हाय दई कैसी करी, अनचाहत के संग।
दीपक को भावैं नहीं जरि जरि मरै पतङ्ग॥

अनचीन्हा*†–वि० [सं० अन्+हिं० चीन्हना] बिना पहिचाना हुआ। अपरिचित। अज्ञात।

अनचैन*–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्-नहीं+हिं० चैन] बेचैनी। व्याकुलता। विकलता।

अनजान–वि० [सं० अन्+हिं० जानना] (१) अज्ञानी। नादान। सीधा। अनभिज्ञ। अज्ञ। नासमझ। भोला-भाला। (२) बिना जाना हुआ। अपरिचित। अज्ञात।

संज्ञा सं० (१) एक प्रकार की लंबी घास जिसे प्रायः भैंसें ही खाती हैं और जिससे उनके दूध में कुछ नशा आ जाता है। (२) अजान नाम का पेड़।

अनजोखा–वि० [सं० अन्=नहीं+हिं० जोखना] बिना जोखा हुआ। बिना तौला हुआ।

अनट*–संज्ञा पुं० [सं० अनृत=अत्याचार] उपद्रव। अनीति। अन्याय। अत्याचार। उ०—(क) सुनि सीतापति सील सुभाउ। मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहहि खाउ। सिसुपन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ। कहत राम विधुवदन रिसौंहैं सपनेहु लख्यो न काउ। खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।—तुलसी। (ख) सहि कुबोल साँसति सकल, अँगइ अनट अपमान। तुलसी धरम न परिहरिय, कहि करि गए सुजान।—तुलसी। (ग) प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देव। सो सिर धरि धरि करिहि सब मिटिहि अनट अवरेव।—तुलसी।

अनडीठ*–वि० [सं० अन्+दृष्ट, प्रा० दिट्ठ, हिं० डीठ] बिना देखा।

अनडुह–संज्ञा पु० [सं०] बैल।

अनडुही–संज्ञा स्त्री० [सं०] गाय।

अनड्वान्–संज्ञा पु० [सं०] (१) बैल। साँड़। (२) सूर्य्य। (उपनि०)

अनत–वि० [सं०] न झुका हुआ। सीधा।

* क्रि० वि० [सं० अन्यत्र, प्रा० अन्नत्त] और कहीं। दूसरी जगह में। पराये स्थान में। उ०—(क) समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतर्क कोटि मन माहीं। रामलषन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहि तजि ठाऊँ।—तुलसी। (ख) नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन। रतिपाली आली अनत, आए वनमाली न।—बिहारी।

अनति–वि० [सं०] बहुत नहीं। थोड़ा।

संज्ञा स्त्री० नम्रता का अभाव। विनीत भाव का न होना। अहंकार।

अनदेखा–वि० पुं० [सं० अन्+हिं० देखना] [स्त्री० अनदेखी] बिना देखा हुआ। उ०—देख्यो अनदेख्यो कियो, अँग अँग सबइ दिखाय। पैठति सी तन में सकुचि बैठी हियहि लजाय।—बिहारी।

अनद्धामिश्रित वचन–संज्ञा पुं० [सं०] जैनमत के अनुसार समय के संबंध में झूठ बोलना, जैसे, कुछ रात रहते कह देना कि सूर्योदय हो गया।

अनद्यतन–वि० [सं०] अद्यतन के पहिले वा पीछे का।

संज्ञा पुं० पिछली रात के पिछले दो पहर और आनेवाली रात के अगले दो पहर और इनके बीच के सारे दिन को छोड़ कर बाकी गत वा भविष्य समय को अनद्यतन कहते हैं। पिछली आधी रात के पहिले समय को भूत अनद्यतन और आनेवाली आधी रात के बाद के समय को भविष्य अनद्यतन कहते हैं।

अनद्यतन भविष्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आनेवाली आधी रात के बाद का समय। (२) व्याकरण में भविष्य काल का एक भेद जिसका अब प्रायः प्रयोग नहीं होता है।

अनद्यतन भूत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बीती हुई आधी रात के पहिले का समय। (२) व्याकरण में भूतकाल का एक भेद जिसका अब प्रायः प्रयोग नहीं होता।

अनधिकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अधिकार का अभाव। अनधिकारिता। इख़्तियार का न होना। प्रभुत्व का अभाव। (२) बेबसी। लाचारी। (३) अयोग्यता। अक्षमता।
वि० (१) अधिकाररहित। बिना इख़्तियार का। (२) अयोग्य। योग्यता के बाहर।
यौ०-अनधिकार चर्चा=योग्यता के बाहर बातचीत। जिस विषय में गति न हो उसमें टाँग अड़ाना।

अनधिकारिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अधिकारशून्यता। अधिकार का न होना। (२) अक्षमता।

अनधिकारी-वि० [सं० अनधिकारिन्] [स्त्री० अनधिकारिणी] (१) जिसे अधिकार न हो। जिसके हाथ में इख़्तियार न हो। (२) अयोग्य। अपात्र। कुपात्र। उ०—पंडित लोग अनधिकारी को वेद नहीं पढ़ाते।

अनधिगत-वि० [सं०] अनवगत। अज्ञात। बेजाना बूझा हुआ।

अनधिगम्य-वि० [सं०] जो पहुँच के बाहर हो। अप्राप्य। दुष्प्राप्य।

अनध्यक्ष-वि० [सं०] (१) जो देख न पड़े। अप्रत्यक्ष। नज़र के बाहर। (२) अध्यक्षरहित। बिना मालिक का।

अनध्यवसाय-संज्ञा पुं० [सं०] अध्यवसाय का अभाव। अतत्परता। ढिलाई। (२) वह काव्यालंकार जिसमें कई समान गुणवाली वस्तुओं के बीच नहीं, बल्कि किसी एक वस्तु के संबंध में साधारण अनिश्चय का वर्णन किया जाय। उ०—स्वेदशालि जो कर मम तन कह। है आली बनमाली को यह। यह अलंकार वास्तव में 'संदेह' के अंतर्गत ही आता है। और इसमें कुछ अलंकारता भी नहीं प्रतीत होती है।

अनध्याय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दिन जिसमें शास्त्रानुसार पढ़ने पढ़ाने का निषेध हो। मनु के अनुसार अमावस्या, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा ये चार दिन 'अनध्याय' के हैं। इनके अतिरिक्त परिवा को भी अनध्याय माना जाता है। (२) छुट्टी का दिन।

अननुभाषण-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में एक प्रकार का निग्रह स्थान। जब वादी किसी विषय को तीन बार कह चुके और सब लोग समझ जायँ, और फिर प्रतिवादी उसका कुछ उत्तर न दे तब वहाँ 'अननुभाषण' होता है और प्रतिवादी की हार मानी जाती है।

अनन्नास-संज्ञा पुं० [ब्रैज़िलियन (अमेरिकन) नानस, पुर्त० अनानास] रामबाँस की तरह का एक पौधा जो दो फुट तक ऊँचा होता है। जड़ से दो तीन इंच ऊपर डंठल में अंकुरों की एक गाँठ बँधने लगती है जो क्रमशः मोटी और लंबी होती जाती है और रस से भरी होती है। इस मोटे अंकुर पिंड का स्वाद खटमीठा होता है।

अनन्य-वि० [सं०] [स्त्री० अनन्या] अन्य से संबंध न रखनेवाला। एकनिष्ठ। एक ही में लीन। जैसे, (क) वह ईश्वर का अनन्य उपासक है। (ख) इस पर हमारा अनन्य अधिकार है।
यौ०-अनन्य भक्त।
संज्ञा पुं० विष्णु का एक नाम।

अनन्यगति-वि० [सं०] जिसको दूसरा सहारा या उपाय न हो। जिसको और कोई ठिकाना न हो।

अनन्यचित्त-वि० [सं०] जिसका चित्त और जगह न हो। एकाग्र चित्त।

अनन्यज-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

अनन्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अन्य के संबंध का अभाव। (२) एकनिष्ठा। एकाश्रयता। एक ही में लीन रहना।

अनन्यपूर्वा-वि० स्त्री० [सं०] (१) जो पहिले किसी की न रही हो। (२) कुमारी। क्वारी। बिनब्याही।

अनन्वय-संज्ञा पुं० [सं०] काव्य में वह अलङ्कार जिसमें एक ही वस्तु उपमान और उपमेयरूप से कही जाय। उ०—तेरे मुख की जोड़ को तेरो ही मुख आहि। केशवदास ने इसी को अतिशयोपमा लिखा है।

अनन्वित-वि० [सं०] (१) असंबद्ध। पृथक्। बेलगाव। (२) अंडबंड। अयुक्त। अयोग्य।

अनपच-संज्ञा पुं० [सं० अन्-नहीं+पच-पचना] अजीर्ण। बदहज़मी।

अनपढ़-वि० [सं० अन्-नहीं+हिं० पढ़ना] बेपढ़ा। अपठित। मूर्ख। निरक्षर।

अनपत्य-वि० [सं०] [स्त्री० अनपत्या] निःसंतान। लावल्द।

अनपराध-वि० [सं०] अपराधरहित। निर्दोष। बेक़सूर।

अनपराधी-वि० [सं० अनपराधिन्] [स्त्री० अनपराधिनी] निरपराध। निर्दोष। बेक़सूर।

अनपायि-पद-संज्ञा पुं० [सं०] स्थिर पद। अनश्वर पद। परम पद। मोक्ष।

अनपायी-वि० [सं० अनपायिन्] [स्त्री० अनपायिनी]। निश्चल। स्थिर। अचल। दृढ़। अनश्वर।

अनपेक्षा-वि० [सं०] अपेक्षारहित। निरपेक्ष। बेपरवा।

अनपेक्षित-वि० [सं०] जो अपेक्षित न हो। जिसकी परवा न हो। जिसकी चाह न हो।

अनपेक्ष्य-वि० [सं०] जो अन्य की अपेक्षा न रक्खे। जिसे किसी के सहारे की आवश्यकता न हो। जिसे किसी की परवा न हो।

अनफा-संज्ञा पुं० [यूनानी] ज्योतिष के सोलह योगों में से एक। कुंडली में जिस स्थान पर चंद्रमा बैठा हो उसके बारहवें

स्थान में यदि कोई ग्रह हो तो इस योग को अनफा कहते हैं।

अनबन–संज्ञा पुं० [सं० अन्–नहीं+हिं० बनना] बिगाड़। विरोध। फूट। खटपट।

*वि० भिन्न भिन्न। नाना (प्रकार)। विविध। अनेक। उ०—(क) अनबन बानी तेहि के माहिं। बिन जाने नर भटका खाहिं।—कबीर। (ख) रतन पदारथ मानिक मोती। हीरा पँवरि सो अनबन जोती। भा कटाव सब अनबन भाँती। चितर होतगा पाँतिन पाँती।—जायसी। (ग) द्रुम फूले बन अनबन भाँती।—सूर। (घ) विपट बेलि नव किसलय कुसुमित सघन सुजाति। कंद मूल जल-थल-रुह अगनित अनबन भाँति।—तुलसी।

अनबिधा–वि० [सं० अन+विद्ध] बिना बेधा हुआ। बिना छेद किया हुआ।

अनबेधा–वि० दे० "अनबिधा।"

अनबोल–वि० [सं० अन्–नहीं+हिं० बोलना] (१) अनबोला। न बोलनेवाला। (२) चुप्पा। मौन। (३) गूँगा। बेज़बान। (४) जो अपने सुख दुःख को न कह सके।

विशेष—पशुओं के लिए यह विशेषण बहुत आता है।

अनबोलता–वि० [सं० अन् नहीं+हिं०बोलना] [स्त्री० अन बोलती] न बोलनेवाला। मौन रहनेवाला। गूँगा। बेज़बान।

विशेष—पशुओं के लिए यह विशेषण प्रायः आता है।

अनब्याहा–वि०[सं० अन्–नहीं+हिं० ब्याहा][स्त्री० अनब्याही] अविवाहित। बिनब्याहा। क्वाँरा।

अनभल*–संज्ञा पुं० [सं० अन् नहीं+हिं० भला] बुराई। हानि। अहित। उ०—जारइ जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा।—तुलसी।

मुहा०—अनभल ताकना–बुराई चाहना।

अनभला*–वि० पुं० [सं० अन्–नहीं+हिं० भला] [स्त्री० अनभली] बुरा। निंदित। हेय। खराब।

अनभाया–वि० [सं० अन्+हिं० भावना–अच्छा न लगना] [स्त्री० अनभाई] जो न भावे। जिसकी चाह न हो। अप्रिय। अरुचिकर। नापसंद। उ०—अवध सकल नर नारि विकल अति, अकनि बचन अनभाए। तुलसी रामवियोग सोग बस समुझत नहिं समुझाए।—तुलसी।

अनभावता*–वि० दे० "अनभाया"।

अनभिग्रह–वि० [सं०] भेदशून्य। समभावविशिष्ट।

संज्ञा पुं० (१) भेदशून्यता। एक रूपता। समकक्षता। (२) जैनमतानुसार सब मतों को अच्छा और सब में मोक्ष मानने का मिथ्यात्व।

अनभिज्ञ–वि० [सं०] [स्त्री० अनभिज्ञा, संज्ञा अनभिज्ञता] (१) अज्ञ। अनजान। अनाड़ी। मूर्ख। (२) अपरिचित। नावाकिफ।

अनभिज्ञता–संज्ञा पुं० [सं०] अज्ञता। अनजानपन। अनाड़ीपन। मूर्खता। परिचय का अभाव। नावाकफ़ियत।

अनभिप्रेत–वि० [सं०] (१) अभिप्रायविरुद्ध। अनभिमत। तात्पर्य से भिन्न। और का और। उ०—आपने इस बात का अनभिप्रेत अर्थ लगाया है। (२) अनिष्ट। इच्छा के प्रतिकूल। नापसंद। उ०—ऐसी ऐसी कार्रवाइयाँ हमें अनभिप्रेत हैं।

अनभिमत–वि० [सं०] (१) मत के विरुद्ध। राय के ख़िलाफ़। (२) तात्पर्यविरुद्ध। और का और। (३) अनभीष्ट। नापसंद।

अनभिव्यक्त–वि० [सं०] जो व्यक्त न हो। अपरिस्फुट। अप्रकाशित। अप्रगट। गुप्त। गूढ़। अस्पष्ट।

अनभीष्ट–वि० [सं०] (१) जो अभीष्ट न हो। इच्छाविरुद्ध। नापसंद। (२) तात्पर्यविरुद्ध। और का और।

अनभो* –संज्ञा पुं० [सं० अन्–नहीं+भव–होना] अचंभा। अचरज। अनहोनी बात।

वि० अपूर्व। अलौकिक। लोकोत्तर। अप्राकृतिक। अद्भुत। उ०—तुम घट ही सो श्याम बताये।.........हम मतिहीन अजान अल्पमति तुम अनभो पद ल्याये।—सूर।

अनभोरी*–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रम] भुलावा। बहाली। चकमा क्रि० प्र०—देना।

अनभ्यसित–वि० दे० "अनभ्यस्त"।

अनभ्यस्त–वि० [सं०] (१) जिसका अभ्यास न किया गया हो। जिसका साधन न किया गया हो। जिसका मश्क़ न किया गया हो। जो बार बार न किया गया हो। उ०—यह विषय उनका अनभ्यस्त है।

(२) जिसने अभ्यास न किया हो। जिसने साधा न हो। अपरिपक्व। उ०—हम इस कार्य्य में बिलकुल अनभ्यस्त हैं।

अनभ्यास–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनभ्यस्त] अभ्यास का अभाव। साधना की त्रुटि। मश्क़ न होना।

अनभ्यासी–क्रि० [सं० अनभ्यासिन्][स्त्री० अनभ्यासिनी] जो अभ्यास न करे। साधनाशून्य। अभ्यासरहित। बार बार प्रयत्न न करनेवाला।

अनम*–वि० [सं० अनम्र] उद्धत। बली।—डिं०

अनमद*–वि० [सं० अन्+मद] मदरहित। अहंकारहीन। गर्वशून्य। बिना घमंड का। उ०—होय अनमद जूझ सो करिये। जो न वेद आँकुस सिर धरिये।—जायसी।

अनमन–वि० दे० "अनमना"।

अनमना–वि० [सं० अन्यमनस्क] [स्त्री० अनमनी] (१) उदास। खिन्न। सुस्त। उचटे हुए चित्त का। उ०—(क) लाल अनमने कत होत हो तुम देखौ धौं देखौ कैसे करि ल्याइ

हीं।—सूर। (ख) भरतमातु पहँ गइ बिलखानी। का अनमनि हँसि हँसि कह रानी।—तुलसी।

क्रि० प्र०—होना।

(२) बीमार। अस्वस्थ। उ०—वे आज कल कुछ अनमने हैं।

अनमनापन–संज्ञा पुं० (१) उदासी। खिन्नता। चित्त का उचाट। (२) उदासीनता। रुखाई। बेदिली। उ०—वे अनमनेपन से बोले।

अनमारग*–संज्ञा पुं० [सं० अन्=बुरा+मार्ग] (१) कुमार्ग। बुरी राह। (२) दुराचार। अन्याय। अधर्म। पाप। उ०—अकरम अबुध अज्ञान अपाया अनमारग अनरीति। जाको नाम लेत अघ उपजै सो मैं करी अनीति।—सूर।

अनमिख*–वि०, क्रि० वि०, संज्ञा पुं० दे० "अनिमिष"।

अनमिल*–वि० [सं० अन्=नहीं+मिल्=मिलना] बेमेल। बेजोड़। असंबद्ध। बेतुका। बे सिर पैर का। उ०—(क) अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।—तुलसी। (ख) एक दिना दरबार शाहआलम के जातें। मिल्यौ यवन मदमत्त बकत कछु अनमिल बातें।—मतिराम।

(२) पृथक्। भिन्न। अलग। निर्लिप्त। उ०—रहे अदंड दंड नहिं जुग जुग पार न पावै काला। अनमिल रहे मिले नहिं जग में तिरछी उनकी चाला।—कबीर।

अनमिलत*–वि० दे० "अनमिल"।

अनमिलता–वि० [सं० अन्=नहीं+हिं० मिलना] [स्त्री० अनमिलती] अप्राप्य। अलभ्य। अदृश्य। उ०—कहै पदमाकर सुजादा कहाँ कौन अब जाती मरजादा ह्वै मही की अनमिलती। सूखि जातो सिंधु बड़वानल की झारन सों जो न गंगधार ह्वै हजार धार मिलती।—पद्माकर।

अनमीलना*–क्रि० स० [सं० उन्मीलन=आँख खोलना] आँख खोलना। उ०—नयनन मीलि कछू अनमीलति, नैसुक नींद को भाव सुभोयो।

अनमेल–वि० [सं० अन्+हिं० मेल] बेजोड़। असंबद्ध। (२) बिना मिलावट का। विशुद्ध। खालिस।

अनमोल–वि० [सं० अन्+हिं० मोल] (१) अमूल्य। बेमोल। जिसका कोई मूल्य न हो सके। मूल्यवान्। बहुमूल्य। क़ीमती (२) सुन्दर। उत्तम।

अनम्र–वि० [सं०] अविनीत। नम्रतारहित। उद्धत। उद्दंड। अकड़वाला। ऐंठवाला।

अनय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमंगल। दुर्भाग्य। विपद्। (२) अनीति। अन्याय। दुष्ट कर्म। उ०–काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल। पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल।—तुलसी।

अनयन–वि० [सं०] नेत्रहीन। दृष्टिहीन। अंधा।

अनयस*–संज्ञा पुं० दे० "अनैस"।

अनयास*–क्रि० वि० दे० "अनायास"।

अनरथ* –संज्ञा पुं० दे० "अनर्थ"।

अनरना*–क्रि० स० [सं० अनादर] अनादर करना। अपमान करना। उ०–(क) मधुकर मन सुनि जोग डरै। तुम हूँ चतुर कहावत अतिही इती न समुझि परै। औरं सुमन जो अमित सुगंधित शीतल रुचि जो करै। क्यों तुम कोकहि बनै सरै औ और सबै अनरै। दिनकर महा प्रताप पुंजवर सब को तेज हरै। क्यों न चकोर छाँड़ि मृगअंकहिँ वाको ध्यान धरै। उलटोइ ज्ञान सकल उपदेसत सुनि सुनि हृदय जरै। जंबूवृक्ष कहो क्यों लंपट फल वर अंब फरै। मुक्ता अवधि मराल प्राणमय अबलगि ताहि चरै। निघटत निपट सूर ज्यों जल बिनु व्याकुल मीन मरै?–सूर। (ख) कोमल विमल दल सेवत चरन तल नूपुर विमल ये मराल अनरत हैं।—चरण।

अनरस–संज्ञा पुं० [सं० अन्=नहीं+रस] (१) रसहीनता। विरसता। शुष्कता। (२) रुखाई। कोप। मान। उ०—अनरसहू रस पाइये, रसिक रसीली पास। जैसे साठे की कठिन, गाँठें भरी मिठास।—बिहारी।

(३) मनोमालिन्य। मनमोटाव। अनबन। बिगाड़। बुराई। विरोध।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(४) निरानंद। दुःख। खेद। रंज। उदासी। उ०—(क) सुख नींद कहत अलि आइहौं। रोवनि धोवनि अनखनि अनरसनि डिठि मुठि निठुर नसाइहौं।—तुलसी। (ख) बालम बारे सौत की, सुनि परनारि बिहार। भो रस अनरस रँगरली, रीझ खीझ एक बार।—बिहारी।

(५) रसविहीन काव्य। इसके पाँच भेद हैं—

(क) प्रत्यनीक रस, (ख) नीरस, (ग) विरस, (घ) दुःसंधान, (च) पात्र दुष्ट।—केशव।

अनरसा*–वि० [सं० अन्+रस] अनमना। माँदा। बीमार। उ०—आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके। रहत न बैठे ठाढ़े पालने झूलत हूँ रोवत राम मेरो सोच सब ही के।—तुलसी।

संज्ञा पुं० दे० "अँदरसा"।

अनराता*–वि० [सं० अन्=नहीं+रक्त] [स्त्री० अनराती] अरक्त। अरंजित। बिना रंगा हुआ। सादा।

अनरीति–संज्ञा स्त्री० [सं० अन्+रीति] (१) कुरीति। कुचाल। कुप्रथा। बुरी रस्म। बुरा रेवाज। (२) अन्यथाचार। अनुचित व्यवहार। उ०—मंत्रिन नीको मंत्र विचारयो। राजन! कहो, दूत काहू को कौन नृपति है मारयो। इतनी कहत विभीषन बोल्यो बंधू पाँय परौं। यह अनरीति सुनी नहिं श्रवननि अब मैं कहा करौं।—सूर।

अनरुचि*-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्+रुचि] (१) अरुचि । घृणा । अनिच्छा । (२) भोजन अच्छा न लगने की बीमारी । मंदाग्नि । उ०—मोहन काहे न उगिलो माटी । बार बार अनरुचि उपजावत महरि हाथ लिए साटी ।—सूर ।

अनरूप*-वि० [सं० अन्=बुरा+रूप] (१) कुरूप बदसूरत । (२) असमान । अतुल्य । असदृश । उ०—केशव लजात जलजात जातवेद ओप जातरूप बापुरे विरूप सों निहारिये । मदन निरूपम निरूपन निरूप भयो, चंद बहुरूप अनरूप के बिचारिये ।—केशव ।

अनर्गल-वि० [सं०] (१) प्रतिबंधशून्य । बेरोक । बेरुकावट बेधड़क । (२) विचारशून्य । व्यर्थ । अंडबंड । (३) लगातार ।

अनर्घ-वि० [सं०] (१) अमूल्य । बहुमूल्य । क़ीमती (२) अल्प मूल्य का । कम क़ीमत का । सस्ता ।

यौ०—"अनर्घ राघव" ।

अनर्घ्य-वि० [सं०] (१) अपूज्य । पूजा के अयोग्य । (२) जिसका मूल्य न लगा सकें । बहुमूल्य । अमूल्य ।

अनर्थ-संज्ञा पु० [सं०] (१) विरुद्ध अर्थ । अयुक्त अर्थ । उलटा मतलब । उ०—उसने अर्थ का अनर्थ किया है । (२) कार्य्य की हानि । बिगाड़ नुक़सान । उपद्रव । उत्पात । ख़राबी । बुराई । आपद । विपद् । अनिष्ट । ग़ज़ब । उ०—(क) अनरथ अवध अरंभेउ जबते । कुसगुन होहिं भरत कहँ तबते ।—तुलसी । (ख) मैं शठ सब अनरथ कर हेतू । बैठि बात सब सुनेउँ सचेतू ।—तुलसी । (३) वह धन जो अधर्म से प्राप्त किया जाय ।

अनर्थक-वि० [सं०] (१) निरर्थक । अर्थरहित । जिसका कुछ अभिप्राय या अर्थ न हो । (२) व्यर्थ । बेमतलब । बेफ़ायदा । निष्प्रयोजन ।

अनर्थकारी-वि० [सं० अनर्थकारिन्] [स्त्री० अनर्थकारिणी] (१) विरुद्ध अर्थ करनेवाला । उलटा मतलब निकालनेवाला । (२) अनिष्टकारी । हानिकारी । उपद्रवी । उत्पाती । नुक़सान पहुँचानेवाला ।

अनर्थदर्शी-वि० [सं० अनर्थदर्शिन्] [स्त्री० अनर्थदर्शिनी] अनर्थ की ओर दृष्टि रखनेवाला । बुराई सोचने वा चाहनेवाला । हित पर ध्यान न रखनेवाला । अहित करनेवाला ।

अनर्ह-वि० [सं०] अयोग्य । अनधिकारी । अपात्र ।

अनल-संज्ञा पु० [सं०] (१) अग्नि । आग । (२) तीन की संख्या । (३) माली नाम राक्षस का पुत्र और विभीषण का मंत्री । (४) चीता । चित्रक । (५) भिलावाँ ।

अनलचूर्ण-संज्ञा पु० [सं०] बारूद । दारू ।

अनलपंख-संज्ञा पु० दे० "अनलपक्ष" ।

अनलपंखचार*-संज्ञा पु० [सं० अनलपक्ष+चर] हाथी ।—डिं० ।

अनलपक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] एक चिड़िया । इसके विषय में कहा जाता है कि यह सदा आकाश में उड़ा करती है और वहीं अंडा देती है । इसका अंडा पृथ्वी पर गिरने से पहिले ही पक कर फूट जाता है और बच्चा अंडे से निकल कर उड़ता हुआ अपने माँ बाप से जा मिलता है ।

अनल्प-वि० [सं०] थोड़ा नहीं । बहुत । अधिक । ज़्यादा ।

अनलमुख-वि० [सं०] (१) जिसका मुख अग्नि हो । जो अग्नि द्वारा पदार्थों को ग्रहण करे ।

संज्ञा पु० (१) देवता । (२) ब्राह्मण । (३) चीता । चित्रक । (४) भिलावाँ ।

अनलस-वि० [सं०] आलस्यरहित । बिना आसक्त का । फुर्तीला । चैतन्य ।

अनला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दक्ष प्रजापति की एक कन्या जो कश्यप ऋषि की पत्नियों में से थी । यह फलवाले संपूर्ण वृक्षों की माता कही जाती है । (२) माल्यवान नामक राक्षस की एक कन्या ।

अनलायक*-वि० [सं०अन्=नहीं+अ० लायक] नालायक । अयोग्य । उ०—अनलायक हम हैं की तुम हो कहौ न बात उघारि ।—सूर ।

अनलेख*-वि० [सं० अन्=नहीं+लक्ष्य=देखने योग्य] अलख । अदृश्य । अगोचर । उ०—आदि पुरुष अनलेख है सहजै रहा समाय ।—दादू ।

अनवकांक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनिच्छा । निरपेक्षता । निस्पृहता (२) जैनशास्त्रानुसार किसी परिणाम के लिए आतुर न होना । जो जैनसाधु मृत्यु की कामना से अनशन व्रत करते हैं और घबराते नहीं उनको अनवकांक्षमाण कहते हैं ।

अनवकाश-संज्ञा पु० [सं०] अवकाश का अभाव । फ़ुरसत न होना ।

अनवकाशिक-संज्ञा पु० [सं०] एक पैर से खड़ा होकर तप करनेवाला ऋषि ।

अनवगाह-वि० [सं०] [संज्ञा अनवगाहिता] अथाह । गंभीर । बहुत गहरा ।

अनवगाहिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंभीरता । गहराव ।

अनवगाह्य-वि० दे० "अनवगाह" ।

अनवग्रह-संज्ञा पु० [सं०] (१) प्रतिबंधशून्य । स्वच्छंद । जो पकड़ में न आवे । जिसे कोई रोक न सके ।

अनवच्छिन्न-वि० [सं०] (१) अखंडित । अटूट । (२) पृथक् न किया हुआ । जुड़ा हुआ । संयुक्त ।

यौ०-अनवच्छिन्न संख्या=गणित में वह संख्या जिसका किसी वस्तु से संबंध हो । जैसे, चार घोड़े, पाँच मनुष्य ।

अनवट-संज्ञा पुं० [सं० अंगुष्ठ] (१) पैर के अँगूठे में पहनने का एक प्रकार का छल्ला ।

संज्ञा पुं० [सं० नयन, हिं० अयन+ओट] कोल्हू के बैल की आँखों के ढक्कन । ढोका ।

अनवद्य-वि० [सं०] अनिंद्य । निर्दोष । बेऐब ।

अनवद्यांग-वि० [सं०] [स्त्री० अनवद्यांगी] सुन्दर अंगोंवाला । सुडौल । ख़ूबसूरत ।

अनवधान-संज्ञा पुं० [सं०] असावधानी । अमनोयोग । चित्त-विक्षेप । प्रमाद । ग़फ़लत । बेपरवाही ।

अनवधानता-संज्ञा स्त्री० [सं०] असावधानी । ग़फ़लत ।

अनवधि-वि० [सं०] असीम । बेहद । बहुत ज़्यादा ।
क्रि० वि० निरंतर । सदैव । हमेशा ।

अनवय*-संज्ञा पुं० [सं० अन्वय] वंश । कुल । ख़ानदान ।

अनवरत-क्रि० वि० [सं०] निरंतर । सतत । अजस्र । अहर्निश । सदैव । लगातार । हमेशा ।

अनवलंबित-वि० [सं०] आश्रयहीन । निराधार । बेसहारा ।

अनवसर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निरवकाश । फ़ुरसत का न होना । (२) कुसमय । बेमौक़ा । (३) जसवंतजसोभूषण के अनुसार वह काव्यालंकार जिसमें किसी कार्य्य का अनवसर होना वा करना वर्णन किया जाय ।

अनवस्थ-वि० [सं०] (१) अस्थिर । चंचल । उतावला । अधीर । (२) अव्यवस्थित । डावाँडोल ।

अनवस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्थितिहीनता । अव्यवस्था । अनियमितत्व । (२) व्याकुलता । आतुरता । अधीरता । (३) न्याय में एक प्रकार का दोष । यह उस समय में होता है जब तर्क करते करते कुछ परिणाम न निकले और तर्क भी समाप्त न हो, जैसे कारण का कारण और उसका भी कारण, फिर उसका भी कारण । इस प्रकार का तर्क और अन्वेषण जिसका कुछ ओर छोर न हो ।

अनवस्थित-वि० [सं०] (१) अस्थिर । अधीर । चंचल । अशांत । क्षुब्ध । (२) बेठिकाना । बेसहारा । निराधार । निरवलंब ।

अनवस्थिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अस्थिरता । चंचलता । अधीरता । अनिश्चयता । (२) अवलंबशून्यता । आधारहीनता । (३) योगशास्त्र के अनुसार समाधि प्राप्त हो जाने पर भी चित्त का स्थिर न होना ।

अनवहित-वि० [सं०] असावधान । बेख़बर । बेपरवाह

अनवाँसना-क्रि० स० [सं० नव+हिं० बासन] नए बरतन को पहिले पहिल काम में लाना ।

अनवाँसा-संज्ञा पुं० [सं० अण्वंश] (१) कटी हुई फ़सल का एक बड़ा मुट्ठा वा पूला । औंसा । (२) एक अनवाँसी भूमि में उत्पन्न अन्न ।

अनवाँसी-संज्ञा स्त्री० [सं० अण्वंश] एक बिस्वे का $\frac{1}{20}$ भाग । बिस्वांसी का बीसवाँ हिस्सा ।

अनवाद*-संज्ञा पुं० [सं० अन्-बुरा+वाद=वचन] बुरा वचन । कटु भाषण । कुबोल । उ०—कूँजरी ऊजरी बाल बहेवा सों मेवा के मोल बढ़ावति झूठे । रूप की साठि कै तौलति घाटि बदै अनवाद ददै फल जूठे ।—देव ।

अनवाप्त-वि० [सं०] संज्ञा अनवाप्ति] न पाया हुआ । अप्राप्त । अलब्ध ।

अनवाप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अप्राप्ति । अनुपलब्धि । न पाना ।

अनशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपवास । अन्नत्याग । निराहार व्रत । (२) जैनशास्त्रानुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए मरने के कुछ दिन पहिले ही अन्न जल का सर्वथा त्याग ।

अनश्वर-वि० [सं०] नष्ट न होनेवाला । अमिट । अटल । स्थिर । क़ायम रहनेवाला ।

अनसखरी-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्=नहीं+हिं० सखरी] निखरी । पक्की रसोई । घी में पका हुआ भोजन ।

अनसत्त*-वि० [सं० अन्+सत्य] असत्य । झूठा । उ०—घर जाउँ तु सोवत हैं, फिर जाउँ तौ नंद पै खात बरा दधि प्यारे । सपने अनसत्त किधौं सजनी घर बाहिर होत बड़े घरवारे ।
—केशव ।

अनसमझा*-वि० [सं० अन्+हिं० समझना] (१) जिसने न समझा हो । नासमझ । उ०—समुझे का घर और है अनसमझे का और ।—कबीर ।
(२) अज्ञात । बिना समझा हुआ ।

अनसहत*-वि० [सं० अन्+हिं० सहना] असह्य । असहनीय । जो सहा न जाय । उ०—गाज सी परति अनसहत बिरहिन पै मत्त गजराजन के घंटा गरजत ही ।—चरण ।

अनसाना*-क्रि० अ० दे० "अनखाना" ।

अनसुनी-वि० स्त्री० [सं० अन्+हिं० सुनना] अश्रुत । बेसुनी बिना सुनी हुई ।
मुहा०-**अनसुनी करना**=जान बूझ कर सुनी हुई बात को बेसुनी करना या टालना । आनाकानी करना । बहटियाना ।

अनसूय-वि० [सं०] असूयारहित । पराये गुण में दोष न देखनेवाला । अछिद्रान्वेषी ।

अनसूया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पराये गुण में दोष न देखना । नुक्ताचीनी न करना । (२) अत्रि मुनि की स्त्री ।

अनस्तित्व-वि० पुं० [सं०] अविद्यमानता । सत्ताभाव । नेस्ती ।

अनहद नाद-संज्ञा पुं० [सं० अनाहतनाद] योग का एक साधन । वह नाद वा शब्द जो दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कानों की लवें बंद करके ध्यान करने से सुनाई देता है ।

अनहित*-संज्ञा पुं० [सं० अन्=नहीं+हित] (१) अहित । अपकार । बुराई । हानि । अमंगल । उ०—अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा । केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा ? ।
—तुलसी ।
(२) अहित-चिंतक । अपकारी । शत्रु । उ०—बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ । अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ।—तुलसी ।

अनहितू-वि० [सं० अन्+हित] अहित-चिंतक । अमित्र । अबंधु । शत्रु । अपकारी । बुराई सोचने वा करनेवाला ।

अनहोता-वि० [सं० अन=नहीं+हिं० होना] [स्त्री० अनहोती] (१) जिसे न हो । दरिद्र । निर्धन । गरीब । उ०—तेरे इस सुंदर अंग को अच्छे अच्छे गहने कपड़े चाहिए थे । ये आश्रम के फूल पत्ते तो अनहोती को हैं ।—लक्ष्मण । *(२) अनहोना । अलौकिक । असंभव । अचंभे का ।

अनहोनी-वि० स्त्री० [सं० अन=नहीं+हिं० होना] न होने वाली । अलौकिक । असंभव । अनहोती । अचंभे की । संज्ञा स्त्री० असंभव बात । अलौकिक घटना । उ०—केहि बिधि करि कान्हैं समुझैहौं । मैं ही भूलि चंद दिखरायो ताहि कहत मोहिं दै मैं खैहौं । अनहोनी कहुँ होन कन्हैया देखी सुनी न बात । यह तो आहि खिलौना सब कौ खान कहत तेहि तात ।—सूर ।

अनाई पठाई-संज्ञा स्त्री० [सं० आनयन+प्रस्थान, प्रा० पट्ठान] विवाह हो जाने पर दुलहिन के तीन बार ससुराल से बाप के घर आने जाने के पीछे फिर बराबर आने जाने को अनाई पठाई कहते हैं ।

अनाकनी*-संज्ञा स्त्री० दे० "अनाकानी"

अनाकानी-संज्ञा स्त्री० [सं० अनाकर्णन] सुनी अनसुनी करना । जान बूझ कर बहलाना । टाल-मटोल । बहँटियाना । उ०—(क) नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि । मनौ तज्यौ तारन बिरद बारिक बारन तारि ।—बिहारी । (ख) वे एहि अवसर आये यहाँ समुहाय हियो न समेटत ही बन्यो । कीनी अनाकनी औ मुख मोरि सुजोरि भुजा, भटू, भेंटत ही बन्यो ।—देव ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना ।

अनाकार-वि० [सं०] निराकार ।

अनाक्रांत-वि० [सं०] [स्त्री० अनाक्रांता] जो आक्रांत न हो । अपीड़ित । रक्षित ।

अनाक्रांतता-संज्ञा पु० [सं०] रक्षा । अपीड़ा । आक्रांतता का अभाव ।

अनाखर-वि० [सं० अनक्षर, प्रा० अनक्खर] जो छील छाल कर दुरुस्त न किया गया हो । बेडौल । बेढंगा ।

अनागत-वि० [सं०] (१) न आया हुआ । अनुपस्थित । अविद्यमान । अप्राप्त (२) आगे आनेवाला । भावी । होनहार । (३) अपरिचित । अज्ञात । बेजाना हुआ । (४) अनादि । अजन्मा । उ०—नित्य अखंड अनूप अनागत अविगत अनघ अनंत । जाको आदि कोऊ नहिं जानत कोउ न पावत अंत ।—सूर ।

यौ०—अनागत विधाता ।

(५) अपूर्व । अद्भुत । उ०—देखेहु अनदेखे से लागत । यद्यपि करत रंग भरि एकहि एकटक रहे निमिष नहिं त्यागत । इत रुचि दृष्टि मनोज महा सुख, उत शोभा गुन अमित अनागत ।—सूर ।

संज्ञा पुं० संगीत के अंतर्गत ताल का एक भेद ।

क्रि० वि० अकस्मात् । अचानक । सहसा । एकाएक । उ०—(क) सुने हैं श्याम मधुपुरी जात । सकुचति कहि न सकति काहू सों गुप्त हृदय की बात । संकित वचन अनागत कोऊ कहि जो गई अधरात ।—सूर ।

अनागत विधाता-संज्ञा पु० [सं०] आनेवाली आपत्ति के लक्षण जानकर उसके निवारण का पहिले ही से उपाय करनेवाला पुरुष । अग्रसोची वा दूरंदेश आदमी ।

अनागतार्तवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजातरजस्का । कुमारी । गौरी । बालिका । जो स्त्री रजोधर्मिणी न हुई हो ।

अनागम-संज्ञा पु० [सं०] आगमन का अभाव । न आना । उ०—सोचै अनागम कारन कंत को मोचै उसास न आँसुहि मोचै ।—पद्माकर ।

अनाघ्रात-संज्ञा पु० [सं०] संगीत के अंतर्गत ताल विशेष । वह विराम जो गायन में चार मात्राओं के बाद आता है और कभी कभी सम का काम देता है ।

अनाचार-संज्ञा पु० [सं०] (१) कदाचार । भ्रष्टता । दुराचार । निंदित आचरण । कुव्यवहार (२) कुरीति । कुचाल । कुप्रथा ।

अनाचारिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुष्टता । दुराचारिता । निंदित आचरण । (२) कुरीति । कुचाल ।

अनाचारी-वि० [सं० अनाचारिन्] [स्त्री० अनाचारिणी । संज्ञा अनाचारिता] आचारहीन । भ्रष्ट । पतित । कुचाली । दुराचारी । बुरे आचरण का ।

अनाज-संज्ञा पु० [सं० अन्नाद्य] अन्न । धान्य । नाज । दाना । गल्ला ।

अनाज्ञाकारिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] आज्ञा का न मानना । आदेश पर न चलना ।

अनाज्ञाकारी-वि० [सं० अनाज्ञाकारिन्] [स्त्री० अनाज्ञाकारिणी । संज्ञा अनाज्ञाकारिता] जो आज्ञा न माने । आदेश पर न चलनेवाला ।

अनाड़ी-वि० पु० [सं० अनार्य्य, पा० अनरिय । सं० अज्ञानी, प्रा० अण्णाणी] (१) नासमझ । नादान । गँवार । अनजान । (२) जो निपुण न हो । अकुशल । अदक्ष । उ०—यह किसी अनाड़ी कारीगर को मत देना ।

अनाढ्य-वि० [सं०] [स्त्री० अनाढ्या] असंपन्न । द्रव्यहीन । दरिद्र । कंगाल । गरीब ।

अनातप-संज्ञा पुं० [सं०] धूप का अभाव । छाया । वि० (१) आतपरहित । जहाँ धूप न हो । (२) ठंढा । शीतल ।

अनातुर-वि० [सं०] [स्त्री० अनातुरा] (१) अविचलित । धीर । (२) स्वस्थ । रोगरहित । निरोग ।

अनात्म-वि० [सं०] आत्मारहित । जड़ ।
संज्ञा पुं० आत्मा का विरोधी पदार्थ । अचित् । पंचभूत ।

अनात्मक दुःख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अज्ञान-जनित दुःख । सांसारिक आधि व्याधि । भवबाधा । (२) जैन-शास्त्रानुसार इस लोक और परलोक दोनों के दुःख ।

अनात्मधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] शारीरिक धर्म । देह का धर्म ।

अनाथ-वि० [सं०] (१) नाथहीन प्रभुहीन । बिना मालिक का । (२) जिसका कोई पालन पोषण करनेवाला न हो । बिना मा बाप का । लावारिस । उ०—अनाथ बालकों की रक्षा के लिए उन्होंने दान दिया । (३) असहाय । अशरण । जिसे कोई सहारा न हो । (४) दीन । दुखी । मुहताज ।
यौ०-अनाथालय ।

अनाथानुसारी-वि० [सं० अनाथानुसारिन] [स्त्री० अनाथानुसरिणी] सहायतार्थ अनाथों का अनुसरण वा पीछा करनेवाला । दीन-पालक । गरीबों का पालनेवाला । उ०—अनाथै सुन्यो मैं अनाथानुसारी । बसै चित्त दंडी जटी मुंडधारी ।—केशव ।

अनाथालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ दीन दुखियों और असहायों का पालन हो । मुहताजख़ाना । लंगरख़ाना । (२) लावारिस बच्चों की रक्षा का स्थान । यतीमख़ाना । अनाथाश्रम ।

अनादर-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनादरणीय, अनादरित, अनादृत] (१) आदर का अभाव । निरादर । अवज्ञा । (२) तिरस्कार । अपमान । अप्रतिष्ठा । बेइज़्ज़ती । (३) एक काव्यालंकार जिसमें प्राप्त वस्तु के तुल्य दूसरी अप्राप्त वस्तु की इच्छा के द्वारा प्राप्त वस्तु का अनादर सूचित किया जाय । उ०-सर के तट लखि कामिनी, अलि पंकजहि विहाय । ताके अधरन दिग्गि चल्यो, रसमय गूँज सुनाय ।

अनादरणीय-वि० [सं०] (१) आदर के अयोग्य । अमाननीय । (२) तिरस्कारयोग्य । निंद्य । बुरा ।

अनादरित-वि० [सं०] वह जिसका अपमान हुआ हो । अपमानित ।

अनादि-वि० [सं०] जिसका आदि न हो । जो सब दिन से हो । जिसके आरंभ का कोई काल या स्थान न हो । स्थान और काल से अबद्ध ।
विशेष—शास्त्रकारों ने ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन वस्तुओं को अनादि माना है ।

अनादित्व-संज्ञा पुं० [सं०] अनादि होने का भाव । नित्यता ।

अनादृत-वि० पुं० [सं०] जिसका अनादर हुआ हो । अपमानित ।

अनाधार-वि० पुं० [सं०] आधाररहित । निरवलंब । बेसहारा ।

अनाना*-क्रि० स० [सं० आनयनम्] मँगाना । उ०—लंक दीप की शिला अनाई । बाँधा सरवर घाट बनाई ।—जायसी ।

अनापशनाप-संज्ञा पुं० [सं० अनाप्त] (१) ऊटपटाँग । अटसट । आयँ बायँ । अंड बंड । (२) असंबद्ध प्रलाप । निरर्थक बकवाद ।

अनापा*-वि० [सं० अ-नहीं+हिं० नापना] (१) बिना नापा हुआ । (२) असीम । अतुल ।

अनाप्त-वि० [सं०] (१) अप्राप्त । अलब्ध । (२) अविश्वस्त । (३) असत्य । (४) अकुशल । अनिपुण । अनाड़ी । (५) अनात्मीय । अबंधु ।

अनाबिद्ध-वि० [सं०] (१) अनबिधा । अनछेदा । बिना छेद का । (२) चोट न खाया हुआ ।

अनाम-वि० [सं०] [स्त्री० अनामा] (१) बिना नाम का । (२) अप्रसिद्ध ।

अनामय-वि० [सं०] (१) निरामय । रोगरहित । नीरोग । चंगा । स्वस्थ । तंदुरुस्त । (२) दोषरहित । निर्दोष । बेऐब ।
संज्ञा पुं० (१) नीरोगता । तंदुरुस्ती । (२) कुशल-क्षेम ।

अनामा-वि० स्त्री० [सं०] (१) बिना नाम की । (२) अप्रसिद्ध ।
संज्ञा स्त्री० कनिष्ठा और मध्यमा के बीच की उँगली । अनामिका ।

अनामिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कनिष्ठा और मध्यमा के बीच की उँगली । सब से छोटी उँगली के बगल की उँगली । अनामा ।

अनामिष-वि० [सं०] निरामिष । मांसरहित ।

अनायत्त-वि० [सं०] अनधीन । अवशीभूत । (२) स्वतंत्र । खुद मुख़तार ।

अनायास-क्रि० वि० [सं०] (१) बिना प्रयास । बिना परिश्रम । बिना उद्योग । बैठे बिठाए । अकस्मात् । अचानक । सहसा । एकाएक ।

अनार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) एक पेड़ और उसके फल का नाम । दाड़िम । यह पेड़ १५, २० फुट ऊँचा और कुछ छननार होता है । इसकी पतली पतली टहनियों में कुछ कुछ काँटे रहते हैं । लाल फूल लगते हैं । फल के ऊपर के कड़े छिलके को तोड़ने से रस से भरे लाल सफ़ेद दाने निकलते हैं जो खाये जाते हैं । फल खट्टा मीठा दो प्रकार का होता है । गर्मी के दिनों में पीने के लिए इसका शरबत भी बनाते हैं । फूल रंग बनाने और दवा के काम में आता है । फल का छिलका अतिसार, संग्रहणी आदि रोगों में दिया जाता है । पेड़ की छाल से चमड़ा सिझाते हैं । पश्चिम हिमालय और सुलेमान की पहाड़ियों पर यह वृक्ष आपसे आप उगता है । इसकी क़लम भी लगती है । प्रतिवर्ष खाद देने से फल अच्छे आते हैं । काबुल कंधार के अनार प्रसिद्ध हैं । (२) एक आतशबाज़ी । अनार फल के समान मिट्टी का एक गोलपात्र जिसमें लोहचून और बारूद भरा रहता है और जिसके मुँह पर आग लगाने से चिनगारियों का एक पेड़ सा बन जाता है ।

यौ०—"अनारदाना"।

विशेष-दाँतों की उपमा कवि लोग अनार के दाने से देते आये हैं [सं० अन्याय] अन्याय। अनीति।

अनारदाना-संज्ञा पुं० [फा०] (१) खट्टे अनार का सुखाया हुआ दाना। (२) रामदाना।

अनारी*-वि० [हिं० अनार] अनार के रंग का। लाल।

वि० दे० "अनाड़ी"

संज्ञा पुं० (१) लाल रंग की आँखवाला कबूतर। एक पकवान। यह एक प्रकार का समोसा है जिसके भीतर मीठा या नमकीन पूर भरा जाता है।

अनार्जव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिधाई का अभाव। टेढ़ापन। (२) सरलता का अभाव। कुटिलता। कपट।

अनार्तव-वि० [सं०] [स्त्री० अनार्तवा] बिना ऋतु का। बेमौसिम। अनवसर।

संज्ञा पुं० स्त्रियों के ऋतु-धर्म का अवरोध। रजोधर्म की रुकावट।

अनार्तवा-वि० स्त्री० [सं०] जो ऋतुमती न हो।

अनार्य-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अनार्या। संज्ञा अनार्यत्व, अनार्यता] (१) वह जो आर्य्य न हो। अश्रेष्ठ। (२) म्लेच्छ।

अनार्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्य्यधर्म का अभाव। (२) अश्रेष्ठता। लघुता। नीचता। म्लेच्छता।

अनार्यत्व-संज्ञा पुं० दे० "अनार्य्यता"।

अनार्ष-वि० [सं०] जो ऋषिप्रणीत न हो। जो ऋषि-काल का बना हुआ न हो।

अनावर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] अनावृष्टि। अवर्षा। मेघ के जल का अभाव। सूखा।

अनावश्यक-वि० [सं०] [संज्ञा अनावश्यकता] जिसकी आवश्यकता न हो। अप्रयोजनीय। ग़ैर ज़रूरी।

अनावश्यकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] आवश्यकता का न होना। अप्रयोजनीयता। ग़ैर ज़रूरत।

क्रि० प्र०—होना।

अनाविल-वि० [सं०] स्वच्छ। निर्मल। साफ़।

अनावृत्त-वि० [सं०] [स्त्री० अनावृता] (१) जो ढँका न हो। अनावेष्टित। आवरणरहित। खुला। (२) जो घिरा न हो।

अनावृष्टि-संज्ञा० स्त्री० [सं०] वर्षा का अभाव। अनावर्षण। अवर्षा। सूखा।

अनाश्रमी-वि० [सं०] (१) आश्रमभ्रष्ट। आश्रम धर्म से च्युत। गार्हस्थ्य आदि चारों आश्रमों से रहित। (२) पतित। भ्रष्ट।

अनाश्रय-वि० [सं०] निराश्रय। बेसहारा। निरवलंब। अनाथ। दीन।

अनाश्रित-वि० [सं०] आश्रयरहित। निरवलम्ब। बेसहारा। (२) जो अधिकार रहते भी ब्रह्मचर्य्य आदि आश्रमों को ग्रहण न करे।

अनासती*-सं० स्त्री० [?] कुसमय। कुअवसर।—डिं०।

अनासिक-वि० [सं० अ=नहीं+नासिका] बिना नाक का। नकटा।

अनास्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अश्रद्धा। आस्था का अभाव। (२) अनादर। अप्रतिष्ठा।

अनाह-संज्ञा पुं० [सं०] रोग विशेष। अफरा। पेट फूलना।

अनाहक-क्रि० वि० दे० "नाहक"।

अनाहत-वि० [सं०] (१) जिस पर आघात न हुआ हो। अक्षुब्ध। (२) अगुणित। जिसका गुणन न किया गया हो।

संज्ञा पुं० (१) शब्द योग में वह शब्द वा नाद जो दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कानों की लवें बंद करके ध्यान करने से सुनाई देता है। (२) हठ योग के अनुसार शरीर के भीतर के छः चक्रों में से एक। इसका स्थान हृदय, रंग लालपीला-मिश्रित और देवता रुद्र माने गये हैं। इसके दलों की संख्या १२ और अक्षर "क" से "ठ" तक हैं। (३) नया वस्त्र। (४) द्वितीय बार किसी वस्तु को उपनिधि वा धरोहर में देना। दोबारा किसी चीज़ का अमानत में दिया जाना।

अनाहदवाणी-संज्ञा स्त्री० [सं० अनाहत+वाणी] आकाशवाणी। देववाणी। गगनगिरा।

अनाहार-संज्ञा पुं० [सं०] भोजन का अभाव वा त्याग।

वि० (१) निराहार। जिसने कुछ खाया न हो। उ०-आज हम अनाहार रह गये।

(२) जिसमें कुछ खाया न जाय। उ०—अनाहार व्रत।

अनाहारमार्गणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन शास्त्रानुसार एक व्रत।

अनाहिताग्नि-वि० [सं०] जिसने विधिपूर्वक अग्न्याधान न किया हो। जो अग्निहोत्री न हो। निरग्नि।

अनाहूत-वि० [सं०] बिना बुलाया हुआ। अनामंत्रित। अनिमंत्रित।

अनिकेत-वि० [सं०] (१) स्थानरहित। बिना घर का। (२) परिव्राजक। संन्यासी। (३) खानाबदोश। घूम फिर कर अनियत स्थानों में गुज़ारा करनेवाला।

अनिगीर्ण-वि० [सं०] जो निगला न गया हो।

अनिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनवरोध। बंधन का अभाव। (२) दंड वा पीड़ा का न होना।

वि० (१) बंधनरहित। बेरोक। (२) असीम। बेहद। (३) पीड़ारहित। नीरोग। (४) जिसने दंड न पाया हो। (५) जो दंड के योग्य न हो। अदंड्य।

अनिच्छा-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अनिच्छित, अनिच्छुक] (१) इच्छा का अभाव। चाह का न होना। अरुचि। (२) अप्रवृत्ति।

अनिच्छित-वि० [सं०] (१) जिसकी इच्छा न हो। अनीप्सित। अनचाहा। (२) अरुचिकर।

अनिच्छुक-वि० [सं०] इच्छा न रखनेवाला। जिसे चाह न हो। अनभिलाषी। निराकांक्षी।

अनिंद*-वि० दे० "अनिंद्य"।

अनिंदित-वि० पुं० [सं०] [स्त्री० अनिंदिता] (१) अकलंकित। बदनामी से बचा हुआ। निर्दोष। उत्तम।

अनिंदनीय-वि० पु० [सं०] [स्त्री० अनिंदनीया] जो निंदा के योग्य न हो। निर्दोष। निष्कलंक।

अनिंद्य-वि० पुं० [सं०] [स्त्री० अनिंद्या] (१) जो निंदा के योग्य न हो। निर्दोष (२) उत्तम। प्रशंसनीय। अच्छा।

अनित*-वि० दे० "अनित्य"।

अनित्य-वि० [सं०] [स्त्री० अनित्या। संज्ञा अनित्यत्व, अनित्यता] (१) जो सब दिन न रहे। अध्रुव। अस्थायी। चन्दरोज़ा। क्षणभंगुर। (२) नश्वर। नाशवान। (३) जो स्वयं कार्यरूप हो और जिसका कोई कारण हो। अतः जो एक सा न रहे जैसे 'संसार अनित्य है'। (४) असत्य। झूठा।

अनित्यता- संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनित्य अवस्था। अस्थिरता। (२) नश्वरता। क्षणभंगुरता।

अनित्यत्व-संज्ञा पु० [सं०] (१) अस्थिरता। अध्रुवता। नापायदारी। (२) क्षणभंगुरता। नश्वरता।

अनिद्र-वि० [सं०] निद्रारहित। बिना नींद का। जिसे नींद न आवे।

संज्ञा पु० नींद न आने का रोग। प्रजागर।

अनिप*-संज्ञा पु० [सं० अनीक]। हिं० अनी-सेना+प-स्वामी] सेनापति। सेनाध्यक्ष। फ़ौज का अफ़सर। उ०—मानो मधुमाधव अनिप धीर। वर विपुल विटप बानैत वीर।—तुलसी।

अनिपुण-वि० [सं०] अकुशल। अपटु। जो प्रवीण न हो।

अनिभृत-वि० [सं०] (१) जो छिपा न हो। जो एकांत न हो। (२) अगुप्त। प्रकट। जाहिर। असंकोची। बेतकल्लुफ़।

अनिभ्य-वि० [सं०] धनहीन। कंगाल।

अनिमंत्रित-वि० [सं०] बिना न्योता हुआ। बिना बुलाया हुआ। अनामंत्रित। अनाहूत।

अनिमा*-संज्ञा स्त्री० दे० (१) "अणिमा" और संज्ञा पुं० (२) "एनिमा"।

अनिमित्त-वि० [सं०] निमित्तरहित। बिना हेतु का। अकारण।

क्रि० वि० (१) बिना कारण। (२) बिना ग़रज़। बिना किसी प्रयोजन के।

अनिमित्तक-वि० [सं०] बिना कारण का। बिना हेतु का। (२) बिना ग़रज़ का। व्यर्थ। प्रयोजनरहित।

अनिमिष-वि० [सं०] निमेषरहित। स्थिर दृष्टि। टकटकी के साथ देखनेवाला।

क्रि० वि० (१) बिना पलक गिराए। एकटक (२) निरंतर।

संज्ञा पुं० (१) देवता। (२) मछली

अनिमिषाचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] देवगुरु। बृहस्पति।

अनिमेष-वि० [सं०] निमेषरहित। स्थिर दृष्टि। टकटकी के साथ।

क्रि० वि० (१) बिना पलक गिराए। एकटक। (२) निरंतर।

अनियंत्रित-वि० [सं०] (१) जो जकड़ा वा बाँधा न हो। अबद्ध। प्रतिबंधरहित। बिना रोक टोक का। (२) मनमाना।

अनियत-वि० [सं०] (१) जो नियत न हो। अनिश्चित। अनिर्दिष्ट। अनिर्द्धारित। (२) अस्थिर। अदृढ़। जिसका ठीक ठिकाना न हो। (३) अपरिमित। असीम। (४) असाधारण। ग़ैरमामूली।

अनियतात्मा-वि० [सं०] (१) चंचल बुद्धिवाला। डाँवाडोल चित्त का। (२) जिसका मन वश में न हो। अजितेंद्रिय।

अनियम-संज्ञा पु० [सं०] नियम का अभाव। व्यतिक्रम। अव्यवस्था। बेक़ायदगी।

अनियमित-वि० [सं०] (१) नियमरहित। अव्यवस्थित। विधिविरुद्ध। बेक़ायदा। (२) अनिश्चित। अनिर्दिष्ट। अनियत।

अनियारा*-वि० [सं० अणि-नोक+हिं० -आर (प्रत्य०)] [स्त्री० अनियारी] नुकीला। कटीला। पैना। धारदार। तीक्ष्ण। तीखा। उ०—(क) चपल नैन दीरघ अनियारे, हाव भाव नाना मति भंग। वारों मीन, कोटि अम्बुजगन खंजन कोटि कुरंग।—सूर। (ख) रघुपति अपुनो प्रन प्रतिपाल्यो। तोल्यो कोपि प्रबल गढ़ रावन टूक टूक करि डाल्यो। ....रह्यो माँस को पिंड प्राण लै गयो बाण अनियारो।—सूर। (ग) रुचिर मधुर भोजन करि, भूषन सजि सकल अंग, संग अनुज, बालक सब, विविध विधि सँवारे। करतल गहि ललित चाप, भंजन रिपु निकर दाप, कटितट पट पीत तून, सायक अनियारे।—तुलसी। (घ) अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान। वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।—बिहारी। (च) कौन को लाल सलोनी सखी वह जाकी बड़ी अँखिया अनियारी।—रसखान। (छ) कहा करौं जौ आँगुरिन, अनी घनी चुभि जाय। अनियारे चख लखि सखी, कजरा देति डराय।—पद्माकर।

अनिरवा†-संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+निकट, प्रा० निअट, निअड] [स्त्री० अनिरिया] बहका हुआ पशु। आवारा चौपाया जो खूँटे पर न रहे।

अनिरुद्ध-वि० [सं०] जो रोका हुआ न हो। अबाध। बेरोक।

संज्ञा पुं० श्रीकृष्ण के पौत्र, प्रद्युम्न के पुत्र जिनको ऊषा व्याही थी।

अनिर्दशा–वि० स्त्री० [सं०] जिसको बच्चा दिये दस दिन न बीते हों। **विशेष**—इस शब्द का व्यवहार प्रायः गाय के संबंध में देखा जाता है। ऐसी गाय का दूध पीना निषिद्ध है।

अनिर्दिष्ट–वि० [सं०] (१) जो बताया न गया हो। अनिरूपित। अनिर्धारित। अनिर्वाचित। (२) अनियत। अनिश्चित। (३) असीम। अपरिमित।

अनिर्देश्य–वि० [सं०] जिसके गुण स्वभाव जाति आदि का निर्वाचन न हो सके। जिसके विषय में कुछ ठीक ठीक बतलाया न जा सके। अनिर्वचनीय। अनिर्धार्य्य।

अनिर्धार्य–वि० [सं०] जिसका निरूपण न हो सके। जिसका लक्षण स्थिर न किया जा सके। जिसके विषय में कोई बात ठहराई न जा सके। अनिर्देश्य।

अनिर्बंध–वि० [सं०] (१) बिना बंधन का। निष्प्रतिबंध। अबाध। अनियंत्रित। बेरोक टोक का। (२) स्वतंत्र। स्वच्छंद। स्वाधीन। ख़ुदमुख्तार।

अनिर्वचनीय–वि० [सं०] जिसका वर्णन न हो सके। अकथ्य। अकथनीय। अवर्णनीय।

अनिर्वाच्य–वि० [सं०] (१) निर्वाचन के अयोग्य। जिसका निरूपण न हो सके। जो बतलाया न जा सके। जिसके विषय में कुछ स्थिर न हो सके। (२) जो चुनाव के अयोग्य हो।

अनिर्वृत्त–वि० [सं०] [संज्ञा अनिर्वृत्ति] बुरी स्थिति का। दुखित।

अनिर्वृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] बुरी स्थिति। दुःख।

अनिल–संज्ञा पुं० [सं०] वायु। पवन। हवा।

अनिलकुमार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पवन-कुमार, हनुमान्। (२) जैन शास्त्रानुसार भुवनपति देवताओं का एक भेद।

अनिलाशी–वि० [सं० अनिलाशिन्] [स्त्री० अनिलाशिनी] हवा पी कर रहनेवाला।

संज्ञा पुं० साँप। सर्प।

अनिवर्त्ती–वि० [सं० अनिवर्तिन] [स्त्री० अनिवर्त्तिनी] (१) पीछे न लौटनेवाला। (२) तत्पर। अध्यवसायी। मुस्तैद। (३) वीर। पीठ न दिखलानेवाला।

अनिवार्य–वि० [सं०] (१) जो निवारण के योग्य न हो। अटल। जो हटे नहीं। (२) अवश्यंभावी। जो अवश्य हो। (३) जिसके बिना काम न चल सके। जिसे करना ही पड़े। परम आवश्यक। उ०—उन्नत्ति के लिए शिक्षा का होना अनिवार्य है।

अनिवृत्ति-बादर–संज्ञा पुं० [सं०] जैन-शास्त्रानुसार वह कर्म जिसका परिणाम निवृत्त वा दूर हो जाय पर कषाय वा वासना रह जाय।

अनिश–क्रि० वि० [सं०] निरंतर। अनवरत। अविश्रांत। लगातार।

अनिश्चित–वि० [सं०] जिसका निश्चय न हुआ हो। अनियत। अनिर्दिष्ट। जिसका कुछ ठीक ठाक न हो। जिसके विषय में कुछ स्थिर न हुआ हो।

अनिष्ट–वि० [सं०] (१) जो इष्ट न हो। इच्छा के प्रतिकूल। अनभिलषित। अवांछित।

संज्ञा पुं० अमंगल। अहित। बुराई। इच्छाविरुद्ध कार्य्य। खराबी। हानि।

अनिष्टकर–वि० [सं०] [स्त्री० अनिष्टकरी] अनिष्ट करनेवाला। अहितकारी। हानिकारक। अशुभकारक।

अनिष्पत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अपूर्णता। अधूरापन। असिद्धि।

अनिष्पन्न–वि० [सं०] [संज्ञा अनिष्पत्ति] (१) अधूरा। अपूर्ण। (२) असंपन्न। असिद्ध।

अनी–संज्ञा स्त्री० [सं० अणि=अग्रभाग, नोक] (१) नोक। सिरा। कोर। उ०–(क) सतगुर मारी प्रेम की, रही कटारी टूटि। वैसी अनी न सालई, जैसी सालै मूठि।—कबीर। (ख) भौंह कमान समान बान मनो हैं युग नैन अनी।—सूर। (ग) कवि बोधा अनी घनी नेजहु की चढ़ि तापै न चित्त डगावनो है। यह प्रेम को पंथ करार है, री! तरवार की धार को धावनो है।—बोधा। (२) नाव या जहाज़ का अगला सिरा। माँगा। माथा। गलही। (३) जूते की नोक। (४) पानी में निकली हुई ज़मीन की नोक।

संज्ञा स्त्री० [सं० अनीक=समूह] समूह। झुंड। दल। सेना। फ़ौज। उ०—(क) वेष न सो, सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा।—तुलसी। (ख) अनी बड़ी उमड़ी लखै, असिवाहक भट भूप। मंगल करि मान्यो हिये, भो मुख मंगल रूप।—बिहारी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० आन=मर्यादा] ग्लानि। खेद। लाग। उ०—उसने अनी के बस कनी खा ली।

संबो० स्त्री० [सं० अयि] री। अरी। ओ—पं०।

अनीक–संज्ञा पुं० [सं०] सेना। फ़ौज। कटक। समूह। झुंड। (२) युद्ध संग्राम। लड़ाई।

*वि० [सं० अ=नहीं+फा० नेक, हिं० नीक=अच्छा] जो अच्छा न हो। बुरा। ख़राब।

अनीकिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अक्षौहिणी वा पूरी सेना का दसवाँ भाग जिसमें २१८७ हाथी, ५६६१ घोड़े और १०९३५ पैदल होते हैं। (२) कमलिनी। पद्मिनी। नलिनी।

अनीठ*–वि० [सं० अनिष्ट, प्रा०अनिट्ठ] (१) जो इष्ट न हो। अनिच्छित। अप्रिय। (२) बुरा। ख़राब। उ०–(क) बोलत हौ कत बैन बड़े अरु नैन बड़े बडरान खड़े हौ। जाउ जू जैये अनीठ बड़े अरु ईठ बड़े पर ढीठ बड़े हौ।—देव। (ख) हाहा बलाइ ल्यों पीठ दै बैठु री काहू अनीठ की दीठि परैगी।—देव।

अनीत*–संज्ञा स्त्री० दे० "अनीति"।

अनीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीति का विरोध। अन्याय। बेइंसाफ़ी। (२) शरारत। (३) अँधेर। अत्याचार।

अनीतिमान्–वि० [सं०] [स्त्री० अनीतिमती] अन्यथाचारी। अन्यायी

अनीप्सित–वि० [सं०] [स्त्री० अनीप्सिता] अनिच्छित। अनभिलषित। अनचाहा। न चाहा हुआ।

अनीलवाजी–वि० [सं०] सफ़ेद घोड़ेवाला पुरुष। अर्जुन।

अनीश–वि० [सं०] [स्त्री० अनीशा] (१) ईशरहित। बिना मालिक का। (२) अनाथ। असमर्थ। उ०—सुर स्वारथी अनीस अलायक निठुर दया चित नाहीं। जाउँ कहाँ को विपति-निवारक, भवतारक जग माहीं।—तुलसी। (३) जिसके ऊपर कोई न हो। सब से श्रेष्ठ।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु। (२) ईश्वर से भिन्न वस्तु। जीव। माया। उ०—सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतर तैसे।—तुलसी।

अनीश्वर–संज्ञा पुं० दे० "अनीश"।

अनीश्वर-वाद–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनीश्वरवादी] (१) ईश्वर के अस्तित्व पर अविश्वास। नास्तिकता (२) मीमांसा।

अनीश्वर-वादी–वि० [सं०] (१) ईश्वर को न माननेवाला। नास्तिक। (२) मीमांसक।

अनीसून–संज्ञा पुं० [यू०] एक प्रकार की सौंफ जो उत्तर भारत में बहुत होती है।

अनीह–वि० [सं०] (१) इच्छारहित। निस्पृह। (२) निश्चेष्ट। बेपरवाह।

अनीहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनिच्छा। निस्पृहता। निष्कामता। (२) निश्चेष्टता। बेपरवाही।

अनु–उप० [सं०] जिस शब्द के पहिले यह उपसर्ग लगता है उसमें इन अर्थों का संयोग करता है—(१) पीछे। जैसे, अनुगामी, अनुकरण। (२) सदृश। जैसे, अनुकाल। अनुकूल। अनुरूप। अनुगुण। (३) साथ। जैसे, अनुकंपा। अनुग्रह। अनुपान। (४) प्रत्येक। जैसे, अनुक्षण, अनुदिन। (५) बारंबार। जैसे, अनुगणन, अनुशीलन।

संज्ञा पुं० (१) राजा ययाति का एक पुत्र। (२) दे० "अणु"।

अनुकंपा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अनुकंपित] (१) दया। कृपा। अनुग्रह। (२) सहानुभूति। हमदर्दी।

अनुकंपित–वि० [सं०] जिस पर कृपा की गई हो। अनुगृहीत।

अनुक–संज्ञा पुं० [सं०] कामी। कामुक। विषयी।

अनुकथन–संज्ञा पुं० [सं०] क्रमबद्ध वचन। वार्त्तालाप। कथोपकथन। बातचीत।

अनुकरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुकरणीय, अनुकृत] (१) समान आचरण। देखादेखी कार्य्य। नक़ल। (२) वह जो पीछे उत्पन्न हो। पीछे आनेवाला। उ०—आलंबन उद्दीपके, जे अनुकरण बखान। ते कहिये अनुभाव सब, दंपति प्रीति-विधान।—केशव।

अनुकरणीय–वि० [सं०] [स्त्री० अनुकरणीया] अनुकरण करने के लायक। नक़ल करने-लायक।

अनुकर्त्ता–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अनुकर्त्री] (१) अनुकरण करनेवाला। आदर्श पर चलनेवाला। नक़ल करनेवाला। (२) आज्ञाकारी। हुक्म पर चलनेवाला।

अनुकर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गाड़ी वा रथ का तला। (२) आकर्षण। खिँचाव। (३) देवता का आवाहन। (४) विलंब से किसी कर्त्तव्य का पालन।

अनुकर्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुकर्ष। आकर्षण। खिँचाव। (२) आवाहन।

अनुकांक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अनुकांक्षित, अनुकांक्षी] इच्छा। आकांक्षा।

अनुकांक्षित–वि० [सं०] इच्छित। आकांक्षित।

अनुकांक्षी–वि० [सं० अनुकांक्षिन्] [स्त्री० अनुकांक्षिणी] इच्छा रखनेवाला। चाहनेवाला। आकांक्षी।

अनुकार–संज्ञा पुं० दे० "अनुकरण"।

अनुकारी–वि० [सं० अनुकारिन्] [स्त्री० अनुकारिणी] (१) अनुकर्त्ता। अनुकरण करनेवाला। देखादेखी करनेवाला। नक़ल करनेवाला (२) हुक्म पर चलनेवाला। आज्ञाकारी।

अनुकीर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] वर्णन। कथन।

अनुकूल–वि० [सं०] [स्त्री० अनुकूला] (१) मुआफ़िक़। (२) पक्ष में रहनेवाला। सहाय। हितकर। (३) प्रसन्न। उ०—जो महेस मोहि पर अनुकूला। करहिँ कथा मुद मंगल मूला।—तुलसी।

क्रि० वि० ओर। तरफ़। उ०—ढाहति भूपरूप तरुमूला। चली विपति वारिधि अनुकूला।—तुलसी।

संज्ञा पुं० (१) वह नायक जो एक ही विवाहिता स्त्री में अनुरक्त हो। (२) एक काव्यालंकार जिसमें प्रतिकूल से अनुकूल वस्तु की सिद्धि दिखाई जाय। उ०—आगि लागि घर जरिगा, बड़ सुख कीन्ह। पिय के हाथ घयलवा भरि भरि दीन्ह। (३) राम-दल का एक बंदर।

अनुकूलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अप्रतिकूलता। अविरुद्धता। (२) पक्षपात। हितकारिता। सहायता। प्रसन्नता।

अनुकूलना*–क्रि० स० [सं० अनुकूलन] (१) अप्रतिकूल होना। मुआफ़िक़ होना। (२) पक्ष में होना। हितकर होना। (३) प्रसन्न होना। उ०—फगुआ देन कह्यो मन भायो सबै गोपिका फूलीं। कंठ लगाय चलीं प्रीतम कौं अपने गृह अनुकूलीं।—सूर।

अनुकूला–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में भगण तगण नगण और दो गुरु (ऽ।।+ऽऽ।+।।।+ऽऽ)

होते हैं। मौक्तिक माला। उ०—पावक पूज्यौ समिध सुधारी। आहुति दीन्हीं सब सुखकारी।—केशव।

अनुकृत–वि० [सं०] अनुकरण किया हुआ। नकल किया हुआ।

अनुकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समान आचरण। देखादेखी कार्य। नकल। (२) वह काव्यालंकार जिसमें एक वस्तु का कारणांतर से दूसरी वस्तु के अनुसार हो जाना वर्णन किया जाय। वह वास्तव में सम-अलंकार के अंतर्गत ही आता है।

अनुक्त-वि० [सं०] [स्त्री० अनुक्ता] अकथित। बिना कहा हुआ।

अनुक्रम–संज्ञा पुं० [सं०] क्रम। सिलसिला। तरतीब।

अनुक्रमणिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्रम। तरतीब। सिलसिला। (२) सूची। तालिका। फ़िहरिस्त। (३) कात्यायन का एक ग्रंथ जिसमें मंत्रों के ऋषि, छन्द-देवता और विनियोग बताए गए हैं।

अनुक्रिया–संज्ञा स्त्री० दे० "अनुक्रम"।

अनुक्रोश–संज्ञा पुं० [सं०] अनुकंपा। दया।

अनुक्षण–क्रि० वि० [सं०] (१) प्रतिक्षण। (२) लगातार। निरंतर।

अनुग–वि० [सं०] पीछे चलनेवाला। अनुगामी। अनुयायी। पैरोकार।

संज्ञा पुं० सेवक। नौकर। चाकर।

अनुगत–वि० [सं०] [संज्ञा अनुगति] (१) पीछे पीछे चलनेवाला। अनुगामी। अनुयायी। (२) अनुकूल। मुआफ़िक़। उ०—नियमानुगत कार्य होना उत्तम है।

संज्ञा पुं० सेवक। अनुचर। नौकर।

अनुगतार्थ–वि० [सं०] प्रायः समान अर्थवाला। क़रीब क़रीब मिलते जुलते अर्थ का।

अनुगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुगमन। अनुसरण। पीछे पीछे चलना। (२) अनुकरण। नकल। (३) अंतिम दशा। मरण।

अनुगमन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीछे चलना। अनुसरण। (२) समान आचरण। (३) विधवा का मृत पति के शव के साथ जल मरना। (४) सहवास। संभोग।

अनुगांग–वि० [सं०] गंगा के किनारे का (देश)।

अनुगामी–वि० [सं०] [स्त्री० अनुगामिनी] (१) पश्चाद्वर्त्ती। पीछे चलनेवाला। (२) समान आचरण करनेवाला। (३) आज्ञाकारी। हुक्म पर चलनेवाला। (४) सहवास वा संभोग करनेवाला।

अनुगीत–संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद का नाम। दे० "गीता"।

अनुगीता–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अश्वमेध पर्व के १६ से ९२ अध्याय तक का नाम।

अनुगुण–संज्ञा पुं० [सं०] एक काव्यालंकार जिसमें किसी वस्तु के पूर्व गुण का दूसरी वस्तु के संसर्ग से बढ़ना दिखाया जाय। उ०-(क) मुक्तमाल तिय हास ते अधिक स्वेत ह्वै जाय। (ख) ग्रहगृहीत पुनि बात बस तापर बीछी मार। ताहि पियाई बारुनी कहौ कौन उपचार।—तुलसी।

अनुगृहीत–वि० [सं०] (१) जिस पर अनुग्रह किया गया हो। उपकृत। (२) कृतज्ञ।

अनुग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुगृहीत, अनुग्रही, अनुग्राहक] (१) दुःख दूर करने की इच्छा। कृपा। दया। अनुकंपा। (२) अनिष्ट-निवारण। उ०—शंकर दीन दयाल अब, यहि पर होहु कृपाल। शाप अनुग्रह होय जिहि, नाथ थोर ही काल।—तुलसी।

अनुग्राहक–वि० [सं०] [स्त्री० अनुग्राहिका] अनुग्रह करनेवाला। कृपालु। सहायक। उपकारी।

अनुग्राही–वि० दे० "अनुग्राहक"।

अनुघात– संज्ञा पुं० [सं०] नाश। संहार।

अनुचर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अनुचरी] (१) पीछे चलनेवाला। दास। नौकर। (२) सहचर। साथी।

अनुचिंतन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विचार। ग़ौर। (२) भूली हुई बात को मन में लाना।

अनुचित–वि० [सं०] अयोग्य। अयुक्त। अकर्त्तव्य। नामुनासिब। बुरा। ख़राब।

अनुज–वि० [सं०] जो पीछे उत्पन्न हुआ हो।

संज्ञा पुं० [स्त्री० अनुजा] (१) छोटा भाई। (२) एक पौधा। स्थल-पद्म।

अनुजीवी–वि० [सं० अनुजीविन] [स्त्री० अनुजीविनी] सहारे पर जीनेवाला। आश्रित।

संज्ञा पुं० सेवक। दास।

अनुज्ञा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आज्ञा। हुक्म। अनुमति। इजाजत। (२) एक काव्यालंकार जिसमें दूषित वस्तु में कोई गुण देखकर उसके पाने की इच्छा का वर्णन किया जाय। उ०—चाहति हैं हम और कहा सखि, क्योंहूँ कहूँ पिय देखन पावैं। चेरियै सों जु गुपाल रचे तौ चलौ री सबै मिलि चेरि कहावैं।—रसखान।

अनुज्ञापन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आज्ञा देना। हुक्म देना। (२) जताना। बतलाना।

अनुतप्त–वि० [सं०] (१) तपा हुआ। गर्म। (२) दुखी। खेदयुक्त। रंजीदा।

अनुताप–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुतप्त] (१) तपन। दाह। जलन। (२) दुख। खेद। रंज। (३) पछतावा। अफ़सोस।

अनुत्क–वि० [सं०] [स्त्री० अनुत्का] उत्कंठारहित। अनुत्सुक। अभिलाषारहित। बिना लालसा का।

अनुत्तर–वि० [सं०] निरुत्तर। लाजवाब। क़ायल।

संज्ञा पुं० जैन देवताओं का एक भेद।

अनुदर–वि० [सं०] [स्त्री० अनुदरा] कृशोदर। दुबला पतला।

अनुदात्त–वि० [सं०] (१) छोटा। तुच्छ। जो उच्चाशय न हो। (२) नीचा (स्वर)। लघु (उच्चारण)। स्वर के तीन भेदों में से एक।

अनुदिन–क्रि० वि० [सं०] नित्य प्रति। प्रति दिन। रोजमर्रा।

अनुद्धत–वि० [सं०] (१) जो उद्धत न हो। अनुग्र। सौम्य। शांत। (२) विनीत।

अनुद्धर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] उद्वेग का अभाव। शांति।

अनुद्यमी–वि० [सं०] उद्यमरहित। आलसी। सुस्त। अहदी।

अनुधावन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुधावक, अनुधावित, अनुधावी] (१) पीछे चलना। अनुसरण। (२) अनुकरण। नकल। (३) अनुसंधान। खोज। (४) बार बार बुद्धि दौड़ाना। विचार। चिंतन।

अनुनय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनय। विनती। प्रार्थना। (२) मनाना।

अनुनाद–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुनादित] प्रतिध्वनि। गूँज। गुंजार।

अनुनादित–वि० [सं०] प्रतिध्वनित। जिसका अनुनाद या गूँज हुई हो।

अनुनासिक–वि० [सं०] जो (अक्षर) मुँह और नाक से बोला जाय। जैसे ङ, ञ, ण, न, म, और अनुस्वार।

अनुपकार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुपकारक, अनुपकारी] (१) उपकार का अभाव। (२) अपकार। हानि।

अनुपकारी–वि० [सं०] (१) उपकार न करनेवाला। अपकार करनेवाला। हानि करनेवाला। (२) फजूल। निकम्मा।

अनुपगत–वि० [सं०] दूर का।

अनुपद–क्रि० वि० [सं०] (१) पीछे पीछे। क़दम ब क़दम। (२) अनंतर। बाद ही।

अनुपधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वंचकता।

अनुपनीत–वि० [सं०] (१) अप्राप्त। न लाया। हुआ। (२) जिसका उपनयन-संस्कार न हुआ हो।

अनुपन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] प्रमाण वा निश्चय का अभाव। असमाधान।

अनुपपत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उपपत्ति का अभाव। असमाधान। असंगति। असिद्धि। अप्राप्ति। असंपन्नता। असमर्थता।

अनुपपन्न–वि० [सं०] अप्रतिपादित। अयुक्त। जो साबित न हुआ हो।

अनुपम–वि० [सं०] [संज्ञा अनुपमता] उपमारहित। बेजोड़। जिसकी टक्कर का दूसरा न हो। बेमिस्ल। बेनज़ीर।

अनुपमता–संज्ञा स्त्री० [सं०] अनुपम होना। उपमा का अभाव। बेजोड़पन।

अनुपमेय–वि० दे० "अनुपम"।

अनुपयुक्त–वि० [सं०] [संज्ञा अनुपयुक्तता] अयोग्य। बेठीक। बेढब

अनुपयुक्तता–संज्ञा स्त्री० [सं०] अयोग्यता। बेढबपन।

अनुपयोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यवहार का अभाव। काम में न लाना। (२) दुर्व्यवहार।

अनुपयोगिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] उपयोगिता का अभाव। निरर्थकता।

अनुपयोगी–वि० [सं०] [संज्ञा अनुपयोगिता] बेकाम। व्यर्थ का। बेमतलब का। बेमसरफ़।

अनुपलब्ध–वि० [सं०] अप्राप्त। न मिला हुआ।

अनुपलब्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अनुपलब्ध] अप्राप्ति। न मिलना।

अनुपशय–संज्ञा पुं० [सं०] रोग-ज्ञान के पाँच विधानों में से एक जिसमें आहार विहार के बुरे फल को देख यह निश्चय किया जाता है कि रोगी को अमुक रोग है। दे० "उपशय"।

अनुपस्थित–वि० [सं०] जो सामने न हो। जो मौजूद न हो। अविद्यमान। ग़ैरहाज़िर।

अनुपस्थिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अनुपस्थित] अविद्यमानता। ग़ैरमौजूदगी।

अनुपात–संज्ञा पुं० [सं०] गणित की त्रैराशिक क्रिया। तीन दी हुई संख्याओं के द्वारा चौथी को जानना।

अनुपातक–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्महत्या के समान पाप जैसे, चोरी, झूठ बोलना, परस्त्रीगमन इत्यादि।

अनुपादक–संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार आकाश से भी सूक्ष्म एक तत्व।

अनुपान–संज्ञा पुं० [सं०] वह वस्तु जो औषध के साथ या ऊपर से खाई जाय।

अनुपूर्व–वि० [सं०] यथाक्रम। आनुक्रमिक। सिलसिलेवार।

अनुपेत–वि० [सं०] जो शिक्षा वा दीक्षा के लिए गुरु के यहाँ भरती न हुआ हो। अदीक्षित।

अनुप्त–वि० [सं०] जो बोया न गया हो। बिना बोया हुआ।

अनुप्राशन–संज्ञा पुं० [सं०] खाना। भक्षण।

क्रि० प्र०–करना।–देना।–होना। उ०–कछु दिन पवन कियो अनुप्राशन रोक्यो श्वास यह जानी।–सूर।

अनुप्रास–संज्ञा पुं० [सं०] वह शब्दालंकार जिसमें किसी पद में एकही अक्षर बार बार आकर उस पद की अधिक शोभा का कारण होता है। वर्णवृत्ति। वर्णमैत्री। वर्णसाम्य। उ०–काक कहहिं कलकंठ कठोरा।–तुलसी।

इसके पाँच भेद हैं:–

छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अंत्यानुप्रास और लाटानुप्रास।

अनुप्रेक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नेत्र गड़ाकर देखना। ध्यान से देखना। (२) ग्रंथ के अर्थ का मनन अर्थात् मन से अभ्यास। पठित विषय का एकाग्र चित्त से चिंतन।

अनुबंध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन। लगाव। (२) आगापीछा।

उ०—किसी कार्य्य को करने के पहिले उसका अनुबंध सोच लेना चाहिए। (३) व्याकरण में प्रत्यय का वह लोप होने वाला इत्संज्ञक सांकेतिक वर्ण जो गुण वृद्धि आदि के लिए उपयोगी हो। (४) वात, पित्त, और कफ में से जो अप्रधान हो। (५) वेदांत में एक एक विषय का अधिकरण। (६) आरंभ। (७) अनुसरण। (८) होनेवाला शुभ वा अशुभ।

अनुबंधी–वि० [सं० अनुबंधिन] [स्त्री० अनुबंधिनी] (१) संबंधी। लगाव रखनेवाला। (२) फलस्वरूप। परिणाम-स्वरूप। संज्ञा स्त्री० (१) हिचकी। (२) प्यास।

अनुबोध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्मरण वा बोध जो पीछे हो। (२) किसी वस्तु की हलकी हो गई हुई सुगंधि को पुनः तीव्र करना। गंधोद्दीपन।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अनुभव–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुभवी] (१) वह ज्ञान जो साक्षात् करने से प्राप्त हो। स्मृतिभिन्न ज्ञान। उ०—सब जीव पीड़ा का अनुभव करते हैं। (२) परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान। उपलब्ध ज्ञान। तजरबा। उ०—उसे इस कार्य्य का अनुभव नहीं है।

अनुभवना*–क्रि० स० [सं० अनुभव] अनुभव करना। बोध करना। उ०—मोहि सम यहि अनुभएउ न दूजे। सब पायउँ रज पावनि पूजे।—तुलसी।

अनुभवी–वि० [सं० अनुभविन] अनुभव रखनेवाला। जिसने देख सुन कर जानकारी प्राप्त की हो। तजरबेकार। जानकार।

अनुभाव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभाव। महिमा। बड़ाई। (२) काव्य में रस के चार अंगों में से एक। वे गुण और क्रियाएँ जिनसे रस का बोध हो। चित्त के भाव को प्रकाश करने-वाली कटाक्ष रोमांच आदि चेष्टाएँ। अनुभाव के चार भेद हैं। सात्विक, कायिक, मानसिक, और आहार्य्य। हाव भी इसी के अंतर्गत माना जाता है।

अनुभावी–वि० [सं० अनुभाविन्] [स्त्री० अनुभाविनी] (१) जिसे अनुभव वा संवेदना हो। साक्षात्कार-कारक। (२) वह साक्ष्य जिसने सब बातें खुद देखी सुनी हों। चश्मदीद गवाह। (३) मृतक के वे संबंधी जिन्हें उसके मरने का शौच लगे या जो आयु आदि में उससे छोटे हों।

अनुभूत–वि० [सं०] (१) जिसका अनुभव हुआ हो। जिसका साक्षात् ज्ञान हुआ हो। (२) परीक्षित। तजरबा किया हुआ। आज़मूदा।

यौ०—अनुभूतार्थ।

अनुभूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अनुभव। परिज्ञान। आधुनिक न्याय के अनुसार इसके चार प्रकार हैं–प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, और शब्दबोध।

अनुभोग–संज्ञा पुं० [सं०] वह ज़मीन जो किसी काम के बदले में माफ़ी दी जाय। माफ़ी। ख़िदमती।

अनुमति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आज्ञा। अनुज्ञा। हुक्म। (२) सम्मति। इजाज़त। (३) पूर्णिमा जिसमें चंद्रमा की कला पूरी न हो। चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमा।

अनुमरण–संज्ञा पुं० [सं०] पश्चात् मरण। पति के साथ विधवा स्त्री का चितारोहण। सती होना।

अनुमान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुमानित, अनुमिति] (१) अटकल। अंदाज़ा। विचार। भावना। क़यास। (२) न्याय के अनुसार प्रमाण के चार भेदों में से एक जिसमें प्रत्यक्ष साधन के द्वारा अप्रत्यक्ष साध्य की भावना हो। इसके तीन भेद हैं– (क) पूर्ववत् वा केवलान्वयी जिसमें कारण द्वारा कार्य्य का ज्ञान हो, जैसे बादल देखकर यह भावना करना कि पानी बरसेगा। (ख) शेषवत् वा व्यतिरेकी, जिसमें कार्य्य को प्रत्यक्ष देखकर कारण का अनुमान किया जाय। जैसे, नदी की बाढ़ देखकर अनुमान करना कि उसके चढ़ाव की ओर पानी बरसा है। और (ग) सामान्यतोदृष्ट वा अन्वयव्यति-रेकी–नित्य प्रति के सामान्य व्यापार को देखकर विशेष व्यापार का अनुमान करना। जैसे किसी वस्तु को स्थानां-तर में देखकर उसके वहाँ लाये जाने का अनुमान।

अनुमानना–क्रि० स० [सं० अनुमान] अनुमान करना। सोचना। अंदाज़ा करना। उ०—समय प्रतापभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी।—तुलसी।

अनुमित–वि० [सं०] अनुमान किया हुआ। विचारा हुआ। अंदाज़ा हुआ।

अनुमिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुमान। (२) नवीन न्याय के अनुसार अनुभूति के चार भेदों में से एक जिसमें किसी वस्तु के व्याप्त गुणों के कारण अन्य वस्तु का अनुमान किया जाय।

अनुमेय–वि० [सं०] अनुमान के योग्य।

अनुमोदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रसन्नता का प्रकाशन। खुश होना। (२) समर्थन। ताईद।

अनुयायी–वि० [सं० अनुयायिन्] [स्त्री० अनुयायिनी] (१) अनुगामी। पीछे चलनेवाला। (२) अनुकरण करनेवाला। शिक्षा वा आदर्श पर चलनेवाला। (३) अनुचर। सेवक। दास। पैरोकार।

अनुयुक्त–वि० [सं०] (१) जिसके संबंध में अनुयोग किया गया हो। जिसके विषय में कुछ प्रश्न किया गया हो। जिज्ञासित। (२) निंदित।

अनुयोग–संज्ञा पुं० [सं०] प्रश्न। जिज्ञासा। पूछ पाछ।

अनुयोजन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुयोजित, अनुयोज्य] पूछने की क्रिया। प्रश्न करना।

अनुयोजित–वि० [सं०] जिसके विषय में पूछपाछ की गई हो।

अनुयोज्य–वि० [सं०] (१) प्रष्टव्य। जिसके विषय में पूछ पाछ की आवश्यकता हो। (२) निंदनीय। बुरा।

अनुरंजन–संज्ञा पु० [सं०] (१) अनुराग। आसक्ति। प्रीति। (२) दिलबहलाव।

अनुरक्त–वि० [सं०] (१) अनुरागयुक्त। आसक्त। प्रेमयुक्त। (२) लीन।

अनुरत–वि० [सं०] लीन। आसक्त। अनुरागी। प्रिय।

अनुरति–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अनुरक्त] लीनता। आसक्ति। अनुराग। प्रीति।

अनुरस–संज्ञा पु० [सं०] गौण रस। अप्रधान रस। वह स्वाद जो किसी वस्तु में पूर्ण रूप से न हो।

अनुराग–संज्ञा पु० [सं०] [वि० अनुरागी] प्रीति। प्रेम। आसक्ति। प्यार। मुहब्बत।

अनुरागना–क्रि० स० [सं० अनुराग] प्रीति करना। प्रेम करना। आसक्त होना। उ०—अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप विलोकन लागे।—तुलसी।

अनुरागी–वि० [सं० अनुरागिन] [स्त्री० अनुरागिनी] अनुराग रखने वाला। प्रेमी।

अनुराध–संज्ञा पु० [सं०] बिनती। विनय। आराधन। प्रार्थना। याचना। उ०—मैं अपनी कुलकानि डरानी। कैसे श्याम अचानक आए, मैं सेवा नहिं जानी। वहै चूक जियजानि सखी सुन, मन लै गए चुराय। तन ते जात नहीं मैं जान्यों लियो श्याम अपनाय। ऐसे ढंग फिरत हरि घर घर भूलि कियो अपराध। सूर श्याम मन देहि न मेरो पुनि करिहौं अनुराध।—सूर।

अनुराधना–क्रि० स० [सं० अनुराध] विनय करना। बिनती करना। मनाना। प्रार्थना करना। उ०—कान्ह बलि जाऊँ ऐसी आरि न कीजै। जोइ जोइ भावै सोइ सोइ लीजै।...मैं आजु तुम्हे गहि बाँधौं। हाहा करि करि अनुराधौं।—सूर।

अनुराधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] २७ नक्षत्रों में १७ वाँ नक्षत्र। यह सात तारों के मिलने से सर्पाकार है।

विशेष–"भादौं सुकल छट्ठ को जो अनुराधा होय, ताता संवत यों जुड़े, भूखा रहै न कोय।" यह नक्षत्र बहुत शुभ और मांगलिक समझा जाता है।

अनुरूप–वि० [सं०] [संज्ञा अनुरूपता] (१) तुल्य रूप का। सदृश। समान। सरीखा। (२) योग्य। अनुकूल। उपयुक्त। उ०—पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग वर माँगा।—तुलसी।

अनुरूपक–संज्ञा पु० [सं०] प्रतिमा। प्रतिमूर्त्ति। उ०—सोभियत दंत रुचि सुभ्र उर आनिये। सत्य जनरूप अनुरूपक बखानिये।—केशव

अनुरूपता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समानता। सादृश्य। (२) अनुकूलता। उपयुक्तता।

अनुरोध–संज्ञा पु० [सं०] (१) रुकावट। बाधा। उ०—सदल सलषन हैं कुसल कृपाल कोसल राउ। सील सदन सनेह सागर सहज सरल सुभाउ। नींद भूख न देवरहि परिहरे को पछिताउ। धीरधुर रघुबीर को नहिँ सपनेहूँ चित चाउ। सोधु विन, अनुरोधु ऋतु को बोध विहित उपाउ।—तुलसी।

(२) प्रेरणा। उत्तेजना। उ०—सत्य के अनुरोध से मुझे यह कहनाही पड़ता है। (३) आग्रह। दबाव। विनयपूर्वक किसी बात के लिए हठ। उ०—उसका अनुरोध है कि मैं अँगरेज़ी भी पढ़ूँ।

अनुलेपन–संज्ञा पु० [सं०] (१) लेपन। किसी तरल वस्तु की तह चढ़ाना। (२) सुगंधित द्रव्यों वा औषधों का मर्दन। उबटन करना। बटना। लगाना। (३) लीपना। पोतना।

अनुलोम–संज्ञा पु० [सं०] (१) ऊँचे से नीचे की ओर आने का क्रम। उतार का सिलसिला। (२) उत्तम से अधम की ओर आता हुआ श्रेणी-क्रम। (३) संगीत में सुरों का उतार। अवरोही।

यौ०–अनुलोम विवाह।

अनुलोम विवाह–संज्ञा पु० [सं०] उच्च वर्ण के पुरुष का अपने से किसी नीच वर्ण की स्त्री के साथ विवाह। जैसे ब्राह्मण का क्षत्रिया वैश्या वा शूद्रा से, क्षत्रिय का वैश्या वा शूद्रा से और वैश्य का शूद्रा से विवाह। ऐसे संबंध से जो संतति होती है वह "अनुलोम संकर" कहलाती है।

अनुलोमज–वि० [सं०] [स्त्री० अनुलोमजा] वह (संतान) जो अनुलोम विवाह से उत्पन्न हो।

अनुलोमन–संज्ञा पु० [सं०] वह औषध जो पेट में पड़े हुए गोटों को ढीला कर गिरा दे। कोष्ठबद्ध को दूर करनेवाली रेचक वा भेदक औषध।

अनुवत्सर–संज्ञा पु० [सं०] ज्योतिष के अनुसार जो पाँच वर्षों का युग होता है उसका चौथा वर्ष।

क्रि० वि० प्रतिवर्ष। सालाना।

अनुवर्त्तन–संज्ञा पु० [सं०] (१) अनुसरण। अनुगमन। (२) अनुकरण। समान आचरण। (३) किसी नियम का कई स्थानों पर बार बार लगना।

अनुवर्त्ती–वि० [सं० अनुवर्त्तिन] [स्त्री० अनुवर्त्तिनी] अनुसरण करनेवाला। अनुसार बरताव करनेवाला। अनुयायी। अनुगामी। पैरवी करनेवाला।

अनुवा–संज्ञा पु० [सं० अनूप=जल युक्त] (१) कुएँ के जगत का वह भाग जहाँ खड़े होकर पानी खींचते हैं। (२) पानी निकालने के लिये खोदा हुआ गड्ढा। चौंड़ा। चोआ। (३) ताल के पास का वह स्थान जहाँ से टोकरी वा दौरी के द्वारा

खेत सींचने के लिये पानी ऊपर फेंकते हैं । चौना ।

संज्ञा पुं० [सं० एनम्] व्यभिचार-दोष ।

अनुवाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्रंथ-विभाग । ग्रंथावयव । ग्रंथ-खंड । अध्याय वा प्रकरण का एक भाग । (२) वेद के अध्याय का एक अंश ।

अनुवाचन-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञों में विधि के अनुसार मंत्रों का पाठ ।

अनुवाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुनरुक्ति । पुनर्कथन । दोहराना । (२) भाषांतर । उल्था । तर्जुमा । (३) न्याय के अनुसार वाक्य का वह भेद जिसमें कही हुई बात का फिर फिर स्मरण और कथन हो । जैसे 'अन्न पकाओ, पकाओ, पकाओ, शीघ्र पकाओ, हे प्रिय ! पकाओ' । इसके दो भेद हैं—जहाँ विधि का अनुवाद हो वहाँ शब्दानुवाद और जहाँ विहित का हो वहाँ अर्थानुवाद होता है । (४) मीमांसा के अनुसार वाक्य के विधि प्राप्त आशय का दूसरे शब्दों में समर्थन के लिये कथन । यह तीन प्रकार का है-(क) भूतार्थानुवाद, जिस में आशय की पुष्टि के लिये भूतकाल का उल्लेख किया जाय, जैसे पहिले सत् ही था । (ख) स्तुत्यर्थानुवाद, जैसे, वायु ही सब से बढ़ कर फेंकनेवाला देवता है । (ग) गुणानुवाद, जैसे दही से हवन करे ।

अनुवादक-संज्ञा पुं० [सं०] अनुवाद करनेवाला । भाषांतर करनेवाला । उल्था करनेवाला ।

अनुवादित-वि० [सं०] अनुवाद किया हुआ ।

अनुवादी-वि० [सं०] संगीत में स्वर का एक भेद जिसकी किसी राग में आवश्यकता न हो और जिसके लगाने से राग अशुद्ध हो जाय ।

अनुवासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वस्त्रादि को सुगंधित करना । महकाना । (२) सुश्रुत के अनुसार पिचकारी के द्वारा तरल औषध शरीर के भीतर पहुँचाना । अनिमा ।

अनुवासनवस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुगंधित करने का यंत्र । पिचकारी । (२) शरीर के भीतर तरल औषध पहुँचाने की पिचकारी ।

अनुवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी पद के पहिले अंश से कुछ वाक्य उसके पिछले अंश में अर्थ को स्पष्ट करने के लिये लाना, जैसे राम घर गए हैं और गोविंद भी (घर गए हैं) ।

अनुवेश्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह ब्राह्मण जो मंगल वा शांतिकर्म करनेवाले से एक घर के अंतर पर रहता हो । मनु ने किसी मंगल वा शांतिकर्म में ऐसे ब्राह्मण को भोजन कराने का निषेध किया है ।

अनुशय-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुशयी] (१) पूर्व द्वेष । पुराना वैर । अदावत । (२) झगड़ा । वादविवाद । कहा-सुनी । गर्मागर्मी ।

यौ०-क्रीतानुशय=वे नियम जो क्रय विक्रय के झगड़े से संबंध रक्खे । नारद स्मृति में ये बड़े विस्तार के साथ कहे गए हैं ।

अनुशयाना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परकीया नायिका का एक भेद । वह नायिका जो अपने प्रिय के मिलने के स्थान के नष्ट हो जाने से दुखी हो । यह तीन प्रकार की होती है—(क) संकेत-विघट्टना—वर्त्तमान संकेत नष्ट होने से दुखी । (ख) भावि संकेत-नष्टा—भावी संकेत के नष्ट होने की संभावना से संतापित और (ग) रमण-गमना—मिलने के स्थान पर प्रिय गया होगा और मैं नहीं पहुँच सकी, यह अनुमान कर जो दुखित हो ।

अनुशयी-वि० [सं०] (१) वैरी । द्वेषी । (२) झगड़ालू । (३) पश्चात्तापयुक्त । पछतानेवाला (४) चरणों पर पड़ कर प्रणाम करनेवाला । (५) अनुरक्त । लीन । आसक्त ।

संज्ञा स्त्री० रोग विशेष । एक प्रकार की फुंसी जो पैर में होती है ।

अनुशर-संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस ।

अनुशासक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आज्ञा देनेवाला । आदेश देनेवाला । हुक्म देनेवाला । (२) उपदेष्टा । शिक्षक । (३) देश वा राज्य का प्रबंध करनेवाला । हुकूमत करनेवाला ।

अनुशासन-संज्ञा पुं० [सं०][वि० अनुशासक, अनुशासनीय, अनुशासित] (१) आदेश । आज्ञा । हुक्म । (२) उपदेश । शिक्षा । (३) व्याख्यान । विवरण । (४) महाभारत का एक पर्व ।

अनुशासनीय-वि० [सं०] (१) आज्ञा देने के योग्य । आदेश देने के योग्य । हुक्म देने के लायक़ । (२) उपदेश देने के योग्य । शिक्षा देने के योग्य । (३) प्रबंध करने के योग्य । हुकूमत करने के लायक़ ।

अनुशासित-वि० [सं०] (१) जिसको आज्ञा दी गई हो । जिसको आदेश दिया गया हो । जिसको हुक्म दिया गया हो । (२) उपदिष्ट । शिक्षित । (३) जिसका प्रबंध किया गया हो । जिस पर हुकूमत की गई हो ।

अनुशीलन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुशीलनीय, अनुशीलित] (१) चिंतन । मनन । विचार । आलोचन । (२) पुनः पुनः अभ्यास । आवृत्ति ।

अनुशीलनीय-वि० [सं०] (१) चिंतन करने के योग्य । मनन करने के योग्य । विचार वा आलोचना करने के योग्य । (२) अभ्यास करने के योग्य ।

अनुश्राविक-वि० [सं०] परंपरा से श्रुति द्वारा प्राप्त परलोक-विषयक (ज्ञान), जैसे स्वर्ग, देवता, अमृत इत्यादि का ।

अनुषंग-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनुषंगी, आनुषंगिक] (१) करुणा । दया । (२) संबंध । लगाव । साथ । (३) प्रसंग से एक वाक्य के आगे और वाक्य लगा लेना । जैसे, राम वन को गए और लक्ष्मण भी । इस पद में "भी" के आगे 'वन को

गए' वाक्य अनुषंग से समझ लिया जाता है। (४) न्याय में उपनय के अर्थ को निगमन में ले जाकर घटाना। किसी वस्तु में किसी और के तुल्य धर्म्म का स्थापन करके उसके विषय में कुछ निश्चय करना। उ०—घट आदि उत्पत्ति धर्म्म-वाले हैं। (उदाहरण) वैसे ही शब्द उत्पत्ति धर्म्मवाला है (उपनय), इसलिये शब्द अनित्य है (निगमन)।

अनुषंगी-वि० [सं०] संबंधी।

अनुष्टुप्-संज्ञा पु० [सं०] अष्टाक्षरपदी छंद। ३२ अक्षरों का एक वर्ण छंद जिसमें आठ आठ वर्ण के चार पद वा चरण होते हैं, प्रत्येक चरण का पाँचवाँ अक्षर सदा लघु और छठाँ सदा गुरु होता है तथा दूसरे और चौथे चरण में सातवाँ लघु होता है, बाकी के लिए कोई नियम नहीं। "छंदः प्रभाकर" के अनुसार ये छंद अनुष्टुप् हैं, माणवक्रीड़ा, प्रमाणिका, लक्ष्मी, विपुला, गजगति, विद्युन्माला, मल्लिका, तुंग, पद्म, वितान, रामा, नराचिका, चित्रपदा, और श्लोक। इनके लक्षण और भेद जुदे जुदे हैं।

अनुष्ठान-संज्ञा पु० [सं०] (१) कार्य्य का आरंभ। किसी काम का शुरू। (२) नियमपूर्वक कोई काम करना। (३) शास्त्रविहित कर्म करना। (४) किसी फल के निमित्त किसी देवता का आराधन। प्रयोग। पुरश्चरण।

अनुष्ण-वि० [सं०] जो गर्म न हो। ठंडा।
संज्ञा पुं० कमल।

अनुसंधान-संज्ञा पु० [सं०] [क्रि० अनुसंधानना] (१) पश्चाद् गमन। पीछे लगना। (२) अन्वेषण। खोज। ढूँढ़। जाँच पड़ताल। तलाश। तहक़ीक़ात। (३) चेष्टा। प्रयत्न। कोशिश।

अनुसंधानना*-क्रि० स० [सं० अनुसंधान] (१) खोजना। ढूँढ़ना। (२) सोचना। विचारना। उ०—हृदय न कछु फल अनुसंधाना। भूप विवेकी परम सुजाना।—तुलसी।

अनुसंधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुप्त परामर्श। अंतरंग मंत्रणा। भीतरी बातचीत। षड् चक्र।

अनुसयना-संज्ञा स्त्री० दे० "अनुशयाना"।

अनुसर*-वि० दे० "अनुसार।"

अनुसरण-संज्ञा पु० [सं०] [क्रि० अनुसरना, अनुसारना] (१) पीछे चलना। साथ साथ चलना। (२) अनुकरण। नक़ल। (३) अनुकूल आचरण।

अनुसरना*-क्रि० स० [सं० अनुसरण] (१) पीछे चलना। साथ साथ चलना। उ०—जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाहीं।—तुलसी।
(२) अनुकरण करना। नक़ल करना। उ०—कहहु सो प्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई।—तुलसी।

अनुसार-क्रि० वि० [सं०] अनुकूल। सदृश। समान। मुआफ़िक़। उ०—मैंने आप की आज्ञा के अनुसार ही कार्य्य किया है।
विशेष—यह शब्द संस्कृत में संज्ञा है पर हिंदी में इसका प्रयोग क्रिया विशेषणवत् ही होता है।

अनुसारना-क्रि० स० [सं० अनुसरण] (१) अनुसरण करना। अनुकूल आचरण करना। (२) आचरण करना। उ०—ऐसे जनम करम के ओछे ओछे ही अनुसारत।—सूर। (३) कोई कार्य्य करना।
विशेष—कवि लोग यौगिक क्रिया बनाने में प्रायः किसी भी संज्ञा शब्द के साथ इस क्रिया को जोड़ देते हैं। उ०—(क) तब ब्रह्मा विनती अनुसारी।—सूर। (ख) ताते कछुक बात अनुसारी। छमिय देखि बड़ि चूक हमारी।—तुलसी। (ग) सादर सिंहासन बैठारी। तिलक सारि अस्तुति अनुसारी।—तुलसी। (घ) काँपि रहै छिन सोवत हूँ कछु भाखिबो मूँ अनुसारि रही है।—पद्माकर। (च) नींद भूख प्यास ताहि आधी ह्व रही न तन, आधे ह्व न आखर सकत अनुसारि कै।—देव। (छ) तेरे तीर जौं लौं एक लहर निहारियत, तौं लौं कैयो लक्ष सूक्ष्म लहरन धारती। कहै पद्माकर चहौं जो बरदान तौ लौं कैयो बरदानन के गान अनुसारती।—पद्माकर।

अनुसारी*-वि० [सं०] अनुसरण करनेवाला। अनुकरण करनेवाला।

अनुसाल-संज्ञा पु० [सं० अनु+हिं० सालना] वेदना। पीड़ा। उ०—यहाँ और कासों कहिहौं गरुड़गामी। मधुकैटभ मथन, मुर भौम केशी-भिदन, कंस-कुल-काल, अनुसाल-हारी।—सूर।

अनुसृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुसरण। पीछे जाना। (२) नक़ल। पैरवी।

अनुस्नान-संज्ञा पु० [सं०] शिव पर चढ़े निर्माल्य को धारण करना। (पाशुपत-दर्शन)

अनुस्यूत-वि० [सं०] (१) सीया हुआ। (२) पिरोया हुआ। (३) ग्रंथित। गूँथा हुआ। (४) संबद्ध। श्रेणीबद्ध। सिलसिलेवार।

अनुस्वार-संज्ञा पु० [सं०] (१) स्वर के पीछे उच्चारण होनेवाला एक अनुनासिक वर्ण, जिसका चिह्न (ं) है। निगृहीत इसे आश्रयस्थानभागी भी कहते हैं क्योंकि जिस स्वर के पीछे यह लगेगा उसी का सा उच्चारण इसका होगा। (२) स्वर के ऊपर की बिंदी।

अनुहरण-संज्ञा पु० [सं०] अनुकरण। नक़ल।

अनुहरत-वि० [क्रि० स० अनुहरना का कृदंत रूप] (१) अनुसार। अनुरूप। समान। उ०—(क) दंभ सहित कलि धरम सब, छल समेत व्यवहार। स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत

अचार ।—तुलसी । (ख) बालक सीय के विहरत मुदित मन दोउ भाइ । नाम लव कुश राम सिय अनुहरत सुन्दरताइ । —तुलसी । (२) उपयुक्त । योग्य । अनुकूल । उ०—(क) अब तुम विनय मोरि सुनि लेहू । मोहि अनुहरत सिखावन देहू ।—तुलसी । (ख) तनु अनुहरत सुचंदन खोरी । श्यामल गौर मनोहर जोरी ।—तुलसी । (ग) मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूखनि भरनि ।—तुलसी ।

अनुहरना*–क्रि० स० [सं० अनुहरण] अनुकरण करना । आदर्श पर चलना । नकल करना । समानता करना । उ० —सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही । नीच मीचु सम देखु न मोही ।—तुलसी ।

अनुहरिया*‡–वि० [सं० अनुहार] समान । तुल्य ।
संज्ञा स्त्री० आकृति । मुखानी । उ०—भाल तिलक सर, सोहत भौंह कमान । मुख अनुहरिया केवल चंद समान ।—तुलसी ।

अनुहार–वि० [सं०] सदृश । तुल्य । समान । एकरूप । उ०—(क) खंजन नैन बीच नासा पुट राजत यह अनुहार । खंजन युग मनो लरत लराई कीर बुझावत रार ।—सूर । (ख) संपति विपति जो मरन हूँ, सदा एक अनुहार । ताको सुकिया जानिए, मन क्रम वचन बिचार ।—केशव ।
संज्ञा स्त्री० (१) रूप । भेद । प्रकार । उ०—मुग्धा मध्या प्रौढ़ गनि, तिनके तीनि विचार । एक एक की जानिए, चार चार अनुहार ।—केशव । (२) मुखानी । आकृति ।

अनुहारक–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० अनुहारिका] अनुकरण करने वाला । नकल करनेवाला । सदृश कर्म करनेवाला ।

अनुहारना*–क्रि० स० [सं० अनुहारण] तुल्य करना । सदृश करना । समान करना । उ०—देखु री ! हरि के चंचल तारे । कमल मीन को कहाँ इती छबि खंजन हू न जात अनुहारे ।—सूर ।

अनुहारि*–वि० स्त्री० [सं० अनुहार] (१) समान । सदृश । तुल्य । बराबर । उ०—(क) गिरि समान तम अगम अति, पन्नग की अनुहारि । हम देखत पल एक में, मारयो दनुज प्रचारि । —सूर । (ख) चुनरी स्याम सतार नभ, मुख ससि की अनुहारि । नेह दबावत नींद लौं निरखि निसा सी नारि । —बिहारी । (२) योग्य । उपयुक्त । उ०—बर अनुहारि बरात न भाई । हँसी करइहउ परपुर जाई ।—तुलसी । (३) अनुसार । अनुकूल । मुताबिक़ । उ०—(क) सुकवि कुकवि निज मति अनुहारी । नृपहि सराहत सब नर नारी । —तुलसी । (ख) कहि मृदु वचन विनीत तिन्ह, बैठारे नर नारि उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि ।—तुलसी ।
विशेष—इस विशेषण का लिंग भी "नाईं" के समान है अर्थात् यह शब्द संज्ञा पुं० और संज्ञा स्त्री० दोनों का विशेषण होता है ।
संज्ञा स्त्री० आकृति । चेहरा । उ०—(क) सकल मलिन मन दीन दुखारी । देखी सासु आन अनुहारी—तुलसी । (ख) ज्यों मुख मुकुर बिलोकिये चित न रहै अनुहारि । त्यों सेवतहु निरापने मातु पिता सुत नारि ।—तुलसी ।

अनुहारी–वि० [सं० अनुहारिन्] [स्त्री० अनुहारिणी] अनुकरण करनेवाला । नकल करनेवाला ।

अनूक–संज्ञा पु० [सं०] (१) गत जन्म । पूर्व जन्म । (२) कुल । वंश । ख़ानदान । (३) शील । स्वभाव । (४) पीठ की हड्डी । रीढ़ । (५) मेहराब के बीच की ईंट । कीली । (६) यज्ञ की वेदी बनाने के लिए ईंट उठाने की खँचिया ।

अनूचान–संज्ञा पु० [सं०] (१) वह जो वेद वेदांग में पारंगत होकर गुरुकुल से आया हो । स्नातक । (२) विद्या-रसिक । (३) चरित्रवान् ।

अनूजरा*–वि० [सं० अन्+उज्वल] जो उजला वा साफ न हो । मैला । उ०—साउय साछी पूतरी अनूजरी अरु ऊजरी ह्वै देखि रागी त्यागी ललचात जनजात है—निश्चल ।

अनूठा–वि० [सं० अनुत्थ, प्रा० अनुट्ठ] [स्त्री० अनूठी] (१) अपूर्व । अनोखा । विचित्र । विलक्षण । अद्भुत । (२) सुंदर । अच्छा । बढ़िया ।

अनूठापन–संज्ञा पु० [हिं० अनूठा+पन (प्रत्य०)] (१) विचित्रता । विलक्षणता । विशेषता । (२) सुंदरता । अच्छापन ।

अनूढ़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] बिना ब्याही स्त्री जो किसी पुरुष से प्रेम रखती हो ।

अनूतर*–वि० [सं० अनुत्तर] [स्त्री० अनूतरी] (१) निरुत्तर । क़ायल । (२) चुपचाप बैठनेवाला । मौन धारण करनेवाला । उ०—बैठी फिर पूतरी अनूतरी फिरंग कैसी, पीठ दै प्रवीनी दग दगन मिलैं अनिंद ।—पद्माकर ।

अनूदित–वि० [सं०] (१) कहा हुआ । वर्णन किया हुआ । (२) अनुवादित । तर्जुमा किया हुआ । भाषांतरित ।

अनून–वि० [सं०] [स्त्री० अनूनी] (१) अखंड । पूर्ण । पूरा । समग्र । (२) अन्यून । अधिक । ज्यादा । बहुत ।

अनूप–वि० [सं०] जलप्राय । जहाँ जल अधिक हो ।
संज्ञा पुं० (१) जलप्राय देश । वह स्थान जहाँ जल अधिक हो । (२) भैंस ।
वि० [सं० अनुपम] (१) जिसकी उपमा न हो । अद्वितीय । बेजोड़ । उ०—(क) कबीर रामानंद को सतगुरु भए सहाय । जग में जुगुत अनूप है सो सब दई बताय ।—कबीर । (ख) जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा । फिर नहिं आइ सहै यह धूपा । —जायसी । (ग) अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुवासा ।—तुलसी ।
(२) सुंदर । अच्छा । उ०—ज्यों घर बर कुल होइ अनूपा । करिय विवाह सुता अनुरूपा ।—तुलसी ।

अनूरू-वि० [सं०] ऊरुहीन। जिसे जाँघ न हो।
संज्ञा पुं० सूर्य्य का सारथी, अरुण।

अनूह-वि० [सं०] जिस पर विचार न हो सके। अतर्कनीय।

अनृण-वि० [सं०] जो ऋणी न हो। जिसे क़र्ज़ न हो।

अनृत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिथ्या। असत्य। झूठ। (२) अन्यथा। विपरीत। उ०—तोहिं श्याम हम कहा देखावैं। अमृत कहा अनृत गुण प्रगटै सो हम कहा बतावैं।—सूर।

अनेक-वि० [सं०] एक से अधिक। बहुत। ज़्यादा। असंख्य। अनगिनत।
यौ०—अनेकानेक।

अनेकलोचन-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

अनेकांत-वि० [सं०] (१) जो एकांत न हो। (२) जो स्थिर न हो। चंचल।

अनेकांतवाद-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अनेकांतवादी] जैनदर्शन। स्याद्वाद। आर्हतदर्शन।

अनेकाच्-वि० [सं०] जिसमें बहुत से अच् हों। बहुत से स्वरों से संयुक्त। (शब्द वा वाक्य) जिसमें बहुत से स्वर हों।

अनेकार्थ-वि० [सं०] जिसके बहुत से अर्थ हों।

अनेकाल्-वि० [सं०] जिसमें बहुत से अक्षर हों।

अनेग*-वि० [सं० अनेक] बहुत। अधिक। ज़्यादा। उ०—(क) बड़ गुनवंत गोसाईं चहइ सँवारइ वेगा। औ असगुनी सँवारइ जो गुन करइ अनेगा।—जायसी। (ख) मंडप के मंडल में मंडित बधू वर को कंकण छुटावै छौना छूटत अहिनि के। रोकि रहे द्वार नेग माँगन अनेग नेगी बोलत न खाल ब्याल खोलत खहिनि के।—देव। (ग) चंचल खुर खूँदै, गिरि गण मूँदै, लसत रेणु कण जाल। सीखनि गति वेगनि, लगे अनेगनि जनु जनि चित्त रसाल।—मतिराम।

अनेरा-वि० [सं० अनृत] [स्त्री० अनेरी] (१) झूठ। व्यर्थ। निष्प्रयोजन। उ०—अरी ग्वारि मैमंत ? वचन बोलत जो अनेरो। कब हरि बालक भये, गर्भ कब लियो बसेरो।—सूर। (२) झूठा। अन्यायी। दुष्ट। निकम्मा। उ०—तोहि स्याम की सपद जसोदा आइ देखु गृह मेरो। जैसी हाल करी यहि ढोटो छोटो निपट अनेरो।—तुलसी।
क्रि० वि० व्यर्थ। उ०—सुनहु स्याम रघुवीर गोसाईं मन अनीति रत मेरो। चरन सरोज बिसारि तुम्हारो निस दिन फिरत अनेरो।—तुलसी।

अनेह*-संज्ञा पुं० [सं० अस्नेह] अप्रेम। अप्रीति। विरक्ति।

अनेहा-संज्ञा पुं० [सं०] समय। काल। वक्त।

अनै*-संज्ञा पुं० दे० "अनय"।

अनैकांतिक हेतु-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय के पाँच हेत्वाभासों में से एक। वह हेतु जो साध्य का एक मात्र साधनभूत न हो। वह बात जिससे किसी वस्तु की एकांतिक सिद्धि न हो। सव्यभिचार हेत्वाभास। जैसे कोई कहे कि शब्द नित्य है क्योंकि वह स्पर्शवाला नहीं है, यहाँ घट आदि स्पर्शवाले पदार्थों को अनित्य देख कर अस्पृश्यता को नित्यता का एक हेतु मान लिया है। पर परमाणु जो स्पर्श वाले हैं नित्य हैं। अतः इस हेतु में व्यभिचार आगया।

अनैक्य-संज्ञा पुं० [सं०] ऐक्य वा एकता का अभाव। एका का न होना। मतभेद। नाइत्तफ़ाक़ी। फूट।

अनैठ†-संज्ञा पुं० [सं० अन्=नहीं+पण्यस्थ, पा० पअट्ठ, हिं० पैंठ] वह दिन जिसमें बाज़ार बंद रहे। 'पैंठ' का उलटा।

अनैश्वर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐश्वर्य्य का अभाव। अप्रभुत्व। बड़ाई वा संपदा का न होना। (२) अनीश्वरता। सिद्धियों की अप्राप्ति।

अनैस*†-संज्ञा पुं० [सं० अनिष्ट] [क्रि० अनैसना] बुराई। अहित।
वि० बुरा। उ०—आह दइव मैं काह नसावा। करत नीक फल अनइस पावा।—तुलसी।
क्रि० प्र०—मानना=बुरा मानना। रूठना।

अनैसना*-क्रि० अ० [हिं० अनैस] बुरा मानना। रूठना। उ०—मोते नैन गए री ऐसे। देखे बधिक पींजरा ते खग छूटि भजत हैं जैसे।.........श्यामरूप बन माँझ समाने मों पै रहे अनैसे।—सूर।

अनैसा*-वि० [हिं० अनैस] [स्त्री० अनैसी] जो इष्ट न हो। अप्रिय। बुरा। ख़राब। उ०—(क) जन्म सिरानो ऐसे ऐसे। कै घर घर भरमत यदुपति बिन, कै सोवत कै वैसे। कै कहुँ खान पान रसनादिक, कै कहुँ बाद अनैसे।—सूर। (ख) पापिन परम ताड़का ऐसी। मायाविनि अति अदय अनैसी।—पद्माकर।

अनैसे-क्रि० वि० [हिं० अनैस] बुरे भाव से। बुरी तरह से। उ०-(क) कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे।—तुलसी। (ख) छोर छोर बाँधैं पाग आरस सों आरसी लै अनत ही आन भाँति देखत अनैसे हो।—केशव।

अनैहा*-संज्ञा पुं० [हिं० अनैस] उत्पात। उपद्रव। उ०—लाल यह चंदा लै लौ हो। कमलनयन बलि जाइ जशोदा नीचे नैक चितै हो। जा कारण सुन सुत सुंदर वर कीन्हों इतो अनैहो। सोई सुधाकर देखि दमोदर या भाजन में है, हो!—सूर।

अनोकह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो अपना स्थान न छोड़े। (२) वृक्ष। पेड़।

अनोखा-वि० [सं० अन्=नहीं+ईक्ष=देखना] [स्त्री० अनोखी, संज्ञा अनोखापन] (१) अनूठा। निराला। विलक्षण। अद्भुत। विचित्र। (२) नूतन। नया। (३) सुंदर। खूबसूरत।

अनोखापन-संज्ञा [हिं० अनोखा+पन (प्रत्य०)] अनूठा-

पन। निरालापन। विलक्षणता। अद्भुतता। विचित्रता। (२) नूतनत्व। नयापन। (३) सुंदरता। खूबसूरती।

अनोदयनाम–संज्ञा पुं० [सं०] जैनमत के अनुसार वह पाप-कर्म जिसके उदय से मनुष्य की बात कोई नहीं मानता।

अनौचित्य–संज्ञा पुं० [सं०] उचित बात का अभाव। अनुपयुक्तता।

अनौट*–संज्ञा पुं० दे० "अनवट"।

अन्न–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खाद्य पदार्थ। (२) अनाज। नाज। धान्य। दाना। गल्ला। (३) पकाया हुआ अन्न। भात।

यौ०—अन्नकूट। पक्वान्न। अन्न जल। उ०—तुम्हारे यहाँ हम अन्न जल नहीं ग्रहण करेंगे।

(४) वह जो सब को भक्षण वा ग्रहण करे। (५) सूर्य्य। (६) विष्णु। (७) पृथ्वी। (८) प्राण। (९) जल।

मुहा०—अन्न मिट्टी होना=खाना पीना हराम होना। उ०—जेहि दिन वह छेकै गइ घाटी। होइ अन्न ओही दिन माटी। —जायसी।

* वि० [सं० अन्य] दूसरा। विरुद्ध। उ०—जो विधि लिखा अन्न नहिं होई। कित धावैं कित रोवै कोई।—जायसी।

अन्नकूट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्न का पहाड़ वा ढेर। (२) एक उत्सव जो कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा पर्य्यंत यथारुचि किसी दिन विशेषतः प्रतिपदा को वैष्णवों के यहाँ होता है, उस दिन नाना प्रकार के भोजनों की ढेरी लगा कर भगवान को भोग लगाते हैं।

अन्नकोष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्न रखने का स्थान वा कोठरी। कोठिला। (२) गंज। गोला। बखार।

अन्नछेत्र †–संज्ञा पुं० दे० "अन्नसत्र"।

अन्नजल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाना-पानी। खाना-पानी। खान-पान।

क्रि० प्र०—त्यागना वा छोड़ना=उपवास करना।

(२) आबदाना। जीविका।

क्रि० प्र०—उठना=जीविका का न रहना। उ०—अब यहाँ से हमारा अन्न-जल उठ गया।

(३) संयोग। इत्तिफ़ाक़। उ०—जहाँ का अन्न-जल होगा वहाँ चले ही जायँगे।

अन्नद–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अन्नदा] अन्नदाता। प्रतिपालक। रक्षक। पोषक।

अन्नदाता–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अन्नदात्री] (१) अन्नदान करनेवाला। (२ पोषक। प्रतिपालक।

अन्नदोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्न से उत्पन्न विकार। जैसे, दूषित अन्न खाने से रोग इत्यादि का होना। (२) निषिद्ध स्थान वा व्यक्ति का अन्न खाने से उत्पन्न दोष वा पाप।

अन्नद्रव-शूल–संज्ञा पुं० [सं०] पेट का वह दर्द जो सदा बना रहे, चाहे अन्न पचे या न पचे और जो पथ्य करने पर भी शांत न हो। लगातार बनी रहनेवाली पेट की पीड़ा।

अन्नद्वेष–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अन्नद्वेषी] अन्न में रुचि न होना। अन्न में अरुचि। भूख न लगना।

अन्नपूर्णा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अन्न की अधिष्ठात्री देवी। दुर्गा का एक रूप। ये काशी की प्रधान देवी हैं।

अन्नप्राशन–संज्ञा पुं० [सं०] बच्चों को पहिले पहिल अन्न चटाने का संस्कार। चटावन। पसनी। पेहनी।

विशेष–स्मृति के अनुसार छठें वा आठवें महीने बालक को और पाँचवें वा सातवें महीने बालिका को पहिले पहिल अन्न चटाना चाहिए।

अन्नमय कोश–संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत के अनुसार पंचकोशों में से प्रथम। अन्न से बना हुआ त्वचा से लेकर वीर्य्य तक का समुदाय। स्थूल शरीर। बौद्ध शास्त्रानुसार रूपस्कंद।

अन्नमल–संज्ञा पुं० [सं०] यव आदि अन्नों से बनी शराब।

अन्नविकार–संज्ञा पुं० [सं०] अन्न का परिवर्तित रूप। अन्न पचने से क्रमशः बने हुए रस, रक्त मांस, मज्जा, चरबी, हड्डी और शुक्र आदि।

अन्नसत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ भूखों को भोजन दिया जाता है।

अन्ना–स्त्री० [सं० अग्नि] एक छोटी अंगीठी वा बोरसी जिसमें सुनार सोना आदि रखकर भाथी के द्वारा तपाते वा गलाते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं० अम्ब] दाई। धाय। धात्री। दूध पिलाने-वाली स्त्री।

अन्नाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो सब को ग्रहण करे। ईश्वर। (२) विष्णु के सहस्र नामों में से एक।

वि० अन्न खानेवाला। अन्नाहारी।

अन्य–वि० [सं०] दूसरा। और कोई। भिन्न। ग़ैर। पराया।

यौ०—अन्यजात। अन्यमनस्क। अन्यान्य। अन्योन्य।

अन्यच्च–क्रि० वि० [सं०] और भी।

अन्यतः–क्रि० वि० [सं०] (१) किसी और से। (२) किसी और स्थान से। कहीं और से।

अन्यतोपाक–संज्ञा पुं० [सं०] दाढ़ी, कान, भौं इत्यादि में वायु के प्रवेश होने के कारण आँखों की पीड़ा।

अन्यत्र–वि० [सं०] और जगह। दूसरी जगह।

अन्यत्वभावना–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनशास्त्रानुसार जीवात्मा को शरीर से भिन्न समझना।

अन्यथा–वि० [सं०] (१) विपरीत। उलटा। विरुद्ध। और का और। (२) असत्य। झूठ।

अव्य० नहीं तो। उ०—आप समय पर आइए, अन्यथा हमसे भेंट न होगी।

अन्यथानुपपत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी वस्तु के अभाव में किसी दूसरी वस्तु की उपपत्ति वा अस्तित्व की असंभावना।—

जैसे, मोटा देवदत्त दिन को नहीं खाता। इस कथन से इस बात का अनुमान होता है वा प्रमाण मिलता है कि देवदत्त रात को खाता है क्योंकि बिना खाए मोटा होना असंभव है। न्याय में यह अनुमान के अंतर्गत और मीमांसा में अर्थापत्ति प्रमाण के अंतर्गत है।

अन्यथासिद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] न्याय में एक दोष जिसमें यथार्थ नहीं किंतु और कोई कारण दिखाकर किसी बात की सिद्धि की जाय। असंबद्ध कारण से सिद्धि। जैसे, कहीं कुम्हार, दंड वा गधे को देख कर यह सिद्ध करना कि वहाँ घट है।

अन्यदेशीय-वि० [सं०] [स्त्री० अन्यदेशीया] विदेशी। दूसरे देश का। परदेशी।

अन्य पुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरा आदमी। ग़ैर। (२) व्याकरण में पुरुषवाची सर्वनाम का तीसरा भेद। वह पुरुष जिसके संबंध में कुछ कहा जाय। यह दो प्रकार का है—निश्चयात्मक जैसे 'यह' 'वह' और अनिश्चयात्मक जैसे 'कोई'।

अन्यपुष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अन्यपुष्टा] वह जिसका पोषण अन्य के द्वारा हुआ हो। कोकिल। कोयल। काकपाली।

विशेष—ऐसा कहा जाता है कि कोयल अपने अंडों को सेने के लिये कौवों के घोसलों में रख आती है।

अन्यपूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कन्या जो एक को ब्याही जाकर वा वाग्दत्त होकर फिर दूसरे से ब्याही जाय। इसके दो भेद हैं—पुनर्भू और स्वैरिणी।

अन्यमन-वि० [सं०] अनमना। उदास। चिंतित।

अन्यमनस्क-वि० [सं०] वह जिसका जी कहीं न लगता हो। उदास। चिंतित। अनमना।

अन्यसंभोगदुःखिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नायिका जो अन्य स्त्री में संभोग के चिह्न देखकर और यह जान कर कि इस ने हमारे पति के साथ रमण किया है दुखित हो।

अन्यसुरतिदुःखिता-संज्ञा स्त्री० दे० 'अन्य-संभोग-दुखिता'।

अन्यापदेश-संज्ञा पुं० [सं०] वह कथन जिसका अर्थ साधर्म्य के विचार से कथित वस्तुओं के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं पर घटाया जाय। अन्योक्ति। उ०—हे पिक पंचम नाद को नहिं भीलन को ज्ञान। यहै रीझिबो मान तू जो न हनै हिय बान। यहाँ कोकिल और भील की बात कह कर मूर्ख दुर्जनों और गुणियों का स्वभाव दिखाया गया है।

अन्याय-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अन्यायी] (१) न्याय-विरुद्ध आचरण। अनीति। बेइंसाफ़ी। (२) अंधेर। अन्यथाचार। (३) जुल्म।

अन्यायी-वि० [सं० अन्यायिन्] अन्यथाचारी। अनुचित कार्य्य करनेवाला। दुराचारी। ज़ालिम।

अन्यारा*-वि० [सं० अ=नहीं+हिं० न्यारा] (१) जो पृथक् न हो। वह जो जुदा न हो। (२) अनोखा। निराला। (३) खूब। बहुत। उ०—बड़ बंस जग माह अन्यारा। छत्र धर्म धुर को रखवारा।—लाल।

अन्यून-वि० [सं०] जो न्यून न हो। जो कम न हो। काफ़ी। बहुत।

अन्येद्यु-क्रि० वि० [सं०] [वि० अन्येद्युक] दूसरे दिन।

अन्येद्युक-वि० [सं०] दूसरे दिन होनेवाला।

अन्येद्युःज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्वर जो बीच में एक एक दिन का अंतर देकर चढ़े। एकतरा ज्वर। अँतरिया बुखार।

अन्योक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कथन जिसका अर्थ साधर्म्य के विचार से कथित वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर घटाया जाय। अन्यापदेश। रुद्र आदि दो एक आचार्यों ने इसको अलङ्कार माना है। उ०—केती सोम कला करो, करो सुधा को दान। नहीं चंद्रमणि जो द्रवै, यह तेलिया पखान। यहाँ चंद्र और तेलिया पत्थर के बहाने गुणी और गुणग्राही अथवा सज्जन और दुर्जन की बात कही गई है।

अन्योदर्य-वि० [सं०] स्त्री० अन्योदर्या] दूसरे के पेट से पैदा। 'सहोदर' का उलटा।

अन्योन्य-सर्व० [सं०] परस्पर। आपस में।

संज्ञा पुं० वह काव्यालङ्कार जिसमें दो वस्तुओं की किसी क्रिया वा गुण का एक दूसरे के कारण उत्पन्न होना वर्णन किया जाय। उ०—सर की शोभा हंस है, राज-हंस की ताल। करत परस्पर हैं सदा, गुरुता प्रगट विशाल।

अन्योन्याभाव-संज्ञा पुं० [सं०] किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु न होना। जैसे—'घट पट नहीं हो सकता और पट घट नहीं हो सकता।'

अन्योन्याश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परस्पर का सहारा। एक दूसरे की अपेक्षा। (२) न्याय में एक वस्तु के ज्ञान के लिये दूसरी वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा। सापेक्ष ज्ञान। जैसे—सर्दी के ज्ञान के लिये गर्मी के ज्ञान की, और गर्मी के ज्ञान के लिये सर्दी के ज्ञान की आवश्यकता है।

अन्वक्ष-वि० [सं०] प्रत्यक्ष। साक्षात्।

क्रि० वि० (१) सामने। (२) पीछे। बाद। उपरांत।

अन्वय-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अन्वयी] (१) परस्पर संबंध। तारतम्य। (२) संयोग। मेल। (३) पद्यों के शब्दों को वाक्यरचना के नियमानुसार यथास्थान रखने का कार्य्य, जैसे—पहिले कर्त्ता फिर कर्म, और फिर क्रिया। (४) अवकाश। ख़ाली स्थान। (५) भिन्न भिन्न वस्तुओं को साधर्म्य के अनुसार एक कोटि में लाना। जैसे—चलने-फिरनेवाले मनुष्य, बैल, कुत्ता आदि को जङ्गम के अंतर्गत मानना। (६) कार्य्य कारण का संबंध। (७) वंश। ख़ानदान।

अन्वयी–वि० [सं०] (१) संबद्ध । (२) एक ही वंश का ।

अन्वर्थ–वि० [सं०] (१) अर्थ के अनुसार । (२) सार्थक । अर्थयुक्त ।

अन्वष्टका–संज्ञा स्त्री० [सं०] साग्नियों के लिये एक मातृक श्राद्ध जो अष्टका के अनंतर पूस, माघ, फागुन और कार की कृष्ण पक्ष की नवमी को होता है ।

अन्वाचय–संज्ञा पुं० [सं०] प्रधान या मुख्य काम करने के साथ साथ किसी अप्रधान कार्य्य को भी करने की आज्ञा । 'एक पंथ दो काज' की आज्ञा । जैसे—भिक्षा के लिये जाओ और यदि रास्ते में गाय मिले तो उसे भी हँकाते लाना ।

अन्वादेश–संज्ञा पु० [सं०] किसी को एक कार्य्य के किए जाने पर पुनः दूसरे कार्य्य के करने का आदेश वा उपदेश । जैसे—'इसने व्याकरण पढ़ा है, अब इसको साहित्य पढ़ाओ ।'

अन्वाधान–संज्ञा पु० [सं०] अग्न्याधान के उपरांत अग्नि को बनाए रखने के लिये उसमें ईंधन छोड़ने की क्रिया ।

अन्वाधि–संज्ञा पु० [सं०] किसी के हाथ में कोई वस्तु देकर कहना कि इसे अमुक (तीसरे) व्यक्ति को दे देना ।

अन्वाधेय–संज्ञा पु० [सं०] विवाह के पीछे जो धन स्त्री को उसके पिता वा पति के घर से मिले ।

अन्वाहार्य्य-श्राद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] मासिक श्राद्ध । वह सपिंड श्राद्ध जो अमावस्या के समीप किया जाता है । दर्श-श्राद्ध ।

अन्वाहित–वि० [सं०] (द्रव्य) जो एक के यहाँ अमानत रक्खा हो और वह उसे किसी और के यहाँ रख दे ।—स्मृति ।

अन्वित–वि० [सं०] युक्त । सहित । शामिल । मिला हुआ ।

अन्वीक्षण–संज्ञा पु० [सं०] (१) ध्यान से देखना । गौर । विचार । (२) खोज । अनुसंधान । तलाश ।

अन्वीक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ध्यानपूर्वक देखना । (२) खोज । ढूँढ़ । तलाश ।

अन्वेषक–वि० [सं०] [स्त्री० अन्वेषिका] खोजनेवाला । तलाश करनेवाला ।

अन्वेषण–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० अन्वेषणा वि० अन्वेषी, अन्वेषित, अन्वेष्टा] अनुसंधान । खोज । ढूँढ़ । तलाश ।

अन्वेषित–वि० [सं०] खोजा हुआ । ढूँढ़ा हुआ ।

अन्वेषी–वि० [सं० अन्वेषिन्] [स्त्री० अन्वेषिणी] खोजनेवाला । तलाश करनेवाला ।

अन्वेष्टा–वि० [सं०] [स्त्री० अन्वेष्ट्री] खोजनेवाला । तलाश करनेवाला ।

अन्हवाना*–क्रि० स० [हिं० नहाना] स्नान कराना । नहलाना ।

अन्हाना*†–क्रि अ० [सं० स्नानम्, प्रा० नहानं] स्नान करना । नहाना ।

अप्–संज्ञा पुं० [सं०] जल । पानी ।

अपंकिल–वि० [सं०] (१) पंकरहित । सूखा । बिना कीचड़ का । (२) शुद्ध । निर्मल ।

अपंग–वि० [सं० अपाङ्ग=हीनाग] (१) अंगहीन । न्यूनांग । (२) लँगड़ा । लूला । (३) काम करने में अशक्त । बेबस । असमर्थ ।

अप–उप० [सं०] उलटा । विरुद्ध । बुरा । अधिक । यह उपसर्ग जिस शब्द के पहिले आता है उसके अर्थ में निम्न लिखित विशेषता उत्पन्न करता है । (१) निषेध । उ०—अपकार । अपमान । (२) अपकृष्ट (दूषण) । उ०—अपकर्म । अपकीर्त्ति । (३) विकृति । उ०—अपकृष्टि । अपांग । (४) विशेषता । उ०—अपकलंक । अपहरण ।

सर्व० आप का संक्षिप्त रूप जो यौगिक शब्दों में आता है । उ०—अपस्वार्थी । अपकाजी ।

अपक–संज्ञा पु० [सं० अप=जल] पानी । जल ।—डिं० ।

अपकरण–संज्ञा पु० [सं०] अनिष्ट कार्य्य । दुष्टाचरण । दुराचार । बुरा बर्त्ताव ।

अपकरुण–वि० [सं०] निठुर । निर्दयी । बेरहम । कठोर-हृदय ।

अपकर्त्ता–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० अपकर्त्री] (१) हानि पहुँचानेवाला । हानिकारी । (२) बुरा काम करनेवाला । पापी ।

अपकर्म–संज्ञा पु० [सं०] बुरा काम । खोटा काम । कुकर्म । पाप । उ०—पति को धर्म इहै प्रतिपालै, युवती सेवा ही को धर्म । युवती सेवा तऊ न त्यागै, जो पति कोटि करै अपकर्म ।—सूर ।

अपकर्ष–संज्ञा पु० [सं०] (१) नीचे को खींचना । गिराना । (२) घटाव । उतार । कमी । (३) किसी वस्तु वा व्यक्ति के मूल्य वा गुण को कम समझना वा बतलाना । बेकदरी । निरादर । अपमान ।

अपकाजी–वि० [हिं० आप+काज] अपस्वार्थी । मतलबी । उ०—श्याम विरह बन माँझ हेरानी । अहंकारि लंपट अपकाजी संग न रह्यो निदानी । सूरश्याम बिनु नागरि राधा नागर चित्त भुलानी ।—सूर ।

अपकार–संज्ञा पु० [सं०] [वि० अपकारक, अपकारी] (१) अनिष्टसाधन । द्वेष । द्रोह । बुराई । अनुपकार । हानि । नुकसान । अनभल । अहित । उ०—मम अपकार कीन्ह तुम भारी । नारि बिरह तुम होब दुखारी ।—तुलसी । (२) अनादर । अपमान । (३) अत्याचार । असद्व्यवहार ।

अपकारक–वि० [सं०] (१) अपकार करनेवाला । क्षति पहुँचानेवाला । हानिकारी । (२) विरोधी । द्वेषी ।

अपकारी–वि० [सं० अपकारिन्] [स्त्री० अपकारिणी] (१) हानिकारक । बुराई करनेवाला । अनिष्ट साधक । (२) विरोधी । द्वेषी ।

अपकारीचार*–वि० [सं० अपकार+आचार] हानि पहुँचानेवाला । हानिकारी । विघ्नकारी । उ०—जे अपकारीचार, तिन्ह

कहँ गौरव मान्य बहु। मन क्रम बचन लबार, ते बकता कलिकाल महँ।—तुलसी।

अपकीरति*–संज्ञा स्त्री० दे० "अपकीर्त्ति"।

अपकीर्त्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अपयश। अयश। बदनामी। निंदा।

अपकृत्–वि० [सं०] (१) जिसका अपकार किया गया हो। जिसे हानि पहुँची हो। जिसकी बुराई की गई हो। (२) अपमानित। बदनाम। (३) जिसका विरोध किया गया हो। 'उपकृत' का उलटा।

अपकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपकार। हानि। बुराई। (२) अपमान। निंदा। बदनामी।

अपकृष्ट–वि० [सं०] [संज्ञा अपकृष्टता] (१) गिरा हुआ। पतित। भ्रष्ट। (२) अधम। नीच। निंद्य। (३) घृणित। बुरा। खराब।

अपकृष्टता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अधमता। नीचता। (२) बुराई। खराबी।

अपक्रम–संज्ञा पुं० [सं०] व्यतिक्रम। क्रमभंग। अनियम। गड़बड़। उलटपलट।

अपक्व–वि० [सं०] [संज्ञा अपक्वता] (१) बिना पका हुआ। कच्चा। (२) अनभ्यस्त। असिद्ध।

यौ०—अपक्व बुद्धि।

अपक्वता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पका हुआ न होना। कच्चापन। (२) अनभ्यस्तता। असिद्धता।

अपक्व कल्लुष–संज्ञा पुं० [सं०] शैवदर्शन के अनुसार सकल के दो भेदों में से एक। बद्धजीव जो संसार में बार बार जन्म ग्रहण करता है।

अपक्षपात–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपक्षपाती] पक्षपात का अभाव। न्याय। खरापन।

अपक्षपाती–वि० [सं० अपक्षपातिन्] [स्त्री० अपक्षपातिनी] पक्षपातरहित। न्यायी। खरा।

अपक्षिप्त–वि० [सं०] (१) अपक्षेपण की क्रिया द्वारा पलटाया या फेंका हुआ। (२) फेंका हुआ। गिराया हुआ। पतित।

अपक्षेपण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपक्षिप्त] (१) फेंकना। पलटाना। (२) गिराना च्युत करना। (३) पदार्थ-विज्ञान के अनुसार, प्रकाश, तेज और शब्द की गति में किसी पदार्थ से टकर खाने से व्यावर्त्तन होना। प्रकाशादि का किसी पदार्थ से टकरा कर पलटना। (४) वैशेषिक शास्त्रानुसार आकुंचन, प्रसारण आदि पाँच प्रकार के कर्मों में से एक।

अपगत–वि० [सं०] (१) पलायित। भागा हुआ। पलटा हुआ। (२) दूरीभूत। हटा हुआ। गत। (३) मृत। नष्ट।

अपगम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वियोग। अलग होना। (२) दूर होना। भागना।

अपगा–संज्ञा स्त्री० [सं०] नदी।

अपघन–वि० [सं०] मेघरहित। बिना बादल का।

संज्ञा पुं० अंग। शरीर। देह।

अपघात–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपघातक, अपघाती] (१) हत्या। हिंसा। (२) वंचना विश्वासघात। धोखा।

संज्ञा पुं० [हिं० अप=अपना+घात=मार] आत्महत्या। आत्मघात। उ०—(क) कहुरे कुँअर मोसे सत बाता। काहे लागि करसि अपघाता।—जायसी। (ख) लाजन को मारो राजा चाहैं अपघात कियो जियो नहिं जात भक्ति लेशहूँ न आयो है।—प्रिया।

अपघातक–वि० [सं०] (१) विनाश करनेवाला। घातक। (२) विश्वासघाती। वंचक। धोखा देनेवाला।

अपघाती–वि० [सं०] [स्त्री० अपघातिनी] (१) घातक। विनाशक। (२) विश्वासघाती। वंचक।

अपच–संज्ञा पुं० [सं०] न पचने का रोग। अजीर्ण बदहज़मी।

अपचय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षति। हानि। (२) व्यय। कमी। नाश। (३) पूजा। सम्मान।

अपचरित–संज्ञा पुं० [सं०] दोषयुक्त आचरण। दुराचार। बुरा कर्म।

अपचायित–वि० [सं०] पूजित। सम्मानित। आदृत।

अपचार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपचारी] (१) अनुचित बर्त्ताव। बुरा आचरण। कुव्यवहार। (२) अनिष्ट। अहित। बुराई। (३) अनादर। निंदा। अपयश। (४) कुपथ्य। स्वास्थ्यनाशक व्यवहार। (५) अभावहीनता। (६) भूल। भ्रम। दोष।

अपचारी–वि० [सं० अपचारिन्] [स्त्री० अपचारिणी] विरुद्ध आचरण करनेवाला। दुराचारी। दुष्ट।

अपचाल*–संज्ञा पुं० [सं०] कुचाल। खोटाई। नटखटी। उ०—वारि के दाम सँवार करौ अपने अपचाल कुचाल लल्लू पर।—रसखान।

अपचित–वि० [सं०] पूजित। सम्मानित। आदृत।

अपची–संज्ञा स्त्री० [सं०] गंडमाला रोग का एक भेद। गंडमाला की वह अवस्था जब गाँठें पुरानी होकर पक जाती हैं और जगह जगह पर फोड़े निकलते और बहने लगते हैं।

अपच्छी*–संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+पक्षी=पक्षवाला] विपक्षी। विरोधी। शत्रु। ग़ैर।

वि० बिना पंख का। पक्षरहित।

अपछरा*–संज्ञा पुं० [सं० अप्सरा, पा० अच्छरा] (१) अप्सरा। उ०—बिकसे सरन्ह बहुकंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा। कल हंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा।—तुलसी (२) हिन्दुस्तान में रंडियों की एक जाति।

अपजय–संज्ञा स्त्री० [सं०] पराजय। हार।

अपजस†*–संज्ञा पुं० दे० "अपयश"।

अपज्ञान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इनकार। नटना। नहीं करना। (२) छिपाना। छिपाव। दुराव।

अपटन†–संज्ञा पुं० दे० "उबटन"।

अपटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परदा। कांडपट। (१) कपड़े की दीवार। क़नात। (३)। आवरण। आच्छादन।

अपटीक्षेप–संज्ञा पुं० [सं०] नाटक में परदा हटाकर पात्रों का रंगभूमि में सहसा प्रवेश।

अपटु–वि० [सं०] [संज्ञा अपटुता] (१) जो पटु न हो। कार्य्य करने में असमर्थ। (२) गावदी। सुस्त। आलसी। (३) रोगी। (४) ज्योतिष शास्त्रानुसार (ग्रह) जिसका प्रकाश मंद हो जाय।

अपटुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पटुता का अभाव। अकुशलता। अनाड़ीपन।

अपठ–वि० [सं०] (१) अपढ़। जो पढ़ा न हो। (२) मूर्ख।

अपठ्मान*–वि० [सं० अपठ्यमान्] (१) जो न पढ़ा जाय। (२) न पढ़ने योग्य। उ०—अपठ्मान पाप-ग्रंथ, पठ्मान वेद हैं।—केशव।

अपडर*–संज्ञा पु० [सं० अप+डर] भय। शंका। उ०—(क) समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्ह नहिं सपने।—तुलसी। (ख) सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच सब अपडर बीता।—तुलसी। (ग) ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं त्यौं त्यौं दूर परयो हौं। चित्रकूट गये में लखि कलि की कुचालि सब अब अपडरनि डर्‌यो हौं।—तुलसी।

अपडरना*–क्रि० अ० [हिं० अपडर] भयभीत होना। डरना। शंकित होना। उ०—(क) जानकीश की कृपा जगावती सुजान जीव जागि त्यागि मूढ़तानुरागु श्रीहरे। भागे मद-माद चोर भोर जानि जातुधान काम क्रोध लोभ छोभ निकर अपडरे।—तुलसी। (ख) बहु राम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे। मनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे।—तुलसी।

अपड़ाना*–क्रि० अ० [सं० अपर] [संज्ञा अपड़ाव] खींचा-तानी करना। उ०—मन जो कहो करै री माई। तेरी कही बात सब होती मिलौ उनहि को धाई। निलज भई तन सुधि बिसराई गुरुजन करत लराई। इत कुलकानि उतै हरि को रस मन जो अति अपड़ाई। आप स्वार्थी सबै देखियत हैं मोको दुखदाई। सूरदास प्रभु चित अपनो करि तनिकहि गयो रिसाई।—सूर।

अपड़ाव*–संज्ञा पुं० [सं० अपर, हिं० परावा=पराया] [क्रि० अपड़ाना] झगड़ा। रार। तकरार। उ०–(क) हँसत कहत की धौं सतभाव। यह कहती औरै जो कोऊ तासों मैं करती अपड़ाव। सूरदास यह मोहिं लगावति सपनेहुँ जासों नहिं दरसाव।—सूर। (ख) गोपी इहै करति चबाउ। आजु बाँची मौन धरि जो सदा होत बचाउ। दिवस चारिक भोर पारहु रहौं एक सुभाउ। सूर कालिहि प्रगट कैहैं करन दे अपड़ाउ।—सूर।

अपढ़–वि० [सं० अपठ] बिना पढ़ा। मूर्ख। अपढ़।

अपण्य–वि० [सं०] न बेचने योग्य। जिसके बेचने का धर्मशास्त्र में निषेध है।

अपतंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें शरीर टेढ़ा हो जाता है, सिर कनपटी में पीड़ा होती है, साँस कठिनाई से ली जाती है, गले में घरघराहट का शब्द होता है और आँखें फटी पड़ती हैं। यह रोग वायु के प्रकोप से होता है।

अपत*–वि० [सं० अ=नहीं+पत्र, प्रा० पत्त, हिं० पत्ता] (१) पत्रहीन। बिना पत्तों का। उ०—नहिं पावस ऋतुराज यह, तजि तरवर मति भूल। अपत भये बिन पाइ हैं, क्यों नव दल फल फूल। जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार। अब अलि रही गुलाब की, अपत कटीली डार।—बिहारी। (२) आच्छादनरहित। नग्न। (३) निर्लज्ज। लज्जारहित। उ०—लूटे साखिन अपत करि, सिसिर सुमेज बसंत। दै दल सुमन सुफल किए, सो भल सुजस लसंत।—दीनदयालु। वि० [सं० अपात्र, पा० अपत्त] अधम। पातकी। नीच। उ०–(क) राम राम राम राम राम राम जपत। पावन किए रावनरिपु तुलसी हू से अपत।—तुलसी। (ख) अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ।—तुलसी।

संज्ञा पु० [सं० आपत्] विपत्ति। आपत्ति।

अपतई*–संज्ञा स्त्री० [स० अपात्र, पा० अपत्त+हिं० ई (प्रत्य०)] (१) निर्लज्जता। बेहयाई। ढिठाई। उत्पात। उ०—नयना लुबधे रूप के अपने सुख माई। अपराधी अपस्वारथी मो को बिसराई। मन इंद्री तहँ ही गए कीन्ही अधमाई। मिले धाय अकुलाय कै मैं करति लराई। अनिहि करी उन अपतई हरि सों समताई।—सूर। (२) चंचलता। उ०—कान्ह तुम्हारी माय महाबल सब जग अपबस कीन्हों हो। सुनि ताकी सब अपतई सुक सनकादिक मोहे हो। नेक दृष्टि पथ पड़ि गए शंकर सिर टोना लागे हो।—सूर।

अपतानक–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जो स्त्रियों को गर्भपात तथा पुरुषों को विशेष रुधिर निकलने वा भारी चोट लगने से हो जाता है। इसमें मूर्च्छा बार बार आती है और नेत्र फटते हैं तथा कंठ में कफ एकत्रित होकर घरघराहट का शब्द करता है।

अपताना*–संज्ञा पुं० [हिं० अप=अपना+तानना] जंजाल। प्रपंच। उ०—दारागार पुत्र अपताना। तत धन मोहमानि कल्याना।—विश्राम।

अपति*–वि० स्त्री० [सं० अ=नहीं+पति] **बिना पति की । विधवा ।**

वि० [सं० अ=बुरा+पत्ति=गति] **पापी । दुष्ट । दुराचारी । उ०—कहा करौं सखि काम को हिय निर्दयपन आज । तनु जारत पारत विपत अपति उजारत लाज । पद्माकर ।**

संज्ञा स्त्री० [सं० अ=बुरा+पत्ति=गति] **अगति । दुर्गति । दुर्दशा । उ०—पति बिनु पतिनी पतित न मग में । पति बिनु अपति नारि की जग में ।—सबल ।**

अपत्य–संज्ञा पु० [सं०] **संतान । पुत्र वा कन्या ।**

यौ०—अपत्यकामा=पुत्र की इच्छा रखनेवाली । **अपत्यविक्रयी**= संतान बेचनेवाला ।

अपत्यशत्रु—संज्ञा पु० [सं०] **जिसका शत्रु अपत्य वा संतान हो । केकड़ा ।**

विशेष—अंडा देने के उपरांत केकड़ी का पेट फट जाता है और वह मर जाती है ।

(२) अपत्य का शत्रु । वह जो अपने अंडे-बच्चे खा जाय । साँप ।

अपथ–संज्ञा पु० [सं०] (१) **वह मार्ग जो चलने योग्य न हो । बीहड़ राह । विकट मार्ग ।** (२) **कुपथ । कुमार्ग । उ०—(क) हरि हैं राजनीति पढ़ि आए । ते क्यों नीति करैं आपुन जिन और न अपथ छुड़ाए । राजधर्म्म सुनि इहै सूर जिहि प्रजा न जाहिं सताए ।—सूर । (ख) सहज सचिक्कन स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार । गनत न मन पथ अपथ लखि, बिथुरे सुथरे बार ।—बिहारी ।**

अपथ्य–वि० [सं०] (१) **जो पथ्य न हो । स्वास्थ्यनाशक ।** (२) **अहितकर ।**

संज्ञा पु० **व्यवहार जो स्वास्थ्य का हानिकारक हो । रोग बढ़ानेवाला आहार विहार ।**

अपद्–संज्ञा पु० [सं०] **बिना पैर के रेंगनेवाले जंतु । जैसे, साँप, केचुआ, जोंक आदि ।**

अपदांतर–वि० [सं०] (१) **मिला जुला । संयुक्त । अव्यवहित ।** (२) **समीप । सन्निकट ।** (३) **समान । बराबर ।**

क्रि० वि० **शीघ्र । जल्द । तत्क्षण ।**

अपदेखा*–वि० [हिं० अप=अपने को+देखा=देखनेवाला] **अपने को बड़ा माननेवाला । आत्मश्लाघी । घमंडी । उ०—अपदेखा जे अहहिं तिनहिं हित गुनि मुँह जोहहिं ।**

अपदेवता–संज्ञा पु० [सं०] **दुष्ट देव । दैत्य । राक्षस । असुर ।**

अपदेश–संज्ञा पु० [सं०] (१) **ब्याज । मिस । बहाना ।** (२) **लक्ष्य । उद्देश** (३) **अपने स्वरूप को छिपाना । भेस बदलना ।**

अपद्रव्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) **निकृष्ट वस्तु । बुरी चीज़ । कुद्रव्य । कुवस्तु ।** (२) **बुरा धन ।**

अपद्वार–संज्ञा पु० [सं०] **छिपा हुआ दरवाज़ा । चोर-दरवाज़ा । बगली खिड़की ।**

अपध्यान–संज्ञा पुं० [सं०] **निकृष्ट चिंतन । बुरा विचार । अनिष्टचिंतन । जैन शास्त्रानुसार बुरा ध्यान । यह दो प्रकार का होता है, आर्त और रौद्र ।**

अपध्वंस–संज्ञा पु० [सं०] [वि० अपध्वंसी, अपध्वस्त] (१) **अधःपतन । गिराव ।** (२) **बेइज़्ज़ती । निरादर । अवज्ञा । अपमान । हार ।** (३) **नाश । क्षय ।**

अपध्वंसी–वि० [सं० अपध्वंसिन्] [स्त्री० अपध्वंसिनी] (१) **गिरानेवाला । अपमान । करनेवाला । निरादरकारी । अपमानकारी ।** (२) **नाश करनेवाला । क्षयकारी** (३) **पराजय करनेवाला । विजयी ।**

अपध्वस्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) **पराजित । हारा हुआ । परास्त ।** (२) **निंदित । अपमानित । बेइज्जत किया हुआ ।** (३) **नष्ट ।**

अपन*–सर्व० दे० "अपना" ।

अपनपौ*–संज्ञा पु० [हिं० अपना+पौ वा पा (प्रत्य०)] (१) **अपनायत । आत्मीयता । संबंध । उ०—भरतहिं बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम वन गौन । हेतु अपनपौ जानि जिय, थकित भये धरि मौन ।—तुलसी ।** (२) **आत्मभाव । आत्मस्वरूप । निजस्वरूप । उ०—(क) अपनपौ आपुही बिसरी ।—कबीर । (ख) मन मेरे मानो सिख मेरी । जो निज भक्ति चहौ हरि केरी । मन आनहिं प्रभुकृत हित जेते । सब हित तजै अपनपौ चेते ।—तुलसी ।** (३) **संज्ञा । सुध । ज्ञान । उ०—(क) अद्भुत इक चितयों हों सजनी नंद महरि के आँगन री । सो मैं निरखि अपनपौ खोयों गई मथनियाँ मांगन री ।—सूर । (ख) हरि के ललित बदन निहारु । स्याम सारस मग मनो ससि श्रवत सुधा सिंगारु । सुभग उर दधि बुंद सुंदर लखि अपनपौ वारु ।—तुलसी ।**

(४) **अहंकार । गर्व । ममता । अभिमान । उ०—सदा अपनपौ रहहिं दुराये । सब विधि कुशल कुभेस बनाये ।—तुलसी ।** (५) **आत्मगौरव । मर्यादा । मान । उ०—जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे । देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया विवस बिचारे । तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ।—तुलसी ।**

अपनयन–संज्ञा पु० [सं०] [वि० अपनीत] (१) **दूर करना । हटाना ।** (२) **स्थानांतरित करना । एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाना ।** (३) **पक्षांतर करना । गणित के समीकरण में किसी परिमाण को एक पक्ष से दूसरे पक्ष में ले जाना । उ०—२ क+५=क+२५**

=२ क—क=२५—५=क

=२० ।

इस क्रिया में पहिले पक्ष के ५ को दूसरे पक्ष में ले गए और दूसरे पक्ष के "क" को पहिले पक्ष में ले आए ।

(४) खंडन।

अपना–सर्व० [सं० आत्मनो, प्रा० अत्तणो, अप्पणो] [स्त्री० अपनी। क्रि० अपनाना] निज का।

विशेष—इसका प्रयोग तीनों पुरुषों में होता है। उ०—तुम अपना काम करो। मैं अपना काम करूँ। वह अपना काम करे।

संज्ञा पुं० आत्मीय। स्वजन। उ०—आप लोग तो अपने ही हैं, आप से छिपाव क्या?

मुहा०—**अपना करना**=अपना बनाना। अपने अनुकूल करलेना। उ०—मनुष्य अपने व्यवहार से हर एक को अपना कर सकता है। **अपना काम करना**=प्रयोजन निकालना। **अपना किया पाना**=किये को भुगतना। कर्म का फल पाना। **अपना पराया वा बेगाना**=शत्रुमित्र। उ०—तुम्हें अपने पराए की परख नहीं। **अपना सा करना**=अपने सामर्थ्य वा विचार के अनुसार करना। भर सक करना। उ०—(क) बार बार मुहिँ कहा सुनावत। नेकहु टरत नहीं हिरदय से विविध भाँति मन को समुझावत। दोवल कहा देति मोहिँ सजनी तू तो बड़ी सुजान। अपनी सी मैं बहुतै कीन्ही रहति न तेरी आन।—सूर। (ख) ब्रज पर घन घमंड करि आए। अति अपमान विचारि आपनो कोपि सुरेस पठाए। सुनि हँसि उठ्यो नंद को नाहरु लियो कर कुधर उठाई। तुलसिदास मघवा अपनो सो करि गयो गर्व गँवाई।—तुलसी। **अपना सा मुँह लेकर रह जाना**=किसी बात में अकृतकार्य्य होने पर लज्जित होना। **अपनी अपनी पड़ना**=अपनी अपनी चिंता में व्यग्र होना। उ०—पद्माकर कछु निज कथा, कासों कहौं बखान। जाहि लखों ता है परी, अपनी अपनी आन।—पद्माकर। **अपनी गाना**=अपनी ही बात कहना और किसी की न सुनना। **अपनी गुड़िया सँवार देना**=अपने सामर्थ्य के अनुसार बेटी का ब्याह कर देना। **अपनी नींद सोना**=अपने इच्छानुसार कार्य करना। **अपनी बात का एक**=दृढ़प्रतिज्ञ। **अपनी बात पर आना**=हठ पकड़ना। उ०—अब वह अपनी बात पर आ गया है, नहीं मानेगा। **अपने तक रखना**=किसी से न कहना। किसी को पता न देना। उ०—फ़क़ीर लोग दवा अपने तक रखते हैं। **अपनेपन पर आना**=अपने दुःस्वभाव के अनुसार काम करना। **अपने भावें**=अपने अनुसार, अपनी जान में। अपने भावें तो मैंने कोई बात उठा नहीं रक्खी। **अपने मुँह मियाँ मिट्ठू**=अपनी प्रशंसा आप करनेवाला।

यौ०—**अपने आप**=स्वयं। स्वतः। ख़ुद।

अपनाना–क्रि० स० [हिं० अपना] (१) अपने अनुकूल करना। अपने वश में करना। अपनी ओर करना। उ०—(क) रचि प्रपंच भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई।—तुलसी। (ख) अब कै जो पिय पाऊँ तो हृदय माँझ दुराऊँ। जो बिधना कबहूँ यह करतो काम को काम पराऊँ। सूर स्याम बिन देखे सजनी कैसे मन अपनाऊँ।—सूर। (२) अपना बनाना। अंगीकार करना। ग्रहण करना। अपनी शरण में लेना। उ०—(क) सब विधि नाथ मोहिँ अपनाइय। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइय।—तुलसी। (ख) ना हमको कछु सुंदरताई। भक्त जानि के सब अपनाई।—सूर।

अपनापन–संज्ञा पुं० [हिं० अपना] (१) अपनायत। आत्मीयता। (२) आत्माभिमान।

अपनाम–संज्ञा पुं० [सं०] बदनामी। निंदा। शिकायत।

अपनीत–वि० [सं०] दूर किया हुआ। हटाया हुआ। निकाला हुआ।

अपनोदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूर करना। हटाना। (२) खंडन। प्रतिवाद।

अपभय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भय का नाश। निर्भयता। (२) व्यर्थ भय। अकारण भय। (३) डर। भय। उ०—(क) कबहुँ कृपा करि रघुनाथ मोहूँ चितैहौ। हौं सनाथ ह्वैहौं सही तुम्हउँ अनाथपति जौ लघुतहि न भितैहौ। विनय करौं अपभय हुते तुम परम हितैहो।—तुलसी। (ख) अपभय कुटिल महीप डराने। जहँ तहँ कायर गँवहिं पराने।—तुलसी।

वि० [सं०] निर्भय। निडर। जो न डरे।

अपभ्रंश–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपभ्रंशित] (१) पतन। गिराव। (२) बिगाड़। विकृति। (३) बिगड़ा हुआ शब्द।

वि० विकृत। बिगड़ा हुआ।

अपभ्रंशित–वि० [सं०] (१) गिरा हुआ। (२) बिगड़ा हुआ।

अपमान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपमानित, अपमान्य] (१) अनादर। अवहेलना। विडंबना। अवज्ञा। (२) तिरस्कार। दुतकार। बेइज़्ज़ती।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अपमानना*–क्रि० स० [सं० अपमान] अपमान करना। विडंबना करना। निंदा करना। तिरस्कार करना। उ०—(क) सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने। बोले परसु धरहि अपमाने।—तुलसी। (ख) हारि जीत नैना नहिं मानत। धायो जात तहीं को फिरि फिरि वै कितनो अपमानत।—सूर।

अपमानित–वि० [सं०] (१) निंदित। अवमानित। बेइज़्ज़त।

अपमानी–वि० [सं० अपमानिन्] [स्त्री० अपमानिनी] निरादर करनेवाला। तिरस्कार करनेवाला। उ०—सोचिय सूद्र विप्र अपमानी। मुखरमान प्रिय ज्ञान गुमानी।—तुलसी।

अपमान्य–वि० [सं०] अपमान के योग्य। निंद्य।

अपमार्ग–संज्ञा पुं० [सं०] कुमार्ग। असन्मार्ग। कुपथ।

अपमार्गी–वि० [सं० अपमार्गिन्] [स्त्री० अपमार्गिनी] (१) कुमार्गी। कुपंथी। अन्यथाचारी। (२) दुष्ट। नीच। पापी।

अपमार्जन–संज्ञा पुं० [सं०] शुद्धि। सफ़ाई। संस्कार। संशोधन।

अपमुख–वि० [सं०] [स्त्री० अपमुखी] जिसका मुँह टेढ़ा हो। विकृतानन। टेढ़मुहाँ।

अपमृत्यु–संज्ञा पुं० [सं०] कुमृत्यु। कुसमय मृत्यु। अल्पायु। जैसे, बिजली के गिरने, विष खाने, साँप आदि के काटने से मरना।

अपयश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपकीर्ति। बदनामी। बुराई। (२) कलंक। लांछन।

अपयशस्क–वि० [सं०] अपकीर्तिकर। जिससे बदनामी हो। अपयशकारी।

अपयान–संज्ञा पुं० [सं०] पलायन। भागना।

अपयोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुयोग। बुरा योग। (२) कुसमय। कुवेला। (३) कुशकुन। असगुन। (४) नियमित मात्रा से अधिक वा न्यून औषध पदार्थों का योग।

अपरंच–अव्य० [सं०] (१) और भी। (२) फिर भी। पुनरपि। पुनः।

अपरंपार*–वि० [सं० अपर=दूसरा+हि० पार=छोर] जिसका पारावार न हो। असीम। बेहद। अनंत।

अपर–वि० [सं०] [स्त्री० अपरा] (१) जो पर न हो। पहिला। पूर्व का। (२) पिछला। जिससे कोई पर न हो। (३) अन्य। दूसरा। भिन्न। और। (४) हाथी का पिछला भाग, जंघा, पैर इत्यादि।

यौ०—अपरकाय=शरीर का पिछला भाग।

अपरछन*–वि० [सं० अप्रच्छन्न वा अपरिछन्न] (१) आवरण रहित। जो ढका न हो।

(२) [सं० अप्रच्छन्न] आवृत्त। छिपा। गुप्त। उ०—बाजी चिहर रचाइ के, रहा अपरछन होइ। मायापट परदा दिया, तातें लखइ न कोइ।—दादू।

अपरतंत्र–वि० [सं०] जो परतंत्र वा परवश न हो। स्वतंत्र। स्वाधीन। आज़ाद।

अपरता–संज्ञा स्त्री० [सं०] परायापन।

संज्ञा स्त्री० [सं० अ=नहीं+परता=परायापन] भेद-भाव। शून्यता। अपनापन।

*† वि० [हिं० अप=आप+रत=लगा हुआ] स्वार्थी। मतलबी।

अपरती*–संज्ञा स्त्री० [हि० अप=आप+सं० रति=लीनता] स्वार्थ। बेईमानी।

अपरत्र–क्रि० वि० [सं०] दूसरे समय में। और कभी।

अपरत्व–संज्ञा पु० [सं०] (१) पिछलापन। अर्वाचीनता। (२) परायापन। बेगानगी। (३) न्यायशास्त्रानुसार चौबीस गुणों में से एक। यह दो प्रकार का है—एक काल-भेद से दूसरा देश-भेद से।

अपरदक्षिण–संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण और पश्चिम का कोना। नैऋत्यकोण।

अपरदिशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पश्चिम।

अपरना*–संज्ञा स्त्री० [सं० अ=नहीं+पर्ण=पत्ता] पार्वती का नाम। पुराणों में लिखा है कि पार्वतीजी ने शिवजी के लिये तप करते करते वर्षों तक खाना छोड़ दिया था। पुनि परिहरेउ सुखानेउ परना। उमा नाम तब भयउ अपरना।—तुलसी।

अपरनाल–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का नाम। (बृहत्संहिता)

अपरपक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कृष्ण पक्ष। (२) प्रतिवादी। मुद्दालेह। फ़रीक़सानी।

अपरबल†–वि० [सं० प्रबल] बलवान्। बली। उद्धत। बेकहा। उ०—पानी माँही पर जली, रई अपरबल आगि। बहती सरिता रह गई, मच्छ रहे जल त्यागि।—कबीर।

अपरलोक–संज्ञा पुं० [सं०] दूसरा लोक। परलोक। स्वर्ग।

अपरवक्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह वृत्त जिसके विषम चरण में दो नगण, एक रगण और लघु गुरु हों तथा समचरण में एक नगण, दो जगण और रगण हों। यथा—सब तज रसना गहो हरी। दुख सब भागहिं पापहूँ जरी। हरि विमुख संग ना करी। जप दिन रैन हरी हरी।

अपरवश–वि० [सं०] पराये वश का। परतंत्र।

अपरस–वि० [सं० अ=नहीं+स्पर्श, हिं० परस] (१) जो छुआ न जाय। जिसे किसी ने छुआ न हो। (२) न छूने योग्य। अस्पृश्य।

संज्ञा पु० एक चर्मरोग जो हथेली और तलवे में होता है। इसमें खुजलाहट होती है और चमड़ा सूख सूख कर गिरा करता है।

अपरांत–संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम का देश।

अपरांतक–संज्ञा पु० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार पश्चिम दिशा का एक पर्वत।

अपरांतिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैताली छंद का एक भेद जिसमें वैताली छंद के समचरणों के समान चारों पद हों और चौथी और पाँचवीं मात्रा मिल कर एक दीर्घाक्षर हो जाय। उ०—शंभु को भजहु रे सबै घरी। तज सबै काम रे हिये धरी।

अपरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अध्यात्म वा ब्रह्म विद्या के अतिरिक्त अन्य विद्या। लौकिक विद्या। पदार्थ-विद्या। (२) पश्चिम दिशा। (३) एकादशी जो ज्येष्ठ के कृष्ण पक्ष में होती है।

वि० [सं०] दूसरी।

अपराजित–वि० [सं०] [स्त्री० अपराजिता] जो पराजित न हुआ हो।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु। (२) शिव।

अपराजिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विष्णुक्रांता लता। कोयल। (२) दुर्गा। (३) अयोध्या का एक नाम। (४) एक चौदह अक्षर के वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक रगण, एक सगण तथा एक लघु और एक गुरु होता है। न न र स ल ग।

।।। ।।। ऽ।ऽ ।।ऽ ।ऽ
न निरस लग राम की जन को कथा। सुनत बकत प्रेम सिंधु शशी यथा। रघुकुल करि पावनो सुख साजिता। जिन किय थित कीरती अपराजिता। (५) एक प्रकार का धूप।

अपराध–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपराधी] (१) दोष। पाप। कसूर। जुर्म। (२) भूल। चूक।

अपराधी–वि० पुं० [सं० अपराधिन्] [स्त्री० अपराधिनी] दोषी। पापी। मुलज़िम।

अपरामृष्ट–वि० [सं०] अछूता। अस्पृष्ट। जिसको किसी ने न छुआ हो। (२) अव्यवहृत। कोरा।

अपरावर्ती–वि० [सं० अपरावर्त्तिन्] [स्त्री० अपरावर्त्तिनी] (१) जो बिना काम पूरा किए न लौटे। काम करके पलटनेवाला। (२) जो पीछे न हटे। जो किसी काम से मुँह न मोड़े। मुस्तैद।

अपराह्न–संज्ञा पुं० [सं०] दिन का पिछला भाग। दो पहर के पीछे का काल। तीसरा पहर।

अपरिकलित–वि० [सं०] अज्ञात। अदृष्ट। अश्रुत। बे देखा-सुना।

अपरिक्लिन्न–वि० [सं०] सूखा। शुष्क।

अपरिगत–वि० [सं०] अज्ञात। अपरिचित। न पहिचाना हुआ।

अपरिगृहीत–वि० [सं०] अस्वीकृत। त्यक्त। छोड़ा हुआ।

अपरिगृहीतागमन–संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्रानुसार एक प्रकार का अतिचार। कुमारी वा विधवा का गमन करना पुरुष के लिये और कुमार वा रंडुआ के साथ गमन करना स्त्री के लिये अपरिगृहीतागमन है।

अपरिग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अस्वीकार। दान का न लेना दान-त्याग। (२) देह-यात्रा के लिये आवश्यक धन से अधिक का त्याग। विराग। (३) योगशास्त्र में पाँचवाँ यम। संगत्याग। (४) जैनशास्त्रानुसार मोह का त्याग।

अपरिचय–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपरिचित] परिचय का अभाव। जान पहिचान का न होना।

अपरिचित–वि० [सं०] (१) जिसे परिचय न हो। जो जानता न हो। अज्ञात। अनजान। उ०—वह इस बात से बिलकुल अपरिचित है। (२) जो जाना बूझा न हो। अज्ञात। उ०—किसी अपरिचित व्यक्ति का सहसा विश्वास न करना चाहिए।

अपरिच्छद–वि० [सं०] (१) आच्छादनरहित। आवरणशून्य। जो ढका न हो। नंगा। खुला हुआ (२) दरिद्र।

अपरिच्छन्न–वि० [सं०] (१) जो ढका न हो। खुला। नंगा। (२) आवरणरहित। (३) सर्वव्यापक।

अपरिच्छिन्न–वि० [सं०] (१) जिसका विभाग न हो सके। अभेद्य। (२) जो अलग न हुआ हो। मिला हुआ। (३) इयत्तारहित। असीम। सीमारहित।

अपरिणत–वि० [सं०] (१) अपरिपक्व। जो पका न हो। कच्चा (२) जिसमें विकार और परिवर्त्तन न हुआ हो। ज्यों का त्यों। विकारशून्य।

अपरिणामी–वि० [सं० अपरिणामिन्] [स्त्री० अपरिणामिनी] (१) परिणामरहित। विकारशून्य। जिसकी दशा में परिवर्त्तन न हो। (२) जिसका कुछ परिणाम न हो। निष्फल।

अपरिणीत–वि० [सं०] [स्त्री० अपरिणीता] अविवाहित। क्वारा।

अपरिपक्व–वि० [सं०] (१) जो परिपक्व न हो। कच्चा। (२) जो भली भाँति पका न हो। ढेंसर। अधकच्चा (३) अधकचरा। अप्रौढ़। अधूरा। अव्युत्पन्न। (४) जिसने तपश्चर्यादि द्वारा द्वंद्व अर्थात् सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि सहन न की हो।

यौ०—अपरिपक्व धी। अपरिपक्व कषाय। अपरिपक्व बुद्धि।

अपरिमाण–वि० [सं०] (१) परिमाणरहित। बेअंदाज़। अकूत, (२) बहुत अधिक। ज़्यादा।

अपरिमित–वि० [सं०] (१) इयत्ताशून्य। असीम। बेहद। (२) असंख्य। अनंत। अगणित।

अपरिमेय–वि० [सं०] (१) जिसका परिमाण पाया न जाय। जिसकी नाप न हो सके। बेअंदाज़। अकूत। (२) असंख्य। अनगिनत।

अपरिवृत–वि० [सं०] जो ढका या घिरा न हो। अपरिच्छन्न।

अपरिवर्त्तनीय–वि० [सं०] (१) जो परिवर्त्तन के योग्य न हो। जो बदल न सके। (२) जिसमें फेरफार न हो सके। (३) जो बदले में न दिया जा सके (४) सदा एक रूप रहनेवाला। नित्य।

अपरिशेष–वि० [सं०] जिसका परिशेष वा नाश न हो। अनंत। अविनाशी। नित्य।

अपरिष्कार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपरिष्कृत] (१) संस्कार का अभाव। असंशोधन। सफ़ाई वा काट छाँट का न होना। (२) मैलापन। (३) भद्दापन।

अपरिष्कृत–वि० [सं०] (१) जिसका परिष्कार न हुआ हो। जो साफ़ न किया गया हो। जो काट छाँट कर दुरुस्त न किया गया हो। (२) मैला कुचैला। (३) भद्दा। बेडौल।

अपरिहार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपरिहारित, अपरिहार्य्य] (१) अवर्ज्जन। अनिवारण। (२) दूर करने के उपाय का अभाव

अपरिहारित–वि० [सं०] अपरिवर्जित। अनिवारित। जो दूर न किया गया हो।

अपरिहार्य्य–वि० [सं०] (१) जिसका परिहार न हो सके। अवर्जनीय। अबाध्य। अनिवार्य्य। जो किसी उपाय से दूर न किया जा सके। (२) अत्याज्य। न छोड़ने योग्य। (३) अनादर के अयोग्य। आदरणीय। (४) न छीनने योग्य।

अपरीक्षित–वि० [सं०] [स्त्री० अपरीक्षिता] जिसकी परीक्षा न हुई हो। जो परखा न गया हो। जिसकी जाँच न हुई हो।

जिसके रूप, गुण, परिमाण और वर्ग आदि का अनुसंधान न किया गया हो।

अपरूप-वि० [सं०] (१) कुरूप। बदशकल। भद्दा। बेडौल। (२) ['अपूर्व' का अपभ्रंश] अद्भुत। अपूर्व।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बँगला से लिया गया है।

अपरेशन-संज्ञा पुं० [अं०] शस्त्रचिकित्सा। चीरफाड़।

अपर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वतीजी का एक नाम। यह नाम इसलिये पड़ा कि पार्वतीजी ने शिव के लिये तप करते हुए पत्तों तक का खाना भी छोड़ दिया था। उ०—पुनि परिहरेउ सुखानेउ पर्ना। उमा नाम तब भयउ अपर्ना। —तुलसी। (२) दुर्गा।

अपर्याप्त-वि० [सं०] अपूर्ण। अयथेष्ट। जो काफ़ी न हो।

यौ०—अपर्याप्तकर्म=जैन शास्त्रानुसार वह पाप कर्म जिसके उदय से जीव की पर्याप्ति न हो।

अपर्य्याप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अपर्याप्त] (१) अपूर्णता। कमी। त्रुटि। (२) असामर्थ्य। अयोग्यता। अक्षमता।

अपलक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुलक्षण। बुरा चिह्न। दोष। (२) दुष्ट लक्षण। वह लक्षण जिसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष हो।

अपलाप-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपलापित] (१) मिथ्यावाद। बकवाद। बात का बतकड़। वाग्जाल। (२) बात बनाना। प्रसंग टालने के लिये इधर उधर की बातें कहना।

अपलोक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपयश। अपकीर्ति। बदनामी। (२) अपवाद। मिथ्या दोष। उ०—(क) अब अपलोक सोक सुत तोरा। सहहि निठुर कठोर उर मोरा।—तुलसी। (ख) भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक विभूती।—तुलसी।

अपवन-संज्ञा पुं० [सं०] उपवन। बाग़।

अपवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोक्ष। निर्वाण। मुक्ति। जन्म मरण के बंधन से छुटकारा पाना। (२) त्याग। (३) दान।

अपवर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपवर्जित] (१) त्याग। छोड़ना। (२) दान। (३) मोक्ष। मुक्ति। निर्वाण।

अपवर्जित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोड़ा हुआ। त्यागा हुआ। त्यक्त। (२) छुटकारा पाया हुआ। मुक्त।

अपवर्तन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपवर्तित] परिवर्त्तन। पलटाव। उलटफेर।

अपवर्तित-वि० [सं०] बदला हुआ। पलटाया हुआ। लौटाया हुआ।

अपवश-वि० [हिं० अप=अपना+सं० वश] अपने अधीन। अपने वश का। 'परवश' का उलटा। उ०—(क) जो विधना अपवश करि पाऊँ। तौ सखि कही होइ कछु तेरी अपनी साध पुराऊँ।—सूर। (ख) भली करी उन श्याम बँधाए। बरज्यो नहीं कन्यो उन मेरो अति आतुर उठि धाए। निदरि गए तैसो फल पायो अब वै भए पराए। हम सों इन अति करी ढिठाई जो करि कोटि बुझाए। सूर गए हरि रूप सुरावन उन अपवश करि पाए।—सूर।

अपवाचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपवाद। निन्दा।

अपवाद-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपवादक, अपवादित, अपवादी] (१) विरोध। प्रतिवाद। खंडन (२) निंदा। अपकीर्ति। बुराई। प्रवाद। (३) दोष। पाप। कलंक। (४) बाधक शास्त्र। विशेष। उत्सर्ग का विरोधी। वह नियम विशेष जो व्यापक नियम से विरुद्ध हो। मुस्तसना, जैसे, यह नियम है कि सकर्मक सामान्य भूत क्रिया के कर्त्ता के साथ "ने" लगता है, पर यह नियम "लाना" क्रिया में नहीं लगता। (५) अनुमति। सम्मति। राय। विचार। (६) आदेश। आज्ञा। (७) वेदांत-शास्त्र के अनुसार अध्यारोप का निराकरण, जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान यह अध्यारोप है, रज्जु के वास्तविक ज्ञान से उसका जो निराकरण हुआ वह अपवाद है।

अपवादक-वि० [सं०] (१) निंदक। अपवाद करनेवाला। (२) विरोधी। बाधक।

अपवादित-वि० [सं०] (१) निंदित। (२) जिसका विरोध किया गया हो।

अपवादी-वि० [सं० अपवादिन्] [स्त्री० अपवादिनी] (१) निंदा करनेवाला। बुराई करनेवाला। (२) बाधक। विरोधी।

अपवारण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपवारित] (१) व्यवधान। रोक। बीच में पड़कर आघात से बचानेवाली वस्तु। (२) हटाने वा दूर करने का कार्य्य। (३) आच्छादन। ओट। छिपाव। (४) अंतर्द्धान।

अपवारित-वि० [सं०] (१) अंतर्हित। तिरोहित। (२) दूर किया हुआ। हटाया हुआ। (३) ढका हुआ। छिपा हुआ।

अपवाहक-वि० [सं०] स्थानांतरित करनेवाला। एक स्थान से किसी पदार्थ को दूसरे स्थान में ले जानेवाला।

संज्ञा पुं० एक यंत्र जो भारी चीज़ों को उठाकर दूसरे स्थान पर रख देता है। गृध्र-यंत्र।

अपवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपवाहित, अपवाह्य] स्थानांतरित करना। एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाना।

अपवाहित-वि० [सं०] एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया हुआ। स्थानांतरित।

अपवाहुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें बाहु की नसें मारी जाती हैं और बाहु बेकाम हो जाता है। यह रोग वायु के प्रकोप से होता है। भुजस्तंभ रोग।

अपवित्र-वि० [सं०] जो पवित्र न हो। अशुद्ध। नापाक। दूषित। मैला। मलिन।

अपवित्रता-संज्ञा पुं० [सं०] अशुद्धि । अशौच । मैलापन । नापाकी ।

अपविद्ध-वि० [सं०] (१) त्यागा हुआ । त्यक्त । छोड़ा हुआ । (२) बेधा हुआ । विद्ध । (३) धर्मशास्त्रानुसार बारह प्रकार के पुत्रों में वह पुत्र जिसको उसके माता पिता ने त्याग दिया हो और किसी अन्य ने पुत्रवत् पाला हो ।

अपव्यय-संज्ञा पुं० [सं०] वि० अपव्ययी] (१) अधिक व्यय । अधिक खर्च । निरर्थक व्यय । फ़जूलखर्ची । (२) बुरे कामों में खर्च ।

अपव्ययी-वि० [सं० अपव्ययिन्] [स्त्री० अपव्ययिनी] (१) अधिक खर्च करनेवाला । फ़जूलखर्च । (२) बुरे कामों में व्यय करनेवाला ।

अपशकुन-संज्ञा पुं० [सं०] कुसगुन । असगुन ।

अपशब्द-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अशुद्ध शब्द । दूषित शब्द । (२) असंबद्ध प्रलाप । बिना अर्थ का शब्द । (३) गाली । कुवाक्य (४) पाद । अपान वायु का छूटना । गोज़ ।

अपसगुन*-संज्ञा पुं० [सं० अपशकुन] असगुन । बुरा सगुन ।

अपसद-संज्ञा पुं० [सं०] वह पुत्र जो अनुलोम विवाह द्वारा द्विजों से उत्पन्न हो । ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिया वा वैश्या वा शूद्रा स्त्री, क्षत्रिय पुरुष और वैश्या वा शूद्रा स्त्री, अथवा वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री से उत्पन्न संतान ।

अपसना*-क्रि० [सं० अपसरण=खिसकना] (१) खिसकना । सरकना । भागना । (२) चल देना । चंपत होना । उ०—(क) फेर न जानो वह का भईं । वह कैलास कि कहँ अपसईं । (ख) जीव काढ़ि लै तुम अपसई । वह भा कया जीव तुम भई । (ग) मानत भोग गोपी चँद भोगी । लै अपसवा जलंधर जोगी । (घ) जनु यमकात करहिं सब भवाँ । जिय पै चीन्ह स्वर्ग अपसवाँ ।—जायसी ।

अपसर-वि० [हिं० अप=अपना+सर (प्रत्य०)] आपही आप । मनमाना । अपने मन का । उ०— रहु रे मधुकर मधु मतवारे । कौन काज यह निर्गुण सों चिरजीवहु कान्ह हमारे । लोटत पीत पराग कीच महँ नीच न अंग सम्हारे । बारंबार सरक मदिरा की अपसर रटत उघारे ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं०] अपसरण । पीछे हटना ।

अपसर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] विसर्जन । त्याग । दान ।

अपसर्पण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपसर्पित] पीछे सरकना । पीछे हटना ।

अपसर्पित-वि० [सं०] पीछे हटा हुआ । पीछे खिसका हुआ । पीछे सरका हुआ ।

अपसव्य-वि० [सं०] (१) 'सव्य' का उलटा । दहिना । दक्षिण (२) उलटा । विरुद्ध । (३) जनेऊ दहिने कंधे पर रक्खे हुए ।

यौ०—अपसव्य ग्रहण=जब राहु सूर्य्य वा चंद्र के दहिने होकर चलता है अर्थात् ग्रहण दहिनी ओर से लगता है तब उसे अपसव्य ग्रहण कहते हैं । **अपसव्य ग्रहयुद्ध** । **अपसव्यतीर्थ**=पितृतीर्थ ।

क्रि० प्र०—होना=बाएं कांधे से जनेऊ और अंगोछा दहिने कांधे पर रखना वा बदलना ।—**करना**=किसी के किनारे चारों ओर ऐसी परिक्रमा करना कि वह दहिनी ओर पड़े । दक्षिणावर्त्त परिक्रमा करना ।

अपसार-संज्ञा पुं० [सं० अप=जल+सार] अँबुकण । पानी का छींटा । (२) पानी की भाप ।

अपसिद्धांत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अयुक्त सिद्धांत । वह विचार जो सिद्धांत के विरुद्ध हो । (२) न्याय में एक प्रकार का निग्रह स्थान । जहाँ किसी सिद्धांत को मान कर उसी के विरुद्ध बात कही जाय वहाँ यह निग्रह स्थान होता है । (३) जैनशास्त्रानुसार उनके विरुद्ध सिद्धांत ।

अपसोस*-संज्ञा पुं० [फ़ा० अफ़सोस] चिंता । सोच । दुःख । उ०—तातें अब मरियत अपसोसनि । मथुरा हूँ ते गए सखी री ! अब हरि कारे कोसनि ।—सूर ।

अपसोसना-*क्रि० अ० [हिं० अपसोस] सोच करना । चिंता करना । अफ़सोस करना । उ०—कहा कहुँ सुंदर, घन, तोसों । राधा कान्ह एक संग बिलसत मन ही मन अपसोसों ।—सूर ।

अपसौन*-संज्ञा पुं० [सं० अपशकुन] असगुन । बुरा सगुन ।

अपस्नात-वि० [सं०] प्राणी के मरने पर उदक क्रिया के समय का स्नान किया हुआ ।

अपस्नान-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपस्नात] मृतकस्नान । वह स्नान जो प्राणी के कुटुम्बी उसके मरने पर उदक क्रिया के समय करते हैं ।

अपस्मार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपस्मारी] एक रोग विशेष जिसमें हृदय काँपने लगता है और आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है । रोगी काँप कर पृथ्वी पर मूर्छित हो गिर पड़ता है । वैद्यक शास्त्रानुसार इसकी उत्पत्ति चिंता, शोक और भय के कारण कुपित त्रिदोष से मानी गई है । यह चार प्रकार का होता है (१)वातज । (२)पित्तज । (३) कफज । (४) सन्निपातज । यह रोग नैमित्तिक है । वातज का दौरा बारहवें दिन, पित्तज का पंद्रहवें दिन और कफज का तीसवें दिन होता है ।

पर्या०-अंगविकृति । लालाध । भूतविक्रिया । मृगी रोग ।

अपस्मारी-वि० [सं०] जिसे अपस्मार रोग हो ।

अपस्वार्थी-वि० [हिं० अप=अपना+सं० स्वार्थी] स्वार्थ साधनेवाला । मतलबी । काम निकालनेवाला ख़ुदग़रज़ ।

अपह-वि० [सं०] नाश करनेवाला । विनाशक । यह शब्द समासांत पद के अंत में प्रायः आता है । जैसे, क्लेशापह । तमोपह । तृषणापह ।

उ०—मनोज-वैरि-वंदितं, अजादि-देव-सेवितं। विशुद्ध बोध विग्रहं, समस्त दूषणापहं।—तुलसी।

अपहत—वि० [सं०] (१) नष्ट किया हुआ। मारा हुआ। (२) दूर किया हुआ। हटाया हुआ।

अपहतपाप्मा—वि० [सं०] सब पापों से विमुक्त। जिसके सब पाप नष्ट हो गए हों। पापशून्य। विधूतपाप।

अपहरण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपहरणीय, अपहरित, अपहृत। अपहर्ता] (१) छीनना। लेलेना। हरलेना। (२) चोरी। लूट। (३) छिपाव। संगोपन।

अपहरणीय—वि० [सं०] (१) छीनने योग्य। हरलेने योग्य। लेलेने योग्य। (२) चुराने योग्य। लूटने योग्य। (३) छिपाने योग्य। संगोपन करने के योग्य।

अपहरना*—क्रि० स० [सं० अपहरण] (१) छीनना। लेलेना। लूटना। (२) चुराना। उ०—जो ज्ञानिन कर चित अपहरई। बरियाई विमोह बस करई।—तुलसी। (३) कम करना। घटाना। क्षय कराना। नाश करना। उ०—शरदातप निशि शशि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई।—तुलसी।

अपहर्ता—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छीननेवाला। हरलेनेवाला। लेलेनेवाला। (२) चोर। लूटनेवाला। (३) छिपानेवाला।

अपहार—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपहारक, अपहारी, अपहारित, अपहार्य्य] (१) चोरी। लूट। (२) छिपाव। संगोपन।

अपहारक—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अपहारिका] (१) छीननेवाला। बलात् हरनेवाला। (२) डाकू। चोर। लुटेरा।

अपहारित—वि० [सं०] (१) छिनाया हुआ। छीना हुआ। हराया हुआ। (२) चुरवाया हुआ। लूटा हुआ। (३) छिपाया हुआ।

अपहारी—संज्ञा पुं० [सं० अपहारिन्] [स्त्री० अपहारिणी] (१) हरण करनेवाला। (२) नाश करनेवावाला। (३) चोर। लुटेरा। डाकू।

अपहार्य्य—वि० [सं०] छीनने योग्य। चोरी करने योग्य।

अपहास—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपहास। (२) अकारण हँसी।

अपहृत—वि० [सं०] छीना हुआ। चुराया हुआ। लूटा हुआ।

अपहेला—संज्ञा पुं० [सं०] तिरस्कार। फटकार। झिड़की।

अपह्नव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छिपाव। दुराव। (२) मिस। बहाना। टालमटूल। हीला। वाग्जाल से असली बात को छिपाना।

अपह्नुति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुराव। छिपाव। (२) बहाना। टालमटूल। हीला हवाला। (३) एक काव्यालङ्कार जिसमें उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन किया जाय। उ०—धुरवा होइ न अलि यहै धुवाँ धरनि चहुँ कोद। जारत आवत जगत को पावस प्रथम अयोद। इसके दो प्रधान भेद हैं—शब्दापह्नुति, और अर्थापह्नुति। उसके अतिरिक्त हेत्वपह्नुति, पर्य्यस्तापह्नुति, भ्रांतापह्नुति, छेकापह्नुति, व्यंग्यापह्नुति भी इसके भेद हैं।

अपह्नुवान—वि० [सं०] (१) छिपाता हुआ। छिपानेवाला। (२) नटनेवाला। इनकार करनेवाला।

अपांग—संज्ञा पुं० [सं०] आँख का कोना। आँख की कोर। कटाक्ष। वि० अंगहीन। अंगभंग।

अपांवत्स—संज्ञा पुं० [सं०] एक बड़ा तारा जो चित्रा नक्षत्र से पाँच अंश उत्तर विक्षेप में दिखाई पड़ता है।

अपांशुला—वि० स्त्री० [सं०] पतिव्रता।

अपा*—संज्ञा स्त्री० [हिं० आप] आत्मभाव। अहंकार। गर्व। घमंड। उ०—आधो छोड़ि ऊरध को धावे। अपा मेटि कै प्रेम बढ़ावे।—कबीर दे० "आपा"।

अपाक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अजीर्ण। अपच। (२) कच्चापन।

अपाकरण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अपाकृत] (१) पृथक्करण। अलग करना। (२) हटाना। दूर करना। निराकरण। निरसन। (३) चुकता करना। अदा वा बेबाक़ करना।

अपाकशाक—संज्ञा पुं० [सं०] अदरक। आदी।

अपाटव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पटुता का अभाव। अकुशलता। अनाड़ीपन। (२) अचंचलता। सुस्ती। मंदता। (३) कुरूपता। बदसूरती। (४) रोग। बीमारी। (५) मद्य। शराब। वि० (१) अपटु। अनाड़ी। (२) अचंचल। सुस्त। (३) कुरूप। बदसूरत। (४) रोगी। बीमार।

अपात्र—वि० [सं०] (१) अयोग्य। कुपात्र। (२) मूर्ख। (३) श्राद्धादि निमंत्रण के अयोग्य। (ब्राह्मण)।

अपात्रदायी—वि० [सं० अपात्रदायिन्] [स्त्री० अपात्रदायिनी] कुपात्र को दान देनेवाला।

अपात्रीकरण—संज्ञा पुं० [सं०] वह कर्म्म जिसके करने से ब्राह्मण अपात्र हो जाता है, जैसे झूठ बोलना, निंदित का दान लेना।

अपादान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हटाना। अलगाव। विभाग। (२) व्याकरण में पाँचवाँ कारक जिससे एक वस्तु से दूसरी वस्तु की क्रिया का प्रारंभ सूचित हो। इसका चिह्न 'से' है। उ०—वह "घर से" आता है।

अपान—संज्ञा पुं० (१) दस वा पाँच प्राणों में से एक। इन्हीं तीनों वायुओं में से कोई किसी को और कोई किसी को अपान कहते हैं—(क) वायु जो नासिका द्वारा बाहर से भीतर की ओर खींची जाती। (ख) गुदास्थ वायु जो मल मूत्र को बाहर निकालती है। (ग) वह वायु जो तालु से पीठ तक और गुदा से उपस्थ तक व्याप्त है। (२) वायु जो गुदा से निकले। (३) गुदा।

वि० (१) सब दुःखों को दूर करनेवाला। (२) ईश्वर का एक विशेषण।

*संज्ञा पुं० [हिं० अपना] (१) आत्मभाव। आत्मतत्व। आत्मज्ञान। उ०—(क) तुलसी भेकी की धँसनि. जड़ जनता

सनमान। उपजत हिय अभिमान भी, खोवत मूढ़ अपान। (ख) ऋषिराज राजा आज जनक समान को। बिनु गुन की कठिन गाँठ जड़ चेतन की छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।—तुलसी।

(२) आपा। आत्मगौरव। भरम। उ०—काहे को अनेक देव सेवत, जागै मसान, खोवत अपान सठ होत हठि प्रेत रे।—तुलसी।

(३) सुध। होश हवास।—उ० (क) भए मगन सब देखन हारे। जनक समान अपान बिसारे।—तुलसी। (ख) बरबस लिए उठाय उर, लाए कृपानिधान। भरत राम की मिलन लखि, बिसरा सबहि अपान। तुलसी।

(४) अहम्। अभिमान।

* सर्व० [हिं० अपना] अपना। निज का। उ०—पहिचान को केहि जान, सबहि अपान सुधि भोरी भई।—तुलसी।

अपानवायु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच प्रकार की वायु में एक। (२) गुदास्थ वायु। पाद।

अपाना †–सर्व० दे० "अपना"।

अपाप–संज्ञा पुं० [सं०] जो पाप न हो। पुण्य। सुकृति। उ०—संग नसै जिहि भाँति ज्यों उपजै पाप अपाप। तिनसों लिप्त न होहिं ते ज्यों उपलनि को आप।—केशव।

वि० [स्त्री० अपापा] निष्पाप। पापरहित।

अपामार्ग–संज्ञा पुं० [सं०] चिचड़ा। चिचड़ी। ऊँगा। ऊँगी। अँझाझारा। लटजीरा।

अपाय–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अपायी] (१) विश्लेष। अलगाव। (२) अपगमन। पीछे हटना। (३) नाश। * (४) अन्यथाचार। अनरीति। उपद्रव। उ०–करिय सँभार कोसल राय। अकनि जाके कठिन करतब अमित अनय अपाय।–तुलसी।

वि० [सं० अ=नहीं+पाद, प्रा० पाय=पैर] (१) बिना पैर का। लँगड़ा। अपाहिज। (२) निरुपाय। असमर्थ। उ०—राम नाम के जपे पै जाय जिय की जरनि। कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये जैसे तम जारिबे को चित्र को तरनि।—तुलसी।

अपायी–वि० [सं०] [स्त्री० अपायिनी] (१) नष्ट होने वाला। नश्वर। अस्थिर। अनित्य। (२) अलग होनेवाला।

अपार–वि० (१) जिसका पार न हो। सीमारहित। अनंत। असीम। बेहद। (२) असंख्य। अधिक। अतिशय। अगणित। बहुत।

संज्ञा पुं० सांख्य में वह तुष्टि जो धनोपार्जन के परिश्रम और अपमान से छुटकारा पाने पर होती है।

अपार्थ–वि० [सं०] (१) अर्थहीन। निरर्थक। (२) निष्प्रयोजन। व्यर्थ। (३) नष्ट। प्रभावशून्य।

संज्ञा पुं० कविता में वाक्यार्थ स्पष्ट न होने का दोष।

अपार्थक–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में एक निग्रह-स्थान जो ऐसे वाक्यों के प्रयोग से होता है जो पूर्वापर असंबद्ध हों।

अपाव–संज्ञा पुं० [सं० अपाय=नाश] अन्यथाचार। अन्याय। उपद्रव। उ०—सुनु सीता पति सील सुभाव खेलत संग अनुज बालक निति जोगवत अनट अपाव।—तुलसी।

अपावन–वि० पुं० [सं०] [स्त्री० अपावना] अपवित्र। अशुद्ध। मलिन।

अपावर्त्तन–संज्ञा पु० [सं०] (१) पलटाव। वापसी। (२) भागना। पीछे हटना। (३) लौटना।

अपाश्रित–वि० [सं०] (१) एकांत-सेवी। क्षेत्रसंन्यस्त। (२) जिसने संसार के सब कामों से छुटकारा पाया हो। विरक्त त्यागी

अपाहिज–वि० [सं० अपभंज, प्रा० अपहज] (१) अंगभंग। खंज। लूला लँगड़ा। (२) काम करने के अयोग्य। जो काम न कर सके। (३) आलसी।

अपिंडी–वि० [सं०] पिंडरहित। बिना शरीर का। अशरीरी। उ०—जैसे अपिंडी पिंड में त्यागत लखै न कोय। कहै कबीरा संत हो बड़ा अचंभा होय।—कबीर।

अपि–अव्य० [सं०] (१) भी। ही। (२) निश्चय। ठीक।

अपिच–अव्य० [सं०] (१) और भी। पुनश्च। (२) बल्कि।

अपितु–अव्य० [सं०] (१) किंतु (२) बल्कि।

अपिधान–संज्ञा पुं० [सं०] आच्छादन। आवरण। ढक्कन। पिहान।

यौ०—अमृतापिधान=भोजन के पीछे का आचमन। भोजन के उपरांत 'अमृतापिधानमसि' कह कर आचमन करते हैं।

अपिनद्ध–वि० [सं०] [स्त्री० अपिनद्धा] बँधा हुआ। जकड़ा हुआ। ढँका हुआ।

अपिहित–वि० [सं०] [स्त्री० अपिहिता] आच्छादित। ढँका हुआ। आवृत्त।

अपीच*–वि० [सं० अपीच्य] सुंदर। अच्छा। उ०—विमल बिछा इत गिलम गलीचा। तखत सिँहासन फरस अपीचा। बाँधहु ध्वज थल थलन अपीचौ। नृप मारग चंदन जल सींचौ।—रत्नाकर।

अपीच्य–वि० [सं०] (१) सुंदर। अच्छा। खूबसूरत।

यौ०—अपीच्य वेश। अपीच्य दर्शन।

(२) गोप्य। छिपा हुआ। अंतर्हित।

अपील–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) निवेदन। विचारार्थ प्रार्थना। (२) पुनर्विचारार्थ प्रार्थना। मातहत अदालत के फ़ैसले के विरुद्ध ऊँची अदालत में फिर विचार के लिये अभियोग उपस्थित करना। (३) वह प्रार्थना-पत्र जो किसी अदालत के फैसले को बदलवाने या रद्द कराने के लिये उससे ऊँची अदालत में दिया जाय।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अपीलांट–संज्ञा पुं० [अं० अपेलेंट] अपील करनेवाला व्यक्ति।

अपीली–वि० [अं० अपील] अपील-संबंधी।

अपुत्र–वि० [सं०] जिसके पुत्र न हो। निःसंतान। पुत्रहीन। निपूता।

अपुनपो*–संज्ञा पुं० दे० "अपनपौ"।

अपुनरावर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] पुनरावर्त्तन का अभाव। मुक्ति। मोक्ष।

अपुनरावृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुनरावृत्ति का अभाव। मोक्ष। निर्वाण।

अपुनर्भव–संज्ञा पुं० [सं०] फिर जन्म न ग्रहण करना। मोक्ष। निर्वाण।

अपुनीत–वि० [सं०] (१) जो पुनीत न हो। अपवित्र। अशुद्ध। (२) दूषित। दोषयुक्त।

अपूठना–*क्रि० स० [स० अ=नहीं+पृष्ठ, पा० पुट्ठ=पीठ] (१) विदारण करना। विध्वंस करना। नाश करना। (२) उलटना पलटना। उ०—जननी हौं रघुनाथ पठायो। राम चंद्र आये की तुमको देन बधाई आयो। रावण हति लै चलौं साथ ही लङ्का धरौं अपूठी। याते जिय अकुलात कृपानिधि करूँ प्रतिज्ञा झूठी।—सूर।

अपूठा*–वि० [स० अपुष्ट, प्रा० अपुट्ठ] [स्त्री० अपूठी] अपरिपक्व। अजानकार। अनभिज्ञ। उ०—तुम तो अपने ही मुख झूठे निर्गुण छबि हरि बिनु को पावै ज्यों आँगुरी अँगूठे। निकट रहत पुनि दूर बतावत हौ रस माँहि अपूठे।—सूर।

[सं० अस्फुट, प्रा० अप्फुट] अविकसित। बेखिला। बँधा। उ०—परमारथ पाको रतन, कबहुँ न दीजे पीठ। स्वारथ सेमल फूल है; कली अपूठी पीठ।—कबीर।

अपूत–वि० [सं०] अपवित्र। अशुद्ध।

* वि० [सं० अपुत्र, पा० अपुत्त] पुत्रहीन। निपूता।

* संज्ञा पुं० कुपूत। बुरा लड़का।

अपूप–संज्ञा पुं० [सं०] गेहूँ के आटे की लिट्टी जिसे मिट्टी के कपाल वा कसोरे में पका कर यज्ञ में देवताओं के निमित्त हवन करते थे।

अपूर–वि० [सं० आपूर्ण] पूरा। भरपूर। उ०—लवँग सुपारी जायफर सब फर फरे अपूर। आस पास घन इँमली औ घन तार खजूर। जल थल भरे अपूर सब धरति गगन मिल एक। धन जोवन औगाह महँ दै बूड़ी पिय टेक।—जायसी।

अपूरना*†–क्रि० स० [सं० आपूर्णन] (१) भरना। (२) फूकना। बजाना। उ०—सुना संख जो विष्णु अपूरा। आगे हनुमत करै लँगूरा।—जायसी।

अपूरब*–वि० दे० "अपूर्व"।

अपूरा*–संज्ञा पुं० [सं० आ+पूर्ण] [स्त्री० अपूरी] भरा हुआ। फैला हुआ। व्याप्त। उ०—चला कटक अस चढ़ा अपूरी। अगलहि पानी पिछलहि धूरी।—जायसी।

अपूर्ण–वि० [सं०] (१) जो पूर्ण न हो। जो भरा न हो। (२) अधूरा। असमाप्त। (३) कम।

अपूर्णता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अधूरापन। (२) न्यूनता। कमी।

अपूर्णभूत–संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में क्रिया का वह भूत-काल जिसमें क्रिया की समाप्ति न पाई जाय, जैसे वह खाता था।

अपूर्व–वि० [सं०] (१) जो पहिले न रहा हो। (२) अद्भुत। अनोखा। अलौकिक। विचित्र। (३) अनुपम। उत्तम। श्रेष्ठ।

अपूर्वता–संज्ञा स्त्री० [सं०] विलक्षणता। अनोखापन।

अपूर्वविधि–संज्ञा स्त्री० [सं] उस वस्तु को प्राप्त करने की विधि जिसका बोध प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से न हो सके। जैसे, स्वर्ग की कामना हो तो यज्ञ करे। यहाँ पर स्वर्ग, जिसकी प्राप्ति की विधि बताई गई है, प्रत्यक्ष और अनुमान आदि द्वारा नहीं सिद्ध होता। यह विधि चार प्रकार की है—(क) कर्म-विधि, जैसे अग्निहोत्र करे तो स्वर्ग होगा। (ख) गुण-विधि जिसमें यज्ञ वा कर्म के अनुष्ठान की सामग्री और देवता आदि का निर्देश हो। (ग) विनियोग-विधि, जैसे—गार्हपत्य में इंद्र की ऋचा की विनियोग करे। (घ) प्रयोग-विधि अर्थात् अमुक कर्म के हो जाने पर अमुक कर्म करने का आदेश, जैसे—गुरुकुल से विद्या पढ़कर समावर्त्तन करे।

अपूर्वरूप–संज्ञा पुं० [सं०] वह काव्यालंकार जिससे पूर्व गुण की प्राप्ति का निषेध हो। यह पूर्वरूप का विपरीत अलंकार है, जैसे—क्षय हो हो करहू शशी, बढ़त जु बारहि बार। त्यों पुनि योवन प्राप्ति नहिं, न कर मान निति नार। यहाँ पर यह दिखलाया गया है कि जिस प्रकार चंद्रमा क्षय को प्राप्त होकर फिर बढ़ता है उस प्रकार यौवन एक बार जाकर फिर नहीं आता।

अपृक्त–वि० सं०] (१) बेमेल। बेजोड़। बिना मिलावट का। असंबद्ध। बिना लगाव का। (२) खालिस। अकेला

संज्ञा पुं० [सं०] पाणिनि के मतानुसार एक अक्षर का प्रत्यय।

अपेक्षणीय–वि० [सं०] अपेक्षा करने योग्य।

अपेक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अपेक्षित] (१) आकांक्षा। इच्छा। अभिलाषा। चाह। जैसे—कौन पुरुष है जिसे धन की अपेक्षा न हो। (२) आवश्यकता। ज़रूरत। जैसे—संन्यासियों को धन की अपेक्षा नहीं है। आश्रय। भरोसा।

आशा। जैसे—पुरुषार्थी पुरुष किसी की अपेक्षा नहीं करते। (४) कार्य कारण का अन्योन्य संबंध। (५) निस्बत्। तुलना। मुकाबिला। उ०—बँगला की अपेक्षा हिंदी सरल है।

विशेष—इस अर्थ में यह मात्राभेद दिखाने ही के लिये व्यवहृत होता है और इसके आगे 'में' लुप्त रहता है।

अपेक्षित–वि० [सं०] (१) जिसकी अपेक्षा हो। जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यक। (२) इच्छित। वांछित।

अपेच्छा–संज्ञा स्त्री० दे० "अपेक्षा"।

अपेत–वि० [सं०] विगत। दूर गया हुआ।

अपेय–वि० [सं०] न पीने योग्य।

अपेल*–वि० [सं०] [अ=नहीं+पीड़्=दबाना, ढकेलना] जो हटे नहीं। जो टले नहीं। अटल। उ०—(क) वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल। बिनु हरि भजे न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।—तुलसी। (ख) प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई। करौ सो बेगि जो तुमहि सुहाई।—तुलसी।

अपैठ*–वि० [सं० अप्रविष्ट, पा० अपविट्ठ, प्रा० अपइट्ठ] जहाँ पैठ वा पहुँच न हो सके। दुर्गम। अगम।

अपोगंड–वि० [सं०] (१) सोलह वर्ष के ऊपर की अवस्थावाला। (२) बालिग़।

अप्तोर्याम–संज्ञा पुं० [सं०] अग्निष्टोम यज्ञ का एक अंग।

अप्यय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपगमन। (२) लय। नाश।

अप्रकाश–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अप्रकाशित, अप्रकाश्य] प्रकाश का अभाव। अंधकार।

अप्रकाशित–वि० [सं०] (१) जिसमें उजाला न किया गया हो। अँधेरा। (२) जो प्रगट न हुआ हो। गुप्त। छिपा। (३) जो सर्व साधारण के सामने रक्खा न गया हो। जो छाप कर प्रचलित न किया गया हो।

अप्रकाश्य–वि० [सं०] जो प्रकाश वा प्रकट करने योग्य न हो। गोप्य।

अप्रकृत–वि० [सं०] (१) अस्वाभाविक। (२) बनावटी। कृत्रिम। गढ़ा हुआ। (३) झूठा।

अप्रकृत आश्रित श्लेष–संज्ञा पुं० [सं०] श्लेषशब्दालंकार का एक भेद जिसमें अप्रस्तुत और अप्रस्तुत का श्लेष हो। उ०—तिय, तौ ऐसी चंचलता, जीवन सुखद समच्छ। बसति हृदय घनश्याम के बर सारंग सुअच्छ।

शब्दों को भंग अर्थात् अक्षरों को कुछ इधर उधर कर देने से यह दोहा स्त्री और बिजली दोनों पर घटता है। स्त्री-पक्ष में अर्थ करने से सखी नायिका से कहती है कि तेरे समान एक दूसरी स्त्री जीवनसुखदायिनी और कमलनयनी घनश्याम के हृदय में बसती है। बिजली-पक्ष लेने से यह अर्थ होता है कि हे स्त्री तेरे समान बिजली है जो जीवन अर्थात् जल देने वाली है, इत्यादि। इन दोनों पक्षों में दूसरी स्त्री और बिजली दोनों अप्रस्तुत हैं।

अप्रगल्भ–वि० [सं०] (१) अप्रौढ़। अपरिपक्व। अपरिपुष्ट। (२) निरुत्साह। निरुद्यम। ढीला। सुस्त।

अप्रखर–वि० [सं०] मृदु। कोमल।

अप्रचरित–वि० [सं०] जिसका प्रचार न हो। अप्रचलित।

अप्रचलित–वि० [सं०] जो प्रचलित न हो। जिसका चलन न हो। अव्यवहृत अप्रयुक्त।

अप्रच्छन्न–वि० [सं०] (१) जो प्रच्छन्न न हो। खुला हुआ। अनावृत। (२) स्पष्ट। प्रगट।

अप्रतर्क्य–वि० [सं०] जिसके विषय में तर्क वितर्क न हो सके। जो तर्क द्वारा निश्चित न हो सके।

अप्रतिकार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अप्रतिकारी] (१) उपाय का अभाव। तदबीर का न होना। (२) बदले का न होना। वि० (१) जिसका उपाय या तदबीर न हो सके। लाइलाज। (२) जिसका बदला न दिया जा सके।

अप्रतिकारी–वि० [सं० अप्रतिकारिन्] [स्त्री० अप्रतिकारिणी] (१) उपाय वा तदबीर न करनेवाला। (२) बदला न लेनेवाला। बदला न देनेवाला।

अप्रतिगृहीत–वि० [सं०] जिसका प्रतिग्रह न किया गया हो। जो लिया न गया हो।

अप्रतिग्रहण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अप्रतिग्राह्य, अप्रतिगृहीत] (१) दान न लेना। किसी वस्तु का ग्रहण न करना। (२) विवाह न करना। कन्या-दान का ग्रहण न करना।

अप्रतिग्राह्य–वि० [सं०] जो प्रतिग्रहण करने योग्य न हो। जो लेने योग्य न हो।

अप्रतिघात–वि० [सं०] (१) बिना प्रतिघात का। जिसका कोई प्रतिघात वा विरोधी न हो। बेरोक। (२) बेठोकर। बेचोट। धक्के से बचा हुआ।

अप्रतिपत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अप्रतिपन्न] (१) प्रकृत अर्थ समझने की अयोग्यता। (२) कर्त्तव्य निश्चय का अभाव। क्या करना चाहिए इसका बोध न होना। (३) निश्चय का अभाव।

अप्रतिपन्न–वि० [सं०] (१) कर्त्तव्य-ज्ञान-शून्य। (२) अनिश्चित। अज्ञात।

अप्रतिबंध–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अप्रतिबद्ध] रुकावट का न होना। स्वच्छंदता।

अप्रतिबद्ध–वि० [सं०] (१) बेरोक। स्वतंत्र। स्वच्छंद। (२) मनमाना।

अप्रतिभ–वि० [सं०] (१) प्रतिभाशून्य। चेष्टाहीन। उदास। (२) अप्रगल्भ। स्फूर्तिशून्य। सुस्त। मंद। (३) मतिहीन। निर्बुद्धि। (४) लजालु। लजीला।

अप्रतिभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतिभा का अभाव । (२) न्याय में वह निग्रह-स्थान जहाँ उत्तर-पक्ष वाला पर-पक्ष का खंडन न कर सके ।

अप्रतिम–वि० [सं०] जिसके समान कोई दूसरा न हो । असदृश । अद्वितीय । अनुपम । बेजोड़ ।

अप्रतिमान–वि० [सं०] अद्वितीय । बेजोड़ ।

अप्रतिरूप–वि० [सं०] जिसका कोई प्रतिरूप न हो । अद्वितीय । अनुपम ।

अप्रतिषिद्ध–वि० [सं०] अनिषिद्ध । सम्मत ।
संज्ञा पुं० [सं०] वास्तु विद्या में ९ भागों में विभक्त स्तंभ परिमाण के उस भाग का नाम जो ऊपर से गिनने से दूसरा पड़े ।

अप्रतिष्ठ–वि० [सं०] प्रतिष्ठाहीन । बेइज़्ज़त । तिरस्कृत ।

अप्रतिष्ठा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अप्रतिष्ठित] 'प्रतिष्ठा' का उलटा (१) अनादर । अपमान । (२) अयश । अपकीर्त्ति ।

अप्रतिष्ठित–वि० [सं०] जो प्रतिष्ठित न हो । तिरस्कृत ।

अप्रतिहत–वि० [सं०] (१) जो प्रतिहत न हो । जिसका विघात न हुआ हो (२) अपराजित । (३) बिना रोक टोक का ।

अप्रतीकार–संज्ञा पुं० दे० "अप्रतिकार" ।

अप्रतीकारी–वि० दे० "अप्रतिकारी" ।

अप्रतीघात–वि० दे० "अप्रतिघात" ।

अप्रतीयमान– वि० [सं०] जो प्रतीयमान वा निश्चित न हो । अनिश्चित ।

अप्रतुल–वि० [सं०] (१) जिसकी तुलना वा मान न हो सके । बेपरिमाण । बेहद । (२) अनुपम । बेजोड़ ।

अप्रत्यक्ष–वि० [सं०] (१) जो प्रत्यक्ष न हो । परोक्ष । (२) छिपा । गुप्त ।

अप्रत्यनीक–संज्ञा पुं० [सं०] वह काव्यालंकार जिस में शत्रु के जीतने के सामर्थ्य के कारण उससे संबंध रखनेवाली वस्तुओं का तिरस्कार न किया जाय । जैसे—नृप यह पीड़त है परहि, नहिं पर प्रजा मुरार । राहु शशी को ग्रसत है, नहिं तारन जुनिहार ।

अप्रधान–वि० [सं०] जो प्रधान वा मुख्य न हो । गौण । साधारण । सामान्य ।

अप्रमेय–वि० [सं०] जो नापा न जा सके । अपरिमित । अपार । अनंत ।

अप्रयुक्त–वि० [सं०] जिसका प्रयोग न हुआ हो । जो काम में न लाया गया हो । अव्यवहृत ।

अप्रवृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रवृत्ति का अभाव । चित्त का झुकाव न होना । (२) किसी सिद्धांत वा सूत्र का न लगना । किसी विचार का प्रयुक्त स्थान पर न खपना । (३) अप्रचार ।

अप्रशंसनीय–वि० [सं०] निंदनीय । निंदा के योग्य ।

अप्रशस्त–वि० [सं०] जो प्रशस्त न हो । नीच । कुत्सित । बुरा ।

अप्रसन्न–वि० [सं०] (१) जो प्रसन्न न हो । असंतुष्ट । नाराज़ । (२) खिन्न । दुखी । उदास । विरक्त ।

अप्रसन्नता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाराज़गी । असंतोष । (२) रोष । कोप । (३) खिन्नता । उदासी ।

अप्रसिद्ध–वि० [सं० [(१) जो प्रसिद्ध न हो । अविख्यात । जिसको लोग न जानते हों । (२) गुप्त । छिपा हुआ । तिरोहित ।

अप्रस्तुत–वि० [सं०] जो प्रस्तुत वा मौजूद न हो । अनुपस्थित । (२) जो प्रसंग प्राप्त न हो । अप्रासंगिक । जिसकी चर्चा न आई हो । (३) जो तैयार न हो । जो उद्यत न हो । (४) गौण । अप्रधान ।

अप्रस्तुत प्रशंसा–संज्ञा पुं० [सं०] वह अर्थालंकार जिसमें अप्रस्तुत के कथन द्वारा प्रस्तुत का बोध कराया जाय । इसके पांच भेद हैं—(क) कारण निबंधना, जहाँ प्रस्तुत वा इष्ट कार्य्य का बोध कराने के लिये अप्रस्तुत कारण का कथन किया जाय । उ०—लीनो राधा मुख रचन, विधि ने सार तमाम । तिहि मग होय अकाश यह शशि में दीखत श्याम ।—मतिराम । (ख) कार्य्य निबंधना, जहां कारण इष्ट हो और कार्य्य का कथन किया जाय । उ०—तू पद नख की दुति कछुक, गइ धोवन जल साथ । तिहि कन मिलि दधि मथन में, चंद्र भयो है नाथ ।—मतिराम । (ग) विशेष निबंधना । जहाँ सामान्य इष्ट हो और विशेष का कथन किया जाय । उ०—लालन सुरतरु धनद हू, अनहितकारी होय । तिनहुं को आदर न है, यों मानत बुध लोय ।—मतिराम । (घ) सामान्य निबंधना, जहां विशेष करना इष्ट हो पर सामान्य का कथन किया जाय । उ०—सीख न मानै गुरन की, अहितहि हित मन मानि । सो पछतावै तासु फल, ललन भये हित हानि ।—मतिराम । (च) सारूप्य निबंधना, जहाँ अभीष्ट वस्तु का बोध उसके तुल्य वस्तु के कथन द्वारा कराया जाय । उ०—बक धरि धीरज कपट तजि, जो बनि रहै मराल । उघरै अंत गुलाब कवि, अपनी बोलनि चाल ।—गुलाब ।

अप्रहत–वि० [सं०] (१) कोरा (कपड़ा) । जो (वस्त्र) पहिना न गया हो । (२) जो (भूमि) जोती न गई हो ।

अप्राकृत–वि० [सं०] जो प्राकृत न हो । अस्वाभाविक । असामान्य । असाधारण ।

अप्राण–वि० [सं०] (१) बिना प्राण का । निर्जीव । मृत । (२) ईश्वर का एक विशेषण ।

अप्राप्त–वि० [सं०] (१) जो प्राप्त न हो । जो मिला न हो । अलब्ध । दुर्लभ । अलभ्य । (२) जिसे प्राप्त न हुआ हो । उ०—अप्राप्त वयस्क, अप्राप्त यौवना । (३) अप्रत्यक्ष परोक्ष । अप्रस्तुत । (४) अनागत । जो आया न हो ।

अप्राप्तकाल–संज्ञा सं० [पुं०] (१) आनेवाला समय। भविष्य। (२) अनवसर। उपयुक्त समय के पहले का समय। (३) न्याय में तर्क के समय क्षोभ के कारण प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण आदि को यथाक्रम न कहकर अंडबंड कह जाने का दोष।

अप्राप्त व्यवहार–वि० [सं०] सोलह वर्ष के भीतर का (बालक) जिसे धर्मशास्त्र के अनुसार जायदाद पर स्वत्व न प्राप्त हुआ हो। नाबालिग़।

अप्राप्य–वि० [सं०] जो प्राप्त न हो सके। जो मिले न। अलभ्य।

अप्रमाणिक–वि० [सं० [स्त्री० अप्रमाणिकी] (१) जो प्रमाण-सिद्ध न हो। ऊटपटांग। (२) जिस पर विश्वास न किया जा सके।

अप्रासंगिक–वि० [सं०] जो प्रसंग-प्राप्त न हो। प्रसंग-विरुद्ध। जिसकी कोई चर्चा न हो।

अप्रिय–वि० पुं० [सं०] [स्त्री० अप्रिया] (१) जो प्रिय न हो। अरुचिकर। जो न रुचे। जो पसंद न हो। (२) जो प्यारा न हो। जिसकी चाह न हो।

संज्ञा पुं० [सं०] वैरी। शत्रु।

यौ०—अप्रियंवद। अप्रियकर। अप्रियकारी। अप्रियवादी।

अप्रीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्नेह वा प्रेम का अभाव। चाह का न होना। (२) अरुचि। (३) विरोध। वैर।

अप्रेंटिस–संज्ञा पुं० [अं०] वह पुरुष जो किसी कार्य्य में कुशलता प्राप्त करने के लिये किसी कार्य्यालय में बिना वेतन लिए वा अल्प वेतन पर काम करे। उम्मेदवार।

अप्रैल–संज्ञा पुं० [अं० एप्रिल] एक अंग्रेज़ी महीना जो प्रायः चैत में पड़ता है। यह महीना ३० दिन का होता है।

अप्रैलफ़ूल–संज्ञा पुं० [अं० एप्रिल फ़ूल] जो अप्रैल महीने के पहिले दिन हँसी में बेवकूफ़ बनाया जाय। इस दिन योरपवाले हँसी-दिल्लगी करना उचित मानते हैं।

अप्रौढ़–वि० [सं०] (१) जो पुष्ट न हो। कमज़ोर। (२) कच्ची उम्र का। नाबालिग़।

अप्सर*–संज्ञा [स्त्री० दे० "अप्सरा"।

अप्सरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंबुकण। वाष्पकण। (२) देवयाओं की एक जाति। (३) स्वर्ग की वेश्या। इंद्र की सभा में नाचनेवाली देवांगना। परी। ये इसलिये अप्सरा कहलाती हैं कि समुद्र-मथन के समय ये उसमें से निकली थीं।

अफ़ग़ान–संज्ञा पुं० [अ०] अफ़ग़ानिस्तान का रहनेवाला। काबुली।

अफ़ज़ूँ–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वृद्धि। अधिकता।

वि० अवशेष। फ़ाज़िल। जो आवश्यकता से अधिक हो। उबरा हुआ। ख़र्च से बचा हुआ।

अफ़ताब†–संज्ञा पुं० दे० "आफ़ताब"।

अफ़ताबा†–संज्ञा पुं० दे० "आफ़ताबा"।

अफ़ताबी†संज्ञा स्त्री० दे० "आफ़ताबी"।

अफ़यून–संज्ञा स्त्री० दे० "अफ़ीम"।

अफ़यूनी–वि० दे० "अफ़ीमची"।

अफरना–क्रि० अ० [सं० स्फार=प्रचुर] (१) पेट भर कर खाना। भोजन से तृप्त होना। उ०—प्रगट मिले बिन भावते, कैसे नैन अघात। भूखे अफरत कहुँ सुने, सुरति मिठाई खात।—रसनिधि। (१) पेट का फूलना। उ०—(क) लेइ बिचार लगा रहे दादू जरता जाय। कबहूँ पेट न अफरई, भावइ तेता खाय।—दादू। (ख) अफरी बीबी दे मारी।—(रोटी)

(३) ऊबना। उ०—हम उनकी यह लीला देखते देखते अफर गए।

अफरा–संज्ञा पुं० [सं० स्फार=प्रचुर] (१) फूलना। पेट फूलना। (२) अजीर्ण वा वायु से पेट फूलने का रोग।

अफ़रा तफ़री–संज्ञा स्त्री० [अ० अफरात तफ़रीत] (१) उलट-फेर। लौट-पौट। (२) जल्दी। हड़बड़ी।

अफ़राना*–क्रि० अ० [सं० स्फार] पेट भरने से संतुष्ट होना। अघाना।। उ०—गदहा थोरे दिनन में खूँद खाइ इतरात। अफरान्यो मारन कह्यो एराकी को लात।—गिरिधर।

अफ़रीदी–संज्ञा पुं० [अ०] पठानों की एक जाति जो पेशावर के उत्तर की पहाड़ियों में रहती है।

अफल–वि० [सं०] (१) जिसमें फल नहीं। बिना फल का। फलहीन। निष्फल। (२) व्यर्थ। निष्प्रयोजन। (३) बाँझ। बंध्या। संज्ञा पुं० [सं०] झाऊ का वृक्ष।

अफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूम्यामलकी। भुंइ आँवला। (२) घृतकुमारी। घीकार।

अफलित–वि० [सं०] (१) जिसमें फल न लगे। फलहीन। (२) निष्फल। परिणामरहित।

अफवा–संज्ञा स्त्री० दे० "अफ़वाह"।

अफवाह–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) उड़ती ख़बर। बाज़ारू ख़बर। किंवदंती। (२) मिथ्या समाचार। गप्प।

क्रि० प्र०—उड़ाना।—फैलाना।

अफशा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] प्रकाश। प्रकट। जाहिर।

यौ०—अफ़शाय राज़=गुप्त मंत्रणा का प्रकाश।

अफसंतीन–संज्ञा पुं० [यू०] एक पौधा जो काश्मीर में ५००० से ७००० फुट की ऊँचाई पर होता है। यह कड़ुवा और नशीला होता है। इससे एक हरे वा पीले रंग का तेल निकाला जाता है जो झारदार तथा कड़ुआ होता है। विशेष मात्रा से प्रयोग करने से यह तेल विषैला हो जाता है। इसकी पत्ती विशेष कर यूनानी दवाओं में काम आती है।

अफ़सर–संज्ञा पुं० [अं० आफ़िसर] [संज्ञा अफ़सरी] (१) प्रधान। मुखिया। अधिकारी। (२) हाकिम। प्रधान कर्मचारी।

अफ़सरी–संज्ञा स्त्री० (१) अधिकार। प्रधानता। (२) हुकूमत। शासन।

क्रि० प्र०—करना।—जताना।

अफ़साना–संज्ञा पुं० [फ़ा०] क़िस्सा। कहानी। कथा। आख्यायिका।

अफ़सोस–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) शोक। रंज। (२) पश्चात्ताप। खेद। पछतावा। दुःख।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

अफ़ीडेविट्–संज्ञा स्त्री० [अं० एफ़िडेविट्] (१) हलफ़। शपथ। (२) हलफ़नामा।

अफ़ीम–संज्ञा स्त्री० [यू० ओपियन०, अं अफ़यून] पोस्त की ढेंढ की गोंद जो काछ कर इकट्ठी की जाती है। यह कड़ुई, मादक और स्तंभक होती है। इसके खाने से कोष्ठबद्ध होता और नींद आती है। विशेष मात्रा में विषैली और प्राण-घातक है। इसके लेप से पीड़ा दूर होती है और सूजन उतर जाती है। इसका प्रयोग संग्रहणी, अतीसारादि में होता है। वीर्य्यस्तंभन की औषधियों में भी इसका प्रयोग होता है। इसके खानेवाले झपकी लेते हैं और दूध मिठाई आदि पर बड़ी रुचि रखते हैं। यह नज़ले को दूर करती है और वृद्धावस्था में फुर्ती लाती है।

अफ़ीमची–संज्ञा पुं० अं० अफ़यून+ची (प्रत्य०)] अफ़ीम खाने वाला। वह पुरुष जिसे अफ़ीम खाने की लत हो।

अफ़ीमी–वि० [अं० अफ़यून] अफ़ीम खानेवाला। अफ़ीमची।

अफुल्ल–वि० [सं०] अविकसित। बेखिला।

अफ़ू–संज्ञा स्त्री० दे० "अफ़ीम"।

अबंध्य–वि० [सं०] [स्त्री० अबंध्या] सफल। फलीभूत। अव्यर्थ।

अब–क्रि० वि० [सं० अथ, प्रा० अह। अथवा सं० अद्य] इस समय। इस क्षण। इस घड़ी।

मुहा०—अब का=इस समय का। आधुनिक। † अब की=इस बार। अब जाकर=इतनी देर पीछे। उ०—महीनों से इस काम में लगे हैं, अब जाकर ख़तम हुआ है। अब तक लगना या होना=मरने का समय निकट पहुँचना। उ०—जब वैद्य आया तब उसका अबतब लगा था। अब भी=(१) इस समय भी। (२) इतने पर भी। उ०—इतनी हानि उठाई अब भी नहीं चेतते। अब से=इस समय से आगे। भविष्य में। उ०-अब से मैं ऐसा काम भूल कर भी न करूँगा।

अबका–संज्ञा पुं० [सं० अबका=सेवार] एक पौधा जिसके डंठल की छाल रेशेदार होती है और रस्सी बनाने के काम में आती है। ख़ूदब का मैनिला पेपर बनता है। यह पौधा फिलिपाइन देश का है। अब इसकी खेती अण्डमन टापू और आराकान की पहाड़ियों में भी होती है। इसकी खेती इस प्रकार की जाती है। इसकी जड़ से पेड़ के चारों ओर पौधे भूफोड़ निकलते हैं। जब वे पौधे तीन तीन फुट के हो जाते हैं तब उन्हें उखाड़ कर खेतों में ८।९ फुट की दूरी पर लगाते हैं। तीन चार साल में इसकी फ़सल तैयार होती है तब इसे एक एक फुट ऊपर से काट लेते हैं। डंठलों से इसकी छाल निकाल ली जाती है और साफ़ करके रस्सी आदि बनाने के काम में आती है।

अबख़रा–संज्ञा सं० [अ०] भाप। वाष्प।

क्रि० प्र०—उठना।—चढ़ना।

अबख़ोरा†–संज्ञा पुं० दे० "आबख़ोरा"।

अबज़रवेटरी–संज्ञा स्त्री० [अं० आबजरवेटरी] वह स्थान जहाँ ग्रहों की गति, ग्रहण, ग्रहयुद्ध आदि खगोल-संबंधी घटनाओं का निरीक्षण किया जाता है। वेधालय। वेधशाला। वेधमंदिर। मानमंदिर।

अबटन†–संज्ञा पुं० दे० "उबटन"।

अबतर–वि० [फ़ा०] [संज्ञा अबतरी] (१) बुरा। रद्द। ख़राब। (२) गिरा हुआ। बिगड़ा हुआ।

अबतरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) घटाव। बिगाड़। अवनति। क्षय। (२) बुराई। ख़राबी।

अबद्ध–वि० [सं०] (१) जो बँधा न हो। मुक्त। (२) स्वच्छंद। निरंकुश। (३) असंबद्ध।

यौ०—अबद्ध वाक्य=वह असंबद्ध वाक्य जिसमें अन्वय बोध की योग्यता न हो अर्थात् जिससे कोई अभिप्राय न निकले। जैसे कोई कहे कि मैं आजन्म मौन हूँ, मेरा बाप ब्रह्मचारी, माता बंध्या और पितामह अपुत्र था। अबद्धमुख=जिसके मुँह में लगाम न हो। अंडबंड बोलनेवाला।

अबधू॰–वि० [सं० अबोध, पुं० हिं० अबोधु] अज्ञानी। अबोध। मूर्ख। संज्ञा पुं० [सं० अवधूत] त्यागी। संन्यासी। विरागी। अवधूत। संत। साधु। उ०—(क) जिन अबधू गुरु ज्ञान लखाया। ताकर मन तहई लै धाया।—कबीर। (ख) उ०—अबधू छोड़ो मन विस्तारा।—कबीर। (ग) अबधू कुदरत की गति न्यारी।—कबीर।

अबध्य–वि० [सं०] [स्त्री० अबध्या] (१) न मारने योग्य। जिसे मारना उचित न हो। (२) जिसे मारने का विधान न हो। जिसे शास्त्रानुसार प्राण-दंड न दिया जा सके, जैसे, स्त्री, ब्राह्मण, बालक। (३) जो किसी से न मरे। जिसे कोई मार न सके।

अबरक–संज्ञा पुं० [सं० अभ्रक] (१) एक धातु जो खानों से निकलती है। यह बड़े बड़े ढोंकों में तह पर तह जमी हुई पहाड़ों पर मिलती है। साफ़ करके निकालने पर इसकी तह काँच की तरह निकलती है। अबरक के पत्तर कंदील इत्यादि में लगाते हैं तथा विलायत में भी भेजे जाते हैं। वहाँ ये

काँच की टट्टी की जगह किवाड़ के पल्लों में लगाने के काम में आते हैं। यह धातु आग से नहीं जलती और लचीली होती है। यह दो रंग की होती है, सफ़ेद और काली। यह भारतवर्ष में बंगाल, राजपुताना, मद्रास आदि की पहाड़ियों में मिलती है। वैद्य लोग इसके भस्म को वृष्य मानते हैं और औषधों में इसका प्रयोग करते हैं। भस्म बनाने में काले रंग का अबरक अच्छा समझा जाता है। निश्चंद्र अर्थात् आभा-रहित हो जाने पर भस्म बनता है। भोडल। भोडर। भुरवल। (२) एक प्रकार का पत्थर जो खान से निकलता है और बरतन बनाने के काम में आता है। यह बहुत चिकना होता है। इसकी बुकनी चीज़ों को चमकाने के लिये पालिस वा रौग़न बनाने के काम में आती है।

अबरख-संज्ञा पुं० दे० "अबरक"।

अबरन*-वि० [सं० अवर्ण्य] जो वर्णन न हो सके। अकथनीय। उ०—(क) अबरन को क्यों बरनिये मो पै बरनि न जाय। अबरन बरने बाहरी करि करि थका उपाय।—कबीर। (ख) भजि मन नँदनंदन चरन। परम पंकज अति मनोहर सकल सुख के करन। सनक शंकर ध्यान ध्यावत निगम अबरन बरन। शेष सारद ऋषि सुनारद संत चिंतत चरन।—सूर।

वि० [सं० अवर्ण] (१) बिना रूप रंग का। वर्णशून्य। उ०—अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सों सब वहि सों बरता।—जायसी। (२) एक रंग का नहीं। भिन्न। उ०—हद छोड़ बेहद भया अबरन किया मिलान। दास कबीरा मिल रहा सो कहिए रहमान।—कबीर।

संज्ञा पुं० दे० "आवरण"।

अबरस-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) घोड़े का एक रंग जो सब्ज़े से कुछ खुलता हुआ सफ़ेद होता है। (२) घोड़ा जिसका सब्ज़े से कुछ खुलता हुआ सफ़ेद रंग हो। उ०—अबलक अबरस लखी सिराजी। चौधर चाल समुँद सब ताजी।—जायसी।

वि० सब्ज़े से कुछ खुलता हुआ सफ़ेद रंग का।

अबरा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] 'अस्तर' का उलटा। दोहरे वस्त्र के ऊपर का पल्ला। उपल्ला। उपल्ली।

अबरी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) एक प्रकार का चिकना काग़ज़ जिस पर बादल की सी धारियाँ होती हैं। यह पुस्तकों की दफ़्ती पर लगाया जाता है और कई रंगों का होता है। (२) पीले रंग का एक पत्थर जो पच्चीकारी के काम में आता है। यह जैसलमेर में निकलता है इसलिये इसको जैसलमेरी भी कहते हैं। (२) एक प्रकार की लाह की रँगाई जो रंग बिरंगे बादलों की छींटों की तरह होती है।

† [सं० आ+वारि=जल। अथवा अवार=दूसरा किनारा] गड्ढे वा नदी का पानी से मिला हुआ किनारा।

अबल-वि० [सं०] निर्बल। कमज़ोर। उ०—कैसे निबहैं अबल जन, करि सबलन सों बैर।—सभा वि०।

अबलक-वि० दे० "अबलख"।

अबलख-वि० [सं० अवलक्ष=श्वेत] कबरा। दोरंगा। सफ़ेद और काला अथवा सफ़ेद और लाल रंग का।

संज्ञा पुं० (१) वह घोड़ा जिसका रंग सफ़ेद और काला हो। उ०—अबलख अबसर लखी सिराजी। चौधर चाल समुँद सब ताजी।—जायसी। (२) वह बैल जिसका रंग सफ़ेद और काला हो। कबरा बैल।

अबलखा-संज्ञा स्त्री० [सं० अवलक्ष] एक पक्षी जिसका शरीर काला होता है, केवल पेट सफ़ेद होता है। इसके पैर सफ़ेदी लिए हुए होते हैं। चोंच का रंग नारंगी का सा होता है। यह संयुक्त-प्रांत, बिहार और बंगाल में होता है और पत्तियों और परों का घोसला बनाता है। एक बार में चार-पाँच अंडे देता है। इसकी लंबाई ९ इंच होती है।

अबला-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री। उ०—पावस कठिन जु पीर, अबला क्यों करि सह सकै। तेऊ धरत न धीर, रक्त बीज सम अवतरे।—बिहारी।

यौ०—अबलासेन=कामदेव।

अबवाब-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह अधिक कर जो सरकार मालगुज़ारी पर लगाती है। (२) वह अधिक कर जो लगान पर ज़मींदार को असामी से मिलता है। भेजा। अधिक कर। लगता। (३) वह कर जो गाँव के व्यापारियों तथा लोहार, सोनार आदि पेशेवालों से ज़मींदार को मिलता है। घरद्वारी। बसौरी। भिटौरी।

अबा-संज्ञा पुं० [अ०] एक पहिनावा जो अंगे के बराबर वा उससे कुछ अधिक लंबा होता है। यह ढीलाढाला होता है और सामने खुला होता है। इसमें छः कलियाँ होती हैं और सामने केवल दो घुंडियाँ वा तुकमे लगते हैं। कोई कोई इसमें गरेबान भी लगाते हैं। यह पहिनावा मुसलमानों के समय से चला आता है।

अबाती*-वि० [सं० अ=नहीं+वात=वायु] (१) बिना वायु का। (२) जिसे वायु न हिलाती हो। (३) भीतर भीतर सुलगने वाला। उ०—आइ तजि हौं तो तोहि, तरनि तनूजा तीर, ताकि ताकि तारापति तरफति ताती सी। कहै पदमाकर घरीक ही में घनश्याम काम तौक तलवाज कुंजन है काती सी। याही छिन वाही सों न मोहन मिलोगे जौपै लगनि लगाई एती अगिनि अबाती सी। रावरी दुहाई तो बुझाई न बुझैगी फिर नेह भरी नागरी की देह दिया बाती सी।—पद्माकर।

अबाद*-वि० [सं० अवाद] वादशून्य। निर्विवाद। उ०—ब्रह्म विचारे ब्रह्म को पारख गुरु परसाद। रहित रहै पद राखि के जिव से होय अबाद।—कबीर।

अबादान-वि० [अ० आबाद] बसा हुआ । पूर्ण । भरा पूरा । उ०—यह गाँव अबादान रहे ।—फ़कीरों की बोली ।

अबादानी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० आबादानी] (१) पूर्णता । बस्ती । उ०-भूखे को अन्न पियासे को पानी । जंगल जंगल अबादानी । (२) शुभचिंतकता । उ०—जिसका खावे अन्न पानी उसकी करै अबादानी । (३) चहल पहल । मनोरंजकता । उ०—जहाँ रहैं मियाँ रमजानी । वहीं होय अबादानी ।

अबाध-वि० [सं०] (१) बाधारहित । बेरोक । (२) निर्विघ्न । उ०—रामभक्ति निरुपम निरुपाधी । बसै जासु उर सदा अबाधी ।—तुलसी । (३) अपार । अपरिमित । बेहद । उ०—(क) अकल अनीह अबाध अभेद । नेति नेति कहि गावहिं वेद ।—सूर । (ख) खेल्यो जाय श्याम सँग राधा । सँग खेलत दोऊ झगड़न लागे सोभा बढ़ी अबाधा ।—सूर । (ग) रघुपति महिमा अगुन अबाधा । बरनै सोइ बर बारि अगाधा—तुलसी ।

अबाधा-वि० दे० "अबाध" ।

अबाधित-वि० [सं०] (१) बाधारहित । बेरोक । (२) स्वच्छंद । स्वतंत्र ।

अबाध्य-वि० [सं०] (१) बेरोक । जो रोका न जा सके । (२) अनिवार्य्य ।

अबान-वि० [अ=नहीं+हिं० बाना=चिह्न] शस्त्ररहित । हथियार छोड़े हुए । निहत्था । उ०—(क) ज्यों टूटत बंधै, जात कबंधै क्यों फिर संधै खीन खए । ब्रजबीर अबाने, दैतघवाने सब मरदाने पीठ भए ।—सूदन । (ख) चढ़े पिट्ठ दस कोस लों सब ब्रजबीर अबान । फते पाय सूरजबली ठाढ़ो ता मैदान ।—सूदन ।

अबाबील-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] काले रंग की एक चिड़िया । इसकी छाती का रंग कुछ खुलता होता है । पैर इसके बहुत छोटे-छोटे होते हैं जिस कारण यह बैठ नहीं सकती और दिनभर आकाश में बहुत ऊपर झुंड के साथ उड़ती रहती है । यह पृथ्वी के सब देशों में होती है । इसके घोंसले पुरानी दीवारों पर मिलते हैं । कृष्णा । कन्हैया । देव दिलाई ।

अबार*-संज्ञा स्त्री० [सं० अ=बुरा+वेला=हिं० बेर=समय] देर । बेर । बिलंब । उ०—(क) परशुराम जमदग्नि के गेह लीन अवतार । माता ताकी यमुन जल लेन गई एक बार । लागी तहाँ अबार तिहि ऋषि करि क्रोध अपार । परशुराम को यों कही माँ को वेगि सँहार ।—सूर । (ख) हरि को टेरत हैं नँदरानी । बहुत अबार कतहुँ खेलत भई कहाँ रहे मेरे सारँगपानी ।—सूर ।

अबाल-वि [सं०] (१) जो बालक न हो । जवान । (२) पूर्ण । पूरा । उ०—अबालेंदु=पूर्णचंद्र ।

संज्ञा पुं० [देश०] वह रस्सी जो चरखे की पंखुड़ियों को बाँध कर तानी जाती है और जिस पर से होकर माला चलती है ।

अबाली-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक पक्षी जो उत्तरीय भारत और बंबई प्रांत तथा आसाम चीन और स्याम में मिलता है । यह अपना घोंसला घास या पर का बनाता है । बेंगनकुटी ।

अबिंधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र । (२) बड़वानल ।

अबिंध्य-संज्ञा पुं० [सं०] रावण का एक मंत्री । यह बड़ा विद्वान्, शीलवान् और वृद्ध मंत्री था । इसने रावण से सीता को लौटा देने के लिये कहा था ।

अबिद्ध-वि० [सं० अविद्ध] अनबेधा । बिना छिदा हुआ । दे० "अविद्ध" ।

अबिद्धकर्णी-संज्ञा स्त्री० दे० 'अविद्धकर्णी ।'

अबिरल-वि० दे० 'अविरल ।'

अबीर-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० अबीरी] (१) रंगीन बुकनी जिसे लोग होली के दिनों में अपने इष्ट मित्रों पर डालते हैं । यह प्रायः लाल रंग की होती है और सिंघाड़े के आटे में हलदी और चूना मिला कर बनती है । अब अरारोट और बिलायती बुकनियों से तैयार की जाती है । गुलाल उ०—अगर धूप बहु जनु अँधियारी ।—उड़हिं अबीर मनहु अरुनारी ।—तुलसी । (२) कहीं कहीं अभ्रक के चूर्ण को भी, जिसे होली में लोग अपने इष्ट मित्रों के मुख पर मलते हैं, अबीर कहते हैं । बुक्का । (३) श्वेत रंग की सुगंध मिली बुकनी जो बल्लभकुल के मंदिरों में होली में उड़ाई जाती है ।

अबीरी-वि० [अ०] अबीर के रंग का । कुछ कुछ स्याही लिए लाल रंग का ।

संज्ञा पुं० अबीरी रंग ।

अबुझ*-वि० दे० "अबूझ" ।

अबुध-वि० [सं०] अबोध । नासमझ । अज्ञानी । मूर्ख । उ०—भानु-बंस राकेस कलंकू । निपट निरंकुस अबुध असंकू ।—तुलसी ।

अबूझ-वि० [सं० अबुद्ध, प्रा० अबुज्झ] अबोध । नासमझ । नादान । उ०—(क) कोने परा न छूटि है सुन रे जीव अबूझ । कबीर माँड़ मैदान में करि इंद्रिन सों जूझ ।—कबीर । (ख) गाधि सूनु कह हृदय हँसि मुनिहि हरिअरइ सूझ । अजगव खंडेउ ऊख जिमि अजहुँ न बूझ अबूझ ।—तुलसी ।

अबे-अव्य० [सं० अयि] अरे । हे । इस संबोधन का प्रयोग बड़े लोग अपने से बहुत छोटे व नीच के लिये करते हैं । उ०—अबे सुनता नहीं इतनी देर से पुकार रहे हैं ।

मुहा०—अबे तबे करना=निरादर करना, निरादर-सूचक वाक्य बोलना, कच्ची पक्की बोलना ।

अबेध*–वि० [सं० अविद्ध] जो छिदा न हो। बिना बेधा। अनबिधा। उ०—लौकै रतन अबेध अलौकिक नहिं गाहक नहिं साँईं। चिमिकि चिमिकि चमकै दग दुहुँ दिसि अरब रहा छरि आईं।—कबीर।

अबेर*–संज्ञा स्त्री० [सं० अवेला] विलम्ब। देर। अतिकाल।

अबेश–वि० [फा० बेश–अधिक] अधिक। बहुत। उ०—कीर कदंब मंजुका पूरण सौरभ उड़त अबेश। अगर धूप सौरभ नासा सुख बरषत परम सुदेश।—सूर।

अबोध–संज्ञा पु० [सं०] अज्ञान। मूर्खता।

वि० [सं०] अनजान। नादान। अज्ञानी। मूर्ख।

अबोल*–वि० [सं० अ=नहीं+हिं० बोल] (१) मौन। अवाक्। उ०—(क) बोलहिं सुअन ढेंक बकलेदी। रही अबोल मीन जल भेदी।—जायसी। (ख) पीरी पाती पायते पीरी चढ़ी कपोल। कोरे बदन बिलोकि कै मुदिता भई अबोल॥ (२) जिसके विषय में बोल न सकें। अनिर्वचनीय। उ०—जहाँ बोल अक्षर नहिं आया। जहँ अक्षर तहँ मनहिं दृढ़ाया। बोल अबोल एक है सोई। जिन या लखा सो बिरला कोई।—कबीर।

संज्ञा पु० कुबोल। बुरा बोल।

अबोला–संज्ञा पु० [सं० अ–नहीं+हिं० बोलना] रंज से न बोलना। उ०—(क) मिलि खेलिये जा सँग बालक तें कहु तासों अबोलो क्यों जात किया।—केशव। (ख) गहो अबोलो बोलिप्यो आपै पठै बसीठ। दीठ चुराई दुहुन की लखि सकुचौंही दीठ।—बिहारी।

अब्ज–संज्ञा पु० [सं०] (१) जल से उत्पन्न वस्तु। (२) कमल। पद्म। (३) शंख। (४) निचुल। इज्जल। हिज्जल। ईजड़। (५) चन्द्रमा। (६) धन्वंतरि। (७) कपूर। (८) एक संख्या। सौ करोड़। अरब। (९) अरब के स्थान पर आनेवाली संख्या।

यौ०—**अब्जकर्णिका**=कमल का छाता। **अब्जज**=(१) ब्रह्मा। (२) यात्रा में एक योग। यह तब होता है जब बुध अपनी राशि और अयन अंश का हो और लग्न में शुक्र वा बृहस्पति हो। **अब्जबांधव**=सूर्य्य। **अब्जयोनि**=ब्रह्मा। **अब्जवाहन**=शिव। **अब्जवाहना**=लक्ष्मी। **अब्जस्थित**=ब्रह्मा। **अब्जहस्त**=सूर्य्य। **अब्जासन**=ब्रह्मा।

अब्जा–संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मी।

अब्जिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमल-वन। पद्म-समूह। (२) पद्मलता।

अब्द–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्ष। साल। (२) मेघ। बादल। (३) एक पर्वत। (४) नागरमोथा। (५) कपूर। (६) आकाश। उ०—जय जय शब्द अब्द अति होई। वर्षत कुसुम पुरंदर सोई।—गोपाल।

यौ०—**अब्दप**=वर्षाधिप। इन्द्र। **अब्दज्ञ**=ज्योतिषी। **अब्दसार**=कपूर। **अब्दवाहन**=इन्द्र।

अब्दुर्ग–संज्ञा पु० [सं०] वह दुर्ग वा किला जो चारों ओर जल से घिरा हो। वह किला जिसके चारों ओर खाई हो।

अब्धि–संज्ञा पु० [सं०] (१) समुद्र। सागर। (२) सरोवर। ताल। (३) सात की संख्या।

अब्धि कफ–संज्ञा पु० [सं०] समुद्र फेन।

अब्धिज–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० अब्धिजा] (१) समुद्र से पैदा हुई वस्तु। (२) शंख। (३) चंद्रमा। (४) अश्विनीकुमार।

अब्धिनगरी–संज्ञा पु० [सं०] द्वारकापुरी।

अब्धिमंडूकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मोती का सीप।

अब्धिशय–संज्ञा पु० [सं०] विष्णु।

अब्ध्यग्नि–संज्ञा स्त्री० [सं०] समुद्र की अग्नि। वड़वानल।

अब्बास–संज्ञा पु० [अ०] [वि० अब्बासी] एक पौधा जो दो तीन फुट तक ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ कुत्ते के कान की तरह लंबी और नोकीली होती हैं। कुछ लोग भूल से इसकी मोटी जड़ को चोबचीनी कहते हैं। इसके फूल प्रायः लाल होते हैं पर पीले और सफ़ेद भी मिलते हैं। फूलों के झड़ जाने पर उनके स्थान पर काले काले मिर्च के ऐसे बीज पड़ते हैं। गुल अब्बास।

अब्बासी–संज्ञा स्त्री० [अ०] मिश्र देश की एक प्रकार की कपास।

अब्भक्ष–संज्ञा पु० [सं०] पानी का साँप। डेड़हा साँप।

अब्र–संज्ञा पु० [फा० । सं० अभ्र] बादल।

अब्रह्मण्य–संज्ञा पु० [सं०] (१) वह कर्म जो ब्राह्मणोचित न हो। (२) हिंसादि कर्म। (३) नाटकादि में जब कुछ अनुचित कर्म दिखाना होता है तब 'अब्रह्मण्यम्' शब्द का उच्चारण नेपथ्य में होता है। जिसकी श्रद्धा ब्राह्मण में न हो। जो ब्राह्मणनिष्ठ न हो।

अब्रेअंबर–संज्ञा पु० दे० "अंबर"।

अभंग–वि० [सं०] (१) अखंड। अटूट। पूर्ण (२) अनाशवान्। न मिटनेवाला। (३) जिसका क्रम न टूटे। लगातार।

अभंगपद–संज्ञा पु० [सं०] श्लेष अलंकार का एक भेद। वह श्लेष जिसमें अक्षरों को इधर उधर न करना पड़े और शब्दों से भिन्न भिन्न अर्थ निकल आवें। उ०—(क) अति अकुलाय शिलीमुखन, वन में रहत सदाय। तिन कमलन की हरन छबि तेरे नेन सुभाय। यहाँ 'शिलीमुख' 'वन' और 'कमल' शब्दों के दो दो अर्थ बिना शब्दों को तोड़े हुए हो जाते हैं। (ख) रावण सिर सरोज वनचारी। चलि रघुबीर शिलीमुख धारी।—तुलसी।

अभंगी*–वि० [सं० अभंगिन्] (१) अभंग। पूर्ण। अखंड। (२) जिसके किसी अंश का हरण न हो सके। जिसका कोई कुछ ले न सके। उ०—आए माई दुर्ग श्याम के संगी। सूधी

कहै सबन समुझावत ते साँचे सरबंगी । औरन को सर्वसु लै मारत आपुन भये अभंगी ।—सूर ।

अभंगुर–वि० [सं०] (१) जो टूटनेवाला न हो । दृढ़ । मज़बूत । (२) अनाशवान् । न मिटनेवाला ।

अभंजन–वि० [सं०] जिसका भंजन न हो सके । अटूट । अखंड । संज्ञा पुं० द्रव वा तरल पदार्थ जिनके टुकड़े नहीं हो सकते, जैसे जल, तैल आदि ।

अभक्त–वि० [सं०] (१) जो भक्त न हो । भक्तिशून्य । श्रद्धाहीन । (२) भगवद्विमुख । (३) जो बाँटा न गया हो । जो अलग न किया गया हो । जिसके टुकड़े न हुए हों । समूचा ।

अभक्ष–वि० दे० "अभक्ष्य" ।

अभक्ष्य–वि० [सं०] (१) अखाद्य । अभोज्य । जो खाने के योग्य न हो । (२) जिसके खाने का धर्मशास्त्र में निषेध हो ।

अभगत*–वि० दे० 'अभक्त' ।

अभग्न–वि० [सं०] अखंड । जो खंडित न हुआ हो । समूचा ।

अभद्र–वि० [सं०] [संज्ञा अभद्रता] (१) अमांगलिक । अशुभ । अकल्याणकारी । (२) अश्रेष्ठ । असाधु । अशिष्ट । बेहूदा । कमीना ।

अभद्रता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अमांगलिकता । अशुभ । (२) अशिष्टता । असाधुता । बुराई । खोटाई । बेहूदगी ।

अभय–वि० [सं०] [स्त्री० अभया] निर्भय । बेडर । बेख़ौफ़ ।

मुहा०—अभय देना वा अभय बाँह देना । भय से बचाने का वचन देना । शरण देना । निर्भय करना । उ०—(क) ब्रह्मा रुद्र लोकहूँ गयो । उनहूँ ताहि अभय नहिं दयो ।—सूर । (ख) चरन नाइ सिर विनती कीन्हीं । लछमन अभय बाँह तेहि दीन्हीं ।

यौ०—अभयदान । अभय वचन । अभय बाँह ।

अभयदान–संज्ञा पुं० [सं०] भय से बचाने का वचन देना । निर्भय करना । शरण देना । रक्षा करना ।

क्रि० प्र०—देना ।

अभयपद–संज्ञा पुं० [सं०] निर्भय पद । मोक्ष । मुक्ति ।

अभयवचन–संज्ञा पुं० [सं०] भय से बचाने की प्रतिज्ञा । रक्षा का वचन ।

क्रि० प्र०—देना ।

अभया–वि० स्त्री० [सं०] निर्भया । बेडर की । निडर ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की हरीतकी वा हड़ जिसमें पाँच रेखाएँ होती हैं ।

अभर*–वि० [सं० अ=नहीं+भार=बोझा] दुर्वह । न ढोने योग्य । उ०—भाई रे गैया एक बिरंचि दियो है भार अभर भो भाई । नौ नारी को पानि पियत है तृषा तऊ न बुताई ।—कबीर ।

अभरन–संज्ञा पुं० दे० "आभरण" ।

वि० अपमानित । दुर्दशाग्रस्त । उ०—उस बात की कसक हमारे मन से नहीं जाती जो बलराम ने तुम्हें अभरन किया था ।—लल्लू० ।

अभरम*–वि० [सं० अ=नहीं+भ्रम] (१) भ्रम न करनेवाला । अभ्रांत । अचूक । (२) निःशंक । निडर । उ०—कृतवर्मा भट चल्यो अभरमा कंचन वरमा ।—गोपाल ।

क्रि० वि० निःसंदेह । बिना संशय । निश्चय । उ०—राम कह्यो जो तुम चह्यो, यह दुर्लभ वर पर्म । पै मेरे सतसंग ते, होइहि सत्य अभर्म ।—गोपाल ।

अभल*–वि० [सं० अ=नहीं+हिं० भला] अश्रेष्ठ । बुरा । ख़राब ।

अभव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) न होना । (२) नाश । प्रलय ।

अभव्य–वि० [सं०] (१) न होने योग्य । (२) विलक्षण । अद्भुत । (३) अमांगलिक । अशुभ । बुरा । अभागा । (४) अशिष्ट । बेहूदा । भद्दा । भोंडा ।

संज्ञा पुं० जैन शास्त्रानुसार जीव जो मोक्ष कभी नहीं प्राप्त कर सकते ।

अभाऊ*–वि० [सं० अ=नहीं+भाव] (१) जो न भावे । जो अच्छा न लगे । (२) जो न सोहे । अशोभित । उ०—काढ़हु मुद्रा फटिक अभाऊ । पहिरहु कुंडल कनक जड़ाऊ ।—जायसी ।

अभाग*–संज्ञा पुं० दे० "अभाग्य" ।

अभागा–वि० [सं० अभाग्य] [स्त्री० अभागिनी] मंदभाग्य । भाग्यहीन । प्रारब्धहीन । बदक़िस्मत ।

अभागी–वि० [सं० अभागिन्] [स्त्री० अभागिनी] (१) भाग्यहीन । बदक़िस्मत । (२) जिसे कुछ भाग न मिले । जो जायदाद के हिस्से का अधिकारी न हो ।

अभाग्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रारब्धहीनता । दुर्दैव । बुरा दिन । बदक़िस्मती ।

अभाजन–संज्ञा पुं० [सं०] अपात्र । कुपात्र । बुरा आदमी ।

अभाव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) असत्ता । अनस्तित्व । नेस्ती । अविद्यमानता । न होना । आधुनिक नैयायिकों के मत के अनुसार वैशेषिक शास्त्र में सातवाँ पदार्थ । परंतु कणादकृत सूत्रग्रंथ में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, ये छही पदार्थ 'अभाव' माने गए हैं । अभाव पाँच प्रकार का है, यथा (क) प्रागभाव—जो किसी क्रिया और गुण के पहले न हो, जैसे 'घड़ा बनने के पहले न था ।' (ख) प्रध्वंसाभाव—जो एक बार होकर फिर न रहे, जैसे, 'घड़ा बनकर टूट गया ।' (ग) अन्योन्याभाव—एक पदार्थ का दूसरा पदार्थ न होना, जैसे 'घोड़ा बैल नहीं है और बैल घोड़ा नहीं है' । (घ) अत्यंताभाव—जो न कभी था, न है और न होगा, जैसे 'आकाशकुसुम' 'बंध्या का पुत्र ।' और (च) संसर्गाभाव—एक वस्तु के संबंध में दूसरे का अभाव, जैसे 'घर में घड़ा

नहीं है'। (२) त्रुटि। टोटा। कमी। घाटा। उ०—राजा के घर द्रव्य का कौन अभाव है। (३)* कुभाव। दुर्भाव। विरोध। उ०—हम तिनको बहु भाँति खिझावा। उनके कबहुँ अभाव न आवा।—विश्राम।

अभावनीय–वि० [सं०] जो भावना में न आ सके। अचिंतनीय।

अभाव पदार्थ–संज्ञा पुं० [सं०] भावशून्य पदार्थ। सत्ताहीन पदार्थ। असत् पदार्थ।

अभाव प्रमाण–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में किसी किसी आचार्य के मत से एक प्रमाण जिसमें कारण के न होने से कार्य के न होने का ज्ञान हो। गौतम ने इसको प्रमाण में नहीं लिया है।

अभावित–वि० [सं०] जिसकी भावना न की गई हो।

क्रि० प्र०—रहना।

अभावी–वि० [सं० अभाविन्] [स्त्री० अभाविनी] (१) जिसकी स्थिति की भावना न हो सके। (२) न होनेवाला।

अभास*–संज्ञा पुं० दे० "आभास"।

अभि–उप० [सं०] एक उपसर्ग जो शब्दों में लग कर उनमें इन अर्थों की विशेषता करता है—(१) सामने, उ०—अभ्युत्थान, अभ्यागत। (२) बुरा, उ०—अभियुक्त। (३) इच्छा, उ०—अभिलाषा। (४) समीप, उ०—अभिसारिका। (५) बारंबार, अच्छी तरह, उ०—अभ्यास। (६) दूर, उ०—अभिहरण। (७) ऊपर, उ०—अभ्युदय।

अभिक–वि० [सं०] कामुक। कामी। विषयी।

अभिक्रमण–संज्ञा पुं० [सं०] सेना का शत्रु के सम्मुख जाना। चढ़ाई। धावा।

अभिख्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाम। यश। कीर्त्ति। (२) शोभा।

अभिगमन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पास जाना। (२) सहवास। संभोग। (३) देवताओं के स्थान को झाड़ू देकर और लीप पोत कर साफ़ करना।

अभिगामी–वि० [सं०] [स्त्री० अभिगामिनी] (१) पास जाने वाला। (२) सहवास वा संभोग करनेवाला। उ०—ऋतु-कालाभिगामी।

अभिग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लेना। स्वीकार। ग्रहण (२) झगड़ा। कलह। (३) लूटना। चोरी करना। (४) चढ़ाई। धावा।

अभिघट–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक बाजा जो एक घड़े के आकार का होता था और जिसके मुँह पर चमड़ा मढ़ा रहता था।

अभिघात–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिघातक, अभिघाती] (१) चोट पहुँचाना। प्रहार। मार। ताड़न। (२) पुरुष की बाईं ओर और स्त्री की दाहिनी ओर का मसा।

अभिघार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सींचना। छिड़कना। (२) घी की आहुति। (३) घी से छौंकना वा बघारना। (४) घी।

अभिचर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अभिचरी] दास। नौकर। सेवक।

अभिचार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिचारी] (१) अथर्ववेदोक्त मंत्र यंत्र द्वारा मारण और उच्चाटन आदि हिंसा कर्म। पुरश्चरण। (२) तंत्र के प्रयोग, जो छः प्रकार के होते हैं—मारण, मोहन, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और वशीकरण। स्मृति में इन कर्मों को उपपातकों में माना है।

अभिचारक–संज्ञा पुं० [सं०] यंत्र मंत्र द्वारा मारण उच्चाटन आदि कर्म।

वि० यंत्र मंत्र द्वारा मारण उच्चाटन आदि करनेवाला।

अभिचारी–वि० [सं० अभिचारिन्] [स्त्री० अभिचारिणी] यंत्र मंत्र आदि का प्रयोग करनेवाला।

अभिजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुल। वंश। (२) परिवार। जन्मभूमि। वह स्थान जहाँ अपना तथा पिता पितामह आदि का जन्म हुआ हो। (४) वह जो घर में सबसे बड़ा हो। घर का अगुआ। कुल में श्रेष्ठ व्यक्ति। (५) ख्याति। कीर्त्ति।

अभिजात–वि० [सं०] (१) अच्छे कुल में उत्पन्न। कुलीन। (२) बुद्धिमान्। पंडित। (३) योग्य। उपयुक्त। (४) मान्य। पूज्य। (५) सुन्दर। मनोहर।

अभिजित–वि० [सं०] विजयी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिन का आठवाँ मुहूर्त्त। दोपहर के पौने बारह बजे से लेकर साढ़े बारह बजे तक का समय। (२) एक नक्षत्र जिसमें तीन तारे मिलकर सिंघाड़े के आकार के होते हैं। (३) उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के अन्तिम १५ दंड तथा श्रवण नक्षत्र के प्रथम चार दंड।

अभिज्ञ–वि० [सं०] (१) जानकार। विज्ञ। (२) निपुण। कुशल।

अभिज्ञात–संज्ञा पुं० [सं०] पुराण के अनुसार शाल्मली द्वीप के सात वर्षों वा खंडों में से एक।

अभिज्ञातार्थ–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में एक प्रकार का निग्रह स्थान। विवाद वा तर्क में वह अवस्था जब वादी अप्रसिद्ध वा श्लिष्ट अर्थों के शब्दों द्वारा कोई बात प्रकट करने लगे अथवा इतनी जल्दी जल्दी बोलने लगे कि कोई समझ न सके और इस कारण तर्क रुक जाय।

अभिज्ञान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिज्ञात] (१) स्मृति। ख्याल। (२) वह चिह्न जिससे कोई वस्तु पहिचानी जाय। लक्षण। पहिचान। (३) वह वस्तु जो किसी बात का स्मरण वा विश्वास दिलाने के लिये उपस्थित की जाय। निशानी सहिदानी। परिचायक। चिह्न। उ०—सीता को अभिज्ञान रूप से देने के लिये राम ने हनूमान को अपनी अँगूठी दी।

अभिधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] शब्द की तीन शक्तियों में से एक। शब्द के वाच्यार्थ को प्रकाश करने की शक्ति। शब्दों के उस अभिप्राय को प्रगट करने की शक्ति जो उनके अर्थों ही से निकलता हो।

अभिधान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिधायक, अभिधेय] (१) नाम । लकब । (२) कथन । (३) शब्दकोश ।

अभिधायक–वि० [सं०] (१) नाम रखनेवाला । निर्वाचक । (२) कहनेवाला । (३) सूचक । परिचायक ।

अभिधेय–वि० [सं०] (१) प्रतिपाद्य । वाच्य । (२) नाम लेने योग्य । (३) जिसका बोध नाम लेने ही से हो जाय । संज्ञा पुं० नाम ।

अभिध्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूसरे की वस्तु की इच्छा । पराई वस्तु की चाह । (२) अभिलाषा । इच्छा । लोभ ।

अभिनंदन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिनंदनीय, अभिनंदित] (१) आनंद । (२) संतोष । (३) प्रशंसा । (४) उत्तेजना । प्रोत्साहन (५) विनीत प्रार्थना । उ०—गुरु के वचन सचिव अभिनंदन । सुने भरत हिय हित जनु चंदन ।—तुलसी ।

यौ०—अभिनंदन पत्र=वह आदर वा प्रतिष्ठासूचक पत्र जो किसी महान् पुरुष के आगमन पर हर्ष और संतोष प्रगट करने के लिये सुनाया और अर्पण किया जाता है । एड्रेस ।

(६) जैन लोगों के चौथे तीर्थंकर का नाम ।

अभिनंदनीय–वि० [सं०] वंदनीय । प्रशंसा के योग्य ।

अभिनंदित–वि० [सं०] वंदित । प्रशंसित ।

अभिनय–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिनीत, अभिनेय] दूसरे व्यक्तियों के भाषण तथा चेष्टा को कुछ काल के लिये धारण करना । काल कृत अवस्था विशेष का अनुकरण । स्वाँग । नक़ल । नाटक का खेल । इसके चार विभाग हैं—(क) आंगिक, जिसमें केवल अंगभंगी वा शरीर की चेष्टा दिखाई जाय । (ख) वाचिक, जिसमें केवल वाक्यों द्वारा कार्य्य किया जाय । (ग) आहार्य्य जिसमें केवल वेश वा भूषण आदि के धारण ही की आवश्यकता हो, बोलने चालने का प्रयोजन न हो । जैसे, राजा के आस पास पगड़ी आदि बाँध कर चोबदार और मुसाहिबों का चुप चाप खड़ा रहना । (घ) सात्विक जिसमें स्तंभ, स्वेद, रोमांच और कंप आदि अवस्थाओं का अनुकरण हो ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—अभिनय करना=नाचना कूदना ।

अभिनव–वि० [सं०] (१) नया । नवीन । (२) ताज़ा ।

अभिनिविष्ट–वि० [सं०] (१) धँसा हुआ । पैठा हुआ । गड़ा हुआ । (२) बैठा हुआ । उपविष्ट । (३) एक ही ओर लगा हुआ । अनन्य मन से अनुरक्त । लिप्त । मग्न ।

अभिनिवेश–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिनिवेशित, अभिनिविष्ट] (१) प्रवेश । पैठ । गति । (२) मनोयोग । किसी विषय में गति । लीनता । अनुरक्ति । एकाग्रचिंतन । (३) दृढ़ संकल्प । तत्परता । (४) योगशास्त्र के पाँच क्लेशों में से अंतिम । मरण भय से उत्पन्न क्लेश । मृत्युशंका ।

अभिनिवेशित–वि० [सं०] प्रविष्ट ।

अभिनीत–वि० [सं०] (१) निकट लाया हुआ । (२) पूर्णता को पहुँचाया हुआ । सुसज्जित । अलंकृत । (३) युक्त । उचित । न्याय्य । (४) अभिनय किया हुआ । खेला हुआ (नाटक) । नक़ल करके दिखलाया हुआ । (५) विज्ञ । धीर ।

अभिनेता–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अभिनेत्री] अभिनय करनेवाला व्यक्ति । स्वाँग दिखानेवाला पुरुष । नाटक का पात्र । ऐक्टर ।

अभिनेय–वि० [सं०] अभिनय करने योग्य । खेलनेयोग्य (नाटक) ।

अभिन्न–वि० [सं०] [संज्ञा अभिन्नता] (१) जो भिन्न न हो । अपृथक् । एकमय । (२) मिला हुआ । सटा हुआ । लगा हुआ । संबद्ध ।

यौ०—अभिन्न पुट=नया पत्ता । अभिन्न हृदय ।

अभिन्नता–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भिन्नता का अभाव । पृथक्त्व । (२) लगावट । संबंध । (३) मेल ।

अभिन्नपद–संज्ञा पुं० [सं०] श्लेष अलंकार का एक भेद ।

अभिन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] सन्निपात का एक भेद जिसमें नींद नहीं आती, देह काँपती है, चेष्टा बिगड़ जाती है, और इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं ।

अभिप्रणयन–संज्ञा पुं० [सं०] संस्कार । वेद विधि से अग्नि आदि का संस्कार ।

अभिप्राय–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिप्रेत] आशय । मतलब । अर्थ । तात्पर्य्य । ग़रज़ । प्रयोजन ।

अभिप्रेत–वि० [सं०] इष्ट । अभिलषित । चाहा हुआ ।

अभिभव–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिभावुक, अभिभावी, अभिभूत] (१) पराजय । (२) तिरस्कार । अनादर । (३) अनहोनी बात । विलक्षण घटना ।

अभिभावक–वि० [सं०] (१) अभिभूत वा पराजित करनेवाला । तिरस्कार करनेवाला । (२) जड़ अर्थात् स्तंभित कर देनेवाला । (३) वशीभूत करनेवाला । दबाव में लानेवाला । (४) रक्षक । सरपरस्त ।

अभिभावी–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "अभिभावक" ।

अभिभूत–वि० [सं०] (१) पराजित । हराया हुआ । (२) पीड़ित । (३) जिस पर प्रभाव डाला गया हो । जो बस में किया गया हो । वशीभूत । (४) विचलित । व्याकुल । किंकर्त्तव्य विमूढ़ ।

अभिभूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] पराजय । हार ।

अभिमंडन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिमंडित] (१) भूषित करना । सजाना । सँवारना । (२) पक्ष का प्रतिपादन वा समर्थन ।

अभिमंत्रण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिमंत्रित] (१) मंत्र द्वारा संस्कार । (२) आवाहन ।

अभिमंत्रित–वि० [सं०] (१) मंत्र द्वारा शुद्ध किया हुआ । (२) जिसका आवाहन हुआ हो ।

अभिमत-वि० [सं०] (१) इष्ट। मनोनीत। वांछित। पसंद का। (२) सम्मत। राय के मुताबिक़।
संज्ञा पुं० (१) मत। सम्मति राय। (२) विचार। (३) अभिलषित वस्तु। मनचाही बात। उ०—अभिमत-दानि देवतरुवर से। सेवन सुलभ सुखद हरिहर से।—तुलसी।

अभिमति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अभिमान। गर्व। अहंकार। (२) वेदांत के अनुसार इस प्रकार की मिथ्या-अहंकार-मूलक भावना कि 'अमुक वस्तु मेरी है'। (३) अभिलाषा। इच्छा। चाह। मति। राय। विचार।

अभिमन्यु-संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन के पुत्र का नाम।

अभिमर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीसना। चूर चूर करना। (२) घस्सा। रगड़। युद्ध।

अभिमान-संज्ञा पु० [सं०] [वि० अभिमानी] अहंकार। गर्व। घमंड।

अभिमानी-वि० [सं०] [अभिमानिन्] [स्त्री० अभिमानिनी] अहंकारी। घमंडी। दर्पी। अपने को कुछ लगानेवाला।

अभिमुख-क्रि० वि० [सं०] सामने। सम्मुख।

अभियुक्त-वि० [सं०] [स्त्री० अभियुक्ता] जिस पर अभियोग चलाया गया हो। जो किसी मुकदमे में फँसा हो। प्रतिवादी। मुलज़िम। 'अभियोक्ता' का उलटा।

अभियोक्ता-वि० [सं०] [स्त्री० अभियोक्त्री] अभियोग उपस्थित करनेवाला। वादी। मुद्दई। फ़रियादी। 'अभियुक्त' का उलटा।

अभियोग-संज्ञा पु० [सं०] [वि० अभियोगी, अभियुक्त, अभियोक्ता] (१) अपराध की योजना। किसी के किए हुए दोष वा हानि के विरुद्ध न्यायालय में निवेदन। नालिश। मुक़दमा। (२) चढ़ाई। आक्रमण। (३) उद्योग। (४) मनोनिवेश। लगन।

अभियोगी-वि० [सं०] अभियोग चलानेवाला। नालिश करनेवाला फ़रियादी।

अभिरत-वि० [सं०] (१) लीन। अनुरक्त। लगा हुआ। (२) युक्त। सहित। उ०—किधौं यह राजपुत्री वर ही वर्‌यो है, किधौं उपधि बर्‌यो है यहि शोभा अभिरत हो।—केशव।

अभिरति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुराग। प्रीति। लगन। लीनता। (२) संतोष। हर्ष।

अभिरना*-क्रि० स० [सं० अभि=सामने+रण=युद्ध] (१) भिड़ना। लड़ना। (२) टेकना। सहारा लेना। उ० मुसकाति खरी खँभिया अभिरी ढिरी खाति लजाति महामन में।—बेनी।

अभिराम-वि० [सं०] स्त्री० अभिरामा] आनंददायक। मनोहर। सुन्दर। रम्य। प्रिय।
संज्ञा पुं० आनंद। सुख। उ—(क) तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, विमुख भए अभिराम।—तुलसी (ख) तुलसिदास चाँचरि मिस हि कहे राम गुन ग्राम। गावहिं सुनहिं नारि नर पावहिं सब अभिराम।—तुलसी।

अभिरामी-वि० [सं० अभिरामिन्] [स्त्री० अभिरामिनी] रमण करनेवाला। संचरण करनेवाला। व्याप्त होनेवाला। उ०—अखिल भुवन भर्त्ता, ब्रह्मरुद्रादि कर्त्ता। थिरचर अभिरामी, कीय जामातु नामी।—केशव।

अभिरुचि-संज्ञा स्त्री० [सं०] अत्यंत रुचि। चाह। पसंद। प्रवृत्ति।

अभिरुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में मूर्च्छना विशेष। इसका सरगम यों है—रे, ग, म, प, ध, नि, स। म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स।

अभिरूप-वि० [सं०] [स्त्री० अभिरूपा] रमणीय। मनोहर। सुंदर।
संज्ञा पु० (१) शिव। (२) विष्णु। (३) कामदेव। (४) चंद्रमा। (५) पण्डित।

अभिरोग-संज्ञा पु० [सं०] चौपायों का एक रोग जिसमें जीभ में कीड़े पड़ जाते हैं।

अभिलपिक रोग-संज्ञा पु० [सं०] वात-व्याधि के चौरासी भेदों में से एक।

अभिलषित-वि० [सं०] वांछित। ईप्सित। इष्ट। चाहा हुआ।

अभिलाख*-संज्ञा पु० दे० "अभिलाषा"।

अभिलाखना-क्रि० स० [सं० अभिलषण] इच्छा करना। चाहना। उ०—तब सिय देखि भूप अभिलाखे। कूर कपूत मूढ़ मन माखे।—तुलसी।

अभिलाखा*-संज्ञा पु० दे० "अभिलाषा"।

अभिलाखी*-वि० दे० "अभिलाषी"।

अभिलाप-संज्ञा पु० [सं०] (१) शब्द। कथन। वाक्य। (२) मन के किसी संकल्प का कथन वा उच्चारण।

अभिलाष-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिलाषक, अभिलाषी, अभिलाषुक, अभिलषित] (१) इच्छा। मनोरथ। कामना। चाह। उ०—भाग छोट अभिलाष बड़, करौं एक विश्वास। पैहैं सुख सुनि सुजन जन, खल करिहैं उपहास।—तुलसी। (२) वियोग। शृंगार के अंतर्गत दस दशाओं में से एक। प्रिय से मिलने की इच्छा।

अभिलाषक-वि० [सं०] इच्छा करनेवाला। आकांक्षा करनेवाला।

अभिलाषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] इच्छा। कामना। आकांक्षा।

अभिलाषी-वि० [सं० अभिलाषिन्] [स्त्री० अभिलाषिणी] इच्छा करनेवाला। आकांक्षी।

अभिलाषुक-वि० [सं०] दे० "अभिलाषक"।

अभिलास–संज्ञा पुं० दे० "अभिलाष"।

अभिलासा*–संज्ञा पु० दे० "अभिलाषा"।

अभिवंदन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिवंदनीय, अभिवंदित, अभिवंद्य] (१) प्रणाम। नमस्कार। सलाम। बंदगी। (२) स्तुति।

अभिवंदना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नमस्कार। प्रणाम। (२) स्तुति।

अभिवंदनीय–वि० [सं०] प्रणाम करने योग्य। नमस्कार करने योग्य। (२) प्रशंसा करने योग्य। स्तुति करने योग्य।

अभिवंदित–वि० [सं०] (१) प्रणाम किया हुआ। नमस्कार किया हुआ। (२) प्रशंसित। स्तुत्य।

अभिवंद्य–वि० [सं०] दे० "अभिवंदनीय"।

अभिवचन–संज्ञा पु० [सं०] वादा। इक़रार। प्रतिज्ञा।

अभिवांछित–वि० [सं०] अभिलषित। चाहा हुआ।

अभिवादन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रणाम। नमस्कार। वंदना। (२) स्तुति।

अभिव्यंजक–वि० [सं०] प्रगट करनेवाला। प्रकाशक। सूचक। बोधक।

अभिव्यक्त–वि० [सं०] प्रगट किया हुआ। ज़ाहिर किया हुआ। स्पष्ट किया हुआ।

अभिव्यक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रकाशन। स्पष्टीकरण। साक्षात्कार। ज़ाहिर होना। प्रकट होना। (२) उस वस्तु का प्रत्यक्ष होना जो पहिले किसी कारण से अप्रत्यक्ष हो, जैसे, अँधेरे में रक्खी हुई चीज़ का उजाले में साफ़ साफ़ देख पड़ना। (३) न्याय के अनुसार सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष कारण का प्रत्यक्ष कार्य्य में आविर्भाव, जैसे, बीज से अंकुर निकलना।

अभिव्यापक–वि० [सं०] [स्त्री० अभिव्यापिका] पूर्ण रूप से फैलनेवाला। अच्छी तरह प्रचलित होनेवाला।

संज्ञा पुं० ईश्वर।

यौ०—अभिव्यापक आधार=व्याकरण में वह आधार जिसके हर एक अंश में आधेय हो, जैसे "तिल में तेल"।

अभिशंसन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिशस्त] व्यभिचार का मिथ्या दोष लगाना। झूठ मूठ छिनाला लगना।

अभिशप्त–वि० [सं०] (१) शापित। जिसे शाप दिया गया हो। (२) जिस पर मिथ्या दोष लगा हो।

अभिशस्त–वि० [सं०] [स्त्री० अभिशस्ता] (१) जिस पर व्यभिचार का मिथ्या दोष लगा हो। (२) व्यर्थ कलङ्कित। लांछित।

अभिशाप–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभिशापित, अभिशप्त] (१) शाप। बददुआ। (२) मिथ्या दोषारोपण। झूठ मूठ का अपवाद।

अभिशापित–वि० [सं०] दे० "अभिशप्त"।

अभिषंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराजय। (२) निन्दा। आक्रोश। कोसना] (३) मिथ्यापवाद। झूठ दोषारोपण। (४) दृढ़ मिलाप। आलिंगन। (५) शपथ। क़सम। (६) भूत प्रेत का आवेश। (७) शोक। दुःख।

अभिषंगा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद की एक ऋचा।

अभिषव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ में स्नान। (२) मद्य खींचना। शराब चुवाना। (३) सोमलता को कुचल कर गारना। (४) सोमरसपान। (५) यज्ञ।

अभिषिक्त–वि० [सं०] [स्त्री० अभिषिक्ता] जिसका अभिषेक हुआ हो। जिसके ऊपर जल आदि छिड़का गया हो। जो जल आदि से नहलाया गया हो। (२) बाधाशांति के लिये जिस पर मंत्र पढ़ कर दूर्वा और कुश से जल छिड़का गया हो। (३) जिस पर विधिपूर्वक जल छिड़क कर किसी अधिकार का भार दिया गया हो। राजपद पर निर्वाचित।

अभिषेक–संज्ञा पुं० [सं] (१) जल से सिंचन। छिड़काव। (२) ऊपर से जल डाल कर स्नान। (३) बाधा-शांति वा मंगल के लिये मंत्र पढ़कर कुश और दूब से जल छिड़कना। मार्जन। (४) विधिपूर्वक मंत्र से जल छिड़क कर अधिकार प्रदान। राजपद पर निर्वाचन। (५) यज्ञादि के पीछे शांति के लिये स्नान। (६) शिवलिंग के ऊपर तिपाई के सहारे पर जल से भर कर एक ऐसा घड़ा रखना जिसके पेंदे में बारीक छेद, धीरे धीरे पानी टपकने के लिये, हो। रुद्राभिषेक।

यौ०—अभिषेक-पात्र।

अभिष्यंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहाव। स्राव। (२) आँख का एक रोग जिसमें सूई छेदने के समान पीड़ा और किरकिराहट होती है, आँखें लाल हो जाती हैं और उनसे पानी और कीचड़ बहता है। आँख आना।

अभिसंधान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वंचना। प्रतारणा। धोखा। जाल। (२) फलोद्देश। लक्ष्य। उ०—इस कार्य्य के करने में उसका अभिसंधान क्या है यह देखना चाहिए।

अभिसंधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतारणा। वंचना। धोखा। (२) चुप चाप कोई काम करने की कई आदमियों की सलाह। कुचक्र। षड्यंत्र।

अभिसंधिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] कलहांतरिता नायिका। स्वयं प्रिय का अपमान कर पश्चात्ताप करनेवाली स्त्री।

अभिसर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संगी। साथी। (२) सहायक। मददगार। (३) अनुचर।

अभिसरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आगे जाना। (२) समीप गमन। (३) प्रिय से मिलने के लिये जाना।

अभिसरन*–संज्ञा पुं० [सं० अभिशरण] शरण। सहाय। सहारा। उ०—संतन को लै अभिसरन, समुझहिं सुगति प्रवीन। करम बिपरजय कबहुँ नहिं, सदा राम रसलीन।—तुलसी।

अभिसरना*-क्रि० अ० [स० अभिसरण] (१) संचरण करना। जाना। (२) किसी वांछित स्थान को जाना। (३) नायक वा नायिका का अपने प्रिय से मिलने के लिये संकेत-स्थल को जाना। उ०—चकित चित्त साहस सहित, नील वसन युत-गात। कुलटा संध्या अभिसरै, उत्सव तम अभिरात।—केशव।

अभिसार-संज्ञा० पुं० [सं०] [वि० अभिसारिका, अभिसरी] (१) साधन। सहाय। सहारा। बल। (२) युद्ध। (३) प्रिय से मिलने के लिये नायिका वा नायक का संकेत-स्थल में जाना।

अभिसारना*-क्रि० अ० [सं० अभिसारणम्] (१) गमन करना। जाना। घूमना। (२) प्रिय से मिलने के लिये नायिका का संकेत-स्थल में जाना।

अभिसारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अवस्थानुसार नायिका के दस भेदों में से एक। वह स्त्री जो संकेत-स्थल में प्रिय से मिलने के लिये स्वयं जाय वा प्रिय को बुलावे। यह दो प्रकार की है, शुक्लाभिसारिका, जो चाँदनी रात में गमन करे और कृष्णाभिसारिका जो अँधेरी रात में मिलने जाय। कोई कोई एक तीसरा भेद "दिवाभिसारिका" दिन में जानेवाली भी मानते हैं।

अभिसारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अभिसारिका।

अभिसारी-वि० [सं० अभिसारिन्] [स्त्री० अभिसारिका] (१) साधक। सहायक। (२) प्रिया से मिलने के लिये संकेत-स्थल में जानेवाला। उ०—धनि गोपी धनि ग्वाल धन्य सुरभी बनचारी। धनि यह पावन भूमि जहाँ गोविंद अभिसारी।—सूर।

अभिसेख-संज्ञा पुं० दे० "अभिषेक"।

अभिहित-वि० [सं०] उक्त। कथित। कहा हुआ।

अभी-क्रि० वि० [हिं० अब+ही] इसी क्षण। इसी समय। इसी वक्त।

अभीक-वि० [सं०] (१) निर्भय। निडर। (२) निष्ठुर। कठोर-हृदय। (३) उत्सुक। (४) कामुक। लंपट।
संज्ञा पुं० (१) स्वामी। मालिक। (२) कवि।

अभीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोप। अहीर। (२) काव्य में एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में ११ मात्राएँ और अंत में जगण (।ऽ।) होता है। उ०—यहि विधि श्री रघुनाथ। गहे भरत कर हाथ। पूजत लोक अपार। गए राज दरबार।

अभीष्ट-वि० [सं०] (१) वांछित। चाहा हुआ। अभिलषित। (२) मनोनीत। पसंद का। (३) अभिप्रेत। आशय के अनुकूल।
संज्ञा पुं० (१) मनोरथ। मनचाही बात। उ०—आपका अभीष्ट सिद्ध हो जायगा। (२) प्राचीन आचार्यों के मत से एक अलंकार जिसमें अपने इष्ट की सिद्धि दूसरे के कार्य्य के द्वारा दिखाई जाय। यह यथार्थ में प्रहर्षण अलङ्कार के अंतर्गत आ जाता है।

अभुआना†-क्रि० अ० [हिं० हौहाना] [हौहौ से अनु०] हाथ पैर पटकना और ज़ोर ज़ोर से सिर हिलाना जिससे सिर पर भूत आना समझा जाता है।

अभुक्त-वि० [सं०] (१) न खाया हुआ। (२) न भोग किया हुआ। बिना बर्त्ता हुआ। अव्यवहृत।

अभुक्तमूल-संज्ञा पुं० [सं०] ज्येष्ठा नक्षत्र के अंत की दो घड़ी तथा मूल नक्षत्र के आदि की दो घड़ी। गंडांत।

अभू*-क्रि० वि० [हिं० अब+हू-भी] अब भी।

अभूखन*-संज्ञा पुं० दे० "आभूषण"।

अभूत-वि० [सं०] (१) जो हुआ न हो। (२) वर्त्तमान। (३) अपूर्व। विलक्षण। अनोखा। उ०—आँगन खेलत घुटुरुवन धाये।......उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत उढ़ाये। नील जलद ऊपर ज्यों निरखत, तजि स्वभाव मनु तड़ित छपाये।—सूर।

अभूतपूर्व-वि० [सं०] (१) जो पहिले न हुआ हो। (२) अपूर्व। अनोखा। विलक्षण।

अभूतोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] उपमा के दस भेदों में से एक जिसमें उत्कर्ष के कारण उपमान का कथन न हो सके। उ०—जो पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया।—तुलसी।

अभेड़ा†-संज्ञा पुं० दे० "अभेरा"।

अभेद-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभेदनीय, अभेद्य] (१) भेद का अभाव। अभिन्नता। एकत्व। उ०—सोइ अभेदवादी ज्ञानी नर। देखेउँ मैं चरित्र कलिजुग कर।—तुलसी।
(२) एक रूपता। समानता। (३) रूपक अलंकार के दो भेदों में से एक जिसमें उपमेय और उपमान का अभेद बिना निषेध के कथन किया जाय। जैसे, मुखचंद्र, चरण-कमल। उ०—रंभन मंजरि पुच्छ फिरावत सुच्छ उसीरन की फहरी है। चन्दन, कुंद, गुलाबन, आसन सीत सुगंधन की लहरी है। ताल बड़े फसि चक्र प्रवीनजू मित वियोगिनी की कहरी है। आनन ज्वाल गुलाल उड़ावत व्याल बसंत बड़ी जहरी है।—बेनी। इसको कोई कोई पृथक् अलंकार भी मानते हैं।
वि० (१) भेदशून्य। एकरूप। समान।
*वि० [सं० अभेद्य] जिसका छेदन न हो सके। जिसके भीतर कोई चीज़ न घुस सके। जिसका विभाग न हो सके। उ०-कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। यहि सम विजय उपाय न दूजा।—तुलसी।

अभेदनीय-वि० [सं०] जिसका भेदन व छेदन न हो सके। जिसके भीतर कोई वस्तु घुस न सके। जिसका विभाग न हो सके।

अभेदवादी-वि० [सं० अभेदवादिन्] [स्त्री० अभेदवादिनी] जीवात्मा और परमात्मा में भेद न माननेवाला। अद्वैतवादी। उ०—सोइ अभेदवादी ज्ञानी नर। देखेउँ मैं चरित्र कलिजुग कर।—तुलसी।

अभेद्य-वि० [सं०] (१) जिसका भेदन वा छेदन न हो सके। जिसके भीतर कोई चीज़ घुस न सके। जिसका विभाग न हो सके। (२) जो टूट न सके। अखंडनीय।

अभेय*-संज्ञा पुं० दे० "अभेव"।

अभेरा-संज्ञा पुं० [सं० अभि=सामने+रण-लड़ाई] (१) रगड़ा। झगड़ा। मुठ भेड़। टक्कर। मुक़ाबिला। (२) रगड़। टक्कर। उ०—(क) उठै आगि दोउ डार अभेरा। कौन साथ तोहिं बैरी केरा।—जायसी। (ख) विषम कहार मार मद माते चलहि न पाँव बटोरा रे। मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे।—तुलसी।

अभेव*-संज्ञा पुं० [सं०=अभेद] अभेद। अभिन्नता। एकता। वि० भेदरहित। अभिन्न। एक।

अभै*-संज्ञा पु० दे० "अभय"।

अभैर-संज्ञा पुं० [सं०] धरन वा लकड़ी जिसमें डोरी बाँध कर करघे की कंघियाँ लटकाई जाती हैं। कलवाँसा। दढ़ेरी।

अभोक्ता-वि० [सं०] [स्त्री० अभोक्त्री] भोग न करनेवाला। व्यवहार न करनेवाला।

अभोग*-वि० [सं०] जिसका भोग न किया गया हो। अछूता। उ०—बरनि सिंगार न जानेउँ नख सिख जैस अभोग। तस जग किछु न पायउँ उपम देउँ ओहि जोग।—जायसी।

अभोगी-वि० [सं०] भोग न करनेवाला। इंद्रियों के सुख से उदासीन। विरक्त। उ०—हमरे जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी।—तुलसी।

अभोज*-वि० [सं० अभोज्य] न खाने योग्य। अभक्ष्य। उ०—भोज अभोज न रति विरति, नीरस सरस समान। भोग होइ अभिलाष बिनु, महा भोगता मान।—केशव।

अभौतिक-वि० [सं०] (१) जो पंचभूत का न बना हो। जो पृथ्वी, जल, अग्नि आदि से उत्पन्न न हो। (२) अगोचर।

अभ्यंग-संज्ञा पु० [सं०] [वि० अभ्यक्त, अभ्यंजनीय] (१) लेपन। चारों ओर पोतना। मल मल कर लगाना। (२) तैल-मर्दन। तेल लगाना। स्नेहन।

यौ०—तैलाभ्यंग।

अभ्यंजनीय-वि० [सं०] (१) पोतने योग्य। लगाने योग्य। (२) तेल वा उबटन लगाने योग्य।

अभ्यंतर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मध्य। बीच। (२) हृदय। उ०—जो मेरे तजि चरन आन गति कहौं हृदय कछु राखी। तौ परिहरहु दयाल दीन हित प्रभु अभि-अंतर साखी।—तुलसी। क्रि० वि० भीतर। अंदर।

अभ्यक्त-वि० [सं०] (१) पोते हुए। लगाए हुए। (२) तेल वा उबटन लगाए हुए।

अभ्यर्थना-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अभ्यर्थनीय, अभ्यर्थित] (१) सम्मुख प्रार्थना। विनय। दरख़ास्त। (२) सम्मान के लिये आगे बढ़ कर लेना। अगवानी। उ०—लोग स्टेशन पर उनकी अभ्यर्थना के लिये खड़े थे।

अभ्यर्थनीय-वि० [सं०] (१) प्रार्थना करने योग्य। विनय करने योग्य। (२) आगे बढ़ कर लेने योग्य।

अभ्यर्थित-वि० [सं०] (१) जिससे प्रार्थना की गई हो। जिससे विनय की गई हो। (२) जो आगे बढ़ कर लिया गया।

अभ्यसित-वि० [सं०] अभ्यास किया हुआ। अभ्यस्त।

अभ्यस्त-वि० [सं०] (१) जिसका अभ्यास किया गया हो। बार बार किया हुआ। मश्क़ किया हुआ। उ०—यह तो मेरा अभ्यस्त विषय है। (२) जिसने अभ्यास किया हो। जिसने अनुशीलन किया हो। दक्ष। निपुण। उ०—वह इस कार्य्य में अभ्यस्त है।

अभ्याकांक्षित-वि० [सं०] (१) चाहा हुआ। अभिलषित। संज्ञा पुं० मिथ्या अभियोग। झूठा दावा। झूठी नालिश।

अभ्याख्यान-संज्ञा पुं० [सं०] मिथ्या अभियोग। झूठा दावा। झूठी नालिश।

अभ्यागत-वि० [सं०] (१) सामने आया हुआ। (२) घर में आया हुआ अतिथि। पाहुना। मेहमान। उ०—अभ्यागत की सेवा गृहस्थों का धर्म्म है।

अभ्यागम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सामने आना। उपस्थिति। (२) समीपता। (३) सामना। (४) मुक़ाबिला। मुठ-भेड़। युद्ध। (५) विरोध। (६) अभ्युत्थान। अगवानी।

अभ्यागारिक-वि० [सं०] (१) कुटुंब के पालन में तत्पर। लड़केबालों में फँसा हुआ। घरबारी। (२) कुटुंबपालन में व्यग्र। गृहस्थी के झंझट से हैरान।

अभ्यास-संज्ञा पु० [सं०] [वि० अभ्यासी, अभ्यस्त] (१) बार बार किसी काम को करना। पूर्णता प्राप्त करने के लिये फिर फिर एक ही क्रिया का अवलम्बन। अनुशीलन। साधन। आवृत्ति। मश्क़। उ०-करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान। रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निसान।—सभा वि०।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) आदत। रब्त। बान। टेव। उ०—उन्हें तो गाली देने का अभ्यास पड़ गया है।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(३) प्राचीनों के अनुसार एक काव्यालंकार जिसमें किसी दुष्कर बात को सिद्ध करनेवाले कार्य्य का कथन हो। उ०—हरि सुमिरन प्रह्लाद किय, जर्यो न अगिन मँझार। गयो गिरायो गिरिहु तें, भयो न बाँको बार। कुछ लोग ऐसे कथन में कोई चमत्कार न मान उसे अलंकार नहीं मानते।

अभ्यासकला-संज्ञा पुं० [सं०] योग की उन चार कलाओं में से

एक जो विविध योगांगों के मेल से बनती है। आसन और प्राणायाम का मेल।

अभ्यासयोग-संज्ञा पुं० [सं०] बार बार अनुशीलन करने की क्रिया। सदा एक ही विषय का बार बार चिंतन।

अभ्यासी-वि [सं० अभ्यासिन्] [स्त्री० अभ्यासिनी] अभ्यास करनेवाला। साधक।

अभ्युक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभ्युक्षित, अभ्युक्ष्य] सेचन। छिड़काव। सिंचन।

अभ्युक्षित-वि० [सं०] (१) छिड़का हुआ। अभिसिंचित। (२) जिस पर छिड़का गया हो। जिसका अभिसिंचन हुआ हो।

अभ्युक्ष्य-वि० [सं०] छिड़कने योग्य।

अभ्युच्चय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चढ़ाव। उठान। (२) संगीत में स्वरसाधन की एक प्रणाली जो इस प्रकार है—सा ग, रे मा, ग प, म ध, प नि, ध सा। अवरोही—सा ध, नि प, धा सा, पा गा, म रे, ग स।

अभ्युत्थान-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभ्युत्थायी, अभ्युत्थित, अभ्युत्थेय] (१) उठना। (२) किसी बड़े के आने पर उसके आदर के लिये उठ कर खड़े हो जाना। प्रत्युद्गम। (३) बढ़ती। समृद्धि। उन्नति। गौरव। (४) उठान। आरंभ। उदय। उत्पत्ति।

अभ्युत्थायी-वि० [सं० अभ्युत्थायिन्] [स्त्री० अभ्युत्थायिनी] (१) उठ कर खड़ा होनेवाला। (२) आदर के लिये उठ कर खड़ा होनेवाला। (३) उन्नति करनेवाला। बढ़नेवाला।

अभ्युत्थित-वि० [सं०] (१) उठा हुआ। (२) आदर के लिये उठ कर खड़ा हुआ। (३) उन्नत। बढ़ा हुआ।

अभ्युत्थेय-वि० [सं०] (१) उठने योग्य। (२) जो अभ्युत्थान के योग्य हो। जिसे उठ कर आदर देना उचित हो। (३) उन्नति के योग्य।

अभ्युदय-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभ्युदित आभ्युदयिक] (१) सूर्य्य आदि ग्रहों का उदय। (२) प्रादुर्भाव। उत्पत्ति। (३) इष्टलाभ। मनोरथ की सिद्धि। (४) विवाह आदि शुभ अवसर। (५) वृद्धि। बढ़ती। उन्नति। तरक्की।

अभ्युदित-वि० [सं०] (१) उगा हुआ। निकला हुआ। उत्पन्न। प्रादुर्भूत। (२) दिन चढ़े तक सोनेवाला। (३) सूर्योदय के समय उठ कर नित्य कर्म को न करनेवाला। (४) समृद्ध। उन्नत।

अभ्युपगत-वि० [सं०] (१) पास गया हुआ। सामने आया हुआ। प्राप्त। (२) स्वीकृत। अंगीकृत। मंजूर किया हुआ।

अभ्युपगम-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अभ्युपगत] (१) पास जाना। सामने आना वा जाना। प्राप्ति। (२) स्वीकार। अंगीकार। मंजूरी। (३) न्याय के अनुसार सिद्धांत के चार भेदों में से एक। बिना परीक्षा किए किसी ऐसी बात को मान कर जिसका खंडन करना है फिर उसकी विशेष परीक्षा करने को अभ्युपगम सिद्धांत कहते हैं। जैसे एक पक्ष का आदमी कहे कि शब्द द्रव्य है। इस पर उसका विपक्षी कहे कि अच्छा हम थोड़ी देर के लिये मान भी लेते हैं कि शब्द द्रव्य है पर यह तो बतलाओ कि यह नित्य है वा अनित्य। इस प्रकार का मानना अभ्युपगम सिद्धांत हुआ।

अभ्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) आकाश। (३) अभ्रक धातु। (४) स्वर्ण। सोना।

अभ्रक-संज्ञा पुं० [सं०] अबरक। भोडर। दे० 'अबरक'।

अभ्रांत-वि० [सं०] (१) भ्रांति-शून्य। भ्रमरहित। (२) भ्रम-शून्य। स्थिर।

यौ०-अभ्रांत बुद्धि=जिसकी बुद्धि स्थिर हो।

अभ्रांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भ्रांति का न होना। स्थिरता। अचंचलता (२) भ्रम का अभाव। भूल चूक का न होना।

अमंगल-वि० [सं०] मंगलशून्य। अशुभ।

संज्ञा पुं० (१) अकल्याण। दुःख। अशुभ। (२) रेंड़ का पेड़।

अमंद-वि० [सं] (१) जो धीमा न हो। तेज़। (२) उत्तम। श्रेष्ठ। स्वच्छ। सुन्दर। भला। (३) उद्योगी। कार्य्य-कुशल। चलता पुरज़ा।

संज्ञा पुं० वृक्ष। पेड़।

अम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बीमारी का कारण। (२) बीमारी। रोग।

अमचूर-संज्ञा पुं० [हिं० आम+चूर] सुखाये हुए कच्चे आम का चूर्ण। पिसी हुई अमहर।

अमड़ा-संज्ञा पुं० [सं० आम्रात, पा० अंबाड] एक पेड़ जिसकी पत्तियाँ शरीफ़े की पत्तियों से छोटी और सींकों में लगती हैं। इसमें भी आम की तरह मौर आता है और छोटे छोटे खट्टे फल लगते हैं जो चटनी और अचार के काम में आते हैं। अमारी।

अमत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मत का अभाव। असम्मति। (२) रोग। (३) मृत्यु।

अमत्त-वि० [सं०] (१) मदरहित। (२) बिना घमंड का। (३) शांत।

अमदन-क्रि० वि० [अ०] जान बूझ कर। इच्छा पूर्वक।

अमधुर-वि० [सं०] कटु। अरुचिकर।

संज्ञा पुं० संगीत-शास्त्र के अनुसार बाँसुरी के सुर के छः दोषों में से एक।

अमन-संज्ञा पुं० [अ०] शांति। चैन। आराम। इतमीनान। रक्षा। बचाव।

यौ०-अमन चैन। अमन अमान।

अमनस्क-वि० [सं०] (१) मन वा इच्छा से रहित। उदासीन। (२) उदास। अनमना।

अमनिया*-वि० [सं० अ+ मल, अथवा कमनीय] शुद्ध। पवित्र। अछूता।

अमनैक-संज्ञा पुं० [सं० आम्नायिक=वंश का । अथवा सं० आत्मन, प्रा० अप्पण, हिं० अपना से अपनैक] (१) अवध में एक प्रकार के काश्तकार जिन्हें कुलपरम्परा के कारण लगान के संबंध में कुछ विशेष अधिकार प्राप्त रहते हैं । (२) सरदार । हकदार । दावेदार । अधिकारी । उ०—जेठे पुत्र सुभट छबि छाये । नाम सारवाहन जे गाये । जानि जुद्ध अमनैक अहाये । खेल हार ता समय पठाये ।—लाल । (३) अधिकार जतानेवाला । ढीठ । साहसी । उ०—(क) दौरि दधिदान काज ऐसो अमनैक तहाँ आली बनमाली आइ बहियाँ गहत है ।—पद्माकर । (ख) आनि कह्यो एहि गैल भटू ब्रजमंडल में अमनैक न और है । देखन रीझि रहीं सिगरी मुख माधुरी को कछु नाहिन छोर है ।—बेनी । (ग) जाति हौं गोरस बेचन को ब्रज वीथिन धूम मची चहुँधा ते । बाल गोपाल सबै अमनैक हैं फागुन में बचि हैं री कहाँ तें ?—बेनी ।

अमर-वि० [सं०] जो मरे नहीं । चिरजीवी ।

संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अमरा, अमरी] (१) देवता । (२) पारा । (३) हड़जोड़ का पेड़ । (४) अमरकोश । (५) लिंगानुशासन नामक प्रसिद्ध कोश के कर्त्ता अमरसिंह । (६) मरुद्गणों में से एक । उनचास पवनों में से एक (७) विवाह के पहिले वर कन्या के राशिवर्ग के मिलान के लिये नक्षत्रों का एक गण जिसमें ये नक्षत्र होते हैं—अश्विनी, रेवती, पुष्य, स्वाती, हस्त, पुनर्वसु, अनुराधा, मृगशिरा और श्रवण ।

अमरकंटक-संज्ञा पुं० [सं० आम्रकूट ?] विंध्याचल पहाड़ पर एक ऊँचा स्थान जहाँ से सोन और नर्मदा नदियाँ निकलती हैं । यह हिन्दुओं के तीर्थों में से है । यहाँ प्रतिवर्ष शिव-दर्शन के निमित्त धूमधाम का मेला होता है ।

अमरख*-संज्ञा पुं० [सं० अमर्ष=क्रोध] [स्त्री० अमरखी] (१) क्रोध । कोप । गुस्सा । रिस । (२) रस के अंतर्गत ३३ संचारी भावों में से एक । दूसरे का अहंकार न सहकर उसके नष्ट करने की इच्छा ।

अमरखी*-वि० [हिं० अमरख] क्रोधी । बुरा माननेवाला । दुःखी होनेवाला ।

अमरण-संज्ञा पुं० [सं०] अमरता । मृत्यु का अभाव ।

वि० मरणरहित । अमर । चिरजीवी ।

अमरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृत्यु का अभाव । चिरजीवन । (२) देवत्व ।

अमरत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमरता । चिरजीवन । (२) देवत्व ।

अमरदारु-संज्ञा पुं० [सं०] देवदार का पेड़ ।

अमरनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इन्द्र । (२) काश्मीर की राजधानी श्रीनगर से ७ दिन के मार्ग पर हिन्दुओं का एक तीर्थ । यहाँ श्रावण की पूर्णिमा को बर्फ़ के बने हुए शिवलिंग का दर्शन होता है । (३) जैन लोगों के १८ वें तीर्थंकर ।

अमरपख*-संज्ञा पुं० [सं० अमरपक्ष] पितृपक्ष । उ०—समय पाइ कै लगत है, नीचहु करन गुमान । पाय अमरपख द्विजन लौं, काग चहै सनमान ।—रसनिधि ।

अमरपति-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

अमरपद-संज्ञा पुं० [सं०] मोक्ष । मुक्ति ।

अमरपुर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अमरपुरी] अमरावती । देवताओं का नगर ।

अमरपुष्पक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कल्प-वृक्ष । (२) काँस का पौधा । (३) तालमखाना । (४) गोखरू ।

अमरबेल-संज्ञा पुं० [सं० अंबरवल्ली] एक पीली लता वा बौंर जिसमें जड़ और पत्तियाँ नहीं होतीं । यह लता जिस पेड़ पर चढ़ती है उसके रस से अपना परिपोषण करती है और उस वृक्ष को निर्बल कर देती है । इसमें सफ़ेद फूल लगते हैं । वैद्य इसे मधुर-पित्त-नाशक और वीर्य्य-वर्द्धक मानते हैं । आकास-बौंर । अंबरवल्ली ।

अमररत्न-संज्ञा पुं० [सं०] स्फटिक । बिल्लौर ।

अमरराज-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

अमरलोक-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रपुरी । देवलोक । स्वर्ग ।

अमरवर-संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं में श्रेष्ठ इंद्र । उ०-खिलति मिलति तिनको नरपति सों । जिमि वर देत अमरवर रति सों ।—गोपाल ।

अमरवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं० अंबरवल्ली] अमरबेल । आकाश-बँवर । अमरबौंरिया ।

अमरस-संज्ञा पुं० [हिं० आम+रस] निचोड़ कर सुखाया हुआ आम का रस जिसकी मोटी पर्त्त बन जाती है । अमावट ।

अमरसी-वि० [हिं० आमरस] आम के रस की तरह पीला । सुनहला । यह रंग एक छटाँक हल्दी और ८ माशे चूना मिला कर बनता है ।

अमरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूब । (२) गुर्च । गिलोय । (३) सेहुड़ । थूहर । (४) नीली कोयल । बड़ा नील का पेड़ । (५) चमड़े की झिल्ली जिसमें गर्भ का बच्चा लिपटा रहता है । आँवर । जरायु । (६) नाभि का नाल जो नव-जात बच्चे को लगा रहता है । (७) इंद्रायण । (८) बरियारा । बरगद की एक छोटी जंगली जाति । (९) घीकार । (१०) इंद्रपुरी ।

संज्ञा पुं० दे० "अमड़ा" ।

अमराई†-संज्ञा स्त्री० [सं० आम्रराजि] आम का बाग़ । आम की बारी ।

अमरालय-संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का स्थान । स्वर्ग । इंद्रलोक ।

अमराव*†–[सं० आम्रराजि, हिं० अमराई] आम की बारी। आम का बग़ीचा। अमराई।

अमरावती–संज्ञा स्त्री० [सं०] देवताओं की पुरी। इंद्रपुरी।

अमरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) देवता की स्त्री। देवकन्या। देवपत्नी। (२) एक पेड़ जिससे एक प्रकार की चमकीली गोंद निकलती है। इस गोंद को सुगंध के लिये जलाते हैं और संथाल लोग इसे खाते हैं। इसकी छाल से रंग बनता है और चमड़ा सिझाया जाता है। इसकी लकड़ी मकान, छकड़े और नाव बनाने तथा जलाने के काम में भी आती है। इसकी डालियों में से लाही भी निकलती है और पत्तियों पर सिंहभूम आदि स्थानों में टसर रेशम का कीड़ा पाला जाता है। सज। सग। आसन। पियासाल।

अमरु–संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा जिसने 'अमरु-शतक' नामक शृंगार का ग्रंथ बनाया था।

अमरू–संज्ञा पुं० [अ० अहमर=लाल ?] एक रेशमी कपड़ा जो काशी में बुना जाता है।

अमरूत–संज्ञा पुं० [सं० अमृत (फल)] एक पेड़ जिसका धड़ कमज़ोर, टहनियाँ पतली और पत्तियाँ पाँच या छः अंगुल लंबी होती हैं। इसका फल कच्चे पर कसैला और पकने पर मीठा होता है और इसके भीतर छोटे छोटे बीज होते हैं। यह फल रेचक होता है। पत्ती और छाल रंगने तथा चमड़ा सिझाने के काम में आती है। इसकी पत्ती के काढ़े से कुल्ला करने से दाँत का दर्द कम होता है। मदक पीनेवाले इसकी पत्ती को अफ़ीम में मिला कर मदक बनाते हैं। किसी किसी का मत है कि यह पेड़ अमरीका से आया है। पर भारतवर्ष में कई स्थानों पर यह जंगली होता है।

पर्या०—(मध्यभारत और मध्यप्रदेश में) जाम-विही। (बंगाल) प्यारा। (दक्षिण में) पेरूफल। पेरुक (नेपाल तराई में) रूश्री। (अवध में) सफरी। अमरूद। (तिर्हुत में) लताम।

अमरेश–संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का राजा। इंद्र।

अमरेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का राजा। इन्द्र।

अमरैया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "अमराई।"

अमर्दित–वि० [सं०] (१) जिसका मर्दन न हुआ हो। जो मला न गया हो। बिना मलादला। जो गिँजा मिँजा न हो। (२) जो दबाया व हराया न गया हो। अपराभूत। अपराजित।

अमर्याद–वि० [सं०] (१) मर्यादाविरुद्ध। अव्यवस्थित। बेक़ायदा। (२) बिना मर्यादा का। अप्रतिष्ठित।

अमर्यादा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अप्रतिष्ठा। बेइज़्ज़ती।

अमर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अमर्षित, अमर्षी] (१) क्रोध। रिस। (२) वह द्वेष वा दुःख जो ऐसे मनुष्य का कोई अपकार न कर सकने के कारण उत्पन्न होता है जिसने अपने गुणों का तिरस्कार किया हो। (३) असहिष्णुता। अक्षमा।

अमर्षण–संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध। रिस। असहिष्णुता।

अमर्षी–वि० [सं० अमर्षिन्] स्त्री० अमर्षिणी] क्रोधी। असहनशील। जल्दी बुरा माननेवाला।

अमल–वि० [सं०] (१) निर्मल। स्वच्छ। (२) निर्दोष। पापशून्य।

संज्ञा पुं० [सं०] अभ्रक। अबरक।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) व्यवहार। कार्य। आचरण। साधन।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—अमलदरामद=कार्रवाई।

(२) अधिकार। शासन। हुकूमत।

यौ०—अमलदख़ल। अमलदारी।

(३) नशा।

यौ०—अमलपानी=नशा वग़ैरा।

(४) आदत। बान। टेव। व्यसन। लत।

क्रि० प्र०—पड़ना। उ०—(क) आनँदकंद चंद मुख निसि दिन अवलोकत यह अमल परयो। सूरदास प्रभु सों मेरी गति जनु लुब्धक कर मीन तरयो।—सूर। (ख) जसुमति-सुत सुन्दर तन निरखि हौं लुभानी। हरि दरसन अमल परयो लाज न लजानी।—सूर।

(५) प्रभाव। असर। उ०—अभी दवा का अमल नहीं हुआ है। (६) भोगकाल। समय। वक़्त। उ०—अब चार का अमल है।

अमलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निर्मलता। स्वच्छता। (२) निर्दोषता।

अमलतास–संज्ञा पुं० [सं० अम्ल] एक पेड़ जिसमें डेढ़-दो फुट लंबी गोल गोल फलियाँ लगती हैं। इसकी पत्तियाँ सिरिस के समान और फूल सन के समान पीले रंग के लगते हैं। फलियों के ऊपर का छिलका कड़ा और भीतर का गूदा अफ़ीम की तरह चिप चिपा, खाने में कुछ मिठास लिए खट्टा और कड़ुआ और बहुत दस्तावर होता है। इसके फूलों का गुलकंद बनता है जो गुलाब के गुलकंद से अधिक रेचक होता है। इसके बीजों से कै कराई जाती है।

पर्या०—आरग्वध। घनबहेड़ा। किरवरा।

अमलतासिया–वि० [हिं० अमलतास] अमलतास के फूल के समान हलके पीले रंग का। हलका पीला। गंधकी।

अमलदारी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अधिकार। दख़ल। (२) रुहेल खंड में एक प्रकार की काश्तकारी जिसमें असामी को पैदावार के अनुसार लगान देनी पड़ती है। कनकूत।

अमलपट्टा–संज्ञा पुं० [अ० अमल+हिं० पट्टा] वह दस्तावेज़ वा अधिकार-पत्र जो किसी प्रतिनिधि वा कारिंदे को किसी कार्य्य में नियुक्त करने के लिये दिया जाय।

अमलबेत–संज्ञा पुं० [सं अम्लवेतस्] (१) एक प्रकार की लता जो पश्चिम के पहाड़ों में होती है और जिसकी सूखी हुई

टहनियाँ बाज़ार में बिकती हैं। ये खट्टी होती हैं और चूरण में पड़ती हैं। (२) एक मध्यम आकार का पेड़ जो बाग़ों में लगाया जाता है। इसके फूल सफ़ेद और फल गोल ख़रबूज़े के समान पकने पर पीले और चिकने होते हैं। इस फल की खटाई बड़ी तीक्ष्ण होती है। इसमें सुई गल जाती है। यह अग्निसंदीपक और पाचक है, इस कारण चूरण में पड़ता है। यह एक प्रकार का नीबू है।

अमलमणि-संज्ञा पुं० [सं०] स्फटिक। बिल्लौर।

अमला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी (२) सातला वृक्ष। (३) पताल-आँवला।

संज्ञा पुं० [सं० आमलक] आँवला।

संज्ञा पुं० [अ०] कार्य्याधिकारी। कर्म्मचारी। कचहरी वा दफ़्तर में काम करनेवाला।

यौ०—अमलाफ़ैला=कचहरी के कर्म्मचारी।

अमली-वि० [अ०] (१) अमल में आनेवाला। व्यावहारिक। (२) अमल करनेवाला। कर्मण्य। (३) नशेबाज़।

संज्ञा स्त्री० [सं० अम्लिका] (१) इमली। (२) एक झाड़ीदार पेड़ जो हिमालय के दक्षिण गढ़वाल से आसाम तक होता है। करमई। गौरूवटी।

अमलूक-संज्ञा पुं० [सं० अम्ल] एक पेड़ जो अफ़ग़ानिस्तान, बिलूचिस्तान, हज़ारा, काश्मीर और पंजाब के उत्तर हिमालय की पहाड़ियों पर होता है। इसमें से बहुत सा रस बहता है जो जम कर गोंद की तरह हो जाता है। इसका फल ताज़ा और सूखा दोनों खाया जाता है। सूखा फल क़ाबुली लोग लाते हैं। इसे मलूक भी कहते हैं।

अमलोनी-संज्ञा स्त्री० [सं० अम्ललोणी] नोनियाँ घास। नोनी। इसकी पत्तियाँ बहुत छोटी छोटी और मोटे दल की तथा खाने में खट्टी होती हैं। लोग इसका साग बना कर खाते हैं जो अग्निवर्द्धक होता है। कहते हैं कि इसके रस से धतूरे का विष उतर जाता है। यह बड़ी पत्तियों का भी होता है जिसे 'कुलफा' कहते हैं।

अमलक|-वि० [अ० मुतलक] बिलकुल। पूरा पूरा। समूचा। ज्यों का त्यों।

अमस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काल। समय। (२) रोग।

वि० निर्बोध। अज्ञानी।

अमसूल-संज्ञा पुं० [देश०] एक पतला पेड़ जिसकी डालियाँ नीचे की ओर झुकी होती हैं और जो दक्षिण में कोंकण, कनारा और कुर्ग के जंगलों में होता है। नीलगिरि पर यह बहुतायत से होता है इसका फल खाया जाता है और गोआ में बिंदाव के नाम से बिकता है। पर यह वृक्ष उस तेल के कारण अधिक प्रसिद्ध है जो उसके बीज से निकाला जाता है। बाज़ारों में यह तेल जमी हुई सफ़ेद लंबी पत्तियों वा टिकियों के रूप में मिलता है जो साधारण गर्मी से पिघल जाती है। यह वर्द्धक और संकोचक समझा जाता है तथा सूजन आदि में इसकी मालिश होती है। मरहम भी इससे बनाते हैं।

अमहर-संज्ञा स्त्री० [हिं० आम] छिले हुए कच्चे आम की सुखाई हुई फाँक। यह दाल और तरकारी में पड़ती है। इसे कूट कर अमचूर भी बनाते हैं।

अमहल*-संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+अ० महल] बिना घर का। अनिकेत। [illegible] स्थान न हो। व्यापक। [illegible] शेष सहस मुख पाना। [illegible] ल महल दिवाना।—

अ[illegible] [[illegible]] दुबला। मांसहीन।

अमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अमावस्या। (२) अमावस्या की कला। स्कंदपुराण के अनुसार चन्द्रमा की सोलहवीं कला जिसका क्षय और उदय नहीं होता। (३) घर। (४) मर्त्यलोक। इह लोक। (५) चौपायों की आँख पर की बतौरी जो अशुभ समझी जाती है।

अमाघौत-संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है।

अमातना*-क्रि० स० [सं० आमंत्रण] आमंत्रित करना। निमंत्रण देना। न्योता देना। आह्वान करना। बुलाना। उ०—चौंकि परीं सब गोकुल नारि। भली कही सब ही सुधि भूली तुमहि करी सुधि भारि। कह्यो महरि सों करौ चढ़ाई हम अपने घर जात। तुमहूं करौ भोग सामग्री कुल देवता अमाति। जसुमति कह्यो अकेली हौं मैं तुमहूँ सँग मोहि दीजौ। सूर हँसति ब्रजनारि महरि सों ऐहैं साँच पतीजौ।—सूर।

अमात्य-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्री। वज़ीर।

अमात्र-वि० [सं०] मात्रारहित। बेहद। अपरिमित।

अमान-वि० [सं०] (१) जिसका मान वा अंदाज़ न हो। अपरिमित। परिमाणरहित। इयत्ताशून्य। उ०—माया, गुन, ज्ञानातीत, अमाना बेद पुरान भनंता।—तुलसी। (२) बेहद। बहुत। उ०—आकाश विमान अमान छये। हा हा सब ही यह शब्द रये।—केशव। (३) गर्वरहित। निरभिमान। सीधा सादा। उ०—सदा रामप्रिय होहु तुम, शुभ गुण भवन अमान। कामरूप इच्छा मरन, ज्ञान विराग-निधान।—तुलसी। (४) मानशून्य। अप्रतिष्ठित। अनादृत। तुच्छ। आत्माभिमानरहित। उ०—(क) अगुन अमान जान तेहि, दीन्ह पिता बनबास। सो दुख अरु युवती बिरह, पुनि निशि दिन मम त्रास।—तुलसी। (ख) अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संशय छीना।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) रक्षा। बचाव। (२) शरण। पनाह।

अमानत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अपनी वस्तु को किसी दूसरे के पास नियत वा अनियत काल तक के लिये रखना। (२) वह वस्तु जो दूसरे के पास किसी नियत वा अनियत काल के लिये रख दी जाय। थाती। धरोहर। उपनिधि।

अमानतदार-संज्ञा पुं० [अ०] वह जिसके पास कोई चीज़ अमानत रक्खी जाय। धरोहर रखनेवाला।

अमाना-क्रि० अ० [सं० अ=पूरा पूरा+मान=माप] (१) पूरा पूरा भरना। समाना। अँटना। उ०—इस बरतन में इतना पानी नहीं अमा सकता। (२) फूलना। उमड़ना। इतराना। उ०—कहा तुम इतनहिं को गर्वानी। जोबन रूप दिवस दस ही को ज्यों अँगुरी को पानी। करि कछु ज्ञान, अभिमान जान दै है कैसी मति ठानी। तन धन जानि जाम जुग छाया भूलति कहा अमानी।—सूर।

†संज्ञा पुं० [सं० अयन] बखार का मुँह। अन्न की कोठरी का द्वार। आना।

अमानी-वि० [सं० अमानिन्] निरभिमान। घमंड रहित। अहंकारशून्य। उ०—मोरे प्रौढ़-तनय-सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० आत्मन्] (१) वह भूमि जिसकी ज़मींदार सरकार हो और जिसका प्रबंध उसकी ओर से ज़िले का कलक्टर करे। ख़ास। (२) ज़मीन वा कोई कार्य्य जिसका प्रबंध अपने ही हाथ में हो, ठेके पर न दिया गया हो। (३) लगान की वसूली जिसमें बिगड़ी हुई फ़सल का विचार करके कुछ कमी की जाय।

†संज्ञा० स्त्री० [सं० अ०+हिं० मानना] मनमानी अवस्था। अपने मन की कार्रवाई। अंधेर।

अमानुष-वि० [सं०] (१) मनुष्य के सामर्थ्य के बाहर का। जो मनुष्य से न हो सके। उ०—सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे।—तुलसी। (२) मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध। पाशव। पैशाचिक।

संज्ञा पुं० (१) मनुष्य से भिन्न प्राणी। (२) देव। देवता। (३) राक्षस।

अमानुषी-वि० [सं० अमानुषीय] (१) मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध। पाशव। पैशाचिक। (२) मानवी शक्ति के बाहर का। अलौकिक।

अमाप-वि० [सं०] (१) जिसके परिमाण का अंदाज़ा न हो सके। अपरिमित। (२) बेहद। बहुत।

अमाय*-वि० दे० "अमाया"।

अमाया-वि० [सं०] (१) मायारहित। निर्लिप्त। (२) निःस्वार्थ। निष्कपट। निश्छल। उ०—जो मोरे मन बच अरु काया। प्रीति राम-पद कमल अमाया।—तुलसी।

अमार†-संज्ञा पुं० [फ़ा० अंबार] (१) अन्न रखने का घेरा। अरहर के सूखे डंठलों वा सरकंडों की टट्टी गाड़कर बनाया हुआ घेरा जिसे ऊपर से छा देते हैं, और जिसमें नीचे ऊपर भुस देकर बीच में अनाज रखते हैं। (२) अमड़ा।

अमारग*-संज्ञा पुं० दे० "अमार्ग"।

अमारी-संज्ञा स्त्री० [अ०] हाथी का छायादार वा मंडपयुक्त हौदा।

अमार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुमार्ग। कुराह। (२) बुरी चाल। दुराचरण।

अमार्जित-वि० [सं०] (१) जो धोकर शुद्ध न किया गया हो। अस्वच्छ। (२) जिसका संस्कार न हुआ हो। बिना शोधा हुआ। बिना सुधारा हुआ।

अमाल-संज्ञा पुं० [अ० अमल] अमल रखनेवाला। हाकिम। शासक। उ०—पैज प्रतिपाल, भूमिभार को हमाल, चहूँ चक्क को अमाल भयो दंडक जहान को।—भूषण।

अमालनामा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह पुस्तक वा रजिस्टर जिसमें कर्मचारियों की भली वा बुरी कार्रवाइयाँ दर्ज की जाती हों। (२) कर्मपुस्तक। कर्मपत्र। मुसलमानी मत के अनुसार वह पुस्तक जिसमें प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्म क़यामत में पेश करने के लिये नित्य दर्ज किए जाते हैं।

अमावट-संज्ञा स्त्री० [सं० आम्र, हिं० आम+सं० आवर्त्त, प्रा० आवट] (१) आम के सुखाए रस के पर्त वा तह। इसे बनाने के लिये पके आम को निचोड़ कर उसका रस कपड़े पर फैला कर सुखाते हैं। जब रस की तह सूख जाती है तब उसे लपेट कर रख लेते हैं। (२) पहिना जाति की एक मछली।

अमावड़-वि० [?] शक्तिशाली। ज़ोरावर।—डिं०।

अमावना*-क्रि० अ० दे० "अमाना"।

अमावस-संज्ञा स्त्री० दे० "अमावास्या"।

अमावस्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] कृष्ण पक्ष की अंतिम तिथि। वह तिथि जिसमें सूर्य्य और चंद्रमा एक ही राशि के हों।

अमावास्या-संज्ञा स्त्री० दे० "अमावस्या"।

अमाह-संज्ञा पुं० [सं० अमाम] [वि० अमाही] नेत्र-रोग विशेष। आँख के डेले में निकला हुआ लाल मांस। नाख़ूना।

अमाही-वि० [हिं० अमाह] अमाह रोग संबंधी।

अमिट-वि० [सं० अ०=नहीं+मृज्=नष्ट होना अथवा अ=नहीं+मर्त्य=मरनेवाला] (१) जो न मिटे। जो नष्ट न हो। नाशहीन। स्थायी। जो न टले। जिसका होना निश्चित हो। अटल। अवश्यंभावी।

अमित-वि० [सं०] (१) जिसका परिमाण न हो। अपरिमित। बेहद। असीम। (२) बहुत अधिक। (३) केशव के अनुसार वह अर्थालंकार जिसमें साधन ही साधक की सिद्धि का फल भोगे। जैसे—'दूती नायक के पास नायिका का सँदेसा लेकर जाय, परंतु वहाँ जाकर स्वयं उससे प्रीति कर ले।' उ०—आनन सीकर सीक कहा ? हिय तौ हित ते अति आतुर

आई। फीको भयो मुख ही मुख राग क्यों? तेरे पिया बहु बार बकाई। प्रीतम को पट क्यों पलट्यो? अलि केवल तेरी प्रतीति को ल्याई। केशव नीके ही नायक सों रमि नायिका बातन ही बहराई।—केशव।

यौ०—अमित विक्रम। अमितौजस। अमिताशन।

अमिताशन—वि० [सं०] जो सब कुछ खाय। जिसके खाने का ठिकाना न हो।

संज्ञा पुं० अग्नि। आग।

अमित्र—वि० [सं०] (१) जो मित्र न हो। शत्रु। वैरी। (२) बिना मित्र का। जिसका कोई दोस्त न हो। अमित्रक।

अमिय*—संज्ञा पुं० [सं० अमृत, प्रा० अमिअ] अमृत।

अमिय-मूरि—संज्ञा स्त्री० [सं० अमृत-मूरि] अमरमूर। अमृत-बूटी। संजीवनी जड़ी। जिलानेवाली बूटी। उ०—अमिय-मूरि-मय चूरण चारू। शमन सकल भवरुज परिवारू।—तुलसी।

अमिरती†—संज्ञा स्त्री० दे० "इमरती"।

अमिल*—वि० [सं० अ०=नहीं+ हिं० मिलना] (१) न मिलने योग्य। अप्राप्य। उ०—निपट अमिल वह तुम्हैं मिलिबे की जक, कैसे कै मिलाऊँ गति मौपै न विहंग की।—केशव। (२) बेमेल। बेजोड़। अनमिल। असंबद्ध। (३) भिन्न-वर्गीय। जो हिला मिला न हो। जिससे मेल जोल न हो। उ०—हरपि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल सँग साथ। आँखिन ही मैं हँसि धर्‍यो, सीस हिये पर हाथ।—बिहारी। (४) ऊबड़ खाबड़। ऊँचा नीचा। उ०—अमिल सुमिल सीढ़ी मदन-सदन की कि जगमगैं पग जुग जेहरि जराय की।—केशव।

अमिलतास—संज्ञा पुं० दे० "अमलतास"।

अमिलपट्टी—संज्ञा स्त्री० [हिं० अमिल+पट्टी=जोड़] सिलाई वा तुरपन का एक भेद। चौड़ी तुरपन।

अमिलित—वि० [सं०] न मिला हुआ। अलग। पृथक्। जुदा।

अमिलियापाट—संज्ञा पुं० [हिं० अमिली=इमिली पाट=रेशम] एक प्रकार का पट वा पटसन।

अमिली—संज्ञा स्त्री० दे० "इमली"।

अमिश्रण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अमिश्रित] मिलावट का अभाव।

अमिश्र राशि—संज्ञा स्त्री० [सं०] गणित में वह राशि जो एक ही एकाई द्वारा प्रगट की जाती है। एकाई। १ से ९ तक की संख्या।

अमिश्रित—वि० [सं०] (१) न मिला हुआ। जो मिलाया न गया हो। (२) जिसमें कोई वस्तु मिलाई न गई हो। बेमिलावट। ख़ालिस। शुद्ध। पृथक्भूत।

अमिष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छल का अभाव। बहाने का न होना। (२) दे० 'आमिष'।

वि० निश्छल। जो हीलेबाज़ न हो।

अमी*—संज्ञा पुं० दे० "अमिय"।

अमीकर*—संज्ञा पुं० [सं० अमृतकर] अमृतांशु। चंद्रमा।

अमीत*—संज्ञा पुं० [सं० अमित्र, प्रा० अमित्त] जो मित्र न हो। शत्रु। वैरी। उ०—पावक तुल्य अमीतन को भयो मीतन को भयो धाम सुधा को।—भूषण।

अमीन—संज्ञा पुं० [अ०] वह अदालती कर्मचारी जिसके सुपुर्द बाहर का काम हो; जैसे मौके की तहकीक़ात करना, ज़मीन नापना, बटवारा करना, डिगरी का अमल दरामद कराना, इत्यादि।

अमीर—संज्ञा पुं० [अ०] (१) कार्य्याधिकार रखनेवाला। सरदार। (२) धनाढ्य। दौलतमंद। (३) उदार। (४) अफ़ग़ानिस्तान के राजा की उपाधि।

अमीराना—वि० [अ०] अमीरों के ढंग का। जिसमे अमीरी प्रगट हो।

अमीरी—संज्ञा पुं० [अ०] (१) धनाढ्यता। दौलतमंदी। (२) उदारता।

वि० अमीर का सा। अमीर के योग्य जैसे अमीरी ठाठ।

अमीव—संज्ञा पुं० [अ०] (१) पाप। (२) दुःख। (३) रोग।

अमुक—वि० [सं०] फ़लाँ। ऐसा ऐसा।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग किसी नाम के स्थान पर करते हैं। जब किसी वर्ग के किसी एक व्यक्ति वा वस्तु को निर्दिष्ट किए बिना काम नहीं चल सकता, तब किसी का नाम न लेकर इस शब्द को लाते हैं। जैसे, 'यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक व्यक्ति ने ऐसा किया तो हम भी ऐसा करें।'

अमुक्त—वि० [सं०] (१) जो मुक्त वा बंधनरहित न हो। बद्ध। (२) जिसे छुटकारा न मिला हो। जो फँसा हो। (३) जिसका मोक्ष न हुआ हो।

अमुग्ध—वि० [सं०] (१) जो मुग्ध वा मोहित न हो। (२) जितेंद्रिय। विरक्त। (३) चतुर।

अमुत्र—संज्ञा पुं० [अ०] वह लोक। परलोक। जन्मांतर।

यौ०—इहामुत्र।

अमुष्य—वि० [सं०] प्रसिद्ध। विख्यात। मशहूर।

यौ०—अमुष्यपुत्र=प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न। कुलीन।

अमूक—वि० [सं०] (१) जो गूँगा न हो। (२) बोलनेवाला। वक्ता। (३) चतुर। प्रवीण।

अमूढ़—वि० [सं०] (१) जो मूर्ख न हो। चतुर। (२) विद्वान्। पंडित।

अमूर्त्त—वि० [सं०] मूर्त्तिरहित। निराकार। अवयवशून्य। निरवयव।

संज्ञा पुं० (१) परमेश्वर। (२) आत्मा। (३) जीव। (४) काल। (५) दिशा। (६) आकाश। (७) वायु।

अमूर्त्ति–वि० [सं०] मूर्त्तिरहित । निराकार ।

अमूर्त्तिमान–वि० [सं०] (१) निराकार । मूर्त्तिरहित । (२) अप्रत्यक्ष । अगोचर ।

अमूल–वि० [सं०] जिसका मूल न हो । बेजड़ का ।
संज्ञा पुं० सांख्य के अनुसार प्रकृति का एक नाम ।

अमूलक–वि० [सं०] (१) जिसकी कोई जड़ न हो । निर्मूल । (२) असत्य । मिथ्या ।

अमूल्य–वि० [सं०] (१) जिसका मूल्य निर्धारित न हो सके । अनमोल । (२) बहुमूल्य । बेशक़ीमत ।

अमृत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वस्तु जिसके पीने से जीव अमर हो जाता है । पुराणानुसार यह समुद्र-मंथन से निकले हुए १४ रत्नों में से माना जाता है । सुधा । पीयूष । निर्जर । (२) जल । (३) घी । (४) यज्ञ के पीछे की बची हुई सामग्री । (५) अन्न । (६) मुक्ति । (७) दूध । (८) औषध । (९) विष । (१०) बछनाग । (११) पारा । (१२) धन । (१३) सोना । (१४) हृद्य पदार्थ । (१५) वह वस्तु जो बिना माँगे मिले । (१६) सुस्वादु द्रव्य । मीठी वा मधुर वस्तु ।

अमृतकर–संज्ञा पुं० [सं०] जिसकी किरणों में अमृत रहता है । चंद्रमा ।

अमृतकुंडली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक छंद जो प्लवंगम वा चांद्रायण के अंत में दो पद हरिगीतिका के मिलने से बन जाता है । (२) एक प्रकार का बाजा । उ०—बाजत बीन रबाब किन्नरी अमृतकुंडली यंत्र ।—सूर ।

अमृतगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में एक नगण, एक जगण, फिर एक नगण और अंत में गुरु होता है । (।।। ।ऽ। ।।। ऽ) इसको त्वरितगीत भी कहते हैं । उ०—निज नग खोजत हरजू । पय सित लक्ष्मि बरजू ।

अमृतगर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म । ईश्वर ।

अमृतजटा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामासी ।

अमृततरंगिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रिका । चाँदनी ।

अमृतत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरण का अभाव । न मरना । (२) मोक्ष । मुक्ति ।

अमृतदान–संज्ञा पुं० [सं० मृद्भान्] भोजन की चीज़ें रखने का ढकनेदार बर्त्तन । एक प्रकार का डिब्बा ।

अमृतद्युति–संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रमा ।

अमृतद्रव–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा की किरण ।

अमृतधारा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके चार चरणों में से प्रथम चरण में २०, दूसरे में १२, तीसरे में १६ और चौथे में ८ अक्षर होते हैं । उ०—सरबस तज मन भज नित प्रभु भवदुखहर्त्ता । साँची, अहहिं प्रभु जगतभर्त्ता । दनुज-कुल-अरि जगहित धरमधर्त्ता । रामा असुर सुहर्त्ता ।

अमृतधुनि–संज्ञा स्त्री० दे० "अमृतध्वनि" ।

अमृतध्वनि–संज्ञा स्त्री० [सं०] २४ मात्राओं का एक यौगिक छंद जिसके आरंभ में एक दोहा रहता है । इसमें दोहे को मिला कर छः चरण होते हैं; और प्रत्येक चरण में झटके के साथ अर्थात् द्वित्व वर्णों से युक्त तीन यमक रहते हैं । यह छंद प्रायः वीर रस के लिये व्यवहृत होता है । उ०—प्रतिभट उद्भट विकट जहँ लरत लच्छ पर लच्छ । श्रीजगदेश नरेश तहँ अच्छच्छवि परतच्छ । अच्छच्छवि परतच्छच्छटनि विपच्छच्छय करि । स्वच्छच्छिति अति किति्तिथिर सुअमितिम्भय हरि । उज्झिज्झहरि समुज्झिज्झहरि विरुज्झिज्झटपट । कुप्पप्पगट सुरुप्पप्पगनि बिलुप्पप्पति भट ।—सूदन ।

अमृतप–वि० [सं०] अमृत पान करनेवाला ।
संज्ञा पुं० (१) देवता । (२) विष्णु ।

अमृतफल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाशपाती । (२) परवल ।

अमृतफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आँवला । (२) अंगूर । दाख । (३) मुनक्का ।

अमृतबंधु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता । (२) चंद्रमा ।

अमृतबान–संज्ञा पुं० [सं० मृद्भान्] रोग़नी हाँडी । मिट्टी का रोग़नी पात्र । लाह का रोग़न किया हुआ मिट्टी का बरतन जिसमें अचार, मुरब्बा, घी आदि रखते हैं ।

अमृतबिंदु–संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् जो अथर्ववेदीय माना जाता है ।

अमृतमहल–संज्ञा स्त्री० [सं०] मैसूर प्रदेश की एक प्रकार की भैंस ।

अमृतमूरि–संज्ञा स्त्री० [सं०] संजीवनी जड़ी । अमरमूर ।

अमृतयोग–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में एक शुभ फलदायक योग । रविवार को हस्त, गुरुवार को पुष्य, बुध को अनुराधा, शनि को रोहिणी, सोमवार को श्रवण, मंगल को रेवती, शुक्र को अश्विनी—ये सब नक्षत्र अमृतयोग में कहे जाते हैं । रवि और मंगलवार को नंदा तिथि अर्थात् परिवा, षष्ठी और एकादशी हो, शुक्र और सोमवार को भद्रा अर्थात् द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी हो, बुधवार को जया अर्थात् तृतीया, अष्टमी और त्रयोदशी हो, गुरुवार को रिक्ता अर्थात् चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी हो, शनिवार को पूर्णा अर्थात् पंचमी, दशमी और पूर्णिमा हो, तो भी अमृतयोग होता है । इस योग के होने से भद्रा और व्यतीपात आदि का अशुभ प्रभाव मिट जाता है ।

अमृतरश्मि–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

अमृतलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] गुर्च । गिलोय ।

अमृतलोक–संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग ।

अमृतवपु–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

अमृतसंजीवनी–वि० स्त्री० दे० "मृतसंजीवनी" ।

अमृतसंभवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुर्च। गिलोय।

अमृतसार-संज्ञा० पुं० [सं०] (१) नवनीत। मक्खन। (२) घी।

अमृतांधस्-संज्ञा पुं० [सं०] देवता।

अमृतांशु-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी किरणों में अमृत हो। चंद्रमा।

अमृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुर्च। (२) इंद्रायण। (३) मालकँगनी। (४) अतीस। (५) हड़। (६) लाल निसोथ (७) आँवला। (८) दूब। (९) तुलसी। (१०) पीपल। पिप्पली। (११) मदिरा।

अमृताहरण-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

अमृतेश-संज्ञा पुं० [सं०] देवता।

अमृष्ट-वि० [सं०] अमार्जित। जो साफ़ न हो। जो शुद्ध न किया गया हो।

अमेजना*-क्रि० स० [फा० आमेजन] मिलावट होना। मिलना। उ०—(क) रति विपरीति रची दंपति गुपति अति, मेरे जानिमानि भय मनमथ ने जेतैं। कहँ पद्माकर पगी यों रस रंग जामें, खुलिगे सुअंग सब रंगन अमेजे तैं।—पद्माकर। (ख) मोतिन की माल, मलमल वारी सारी सजे, झलमल जोति होति चाँदनी अमेजे में।—बेनी।

अमेठना-क्रि० स० दे० "उमेठना"।

अमेध्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपवित्र वस्तु। विष्ठा, मल, मूत्र आदि। स्मृति के अनुसार ये चीज़ें—मनुष्य की हड्डी, शव, विष्ठा, मूत्र, चरबी, पसीना, आँसू, पीव, कफ़, मद्य, वीर्य्य और रज। (२) एक प्रकार का प्रेत।

वि० (१) जो वस्तु यज्ञ में काम न आ सके। जैसे, पशुओं में कुत्ता और अन्नों में मसूर, उर्द आदि। (२) जो यज्ञ कराने योग्य न हो। (३) अपवित्र।

अमेय-वि० [सं०] (१) अपरिमाण। असीम। इयत्ताशून्य। बेहद। (२) जो जाना न जा सके। अज्ञेय।

अमेली*-वि० [सं० अमेलन] अनमिल। असंबद्ध। अंडबंड। उ०—खेलैं फाग अति अनुराग सों उमंग तें, वे गावैं मन भावैं तहाँ बचन अमेली के।

अमेव-वि० दे० "अमेय"।

अमोघ-वि० [सं०] निष्फल न होनेवाला। वृथा वा अन्यथा न होनेवाला। अव्यर्थ। अचूक। लक्ष्य पर पहुँचनेवाला। ख़ाली न जानेवाला।

अमोघा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कश्यप की एक स्त्री जिनसे पक्षी उत्पन्न हुए थे। (२) हड़। (३) वायबिड़ंग। (४) पाढ़र का पेड़ और फूल।

अमोचन-संज्ञा पुं० [सं०] छुटकारा न होना।

*वि० न छूटनेवाला। दृढ़। उ०—मूँदि रहे पिय प्यारी लोचन। अति हित बेनी उर परसाए वेष्टित भुजा अमोचन।—सूर।

अमोद-संज्ञा पुं० दे० "आमोद"।

अमोनिया-संज्ञा पुं० [अं० एमोनिया] नौसादर।

अमोरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० आम+औरी (प्रत्य०)] (१) आम की कच्ची फली। अँबिया। (२) आमड़ा। अम्मारी। उ०—असुरपति अति ही गर्व धर्यो।······फल को नाम बुझावन लागे हरि कहि दियो अमोरि।—सूर।

अमोल-वि० [सं० अ+हिं० मोल] अमूल्य।

अमोलक-वि० [सं० आ+हिं० मोल] अमूल्य। बहुमूल्य। कीमती। उ०—(क) लोभी लंपट विषयन सों हित यह तेरी निबही। छाँड़ि कनक मणि रतन अमलोक काँच की किरच गही।—सूर। (ख) पायल पाय लगी रहै, लगे अमोलक लाल।—बिहारी।

अमोला-संज्ञा पुं० [सं० आम्र] आम का नया निकलता हुआ पौधा।

अमोही-वि० [सं० अमोह] (१) विरक्त। (२) निर्मोही। निष्ठुर। उ०—मीत सुजान अनीत करौ जनि हा हा न हूजिए मोहि अमोही।—आनंदघन।

अमोआ-संज्ञा पुं० [हिं० आम+औआ (प्रत्य०)] (१) आम के रस का सा रंग। यह कई प्रकार का होता है; जैसे, पीला, सुनहरा, माशी, किशमिशी, मूँगिया इत्यादि। (२) अमौआ रंग का कपड़ा।

वि० आम के रस के रंग का।

अमौलिक-वि० [सं०] (१) बिना जड़ का। निर्मूल। (२) बे सिर पैर का। बिना आधार का। (३) अयथार्थ। मिथ्या।

अम्मरस-संज्ञा पुं० [सं० अमरसर ?] अमृतसर का कबूतर। एक कबूतर जिसका सारा शरीर सफ़ेद और कंठ काला होता है।

अम्माँ-संज्ञा स्त्री० [सं० अम्बा] माता। माँ।

अम्मामा-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का साफ़ा जिसे मुसलमान लोग बाँधते हैं।

अम्मारी-संज्ञा स्त्री० दे० "अम्बारी"।

अम्र-संज्ञा पुं० [अ०] बात। विषय। मुआमिला।

अम्ल-संज्ञा पुं० [सं०] जिह्वा से अनुभूत होनेवाले छः रसों में से एक। खटाई।

वि० खट्टा। तुर्श।

यौ०—अम्लपंचक=मुख्य पाँच प्रकार के खट्टे फल यथा—जंबीरी नीबू, खट्टा अनार, इमली, नारंगी, और अमलबेत।

अम्लक-संज्ञा पुं० [सं०] लकुच। वृक्ष। बड़हर।

अम्लपित्त-संज्ञा पुं० [सं०] रोग विशेष जिसमें जो कुछ भोजन किया जाता है, सब पित्त के दोष से खट्टा हो जाता है। यह रोग रूखी, खट्टी, कड़वी और गर्म वस्तुओं के खाने से उत्पन्न होता है। इसके लक्षण ये हैं—रंगबिरंग का मल उतरना, दाह, वमन, मूर्च्छा, हृदय में पीड़ा, ज्वर, भोजन में अरुचि, खट्टे डकार आना इत्यादि।

अम्लबेत-संज्ञा पुं० दे० "अमलबेत"।

अम्लसार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँजी। (२) चूक। (३) अमलबेत। (४) हिंताल। (५) आमलासार गंधक।

अम्लहरिद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] आँबा हलदी।

अम्लाध्युषित (रोग)–संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग जो अधिक खटाई खाने से होता है। इस रोग में आँखें लाल हो जाती हैं, कभी-कभी पक भी जाती हैं, उनमें पीड़ा होती है और पानी बहा करता है।

अम्लान–वि० [सं०] (१) जो उदास न हो। जो मलिन न हो। जो प्रफुल्लित हो। हृष्ट। प्रसन्न। बिना मुरझाया हुआ। (२) निर्मल। स्वच्छ। साफ़।

अम्लिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] इमली।

अम्लोद्गार–संज्ञा स्त्री० [सं०] खट्टा डकार।

अम्हौरी–संज्ञा स्त्री० [सं० अम्भस्=जल, अर्थात् पसीना+औरी (प्रत्य०)] बहुत छोटी छोटी फुंसियाँ जो गरमी के दिनों में पसीने के कारण लोगों के शरीर में निकल आती हैं। अँधोरी।

अयं–सर्व [सं०] यह। उ०—अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयं। दुइ दंड भर ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयं।—तुलसी।

अयःपान–संज्ञा पुं० [सं०] भागवत के अनुसार एक नरक का नाम।

अयःशूल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक अस्त्र। (२) तीव्र उपताप।

अय–संज्ञा पुं० [सं० अयस्] (१) लोहा। उ०—सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव धरत जरत पग धरनी।—तुलसी। (२) अस्त्र-शस्त्र। हथियार। (३) अग्नि।

अव्य० [सं० अयि] संबोधन का शब्द। हे।

विशेष—यह अधिकतर 'ए' लिखा जाता है।

अयक्ष्म–वि० [सं०] (१) नीरोग। रोगरहित। (२) निरुपद्रव। बाधाशून्य।

अयजनीय–वि० [सं०] (१) जो यज्ञ में पूजा वा आदर के अयोग्य हो। अपूज्य। (२) निंदित।

अयज्ञिय–वि० [सं०] (१) जो यज्ञ में काम में न लाया जाता हो। (२) जो यज्ञ में न दिया जाता हो। (३) यज्ञ करने के अयोग्य। जो शास्त्र के अनुसार यज्ञ करने का अधिकारी न हो।

अयतेंद्रिय–वि० [सं०] (१) जो इंद्रियों का संयम न कर सके। इंद्रियनिग्रह न करनेवाला। (२) ब्रह्मचर्य्य-भ्रष्ट। (३) चंचलेंद्रिय। इंद्रियलोलुप।

अयत्न–संज्ञा पुं० [सं०] यत्न का अभाव। उद्योगशून्यता।

वि० [सं०] यत्नशून्य। उद्योगहीन।

यौ०—अयत्नसिद्ध=जो बिना प्रयास हो जाय।

अयथा–वि० [सं०] (१) मिथ्या। झूठ। असत्य। (२) अयोग्य।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी काम को विधि के अनुसार न करना। विधिविरुद्ध कर्म्म। (२) अनुचित काम।

अयथातथ–वि० [सं०] अयथार्थ। विरुद्ध। विपरीत।

अयथार्थ–वि० [सं०] (१) जो यथार्थ न हो। मिथ्या। असत्य। (२) जो ठीक न हो। अनुचित। अनुपयुक्त।

यौ०—अयथार्थ ज्ञान=मिथ्या ज्ञान। झूठा ज्ञान। भ्रम।

अयन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गति। चाल। (२) सूर्य्य वा चंद्रमा की दक्षिण से उत्तर वा उत्तर से दक्षिण की गति वा प्रवृत्ति जिसको उत्तरायण और दक्षिणायण कहते हैं। बारह राशिचक्र का आधा। मकर से मिथुन तक की ६ राशियों को उत्तरायण कहते हैं; क्योंकि इसमें स्थित सूर्य्य वा चंद्र पूर्व से पश्चिम को जाते हुए भी क्रम से कुछ कुछ उत्तर को झुकते जाते हैं। ऐसे ही कर्क से धन की संक्रांति तक जब सूर्य वा चंद्र की गति दक्षिण की ओर झुकी दिखाई देती है, तब दक्षिणायण होता है। (३) राशिचक्र की गति। ज्योतिष्शास्त्र के अनुसार यह राशिचक्र प्रति वर्ष ५४ विकला, प्रतिमास ४ विकला, ३० अनुकला और प्रति दिन ९ अनुकला खिसकता है। ६६ वर्ष ८ महीने में राशिचक्र विषुवत् रेखा से एक अंश चलता है और ३६०० वर्ष में विषुवत् रेखा पर पूरा एक फेरा लगाता है। राशिचक्र की यह गति दो भागों में विभक्त है—प्रागयन और पश्चादयन। (४) ग्रह तारादि की गति का ज्ञान जिस शास्त्र में हो। ज्योतिष्शास्त्र। (५) सेना की गति। एक प्रकार का सेनानिवेश (कवायद) जिसके अनुसार व्यूह में प्रवेश करते हैं। (६) मार्ग। राह। (७) आश्रम। (८) स्थान। (९) घर। (१०) काल। समय। (११) अंश। (१२) एक प्रकार का यज्ञ जो अयन के आरंभ में होता था। (१३) गाय या भैंस के थन के ऊपर का वह भाग जिसमें दूध भरा रहता है। उ०—सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी। अंतर अयन, अयन भल, थन फल, बच्छ वेदविश्वासी।—तुलसी।

अयनकाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह काल जो एक अयन में लगे। (२) छः महीने का काल।

अयनसंक्रम–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मकर और कर्क की संक्रांति। अयनसंक्रांति। (२) प्रत्येक संक्रांति से २० दिन पहले का काल।

अयनसंक्रांति–संज्ञा स्त्री० [सं०] मकर और कर्क की संक्रांति। अयनसंक्रम।

अयनसंपात–संज्ञा पुं० [सं०] अयनांशों का योग।

अयनांत–संज्ञा पुं० [सं०] अयन की समाप्ति। वह संधिकाल जहाँ एक अयन समाप्त हो और दूसरा आरंभ हो।

अयनांश–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य की गति विशेष के काल का भाग। अयन भाग।

अयव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरीष का एक कीड़ा जो यव से छोटा होता है। (२) पितृकर्म, क्योंकि इस कृत्य में यव नहीं काम आता। (३) शुक्र। (४) कृष्णपक्ष।

अयश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपयश। अपकीर्त्ति। (२) निंदा।

अयशस्य–वि० [सं०] जिससे बदनामी हो। बदनाम करानेवाला।

अयशस्वी-वि० [सं०] (१) जिसे यश न मिले। अकीर्तिमान् (२) बदनाम।

अयशी-वि० [सं०] बदनाम।

अयस-संज्ञा पुं० [सं० अयस्] लोहा।

अयस्कांत-संज्ञा पुं० [सं०] चुंबक।

अयस्कार-संज्ञा पुं० [सं०] लोहार।

अयाँ-वि० [अ०] (१) प्रगट। ज़ाहिर। (२) स्पष्ट।

अयाचक-वि० [सं०] (१) न माँगनेवाला। जो माँगे नहीं। (२) संतुष्ट। पूर्णकाम। उ०—याचक सकल अयाचक कीन्हें।—तुलसी।

अयाचित-वि० [सं०] बिना माँगा। बेमाँगा हुआ।

अयाची-वि० [सं० अयाचिन्] (१) अयाचक। न माँगनेवाला। (२) अयाच्यपूर्ण काम। संपन्न। (३) समृद्ध। धनी।

अयाच्य-वि० [सं०] (१) जिसे माँगने की आवश्यकता न हो। पूर्ण-काम। भरा पूरा। (२) संतुष्ट। तृप्त।

अयाज्य-वि० [सं०] (१) जो यज्ञ कराने योग्य न हो। जिसको यज्ञ कराने का अधिकार न हो। (२) पतित। (३) चांडाल।

अयाज्ययाजक-संज्ञा पुं० [सं०] वह याजक जो ऐसे पुरुष को यज्ञ करावे जिसका यज्ञ करना शास्त्रों में वर्जित है।

अयातयाम-वि० [सं०] (१) जिसको एक पहर न बीता हो। (२) जो बासी न हो। ताज़ा। (३) विगत दोष। शुद्ध। (४) अनतिक्रांत काल का। ठीक समय का।

अयान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वभाव। निसर्ग। (२) अचंचलता। स्थिरता। (३) दे० 'अजान'।

वि० [सं०] बिना सवारी का। पैदल।

अयानत-संज्ञा स्त्री० [अ०] सहायता। मदद।

अयानप,* **अयानपन***-संज्ञा पुं० [हिं० अजान+पन] (१) अज्ञानता। अनजानपन। उ०—कह्यो न परत, बिन कहे न रह्यो परत, बड़ो सुख कहत बड़े सों बलि दीनता।······ ·········इहाँ की सयानप अयानप सहस सम प्रभु सतिभाय कहौं निपट मलीनता।—तुलसी। (२) भोलापन। सीधापन। उ०—तुव अयानपन लखि भटू लटू भये नँदलाल। जब सयानपन देखिहैं, तब धौं कहा हवाल।—पद्माकर।

अयाना*-वि० पुं० [हिं० अजान] [स्त्री० अयानी] अजान। बुद्धिहीन। अज्ञानी। उ०—(क) अबहूँ जागि अयानी, होत आव निसि भोर। पुनि कछु हाथ न लागिहै, मूस जाय जब चोर।—जायसी। (ख) कान्ह बलि जावँ ऐसी आरि न कीजे। जो जो भावै सो सो लीजै।·········मोहन कत खिझत अयानी। लिये लाय हिये नँदरानी।—सूर। (ग) रानी मैं जानी अयानी महा पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।—तुलसी।

अयाल-पुं० स्त्री० [तु० याल] घोड़े और सिंह आदि के गर्दन के बाल। केसर।

[अ०] लड़के बाले। बाल-बच्चे।

अयास्य-संज्ञा पुं० [सं] (१) शत्रु। विरोधी। (२) प्राणवायु। (३) अंगिरा ऋषि।

वि० [सं०] निश्चल। अटल।

अयि-अव्य [सं०] संबोधन का शब्द। हे। अय। अरे। अरी।

अयुक्छद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सप्तपर्ण वृक्ष। छतिवन। सतवन (२) वह वृक्ष जिसकी अयुग्म पत्तियाँ हों, जैसे बेल, अरहर इत्यादि।

अयुक्त-वि० [सं०] (१) अयोग्य। अनुचित। बेठीक। (२) अमिश्रित। असंयुक्त। अलग। (३) आपद्ग्रस्त। (४) जो दूसरे विषय पर आसक्त हो। अनमना। (५) असंबद्ध। युक्तिशून्य।

अयुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युक्ति का अभाव। असंबद्धता। गड़बड़ी। (२) योग न देना। अप्रवृत्ति (३) बंसी बजाने में उँगली से उसके छेद बंद करने की क्रिया।

अयुग-वि० [सं०] विषम। ताक़।

अयुग्म-वि० [सं०] (१) विषम। ताक़। (२) अकेला। एकाकी। यौ०—अयुग्मच्छद। अयुग्मनेत्र। अयुग्मवाह। अयुग्मशर।

अयुग्मच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सप्तपर्ण वृक्ष। छतिवन। सतवन। (२) वह वृक्ष जिसकी अयुग्म पत्तियाँ हों, जैसे बेल, अरहर इत्यादि।

अयुग्मनेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अयुग्मनेत्रा] शिव। महादेव।

विशेष—शिव की शक्तियों को भी अयुग्मनेत्रा कहते हैं।

अयुग्मबाण-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

अयुग्मवाह-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

अयुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दस हज़ार की संख्या का स्थान। (२) उस स्थान की संख्या।

अयुध-संज्ञा पुं० दे० "आयुध"।

अयुष-संज्ञा स्त्री० दे० "आयुष"।

अये-संज्ञा पुं० [अनु०] स्लोथ की जाति का एक जंतु। यह जंतु अये अये शब्द करता है इसीलिये इसको 'अये' कहते हैं।

अव्य० [सं०] (१) क्रोध, विषाद, भयादि द्योतक अव्यय। (२) संबोधन शब्द।

अयोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग का अभाव। (२) अप्रशस्त योगयुक्त काल। वह काल जिसमें फलित ज्योतिष के अनुसार दुष्ट ग्रह नक्षत्रादि का मेल हो। (३) कुसमय। कुकाल। (४) कठिनाई। संकट। (५) कूट। वह वाक्य जिसका अर्थ सुगमता से न लगे। (६) अप्राप्ति। (७) असंभव।

वि० [सं०] अप्रशस्त। बुरा।

वि० [सं० अयोग्य] अयोग्य। अनुचित।

अयोगव-संज्ञा पुं० [सं०] वैश्य जाति की स्त्री और शूद्र पुरुष से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति।

अयोगवाह-संज्ञा पुं० [सं०] वे वर्ण जिनका पाठ अक्षर समाम्नाय सूत्र में नहीं है। ये किसी किसी के मत से अनुस्वार, विसर्ग, ≍ क और ≍ प चार हैं, और किसी किसी के मत से अनुस्वार, विसर्ग, ≍ क, ≍ ख, ≍ प और ≍ फ छः हैं।

अयोगी-वि० [सं०] योगशास्त्रानुसार जिसने योगांगों का अनुष्ठान न किया हो। योगांगों के अनुष्ठान में असमर्थ। जो योगी न हो।

* [सं० अयोग्य] अयोग्य।

अयोग्य-वि० [सं०] (१) जो योग्य न हो। अनुपयुक्त। (२) अकुशल। नालायक़। बेकाम। निकम्मा। अपात्र। (३) अनुचित। ना मुनासिब। बेजा।

अयोध्या-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्यवंशी राजाओं की राजधानी। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार इसे सरयू के किनारे वैवस्वत मनु ने बसाया था और यह एक बड़ा नगर था। रामचंद्रजी का जन्म यहीं हुआ था। पुराणानुसार यह हिंदुओं की सप्त पुरियों में से है।

अयोनि-वि० [सं०] (१) जो उत्पन्न न हुआ हो। अजन्मा। (२) नित्य।

अयोनिज-वि० [सं०] (१) जो योनि से उत्पन्न न हो। (२) स्वयंभू। (३) अदेह।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) ब्रह्मा।

अरंग-संज्ञा पुं० [सं० अर्घ्य=पूजाद्रव्य] सुगंध। महक। उ०—माँग गुहि मोतिन भुजंगम सी बेनी उर उरज उतंग औ मतंग गति गौन की। अँगना अनंग की सी, पहिरे सुरंग सारी, तरुण तुरंग मृगचाल दृग दौन की। रूप के तरंगन के अंगन ते सोंधे के अरंग लै लै तरल तरंग उठै पौन की। सखी संग रंग सों कुरंग नैनी आवै तौ लौं कैयो रंग मई भूमि भई रंगभौन की।—देव।

अरंड-संज्ञा पुं० दे० "एरंड, रेंड"।

अरंधन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का व्रत जो सिंह संक्रांति और कन्या संक्रांति के दिन पड़ता है। इस दिन आचारमार्तंड के अनुसार भोजन नहीं पकाया जाता।

अरंभ*-संज्ञा पुं० दे० "आरंभ"।

अरंभना*-क्रि० स० [सं० आ+रम्भ्=शब्द करना] बोलना। नाद करना। उ०—रोवत पंख बिमोही जनु कोकिला अरंभ। जाकर कनक लुटा सो बिछुरी वहाँ सो प्रीतम संग।—जायसी।

क्रि० स० [सं० आरम्भ] आरंभ करना। शुरू करना। उ०—सकुचहिं वसन विभूषन परसत जो वपु। तेहि सरीर हर हेतु अरंभेउ बड़ तप।—तुलसी।

क्रि० अ० [सं० आरम्भ] आरंभ होना। शुरू होना। उ०—अनरथ अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहँ तब तें।—तुलसी।

अर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहिये की नाभि और नेमि के बीच की आड़ी लकड़ी। आरागज। आरी। (२) कोण। कोना। (३) सेवार।

संज्ञा पुं० [हिं० अड़] हठ। अड़। ज़िद। उ०—(क) परि पा करि बिनती घनी नीमरजा ही कीन। अब न नारि अर करि सकै जदुवर परम प्रवीन। (ख) अर ते टरत न बर परैं दई मरक मनु मैन। होड़ा होड़ी बढ़ि चले चित चतुराई नैन।—बिहारी।

अरइल-वि० [हिं० अरना, अड़ना] जो चलते चलते रुक जाय और आगे न बढ़े। अड़ियल।

संज्ञा पुं० [देश०] एक वृक्ष का नाम।

अरई-संज्ञा स्त्री० [सं० ऋ=जाना] बैल हाँकने की छड़ी वा पैने के सिरे पर की लोहे की नुकीली कील जिससे बैल को गोद कर हाँकते हैं। प्रतोद।

मुहा०—अरई लगाना=ताकीद करना। प्रेरणा करना।

अरक-संज्ञा पुं० [सं०] सेवार।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी पदार्थ का रस जो भभके से खींचने से निकले। आसव।

क्रि० प्र०—उतारना।—खींचना। निकालना।

(२) रस।

क्रि० प्र०—निचोड़ना।

(३) पसीना।

क्रि प्र०—आना।—निकालना।

मुहा०—अरक अरक होना=पसीने में भीग जाना।

अरक़गीर-संज्ञा पुं० [फ़ा०] नमदे का बना हुआ वह टुकड़ा जिसको घोड़े की पीठ पर रखकर ज़ीन या चारजामा खींचते हैं।

अरकटी-संज्ञा पुं० [हिं० आड़+काटना] वह माँझी जो नाव की पतवार पर रहता और उसे घुमाता है।

अरकना*-क्रि० अ० [अनु०] (१) अरर्रा के गिरना। टकराना। उ०—कहुँ दंत बिनु अंत लुथ्थि पर लुथ्थि अरक्किय।—सूदन।

क्रि० अ० [हिं० दरकना] (२) फटना। दरकना।

अरक नाना-संज्ञा पुं० [अ०] एक अरक़ जो पुदीना और सिरका मिलाकर खींचने से निकाला जाता है।

अरकना बरकना*-क्रि० अ० [अनु०] इधर उधर करना। ऐंचातानी करना। उ०—अर कै हरि कै अरकै बरकै फरकै न रुकै भजिबोई चहै।—केशव।

अरकबादियान*-संज्ञा पुं० [अ०] सौंफ का अरक़।

अरकला*-संज्ञा पुं० [सं० अगर्ल=अगरी वा बेंड़ा] रोक। मर्य्यादा। उ०—भाँट अहै ईश्वर की कला। राजा सब राखहिं अरकला।—जायसी।

अरकान-संज्ञा पुं० [अ० रुक का बहुवचन] राज्य के प्रधान संचा-

लक। प्रधान राज-कर्मचारी। मंत्रिवर्ग। उ०—जावत अहहिं सकल अरकाना। संभरि लेहु दूर है जाना।—जायसी।

अरकासार-संज्ञा पुं० [?] तालाब। बावली।—डिं०।

अरकोल-संज्ञा पुं० [सं० कौलीरा] एक वृक्ष जो हिमालय पर्वत पर होता है। इसका पेड़ झेलम से आसाम तक २००० से ८००० फुट की ऊँचाई पर मिलता है। इसकी गोंद ककरासिंगी वा काकड़ासिंगी कहलाती है। लाखर।

अरक्षित-वि० [सं०] जिसकी रक्षा न की गई हो। रक्षाहीन।

अरग-संज्ञा पुं० [सं० अगरु=एक चंदन] अरगजा। पीले रंग का एक मिश्रित द्रव्य जो सुगंधित होता है। इसे देवताओं को चढ़ाते हैं और माथे में लगाते हैं।

अरगजा-संज्ञा पुं० [हिं० अरग+जा] एक सुगंधित द्रव्य जो शरीर में लगाया जाता है। यह केशर, चंदन, कपूर, आदि को मिलाने से बनता है। उ०—(क) कीन अरगजा मर्दन औ सुख दीन नहान। पुनि भई चाँद जो चौदस रूप गयो छिप भान।—जायसी। (ख) गली सकल अरगजा सिंचाई। जहँ तह चौकें चारु पुराई।—तुलसी। (ग) छाँड़ि मन हरि विमुखन को संग। जिन के सँग कुबुद्धि उपजति है परत भजन में भंग। खर को कहा अरगजा लेपन मर्कट भूषण अंग।—सूर। (घ) मैं लै दयो लयो सुकर छुवत छनकि गौ नीर। लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यो अबीर।—बिहारी।

अरगजी-संज्ञा पुं० [हिं० अरगजा] एक रंग जो अरगजे का सा होता है।

वि० [हिं० अरगजा] (१) अरगजी रंग का। (२) अरगजा की सुगंधि का। उ०—उरधारी लटैं छूटी आनन पर भीजी फुलेलन सों आली हरि संग केलि। सोंधे अरगजी अरु मरगजी सारी केसरि खोरि विराजित कहुँ कहुँ कुचनि पर दरकी अँगिया घन बेलि।

अरगट*-वि० [हिं० अलगट] पृथक्। अलग। निराला। भिन्न। उ०—बाल छबीली तियन में बैठी आप छिपाइ। अरगट ही फानूस सी परगट होति लखाइ।—बिहारी।

अरगन-संज्ञा पुं० [अं० ऑर्गन] एक अँगरेज़ी बाजा जो धौंकनी से बजता है। इस में स्वर निकलने के लिये नलियाँ लगी रहती हैं। यह बाजा प्रायः गिरजा घरों में रहता है और एक आदमी के बजाने से बजता है।

अरगनी-संज्ञा स्त्री० [सं० आलग्न] बाँस, लकड़ी वा रस्सी जो किसी घर में कपड़े आदि रखने के लिये बाँधी वा लटकाई जाय।

अरग़वानी-संज्ञा पुं० [फ़ा०] रक्त वर्ण। लाल रंग।

वि० (१) गहरे लाल रंग का। लाल। (२) बैंगनी।

करने पर इसलिये आड़ी लगाई जाती है कि वह बाहर से खुले नहीं। ब्योंड़ा। गज। उ०—अरि दुर्ग लूटि अरगल अखंड। जनु धरी बढ़ाई बाहु दंड। गोपुर कपाट त्रिस्तार झारि। गहि धऱ्यो बच्छ थल में सँवारि।—गुमान।

अरगाना*-क्रि० अ० [हिं० अलगाना] (१) अलग होना। पृथक् होना। उ०—(क) लोग भरोसे कौन के जग बैठे अरगाय। ऐसे जियरै यमलुटै जस मेटै लुटै कसाय।—कबीर। (ख) सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी।—तुलसी।

(२) सन्नाटा खींचना। चुप्पी साधना। मौन होना। उ०—(क) भरथ कहहिं सोइ किए भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई।—तुलसी। (ख) सुनि लीन्हों उनही को कह्यो। अपनी चाल समुझि मन माहीं गुनि अरगाइ रह्यो।—सूर। (ग) महरि गारुड़ी कुअँर कँधाई।......... यह सुनि महरि मनहि मुसुकानी अबहि रही मेरे घर आई। सूरस्याम राधहि के कारण यशुमति समझि रही अरगाई।—सूर। (घ) जननी अतिहि भई रिसिहाई। बार बार कहैं कुअँरि राधिका! री मोती श्री कहाँ गँवाई। बूझे ते ताहि ज्वाब न आवै कहाँ रही अरगाई।—सूर।

मुहा०—प्राण अरगाना=प्राण सूखना। अकचका जाना। विस्मित होना। उ०—नंद यशोदा सब ब्रज बासी। अपने अपने शकट साजि कै मिलन चले अविनाशी।......... जासों जैसी भाँति चाहिए ताहि मिल्यो त्यों धाय। देश देश के नृपति देखि यह प्राण रहे अरगाय।—सूर।

क्रि० स० अलग करना। छाँटना। उ०—(क) राम भक्त वत्सल निज बानो। जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होय कै रानो।.........बरनि न जाय भजन की महिमा बारंबार बखानो। ध्रुव रजपूत विदुर दासी सुत कौन कौन अरगानो।—सूर।

अरघ-संज्ञा पुं० [सं० अर्घ] (१) सोलह उपचारों में से एक। वह जल जिसे फूल, अक्षत, दूब आदि के साथ किसी देवता के सामने गिराते हैं। उ०—करि आरती अरघ तिन्ह दीन्ह। राम गवन मंडप तब कीन्हा।—तुलसी। (२) वह जल जो हाथ धोने के लिये किसी महापुरुष को उसके आने पर दिया जाय। उ०—आदर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने।—तुलसी। (३) वह जल जो बरात के आने पर वहाँ भेजा जाता है। उ०—गिरिवर पठए बोलि लगन बेरा भई। मंगल अरघ पावड़े देत चले लई।—तुलसी। (४) वह जल जो किसी के आने पर दरवाज़े पर उसके सामने आनंद प्रकाशनार्थ ढरकाया जाता है। ढरकावन। उ०—गजमुकता हीरा मनि चौक पुराइ अहो। देइ सु

छिड़काव। उ०—नाइ सीस पगनि असीस पाइ प्रमुदित पावड़े अरघ देत आदर से आने हैं।—तुलसी।

क्रि० प्र०—करना। उ०—हरि को मिलन सुदामा आयो। विधि करि अरघ पावड़े दीदे अंतर प्रेम बढ़ायो।—सूर। देना। उ०—माधो सुनो ब्रज को प्रेम। बूझि मैं पट मास देख्यो गोपिकन को नेम। हृदय ते नहिं टरत उनके श्याम नाम सुहेत। अश्रु सलिल प्रवाह उर मनो अरघ नैनन देत।—सूर।

अरघट्ट, अरघट्टक–संज्ञा पुं० [सं०] रहट। अरहट।

अरघा–संज्ञा पुं० [सं० अर्घ] (१) एक पात्र जिसमें अरघ का जल रख कर दिया जाता है। यह ताँबे का थूहर के पत्ते के आकार का गावदुम होता है। (२) एक पात्र जिसमें शिवलिंग स्थापित किया जाता है। जलधरी। जलहरी। (३) वह पात्र जिसमें अर्घ रखकर दिया जाय।

[अरघट्ट] कूएँ की जगह पर पानी के निकलने के लिये जो राह बनाया जाता है। चँवना।

अरघान*–संज्ञा पुं० [सं० अघ्राण=सूँघना] गंध। महँक। आघ्राण। उ०—भँवर केस वह मालति रानी। बिसहर लुरहिं लेहिं अरघानी।—जायसी।

अरचन*–संज्ञा पुं० [सं० अर्चन] पूजा। नव प्रकार की भक्ति में से एक। उ०—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादरत, अरचन, वंदन, दास। सख्य और आत्मानिवेदन, प्रेम लक्षणा जास।—सूर।

अरचना*–क्रि० ०स [सं० अर्चन] पूजा करना। उ०–(क) दुख में आरत अधम जन पाप करैं डर डारि। बलि दै भूतन मारि पशु अरचैं नहीं मुरारि।—दीनदयालु। (ख) बहुरि गुलाब केवरा नीरन। छिरकावत मधि अति विस्तीरन। पुनि कपूर चंदन सों चरचत। मनु पृथिवीपति पतिनी अरचत।—गोपाल।

अरचल†–संज्ञा स्त्री० [हिं० अड़चन] अंडस। रुकावट। अड़चन। उ०—मैं कैसे चलौं सजनी चलौ न जाय।................ उरझी हैं सारी रे बेरिया की झारी रे अरचल और परी।—प्रताप।

अरचा–संज्ञा स्त्री० दे० "अर्चा"''।

अरचि–संज्ञा स्त्री० [सं० अर्चि] ज्योति। दीप्ति। आभा। प्रकाश। तेज। उ०—भे चलत अकरि करि समर पन रचि मुख मंडल अरचिकर।—गोपाल।

अरचित–वि० दे० "अर्चित"।

अरज–संज्ञा स्त्री० [अ० अर्ज] विनय। निवेदन। बिनती। उ०—होत रंग संगीत गृह प्रतिध्वनि उठत अपार। अरज करत निकरत हुकुम मनौ काम दरबार।—गुमान। दे० "अर्ज़।" संज्ञा पुं० चौड़ाई।

अरजल–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह घोड़ा जिसके दोनों पिछले पैर और अगला दाहिना पैर सफ़ेद वा एक रंग के हों। ऐसा घोड़ा ऐबी माना जाता है। उ०—तीन पाँव एकरंग हो एक पाँव एक रंग। ताको अरजल कहत हैं करै राज में भंग। (२) नीच जाति का पुरुष। (३) वर्णसंकर।

वि० [अ०] नीच। जैसे, अरजल कौम।

अरजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] भार्गव ऋषि की पुत्री।

अरजी–संज्ञा स्त्री० [अ०] आवेदनपत्र। निवेदनपत्र। प्रार्थनापत्र। उ०—गरजी ह्वै दियो उन पान हमैं पढ़ि साँवरे रावरे की अरजी।—तोष।

*† [अ०] प्रार्थी। उ०—अरजी पिव पिव रटन परखि तब प्रगटत मरजी।—सुधाकर।

दे० "अर्ज़ी"।

अरजुन–संज्ञा पुं० दे० "अर्जुन"।

अरझना–क्रि० अ० "अरुझना"।

अरडींग–वि० [डिं०] बलिष्ठ। ज़ोरावर।

अरणि, अरणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का वृक्ष। गनियार। अँगेथू। (२) सूर्य्य। (३) काठ का बना हुआ एक यंत्र जो यज्ञों में आग निकालने के लिये काम आता है। इसके दो भाग होते हैं—अरणि वा अधरारणि और उत्तरारणि। यह शमीगर्भ अश्वत्थ से बनाया जाता है। अधरारणी नीचे होती है और उसमें एक छेद होता है। इस छेद पर उत्तरारणी खड़ी करके रस्सी से मथानी के समान मथी जाती है। छेद के नीचे कुश वा कपास रख देते हैं जिसमें आग लग जाती है। इसके मथने के समय वैदिक मंत्र पढ़ते हैं और ऋत्विक् लोग ही इसके मथने आदि का काम करते हैं। यज्ञ में प्रायः अरणी से निकली हुई आग ही काम में लाई जाती है। अग्निमंथ।

अरणीसुत–संज्ञा पुं० [सं०] शुकदेव।

विशेष—लिखा है कि व्यास जी का वीर्य्यपात अरणी पर होने से शुकदेव की उत्पत्ति हुई थी।

अरण्य–संज्ञा पुं० [सं] (१) वन। जंगल। (२) कटफल। कायफल। (३) संन्यासियों के दस भेदों में से एक। (४) रामायण का एक कांड।

यौ०—अरण्य-गान। अरण्य-रोदन।

अरण्यगान–संज्ञा पुं० [सं०] सामवेद के अंतर्गत एक गान जो जंगल में गाया जाता था।

अरण्यरोदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निष्फल रोना। ऐसी पुकार जिसका सुननेवाला कोई न हो। (२) ऐसी बात जिस पर कोई ध्यान न दे। वह बात जिसका कोई ग्राहक न हो। जैसे, इस भीड़ भाड़ में कोई बात कहना अरण्य-रोदन है।

अरण्यषष्ठी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक व्रत विशेष जो जेठ महीने

के शुक्ल पक्ष में पड़ता है। इस दिन स्त्रियाँ फलाहार करती हैं और देवी की पूजा करती हैं। यह व्रत संतानवर्द्धक माना जाता है। शास्त्रानुसार स्त्रियों को हाथ में बेना लेकर जंगल में घूमना चाहिए।

अरण्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक ओषधि।

अरत—वि० [सं०] (१) जो अनुरक्त न हो। जो किसी पदार्थ में आसक्त न हो। (२) विरत। विरक्त। उ०—मन गोरख गोविंद मन, मन ही औषधि सोय। जो मन राखै यतन करि, आपै अरता होय।—कबीर।

अरति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विराग। चित्त का न लगना। उ०—सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु। रचि प्रपंच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाटु।—तुलसी। (२) जैन शास्त्रानुसार एक प्रकार का कर्म जिसके उदय से चित्त किसी काम में नहीं लगता। यह एक प्रकार का मोहनीय कर्म है। अनिष्ट में खेद उत्पन्न होने को भी अरति कहते हैं।

अरत्नि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहु। हाथ। (२) कुहनी। (३) मुट्ठी-बँधा हाथ। (४) मीमांसा शास्त्र के अनुसार एक माप जिससे प्राचीन काल में यज्ञ की वेदी आदि मापी जाती थी। यह माप कुहनी से कनिष्ठा के सिरे तक की होती है।

अरथ*—संज्ञा पुं० दे० "अर्थ"।

अरथाना—क्रि० स० [सं० अर्थ आना प्रत्य०] (१) समझाना। विवरण करना। उ०—(क) सतगुरु ने गम कही भेद दिया अरथाय। सुरति कँवल के अंतरहि निराधार पद पाय।—कबीर। (ख) रामहि राखो कोउ जाय। ... ... जावो दूत भरत को लावन बचन कह्यो सिर नाई। दसरथ बचन राम बन गवने यह कहियो अरथाई।—सूर। (२) व्याख्या करना। बताना। उ०—भा बिहान पंडित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए।—जायसी।

अरथी—संज्ञा स्त्री० [सं० रथ] (१) लकड़ी की बनी हुई सीढ़ी के आकार का एक ढाँचा जिस पर मुर्दे को रखकर श्मशान ले जाते हैं। टिखटी। विमान।

वि० [सं० अ+रथी] जो रथी न हो। पैदल।

वि० दे० "अर्थी"।

अरदंड—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का करील जो गंगा के किनारे होता है।

अरदन—वि० [सं० अ+रदन] (१) बे दाँत का। बे दाँतवाला। * (२) दे० "अर्दन"।

अरदना*†—क्रि० स० [सं० अर्दन] (१) रौंदना। कुचलना। उ०—जदपि अरद रिपु बधत तदपि रद कांति प्रकासत। —गोपाल। (२) वध करना। मार डालना। उ०—जिमि नकुल नाग को मद हरत तिमि अरि अरदत प्रण किए।—गोपाल।

अरदल—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जो पश्चिमी घाट और लंका द्वीप में होता है। इससे पीले रंग की गोंद निकलती है जो पानी में नहीं घुलती, शराब में घुलती है। इससे अच्छा पीले रंग का वारनिश बनता है। इसका फल खट्टा होता है और खटाई के काम में आता है। इसके बीज से तेल निकलता है जो ओषधि के काम में आता है। इसकी लकड़ी भूरे रंग की होती है जिसमें नीली धारियाँ होती हैं। गोरका। ओट। भव्य। चालते।

अरदली—संज्ञा पुं० [अं० आर्डरली] वह चपरासी वा भृत्य जो किसी कर्मचारी वा राज-पुरुष के साथ कार्यालय में उसके आज्ञा-पालन के लिये नियुक्त रहता है और लोगों के आने इत्यादि की इत्तला करता है।

अरदावा—संज्ञा पुं० [सं० अर्द। फ़ा० आरद] (१) दला हुआ अन्न। कुचला हुआ अन्न। (२) भरता। उ०—घीव टाँक महँ सौंध सिरावा। पंच बघार कीन्ह अरदावा।—जायसी।

अरदास—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० अर्जदाश्त] (१) निवेदन के साथ भेंट। नज़र। उ०—एहि बिधि ढील दीन्ह तब ताईं। देहली की अरदासें आईं।—जायसी। (२) शुभ कार्य्य वा यात्रारंभ में किसी देवता की प्रार्थना करके उसके निमित्त कुछ भेंट निकाल रखना। (३) वह ईश्वर-प्रार्थना जो नानकपंथी प्रत्येक शुभ कार्य्य, चढ़ावे आदि के आरंभ में करते हैं।

अरधंग*—संज्ञा पुं० दे० "अर्द्धांग"।

अरधंगी*—संज्ञा पुं० दे० "अर्द्धांगी"।

अरध*—वि० दे० "अर्द्ध"।

अरधांगी*—संज्ञा पुं० दे० "अर्द्धांगी"।

अरन—संज्ञा पुं० [हिं० अड़न] एक प्रकार की निहाई जिसके एक वा दोनों ओर नोक निकली होती है।

संज्ञा पुं० दे० "अरण्य"।

अरना—संज्ञा पुं० [सं० अरण्य] जंगली भैंसा। जंगलों में इसके झुंड के झुंड मिलते हैं। यह साधारण भैंसे से बड़ा और मज़बूत होता है। इसके सुडौल और दृढ़ अंगों पर बड़े बड़े बाल होते हैं। इसका सींग लंबा, मोटा और पैना होता है। यह बड़ा बलवान् होता है और शेर तक का सामना करता है।

* क्रि० अ० दे० "अड़ना"।

अरनि*—संज्ञा स्त्री० दे० "अड़नि"।

अरनी—संज्ञा स्त्री० [सं० अरणी] (१) एक छोटा वृक्ष जो हिमालय पर होता है। इसका फल लोग खाते हैं। इसकी गुठली भी काम आती है। काश्मीरी और काबुली अरनी बहुत अच्छी होती है। लकड़ी से चरखे की चरख और डोई आदि बनती

है। यह माघ, फाल्गुन में फूलता फलता है और बरसात में पकता है। (२) यज्ञ का अग्निमंथन काष्ठ जो शमी के पेड़ में लगे हुए पीपल से लिया जाता है। दे० "अरणि"।

अरन्य*-संज्ञा पु० दे० "अरण्य"।

अरपन*-संज्ञा पु० दे० "अर्पण"।

अरपना*-क्रि० स० [सं० अर्पण] अर्पण करना। देना। भेंट करना। उ०—(क) पहिले दाता सिख भया तन मन अरपा सीस। पीछे दाता गुरु भया नाम किया बखसीस।—कबीर। (ख) जांबवती अरपी कन्या भरि मणि राखी समुहाय। करि हरि ध्यान गयो हरिपुर को जहाँ जोगेश्वर जाय।—सूर। (ग) रन मदमत्त निशाचर दरपा। बिस्व ग्रसिहि जनु एहि विधि अरपा।—तुलसी।

अरपा-संज्ञा पु० [देश०] एक मसाला।

अरपित*-वि० दे० "अर्पित"।

अरब-संज्ञा पु० [सं० अर्बुद] (१) सौ करोड़। संख्या में दसवाँ स्थान। (२) इस स्थान की संख्या।

संज्ञा पु० [सं० अर्वन्] (१) घोड़ा। (२) इंद्र। उ०—सरब गरबवंत अरब अरब ऐसे अरय के अरब चरब जहराय के।—गोपाल।

संज्ञा पु० [अ०] (१) एक मरु देश जो एशिया खंड के पश्चिम-दक्षिण भाग में और भारतवर्ष से पश्चिम है। यहाँ इसलाम मत के प्रवर्तक मुहम्मद साहब उत्पन्न हुए थे। यहाँ घोड़े, ऊँट और छुहारे बहुत होते हैं (२) अरब देश का उत्पन्न घोड़ा। (३) अरब का निवासी।

अरबर*-वि० [अनु०] [स्त्री० अरबरी] (१) ऊटपटाँग। असंबद्ध। उ०—भक्तनि की सुधि करी खरी अरबरी मति, भावन करत भोग सुखद लगाए हैं।—प्रिया। (२) कठिन। मुशकिल।

अरबराना*-क्रि० अ० [हिं० अरबर] (१) घबराना। व्याकुल होना। विचलित होना। उ०—(क) ब्याही ही विमुख घर आयो लेन वहै वर खरी अरबरी कोई चित्त चिंता लागी है।—प्रिया। (ख) बड़ो निशि काम सेर चूनहू न धाम ढिग आई निज वाम प्रीति हरि सों जनाई है। सुनि सोच परेउ हियो खरो अरबरेउ मन गाढ़ो लैके करेउ बोल्यो हाँ जू सरसाई है।—प्रिया। (२) लटपटाना; अड़बड़ाना। उ०—सिखवत चलन यशोदा मैया। अरबराइ करि पानि गहावति डगमगाइ धरनी धरै पैंया।—सूर।

अरबरी*-संज्ञा स्त्री० [हिं० अरबर] घबराहट। हड़बड़ी। उ०—(क) सभा की चाह अवगाह हनूमान की गरे डारि दई सुधि भई अति अरबरी है। राम बिन काम कौन फोरि मणि दीन्हो डारि खोलि तुचा नाम ही दिखायो बुद्धि हरी है।—प्रिया। (ख) ऊपर महँत कही अबै एक संत आयो यहाँ तो समाइ नाहिं आई अरबरी है।—प्रिया।

अरबिस्तान-संज्ञा पु० [फा०] अरब देश।

अरबी-वि० [फा०] अरब देश का।

संज्ञा पु० (१) अरबी घोड़ा। अरब देश का उत्पन्न वा अरबी नस्ल का घोड़ा। यह सब घोड़ों से अधिक बलवान्, मेहनती, सहिष्णु और आज्ञानुवर्ती होता है। इसके नथुने चौड़े, गाल और जबड़े मोटे, माथा चौड़ा, आँखें बड़ी बड़ी, थुथुने छोटे, पुट्ठा ऊँचा और दुम ज़रा ऊपर चढ़कर शुरू होती है। इसके कान छोटे तथा दुम और अयाल के बाल चमकीले होते हैं। ताज़ी। ऐराकी। (२) अरबी ऊँट। अरब देश का ऊँट। यह बहुत दृढ़ और सहिष्णु होता है और बिना दाने-पानी के मरुभूमि में चलता रहता है। (३) अरबी बाजा। ताशा। (४) अरब देश की भाषा।

अरबीला*-वि० [अनु०] भोला भाला। अंड बंड। उ०—देखति आरसी मैं मुसुक्याति है छाँड़ि दई बतियाँ अरबीली।—लाल।

अरब्बी*-वि० दे० "अरबी"।

अरभक*-वि० दे० "अर्भक"।

अरमनी-संज्ञा पु० [फा०] आरमेनिया देश का निवासी।

विशेष—आरमेनिया काकेशश पहाड़ से दक्षिण में है। यहाँ के लोग विशेष सुंदर होते हैं।

अरमान-संज्ञा पु० [तु०] इच्छा। लालसा। चाह।

मुहा०—अरमान निकालना=इच्छा पूरी करना। अरमान भरा=उत्सुक। अरमान रहना या रह जाना=इच्छा का पूरा न होना। मन की बात मन ही में रहना।

अरर-अव्य० [सं० अरे] एक शब्द जो अत्यंत व्यग्रता तथा अचंभे की दशा में मुँह से निकलता है। उ०—"अरर! यह क्या हुआ"।

संज्ञा पु० [सं० अरर] (१) किवाड़। कपाट। (२) पिधान। ढक्कन।

अररना दररना*-क्रि० स० [अनु०] दलना। पीसना। उ०—चित करू गोहुआँ प्रेम की दुउरिया समुझि समुझि झिंकवा नावहु रेकी। अररि दररि जो पीसैं लागी सजनी ह्वै वह पिया की सोहगिनि रेकी।—कबीर।

अरराना-क्रि० स० [अनु०] (१) अररर शब्द करना। टूटने वा गिरने का शब्द करना। उ०—तरु दोउ धरनि परे भहराइ। जर सहित अरराइ कै आघात शब्द सुनाइ।—सूर। (२) अररर शब्द करके गिरना। तुमुल शब्द करके गिरना। (३) भहरा पड़ना। सहसा गिरना। खाय दगर परी छतियाँ अब पानी परे अरराय परेंगी।

अरलु-संज्ञा पु० [सं०] (१) श्योनाक। टेंटू। सोना। पाढ़ा। (२) अलांबु। अलाबु। कडुई लौकी।

अरवन-संज्ञा पु० [सं० अ=नहीं+हिं० लवना=खेत की कटाई] (१) फसल जो कच्ची काटी जाय। (२) वह फसल जो

पहले पहल काटी जाय और खलिहान में न ले जाकर घर पर लाई जाय। इसके अन्न से प्रायः देवताओं की पूजा होती है और ब्राह्मण आदि खिलाए जाते हैं। अवई। अवली। अवरी। अवाँसी। कवल। कवारी।

अरघल-संज्ञा पुं० [देश०] वह भौंरी जो घोड़े के कान की जड़ में गर्दन की ओर होती है। यह यदि दोनों ओर हो तो शुभ और एक ओर हो तो अशुभ समझी जाती है।

अरवा-संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+हिं० लावना=जलाना, भूनना] वह चावल जो कच्चे अर्थात् बिना उबाले वा भूने धान से निकाला जाय।

संज्ञा पुं० [सं० आलय=स्थान] आला। ताखा।

अरवाती-*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० ओरवती] छाजन का वह किनारा जहाँ से पानी बरसने पर नीचे गिरता है। ओलती। ओरौनी। उ०—सजनी नैना गए भगाइ। अरवाती को नीर बरेड़ी कैसे फिरिहैं धाइ।—सूर।

अरविंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल।

यौ०—अरविंदनाभ। अरविंदनयन। अरविंदबंधु। अरविंद-लोचन। अरविंदाक्ष।

(२) सारस।

अरविंदनयन-संज्ञा पुं० [सं०] कमलनयन। विष्णु।

अरविंदनाभ-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

अरविंदबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

अरविंदयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

अरविंदलोचन-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

अरविंदाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

अरवी-संज्ञा पुं० [सं० आलु] एक कंद जिसके पत्ते पान के पत्तों के आकार के बड़े बड़े होते हैं। यह दो प्रकार की होती है, एक सफ़ेद डंठी की, दूसरी काली डंठी की। जड़ वा कंद से बराबर पत्तों के लंबे लंबे डंठल निकलते रहते हैं। नीचे नई पत्तियाँ बँधती जाती हैं। यह छूने में लसदार और खाने में कुछ कनकनाहट लिए हुए स्वादिष्ट होती है। लोग इसके पत्ते का भी साग इत्यादि बनाकर खाते हैं। यह अधिकतर बैसाख जेठ में बोई जाती है और सावन में तैयार हो जाती है। उ०—चूक लाय कै रींधे भाँटा। अरवी कहँ भल अरहन बाँटा।—जायसी।

अरस-वि० [सं० अरस] (१) नीरस। फीका। (२) गँवार। अनाड़ी। * संज्ञा पुं० [सं० अलस] आलस्य। उ०—नहिं दुरत हरि प्रिय को परस। मन को अति आनँद, अधरन रँग, नैनन को अरस।—सूर।

संज्ञा पुं० [अ० अर्श] (१) छत। पाटन। (२) धरहरा। महल। उ०—(क) अंतरजामी जानि के सब ग्वाल बुलाए। रखि लिए पाछेन को तेऊ सब आए।............... मार मार कहि गारि दै धग गाय चरैया। कंस पास ह्वै आइए कामरी ओढ़ैया। बहुरि अरस ते आनि कै तब अंबर लीजै।—सूर। (ख) अरस नाम है महल को जहाँ राजा बैठे। गारी दै दै सब उठे भुज निज कर ऐंठे।—सूर।

अरसठ*-वि० दे० "अड़सठ"।

अरसथ-संज्ञा पुं० [देश०] मासिक आय-व्यय का लेखा। बही जिसमें प्रति मास के आय-व्यय की खतियौनी की जाती है।

अरसन परसन*-संज्ञा पुं० दे० "अरसपरस"।

अरसना*-क्रि० अ० [सं० अलस] शिथिल पड़ना। ढीला पड़ना। मंद होना। उ०—आवती हो उत ही सो, उनकी विलोकि दसा, विरह तिहारे अंग अंग सब अरसे।—रघुनाथ।

अरसना परसना-क्रि० सं० [सं० स्पर्शन] (१) छूना (२) आलिंगन करना। मिलना। भेंटना। उ०—कोउ पहुँचे कोउ मारग माहीं। बहुत गए घर बहुतक जाहीं। काहू के मन कछु दुख नाहीं। अरसि परसि हँसि हँसि लपटाहीं।—सूर।

अरस परस-संज्ञा पुं० [सं० स्पर्श] लड़कों का एक खेल। इस खेल में एक लड़के को अलग कर देते हैं। वह लड़का आँख मूँदता है और सब लड़के दूर भाग जाते हैं। जब उससे आँख खोलने को कहते हैं, तब वह औरों को छूने के लिये दौड़ता है। जिसे वह छू लेता है, वह भी अलग किया जाता है और फिर उसे भी आँख मूँदनी पड़ती है। आँखमिचौनी। छुआ छुई। अँखमुनाल। उ०—गुरू बतावै साध को साधु कहै गुरु पूज। अरस परस के खेल में भई अगम की सूझ।—कबीर।

[सं० दर्शन स्पर्शन] देखना। उ०—बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु नाम लिए का होई। धन के कहे धनिक जो होतो निर्धन रहत न कोई।—कबीर।

अरसा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) समय। काल। (२) देर। अतिकाल।

अरसात-संज्ञा पुं० [सं० अलस=आलस्य] २४ अक्षरों का एक वृत्त जिसमें सात "भगण" और एक "रगण" होता है। यह एक प्रकार का सवैया है। यथा—भासत रुद्र जु ध्यानिन में पुनि सारसुती जस बानिन मानिये। नारद ज्ञानिन पानिन गंग सु रानिन में विक्टोरिया मानिये। दानिन में जस कर्ण बड़े तस भारत अंब खरी उर आनिये। खेटन के दुख मेटन में कबहूँ अरसात नहीं फुर जानिये।

अरसाना*-क्रि० अ० [सं० अलस] अलसाना। निद्राग्रस्त होना। उ०—ऐंचति सी चितवन चितै, भई ओट अरसाय। फिर उझकन कौ मृगनयनि, दृगनि लगनियाँ लाय।—बिहारी। सुख सरसाने नंद गाँव बरसाने बीच ह्वै अरसाने मद मोदही मदन में।—देव।

अरसिक-वि० [सं०] (१) जो रसिक न हो। अरसज्ञ। रूखा। (२) कविता के मर्म को न समझनेवाला।

अरसी*-संज्ञा पुं० [सं० अतसी] अलसी। तीसी। उ०—जनहु मात, निसयानी बरसी। अति बिसभर फूले जनु अरसी।—जायसी।

अरसीला-वि० [सं० अलस] आलस्यपूर्ण। आलस्य से भरा। उ०—आजु कहाँ तजि बैठी है भूषण ऐसे ही अंग कछू अरसीलो।—मतिराम।

अरसौहाँ*-वि० [सं० आलस्य] आलस्यपूर्ण। आलस्यभरा। उ०—(क) नख रेखा सौहैं नई, अरसौंहैं सब गात। सौंहैं होत न नैन ये, तुम सौंहैं कत खात।—बिहारी। (ख) रंग भरे अंग अरसौहैं सौहैं करि भौंहैं रस भावनि भरत है।—देव। (ग) सोहैं चितै अरसौंहैं तिया तिरछौहैं हँसोहैं सरावति मालहिं।—देव।

अरहंत*-संज्ञा पुं० दे० "अर्हत"।

अरहट-संज्ञा पुं० [सं० अरघट्ट] एक यंत्र जिसमें तीन चक्कर या पहिए होते हैं। इन पहियों पर घड़ों की माला लगी होती है जिनसे कूएँ से पानी निकाला जाता है। रहँट।

अरहन-संज्ञा पुं० [सं० रन्धन] वह आटा वा बेसन जो तरकारी, साग आदि पकाते समय उसमें मिला दिया जाता है। रेहन। उ०—चूक लाइकै रींधे भाँटा। अरवी कहँ भल अरहन बाँटा।—जायसी।

अरहना*-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्हण] पूजा।

अरहर-संज्ञा स्त्री० [सं० आढकी, प्रा० अड्ढकी] (१) एक अनाज जिसका पौधा चार पाँच हाथ ऊँचा होता है। इसकी एक एक सींक में तीन तीन पत्तियाँ होती हैं जो एक ओर हरी और दूसरी ओर भूरी होती हैं। इसका स्वाद कसैला होता है। मुँह आने पर लोग इसे चबाते हैं। फोड़े-फुंसियों पर भी पीसकर लगाते हैं। अरहर की लकड़ियाँ जलाने और छप्पर छाने के काम में आती है। इसकी टहनियों और पतले डंठलों से खाँचे और दौरियाँ बनाई जाती हैं। अरहर बरसात में बोई जाती है और अगहन पूस में फूलती है। इसका फूल पीले रंग का होता है। फूल झड़ जाने पर इसमें डेढ़ दो इंच की फलियाँ लगती हैं जिनमें चार पाँच दाने होते हैं। दानों में दो दालें होती हैं। इसके दो भेद हैं। एक छोटी, दूसरी बड़ी। बड़ी को 'अरहरा' कहते हैं और छोटी को 'रयिमुनिया' कहते हैं। छोटी दाल अच्छी होती है। अरहर फागुन में पकती है और चैत में काटी जाती है। पानी पाने से इसका पेड़ कई वर्ष तक हरा रह सकता है। भिन्न भिन्न देशों में इसकी कई जातियाँ हैं, जैसे रायपुर में हरोना और मिट्ठी जाति बंगाल में मघवा और चैती तथा आसाम में पलवा, देव या नली। उ०—सन सूख्यो बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि। हरी हरी अरहर अजौं, धर धरहर हिय नारि।—बिहारी। (२) इसका बीज। तुवरी। तूअर।

पर्या०—तुवरी। वीर्य्या। करवीर-भुजा। वृत्तबीजा। पीत-पुष्पा। काक्षीगुत्सा। मृतालका। सुराष्ट्र-जंभा।

अरहेड़*-संज्ञा स्त्री० [सं० हेड़] चौपायों का झुंड। लेहड़ी।—डिं०।

अरा*-संज्ञा पुं० दे० "आरा"।

अराअरी*-संज्ञा स्त्री० [हिं० अड़ना] अड़ाअड़ी। होड़। स्पर्धा। उ०—प्यारी तेरी पूतरी काजर हू ते कारी। मानो द्वै भवँर उड़े बराबरी। चंपे की हारि बैठे कुंद अलि लागी है जेव अराअरी।—हरिदास।

अराक़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) एक देश जो अरब में है। (२) वहाँ का घोड़ा। उ०—हरतौ हरीफ मान तरतौ समुद्र युद्ध क्रुद्ध ज्वाल जरतौ अराकनि सों अरतौ।—भूषण।

अराकान-संज्ञा पुं० [सं० अरि=राक्षस+सं० ग्राम बरमी० कान=देश] (१) बरमा देश के एक प्रांत का नाम। यह बंगाल की खाड़ी के किनारे पर है।

अराज-वि० [सं० अ+राजन्] बिना राजा का। उ०—जग अराज ह्वै गयो रिपिन तब अति दुख पायो। लै पृथिवी को दान नाहि फिर बनहि पठायो।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० अ+राजन्] अराजकता। शासन-विप्लव। हलचल।

अराजक-वि० [सं०] जहाँ राजा न हो। राजाहीन। बिना राजा का।

अराजकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजा का न होना। (२) शासन का अभाव। (३) अशांति। हलचल। अंधेर।

अराड़ जाना-क्रि० अ० [?] गर्भपात हो जाना। गर्भ का गिर जाना। बच्चा फेंक देना।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्रायः पशुओं ही के लिये होता है, जैसे गाय अराड़ गई।

अराति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रु। (२) फलित ज्योतिष में कुंडली का छठा स्थान। (३) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य्य जो मनुष्य के आंतरिक शत्रु हैं। (४) ६ की संख्या।

अराधन*-संज्ञा पुं० दे० "आराधन"।

अराधना*-क्रि० स० [सं० आराधन] (१) आराधना करना। उपासना करना। (२) पूजा करना। अर्चना करना। (३) जपना। (४) ध्यान करना।

अराधी*-संज्ञा पुं० दे० "आराधी"।

अराना†-क्रि० स० दे० "अड़ाना"।

अराबा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) गाड़ी। रथ। उ०—(क) चामिल पार भए सब आछे। तजै अडोल अराबे पाछे।—लाल। (ख) जितौ अराबौ त्यार हो सो अब लीनो संग। उतरि पार डेरा दए ठठि पठान सौं जंग।—सूदन। (२) वह

गाड़ी जिस पर तोप लादी जाय। चरख। उ०—(क) लावदार रक्खो किए सबै अराबै एहु। ज्यों हरीफ़ आवै नजरि तबै धड़ाधड़ देहु।—सूदन। (ख) दारा घाट धौरपुर बाँध्यो। रोपि अराबै कलहैं काँध्यो।—लाल। (३) जहाज़ पर तोपों को एक बार एक ओर दागना। सलख।

अराम†-संज्ञा पुं० दे० "आराम"।

अरारूट-संज्ञा पुं० [अं० एरो रूट] (१) एक पौधा जो अमेरिका से हिन्दुस्तान में आया है। गरमी के दिनों में दो दो फुट की दूरी पर इसके कंद गाड़े जाते हैं। इसके लिए अच्छी दोमट और बलुई ज़मीन चाहिए। यह अगस्त से फूलने लगता है और जनवरी फ़रवरी में तैयार हो जाता है। जब इसके पत्ते झड़ने लगते हैं, तब यह पक्का समझा जाता है और इसकी जड़ खोद ली जाती है। खोदने पर भी इसकी जड़ रह ही जाती है। इससे जहाँ यह एक बार लगाया गया, वहाँ से इसका उच्छिन्न करना कठिन होता है। इसकी जड़ को पानी में खूब धोकर कूटते हैं और फिर उसका सत निकालते हैं जो स्वच्छ मैदे की तरह होता है। यह अमेरिका की तीखुर है। इसका रंग देसी तीखुर के रंग से सफ़ेद होता है। और इसमें गंध और स्वाद नहीं होता। (२) अरारूट का आटा।

अरारोट-संज्ञा पुं० दे० "अरारूट"।

अराल-वि० [सं०] कुटिल। टेढ़ा। उ०—भाल पर भाग, लाल बेंदी पै सुहाग, देव भृकुटी अराल अनुराग हुलस्यो परै।—देव। संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्ज रस। राल। (२) मत्त हाथी।

अरावल-संज्ञा पुं० दे० "हरावल"।

अरिंज-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बबूल। यह पंजाब, राजपूताने, मध्य और दक्षिण भारत तथा बरमा में पाया जाता है। इसका छिलका रेशेदार होता है और इससे मछली पकड़ने का जाल बनाया जाता है। इससे एक प्रकार की गोंद भी निकलती है जो पानी में घोली जाने पर पीला रंग पैदा करती है। यह अमृतसरी गोंद कहलाती है। इसे बबूल की गोंद के साथ मिलाकर भी बेचते हैं। पेड़ की छाल को पीस कर गरीब लोग अकाल में बाजरे के आटे के साथ खाने के लिए मिलाते हैं। इसमें एक प्रकार का नशा भी होता है और यह मद्य में भी मिलाई जाती है। इसीलिये अरंज को "शराब का कीकर" कहते हैं। सफ़ेद बबूल।

अरिंद*-संज्ञा पुं० [सं० अरि+इन्द्र] शत्रु।

अरिंदम-वि० [सं०] (१) शत्रु-नाशक। वैरी को दमन करनेवाला। (२) विजयी।

अरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रु। वैरी। (२) चक्र। (३) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। (४) छः की संख्या। (५) लग्न से छठा स्थान (ज्यो०) (६) विट् खदिर। दुर्गंध खैर। अरिमेद।

अरिकेशी-संज्ञा पुं० [सं० अरि+केशी] केशी के शत्रु, कृष्ण।

अरिक्थभाग-वि० [सं०] जिसे पिता के धन का भाग न मिल सके। अनंश। पिता का हिस्सा पाने के अयोग्य।

अरित्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बल्ला जिससे नाव खेते हैं। डाँड़। (२) क्षेपणी। निपातक। (३) जल की थाह लेने की डोरी। (४) लंगर।

अरिदमन-वि० [सं० अरि+दमन=नाश] शत्रु का नाश करनेवाला। संज्ञा पुं० [सं० अरि+दमन=नाश] शत्रुघ्न। लक्ष्मण के छोटे भाई का नाम।

अरिमर्दन-वि० [सं०] शत्रुओं का नाश करनेवाला। शत्रुसूदन। संज्ञा पुं० [सं०] (१) कैकय नरेश राजा भानुप्रताप का भाई जो शापवश कुंभकर्ण हुआ था। (२) अक्रूर का भाई।

अरिमेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विट् खदिर। (२) एक बदबूदार कीड़ा। गँधिया। (३) एक वृक्ष।

अरियाना*-क्रि० स० [सं० अरे] अरे कहकर बुलाना। तिरस्कार करना। उ०—बलकलौ धरैं तजैं, बरत अनेक भरैं, जनपद गहत लहत मंत्र सत हैं। ऐसे बल तपैं परलोकन ते अरियाते कोसनि अचल नैते केवरो लगत हैं। सुबसन भासैं साधैं पौन नयतन अनि अद्भुत मुकुतौ करन कौ सजत हैं। दंड त्रिहगत हैं सबन एक मंडल लै राजसी रहित राजैं तापसी जगत हैं।—गुमान।

अरिल्ल-संज्ञा पुं० [सं० अरिला] सोलह मात्राओं का एक छंद जिसके अंत में दो लघु अथवा एक यगण होता है; परंतु इसमें जगण का निषेध है। भिखारीदास ने इसके अंत में भगण माना है। उ०—ले हरि नाम मुकुंद मुरारी। नारायण भगवंत खरारी।

अरिवन-संज्ञा पुं० [देश०] रस्सी का फंदा जिसमें फँसाकर घड़ा वा गगरा कूएँ में ढीलते हैं। उबका। उबक। छोर। फँसरी।

अरिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्लेश। दुःख। पीड़ा। (२) आपत्ति। विपत्ति। (३) दुर्भाग्य। अमंगल। (४) अपशकुन। अशुभ चिह्न। (५) दुष्ट ग्रहों का योग जिसका फल ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार अनिष्ट होता है। मरणकारक योग। (६) लहसुन। (७) नीम। निंब। (८) लंका के पास का एक पर्वत। (९) कौवा। काक। (१०) कंक। गिद्ध। (११) रीठे का पेड़। फेनिल। निर्मली। (१२) वह अरक जो बहुत सी दवाओं को मीठे में सड़ाकर बनाया जाय। एक प्रकार का मद्य जो धूप में ओषधियों का ख़मीर उठा कर बनता है। (१३) काढ़ा। (१४) एक ऋषि। (१५) एक राक्षस का नाम जिसे श्रीकृष्णचंद्र ने मारा था। वृषभासुर। (१६) अनिष्टसूचक उत्पात; जैसे, भूकंप आदि।

(१७) बलि का पुत्र, एक दैत्य। (१८) मट्ठा। तक्र। (१९) सौरी। सूतिकागृह।
वि० [सं०] (१) दृढ़। अविनाशी। (२) शुभ। (३) बुरा। अशुभ।

अरिष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रीठा। निर्मली। (२) रीठे का वृक्ष।

अरिष्टनेमि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कश्यप प्रजापति का एक नाम। (२) हरिवंश के अनुसार कश्यपजी का एक पुत्र जो विनता से उत्पन्न हुआ था। (३) राजा सगर के श्वसुर का नाम। (४) सोलहवाँ प्रजापति। (५) जैनियों के बाईसवें तीर्थंकर। (६) हरिवंश के अनुसार वृष्णि का एक प्रपौत्र जो चित्रक का पुत्र था।

अरिष्टसूदन-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

अरिष्टा-संज्ञा स्त्री [सं०] (१) कश्यप ऋषि की स्त्री और दक्ष प्रजापति की पुत्री जिससे गंधर्व उत्पन्न हुए थे। (२) कुटकी।

अरिष्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रीठी। (२) कुटकी।

अरिहन-संज्ञा पुं० [सं० अरिघ्न] शत्रुघ्न।
संज्ञा पुं० [सं० अर्हत्] वीतराग। जिन।
संज्ञा पुं० [सं० रन्धन] रेहन। अरहन।

अरिहा-वि० [सं०] शत्रुघ्न। शत्रु-नाशक। शत्रु का नाश करनेवाला।
संज्ञा पुं० [सं०] लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न। उ०—बोरौं सबै रघुवंश कुठार की धार मैं बारन बाजि, सरत्थहिं। बान की वायु उड़ाय कै लच्छन, लच्छि करौं अरिहा समरत्थहिं। रामहि वाम समेत पठै बन सोक के भार मैं भूजों भरत्थहिं। जो रघुनाथ लियो धनु हाथ तौ आजु अनाथ करौं दशरत्थहिं।—केशव।

अरी-अव्य० [सं० अयि] संबोधनार्थक अव्यय।
विशेष—इसका प्रयोग स्त्रियों ही के लिये होता है। उ०—अरी खरी सटपट परी, बिधु आधे मग हेरि। संग लगे मधुपन लई, भागन गली अँधेरि।—बिहारी।

अरीठा-संज्ञा पुं० [सं० अरिष्ट, प्रा० अरिट्ठा] रीठा।

अरुंतुद-वि० [सं०] (१) मर्मस्थान को तोड़नेवाला। मर्मस्पृक्। (२) दुःखदायी। (३) कठोर बात कहकर चित्त को दुखानेवाला। परुषभाषी।
यौ०—अरुंतुद वचन।
संज्ञा पुं० शत्रु। वैरी।

अरुंधती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वशिष्ठ मुनि की स्त्री। (२) दक्ष की एक कन्या जो धर्म से ब्याही गई थी। (३) एक बहुत छोटा तारा जो सप्तर्षि मंडलस्थ वशिष्ठ के पास उगता है। विवाह में इसे वधू को दिखाने का विधान है। सुश्रुत के अनुसार जिसकी मृत्यु समीप होती है, वह इस तारे को नहीं देख सकता। (४) तंत्र के अनुसार जिह्वा।

अरुंषिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक क्षुद्र रोग जिसमें कफ और रक्त के विकार या कृमि के प्रकोप से माथे पर अनेक मुँहवाले फोड़े हो जाते हैं।

अरु-संयो० दे० "और"।

अरुई-संज्ञा स्त्री० दे० "अरवी"।

अरुकाट-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक नगर जो कर्नाटक की राजधानी है। आर्काडु। आरकाट।

अरुग्ण-वि० [सं०] नीरोग। रोगरहित।

अरुचि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रुचि का अभाव। अनिच्छा। (२) अग्निमांद्य रोग जिसमें भोजन की इच्छा नहीं होती। (३) घृणा। नफ़रत।

अरुचिकर-वि० [सं०] जिससे अरुचि हो जाय। जो रुचिकर न हो। जो भला न लगे।

अरुज-वि० [सं०] नीरोग। रोगरहित।

अरुझना*-क्रि० अ० [सं० अवरुन्धन, प्रा० ओरुज्झन] (१) उलझना। फँसना। उ०—(क) सकल जगत जाल उरझान। बिरला और कियो अनुमान।—कबीर। (ख) पावन फिरि फिर परा सों फाँदू। उड़ि न सकइ अरुझइ भइ बाँदू।—जायसी। (ग) कबहूँ तो मन विश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन तान्यौ। जदपि विषय सँग सह्यो दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानत हू नहिं जान्यो।—तुलसी। (घ) इक परत उठत अनेक अरुझत मोह अति मनसा मही। यहि भाँति कथा अनेक ताकी कहत हू न परै कही—सूर। (२) अटकना। ठहरना। अड़ना। उ०—दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत तनु न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी एहि लेखे।—तुलसी। (३) लड़ना भिड़ना। उ०—कहूँ लरत गजराज बाघ हरना कहुँ जूझत। मल्लयुद्ध कहुँ होत मेष, वृष, महिष अरुझत।—गुमान।

अरुझाना-क्रि० स० [हिं० अरुझना] उलझाना। फँसाना। उ०—नागरि मन गई अरुझाइ। अति विरह तनु भई ब्याकुल घर न नेकु सुहाइ।—सूर।
क्रि० अ० लिपटना। उलझना। उ०—बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी।—तुलसी।

अरुण-वि० पुं० [सं०] [स्त्री० अरुणा] लाल। रक्त।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) सूर्य्य का सारथी। (३) गुड़। (४) ललाई जो संध्या के समय पश्चिम में दिखलाई पड़ती है। (५) एक दानव का नाम। (६) एक प्रकार का कुष्ठ रोग। (७) पुन्नाग वृक्ष। (८) गहरा लाल रंग। (९) कुमकुम। (१०) सिंदूर। (११) एक देश। (१२) बारह सूर्यों में से एक सूर्य्य। माघ के महीने का सूर्य। (१३) एक आचार्य्य

का नाम जो उद्दालक ऋषि के पिता थे। (१४) एक झील जो हिमालय के इस पार है। (१५) एक प्रकार के पुच्छल तारे जिनकी चोटियाँ चँवर की सी होती हैं। ये कृष्ण अरुणवर्ण के होते हैं। इनका फल अनिष्ट है। ये संख्या में ७७ हैं और वायुपुत्र भी कहलाते हैं।

यौ०—अरुण-लोचन। अरुणात्मज। अरुणोदय। अरुणोपल।

अरुणचूड़–संज्ञा पुं० [सं०] कुक्कुट। मुर्गा। अरुण-शिखा।

अरुणप्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अप्सरा। (२) छाया और संज्ञा, सूर्य्य की स्त्रियाँ।

अरुणमल्लार–संज्ञा पुं० [सं०] मल्लार का एक भेद। इस में सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

अरुणशिखा–संज्ञा पुं० [सं०] कुक्कुट। मुर्गा।

अरुणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मजीठ। (२) कोदो। (३) अतिविषा। (४) एक नदी का नाम (५) मुंडी। (६) निसोथ। त्रिवृत्ता। (७) इंद्रायन। (८) घुँघची। (९) लाल रंग की गाय। (१०) उषा।

अरुणाई–संज्ञा स्त्री० [सं० अरुण] ललाई। रक्तता।

अरुणार–वि० दे० "अरुनार"।

अरुणित–वि० [सं०] लाल किया हुआ।

अरुणिमा–संज्ञा स्त्री० [सं अरुण] ललाई। लालिमा। सुर्खी।

अरुणोद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनमतानुसार एक समुद्र जो पृथ्वी को आवेष्टित किए है। (२) लाल समुद्र। अरुणोदधि।

अरुणोदधि–संज्ञा पुं० [सं०] एक सागर जो मिस्र और अरब के बीच में है। पहले यह स्वेज़ डमरूमध्य के द्वारा रूम के समुद्र से पृथक् था पर अब डमरू भंग कर देने से यह रूम के समुद्र से मिल गया है। इंगलिस्तान को भारतवर्ष से जहाज़ इसी मार्ग से होकर जाते हैं। लाल सागर।

अरुणोदय–संज्ञा पुं० [सं०] वह काल जब पूर्व दिशा में निकलते हुए सूर्य्य की लाली दिखाई पड़ती है। यह काल सूर्य्योदय से दो मुहूर्त वा चार दंड पहले होता है। उषाकाल। ब्रह्ममुहूर्त। तड़का। भोर।

अरुणोदय सप्तमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ शुक्ला सप्तमी। इस दिन अरुणोदय में स्नान करना पुण्य माना गया है।

अरुणोपल–संज्ञा पुं० [सं०] पद्मराग मणि। लाल।

अरुन*–वि० दे० "अरुण"।

अरुनई*–संज्ञा स्त्री० दे० "अरुणाई"।

अरुनचूड़*–संज्ञा पुं० दे० "अरुणचूड़"।

अरुनता*–संज्ञा स्त्री० दे० "अरुणता"।

अरुनशिखा*–संज्ञा पुं० दे० "अरुणशिखा"।

अरुनाई*–संज्ञा स्त्री० दे० "अरुणाई"।

अरुनाना*–क्रि० अ० [सं० अरुण] लाल होना। उ०—सौंह करन को भोरही तुम मेरे आए। रैन करत सुख अनतही ता के मन भाए। अंग अंग भूषण और से माँगे कहुँ पाए। देखि थकित यह रूप को लोचन अरुनाए।—सूर।

क्रि० स० [सं० अरुण] लाल करना। उ०—बल लेन चाहे प्राण अति रिसाइ दृग अरुनाइ कै।—गोपाल।

अरुनारा–वि० [सं० अरुण+आरा प्रत्य०] लाल रंग का। लाल। उ०—दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनइ पारे।—तुलसी।

अरुनोदय*–संज्ञा पुं० दे० "अरुणोदय"।

अरुवा–संज्ञा पुं० [सं० अरु] (१) एक लता जिसके पत्ते पान के पत्ते के सदृश होते हैं। इसकी जड़ में कंद पड़ता है; और लता की गाँठों से भी एक सूत निकलता है जो चार पाँच अंगुल बढ़कर मोटा होने लगता है और कंद बनता जाता है। इसके कंद की तरकारी बनती है। यह खाने पर कनकनाहट पैदा करता है। बरई लोग इसे पान के भीटे पर बोते हैं।

संज्ञा पुं० [हिं० रुरुआ] उल्लू पक्षी।

अरुष्क–संज्ञा पुं० [सं०] भिलावाँ।

अरुहा–संज्ञा पुं० [सं०] भूधात्री। भुइ-आँवला।

अरूढ़*–वि० दे० "आरूढ़"।

अरूप–वि० [सं०] रूपरहित। निराकार। उ०—भासे जीव रूप सों एक। तेही भास के रूप अनेक। कोइ मगन रूप लौलीन। कोइ अरूप ईश्वर मन दीन।—कबीर। अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।—तुलसी।

अरूपक–संज्ञा पु० [सं०] बौद्ध दर्शन के अनुसार योगियों की एक भूमि वा अवस्था। निर्वीज समाधि। यह चार प्रकार की होती है।—(१) आकाशायतन, (२) विज्ञानायतन, (३) अविज्ञानायतन और (४) नैवसंज्ञा संज्ञायतन।

अरूपावचर–संज्ञा पु० [सं०] बौद्ध दर्शन के अनुसार चित्त की वृत्ति का वह भेद जिससे अरूप लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। यह बारह प्रकार की होती है—चार प्रकार की कुशल वृत्ति, चार प्रकार की विपाक वृत्ति और चार प्रकार की क्रिया वृत्ति।

अरूरना*–क्रि० अ० [सं० अरुस्=घाव] दुःखित होना। पीड़ित होना। उ०—लै भुजवल्लरी पलव हाथन बल्लव मल्लव मोद बिहारै। प्यारी के अंगनि रंग चढ़ै त्यों अनंग कला करारी नहिं हारै। ओठन दंत उरोज नखक्षत हू सहि जीतै तिया पति हारै। ऊरु मरोरनि ज्यों मरुरै उरही अरुरै अरु रैनि निहारै।—देव।

अरूलना*–क्रि० अ० [सं० अरुस्=क्षत, घाव] छिलना। छिदना। चुभना। उ०—छत आजु को देखि कहौगी कहा! छतिया नित ऐसे अरूलति है।—देव।

अरूस–संज्ञा पुं० दे० "अडूसा"।

अरे-अव्य० [सं०] (१) एक संबोधनार्थक अव्यय। ए। ओ। उ०—अरे मिठाईवाले! इधर आ। (२) एक आश्चर्य्य सूचक अव्यय। उ०—अरे! देखते ही देखते इसे क्या हो गया।

अरेरना*-क्रि० अ० [सं० ऋ=जाना] रगड़ना। उ०—भौंहैं अरा लै अरेरति है उरकोर कटाक्षन ओर अराये।—देव।

अरोक-वि० [सं० अ०+हिं० रोक] न रुकनेवाला। अबाध्य। उ०—तीन लोक माहिं देव मुनि थोक माहिं जाय विक्रम अरोक सोक ओक करि दियो है।—गोपाल।

अरोग-वि० [सं०] रोगरहित। नीरोग।

अरोगना*-क्रि० अ० दे० "आरोगना"।

अरोगी-वि० [सं०] जो रोगी न हो। नीरोग। चंगा।

अरोच*-संज्ञा पुं० [सं० अरुचि] रुचि का अभाव। अनिच्छा। त्याग। उ०—मोचु पंच बान को अरोचु अभिमान को ये मोचु पति प्राण को सकोच सखियान को।—देव।

अरोचक-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें अन्न आदि का स्वाद मुँह में नहीं मिलता। यह दुर्गंधयुक्त और घिनौनी चीज़ें खाने और घिनौना रूप देखने तथा त्रिदोष के प्रकोप से उत्पन्न होता है। इसके प्रधान पाँच भेद हैं—(१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) सन्निपातज और (५) शोकादि से उत्पन्न।

वि० [सं०] जो रुचे नहीं। अरुचिकर।

अरोड़*-वि० [सं० आरूढ़] शूरवीर। वीर।—डिं०

अरोड़ा-संज्ञा पुं० [सं० अरूढ] [स्त्री० अरोड़ी, अरोड़िन] पंजाब की एक जाति जो अपने को खत्रियों के अंतर्गत मानती है।

अरोहन*-संज्ञा पुं० दे० 'आरोहण"।

अरोहना*-क्रि० अ० [सं० आरोहण] चढ़ना। सवार होना।

अरोही*-वि० [सं० आरोही] सवार होनेवाला।

संज्ञा पुं० [सं० आरोही] आरोही। सवार।

अर्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) इंद्र। (३) ताँबा (४)। स्फटिक। (५) विष्णु। (६) पंडित। (७) आक। मंदार। (८) ज्येष्ठ भाई। (९) आदित्यवार। (१०) उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र। (११) बारह की संख्या। (१२) किसी चीज़ का निचोड़ा हुआ रस। रोंग। दे०। 'अरक़'।

वि० [सं०] पूजनीय।

अर्कक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह राशि।

अर्कचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] रक्त चंदन। लाल चंदन।

अर्कज-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य के पुत्र, (१) यम। (२) शनि। (३) अश्विनीकुमार। (४) सुग्रीव। (५) कर्ण।

अर्कजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य्य की कन्या, (१) यमुना। (२) तापती।

अर्कनयन-संज्ञा पुं० [सं] विराट् पुरुष (सूर्य्य चंद्रमा जिसके नेत्र हैं)।

अर्कपत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुनंदा। (२) एक लता जो विष की ओषधि है। अर्कमूल।

अर्कपर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मदार का वृक्ष। (२) मदार का पत्ता।

अर्कपुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य्यमुखी।

अर्कप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] जवा। जपा। अड़हुल। गुड़हर।

अर्कबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गौतम बुद्ध। (२) पद्म।

अर्कवल्लभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुड़हर।

अर्कवेध-संज्ञा पुं० [सं०] तालीशपत्र।

अर्कभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह नक्षत्र जो सूर्य्याक्रांत हो। जिस नक्षत्र में सूर्य्य हो, वह नक्षत्र। (२) सिंह राशि। (३) उत्तरा फाल्गुनी।

अर्कभक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] हुरहुर का वृक्ष। हुरहुर।

अर्कमूल-संज्ञा पुं० [सं०] इसरमूल लता। रुहिमूल। अहिगंध। इसकी जड़ साँप के काटने में दी जाती है। बिच्छू के डंक मारने में भी उपयोगी होती है। यह पिलाई और ऊपर लगाई जाती है। स्त्रियों के मासिक धर्म को खोलने के लिये भी यह दी जाती है। काली मिर्च के साथ हैज़ा, अतीसार आदि पेट के रोगों में पिलाई जाती है। पत्ते का रस कुछ मादक होता है। छिलका पेट की बीमारियों में दिया जाता है। रस की मात्रा ३० से १०० बूँद तक है।

अर्कव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक व्रत जो माघ शुक्ला सप्तमी को पड़ता है। (२) राजा का प्रजा की वृद्धि के लिये उनसे कर लेना। जैसे सूर्य्य बारह महीने अपनी किरणों से जल खींचता है और चार महीने उसे प्रजा की वृद्धि के लिये बरसाता है, उसी प्रकार राजा का प्रजा से कर लेकर उनकी वृद्धि में उसे लगाना।

अर्काश्मा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का छोटा नगीना। अरुणोपल। चुन्नी। (२) सूर्य्यकांतमणि।

अर्कोपल-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्यकांतमणि। लाल पद्मराग।

अर्गजा*-संज्ञा पुं० दे० "अरगजा"।

अर्गल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लकड़ी जिसे किवाड़ बंद करके पीछे से आड़ी लगा देते हैं जिसमें किवाड़ बाहर से न खुले। अरगल। अगरी। ब्योंड़ा। (२) किवाड़। (३) अवरोध। (४) कल्लोल। (५) वे रंग बिरंग के बादल जो सूर्य्योदय वा सूर्य्यास्त के समय पूर्व वा पश्चिम दिशा में दिखाई पड़ते हैं और जिनमें होकर सूर्य्य का उदय वा अस्त होता है।

अर्गला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अरगल। अगरी। (२) ब्योंड़ा। (३) बिल्ली। किल्ली। सिटकिनी। (४) जंजीर जिसमें हाथी बाँधा जाता है। सिकड़। (५) एक स्तोत्र जिसका दुर्गा सप्तशती के आदि में पाठ करते हैं। मत्स्य-सूक्त। (६) अवरोध। (७) बाधक। अवरोधक। रुकावट डालनेवाला।

अर्गली-संज्ञा स्त्री० [देश०] भेड़ की एक जाति जो मिस्र, शाम आदि देशों में होती है।

अर्घ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) षोड़शोपचार में से एक। जल, दूध, कुशाग्र, दही, सरसों, तंडुल और जव को मिलाकर देवता को अर्पण करना। (२) अर्घ देने का पदार्थ। (३) जलदान। सामने जल गिराना। (४) हाथ धोने के लिये जो जल दिया जाय। (५) हाथ धोने के लिये जल देना। (६) मूल्य। दाम। (७) वह मोती जो एक धरण तौल में २५ चढ़े। (८) भेंट। (९) जल से सम्मानार्थ सींचना।

क्रि० प्र०—देना।—करना।

अर्घपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबे का एक बर्तन जो शंख के आकार का होता है और जिससे सूर्य्य आदि देवताओं को अर्घ दिया जाता है वा पितरों का तर्पण किया जाता है। अर्घा।

अर्घा-संज्ञा पुं० [सं० अर्घ] (१) ताँबे वा अन्य धातु का बना हुआ थूहर के पत्ते वा शंख के आकार का एक पात्र जिससे अर्घ देते हैं। पितरों का तर्पण भी इससे किया जाता है। (२) जलहरी।

अर्घ्य-वि० [सं०] (१) पूजनीय। (२) बहुमूल्य। (३) पूजा में देने योग्य (जल, फूल, मूल आदि)। (४) भेंट देने योग्य।

संज्ञा पु० [सं०] जिस वन में जरत्कारु मुनि तप करते थे, वहाँ का मधु।

अर्चक-वि० [सं०] पूजा करनेवाला। पूजक।

अर्चन-संज्ञा पु० [सं०] (१) पूजा। पूजन। (२) आदर। सत्कार।

संज्ञा पुं० [देश०] घुंडी जिस पर दूर दूर कलाबत्तू लपेटा हो।

अर्चना-क्रि० स० दे० "अरचना"।

अर्चनीय-वि० [सं०] (१) पूजनीय। पूजा करने योग्य। (२) आदरणीय।

अर्चमान-वि० [सं०] पूजनीय। अर्चनीय। उ०—विचार मान ब्रह्मदेव अर्चमान मानिये।

अर्चा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूजा। (२) प्रतिमा।

अर्चि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अग्नि आदि की शिखा। (२) दीप्ति। तेज। (३) किरण।

अर्चित-वि० [सं०] (१) पूजित। (२) आदृत। आदर-प्राप्त।

संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

अर्चिमान-वि० [सं०] प्रकाशमान। चमकता हुआ।

अर्चिमाल्य-संज्ञा पुं० [सं०] वाल्मीकि के अनुसार एक बंदर जो महर्षि मरीचि का पुत्र था।

अर्चिरादिमार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] देवयान। उत्तर मार्ग।

अर्चिष्मती-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्निपुरी। अग्निलोक।

अर्चिष्मान्-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अर्चिष्मती] (१) सूर्य्य। (२) अग्नि। (३) देवताओं का एक भेद। (४) वाल्मीकि के अनुसार एक बंदर जो मरीचि ऋषि का पुत्र था।

वि० [सं०] दीप्त। प्रकाशमान्।

अर्ज़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) विनती। विनय।

क्रि० प्र०—करना=प्रार्थना करना। कहना। निवेदन करना।

(२) चौड़ाई। आयत।

अर्ज़ इरसाल-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह पत्र जिसके द्वारा रुपया ख़ज़ाने में दाख़िल किया जाता है। चलान।

अर्ज़दाश्त-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] निवेदन-पत्र। प्रार्थना-पत्र।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—भेजना।

अर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपार्जन। पैदा करना। कमाना। (२) संग्रह करना। संग्रह।

क्रि० प्र०—करना।

अर्जनीय-वि० [सं०] (१) संग्रह करने योग्य। (२) ग्रहण करने योग्य। प्राप्त करने योग्य।

अर्जमा*-संज्ञा पुं० दे० "अर्यमा"।

अर्जित-वि० [सं०] (१) संग्रह किया हुआ। संगृहीत। (२) प्राप्त किया हुआ। कमाया हुआ। प्राप्त।

अर्ज़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] प्रार्थना-पत्र। निवेदन-पत्र।

अर्ज़ी दावा-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] वह निवेदन-पत्र जो अदालत दीवानी या माल में किसी दादरसी के लिये दिया जाय।

अर्ज़ी मरम्मत-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] वह आवेदनपत्र जो किसी पूर्व आवेदन-पत्र में छुटी हुई बातों को बढ़ाने वा अशुद्धि को शोधने आदि के लिये दिया जाय।

अर्जुन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वृक्ष जो दक्खिन से अवध तक नदियों के किनारे होता है। यह बरमा और लंका में भी होता है। इसके पत्ते टसर के कीड़ों को खिलाए जाते हैं। छाल चमड़ा सिझाने, रँग बनाने तथा दवा के काम में आती है। इससे एक स्वच्छ गोंद निकलती है जो दवा के काम में आती है। लकड़ी से खेती के औज़ार तथा नाव और गाड़ी आदि बनती है। इसको जलाने से राख में चूने का भाग अधिक निकलता है।

पर्य्या०—शिवमल्ल। शंबर। ककुभ। काहू।

(२) पाँच पांडवों में से मँझले का नाम। ये बड़े वीर और धनुर्विद्या में निपुण थे।

पर्य्या०—फाल्गुन। जिष्णु। किरीटी। श्वेतवाहन। बृहन्नल। धनंजय। पार्थ। कपिध्वज। सव्यसाची। गांडीवधन्वा। गांडीवी। बीभत्सु। पांडुनंदन। गुडाकेश। मध्यम पांडव। विजय। राधाभेदी। ऐंद्रि।

(३) हैहय-वंशी एक राजा। सहस्रार्जुन। (४) सफ़ेद कनैल। (५) मोर। (६) आँख का एक रोग जिसमें आँख में सफ़ेद छींटे पड़ जाते हैं। फूली। (७) एकलौता

बेटा। (८) अर्जुन। (वैदिक)

वि० (१) उज्ज्वल। सफ़ेद। (२) शुभ्र। स्वच्छ।

अर्जुनायन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बराहमिहिर के अनुसार उत्तर का एक देश।

अर्जुनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बाहुदा वा करतोया नदी जो हिमालय से निकलकर गंगा में मिलती है। (२) सफ़ेद रंग की गाय। (३) कुटनी। (४) उषा।

अर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्ण। अक्षर। जैसे पंचार्ण=पंचाक्षर। (२) जल। पानी।

यौ०—दशार्ण=एक देश। दशार्णा=मालवा की एक नदी।

(३) एक दंडक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और आठ रगण होते हैं। यह प्रचित का एक भेद है।

अर्णव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) सूर्य्य। (३) इंद्र। (४) अंतरिक्ष। (५) दंडक वृत्त का एक भेद जिसके प्रत्येक चरण में २ नगण और ९ रगण होते हैं। यह प्रचित का एक भेद है। (६) चार की संख्या।

अर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नदी।

अर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अर्त्तित] (१) पीड़ा। व्यथा। (२) धनुष की कोटी। धनुष के दोनों छोर।

अर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अर्थी] (१) शब्द का अभिप्राय। मनुष्य के हृदय का आशय जो शब्द से प्रकट हो। शब्द की शक्ति।

विशेष—अलंकार में अर्थ तीन प्रकार का है—

(क) अभिधा से वाच्यार्थ, (ख) लक्षण से लक्ष्यार्थ और (ग) व्यंजना से व्यंग्यार्थ।

क्रि० प्र०—करना।—लगाना।—बैठाना।

(२) अभिप्राय। प्रयोजन। मतलब। उ०—वह किस अर्थ से यहाँ आया है। (३) काम। इष्ट। उ०—यहाँ बैठने से तुम्हारा कुछ अर्थ न निकलेगा।

क्रि० प्र०—निकलना।—निकालना।—सधना।—साधना।

(४) हेतु। निमित्त। उ०—विद्या के अर्थ प्रयत्न करना चाहिए। (५) इंद्रियों के विषय। ये पाँच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। (६) चतुर्वर्ग में से एक। धन। संपत्ति। (७) अर्थ-शास्त्र के अनुसार मित्र, पशु, भूमि, धन, धान्य आदि की प्राप्ति और वृद्धि। (८) कुंडली में लग्न से दूसरा घर।

यौ०—अनर्थ अभ्यर्थना। समर्थ। समर्थन। सार्थक। निरर्थक। अर्थपति। अर्थगौरव। अर्थकृच्छ। अर्थकरी। अर्थापत्ति। अर्थांतर। अर्थांतरन्यास। अर्थवान्

अर्थकर-वि० पुं० [सं०] [स्त्री० अर्थकरी] जिससे धन उपार्जन किया जाय। लाभकारी।

यौ०—अर्थकरी विद्या।

अर्थकिल्बिषी-वि० [सं०] जो लेन देन में शुद्ध व्यवहार न रक्खे। बेईमान।

अर्थकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] धन की कमी। दरिद्रता।

अर्थगौरव-संज्ञा पुं० [सं०] किसी शब्द या वाक्य में अर्थ की गंभीरता।

अर्थचिंतक-संज्ञा पुं० [सं०] वह मंत्री जो राज्य के आयव्यय पर ध्यान रक्खे। अर्थ-सचिव। मशीर-माल।

अर्थदंड-संज्ञा पुं० [सं०] वह धन जो किसी अपराध के दंड में अपराधी से लिया जाय। जुर्माना।

अर्थद-वि० [सं०] [स्त्री० अर्थदा] धन देनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) कुबेर। (२) दस प्रकार के शिष्यों में से एक। जो धन देकर विद्या पढ़े।

अर्थना*-क्रि० स० [सं०] माँगना।

अर्थपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुबेर। (२) राजा।

अर्थपिशाच-वि० [सं०] जो द्रव्य का संग्रह करने में कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का विचार न करे। धनलोलुप।

अर्थवाद-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय के अनुसार तीन प्रकार के वाक्यों में से एक। वह वाक्य जिससे किसी विधि के करने की उत्तेजना पाई जाय। यह चार प्रकार का है—स्तुति, निंदा, परकृति और पुराकल्प।

अर्थवेद-संज्ञा पुं० [सं०] शिल्प-शास्त्र।

अर्थशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें अर्थ की प्राप्ति, रक्षा और वृद्धि का विधान हो। प्राचीन काल में इस विषय पर बहुत से आचार्यों के रचे ग्रंथ थे, पर अब केवल कौटिल्य चाणक्य का रचा हुआ ग्रंथ मिलता है।

अर्थांतरन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह काव्यालंकार जिसमें सामान्य से विशेष का वा विशेष से सामान्य का, साधर्म्य वा वैधर्म्य द्वारा, समर्थन किया जाय। उ०—(क) लागत निज मति दोष ते सुंदरहू विपरीत। पित्त रोगवश लखहि नर शशि सित शंखहु पीत। यहाँ पूर्वार्द्ध के सामान्य कथन का समर्थन उत्तरार्द्ध के विशेष कथन से साधर्म्य द्वारा किया गया है। (ख) हरि प्रताप गोकुल बच्यो का नहिं करहिं महान। यहाँ "हरि प्रताप गोकुल बच्यो" इस विशेष वाक्य का समर्थन 'का नहिं करहिं महान' इस सामान्य वाक्य से साधर्म्य द्वारा किया गया है। इसी प्रकार वैधर्म्य का भी उदाहरण समझना चाहिए। (२) न्याय में एक प्रकार का निग्रह स्थान। जब वादी ऐसी बात कहे जो प्रकृत (असल) विषय वा अर्थ से कुछ संबंध न रखती हो, तब वहाँ यह होता है।

अर्थात्-अव्य० [सं०] यानी तात्पर्य यह कि इसका प्रयोग विवरण करने में आता है। जैसे, ऐसा कौन होगा जो भले की प्रशंसा नहीं करता अर्थात् सब करते हैं।

अर्थाना*-क्रि० स० [सं० अर्थ+आना प्रत्य०] अर्थ लगाना। ब्योरे के साथ समझाकर कहना।

अर्थानुवाद-संज्ञा पुं० [सं०] न्यायशास्त्रानुसार अनुवाद का एक भेद। विधि से जिसका विधान किया गया हो, उसका अनुवचन वा फिर फिर कहना।

अर्थापत्ति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मीमांसा के अनुसार एक प्रकार का प्रमाण जिसमें एक बात कहने से दूसरी बात की सिद्धि आप से आप हो जाय। नतीजा। निगमन। जैसे, बादलों के होने से वृष्टि होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि बिना बादल के वृष्टि नहीं होती। न्याय-शास्त्र में इसे पृथक् प्रमाण न मानकर अनुमान के अंतर्गत माना है। (२) एक अर्थालंकार जिसमें एक बात के कथन से दूसरी बात की सिद्धि दिखलाई जाय। इस अलंकार में वास्तव में यह दिखाया जाता है कि जब इतनी बड़ी बात हो गई, तब यह छोटी बात होने में क्या संदेह है। उ०—(क) मुख जीत्यो वा चंद को कहा कमल की बात। (ख) जिसने शालिग्राम को भूना, उसे बैंगन भूनते क्या लगता है!

अर्थालंकार-संज्ञा पुं० [सं] वह अलंकार जिसमें अर्थ का चमत्कार दिखाया जाय। शब्दालंकार के विरुद्ध अलंकार।

अर्थिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह बंदीगण जो राजा को सोने से जगाते हैं। वैतालिक। स्तुतिपाठक।

अर्थी-वि० [सं० अर्थिन्] [स्त्री० अर्थिनी] (१) इच्छा रखनेवाला। चाह रखनेवाला। (२) कार्य्यार्थी। प्रयोजनवाला। ग़र्ज़ी। याचक। (३) वादी। मुद्दई। (४) सेवक। (५) धनी। (६) दे० "अरथी"

अर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीड़न। दलन। हिंसा। (२) जाना। गमन। (३) याचना। माँगना।

अर्दना*-क्रि० स० [सं० अर्दन=पीड़न] पीड़ित करना। उ०—गहि वैष्णव को दंड कर मेघ समान ननर्दि। मर्दि सुरन रन अर्दि अति जैसे कुपित कपर्दि।—गोपाल।

अर्दली-संज्ञा पुं० दे० "अरदली"।

अर्दित-वि० [सं०] (१) पीड़ित। दलित। (२) गत। (३) याचित।

संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें वायु के प्रकोप से मुँह और गर्दन टेढ़ी हो जाती है, सिर हिलता है, नेत्र आदि विकृत हो जाते हैं, बोला नहीं जाता और गर्दन तथा दाढ़ी में दर्द होता है

अर्द्ध-वि० [सं०] किसी वस्तु के दो सम भागों में से एक। आधा।

अर्द्धगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कावेरी।

अर्द्धगुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] वह मोती की माला जिसमें चौबीस लड़ियाँ हों। बराहमिहिर के अनुसार इसमें बीस लड़ियाँ होनी चाहिएँ।

अर्द्धचंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधा चाँद। अष्टमी का चंद्रमा। (२) चंद्रिका। मोर-पंख पर की आँख। (३) नखक्षत। (४) एक प्रकार का बाण जिसके अग्रभाग पर अर्द्धचंद्राकार नोक होती है। (५) सानुनासिक का एक चिह्न। चंद्र-बिंदु। ँ। (६) एक प्रकार का त्रिपुंड। (७) निकाल बाहर करने के लिये गले में हाथ लगाने की मुद्रा। गरदनिया।

अर्द्धचंद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तिधारा।

अर्द्धचंद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कनफोड़ा नाम की लता।

अर्द्धजल-संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान में शव को स्नान कराके आधा जल में और आधा बाहर डाल देने की क्रिया।

अर्द्धज्योतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ताल का एक भेद।

अर्द्धतिक्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की नीम जो नैपाल में होती है।

अर्द्धनयन-संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं की तीसरी आँख जो ललाट में होती है।

अर्द्धनाराच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैन-शास्त्रानुसार वह हड्डी जो मर्कटबंध और कीलक पाशों से बँधी होती है। (२) एक प्रकार का बाण।

अर्द्धनारीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तंत्र में शिव और पार्वती का रूप। (२) आयुर्वेद में रसांजन जिसे आँख में लगाने से ज्वर उतर जाता है।

अर्द्धपारावत-संज्ञा पुं० [सं०] तीतर।

अर्द्धपोहल-संज्ञा पुं० [देश०] एक पौधा जिसकी पत्तियाँ मोटी होती हैं।

अर्द्धप्रादेश-संज्ञा पुं० [सं०] प्रलंबित सेतु के मध्य से आलंबन बिंदु तक का अंतर जहाँ शृंखल बँधे रहते हैं। सेतु के मध्य से उसके उस स्थान तक का अंतर जहाँ वह खंभे वा दीवार पर टिका रहता है। (वास्तु०)

अर्द्धमागधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राकृत का एक भेद। पटने और मथुरा के बीच के देश की पुरानी भाषा।

अर्द्धमात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आधी मात्रा। (२) व्यंजन। (३) संगीत शास्त्रानुसार चतुर्दश मात्राओं का एक भेद।

अर्द्धवृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृत्त का आधा भाग। वृत्त का वह भाग जो व्यास और परिधि के आधे भाग से घिरा हो। (२) पूरे वृत्त की परिधि का आधा भाग।

अर्द्धसमवृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह वृत्त जिसका पहला चरण तीसरे चरण के बराबर और दूसरा चौथे के बराबर हो। जैसे, दोहा और सोरठा।

अर्द्धांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधा अंग। (२) एक रोग जिसमें आधा अंग चेष्टाहीन और बेकाम हो जाता है। लकवा। फालिज। पक्षाघात। (३) शिव। उ०—भंग होत अर्द्धंग-धनु जानि लखन तिहि काल। कह्यो लोकपालन मनहिं सजग होहु यहि काल।—रघुराज।

अर्द्धांगिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्नी। भार्या।

अर्द्धांगी–संज्ञा पुं० [सं० अर्द्धांगिन्] शिव।

वि० [सं०] अर्द्धांग-रोग-ग्रस्त।

अर्द्धिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधासीसी। (२) वैश्य स्त्री और ब्राह्मण पिता से उत्पन्न संतान जिसका संस्कार हुआ हो।

अर्द्धीकरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधा करना। (२) मजूसा काटना वा बैठाना। जब एक कड़ी दूसरी कड़ी पर (होकर) रक्खी जाती है, तब धरातल समान करके ठीक बैठाने के लिये प्रत्येक के संधि-स्थल को आधा आधा छील देते हैं। यह अर्द्धीकरण कहलाता है। (वास्तु०)

अर्द्धोदय–संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्व जो उस दिन होता है जिस दिन माघ की अमावस्या रविवार को होती है और उसी दिन श्रवण नक्षत्र और व्यतीपात योग पड़ता है। इस दिन स्नान करने से सूर्यग्रहण में स्नान करने का फल होता है।

अर्धंग*–संज्ञा पुं० दे० "अर्द्धांग"।

अर्धंगी*–संज्ञा पु० दे० "अर्द्धांगी"।

अर्ध*–वि० दे "अर्द्ध"।

अर्पण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अर्पित] (१) किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटाकर दूसरे का स्थापित करना। देना। दान। (२) नज़र। भेंट।

यौ०—कृष्णार्पण। ब्रह्मार्पण।

(३) स्थापन। रखना। जैसे, पदार्पण करना।

अर्पना*–क्रि० स० दे० "अरपना"।

अर्बदर्ब*–संज्ञा पु० [सं० द्रव्य] धन। संपत्ति। धन-दौलत। उ०—अर्बदर्ब सब देइ बहाई। कै सब जाव न जाय पियाई।—जायसी।

अर्बुद–संज्ञा पु० [सं०] (१) गणित में नवें स्थान की संख्या। दश कोटि। दस करोड़। (२) एक पर्वत जो राजपूताने की मरुभूमि में है। अरावली। (३) एक असुर का नाम। (४) कद्रु का पुत्र, एक सर्प विशेष। (५) मेघ। बादल। (६) दो मास का गर्भ। (७) एक रोग जिसमें शरीर में एक प्रकार की गाँठ पड़ जाती है। इसमें पीड़ा तो नहीं होती, पर कभी कभी यह पक भी जाती है। इसके कई भेद हैं जिनमें से मुख्य रक्तार्बुद और मांसार्बुद हैं। बतौरी।

अर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालक। (२) शिशिर ऋतु। (३) शिष्य। छात्र। (४) सागपात।

वि० मलिन। धुँधला।

अर्भक–वि० पुं० [सं०] (१) छोटा। अल्प। (२) मूर्ख। (३) दुबला। पतला।

संज्ञा पुं० [सं०] बालक। लड़का।

अर्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँख का एक रोग। टेंटर। ढेंढर। (२) पुराना नगर वा गाँव।

अर्मनी–संज्ञा पुं० दे० "अरमनी"।

अर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अर्या, अर्याणी, अर्यी] (१) स्वामी। (२) ईश्वर। (३) वैश्य।

वि० श्रेष्ठ। उत्तम।

अर्य्यमा–संज्ञा पुं० [सं० अर्यमन्] (१) सूर्य। (२) बारह आदित्यों में से एक। (३) पितर के गणों में से एक जो सब से श्रेष्ठ कहे जाते हैं। (४) उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र (५) मदार।

अर्रा–संज्ञा पुं० [?] एक जंगली पेड़ जो अर्जुन वृक्ष से मिलता-जुलता होता है। इसकी लकड़ी बड़ी मज़बूत होती है और छत पाटने आदि के काम में आती है। (२) अरहर।

अर्वाक–अव्य [सं०] (१) पीछे। इधर। (२) निकट। समीप।

यौ०—अर्वाकस्रोता=जिसका वीर्य्य-पात हुआ हो। ऊर्द्धरेता का उलटा।

अर्वाचीन–वि० [सं०] (१) पीछे का। आधुनिक। (२) नवीन। नया।

अर्श–संज्ञा पुं० [स०] बवासीर।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) आकाश। (२) स्वर्ग।

अर्शवर्त्म–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की बवासीर जिसमें गुदा के किनारे ककड़ी के बीज के समान चिकनी और किंचित् पीड़ायुक्त फुंसियाँ होती हैं।

अर्शोहर–संज्ञा पुं० [सं०] सूरन। ओल। ज़मींकंद।

अर्शोघ्न–संज्ञा पुं० [सं०] सूरन। ओल। ज़मींकंद।

अर्हत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनियों के पूज्य देव। जिन। (२) बुद्ध।

अर्ह–वि० [सं०] (१) पूज्य। (२) योग्य। उपयुक्त।

विशेष–इस शब्द का प्रयोग अधिकतर यौगिक शब्द बनाने में होता है। जैसे पूजार्ह। मानार्ह। दंडार्ह।

संज्ञा पुं० (१) ईश्वर। (२) इंद्र।

अर्हणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अर्हणीय] पूजा।

अर्हत, अर्हन–वि० [सं०] पूजा।

संज्ञा पुं० जिनदेव।

अर्हित–वि० [सं०] पूजित।

अर्ह्य–वि० [सं०] (१) पूज्य। मान्य। (२) पूजनीय। माननीय आदरणीय।

अलं–अव्य० दे० "अलम्।

अलंकटंकटा–संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्युत्केश नामक राक्षस की पत्नी। सुकेश की माता।

विशेष—वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में इस राक्षसवंश का सृष्टि के आदि काल में उत्पन्न होना लिखा है।

अलंकार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अलंकृत] (१) आभूषण। गहना। ज़ेवर। (२) अर्थ और शब्द की वह युक्ति जिससे काव्य की शोभा हो। वर्णन करने की वह रीति जिससे

उसमें प्रभाव और रोचकता आ जाय। इसके तीन भेद हैं—(क) शब्दालंकार, अर्थात् वह अलंकार जिसमें शब्दों का सौंदर्य हो, जैसे अनुप्रास; (ख) अर्थालंकार, जिसके अर्थ में चमत्कार हो, जैसे उपमा और रूपक। और किसी किसी आचार्य्य के मत से (ग) उभयालंकार जिसमें शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार हो।

विशेष—आदि में भरत मुनि ने चार ही अलंकार माने हैं—उपमा, दीपक, रूपक, यमक। उन्होंने अलंकारों के धर्म को इन्हीं के अंतर्गत माना है। अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की शैली है, वर्णन का विषय नहीं। पर पीछे वर्णनीय विषयों को भी अलंकार मान लेने से अलंकारों की संख्या और भी बढ़ गई। स्वभावोक्ति और उदात्त आदि अलंकार इसी प्रकार के हैं।

अलंकित-वि० दे० "अलंकृत"।

अलंकृत-वि० [सं०] (१) विभूषित। गहना पहनाया हुआ। (२) सजाया हुआ। सँवारा हुआ। (३) काव्यालंकारयुक्त।

अलंग-संज्ञा पुं० [सं० अल=पूर्ण, बड़ा+अंग=प्रदेश] ओर। तरफ़। दिशा। उ०—उमर अमीर रहे जहँ ताईं। सब ही बाँट अलंगै पाईं।—जायसी।

मुहा०—अलंग पर आना वा होना=घोड़ी का मस्ताना।

अलंघनीय-वि० [सं०] जो लाँघने योग्य न हो। जिसे फाँद न सकें। जिसे पार न कर सकें। अलंघ्य।

अलंघ्य-वि० [सं०] (१) जो लाँघने योग्य न हो। जिसे फाँद न सकें। जिसे पार न कर सकें। (२) जिसे टाल न सकें। जिसे मानना ही पड़े। उ०—राजा की आज्ञा अलंघ्य होती है।

यौ०—अलंघ्य शासन।

अलंब-संज्ञा पुं० दे० "आलंब"।

अलंबुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वमन। उल्टी। कै। (२) कौरवों का सहायक एक राक्षस जिसे घटोत्कच ने मारा था।

अलंबुषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुंडी। गोरख-मुंडी। (२) स्वर्ग की एक अप्सरा। (३) दूसरे का प्रवेश रोकने के लिये खींची हुई रेखा। गड़ारी। मंडल।

विशेष—इसका व्यवहार अधिकतर भोजन को छुआछूत से बचाने के लिये होता है।

(४) लज्जावंती। छुई मुई। लजालू पौधा।

अल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिच्छू का डंक। (२) हरताल। (३) विष। ज़हर। उ०—अति बल करि करि काली हार्‌यो। लपटि गयो सब अंग अंग प्रति निर्विष कियो सकल अल झार्‌यो।—सूर।

अलक-संज्ञा पुं० [सं०] मस्तक के इधर उधर लटकते हुए मरोड़दार बाल। बाल। केश। लटा। छल्लेदार बाल।

यौ०—अलकावलि।

अलकतरा-संज्ञा पुं० [अ०] पत्थर के कोयले को आग पर गला कर निकाला हुआ एक गाढ़ा पदार्थ। कोयले को बिना पानी दिए भभके पर चढ़ाकर जब गैस निकाल लेते हैं, तब उसमें दो प्रकार के पदार्थ रह जाते हैं—एक पानी की तरह पतला, दूसरा गाढ़ा। यही गाढ़ा काला पदार्थ अलकतरा है जो रँगने के काम में आता है। यह कृमिनाशक है, अतः इससे रँगी हुई लकड़ी घुन और दीमक से बहुत दिनों तक बची रहती है। इससे कृमिनाशक ओषधियाँ जैसे—नेपथलीन, कारबोलिक ऐसिड, फिनाइल आदि—तैयार होती हैं। इससे कई प्रकार के रंग भी बनते हैं।

अलकनंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय (गढ़वाल) की एक नदी जो गंगोत्री के आगे भागीरथी (गंगा) की धारा से मिल जाती है।

अलकप्रभा-संज्ञा स्त्री० [सं] अलकापुरी। कुबेरपुरी।

अलकलड़ैता*-वि० [सं०] [हिं० अलक=बाल+लाड़=दुलार] [स्त्री० अलकलड़ैती] दुलारा। लाड़ला। उ०—सँदेसो देवकी सों कहियो। हौं तो धाय तुम्हारे सुत की मया करति ही रहियो। यदपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहि कहि आवै। प्रति दिन उठत तुम्हारे कान्हहि माखन रोटी भावै। तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते। जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि करि न्हाते। सूर पथिक सुनु मोहि रैन दिन बढ़्यो रहत उर सोच। मेरो अलकलड़ैतो मोहन ह्वै है करत सँकोच।—सूर

अलकसलोरा-*वि० [सं० अलक=बाल+हिं० सलोना=अच्छा] [स्त्री० अलकसलोरी] लाड़ला। दुलारा। उ०—हम तेरे नितही प्रति आवैं सुनहु राधिका गोरी हो। ऐसो आदर कबहुँ न कीन्हो मेरी अलकसलोरी हो—सूर।

अलका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुबेर की पुरी। यक्षों की पुरी। (२) आठ और दस वर्ष के बीच की लड़की।

अलकापति-संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर।

अलकावलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] केशों का समूह। बालों की लटें।

अलक्त, अलक्तक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाही जो पेड़ों में लगती है। लाख। चपड़ा। (२) लाह का बना हुआ रंग जिसे स्त्रियाँ पैर में लगाती हैं। महावर।

अलक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिह्न वा संकेत का न होना। (२) ठीक ठीक गुण धर्म का अनिर्वाचन। (३) बुरा लक्षण। कुलक्षण। अशुभ चिह्न।

अलक्षित-वि० [सं०] (१) अप्रकट। अज्ञात (२) अदृश्य। ग़ायब। (३) अचिह्नित।

अलक्ष्य-वि० [सं०] (१) अदृश्य जो न देख पड़े। ग़ायब (२) जिसका लक्षण न कहा जा सके।

अलख–वि० [सं० अलक्ष्य] (१) जो दिखाई न पड़े। जो नज़र न आवे। अदृश्य। अप्रत्यक्ष। उ०—बुधि, अनुमान, प्रमान, स्रुति, किए नीठि ठहराय। सूछम गति परब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय।—बिहारी। (२) अगोचर। इंद्रियातीत। (३) ईश्वर का एक विशेषण। उ०—अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सों सब वहि सों बरता।—जायसी।

मुहा०—अलख जगाना=(१) पुकारकर परमात्मा का स्मरण करना वा कराना। (२) परमात्मा के नाम पर भिक्षा मांगना।

विशेष—अलखनामी साधु होते हैं जो भिक्षा के लिये खप्पर फैलाकर जोर ज़ोर से 'अलख अलख' पुकारते हैं।

यौ०—अलखधारी। अलखनामी।

अलखधारी–संज्ञा पु० दे० "अलखनामी"।

अलखनामी–संज्ञा पु० [सं० अलक्ष्य+नाम] एक प्रकार के साधु जो गोरखनाथ के अनुयायियों में से हैं। ये लोग सिर पर जटा रखते हैं, गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं, भस्म लगाते हैं और कमर में ऊन की सेली बाँधते हैं जिसमें कभी कभी घुँघरू या घंटी भी बाँध लेते हैं। ये लोग भिक्षा के लिये प्रायः दरियाई नारियल का खप्पर लेकर ज़ोर ज़ोर से "अलख अलख" पुकारते हैं जिससे उनका अभिप्राय अलक्ष्य परमात्मा का स्मरण करना या कराना होता है। इन लोगों में एक विशेषता यह है कि ये कहीं भिक्षा के लिये अधिक अड़ते नहीं। अलखिया।

अलखित*–वि० दे० "अलक्षित"।

अलग–वि० [सं० अलग्न, प्रा० अलग्ग] (१) जुदा। पृथक्। न्यारा। भिन्न। अलहदा।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।—होना।

मुहा०—अलग करना=(१) जुदा करना। दूर करना। हटाना। खसकाना। उ०—इसे हमारे सामने से अलग करो। (२) छुड़ाना। बरखास्त करना। उ०—मैंने उस नौकर को अलग कर दिया। (३) चुनना। छाटना। (४) बेच डालना। उ०—उसने उस घोड़े को अलग कर दिया। (५) निपटाना। समाप्त करना। उ०—थोड़ा सा बचा है, खा पीकर अलग करो। (२) बेलाग। बचा हुआ। रक्षित। उ०—घबराओ मत, तुम्हारा बच्चा अलग है।

अलगगीर–संज्ञा पुं० [अ० अरक़गीर] कंबल वा नमदा जिसे घोड़े की पीठ पर रखकर ऊपर से ज़ीन या चारजामा कसते हैं।

अलगनी–संज्ञा स्त्री० [स० अलग्न] आड़ी रस्सी वा बाँस जो कपड़े लटकाने वा फैलाने के लिये घर में बाँधा जाता है। डारा।

अलग़रज़–वि० दे० "अलग़रज़ी"।

अलग़रज़ी†–वि० [अ०] बेग़रज़। बेपरवा।
संज्ञा स्त्री० बेपरवाही।

अलगाना–क्रि० स० [हिं० अलग+आना (प्रत्य०)] (१) अलग करना। छांटना। बिलगाना। पृथक् करना। जुदा करना। (२) दूर करना। पटाना।

अलग़ोज़ा–संज्ञा पु० [अ०] एक प्रकार की बाँसुरी जिसका मुँह क़लम की तरह कटा होता है और जिसकी दूसरी छोर पर स्वर निकालने के लिये सात समानांतर छेद होते हैं। इसको मुँह में सीधा रखकर उंगलियों को छेदों पर रखते और उठाते हुए बजाते हैं।

अलच्छ*–वि० दे० "अलक्ष्य"।

अलज*–वि० दे० "अलज्ज"।

अलजी–संज्ञा स्त्री० [स०] एक प्रकार की लाल वा काली फुंसी जो बहुत पीड़ा देती है।

अलज्ज–वि० [सं०] निर्लज्ज। बेहया।

अलप*–वि० दे० "अल्प"।

अलपाका–संज्ञा पु० [स्पे० एलपका] (१) ऊँट की तरह का एक जानवर जो दक्षिण अमेरिका के पेरू नामक प्रांत में होता है। इसके बाल लंबे और ऊन की तरह मुलायम होते हैं। (२) अलपाका का ऊन। (३) एक पतला कपड़ा जो रेशम वा सूत के साथ अलपाका जंतु के ऊनी बालों को मिलाकर बनाया जाता है। यह कई रंगों का बनता है, पर विशेष कर काला होता है।

अलफ़–संज्ञा पु० [अ० अलिफ़] घोड़े का आगे के दोनों पाँव उठाकर पिछली टाँगों के बल खड़ा होना।

विशेष—अरबी वर्णमाला का पहला अक्षर अलिफ़ खड़ा होता है, इसी से यह शब्द इस अर्थ में व्यवहृत होने लगा।

अलफ़ा–संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० अलफी] एक प्रकार का ढीला-ढाला बिना बाँह का बहुत लंबा कुरता जिसे अधिकतर मुसलमान फ़क़ीर गले में डाले रहते हैं।

अलबत्ता–अव्य० [अ०] (१) निस्संदेह। निःसंशय। बेशक। उ०—अब अलबत्ता यह काम होगा। (२) हाँ। बहुत ठीक। दुरुस्त। उ०—अलबत्ता! बहादुरी इसका नाम है। (३) लेकिन। परंतु। उ०—हम रोज़ नहीं आ सकते, अलबत्ता कहो तो कभी कभी आ जाया करें।

अलबम–संज्ञा पुं० [फा०] तस्वीरें रखने की किताब।

अलबेला–वि० [सं० अलभ्य+हिं० ला (प्रत्य०)] [स्त्री० अलबेली] (१) बाँका। बना ठना। छैला। (२) अनोखा। अनूठा। सुन्दर। उ०—तुमने तो यह बड़ी अलबेली चीज़ निकाली। (३) अल्हड़। बेपरवाह। मनमौजी। उ०—उसका स्वभाव बड़ा अलबेला है।

अलबेलापन–संज्ञा पुं० [हिं० अलबेला+पन (प्रत्य०)] (१) बाँकापन। सजधज। छैलापन। (२) अनोखापन। अनूठापन। सुन्दरता। (३) अल्हड़पन। बेपरवाही।

अलब्ध-भूमिकत्व-संज्ञा पुं० [सं०] समाधि का न जुड़ना। समाधि की अप्राप्ति।

अलभ्य-वि० [सं०] (१) न मिलने योग्य। अप्राप्य। (२) जो कठिनता से मिल सके। दुर्लभ। (३) अमूल्य। अनमोल।

अलम्-अव्य० [सं०] यथेष्ट। पर्याप्त। पूर्ण। काफ़ी।

अलम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) रंज। दुःख। (२) झंडा।

अलमनक-संज्ञा पुं० [अ०] अँगरेज़ी ढंग की जंत्री वा पत्रा।

अलमर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पौधा।

अलमस्त-वि० [फा०] (१) मतवाला। बदहोश। बेहोश। (२) बेग़म। बेफ़िक्र। निर्द्वंद्व।

अलमारी-संज्ञा स्त्री० [पुर्त्त० अलमारियो] वह खड़ा संदूक जिसमें चीज़ें रखने के लिये ख़ाने वा दर बने रहते हैं और बंद करने के लिये पल्ले होते हैं। कभी कभी अलमारी दीवार खोदकर भी नीचे ऊपर तख़्ते जोड़कर बना दी जाती है। बड़ी भंडरिया।

अलमास-संज्ञा पुं० [फा०] हीरा।

अलर्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पागल कुत्ता। (२) सफ़ेद आक वा मदार। (३) एक प्राचीन राजा जिसने एक अंधे ब्राह्मण के माँगने पर अपनी दोनों आँखें निकालकर दे दी थीं।

अलल-टप्पू-वि० [देश०] अटकलपच्चू। बेठिकाने का। अंडबंड।

अलल-बछेड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० अल्हड़+बछेड़ा] (१) घोड़े का जवान बच्चा। (२) अल्हड़ आदमी। वह व्यक्ति जिसे कुछ अनुभव न हो।

अलाना†-क्रि० अ० [सं० अर्=बोलना] चिल्लाना। गला फाड़ कर बोलना।

अलल्लाँ-संज्ञा पुं० [?] घोड़ा।—डिं०।

अलवाँती-वि० स्त्री० [सं० बालवती] (स्त्री) जिसके बच्चा हुआ हो। प्रसूता। जच्चा।

अलवाई-वि० स्त्री० [सं० बालवती, हिं० अलवाँती] (गाय वा भैंस) जिस को बच्चा जने एक वा दो महीने हुए हों। 'बाखरी' का उलटा।

अलवान-संज्ञा पुं० [अ०] पश्मीने की चादर। ऊनी चादर।

अलस-वि० [सं०] आलस्ययुक्त। आलसी। सुस्त। मंद। निरुद्योगी।

संज्ञा पुं० [सं०] पाँव का एक रोग जिसमें पानी मे भींगे रहने वा गंदे कीचड़ में पड़े रहने के कारण उंगलियों के बीच का चमड़ा सड़कर सफ़ेद हो जाता है और उसमें खाज और पीड़ा होती है। खरवात। कंदरी।

अलसक-संज्ञा पु० [सं०] अजीर्ण रोग का एक भेद।

अलसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हंसपदी लता। लज्जालू। लाल फूल की लज्जावंती।

अलसाना-क्रि० अ० [सं० अलस] आलस्य में पड़ना। क्लांत होना। शिथिलता अनुभव करना।

अलसी-संज्ञा स्त्री० [सं० अतसी] एक पौधा और उसका फल वा बीज। तीसी। यह पौधा प्रायः दो ढाई फुट ऊँचा होता है। इसमें डालियाँ बहुत कम होती हैं, केवल दो वा तीन लंबी, कोमल और सीधी टहनियाँ छोटी छोटी पत्तियों से गुछी हुई निकलती हैं। इसमें नीले और बहुत सुन्दर फूल निकलते हैं जिनके झड़ने पर छोटी घुंडियाँ बँधती हैं। इन्हीं घुंडियों में बीज रहते हैं जिनसे तेल निकलता है। यह तेल प्रायः जलाने और रंगसाज़ी तथा लीथो के छापे की स्याही बनाने के काम में आता है। छापने की स्याही भी इसकी मिलावट से बनती है। इसको पकाकर गाढ़ा करके एक प्रकार का वारनिश भी बनता है। तेल निकालने के बाद अलसी की जो सीठी बचती है, उसे खरी वा खली कहते हैं। यह खली गाय को बहुत प्रिय है। अलसी वा अलसी की खली को पीसकर उसकी पुलटिस बाँधने से सूजन बैठ जाती है वा कच्चा फोड़ा शीघ्र पककर बह जाता है तथा उसकी पीड़ा शांत हो जाती है।

अलसेट*-संज्ञा पुं० [सं० अलस] [वि० अलसेटिया] (१) ढिलाई। व्यर्थ की देर। (२) टालमटूल। भुलावा। चकमा। उ०—महरि गोद लेवै लगी करि बातन अलसेट।—व्यास। (३) बाधा। अड़चन।

क्रि० प्र०—करना।—लगाना।

अलसेटिया*-वि० [हिं० अलसेट] (१) ढिलाई करनेवाला। व्यर्थ की देर करनेवाला। (२) अड़चन डालनेवाला। बाधा उपस्थित करनेवाला। (३) टालमटूल करनेवाला।

अलसौंहाँ-वि० [सं० अलस+औहाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० अलसौंही] आलस्ययुक्त। क्लांत। शिथिल। उ०—(क) रही रँगीले रति जगे, जगी पगी सुख चैन। अलसौंहैं सौंहैं किए, कहैं हँसौंहैं नैन।—बिहारी।

अलहदा-वि० [अ०] जुदा। अलग। पृथक्।

अलहिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० आल्हा] एक रागनी जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं। हिंडोल राग की स्त्री और दीपक की पुत्रवधू। इसका व्यवहार करुणा रस प्रकट करने में अधिक होता है।

अलहैरी-संज्ञा पुं० [अ०] एक जाति का अरबी ऊँट जिसके एक ही कूबड़ होता है और जो चलने में बहुत तेज़ होता है।

अलाई-वि० [सं० अलस] आलसी। काहिल।

संज्ञा पुं० [?] घोड़े की एक जाति।

अलाग लाग-संज्ञा पुं० [हिं० लाग लगाव] नृत्य वा नाचने का एक ढंग।

अलात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अँगार। (२) जलती हुई लकड़ी। लुआठी।

अलात-चक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जलती हुई लकड़ी वा लुक को जल्दी जल्दी घुमाने से बना हुआ मंडल। (२) बनेठी। (३) गति-भेदानुसार एक प्रकार का नृत्य वा नाच।

अलान-संज्ञा पुं० [सं० आलान] (१) हाथी बाँधने का खूँटा। (२) हाथी बाँधने का सिक्कड़। (३) बंधन। बेड़ी। (४) लता वा बेल चढ़ाने के लिये गाड़ी हुई लकड़ी।

अलाप-संज्ञा पुं० दे० "आलाप"।

अलापना-क्रि० अ० [सं० आलापन] (१) बोलना। बात चीत करना। (२) सुर खींचना। तान लगाना। (३) गाना।

अलापी*-वि० [सं० आलापी] बोलनेवाला। शब्द निकालनेवाला।

अलाबू-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लौवा। कद्दू। (२) तूँबा।

अलाम*-वि० [अ० अलाम=चतुर] जिसकी बात का कोई ठिकाना न हो। बात बनानेवाला। मिथ्यावादी।

अलामत-संज्ञा पुं० [अ०] लक्षण। निशान। चिह्न।

अलायक*-संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+अ० लायक] नालायक। अयोग्य। उ०—तुम जनि मन मैलो करौ, लोचन जनि फेरौ। सुनहु राम बिनु रावरे, लोकहु परलोकहु कोउ न कहूँ हित मेरो। अगुन अलायक आलसी जन अधन अनेरो। स्वारथ के साथीन तज्यो तिजरा को सो टोटको औचट उलटि न हेरो।—तुलसी।

अलार-संज्ञा पुं० [सं०] कपाट। किवाड़।

*[सं० अलात] अलाव। आग का ढेर। आँवाँ। भट्ठी। उ०—तान आनि परी कान वृषभानु नंदिनी के तच्यो उर प्रान पर्यो विरह अलार हैं।—रघुनाथ।

अलार्म घड़ी-संज्ञा स्त्री० [अं०] जागरन घड़ी। जगानेवाली घड़ी।

अलाल-वि० [सं० अलस] (१) आलसी। सुस्त। काहिल। (२) अकर्मण्य। निकम्मा। उ०-ऐसे अधम अलाल को कीन्हों आप निहाल।—रघुराज।

अलाव*-संज्ञा पुं० [सं० अलात अंगार] आग का ढेर। जाड़े के दिनों में घास, फूस, सूखी पत्तियों और कंडों से जलाई हुई आग जिसके चारों ओर बैठकर गाँव के लोग तापते हैं। कौड़ा।

अलावज-संज्ञा पुं० [सं० आलाप ?] एक प्रकार का पुराना बाजा जो चमड़ा मढ़कर बनाया जाता था।

अलावनी-संज्ञा स्त्री० [सं० आलाप ?] एक पुराना बाजा जो तार से बजाया जाता था।

अलावा-क्रि० वि० [अ०] सिवाय। अतिरिक्त।

अलास-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें जीभ के नीचे का भाग सूजकर पक जाता है और दाढ़ तन जाती है।

अलिंग-वि० [सं०] (१) लिंगरहित। बिना चिह्न का। जिसका कोई लक्षण न हो। (२) जिसका ठीक ठीक लक्षण निर्धारित न हो सके। जिसकी कोई पहचान बतलाई न जा सके।

विशेष—वेदांत में ईश्वर को 'अलिंग' कहा है।

संज्ञा पुं० व्याकरण में वह शब्द जो दोनों लिंगों में व्यवहृत हो; जैसे हम, तुम, मैं, वह, मित्र।

अलिंजर-संज्ञा पुं० [सं०] पानी रखने के लिये मिट्टी का बरतन। झंझर। घड़ा।

अलिंद-संज्ञा पुं० [सं०] मकान के बाहरी द्वार के आगे का चबूतरा वा छज्जा।

[सं० अलीन्द्र] भौंरा। उ०—कौन जानै कहा भयो सुंदर सबल स्याम टूटे गुन धनुष तुनीर तीर झरिगो।........ नीलकंज मुद्रित निहारि विद्यमान भानु सिंधु मकरंदहि अलिंद पान करिगो।

अलि-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अलिनी] (१) भौंरा। भ्रमर। (२) कोयल। (३) कौवा। (४) बिच्छू। (५) वृश्चिक राशि। (६) कुत्ता। (७) मदिरा। (८) दे० "अली"।

अलिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ललाट। कपाल। (२) दे० "अलि"।

अलिजिह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गले की घाँटी। गले के भीतर का कौवा।

अलिपक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भौंरा। (२) कोयल। (३) कुत्ता।

अलिपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिछुआ घास।

अलिया†-संज्ञा स्त्री० [सं० आलय] (१) एक प्रकार की खारी। (२) वह गड्ढा जिसमें कोई वस्तु रखकर ढँक दी जाय।

अली-संज्ञा स्त्री० [सं० आली] (१) सखी। सहचरी। सहेली। (२) श्रेणी। पंक्ति। कतार।

संज्ञा पुं० [सं० अलि] भौंरा। उ०—अली कली ही ते बँध्यो, आगे कौन हवाल।—बिहारी।

अलीक-वि० [सं०] बे सिर पैर का। मिथ्या। झूठा।

संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+हिं० लीक] अप्रतिष्ठा। अमर्यादा।

वि० मर्यादारहित। अप्रतिष्ठित।

अलीजा*-वि० [अ० आलीजाह] बहुत सा। अधिक। उ०—मोम महावर मूली बीजा। अकरकरा अजमोद अलीजा।—सूदन।

अलीन-संज्ञा पुं० [सं० आलीन=मिला हुआ] (१) द्वार के चौखट की खड़ी लंबी लकड़ी जिसमें पल्ला वा किवाड़ जड़ा जाता है। साह। बाजू। (२) दालान वा बरामदे के किनारे का खंभा जो दीवार से सटा होता है। इसका घेरा प्रायः आधा होता है।

वि० [सं० अ=नहीं+लीन=रत] (१) अग्राह्य। अनुपयुक्त। उ०—हे सखा ! पुरुवंशियों का मन अलीन वस्तु पर कभी नहीं जाता।—लक्ष्मण। (२) अनुचित। बेजा। उ०—अरिदलयुक्त आप दलहीना। करि बैठे कछु कर्म्म अलीना।—सबल।

अलील-वि० [अ०] बीमार। रुग्ण।

अलीह*-वि० [सं० अलीक] मिथ्या। असत्य। उ०-कान मूँदि कर, रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा। —तुलसी।

अलुक्-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में समास का एक भेद जिसमें बीच की विभक्ति का लोप नहीं होता; जैसे—सरसिज, मनसिज, युधिष्ठिर, कर्णेजय, अगदंकर, असूर्य्यपश्या, विश्वंभर।

अलुझना*-क्रि० अ० दे० "अरुझना" और "उलझना"।

अलुटना*-क्रि० अ० [सं० लुट=लोटना, लड़खड़ाना] लड़खड़ाना। गिरना पड़ना। उ०—चले जात अल्ह मग, लागे बाग दीठि पर्‌यो, करि अनुराग हरि सेवा बिस्तारिये। पकि रहे आम माँगै माली पास भोग लिए, कहो लीजै, कही झुकि आई सब डारिये। धर्‌यौ दौरि राजा जहाँ, जाइकै सुनाई बात, गात भई प्रीति, अलुटत पाँव धारिये।—प्रिया।

अलुमीनम-संज्ञा पुं० [अ० एलुमीनियम] एक धातु जो कुछ कुछ नीलापन लिए सफ़ेद होती है और अपने हलकेपन के लिये प्रसिद्ध है। इसके बरतन बनते हैं। इसमें रखने से खट्टी चीज़ें नहीं बिगड़तीं।

अलूप*-वि० [सं० लुप=अभाव] लुप्त। गायब। उ०—ससि औ सूर जो नर्मल तेहि ललाट की रूप। निसि दिन चलहिं न सरवरि पावैं तपि तपि होहिं अलूप।—जायसी।

अलूला*-संज्ञा पुं० [हिं० बुलबुला, बलूला] बुलबुला। भभूका। लपट। उद्‌गार। उ०—बानर बदन रुधिर लपटाने छबि के उठत अलूले। रघुपति रन प्रताप रन-सरवर, मनहुँ कमल-कुल फूले।—हनुमान।

अलेख-वि० [सं०] (१) जिसके विषय में कोई भावना न हो सके। दुर्बोध। अज्ञेय। उ०—अगुन अलेख अमान एक रस। गम सगुन भए भक्त प्रेम बस।—तुलसी। (२) जिसका लेखा न हो सके। बेहिसाब। बेअंदाज़। अनगिनत। बहुत अधिक। उ०—(क) योग यज्ञ जप ध्यान अलेख। तीरथ फिरे धरे बहु भेख।—कबीर। (ख) कुल, बल, विक्रम, दान, वश, यश गुण गनत अलेख।—केशव।

वि० [सं० अलक्ष्य] अदृश्य।

अलेखा*-वि० [सं० अलेख] जो गिना न जा सके। (१) बेहिसाब। (२) व्यर्थ। निष्फल। उ०—जौ लौं सत सरूप नहिं सूझत। तौ लौं मृगमद नाभि बिसारे फिरत सकल बन बूझत।······सूरदास यह मति आए बिनु सब दिन गने अलेखे। का जाने दिनकर की महिमा अंध नयन बिनु देखे। —सूर।

अलेखी*-वि० [सं० अलेख] गड़बड़ मचानेवाला। अंधेर करनेवाला। अन्यायी। उ०—कृपासिंधु ताते रहौं निसि दिन मन मारे। महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे। मिले रहैं मार्‌यौ चहैं कामादि सँघाती। मो बिन रहैं न, मेरियै जारैं छल छाती। बसत हिये हित जानि मैं सब की रुचि पाली। कियो पथिक को दंड हौं जड़ कर्म कुचाली। देखी सुनी न आजु लौं अपनाइत ऐसी। करहिं सबै, सिर मेरेई फिरि परै अनैसी। बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं। असमंजस मों मगन हौं लीजै गहि बाँहीं।—तुलसी।

अलैया‡-संज्ञा स्त्री० दे० "अलहिया"।

अलोक-वि० [सं०] (१) जो देखने में न आवे। अदृश्य। (२) लोकशून्य। निर्जन। एकांत। (३) पुण्यहीन।

संज्ञा पुं० (१) पातालादि लोक। परलोक। (२) जैन शास्त्रानुसार वह स्थान जहाँ आकाश के अतिरिक्त धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय आदि कोई द्रव्य न हो और जिसमें मोक्षगामी के सिवा और किसी की गति न हो। (३) बिना देखी बात। मिथ्या दोष। कलंक। निंदा। उ०—(क) लक्ष्मण सीय तजी जब ते बन। लोक अलोकन पूरि रहे तन। —केशव। (ख) खोट तुरी जिमि खूट रहो गहि ठौर कुठौर न जानि न जाहू। लाजन आवत मारे समाजन लागे अलोक के ताजन ताहू।—केशव। (ग) लोक में अलोक आनि नीकहू लगावत हैं सीताजू को वृत गीत कैसे उर आनिये।—केशव।

अलोकना*-क्रि० स० [सं० आलोकन] देखना। ताकना। उ०—रंचक दीठि को भार लहे बहु बार बिलोकनि ईठि अनैसी। टूटिहै लागिहै लोक अलोकत वै हठ छूटिहैं जूटिहैं कैसी। —केशव।

अलोना-वि० [सं० अलवण] [स्त्री० अलोनी] (१) बिना नमक का। जिसमें नमक न पड़ा हो। जैसे—अलोनी तरकारी किस काम की? (२) जिसमें नमक न खाया जाय। जैसे—रविवार को बहुत लोग अलोना व्रत रखते हैं। (३) फीका। स्वादरहित। बेमज़ा। उ०—केसोदास बोले बिन, बोल के सुने बिना हू हिलन मिलन बिना मोह क्यों सरत है। कौ लग अलोनो रूप प्याय प्याय राखौं नैन, नीर बिना मीन कैसे धीरज धरत है।—केशव।

अलोप*-वि० दे० "लोप"।

अलोपा-संज्ञा पुं० [सं० अलोप] एक पेड़ जो सदा हरा रहता है। इसके हीर की लाल और चिकनी लकड़ी बहुत मजबूत होती है, नाव और गाड़ी बनाने के काम में आती है तथा घरों में लगती है। इसकी लकड़ी पानी में ख़राब नहीं होती।

अलोल-वि० [सं०] जो चंचल न हो। स्थिर। टिका हुआ।

अलोलिक*-संज्ञा पुं० [सं० अलोल] अचंचलता। धीरता। स्थिरता। उ०—लोल अमोल कटाक्ष कलोल अलोलिक सों पट ओलि कै फेरै।—केशव।

अलोहित-संज्ञा पुं० [सं०] लाल कमल।

अलौकिक-वि० [सं०) (१) जो इस लोक में न दिखाई दे।

लोकोत्तर । लोकवाह्य । (२) असाधारण । अद्भुत । अपूर्व । (३) अमानुषी ।

अल्प-वि० [सं०] (१) थोड़ा । कम । न्यून । कुछ । (२) छोटा । संज्ञा पुं० एक काव्यालंकार जिसमें आधेय की अपेक्षा आधार की अल्पता वा छोटाई का वर्णन होता है । उ०—सुनहु श्याम ! ब्रज में जगी, दसम दसा की जोति । जहँ मुँदरी अँगुरीन की, कर में ढीली होति । यहाँ आधेय मुँदरी की अपेक्षा आधार हाथ पतला वा सूक्ष्म बतलाया गया है ।

अल्पक-वि० [सं०] थोड़ा । कम ।
संज्ञा पुं० जवास का पौधा ।

अल्पगंध-संज्ञा पुं० [सं०] रक्त कुमुदिनी । लाल कूँई ।

अल्पजीवी-वि० [सं० अल्पजीविन्] थोड़ा जीनेवाला । जिसकी आयु कम हो । अल्पायु ।

अल्पज्ञ-वि० [सं०] (१) थोड़ा ज्ञान रखनेवाला । कम बातों को जाननेवाला । (२) छोटी बुद्धि का । नासमझ ।

अल्पज्ञता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) थोड़ी जानकारी । ज्ञान की अपूर्णता । (२) नासमझी ।

अल्पता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमी । न्यूनता । (२) छोटाई ।

अल्पत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमी । न्यूनता । (२) छोटापन ।

अल्पप्रमाणक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खरबूज़ा । (२) तरबूज़ा ।

अल्पप्राण-संज्ञा पुं० [सं०] वह वर्ण जिसके उच्चारण में प्राण वायु का अल्प व्यवहार हो । व्यंजनों के प्रत्येक वर्ग का पहला, तीसरा और पाँचवा अक्षर तथा य, र, ल और व । अल्पप्राण ये हैं—क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल और व ।

अल्पवयस्क-वि० [सं०] [स्त्री० अल्पवयस्का] छोटी अवस्था का । थोड़ी उम्र का । कमसिन ।

अल्पशः-क्रि० वि० [सं०] थोड़ा थोड़ा करके । धीरे धीरे । क्रमशः ।

अल्पायु-वि० [सं०] थोड़ी आयुवाला । जो थोड़े दिन जीए । जो छोटी अवस्था में मरे ।
संज्ञा पुं० बकरा ।

अल्ल-संज्ञा पुं० [अ० आल] वंश का नाम । उपगोत्रज नाम । जैसे—पाँडे, त्रिपाठी, मिश्र आदि ।

अल्लम गल्लम-संज्ञा पुं० [अनु०] अनाप शनाप । अंडबंड । व्यर्थ की बकवाद । प्रलाप ।

अल्लाई-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्=शब्द करना] चौपायों के गले की एक बीमारी । घँटियार ।

अल्लाना*†-क्रि० अ० [सं० अर्= बोलना] चिल्लाना । ज़ोर से बोलना । उ०—सावस की अधिक अँधेरी अधरात समै कान्ह हेतु कामिनी यों कीन्हों अभिसार को । 'राम' कहै चकित चुरैलैं चहु अल्लैं, त्यों खबीस करि भल्लैं, चौंहैं चकित समान को ।

अल्लामा†-वि० स्त्री० [अ० अल्लामा=चतुर] कर्कशा । लड़ाकी ।

अल्हजा*-संज्ञा पुं० [अ० अल् हजल] यह बात और वह बात । गप्प । इधर उधर की बात । उ०—कबिरा जीवन कछु नहीं, खिन खारा खिन मीठ । काल्हि अल्हजा मारिया, आज मसाना दीठ ।—कबीर ।
क्रि० प्र०—मारना ।

अल्हड़-वि० [सं० अल=बहुत+लल=चाह] (१) मनमौजी । निर्द्वन्द्व । बेपरवाह । (२) छोटी उम्र का । बिना अनुभव का । जिसे व्यवहार ज्ञात न हो । (२) लोक-ज्ञान-शून्य । (३) उद्धत । उजड्ड । अनगढ़ । अपरिष्कृत । अकुशल । (४) अनारी । गँवार । अपरिपक्व ।
संज्ञा पुं० नया बछड़ा । वह बछड़ा जिसे दाँत न आए हों । बैल वा बछड़ा जो निकाला न गया हो ।

अल्हड़पन-संज्ञा पुं० [हिं० अल्हड़+पन (प्रत्य०)] (१) मनमौजीपन । बेपरवाही । निर्द्वंद्वता । (२) कमसिनी । लड़कपन । व्यवहार-ज्ञान का अभाव । भोलापन । (३) उजड्डपन । अक्खड़पन । (४) अनाड़ीपन ।

अवंति-संज्ञा स्त्री० दे० "अवंती" ।

अवंतिका-संज्ञा स्त्री० दे० "अवंती" ।

अवंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्यप्रदेशांतर्गत मालवा का एक नगर जिसे आजकल उज्जैन कहते हैं । यह सप्तपुरियों में से एक है ।

अवंश-वि० [सं०] वंशहीन । निपूता । अपुत्र । निःसंतान ।
संज्ञा पुं० नीचा कुल ।

अव-उप० [सं०] एक उपसर्ग । यह जिस शब्द में लगता है उसमें निम्न लिखित अर्थों की योजना करता है—(१) निश्चय; जैसे—अवधारण । (२) अनादर; जैसे—अवज्ञा । अवमान । (३) ईषत्; न्यूनता वा कमी; जैसे—अवहनन । अवघात । (४) निचाई वा गहराई; जैसे—अवतार । अवक्षेप । (५) व्याप्ति; जैसे—अवकाश । अवगाहन ।
अव्य० * [सं० अपि, प्रा० अवि] और ।

अवकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] बलपूर्वक किसी पदार्थ को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना । खींच ले जाना ।

अवकलन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवकलित] (१) इकट्ठा करके मिला देना । (२) देखना । (३) जानना । ज्ञान । (४) ग्रहण ।

अवकलना-क्रि० स० [सं० अवकलन=ज्ञात होना] ज्ञान होना । समझ पड़ना । विचार में आना । उ०—केहि विधि होइ राम अभिषेकू । मोहि अवकलत उपाउ न एकू ।—तुलसी ।

अवकलित-वि० [सं०] (१) देखा हुआ । दृष्ट । (२) ज्ञात ।

जाना हुआ। (३) गृहीत। संगृहीत। (४) इकट्ठा करके मिलाया हुआ।

अवकाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थान। जगह। उ०—बिनु विज्ञान कि समता आवै। कोउ अवकाश कि नभ बिनु पावै।—तुलसी। (२) आकाश। अंतरिक्ष। शून्य स्थान। उ०—सक्र कोटि शत सरिस बिलासा। नभ शतकोटि अमित अवकाशा।—तुलसी। (३) दूरी। अंतर। फ़ासिला।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(४) अवसर। समय। मौक़ा। (५) ख़ाली वक़्त। फ़ुर्सत। छुट्टी।

क्रि० प्र०—पाना।—मिलना।

अवकिरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवकीर्ण, अवकृष्ट] बिखेरना। फैलाना। छितराना।

अवकीर्ण-वि० [सं०] (१) फैलाया हुआ। छितराया हुआ। बिखेरा हुआ। (२) ध्वस्त। नष्ट किया हुआ। नष्ट। (३) चूर चूर किया हुआ।

संज्ञा पुं० ब्रह्मचर्य्य का नाश। ब्रह्मचारी का स्त्री-संसर्ग द्वारा व्रतभंग।

यौ०—अवकीर्ण याग=एक याग जो उस ब्रह्मचारी के लिये प्रायश्चित्त रूप कर्त्तव्य कहा गया है जिसने अपना ब्रह्मचर्य्य नष्ट कर दिया हो। इसमें उसको जंगल में जाकर चतुष्पथ में काने गधे को मारकर पाकयज्ञ के विधान से निर्ऋति देवता के लिये यज्ञ करना पड़ता है।

अवकीर्णी-वि० [सं०] वह ब्रह्मचारी जिसका ब्रह्मचर्य्य व्रत भंग हो गया हो। नष्ट-ब्रह्मचर्य्य।

अवकुंचन-संज्ञा पुं० [सं०] समेटना। बटोरना।

अवकृष्ट-वि० [सं०] (१) दूर किया हुआ। निकाला हुआ। (२) निगलित। नीचे उतारा हुआ। (३) नीच। नीच जाति का।

संज्ञा पुं० घर में झाड़ू लगानेवाला। दास।

अवक्खन*-संज्ञा पुं० [सं० अवेक्षण] देखना।

अवक्तव्य-वि० [सं०] (१) न कहने योग्य। (२) निषिद्ध। (३) अश्लील। (४) मिथ्या। झूठ।

अवक्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बदला। (२) मूल्य। दाम। (३) भाड़ा। किराया। (४) कर।

अवक्रांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अधोगमन। उतार। गिराव। (२) झुकाव।

अवक्रोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्कश स्वर। असह्य कड़ी बोली। (२) कोसना। गाली। (३) निंदा।

अवक्लिन्न-वि० [सं०] आर्द्र। गीला। तर। भीगा हुआ।

अवक्षिप्त-वि० [सं०] गिरा हुआ।

अवक्षुत-वि० [सं०] जिस पर छींक पड़ गई हो।

अवक्षेपण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवक्षिप्त] (१) गिराव। अधःपात। नीचे फेंकना।

विशेष—वैशेषिक शास्त्र में यह अक्षेपण, आकुंचन आदि पाँच कर्मों वा क्रियाओं में से एक है।

(२) आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रकाश, तेज वा शब्द की गति में उसके किसी पदार्थ में होकर जाने से वक्रता का होना।

अवखात-संज्ञा पुं० [सं०] गहरा गड्ढा।

अवगणन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवगणित] (१) निंदा। तिरस्कार। अपमान। (२) नीचा देखना। पराभव। पराजय। हार (३) गिनती।

अवगणित-वि० [सं०] (१) निंदित। तिरस्कृत। अपमानित। (२) नीचा देखा हुआ। पराजित। (३) गिना हुआ।

अवगत-वि० [सं०] (१) विदित। ज्ञात। जाना हुआ।

क्रि० प्र०—होना=मालूम होना। जान पड़ना।

(२) नीचे गया हुआ। गिरा हुआ।

अवगतना-क्रि० स० [सं० अवगत+हिं० ना (प्रत्य०)] सोचना। समझना। विचारना। उ०—मास मास नहिं करि सकै छठे मास अलबत्ति। यामें ढील न कीजिये कहै कबीर अवगत्ति।—कबीर।

अवगति=संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बुद्धि। धारणा। निश्चयात्मक ज्ञान। समझ (२) कुगति। नीच गति।

अवगमन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवगत] देख सुनकर किसी बात का अभिप्राय जान लेना। जानना। समझना।

अवगाढ़-वि० [सं०] (१) निविड़। छिपा हुआ। (२) प्रविष्ट। घुसा हुआ। निमग्न।

अवगारना*-क्रि०स० [सं० अव+गृ] समझाना बुझाना। जताना। उ०—कहा कहत रे मधु मतवारे। हम जान्यो यह श्याम सखा है यह तो औरै न्यारे।.........। सूर कहा याके मुख लागत कौन याहि अवगारे।—सूर

अवगाह*-वि० [सं० अवगाध] (१) अथाह। बहुत गहरा। अत्यंत गंभीर। उ०—(क) मान सरोवर बरजौ काहा। भरा समुद्र अस अति अवगाहा।—जायसी। (ख) खल-अघ-अगुन-साधु-गुन-गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा।—तुलसी। (ग) जद्यपि नीति निपुन नरनाहू। नारिचरित जलनिधि अवगाहू।—तुलसी। (२) अनहोनी। कठिन। उ०—तोरेहु धनुप ब्याह अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिवाहा।—तुलसी।

* संज्ञा पुं० (१) गहरा स्थान। (२) संकट का स्थान। कठिनाई। उ०—दस्तगीर गाढ़े कइ साथी। जहँ अवगाह दीन्ह तहँ हाथी।—जायसी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भीतर प्रवेश। हलना। (२) जल में हलकर स्नान करना।

अवगाहन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवगाहित] (१) पानी में हलकर स्नान करना। निमज्जन। (२) प्रवेश। पैठ। (३) मथन।

विलोड़न। (४) थहाना। खोज। छान बीन। जैसे,—नगर भर अवगाहन कर डाला, कहीं लड़के का पता न लगा। (५) चित्त धँसाना। लीन होकर विचार करना। जैसे,—खूब अवगाहन करो, तब इस श्लोक का अर्थ खुलेगा।

अवगाहना*–क्रि० अ० [सं० अवगाहन] (१) हलकर नहाना। निमज्जन करना। उ०—जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिनहि देव-सर-सरित सराहहिं।—तुलसी। (२) डूबना। पैठना। धँसना। मग्न होना। उ०—भूप रूप गुन सील सराही। रोवहिं सोक सिंधु अवगाही।—तुलसी।

क्रि० स० (१) थहाना। छानना। छान बीन करना। उ०—(क) सुग्रीव सँघाती मुख दुति राती, केशव साथहि सूर नए। आकाश-विलासी, सूर प्रकासी, तबहीं बानर आय गए। दिसि दिसि अवगाहन, सीतहि चाहन यूथप यूथ सबै पठए।—केशव। (ख) सहज सुगंध शरीर की, दिसि विदिसनि अवगाहि। दूती ज्यों आई लिए, केशव सूपनखाहि।—केशव। (२) विचलित करना। हलचल डालना। मथना। उ०—सुनहु सूत तेहि काल, भरत तनय रिपु मृतक लखि। करि उर कोप कराल, अवगाही सेना सकल।—केशव। (३) चलाना। डुलाना। हिलाना। उ०—छल वंचक हीन चले पथ याहि प्रतीति सुसंबल चाहनो है। तहँ संकट वायु वियोग लुवै दिल को दुख दाव में दाहनो है। नद शोक विषाद सुग्राह प्रसै कर धीरहि ते अवगाहनो है। हित दीन दयाल यहै मृदु है कठिनो अति अंत निबाहनो है।—दीनदयालु। (४) सोचना। विचारना। समझना। उ०—(क) नागरि नागर पंथ निहारे। अंग सिंगार स्याम हित कीने वृथा होन यह चाहत। सूर स्याम आवहिं की नाहीं मन मन यह अवगाहत।—सूर। (ख) चित्र विचित्र देखि सुर ताही। विस्मित मति नहिं सक अवगाही।—केशव। (ग) पच्छिम में याही में बड़ो है राजहंस एक सदा नीर छीर के विवेक अवगाहे ते।—दूलह। (५) धारण करना। ग्रहण करना। उ०—जाही समय जौन ऋतु आवै। तबही ताको गुन अवगाहै।—लाल

अवगाहित–वि [सं०] नहाया हुआ।

अवगुंठन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवगुंठित] (१) ढँकना। छिपाना। (२) रेखा से घेरना। (३) पर्दा। (४) घूँघट। बुर्क़ा।

अवगुंठनवती–वि० स्त्री० [सं०] घूँघटवाली।

अगुंठिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घूँघट। (२) जवनिका। पर्दा। (३) चिक।

अवगुंठित–वि० [सं०] ढँका हुआ। छिपा हुआ।

अवगुंफन–संज्ञा पुं० [सं०] गूँथन। गुहन। ग्रंथन।

अवगुंफित–वि० [सं०] गूँथा हुआ। गुहा हुआ।

अवगुण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दोष। दूषण। ऐब। (२) अपराध। बुराई। खोटाई।

अवग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुकावट। अटकाव। अड़चन। बाधा। (२) वर्षा का अभाव। अनावृष्टि। (३) बाँध। बंद। (४) संधिविच्छेद (व्या०) (५) 'अनुग्रह' का उलटा। (६) गज-समूह। गजयूथ। (७) हाथी का ललाट। हाथी का माथा। (८) स्वभाव। प्रकृति। (९) शाप। कोसना।

अवग्रहण–संज्ञा पुं० [सं०] अनादर। अवमान। अपमान।

अवघट–वि० [सं० अव+घट्ट=घाट] कुघट। अटपट। अड़बड़। विकट। दुर्गम। कठिन। दुर्घट उ०—(क) सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं वर बाटा।—तुलसी। (ख) ऐसो दान न माँगिये जो हम पै दियो न जाय। बन में पाय अकेली युवतिनि मारग रोकत धाय। घाट बाट अवघट यमुना तट बातें कहत बनाय। कोऊ ऐसो दान लेत है कौने सिखै पठाय।—सूर।

अवघात–संज्ञा पुं० [सं०] चोट। ताड़न। घन। प्रहार।

अवचट–संज्ञा पुं० [सं० अव=नहीं+हिं० चट=जल्दी। अथवा, सं० अव=थोड़ा+हिं० चित्त] अनजान। अचक्का। उ०—पानि सरोज सोह जयमाला। अवचट चितये सकल भुआला।—तुलसी।

संज्ञा पुं० कठिनाई। अवघट। अंडस। चपकुलिस। जैसे,—अवचट में पड़कर मनुष्य क्या नहीं करता।

अवचनीय–वि० [सं०] (१) जो कहने योग्य न हो। (२) अश्लील। फूहड़।

अवचय–संज्ञा पुं० [सं०] चुनकर इकट्ठा करना। फूल या फल तोड़कर बटोरना।

अवचूरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] टिप्पणी। टीका।

अवच्छद–संज्ञा पुं० [सं०] ढकना। सरपोश।

अवच्छिन्न–वि० [सं] (१) जिसका किसी अवच्छेदक पदार्थ से अवच्छेद किया गया हो। अलग किया हुआ। पृथक्। (२) विशेषणयुक्त।

अवच्छेद–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवच्छेद्य, अवच्छिन्न] (१) अलगाव। भेद। (२) इयत्ता। हद। सीमा। (३) अवधारण। निश्चय। छान बीन। (४) संगीत में मृदंग के बारह प्रबंधों में से एक प्रबंध। (५) परिच्छेद। विभाग।

अवच्छेदक–वि० [सं०] (१) छेदक। भेदकारी। अलग करनेवाला। (२) इयत्ताकारक। हद बाँधनेवाला। (३) अवधारक। निश्चय करनेवाला।

संज्ञा पुं० विशेषण।

अवच्छेदकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अवच्छेद करने का भाव।

पृथक् करने का धर्म। अलग करने का धर्म (२) हद वा सीमा बाँधने का भाव। परिमिति।

अवच्छेद्य-वि० [सं०] अलगाव के योग्य।

अवच्छेपणी*-संज्ञा पुं० [सं० अवक्षेपणी] दहाना। दाँती। लगाम।

अवछंग*-संज्ञा पुं० दे० "उछंग"।

अवज्ञा*-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवज्ञात, अवज्ञेय] (१) अपमान। अनादर। (२) आज्ञा का उल्लंघन। आज्ञा न मानना। अवहेला। (३) पराजय। हार। (४) वह काव्यालंकार जिसमें एक वस्तु के गुण वा दोष से दूसरी वस्तु का गुण वा दोष न प्राप्त करना दिखलाया जाय। उ०—करि बेदांत विचार हू शठहि विराग न होय। रंचन मृदु मेनाक भो निशि दिन जल में सोय।

अवज्ञात-वि० [सं०] अपमानित। तिरस्कृत।

अवज्ञेय-वि० [सं०] अपमान के योग्य। तिरस्कार के योग्य।

अवट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गड्ढा। कुंड। (२) हाथियों के फँसाने के लिये गड्ढा जिसे तृणादि से आच्छादित कर देते हैं। खाँड़ा। माला। (३) गले के नीचे कंधे और काँख आदि का गड्ढा। (४) एक नरक का नाम।

अवटना-क्रि० स० [सं० आवर्तन, प्रा० आवट्टन] (१) मथना। आलोड़न करना। (२) किसी द्रव पदार्थ को आग पर रखकर चलाकर गाढ़ा करना। उ०—(क) परम-धरम-मय पय दुहि भाई। अवटइ अनल अकाम बनाई।—तुलसी। (ख) कान्ह माखन खाहु हम सब देखैं।......सद्य दधि दूध ल्याईं अवटि अवहिं हम खाहु तुम सकल करि जन्म लेखहिं।—सूर।

मुहा०*-अवटि मरना=भ्रमना। मारे मारे फिरना। चक्कर खाना। दुःख उठाना। उ०—रामचंद्र रघुनायक तुमसों हौं बिनती केहि भाँति करौं। जो आचरण विचारहु मेरो कल्प कोटि लगि अवटि मरौं। तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं।—तुलसी।

अवटीट-वि० [सं०] चिपटी नाकवाला।

अवतंस=संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवतंसित] (१) भूषण। अलंकार। (२) शिरोभूषण। टीका। उ०—पृथक् पृथक् तिन्ह कीन्ह प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्रअवतंसा।—तुलसी। (३) मुकुट। कीट। श्रेष्ठ। उ०—सुनि सनेह साने बचन मुनि रघुबरहि प्रसंस। राम कस न तुम कहहु अस हंस-बंस-अवतंस।—तुलसी। (४) माला। हार। (५) बाली। मुरकी। (६) कर्णपूर। कर्णफूल। (७) भाई का पुत्र। भतीजा। (८) दूल्हा।

अवतंसित-वि० [सं०] भूषित। अलंकृत।

अवतरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उतरना। पार होना। उतार। (२) शरीर धारण करना। जन्म ग्रहण करना। (३) नकल। प्रतिकृति। (५) प्रादुर्भाव। (६) सीढ़ी जिसमे उतरें। घाट की सीढ़ी। (७) घाट।

अवतरणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ग्रंथ की प्रस्तावना। भूमिका। उपोद्घात। अवतरणी। (२) परिपाटी। रीति।

अवतरणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ग्रंथ की प्रस्तावना के लिये भूमिका जो इस अभिप्राय से लिखी जाती है कि विषय की संगति मिल जाय। उपोद्घात (२) परिपाटी। रीति।

अवतरना*-क्रि० अ० [सं० अवतरण] प्रकट होना। उपजना। जन्मना। उ०—(क) जीव रूप एक अंतर बासा। अंतर जोति कीन्ह परगासा। इच्छा रूप नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी।—कबीर। (ख) भय दस मास पूरि भई घरी। पद्मावत कन्या अवतरी।—जायसी। (ग) बहुरि हिमाचल के अवतरी। समयांतर हर बहुरो बरी।—सूर। (घ) जगदंबा जहँ अवतरी सो पुर बरनि कि जाय। रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख नित नूतन अधिकाय।—तुलसी। (च) तिन्ह के घर अवतरिहउँ जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई।—तुलसी। (छ) पावस कठिन जु पीर, अबला क्यों करि सहि रहै। तेऊ धरत न धीर, रक्तबीज सम अवतरे।—बिहारी। (ज) पृथ्वी भार हरन अवतरो। जन के हेतु भेष बहु धरो।—केशव।

अवतार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उतरना। नीचे आना। (२) जन्म। शरीर-ग्रहण। उ०—(क) नव अवतार दीन्ह बिधि आजू। रही छार भइ मानुष साजू।—जायसी। (ख) नाभि कमल नारायण को सो बेद गर्भ अवतार। नाभि कमल महँ बहुतहि नटक्यो तऊ न पायो पार।—सूर। (ग) नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।—तुलसी। (घ) प्रथम दच्छ गृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा।—तुलसी। (३) पुराणों के अनुसार किसी देवता का मनुष्यादि संसारी प्राणियों का शरीर धारण करना। (४) विष्णु का संसार में शरीर धारण करना। पुराणानुसार विष्णु भगवान् के २४ अवतार हैं—ब्रह्मा, वाराह, नारद, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वंतरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, हंस और हयग्रीव। इनमें से १० प्रधान माने जाते हैं; अर्थात् मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि। * (५) सृष्टि। शरीर रचना। उ०—कीन्हेसि धरती सरग पतारू। कीन्हेसि बरन बरन अवतारू।—जायसी।

मुहा०-अवतार लेना=शरीर ग्रहण करना। जन्म लेना। उ०—(क) अंसन सहित मनुज अवतारा। लेइहउँ दिनकर-बंस-उदारा।—तुलसी। (ख) बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार।—तुलसी। अवतार धरना=जन्म ग्रहण करना। उ०—भुव

की रक्षा करन जु कारण धरि वराह अवतार। पीछे कपिल रूप हरि धार्‍यो कीन्हो सांख्य विचार।—सूर।*अवतार करना=शरीर धारण करना। उ०—अरुन असित सित वपु उनहार। करत जगत में तुम अवतार।—सूर।

अवतारण—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अवतारणा] (१) उतारना। नीचे लाना। (२) उतारना। नकल करना (३) उदाहृत करना। उद्धरण।

अवतारना—क्रि० स० [सं० अवतारण] (१) उत्पन्न करना। रचना। उ०—चाँद जैस जग बिधि अवतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उँजियारा।—जायसी। (२) उतारना। जन्म देना। उ०—(क) सिंघलदीप राज घरबारी। महा स्वरूप दई अवतारी।—जायसी। (ख) नामु कहा है तेरो प्यारी। बेटी कौन महर की है तू कहि सु कौन तेरी महतारी। धन्य पिता माता धनि तेरी छबि निरखति हरि की महतारी। धन्य कोख जिन तुमको राख्यो धन्य घरी जिहि तू अवतारी।—सूर।

अवतारी—वि० [सं० अवतार] (१) उतरनेवाला। अवतार ग्रहण करनेवाला। उ०—धनि यशुमति जिन बस किये अविनाशी अवतारि। धनि गोपी जिनके सदन माखन खात मुरारि।—सूर। (२) देवांशधारी। अलौकिक। उ०—तेरो माई गोपाल रण सूरो।......कहत ग्वाल यशुमति धनि मैया बड़ो पूत तैं जायो। यह कोउ आदि-पुरुष अवतारी भाग्य हमारे आयो।—सूर।

संज्ञा पुं० चौबीस मात्राओं का एक छंद जिसके ७५०२५ प्रस्तार हैं। रोला, दिक्पाल, शोभा और लीला आदि इसके भेद हैं।

अवदंस—संज्ञा पुं० [सं० अवदंश] मद्यपान के समय जो कबाब, बड़े आदि खाए जाते हैं। गज़क। चाट।

अवदात—वि० [सं०] (१) शुभ्र। उज्वल। श्वेत। (२)। शुद्ध। स्वच्छ। विमल। निर्मल। (३) शुक्लवर्ग का। गौर। (४) पीत वर्ग का। पीला।

अवदान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रशस्त कर्म। शुद्ध आचरण। अच्छा काम। (२) खंडन। तोड़ना। (३) पराक्रम। शक्ति। बल। (४) अतिक्रम। उल्लंघन। (५) शुद्ध करना। पवित्र करना। साफ़ करना। (६) वीरण मूल। खस। उशीर। गाँडरे की जड़।

अवदान्य—वि० [सं०] (१) पराक्रमी। बली। (२) अतिक्रमणकारी। सीमा का अतिक्रमण करनेवाला। (३) व्यय न करके धन संचय करनेवाला। कंजूस।

अवदारक—वि० [सं०] विदारण करनेवाला। विभाग करनेवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] मिट्टी खोदने के लिये लोहे का एक मोटा डंडा। खंता। रंभा।

अवदारण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विदारण करना। विभाग करना। तोड़ना। फोड़ना। (२) मिट्टी खोदने का औज़ार। रंभा। खंता।

अवदारित—वि० [सं०] विदारण किया हुआ। विदीर्ण। टूटा फूटा।

अवदोह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूध। दुग्ध। (२) दूध दुहना। दोहन।

अवद्य—वि० [सं०] (१) अधम। पापी। (२) गर्हित। निंद्य। त्याज्य। कुत्सित। निकृष्ट।

अवध—संज्ञा पुं० [सं० अयोध्या] (१) कोशल। एक देश जिसकी प्रधान नगरी अयोध्या थी। (२) अयोध्या नगरी।

संज्ञा स्त्री० [सं० अवधि] दे० "अवधि"

वि० [सं० अवध्य] न मारने योग्य।

अवधान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन का योग। चित्त का लगाव। मनोयोग। (२) चित्त की वृत्ति का निरोध करके उसे एक ओर लगाना। समाधि। (३) ध्यान। सावधानी। चौकसी।

*संज्ञा पुं० [सं० आधान] गर्भ। गर्भाधान। पेट। उ०—जस अवधान पूर होय मासू। दिन दिन हिये होय परकासू।—जायसी।

अवधारण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवधारित, अवधारणीय] विचारपूर्वक निर्धारण करना। निश्चय।

अवधारणीय—वि० [सं०] विचारपूर्वक निर्धारण के योग्य। निश्चय योग्य।

अवधारना*—क्रि० स० [सं० अवधारण] धारण करना। ग्रहण करना। उ०—विप्र असीस विनित अवधारा। सुआ जीव नहिं करौं निरारा।—जायसी।

अवधारित—वि० [सं०] निश्चित। निर्धारित।

अवधार्य्य—वि० [सं०] निश्चय करने योग्य। अवधारण करने योग्य।

अवधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीमा। हद। पराकाष्ठा। उ०—जिनहिं बिरचि बड़ भयउ बिधाता। महिमा अवधि रामपितु माता।—तुलसी। (२) निर्धारित समय। मियाद। उ०—(क) रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुर लोग। जहँ तहँ सोचहिं नारि नर कृशतनु रामबियोग।—तुलसी। (ख) रह्यो ऐंच अंत न लह्यो अवधि दुसासन बीर। आली बाढ़त बिरह ज्यों पांचाली को चीर। (ग) हिय औरै सी ह्वै गई टरे अवधि के नाम। दूजै करि डारी खरी बौरी बौरे आम—बिहारी। (३) अंत समय। अंतिम काल। उ०—(क) आजु अवधि सर पहुँचे गए जाउँ मुखरात। बेगि होहु मोहि मारहु जनि चालहु यह बात।—जायसी। (ख) तेरी अवधि कहत सब कोऊ ताते कहियत बात। बिनु विश्वास मारिहै तो को आजु रैन कै प्रात।—सूर।

मुहा०—अवधि बदना=समय नियत करना। अवधि देना। समय निर्धारित करना। उ०—आज बिनु आनंद के मुख तेरो। निसि बसिबे की अवधि बदी मोहिं साँझ गए कहि आवन। सूरश्याम अनतहि कहूँ लुबधे नैन भए दोउ सावन। —सूर।

अव्य० [सं०] तक। पर्यंत। उ०—तोसों हौं फिर फिर हित प्रिय पुनीत सत्य बचन कहत। विधि लगि लघु कोटि अवधि सुख सुखी दुख दहत।—तुलसी।

यौ०—अद्यावधि=अब तक। समुद्रावधि=समुद्र तक।

अवधिज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्रानुसार वह ज्ञान जिसके द्वारा पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, अंधकार और छाया आदि से व्यवहित द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष हो और आत्मा का भी ज्ञान हो। अवधिदर्शन।

अवधिदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्रानुसार पृथ्वी, जल, पवनादि से व्यवहित पदार्थों को यथावत् देखना। अवधिज्ञान।

अवधिमान*-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र उ०—प्राची जाय अथवै प्रतीची कै उदित भानु सानुमान सीस चूमि लेवै भूमि मित को। लाँघि कै अवधि जो पै उमगै अवधिमाल लाँघै यह चाल जो पै कालहू के गत को। नेह दिनकर ते न राखै कोक कोकनद छाड़ि निज लोक ध्रुव चलै जित तित को। बारि बरसाइबे की बानि फिरै बारिद, पै दारिद न घेरै अंबिका के आसरित को।—चरण।

अवधी-वि० [हिं० अवध+ई प्रत्य०] (१) अवध-संबंधी। अवध का। जैसे,—अवधी बोली।

संज्ञा स्त्री० दे० "अवधि"।

अवधीरणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अवधीरित] तिरस्कार। अवज्ञा।

अवधीरित-वि० [सं०] तिरस्कृत। अपमानित।

अवधूत-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अवधूतिन] (१) संन्यासी। साधु। योगी। उ०—यह मूरति यह मुंदरा हम न देख अवधूत। जानहुँ होहिं न योगी कोइ राजा के पूत।—जायसी। (२) साधुओं का एक भेद। उ०—सेवरा खेवरा पारधी सिध साधक अवधूत। आसन मारे बैठ सब पाँच आतमा भूत।—जायसी।

वि० [सं०] (१) कंपित। हिला हुआ। (२) विनष्ट। नाश किया हुआ।

अवधेय- वि० [सं०] (१) ध्यान देने योग्य। विचारणीय। (२) श्रद्धेय। (३) जानने योग्य।

संज्ञा पुं० नाम।

अवध्वंस- संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवध्वस्त] (१) परित्याग। छोड़ना। (२) निंदा। कलंक। (३) चूर चूर करना। चूर्णन। नाश।

अवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रीणन। प्रसन्न करना। (२) रक्षण। बचाव। उ०—दूत राम राय को सपूत पूत पौन को सो अंजनी को नंदन प्रताप भूरि भानु सो। सीय सोच समन दुरित दुख दमन सरन आए अवनु लखन प्रिय प्रान सो।—तुलसी। (३) प्रीति।

* [सं० अवनि] (१) ज़मीन। भूमि। (२) रास्ता। राह। सड़क। उ०—गुरुजन बाहक जदपि पुनि धालक चाबुक सैन। कटै बटे न कढ़े तऊ रूप अवन ह्वै नैन।

अवनत-वि० [सं०] (१) नीचा। झुका हुआ। (२) गिरा हुआ। पतित। अधोगत। (३) कम।

अवनति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घटती। कमी। घाटा। न्यूनता। हानि। (२) अधोगति। हीन दशा। तनज़्ज़ुली। (३) झुकाव। झुकाना। (४) नम्रता।

अवना*-क्रि० अ० [सं० आगमन] आना। उ०—तेहिरे पथ हम चाहहिं गवना। होहु सजोन बहुरि नहिं अवना।—जायसी।

अवनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी। ज़मीन।

यौ०—अवनिध्र=पर्वत। पहाड़। अवनिप=राजा। उ०—अवनिप अकनि रामु पगुधारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे।—तुलसी। अवनिपति=राजा। अवनींद्र=राजा। अवनिसुता =जानकी। अवनितल=पृथ्वी। अवनीश=राजा।

अवनी-संज्ञा स्त्री० दे० "अवनि"।

अवनेजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धोना। प्रक्षालन। (२) श्राद्ध में पिंडदान की वेदी पर बिछाए हुए कुशों पर जल सींचने का संस्कार। (३) भोजन के बाद का आचमन।

अवपाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जो लघुछिद्र योनिवाली और रजस्वला-धर्मरहित स्त्री से मैथुन करने से, हस्त-क्रिया से, लिंगेंद्रिय के बंद मुँह को बलात्कार खोलने से अथवा निकलते हुए वीर्य्य को रोकने से हो जाता है। इस रोग में लिंग को आच्छादित करनेवाला चमड़ा प्रायः फट जाता है।

अवपात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिराव। पतन। अधःपतन। (२) गड्ढा। कुंड। (३) हाथियों के फँसाने के लिये एक गढ़ा जिसे तृणादि से आच्छादित कर देते हैं। खाँड़ा। माला। (४) नाटक में भयादि से भागना, व्याकुल होना आदि दिखलाकर अंक वा गर्भांक की समाप्ति।

अवबाहुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिससे हाथ की गति रुक जाती है। भुजस्तंभ।

अवबोध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जागना। जगना। (२) ज्ञान। बोध।

अवबोधक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अवबोधिका] (१) बंदी। चारण। (२) रात को पहरा देनेवाला पुरुष। चौकीदार। पाहरू। (३) सूर्य।

वि० चेतानेवाला । जनानेवाला ।

अवबोधन–संज्ञा पुं० [सं०] चेतावनी । ज्ञापन ।

अवभास–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवभासक, अवभासित] (१) ज्ञान । प्रकाश । (२) मिथ्या ज्ञान ।

अवभासक–वि० [सं०] बोध करानेवाला । प्रतीत करानेवाला ।

अवभासित–वि० [सं०] लक्षित । प्रतीत ।

अवभासिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] ऊपर के चमड़े का नाम । पहला चमड़ा ।

अवभृथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह शेष कर्म जिसके करने का विधान मुख्य यज्ञ के समाप्त होने पर है । (२) वह स्नान जो यज्ञ के अंत में किया जाय । यज्ञांत स्नान ।

अवमंथ–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें लिंग में बड़ी बड़ी और घनी फुंसियाँ हो जाती हैं । यह रोग रक्त के विकार से होता है और इसमें पीड़ा और रोमांच होता है ।

अवम–वि० [सं०] (१) अधम । अंतिम । (२) रक्षक । रखवाला । (३) नीच । निंदित ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों का एक गण । (२) मल मास । अधिमास ।

अवमत–वि० [सं०] अवज्ञात । अवमानित । तिरस्कृत । निंदित ।

अवमति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अवज्ञा । अपमान । तिरस्कार । निंदा ।

अवम तिथि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह तिथि जिसका क्षय हो गया हो ।

अवमर्द (ग्रहण)–संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहण का एक भेद । वह ग्रहण जिसमें राहु सूर्यमंडल वा चंद्रमंडल को पूर्णता से ढककर अधिक काल तक ग्रसे रहे ।

अवमर्दन–संज्ञा पुं० [सं०] पीड़ा देना । दुःख देना । दलन ।

अवमान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवमानित] तिरस्कार । अपमान । अनादर ।

अवमानना–संज्ञा स्त्री० दे० "अवमान" ।

अवयव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंश । भाग । हिस्सा । (२) शरीर का एक देश । अंग । (३) न्यायशास्त्रानुसार वाक्य का एक अंश वा भेद । ये पाँच हैं—१ प्रतिज्ञा, २ हेतु, ३ उदाहरण ४ उपनयन, और ५ निगमन । किसी किसी के मत से यह दस प्रकार का है—१ प्रतिज्ञा, २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनयन ५ निगमन, ६ जिज्ञासा, ७ संशय, ८ शक्यप्राप्ति, ९ प्रयोजन और १० संशयव्युदास ।

यौ०—अवयवभूत ।

अवयवी–वि० [सं०] (१) जिसके और बहुत से अवयव हों । अंगी । (२) कुल । संपूर्ण । समष्टि । समूचा ।

पुं० (१) वह वस्तु जिसके बहुत से अवयव हों । (२) देह । शरीर ।

अवर *–वि० [सं०] (१) अन्य । दूसरा । और । उ०—गम दुर्गम गढ़ देहु छुड़ाई । अवरो बात सुनो कछु आई ।—कबीर । (२) अश्रेष्ठ । अधम । नीच । (३) हाथी की जाँघ का पिछला भाग ।

वि० [सं० अ+बल] निर्बल । बलहीन ।

अवरक्षक–वि० [सं०] पालक । रक्षक ।

अवरज–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अवरजा] (१) छोटा भाई । (२) नीच कुलोत्पन्न । नीच ।

अवरण*–संज्ञा पुं० (१) दे० "अवर्ण" । (२) दे० "आवरण" ।

अवरत–वि० [सं०] (१) जो रत न हो । विरत । निवृत्त । (२) ठहरा हुआ । स्थिर । (३) अलग । पृथक् ।

* संज्ञा पुं० दे० "आवर्त्त" ।

अवरति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विराम । (२) निवृत्ति । छुटकारा ।

अवरव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) आक । मंदार ।

वि० हीनव्रत । अधम ।

अवराधक–वि० [सं० आराधक] आराधना करनेवाला । पूजनेवाला । सेवक । उ०—ए सब राम भगति के बाधक । कहहिं संत तवपद अवराधक ।—तुलसी ।

अवराधन–संज्ञा पुं० [सं० आराधन] आराधन । उपासना । पूजा । सेवा । उ०—अवसि होइ सिधि साहस फलइ सुसाधन । कोटि कलप तरु सरिस संभु अवराधन ।—तुलसी ।

अवराधना*–क्रि० स० [सं० आराधन] उपासना करना । पूजना । सेवा करना । उ०—(क) केहि अवराधहु का तुम चहहू । हम सन सत्य मरम किन कहहू ।—तुलसी । (ख) हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो । हरि चरणारविंद उर धरो । लै चरणोदक निज व्रत साधो । ऐसी विधि हरि को अवराधो ।—सूर ।

अवराधी*–वि० [सं० आराधन] आराधना करनेवाला । उपासक । पूजक । उ०—कहँ बैठि प्रभु साधि समाधी । आजु होब हम हरि अवराधी ।—रघुराज ।

अवरुद्ध–वि० [सं०] (१) रुँधा हुआ । रुका हुआ । (२) आच्छादित । गुप्त । छिपा ।

अवरुद्धा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपने वर्ण की वह दासी वा स्त्री जिसे कोई अपने घर में डाल ले । रखनी । सुरैतिन । (२) वह स्त्री जिसे कोई रख ले । उढरी । रखुई । रखनी ।

अवरूढ़–वि० [सं०] ऊपर से नीचे आया हुआ । उतरा हुआ । 'आरूढ़' का उलटा ।

अवरेखना–क्रि० स० [सं० अवलेखन] (१) उरेहना । लिखना । चित्रित करना । उ०—(क) ग्वालिन श्याम तनु देखरी, आपु तन देखिये । भीत जब होय तब चित्र अवरेखिये ।—सूर । (ख) सखि रघुबीर मुख छबि देखु । चित्त भीत सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु ।—तुलसी । (ग) जाय समीप

राम छवि देखी । रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी ।—तुलसी। (२) देखना । उ०—ऐसे कहत गए अपने पुर सबहिं बिलक्षण देख्यो । मणिमय महल फटिक गोपुर लखि कनक भूमि अवरेख्यो ।—सूर । (ख) फिरत प्रभु पूछत बन द्रुम बेली । अहो बंधु काहू अवरेखी एहि मृग बधू अकेली ।—सूर । (३) अनुमान करना । कल्पना करना । सोचना । उ०—एकै कहै सुखमा लहरें, मन के चढ़िबे की सिढ़ी एक पेखें । कान्ह को टोनो कह्यो कछु काम कवीश्वर एक यहै अवरेखें । राधिका ऐसी की त्रिबली को बनाव बिचारि यहै हम लेखें । ऐसी न और, न और, न और, है तीनि खिंचाय दई विधि रेखें ।—केशव । (४) मानना । जानना । उ०—पियवा आय दुअरवा उठ किन देखु । दुरलभ पाय विदेसिया मुद अवरेखु ।—रहीम ।

अवरेब—संज्ञा पुं० [सं० अव=विरुद्ध+रेव=गति] (१) वक्र गति । तिरछी चाल । (२) कपड़े की तिरछी काट ।

यौ०—अवरेबदार=तिरछी काट का ।

(३) पेच । उलझन । उ०—प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब । सो सिर धरि धरि करिहि सब मिटहि अनट अवरेब ।—तुलसी । (४) बिगाड़ । खराबी । उ०—(क) ऋषि नृपसीस ठगौरी सी डारी । कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेबनि सकल सुधारी ।—तुलसी । (ख) रामकृपा अवरेब सुधारी । बिबुध धारि भइ गुनद गुहारी ।—तुलसी । (५) झगड़ा । विवाद । खींचा तानी । उ०—राक्षस सुन तो यह कही कन्या को हम लेब । बिप्र कहै दे मित्र मोहिं परी दुहुन अवरेब । (६) वक्रोक्ति । काकूक्ति । उ०—धुनि अवरेब कवित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ।—तुलसी ।

अवरोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुकावट । अटकाव । अड़चन । रोक । (२) छेकना । घेर लेना । मुहासिरा । (३) निरोध । बंद करना । (४) अनुरोध । दबाव । (५) अंतःपुर ।

क्रि० प्र०—करना ।

अवरोधक—वि० [सं०] रोकनेवाला ।

अवरोधन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवरोधक, अवरोधित, अवरोधी, अवरोध, अवरुद्ध] (१) रोकना । छेकना । (२) अंतःपुर । ज़नाना ।

अवरोधना*—क्रि० स० [सं० अवरोधन] [वि० अवरोधक] रोकना । निषेध करना । उ०—यह बिधि विषय भेद अवरोधा । नहिं कछु श्रुति प्रत्यक्ष विरोधा ।—शं० दि० ।

अवरोधित—वि० [सं०] रोका हुआ । रुका ।

अवरोधी—वि० पुं० [सं० अवरोध] [स्त्री० अवरोधिनी] अवरोध करनेवाला । रोकनेवाला ।

अवरोपण—संज्ञा पुं० [वि० अवरोपित, अवरोपणीय] उखाड़ना । उत्पाटन ।

अवरोपणीय—वि० [सं०] उखाड़ने योग्य ।

अवरोपित—वि० [सं०] उखाड़ा हुआ । उन्मूलित ।

अवरोह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उतार । गिराव । अधःपतन । (२) अवनति । अवसर्पण । विवर्त्त । (३) एक अलंकार जो वर्द्धमान अलंकार का उलटा है । इसमें किसी वस्तु के रूप तथा गुण का क्रमशः अधःपतन दिखाया जाता है; जैसे—सिंधू सर पल्लव पुष्करणिय । कुंड वापिका कूप जु वरणिय । चुलुक रूप भो जिंह कर भीतर । पान करत जय जय वह मुनिवर । (४) बररोह ।

अवरोहक—वि० [सं०] (१) गिरनेवाला । (२) अवनति करनेवाला ।

अवरोहण—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवरोहक, अवरोहित, अवरोही] नीचे की ओर जाना । पतन । उतार । गिराव ।

अवरोहना*—क्रि० अ० [सं० अवरोहण] उतरना । नीचे आना । क्रि० अ० [सं० आरोहण] चढ़ना । ऊपर जाना । उ०—(क) कहँ सिव चाँप लरिकवनि बूझत बिहँसि चितै तिरछौहैं । तुलसी गलिन भीर दरसन लगि लोग अटनि अवरोहैं ।—तुलसी । (ख) जोबन व्याध नहीं अरु बैननि मोहिनी मंत्र नहीं अवरोह्यो ।—देव ।

* क्रि० स० [हिं० उरेहना] खींचना । अंकित करना । चित्रित करना । उ०—गोरे गात, पातरी, न लोचन समात मुख उर उरजातन की बात अवरोहिये ।—केशव ।

* क्रि० स० [सं० अवरोधन, प्रा० अवरोहन] रोकना । रूँधना । छेंकना । उ०—मत अद्वैत राजपथ सोहा । जहाँ भेद कंटक अवरोहा ।—शं० दि० ।

अवरोहित—वि० [सं०] (१) गिरनेवाला । (२) अवनत । हीन ।

अवरोही (स्वर)—संज्ञा पुं० [सं० अवरोहिन्] (१) वह स्वर जिसमें पहले षड्ज का उच्चारण हो, फिर निषाद से षड्ज तक क्रमानुसार उतरते हुए स्वर निकलते जायँ । सा, नि, ध, प, म, ग, रि, सा का क्रम । विलोम । आरोही स्वर का उलटा । (२) वटवृक्ष ।

अवर्ण—वि० [सं०] (१) वर्णरहित । बिना रंग का । (२) बदरंग । बुरे रंग का । (३) जो ब्राह्मण आदि के धर्म से शून्य हो । वर्ण-धर्म-रहित ।

संज्ञा पुं० [सं०] अकार अक्षर ।

अवर्ण्य—वि० [सं०] जो वर्णन के योग्य न हो ।

संज्ञा पुं० [सं० अ०+वर्ण्य] जो वर्ण्य वा उपमेय न हो । उपमान । उ०—है उपमेय विषय अरु वर्ण्य । उपमानतु विषयी रु अवर्ण्य ।—मतिराम ।

अवर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] स्फूर्त्तिशून्य पदार्थ । वह पदार्थ जिसके आर पार प्रकाश वा दृष्टि न जा सके ।

* [सं० आवर्त्त] (१) भँवर । नाँद । उ०—कादर भयंकर

रुधिर सरिता चली परम अपावनी। दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अवर्त्त बहति भयावनी।—तुलसी।

*(२) घुमाव। चक्कर। उ०—विषम विषाद तोरावत धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त्त अपारा।—तुलसी।

अवर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] जीविका का अभाव। जीविका की अनुपलब्धि।

* संज्ञा पुं० दे० "आवर्त्तन"।

अवर्त्तमान-वि० [सं०] जो वर्त्तमान न हो। अनुपस्थित। अप्रस्तुत। (२) असत्। अभाव। (३) भूत वा भविष्य।

अवर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] वृष्टि का अभाव। वर्षा का अभाव। वर्षा का न होना। अवग्रह। अनावृष्टि।

अवलंघना-क्रि० स० [सं० अव+लंघना] लाँघना। फाँदना। उ०—कहो कपि कैसे उतर्‌यो पार। दुस्तर अति गंभीर वारिनिधि शत योजन विस्तार। राम प्रताप सत्य सीता को यहै नाउ कंधार। बिन अधार छन में अवलंघ्यो आवत भई न बार।—सूर।

अवलंब-संज्ञा पुं० [सं०] आश्रय। आधार। सहारा।

अवलंबन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवलंबित, अवलंबी] (१) आश्रय। आधार। सहारा। उ०—नहिं कलि करम न भगति विवेकू। राम नाम अवलंबन एकू।—तुलसी। (२) धारण। ग्रहण।

क्रि० प्र०—करना=धारण करना। ग्रहण करना। अनुसरण करना। जैसे,—यह सुन उसने मौनावलंबन किया।

अवलंबना*-क्रि० स० [सं० अवलंबन] अवलंबन करना। आश्रय। लेना। टिकना। उ०—जिनहि अतन अवलंबई सो आलंबन जान। जिन तें दीपित होत है ते उद्दीप बखान।—केशव।

अवलंबित-वि० [सं०] (१) आश्रित। सहारे पर स्थित। टिका हुआ। उ०—हमारे श्याम लाल हो। नैन विशाल हो मोही तेरी चाल हो। चरण कमल अवलंबित राजित बनमाल। प्रफुल्लित ह्वै ह्वै लता मनो चढ़ी तरु तमाल।—सूर। (२) निर्भर। जैसे,—इसका पूरा होना द्रव्य पर अवलंबित है।

अवलंबी-वि० पुं० [सं० अवलंबिन्] [स्त्री० अवलंबिनी] (१) अवलंबन करनेवाला। सहारा लेनेवाला। (२) सहारा देनेवाला। पालनेवाला।

अवलग्न-वि० [सं०] लगा हुआ। मिला हुआ। संबंध रखनेवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] शरीर का मध्य भाग। धड़। माझा।

अवलिप्त-वि० [सं०] (१) लगा हुआ। पोता हुआ। (२) सना हुआ। आसक्त। (३) घमंडी। गर्वित।

अवली*-संज्ञा स्त्री० [सं० आवलि] (१) पंक्ति। पाँती। उ०—भाल विशाल तिलक झलकाहीं। कच विलोकि अलि अवलि लजाहीं।—तुलसी। (२) समूह। झुंड। उ०—मन रंजन खंजन की अवली नित आँगन आय न डोलती है।—केशव। (३) वह अन्न की डाँठ जो नवान्न करने के लिये खेत मे पहले पहले काटी जाती है। (४) रोआँ वा ऊन जो गड़रिया एक बार भेड़ पर से काटता है।

अवलीक-वि० [सं० अव्यलीक] अपराधशून्य। पापशून्य। निष्पाप। निष्कलंक। शुद्ध। उ०—जावो वाल्मीकि घर बड़ो अवलीक साधु कियो अपराध दियो जो बताइये।—प्रिया।

अवलीढ़-वि० [सं०] (१) भक्षित। खाया हुआ। (२) चाटा हुआ।

अवलुंचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छेदना। काटना। (२) उखाड़ना। नोचना। (३) दूर करना। हटाना। अपनयन। (४) खोलना।

अवलुंचित-वि० [सं०] (१) कटा हुआ। छेदित। (२) उखाड़ा हुआ। नोचा हुआ। (३) दूरीकृत। हटाया हुआ। अपनीत (४) खुला या खोला हुआ। मुक्त।

अवलुंठन-संज्ञा पुं० [सं०] लोटना।

अवलेखना-क्रि० स० [सं० अवलेखन] (१) खोदना। खुरचना। (२) चिह्न डालना। लकीर खींचना। उ०—जो पै प्रभु करुणा के आलय। तौ कत कठिन कठोर होत मन मोहि बहुत दुख सालय। बड़ो विरद की लाज दीनपति करि सुदृष्टि मोहिं देखो। मोसों बात कहत किन सन्मुख काहे अवनि अवलेखो। निगम कहत वश होत भक्ति ते सोऊ है उन कीन्ही। सूर उसाँस छाड़ि हा हा व्रज जल अँखियाँ अवलेखो।—सूर

अवलेप-संज्ञा पु० [सं० अवलेपन] (१) उबटन। लेप। उ०—अहो राजित राजिवनयन मोहन छवि उरग लता रँगलाल।..... कुच कुंकुम अवलेप तरुनि किए सोभित श्यामल गात। गत पतंग राका शशि बिय संग घटा सघन सोभात।—सूर। (२) घमंड। गर्व।

यौ०—बलावलेप=बल का गर्व।

अवलेपन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लगाना। पोतना। छोपना। (२) वह वस्तु जो लगाई वा छोपी जाय। लेप। उबटन। (३) घमंड। अभिमान। अहंकार। (४) दूषण।

अवलेह-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवलेह्य] (१) लेई जो न अधिक गाढ़ी और न अधिक पतली हो और चाटी जाय। चटनी। माजून। (वैद्यक) (२) औषध जो चाटा जाय।

अवलेहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीभ की नोक लगाकर खाना। चाटना। (२) चटनी।

अवलेह्य-वि० [सं०] चाटने योग्य।

अवलोकन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवलोकित, अवलोकनीय] (१) देखना। उ०—देव कहैं अपनी अपनी अवलोकन

तीरथराज चलो रे।—तुलसी। (२) देख भाल। जाँच पड़ताल। निरीक्षण।

अवलोकना*–क्रि० स० [सं० अवलोकन] (१) देखना। उ०—गिरा अलिन मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निशा अवलोकी।—तुलसी। (२) जाँचना। अनुसंधान करना।

अवलोकनि*–संज्ञा स्त्री० [सं० अवलोकन] (१) आँख। दृष्टि। चितवन। उ०—अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परस्पर हास। भायप भलि चहुँ बंधु की जलमाधुरी सुबास।—तुलसी।

अवलोकनीय–वि० [सं०] देखने योग्य। दर्शनीय।

अलोकित–वि० [सं० आलोचन] देखा हुआ।

अवलोचना*–क्रि० स० [सं० आलोचन] दूर करना। उ०—सोचै अनागम कारण कंत को मोचै उसासन आँसु हू मोचै। मोचै न हेरि हरा हिय को पद्माकर मोचि सकै न सकोचै। कोचै तकै इह चाँदनी ते अलि, याहि निबाहि व्यथा अवलोचै। लोच परी सियरी पर्य्यंक पै बीती परी न खरी खरी सोचै।—पद्माकर।

अववाद–संज्ञा पुं० दे० "अपवाद"।

अवश–वि० [सं०] विवश। परवश। लाचार।

अवशिष्ट–वि० [सं०] बचा हुआ। शेष। बाक़ी। बचा-खुचा। बचा-बचाया।

अवशेष–वि० [सं०] (१) बचा हुआ। शेष। बाक़ी। उ०—चोर चला चोरी करन किये साहु का भेष। गल्ले सब जग मूसिया चोर रहा अवशेष।—कबीर—(२) समाप्त।

संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवशेष, अवशिष्ट] (१) बची हुई वस्तु। (२) अंत। समाप्ति।

अवशेषित–वि० [सं०] बचा हुआ। अवशिष्ट। उ०—रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिय न ताहु। अजहुँ देत दुख रवि ससिहिं सिर अवशेषित राहु।—तुलसी।

अवश्यंभावी–वि० [सं० अवश्यंभाविन्] जो अवश्य हो, टले नहीं। अटल। ध्रुव।

अवश्य–क्रि० वि० [सं०] निश्चय करके। निस्संदेह। ज़रूर।

वि० [सं०] [स्त्री० अवश्या] (१) जो वश में न आ सके। दुर्दान्त। (२) जो वश में न हो। अनायत्त।

अवश्यमेव–क्रि० वि० [सं०] अवश्य। निःसंदेह। ज़रूर।

अवश्याय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिम। तुषार। पाला। (२) झींसी। झड़ी। (३) अभिमान।

अवश्रयण–संज्ञा पुं० [सं०] चूल्हे पर से पके हुए खाने को उतारकर नीचे रखना।

अवष्टंभ–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवष्टब्ध] (१) सहारा। आश्रय। (२) खंभा। थाम। (३) सोना। (४) अनम्रता।

अवष्टब्ध–वि० [सं०] जिसे सहारा मिला हो। आश्रित।

अवसंडीन–संज्ञा पुं० [सं०] पक्षियों के नीचे उतरने की गति।

अवस–क्रि० वि० दे० "अवश्य"।

अवसक्त–वि० पुं० [सं०] लगा हुआ। संसृष्ट। संलग्न।

अवसक्थिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अरदावन। उंचन। अदवाइन। अदवान। (२) एक मुद्रा जिसमें उकडूँ बैठकर एक कपड़े को पीठ पर से ले जाकर आगे घुटनों को लेकर बाँधते हैं। प्रौढ़पाद। पर्य्यंकबंध।

अवसथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वास-स्थान। ठौर। गाँव। (२) घर। (३) मठ जिसमें विद्यार्थी रहें। बोर्डिंग हौस।

अवसथ्य–संज्ञा पुं० दे० "अवसथ"।

अवसन्न–वि० [सं०] (१) विषाद-प्राप्त। विसन्न। (२) विनाशोन्मुख। नष्ट होनेवाला। (३) सुस्त। आलसी। स्वकार्याक्षम।

अवसर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समय। काल। (३) अवकाश। फ़ुरसत। (३) इत्तिफ़ाक़।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—पाना।—बीतना।—मिलना।

मुहा०—अवसर चूकना=मौक़ा हाथ से जाने देना। उ०—अवसर चूकी डोमिनी गावै ताल बेताल। अवसर ताकना=उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करना। मौक़ा ढूँढ़ना। अवसर मारा जाना=मौक़ा हाथ से निकल जाना। समय बीत जाना। उ०—संसारी समय विचारिया क्या गिरही क्या योग। औसर मारा जात है चेतु बिराने लोग।—कबीर।

(४) एक काव्यालंकार जिसमें किसी घटना का ठीक अपेक्षित समय पर घटित होना वर्णन किया जाय। उ०—प्रान जो तजैंगी बिरहाग में मयंकमुखी, प्रानघाती पापी कौन फूली ये जुही जुही। जौ लौं परदेसी मनभावन विचार कीन्हों तौ लौं तूही प्रकट पुकारी है तुही तुही।—चिंतामणि।

अवसरवाद–संज्ञा पुं० [सं०] एक पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धांत जिसके अनुसार ईश्वर ही वास्तव में कर्त्ता और ज्ञाता है और जीव काल्पनिक मात्र कर्त्ता और ज्ञाता है। इस सिद्धांत के अनुसार जब जब शरीर पर असर होने से आत्मा को संवेदन या सुख दुःख होते हैं और जब जब आत्मा की कृति-शक्ति से शरीर हिलता चलता है, तब तब आत्मा और शरीर के बीच में पड़कर ईश्वर कार्य्य करता है। संवेदन का शरीर और शारीरिक गति का आत्मा केवल समय समय पर सहकारी कारण है, वस्तुतः इस संवेदन और गति दोनों ही का कारण ईश्वर है। यह सिद्धांत मेलब्रांश और ज्यूलोक का है जिनमें मेलब्रांश ईश्वर को ज्ञाता और ज्यूलोक कर्त्ता मात्र मानता है।

अवसर्पण–संज्ञा पुं० [सं०] अधोगमन। अधःपतन। अवरोहण। विवर्त्तन।

अवसर्पिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन शास्त्रानुसार गिराव का समय जिसमें रूपादि का क्रमशः ह्रास होता है। इसके छः विभाग

हैं जिनको 'आरा' कहते हैं। अवरोह। विवर्त।

अवसर्पी-वि० [सं० अवसर्पिन्] [स्त्री० अवसर्पिणी] नीचे जानेवाला। गिरनेवाला।

अवसाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश। क्षय। (२) विषाद। (३) दीनता। (४) थकावट। (५) कमज़ोरी।

अवसादन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश। क्षय। ध्वंस। (२) विनाशन। (३) विरक्त होना। (४) दीन होना। (५) थकना। (६) वैद्यक में व्रण चिकित्सा का एक भेद। मरहम पट्टी।

अवसान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विराम। ठहराव। (२) समाप्ति। अंत। (३) सीमा। (४) सायंकाल। (५) मरण

अवसायिता-संज्ञा स्त्री० [सं० अवसित-ऋद्ध] ऋद्धि।—डिं०।

अवसि*-क्रि० वि० दे० "अवश्य"।

अवसित-वि० [सं०] (१) समाप्त। (२) ऋद्ध। बढ़ा हुआ। (३) परिपक्व। (४) निश्चित। (५) संबद्ध।

अवसी-संज्ञा स्त्री० [सं० आवसित, प्रा० आवसिअ=पका धान्य] वह धान्य वा शस्य जो कच्चा नवान्न आदि के लिए काटा जाय। अवली। अरवन। गदर।

अवसृष्ट-वि० [सं०] [स्त्री० अवसृष्टा] (१) त्यागा हुआ। त्यक्त। (२) निकाला हुआ। (३) दिया हुआ। दत्त।

अवसेख-वि० दे० "अवशेष"।

अवसेचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सींचना। पानी देना। (२) पसीजना। पसीना निकलना। (३) वह क्रिया जिसके द्वारा रोगी के शरीर मे पसीना निकाला जाय। (४) जोंक, सींगी, तूँबी या फ़स्द देकर रक्त निकालना।

अवसेर-संज्ञा स्त्री० [सं० अवसेरु=बाधक] (१) अटकाव। उलझन उ०—भयो मो मन माधव को अवसेर। मौन धरे मुख चितवत ठाढ़ी ज्वाब न आवै फेर। तब अकुलाय चली उठि बन को बोले सुनत न टेर।—सूर। (२) देर। विलंब। उ०—महरि पुकारत कुँअर कन्हाई। माखन धर्‍यो तिहारे कारन आजु कहाँ अवसेर लगाई।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—लगना।—लगाना।—होना।

(३) चिंता। व्यग्रता। उचाट। उ०—(क) भए बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीत भेट प्रिय केरी।—तुलसी। (ख) आजु कौन धौं कहाँ चरावत गाय कहाँ भई अबेर। बैठे कहाँ सुधि लेहु कौन विधि ग्वारि करत अवसेर।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—लगना। उ०—(क) दूती मन अवसेर करै। श्याम मनावन मोहि पठाई यह कतहूँ चितवै न टरै।—तब कहि उठी मान बहु कीन्हो बहुत करी हरि कहो करै। सूर। (ख) अब ते नयन गए मोहि त्यागि। इंद्री गई गयो तन ते मन उनहि बिना अवसेरी लागि—सूर।

(४) हैरानी। बेचैनी। उ०—दिन दस घोष चलहु गोपाल। गाइन के अवसेर मिटावहु लेहु आपने ग्वाल। नाचत नहीं मोर वन दिन ते बोल न वर्षा काल।—सूर।

क्रि० प्र०—करना=दुःख देना।—मिटाना।—में पड़ना=दुःख में फँसना।—में फँसना=दुःख में पड़ना। अवसेरन मरना=दुःख से तंग आना।

अवसेरना*-क्रि० स० [हिं० अवसेर] तंग करना। दुःख देना। उ०—पिय पागे परोसिन के रस में बस में न कहूँ बस मेरे रहैं। पद्माकर पाहुनी सी ननदी निस नींद तजे अवसेरे रहैं।—पद्माकर।

अवस्कंद-संज्ञा पुं० [सं०] सेना के ठहरने की जगह। शिविर। डेरा। (२) जनवासा।

अवस्कर-संज्ञा पुं० [सं०] मलमूत्र।

अवस्तु-वि० [सं०] (१) जो कोई वस्तु न हो। शून्य। (२) तुच्छ। हीन।

अवस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दशा। हालत। (२) समय। काल। (३) आयु। उम्र। (४) स्थिति। (५) वेदांत-दर्शन के अनुसार मनुष्य की चार अवस्थाएँ होती हैं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। (६) स्मृति के अनुसार मनुष्य-जीवन की आठ अवस्थाएँ हैं—कौमार, पौगंड, कैशोर, यौवन, बाल, तरुण, वृद्ध और वर्षीयान। (७) सांख्य के अनुसार पदार्थों की तीन अवस्थाएँ हैं—अनागतावस्था, व्यक्ताभिव्यक्तावस्था और तिरोभाव। (८) निरुक्त के अनुसार छः प्रकार की अवस्थाएँ हैं—जन्म, स्थिति, वर्द्धन, विपरिणमन, अपक्षय और नाश। (९) कामशास्त्रानुसार दस अवस्थाएँ हैं—अभिलाषा, चिंता, स्मृत, गुणकथन, उद्वेग, संलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। (१०) जैन शास्त्रानुसार लाभ की प्राप्ति के पूर्व की स्थिति। यह पाँच प्रकार की है—व्यक्त, अव्यक्त, जप, आदान और निष्ठा।

यौ०—अवस्थांतर=एक अवस्था से दूसरी अवस्था को पहुँचना। हालत का बदलना। दशापरिवर्त्तन।

अवस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थिति। सत्ता। (२) स्थान। जगह। वास।

अवस्थापन-संज्ञा पुं० [सं०] निवेशन। रखना। स्थापन करना।

अवस्थित-वि० [सं०] उपस्थित। विद्यमान। मौजूद।

अवस्थिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वर्त्तमानता। स्थिति। सत्ता।

अवस्यंदन-संज्ञा पुं० [सं०] टपकना। चूना। गिरना।

अवह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दिशा जिसमें नदी-नाले न हों। (२) वह वायु जो आकाश के तृतीय स्कंध पर है। ईथर।

अवहस्त-संज्ञा पुं० [सं०] हाथ या गदेली का पृष्ठ भाग। उलटा हाथ।

अवहार, अवहारक–संज्ञा पुं० [सं०] जलहस्ति । सूँस ।

अवहित–वि० [सं०] सावधान । एकाग्रचित्त ।

अवहित्था–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का भाव जब कोई भय, गौरव, लज्जादि के कारण हर्षादि को चतुराई से छिपावे । यह संचारी वा व्यभिचारी भाव में गिना जाता है । आकार गुप्ति । उ०—ज्यों ज्यों चवाव चलै चहुँ ओर, धरैं चित चाव ये त्योंही त्यों चोखे । कोऊ सिखावनहार नहीं बिनु लाज भए बिगरैल अनोखे । गोकुल गाँव को एती अनीति कहाँ ते दई धौं दई अनजोखे । देखती हौं मोहिं साँझ गली में गही इन आइ धौं कौन के धोखे ।

अवही–संज्ञा पुं० [सं० अवह–बिना पानी का देश] एक प्रकार का बबूल जो काँगड़े के ज़िले में होता है । इसकी लपेट आठ फ़ीट की होती है । यह मैदानों में पैदा होता है और इसकी लकड़ी खेती के औज़ार बनाने तथा छतों के तख़्तों में काम आती है ।

अवहेलन–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अवहेलना । [वि० अवहेलित] (१) अवज्ञा । अपमान । (२) आज्ञा न मानना ।

अवहेलना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अवज्ञा । अपमान । तिरस्कार । (२) ध्यान न देना । बेपरवाही ।

*क्रि० स० [सं० अवहेलन] तिरस्कार करना । अवज्ञा करना । उ०—न सब अवहेलिय । रन मद झेलिय ।—सूदन ।

अवहेलित–वि० [सं०] जिसकी अवहेला हुई हो । तिरस्कृत ।

अवाँ–संज्ञा पुं० दे० "आवाँ" ।

अवांतर–वि० [सं०] अंतर्गत । मध्यवर्ती । बीच का ।

संज्ञा पुं० [सं०] मध्य । भीतर । बीच ।

यौ०—अवांतर दिशा=बीच की दिशा । विदिशा । अवांतर भेद=अंतर्गत भेद । भाग का भाग ।

अवाँसी–संज्ञा स्त्री० [सं० अवासित] वह बोझ जो फ़सल में से पहले पहल काटा जाय । यह नवान्न के लिए काम में आता है । अखान । दद्री । कवल । अवली ।

अवाई–संज्ञा स्त्री० [सं० आयन=आगमन] (१) आगमन । उ०—इहाँ राज अस साज बनाई । उहाँ शाह की भई अवाई ।—जायसी । (२) गहरा जोतना । गहरी जोताई । 'सेव' का उलटा ।

अवाक्–वि० [सं० अवाच्] (१) चुप । मौन । चुपचाप । (२) स्तब्ध । जड़ । स्तंभित । चकित । विस्मित ।

क्रि० प्र०—रहना ।—होना ।

यौ०—अवाङ्मनसगोचर=जिसका न वर्णन हो सके और न चिन्तन । वाणी और मन के परे, जैसे ईश्वर ।

अवाक्पुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह पौधा जिसके फूल अधोमुख हों । (२) सौंफ । (३) सोया ।

अवाक् संदेस–संज्ञा पुं० [बंग० देश०] एक प्रकार की बँगला मिठाई ।

अवागी*–वि० [सं० अवाग्विन्=अपटु] मौन । चुप ।

अवाङ्नरक–संज्ञा पुं० [सं०] जिह्वा छेदन का दुःख । जिह्वा काटने का दंड । ज़बान काटने की सज़ा ।

अवाङ्मुख–वि० [सं०] (१) अधोमुख । उलटा । नीचे मुँह का । (२) लज्जित ।

अवाची–संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण दिशा ।

अवाचीन–वि० [सं०] (१) अधोमुख । मुँह लटकाए हुए । (२) लज्जित ।

अवाच्य–वि० [सं०] (१) जो कहने योग्य न हो । अनिंदित । विशुद्ध । (२) जिससे बात करना उचित न हो । नीच । निंदित ।

संज्ञा पुं० [सं०] कुवाच्य । बुरी बात । गाली ।

अवाज़*–संज्ञा स्त्री० [फा० आवाज़] ध्वनि । शब्द । उ०—कीजे प्रभु अपने विरद की लाज । महा पतित कबहूँ नहिं आयो नेकु तुम्हारे काज ।.........कहियत पतित बहुत तुम तारे श्रवणन सुनी अवाज । दई न जात खार उतराई चाहत चढ़न जहाज ।—सूर ।

अवाजी*– वि० [फा० आवाज़] शब्द करनेवाला । चिल्लानेवाला । उ०—यदपि अवाजी परम तदपि बाजी सो छाजत ।—गोपाल ।

अवात–वि० [सं०] वातशून्य । जहाँ वायु न लगे । निर्वात ।

अवादा*–संज्ञा पुं० दे० "वादा" ।

अवाप्त–वि० [सं०] प्राप्त । लब्ध ।

अवाय*–वि० [सं० अवार्य] अवार्य्य । अनिवार्य्य । उच्छृंखल । उद्धत । उ०—दीनदयाल पतित पावन प्रभु विरद भुलावत कैसे । कहा भयो गज गनिका तारी जो जन तारौ ऐसे । ......अकरम अबुध अज्ञान अवाया अनमारग अनरीति । जाको नाम लेत अघ उपजै सो मैं करी अनीति ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं०] हाथ में पहनने का भूषण । कड़ा ।—डिं० ।

अवार–संज्ञा पुं० [सं०] नदी के इस पार का किनारा । सामने का किनारा । 'पार' का उलटा ।

अवारजा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह बही जिसमें प्रत्येक असामी की जोत आदि लिखी जाती है । (२) जमा-ख़र्च की बही । (३) वह बही जिसमें याद्दाश्त के लिए नोट किया जाय । (४) संक्षिप्त वृत्तांत । गोशवारा । खतियौनी । संक्षिप्त लेखा । उ०—साँचो सो लिखधार कहावै । काया ग्राम मसाहत करिकै जमाबंधि ठहरावै ।...करि अवारजा प्रेम प्रीति को असल तहाँ खतियावै । दूजी करे दूरि करि दाई तनक न तामें आवै ।—सूर ।

अवारण-वि० [सं०] (१) जिसका निषेध न हो सके। सुनिश्चित। (२) जिसकी रोक न हो सके। बेरोक। अनिवार्य्य।

अवारणीय-वि० [सं०] (१) जो रोका न जा सके। बेरोक। अनिवार्य्य। (२) जिसका अवरोध न हो सके। जो दूर न हो सके। (३) जो आराम न हो। असाध्य।

संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार रोग का वह भेद जो अच्छा न हो। असाध्य रोग। यह आठ प्रकार का है—वात, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगंदर, अश्मरी, मूढ़गर्भ और उदर रोग।

अवारपार-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र

अवारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] धनिया।

अवारिजा-संज्ञा पुं० दे० "अवारजा"।

अवारी†-संज्ञा स्त्री० [सं० वारण] (१) बाग। लगाम।

संज्ञा स्त्री० [सं० अवार] (१) किनारा। मोड़

क्रि० प्र०—देना=नाव फेरना।

(२) मुख-विवर। मुँह का छेद।

अवावट-संज्ञा पुं० [सं०] दूसरे सवर्ण पति से उत्पन्न पुत्र, जैसे कुंड और गोलक।

अवास*-संज्ञा पुं० [सं० आवास] निवास-स्थान। घर। उ०—(क) कबिरा कहा गरबिया ऊँचा देखि अवास। कालि परे भुँइ लोटना ऊपर जमिहै घास।—कबीर। (ख) ऊँची पवरी ऊँच अवासा। जनु कविलास इंद्र कर वासा।—जायसी। (ग) बाजत नंद अवास बधाई। बैठे खेलत द्वार आपने सात बरस के कुँअर कन्हाई।—सूर।

अवि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) मंदार। आक। (३) मेष। भेंड़ा। (४) छाग। बकरा। (५) पर्वत। (६) मूषिक कंबल। समूर।

यौ०—अविपाल, अविपालक=गड़ेरिया।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लज्जा। (२) ऋतुमती।

अविकल-वि० [सं०] (१) जो विकल न हो। ज्यों का त्यों। बिना उलट फेर का। (२) पूर्ण। पूरा। (३) निश्चल। अव्याकुल। शांत।

अविकल्प-वि० [सं०] (१) जो विकल्प से न हो। निश्चित। (२) निःसंदेह। असंदिग्ध।

अविकार-वि० [सं०] जिसमें विकार न हो। विकाररहित। निर्दोष।

संज्ञा पुं० [सं०] विकार का अभाव।

अविकारी-वि० [सं० अविकारिन्] [स्त्री० अविकारिणी] (१) जिसमें विकार न हो। विकारशून्य। निर्विकार। उ०—ब्याल-पास बस भयउ खरारी। स्ववश अनंत एक अविकारी।—तुलसी। (२) जो किसी का विकार न हो। उ०—साँचो जो जीव सदा अविकारी। क्यों वह होत पुमान ते न्यारी।—केशव।

अविकाशी-वि० [सं० अविकाशिन्] [स्त्री० अविकाशिनी] जो विकाशी न हो। निकम्मा। निष्क्रिय।

अविकृत-वि० पु० [सं०] जो विकृत न हो। जो विकार को प्राप्त न हो। जो बिगड़ा न हो।

अविकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विकार का अभाव।

अविक्रांत-वि० [सं०] (१) अतुलनीय। अनुपम। (२) दुर्बल। कमज़ोर।

अविक्रिय-वि० पुं० [सं०] [स्त्री० अविक्रिया] जिसमें विकार न हो। जिसमें बिगाड़ न हो। जो बिगड़ा न हो।

अविगत-वि० [सं०] (१) जो विगत न हो। जो जाना न जाय। उ०—दूजे घट इच्छा भई चित मन सातो कीन्ह। सात रूप निरमाइया अविगत काहु न चीन्ह।—कबीर। (२) अज्ञात। अनिर्वचनीय। उ०—(क) अविगत गोतीता चरित पुनीता माया रहित मुकुंदा।—तुलसी (ख) राम स्वरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर। अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।—तुलसी। (३) जो नष्ट न हो। नित्य।

अविग्रह-वि० [सं०] (१) जो स्पष्ट रूप से न जाना गया हो। अविज्ञात। (२) जिसके शरीर न हो। निरवयव। निराकार। (३) वह समास जिसका विग्रह न हो। नित्य समास। (व्या०)

अविघात-संज्ञा पुं० [सं०] विघात का अभाव। विघ्न का न होना।

अविचल-वि० [सं०] जो विचलित न हो। अचल। स्थिर। अटल।

अविचार-संज्ञा पु० [सं०] (१) विचार का अभाव। अन्याय। (२) अज्ञान। अविवेक। (३) अन्याय। अत्याचार।

अविचारित-वि० [सं०] बिना विचारा हुआ। जिसके विषय में विचारा न गया हो।

अविचारी-वि० [सं० अविचारिन्] [स्त्री० अविचारिणी] (१) विचारहीन। अविवेकी। बेसमझ। (२) अत्याचारी। अन्यायी।

अविच्छिन्न-वि० [सं०] अविच्छेद। अटूट। लगातार।

अविच्छेद-वि० [सं०] जिसका विच्छेद न हो। अटूट। लगातार। विच्छेदरहित।

अविजन-संज्ञा पुं० [सं० अभिजन] अभिजन। कुल। वंश। उ०—दंडवत गोविंद गुरू बंदौं अविजन सोय। पहिले भये प्रणाम तिन नमो जो आगे होय।—कबीर।

अविज्ञता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अज्ञानता। अनजानपन। अनभिज्ञता।

अविज्ञात-वि० [सं०] (१) जो अच्छी तरह जाना हुआ न हो। अनजाना। अज्ञात। (२) बेसमझ। अर्थनिश्चयशून्य।

अविज्ञेय-वि० पुं० [सं०] (१) जो जाना न जा सके। जिसे जान न सकें। (२) न जानने योग्य।

अवितत्-वि० [सं०] विरुद्ध। उलटा।
यौ०—अवितत्करण। अवितद्भाषण।

अवितत्करण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाशुपत दर्शन के अनुसार वह कर्म करना जो अन्य मतवालों के विचार में गर्हित है, पर पाशुपत में करणीय है। (२) जैनशास्त्रानुसार कार्य्याकार्य्य के विवेक में व्याकुल पुरुष की नाईं लोकनिंदित कर्म करना। (३) विरुद्धाचरण।

अवितथ-वि० [सं०] असत्य। झूठ। मिथ्या।

अवितद्भाषण-संज्ञा पुं० [सं०] व्याहत और अपार्थक शब्दों का उच्चारण करना। उलटा कहना। अंडबंड कहना।

अवितर्कित-वि० [सं०] (१) जिस पर तर्क न किया गया हो। (२) बिना किसी तर्क का। निःसंदेह।

अवित्त-वि० [सं०] (१) धनहीन। निर्धन। (२) अविख्यात। गुमनाम।

अवित्यज-संज्ञा पुं० [सं०] पारद। पारा।

अविद्-वि० [सं०] अनजान। मूर्ख।

अविदग्ध-वि० [सं०] जो जला या पका न हो। कच्चा।

अविदित-वि० [सं०] (१) जो विदित न हो। अज्ञात। (२) अप्रकट। गुप्त। अप्रसिद्ध।

अविदुषी-वि० स्त्री० [सं०] जो विदुषी न हो। मूर्खा। अनपढ़ी। बेपढ़ी।

अविद्धकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाढ़ा नाम की लता।

अविद्य-वि० [सं० अविद्यमान्] नष्ट। नेस्त नाबूद। उ०—विद्या धरन अविद्य करौं बिन सिद्ध सिद्ध मय।—केशव।

अविद्यमान-वि० [सं०] (१) जो विद्यमान वा उपस्थित न हो। अनुपस्थित। (२) जो न हो। असत्। (३) मिथ्या। असत्य। झूठा।

अविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरुद्ध ज्ञान। मिथ्या ज्ञान। अज्ञान। मोह। उ०—(क) जिनहिं सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी।—तुलसी। (ख) विषम भई संकल्प जब तदाकार सो रूप। महा अँधेरो काल सों परे अविद्या कूप।—कबीर। (२) माया। उ०—हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या।—तुलसी। (३) माया का एक भेद। उ०—तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।—तुलसी। (४) कर्मकांड। (५) सांख्यशास्त्रानुसार प्रकृति। अव्यक्त। अचित्। जड़ (६) योगशास्त्रानुसार पाँच क्लेशों में पहला। विपरीत ज्ञान। अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुःख में सुख और अनात्मा (जड़) में आत्मा (चेतन) का भाव करना (७) वैशेषिकशास्त्रानुसार इंद्रियों के दोष तथा संस्कार के दोष से उत्पन्न दुष्ट ज्ञान। (८) वेदांतशास्त्रानुसार माया।

यौ०—अविद्याज=अविद्या से उत्पन्न। अविद्याजन्य=अविद्या से उत्पन्न। अविद्याच्छन्न=अविद्या वा अज्ञान से आवृत्त। अविद्यामार्ग=प्रेम। वह मार्ग जो संसार में मनुष्यों को अनुरक्त करता है। अविद्याश्रव=अज्ञान (बौद्ध)।

अविद्वत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्खता। अज्ञानता।

अविद्वान्-वि० पुं० [सं०] [स्त्री० अविदुषी] जो विद्वान् न हो। शास्त्रानभिज्ञ। मूर्ख।

अविद्वेष-संज्ञा पुं० [सं०] विद्वेष का अभाव। अनुराग। प्रेम।

अविधवा-वि० [सं०] सधवा। सौभाग्यवती। सुहागिन।

अविधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधि के विरुद्ध कार्य्य करना। (२) विधान का अभाव।
वि० [सं०] (१) विधिविरुद्ध। (२) उलटा।

अविधि-वि० [सं०] विधिविरुद्ध। नियम के विपरीत।

अविनय-संज्ञा पुं० [सं०] विनय का अभाव। ढिठाई। उद्दंडता। उ०—अविनय विनय जथा रुचि बानी। छमहि देव अति आरति जानी।—तुलसी।

अविनश्वर-वि० [सं०] जो नष्ट न हो। जो बिगड़े नहीं। चिरस्थायी।

अविनाभाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संबंध। (२) व्याप्य व्यापक संबंध; जैसे अग्नि और धूम का।

अविनाश-संज्ञा पुं० [सं०] विनाश का अभाव। अक्षय।

अविनाशी-वि० पुं० [सं० अविनाशिन्] [स्त्री० अविनाशिनी] (१) जिसका विनाश न हो। अक्षय। अक्षर। (२) नित्य। शाश्वत।

अविनासी*-वि० दे० "अविनाशी"।
संज्ञा पुं० [सं० अविनाशिन्] ईश्वर। ब्रह्म। उ०—(क) राम नाम छाड़ों नहीं सतगुरु सीख दई। अविनासी सों परसि के आतमा अमर भई।—कबीर। (ख) दादू आनँद आतमा अविनासी के साथ। प्राननाथ हिरदै बसइ सकल पदारथ हाथ।—दादू।

अविनीत-वि० [सं०] [स्त्री० अविनीता] (१) जो विनीत न हो। उद्धत। (२) अदांत। दुर्दांत। सरकश (३) दुष्ट। ढीठ।

अविनीता-वि० स्त्री० [सं०] कुलटा। असती। दुराचारिणी। बदचलन (स्त्री)।

अविपन्न-वि० [सं०] स्वस्थ। नीरोग।

अविपर्यय-संज्ञा पुं० [सं०] विपर्यय वा विकार का न होना। क्रम के विरुद्ध न होना।

अविपित्तक-संज्ञा पुं० [सं०] एक चूर्ण जो अम्लपित्त के रोग में दिया जाता है।

अविबुध-वि० [सं०] (१) अज्ञानी। नादान। (२) बुद्धिहीन। बेअक्ल।
संज्ञा पुं० [सं०] असुर। दैत्य। राक्षस।

अविभक्त-वि० [सं०] (१) जो अलग न किया गया हो। मिला हुआ। (२) जो बाँटा न गया हो। विभागरहित। शामिलाती। (३) अभिन्न। एक। (४) वह जिसको ऐसी सम्पत्ति मिली हो जो बँटी न हो। साझीदार।

अविमुक्त-वि० [सं०] जो विमुक्त न हो। बद्ध।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनपटी। जाबाल उपनिषद् के अनुसार यह ब्रह्म का स्थान है। (२) काशी।

अवियोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वियोग का अभाव। (२) संयोग। मिलाप।
वि० [सं०] (१) वियोगशून्य। जिसका वियोग न हो। (२) संयुक्त। संमिलित। एकीभूत।
यौ०—अवियोग-व्रत=कालिकापुराण के अनुसार एक व्रत जो अगहन शुक्ल तृतीया को पड़ता है। इस दिन स्त्रियाँ स्नान कर चंद्रदर्शन कर के रात को दूध पीती हैं। यह व्रत सौभाग्यप्रद माना जाता है।

अविरत-वि० [सं०] (१) विरामशून्य। निरंतर। (२) अनिवृत्त। लगा हुआ।
क्रि० वि० [सं०] (१) निरंतर। लगातार। (२) सतत। नित्य। हमेशा।
संज्ञा पु० [सं०] विराम का अभाव। नैरंतर्य्य।

अविरति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निवृत्ति का अभाव। लीनता। (२) विषयादि में तृष्णा का होना। विषयासक्ति। (३) विराम का भाव। अशांति। (४) जैन शास्त्रानुसार धर्मशास्त्र की मर्य्यादा से रहित बर्त्ताव करना। यह बंधन के चार हेतुओं में से है और बारह प्रकार का है। पाँच प्रकार की इंद्रिया-विरति, एक मनोविरति और छः प्रकार की कायाविरति।

अविरथा*-क्रि० वि० दे० "वृथा"।

अविरल-वि० [सं०] (१) जो विरल वा भिन्न न हो। मिला हुआ। (२) घना। अव्यवच्छिन्न। सघन। उ०—(क) रति होउ अविरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई।—तुलसी। (ख) अविरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई।—तुलसी। (ग) अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव।—तुलसी।

अविराम-वि० [सं०] (१) बिना विश्राम लिये हुए। अविश्रांत। (२) लगातार। निरंतर।

अविरुद्ध-वि० [सं०] (१) जो विरुद्ध न हो। अप्रतिकूल। (२) अनुकूल। मुवाफ़िक़।

अविरोध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साधर्म्य। समानता। (२) विरोध का अभाव। अनुकूलता। (३) मेल। संगति। मुवाफ़िक़त। उ०—समय समाज धर्म अविरोधा। बोले तब रघुबंश पुरोधा।—तुलसी।

अविरोधी-वि० [सं० अविरोधिन्] (१) जो विरोधी न हो। अनुकूल। (२) मित्र। हित।

अविलोकन*-क्रि० स० दे० "अवलोकना"।

अविलोकना*-क्रि० स० दे० "अवलोकना"।

अविवाद-वि० [सं०] विवादरहित। निर्विवाद।

अविवाहित-वि० [सं०] [स्त्री० अविवाहिता] जिसका ब्याह न हुआ हो। बिना ब्याहा। क्वारा।

अविवेक-संज्ञा पु० [सं०] (१) विवेक का अभाव। अविचार। (२) अज्ञान। नादानी (३) अन्याय। (४) न्याय-दर्शन के अनुसार विशेष ज्ञान का अभाव। (५) सांख्यशास्त्रानुसार मिथ्या ज्ञान।

अविवेकता-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विचार का अभाव। अज्ञानता। (२) विवेक का न होना।

अविवेकी-वि० [सं० अविवेकिन्] (१) अज्ञानी। विवेकरहित। जिसे तत्वज्ञान न हो। (२) अविचारी। (३) मूढ़। मूर्ख। (४) अन्यायी।

अविशुद्ध-वि० [सं०] (१) जो विशुद्ध न हो। मेलमाल का। (२) अशुद्ध। मलिन। (३) अपवित्र। नापाक।

अविशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अशुद्धि। मेलमाल। (२) मलिनता। अपवित्रता। नापाकी। (३) विकार।

अविशेष-वि० [सं०] (१) भेदक धर्म-रहित। जिसमें किसी दूसरी वस्तु से कोई विशेषता न हो। तुल्य। समान।
संज्ञा पुं० भेदक धर्म का अभाव। (२) सांख्य में शांतत्व, घोरत्व और मूढ़त्व आदि विशेषताओं से रहित सूक्ष्म भूत।
यौ०—अविशेषज्ञ।

अविश्रांत-वि० [सं०] (१) विरामरहित। जो रुके नहीं। (२) जो थके नहीं।

अविश्वसनीय-वि० [सं०] जो विश्वास योग्य न हो। जिस पर विश्वास न किया जा सके।

अविश्वास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विश्वास का अभाव। बेएतबारी। (२) अप्रत्यय। अनिश्चय।
यौ०—अविश्वासपात्र=जिस पर विश्वास न किया जाय। बेएतबारी। झूठा।

अविश्वासी-वि० [सं० अविश्वासिन्] (१) जो किसी पर विश्वास न करे। विश्वासहीन। (२) जिस पर विश्वास न किया जाय। अविश्वासपात्र।

अविषय-वि० [सं०] (१) जो विषय न हो। अगोचर। (२) अप्रतिपाद्य। अनिर्वचनीय। (३) जिसमें कोई विषय न हो। विषयशून्य।

अविषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्विषी तृण। एक जड़ी। जदवार। यह मोथे के समान होती है और प्रायः हिमालय के पहाड़ों पर मिलती है। इसका कंद अतीस के समान होता है और साँप, बिच्छू आदि के विष को दूर करता है।

अविहड़*-वि० [सं० अ+विघट] जो विहड़े नहीं। जो खंडित

न हो। अखंड। अनश्वर। उ०—(क) अविहड़-अखंडित पीव है ताको निर्भय दास। तीनों गुन के पेलि के चौथे कियो निवास।—कबीर। (ख) अविहड़ अँग विहड़े नहीं अपलट पलट न जाय। दादू अनघट एक रस सब में रहा समाय।—दादू। (ग) दादू अविहड़ आप है अमर उपज-वन-हार। अविनासी आपइ रहइ विनसइ सब संसार।—दादू। (२) दे० "बीहड़"।

अविहित–वि० [सं०] (१) जो विहित न हो। विरुद्ध। (२) अनुचित। अयोग्य। (३) निकृष्ट। नीच।

अवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] ऋतुमती स्त्री।

अवीचि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नरक।

अवीजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] किशमिश।

अवीरा-वि० स्त्री० [सं०] (१) जिस (स्त्री) के पुत्र और पति न हो। पुत्र और पतिरहित (स्त्री)। स्वतंत्र (स्त्री)।

अवीह*-वि० [सं० अवीड़] जो डरे नहीं। अभय। निडर। —डिं०।

अवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जीविका का अभाव। (२) स्थिति का अभाव। बेठिकानापन।

अवृद्धिक-संज्ञा पुं० [सं०] बिना वृद्धि वा ब्याज का रुपया। मूल धन। असल।

अवेक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अवेक्षित, अवेक्षणीय] (१) अवलोकन। देखना। (२) जाँच पड़ताल। देख भाल। निरीक्षण।

अवेक्षणीय-वि० [सं०] (१) देखने योग्य। निरीक्षण योग्य। (२) जाँच के लायक। परीक्षा के योग्य।

अवेज*-संज्ञा पुं० [अ० एवज़] बदला। प्रतीकार। उ०—मारग में गज में चढ़ो जात चलो अँगरेज। कालीदह बोन्यो सगज लिय कपि चना अवेज।—रघुराज।

अवेद्य-वि० पुं० [सं०] (१) जो जाना न जा सके। अज्ञेय। (२) अलभ्य।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) बछड़ा। (२) नादान बच्चा।

अवेद्या-वि० स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिससे विवाह नहीं कर सकते। अविवाह्य स्त्री।

अवेश-संज्ञा पुं० [सं० आवेश] (१) किसी विचार में इस प्रकार तन्मय हो जाना कि अपनी स्थिति भूल जाय। आवेश। जोश। मनोवेग। उ०—मारि मारि करि, कर खड्ग निकासि लियो दियो घोर सागर में सो अवेश आयो है।—नाभा। (२) आसंग। चेतनता। अनुप्रवेश। उ०—शिष्यन सों कह्यो कभू देह में अवेश जानो तब ही बखानो आनि सुनि कीजै न्यारी है।—प्रिया। (३) भूतावेश। भूत चढ़ना। किसी भूत का सिर आना। भूत लगना। उ०—कोऊ कहै दोष, कोऊ कहत अवेश तापै करो दशरथ कियो भाव पूरो पान्यो है।—नाभा।

अवैतनिक-वि० [सं०] जो वैतनिक न हो। जो किसी काम को करने के लिए वेतन न पावे। बिना वेतन के काम करनेवाला। आनरेरी।

अवैदिक-वि० [सं०] वेदविरुद्ध।

अवैद्य-वि० [सं०] (१) जो वैद्य न हो। जो वैद्यकशास्त्र को न जानता हो। (२) अज्ञ। अनजान।

अवैमत्य-संज्ञा पुं० [सं०] मत भेद का अभाव। ऐकमत्य।

वि० [सं०] जिसमें मत भेद न हो। सर्वसम्मत।

अवोक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] तिरछा हाथ करके जल गिराना। तिरछा हाथ कर के जल छिड़कना।

अव्यंग-वि० [सं०] जो व्यंग वा टेढ़ा न हो। सीधा।

अव्यंगांग-वि० [सं०] [स्त्री० अव्यंगांगी] जिसका कोई अंग टेढ़ा न हो। सुडौल।

अव्यंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] केवाँच। करैंच। कौंच।

अव्यंजन-वि० [सं०] (१) बिना सींग का (पशु)। डूँड़ा। (२) जो सुलक्षण न हो। कुलक्षण। (३) जिसमें कोई चिह्न न हो। चिह्नशून्य।

अव्यंडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] केवाँच। करैंच। कौंच।

अव्यक्त-वि० [सं०] (१) जो स्पष्ट न हो। अप्रत्यक्ष। अगोचर। उ०—(क) कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।—तुलसी। (ख) अटल शक्ति अविनाश अधिक बल एक अनादि अनूप। आदि अव्यक्त अंबिकापूरण अखिल लोक तव रूप।—सूर। (२) अज्ञात। अनिर्वचनीय। उ०—प्रथम शब्द है शून्याकार। परा अव्यक्त सो कहै विचार।—कबीर।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) कामदेव। (३) शिव (४) प्रधान। प्रकृति (सांख्य)। उ०—अव्यक्त मूल मनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने। षट कंध शाखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने। फल युगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे। पल्लवित फूलत नवल नित संसार विटप नमामि हे।—तुलसी। (५) वेदांत शास्त्रानुसार अज्ञान। सूक्ष्म शरीर और सुषुप्ति अवस्था। (६) ब्रह्म। ईश्वर। (७) बीजगणित के अनुसार वह राशि जिसका मान अनिश्चित हो। अनवगत राशि। (८) मायोपाधिक ब्रह्म (शंकर)। (९) जीव।

क्रि० प्र०—होना=(१) प्रकृत दशा को प्राप्त होना। कारण से लय होना (२) अप्रकट होना। लुप्त होना। निर्वचनीय से अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त होना।

अव्यक्त क्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] बीजगणित की एक क्रिया।

अव्यक्त गणित-संज्ञा पुं० [सं०] बीजगणित।

अव्यक्तपद-संज्ञा पुं० [सं०] वह पद जिसका ताल्वादि स्थानों द्वारा स्पष्ट उच्चारण न हो सके; जैसे चिड़ियों की बोली।

अव्यक्तमूलप्रभव-संज्ञा पुं० [सं०] संसार । जगत् ।

अव्यक्त राग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हलका लाल । अरुण । (२) गौर । श्वेत ।

अव्यक्तलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सांख्यशास्त्रानुसार महत्तत्वादि । (२) संन्यासी । (३) वह रोग जो पहचाना न जाय ।

अव्यक्तसाम्य-संज्ञा पुं० [सं०] बीजगणित के अनुसार अव्यक्त राशि वा वर्ण का समीकरण ।

अव्यक्तानुकरण-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द का अस्फुट अनुकरण । जैसे, मनुष्य मुर्गे की बोली ज्यों की त्यों नहीं बोल सकता; पर उसकी नकल करके 'कुकुडूँ कूँ' बोलता है ।

अव्यथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरीतकी । हड़ । (२) सोंठ ।

अव्यपदेश्य-वि० [सं०] (१) जो कहा न जा सके । अनिर्वचनीय । (२) न्यायानुसार निर्विकल्प । जिसमें विकल्प वा उलट फेर न हो । निश्चित । (३) अनिर्देश्य ।

संज्ञा पुं० [सं०] निर्विकल्प ज्ञान । (२) ब्रह्म ।

अव्यभिचारी-वि० [सं० अव्यभिचारिन्] जो किसी प्रतिकूल कारण से हटे नहीं । जो किसी प्रकार व्यभिचारित न हो ।

संज्ञा पुं० न्याय के मत से साध्य-साधक व्याप्ति-विशिष्ट हेतु ।

अव्यय-वि० [सं०] (१) जो विकार को प्राप्त न हो । सदा एक रस रहनेवाला । अक्षय । (२) नित्य । आदि-अंत-रहित । (३) परिणामरहित । विकार । (४) प्रवाह रूप से सदा रहनेवाला ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्याकरण में वह शब्द जिसका सब लिंगों, सब विभक्तियों और सब वचनों में समान रूप से प्रयोग हो । (२) परब्रह्म । (३) शिव । (४) विष्णु ।

अव्ययीभाव-संज्ञा पुं० [सं०] समास का एक भेद जिसमें अव्यय के साथ उत्तर पद समस्त होता है । जैसे, अतिकाल, अनुरूप, प्रतिरूप । यह समास प्रायः पूर्वपद-प्रधान होता है और या तो विशेषण या क्रिया-विशेषण होता है ।

अव्ययेत-संज्ञा पुं० [सं०] यमकानुप्रास के दो भेदों में से एक जिसमें यमकात्मक अक्षरों के बीच कोई और अक्षर वा पद न पड़े । उ०—अलिनी अलि नीरज बसे प्रति तरुवानि वहंग । त्यों मनमथ मन मथन हरि बसै राधिका संग । यहाँ "अलिनी, अलि नी" और "मनमथ मन मथ" के बीच कोई और पद नहीं है ।

अव्यर्थ-वि० [सं०] (१) जो व्यर्थ न हो । सफल । (२) सार्थक । (३) अमोघ ।

अव्यवधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यवधान वा अंतर का अभाव । (२) निकटता । लगाव । रोक का न होना । रुकावट का अभाव ।

अव्यवसाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यवसाय का अभाव । उद्यम का अभाव । (२) निश्चयाभाव । निश्चय का न होना ।

वि० [सं०] उद्यमशून्य । व्यवसायशून्य । आलसी । निकम्मा ।

अव्यवसायी-वि० [सं०] (१) उद्यमहीन । निरुद्यमी । (२) आलसी । पुरुषार्थहीन ।

अव्यवस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अव्यवस्थित] (१) नियम का न होना । नियमाभाव । बेकायदगी । (२) स्थिति का अभाव । मर्यादा का न होना । (३) शास्त्रादि-विरुद्ध व्यवस्था । अविधि । (४) बेइंतज़ामी । गड़बड़ ।

अव्यवस्थित-वि० [सं०] (१) शास्त्रादि-मर्यादारहित । बे-मर्यादा । (२) अनियत रूप । बेठिकाने का । (३) चंचल । अस्थिर । उ०—वह अव्यवस्थित-चित्त का मनुष्य है ।

यौ०—अव्यवस्थितचित्त=जिसका चित्त ठिकाने न हो । चंचल चित्त ।

अव्यवहार्य्य-वि० [सं०] (१) जो व्यवहार वा काम में लाने योग्य न हो । जो व्यवहार में न लाया जा सके । (२) पतित । पंक्तिच्युत ।

अव्याकृत-वि० [सं०] (१) जो व्याकृत न हो । जो विकार-प्राप्त न हो । (२) अप्रकट । गुप्त । (३) कारण रूप । कारणस्थ । (४) वेदांतशास्त्रानुसार अप्रकट बीज रूप जगत्कारण अज्ञान । (५) सांख्यशास्त्रानुसार प्रधान । प्रकृति ।

यौ०—अव्याकृत धर्म ।

अव्याकृतधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध शास्त्रानुसार वह स्वभाव जिसमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म किए जा सकें ।

अव्याघात-वि० [सं०] (१) व्याघातशून्य । जो रोका न जा सके । बेरोक । (२) अटूट । लगातार ।

अव्यापन्न-वि० [सं०] जो मरा न हो । जीवित । ज़िंदा ।

अव्यापार-वि० [सं०] [वि० अव्यापारी] व्यापारशून्य । बेकाम ।

संज्ञा पुं० [सं०] उद्यम का अभाव । निठाला ।

अव्यापारी-वि० [सं०] (१) व्यापारशून्य । निरुद्यमी । निठल्लू । (२) सांख्यशास्त्रानुसार क्रियाशून्य, जिसमें व्यापार अर्थात् क्रिया करने की शक्ति न हो । जो स्वभाव से अकर्त्ता हो ।

अव्यापी-संज्ञा पुं० [सं० अव्यापिन्] [स्त्री० अव्यापिनी] (१) जो व्यापी न हो । जो सब जगह न पाया जाय । (२) एक प्रकार का उत्तराभास जिसमें कहे हुए देश स्थान का पता न चले । जैसे, कोई कहे कि काशी के पूर्व मध्य देश में मेरा खेत अमुक ने लिया । यहाँ काशी के पूर्व मध्य देश नहीं, किन्तु मगध देश है; अतः यह अव्यापी है ।

अव्याप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अव्याप्त] (१) व्याप्ति का

अभाव। (२) नव्य न्याय शास्त्रानुसार लक्ष्य पर लक्षण के न घटने का दोष। जैसे—"सब फटे खुरवाले पशुओं के सींग होते हैं।" इस कथन में अव्याप्ति-दोष है; क्योंकि सूअर के खुर फटे होते हैं, पर उसके सींग नहीं होते।

अव्यावृत-वि० [सं०] (१) निरंतर। सतत। लगातार। (२) अटूट। (३) बिना लोट पोट का। ज्यों का त्यों।

अव्याहत-वि० [सं०] (१) अप्रतिरुद्ध। बेरोक। उ०—सुनत फिरउँ हरि गुन अनुवादा। अव्याहत गति शंभु प्रसादा।—तुलसी। (२) सत्य।

अव्युच्छिन्न-वि० [सं०] बेरोक। अव्याहत।

अव्युत्पन्न-वि० [सं०] (१) अनभिज्ञ। अनुभवशून्य। अनाड़ी। अकुशल। (२) व्याकरण शास्त्रानुसार वह शब्द जिसकी व्युत्पत्ति वा सिद्धि न हो सके (३) व्याकरणज्ञानशून्य।

अव्रणशुक्र-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग जिसमें आँख की पुतली पर सफ़ेद रंग की एक फूली सी पड़ जाती है और उसमें सूई चुभने के समान पीड़ा होती है।

अव्रत-वि० [सं०] (१) व्रतहीन। जिसका व्रत नष्ट हो गया हो। (२) जिसने व्रत धारण न किया हो। व्रतरहित। (३) नियमरहित। नियमशून्य।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैन शास्त्रानुसार व्रत का त्याग। यह पाँच प्रकार का है—प्राणवध, मृषावाद, अदत्तदान, मैथुन वा अब्रह्म और परिग्रह। (२) व्रत का अभाव। (३) नियम का न होना।

अव्वल-वि० [अ०] (१) पहला। आदि का। प्रथम। (२) उत्तम। श्रेष्ठ।

संज्ञा पुं० आदि। प्रारंभ। जैसे—अव्वल से आख़िर तक।

अव्वलन्-क्रि० वि० [अ०] प्रथमतः। पहले।

अशंक-वि० [सं०] निःशंक। बेडर। निर्भय।

अशंभु-संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+शंभु=कल्याण] अकल्याण। अमंगल। अशुभ। अहित। उ०—सुनो क्यों न कनकपुरी के राइ। डोलै गगन सहित सुरपति अरु पुहुमि पलट जग जाइ। नसै धर्म मन वचन काय करि शंभु अशंभु कराइ। अचला चलै, चलत पुनि थाकै, चिरंजीव सो मरई। श्रीरघुनाथ प्रताप पतिव्रत सीता सत नहिं टरई।—सूर।

अशकुन-संज्ञा पुं० [सं०] कोई वस्तु वा व्यापार जिससे अमंगल की सूचना समझी जाय। बुरा शकुन। बुरा लक्षण।

विशेष—इस देश में लोग दिन को गीदड़ का बोलना, कार्य्यारंभ में छींक होना आदि अशकुन समझते हैं।

अशक्त-वि० [सं०] [संज्ञा अशक्ति] (१) निर्बल। कमज़ोर। (२) अक्षम। असमर्थ। नाक़ाबिल।

अशक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अशक्त] (१) निर्बलता। कमज़ोरी। (२) सांख्य में बुद्धि और इंद्रियों का बध वा विपर्य्यय। हाथ पैर आदि इंद्रियों और बुद्धि का बेकाम होना। ये अशक्तियाँ अट्ठाईस हैं। इंद्रियाँ ग्यारह हैं, अतः ग्यारह अशक्तियाँ तो उनकी हुईं। इसी प्रकार बुद्धि की दो शक्तियाँ हैं तुष्टि और सिद्धि। तुष्टि नौ हैं और सिद्धि आठ। इन सब के विपर्य्यय को अशक्ति कहते हैं।

अशक्य-वि० [सं०] (१) असाध्य। शक्ति के बाहर। न होने योग्य। (२) एक काव्यालंकार जिसमें किसी रुकावट वा अड़चन के कारण किसी कार्य्य के होने की असाध्यता का वर्णन हो। उ०—काक कला कहुँ कहुँ कपि कलकंठ। कहुँ झिल्ली रव कंक कहूँ थल। बसी भाग्य बस सों बन ऐसे। करहिं तहाँ ध्वनि कोकिल कैसे।

अशन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अशित, अशनीय] (१) भोजन। आहार। अन्न। (२) भोजन की क्रिया। भक्षण। खाना।

अशनि-संज्ञा पुं० [सं०] वज्र। बिजली।

अशनीय-वि० [सं०] खाने योग्य।

अशरण-वि० [सं०] जिसे कहीं शरण न हो। अनाथ। निराश्रय। बेपनाह।

अशरफ़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) सोने का एक पुराना सिक्का जो सोलह रुपए से पचीस रुपए तक का होता था। मोहर। (२) एक प्रकार का पीले रंग का फूल। गुल अशरफ़ी।

अशराफ़-वि० [अ०] शरीफ़। भद्र। भला मानुस।

अशर्म्म-संज्ञा पुं० [सं०] कष्ट। दुःख।

वि० (१) दुःखी। बेचैन। (२) जिसे घर बार न हो। गृहरहित।

अशांत-वि० [सं०] [संज्ञा अशांति] जो शांत न हो। अस्थिर। चंचल। डाँवाँडोल।

अशांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अशांत] (१) अस्थिरता। चंचलता। हलचल। खलबली। (२) क्षोभ। असंतोष।

अशालीन-वि० [सं०] धृष्ट। ढीठ।

अशालीनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] धृष्टता। ढिठाई।

अशातावेदनीय-संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रानुसार वह कर्म जिसके उदय से दुःख का अनुभव होता है।

अशिक्षित-वि० [सं०] जिसने शिक्षा न पाई हो। बेपढ़ा लिखा। अनपढ़। उजड्ड। अनाड़ी। गँवार।

अशित-वि० [सं०] खाया हुआ। भुक्त।

अशित्र-संज्ञा पुं० [सं०] चोर।

अशिर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हीरा (२) अग्नि। (३) राक्षस। (४) सूर्य्य।

अशिव-संज्ञा पुं० [सं०] अमंगल। अकल्याण। अशुभ।

अशिष्ट-वि० [सं०] असाधु। दुःशील। अविनीत। उजड्ड। बेहूदा। अभद्र।

अशिष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) असाधुता । दुःशीलता । बेहूदगी । उजड्डपन । अभद्रता । (२) ढिठाई ।

अशुचि-वि० [सं०] [संज्ञा अशौच] (१) अपवित्र । (२) गंदा । मैला ।

अशुद्ध-वि० [सं०] [संज्ञा अशुद्धता, अशुद्धि] (१) अपवित्र । अशौचयुक्त । नापाक । (२) बिना साफ़ किया हुआ; बिना शोधा हुआ । असंस्कृत । जैसे, अशुद्ध पारा । (३) बेठीक । ग़लत ।

अशुद्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपवित्रता । मैलापन । गंदगी । (२) ग़लती ।

अशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपवित्रता । अशौच । गंदगी । (२) ग़लती ।

अशुन*-संज्ञा पुं० [सं० अश्विनी] अश्विनी नक्षत्र उ०—अशुन, भरनि, रेवती भली । मृगसर मोल पुनरबसु बली ।—जायसी ।

अशुभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमंगल । कल्याण । अहित । (२) पाप । अपराध ।

वि० [सं०] जो शुभ न हो । अमंगलकारी । बुरा ।

यौ०—अशुभसूचक ।

अशून्यशयनव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक व्रत जो श्रावण कृष्ण द्वितीया को होता है ।

अशेष-वि० [सं०] (१) शेषरहित । पूरा । समूचा । सब । तमाम । उ०—सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहँ कोउ नहिं जाना ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(२) समाप्त । खतम ।

क्रि० प्र०—करना । होना ।

(३) अनंत । अपार । बहुत । अधिक । अगणित । अनेक । उ०—(क) महादेव को देखि कै, दोऊ राम विशेष । कीन्हों परम प्रणाम उन, आशिष दियो अशेष ।—केशव । (ख) मिस रोम राजि रेखा सुवेष । विधि गनत मनो गुनगन अशेष ।—गुमान ।

अशोक—वि० [सं०] शोकरहित । दुःखशून्य ।

संज्ञा पुं० (१) एक पेड़ जिसकी पत्तियाँ आम की तरह लंबी लंबी और किनारों पर लहरदार होती हैं । इसमें सफ़ेद मंजरी (मौर) लगती है जिसके झड़ जाने पर छोटे छोटे गोल फल लगते हैं जो पकने पर लाल होते हैं, पर खाए नहीं जाते । यह पेड़ बड़ा सुन्दर और हराभरा होता है, इससे इसे बगीचों में लगाते हैं । शुभ अवसरों पर इसकी पत्तियों की बंदनवारें बाँधी जाती हैं । यह शीतल, कसैला, कड़ुआ, मल को रोकनेवाला, रक्तदोष को दूर करनेवाला और कृमि-नाशक समझा जाता है । इसकी छाल विशेष कर स्त्री-रोगों में दी जाती है । इसके दो भेद होते हैं—एक के पत्ते रामफल के समान और फूल कुछ नारंगी रंग के होते हैं । यह फागुन में फूलता है । दूसरे के पत्ते लंबे लंबे और आम के पत्तों के समान होते हैं और इसमें सफ़ेद फूल वसंत ऋतु में लगते हैं ।

पर्या०—विशोक । मधुपुष्प । कंकेलि । वंजुल । रक्तपल्लव । रागपल्लव । हेमपुष्प । वंजुल । कर्णपूर । ताम्रपल्लव । वामांघ्रिघातन । राम । रामा । नट । पिंडी । पुष्प । पल्लवद्रुम । दोहलीक । सुभग । रोगितरु ।

(२) पारा । (३) भारतवर्ष का एक प्राचीन सम्राट् ।

अशोक-पुष्प-मंजरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दंडक वृत्त का एक भेद जिसमें २८ अक्षर होते हैं और लघु गुरु का कोई नियम नहीं होता । उ०—सत्यधर्म नित्य धारि व्यर्थ काम सर्व डारि भूलि कै करो कदा न निंद्य काम ।

अशोक-वाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह बगीचा जिसमें अशोक के पेड़ लगे हों । (२) शोक को दूर करनेवाला रम्य उद्यान । (३) रावण का वह प्रसिद्ध बगीचा जिसमें उसने सीताजी को ले जाकर रक्खा था ।

अशोक-षष्ठी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र शुक्ला षष्ठी । इस दिन कामाख्या तंत्र के अनुसार पुत्रलाभार्थ षष्ठी देवी की पूजा की जाती है ।

अशोका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटकी ।

अशोकाष्टमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र शुक्ला अष्टमी । इस दिन पानी में अशोक के आठ पल्लव डालकर उसे पीने का विधान है तथा अशोक के फूल विष्णु को चढ़ाते हैं ।

अशौच-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अशुचि] (१) अपवित्रता । अशुद्धता । (२) हिन्दू शास्त्रानुसार इन अवस्थाओं में अशौच माना जाता है—(क) मृतक-संस्कार के पश्चात् मृत के परिवार वा सपिंडवालों में वर्णक्रमानुसार १०, १२, १५ और ३० दिन तक । (ख) संतान होने पर भी ऊपर के नियमानुसार । शोक के अशौच को सूतक और संतानोत्पत्ति के अशौच को वृद्धि कहते हैं । (ग) रजस्वला स्त्री को तीन दिन । (घ) मल, मूत्र, चांडाल वा मुर्दे आदि का स्पर्श होने पर स्नानपर्यंत । अशौचावस्था में संध्या तर्पण आदि वैदिक कर्म नहीं किए जाते ।

अश्मंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूल्हा । (२) अमंगल । (३) मरण । (४) खेत ।

अश्मंतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूँज की तरह की एक घास जिससे प्राचीन काल में ब्राह्मण लोग मेखला अर्थात् करधनी बनाते थे । (२) आच्छादन । छाजन । ढकना । (३) दीपाधार । दीवट ।

अश्म-संज्ञा पुं० [सं० अश्मन्] (१) पर्वत । पहाड़ । (२) मेघ । बादल । (३) पत्थर ।

अश्मक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम जो आजकल ट्रावंकोर कहलाता है।

अश्मकुट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के वानप्रस्थ जो सिल, बट्टा वा उखली आदि नहीं रखते थे, केवल पत्थर से अन्न कूटकर पकाते थे।

अश्मगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] पन्ना। मरकत।

अश्मज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिलाजतु। शिलाजीत। (२) मोमियाई। (३) लोहा।

अश्मभेद-संज्ञा पुं० [सं०] पखानभेद नाम की जड़ी जो मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में दी जाती है।

अश्मर-वि० [सं०] पथरीला।

अश्मरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूत्र रोग विशेष। पथरी।

यौ०—अश्मरीघ्न=वरुण वृक्ष। बरना का पेड़

अश्मसार-संज्ञा पुं० [सं०] लोहा।

अश्रद्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० अश्रद्धेय] श्रद्धा का अभाव।

अश्रद्धेय-वि० [सं०] अश्रद्धा के योग्य। घृणा के योग्य। बुरा।

अश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

अश्रांत-वि० [सं०] (१) श्रमरहित। स्वस्थ। जो थका माँदा न हो। (२) विश्रामरहित। लगातार। निरंतर।

अश्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घर का कोना। (२) अस्त्रशस्त्र की नोक।

अश्रु-संज्ञा पुं० [सं०] मन के किसी प्रकार के आवेग के कारण आँखों में आनेवाला जल। आँसू। काव्य में यह अनुभाव के अंतर्गत सात्विक के नौ भेदों में माना जाता है।

अश्रुत-वि० [सं०] (१) जो न सुना गया हो। अज्ञात। (२) जिसने कुछ देखा सुना न हो। नातजुर्बेकार।

अश्रुतपूर्व-वि० [सं०] (१) जो पहले न सुना गया हो। (२) अद्भुत। विलक्षण। अनोखा।

अश्रुपात-संज्ञा पुं० [सं०] आँसू गिराना। रुदन। रोना।

अश्रुमुख-वि० [सं०] रोता हुआ। रोनी सूरत का।

संज्ञा पुं० जिस नक्षत्र पर मंगल का उदय होता है, उसके १० वें, ११वें वा १२वें नक्षत्र पर यदि उसकी गति वक्र हो तो वह (वक्र गति) अश्रुमुख कहलाती है। (ज्यो०)।

अश्लिष्ट-वि० [सं०] श्लेषशून्य। असंबद्ध। असंगत।

अश्लील-वि० [सं०] फूहड़। भद्दा। लज्जाजनक।

अश्लीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] फूहड़पन। भद्दापन। गंदापन। लज्जा का उल्लंघन। (काव्य में यह एक दोष माना जाता है।)

अश्लेष-संज्ञा स्त्री० [सं०] राशिचक्र के २७ नक्षत्रों में से नवाँ। यह नक्षत्र चक्राकार छः नक्षत्रों से मिलकर बना है। इसका देवता सर्प है और यह केतु ग्रह का जन्म नक्षत्र है।

अश्लेषाभाव-संज्ञा पुं० [सं०] केतुग्रह।

अश्व-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा। तुरंग।

अश्वकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का शाल-वृक्ष। (२) लता-शाल।

अश्वक्रांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक मूर्च्छना। इसका स्वरग्राम यों है—ग म प ध नि स रे ग म प ध नि।

अश्वखुर-संज्ञा पुं० [सं०] नख नामक सुगंधित द्रव्य।

अश्वगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] असगंध।

अश्वगति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छंदःशास्त्र में नील वृत्त का दूसरा नाम। यह पाँच भगण और एक गुरु का होता है। उ०—भा शिव आनन गौरि जबै मन लाय लखी। लै गइ ज्यों सुठि भूषण धारि बितान सखी। (२) चित्रकाव्य का एक चक्र जिसमें ६४ खाने होते हैं।

अश्वग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] कश्यप ऋषि की दनु नाम्नी स्त्री से उत्पन्न पुत्र। हयग्रीव।

अश्वचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोड़े के चिह्नों से शुभाशुभ का विचार। (२) घोड़ों का समूह।

अश्वतर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अश्वतरी] (१) एक प्रकार का सर्प। नाग-राज। (२) खच्चर।

अश्वदंष्ट्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोखरू।

अश्वत्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पीपल।

अश्वत्थामा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्रोणाचार्य के पुत्र। (२) एक हाथी का नाम जो महाभारत के युद्ध में मारा गया था। यह मालवा के राजा इंद्रवर्मा का हाथी था।

अश्वपति-संज्ञा पुं० (१) घुड़सवार। (२) रिसालदार। (३) घोड़ों का मालिक। (४) भरतजी के मामा। (५) केकय देश के राजकुमारों की उपाधि।

अश्वपाल-संज्ञा पुं० [सं०] साईस।

अश्वबंध-संज्ञा पुं० [सं०] चित्र-काव्य में वह पद्य जो घोड़े के चित्र में इस रीति से लिखा हो कि उसके अक्षरों से अंग प्रत्यंग तथा साजों और आभूषणों के रूप निकल आवें।

अश्वबाल-संज्ञा पुं० [सं०] कास का पौधा।

अश्वमार-संज्ञा पुं० [सं०] कनेर का पेड़।

अश्वमुख-संज्ञा पुं० [सं०] किन्नर।

विशेष—कहते हैं कि किन्नरों का मुँह घोड़ों के समान होता है।

अश्वमेध-संज्ञा पुं० [सं०] एक बड़ा यज्ञ जिसमें घोड़े के मस्तक पर जयपत्र बाँधकर उसे भूमंडल में घूमने के लिये छोड़ देते थे। उसकी रक्षा के निमित्त किसी वीर पुरुष को नियुक्त कर देते थे जो सेना लेकर उसके पीछे पीछे चलता था। जिस किसी राजा को अश्वमेध करनेवाले का आधिपत्य स्वीकृत नहीं होता था, वह उस घोड़े को बाँध लेता और सेना से युद्ध करता था। अश्व बाँधनेवाले को पराजित तथा घोड़े को छुड़ाकर सेना आगे बढ़ती थी। इस

प्रकार जब वह घोड़ा संपूर्ण भूमंडल में घूमकर लौटता था, तब उसको मारकर उसकी चर्बी से हवन किया जाता था। यह यज्ञ केवल बड़े प्रतापी राजा करते थे। यह यज्ञ साल भर में होता था।

अश्वरोधक-संज्ञा पुं० [सं०] कनेर।

अश्वल-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रकार ऋषि का नाम।

अश्वललित-संज्ञा पुं० [सं०] अद्रितनया नामक वर्णवृत्त।

अश्ववदन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम।

अश्ववार-संज्ञा पुं० [सं०] घुड़सवार।

अश्वशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ घोड़े रहें। घुड़साल। अस्तबल। तबेला।

अश्वसूक्त-संज्ञा पुं० [सं०] वेद का एक सूक्त जिसमें घोड़ों का वर्णन है।

अश्वस्तन-वि० [सं०] [वि० अश्वस्तनिक] वर्त्तमान दिवस-संबंधी। केवल आज के दिन से संबंध रखनेवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] वह गृहस्थ जिसे केवल एक दिन के खाने का ठिकाना हो। कल के लिये कुछ न रखनेवाला गृहस्थ।

अश्वस्तनिक-वि० [सं०] (१) कल के लिये कुछ न रखनेवाला। (२) आगे के लिये संचय न करनेवाला।

विशेष—यह एक प्रकार की ऋषि-वृत्ति है।

अश्वारि-संज्ञा पुं० [सं०] भैंसा। महिष।

अश्वारोहण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अश्वारोही] घोड़े की सवारी।

अश्वरोही-वि० [सं० अश्वारोहिन्] घोड़े का सवार।

अश्वावतारी-संज्ञा पुं० [सं०] ३१ मात्राओं के छंदों की संज्ञा। वीर छंद इसी के अंतर्गत है।

अश्विनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घोड़ी। (२) २७ नक्षत्रों में से पहला नक्षत्र। तीन नक्षत्रों के मिलने से इसका रूप घोड़े के मुख के सदृश होता है।

पर्या०—अश्वयुक्। दाक्षायणी।

अश्विनीकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] त्वष्टा की पुत्री प्रभा नाम की स्त्री से उत्पन्न सूर्य्य के दो पुत्र। एक बार सूर्य्य के तेज को सहन करने में असमर्थ होकर प्रभा अपनी दो संतति यम और यमुना तथा अपनी छाया छोड़कर चुपके से भाग गई और घोड़ी बनकर तप करने लगी। इस छाया से भी सूर्य्य को दो संतति हुई, शनि और तापी। जब छाया ने प्रभा की संतति का अनादर आरंभ किया, तब यह बात खुल गई कि प्रभा तो भाग गई है। इसके उपरांत सूर्य्य घोड़ा बनकर प्रभा के पास, जो अश्विनी के रूप में थी, गए। इस संयोग से दोनों अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति हुई जो देवताओं के वैद्य हैं।

पर्या०—स्वर्वैद्य। दस्र। नासत्य। आश्विनेय। नासिक्य। गदागद। पुष्करस्रज।

अश्वियुग-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष् में एक युग अर्थात् ५ वर्ष का काल जिसमें क्रम से पिंगल, कालयुक्त, सिद्धार्थ, रौद्र और दुर्मति संवत्सर होते हैं।

असाढ़*-संज्ञा पुं० [सं० आषाढ़] वह महीना जिसमें पूर्णिमा पूर्वाषाढ़ में पड़े। असाढ़। आषाढ़।

अष्टंगी*-वि० दे० "अष्टांगी"।

अष्ट*वि० [सं०] आठ।

अष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आठ वस्तुओं का संग्रह। जैसे—हिंग्वष्टक। (२) वह स्तोत्र वा काव्य जिसमें आठ श्लोक हों। जैसे—रुद्राष्टक, गंगाष्टक। (३) वह ग्रंथावयव जिसमें आठ अध्याय आदि हों। (४) मनु के अनुसार एक गण जिसमें १ पैशुन्य, २ साहस, ३ द्रोह, ४ ईर्ष्या, ५ असूया, ६ अर्थदूषण, ७ वाग्दंड और ८ पारुष्य ए आठ अवगुण हैं। (५) पाणिनिकृत व्याकरण। अष्टाध्यायी।

अष्टकमल-संज्ञा पुं० [सं०] हठयोग के अनुसार मूलाधार से ललाट तक के आठ कमल जो भिन्न-भिन्न स्थानों में माने गए हैं—मूलाधार, विशुद्ध, मणिपूरक, स्वाधिष्ठान, अनाहत (अनहद) आज्ञाचक्र, सहस्रारचक्र और सुरतिकमल।

अष्टका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अष्टमी। (२) अगहन, पूस, माघ और फागुन महीने की कृष्ण अष्टमी। इस दिन श्राद्ध करने से पितरों की तृप्ति होती है। (३) अष्टमी के दिन का कृत्य अष्टकायाग। (४) अष्टका में कृत्य श्राद्ध।

अष्टकुल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सर्पों के आठ कुल; यथा—शेष, वासुकि, कंबल, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख और कुलिक। किसी-किसी के मत से—तक्षक, महापद्म, शंख, कुलिक, कंबल, अश्वतर, धृतराष्ट्र और बलाहक हैं।

अष्टकुली-वि० [सं०] साँपों के आठ कुलों में से किसी में उत्पन्न।

अष्टकृष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वल्लभ कुल के मतानुसार आठ कृष्ण, यथा—१ श्रीनाथ, २ नवनीतप्रिय, ३ मथुरानाथ, ४ विट्ठलनाथ, ५ द्वारकानाथ, ६ गोकुलनाथ, ७ गोकुलचंद्रमा और ८ मदनमोहन।

अष्टकोण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह क्षेत्र जिसमें आठ कोण हों। (२) तंत्र के अनुसार एक यंत्र (३) एक प्रकार का कुंडल जिसमें आठ कोण होते हैं।

वि० [सं०] आठ कोनेवाला। जिसमें आठ कोने हों।

अष्टगंध-संज्ञा पुं० [सं०] आठ सुगंधित द्रव्यों का समाहार। दे० "गंधाष्टक"।

अष्टताल-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के आठ प्रकार—१ आड, २ दोज, ३ ज्योति, ४ चंद्रशेखर, ५ गंजन, ६ पंचताल, ७ रूपल और ८ समताल।

अष्टदल-संज्ञा पुं० [सं०] आठ पत्तों का कमल।

वि० [सं०] (१) आठ दल का। (२) आठकोन का। आठपहल का।

अष्टद्रव्य-संज्ञा पुं० [सं०] आठ द्रव्य जो हवन में काम आते हैं—

१ अश्वत्थ, २ गूलर, ३ पाकर, ४ वट, ५ तिल, ६ सरसों, ७ पायस और ८ घी।

अष्टधाती-वि० [सं० अष्टधातु] (१) अष्टधातुओं से बना हुआ। (२) दृढ़। मज़बूत। (३) उत्पाती। उपद्रवी। (४) वर्णसंकर।

अष्टधातु-संज्ञा स्त्री० [सं०] आठ धातुएँ—१ सोना, २ चाँदी, ३ ताँबा, ४ राँगा, ५ जसता, ६ सीसा, ७ लोहा और ८ पारा।

अष्टपद-संज्ञा पुं० दे० "अष्टपाद"।

अष्टपदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आठ पदों का समूह। एक प्रकार का गीत जिसमें आठ पद होते हैं।

अष्टपाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरभ। शार्दूल। (२) लूता। मकड़ी।

अष्टभुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

अष्टभुजी-संज्ञा स्त्री० दे० "अष्टभुजा"।

अष्टम-वि० पुं० [सं०] आठवाँ।

अष्टमंगल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आठ मंगल द्रव्य वा पदार्थ—१ सिंह, २ वृष, ३ नाग, ४ कलश, ५ पंखा, ६ बैजयंती, ७ भेरी और ८ दीपक। किसी किसी के मत से—१ ब्राह्मण, २ गो, ३ अग्नि, ४ सुवर्ण, ५ घी, ६ सूर्य्य, ७ जल और ८ राजा हैं। (२) एक घृत जो आठ औषधियों से बनाया जाता है। औषधियाँ ये हैं—१ वच, २ कुट, ३ ब्राह्मी, ४ सरसों, ५ पीपल, ६ सारिवा, ७ सेंधा नमक और ८ घी।

अष्टमान-संज्ञा पुं० [सं०] आठ मुट्ठी का एक परिमाण।

अष्टमिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आधे पल वा दो कर्ष का परिमाण। (२) चार तोले का एक परिमाण।

अष्टमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुक्ल और कृष्ण पक्ष के भेद से आठवीं तिथि। आठैं। (२) आठवीं।

अष्टमूर्ति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) शिव की आठ मूर्तियाँ—क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, यजमान, अर्क और चंद्र; अथवा सर्व्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, ईशान और महादेव।

अष्टवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आठ औषधियों का समाहार—१—जीवक, २ ऋषभक, ३ मेदा, ४ महामेदा, ५ काकोली, ६ क्षीरकाकोली, ७ ऋद्धि और ८ वृद्धि। (२) ज्योतिष का गोचर विशेष।

अष्टांग-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अष्टांगी] (१) योग की क्रिया के आठ भेद—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। (२) आयुर्वेद के आठ विभाग—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायनतंत्र और वाजीकरण। (३) शरीर के आठ अंग—जानु, पद, हाथ, उर, शिर, वचन, दृष्टि, बुद्धि, जिनसे प्रणाम करने का विधान है। (४) अर्घ विशेष जो सूर्य्य को दिया जाता है। इसमें जल, क्षीर, कुशाग्र, घी, मधु, दही, रक्तचंदन और करवीर होते हैं।

वि० [सं०] (१) आठ अवयववाला। (२) अठपहल।

अष्टांगी-वि० [सं०] आठ अंगवाला।

अष्टाकपाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिट्टी के आठ बरतनों वा खप्परों में पकाया हुआ पुरोडाश। (२) वह यज्ञ जिसमें अष्टाकपाल पुरोडाश काम में लाया जाय।

अष्टाक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आठ अक्षरों का मंत्र। (२) विष्णु भगवान् का मंत्र—'ॐ नमो नारायणाय'। (३) वल्लभ कुल के मतवालों के मत से "श्रीकृष्णः शरणं मम"

वि० [सं०] आठ अक्षरों का। आठ अक्षरवाला।

अष्टाध्यायी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाणिनीय व्याकरण का प्रधान ग्रंथ जिसमें आठ अध्याय हैं।

अष्टापद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। (२) शरभ। (३) लूता मकड़ी। (४) कृमि। (५) कैलाश। (६) धतूरा।

अष्टावक्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि।

अष्टाश्रि-वि० [सं०] आठ कोनेवाला। अठकोना।

संज्ञा पुं० [सं०] वह घर जिसमें आठ कोन हों।

अष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोलह अक्षर की एक वृत्ति जिसके चंचला, चकिता, पंचचामर आदि बहुत भेद हैं।

अष्टी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दीपक राग की एक रागिनी।

अष्टीला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक रोग जिसमें मूत्राशय में अफरा होने से पेशाब नहीं होता और एक गाँठ पड़ जाती है जिससे मलावरोध होता है और वस्ति में पीड़ा होती है। (२) पत्थर की गोली।

असंक-*वि० दे० "अशंक"।

असंक्रांतिमास-संज्ञा पुं० [सं०] बिना संक्रांति का महीना। अधिक मास। मलमास।

असंख-*वि० दे० "असंख्य"।

असंख्य-वि० [सं०] जिसकी गिनती न हो सके। अनगिनत। बेशुमार। बहुत अधिक।

असंग-*वि० [सं०] (१) बिना साथ का। अकेला। एकाकी। (२) किसी से वास्ता न रखनेवाला। न्यारा। निर्लिप्त। मायारहित। उ०—(क) मन में यहै बात ठहराई। होय असंग भजौं जदुराई।—सूर। (ख) भस्म अंग, मर्दन अनंग, संतत असंगहर। सीस गंग, गिरिजा अधंग, भूषन भुअंगवर।—तुलसी। (३) जुदा। अलग। पृथक्। उ०—चंद्रकला चवै परी, असंग गंग ह्वै परी, भुजंगी भाजि भ्वै परी, वरंगी के बरत ही।—देव।

असंगत-वि० [सं०] (१) अयुक्त। बेठीक। (२) अनुचित।

असंगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) असंबंध। बेसिलसिलापन।

(२) अनुपयुक्तता । नामुनासिब्त । (३) एक काव्यालंकार जिसमें कार्य्य कारण के बीच देश काल संबंधी अन्यथात्व दिखाया जाय; अर्थात् सृष्टि-नियम के विरुद्ध कारण कहीं बताया जाय और कार्य्य कहीं; अथवा किसी नियत समय में होनेवाले कार्य्य का किसी दूसरे समय में होना दिखाया जाय । उ०—(क) हरत कुसुम छवि कामिनी, निज अंगन सुकुमार । मार करत यह कुसुमसर, युवकन कहा विचार ? यहाँ फूलों की शोभा हरण करने का दोष स्त्री ने किया; उसका दंड उसको न देकर कामदेव ने युवा पुरुषों को दिया । (ख) दग अरुझत, टूटत कुटुँब, जुरत चतुर सों प्रीति । परत गाँठ दुर्जन हिये, दई नई यह रीति ।—बिहारी । कुवलयानंद में और दो प्रकार से असंगति का होना माना गया है । एक तो एक स्थान पर होनेवाले कार्य्य के दूसरे स्थान पर होने से; जैसे—तेरे अरि की अंगना, तिलक लगायो पानि । दूसरे किसी के उस कार्य्य के विरुद्ध कार्य्य करने से जिसके लिये वह उद्यत हुआ हो; जैसे—मोह मिटावन हेतु प्रभु, लीन्हो तुम अवतार । उलटो मोहन रूप धरि, मोह्यो सब ब्रजनार ।

असंत-वि [सं०] बुरा । खल । दुष्ट ।

असंतुष्ट-वि० [सं०] [संज्ञा असंतुष्टि] (१) जो संतुष्ट न हो । (२) अतृप्त । जिसका मन न भरा हो । जो अघाया न हो । (३) अप्रसन्न ।

असंतुष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संतोष का अभाव । (२) अतृप्ति । (३) अप्रसन्नता ।

असंतोष-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० असंतोषी] (१) संतोष का अभाव । अधैर्य । (२) अतृप्ति । (३) अप्रसन्नता ।

असंतोषी-वि० [सं०] जिसे संतोष न हो । जिसका मन न भरे । जो तृप्त न हो ।

असंप्रज्ञात समाधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] योग की दो समाधियों में से एक जिसमें न केवल बाहरी विषयों की बल्कि ज्ञाता और ज्ञेय की भावना भी लुप्त हो जाय ।

असंबद्ध-वि० [सं०] (१) जो मिला न हो । जो मेल में न हो । (२) बेलगाव । पृथक् । अलग । (३) अनमिल । बेमेल । बिना सिर पैर का । अंडबंड ।

यौ०—असंबद्ध प्रलाप ।

असंबाधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में मगण, तगण, नगण, सगण और दो गुरु होते हैं । SSS,SSI,III,IIS,SS, उ०—माता नासो गंग कठिन भव की पीरा । जाते ह्वै निःसंक भवति तुमरे तीरा । गावों तेरो ही गुण निसि दिन बेबाधा । पावों जाते वेगि सुभगति असंबाधा ।

असंभव-वि० [सं०] जो संभव न हो । जो हो न सके । अनहोना । नामुमकिन ।

संज्ञा पुं० एक काव्यालंकार जिसमें यह दिखाया जाय कि जो बात हो गई है उसका होना असंभव था । उ०—किहि जानी जलनिधि अति दुस्तर । पीवहिं घटज, उलंघहिं बंदर ।

असंभार-वि० [सं०] (१) जो सँभालने योग्य न हो । जिसका प्रबंध न हो सके । (२) अपार । बहुत बड़ा । उ०—बिरहा सुभर समुद असँभारा । भँवर मेलि जिउ लहरहिं मारा ।—जायसी ।

असंभावना-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० असंभावित, असंभाव्य] संभावना का अभाव । अनहोनापन । अभवितव्यता ।

असंभावित-वि० [सं०] जिसकी संभावना न रही हो । जिसके होने का अनुमान न किया गया हो । अनुमान-विरुद्ध ।

असंभाव्य-वि० [सं०] (१) न कहे जाने योग्य । न उच्चारण करने योग्य । (२) जिससे बात चीत करना उचित न हो । बुरा । संज्ञा पुं० बुरा वचन । खराब बात । उ०—असंभाष बोलन आई है ढीठ ग्वालिनी प्रात । चाखत नहीं दूध धौरी को तेरो कैसे खात ।—सूर ।

असंभाष्य-वि० [सं०] जिसकी संभावना न हो । अनहोना ।

असंयत-वि० [सं०] संयमरहित । जो नियमबद्ध न हो । क्रम-शून्य ।

असंशय-वि० [सं०] (१) संशयरहित । निर्विवाद । निश्चित । (२) यथार्थ । ठीक ।

क्रि० वि० निस्संदेह । बेशक ।

असंसक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लगाव का न होना । निर्लिप्तता । (२) विरक्ति । सांसारिक विषय-वासनाओं का त्याग ।

असंसारी-वि० [सं०] (१) संसार से अलग रहनेवाला । विरक्त । (२) संसार से परे । अलौकिक ।

असंस्कृत-वि० [सं०] (१) बिना सुधारा हुआ । अपरिमार्जित । (२) जिसका संस्कार न हुआ हो । व्रात्य ।

अस*-वि० [सं० एष=यह, अथवा ईदृश] (१) इस प्रकार का । ऐसा । उ०—अस विवेक जब देहि बिधाता । तब तजि दोष गुनहि मन राता ।—तुलसी । (२) तुल्य । समान । उ०—जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे । काहे न बोलहु बचन सँभारे ।—तुलसी ।

असकताना-क्रि० अ० [हिं० आसकत] आलस्य में पड़ना । आलस्य अनुभव करना । जैसे,—असकताओ मत अभी उठो और जाओ ।

असकरना-संज्ञा पुं० [सं० असि=तलवार+करण=करना] दो अंगुल चौड़ा और जौ भर मोटा लोहे का एक औज़ार जो रेती के समान खुरखुरा वा दानेदार होता है और जिससे तलवार के म्यान के भीतर की लकड़ी साफ़ की जाती है ।

असगंध-संज्ञा पुं० [सं० अश्वगंधा] एक सीधी झाड़ी जो गर्म प्रदेशों में होती है और जिसमें छोटे छोटे गोल फल लगते

हैं। इसकी मोटी जड़ दवा के काम में आती है और बाज़ारों में बिकती है। असगंध बलकारक तथा वात और कफ का नाश करनेवाला है। इसके बीज से दूध जम जाता है। इससे कई प्रसिद्ध आयुर्वेदीय औषध बनते हैं, जैसे—अश्वगंधाघृत, अश्वगंधारिष्ट।

पर्या०—अश्वगंधा। हयगंधा। वाजिगंधा। तुरंगगंधा। तुरगा। वाजिना। हया। बलदा। बल्या। वातघ्नी। श्यामला। कामरूपिणी। काला। गंधपत्री। वाराहपत्री। वाराहकर्णी। वनजा। हयप्रिया। पीवरा। पलाशपर्णी। कंबुका। कंबुकाष्ठा। प्रियकरी। अवरोहा। अश्वारोहिका। कुष्ठघातिनी। रसायनी। तिक्ता।

असगुन-संज्ञा पुं० दे० "अशकुन"।

असज्जन-वि० [सं०] बुरा। खल। दुष्ट। अशिष्ट। नीच। संज्ञा पुं० बुरा आदमी।

असढ़िया-संज्ञा पुं० [सं० आषाढ़] एक प्रकार का लंबा साँप जिसकी पीठ पर कई प्रकार की चित्तियाँ होती हैं। इसमें विष बहुत कम होता है।

असण*-संज्ञा पुं० [सं० आपतन] गड्ढा।—डिं०।

असती-वि० [सं०] जो सती न हो। कुलटा। पुंश्चली।

असत्-वि० [सं०] (१) मिथ्या। अस्तित्वविहीन। सत्तारहित। (२) बुरा। खराब। (३) खोटा। असाधु। असज्जन।

असत्कार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० असत्कृत] अपमान। निरादर।

असत्कृत-वि० [सं०] अनादृत। अपमानित।

असत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सत्ता का अभाव। अविद्यमानता। अनस्तित्व। नेस्ती। (२) असाधुता। असज्जनता।

असत्प्रतिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० असत्प्रतिग्रही] वह दान जिसके लेने का शास्त्र में निषेध हो। जैसे—उभयमुखी गौ, प्रेतान्न, चांडालादि का अन्न।

असत्प्रतिग्रही-वि० [सं०] निषिद्ध दान लेनेवाला।

असत्य-वि० [सं०] मिथ्या। झूठ।

असत्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिथ्यात्व। झुठाई।

असत्यवाद-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० असत्यवादी] मिथ्यावाद। झूठ बोलना।

असत्यवादी-वि० [सं०] झूठ बोलनेवाला। झूठा। मिथ्यावादी।

असथन*-संज्ञा पुं० [?] जायफल।—डिं०।

असद्वाद-संज्ञा पुं० [सं०] वह सिद्धांत जो सत्ता को कोई वस्तु ही न माने।

असना-संज्ञा पुं० [सं० असना] एक वृक्ष जो शाल की तरह का होता है। इसके हीर की लकड़ी दृढ़ और मकान बनाने में काम आती है तथा भूरापन लिए हुए काले रंग की होती है। इस पेड़ की पत्तियाँ माघ फागुन में झड़ जाती हैं। पीतशाल वृक्ष।

असन्नद्ध-वि० [सं०] (१) जो तैयार वा मुस्तैद न हो। अतत्पर। (२) अहंकारी। घमंडी। अपने को लगानेवाला।

असबर्ग-संज्ञा पुं० [फा०] खुरासान की एक लंबी घास जिसमें पीले वा सुनहले फूल लगते हैं। सुखाए हुए फूलों को अफ़ग़ान व्यापारी मुलतान में लाते हैं, जहाँ वे अकलबेर के साथ रेशम रँगने के काम में आते हैं।

असबाब-संज्ञा पुं० [अ०] चीज़ वस्तु। सामान। प्रयोजनीय पदार्थ।

असभई†-संज्ञा स्त्री० [सं० असभ्यता] अशिष्टता। बेहूदगी।

असभ्य-वि० [सं०] अशिष्ट। गँवार। उजड्ड। नाशाइस्ता।

असभ्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अशिष्टता। गँवारपन। नाशाइस्तगी।

असमंजस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुबधा। पसोपेश। आगा पीछा। फेरफार। (२) अड़चन। अंडस। कठिनाई। चपकुलिस।

क्रि० प्र०—में पड़ना।—होना।

(३) सूर्यवंशी राजा सगर का बड़ा पुत्र जो रानी केशी से उत्पन्न था।

असमंत*-संज्ञा पुं० [सं० अश्मंत] चूल्हा।

असम-वि० [सं०] (१) जो सम या तुल्य न हो। जो बराबर न हो। नाहमवार। असदृश। (२) विषम। ताक़। (३) ऊँचा नीचा। ऊबड़ खाबड़। (४) एक काव्यालंकार जिसमें उपमान का मिलना असंभव बतलाया जाय। उ०—अलि बन बन खोजत मरि जैहौ। मालति कुसुम सदृश नहिं पैहौ।

असमनेत्र-वि० [सं०] जिसके नेत्र सम न हों, विषम (ताक़) हों। संज्ञा पुं० त्रिनेत्र। शिव।

असमय-संज्ञा पुं० [सं०] विपत्ति का समय। बुरा समय। क्रि० वि० कुअवसर। बेमौक़ा। बेवक्त।

असमर्थ-वि० [सं०] (१) सामर्थ्यहीन। दुर्बल। निर्बल। अशक्त। (२) अयोग्य। नाक़ाबिल।

असमबाण-संज्ञा पुं० [सं०] पंचबाण। कामदेव।

असमवायि कारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) न्यायदर्शन के अनुसार वह कारण जो द्रव्य न हो, गुण वा कर्म हो। जैसे—घड़े के बनने में गले और पेंदे का संयोग अर्थात् आकार आदि की भावना जो कुम्हार के मन में थी अथवा जोड़ने की क्रिया जो द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न हुई। (२) वैशेषिक के अनुसार वह कारण जिसका कार्य्य से नित्य संबंध न हो, आकस्मिक हो। जैसे—हाथ के लगाव से मूसल का किसी वस्तु पर आघात करना। यहाँ हाथ का लगाव ऐसा नहीं है कि जब हाथ का लगाव हो, तभी मूसल किसी वस्तु पर आघात करे। हवा या और किसी कारण से भी मूसल गिर सकता है।

असमशर–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव। उ०—रंभादिक सुर नारि नवीना। सकल असमशर-कला प्रवीना।—तुलसी।

असम्मत–वि० [सं०] (१) जो राज़ी न हो। विरुद्ध। (२) जिस पर किसी की राय न हो।

असम्मति–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० असम्मत] सम्मति का अभाव। विरुद्ध मत वा राय।

असमर*–संज्ञा पुं० [सं० असि] तलवार।—डिं०।

असमान–वि० [सं०] जो समान वा तुल्य न हो।
संज्ञा पुं० दे० "आसमान"।

असमाप्त–वि० [संज्ञा] [संज्ञा असमाप्ति] अपूर्ण। अधूरा।

असमाप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अपूर्णता। अधूरापन।

असमावृत्त–वि० [सं०] जिसका समावर्त्तन संस्कार न हुआ हो। जो बिना समावर्त्तन संस्कार हुए ही गुरु-कुल छोड़ दे।

असमाहित–वि० [सं०] चित्त की एकाग्रता से रहित। अस्थिर-चित्त। चंचल।

असमूचा*–वि० [सं० अ+समुच्चय] (१) जो पूरा वा समूचा न हो। अधूरा। (२) कुछ। थोड़ा।

असयाना*–वि० [हिं० अ+सयाना] (१) भोला भाला। सीधा सादा। छल वा चतुराई से रहित। उ०—विबुध सनेह-सानी बानी असयानी मुनि हँसे राघो जानकी लखन-तन हेरि हेरि।—तुलसी। (२) अनाड़ी। मूर्ख।

असर–सं० पु० [अ०] (१) प्रभाव। दबाव। (२) दिन का चौथा पहर।
यौ०—असर की नमाज़।

असरा–संज्ञा पुं० [हिं० अप्तर] आसाम देश के कहारों में उत्पन्न होनेवाला एक प्रकार का चावल।

असरार*–क्रि० वि० [हिं० सर सर] निरंतर। लगातार। बराबर। उ०—(क) कहाँ नंद कहाँ छाँड़े कुमार। करुणा करै यशोदा माता नैनन नीर बहैं असरार।—सूर। (ख) केशव कहि कहि कूकिए, ना सोइये असरार। रात दिवस के कूकने, कबहुँक लगै पुकार—कबीर।

असल–वि० [अ०] (१) सच्चा। खरा। (२) उच्च। श्रेष्ठ। (३) बिना मिलावट का। शुद्ध। खालिस।
संज्ञा पु० जड़। मूल। बुनियाद। तत्त्व। (२) मूल धन। उ०—साँचो सो लिखवार कहावै। काया ग्राम मसाहत करि कै जमा बाँधि ठहरावै।·········करि अवारजा प्रेम प्रीति को असल तहाँ खतियावै—सूर।

असलियत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) तथ्य। वास्तविकता (२) जड़। मूल। बुनियाद। (३) मूल तत्त्व। सार।

असली–वि० [अ० असल] (१) सच्चा। खरा। (२) मूल। प्रधान। (३) बिना मिलावट का। शुद्ध।

असवार†–संज्ञा पुं० दे० "सवार"।

असवारी†–संज्ञा स्त्री० दे० "सवारी"।

असह–वि० [सं० असह्य] न सहने योग्य। असह्य।
संज्ञा पुं० हृदय।—डिं०।

असहन–वि० [सं०] जो सहन न करे। असहिष्णु।
संज्ञा पु० [सं०] शत्रु। वैरी।

असहनशील–वि० [सं०] (१) जिसमें सहन करने की शक्ति न हो। असहिष्णु। (२) चिड़चिड़ा। तुनकमिज़ाज।

असहनशीलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] सहन करने की शक्ति का अभाव। असहिष्णुता। तुनकमिज़ाजी।

असहनीय–वि० [सं०] न सहने योग्य। जो बरदाश्त न हो सके। असह्य।

असहाय–वि० [सं०] (१) जिसे कोई सहारा न हो। निःसहाय। निरवलंब। निराश्रय (२) अनाथ। लाचार।

असहिष्णु–वि० [सं०] (१) जो सहन न कर सके। असहनशील। (२) चिड़चिड़ा। तुनकमिज़ाज।

असहिष्णुता–सं० स्त्री० [सं०] (१) सहन करने की शक्ति का अभाव। असहनशीलता (२) चिड़चिड़ापन। तुनकमिज़ाजी।

असही–वि० [सं० असह] दूसरे की बढ़ती न सहनेवाला। दूसरे को देखकर जलनेवाला। ईर्ष्यालु। उ०—असही दुसही मरहु मनहि मन, बैरिन बढ़हु बिषाद। नृप सुत चारि चारु चिरजीवहु, शंकर गौरि प्रसाद।—तुलसी।

असह्य–वि० [सं०] न सहन करने योग्य। जो बरदाश्त न हो सके। असहनीय।

असाँच*–वि० [सं० असत्य, प्रा० असच्च] असत्य। झूठ। मृषा। उ०—सत्यकेतु-कुल कोउ नहिं बाँचा। विप्र-शाप किमि होइ असाँचा।—तुलसी।

असा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) सोंटा। डंडा। (२) चाँदी वा सोने से मढ़ा हुआ सोंटा जिसे राजा महाराजों के आगे वा बारात इत्यादि के साथ सजावट के लिये आदमी लेकर चलते हैं। दे० "आसा"।

असाक्षी–संज्ञा पुं० [सं० असाक्षिन्] वह जिसकी साक्षी वा गवाही धर्मशास्त्र के अनुसार मान्य न हो। साक्षी होने का अनधिकारी। धर्मशास्त्र के अनुसार इन लोगों की साक्षी ग्रहण नहीं करनी चाहिए—चोर, जुआरी, शराबी, पागल, स्त्री, बालक, अति वृद्ध, हत्यारा, चारण, जालसाज़, विकलेंद्रिय (बहिरे, अंधे, लूले, लँगड़े) तथा शत्रु, मित्र इत्यादि।

असाढ़–संज्ञा पु० [सं० आषाढ़] आषाढ़ का महीना। वर्ष का चौथा महीना।

असाढ़ा–संज्ञा पुं० [देश] (१) महीन बटे हुए रेशम का तागा।
संज्ञा पुं० [सं० आषाढ़] एक प्रकार की खाँड़। कच्ची चीनी।

असाढ़ी–वि० [सं० आषाढ़] आषाढ़ का।
संज्ञा स्त्री० (१) वह फ़सल जो आषाढ़ में बोई जाय। खरीफ़ (२) आषाढ़ीय पूर्णिमा।

असाढ़ू-संज्ञा पुं० [देश०] मोटे दल की चट्टान। मोटा पत्थर।

असात्म्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्रकृतिविरुद्ध पदार्थ। वह आहार-विहार जो दुःखकारक और रोग उत्पन्न करनेवाला हो।

असाधारण-वि० [सं०] जो साधारण न हो। असामान्य।

असाधु-वि० [सं०] [स्त्री० असाध्वी] (१) दुष्ट। बुरा। खल। दुर्जन। खोटा। (२) अविनीत। अशिष्ट।

असाधुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्जनता। अशिष्टता। खलता। खोटाई।

असाध्य-वि० [सं०] (१) जिसका साधन न हो सके। न करने योग्य। दुष्कर। कठिन। (२) न आरोग्य होने के योग्य। जिसके अच्छे वा चंगे होने की संभावना न हो। जैसे,—यह रोग असाध्य है।

असानी-संज्ञा पुं० [अं० असाइनी] वह व्यक्ति जो अदालत की ओर से किसी ऐसे दिवालिए की संपत्ति, जिसके बहुत से लहनदार हों, तब तक अपनी निगरानी में रखने के लिये नियुक्त हो, जब तक कोई रिसीवर नियत होकर संपत्ति को अपने हाथ में न ले।

असामयिक-वि० [सं०] जो समय पर न हो। जो नियत समय से पहले वा पीछे हो। बिना समय का। बेवक्त का।

असामर्थ्य-संज्ञा स्त्री० [स०] (१) शक्ति का अभाव। अक्षमता। (२) निर्बलता। नाताक़ती।

असामान्य-वि० [सं०] असाधारण। ग़ैरमामूली।

असामी-संज्ञा पुं० [अ० आसामी] (१) व्यक्ति। प्राणी। जैसे,—वह लाखों का असामी है। (२) जिससे किसी प्रकार का लेन देन हो। जैसे,—वह बड़ा खरा असामी है; तुरंत रुपया देगा। (३) वह जिसने लगान पर जोतने के लिये ज़मींदार से खेत लिया हो। रैयत। काश्तकार। जोता। (४) मुद्दालेह। देनदार। (५) अपराधी। मुलज़िम। जैसे,—असामी हवालात से भाग गया। (६) दोस्त। मित्र। सुहृद। उ०—चलो तो वहाँ बहुत असामी मिल जायँगे (७) ढंग पर चढ़ाया हुआ आदमी। वह जिससे किसी प्रकार का मतलब गाँठना हो।

यौ०—खरा असामी=चटपट दाम देनेवाला आदमी। डूबा असामी=गया गुज़रा। दिवालिए। मोटा असामी=धनी पुरुष। लीचड़ असामी=देने में सुस्त। नादिहंद।

मुहा०—असामी बनाना=अपने मतलब पर चढ़ाना। अपनी गौं का बनाना।

संज्ञा स्त्री० (१) परकीया या वेश्या। रखेली। जैसे,—तुम्हारी असामी को कोई उड़ा ले गया। (२) नौकरी। जगह। जैसे,—कोई असामी खाली हो तो बतलाना।

असार-वि०[सं०] (१) साररहित। तत्त्वशून्य। निःसार। (२) शून्य। ख़ाली। (३) तुच्छ।

संज्ञा पुं० (१) रेंड़ का पेड़। (२) अगरु चंदन।

असारता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निःसारता। तत्त्वशून्यता। (२) तुच्छता। (३ मिथ्यात्व।

असालत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कुलीनता। (२) सचाई। तत्व।

असालतन्-क्रि० वि० [अ०] स्वयं। ख़ुद।

असाला-संज्ञा स्त्री० [सं० अशालिका] हालों। चंसुर।

असावधान-वि० [सं०] [संज्ञा असावधानता] जो सावधान वा सतर्क न हो। जो ख़बरदार हो। जो सचेत न हो।

असावधानता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेपरवाही।

असावधानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेख़बरी। बेपरवाही।

असावरी-संज्ञा स्त्री० [सं० आशावरी, अथवा अशावरी] छत्तीस रागिनियों में से एक प्रधान रागिनी। भैरव राग की स्त्री (रागिनी)। यह रागिनी टोड़ी से मिलती जुलती है और सबेरे सात बजे से नौ बजे तक गाई जाती है।

असासा-संज्ञा पुं० [अ०] माल। असबाब। संपत्ति।

असासुलबैत-संज्ञा पुं० [अ०] घर का असबाब। घर का अटाला।

असि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तलवार। खड्ग। (२) असी नदी।

असिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) होंठ और ठुड्डी के बीच का भाग। (२) एक देश का नाम।

असिक्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंतःपुर में रहनेवाली वह दासी जो वृद्धा न हो। (२) पंजाब की एक नदी। चिनाब। (३) वीरण प्रजापति की कन्या जो दक्ष को ब्याही थी।

असित-वि० [सं०] (१) जो सफ़ेद न हो। काला। (२) दुष्ट। बुरा। (३) टेढ़ा। कुटिल।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। (२) भरत राजा का पुत्र। (३) शनि। (४) पिंगला नाम की नाड़ी।

असितांग-वि० [सं०] काले रंग का।

संज्ञा पुं० [सं०] एक मुनि।

असिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना नदी।

असिद्ध-वि० [सं०] (१) जो सिद्ध न हो। (२) बेपका। कच्चा। (३) अपूर्ण। अधूरा। (४) निष्फल। व्यर्थ। (५) अप्रमाणित। जो साबित न हो।

असिद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अप्राप्ति। अनिष्पत्ति। (२) कच्चापन। कचाई। (३) अपूर्णता।

असिधावक-संज्ञा पुं० [सं०] तलवार आदि को साफ़ करनेवाला। सिकलीगर।

असिपत्र वन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणों के अनुसार एक नरक जिसके विषय में लिखा है कि वह सहस्र योजन की जलती हुई भूमि है, जिसके बीच में ऐसे पेड़ों का एक जंगल है जिसके पत्ते तलवार के समान हैं।

असिपुच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगर। (२) सकुची मछली जो पूँछ से मारती है।

असिस्टंट-वि० [अं०] सहायक।

असी-संज्ञा स्त्री० [सं० असि] एक नदी जो काशी के दक्षिण गंगा से मिली है। अब यह एक नाले के रूप में रह गई है।

असीम-वि० [सं०] (१) सीमारहित। बेहद। (२) अपरिमित। अनंत। (३) अपार। अगाध।

असील*-वि० दे० "असल"। उ०—हरदी जरदी जो तजै तजै खटाई आम। जो असील गुन को तजै औगुन तजै गुलाम।

असीस*-संज्ञा स्त्री० दे० "आशिष"।

असीसना-क्रि० स० [सं० आशिष] आशीर्वाद देना। दुआ देना। उ०—पुहुमी सबै असीसइ जोरि जोरि कइ हाथ। गाँग जमुन जल जब लगि तब लगि अमर सो माथ।—जायसी।

असुंदर-संज्ञा पुं० [सं०] वह व्यंग जिसकी अपेक्षा वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार हो। यह गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद है। उ०—डाल रसाल जु लखत ही पल्लव जुत कर लाल। कुम्हलानी उर सालधर फूल माल ज्यों बाल।

असु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणवायु। प्राण। (२) चित्त।

असुग*-वि० दे० "आशुक"।

असुचि*-वि० दे० "अशुचि"।

असुपाद-संज्ञा पुं० [सं०] प्राणियों को एक साँस लेकर फिर साँस लेने में जितना काल लगता है, उसका चतुर्थांश काल।

असुभ*-वि० दे० "अशुभ"।

असुविधा-संज्ञा स्त्री० [सं० अ०=नहीं+सुविधि=अच्छी तरह] (१) कठिनाई। अड़चन। (२) तकलीफ़। दिक्कत।

असुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दैत्य। राक्षस। (२) रात्रि। (३) नीच वृत्ति का पुरुष। (४) पृथिवी। (५) सूर्य्य। (६) बादल। (७) राहु। (८) वैद्यक शास्त्र के अनुसार एक प्रकार का उन्माद जिसमें पसीना नहीं होता और रोगी ब्राह्मण, गुरु, देवता आदि पर दोषारोपण किया करता है, उन्हें बुरा भला कहने से नहीं डरता, किसी वस्तु से उसकी तृप्ति नहीं होती और वह कुमार्ग में प्रवृत्त होता है।

असुरकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रानुसार एक त्रिभुवनपति देवता।

असुरगुरु-संज्ञा पुं० [सं०] शुक्राचार्य्य।

असुरसेन-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस। कहते हैं कि इसके शरीर पर गया नामक नगर बसा है। उ०—असुर सेन सम नरक निकंदनि। साधु विबुध कुलहित गिरिनंदिनि।—तुलसी।

असुराई*-संज्ञा स्त्री० [सं० असुर] खोटाई। शरारत। उ०—बात चलत जाकी करै असुराई नेहीन। है कछु अद्भुत मद भरे तेरे दृगन प्रवीन।—रसनिधि।

असुरारि-संज्ञा पुं० [सं०] देवता।

असूझ-वि० [सं० अ०+हिं० सूझना] (१) अँधेरा। अंधकारमय। उ०—परा खोह चहुँ दिसि तस बाँका। काँपै जाँघ जाय नहिं झाँका। अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सप्त पतालहि जाई।—जायसी। (२) जिसका वार पार न दिखाई पड़े। अपार। बहुत विस्तृत। बहुत अधिक। उ०—(क) कटक असूझ देखि के राजा गरब करेइ। दइ कि दसा न देखइ वह का कहँ जय देइ।—जायसी। (ख) परी बिरह बन जानौ घेरी। अगम असूझ जहाँ लग हेरी।—जायसी। (३) जिसके करने का उपाय न सूझे। विकट। कठिन। उ०—दोऊ लड़े होय संमुख लोहै भयो असूझ। शत्रु जूझ तब न्योरे एक दोऊ महँ जूझ।—जायसी।

असूत*-वि० [सं० अस्यूत] विरुद्ध। असंबद्ध। उ०—पुनि तिन प्रश्न कियो निज पूतहि। शास्त्र परस्पर कहत असूतहि।—निश्चल।

असूया-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० असूयक] (१) पराये गुण में दोष लगाना। (२) रस के अंतर्गत एक प्रकार का संचारी भाव।

असूर्यंपश्या-वि० स्त्री० [सं०] जिसको सूर्य्य भी न देखे। परदे में रहने वाली। जैसे,—असूर्य्यंपश्या दमयंती को विपत्ति में बन बन फिरना पड़ा।

असूल-संज्ञा पुं० दे० (१) "उसूल" और (२) "वसूल"।

असृक्-संज्ञा पुं० रक्त। रुधिर।

असेग*-वि० [सं० असह्य] न सहने योग्य। असह्य। कठिन।

असेसर-संज्ञा पुं० [अं०] वह व्यक्ति जो जज को फ़ौजदारी के मुक़द्दमे में फ़ैसले के समय राय देने के लिये चुना जाता है।

असैला*-वि० [सं० अ=नहीं+शैली=रीति] (१) रीति नीति के विरुद्ध कर्म करनेवाला। कुमार्गी। उ०—रंग भूमि आये दशरथ के किशोर हैं। पेखनो सो पेखन चले हैं पुर नर नारि बारे बूढ़े अंध पंगु करत निहोर हैं। सभा सरवर लोक कोकनद कोकगन प्रमुदित मन देखि दिनमनि भोर हैं। अबुध असैले मन मैले महिपाल भए कछुक उलूक कछु कुमुद चकोर हैं।—तुलसी। (२) शैली के विरुद्ध। अनुचित। रीति-विरुद्ध। उ०—हौं रघुवंशमणि को दूत। मातु मान प्रतीति जानकि जानि मारुतपूत। मैं सुनी बातैं असैली जे कहीं निशिचरन नीच। क्यों न मारे गाल बैठो काल डाढ़नि बीच।—तुलसी।

असों†-क्रि० वि० [सं० इह=समय का सक्षिप्त रूप। अस्मिन्] इस वर्ष। इस साल।

असोक-संज्ञा पुं० दे० "अशोक"।

असोकी*-वि० [सं० अशोक+हिं० ई (प्रत्य०)] शोक-रहित।

असोच-वि० [सं० अ+शोच] (१) शोच-रहित। चिंता-रहित। (२) निश्चिंत। बेफ़िक्र।

असोज*†-संज्ञा पुं० [सं० अश्वयुज्] आश्विन। क्वार।

असोस*-वि० [सं० अ+शोष] जो सूखे नहीं। न सूखनेवाला। उ०—(क) कबिरा मन का माँहिला अवला बहै असोस।

देखत ही दह में परै देय किसी को दोस।—कबीर। (ख) गोपिन के अँसुवनि भरी सदा असोस अपार। डगर डगर नै ह्वै रही नगर बगर के बार।—बिहारी।

असोसियेशन-संज्ञा पुं० [अं०] समिति। समाज।

असौंध-संज्ञा पुं० [अ=नहीं+हिं० सौंध=सुगंध] दुर्गंधि। बदबू। उ०—जहँ आगम पौनहि को सुनिये। नित हानि असौंधहि की गुनिये।—केशव।

असौच-संज्ञा पुं० दे० "अशौच"।

अस्क†-संज्ञा पुं० [देश०] नैनीताल में बुलाक को कहते हैं। यह एक छोटी सी नथुनी और लटकन है जिसे स्त्रियाँ नाक में पहनती हैं।

अस्तंगत-वि० [सं०] (१) अस्त को प्राप्त। नष्ट। (२) अवनत। हीन।

अस्त-वि० [सं०] (१) छिपा हुआ। तिरोहित। (२) जो न दिखाई पड़े। अदृश्य। डूबा हुआ। जैसे,—सूर्य्य अस्त हो गया। (३) नष्ट। ध्वस्त। जैसे,—मुग़लों का प्रताप औरंगज़ेब के पीछे अस्त हो गया।

संज्ञा पुं० [सं०] तिरोधान। लोप। अदर्शन। जैसे,—सूर्य्यास्त के पहले आ जाना।

यौ०—सूर्य्यास्त। शुक्रास्त। अस्तंगत।

विशेष—सब ग्रह अपने उदय के लग्न से सातवें लग्न पर अस्त होते हैं। इसी से कुंडली में सातवें घर की संज्ञा 'अस्त' है। बुध को छोड़ और ग्रह जब सूर्य्य के साथ होते हैं, तब अस्त कहे जाते हैं।

अस्तन*-संज्ञा पुं० दे० "स्तन"।

अस्तबल-संज्ञा पुं० [अर०] घुड़साल। तबेला।

अस्तमती-संज्ञा स्त्री० [सं०] शालपर्णी।

अस्तमन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अस्तमित] (१) अस्त होना। तिरोधान। (२) सूर्य्यादि ग्रहों का तिरोधान वा अस्त होना।

यौ०—अस्तमन बेला।

अस्तमन नक्षत्र-संज्ञा पुं० [सं०] जिस नक्षत्र पर कोई ग्रह अस्त हो, वह नक्षत्र उस ग्रह का अस्तमन-नक्षत्र कहलाता है।

अस्तमन बेला-संज्ञा स्त्री० [सं०] सायंकाल। संध्या का समय।

अस्तमित-वि० [सं०] (१) तिरोहित। छिपा हुआ। (२) नष्ट। मृत।

अस्तर-संज्ञा पुं० [फ़ा० । सं० स्तृ=आच्छादन, तह] (१) नीचे की तह वा पल्ला। भितल्ला। उपल्ले के नीचे का पल्ला। (२) दोहरे कपड़े में नीचे का कपड़ा (३) नीचे उपर रखकर सिले हुए दो चमड़ों में से नीचेवाला चमड़ा। (४) वह चंदन का तेल जिस पर भिन्न भिन्न सुगंधों का आरोप करके अतर बनाया जाता है। ज़मीन। (५) वह कपड़ा जिसे स्त्रियाँ बारीक साड़ी के नीचे लगाकर पहनती हैं। अँतरौटा। अंतरपट। (६) नीचे का रंग जिस पर दूसरा रंग चढ़ाया जाता है।

अस्तरकारी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा] (१) चूने की लिपाई। सफ़ेदी। कलई। (२) गचकारी। पलस्तर। पन्ना लगाना।

अस्तव्यस्त-वि० [सं०] उलटा पुलटा। छिन्न भिन्न। तितर बितर।

अस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भाव। सत्ता। (२) विद्यमानता। वर्त्तमानता। (३) जरासंध की एक कन्या जो कंस को ब्याही गई थी।

अस्तिकाय-संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्रानुसार वह सिद्ध पदार्थ जो प्रदेशों वा स्थानों के अनुसार कहे जाते हैं। ये पाँच हैं—(क) जीवास्तिकाय, (ख) पुद्गलास्तिकाय। (ग) धर्म्मास्तिकाय। (घ) अधर्म्मास्तिकाय और (च) आकाशास्तिकाय।

अस्तिकेतुसंज्ञा-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में वह केतु जिसका उदय पश्चिम भाग में हो और जो उत्तर भाग में फैला हो। इसकी मूर्ति रूक्ष होती है और इसका फल भयप्रद है।

अस्तित्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सत्ता का भाव। विद्यमानता। मौजूदगी। (२) सत्ता। भाव।

अस्तीन†-संज्ञा स्त्री० दे० "आस्तीन"।

अस्तु-अव्य० [सं०] (१) जो हो। चाहे जो हो। (२) खैर। भला। अच्छा।

अस्तुति*-संज्ञा स्त्री० [सं०] निंदा। अपकीर्ति।

संज्ञा स्त्री० दे० "स्तुति"।

अस्तुरा-संज्ञा पुं० [फ़ा० । सं० अस्त्र] बाल बनाने का छुरा।

अस्तेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चोरी का त्याग। चोरी न करना। (२) योग के आठ अंगों में नियम नामक अंग का तीसरा भेद। यह स्तेय अर्थात् बल से वा एकांत में पराये धन का अपहरण करने का उलटा वा विरोधी है। इसका फल योगशास्त्र में सब रत्नों का उपस्थान वा प्राप्ति है (३) जैनशास्त्रानुसार अदत्तदान का त्याग करना। चोरी न करने का व्रत।

अस्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह हथियार जिसे फेंककर शत्रु पर चलावें। जैसे, बाण, शक्ति। (२) वह हथियार जिससे कोई चीज़ फेंकी जाय। जैसे, धनुष, बंदूक। (३) वह हथियार जिससे शत्रु के चलाए हथियारों की रोक हो। जैसे, ढाल। (४) वह हथियार जो मंत्र द्वारा चलाया जाय। जैसे, जृंभास्त्र। (५) वह हथियार जिससे चिकित्सक चीर फाड़ करते हैं। (६) शस्त्र। हथियार।

अस्त्रकार*-संज्ञा पुं० [सं०] हथियार बनानेवाला कारीगर।

अस्त्रघला†-वि० [सं० अस्त्र+घातक] अस्त्र चलानेवाला।

अस्त्रचिकित्सा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक शास्त्र का वह अंश जिसमें चीर फाड़ का विधान है। (२) चीर फाड़ करना। अस्त्रप्रयोग। जर्राही। इसके आठ भेद हैं। (क) छेदन=नश्तर लगाना। (ख) भेदन=फाड़ना। (ग) लेखन=खरों-

चना। (घ) वेधन=सूई की नोक से छेद करना। (च) मेषण=धोना। साफ़ करना। (छ) आहरण=काटकर अलग करना। (ज) विस्रावण=फ़स्द खोलना। (झ) सीना=सीना या टाँका लगाना।

अस्त्रवेद-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें अस्त्र बनाने और प्रयोग करने का विधान हो। धनुर्वेद।

अस्त्रशाला-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ अस्त्र शस्त्र रक्खे जाँय। अस्त्रागार। सिलहख़ाना।

अस्त्रागार-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ अस्त्र शस्त्र इकट्ठे रक्खे जायँ। अस्त्रशाला।

अस्त्री-संज्ञा पुं० [सं० अस्त्रिन्] [स्त्री० अस्त्रिणी] अस्त्रधारी मनुष्य। हथियारबंद आदमी।

अस्थल*-संज्ञा पुं० दे० "स्थल"।

अस्थाई*-वि० दे० "स्थायी"।

अस्थान*-संज्ञा पुं० दे० "स्थान"।

अस्थि-संज्ञा स्त्री० [सं०] हड्डी।

अस्थिकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणों के अनुसार एक नरक जिसमें हड्डियाँ भरी हुई हैं। ब्रह्म-वैवर्त्त के अनुसार वे पुरुष इस नरक में पड़ते हैं जो गया में विष्णु पद पर पिंडदान नहीं करते।

अस्थिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंचलता। डाँवाँडोलपन।

अस्थिर-वि० [सं०] (१) जो स्थिर न हो। चंचल। चलायमान। डाँवाँडोल। (२) बेठौर-ठिकाने का। जिसका कुछ ठीक न हो।

वि० दे० "स्थिर"।

अस्थिसंचय-संज्ञा पुं० [सं०] भस्मांत वा अंत्येष्टि संस्कार के अनंतर की एक क्रिया वा संस्कार जिसमें जलने से बची हुई हड्डियाँ एकत्र की जाती हैं।

अस्थूल-वि० [सं०] (१) जो स्थूल न हो। सूक्ष्म।

*(२) दे० "स्थूल"।

अस्नान*-संज्ञा पुं० दे० "स्नान"।

अस्निग्धदारुक-संज्ञा पुं० [सं०] देवदार की जाति का एक पेड़।

अस्पताल-संज्ञा पुं० [अं० हास्पिटल] औषधालय। चिकित्सालय। दवाख़ाना।

अस्पृश्य-वि० [सं०] (१) जो छूने योग्य न हो। (२) नीच जाति का। अंत्यज जाति का।

अस्पृह-वि० [सं०] निःस्पृह। निर्लोभ। जिसमें लालच न हो।

अस्फुट-वि० [सं०] (१) जो स्पष्ट न हो। जो साफ़ न हो। (२) गूढ़। जटिल।

अस्मिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) योगशास्त्र के अनुसार पाँच प्रकार के क्लेशों में से एक। द्रक, द्रष्टा और दर्शन शक्ति को एक मानना वा पुरुष (आत्मा) और बुद्धि में अभेद मानना। (२) अहंकार। सांख्य में इसको मोह और वेदांत में हृदय-ग्रंथि कहते हैं।

अस्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोना। (२) रुधिर। (३) जल। (४) आँसू।

अस्रप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस। (२) मूल नक्षत्र।

वि० रक्त पीनेवाला।

अस्रपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलौका। जोंक। (२) डाइन। टोना करनेवाली।

अस्रफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] सलाई का पेड़।

अस्रार्जक-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्वेत तुलसी।

अस्ल-वि० दे० "असल"।

अस्ली-वि० दे० "असली"।

अस्वप्न-संज्ञा पुं० [सं०] देवता।

अस्वस्थ-वि० [सं०] (१) रोगी। बीमार। (२) अनमना।

अस्वादुकंटक-संज्ञा पुं० [सं०] गोखरू।

अस्वाभाविक-वि० [सं०] (१) जो स्वाभाविक न हो। प्रकृति-विरुद्ध। (२) कृत्रिम। बनावटी।

अस्वामिविक्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरे के पदार्थ को उसकी आज्ञा के बिना बेच लेना। (२) दूसरे की चीज ज़बर-दस्ती छीनकर वा कहीं पड़ी पाकर उसकी इच्छा के विरुद्ध बेच डालना। निक्षिप्त।

अस्वास्थ्य-संज्ञा पुं० [सं०] बीमारी। रोग।

अस्वीकार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अस्वीकृत] स्वीकार का उलटा। इनकार। नामंज़ूरी। नाहीं।

क्रि० प्र०—करना।

अस्वीकृत-वि० [सं०] अस्वीकार किया हुआ। नामंज़ूर किया हुआ। नामंज़ूर।

अस्सी-वि० [सं० अशीति, प्रा० असीति] सत्तर और दस की संख्या। दस का अठगुना।

अहं-सर्व [सं०] मैं।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) अहंकार। अभिमान। उ०—(क) तुलसी सुखद शांति को सागर। संतन गायो कौन उजागर। तामें तन मन रहै समोई। अहं अगिनि नहिं दाहै कोई।—तुलसी।

(ख) सुरन हेतु हरि मत्स्य रूप धाऱ्यो। सदाही भक्त संकट निवाऱ्यो।...........ज्यों महाराज या जलधि तें पार कियो भव जलधि हूँ पार करौ स्वामी। अहं मम मत हमैं सदा लागी रहति मोह मद क्रोध युत मंद कामी।—सूर। (२) संगीत का एक भेद जिसमें सब शुद्ध स्वरों तथा कोमल गांधार का व्यवहार होता है।

अहंकार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० अहंकारी] (१) अभिमान।

गर्व। घमंड। (२) वेदांत के अनुसार अंतःकरण का एक भेद जिसका विषय गर्व वा अहंकार है। "मैं हूँ" वा "मैं कहता हूँ" इस प्रकार की भावना। (३) सांख्यशास्त्र के अनुसार महत्तत्व से उत्पन्न एक द्रव्य। यह महत्तत्व का विकार है और इसकी सात्विक अवस्था से पाँच ज्ञानेंद्रियों, पाँच कर्मेंद्रियों तथा मन की उत्पत्ति होती है और तामस अवस्था से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है, जिनसे क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। सांख्य में इसको प्रकृतिविकृति कहते हैं। यह एक अंतःकरण द्रव्य है। (४) अंतःकरण की एक वृत्ति। इसे योगशास्त्र में अस्मिता कहते हैं। (५) मैं और मेरा का भाव। ममत्व।

अहंकारी-वि० [सं० अहंकारिन्] [स्त्री० अहंकारिणी] अहंकार करनेवाला। घमंडी। गर्वी।

अहंकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अहंकार।

अहंता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अहंकार। घमंड। गर्व।

अहंवाद-संज्ञा पुं० [सं०] डींग मारना। शेखी हाँकना। उ०—अहंवाद मैं तैं नहीं दुष्टसंग नहिं कोइ। दुख ते दुख नहिं ऊपजै सुख ते सुख नहिं होइ।—तुलसी।

अह-संज्ञा पुं० [सं० अहन्] (१) दिन। (२) विष्णु। (३) सूर्य्य। (४) दिन का अभिमानी देवता।

यौ०—अहर्पति=सूर्य्य। अहर्मुख=उषःकाल। अहर्हः=दिन दिन।

अव्य० [सं० अहह] एक अव्यय संबोधन। आश्चर्य, खेद और क्लेश आदि में इसका प्रयोग होता है। जैसे,—अह! तुमने बड़ी मूर्खता की।

अहक*-संज्ञा पुं० [सं० ईहा] इच्छा। आकांक्षा। लालसा। उ०—अहक मोर बरषा ऋतु देखहुँ। गुरू चीन्हि कै योग बिसेषहुँ।—जायसी।

अहकाम-संज्ञा पुं० [अ०, हुक्म का बहु०] (१) नियम। क़ायदा। (२) हुक्म। आज्ञाएँ।

अहटाना*-क्रि० अ० [हिं० आहट] (१) आहट लगना। पता चलना। उ०—रहत नयन के कोरवा, चितवनि छाय। चलत न पग पैजनियाँ मग अहटाय।—रहिमन। (२) आहट लगाना। टोह लेना। पता चलाना।

क्रि० अ० [सं० आहत] दुखना। दर्द करना। उ०—(क) तनिक किरकिटी के परे पल पल में अहटाय। क्यों सोवैं सुख नींद दृग मीन बसै जब आय।—रसनिधि (ख) सुनी दूत बानि महामानी खानजादे जबै, हियें अहटानी हैं रिसानी देह ता समै।—सूदन।

अहद-संज्ञा पुं० [अ०] प्रतिज्ञा। वादा। इक़रार।

क्रि० प्र०—करना=प्रतिज्ञा करना।—टूटना=प्रतिज्ञा भंग होना।—तोड़ना=प्रतिज्ञा भंग करना। वादा पूरा न करना। (२) संकल्प। इरादा। (३) समय। काल। राज्यकाल। जैसे,—अकबर के अहद में प्रजा बड़ी सुखी थी।

यौ०—अहदनामा। अहदशिकन। अहदशिकनी। अहद हुकूमत। अहद वो पैमान।

अहददार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] मुसलमानी राज्य के समय का एक अफ़सर जिसे राज्य की ओर से कर का ठीका दिया जाता था। उसको इस काम के लिये दो वा तीन रुपया सैकड़ा बंधेज मिलता था और राज्य में वह सब कर का देनदार ठहरता था। एक प्रकार का ठेकेदार।

अहदनामा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) एकरारनामा। वह लेख वा पत्र जिसके द्वारा दो वा दो से अधिक मनुष्य किसी विषय में कुछ इक़रार वा प्रतिज्ञा करें। प्रतिज्ञापत्र। (२) सुलहनामा। संधिपत्र।

अहदी-वि० पुं० [अ०] (१) आलसी। आसकती। (२) वह जो कुछ काम न करे। अकर्मण्य। निठल्लू। मट्ठर।

संज्ञा पुं० [अ०] अकबर के समय के एक प्रकार के सिपाही जिनसे बड़ी आवश्यकता के समय काम लिया जाता था, शेष दिन वे बैठे खाते थे। इसी से 'अहदी' शब्द आलसियों के लिये चल गया। ये लोग कभी कभी उन जमींदारों से मालगुज़ारी वसूल करने के लिये भी भेजे जाते थे जो देने में आनाकानी करते थे। ये लोग अड़कर बैठ जाते थे और बिना लिए नहीं उठते थे।

अहदीखाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] अहदियों के रहने का स्थान।

अहदे हुकूमत-संज्ञा पुं० [फ़ा०] शासनकाल। राज्य।

अहन्-संज्ञा पुं० [सं०] दिन।

यौ०—अहर्निश=दिन रात।

अहन् पुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] दुपहरिया का फूल। गुल-दुपहरिया।

अहमक़-वि० [अ०] जड़। बेवकूफ़। मूर्ख। नासमझ।

अहमहमिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लागडाँट। पहले हम तब दूसरा। हमाहमी। चढ़ा-ऊपरी।

अहमिति*-संज्ञा स्त्री० दे० "अहम्मति"।

अहमेव-संज्ञा पुं० [सं०] अहंकार। गर्व। घमंड। उ०—उदित होत शिवराज के, मुदित भए द्विज देव। कलियुग हट्यो मिट्यो सकल, म्लेच्छन को अहमेव।—भूषण।

अहम्मति-संज्ञा स्त्री० [सं] (१) अहंकार। (२) अविद्या।

अहरन-संज्ञा स्त्री० [सं० आ+धरण=रखना] निहाई। उ०—कबिरा केवल राम की तू मति छाड़ै ओट। घन अहरन बिच लोह ज्यों घनी सहै सिर चोट।—कबीर।

अहरना†-क्रि० स० [सं० आहरणम्=निकालना] (१) लकड़ी को छीलकर सुडौल करना। (२) डौलना।

अहरनि*-संज्ञा स्त्री० दे० "अहरन"।

अहरा-संज्ञा पुं० [सं० आहरण=इकट्ठा करना] (१) कंडे का ढेर जो जलाने के लिये इकट्ठा किया जाय। (२) वह आग जो इस प्रकार इकट्ठा किए हुए कंडों से तैयार की जाय। (३) वह स्थान जहाँ लोग ठहरें। (४) प्याऊ। पौशाला।

अहरी-संज्ञा स्त्री० [सं० आहरण=इकट्ठा होना] (१) वह स्थान जहाँ पर लोग पानी पियें। प्याऊ। (२) एक गड्ढा वा हौज़ जो कुएँ के किनारे जानवरों के पानी पीने के लिये बना रहता है। चरही। (३) हौज़ जिसमें किसी काम के लिये पानी भरा जाय।

अहर्गण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिनों का समूह। (२) ज्योतिष कल्प के आदि से किसी इष्ट वा नियत काल तक का समय।

अहर्निश-क्रि० वि० [सं०] (१) रातदिन। (२) सदा। नित्य।

अहलकार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) कर्मचारी। (२) कारिंदा।

अहलना*-क्रि० अ० [सं० आहलनम्] हिलना। काँपना। दहलना। उ०—पहल पहल तन रुइ ज्यों झाँपै। अहल अहल अधिको हिय काँपै।—जायसी।

अहलमद-संज्ञा पुं० [फ़ा०] अदालत का वह कर्मचारी जो मुक़दमों की मिसिलों को दर्ज रजिस्टर करता और रखता है, अदालत के हुक्म के अनुसार हुक्मनामे जारी करता है, तथा किसी मुक़द्दमे का फ़ैसला होने पर उसकी मिसिल को तर्तीब देकर मुहाफ़िज़खाने में दाख़िल करता है।

अहला†-संज्ञा पुं० दे० "अहिला"

अहलाद-संज्ञा पुं० दे० "आह्लाद"

अहलादी-वि० दे "आह्लादी"।

अहल्या-वि० [सं०] जो (धरती) जोती न जा सके। संज्ञा स्त्री० गौतम ऋषि की पत्नी।

अहवान*-संज्ञा पुं० [सं० आह्वान] बुलाना। आवाहन। उ०—कियो आपने अयन पयाना। राति सरस्वति किय अहवाना।—रघुराज।

अहवाल-संज्ञा पुं० [अ० हाल का बहुवचन] (१) समाचार। वृत्तांत। (२) दशा। अवस्था।

अहसान-संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी के साथ नेकी करना। सलूक। भलाई। उपकार। (२) कृपा। अनुग्रह। निहोरा। उ०—बहु धन लै अहसान कै, पारौ देत सराहि। बैद बधू हँसि भेद सौं, रही नाह मुख चाहि।—बिहारी। (३) कृतज्ञता।

अहह-अव्य० [सं०] एक प्रत्यय जिसका प्रयोग आश्चर्य्य, खेद क्लेश और शोक सूचित करने के लिये होता है। उ०—अहह! तात दारुण हठ ठानी।—तुलसी।

अहा-अव्य० [सं० अहह] इसका प्रयोग प्रसन्नता और प्रशंसा की सूचना के लिये होता है। जैसे,—अहा! यह कैसा सुन्दर फूल है।

अहाता-संज्ञा पुं० [अ०] (१) घेरा। हाता। (२) प्राकार। चारदीवारी।

अहान*-संज्ञा पुं० [सं० आह्वान] पुकार। शोर। चिल्लाहट। उ०—भइ अहान पदुमावति चली। छत्तिस कुलि भइ गोहन चली।—जायसी।

अहार*-संज्ञा पुं० दे० "आहार"।

अहारना*-क्रि० स० [सं० आहरणम्=खाना] (१) खाना। भक्षण करना। उ०—तो हमरे आश्रम पगु धारौ। निज रुचि के फल विपुल अहारौ।—रघुराज। (२) चपकाना। लेई लगाकर सटना। (३) कपड़े में माँड़ी देना। (४) दे० "अहरना"।

अहारी-वि० दे० "आहारी"।

अहार्य्य-वि० [सं०] (१) जो धन वा घूँस के लोभ में न आ सके। (२) जो हरण न किया जा सके। जो चुराया न जा सकता हो। यौ०—अहार्य्य शोभा।

अहाहा-अव्य० [सं० अहह] हर्ष-सूचक अव्यय।

अहिंसक-वि० [सं०] (१) जो हिंसा न करे। जो किसी का घात न करे। (२) जो किसी को दुख न दे। जिससे किसी को पीड़ा न पहुँचे।

अहिंसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) साधारण धर्मों में से एक। किसी को दुःख न देना। (२) योगशास्त्रानुसार पाँच प्रकार के यमों में पहला। मन, वाणी और कर्म से किसी प्रकार किसी काल में किसी प्राणी को दुःख वा पीड़ा न पहुँचाना। (३) बौद्ध शास्त्रानुसार त्रस और स्थावर को दुःख न देना। (४) जैन शास्त्रानुसार प्रमाद से भी त्रस और स्थावर को किसी काल में किसी प्रकार की हानि न पहुँचाना। (५) धर्मशास्त्रानुसार शास्त्र की विधि के विरुद्ध किसी प्राणी की हिंसा न करना।

अहिंस्र-वि० [सं०] जो हिंसा न करे। अहिंसक।

अहि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) राहु। (३) वृत्रासुर। (४) खल। वंचक। (५) श्लेषा नक्षत्र। (६) पृथिवी (७) सूर्य्य। (८) पथिक। (९) सीसा। (१०) मात्रिक गण में ठगण अर्थात् छः मात्राओं के समूह का छठा भेद जिसमें क्रम से लघु गुरु गुरु लघु 'ISSI' मात्राएँ होती हैं; जैसे—दयासिंधु। (११) इक्कीस अक्षरों के वृत्त का एक भेद जिसमें पहले छः भगण और अंत में मगण होता है (भ भ भ भ भ भ म); जैसे—भोर समय हरि गेंद जो खेलत संग सखा यमुना तीरा। गेंद गिरो यमुना दह में झटि कूदि परे धरि के धीरा। ग्वाल पुकार करी तब नन्द यशोमति रोवत ही धाए। दाऊ रहे समुझाय इतै अहि नाथि उतै दह तें आए।

अहिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सेमल का वृक्ष।

अहिक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन (१) दक्षिण पांचाल की राजधानी। (२) दक्षिण पांचाल। यह देश कंपिल से चंबल तक था।

इसे अर्जुन ने द्रुपद से जीत कर द्रोण को गुरुदक्षिणा में दिया था। अहिच्छत्र।

अहिगण-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच मात्राओं के गण-ठगण का सातवाँ भेद जिसमें एक गुरु और तीन लघु होते हैं (ऽ।।।)। जैसे—पापहर।

अहिच्छत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन दक्षिण पांचाल। यह देश अर्जुन ने द्रुपद से जीतकर द्रोण को गुरुदक्षिणा में दिया था। (२) दक्षिण पांचाल की राजधानी। (३) मेढासींगी।

अहिजिन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) कृष्ण।

अहिजिह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागफनी।

अहिटा*†-संज्ञा पुं० [अ० अहदी] वह व्यक्ति जो ज़मींदार की ओर से उस असामी को फ़सल काटने से रोकने के लिये बैठाया जाय जिसने लगान वा देना न दिया हो। सहना।

अहित-वि० [सं०] (१) शत्रु। वैरी। विरोधी। (२) हानिकारक। अनुपकारी।

संज्ञा पुं० बुराई। अकल्याण।

अहिनाह*-संज्ञा पुं० [सं०] [सं० अहिनाथ, प्रा० अहिनाह] शेषनाग। उ०—प्रभु विवाह जस भयउ उछाहू। सकहि न बरनि गिरा अहिनाहू।—तुलसी।

अहिफेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्प के मुँह की लार वा फेन। (२) अफ़ीम।

अहिबेल*-संज्ञा स्त्री० [सं० अहिवल्ली, प्रा० अहिवेली] नाग-बेलि। पान। उ०—कनक कलित अहिबेलि बढ़ाई। लखि नहिं परै सुपरन सहाई।—तुलसी।

अहिमाली-संज्ञा पुं० [सं०] सर्प की माला धारण करनेवाले, शिव।

अहिमात-संज्ञा पुं० [सं० अहि=गति+मत्=युक्त] चाक में वह गढ़ा जिसके बल चाक को कील पर रखते हैं।

अहिमेध-संज्ञा पुं० [सं०] सर्पयज्ञ।

अहिर†-संज्ञा पुं० दे० "अहीर"

अहिर्बुध्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्यारह रुद्रों में से एक। (२) उत्तराभाद्र-पद नक्षत्र, जिसके देवता अहिर्बुध्न हैं।

अहिलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवल्ली। पान।

अहिला†-संज्ञा पुं० [सं० अभिप्लव, प्रा० अहिलो, हिं० हील, चहला=कीचड़] (१) पानी की बाढ़। बूड़ा। (२) गड़बड़। (३) दंगा।

अहिवर-संज्ञा पुं० [सं०] दोहे का एक भेद जिसमें ५ गुरु और ३८ लघु होते हैं; जैसे—कनक वरण तन मृदुल अति कुसुम सरिस दरसात। लखि हरि दगरस छकि रहे बिसराई सब बात।

अहिवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] पान। नागवल्ली।

अहिवात-संज्ञा पुं० [सं० अभिवाद्य, प्रा० अहिवाद] [वि० अहिवातिन, अहिवाती स्त्री] भाग्य। सोहाग। उ०—(क) दीन असीस सबै मिल तुम माथे नित छात। राज करौ चितउरगढ़ राखौ पिय अहिवात।—जायसी। (ख) अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा।—तुलसी।

अहिवातिन-वि० स्त्री० [हिं० अहिवात] सौभाग्यवती। सोहागिन। सधवा।

अहिवाती-वि० स्त्री० [हिं० अहिवात] सौभाग्यवती। सोहागिन। सधवा।

अहिस्तना-संज्ञा स्त्री० [सं०] बच्चों का एक रोग जिसमें उनको पानी सा दस्त आता है, गुदा से सदा मल बहा करता है, गुदा लाल रहती है, धोने पोंछने से खुजली उठती है और फोड़े निकलते हैं।

अहिसाव*-संज्ञा पुं० [सं० अहिशावक] साँप का बच्चा। पोआ। सँपोला।

अहीनगु-संज्ञा पुं० [सं०] एक सूर्य्यवंशी राजा जो देवानीक का पुत्र था।

अहीनवादी-वि० [सं०] जो निरुत्तर न हुआ हो। जो वाद में न हारा हो।

अहीर-संज्ञा पुं० [सं० अभीर] [स्त्री० अहीरिन] एक जाति जिसका काम गाय भैंस रखना और दूध बेचना है। ग्वाला।

अहीरी-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं।

अहीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँपों का राजा। शेषनाग। (२) शेष के अवतार लक्ष्मण और बलराम आदि।

अहुटना*-क्रि० अ० [सं० हठ। हिं० हटना] हटना। दूर होना। अलग होना। उ०—(क) बिरह भन्यो घर अंगन कौने? दिन दिन बाढ़त जात सखी री ज्यों कुरुखेत के बारे सोने। तब वह दुख दीनो जब बाँधे ताहू को फल जानि। निज कृत चूक समुझि मन ही मन लेत परस्पर मानि। हम अबला अति दीन हीन मति तुमही हो विधि योग। सूर-बदन देखत ही अहुटै या शरीर को रोग।—सूर। (ख) दुहुँ देखि दपटत, हयन झपटत जाइ लपटत धाइ। फिरि फेरि अहुटत, चलत, छुहटत दुहूँ पुहटत आइ।—सूदन।

अहुटाना*-क्रि० स० [सं० हठ। हिं० हटाना] हटाना। दूर करना। अलग करना। भगाना। उ०—उमंडि कितेकनु चोट चलाइ। भुसिंडिनि मारि दए अहुटाइ।—सूदन।

अहुठ*-वि० [सं० अध्युष्ठ, अड्ढुड्ढ, अर्द्ध मा० अड्ढुड्ढ] साढ़े तीन। तीन और आधा। उ०—(क) अहुठ हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह। नयनहिं जानहुँ नीअरे, कर पहुँचत अवगाह।—जायसी। (ख) भीतर तें बाहर लौं आवत। घर आँगन अति चलत सुगम भयो देहरी में अँटकावत। अहुठ पैर बसुधा सब कीन्ही धाम अवधि बिरमावत।—सूर। (ग) जब मोहन कर गही मथानी। कबहुँक अहुठ परग करि बसुधा कबहुँक देहरि उलँघि न जानी।—सूर।

अहुत-संज्ञा पुं० [सं०] जप । ब्रह्मयज्ञ । वेद-पाठ । यह मनुस्मृति के अनुसार पाँच यज्ञों में से है ।

अहुठन-संज्ञा पुं० [सं० स्थूण] जमीन में गाड़ा हुआ काठ का कुंदा जिस पर रखकर किसान लोग गँड़ासे से चारा काटते हैं । ठीहा ।

अहे-संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ जिसकी भूरी लकड़ी मकानों में लगती है तथा हल और गाड़ी आदि बनाने के काम में आती है ।

अव्य० दे० "हे" ।

अहेतु-वि० [सं०] (१) बिना कारण का । बिना सबब का । निमित्त रहित । (२) व्यर्थ । फ़ज़ूल ।

संज्ञा पुं० एक काव्यालंकार जिसमें कारणों के इकट्ठे रहने पर भी कार्य का न होना दिखलाया जाय । उ०—है संध्या हू रागयुत दिवसहु सन्मुख नित्त । होत समागम तदपि नहिं विधि गति अहो विचित्र ।

अहेतुक-वि० दे० "अहेतु" ।

अहेर-संज्ञा पुं० [सं० आखेट] [वि० अहेरी] (१) शिकार । मृगया । (२) वह जंतु जिसका शिकार खेला जाय ।

अहेरी-संज्ञा पुं० [हि० अहेर] शिकारी आदमी । आखेटक । उ०—चित्रकूट मनु अचल अहेरी । चुकइ न घात मार मुठभेरी । —तुलसी ।

वि० शिकारी । शिकार खेलनेवाला । व्याधा ।

अहो-अव्य० [सं०] एक अव्यय जिसका प्रयोग कभी संबोधन की तरह और कभी करुणा, खेद, प्रशंसा, हर्ष और विस्मय सूचित करने के लिये होता है । उ०—(क) जाहु नहीं, अहो जाहु चले हरि जात चले दिनहीं बनि बागे । (संबोधन) —केशव । (ख) अहो ! कैसे दुःख का समय है । (करुणा, खेद) (ग) अहो ! धन्य तव जनम मुनीसा । (प्रशंसा)—तुलसी । (घ) अहो भाग्य ! आप आए तो (ङ) कूनो कूनो बाढ़त सुधूनो की निसा में, अहो आनँद अनूप रूप काहू ब्रज बाल को । (हर्ष)—पद्माकर ।

अहोरात्र-संज्ञा पुं० [सं०] दिनरात । दिन और रात्रि का नाम ।

अहोरा बहोरा-संज्ञा पुं० [सं० अहः=दिन+हिं० बहुरना] एक विवाह की रीति जिसमें दुलहिन ससुराल में जाकर उसी दिन अपने पिता के घर लौट जाती है । हेराफेरी ।

क्रि० वि० बार बार । लौट लौटकर । उ०—शरदचंद महँ खंजन जोरी । फिरि फिरि लरहिं अहोर बहोरी ।—जायसी ।

आ

आ-हिन्दी वर्णमाला का दूसरा अक्षर जो 'अ' का दीर्घ रूप है ।

आँ-अव्य० [अनु०] (१) विस्मय-सूचक शब्द । जैसे,—आँ, क्या कहा ? फिर तो कहो । (२) बालक के रोने के शब्द का अनुकरण ।

आँक-संज्ञा पुं० [सं० अङ्क] (१) अंक । चिह्न । निशान । (२) संख्या का चिह्न । अदद । उ०—(क) जनक मुदित मन टूटत पिनाक के ।......तुलसी महीस देखे, दिन रजनीस जैसे, सूने परे सून से मनो मिटाए आँक के ।—तुलसी । (ख) कहत सबै बिंदी दिए, आँक दसगुनो होत । तिय लिलार बिंदी दिए, अगनित बढ़त उदोत ।—बिहारी । (३) अक्षर । हरफ़ । उ०-(क) छतो नेह कागद हिये, भई लखाय न टाँक । बिरह तचे उघर्‌यो सु अब, सेंहुड़ को सो आँक ।—बिहारी । (ख) गुण पै अपार साधु, कहैं आँक चारि ही में अर्थ बिस्तारि कविराज टकसार है ।—प्रिया । (४) गढ़ी हुई बात । (५) दृढ़ निश्चय । निश्चित सिद्धान्त । उ०—(क) जाउँ राम पहिं आयसु देहू । एकहि आँक मोर हित एहू ।—तुलसी । (ख) एकहिं आँक इहइ मन माहीं । प्रात काल चलिहउँ प्रभु पाहीं ।—तुलसी । (६) अंश । हिस्सा । उ०—नाहिनै नाथ अवलंब मोहिं आन की । करम मन बचन प्रन सत्य, करुनानिधे एक गति राम भवदीय पदत्रान की । काम संकल्प उर निरखि बहु बासनहिं आस नहिं एक हू आंक निर्बान की ।—तुलसी । (७) किसी मनुष्य के नाम पर प्रसिद्ध वंश । जैसे,—वे बड़े कुलीन हैं, वे अमुक के आँक के हैं । (८) अँकवार । गोद । उ०—पीछे ते गहि लांक री, गही आंकरी फेरि ।—शृं० सत० । (९) छकड़े या बैलगाड़ियों की बल्लियों के नीचे दिया हुआ लकड़ी का मज़बूत ढाँचा जिसमें पहिए की धुरी डाली जाती है । (१०) नौ मात्रा के छंदों की संज्ञा । अंक ।

आँकड़ा-संज्ञा पुं० [सं० अङ्क, हिं० आंक+ड़ा (प्रत्य०)] (१) आँक । अदद । संख्या का चिह्न । (२) पेंच । (३) चौपायों की एक बीमारी ।

† संज्ञा पुं० [सं० आक=मदार] मदार । आक ।

आँकन†-संज्ञा पुं० [अ=नहीं+कण=दाना] ज्वार की बाल की खुखी जिसमें से दाना निकाल लिया गया हो ।

आँकना-क्रि० स० [सं० अङ्कन] (१) चिह्नित करना । निशान लगाना । दागना । उ०—खिन खिन जीव सँड़ासन आँका । औ नित डोम छुआवहिं बाँका ।—जायसी । (१) कूतना । अंदाज़ करना । तख़मीना करना । मूल्य लगाना । (३) अनुमान करना । ठहराना । निश्चित करना । उ०—आम को

कहति अमिली है, अमिली को आम, आकही अनारन को आँकिबो करति है।—पद्माकर।

आँकर–वि० [सं० आकर=खान, जो गहरी होती है] (१) गहरा। 'स्याह' वा 'सेव' का उलटा।

विशेष—जोताई दो तरह की होती है—एक आँकर अर्थात् ख़ूब गहरी (ऊँवाय) और दूसरी स्याह वा सेव।

(२) बहुत अधिक। उ०—मोहमद मारयो राख्यो कुमति कुनारि सों बिसारि बेद लोक-लाज आँकरो अचेतु है।—तुलसी।

वि० [सं० अक्रय्य] महँगा।

आँकल*–संज्ञा पुं० [सं० अङ्क, हिं० आँक=दाग] दागा हुआ साँड़।—डिं०।

आँकुड़ा–संज्ञा पुं० दे० "अँकुड़ा"।

आँकुस*†–संज्ञा पुं० दे० "अंकुश"।

आँकू–संज्ञा पुं० [सं० अङ्क हिं० आँक+ऊ (प्रत्य०)] आँकने वा कूतनेवाला। तख़मीना करनेवाला।

आँख–संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षि, प्रा० अक्खि, पं० अँक्ख] देखने की इंद्रिय। वह इंद्रिय जिससे प्राणियों को रूप अर्थात् वर्ण, विस्तार तथा आकार का ज्ञान होता है। मनुष्य के शरीर में यह एक ऐसी इंद्रिय है, जिसपर आलोक के द्वारा पदार्थों का बिंब खिंच जाता है। जो जीव आरोह-नियमानुसार अधिक उन्नत हैं, उनकी आँखों की बनावट अधिक पेचीली और जटिल होती है; पर क्षुद्र जीवों में इनकी बनावट बहुत सादी, कहीं कहीं तो एक बिंदी के रूप में, होती है; उन पर रक्षा के लिये पलक और बरौनी इत्यादि का बखेड़ा नहीं होता। बहुत क्षुद्र जीवों में चक्षुरिंद्रिय की जगह वा संख्या नियत नहीं होती। शरीर के किसी स्थान में एक, दो, चार, छः बिंदियाँ सी होती हैं जिनसे प्रकाश का बोध होता है। मकड़ियों की आठ आँखें प्रसिद्ध हैं। रीढ़वाले जीवों की आँखें खोपड़े के नीचे गड्ढों में बड़ी रक्षा के साथ बैठाई रहती हैं और उन पर पलक और बरौनी आदि का आवरण रहता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि सभ्य जातियाँ वर्ण भेद अधिक कर सकती हैं और पुराने लोग रंगों में इतने भेद नहीं कर सकते थे। आँख बाहर से लंबाई लिए हुए गोल तथा दोनों किनारों पर नुकीली दिखाई पड़ती है। सामने जो सफ़ेद काँच की सी झिल्ली दिखाई पड़ती है, उसके पीछे एक और झिल्ली है जिसके बीचोबीच एक छेद होता है। इसके भीतर उसी से लगा हुआ एक उन्नतोदर काँच के सदृश पदार्थ होता है जो नेत्र द्वारा ज्ञान का मुख्य कारण है, क्योंकि इसी के द्वारा प्रकाश भीतर जाकर रेटिना पर के ज्ञान-तंतुओं पर कंप वा प्रभाव डालता है।

पर्या०—लोचन। नयन। नेत्र। ईक्षण। अक्षि। दृक्। दृष्टि। अंबक। विलोचन। वीक्षण। प्रेक्षण। चक्षु।

यौ०—**उनींदी आँख**=नींद से भरी आँख। वह आँख जिसमें नींद आने के लक्षण दिखाई पड़ते हों। **कंजी आँख**=नीली और भूरी आँख। बिल्ली की सी आँख। **कँटीली आँख**=घायल करनेवाली आँख। मोहित करनेवाली आँख। **गिलाफ़ी आँख**=पपोटों से ढकी हुई आँख; जैसे कबूतर की। **चंचल आँख**=यौवन के उमंग के कारण स्थिर न रहनेवाली आँख। **चरबाँक आँख**=चंचल आँख। **दियाँसी आँख**=बहुत छोटी आँख। **चोर आँख**=(१) वह आँख जिसमें सुरमा वा काजल मालूम न हो। (२) वह आँख जो लोगों पर इस तरह पड़े कि मालूम न हो। **धँसी आँख**=भीतर की ओर घुसी हुई आँख। **मतवाली आँख**=मद से भरी आँख। **मदभरी आँख, रस भरी आँख**=वह आँख जिससे भाव टपकता हो। **रसीली आँख, शरबती आँख**=गुलाबी आँख।

मुहा०—**आँख**=(१) ध्यान। लक्ष। उ०—उनकी आँख बुराई ही पर रहती है। (२) विचार। विवेक। परख। शिनाख़्त। उ०—(क) उसके आँख नहीं है; वह क्या सौदा लेगा (ख) राजा के आँख नहीं, कान होता है। (३) कृपादृष्टि। दया, भाव। उ०—अब तुम्हारी वह आँख नहीं रही। (४) संतति। संतान। लड़का बाला। उ०—(क) सोगिन मर गई, आँख छोड़ गई। (ख) एक आँख फूटती है तो दूसरी पर हाथ रखते हैं। (अर्थात् जब एक लड़का मर जाता है, तब दूसरे को देखकर धीरज धरते हैं और उसकी रक्षा करते हैं।) (ग) मेरे लिये तो दोनों आँखें बराबर हैं।

आँख आना=आँख में लाली, पीड़ा और सूजन होना।

आँख उठना=आँख आना। आँख में लाली और पीड़ा होना।

आँख उठाना=(१) ताकना। देखना। सामने नज़र करना। उ०—आँख उठाई तो चारों ओर मैदान देख पड़ा। (२) बुरी नज़र से देखना। बुरा बर्ताव करना। हानि पहुँचाने की चेष्टा करना। उ०—हमारे रहते तुम्हारी ओर कोई आँख उठा सकता है?

आँख उठाकर न देखना=(१) ध्यान न देना। तिरस्कार करना। उ०—(क) मैं उनके पास घंटों बैठा रहा, पर उन्होंने आँख उठाकर भी न देखा। (ख) ऐसी चीज़ों को तो हम आँख उठाकर भी नहीं देखते। (२) सामने न ताकना। लज्जा वा संकोच से बराबर दृष्टि न करना। उ०—वह लड़का तो आँख ही ऊपर नहीं उठाता, हम समझावें क्या।

आँख उलट जाना=(१) पुतली का ऊपर चढ़ जाना। आँख पथराना। (यह मरने के समय होता है।) उ०—आँखें उलट गईं, अब क्या आशा है! (२) घमंड से नज़र बदल जाना। अभिमान होना। उ०—इतने ही धन में तुम्हारी आँखें उलट गई हैं।

आँख ऊँची न होना=लज्जा से बराबर ताकने का साहस

न होना । लज्जा से दृष्टि नीचे रहना । **उ०—उस दिन से फिर उसकी आँख हमारे सामने ऊँची न हुई ।**

आँख ऊपर न उठाना=(१) लज्जा वा भय से नज़र ऊपर की ओर न होना । दृष्टि नीची रहना ।

आँख ओट, पहाड़ ओट=जब आँख के सामने नहीं, तब क्या दूर, क्या नज़दीक ।

आँख कड़ुआना=अधिक ताकने वा जागने से एक प्रकार की पीड़ा होना ।

आँख का अंधा, गाँठ का पूरा=मूर्ख धनवान । अनाड़ी मालदार । वह धनी जिसे कुछ विचार वा परख न हो । **उ०—(क) हे भगवान्, भेजो कोई आँख का अंधा गाँठ का पूरा । (ख) जो आँख का अंधा होगा, वही यह सड़ा कपड़ा लेगा ।**

आँख का काँटा होना=(१) खटकना । पीड़ा देना । (२) कंटक होना । बाधक होना । शत्रु होना । **उ०—उसी के मारे तो हमारी कुछ चलने नहीं पाती; वही तो हमारी आँख का काँटा हो रहा है ।**

आँख का काजल चुराना=गहरी चोरी करना । बड़ी सफ़ाई के साथ चोरी करना ।

आँख जाना=आँख फूटना । **उ०—उसकी आँख शीतला में जाती रही ।**

आँख का जाला=आँख की पुतली पर एक सफ़ेद झिल्ली जिसके कारण धुंध दिखाई देता है ।

आँख का डेला=आँख का बट्टा । आँख का वह उभड़ा हुआ सफेद भाग जिस पर पुतली रहती है ।

आँख का तारा=(१) आँख का तिल । कर्नानिका । (२) बहुत प्यारा व्यक्ति । (३) संतति ।

आँख का तिल=आँख की पुतली के बीचोबीच छोटा गोल तिल के बराबर काला धब्बा जिसमें सामने की वस्तु का प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है । यह यथार्थ में एक छेद है जिससे आँख के सबसे पिछले परदे का काला रंग दिखाई पड़ता है । आँख का तारा । कनीनिका ।

आँख का तेल निकालना=आँखों को कष्ट देना । ऐसा महीन काम करना जिसमें आँखों पर बहुत जोर पड़े; जैसे सीना, पिरोना, लिखना, पढ़ना आदि ।

आँख कान खुला रहना=सचेत रहना । सावधान रहना । होशियार रहना ।

आँख का परदा=आँख के भीतर की झिल्ली जिससे होकर प्रकाश जाता है ।

आँख का परदा उठना=ज्ञान-चक्षु का खुलना । अज्ञान वा भ्रम का दूर होना । चेत होना । **उ०—उसकी आँख का परदा उठ गया है; अब वह ऐसी बातों पर विश्वास न करेगा ।**

आँख का पानी ढल जाना=लज्जा छूट जाना । लाज शर्म का जाता रहना । **उ०—जिसकी आँखों का पानी ढल गया है, वह चाहे जो कर डाले ।**

आँख का पानी मरना=दे० "आँख का पानी ढलना" ।

आँख की किरकिरी=आँख का काँटा । चक्षुशूल । खटकनेवाली वस्तु वा व्यक्ति ।

आँखों की ठंढक=अत्यंत प्यारा व्यक्ति वा वस्तु ।

आँख की पुतली=(१) आँख के भीतर कार्निया और लेंस के बीच का रंगीन भूरी झिल्ली का वह भाग जो सफ़ेदी पर की गोल काट से होकर दिखाई पड़ता है । इसी के बीच में वह तिल वा कृष्णतारा दिखलाई पड़ता है जिसमें सामने की वस्तु का प्रतिबिंब झलकता है । इसमें मनुष्य का प्रतिबिंब एक छोटी पुतली के समान दिखाई पड़ता है, इसीसे इसे पुतली कहते हैं । (२) प्रिय व्यक्ति । प्यारा मनुष्य । **उ०—वह हमारी आँख की पुतली है; उसे हम पास से न जाने देंगे ।**

आँख की पुतली फिरना=आँख की पुतली का चढ़ जाना । पुतली का स्थान बदलना । आँख का पथराना । **(यह मरने का पूर्व लक्षण है ।)**

आँख की बदी भौं के आगे=किसी के दोष को उसके इष्ट मित्र वा भाई बंधु के सामने ही कहना ।

आँखों की सूइयाँ निकालना=किसी काम के कठिन और अधिक भाग के अन्य व्यक्ति द्वारा पूरा हो जाने पर उसके शेष अल्प और सरल भाग को पूरा करके सारा फल लेने का उद्योग करना । **उ०—इतने दिनों तक तो मर मर कर हमने इसको इतना दुरुस्त किया; अब तुम आए हो आँखों की सूइयाँ निकालने । (इस मुहाविरे पर एक कहानी है । एक राज-कन्या का विवाह बन में एक मृतक से हुआ जिसके सारे शरीर में सूइयाँ चुभी हुई थीं । राजकन्या नित्य बैठ कर उन सूइयों को निकाला करती थी । उसकी एक लौंडी भी साथ थी जो यह देखा करती थी । एक दिन राजकन्या कहीं बाहर गई । लौंडी ने देखा कि मृतक के सारे शरीर की सूइयाँ निकल चुकी हैं, केवल आँखों की बाक़ी हैं । उसने आँखों की सूइयाँ निकाल डालीं और वह मृतक जी उठा । उस लौंडी ने अपने को उसकी विवाहिता बतलाया; और जब वह राजकन्या आई, तब उसे अपनी लौंडी कहा । बहुत दिनों तक वह लौंडी इस प्रकार रानी बनकर रही । पर पीछे से सब बातें खुल गईं और राजकन्या के दिन फिरे ।)**

आँखों के आगे अँधेरा छाना=मस्तिष्क पर आघात लगने वा कमज़ोरी से नज़र के सामने थोड़ी देर के लिये कुछ न दिखाई देना । बेहोशी होना । मूर्च्छा आना ।

आँखों के आगे अँधेरा होना=संसार सूना दिखाई देना । विपत्ति वा दुःख के समय घोर नैराश्य होना । **उ०—लड़के के मरते ही उनकी आँखों के आगे अँधेरा हो गया ।**

आँखों के आगे चिनगारी छूटना=आँखों का तिलमिलाना। तिलमिली लगना। मस्तिष्क पर आघात पहुँचने से चकाचौंध सी लगना।

आँखों के आगे नाचना=दे० "आँखों में नाचना"।

आँखों के आगे पलकों की बुराई=किसी के इष्ट मित्र के आगे ही उसकी निंदा करना। उ०—**नहीं जानते थे कि आँखों के आगे पलकों की बुराई कर रहे हैं, सब बातें खुल जायँगी?**

आँखों के आगे फिरना=दे० "आँखों में फिरना"।

आँखों के आगे रखना=आँखों के सामने रखना।

आँखों के कोए=आँखों के ढेले।

आँखों के डोरे=आँखों के सफ़ेद ढेलों पर लाल रँग की बहुत बारीक नसें।

आँखों के तारे छूटना=दे० 'आँखों के आगे चिनगारी छूटना।'

आँखों के सामने नाचना=दे० "आँखों में नाचना।"

आँखों के सामने रखना=निकट रखना। पास से जाने न देना। उ०—**हम तो लड़कों को आँखों के सामने ही रखना चाहते हैं।**

आँखों के सामने होना=सम्मुख होना। आगे आना।

आँखों को रो बैठना=आँखों को खो देना। अंधे होना। उ०—**यदि यही रोना धोना रहा तो आँखों को रो बैठेगी। (स्त्रि०)**

आँख खटकना=आँख टीसना। आँख किरकिराना। उ०—**कुमकुम मारो गुलाल, नंद जू के कृष्णलाल, जाय कहूँगी कंसराज से आँख खटक मोरी भई है लाल।—होली।**

आँख खुलना=(१) पलक खुलना। परस्पर मिली वा चिपकी हुई पलकों का अलग हो जाना। उ०—**(क) बच्चे की आँखें धो डालो तो खुल जायँ। (ख) बिल्ली के बच्चों ने अभी आँखें नहीं खोलीं।** (२) नींद टूटना। उ०—**तुम्हारी आहट पाते ही मेरी आँख खुल गई।** (३) चेत होना। ज्ञान होना। भ्रम का दूर होना। उ०—**पश्चिमीय शिक्षा से भारत-वासियों की आँखें खुल गईं।** (४) चित्त स्वस्थ होना। ताज़गी आना। होश हवास दुरुस्त होना। तबियत ठिकाने आना। उ०—**इस शरबत के पीते ही आँखें खुल गईं।**

आँख खुलवाना=(१) आँख बनवाना। (२) मुसलमानों के विवाह की एक रीति जिसमें दुलहा दुलहिन के सामने एक दर्पण रक्खा जाता है और वे उसमें एक दूसरे का मुँह देखते हैं।

आँख खोलना=(१) पलक उठाना। ताकना। (२) आँख बनाना। आँख का जाला वा माँड़ा निकालना। आँख को दुरुस्त करना। उ०—**डाक्टर ने यहाँ बहुत से अंधों की आँखें खोलीं।** (३) चेताना। सावधान करना। ज्ञान का संचार करना। वास्तविक बोध करना। उ०—**उस महात्मा ने अपने सदुपदेश से हमारी आँखें खोल दीं।** (४) ज्ञान का अनुभव करना। वाक़िफ़ होना। सावधान होना। उ०—**भाइ बंधु औ कुटुंब कबीला झूठे मित्र गिनावे। आँख खोल जब देख बावरे! सब सपना कर पावे।—कबीर।** (५) सुध में होना। स्वस्थ होना। उ०—**चार दिन पर आज बच्चे ने आँख खोली है।**

आँख गड़ना=(१) आँख किरकिराना। आँख दुखना। उ०—**हमारी आँखें कई दिनों से गड़ रही हैं, आवेंगी क्या?** (२) आँख धँसना। आँख बैठना। उ०—**उसकी गड़ी गड़ी आँखें देखकर तुम उसे पहचान लेना।** (३) दृष्टि जमना। टकटकी बँधना। उ०—**(क) किस चीज़ पर तुम्हारी आँखें इतनी देर से गड़ी हुई हैं? (ख) उसकी आँख तो लिखने में गड़ी हुई है; उसे इधर उधर की क्या ख़बर।** (४) बड़ी चाह होना। प्राप्ति की उत्कट इच्छा होना। उ०—**जिस वस्तु पर तुम्हारी आँख गड़ती है, उसे तुम लिए बिना नहीं छोड़ते।**

आँख गड़ाना=(१) टकटकी बाँधना। स्तब्ध दृष्टि से ताकना। (२) नज़र रखना। चाहना। प्राप्ति की इच्छा करना। उ०—**अब तुम इस पर आँख गड़ाए हो काहे को बचेगी?**

आँखें घुलना=चार आँखें होना। ख़ूब घूरा घूरी होना। दृष्टि से दृष्टि मिलना। उ०—**घंटों से ख़ूब आँखें घुल रही हैं।**

आँखें चढ़ना=नशे, नींद वा सिर की पीड़ा से पलकों का तन जाना और नियमित रूप से न गिरना। आँखों का लाल और प्रफुल्लित होना। उ०—**देखते नहीं, उसकी आँखें चढ़ी हुई हैं और मुँह से सीधी बात नहीं निकलती।**

आँख चमकाना=आँखों से तरह तरह के इशारे करना। आँख की पुतली इधर उधर घुमाना। आँख मटकाना।

आँख चरने जाना=दृष्टि का जाता रहना। उ०—**तुम्हारी आँख क्या चरने गई थी जो सामने से चीज़ उठ गई।**

आँखें चार करना, चार आँखें करना=देखा देखी करना। सामने आना। उ०—**जिस दिन से मैंने खरी खरी सुनाई, वे मुझसे चार आँखें नहीं करते।**

आँखें चार होना, चार आँखें होना=(१) देखा देखी होना। सामना होना। एक दूसरे के दर्शन होना। उ०—**चार आँखें होते ही वे एक दूसरे पर मरने लगे।** (२) विद्या का होना। उ०—**हम तो अपढ़ हैं, पर तुम्हें तो चार आँखें हैं तुम ऐसी भूल क्यों करते हो।**

आँख चीर चीरकर देखना=दे० 'आँख फाड़ फाड़कर देखना"।

आँख चुराना=(१) नज़र बचाना। कतराना। सामने न होना। उ०—**जिस दिन से रुपया ले गया है, आँख चुराता फिरता है।** (२) लज्जा से बराबर न ताकना। दृष्टि नीची करना। (३) रुखाई करना। ध्यान न देना। उ०—**अब वे बड़े आदमी हो गए हैं, अपने पुराने मित्रों से आँख चुराते हैं।**

आँख चुराकर कुछ करना=छिपकर कोई काम करना।

आँख चूकना=नजर चूकना। दृष्टि हट जाना। असावधानी होना। उ०—**आँख चूकी कि माल यारों का।**

आँख छत से लगना=(१) आँख ऊपर को चढ़ना। आँख टँगना। आँख स्तब्ध होना। आँख का एक दम खुली रहना। (**यह मरने के पूर्व की अवस्था है।**) (२) टकटकी बँधना।

आँख छिपाना=(१) नजर बचाना। कतराना। टाल मटूल करना। (२) लज्जा से बराबर न ताकना। दृष्टि नीची करना। (३) रुखाई करना। बेमुरौअती करना। ध्यान न देना।

आँख जमना=नज़र ठहरना। दृष्टि का स्थिर रहना। उ०—**पहिया इतनी जल्दी जल्दी घूमता है कि उस पर आँख नहीं जमती।**

आँख झपकना=(१) आँख बंद होना। पलक गिरना। (२) नींद आना। झपकी लगना। उ०—**आँख झपकी ही कि तुमने जगा दिया।**

आँख झपकाना=आँख मारना। इशारा करना।

आँख झेंपना=दृष्टि नीची होना। लज्जा मालूम होना। उ०—**सामने आते आँख झेंपती है।**

आँख टँगना=(१) आँख ऊपर को चढ़ जाना। आँख की पुतली का स्तब्ध होना। आँख का एक दम खुला रहना। (**यह मरने का पूर्व लक्षण है।**) (९) टकटकी बँधना। उ०—**तुम्हारे आसरे में हमारी आँखें टँगी रह गईं, पर तुम न आए।**

आँख टेढ़ी करना=(१) भौं टेढ़ी करना। रोष दिखाना। (२) आँखें बदलना। रुखाई करना। बेमुरौअती करना।

आँखें ठंढी होना=तृप्ति होना। संतोष होना। मन भरना। इच्छा पूरी होना। उ०—**अब तो उसने मार खाई, तुम्हारी आँखें ठंढी हुईं?**

आँखें डबडबाना=(१) क्रि० अ० आँखों में आँसू भर आना। आँखों में आँसू आना। उ०—**यह सुनते ही उसकी आँखें डबडबा आईं।** (२) क्रि० स० आँख में आँसू लाना। आँसू भरना। उ०—**वह आँखें डबडबाकर बोला।**

आँख डालना=(१) दृष्टि डालना। देखना। (२) ध्यान देना। चाह करना। इच्छा करना उ०—**भले लोग पराई वस्तु पर आँख नहीं डालते।**

आँखें ढकर ढकर करना=पलकों की गति ठीक न रहना। आँखों का तिलमिलाना। उ०—**इतने दिनों के उपवास से उसकी आँखें ढकर ढकर कर रही हैं।**

आँख तरसना=देखने के लिये आकुल होना। दर्शन के लिये दुखी होना। उ०—**तुम्हारे देखने के लिये आँखें तरस गईं।**

आँखें तरेरना=क्रोध से आँखें निकाल कर देखना। क्रोध की दृष्टि से देखना। उ०—**सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि, नयन तरेरे राम।—तुलसी।**

आँखों तले न लाना=कुछ न समझना। तुच्छ समझना। उ०—**वह किसी को अपनी आँखों तले लाता है, जो तुम्हारी बात मानेगा?**

आँख दबाना=(१) पलक सिकोड़ना। आँख मचकाना। उ०—(क) **वह ज़रा आँख दबाकर ताकता है।** (ख) **तब प्रभु ने आग की ओर आँख दबाय सैन की, वह तुरंत बुझ गई।**

आँख दिखाना=क्रोध से आँखें निकाल कर देखना। क्रोध की दृष्टि से देखना। कोप जताना। उ०—(क) **बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुमते कछु घाटि। जानइ ब्रह्म सो विप्र वर आँखि दिखावहिं डाँटि।—तुलसी।** (ख) **सुनि सरोष भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन आँखि दिखाये।—तुलसी।** (ग) **तुलसी रघुबर सेवकहिं खल डाटत मन माखि। बाजराज के बालकहिं लवा दिखावत आँखि। —तुलसी।**

आँख दीदे से डरना=दे० "आँख नाक से डरना"।

आँखें दुखना=आँखों में पीड़ा होना।

आँखों देखते=(१) आँखों के सामने। देखते हुए। जान बूझ कर। उ०—(क) **आँखों देखते तो हम ऐसा अन्याय नहीं होने देंगे।** (ख) **आँखों देखते मक्खी नहीं निगली जाती।** (२) देखते देखते। थोड़े ही दिनों में। उ०—**आँखों देखते इतना बड़ा घर बिगड़ गया।**

आँखों देखा=वि० आँखों से देखा हुआ। अपना देखा। उ०—(क) **जल में उपजे जल में रहे। आँखों देखा खुसरो कहे।**—(**पहेली, काजल।**) (ख) **यह तो हमारी आँखों देखी बात है।**

आँखें दौड़ाना=नजर दौड़ाना। डीठ पसारना। चारों ओर दृष्टि फेरना। इधर उधर देखना। उ०—**मैंने इधर उधर बहुत आँख दौड़ाई, पर कहीं कुछ न देख पड़ा।**

आँख न उठाना=(१) नजर न उठाना। सामने न देखना। बराबर न ताकना। (२) लज्जा से दृष्टि नीची किए रहना। (३) किसी काम में बराबर लगे रहना। उ०—**वह सबेरे से जो सीने बैठा तो दिन भर आँख न उठाई।**

आँख न खोलना=(१) आँख बंद रखना। (२) सुस्त पड़ा रहना। बेसुध रहना। ग़ाफ़िल रहना। उ०—**आज चार दिन हुए, बच्चे ने आँख नहीं खोली।**

बादल का आँख न खोलना=बादल का घिरा रहना। आकाश का बादलों से ढका रहना।

मेंह का आँख न खोलना=पानी का न थमना। वर्षा का न रुकना।

आँख न ठहरना=चमक वा द्रुत गति के कारण दृष्टि न जमना। उ०—(क) **वह ऐसा भड़कीला कपड़ा है कि आँख**

नहीं ठहरती। (ख) पहिया इतनी तेज़ी से घूमता था कि उस पर आँख नहीं ठहरती थी।

आँख न पसीजना=आँख में आँसू न आना।

आँख नाक से डरना।=ईश्वर से डरना जो पापियों को अंधा और नकटा कर देता है। पाप से डरना जिससे आँख-नाक जाती रहती है। उ०—**भाई, मुझ दीन से न डर तो अपनी आँख नाक से तो डर।**

आँख निकालना=(१) आँख दिखाना। क्रोध की दृष्टि से देखना। उ०—**हम पर क्या आँख निकालते हो; जिसने तुम्हें कुछ कहा हो उसके पास जाओ।** (२) आँख के ढेले को छुरी से काटकर अलग कर देना। आँख फोड़ना। उ०—**उस दुष्ट सरदार ने शाह आलम की आँखें निकाल लीं।**

आँख नीची करना=(१) दृष्टि नीची करना। सामने न ताकना। उ०—**वह आँख नीची किए चला जा रहा था।** (२) लज्जा वा संकोच से बराबर नजर न करना। दृष्टि न मिलाना। उ०—**कब तक आँखें नीची किए रहोगे? जो पूछते हैं, उसका उत्तर दो।**

आँख नीची होना=सिर नीचा होना। लज्जा उत्पन्न होना। अप्रतिष्ठा होना। उ०—**कोई ऐसा काम न करना चाहिए जिससे हर आदमी के सामने आँख नीची हो।**

आँखें नीली पीली करना=बहुत क्रोध करना। तेवर बदलना। आँख दिखलाना।

आँख पटपटा जाना=आँख फूट जाना। (**स्त्रियाँ गाली देने में अधिक बोलती हैं।**)

आँख पट्टम होना=आँख फूट जाना।

आँख पड़ना=(१) दृष्टि पड़ना। नजर पड़ना। उ०—**संयोग से हमारी आँख उस पर पड़ गई, नहीं तो वह बिलकुल पास आ जाता।** (२) ध्यान जाना। कृपादृष्टि होना। उ०—**ग़रीबों पर किसी की आँख नहीं पड़ती।** (३) चाह की दृष्टि होना। पाने की इच्छा होना। उ०—**उसकी इस किताब पर बार बार आँख पड़ रही है।** (४) कुदृष्टि पड़ना। ध्यान जाना। उ०—**जिस वस्तु पर तुम्हारी आँख पड़े, भला वह रह जाय?**

आँख पथराना=पलक का नियमित क्रम से न गिरना और पुतली की गति का मारा जाना। नेत्र स्तब्ध होना। (**यह मरने का पूर्व लक्षण है।**) उ०—**(क) अब उनकी आँखें पथरा गई हैं और बोली भी बंद हो गई है। (ख) तुम्हारी राह देखते देखते आँखें पथरा गईं।**

आँखों पर आइए वा बैठिए=आदर के साथ आइए। सादर पधारिए। (**जब कोई बहुत प्यारा वा बड़ा आता है वा आने के लिये कहता है, तब लोग उसे ऐसा कहते हैं।**)

आँखों पर ठिकरी रख लेना=(१) जान बूझकर अनजान बनना। (२) रुखाई करना बेमुरौअती करना। शील न करना। (३) गुण न मानना। उपकार न मानना। कृतघ्नता करना। (४) लज्जा खो देना। निर्लज्ज होना। बेहया होना।

आँखों में पट्टी बाँधना=(१) दोनों आँखों के ऊपर से कपड़ा ले जाकर सिर के पीछे बाँधना जिससे कुछ दिखाई न पड़े। आँखों को ढकना। (२) आँख बंद करना। ध्यान न देना। उ०—**तुमने खूब आँखों पर पट्टी बाँध ली है कि अपना भला बुरा नहीं सूझता।**

आँखों पर परदा पड़ना (१) अज्ञान का अंधकार छाना। प्रमाद होना। भ्रम होना। उ०—**तुम्हारी आँखों पर तो परदा पड़ा है; सच्ची बात क्यों मन में धँसेगी।** (२) विचार का जाता रहना। विवेक का दूर होना। उ०—**क्रोध के समय मनुष्य की आँखों पर परदा पड़ जाता है।** (३) कमजोरी से आँखों के सामने अँधेरा छाना। उ०—**भूख प्यास के मारे हमारी आँखों पर परदा पड़ गया है।**

आँखों पर पलकों का बोझ नहीं होता=(१) अपनी चीज का रखना भारी नहीं मालूम होता। (२) अपने कुटुम्बियों को खिलाना पिलाना नहीं खलता। (३) काम की चीज महँगी नहीं मालूम होती।

आँखों पर बिठाना=बहुत आदर सत्कार करना। आव-भगत। प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना। उ०—**वह हमारे घर तो आवें, हम उन्हें आँखों पर बिठावेंगे।**

आँखों पर रखना=(१) बहुत प्रिय करके रखना। बहुत आराम से रखना। उ०—**आप निश्चिंत रहिए, मैं उन्हें अपनी आँखों पर रक्खूँगा।**

आँख पसारना वा फैलाना=दूर तक दृष्टि बढ़ाकर देखना। नजर दौड़ाना।

आँखें फटना=(१) चोट या पीड़ा से यह मालूम पड़ना कि आँखें निकली पड़ती हैं। उ०—**सिर के दर्द से आँखें फटी पड़ती हैं।** * (२) आँखें बढ़ना। आँखों की फाँक का फैलना। उ०—**दौरत थोरे ही में थकिए, थहरै पग, आवत जाँघ सटी सी। होत घरी घरी छीन खरी कटि, और है पास सुबास अटी सी। हे रघुनाथ! बिलोकिबे को तुम्हें आई न खेलन सोच परी सी। मैं नहिं जानति हाल कहा यह काहे ते जाति है आँखि फटी सी।—रघुनाथ।**

आँख फड़कना=आँख की पलक का बार बार हिलना। वायु के संचार से आँख की पलक का बार बार फड़फड़ाना। (**दाहिनी या बाँई आँख के फड़कने से लोग भावी शुभ अशुभ का अनुमान करते हैं।**)

आँख फाड़ फाड़कर देखना=खूब आँख खोलकर देखना। उत्सुकता से देखना। उ०—**उधर क्या है जो आँख फाड़ फाड़कर देख रहे हो।**

आँखें फिर जाना=(१) नज़र बदल जाना। पहले की सी कृपा वा स्नेह-दृष्टि न रहना। बेमुरौअती आ जाना। उ०—**जब से वे हम लोगों के बीच से गए, तब से तो उनकी आँखें ही फिर गईं।** (२) चित्त में विरोध उत्पन्न हो जाना। मन में बुराई आना। चित्त में प्रतिकूलता आना। उ०—**उसकी आँखें फिर गई हैं, वह बुराई करने से नहीं चूकेगा।**

आँख फूटना=(१) आँख का जाता रहना। आँख की ज्योति का नष्ट होना। उ०—**तुम्हारी क्या आँखें फूटी हैं जो सामने की वस्तु नहीं दिखाई देती। (आँख एक बहुत प्यारी वस्तु है; इसी से स्त्रियाँ प्रायः इस प्रकार की शपथ खाती हैं कि "मेरी आँखें फूट जायँ, यदि मैंने ऐसा कहा हो"।)** (२) बुरा लगना। कुढ़न होना। उ०—(क) **उसको देखने से हमारी आँखें फूटती हैं।** (ख) **किसी को सुखी देखकर तुम्हारी आँखें क्यों फूटती हैं।**

आँख फेरना=(१) निगाह फेरना। नज़र बदलना। पहिले की सी कृपा वा स्नेह-दृष्टि न रखना। मित्रता तोड़ना। (२) विरुद्ध होना। वाम होना। प्रतिकूल होना।

आँख फैलाना=दृष्टि फैलाना। दीठ पसारना। दूर तक देखना। नज़र दौड़ाना।

आँख फोड़ना=(१) आँखों को नष्ट करना। आँखों की ज्योति का नाश करना। (२) कोई काम ऐसा करना जिसमें आँख पर ज़ोर पड़े। कोई ऐसा काम करना जिसमें देर तक दृष्टि गड़ानी पड़े; जैसे लिखना, पढ़ना, सीना, पिरोना। उ०—(क) **घंटों बैठकर आँखें फोड़ी हैं, तब इतना सीया गया है।** (ख) **घंटों चूल्हे के आगे बैठकर आँखें फोड़ी हैं तब रसोई बनी है।**

आँख बंद करके कोई काम करना, आँख मूँदकर कोई काम करना=(१) बिना पूछे पाछे कोई काम करना। बिना जाँच पर-ताल किए कोई काम करना। बिना कुछ सोचे विचारे कोई काम करना। बिना आगा पीछा किए कोई काम करना। उ०—(क) **आँख मूँदकर दवा पी जाओ।** (ख) **जितना रुपया वे माँगते गए, हम उनको आँख बंद करके देते गए।** (२) दूसरी बातों की ओर ध्यान न देकर अपना काम करना। और बातों की परवाह न करके अपना नियत कर्त्तव्य करना। किसी के कुछ कहने सुनने की परवाह न करके अपना काम करना। उ०—**तुम आँख मूँदकर अपना काम किए चलो, लोगों को बकने दो।**

आँख बंद होना=(१) आँख झपकना। पलक गिरना। उ०—**कहो तो वह पाँच मिनट तक ताकता रह जाय, आँख बंद न करे।** (२) मृत्यु होना। मरण होना। उ०—**जिस दिन इनके बाप की आँखें बंद होंगी, ये अन्न को तरसेंगे।**

आँख बचाकर कोई काम करना=इस रीति से कोई काम करना कि दूसरा न देख पावे। छिपाकर कोई काम करना। उ०—**बुराई भी करते तो ज़रा आँख बचाकर।**

आँख बचाना=नज़र बचाना। सामना न करना। कतराना। उ०—**रुपया लेने को तो ले लिया, अब आँख बचाते फिरते हो।**

आँख बचे का चाँटा=लड़कों का एक खेल जिसमें यह बाज़ी लगती है कि जिसे असावधान देखें उसे चाँटा लगावें।

आँखें बदल जाना=(१) पहले की सी कृपादृष्टि वा स्नेह-दृष्टि न रह जाना। पहले का सा व्यवहार न रह जाना। नज़र बदल जाना। मिज़ाज बदल जाना। बर्ताव में रूखापन आना। उ०—(क) **अब उनकी आँखें बदल गई हैं; क्यों हम लोगों की कोई बात सुनेंगे।** (ख) **गौं निकल गई, आँख बदल गई।** (२) आकृति पर क्रोध दिखाई देना। क्रोध की दृष्टि होना। रिस चढ़ना। उ०—**थोड़े ही में उनकी आँखें बदल जाती हैं।**

आँख बनवाना=आँख का जाला कटवाना। आँख का माड़ा निकलवाना। आँख की चिकित्सा करना। उ०—**ज़रा आँख बनवा आओ तो कपड़ा ख़रीदना।**

आँख बराबर करना=(१) आँख मिलाना। सामने ताकना। उ०—**वह चोर लड़का अब मिलने पर आँख बराबर नहीं करता।** (२) मुँह पर बात चीत करना। सामने डटकर बात चीत करना। ढिठाई करना। उ०—**उसकी क्या हिम्मत है कि आँख बराबर कर सके।**

आँख बराबर होना=दृष्टि सामने होना। नज़र से नज़र मिलाना। उ०—**जब से उसने वह खोटा काम किया, तबसे मिलने पर कभी उसकी आँख बराबर नहीं होती।**

आँख बहाना=आँसू बहाना। रोना। उ०—**धाय नहीं घर, दायँ परी, जुरि आई खिलायक आँख बहाऊँ। पौरियै आवै रतौंधी इते पर ऊँचो सुनै सो महा दुख पाऊँ।—केशव।**

आँख बिगड़ना=(१) दृष्टि कम होना। नेत्र की ज्योति घटना। आँख में पानी उतरना वा जाला इत्यादि पड़ना। (२) आँख उलटना। आँख पथराना। उ०—**उनकी आँखें बिगड़ गई हैं और बोली भी बंद हो गई है।**

आँख बिछाना=(१) प्रेम से स्वागत करना। उ०—**वे यदि मेरे घर पर उतरें, तो मैं अपनी आँखें बिछाऊँ।** (२) प्रेम-पूर्वक प्रतीक्षा करना। बाट जोहना। टकटकी बाँधकर राह देखना। उ०—**हम तो कब से आँख बिछाए बैठे हैं, वे आवें तो।**

आँख बैठना=(१) आँख का भीतर की ओर धँस जाना। चोट वा रोग से आँख का डेला गड़ जाना। (२) आँख फूटना।

आँख भर आना=आँख में आँसू आना।

आँख भर देखना=ख़ूब अच्छी तरह देखना। तृप्त होकर

देखना। अघाकर देखना। इच्छा भर देखना। उ०—(क) **गाज परै यहि लाज पै री अँखिया भरि देखन हू नहिं पाई।** (ख) **तनिक वे यहाँ आ जाते, हम उन्हें आँख भर देख तो लेते।**

आँख भर लाना=आँसू भर लाना। आँख डबडबाना। रोवाँसा हो जाना।

आँख भौं टेढ़ी करना=आँख दिखाना। क्रोध की दृष्टि से देखना। तेवर बदलना। उ०—**हम पर क्या आँख भौं टेढ़ी करते हो; जिसने तुम्हारी चीज़ ली हो, उसके पास जाओ।**

आँख मचकाना=(१) आँख खोलना और फिर बंद करना। पलकों को सिकोड़कर गिराना। (२) इशारा करना। सैन मारना। उ०—**तुमने आँख मचका दी इसी से वह भड़क गया।**

आँख मलना=सोकर उठने पर आँखों को जल्दी खुलने के लिये हाथ से धीरे धीरे रगड़ना। उ०—**इतना दिन चढ़ आया तुम अभी चारपाई पर बैठे आँख मलते हो।**

आँख मारना=(१) इशारा करना। सनकारना। पलक मारना। आँख मटकाना। (२) आँख से निषेध करना। इशारे से मना करना। उ०—**वह तो रुपए दे रहा था, पर उन्होंने आँख मार दी।**

आँख मिलना=साक्षात्कार होना। देखादेखी होना। नजर से नजर मिलाना।

आँख मिलाना=(१) आँख सामने करना। बराबर ताकना। नजर मिलाना। (२) सामने आना। सम्मुख होना। मुँह दिखाना। उ०—**अब इतनी बेईमानी करके वह हम से क्या आँख मिलावेगा।**

आँख मुँदना=आँख बंद होना।

आँख मूँदना=(१) आँख बंद करना। पलक गिराना। (२) मरना। उ०—**सब कुछ उनके दम तक है; जिस दिन वे आँख मूँदेंगे, सब जहाँ का तहाँ हो जायगा।** (३) ध्यान न देना। उ०—(क) **उन्हें जो जी में आवे सो करने दो, तुम आँख मूँद लो।** (ख) **मूँदहु आँख कतहुँ कोउ नाहीं।—तुलसी।**

आँखों में=दृष्टि में। नज़र में। परख में। अनुमान में। उ०—(क) **हमारी आँखों में तो इसका दाम अधिक है।** (ख) **हमारी आँखों में यह जँच गई है।**

आँख में आँख डालना=(१) आँख से आँख मिलाना। बराबर ताकना। (२) ढिठाई से ताकना। उ०—**बैठा आँख में आँख डालता है, अपना काम नहीं देखता।**

आँखों में काजल घुलना=काजल का आँख में खूब लगना।

आँखों में खटकना=नजरों में बुरा लगना। अच्छा न लगना। उ०—**उसका रहना हमारी आँखों में खटक रहा है।**

आँखों में खून उतरना=क्रोध से आँख लाल होना। रिस चढ़ना।

आँख में गड़ना=(१) आँख में खटकना। बुरा लगना। (२) मन में बसना। जँचना। पसंद आना। ध्यान पर चढ़ना। उ०—(क) **वह वस्तु तो तुम्हारी आँख में गड़ी हुई है।** (ख) **जाहु भले हौ, कान्ह, दान अँग अँग को माँगत। हमरो यौवन रूप आँख इनके गड़ि लागत।—सूर।**

(किसी की) आँखों में घर करना=(१) आँख में बसना। हृदय में समाना। ध्यान पर चढ़ना। (२) किसी को मोहना वा मोहित करना। उ०—**पहली ही भेंट में उसने राजा की आँखों में घर कर लिया।**

आँखों में चढ़ना=नजर में जँचना। पसंद आना।

आँखों में चरबी छाना=(१) घमंड, बेपरवाही, वा असावधानी से सामने की चीज न दिखाई देना। प्रमाद से किसी वस्तु की ओर ध्यान न जाना। उ०—**देखते नहीं, वह सामने किताब रक्खी है, आँखों में चरबी छाई है।** (२) मदांध होना। गर्व से किसी की ओर ध्यान न देना। अभिमान में चूर होना। उ०—**आज कल उनकी आँखों में चरबी छाई है; क्यों किसी को पहचानेंगे।**

आँख में चुभना=(१) आँख में धँसना। (२) आँख में खटकना। नजरों में बुरा लगना। (३) दृष्टि में जँचना। ध्यान पर चढ़ना। पसंद आना। उ०—**तुम्हारी घड़ी हमारी आँखों में चुभी हुई है; हम उसे बिना लिए न छोड़ेंगे।**

आँखों में चुभना=(१) नजर में खटकना। बुरा लगना। (२) आँखों में जँचना। पसंद आना। (३) आँखों पर गहरा प्रभाव डालना। उ०—**इसके [illegible] रंग तो आँखों में चुभा जाता है।**

आँख में चोब आना=चोट आदि लगने से आँख में ललाई आना।

आँखों में झाईं पड़ना=आँखों का थक जाना। उ०—**आँखड़ियाँ झाईं परीं, पंथ निहारि निहारि। जीभड़ियाँ छाला पर्‌यो, राम पुकारि पुकारि—कबीर।**

आँखों में टेसू फूलना, आँखों में तीसी फूलना, आँखों में सरसों फूलना=(१) चारों ओर एक ही रंग दिखाई देना। जो बात जी में समाई हुई है, उसी का चारों ओर दिखाई पड़ना। जो बात ध्यान में चढ़ी है, चारों ओर वही सूझना। (२) नाश होना। तरंग उठना। उ०—**भाँग पीते ही आँखों में सरसों फूलने लगी।**

आँखों में तकला वा टेकुआ चुभाना=आँख फोड़ना। **(स्त्रियाँ जब किसी पर बहुत कुपित होती हैं, तब कहती हैं कि "जी चाहता है कि इसकी आँखों में टेकुआ चुभा दूँ।")**

आँखों में तरावट आना=आँखों में ठंढक आना। तबीयत ताजी होना।

आँखों में धूल देना, आँखों में धूल डालना=सरासर धोखा देना। भ्रम में डालना। उ०—(क) **अभी तुम किताब ले गए हो; अब हमारी आँखों में धूल डालते हो।** (ख) **मैया री! मैं जानति वाको। पीत उढ़नियाँ जो मेरी लै गई लै आनो धरि ताको। हरि की माया कोउ न जानै आँखि धूरि सी दीनी। लाल ढिगनि की सारी ताको पीत उढ़नियाँ कीनी।—सूर।** (ग) **अधर-मधु कतक मुई हम राखि। संचित किए रही सरधा सो सकी न सकुचन चाखि। शशि सहि सीत जाइ जमुना तट दीन बचन दिन भाखि। पूजि उमापति को बर पायो मन ही मन अभिलाखि। सोई अमृत अब पीवति मुरली सबहिन के सिर नाखि। लिए छिंडाइ निडर सुनि सूरज धेनु धूरि दै आँखि—सूर।**

आँखों में नाचना=दे० "आँखों में फिरना।"

आँखों में नून देना=आँख फोड़ना।

आँखों में नून राई=आँखें फूटें। (**स्त्रियाँ उन लोगों के लिये बोलती हैं जो उनके बच्चों को नज़र लगावें। किसी बच्चे को नज़र लगने का संदेह होने पर वे उसके चारों ओर राई नमक घुमाकर आग में छोड़ती हैं।**)

आँखों में पालना=बड़े सुख चैन में पालना। बड़े लाड़ प्यार से पालन-पोषण करना। उ०—**जो लड़के आँखों में पाले गए, उनकी यह दशा हो रही है।**

आँखों में फिरना=ध्यान पर चढ़ना। स्मृति में बना रहना। उ०—**उसकी सूरत मेरी आँखों के सामने फिर रही है।**

आँखों में फिरना=ध्यान पर चढ़ना हृदय में समाना। किसी वस्तु का इतना प्रिय लगना कि उसका ध्यान चित्त में हर समय बना रहे। उ०—**उसकी मूर्ति तुम्हारी आँखों में बस गई है।**

आँखों में बैठना=(१) नज़र में गड़ना। पसंद आना। (२) आँखों पर गहरा प्रभाव डालना। आँखों में धँसना। (**चटकीले रंग के विषय में प्रायः कहते हैं कि "इस कपड़े का रंग तो आँखों में बैठा जाता है"।**)

आँखों में भंग घुटना=आँख पर भाँग का खूब नशा छाना। गहागड्ड नशा होना।

आँखों में रखना=(१) लाड़ प्यार से रखना। प्रेम से रखना। सुख से रखना। उ०—(क) **आप निश्चिंत रहिए, मैं इस लड़के को आँखों में रक्खूँगा।** (ख) **रानी मैं जानी अजानी महा पवि पाहन हू ते कठोर हियो है। राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को जिन कान कियो है। ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है। आँखिन में, सखि! राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनबास दियो है।—तुलसी।** (२) सावधानी से रखना। यत्न और रक्षापूर्वक रखना। हिफ़ाज़त से रखना। उ०—**मैं इस चीज़ को अपनी आँखों में रक्खूँगा; कहीं इधर उधर न होने पावेगी।**

आँखों में रात काटना=किसी कष्ट, चिंता वा व्यग्रता से सारी रात जागते बीतना। रात भर नींद न पड़ना।

आँखों में रात काटना=किसी कष्ट, चिंता वा व्यग्रता के कारण जागकर रात बिताना। किसी कष्ट, चिंता वा व्यग्रता के कारण रात भर जागना। उ०—**बच्चे की बीमारी से कल आँखों में रात काटी।**

आँखों में शील होना=चित्त में कोमलता होना। दिल में मुरौअत होना। उ०—**उसकी आँखों में शील नहीं है, जैसे होगा, वैसे अपना रुपया लेगा।**

आँखों में समाना=हृदय में बसना। ध्यान पर चढ़ना। चित्त में स्मरण बना रहना। उ०—**दमयंती की आँखों में तो नल समाए थे; उसने सभा में और किसी राजा की ओर देखा तक नहीं।**

आँख मोड़ना=दे० "आँख फेरना।"

आँख रखना=(१) नजर रखना। चौकसी करना। उ०—**देखना, इस लड़के पर भी आँख रखना; कहीं भागने न पावे।** (२) चाह रखना। इच्छा रखना। उ०—**हम भी उस वस्तु पर आँख रखते हैं।** (३) आसरा रखना। भलाई की आशा रखना। उ०—**उस कठोर हृदय से कोई क्या आँख रक्खे।**

आँख लगना=(१) नींद लगना। झपकी आना। सोना। उ०—(क) **जब जब वे सुधि कीजिए, तब तब सब सुधि जाहिं। आँखन आँख लगी रहै, आँखें लागति नाहिं।—बिहारी।** (ख) **आँख लगती ही थी कि तुमने जगा दिया।** (२) प्रीति होना। दिल लगना। उ०—(क) **धार लगै तरवार लगै पर काहू सों काहू की आँख लगै ना।** (ख) **ना खिन टरत टारे, आँखि न लगत पल, आँखि न लगै री श्यामसुंदर सलोने से।—देव।** (३) टकटकी लगना। दृष्टि जमना। उ०—(क) **हमारी आँखें उसी ओर तो लगी हैं। पर वे कहीं आते दिखाई नहीं देते।** (ख) **पलक आँख तेहि मारग, लागी दुनहु रहाहिं। कोउ न सँदेसी आवहि, तेहिक सँदेस कहाहिं—जायसी।**

आँखों लगना=आँखों में लगना। ऊपर पड़ना। ऊपर आना। शरीर पर बीतना। उ०—**यशोदा तेरो चिरजीवै गोपाल। बेगि बढ़ौ बल सहित वृद्ध लट महरि मनोहर बाल। उपजि पन्यो यहि कोख कर्मवश मुँदी सीप ज्यों लाल। या गोकुल के प्राण जीवन धन बैरिन के उर साल। सूर कितो मन सुख पावत है देखे श्याम तमाल। रज आरति लगौं मोरी अँखियन रोग दोख जंजाल।—सूर।**

आँख लगाना=(१) टकटकी बाँधकर देखना। (२) प्रीति लगाना। नेह जोड़ना।

आँख लगी=(१) जिससे आँख लगी हो। प्रेमिका। (२) सुरैतिन। उढ़री।

आँख लड़ना=(१) देखा देखी होना। आँख मिलना। घूरा-घूरी होना। नजरबाजी होना। (२) प्रेम होना। प्रीति होना। **उ०—अब तो आँखें लड़ गई हैं; जो होना होगा सो होगा।**

आँख लड़ाना=आंख मिलाना। घूरना। नजरबाजी करना। **(लड़कों का यह एक खेल भी है जिसमें वे एक दूसरे को टकटकी बाँधकर ताकते हैं। जिसकी पलक गिर जाती है, उसकी हार मानी जाती है।)**

आँख ललचाना=देखने की प्रबल इच्छा होना।

आँख लाल करना=आंख दिखाना। क्रोध की दृष्टि से देखना क्रोध करना।

आँखवाला=(१) जिसे आँख हो। जो देख सकता हो। **उ०—भाई, हम अंधे सही; तुम तो आँखवाले हो, देखकर चलो।** (२) परखवाला। पहचाननेवाला। जानकार। चतुर। **उ०—तुम तो आँखवाले हो तुम्हें कोई क्या ठगेगा।**

आँख सामने न करना=(१) सामने न ताकना। नजर न मिलाना। दृष्टि बराबर न करना। **(लज्जा और भय से प्रायः ऐसा होता है।) उ०—जबसे उसने मेरी पुस्तक चुराई, कभी आँख सामने न की।** (२) सामने ताकने वा वाद प्रतिवाद करने का साहस न करना। मुह पर बात चीत करने की हिम्मत न करना। **उ०—भला उसकी मजाल है कि आँख सामने कर सके।**

आँख सामने न होना=लज्जा से दृष्टि बराबर न होना। शर्म से नजर न मिलना। **उ०—उस दिन से फिर उसकी आँख सामने न हुई।**

आँखों सुख कलेजे ठंढक=पूरी प्रसन्नता। ऐन खुशी। **(जब किसी की बात को लोग प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृत करते हैं, तब यह वाक्य बोलते हैं।)**

आँख सेंकना=(१) दर्शन का सुख उठाना। नेत्रानंद लेना। (२) सुंदर रूप देखना। नज्जारा करना।

आँख से आँख मिलाना=(१) सामने ताकना। दृष्टि बराबर करना। (२) नजर लड़ाना।

आँखों से उतरना=नजरों से गिरना। दृष्टि में नीचा ठहरना। **उ०—वह अपनी इन्हीं चालों से सबकी आँखों से उतर गया।**

आँखों से ओझल होना=नजर से गायब होना। सामने से दूर होना।

आँखों से काम करना=इशारों से काम निकालना।

आँखों से कोई काम करना=बहुत प्रेम और भक्ति से कोई काम करना। **उ०—तुम मुझे कोई काम बतलाओ तो, मैं आँखों से करने के लिये तैयार हूँ।**

आँखों से गिरना=नजरों से गिरना। दृष्टि में तुच्छ ठहरना। **उ०—अपनी इसी चाल से तुम सबकी आँखों से गिर गए।**

आँख से भी न देखना=ध्यान भी न देना। तुच्छ समझना। **उ०—उससे बात चीत करने की कौन कहे, मैं तो उसे आँख से भी न देखूँ।**

आँखों से लगाकर रखना=बहुत प्रिय करके रखना। बहुत आदर सत्कार से रखना।

आँखों से लगाना=प्यार करना। प्रेम से लेना। **उ०—उसने अपनी प्रिया के पत्र को आँखों से लगा लिया।**

आँख होना=(१) परख होना। पहचान होना। शिनाख्त होना। **उ०—तुम्हें कुछ आँख भी है कि चीज़ों के दाम ही लगाना जानते हो।** (२) नजर गड़ाना। इच्छा होना। चाह होना। **उ०—उस तसवीर पर हमारी बहुत दिनों से आँख है।** (३) ज्ञान होना। विवेक होना। **उ०—देखो राम कैसो कहि कैद किये, किये हिये, हूजिये कृपाल हनुमान जू दयाल हो। ताही समै फैलि गए कोटि कोटि कपि नये लौचैं तनु खैंचैं चीर भयो यों बिहाल हौ।......भई तब आँखें दुख सागर को चाखैं, अब वही हमैं राखैं भाखैं वारों धन माल हौ।—प्रिया।**

संज्ञा पुं० [सं० आक्षि, प्रा० अक्खि पं अक्ख] **आँख के आकार का छेद वा चिह्न, जैसे—(१) आलू के ऊपर के नखक्षत के समान दाग़। (२) ईख की गाँठ पर की ठोंठी जिसमें से पत्तियाँ निकलती हैं। (३) अनन्नास के ऊपर के चिह्न वा छेद। (४) सूई का छेद।**

आँखड़ी†-संज्ञा पुं० [हिं० आंख+ड़ी (प्रत्य)] आँख। **उ०—आँखड़ियाँ झाईं परीं, पंथ निहारि निहारि। जीभड़िया छाला पर्यो, राम पुकारि पुकारि।—कबीर।**

आँखफोड़ टिड्डा-संज्ञा पुं० [सं० आक=मदार+हिं० फोड़ना] **(१) हरे रंग का एक कीड़ा वा फतिंगा जो प्रायः मदार के पौधे पर रहता है और उसकी पत्तियाँ खाता है। होता तो है यह उँगली ही के बराबर, पर इसकी मूँछें बड़ी लंबी होती हैं। (२) कृतघ्न। बेमुरौअत। ईर्ष्यालु।**

आँखमिचौली, आँखमीचली=संज्ञा स्त्री० [हिं० आंख+मींचना] **लड़कों का एक खेल जिसमें एक लड़का किसी दूसरे लड़के की आँख मूँदकर बैठता है। इस बीच में और लड़के छिप जाते हैं। तब उस लड़के की आँखें खोल दी जाती हैं और वह लड़कों को छूने के लिये ढूँढ़ता फिरता है। जिस लड़के को वह छू पाता है, वह चोर हो जाता है। यदि वह किसी लड़के को नहीं छू पाता और सब लड़के एक नियत स्थान को चूम लेते हैं, तो फिर वही लड़का चोर बनाया जाता है। यदि सात बार वही लड़का चोर हुआ, तब फिर उसकी टाँगें बाँधी जाती हैं और उसके चारों ओर एक कुंडल वा गोंडला खींच दिया जाता है। लड़के बारी बारी से उस गोंडले के भीतर पैर रखते हैं और उस लड़के को 'बुढ़िया' 'बुढ़िया'**

कहकर चिल्लाकर भागते हैं। यह चोर वा बुढ़िया बना हुआ लड़का मंडल के भीतर जिसको छू पाता है, वह चोर हो जाता है। उ०—कहुँ खेलत मिलि ग्वाल मंडली आँख-मीचली खेल। चढ़ी चढ़ा को खेल सखन में खेलत हैं रस रेल।—सूर।

आँखमुचाई-संज्ञा स्त्री० दे० "आँखमिचौली"।

आँखमुँदाई-संज्ञा स्त्री० दे० "आँखमिचौली"।

आँग *†-संज्ञा पुं० [सं० अङ्ग] (१) अंग। उ०—(क) बानिन चली सेंदुर दिये माँगा। कैथिन चली समाय न आँगा।—जायसी। (ख) कहि पठई मनभावती, पिय आवन की बात। फूली आँगन में फिरैं, आँग न आँग समात।—बिहारी। † (२) चराई जो प्रति चौपाए पर ली जाती है। (३) कुच। स्तन।

आँगन-संज्ञा पुं० [सं० अङ्गण] घर के भीतर का सहन। घर के भीतर का वह खुला चौखूटा स्थान जिसके चारों ओर कोठरियाँ और बरामदे हों। चौक। अजिर।

आंगिक-वि० [सं०] अंगसंबंधी। अंग का।

संज्ञा पुं० (१) चित्त के भाव को प्रगट करनेवाली चेष्टा। जैसे भ्रूविक्षेप, हाव आदि। (२) रस में कायिक अनुभाव। (३) नाटक के अभिनय के चार भेदों में से एक। चार भेद ये हैं—(क) आंगिक=शरीर की चेष्टा बनाना, हाथ पैर हिलाना आदि। (ख) वाचिक=बात चीत आदि की नक़ल। (ग) आहार्य्य=वेश आदि बनाना। (घ) सात्विक=स्वर-भंग, कंप, वैवर्ण्य, आदि की नक़ल।

यौ०—आंगिकाभिनय।

आंगिरस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगिरा के पुत्र बृहस्पति, उतथ्य और संवर्त्त। (२) अंगिरा के गोत्र का पुरुष। (३) अथर्ववेद को चार ऋचाओं का एक सूक्त जिसके द्रष्टा अंगिरा थे। वि० अंगिरासंबंधी। अंगिरा का।

आँगी *†-संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्गिका, प्रा० अंगिआ] अँगिया।
संज्ञा स्त्री० दे० "आँधी"।

आँगुर-संज्ञा पुं० दे० "अंगुल"।

आँगुरी *-संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्गुली] उँगली।

आँगुल-संज्ञा पुं० दे० "अंगुल"।

आँग्धी-संज्ञा स्त्री० [सं० घृ=क्षरण, झरना] महीन कपड़े से मढ़ी हुई चलनी जिससे मैदा चालते हैं।

आँच-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्चि=आग की लपट, पा० अच्चि] (१) गरमी। ताप। उ०—(क) आग और दूर हटा दो, आँच लगती है। (ख) कोयले की आँच पर भोजन अच्छा पकता है। (ग) मेरे दधि को हरि स्वाद न पायो। धौरी धेनु दुहाइ छानि पय मधुर आँच में औटि सिरायो।—सूर।

क्रि० प्र०—आना।—पहुँचना।—लगना।

(२) आग की लपट। लौ उ०—चूल्हे में और आँच कर दो, तवे तक तो आँच पहुँचती ही नहीं।

क्रि० प्र०—करना।—फैलना।—लगाना।

(३) आग। अग्नि। उ०—(क) आँच जला दो। (ख) जाओ थोड़ी सी आँच लाओ (व्रज)।

मुहा०—आँच खाना=गरमी पाना। आग पर चढ़ना। उ०—यह बरतन आँच खाते ही फूट जायगा। आँच दिखाना=आग के सामने रखकर गरम करना। उ०—ज़रा आँच दिखा दो तो बरतन का सब घी निकल आवे।

(४) ताव। उ०—(क) अभी इस रस में एक आँच की कसर है। (ख) उनके पास सौ आँच का अभ्रक है।

मुहा०—आँच खाना=ताव खाना। आवश्यकता से अधिक पकना। उ०—दूध आँच खा गया है, इससे कुछ कड़ुआ मालूम होता है।

(५) तेज। प्रताप। उ०—तलवार की आँच। (६) आघात। चोट। (७) हानि। अहित। अनिष्ट। उ०—(क) तुम निश्चिंत रहो; तुम पर किसी प्रकार की आँच न आवेगी। (ख) निहचिंत होइ के हरि भजै, मन में राखै साँच। इन पाँचन को बस करै, ताहि न आवै आँच।—कबीर। (ग) साँच को आँच क्या?

क्रि० प्र०—आना।—पहुँचना।

(८) विपत्ति। संकट। आफ़त। संताप। उ०—(क) इस आँच से निकल आवें तो कहें। (ख) आयो वही दिन, कर छुयो ही न इन, नृप करै प्राण बिन, बन माँझ छिप्यो जाइकै। आए नर चारि पाँच, जानी प्रभु आँच, गहि लियो सो दिखायो साँच, चले भक्त भाइ कै। भूप को सलाम कियो जेहरि को जोर दियो लियो कर देखि नैन छोड़ै न अघाइकै।—प्रिया। (९) प्रेम। मुहब्बत उ०।—माता की आँच बड़ी होती है। (१०) काम-ताप।

आँचका-संज्ञा पुं० [?] वह लटकता हुआ रस्सा जिसके छोर पर के छल्ले में से होकर वह रस्सा जाता है जिस पर खड़े होकर खलासी जहाज़ का पाल खोलते और लपेटते हैं।

आँचना *-क्रि० स० [हिं० आँच] जलाना। तापना। उ०—भौंह कमान सधान सुठान जे नारि विलोकनि बान ते बाँचे। कोप कृसानु गुमान अवाँ घट जो जिनके मन आँच न आँचे।—तुलसी।

आँचर *†-संज्ञा पुं० दे० "आँचल"।

आँचल-संज्ञा पुं० [सं० अञ्चल] (१) धोती, दुपट्टा आदि बिना सिले हुए वस्त्रों के दोनों छोरों पर का भाग। पल्ला। छोर। उ०—पियर उपरना काँखा सोती। दुहुँ आँचरन्ह लगे मनि मोती।—तुलसी। (२) साधुओं का अँचला। (३) स्त्रियों की साड़ी वा ओढ़नी का वह छोर वा भाग जो सामने छाती पर रहता है।

उ०—भौंह उँचे आँचर उलटि, मोरि मोरि मुँह मोरि। नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सो जोरि।—बिहारी।

मुहा०—आँचल डालना=मुसलमान लोगों में विवाह की एक रीति। (जब दूल्हा दुलहिन के घर में जाने लगता है, तब उसकी बहिन दरवाज़े से उसके सिर पर आँचल डालकर उसे घर में ले जाती है। इसका नेग बहिन को मिलता है।) आँचल दबाना=दूध पीना। स्तन मुँह में डालना। उ०—बच्चे ने आज दिन भर से आँचल नहीं दबाया। आँचल देना=(१) बच्चे को दूध पिलाना। (स्त्रि०) उ०—बच्चे को सब के सामने आँचल मत दिया करो। (२) विवाह की एक रीति। (जब बरात वर के यहाँ से चलने लगती है, तब दूल्हे की माँ उसके ऊपर आँचल डालती है और उसे काजल लगाती है। इस रीति को आँचल देना कहते हैं।) (३) आँचल से हवा करना। (स्त्रि०) उ०-(क) दीए को आँचल दे दो; व्यर्थ जल रहा है। (ख) थोड़ा आँचल दे दो तो आग सुलग जाय। आँचल पड़ना=आँचल छू जाना। उ०—देखो, बच्चे पर आँचल न पड़ जाय। (स्त्रियाँ बच्चे पर आँचल पड़ना बुरा समझती हैं और कहती हैं इससे बच्चों की देह फूल जाती है।) आँचल पल्लू—संज्ञा पुं० [हिं० आँचल+पल्ल]=कपड़े के एक छोर पर टँका हुआ चौड़ा ठप्पेदार पट्टा। आँचल फाड़ना=बच्चे के जीने के लिये टोटका करना। (जिस स्त्री के बच्चे नहीं जीते वा जो बाँझ होती है, वह किसी बच्चेवाली स्त्री का आँचल घात पाकर कतर लेती है और उसे जलाकर खा जाती है। स्त्रियों का विश्वास है कि ऐसा करने से जिसका आँचल कतरा जाता है, उसके बच्चे तो मर जाते हैं और जो आँचल कतरती है, उसके बच्चे जीने लगते हैं।) आँचल में बाँधना=(१) हर समय साथ रखना। प्रति क्षण पास रखना। उ०—वह किताब क्या हम आँचल में बाँधे फिरते हैं जो इस वक्त माँग रहे हो। (२) कपड़े के छोर में इस अभिप्राय से गाँठ देना कि उसको देखने से वक्त पर कोई बात याद आ जाय। उ०—तुम बहुत भूलते हो आँचल में बाँध रक्खो। आँचल में बात बाँधना=(१) किसी कही हुई बात को अच्छी तरह स्मरण रखना। कभी न भूलना। उ०—किसी के झगड़े में पड़ना बुरा है, यह बात आँचल में बाँध रक्खो। (२) दृढ़ निश्चय करना। पूरा विश्वास रखना। उ०—इस बात को आँचल में बाँध रक्खो कि उन दोनों में अवश्य खटपट होगी। आँचल में सात बातें बाँधना=टोटका करना। जादू करना। आँचल लेना=(१) किसी स्त्री का अपने यहाँ आई हुई दूसरी स्त्री का आँचल छूकर सत्कार वा अभिवादन करना। (२) किसी स्त्री० का अपने से बड़ी स्त्री का आँचल से पैर छूना। पाँव छूना। पाँव पड़ना। उ०—जीजी, बुआ आई हैं; उठकर आँचल ले। आँचल सँभालना=आँचल ठीक करना। शरीर को अच्छी तरह ढकना। उ०—फुलवा बिनत डार डार गोपिन के संग कुमार चंद्रबदन चमकत वृषभानु की लली। हे हे चंचल कुमारि अपनो आँचल सँभार आवत बृजराज आज बिनन को कली।

आँचू-संज्ञा पुं० [देश०] एक कँटीली झाड़ी जिसमें शरीफ़े के आकार के छोटे छोटे फल लगते हैं। इन फलों में मीठे रस से भरे दाने रहते हैं।

आँजन-संज्ञा पुं० दे० "अंजन"।

आँजना-क्रि० स० [सं० अञ्जन] अंजन लगाना। उ०—(क) ललना गन जब जेहि धरहि धाइ। लोचन आँजहिं फगुआ मनाइ।—तुलसी। (ख) केसरि सों मुख माँजति, आँजति लोचन बोलति बात रसीली।

आँजनेय-संज्ञा पुं० [सं०] अंजना के पुत्र, हनुमान।

आँट-संज्ञा पुं० [हिं० अंटी] (१) हथेली में तर्जनी और अँगूठे के बीच का स्थान।

विशेष—इसमें कभी कभी जुआरी लोग कौड़ी छिपा लेते हैं।

(२) दाँव। वश। उ०—नये बिससिये अति नये, दुरजन दुसह सुभाव। आँटे पर प्राननि हरत, काँटे लौं लगि पाय।—बिहारी।

मुहा०—आँट पर चढ़ना=दाँव पर चढ़ना।

(३) बैर। लागडाँट। (४) गिरह। गाँठ। उ०—धोती की आँट में रुपया रख लो। (५) पूला। गट्ठा। पंच।

यौ०—आँट साँट।

आँटना *-क्रि० अ० [हिं० अँटना] (१) समाना। अँटना। अमाना। (२) पूरा पड़ना। काफ़ी होना। उ०—अगलहि कहँ पानी गहि बाँटा। पछिलहि कहँ नहिं काँदू आँटा।—जायसी। (३) आनकी नमलना। उ०—कोइ फूल पात कोइ पाती जेहिक हाथ जेहि आँट।—जायसी। (४) पहुँचना। उ०—मच्छ छुवहिं आवहिं गहि काँटी। जहाँ कमल तहँ हाथ न आँटी।—जायसी।

आँटी-संज्ञा स्त्री० [सं० अण्ड] (१) लम्बे तृणों का छोटा गट्ठा। पूला। (२) लड़कों के खेलने की गुल्ली। उ०—दियो जनाय बात सो हरी स्वरूप बाळके। गोविंद स्वामि संग आँटि दंड खेल हालकै।—रघुराज। (३) कुश्ती का एक पेंच जिसमें विपक्षी की टाँग में टाँग अड़ाते हैं और उसे कमर पर लाद कर गिराते और चित्त करते हैं।

क्रि० प्र०—मारना।

(४) सूत का लच्छा। (५) धोती की गिरह। टेंट। मुर्री।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

मुहा०—आँटी काटना=गिरह काटना। जेब काटना।

आँट साँट-संज्ञा स्त्री० [हिं० आँट+सटना] (१) गुप्त अभिसंधि। साज़िश। बंदिश। (२) मेल जोल।

आँठी-संज्ञा स्त्री० [अष्टि, प्रा० अट्ठि] (१) दही, मलाई आदि वस्तुओं का लच्छा। उ०—उनके मुँह से कफ़ की सूखी आँठी गिरती है। (२) गिरह। गाँठ। (३) गुठली। बीज। (४) नवोढ़ा के उठते हुए स्तन।

आँड़-संज्ञा पुं० [सं० अण्ड] अंडकोश।

आँड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० अण्ड] (१) अंटी। गाँठ। कंद। उ०—सेंधा लोन परा सब हाँडी। काटी कंद मूल की आँड़ी।—जायसी। (२) कोल्हू की जाट का गोला, सिरा वा मूँड़। (३) बैलगाड़ी के पहिए के छेद के चारों ओर जड़ी हुई लोहे की सामी। बंद।

आँड़ू-वि० [सं० अण्ड=अण्डकोश] जिस (चौपाए) के अंडकोश न कूचे गए हों। अंडकोशयुक्त।

विशेष—यह शब्द विशेष कर बैल ही के लिये प्रयुक्त होता है।

आँड़ेबाँड़े खाना-क्रि० अ० [हिं० अंडबंड। अथवा डाँड़=मेंड़+बाध] इधर उधर फिरना। इधर उधर हवा खाना। चक्कर खाना।

विशेष—फूल-बुझौअल के खेल में जब लड़कों के दल बँध जाते हैं और दोनों दलों के महंतों को आपस में किसी फूल को निश्चित करना होता है, तब वे अपने अपने दल के लड़कों को यह कहकर इधर उधर हटा देते हैं कि 'आँड़े बाँड़े खाओ'। लड़के 'आँड़े बाँड़े' कहते हुए इधर उधर चले जाते हैं और फिर फूल बूझने के लिये आते हैं।

आँत-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्त्र] प्राणियों के पेट के भीतर की वह लंबी नली जो गुदा मार्ग तक रहती है। खाया हुआ पदार्थ पेट में कुछ पचकर फिर इस नली में जाता है जहाँ से रस तो अंग प्रत्यंग में पहुँचाया जाता है और मल वा रद्दी पदार्थ बाहर निकाला जाता है। मनुष्य की आँत उसके डील से पाँच वा छः गुनी लंबी होती है। मांसभक्षी जीवों की आँत शाकाहारियों से छोटी होती है। इसका कारण शायद यह है कि मांस जल्दी पचता है।

मुहा०—**आँत उतरना**=एक रोग जिसमें आँत ढीली होकर नाभि के नीचे उतर आती है और अंडकोश में पीड़ा उत्पन्न होती है। **आँतों का बल खुलना**=पेट भरना। भोजन से तृप्ति होना। बहुत देर तक भूखे रहने के उपरांत भोजन मिलना। उ०—आज कई दिनों के पीछे आँतों का बल खुला है। **आँतों का बल खुलवाना**=पेट भर खिलाना। **आँतें कुलकुलाना**=भूख के मारे बुरी दशा होना। **आँतें गले में आना**=नाकों दम होना। जंजाल में फँसना। तंग होना। उ०—इस काम को अपने ऊपर लेते तो हो, पर आँतें गले में आवेंगी। **आँतें मुँह में आना**=दे० "आँते गले में आना"। **आँतों में बल पड़ना**=पेट में बल पड़ना। पेट ऐंठना। उ०—हँसते हँसते आँतों में बल पड़ने लगा। **आँतें समेटना**=भूख सहना। उ०—रात भर आँतें समेटे बैठे रहे। **आँतें सूखना**=भूख के मारे बुरी दशा होना। उ०—कल से कुछ खाया नहीं है; आँतें सूख रही हैं।

आँतकट्टू-संज्ञा पुं० [हिं० आँत+कटना] चौपायों का एक रोग जिसमें उन्हें दस्त होता है।

आँतर-संज्ञा पुं० [सं० अन्तर=भीतर] खेत का उतना भाग जितना एक बार जोतने के लिये घेर लिया जाता है।

संज्ञा पुं० [सं० अन्तर=दो वस्तुओं के बीच का स्थान] (१) पान के भीटे के भीतर की क्यारियों के बीच का स्थान जो आने जाने के लिये रहता है। पाला। (२) ताने में दोनों सिरों की खूँटियों के बीच की दो लकड़ियाँ जो थोड़ी थोड़ी दूर पर साँथी अलग करने के लिये गाड़ी जाती हैं। (जुलाहे)

आँदू-संज्ञा पुं० [सं० अन्दू=बेड़ी] (१) लोहे का कड़ा। बेड़ी। उ०—हूलै इते पर मैन महावत लाज के आँदू परे गथि पाँयन। त्यों पद्माकर कौन कहै गति माते मतंगनि की दुखदायन।—पद्माकर। (२) बाँधने का सीकड़। उ०—अंजन आँदू सों भरे यद्यपि तुव गज नैन। तदपि चलावत रहत हैं झुकि झुकि चोटैं सैन।—रसनिधि।

आंदोलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बार बार हिलना डोलना। इधर से उधर हिलना। (२) उथल पथल करनेवाला प्रयत्न। हलचल। धूम। उ०—(क) शिक्षा के प्रचार के लिये वहाँ खूब आंदोलन हो रहा है। (ख) सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध खूब आंदोलन होना चाहिए।

आँध-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्ध] (१) अँधेरा। धुंध। (२) रतौंधी। (३) आफ़त। कष्ट। उ०—तुम्हें वहाँ जाते क्यों आँध आती है।

क्रि० प्र०—आना।

आँधना-क्रि० अ० [हिं० आँधी] वेग से धावा करना। टूटना। उ०—भुसुंडिय और कुतंडिय साधि। परे दुहुँ ओरन ते भट आँधि।

आँधर†-वि० [सं० अन्ध] [स्त्री० आँधरी] अंधा।

आँधरा†*-वि० [सं० अन्ध] [स्त्री० आँधरी] अंधा।

आँधारंभ*-संज्ञा पुं० [सं० अन्ध=अंधकार, अंधेर+आरम्भ] अँधेरखाता। बिना समझा बूझा आचरण। उ०—करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि दंभ। जानै बूझै कछु नहीं, योंही आँधारंभ।—कबीर।

आँधी-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्ध=अँधेरा] बड़े वेग की हवा जिससे इतनी धूल उठती है कि चारों ओर अँधेरा छा जाय। अंधड़। अंधबाव। भारतवर्ष में आँधी का समय वसंत और ग्रीष्म है।

क्रि० प्र०—आना।—उठना।—चलना।

मुहा०—**आँधी उठाना**=हलचल मचाना। धूम धाम मचाना।

आँधी के आम=(१) आँधी में आप से आप गिरे हुए आम। (२) बिना परिश्रम के मिली हुई चीज। बहुत सस्ती चीज। (३) थोड़े दिन रहनेवाली चीज।

वि० आँधी की तरह तेज़। किसी काम को झटपट करनेवाला। चुस्त। चालाक। उ०—काम करने में तो वह आँधी है।

मुहा०—आँधी होना=बहुत तेज चलना।

आँध्र-संज्ञा पुं० [सं] तासी नदी के किनारे का देश।

वि० अंध्र देश का निवासी।

आँब-संज्ञा पुं० दे० "आम"।

आँबा हल्दी-संज्ञा स्त्री० दे० "आमा हलदी"।

आंबिकेय-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "अंबिकेय"।

आँय बाँय-संज्ञा पुं० [अनु०] अनाप शनाप। अंड बंड। व्यर्थ की बात। असंबद्ध प्रलाप।

आँव-संज्ञा पुं० [सं० आम=कचा] एक प्रकार का चिकना सफ़ेद लसदार मल जो अन्न न पचने से उत्पन्न होता है।

क्रि० प्र०—गिरना।—पड़ना।

आँवठ-संज्ञा पुं० [सं० ओष्ठ, हिं० ओठ] (१) किनारा। बारी। (२) कपड़े का किनारा। (३) बरतन की बारी।

आँवड़ना*-क्रि० अ० [हिं० उमड़ना] उमड़ना। उ०—भरे रुचि भार सुकुमार सरसिज सार सोभा रूप सागर अपार रस आँवड़े।—देव।

आँवड़ा*†-वि० [हिं० उमड़ना] गहरा। उ०—जेता मीठा बोलवा, तेता साधु न जान। पहिले थाह दिखाइ के, आँवड़े देसी आनि।—कबीर।

आँवन-संज्ञा पुं० [सं० आनन=मुँह] (१) लोहे की सामी जो पहिये के उस छेद के मुँह पर लगी रहती है जिसमें से होकर धुरी का डंडा जाता है। मुहँड़ी। (२) वह औज़ार जिससे लोहे के छेद को लोहार लोग बढ़ाते हैं।

आँवरा-संज्ञा पुं० दे० "आँवला"।

आँवल-संज्ञा पुं० [सं० उल्वम=जरायु। अथवा, अंबर=आच्छादन] झिल्ली जिससे गर्भ में बच्चे लिपटे रहते हैं। यह झिल्ली प्रायः बच्चा होने के पीछे गिर जाती है। खेंड़ी। जेरी। साम।

यौ०—आँवल नाल।

आँवलगट्टा-संज्ञा पुं० [हिं० आँवला+हिं० गट्टा वा गाँठ] आँवले का सूखा हुआ फल। आँवले का डाल में सूखा हुआ फल।

विशेष—यह दवा में तथा सिर मलने के काम में आता है।

आँवला-संज्ञा पुं० [सं० आमलक, प्रा० आमलओ] (१) एक पेड़ जिसकी पत्तियाँ इमली की तरह महीन महीन होती हैं। इसकी लकड़ी कुछ सफ़ेदी लिए होती है और उसके ऊपर का छिलका प्रति वर्ष उतरा करता है। कार्त्तिक से माघ तक इसका फल रहता है जो गोल कागज़ी नीबू के बराबर होता है। इसके ऊपर का छिलका इतना पतला होता है कि उसकी नसें दिखाई देती हैं। यह स्वाद में कसैलापन लिए हुए खट्टा होता है। आयुर्वेद में इसे शीतल, हलका, तथा दाह, पित्त और प्रमेह का नाश करनेवाला बतलाया है। इसके संयोग से त्रिफला, च्यवनप्राश, आदि औषध बनते हैं। आँवले का मुरब्बा भी बहुत अच्छा होता है। आँवले की पत्तियों से चमड़ा भी सिझाया जाता है। इसकी लकड़ी पानी में नहीं सड़ती। इसी से कूओं के नीमचक आदि इसी के बनते हैं। (२) विपक्षी को नीचे लाने का कुश्ती का एक पेंच।

विशेष—जब विपक्षी का हाथ अपनी गरदन पर रहे, तब अपना भी वही हाथ उसकी गरदन पर चढ़ावे और दूसरे हाथ से शत्रु के उस हाथ को जो अपनी गरदन पर है झटका देकर हटाते हुए उसको नीचे लावे। इसका तोड़—विषम पैतरा करे अथवा शत्रु की गरदन पर का हाथ केहुनी से हटा कर पैतरा बढ़ाते हुए बाहरी टाँग मार गिरावे।

आँवलापत्ती-संज्ञा स्त्री० [हिं० आँवला+पत्ती] एक प्रकार की सिलाई जिसमें पत्ती की तरह दोनों ओर तिरछे टाँके मारे जाते हैं।

आँवलासार गंधक- संज्ञा स्त्री० [हिं० आँवला+सं० सारगंधक] खूब साफ़ की हुई गंधक जो पारदर्शक होती है। यह खाने में अधिक खट्टी होती है।

आँवा-संज्ञा पुं० [सं० आपाक=आवाँ] वह गड्ढा जिसमें कुम्हार लोग मिट्टी के बरतन पकाते हैं। उ०—कुम्हार आँवा लगा रहा है।

क्रि० प्र०—लगाना।

मुहा०—आँवाँ का आँवाँ बिगड़ना=सारे परिवार का बिगड़ना। सारे परिवार का कुत्सित विचार होना। आँवाँ बिगड़ना=आवें के बरतनों का ठीक ठीक न पकना।

आंशिक-वि० [सं०] अंशसंबंधी। अंशविषयक।

आंशुक जल-संज्ञा पुं० [सं०] किरण दिखाया हुआ पानी। वह जल जो एक ताँबे के बरतन में रखकर दिन भर धूप में और रात भर चाँदनी वा ओस में रख कर छान लिया जाय। वैद्यक में इसका बड़ा गुण लिखा है।

आँस-संज्ञा स्त्री० [सं० काश=क्षत, हिं० गाँस] संवेदना। दर्द। उ०—बिछुरत सुन्दर अधर तें, रहत न जिहि घट साँस। मुरली सम पाई न हम, प्रेम प्रीति की आँस।—रसनिधि।

संज्ञा स्त्री० [सं० पाश] (१) सुतली। डोरी। (२) रेशा।

आँसी-संज्ञा स्त्री० [सं० अंश=भाग] भाजी। बैना। मिठाई जो इष्ट मित्रों के यहाँ बाँटी जाती है। उ०—लखन लाल के हैंहीं दिना तें परी मन आइ सनेह की फाँसी। काम कलोलनि में मतिराम लगे मनो बाँटन मोद की आँसी।—मतिराम।

आँसू-संज्ञा पुं० [सं० अश्रु, पा० प्रा० अस्सु] **वह जल जो आँख के भीतर उस स्थान पर जमा रहता है, जहाँ से नाक की ओर नली जाती है। यह जल आँख की झिल्लियों को तर रखता है और ढेले पर गर्द या तिनके को नहीं रहने देता, धोकर साफ कर देता है। आँसू भी थूक की तरह पैदा होता रहता है और बाहरी वा मानसिक आघात से बढ़ता है। किसी प्रबल मनोवेग के समय, विशेषकर पीड़ा और शोक में आँसू निकलते हैं। क्रोध और हर्ष में भी आँसू निकलते हैं। अधिक होने पर आँसू गालों पर बहने लगता है और कभी कभी भीतरी नली के द्वारा नाक में भी चला जाता है और नाक से पानी बहने लगता है।**

क्रि० प्र०—आना।—गिरना।—गिराना।—चलना।—टपकना।—टपकाना।—डालना।—ढालना।—निकालना।—बहना।—बहाना।

यौ०—आँसू की धार। आँसू की लड़ी।

मुहा०—आँसू गिराना=रोना। उ०—**क्यों झूठ झूठ आँसू गिराते हो।** आँसू डबडबाना=आँसू निकलना। रोने की दशा होना। उ०—**यह सुनते ही उसके आँसू डबडबा आए।** आँसू ढालना=आँसू गिराना। रोना। उ०—**परगट ढारि सकै नहिं आँसू। घुट घुट माँस गुपुत होय नासू।—जायसी।** आँसू-तोड़=कुसमय की वर्षा। (ठग)। **आँसू थमना**=आँसू रुकना। रोना बंद होना। उ०—**(क) जब से उन्होंने यह समाचार सुना है, तबसे उनके आँसू नहीं थमते हैं। (ख) थमते थमते थमेंगे आँसू। रोना है कुछ हँसी नहीं है।—मीर।** आँसू पीकर रह जाना=भीतर ही भीतर रोकर रह जाना। अपनी व्यथा को रोकर प्रकट न करना। मन ही मन मसोसकर रह जाना। उ०—**(क) मेरे देखते उसने बच्चे पर हाथ चलाया था; और मैं आँसू पीकर रह गया। (ख) इतना दुःख उस पर पड़ा, पर वह आँसू पीकर रह गया।** आँसू पुँछना=आश्वासन मिलना। ढारस बँधना। उ०—**उस बेचारे की सारी संपत्ति तो चली गई, पर घर बच जाने से कुछ आँसू पुँछ गए।** आँसू पोंछना=(१) बहते हुए आँसू को कपड़े से सुखाना। (२) ढारस बधाना। दिलासा देना। तसल्ली देना। आश्वासन देना। उ०—**(क) उसका घर ऐसा सत्यानाश हुआ कि कोई आँसू पोंछनेवाला भी न रहा। (ख) हमारा सारा रुपया मारा गया, आँसू पोंछने के लिये १००) मिले हैं।** आँसू भर आना=आँसू निकल पड़ना। आँसू भर लाना=रोने लगना। उ०—**यह सुनते ही वह आँसू भर लाया।** आँसुओं का तार बँधना=बराबर आँसू बहना। आँसुओं से मुँह धोना=बहुत आँसू गिराना। बहुत रोना। अत्यंत विलाप करना।

आँसूढाल-संज्ञा पुं० [हिं० आँसू+ढालना] **घोड़ों और चौपायों की एक बीमारी जिसमें उनकी आँखों से आँसू बहा करता है।**

आँहड़-संज्ञा पुं० [सं० आ+भांड।] बरतन।

आँहाँ-अव्य० [हिं० ना+हाँ] नहीं।

विशेष—यह शब्द किसी प्रश्न के उत्तर में जीभ हिलाने के श्रम से बचने के लिये बोला जाता है। स्वर और ऊष्म, विशेष कर "ह" के उच्चारण में बहुत कम प्रयत्न करना पड़ता है।

आ-अव्य० [सं०] एक अव्यय जिसका प्रयोग सीमा, अभिव्याप्ति, ईषत् और अतिक्रमण के अर्थों में होता है। जैसे—(क) सीमा—आसमुद्र=समुद्र तक। आमरण=मरण तक। आजानुबाहु=जानु तक लंबी बाहुवाला। आजन्म=जन्म से। (ख) अभिव्याप्ति—आपाताल=पाताल के अंतर्भाग तक। आजीवन=जीवन भर। (ग) ईषत् (थोड़ा, कुछ) —आपिंगल=कुछ कुछ पीला। आकृष्ण=कुछ काला। (घ) अतिक्रमण—आकालिक=बेमौसिम का।

उप० [सं०] यह प्रायः गत्यर्थक धातुओं के पहले लगता है और उनके अर्थों में कुछ थोड़ी सी विशेषता कर देता है; जैसे, आपात, आघूर्णन, आरोहण, आकंपन, आघ्राण। जब यह 'गम' (जाना), 'या' (जाना), 'दा' (देना), तथा 'नी' (ले जाना) धातुओं के पहले लगता है, तब उनके अर्थों को उलट देता है; जैसे 'गमन' (जाना) से 'आगमन' (आना); 'नयन' (ले जाना) से 'आनयन' (लाना); 'दान' (देना) से 'आदान' (लेना)।

आइंदा ज़माना।

संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा। पितामह।

आइंदा-वि० [फा०] आनेवाला। आगंतुक। भविष्य। जैसे—आइंदा ज़माना।

संज्ञा पुं० [फा०] भविष्य काल। आनेवाला समय। जैसे,—आइंदा के लिए ख़बरदार हो रहो।

क्रि० वि० [फा०] आगे। भविष्य में। जैसे,—(क) हमने समझा दिया, आइंदा वह जाने उसका काम जाने। (ख) आइंदा ऐसा न करना।

यौ०—आइंदे। आइंदे को। आइंदे में। आइंदे से। ये सब के सब क्रि० वि० के समान प्रयुक्त होते हैं।

आइ*-संज्ञा स्त्री० [सं० आयु] (१) आयु। जीवन। उ०—(क) **एक मरी रुरु मुई सो बूजी। रहा न जाय आइ अब पूजी।—जायसी। (ख) जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आयु खुटानी।—तुलसी। (ग) सतयुग लाख वर्ष की आई। त्रेता दश सहस्र कह गाई।—सूर।**

आइना†-संज्ञा पुं० दे० "आईना"।

आइस*-संज्ञा पुं० दे० "आयसु"।

आइसु*-संज्ञा पुं० "आयसु"।

आई-संज्ञा स्त्री० [हिं० आना] मृत्यु। मौत। उ०—भरा कटोरा

दूध का, ठंढा करके पी। तेरी आई मैं मरूँ, किसी तरह तू जी।

क्रि० अ० 'आना' का भूतकाल स्त्री०।

*संज्ञा स्त्री० दे० 'आइ'।

आईन-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [वि० आईनी] (१) नियम। विधि। क़ायदा। ज़ाब्ता। (२) क़ानून। राजनियम।

यौ०—आईनदाँ=वकील। क़ानून जाननेवाला।

आईना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] आरसी। दर्पण। शीशा।

यौ०—आईनादार। आईनाबंदी। आईनासाज़। आईनासाज़ी।

मुहा०—आईना होना=स्पष्ट होना। जैसे,—यह बात तो आप पर आईना हो गई होगी। आईने में मुँह देखना=अपनी योग्यता को जाँचना। (यह मुहावरा उस समय बोला जाता है जब कोई व्यक्ति अपनी योग्यता से अधिक काम करने की इच्छा प्रगट करता है; जैसे—पहले आईने में अपना मुँह तो देख लो; फिर बात करना।)

आईनादार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह नौकर जो आईना दिखलाने का काम करे। नाई। हज्जाम।

विशेष—दसहरे, दिवाली आदि त्योहारों पर नाई आईना दिखाता है और उसके बदले में लोगों से कुछ इनाम पाता है।

आईनाबंदी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) कमरे वा बैठक में झाड़ फानूस आदि की सजावट। (२) कमरे वा घर के फ़र्श में पत्थर वा ईंट की जुड़ाई। (३) रोशनी करने के लिये तरतीब से टट्टियाँ खड़ी करना।

आईनासाज़-संज्ञा पुं० [फ़ा०] आईना बनानेवाला।

आईनासाज़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) काँच की चद्दर के टुकड़े पर कलई करने का काम। (२) आईनासाज़ का पेशा।

आईनी-वि० [फ़ा० आईन] क़ानूनी। राज नियम के अनुकूल।

आउंस-संज्ञा पुं० [अं०] एक अँगरेज़ी मान जो दो प्रकार का होता है। एक ठोस वस्तुओं के तौलने में और दूसरा द्रव पदार्थों के नापने में काम आता है। तौलने का आउंस हिंदुस्तानी रुपए दो तोले के बराबर होता है। ऐसे बारह आउंसों का एक पाउंड होता है। नापने का आउंस सोलह ड्राम का होता है और एक ड्राम साठ बूँदों का होता है।

आउ*-संज्ञा स्त्री० [सं० आयु] जीवन। उम्र। उ०—(क) तुहूँ जिउ तन मिलवसि दै आऊ। तुहि बिछोह बस करेसि मिलाऊ।—जायसी। (ख) संकट सुकृत को सोचत जानि जिय रघुराउ। सहस द्वादस पंचसत में कछुक है अब आउ।—तुलसी।

आउज*-संज्ञा पुं० [सं० वाद्य, प्रा० वज्ज] ताशा। उ०—घंटा-घंटि-पखाउज-आउज-झाँझ बेनु-डफ-तार। नूपर-धुनि-मंजीर मनोहर करकंकन झनकार।—तुलसी।

आउझ*-संज्ञा पुं० दे० "आउज"।

आउट-वि० [अं०] खेल में हारा हुआ। बहिर्भूत। (यह शब्द क्रिकेट आदि खेल में बोला जाता है। जब बल्लेवाले किसी खेलाड़ी के खेलते समय गेंद विकेट में लग जाता है वा बल्ले से मारा हुआ गेंद लोक लिया जाता है, तब वह आउट समझा जाता है और बल्ला रख देता है।)

आउबाउ†*-संज्ञा पुं० [सं० वायु=हवा] अंड बंड बात। अनर्थक शब्द। असंबद्ध प्रलाप।

क्रि० प्र०—बकना। उ०—मानस मलीन करतब कलिमल पीन जीह हू न जपेउ नाम बकेउ आउबाउ मैं।—तुलसी।

आउस-संज्ञा पुं० [सं० आशु बंग० आउश] धान का एक भेद जो बंगाल में मई जून में बोया जाता है और अगस्त सितंबर में काटा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—एक मोटा दूसरा महीन वा लेरी। भदई। ओसहन।

आकंपन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आकंपित] काँपना। कँपकपी।

आकंपित-वि० [सं०] काँपा हुआ। हिला हुआ।

आक-संज्ञा पुं० [सं० अर्क, प्रा० अक्क] मंदार। अकौआ। अकवन। उ०—(क) पुरवा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई है झूरी।—जायसी। (ख) कबिरा चंदन बीरवै, बेधा आक पलास। आप सरीखा कर लिया, जो होते उन पास।—कबीर। (ग) देत न अघात रीझि जात पात आक ही के भोरानाथ जोगी जब औढर ढरत हैं।—तुलसी।

मुहा०—आक की बुढ़िया=(१) मदार का घूआ। (२) बहुत बूढ़ी स्त्री।

आकड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० आक+ड़ा (प्रत्य०)] मदार। अकौआ। अर्क।

आकन†-संज्ञा पुं० [आखनन=खोदना] (१) घास फूस, जिसे जोते हुए खेत से निकालकर बाहर फेंकते हैं। (२) जोते हुए खेत से घास फूस निकालने की क्रिया। चिखुरना। चिखुरी।

आक़बत-संज्ञा स्त्री० [अ०] मरने के पीछे की अवस्था। परलोक। जैसे,—बाबा दिया लिया ही आक़बत में काम आवेगा।

यौ०—आक़बत अंदेश। आक़बत अंदेशी।

क्रि० प्र०—बिगड़ना=(१) परलोक का बिगड़ना। परलोक नष्ट होना। (२) अंजाम बिगड़ना। बुरा परिणाम होना।—बिगाड़ना।

मुहा०—आक़बत में दिया दिखाना=परलोक में काम आना।

आक़बत अंदेश-वि० [फ़ा०] परिणाम सोचनेवाला। अग्रशोची। दूरंदेश। दीर्घदर्शी।

आक़बत अंदेशी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] परिणाम का विचार। परिणामदर्शिता। दीर्घदर्शिता। दूरअंदेशी।

क्रि० प्र०—करना।

आक़बती लंगर-संज्ञा पुं० [फ़ा० आक़बती+हिं० लंगर] एक प्रकार का लंगर जो जहाज़ पर अगले मस्तूल की रस्सियों या रिंगीन के पास बीच के टूटक में रहता है और आफ़त के वक्त डाला जाता है।

आकबाक-संज्ञा पुं० [सं० वाक्य]अकबक। अंडबंड बात। ऊटपटाँग बात। उ०—आकबाक बकति बिथा में बूड़ि बूड़ि जाति पी की सुधि आयें जी की सुधि बुधि खोइ देति।—देव।

आकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खानि। उत्पत्ति स्थान। उ०—सदा सुमन-फल-सहित सब, द्रुम नव नाना जाति। प्रगटी सुन्दर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति।—तुलसी। (२) ख़जाना। भांडार।

यौ०—गुणाकर। कमलाकर। कुसुमाकर। करुणाकर। रत्नाकर।
(३) भेद। क़िस्म। जाति। उ०—आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभवासी।—तुलसी। (४) तलवार के बत्तीस हाथों में से एक। तलवार चलाने का एक भेद।

वि० [सं०] (१) श्रेष्ठ। उत्तम। (२) अधिक। उ०—चंपा प्रीति जो तेल है, दिन दिन आकर बास। गलि गलि आप हेराय जो, मुए न छाँड़ै पास।—जायसी। (३) गुणित। गुणा। जैसे, पाँच आकर, दस आकर। उ०—अस भा सूर पुरुष निरमरा। सूर जाहि दस आकर करा।—जायसी। (४) दक्ष। कुशल। व्युत्पन्न।

आकरकढ़ा-संज्ञा पुं० दे० "आकरकरहा"

आकरकरहा-संज्ञा पुं० [अ०] एक जड़ी जिसे मुँह में रखने से जीभ में चुनचुनाहट होती है और मुँह से पानी निकलता है। यह एक वृक्ष की लकड़ी है। आकरकढ़ा। दे० "अकरकरा"।

आकरखना*-क्रि० स० दे० "आकर्षना"।

आकरिक-वि० [सं०] खान खोदनेवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] वह मनुष्य जो खान को स्वयं खोदे वा औरों से खोदावे और उससे धातु निकाले।

आकर्ण-वि० [सं०] कान तक फैला हुआ।

यौ०—आकर्ण चक्षु। आकर्णकृष्ट।

आकर्णन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आकर्णित] सुनना। कान करना। अकनना।

आकर्णित-वि० [सं०] सुना हुआ।

आकर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक जगह के पदार्थ का बल से दूसरी जगह जाना। खिंचाव। कशिश।

क्रि० प्र०—करना=खींचना। उ०—तैसे ही भुवभार उतारन हरि हलधर अवतार। कालिंदी आकर्ष कियो हरि मारे दैत्य अपार।—सूर।
(२) पासे का खेल। (३) बिसात जिस पर पासा खेला जाय। चौपड़। (४) इंद्रिय। (५) धनुष चलाने का अभ्यास। (६) कसौटी। (७) चुंबक।

आकर्षक-वि० [सं०] वह जो दूसरे को अपनी ओर खींचे। आकर्षण करनेवाला। खींचनेवाला।

आकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आकर्षित, आकृष्ट] (१) किसी वस्तु का दूसरी वस्तु के पास उसकी शक्ति वा प्रेरणा से लाया जाना। (२) खिंचाव। (३) तंत्रशास्त्र का एक प्रयोग जिसके द्वारा दूर देशस्थ पुरुष या पदार्थ पास में आ जाता है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—आकर्षण मंत्र। आकर्षण विद्या। आकर्षण शक्ति।

आकर्षण शक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] भौतिक पदार्थों की एक शक्ति जिससे वे अन्य पदार्थों को अपनी ओर खींचते हैं। यह शक्ति प्रत्येक परमाणु में रहती है। क्या कारण, क्या कार्य्य रूप में सब परमाणु वा उनसे उत्पन्न सब पदार्थ दूसरे परमाणुओं और पदार्थों का आकर्षण करते हैं और स्वयं दूसरे परमाणुओं और पदार्थों की ओर आकृष्ट होते हैं। इसी से द्व्यणु, त्रसरेणु तथा समस्त चराचर जगत का संघटन होता है। इसी से पाषाणादि के परमाणु आपस में जुड़े रहते हैं। पृथ्वी के ऊपर कंकड़, पत्थर तथा जीव आदि सब इसी शक्ति के बल पर ठहरे रहते हैं। जल के चंद्रमा की ओर आकृष्ट होने से समुद्र में ज्वार भाटा उठता है। बड़े बड़े पिंड, ग्रहमंडल, सूर्य्य, चंद्रादि सब इसी शक्ति से आकाश मंडल में निराधार स्थित हैं और नियम से अपनी अपनी कक्षा पर भ्रमण करते हैं। पृथ्वी भी इसी शक्ति से बृहत् वायु मंडल को धारण किए हुए है। सूर्य्य से लेकर परमाणु तक में यह शक्ति विद्यमान है। यह शक्ति भिन्न भिन्न रूपों से भिन्न भिन्न पदार्थों और दशाओं में काम करती है। मात्रानुसार इसका प्रभाव दूरस्थ और निकटवर्ती सभी पदार्थों पर पड़ता है। धारण वा गुरुत्वाकर्षण, चुंबकाकर्षण, संलग्नाकर्षण, केशाकर्षण, रासायनिकाकर्षण आदि इसके प्रभेद हैं।

आकर्षणी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक लग्गी जिससे फल फूल तोड़ते हैं। अँकुसी। लकसी। (२) प्राचीन काल का एक सिक्का।

आकर्षन*-संज्ञा पुं० दे "आकर्षण"।

आकर्षना*-क्रि० स० [सं० आकर्षण] खींचना। उ०—(क) आकरष्यो धनु करन लगि, छाँड़े शर इकतीस। रघुनायक शायक चले, मानहुँ काल फणीस।—तुलसी। (ख) कालिंदी को निकट बुलायो जल क्रीड़ा के काज। लियो आकरषि एक छन में हलि कति समरथ यदुराज।—सूर।

आकर्षित-वि० [सं०] खींचा हुआ।

आकलन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आकलनीय, आकलित] (१) ग्रहण। लेना। (२) संग्रह। बटोरना। संचय। इकट्ठा

करना। (३) गिनती करना। (४) अनुष्ठान। संपादन। (५) अनुसंधान। जाँच।

आकलनीय-वि० [सं०] (१) ग्रहण करने योग्य। लेने योग्य। (२) संग्रह करने योग्य। (३) गिनती करने योग्य (४) अनुष्ठान करने योग्य (५) जाँचने योग्य। पता लगाने योग्य।

आकलित-वि० [सं०] (१) लिया हुआ। पकड़ा हुआ। (२) ग्रथित। गुँथा हुआ। (३) गिना हुआ। परिगणित। (४) अनुष्ठित। संपादित। कृत (५) अनुसंधान किया हुआ। जाँचा हुआ। परीक्षित।

आकली †-संज्ञा स्त्री० [सं० आकुल+ई (प्रत्य०)] आकुलता। बेचैनी।

आकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेश रचना। सिंगार करना। जैसे, रत्नाकल्प। (२) कल्प-पर्यंत।

आकष-संज्ञा पुं० [सं०] कसौटी।

आकसमात *†- क्रि० वि० दे० "अकस्मात्"।

आकस्मात *†-क्रि० वि० दे० "अकस्मात्"।

आकस्मिक-वि० [सं०] जो बिना किसी कारण के हो। जो अचानक हो। सहसा होनेवाला। जिसके होने का पहले से अनुमान न हो।

आकांक्षक-वि० [सं०] इच्छा करनेवाला। अभिलाषा करनेवाला।

आकांक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० आकांक्षक, आकांक्षित, आकांक्षी] (१) इच्छा। अभिलाषा। वांछा। चाह। (२) अपेक्षा। (३) अनुसंधान। (४) न्याय के अनुसार वाक्यार्थ ज्ञान के चार प्रकार के हेतुओं में से एक। वाक्य में पदों का परस्पर संबंध होता है और इसी संबंध से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। जब वाक्य में एक पद का अर्थ दूसरे पद के अर्थज्ञान पर आश्रित रहता है, तब यह कहते हैं कि इस पद के ज्ञान के लिये उस पद के ज्ञान की आकांक्षा है। जैसे,—'देवदत्त आया' इस वाक्य में 'आया' पद का ज्ञान देवदत्त के ज्ञान के आश्रित है। (५) जैनियों के अनुसार एक अतिचार। जैनियों के अतिरिक्त अन्य मतवालों की विभूति देख उसके ग्रहण करने की इच्छा।

यौ०—आकांक्षातिचार।

आकांक्षित-वि० [सं०] (१) इच्छित। अभिलषित। वांछित। (२) अपेक्षित।

आकांक्षी-वि० [सं० आकांक्षिन्] [स्त्री० आकांक्षिणी] इच्छा करनेवाला। इच्छुक। चाहनेवाला।

आका †-संज्ञा पुं० [सं० आकाय] (१) कौड़ा। अलाव (२) भट्ठी। (३) पजावा। आँवाँ।

आक़ा-संज्ञा पुं० [अ०] मालिक। स्वामी।

आकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वरूप। आकृति। मूर्ति। रूप। सूरत। (२) डील डौल। क़द। (३) बनावट। संघटन। (४) निशान। चिह्न। (५) चेष्टा। (६) 'आ' वर्ण। (७) बुलावा—डिं०।

यौ०—आकारगुप्ति। आकार गोपन=हृदय या मन के भाव को कल्पित चेष्टा से छिपाना।

आकारण-संज्ञा पुं० [सं०] आह्वान। बुलावा।

आकारी*-वि० [सं० आकारण=आह्वान] [स्त्री० आकारिणी] आह्वान करनेवाला। बुलानेवाला। उ०—जयति ललितादि देवीय व्रज श्रुति ऋचा कृष्ण प्रिय केलि आभीर अंगी। युगल रसमत्त आनंदमय रूपनिधि सकल सुख समय की छाँह संगी। गौर मुख हिम किरण की जु किरणावली श्रवत मधु-गान हिय पियत रंगी। नागरी सकल संकेत आकारिणी गनत गुन गननि मति होति पंगी।—नागरी।

आकारीठ-संज्ञा पुं० [सं० आकारण=बुलाना] संग्राम। युद्ध।-डिं०।

आकाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतरिक्ष। आसमान। गगन। ऊँचाई पर का वह चारों ओर फैला हुआ अपार स्थान जो नीला और शून्य दिखाई देता है। जैसे,—पक्षी आकाश में उड़ रहे हैं। (२) साधारणतः वह स्थान जहाँ वायु के अतिरिक्त और कुछ न हो। जैसे, —वह योगी ऊपर उठा और बड़ी देर तक आकाश में ठहरा रहा। (३) शून्य स्थान। वह अनंत विस्तृत अवकाश जिसमें विश्व के छोटे बड़े सब पदार्थ, चंद्र, सूर्य्य, ग्रह, उपग्रह आदि स्थित हैं और जो सब पदार्थों के भीतर व्याप्त है।

विशेष—वैशेषिककार ने आकाश को द्रव्यों में गिना है। उसके अनुयायी भाष्यकार प्रशस्तपाद ने आकाश, काल और दिशा को एक ही माना है। यद्यपि सूत्र के १७ गुणों में शब्द नहीं है, पर भाष्यकार ने कुछ और पदार्थों के साथ शब्द को भी ले लिया है। न्याय में भी आकाश को पंचभूतों में माना है और उससे श्रोत्रेंद्रिय की उत्पत्ति मानी है। सांख्यकार ने भी आकाश को प्रकृति का एक विकार और शब्द तन्मात्रा से उत्पन्न माना है और उसका गुण शब्द कहा है। पाश्चात्य दार्शनिकों में से अधिकांश ने आकाश के अनुभव और दूसरे पदार्थों के अनुभव के बीच वही भेद माना है जो वर्त्तमान प्रत्यक्ष अनुभव और व्यतीत पदार्थों वा भविष्य संभावनाओं की स्मृति वा चिंतनप्रसूत अनुभव में है। कांट आदि ने आकाश की भावना को अंतःकरण ही से प्राप्त अर्थात् उसी का गुण माना है। उनका कथन है कि जैसे रंगों का अनुभव हमें होता है, पर वास्तव में पदार्थों में उनकी स्थिति नहीं है, केवल हमारे अंतःकरण में है, उसी प्रकार आकाश भी है।

यौ०—आकाशकुसुम। आकाशगंगा। आकाशचारी। आकाश-चोटी। आकाशजल। आकाशदीपक। आकाशपुरी। आकाश-ध्रुव। आकाशनीम। आकाशपुष्प। आकाशभाषित। आकाश-फल। आकाशबेल। आकाशमंडल। आकाशमुखी। आकाश-

मुली। आकाशलोचन। आकाशवल्ली। आकाशवाणी। आकाशवृत्ति। आकाशव्यापी। आकाशस्तिकाय।

पर्या०—द्यौः। द्यु। अभ्र। व्योम। पुष्कर। अंबर। नभ। अंतरिक्ष। गगन। अनंत। सुरवर्त्म। खं। वियत्। विष्णुपद। तारापथ। मेघाध्वा। महाविल। विहायस। मरुद्वर्त्म। मेघवेश्म। मेघवर्त्म। कुनाभि। अक्षर। त्रिविष्टप। नाक। अनंग।

मुहा०—आकाश की कोर=क्षितिज। आकाश खुलना=आसमान का साफ़ होना। बादल का खुल जाना। बादल हटना। जैसे,—दो दिन की बदली के पीछे आज आकाश खुला है। आकाश छूना वा चूमना=बहुत ऊँचा होना। जैसे,—काशी के प्रासाद आकाश छूते हैं। आकाश पाताल एक करना=(१) भारी उद्योग करना। जैसे,—जब तक उसने इस काम को पूरा नहीं किया, आकाश पाताल एक किए रहा। (२) आंदोलन करना। हलचल करना। धूम मचाना। जैसे,—वे ज़रासी बात के लिये आकाश पाताल एक कर देते हैं। आकाश पाताल का अंतर=बड़ा अंतर। बहुत फर्क। आकाश बाँधना=अनहोनी बात कहना। असंभव बात कहना। उ०—जब दधि बेचन जाहिं तब मारग रोकि रहै। ग्वालिनि देखत धाइ री अंचल आनि गहै।..............कहा कहति डरपाइ कछु कछु मेरो घटि जैहै। तुम बाँधति आकाश बात झूठी को सैहै।—सूर। आकाश से बातें करना=बहुत ऊँचा होना। जैसे,—माधवराव के धरहरे आकाश से बातें करते हैं।

आकाशकक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाश में वह मंडल जहाँ तक सूर्य्य की किरणों का संचार है। सूर्यसिद्धांत के अनुसार इस मंडल की परिधि १८७१२०६९२०००००००० योजन है।

आकाशकुसुम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश का फूल। खपुष्प। (२) अनहोनी बात। असंभव बात।

आकाशगंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुत से छोटे-छोटे तारों का एक विस्तृत समूह जो आकाश में उत्तर-दक्षिण फैला है। इसमें इतने छोटे छोटे तारे हैं जो दूरबीन ही के सहारे से दिखाई पड़ते हैं। खाली आँख से उनका समूह एक सफ़ेद सड़क की तरह बहुत दूर तक दिखाई पड़ता है। इसकी चौड़ाई बराबर नहीं है, कहीं अधिक कहीं बहुत कम है। इसकी कुछ शाखाएँ भी कुछ इधर कुछ उधर फैली दिखाई पड़ती हैं। इसी से पुराणों में इसका यह नाम है। देहाती लोग इसे आकाशजनेऊ, हाथी की डहर या केवल डहर कहते हैं। (२) पुराणानुसार वह गंगा जो आकाश में है।

पर्या०—मंदाकिनी। वियद्गंगा। स्वर्णदी। सुरदीर्घिका।

आकाशचारी—वि० [सं० आकाशचारिन्] [स्त्री० आकाशचारिणी] आकाश में फिरनेवाला। आकाशगामी।

संज्ञा पुं० (१) सूर्य्यादि ग्रह नक्षत्र। (२) वायु। (३) पक्षी। (४) देवता। (५) राक्षस।

५६

आकाशचोटी—संज्ञा पुं० [हिं० आकाश+चोटी] शीर्षबिंदु। वह कल्पित बिंदु जो ठीक सिर के ऊपर पड़ता है।

आकाशजल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जल जो ऊपर से बरसे। मेंह का पानी।

विशेष—मघा नक्षत्र में लोग बरसे हुए पानी को बरतनों में भरकर रख लेते हैं। यह औषध में काम आता है।

(२) ओस।

आकाशदीप—संज्ञा पुं० [सं०] आकाशदीया।

आकाशदीया—संज्ञा पुं० [सं० आकाश+हिं० दीया] वह दीपक जो कार्तिक में हिन्दू लोग कंडील में रखकर एक ऊँचे बाँस के सिरे पर बाँधकर जलाते हैं। कार्तिक माहात्म्य के अनुसार २१ हाथ की ऊँचाई पर दिया जलाना उत्तम है, १४ हाथ पर मध्यम, और ७ हाथ पर निकृष्ट है।

आकाशधुरी—संज्ञा स्त्री० [सं० आकाश+धुरी] खगोल का ध्रुव। आकाशध्रुव।

आकाशध्रुव—संज्ञा पुं० [सं०] आकाशधुरी।

आकाशनदी—संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाशगंगा।

आकाशनिद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] खुले हुए मैदान में सोना।

आकाशनीम—संज्ञा स्त्री० [सं० आकाश+हिं० नीम] एक प्रकार का पौधा जो नीम के पेड़ पर होता है। नीम का बाँदा।

आकाशपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] आकाश का फूल। आकाशकुसुम। खपुष्प।

विशेष—यह असंभव बातों के उदाहरणों में से है।

आकाशफल—संज्ञा पुं० [सं०] संतान। लड़का-लड़की।

आकाशबेल—संज्ञा स्त्री० [सं० आकाश+हिं० बेल] अमरबेल।

आकाशभाषित—संज्ञा पुं० [सं०] नाटक के अभिनय में एक संकेत। बिना किसी प्रश्नकर्त्ता के आप से आप वक्ता ऊपर की ओर देखकर किसी प्रश्न को इस तरह कहता है, मानो वह उससे किया जा रहा है और फिर उसका उत्तर देता है। इस प्रकार के कहे हुए प्रश्न को "आकाशभाषित" कहते हैं। बाबू हरिश्चंद्र के "विषस्य विषमौषधम्" में इसका प्रयोग बहुत है। उ०—हरिश्चंद्र—अरे सुनो भाई, सेठ, साहूकार, महाजन, दूकानदारो, हम किसी कारण से अपने को हज़ार मोहर पर बेचते हैं। किसी को लेना हो तो लो। (इधर उधर फिरता है। ऊपर देखकर) क्या कहा? "क्यों तुम ऐसा दुष्कर्म करते हो"? आर्य्य यह मत पूछो, यह सब कर्म की गति है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? "तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो और किस तरह रहोगे?" इसका क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वह करेंगे। इत्यादि—हरिश्चंद्र। (सत्य हरिश्चंद्र)

आकाशमंडल—संज्ञा पुं० [सं०] नभमंडल। खगोल।

आकाशमुखी—संज्ञा पुं० [सं० आकाश+हिं० मुखी] एक प्रकार के

साधू जो आकाश की ओर मुँह करके तप करते हैं। ये लोग अधिकांश शैव होते हैं।

आकाशमूली–संज्ञा स्त्री० [सं०] जलकुंभी। पाना।

आकाशलोचन–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ से ग्रहों की स्थिति वा गति देखी जाती है। मानमंदिर। अबज़रवेटरी।

आकाशवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] अमरबेल।

आकाशवाणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शब्द वा वाक्य जो आकाश से देवता लोग बोलें। देववाणी।

आकाशवृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अनिश्चित जीविका। ऐसी आमदनी जो बँधी न हो।

वि० [सं० आकाशवृत्तिक] (१) जिसे आकाशवृत्ति ही का सहारा हो। (२) (खेत) जिसे आकाश के जल ही का सहारा हो, जो दूसरे प्रकार से न सींचा जा सकता हो।

आकाशास्तिकाय–संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्रानुसार छः प्रकार के द्रव्यों में से एक। यह एक अरूपी पदार्थ है जो लोक और अलोक दोनों में है और जीव तथा पुद्‌गल दोनों को स्थान वा अवकाश देता है। आकाश।

आकाशी–संज्ञा स्त्री० [सं० आकाश+ई० (प्रत्य०)] वह चाँदनी जो धूप आदि से बचने के लिये तानी जाती है।

आकाशीय–वि० [सं०] (१) आकाशसंबंधी। आकाश का। (२) आकाश में रहनेवाला। आकाशस्थ (३) आकाश में होनेवाला। (४) दैवागत। आकस्मिक।

आक़िल–वि० [अ०] बुद्धिमान्। ज्ञानी। अक़्लमंद।

आकीर्ण–वि० [सं०] व्याप्त। पूर्ण। भरा हुआ।

यौ०—कंटकाकीर्ण। जनाकीर्ण।

आकुंचन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आकुंचनीय, आकुंचित] (१) सिकुड़ना। बटुरना। सिमिटना। संकोचन। (२) वैशेषिक शास्त्र के अनुसार पाँच प्रकार के कर्मों में पदार्थों का सिकुड़ना भी एक है।

आकुंचनीय–वि० [सं०] सिकुड़ने योग्य। सिमिटने योग्य।

आकुंचित–वि० [सं०] (१) सिकुड़ा हुआ। सिमटा हुआ। (२) टेढ़ा। कुटिल। वक्र।

आकुंठन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आकुंठित] (१) गुठला होना। कुंद होना। (२) लज्जा। शर्म।

आकुंठित–वि० [सं०] (१) गुठला। कुंद। (२) लज्जित। शर्माया हुआ। (३) स्तब्ध। जड़। जैसे,—उनकी बुद्धि आकुंठित हो गई है।

आकुट्टी हिंसा–संज्ञा स्त्री० [प्रा० आकुट्टी+सं० हिंसा] उत्साहपूर्वक ऐसा निषिद्ध कर्म करना जिससे किसी प्राणी को दुःख हो।

आकुल–वि० [सं०] [संज्ञा आकुलता] (१) व्यग्र। व्यस्त। घबराया हुआ। उद्विग्न। क्षुब्ध। (२) विह्वल। कातर। अस्वस्थ। (३) व्याप्त। संकुल।

आकुलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० आकुलित] (१) व्याकुलता। घबराहट। (२) व्याप्ति।

आकुलित–वि० [सं०] (१) व्याकुल। घबराया हुआ। (२) व्याप्त।

आकूत–संज्ञा पुं० [सं०] आशय। अभिप्राय।

आकूति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभिप्राय। आशय। मतलब। (२) पुराणानुसार मनु की तीन कन्याओं में से एक जो रुचि प्रजापति को ब्याही गई थी। (३) उत्साह। अध्यवसाय। (४) सदाचार। आसरीति।

आकूती–संज्ञा स्त्री० [सं० आकूति] स्वायंभुव मनु की तीन कन्याओं में से एक।

आकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बनावट। गढ़न। ढाँचा। अवयव। विभाग।

विशेष—इसका प्रयोग हिंदी में चेतन के लिये अधिक और जड़ के लिये कम होता है।

(२) मूर्ति। रूप। (३) मुख। चेहरा। जैसे,—उसकी आकृति बड़ी भयावनी है। (४) मुख का भाव। चेष्टा। जैसे,–मरते समय उस मनुष्य की आकृति बिगड़ गई। (५) २२ अक्षरों की एक वर्णवृत्ति। मदिरा, हंसी, भद्रक, मंदारमाला इसके भेद हैं। यह यथार्थ में एक प्रकार का सवैया है। उ०—भारत गौरि गुसाँइन को बर रामधनू दुइ खंड कियो। मालिनि को जयमाल गुहो हरि के हिय जानकि मेलि दियो। रावन की उतरी मदिरा चुप चाप पयान जु लंक कियो। राम बरी सिय मोद भरी नभ में सुर जै जैकार कियो।

आकृष्ट–वि० [सं०] खींचा हुआ। आकर्षित।

आक्रंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोदन। रोना। (२) चिल्लाना। चीख़ना। चिल्लाहट। (३) बुलाना। पुकार। (४) मित्र। भाई। बंधु। (५) घोर युद्ध। कड़ी लड़ाई। (६) ध्वनि। आवाज़। शब्द। (७) ग्रह युद्ध में से किसी एक ग्रह के दूसरे ग्रह की अपेक्षा बलवान् वा विजयी होने की अवस्था।

आक्रंदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोना। (२) चिल्लाना।

आक्रम*–संज्ञा पुं० [सं०] पराक्रम। शूरता—डिं०।

आक्रमण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आक्रमणीय, आक्रमित, आक्रांत] (१) बलपूर्वक सीमा का उल्लंघन करना। हमला। चढ़ाई। धावा। जैसे,—महमूद ने कई बार भारत पर आक्रमण किया। (२) आघात पहुँचाने के लिये किसी पर झपटना। हमला। जैसे,—डाकुओं ने पथिकों पर आक्रमण किया। (३) घेरना। छेंकना। मुहासिरा। (४) आक्षेप करना। निंदा करना। जैसे,—इस लेख में लोगों पर व्यर्थ आक्रमण किया गया है।

आक्रमित–वि० [सं०] [स्त्री० आक्रमिता] जिस पर आक्रमण किया गया हो।

आक्रमिता (नायिका)–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह प्रौढ़ा नायिका जो मनसा, वाचा, कर्मणा अपने मित्र को वश करे।

आक्रांत-वि० [सं०] (१) जिस पर आक्रमण किया गया हो। जिस पर हमला हुआ हो। (२) घिरा हुआ। आवृत्त। छिका हुआ। (३) वशीभूत। पराजित। विवश। (४) व्याप्त। आकीर्ण।

आक्रुष्ट-वि० [सं०] शापित। कोसा हुआ। (जिसे) गाली दी गई हो।

आक्रोश-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आक्रुष्ट, आक्रोशित] (१) कोसना। शाप देना। गाली देना। (२) धर्मशास्त्रानुसार कुछ दोष लगाते हुए जाति कुल आदि का नाम लेकर किसी को कोसना। यह नारद के मत से तीन प्रकार का है—निष्ठुर, अश्लील और तीव्र। तू मूर्ख है, तुझे धिक्कार है, इत्यादि निष्ठुर है। माँ, बहिन आदि की गाली देना अश्लील और महापातकादि दोषों का आरोप करना तीव्र है।

यौ०—आक्रोश परिषह=जैनशास्त्रानुसार किसी के अनिष्ट वचन को सुनकर कोप न करना।

आक्रोशित-वि० दे० "आक्रुष्ट"।

आक्लांत-वि० [सं०] सना हुआ। पोता हुआ।

यौ०—रुधिराक्लांत।

आक्लिन्न-वि० [सं०] (१) आर्द्र। ओदा। तर। (२) नरम। कोमल।

आक्षिप्त-वि० [सं०] (१) फेंका हुआ। गिराया हुआ। (२) दूषित। अपवादित। (३) निंदित।

आक्षीव-संज्ञा पुं० [सं०] सहिंजन।

आक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आक्षेपी, आक्षिप्त] (१) फेंकना। गिराना। (२) आरोप। दोष लगाना। अपवाद वा इलज़ाम लगाना। (३) कटूक्ति। निंदा। ताना। जैसे,—उस लेख में बहुत लोगों पर आक्षेप किया गया है। (४) एक रोग जिसमें रोगी के अंग में कँपकँपी होती है। यह बात रोग का एक भेद है। (५) ध्वनि। व्यंग्य। अग्निपुराण के अनुसार यह ध्वनि का पर्य्याय है, पर अन्य आलंकारिकों ने इसमें कुछ विशेषता बतलाई है। अर्थात् जिस ध्वनि की सूचना निषेधात्मक वर्णन द्वारा मिले, उसे आक्षेप कहना चाहिए। उ०—दर्शन दे मोहि चंद ना, दर्शन को नहिं काम। निरख्यो जब प्यारी बदन, नवल अमल अभिराम।

आक्षेपक-वि० [सं०] [स्त्री० आक्षेपिका] (१) फेंकनेवाला। (२) खींचनेवाला। (३) आक्षेप करनेवाला। निंदक।

संज्ञा पुं० [सं०] एक वातरोग जिसमें वायु कुपित होकर धमनियों में प्रवेश कर जाती है और बार बार शरीर को कँपाया करती है।

आक्षेपी-वि० दे० "आक्षेपक"।

आक्षोट-संज्ञा पुं० [सं०] अखरोट।

आक्साइड-संज्ञा पुं० [अं०] आक्सिजन और धातुओं के मेल से बना एक पदार्थ वा द्रव्य। मोरचा। मुर्चा। जंग। भिन्न भिन्न धातुओं के संयोग से भिन्न प्रकार के आक्साइड बनते हैं; जैसे पारे से आक्साइड आफ़ मर्करी, जस्ते से आक्साइड आफ़ जिंक, लोहे से आक्साइड आफ़ आइरन इत्यादि। अम्लजिद्।

आक्सिजन-संज्ञा पुं० [अं०] एक गैस वा सूक्ष्म वायु। यह रूप, रस, गंध रहित पदार्थ है और वायुमंडलगत वायु से कुछ भारी होता है तथा पानी में घुल जाता है। यह जल में ८९ फ़ी सदी होता है। धातु में लगकर यह मोरचा उत्पन्न करता है। प्राणियों के जीवन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है। यह बहुत से पदार्थों में मिलता है। यदि पारा इतना गरम किया जाय कि उस पर एक लाल तह चढ़ जाय और फिर वह लाल पदार्थ और भी गर्म किया जाय, तो आक्सिजन और धातु के अंग अलग हो जायँगे। अम्लज। अम्लजन। प्राणद। प्राणप्रद।

आखंडल-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

आख-संज्ञा पुं० [सं०] खंता। खंती। रंभा।

आखत*†-संज्ञा पुं० [सं० अक्षत प्रा० अक्खत] (१) अक्षत। उ०—देव बड़े दाता बड़े शंकर बड़े भोरे। सेवा सुमिरन पूजिबो पात आखत थोरे।—तुलसी। (२) चंदन वा केसर में रँगा हुआ चावल जो मूर्ति के मस्तक में स्थापना के समय और दूलहा दुलहिन के माथे में विवाह के समय लगाया जाता है। (३) वह अन्न जो गृहस्थ लोग नेगी परजों को विवाहादि अवसरों पर कोई विशेष कार्य्य प्रारंभ करने के पहले देते हैं।

आख़ता-वि० [फ़ा०] जिसके अंडकोश चीरकर निकाल लिए गए हों। बधिया।

विशेष—यह शब्द प्रायः घोड़े के लिये प्रयुक्त होता है; पर कोई कोई इस शब्द का कुत्ते और बकरे के लिये भी प्रयोग करते हैं।

आखन*-क्रि० वि० [सं० आ+क्षण] प्रति क्षण। हर घड़ी।

आखना*-क्रि० स० [सं० आख्यान, प्रा० अक्खान, पं० आखना] कहना। बोलना। उ०—(क) बार बार का आखिये, मेरे मन की सोय। कलि तो ऊखल होयगी, साँई और न होय।—कबीर। (ख) सत्य संध साँचे सदा, जे आखर आखे। प्रनतपाल पाए सही, जे फल अभिलाखे।—तुलसी।

क्रि० स० [सं० आकांक्षा] चाहना। इच्छा करना। उ०—तुहि सेवा बिछुरन नहिं आखों। पींजर हिये घालि कै राखों।—जायसी।

क्रि० स० [सं० अक्षि, प्रा० अक्खि = आँख] देखना। ताकना। उ०—(क) अलक भुअंगिन अधरहि आखा। गहै जो नागिन सो रस चाखा।—जायसी। (ख) माया माहिं

सत्यता जु और भाँति भाषियत । ब्रह्म माहिं सत्यता सु और भाँति भाषिये । दोऊ मिलि सत्यपद वाच्य मुनि भाषत हैं। ब्रह्म माहिं सत्यता सु लक्ष्य भाग राखिये । बुद्धि वृत्ति संवित है मिले ज्ञान पद वाच्य । संवित स्वरूप लक्ष्य बुद्धि वृत्ति नाखिये। आत्म औ विषै को सुख वाच्य पद आनंद को। विषै सुख त्यागि आत्म सुख लक्ष आखिये ।—निश्चल ।

क्रि० स० [हिं० आखा] मोटे आटे को आखे में डालकर चालना । छानना ।

आखर*–संज्ञा पुं० [सं० अक्षर, प्रा० अक्खर] अक्षर । उ०—(क) तब चंदन आखर हिय लीखी । भीख लई तुम योग न सीखी ।—जायसी । (ख) कबिहि अरथ आखर बल साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—देना=बात देना । प्रतिज्ञा करना ।

आखा–संज्ञा पुं० [सं० आक्षरण=छानना] झीने कपड़े से मढ़ा हुआ एक मेंड़रेदार बरतन जिसमें मोटे आटे को रखकर चालने से मैदा निकलता है । एक प्रकार की चलनी । आँघी ।

संज्ञा पुं० [देश०] खुरजी । गठिया ।

वि० [सं० अक्षय, प्रा० अक्खय] (१) कुल । पूरा । समूचा । समस्त । उ०—(क) कहिबे जीय न कछु सक राखो । लावा मेलि दए हैं तुमको कहत रहो दिन आखो ।—सूर । (ख) उसे आज आखा दिन बिना खाये बीता । (२) अनगढ़ा । समूचा । जैसे,—आखा लकड़ी । (लश्करी)

आखा तीज–संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षयतृतीया] वैशाख सुदी तीज । इस दिन हिंदुओं के यहाँ बट का पूजन होता है और ब्राह्मणों को पंखे, सुराहियाँ, ककड़ी, आदि ठंढक पहुँचानेवाली चीज़ें दी जाती हैं ।

आखा नवमी–संज्ञा स्त्री० [सं० अक्षयनवमी] कार्तिक शुक्ला नवमी। दे० "अक्षय नवमी" ।

आख़िर–वि० [फ़ा०] अंतिम । पीछे का । पिछला ।

यौ०—आख़िरकार । आख़िर ज़माना । आख़िर दम ।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) अंत । जैसे,—आख़िर को वह लेके टला । (२) परिणाम । फल । नतीजा । जैसे,–इस काम का आख़िर अच्छा नहीं ।

वि० [फ़ा०] समाप्त । ख़तम । उ०—उपजै औ पालै अनुसरै । बावन अक्षर आखिर करै ।—कबीर ।

क्रि० वि० [फ़ा०] (१) अंत में । अंत को । जैसे,—(क) आख़िर उसे यहाँ से चला ही जाना पड़ा । (ख) वह कितना ही क्यों न बढ़ जाय, आख़िर है तो नीच ही । (२) हार कर । हार मानकर । थककर । लाचार होकर । जैसे,—जब उसने किसी तरह नहीं माना, तब आख़िर उसके पैर पड़ना पड़ा। (३) अवश्य । ज़रूर । जैसे,—आपका काम तो निकल गया, आख़िर हमें भी तो कुछ मिलना चाहिए । (४) भला । अच्छा । ख़ैर । तो । उ०—अच्छा आज बच गए, जाओ, आख़िर कभी तो भेंट होगी ।

आख़िरकार–क्रि० वि० [फ़ा०] अंत में । अंजाम को । अंत को । जैसे,—सुनते सुनते आख़िरकार उससे नहीं रहा गया और वह बोल उठा ।

आख़िरी–वि० [फ़ा०] अंतिम । सब से पिछला ।

आखु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूसा । चूहा ।

यौ०—आखुवाहन । आखुरथ । आखुभुक्=बिलार ।

(२) देवताल । देवदाड़ ।

आखुपाषाण–संज्ञा पुं० [सं०] चुंबक पत्थर ।

आखेट–संज्ञा पुं० [सं०] अहेर । शिकार । मृगया ।

आखेटक–संज्ञा पुं० [सं०] शिकार । अहेर ।

वि० [सं०] शिकार करनेवाला । शिकारी । अहेरी ।

आखेटी–वि० [सं० आखेटिन्] [स्त्री० आखेटिनी] शिकारी । अहेरी ।

आखोट–संज्ञा पुं० [सं० अक्षोट] अखरोट ।

आख़ोर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) जानवरों के खाने से बची हुई घास या चारा । पखोर । (२) कूड़ा करकट । (३) निकम्मी वस्तु । सड़ी गली चीज़ ।

मुहा०—आख़ोर की भरती=(१) निकम्मों का समूह । (२) निकम्मी चीजों का अटाला ।

वि० [फ़ा०] (१) निकम्मा । बेकाम । (२) सड़ा गला । रद्दी । (३) मैला कुचैला ।

आख्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाम । (२) कीर्ति । यश । (३) विवरण । व्याख्या ।

आख्यात–वि० [सं०] (१) प्रसिद्ध । नामवर । विख्यात । (२) कहा हुआ । (३) तिगंत क्रिया । (४) राजवंश के लोगों का वृत्तांत ।

आख्याति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नामवरी । ख्याति । शुहरत । (२) कथन ।

आख्यातव्य–वि० [सं०] वर्णन करने योग्य । कहने योग्य । बयान करने लायक़ ।

आख्यान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आख्यात, आख्यातव्य, आख्येय] (१) वर्णन । वृत्तांत । बयान । (२) कथा । कहानी । क़िस्सा । (३) उपन्यास के नव भेदों में से एक । वह कथा जिसे कवि ही कहे और पात्रों से न कहलावे । इसका आरंभ कथा के किसी अंश से कर सकते हैं, पर पीछे से पूर्वापर संबंध खुल जाना चाहिए । इसमें पात्रों की बातचीत बहुत लंबी चौड़ी नहीं हुआ करती । चूँकि कथा कहनेवाला कवि ही होता है और वह पूर्व घटना का वर्णन करता है, इससे इसमें अधिकतर भूतकालिक क्रिया का प्रयोग होता है; पर दृश्यों को ठीक ठीक प्रत्यक्ष कराने के लिये कभी कभी वर्त्तमान कालिक क्रिया का भी प्रयोग होता है ।

जैसे—सूर्य्य डूब रहा है, ठंडी हवा चल रही है, इत्यादि। आजकल के नए ढंग के उपन्यास इसी के अन्तर्गत आ सकते हैं।

आख्यानक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्णन। वृत्तांत। बयान। (२) कथा। क़िस्सा। कहानी। (३) पूर्व वृत्तांत। कथानक।

आख्यानिकी-संज्ञा पुं० [सं०] दंडक वृत्त के भेदों में से एक, जिसके विषम चरणों में त, त, ज, ग, ग और सम में ज, त, ज, ग, ग हो। उ०—गोविंद गोविंद सदा रटौ जू। असार संसार तबै तरौ जू। श्रीकृष्ण राधा भजु नित्य भाई। जु सत्य चाहो अपनी भलाई।

विशेष—इसके विरुद्ध अर्थात् इसके विषम चरण का लक्षण सम चरण में आवे और सम चरण का लक्षण विषम चरण में आवे, तो उस वृत्त को ख्यानिकी कहेंगे।

आख्यापक-वि० [सं०] [स्त्री० आख्यापिकी] कहनेवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] दूत।

आख्यापन--संज्ञा पुं० [सं०] प्रकट करना। प्रकाश करना। कहना। कथन।

आख्यायिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कथा। कहानी। क़िस्सा। (२) कल्पित कथा जिससे कुछ शिक्षा निकले। (३) एक प्रकार का आख्यान जिसमें पात्र भी अपने अपने चरित्र अपने मुँह से कुछ कुछ कहते हैं। प्राचीनों में इसके विषय में मत-भेद है। अग्निपुराण के अनुसार यह गद्य काव्य का वह भेद है जिसमें विस्तारपूर्वक कर्त्ता की वंशप्रशंसा, कन्याहरण, संग्राम, वियोग और विपत्ति का वर्णन हो; रीति, आचरण और स्वभाव विशेष रूप से दिखाए गए हों; गद्य सरल हो और कहीं कहीं छंद हों। इसमें परिच्छेद के स्थान में उच्छ्वास होना चाहिए। वाग्भट्ट के मत से "वह गद्य काव्य जिसमें नायिका ने अपना वृत्तांत आप कहा हो," भविष्यद्विषयों की पूर्व में सूचना हो, कन्या के अपहरण, समागम और अभ्युदय का हाल हो, मित्रादि के मुँह से चरित्र कहलाए गए हों, और बीच बीच में कहीं कहीं पद्य भी हो।

आख्येय-वि० दे० "आख्यातव्य"।

आगंतुक-वि० [सं०] (१) जो आवे। आगमनशील। (२) जो इधर उधर से घूमता फिरता आ जाय।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) अतिथि। पाहुना। (२) वह पशु जिसके स्वामी का पता न हो। (३) अचानक होनेवाला रोग।

यौ०—**आगंतुक ज्वर**=वह ज्वर जो चोट, भूत प्रेत के भय वा अधिक श्रम करने आदि से अचानक हो जाय। **आगंतुक अनिमित्त लिंग नाश**=एक प्रकार का चक्षु रोग जिसमें आँख की ज्योति मारी जाती है। प्राचीनों के अनुसार यह रोग देवता, ऋषि, गंधर्व, बड़े सर्प और सूर्य्य के देखने से हो जाता है। **आगंतुकव्रण**=वह घाव जो चोट के पकने से हो।

आग-संज्ञा स्त्री० [सं० अग्नि, प्रा० अग्गि] (१) तेज और प्रकाश का पुंज जो उष्णता की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई वस्तुओं में देखा जाता है। अग्नि। बसुंदर। (२) जलन। ताप। गरमी। जैसे,—वह डाह की आग से झुलसा जाता है। (३) कामाग्नि। काम का वेग। जैसे,—तुम्हें ऐसी ही आग है तो उनसे जाकर मिलो न। (४) वात्सल्य प्रेम। जैसे,—जो अपने बच्चे की आग होती है, वह दूसरे के बच्चे की नहीं। (५) डाह ईर्ष्या। जैसे,—जिस दिन से हमें इनाम मिला है, उस दिन से उसे बड़ी आग है।

वि० (१) जलता हुआ। बहुत गरम। जैसे,—चिलम तो आग हो रही है। (२) जो गुण में उष्ण हो। जो गरमी फूँके। जैसे,—अरहर की दाल तो आजकल के लिये आग है।

मुहा०—**आग उठाना**=झगड़ा उठाना। कलह वा उपद्रव उत्पन्न करना।

आग कँजियाना वा झँवाना=आग का ठंढा होना। दहकते हुए कोयले का ठंढा होकर काला पड़ जाना।

आग का पुतला=क्रोधी। चिड़चिड़ा।

आग का बाग=(१) सुनार का अंगीठा। (२) आतशबाज़ी।

आग के मोल=बहुत महँगा। जैसे,—यहाँ तो चीज़ें आग के मोल बिकती हैं।

आग खाना, अँगार हगना=जैसा करना, वैसा पाना। जैसे,—हमें क्या, जो आग खायगा वह अँगार हगेगा।

आग गाड़ना=कंडे की आग को राख में सुरक्षित रखना।

आग जोड़ना=आग सुलगाना। आग जलाना।

आग झाड़ना=पत्थर वा चकमक से आग बनाना।

आग दिखाना=(१) आग लगाना। जलाने के लिये आग छुलाना। (२) तोप में बत्ती देना।

आग देना=(१) चिता में आग लगाना। दाह कर्म करना। (२) आतशबाज़ी में आग लगाना। आग लगाना। फूँकना। उ०—लागी कंट आग दे होरी। छार भईं जरि अंग न मोरी।—जायसी। (३) बरबाद करना। नष्ट करना। जैसे,—उसके पास है क्या, उसने तो अपने घर में आग दे दी। (४) तोप में बत्ती देना। रंजक पर पलीता छुलाना। जैसे,—गोलंदाज़ों ने तोपों पर आग दी।

आग धोना=अँगारों के ऊपर से राख दूर करना। जैसे,—आग धोकर चिलम पर रखना।

आग पर लोटना=(१) बेचैन होना। विकल होना। तड़पना। उ०—वह विरह के मारे आग पर लोट रहा है। (२) डाह से जलना। ईर्ष्या करना। जैसे,—वह हमें देख कर आग पर लोट जाता है।

आग पानी का बैर=स्वाभाविक शत्रुता। जन्म का बैर।

आग फाँकना=व्यर्थ की बकवाद करना। बात बघारना। झूठी

शेखी हाँकना। जैसे,—**उनकी क्या बात है; वे तो यों ही आग फाँका करते हैं।**

आग फुँकना=क्रोध उत्पन्न होना। रिस लगना। जैसे,—**यह बात सुनते ही मेरे तन में आग फुँक गई।**

आग फूँक देना=जलन उत्पन्न करना। गरमी पैदा करना। जैसे,—**इस दवा ने तो और आग फूँक दी है।**

आग फूस का बैर=स्वाभाविक शत्रुता। जन्म का बैर।

आग बनाना=आग सुलगाना।

आगबबूला (बगूला) होना या बनना=क्रोध के आवेश में होना। अत्यन्त कुपित होना। जैसे,—**इस बात के सुनते ही वह आगबबूला हो गया।**

आग बोना-(१) आग लगाना। उ०—**योगी आहि वियोगी कोई। तुम्हरे मँडप आगि जिन बोई।—जायसी।** (२) चुगलखोरी करके झगड़ा वा उत्पात खड़ा करना। जैसे,—**यह सब आग तुम्हारी ही बोई तो है।**

आग बरसना=(१) बहुत गरमी पड़ना। लू चलना। (२) गोलियों की बौछार होना।

आग बरसाना=शत्रु पर खूब गोलियाँ चलाना। जैसे,—**सिपाहियों ने क़िले पर खूब आग बरसाई।**

आग बुझा लेना=कसर निकालना। बदला लेना। जैसे,—**अच्छा मौक़ा है; तुम भी अपनी आग बुझा लो।**

आग भड़कना=(१) आग का धधकना। (२) लड़ाई उठना। उत्पात खड़ा होना। हलचल मचना। उ०—**दोनों दलों के बीच आज कल खूब आग भड़की है।** (३) उद्वेग होना। जोश होना। क्रोध और शोक आदि भावों का तीव्र वा उद्दीपित होना। जैसे,—(क) **शत्रु को सामने देखकर उसकी आग और भी भड़क उठी।** (ख) **अपने मृत पुत्र की टोपी देखकर माता की आग और भड़क उठी।**

आग का भड़काना=(१) आग धधकाना। (२) लड़ाई बढ़ाना। (३) क्रोध और शोक आदि भावों को उद्दीपित करना। जोश बढ़ाना।

आग भभूका होना=क्रोध से लाल होना।

आग में मूतना=अति करना। जैसे,—**सीधे चलो, क्यों आग में मूतते हो।**

आग में झोंकना=(१) आफ़त में डाल देना। (२) लड़की को ऐसे घर ब्याह देना, जहाँ उसे हर घड़ी कष्ट हुआ करे।

आग में पानी डालना=झगड़ा मिटाना। बढ़ते हुए क्रोध को धीमा करना।

आग लगना=(१) आग से 'किसी वस्तु का जलना। उ०—(क) **नयन चुवहिं जस महवट नीरू। तेहि जल आग लाग सिर चीरू।—जायसी।** (ख) **उसके घर में आग लग गई।** (२) क्रोध उत्पन्न होना। कुढ़न होना। बुरा लगना। मिर्चें लगना। जैसे,—(क) **उसकी कड़वी बातें सुनकर आग लग गई।** (ख) **तुम तो मनमाना बके अब हमारे ज़रा से कहने पर आग लगती है।** ईर्ष्या होना। डाह होना। जैसे,—**किसी को सुख चैन से देखा कि बस आग लगी।** (४) लाली फैलना। लाल फूलों का चारों ओर फूलना। उ०—**बागन बागन आग लगी है।** (५) महँगी फैलना। गिरानी होना। जैसे।—(क) **बाज़ार में तो आज कल आग लगी है।** (ख) **सब चीज़ों पर तो आग लगी है, कोई ले क्या?** (६) बदनामी फैलना। जैसे।—**देखो चारों तरफ़ आग लगी है; सँभल कर काम करो।** (७) हटना। दूर होना। जाना। उ०—**कभी यहाँ से तुम्हें आग भी लगेगी।** (स्त्रि०) (८) किसी तीव्र भाव का उदय होना। जैसे।—**उसे देखते ही हृदय में आग लग गई।** (९) सत्यानाश होना। नष्ट होना। जैसे।—**आग लगे तुम्हारी इस चाल पर। (यह मुहाविरा स्त्रियों में अधिक प्रचलित है। वे इसे अनेक अवसरों पर बोला करती हैं, कभी चिढ़कर, कभी हावभाव प्रकट करने के हेतु और कभी यों ही बोल देती हैं)।** जैसे।—(क) **आग लगे मेरी सुध पर क्या करने आई थी, क्या करने लगी।** (ख) **आग लगे, यह छोटा सा लड़का कैसे कैसे स्वाँग करता है।** (ग) **आग लगे, कहाँ से मैं इनके पास आई।**

आग लगाना=(१) आग से किसी वस्तु को जलाना। जैसे।—**उसने अपने ही घर में आग लगा दी।** (२) गरमी करना। जलन पैदा करना। जैसे।—**उस दवा ने तो बदन में आग लगा दी।** (३) उद्वेग बढ़ाना। जोश बढ़ाना। किसी भाव को उद्दीपित करना। भड़काना (४) ईर्ष्या उत्पन्न करना। (५) क्रोध उत्पन्न करना। (६) चुगली करना। जैसे।—**उसी ने तो मेरे भाई से जाकर आग लगाई है।** (७) बिगाड़ना। नष्ट करना। जैसे।—**जो चीज़ उसे बनाने को दी जाती है, उसी में वह आग लगा देती है** (स्त्रि०)। (८) फूँकना। उड़ाना। बरबाद करना। जैसे।—**वह अपनी सारी संपत्ति में आग लगाकर बैठा है।** (९) खूब धूम धाम करना। बड़े बड़े काम करना। (व्यंग्य) जैसे।—**तुम्हारे पुरखों ने विवाह में कौन सी आग लगाई थी कि तुम भी लगाओगे।**

आग लगाकर पानी को दौड़ना=झगड़ा उठाकर फिर सबको दिखाकर उसकी शांति का उद्योग करना।

आग भी न लगाना=बहुत तुच्छ समझना। जैसे।—**उससे बोलने की कौन कहे मैं तो उसको आग भी न लगाऊँ।** (स्त्रि०)।

आग लगे पर कुआँ खोदना=कोई कठिन कार्य्य आ पड़ने पर उसके करने के सीधे उपाय को छोड़ बड़ी लंबी चौड़ी युक्ति में लगना।

आग लगाकर तमाशा देखना–झगड़ा वा उपद्रव खड़ा करके अपना मनोरंजन करना।

आग लेने आना=आकर फिर थोड़ी ही देर में लौट जाना। उलटे पाँव लौटना। थोड़ी देर के लिये आना। जैसे,—(क) ज़रा बैठो भाई ! क्या आग लेने आए हो ? (ख) आग लेने आई, घरवाली बन बैठी।

आग से पानी होना या हो जाना–क्रुद्ध से शांत होना। रिस का जाता रहना। जैसे,—**उसकी बातें ही ऐसी मीठी होती हैं कि आदमी आग से पानी हो जाय।**

आग होना=(१) गर्म होना। लाल अंगारा होना। (२) क्रुद्ध होना। रोष में भरना। जैसे,—**यह बात सुनते ही वे आग हो गए।**

किसी की आग में कूदना वा पड़ना–किसी की विपत्ति अपने ऊपर लेना।

तलवों से आग लगना=शरीर भर में क्रोध का व्याप्त होना। रिस से भर उठना। जैसे,—**उसकी झूठी बात से और भी तलवों से आग लग गई।**

पानी में आग लगाना=(१) अनहोनी बातें कहना। ऐसी बातें कहना जिनका होना संभव न हो। (२) असंभव कार्य्य करना। (३) जहाँ लड़ाई की कोई बात न हो, वहाँ भी लड़ाई लगा देना।

पेट की आग=भूख। जैसे,—**कोई दाता ऐसा है जो पेट की आग बुझावे।**

पेट में आग लगना–भूख लगना। जैसे,—**इस लड़के के पेट में सबेरे ही आग लगती है।**

मुँह में आग लगना–मरना। जैसे,—**उसके मुँह में कब आग लगेगी। (शवदाह के समय मुर्दे के मुँह में आग लगाई जाती है।)**

आग लगे मेंह मिलना या पाना=ताव पर किसी काम का चटपट न होना। उ०—**या के तो है आजु ही मिलौं माइ ! आगि लागे मेरी आली मेह पाइयतु है।—केशव।**

आग पर आग मेलना या डालना=जले को जलाना। दुःख पर दुःख देना। उ०—**बिरह आग पर मेलै आगी। बिरह घाव पर घाव बिजागी।—जायसी।**

यौ०—आगजंत्र=तोप।—डिं०। **आगबाण**=अग्निबाण। **आग लगन**=हाथी का एक रोग जिससे उसके सारे शरीर में फफोले पड़ जाते हैं।

*संज्ञा पुं० [सं० अग्र] (१) **ऊख का अगौरा। (२) हल के हरसे की नोक के पास के खड्डे जिनमें रस्सी अटकाकर जुआठे से बाँधते हैं।**

आगड़ा–संज्ञा पुं० [सं० अ=नहीं+हिं० गाढ़=पुष्ट] **ज्वार इत्यादि की वह बाल जिसके दाने मारे गए हों।**

आगण–संज्ञा पुं० [सं० अग्रहायण] **अगहन। मार्गशीर्ष।—डिं०।**

आगत–वि० [सं०] [स्त्री० आगता] **आया हुआ। प्राप्त। उपस्थित।**

यौ०—अभ्यागत। क्रमागत। स्वागत। दैवागत। गतागत। आगतपतिका। तथागत।

संज्ञा पुं० [सं०] **मेहमान। पाहुना। अतिथि।**

आगतपतिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] **अवस्थानुसार नायिका के दस भेदों में से एक। वह नायिका जिसका पति परदेश से लौटा हो।**

आगत स्वागत–संज्ञा पुं० [सं० आगत+स्वागत] **आए हुए व्यक्ति का आदर। आदर-सत्कार। आव-भगत।**

आगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] **आगमन। अवाई।**

आगपीछ*–संज्ञा पुं० दे० **"आगा पीछा"।**

आगम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) **अवाई। आगमन। आमद।** उ०—**श्याम कह्यो सब सखन सों लावहु गोधन फेरि। संध्या को आगम भयो ब्रज तन हाँकौ हेरि।—सूर।** (२) **भविष्य काल। आनेवाला समय।** (३) **होनहार। भवितव्यता। संभावना।** उ०—**आय बुझाय दीन्ह पथ तहवाँ। मरन खेल कर आगम जहवाँ।—जायसी।**

यौ०—आगमजानी। आगमज्ञानी। आगमवक्ता।

क्रि० प्र०—करना=ठिकाना करना। उपक्रम बाँधना। उ०—(क) **यह नहीं कहते कि चंदा इकट्ठा करके तुम अपना आगम कर रहे हो।** (ख) **मैं राम के चरनन चित दीनों। मनसा बाचा और कर्मना बहुरि मिलन को आगम कीनों।—तुलसी।**—**जनाना**=होनहार की सूचना देना। उ०—**कबहूँ ऐसा विरह उपावै रे। पिय बिनु देखे जिय जावै रे। तौ मन मेरा धीरज धरई। कोइ आगम आनि जनावै रे।—दादू।**—**बाँधना**–आनेवाली बात का निश्चय करना। जैसे,—**अभी से क्या आगम बाँधते हो; जब वैसा समय आवेगा, तब देखा जायगा।**

(४) **समागम। संगम।** उ०—**अरुण, श्वेत, सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाइ। मनु सरस्वति गंगा जमुना मिलि आगम कीन्हों आइ।—तुलसी।** (५) **आमदनी। आय।** जैसे,—**इस वर्ष उनका आगम कम और व्यय अधिक रहा।**

यौ०—अर्थागम।

(६) **व्याकरण में किसी शब्दसाधन में वह वर्ण जो बाहर से लाया जाय।** (७) **उत्पत्ति।** (८) **योग शास्त्रानुसार शब्द-प्रमाण।** (९) **वेद।** (१०) **शास्त्र।** (११) **तंत्रशास्त्र।** (१२) **नीतिशास्त्र। नीति।**

वि० [सं०] **आनेवाला। आगामी।** उ०—**दरशन दियो कृपा करि मोहन वेग दियो बरदान। आगम कल्प रमण तुव ह्वैहै श्रीमुख कही बखान।—सूर।**

आगमजानी–वि० [सं० आगमज्ञानी] आगमज्ञानी। **होनहार का जाननेवाला।**

आगमज्ञानी-वि० [सं०] भविष्य का जाननेवाला। आगमजानी।

आगमन-संज्ञा पु० [सं०] (१) अवाई। आना। आमद। उ०—मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लै विप्र समाजा।—तुलसी। (२) प्राप्ति। आय। लाभ।

आगमना-संज्ञा पुं० [सं० आगमन] (१) आगे चलनेवाली सेना। (२) पूर्व दिशा।

आगमपतिका-संज्ञा स्त्री० दे० "आगतपतिका"।

आगमवक्ता-वि० [सं०] (१) भविष्यवक्ता। (२) ज्योतिषी।

आगमवाणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भविष्यवाणी।

आगमविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदविद्या।

आगमसोची-वि० [सं० आगम+हिं० सोचना] आगे का भला बुरा सोचनेवाला। दूरदर्शी। अग्रशोची।

आगमापायी-वि० [सं०] जिसकी उत्पत्ति और विनाश हो। विनाशधर्मी। अनित्य।

आगमी-संज्ञा पु० [सं० आगम=भविष्य] सामुद्रिक विचारनेवाला। ज्योतिषी। अड्डरीपो। उ०—अवध आजु आगमी एक आयो। करतल निरखि कहत सब गुनगन बहुतनि परिचय पायो।—तुलसी।

वि० [सं० अगम=भविष्य] भविष्यवक्ता। होनहार कहनेवाला।

आगर-संज्ञा पु० [सं० आकर=खान] [स्त्री० आगरी] (१) खान। आकर। (२) समूह। ढेर। उ०—जेहि नाम श्रुति कीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी।—तुलसी।

विशेष—यह शब्द प्रायः समासांत में आता है। जैसे गुण-आगर। बल-आगर।

(३) कोष। निधि। ख़ज़ाना। उ०—अस वह फूल बास का आगर भा नासिका समुंद। जेति फूल वह फूलहि ते सब भये सुगंद।—जायसी। (४) वह गड्ढा जिसमें नमक जमाया जाता है। (५) नमक का कारख़ाना।

संज्ञा पु० [अर्गल=ब्योंड़ा] ब्योंड़ा। अगरी। उ०—आगर एक लोह जरित लीन्हो बलबंड। दुहूँ करन असु हयो भयो माँस पिंड।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० आगर=घर] (१) घर। गृह। (२) छाजन का एक भेद जिसमें फूस वा खर की जड़ ओलती की ओर करके छवाई होती है। (३) छाजन। छप्पर। उ०—तृण तृण बरिभा झूरी खरी। भा बरपा आगर सिर परी।—जायसी।

वि० [सं० आकर=श्रेष्ठ] (१) श्रेष्ठ। उत्तम। बढ़कर। उ०—(क) दई कीन्ह अस जगत अनूपा। एक एक ते आगर रूपा।—जायसी। (ख) जिनको साँई रँग दिया कबहुँ न होय कुरंग। दिन दिन बानी आगरी चढ़ै सवाया रंग।—कबीर। (ग) झिली ते रसीली रोटहू की रट लीली स्यारि ते सवाई भूत भावनी ते आगरी।—केशव। (२) चतुर। होशियार। दक्ष। कुशल। उ०—जो लाँघै शत योजन सागर। करै सो रामकाज अति आगर।—तुलसी।

आगरबध-संज्ञा पुं० [सं० आ+गल+बद्ध] कंठमाला।—डिं०।

आगरी-संज्ञा पुं० [हिं० आगर] नमक बनानेवाला पुरुष। लोनिया।

आगल-संज्ञा पुं० [सं० अर्गल] अगरी, ब्योंड़ा। बेंड़ा।

क्रि० वि० [हिं० अगला] सामने। आगे। (क्व०)

वि० अगला। उ०—आगल से पाछल भयो, हरि सों कियो न भेंट। अब पछताने का भया, चिड़िया चुगि गई खेत।

आगला*-क्रि० वि० दे० "अगला"।

आगवन*-संज्ञा पुं० दे० "आगमन"।

आगवाह*-संज्ञा पुं० [सं० अग्निवाह=धूम] धूआँ।—डिं०।

आगस्-संज्ञा पुं० [सं०] पाप। अपराध। दोष।

आगस्ती-संज्ञा स्त्री० [सं०] अगस्त की दिशा। दक्षिण।

आगा-संज्ञा पुं० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग] (१) किसी चीज़ के आगे का भाग। अगाड़ी। (२) शरीर का अगला भाग। जैसे,—ऊँचे आगे का हाथी अच्छा होता है। (३) छाती। वक्षस्थल। (४) मुख। मुँह। मुहरा। (५) ललाट। माथा। (६) लिंगेंद्रिय। (७) अँगरखे कुरते आदि की काट में आगे का टुकड़ा। (८) पगड़ी का छज्जा। (९) घर के सामने का भाग। मुहरा। (१०) सेना वा फ़ौज का अगला भाग। सेनामुख। हरावल। (११) नाव का अगला भाग। माँग। गलही। (१२) घर के सामने का मैदान। घर के आगे का सहन। (१३) पेशखीमा। आगड़ा। (१४) पहिनावे का वह भाग जो आगे रहता है। पल्ला। आँचल। (१५) आगे आनेवाला समय। भविष्य। परिणाम। जैसे,—(क) उसका आगा मारा गया है। (ख) उसका आगा अँधेरा है।

मुहा०—**आगा तागा लेना**=आव भगत करना। आदर सत्कार करना। **आगा भारी होना**=(१) गर्भ रहना। पैर भारी होना। जैसे—ब्याह होते ही उसका आगा भारी हो गया। (२) कहारों की बोली में राह में ठोकर गड्ढे आदि का होना जिसमे गिरने का भय हो। **आगा मारना**=किसी के कार्य्य में बाधा डालना। किसी की उन्नति में रुकावट डालना। जैसे,—किसी का आगा मारना अच्छा नहीं। **आगा मारा जाना**=भावी उन्नति में विघ्न पड़ना। आगम मारा जाना। जैसे,—परीक्षा में फ़ेल होने से उसका आगा मारा गया। **आगा रुकना**=भावी उन्नति में बाधा पड़ना। **आगा रोकना**=(१) आक्रमण रोकना। (२) कोई बड़ा कार्य्य आ पड़ने पर उसे सँभालना। मुहड़ा सँभालना। जैसे,—इतनी बड़ी बरात आवेगी; उसका आगा रोकना भी तो कोई सहज बात नहीं है। (३) किसी के सामने इस तरह खड़ा होना कि ओट हो जाय। आड़ करना। जैसे,—आगा मत रोको, जरा किनारे खड़े हो। (४) किसी की उन्नति में बाधा डालना। **आगा लेना**=शत्रु के आक्रमण को रोकना। भिड़ना। **आगा सँभालना**=(१) मुहड़ा

सँभालना। कोई बड़ा कार्य आ पड़ने पर उसका प्रबंध करना। (२) किसी खुले गुप्त अंग को ढाकना। (३) वार रोकना। भिड़ना। जैसे,—राजपुताने की लड़ाइयों में पहले भील ही लोग आगा सँभालते थे।

संज्ञा पुं० [तु० आगा] (१) मालिक। सरदार। (२) काबुली। अफ़ग़ान।

आगाज़–संज्ञा पुं० [अ०] प्रारंभ। आदि। शुरू।

आगान–संज्ञा पुं० [सं० आ+गान=बात] बात। प्रसंग। आख्यान। वृत्तांत। उ०—और कृष्ण के ब्याह को भूप सुनहु आगान। पापहरण भवनिधि-तरण करन सकल कल्यान।—गोपाल

आगा पीछा–संज्ञा पुं० [हिं० आगा+पीछा] (१) हिचक। सोच विचार। दुबिधा। जैसे,—(क) इस काम के करने में तुम्हें आगा पीछा क्या है ? (ख) अच्छे काम में आगा पीछा करना ठीक नहीं।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) परिणाम। नतीजा। पूर्वापर संबंध। जैसे,—कोई काम करने के पहले उसका आगा पीछा सोच लेना चाहिए।

क्रि० प्र०—देखना।—सोचना।

(३) शरीर का अगला और पिछला भाग। शरीर के आगे और पीछे के गुप्त अंग। जैसे,—भला इतना कपड़ा तो दो जिसमें आगा पीछा ढँके। (४) आगे और पीछे की दशा। जैसे,—ज़रा आगा पीछा देखकर चला करो।

आगामि, आगामी–वि० [सं० आगामिन्] [स्त्री० आगामिनी] भविष्य। होनहार। आनेवाला।

आगार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर। मंदिर। मकान। (२) स्थान। जगह। जैसे,—अग्न्यागार। (३) जैन मतानुसार बाधक नियम और व्रत भंग। (४) ख़ज़ाना। उ०—खान असी, अकबर, अली जानत सब रस पंथ। रच्यो देव आगार गुनि यह सुखसागर ग्रंथ।—देव।

आगाह–वि० [फ़ा०] जानकार। वाक़िफ़।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

*संज्ञा पुं० [हिं० आगे+आह (प्रत्य०)] आगम। होनहार। उ०—चाँद गहन आगाह जनावा। राज भूल गहि शाह चलावा।—जायसी।

आगाही–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] जानकारी वाकफ़ियत।

आगि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "आग"।

आगिल*–वि० [हिं० आगे] (१) आगे का। अगला। उ०—पल में परलय बीतिया लोगन लगी तमारि। आगिल सोच निवारि कै पाछे करो गोहारि।—कबीर। (२) भविष्य का। होनेवाला। उ०—आगिल बात समुझि डर मोही। देव दैव फिरि सो फलु ओही।—तुलसी।

आगिला*†–वि० दे० "अगला"

आगिवर्त*–संज्ञा पुं० [सं० अग्निवर्त्त] पुराणानुसार मेघ का एक भेद। उ०—सुनत मेघ वर्तक सजि सैन लै आए। जलवर्त्त, वारिवर्त, पवनवर्त, वज्रवर्त आगिवर्तक, जलद सँग लाए।—सूर।

आगी*†–संज्ञा स्त्री० दे० "आग"।

आगुआ–संज्ञा पुं० [हिं० आगे] तलवार इत्यादि की मुठिया के नीचे का गोल भाग।

आगू–क्रि० वि० दे० "आगे"।

आगे–क्रि० वि० [सं० अग्र, प्रा० अग्ग] (१) और दूर पर। और बढ़ कर। 'पीछे' का उलटा। जैसे,—उनका मकान अभी आगे है। (२) समक्ष। सम्मुख। सामने। जैसे,—उसने मेरे आगे यह काम किया है। (३) जीवन काल में। जीते जी। जीवन में। उपस्थिति में। जैसे,—वह अपने आगे ही इसे मालिक बना गए थे। (४) इसके पीछे। इसके बाद। जैसे,—मैं कह चुका; आगे तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। (५) भविष्य में। आगे को। जैसे,—अबतक जो किया सो किया, आगे ऐसा मत करना। (६) अनंतर। बाद। जैसे,—चैत के आगे बैसाख का महीना आता है। (७) पूर्व। पहले। जैसे,—वह आप के आने से आगे हो गया है। (८) अतिरिक्त। अधिक। जैसे,—इससे आगे एक कौड़ी नहीं मिलने की। (९) गोद में। जैसे,—(क) उसके आगे एक लड़की है। (ख) गाय के आगे बछवा है कि बछिया ?

मुहा०—आगे आगे=थोड़े दिनों बाद। क्रमशः। जैसे,—देखो तो आगे आगे क्या होता है। आगे आना=(१) सामने आना। जैसे,—नाई ! सिर में कितने बाल ? अभी आगे आते हैं। (२) सामने पड़ना। मिलना। जैसे,—जो कुछ उसके आगे आता है, वह खा जाता है। (३) सम्मुख होना। सामना करना। भिड़ना। जैसे,—अगर कुछ हिम्मत है तो आगे आओ। (४) फल मिलना। बदला मिलना। उ०—(क) तुम्हारा किया तुम्हारे आगे आवेगा। (ख) जो जैसा करै सो तैसा पावै। पूत भतार के आगे आवै। (ग) मत कर सास बुराई। तेरी धी के आगे आई। (५) घटित होना। घटना। प्रकट होना उ०—देखो, जो हम कहते थे, वही आगे आया। आगे करना=(१) उपस्थित करना। प्रस्तुत करना। उ०—जो कुछ घर में था, वह आपके आगे किया। (२) अगुआ बनना। मुखिया बनना। उ०—(क) इस काम में तो उन्हीं को आगे करना चाहिए। (ख) कमल सहाय सूर सँग लीन्हा। राघव चेतन आगे कीन्हा।—जायसी। (३) अगुआना। अग्रगंता बनना। उ०—राजैं राछस नियर बोलावा। आगे कीह पंथ जनु पावा।—जायसी। (४) आगे बढ़ाना। चलाना। उ०—चक्र सुदर्शन आगे कीयो। कोटिक सूर्य्य प्रकाशित भयो।—सूर। (५) किसी आफ़त में डालना। जैसे,—जब शेर निकला

तो वह मुझे आगे कर आप पेड़ पर चढ़ गया। आगे का उठा=खाने से बचा हुआ। जूठा। उच्छिष्ट। **जैसे,—नीच जाति के लोग बड़े आदमियों के आगे का उठा खा लेते हैं। आगे का उठा खानेवाला**=(१) जूठा खानेवाला। टुकड़खोर। (२) दास। (३) नीच। अंत्यज। (४) तुच्छ। नाचीज़। **आगे का कदम पीछे पड़ना**=(१) घटती होना। ह्रास होना। तनज्जुली होना। अवनति होना। **जैसे,—उनका पहले अच्छा ज़माना था, पर अब आगे का क़दम पीछे पड़ रहा है।** (२) भय से आगे न बढ़ा जाना। दहशत छा जाना। **उ०—शेर को देखते ही उनका आगे का क़दम पीछे पड़ने लगा। आगे का कपड़ा**=(१) घूँघट। (२) अंचल। **आगे का कपड़ा खींचना**=घूँघट काढ़ना। **आगे की उखेड़**=कुश्ती का एक पेंच। खिलाड़ी का प्रतिद्वंद्वी की पीठ पर जाकर उसकी कमर की लपेट को पकड़ कर जिधर जोर चले, उधर फेंकना। अग्रोत्तोलन। **आगे को**=आगे। भविष्य में। फिर। पुनः। **जैसे,—अब की बार तुम्हें छोड़ दिया; आगे को ऐसा न करना। आगे चलकर, आगे जाकर**=भविष्य में। इसके बाद। **जैसे,—तुम्हारे किए का फल आगे चलकर मिलेगा। आगे डालना**=देना। खाने के लिये सामने रखना। **जैसे,—(क) कुत्ते के आगे टुकड़ा डाल दो। (ख) बैल के आगे चारा डालो। (यह अवज्ञासूचक है और प्रायः इसका प्रयोग पशु आदि नीच श्रेणी के जीवधारियों के लिये होता है। आगे डोलना**=आगे फिरना। सामने खेलना कूदना। लड़कों का होना। **जैसे,—बाबा, दो चार आगे डोलते होते तो एक तुम्हें भी दे देती। आगे डोलता**=बच्चा। लड़का। **उ०—उसके आगे डोलता कोई नहीं है। आगे देना**=सामने रखना। उपस्थित करना। **जैसे,—घोड़े तो इसे खायँगे नहीं, बैल के आगे दे दो। आगे दौड़ पीछे चौड़**=(१) किसी काम को जल्दी जल्दी करते जाना और यह न देखना कि किए हुए काम की क्या दशा होती है। (२) आगे बढ़ते जाना और पीछे का भूलते जाना। **आगे धरना**=(१) आदर्श बनाना। **जैसे,—किसी सिद्धांत को आगे धरकर काम करना अच्छा होता है।** (२) प्रस्तुत करना। उपस्थित करना। पेश करना। भेंट करना। भेंट देना। **आगे निकलना**=बढ़ जाना। **उ०—(क) वह दौड़ में सबसे आगे निकल गया। (ख) केवल तीन ही महीने की पढ़ाई में वह अपने दर्जे के सब लड़कों से आगे निकल गया। आगे पीछे**=(१) एक के पीछे एक। **जैसे,—(क) सिपाही आगे पीछे खड़े होकर कवायद कर रहे हैं। (ख) सब लोग साथ ही आना; आगे पीछे आने से ठीक नहीं होगा।** (२) प्रत्यक्ष या परोक्ष। गुप्त या प्रकट। सामने और पीठ पीछे। **जैसे,—मैंने किसी की कभी आगे पीछे बुराई नहीं की है।** (३) अगैरे धैरे। आस पास। **उ०—देखना सब के सब आगे पीछे रहना; दूर मत पड़ना।** (४) पहले वा पीछे। **उ०—आगे पीछे सभी चल बसेंगे; यहाँ कोई बैठा थोड़े ही रहेगा।** (५) कुछ काल के अनंतर। यथावकाश। **जैसे,—पहले इस काम को तो कर डालो और सब आगे पीछे होता रहेगा।** (६) इधर का उधर। उलट पलट। अंड बंड। **जैसे,—लड़के ने सारे कागज़ों को आगे पीछे कर दिया।** (७) अनुपस्थिति में। गैरहाजिरी में। **जैसे—मेरे सामने तो किसी ने आपको कुछ नहीं कहा; आगे पीछे कौन जाने। किसी के आगे पीछे होना**=किसी के वंश में किसी प्राणी का होना। **उ०—उनके आगे पीछे कोई नहीं है; व्यर्थ रुपये के पीछे मरे जाते हैं। आगे रखना**=(१) अर्पण करना। देना। चढ़ाना। (२) उपस्थित करना। पेश करना। भेंट करना। **उ०—घर में जो कुछ पान फूल था ला कर आगे रक्खा। आगे से**=(१) सामने से। **उ०—अभी वह मेरे आगे निकल गया है।** (२) आइंदा से। भविष्य में। **उ०—जो किया सो अच्छा किया आगे से ऐसा मत करना।** (३) पहले से। पूर्व से। बहुत दिनों से। **जैसे,—(क) यह आगे से होता आया है। (ख) हम उसे आगे से जानते थे। आगे से लेना**=अभ्यर्थना करना। **उ०—कुँवरि सुनि पायो अति आनंद। मनहीं मनहिं विचार करत इह कब मिलिहैं नँद-नंद।..........हरि आगमन जानि कै भीषम आगे लेन सिधायो। सूरदास प्रभु दर्शन कारण नगर लोग सब धायो।—सूर। आगे होना**=(१) आगे बढ़ना। अग्रसर होना। **जैसे,—सरदार यह कह आगे हुआ और उसके साथी उसके पीछे चले।** (२) बढ़ जाना। **जैसे,—वह पढ़ने में सब से आगे हो गया।** (३) सामने आना। मुक़ाबिला करना। **उ०—इतने आदमियों में वही एक अकेला शेर के आगे आया।** (४) मुखिया बनना। **उ०—सब काम में वे आगे होते हैं; पर उनको पूछता कौन है।** (५) परदा करना। आड़ करना। **जैसे,—बड़े घरों में स्त्रियाँ जेठ के आगे नहीं आतीं। आगे होकर लेना**=अभ्यर्थना करना। **उ०—आगे ह्वै जेहि सुरपति लेई। अर्द्धसिंहासन आसन देई।—तुलसी।**

आगौन *—संज्ञा पुं० [सं० आगमन, प्रा० आगवन] **अवाई। आगमन।**

आग्नीध्र—संज्ञा पुं० [सं०] **(१) यज्ञ के सोलह ऋत्विजों में से एक। (२) वह यजमान जो साग्निक हो वा अग्निहोत्र करता हो। (३) यज्ञमंडप। (४) हरिवंश के अनुसार स्वायंभुव मनु के बारह लड़कों में से एक। (५) विष्णु-पुराण के अनुसार प्रियव्रत राजा के दस पुत्रों में से एक।**

आग्नेय—वि० [सं०] [स्त्री० आग्नेयी] **(१) अग्नि-संबंधी। अग्नि का। (२) जिसका देवता अग्नि हो। जैसे,—आग्नेय मंत्र। (३)**

अग्नि से उत्पन्न। (४) जिससे आग निकले। जलानेवाला। जैसे,—आग्नेय अस्त्र।

संज्ञा पुं० (१) सुवर्ण। सोना। (२) रक्त। रुधिर। (३) कृत्तिका नक्षत्र। (४) अग्नि के पुत्र कार्त्तिकेय (५) दीपन औषध। (६) ज्वालामुखी पर्वत। (७) प्रतिपदा। (८) एक प्राचीन देश जो दक्षिण में किष्किंधा के समीप था। इसकी प्रधान नगरी माहिष्मती थी। (९) वह पदार्थ जिससे आग भड़क उठे; जैसे बारूद, लाह इत्यादि। (१०) ब्राह्मण। (११) अग्निकोण। (१२) उन ज़हरीले कीड़ों की एक जाति जिनके काटने वा डंक मारने से जलन होती है। सुश्रुत में कौंडिल्यक (गबगुलार) लाल चींटा, भिड़, पतबिछिया, भौंरा, आदि २४ कीड़े इसके अंतर्गत गिनाए गए हैं। (१३) अग्निपुराण।

यौ०—आग्नेयस्नान=भस्मस्नान। भस्म पोतना।

आग्नेयास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के अस्त्रों का एक भेद जिनसे आग निकलती थी वा जिनके चलाने पर आग बरसती थी।

आग्नेयी–वि० स्त्री० [सं०] (१) अग्नि को दीपन करनेवाली औषध। (२) पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा।

आग्रयण–संज्ञा पुं० [सं०] आहिताग्नियों का नवशस्येष्टि। नवान्न विधान। नए अन्न से यज्ञ या अग्निहोत्र। इसका विधान श्रौतसूत्रानुसार होता है। यह तीन अन्नों से तीन फसलों में किया जाता है। साँवें से वर्षा ऋतु में, व्रीहि वा चावल से हेमंत ऋतु में और जौ से वसंत ऋतु में। गृह्यसूत्रानुसार जब इनका अनुष्ठान होता है, तब इन्हें नवशस्येष्टि कहते हैं।

आग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुरोध। हठ। ज़िद। जैसे,—वह बार बार मुझसे अपने साथ चलने का आग्रह कर रहा है। (२) तत्परता। परायणता। उ०—राक्षस......बड़े आग्रह और सावधानी से चंद्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्ट साधन में प्रवृत्त हुआ।—हरिश्चंद्र। (३) बल। ज़ोर। आवेश। उ०—और आप अपने मुख से अपने इस वाक्य का आग्रह दिखाते हैं 'सर्व गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'।—हरिश्चंद्र।

आग्रहायण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगहन मास। मार्गशीर्ष मास। (२) मृगशिरा नक्षत्र।

आग्रही–वि० [सं० आग्रहिन्] हठी। ज़िद्दी।

आग्रायण–संज्ञा पुं० [सं०] आग्रयण। नवशस्येष्टि। नवान्न।

आघ*–संज्ञा पुं० [सं० अर्घ, प्रा० अग्घ,=मूल्य] मूल्य। क़ीमत। उ०—(क) गढ़ रचना बरुनी अलक, चितवन भौंह कमान। आघु बँकाई ही बढ़ै, तरुनि तुरंग मतान।—बिहारी। (ख) जनम जलधि पानिप अमल, भो जग आघु अपार। रहै गुनी ह्वै पर पर्‍यौ, भलो न मुकुताहार।—बिहारी।

आघट्टक–संज्ञा पुं० [सं०] रक्तापामार्ग। लाल चिचड़ी।

आघात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) धक्का। ठोकर। (२) मार। प्रहार। चोट। आक्रमण। जैसे,—निरपराधों पर आघात करना अच्छा नहीं। (३) बधस्थान। बूचड़ख़ाना।

आघार–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ और होम आदि में वे आहुतियाँ जो आदि में प्रजापति और इंद्रदेवता को घी की अविच्छिन्न धार से "प्रजापतये स्वाहा" और "इंद्राय स्वाहा" कहकर वायव्य कोण से अग्नि कोण तक और फिर नैर्ऋत्य से ईशान तक दी जाती हैं। ऋग्वेदी इसे मौन होकर करते हैं और यजुर्वेदी ज़ोर से मंत्र का उच्चारण करके करते हैं।

आघी†–संज्ञा स्त्री० [सं० अर्घ, प्रा० अग्घ=मूल्य] (१) रुपए का वह लेन देन जिसमें उधार लेनेवाला महाजन को आनेवाली फ़सल की उपज में से फ़ी रुपए की दर से अन्न आदि ब्याज के स्थान में देता है। (२) वह अन्न जो इस लेन देन में ब्याज रूप में दिया जाय।

क्रि० प्र०—पर लेना।—पर देना।—देना।—लेना।

आघु*–संज्ञा स्त्री० दे० "आघ"।

आघूर्ण–वि० [सं०] (१) घूमता हुआ। फिरता हुआ। (२) हिलता हुआ।

आघूर्णित–वि० [सं०] इधर उधर फिरता हुआ। भटकता हुआ। चकराया हुआ।

यौ०—आघूर्णित लोचन=जिसकी आखें चढ़ी हों।

आघ्राण–संज्ञा पुं० [सं० वि० आघ्रात, आघ्रेय] (१) सूँघना। बास लेना। (२) अघाना। आसूदगी। तृप्ति।

आघ्रात–वि० [सं०] सूँघा हुआ।

संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहण के दस भेदों में से एक जिसमें चंद्रमंडल वा सूर्य्यमंडल एक ओर मलिन देख पड़ता है। फलित ज्योतिष के अनुसार ऐसे ग्रहण से अच्छी वर्षा होती है।

आच*–संज्ञा पुं० [सं० सच=संधान करना] हाथ।—डिं०।

यौ०—आचप्रभव=क्षत्रिय।

आचमन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आचमनीय, आचमित] (१) जल पीना। (२) शुद्धि के लिये मुँह में जल लेना। (३) किसी धर्म्मसंबंधी कर्म्म के आरंभ में दाहिने हाथ में थोड़ा सा जल लेकर मंत्रपूर्वक पीना। यह पूजा के षोडशोपचार में से एक है।

आचमनी–संज्ञा स्त्री० [सं० आचमनीय] एक छोटा चम्मच जो कलछी के आकार का होता है। इसे पंचपात्र में रखते हैं और इससे आचमन करते और चरणामृत आदि देते हैं।

आचमनीय, आचमनीयक–वि० [सं०] (१) आचमन के योग्य। पीने योग्य। (२) कुल्ला करने योग्य।

आचमित–वि० [सं०] पिया हुआ।

आचरज*–संज्ञा पुं० दे० "अचरज"।

आचरजित*–वि० दे० "आश्चर्य्यित"।

आचरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आचरणीय, आचरित] (१) अनुष्ठान। (२) व्यवहार। बर्ताव। चाल चलन। जैसे—उनका आचरण अच्छा नहीं है। (३) आचार शुद्धि। सफ़ाई (४) रथ। छकड़ा। (५) चिह्न। लक्षण। (६) बौद्धों के अनुसार वे १५ आचरण जो सदाचार माने जाते हैं। ये इस प्रकार हैं—(१) शील। (२) इंद्रियसंवर। (३) मात्राशिता। (४) जागरणानुयोग। (५) श्रद्धा। (६) ह्री। (७) बहुश्रुतत्व। (८) उत्ताप, अर्थात् पछतावा। (९) पराक्रम। (१०) स्मृति। (११) मति। (१२) प्रथम ध्यान। (१३) द्वितीय ध्यान। (१४) तृतीय ध्यान। (१५) चतुर्थ ध्यान।'

आचरणीय–वि० [सं०] (१) अनुष्ठान करने योग्य। (२) व्यवहार करने योग्य। बर्ताव करने योग्य। करने योग्य।

आचरन*–संज्ञा पुं० दे० "आचरण"।

आचरना*–क्रि० स० [सं० आचरण] आचरण करना। व्यवहार करना। उ०—इहै भक्ति वैराग्य ज्ञान यह हरि तोषन यह शुभ व्रत आचरु। तुलसिदास शिव मत मारग यह चलत सदा सपनेहु नाहिन डरु।—तुलसी।

आचरित–वि० [सं०] किया हुआ। अनुष्ठान किया हुआ।
संज्ञा पुं० [सं०] धर्मशास्त्र के अनुसार ऋणी से धन लेने के पाँच प्रकार के उपायों में से एक। ऋणी के स्त्री, पुत्र, पशु आदि को लेकर वा उसके द्वार पर धरना देकर ऋण को चुका लेना।

आचान–क्रि० वि० दे० "अचान"।

आचानक–क्रि० वि० दे० "अचानक"।

आचाम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भात। (२) माँड़। (३) आचमन।

आचार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यवहार। चलन। रहन सहन। (२) चरित्र। चाल ढाल। (३) शील। (४) शुद्धि। सफ़ाई।
यौ०—आचार विचार। अनाचार। दुराचार। शिष्टाचार। सदाचार। समाचार। कुलाचार। देशाचार। भ्रष्टाचार।

आचारज*–संज्ञा पुं० दे० "आचार्य्य"।

आचारजी*–संज्ञा स्त्री० [सं० आचार्य्य] पुरोहिताई। आचार्य्य होने का भाव। उ०—उनके घर किसकी आचारजी है?

आचारवान्–वि० [सं०] [स्त्री० आचारवती] पवित्रता से रहनेवाला। शुद्ध आचार का।

आचार विचार–संज्ञा पुं० [सं०] आचार और विचार।
विशेष—इस शब्द का प्रयोग अकसर आचार ही के अर्थ में होता है। जैसे—वह बड़े आचार विचार से रहता है।

आचारी–वि० [सं० आचारिन्] [स्त्री० आचारिणी] आचारवान्। चरित्रवान्। शुद्ध आचार का। उ०—सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।—तुलसी।
संज्ञा पुं० [सं०] रामानुज संप्रदाय का वैष्णव। श्रीवैष्णव।

आचार्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० आचार्य्याणी] [वि० आचार्य्यी] (१) उपनयन के समय गायत्री मंत्र का उपदेश करनेवाला। गुरु। (२) वेद पढ़ानेवाला। (३) यज्ञ के समय कर्मोपदेशक। (४) पूज्य। पुरोहित। (५) अध्यापक। (६) ब्रह्मसूत्र का प्रधान भाष्यकार। ये चार हैं—(क) शंकर, (ख) रामानुज, (ग) मध्व और (घ) वल्लभाचार्य्य। (७) वेद का भाष्यकार।
विशेष—स्वयं आचार्य्य का काम करनेवाली स्त्री आचार्य्या कहलाती है। आचार्य्य की पत्नी को आचार्य्याणी कहते हैं।
यौ०—आचार्य्यकुल = गुरुकुल। आचार्य्यवान् = उपनीत।

आचार्य्यी–वि० स्त्री० [सं०] आचार्य्य की। आचार्य्यसंबंधिनी। जैसे—आचार्य्यी दक्षिणा।

आचिंत्य–वि० [सं०] सब प्रकार से चिंतन करने योग्य।
* वि० [सं० अचिंत्य] परमेश्वर जो चिंतन में नहीं आ सकता। उ०—तेज अंड आचिंत का, दीन्हां सकल पसार। अंड शिखा पर बैठ कर, अधर दीप निरधार।—कबीर।

आचित–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक मान जो दस भार वा २५ मन का होता था। (२) गाड़ी भर का बोझ। एक छकड़े का भार।
वि० व्याप्त।

आच्छाक–संज्ञा पुं० [सं०] नील का सा एक पौधा जिससे लाल रंग बनता है। आल।
पर्य्या०—रंजनद्रुम। पक्षीक। पक्षिक। आक्षिक।

आच्छन्न–वि० [सं०] (१) ढका हुआ। आवृत्त। (२) छिपा हुआ। तिरोहित।

आच्छादक–संज्ञा० पुं० [सं०] ढाँकनेवाला। जो ढाँके।

आच्छादन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आच्छादित, आच्छिन्न] (१) ढकना। (५) वस्त्र। कपड़ा (३) छाजन। छवाई।

आच्छादित–वि० [सं०] (१) ढका हुआ। आवृत्त। (१) छिपा हुआ। तिरोहित।

आच्छोटन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चुटकी बजाना। (२) उँगली फोड़ना। उँगली चटकाना।

आछत†*–क्रि० वि० [क्रि० अ० आछना का कृदंत रूप, जिसका प्रयोग क्रि० वि० वत् होता है।] होते हुए। रहते हुए। विद्यमानता में। मौजूदगी में। सामने। उ०—(क) हमारे आछत उसे और कौन ले जा सकता है? (ख) आँखिन आछत आँधरो जीव करै बहु भाँति। धीर न धीरज बिनु करै तृष्णा कृष्णा राति।—केशव। (ग) कह गिरिधर कविराय ज्वाब शाहन ते कीबो। आछत सीताराम उमिरि अपनी भरि जीबो।—गिरिधर।

आछना*–क्रि० अ० [सं० अस् = होना] (१) होना। (२)

रहना। विद्यमान होना। उ०—(क) भँवर आइ बन खंड सों, लेइ कमल रसबास। दादुर बास न पावई, भलेहिं जो आछइ पास।—जायसी। (ख) इतो नेह कागद हिये, भई लखाइ न टाँक। विरह तचे उघर्यो सो अब, सेंहुड़ को सो आँक।—बिहारी।

विशेष—इस क्रिया के और सब रूपों का व्यवहार अब बोलचाल से उठ गया है; केवल 'आछत'; 'आछते' (होते हुए) रह गया है।

आछा*–वि० दे० "अच्छा"।

आछी*–वि० स्त्री० [हिं० अच्छा] अच्छी। भली।

वि० [सं० अशिन्] खानेवाला। उ०—पान फूल आछी सब कोई। तुम कारन यह कीन रसोई।—जायसी।

आछेप*–संज्ञा पुं० दे० "आक्षेप"।

आछो*–वि० "अच्छा"।

आछोटण*–संज्ञा पुं० [सं० आच्छोदन=मृगया] शिकार। आखेट। अहेर।—डिं०।

आज–क्रि० वि० [सं० अद्य, पा० अज्ज] (१) वर्त्तमान दिन में। जो दिन बीत रहा है; उसमें। जैसे,—आज किसका मुँह देखा था जो सारा दिन भटकते बीता। (२) इन दिनों। वर्त्तमान समय में। जैसे,—(क) जो आज उनकी चलती है वह दूसरे की नहीं। (ख) आज करेगा सो कल पावेगा।

संज्ञा पुं० (१) वर्त्तमान दिन। जो दिन बीत रहा है। जैसे,—आज की रात वह इलाहाबाद जायगा। (२) इस वक्त। जैसे,—ख़बरदार आज से ऐसा मत करना।

यौ०—आजकल।

मुहा०—आज को=(१) इस समय। जैसे,—आज को यह बात कही, कल को दूसरी बात कहेगा। (२) इस अवसर पर। ऐसे समय में। ऐसे मौके पर। जैसे,—आज को वह न हुए, नहीं तो बतला देते। आज तक=(१) आज के दिन तक। जैसे,—उसे बाहर गए बरसों हुए, पर आज तक उसका कोई ख़त नहीं आया। (२) इस समय तक। इस घड़ी तक। उ०—कल का गया आज तक न पलटा। आज दिन=इस समय। वर्त्तमान समय में। जैसे,—आज दिन उन की टक्कर का दूसरा विद्वान् नहीं। आज लों=आज तक। आज से=इस समय से। इस वक्त से। अब से। भविष्य में। जैसे,—अब तक किया सो किया, आज से न करना। आज हो कि कल=थोड़े दिनों में। दो चार दिन के अंदर ही। जैसे,—उनका अब क्या ठिकाना, आज मरें कि कल।

आजकल–क्रि० वि० [हिं० आज+कल] इन दिनों। इस समय। वर्त्तमान दिनों में। जैसे,—आज कल उनका मिज़ाज नहीं मिलता।

मुहा०—आज कल में=थोड़े दिनों में। शीघ्र। जैसे,—घबराओ मत, आज कल में देता हूँ। आज कल करना, आज कल बताना=टाल मटोल करना। हीला हवाला करना। जैसे,—(क) व्यर्थ आज कल क्यों करते हो देना हो तो दो। (ख) जब मैं माँगने जाता हूँ, तब वह मुझको आज कल बता देता है। आज कल लगना=अब तब लगना। मरने में दो ही एक दिन की देर होना। मरणकाल निकट आना। जैसे,—उनका तो आज कल लगा है, जाकर देख आओ। आज कल होना=(१) टाल मटोल होना। हीला हवाला होना। जैसे,—महीनों से तो आज कल हो रहा है, मिले तब तो जानें। (२) दे० "आज कल लगना"। आज मरे कल दूसरा दिन=मरने के पीछे जो चाहे सो हो। मरने के बाद कोई चिंता नहीं रहती।

आजगव–संज्ञा पुं० [सं] शिवधनुष। महादेव का धनुष। पिनाक।

आजन्म–क्रि० वि० [सं०] जीवन भर। जन्म भर। ज़िंदगी भर। आजीवन। जब तक जीये तब तक।

आज़माइश–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] परीक्षा। इम्तहान। परख।

आज़माना–क्रि० स० [फ़ा० आजमाइश=परीक्षा] [वि० आजमूदा] परीक्षा करना। परखना। जाँच करना।

आजमीढ़–वि० [सं०] (१) अजमीढ़ राजा के वंश का। (२) अजमीढ़ देश का राजा।

आज़मूदा–वि० [फ़ा०] आज़माया हुआ। परीक्षित।

आजवह–वि० [सं०] [स्त्री० आजवहा] जिसे बकरी ले जाय वा ढोए।

संज्ञा पुं० हिमालय का पर्वतीय देश जहाँ भोजन आदि की सामग्री बकरियों पर लदकर जाती है।

आजा–संज्ञा पुं० [सं० आर्य, प्रा० अज्ज] [स्त्री० आजी] पितामह। दादा। बाप का बाप। उ०—आजा को घर अमर है बेटा के सिर भार। तीन लोक नाती ठगा, पंडित करौ विचार।—कबीर।

आजागुरु–संज्ञा पुं० [हिं० आजा+गुरु] गुरु का गुरु।

आज़ाद–वि० [फ़ा०] [संज्ञा आजादी, आजादगी] (१) जो बद्ध न हो। छूटा हुआ। मुक्त। बरी। जैसे,—राज्याभिषेक के अवसर पर बहुत से क़ैदी आज़ाद किए गए। (२) बेफ़िक्र। बेपरवाह। (३) स्वतंत्र। जो किसी के अधीन न हो। स्वाधीन। (४) निडर। निर्भय। अशंक। बेधड़क। (५) स्पष्टवक्ता। हाज़िर-जवाब। (६) उद्धत। (७) अकिंचन। निष्परिग्रह। (८) कहीं एक जगह न रहनेवाला। बे-पता। बे-निशान। (९) एक प्रकार के मुसलमान फ़क़ीर जो दाढ़ी, मूँछ और भौं आदि मुँड़ाए रहते हैं और न रोज़ा रखते हैं और न नमाज़ पढ़ते हैं। ये सूफ़ी संप्रदाय के अंतर्गत हैं और अद्वैतवादी हैं।

क्रि० प्र०—करना।—रहना।—होना।

आज़ादगी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] स्वतंत्रता।

आज़ादाना–वि० [फ़ा०] स्वतंत्र। स्वच्छंद।

आज़ादी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] स्वतंत्रता। स्वाधीनता।

आजानदेव–संज्ञा पुं० [सं०] वे देवता जो सृष्टि के आदि में देवता ही उत्पन्न हुए थे।

विशेष—देवता दो प्रकार के होते हैं—एक कर्म्मदेव जो कर्म्म से देवता हो जाते हैं और दूसरे आजानदेव जो देवता ही उत्पन्न होते हैं।

आजानु–वि० [सं०] जाँघ तक लंबा। घुटने तक लंबा।

यौ०—आजानुबाहु।

आजानुबाहु–वि० [सं०] जिसके बाहु जानु तक लंबे हों। जिसके हाथ घुटने तक लंबे हों।

आजानेय–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े की एक जाति जो उत्तम मानी जाती है।

आज़ार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) रोग। बीमारी। व्याधि।

क्रि० प्र०—होना।

(२) दुःख। कष्ट। तकलीफ़।

क्रि० प्र०—देना।—पहुँचना।—पाना।—लगना।

आजि–संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध। रण। संग्राम। लड़ाई।

आजिज़–वि० [अ०] [संज्ञा आजिजी] (१) दीन। विनीत। हैरान। तंग।

क्रि० प्र०—आना।—होना।

आजिज़ी–संज्ञा स्त्री० [अ०] दीनता। विनीतभाव। नम्रता।

आजीवन–क्रि० वि० [सं०] जीवन-पर्य्यंत। ज़िंदगी भर। जब तक जीये तब तक।

आजीविका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वृत्ति। रोज़ी। रोज़गार। जीवन का सहारा। जीवन-निर्वाह का अवलंब।

आजु*–क्रि० वि० संज्ञा पुं० दे० "आज"।

आजुर्दगी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] रंज। खेद। दुःख।

आजुर्दा–वि० [फ़ा०] खिन्न। दुखी।

आजू–संज्ञा पुं० [सं०] बेगार।

आज्ञा–संज्ञा स्त्री [सं०] (१) बड़ों का छोटों को किसी काम के लिये कहना। आदेश। हुक्म। जैसे,—राजा ने चोर को पकड़ने की आज्ञा दी। (२) छोटों को उनकी प्रार्थना के अनुसार बड़े का उन्हें कोई काम करने के लिये कहना। स्वीकृति। अनुमति। जैसे,—बहुत कहने सुनने पर हाकिम ने लोगों को जूआ खेलने की आज्ञा दी।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—मानना।—लेना।—होना।

यौ०—आज्ञाकारी। आज्ञावर्त्ती। आज्ञापक। आज्ञापालन। आज्ञाभंग।

आज्ञाकारी–वि० [सं० आज्ञाकारिन्] [स्त्री० आज्ञाकारिणी] (१) आज्ञा माननेवाला। हुक्म माननेवाला। आज्ञापालक। (२) सेवक। दास। टहलुआ।

आज्ञाचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] योग और तंत्र में माने हुए शरीर के भीतर के ६ चक्रों में से छठा, जो सुषुम्ना नाड़ी के बीचो बीच दोनों भौंके बीच दो दल के कमल के आकार का माना गया है।

आज्ञापक–वि० [सं०] [स्त्री० आज्ञापिका] (१) आज्ञा देनेवाला। आज्ञा करनेवाला। (२) प्रभु। स्वामी।

आज्ञापत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह लेख जिसके अनुसार किसी आज्ञा का प्रचार किया जाय। हुक्मनामा।

आज्ञापन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आज्ञापित] सूचना। जताना।

आज्ञापालक–वि० [सं०] [स्त्री० आज्ञापालिका] (१) आज्ञा का पालन करनेवाला। आज्ञाकारी। आज्ञा के अनुसार चलनेवाला। फ़रमाँ-बरदार। (२) दास। टहलुआ।

आज्ञापित–वि० [सं०] सूचित। जाना हुआ।

आज्ञापालन–संज्ञा पुं० [सं०] आज्ञा के अनुसार काम करना। फ़रमा-बरदारी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

आज्ञाभंग–संज्ञा पुं० [सं०] आज्ञा न मानना। हुक्म-उदूली।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

आज्य–संज्ञा पुं० [सं०] घृत। घी।

यौ०—आज्यदोह। आज्यपा। आज्यभाग। आज्यभुक्। आज्यस्थाली।

आज्यदोह–संज्ञा पुं० [सं०] सामवेद की तीन ऋचाओं का एक सूक्त जिसका जप या पाठ पवित्र करनेवाला होता है।

आज्यपा–संज्ञा पुं० [सं०] सात पितरों में से एक। मनु के अनुसार ये वैश्यों के पितर हैं जो पुलस्त्य ऋषि के लड़के थे।

आज्यभाग–संज्ञा पुं० [सं०] घृत की दो आहुतियाँ जो अग्नि और सोम देवताओं को उत्तर और दक्षिण भागों में आधार के पीछे दी जाती हैं। इनके अविच्छिन्न होने का नियम नहीं है। ऋग्वेदी लोग 'अग्नये स्वाहा' से उत्तर ओर और 'सोमाय स्वाहा' से दक्षिण ओर देते हैं, पर यजुर्वेदी लोग उत्तर और दक्षिण दिशाओं में भी पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध का विभाग करके उत्तर और दक्षिण दोनों के पूर्वार्द्ध भाग ही में आहुति देते हैं। आधार और आज्यभाग आहुति के बिना हवि से आहुति नहीं दी जाती।

आज्यभुक्–संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

आज्यस्थाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक यज्ञपात्र जो बटली के आकार का होता है और जिसमें हवन के लिये घी रक्खा जाता है।

आटना–क्रि० स० [सं० अट्ट] तोपना। दबाना। उ०—(क) घोड़ों ही की लीद में मारौं आटि पठान।—सूदन (ख) क्यों इस वृद्ध पुरुष को अनुग्रह से आटे देते हो।—तोताराम।

आटा–संज्ञा पुं० [सं० आर्द=ज़ोर से दबाना] (१) किसी अन्न का चूर्ण। पिसान। चून।

मुहा०—ग़रीबी में आटा गीला होना=धन की कमी के समय पास से कुछ और जाता रहना। आटा दाल का भाव मालूम होना=संसार के व्यवहार का ज्ञान होना। आटा दाल की फ़िक्र=जीविका की चिंता। आटे की आपा=भोली स्त्री। अत्यंत सीधी सादी स्त्री। आटा माटी होना=नष्ट भ्रष्ट होना।

(२) किसी वस्तु का चूर्ण। बुकनी।

आटी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० अटक] डाट। रोक। टेक।

आटोप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आच्छादन। फैलाव। (२) आडंबर। विभव। (३) पेट की गुड़गुड़ाहट।

यौ०—घटाटोप।

आट्टोप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक रोग जिसमें पेट की नसें तन जाती हैं। (२) पेट की नसों का तनाव।

आठ-वि० [सं० अष्ट, प्रा० अट्ठ] एक संख्या। चार का दूना।

मुहा०—आठ आठ आँसू रोना=बहुत अधिक विलाप करना। आठों गाँठ कुम्मैत=(१) सर्वगुण-संपन्न। (२) चतुर। (३) छँटा हुआ। धूर्त। आठों पहर=दिन रात।

आठक*†-वि० [सं० अष्ट, पा० अट्ठ+हिं० एक] आठ।

आठवाँ-वि० [सं० अष्टम, पा० अट्ठम] संख्या में आठ के स्थान पर का। अष्टम। जैसे,—इस पुस्तक का आठवाँ प्रकरण अभी पढ़ना है।

आठैं, आठों-संज्ञा स्त्री० [सं० अष्टमी] अष्टमी तिथि। उ०—आठों का मेला।

आडंबर-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आडंबरी] (१) गंभीर शब्द। (२) तुरही का शब्द। (३) हाथी की चिग्घार। (४) ऊपरी बनावट। तड़क भड़क। टीम टाम। झूठा आयोजन। ढोंग। कपट वेष जिससे वास्तविक रूप छिप जाय। जैसे,—(क) उसमें विद्या तो ऐसी ही वैसी है, पर वह आडंबर ख़ूब बढ़ाए हुए है। (ख) आज कल के साधुओं के आडंबर ही आडंबर देख लो।

क्रि० प्र०—करना।—फैलाना।—बढ़ाना।—रचना।

(५) आच्छादन।

यौ०—मेघाडंबर।

(६) तंबू। (७) बड़ा ढोल जो युद्ध में बजाया जाता है। पटह।

आडंबरी-वि० [सं०] आडंबर करनेवाला। ऊपरी बनावट रखनेवाला।

आड़-संज्ञा स्त्री० [अल=वारण, रोक] (१) ओट। परदा। ओझल। जैसे,—(क) वह दीवार की आड़ में छिपा बैठा है। (ख) कपड़े से यहाँ आड़ कर दो।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—आड़े देना*=ओट करना। आड़ के लिये सामने रखना। उ०—आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति। साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति।—बिहारी।

(२) रक्षा। शरण। पनाह। सहारा। आश्रय। जैसे,—(क) अब वे किसकी आड़ पकड़ेंगे। (ख) जब तक उनके पिता जीते थे, तब तक बड़ी भारी आड़ थी।

क्रि० प्र०—धरना।—पकड़ना।—लेना।

(३) रोक। अड़ान। (४) ईंट वा पत्थर का टुकड़ा जिसे गाड़ी के पहिए के पीछे इसलिये अड़ाते हैं जिसमें पहिया पीछे न हट सके। रोड़ा। (५) संगीत में अष्टताल का एक भेद। (६) थूनी। टेक। (७) तिल की बोंड़ी जिसमें तिल भरे रहते हैं। (८) एक प्रकार का कलछुला जो चीनी के कारख़ानों में काम आता है।

[सं० अल=डंक] बिच्छू वा भिड़ आदि का डंक।

[सं० आलि=रेखा] (१) लंबी टिकली जिसे स्त्रियाँ माथे पर लगाती हैं। (२) स्त्रियों के मस्तक पर का आड़ा तिलक। उ०—(क) कानन कनकपत्र छत्र चमकत चारु ध्वजा झुलमुली झलकति अति सुखदाइ। केशव छबीलो छत्र शशिफूल सारथी सों केसर की आड़ अंधि राधिका रची बनाइ।—केशव। (ख) मंगल बिंदु सुरंग, ससि-मुख केसर आड़ गुरु। इक नारी लहि संग, किय रसमय लोचन जगत।—बिहारी। (३) माथे पर पहनने का स्त्रियों का एक गहना। टीका।

आड़गीर-संज्ञा पुं० [हिं० आड़+फ़ा० गीर] खेत के किनारे की घास।

आड़ण-संज्ञा स्त्री० [हिं० आड़ना=रोकना] ढाल।—डिं०। उ०—एक कुशल अति ओड़न खाँड़े। कूदहिं गगन मनहुँ छिति छाँड़े।—तुलसी।

विशेष—गो० तुलसीदास ने इस शब्द को "ओड़न" लिखा है।

आड़ना-क्रि० स० [सं० अल्=वारण करना] (१) रोकना। छेंकना। (२) बाँधना। (३) मना करना। न करने देना। (४) गिरवी रखना। गहने रखना। जैसे,—सौ रुपए की चीज़ आड़ करके तो २५) लाया हूँ।

आड़बंद-संज्ञा पुं० [हिं० आड़+फ़ा० बंद] फ़क़ीरों का लँगोट। पहलवानों का लँगोट जिसे वे जाँघिया के ऊपर कसते हैं।

आड़बन†-संज्ञा पुं० दे० "आड़बंद"।

आड़ा-संज्ञा पुं० [सं० आलि=रेखा] [स्त्री० आड़ी] (१) एक धारीदार कपड़ा। (२) जहाज़ का लट्ठा। शहतीर। (३) नाव वा जहाज़ में लगे हुए बगली तख़ते। (४) जुलाहों का लकड़ी का वह सामान जिस पर सूत फैलाया जाता है।

वि० (१) आँखों के समानांतर दाहिनी ओर से बाईं ओर को बाईं ओर से दाहिनी ओर को गया हुआ। (२) वार से पार तक रक्खा हुआ।

मुहा०—आड़े आना=(१) रुकावट डालना। बाधक होना। जैसे,—जो काम हम शुरू करते हैं, उसी में तुम बेतरह आड़े

आते हो। (२) कठिन समय में सहायक होना। गाढ़े में काम आना। संकट में खड़ा होना। उ०—**कमरी थोरे दाम की आवै बहुतै काम। खासा मलमल बाफ़ता उनकर राखै मान। उनकर राखै मान बुंद जहँ आड़े आवै। बकुचा बाँधे मोट राति को झारि बिछावै।—गिरिधर। आड़ा तिरछा होना**=बिगड़ना। मिजाज बदलना। जैसे,—**आड़े तिरछे क्यों होते हो, सीधे सीधे बातें करो। आड़े पड़ना**=बीच में पड़ना। रुकावट डालना। उ०—**कबिरा करनी आपनी, कबहुँ न निष्फल जाय। सात समुद आड़ा परै, मिलै अगाऊ आय।—कबीर। आड़े हाथों लेना**=किसी को व्यंग्योक्ति द्वारा लज्जित करना। जैसे,—**बात ही बात में उन्होंने बलदेव को ऐसा आड़े हाथों लिया कि वह भी याद करेगा। आड़ा होना**=रुकावट डालना। बाधा डालना। आगे न बढ़ने देना। उ०—**मैं पाछे मुनि धीय के, चह्यों चलन करि चाव। मर्य्यादा आड़ी भई, आगे दियो न राव।—लक्ष्मण।**

आड़ा खेमटा—संज्ञा पुं० [हिं० आड़ा+खेमटा] **मृदंग का साढ़े तेरह मात्राओं का एक ताल। इसमें तीन आघात और एक ख़ाली रहता है। कोई कोई इस में ख़ाली का व्यवहार नहीं करते। इस ताल के बोल यों हैं—धा तेरे केटे धेने धागे नागे तेन। ताके तेरे केटे धेन धागे नागे तेन।**

आड़ा चौताल—संज्ञा पुं० [हिं० आड़ा+चौताल] **मृदंग का एक ताल। यह ताल सात पूर्ण मात्राओं का होता है। इस में चार आघात और तीन ख़ाली होते हैं। इस ताल के बोल यों हैं—धाग् धागे दिं ता, केटे, धागे, दिं ता, गदि धेने धा। मतांतर से इसके बोल यों हैं—धागे तेटे केटे ताग तागे तेटे, केटे तगे धेत्ता तेटेकता गदि धेने धा।**

आड़ा ठेका—संज्ञा पुं० [हिं० आड़ा+ठेका] **नौ मात्राओं का एक ताल। इसमें चार दीर्घ और चार अणु मात्राएँ होती हैं। चार दीर्घ मात्राओं की आठ ह्रस्व मात्राएँ और चार अणु मात्राओं की एक मात्रा इस प्रकार सब मिला कर नौ मात्राएँ होती हैं। किंतु जब ठेके में ४ दीर्घ मात्राएँ दी जाती हैं तो उनमें से प्रत्येक के साथ साथ एक एक अणु मात्रा भी लगा दी जाती है। इसके मृदंग के बोल ये हैं।—धाकेटे ताग धी**

+ ३ ० + १
ऐन धा धा धिन धि ऐन ताकेटे तागधि ऐन धा धा
+ +
तिन तिऐन धा।

आड़ा पंचताल—संज्ञा पुं० [हिं० आड़ा+पंच+ताल] **पाँच आघात और नौ मात्राओं का एक ताल।—धि तिर किट, धिना धि**
१ १
धि ना ना तु ना, कत्ता धि धि, ना धि धि ना।

आड़ालोट—संज्ञा पुं० [हिं० आड़ा+सं० लुण्ठन् (लोटना)] **डाँवाडोलपन। कंप। क्षोभ।** (लश०)

क्रि० प्र०—मारना=जहाज का लहराना। जहाज का डगमगाना।

आडि—संज्ञा स्त्री० [सं०] **(१) एक प्रकार की मछली। (२) एक जलपक्षी जिसको शरालि भी कहते हैं। यह गिद्ध की तरह का होता है।**

आड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० आड़ा] **(१) तबला, मृदंग आदि बजाने का एक ढंग जिसमें किसी ताल के पूरे समय के तीसरे, छठें वा बारहवें भाग ही में पूरा ताल बजा लिया जाता है। (२) चमारों की छुरी। (३) ओर। तरफ़। दे० "आरी"। (४) सहायक। अपने पक्ष का।**

विशेष—जब किसी खेल में लड़कों के दो दल हो जाते हैं तब एक लड़का अपने दल के लड़के को 'आड़ी' कहता है।

वि० स्त्री० **पड़ी। बेंड़ी।**

मुहा०—आड़ी करना=चाँदी सोने के वर्क़ पीटनेवालों की बोली में लंबे पीटे हुए वर्क़ को चौड़ा पीटना।

आड़ू—संज्ञा पुं० [सं० अंड अथवा आलु] (१) **एक प्रकार का फल जिसका स्वाद खटमीठा होता है। देहरादून की ओर यह फल बहुत अच्छा होता है। इसे शफ़तालू भी कहते हैं। यह फल दो प्रकार का होता है—एक चकैया, दूसरा गोल। (२) इस फल का वृक्ष।**

आढ़—संज्ञा पुं० [सं० आढक] **चार प्रस्थ अर्थात् चार सेर की एक तौल।**

*संज्ञा स्त्री० [हिं० आड़] (१) ओट। पनाह। (२) सहारा। ठिकाना। उ०—ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों त्यों जमगण मुख मलीन लहै आढ़न।—तुलसी।

*† (३) अंतर। बीच। जैसे,—(क) एक दिन आढ़ देकर आना। (ख) एक कोस आढ़ देकर ठहरेंगे।

मुहा०—आढ़ आढ़ करना=बीच में अवधि टालना। आज कल करना। टाल मटूल करना। उ०—**(क) हरि तेरी माया को न बिगोयो? सौ योजन मरजाद सिंधु की पल में राम बिलोयो। नारद मगन भए माया में ज्ञान बुद्धि बल खोयो। साठ पुत्र अरु द्वादश कन्या कंठ लगाए जोयो। शंकर को चित हर्‌यो कामिनी सेज छाड़ि भू सोयो। जारि मोहिनी आढ़ आढ़ कियो तब नख सिख तें रोयो। सौ भैया राजा दुरजोधन पल में गर्द समोयो। सूरदास काँच अरु कंचन एकहि धगा पिरोयो।—सूर। (ख) आढ़ आढ़ करत असाढ़ आयो, एरी आली, डर से लगत देखि तम के जमाक ते। श्रीपति ये मैन माते मोरन के बैन सुनि परत न चैन बुँदियान के झमाक ते।—श्रीपति।**

वि० [सं० आढ्य=सम्पन्न] **कुशल। दक्ष।** उ०—**स्वारथ**

लागि रहे वे आढ़ा। नाम लेत जस पावक डाढ़ा।—कबीर।

संज्ञा स्त्री० [सं० आड़ि] एक प्रकार की मछली।

संज्ञा स्त्री० [हिं० आड़=टीका] माथे पर पहनने का स्त्रियों का एक आभूषण। टीका।

आढ़क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक तौल जो चार सेर के बराबर होती है। (२) अन्न नापने का काठ का एक बरतन जिसमें अनुमान से चार सेर अन्न आता है। (३) अरहर।

आढ़की-संज्ञा स्त्री० [सं०] अरहर नाम का अन्न।

आढ़त-संज्ञा स्त्री० [हिं० आड़ना=जमानत देना] (१) किसी अन्य व्यापारी का माल रखकर कुछ कमीशन लेकर उसकी बिक्री करा देने का व्यवसाय। (२) वह स्थान जहाँ आढ़त का माल रहता हो। (३) वह धन जो बिक्री कराने के बदले में मिलता है।

यौ०—आढ़तदार=अढ़तिया।

आढ़तिया-संज्ञा पुं० दे० "अढ़तिया"।

आढ्यंकर-वि० [सं०] असंपन्न को संपन्न करनेवाला।

आढ्य-वि० [सं०] (१) संपन्न। पूर्ण। (२) युक्त। विशिष्ट।

यौ०—गुणाढ्य। धनाढ्य। आढ्यंकर। पुण्याढ्य। सनाढ्य।

आणक-संज्ञा पुं० [सं०] एक रुपए का सोलहवाँ भाग। आना।

वि० [सं०] अधम। कुत्सित।

आतंक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोब। दबदबा। प्रताप। (२) भय। शंका।

क्रि० प्र०—छाना।—जमना।—फैलना।

(३) रोग। बीमारी।

यौ०—आतंक-निग्रह।

(४) मुरचंग की ध्वनि।

आत-संज्ञा पुं० [सं० आतु] शरीफ़ा। सीताफल।

आतताई-संज्ञा पुं० दे० "आततायी"।

आततायी-संज्ञा पुं० [सं० आततायिन्] [स्त्री० आततायिनी] (१) आग लगानेवाला। (२) विष देनेवाला। (३) बधोद्यत शस्त्रधारी। (४) ज़मीन छीन लेनेवाला। (५) धन हरनेवाला। (६) स्त्री हरनेवाला।

आतप-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आतपी, आतप्त] (१) धूप। घाम (२) गर्मी। उष्णता। (३) सूर्य्य का प्रकाश। (४) ज्वर। बुख़ार।

यौ०—आतपक्लांत।

आतपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] छाता। छतरी।

आतपी-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

वि० धूप का। धूपसंबंधी।

आतपोदक-संज्ञा पुं० [सं०] मृगतृष्णा।

आतम-वि० दे० "आत्म"।

आतमा-संज्ञा स्त्री० दे० "आत्मा"

आतर-संज्ञा पुं० [सं०] नदी पार जाने का महसूल। नाव का भाड़ा। उतराई।

आतर्पण-संज्ञा पुं० [सं०] मांगलिक लेपन। ऐपन।

आतश-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] आग। अग्नि। उ०—आदि अंत मन मध्य न होते, आतश पवन न पानी। लख चौरासी जीव जंतु नहिं, साखी शब्द न बानी।—कबीर।

यौ०—आतशख़ाना। आतशज़नी। आतशदान। आतशपरस्त। आतशबाज़। आतशबाज़ी।

आतशक-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] [वि० आतशकी] फिरंग रोग। उपदंश। गर्मी।

आतशख़ाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) अग्नि रखने का स्थान। वह स्थान जहाँ कमरा गर्म करने के लिये आग रखते हैं। (२) वह स्थान जहाँ पारसियों की अग्नि स्थापित हो।

आतशगाह- संज्ञा पुं० दे० "आतशख़ाना"।

आतशज़नी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] आग लगाने का काम।

आतशदान- संज्ञा पुं० [फ़ा०] अँगीठी। बोरसी।

आतशपरस्त-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) अग्नि की पूजा करनेवाला मनुष्य। (२) अग्निपूजक। पारसी।

आतशबाज़-संज्ञा पुं० [फ़ा०] आतशबाज़ी बनानेवाला। हवाईगर।

आतशबाज़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बारूद के बने हुए खिलौनों के जलने का दृश्य। (२) बारूद के बने हुए खिलौने, जैसे, अनार, महताबी, छछूँदर, बान, चकरी, बमगोला, फुलझड़ी, हवाई आदि। (३) अगौनी। (बुं० खं०)

आतशी-हिं० [फ़ा०] (१) अग्निसंबंधी। (२) अग्नि-उत्पादक। जैसे,—आतशी शीशा। (३) जो आग में तपाने से न फूटे, न तड़के; जैसे—आतशी शीशी।

आतापी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक असुर जिसे अगस्त्य मुनि ने अपने पेट में पचा डाला था। (२) चील पक्षी।

आतार-संज्ञा पुं० दे० "आतर"।

आतासंदेश-संज्ञा पुं० [सं० आतु+बं० संदेश] एक प्रकार की बँगला मिठाई। इस में आत (शरीफ़ा) की सी सुगंध आती है। यह छेने की बनती है।

आतिथेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अतिथि के सत्कार की सामग्री। अतिथि-सेवा में कुशल मनुष्य।

आतिथ्य- संज्ञा पुं० [सं०] (१) अतिथि का सत्कार। पहुनाई। मेहमानदारी। (२) अतिथि को देने योग्य वस्तु।

आतिवाहिक-संज्ञा पुं० [सं०] मरने के पीछे का वह लिंग शरीर जिसे धारण करके जीव यम लोकादि में भ्रमण करता है। यह शरीर वायुमय होता है। इसका दूसरा नाम "भोग शरीर" भी है।

आतिश-संज्ञा स्त्री० दे० "आतश"।

आतिशय्य-संज्ञा पुं० [सं०] अतिशय होने का भाव। आधिक्य। बहुतायत। अधिकाई। ज़्यादती।

आतीपाती–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाती=पत्त] पहाड़वा । एक खेल जिसमें बहुत के लड़के जमा होकर एक लड़के को चोर बनाकर उसे किसी पेड़ की पत्ती लेने भेजते हैं । उसके चले जाने पर सब लड़के छिप रहते हैं । पत्ती लेकर लौट आने पर वह लड़का जिसको ढूँढ़कर छू लेता है, फिर वही चोर कहलाता है । उस लड़के को भी उसी प्रकार पत्ती लेने जाना पड़ता है । यह खेल बहुधा चाँदनी रातों में खेला जाता है। पहाड़ी डिलो ।

आतुर–वि० [सं०] [संज्ञा आतुरता] (१) व्याकुल । व्यग्र । घबराया हुआ । जैसे,—इतने आतुर क्यों होते हो; तुम्हारा काम सब ठीक कर दिया जायगा । (२) अधीर । उद्विग्न । बेचैन ।

यौ०—आतुरसंन्यास । कामातुर । क्रोधातुर ।

(३) उत्सुक । (४) दुःखी । (५) रोगी ।

क्रि० वि० शीघ्र । जल्दी । उ०—सर मंजन करि आतुर आवहु । दीक्षा देहुँ ज्ञान जिहि पावहु ।—तुलसी ।

आतुरता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घबराहट । बेचैनी । व्याकुलता । व्यग्रता । (२) जल्दी । शीघ्रता ।

आतुरताई*-संज्ञा स्त्री० [सं० आतुरता+ई (प्रत्य०)] उतावलापन । शीघ्रता । जल्दबाज़ी । उ०—उठि कह्यो भोर भयो झँगुली दे मुदित महरि लखि आतुरताई । बिहँसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु सकुचि लगे जननी उर धाई ।—तुलसी ।

आतुरसंन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] वह संन्यास जो मरने के कुछ पहले धारण कराया जाता है ।

आतुरी*–संज्ञा स्त्री० [सं० आतुर+ई (प्रत्य०)] (१) घबराहट । व्याकुलता । (२) शीघ्रता । जल्दबाज़ी । उतावलापन । बेसब्री ।

आत्म–वि० [सं० आत्मन्] अपना । स्वकीय । निज का ।

आत्मक–वि० [सं०] [स्त्री० आत्मिका] मय । युक्त ।

विशेष—यह शब्द अलग नहीं आता, केवल यौगिक बनाने के काम में किसी शब्द के अंत में आता है । जैसे,—गद्यात्मक= गद्यमय । पद्यात्मक=पद्यमय ।

आत्मकल्याण–संज्ञा पुं० [सं०] अपना भला । अपनी भलाई ।

आत्मकाम–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० आत्मकामा] जो अपना ही मतलब साधे । मतलबी । स्वार्थी ।

आत्मगुप्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] केवाँच ।

आत्मगौरव–संज्ञा पुं० [सं०] अपनी बड़ाई या प्रतिष्ठा का ध्यान ।

आत्मघात–संज्ञा पुं० [सं०] अपने हाथों अपने को मार डालने का काम । ख़ुदकुशी ।

आत्मघातक–वि० [सं०] अपने हाथों अपने को मार डालनेवाला ।

आत्मघाती–वि० [सं० आत्मघातिन्] [स्त्री० आत्मघातिनी] जो अपने हाथों अपने को मार डाले ।

आत्मघोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपनी भाषा में अपना ही नाम पुकारनेवाला । (२) कौवा । (३) मुर्ग़ा ।

वि० अपने मुँह से अपनी बड़ाई करनेवाला ।

आत्मज–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० आत्मजा] (१) पुत्र । लड़का । (२) कामदेव । (३) रक्त । खून ।

आत्मजात–संज्ञा पुं० दे० "आत्मज" ।

आत्मजिज्ञासा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० आत्मजिज्ञासु] अपने को जानने की इच्छा ।

आत्मजिज्ञासु–वि० [सं०] अपने को जानने की इच्छा रखनेवाला।

आत्मज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] जो अपने को जान गया हो । जिसे निज स्वरूप का ज्ञान हो ।

आत्मज्ञान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निजत्व की जानकारी । जीवात्मा और परमात्मा के विषय में जानकारी । (२) ब्रह्म का साक्षात्कार ।

आत्मज्ञानी–संज्ञा पुं० [सं०] जो आत्मतत्व को जान गया हो । आत्मा और परमात्मा के संबंध में जानकारी रखनेवाला ।

आत्मतुष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] आत्मज्ञान से उत्पन्न संतोष वा आनंद ।

आत्मत्याग–संज्ञा पुं० [सं०] परोपकार बुद्धि से अपने निज के लाभ की ओर ध्यान न देना । दूसरों के हित के लिए अपना स्वार्थ छोड़ना ।

आत्मद्रोही–वि० [सं० आत्मद्रोहिन्] [स्त्री० आत्मद्रोहिणी] अपने को कष्ट पहुँचानेवाला । अपनी हानि करनेवाला ।

आत्मन्–संज्ञा पुं० निजत्व । अपनापन । अपना स्वरूप ।

विशेष—इसका प्रयोग प्रायः यौगिक शब्दों में होता है और यह 'निज का' या 'अपना' का अर्थ देता है । जैसे,—आत्मकल्याण । आत्मरक्षा । आत्महत्या । आत्मश्लाघा, इत्यादि ।

आत्मनिवेदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपने आपको वा अपना सर्वस्व अपने इष्टदेव पर चढ़ा देना । आत्मसमर्पण । (२) नवधा भक्ति में से अंतिम भक्ति ।

आत्मनिवेदनासक्ति–संज्ञा पुं० [सं०] अपने सर्वस्व और शरीर अपने इष्ट देव को सौंप देने की प्रबल इच्छा ।

आत्मनीय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्र । (२) साला । (३) विदूषक ।

आत्मनेपद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संस्कृत-व्याकरण में धातु में लगानेवाले दो प्रकार के प्रत्ययों में से एक । (२) वह क्रिया जो आत्मनेपद प्रत्यय लगने से बनी हो ।

आत्मप्रशंसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अपने मुँह अपनी बड़ाई ।

आत्मबोध–संज्ञा पुं० दे० "आत्मज्ञान" ।

आत्मंभरि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो अकेले अपने को पाले । (२) जो बिना देवता, पितर और अतिथि को अर्पण किए हुए भोजन करे । उदरंभरि ।

आत्मभू–वि० [सं०] (१) अपने शरीर से उत्पन्न । (२) आप ही आप उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० (१) पुत्र (२) कामदेव। (३) ब्रह्मा। (४) विष्णु। (५) शिव।

आत्मयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा (२) विष्णु। (३) महेश। (४) कामदेव।

आत्मरक्षक-वि० [सं०] [स्त्री० आत्मराक्षिका] अपनी रक्षा करनेवाला।

आत्मरक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] अपना बचाव। अपनी हिफ़ाज़त।

आत्मरत-वि० [सं०] [संज्ञा आत्मरति] जिसे आत्मज्ञान हुआ हो। ब्रह्मज्ञानप्राप्त।

आत्मरति-संज्ञा स्त्री० [सं०] आत्मज्ञान। ब्रह्मज्ञान।

आत्मवंचक-वि० [सं०] अपने को आप ठगनेवाला। अपनी हानि स्वयं करनेवाला। अज्ञानी।

आत्मविक्रय-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आत्मविक्रयी] अपने को आप ही बेच डालना।

विशेष—मनु के अनुसार यह कर्म एक उपपातक है।

आत्मविक्रयी-वि० [सं०] अपने को बेचनेवाला।

आत्मविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह विद्या जिससे आत्मा और परमात्मा का ज्ञान हो। ब्रह्मविद्या। अध्यात्म-विद्या। (२) मिस्मरिज़्म।

आत्मविस्मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपने को भूल जाना। अपना ध्यान न रखना। आत्मविस्मरण।

आत्मशल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] सतावरी।

आत्मश्लाघा-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आत्मश्लाघी] अपनी तारीफ़।

आत्मश्लाघी-वि० [सं०] अपनी प्रशंसा करने वाला।

आत्मसंभव-वि० [सं०] [स्त्री० आत्मसंभवा] अपने शरीर से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० पुत्र।

आत्मसंयम-संज्ञा पुं० [सं०] अपने मन को रोकना। इच्छाओं को वश में रखना।

आत्मसंवेदन-संज्ञा पुं० [सं०] अपनी आत्मा का अनुभव। आत्मबोध।

आत्मसंस्कार-संज्ञा पुं० [सं०] अपना सुधार।

आत्मसमुद्भव-वि० [सं०] [स्त्री० आत्मसमुद्भवा] (१) अपने शरीर से उत्पन्न। (२) आप ही आप उत्पन्न।

संज्ञा पुं० (१) ब्रह्मा (२) विष्णु। (३) शिव (४) कामदेव।

आत्मसमुद्भवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कन्या। (२) बुद्धि।

आत्मसाक्षी-संज्ञा पुं० [सं० आत्मसाक्षिन्] जीवों का द्रष्टा।

आत्मसिद्ध-वि० [सं०] अपने आप होनेवाला। बिना प्रयास ही होनेवाला।

आत्मसिद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] आत्मभाव की प्राप्ति। मोक्ष। मुक्ति।

आत्महत्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपने आपको मार डालना। ख़ुदकुशी। (२) अपने आपको दुःख देना।

आत्महन्-वि० [सं०] जो अपने आपको मार डाले। आत्मघाती। उ०—जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सो कृतनिंदक, मंद-मति आतमहन-गति जाइ।—तुलसी।

आत्महिंसा-संज्ञा स्त्री० दे० "आत्महत्या।"

आत्मा-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० आत्मिक, आत्मीय] (१) जीव। (२) चित्त। (३) बुद्धि। (४) अहंकार। (५) मन। (६) ब्रह्म।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग विशेष कर जीव और ब्रह्म के अर्थ में होता है। इसका यौगिक अर्थ "व्याप्त" है। जीव शरीर के प्रत्येक अंग अंग में व्याप्त है और ब्रह्म संसार के प्रत्येक अणु और अवकाश में। इसीलिये प्राचीनों ने इसका व्यवहार दोनों के लिये किया है। कहीं कहीं 'प्रकृति' को भी शास्त्रों में इस शब्द से निर्दिष्ट किया है। साधारणतः जीव, ब्रह्म और प्रकृति तीनों के लिये वा यों कहिए, अनिर्वचनीय पदार्थों के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इनमें 'जीव' के अर्थ में इसका प्रयोग मुख्य और 'ब्रह्म' और 'प्रकृति' के अर्थों में क्रमशः गौण है। दार्शनिकों के दो भेद हैं—एक आत्मवादी और दूसरे अनात्मवादी। प्रकृति से पृथक् आत्मा को पदार्थ विशेष माननेवाले आत्मवादी कहलाते हैं। आत्मा को प्रकृति विकार विशेष माननेवाले अनात्मवादी कहलाते हैं जिनके मत में प्रकृति के अतिरिक्त आत्मा कुछ है ही नहीं। अनात्मवादी आज कल योरप में बहुत हैं। आत्मा के विषय में इनकी यह धारणा है कि यह प्रकृति के भिन्न भिन्न वैकारिक अंशों के संयोग से उत्पन्न एक विशेष शक्ति है, जो प्राणियों में गर्भावस्था से उत्पन्न होती है और मरण पर्य्यंत रहती है। पीछे उन तत्वों के विश्लेषण से जिनसे यह उत्पन्न हुई थीं, नष्ट होजात है। बहुत दिन हुए भारतवर्ष में यही बात "बृहस्पति" नामक विद्वान् ने कही थी जिसके विचार चारवाक दर्शन के नाम से प्रख्यात हैं और जिसके मत को चारवाक मत कहते हैं। इनका कथन है कि 'तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्'। देह के अतिरिक्त अन्यत्र आत्मा के होने का कोई प्रमाण नहीं है, अतः चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। इस मुख्य मत के पीछे कई भेद हो गए थे और वे क्रमशः शरीर की स्थिति और ज्ञान की प्राप्ति में कारणभूत इंद्रिय प्राण, मन बुद्धि और अहंकार को आत्मा मानने लगे। कोई इसे विज्ञान मात्र अर्थात् क्षणिक मानते हैं। वैशेषिक दर्शन में आत्मा को एक द्रव्य माना है और लिखा है कि प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन, गति इंद्रिय, अंतर्विकार जैसे—भूख, प्यास, ज्वर, पीड़ादि सुख, दुःख इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, आत्मा के लिंग हैं। अर्थात् जहाँ प्राणादि लिंग वा चिह्न देख पड़े, वहाँ आत्मा रहती है। पर न्यायकार गौतम मुनि के मत

से "इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान (इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्) ही आत्मा के चिह्न हैं। सांख्यशास्त्र के अनुसार आत्मा एक अकर्त्ता साक्षी-भूत प्रसंग और प्रकृति से भिन्न एक अतींद्रिय पदार्थ है। योगशास्त्र के अनुसार यह वह अतींद्रिय पदार्थ है जिसमें क्लेश कर्मविपाक और आशय हो। ये दोनों (सांख्य और योग) आत्मा के स्थान पर पुरुष शब्द का प्रयोग करते हैं। मीमांसा के अनुसार कर्मों का कर्त्ता और फलों का भोक्ता एक स्वतंत्र अतींद्रिय पदार्थ है। पर मीमांसकों में प्रभाकर के मत से "अज्ञान" और कुमारिलभट्ट के मत से "अज्ञानोपहत चैतन्य" ही आत्मा है। वेदांत के मत से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ब्रह्म का अंश विशेष आत्मा है। बुद्धदेव के मत से एक अनिर्वचनीय पदार्थ जिसकी आदि और अंत अवस्था का ज्ञान नहीं है, आत्मा है। उत्तरीय बौद्धों के मत से यह एक शून्य पदार्थ है। जैनियों के मत से यह कर्मों का कर्त्ता, फलों का भोक्ता और अपने कर्म से मोक्ष और बंधन को प्राप्त होनेवाला एक अरूपी पदार्थ है।

मुहा०—आत्मा ठंढी होना=(१) तुष्टि होना। तृप्ति होना। संतोष होना। प्रसन्नता होना। जैसे,—उसको भी दंड मिले, तब हमारी आत्मा ठंढी हो। (२) पेट भरना। भूख मिटना। जैसे,—बाबा, कुछ खाने को मिले तो आत्मा ठंढी हो। आत्मा मसोसना-(१) भूख सहना। भूख दबाना। जैसे,—इतने दिनों तक आत्मा मसोस कर रहो। (२) किसी प्रबल इच्छा को दबाना। किसी आवेग को भीतर ही भीतर सहना।

(७) देह। शरीर। (८) सूर्य्य। (९) अग्नि। (१०) वायु। (११) स्वभाव। धर्म्म।

आत्माधीन-वि० [सं०] अपने वश में।

संज्ञा पुं० (१) पुत्र। (२) विदूषक।

आत्मानंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आत्मा का ज्ञान। (२) आत्मा में लीन होने का सुख।

आत्मानुभव-संज्ञा पुं० [सं०] अपना तजरुबा।

आत्मानुरूप-संज्ञा पुं० [सं०] जो जाति, वृत्ति और गुण आदि में अपने समान हो।

आत्माभिमान-संज्ञा पुं० [सं०] अपनी इज़्ज़त वा प्रतिष्ठा का ख़याल। मान अपमान का ध्यान।

आत्माभिमानी-संज्ञा पुं० [सं०] जिसे अपनी इज़्ज़त वा प्रतिष्ठा का बड़ा ख़याल हो। जिसे मान अपमान का ध्यान हो।

आत्माराम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आत्मज्ञान से तृप्त योगी। (२) जीव। (३) ब्रह्म। (४) तोता। सुग्गा।

आत्मावलंबी-संज्ञा पुं० [सं०] जो सब काम अपने बल पर करे। जो किसी कार्य्य के लिये दूसरे की सहायता का भरोसा न रक्खे।

आत्मिक-वि० [सं०] [स्त्री० आत्मिका] (१) आत्मासंबंधी। (२) अपना। (३) मानसिक।

आत्मीकृत-वि० [सं०] अपनाया हुआ। स्वीकृत।

आत्मीय-वि० [सं०] [स्त्री० आत्मीया] निज का। अपना।

संज्ञा पुं० स्वजन। अपना संबंधी। रिश्तेदार। इष्ट मित्र।

आत्मीयता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपनायत। स्नेहसंबंध। मैत्री।

आत्मोत्सर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] परोपकार के लिये अपने को दुःख वा विपत्ति में डालना। दूसरे की भलाई के लिये अपने हिताहित का ध्यान छोड़ना।

आत्मोद्धार-संज्ञा पुं० [सं०] अपनी आत्मा को संसार के दुःख से छुड़ाना वा ब्रह्म में मिलाना। मोक्ष।

आत्मोद्भव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्र। (२) कामदेव।

आत्मोद्भवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कन्या। (२) बुद्धि।

आत्मोन्नति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आत्मा की उन्नति। (२) अपनी तरक्क़ी।

आत्यंतिक-वि० [सं०] [स्त्री० आत्यंतिकी] जो बहुतायत से हो। जिसका ओर छोर न हो।

आत्रेय-वि० [सं० अत्रि] (१) अत्रिसंबंधी। (२) अत्रि गोत्रवाला।

संज्ञा पुं० [सं० अत्रि] (१) अत्रि के पुत्र, दत्त, दुर्वासा, चंद्रमा। (२) आत्रेयी नदी के तट का देश जो दीनाजपुर ज़िले के अंतर्गत है।

आत्रेयी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक तपस्विनी जो वेदांत में बड़ी निष्णात थी। (२) एक नदी का नाम। (३) रजस्वला स्त्री। (४) अत्रि गोत्र की स्त्री।

आथना*-क्रि० अ० [सं० अस्=होना, सं० अस्ति, प्रा० अत्थि] होना। उ०—(क) कबिरा पढ़ना दूर कर, आथि पढ़ा संसार। पीर न उपजै जीव की, क्यों पावै करतार।—कबीर। (ख) यह जग कहा जो अथहि न आथी। हम तुम नाथ दोहू जग साथी।—जायसी। (ग) काया माया संग न आथी। जेहि जिउ सँउपा सोइ साथी।—जायसी।

आथर्वण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अथर्ववेद का जाननेवाला ब्राह्मण। (२) अथर्व-वेद-विहित कर्म। (३) अथर्वा ऋषि का पुत्र। अथर्वा गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति।

आदत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) स्वभाव। प्रकृति। (२) अभ्यास। टेव। बानि।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।—लगना—लगाना।

आदम-संज्ञा पुं० [अ० आदम। मिलाओ सं० आदिम] (१) इबरानी और अरबी लेखकों के अनुसार मनुष्यों का आदि प्रजापति। उ०—आदम आदि सुद्धि नहिं पावा। मामा हौवा कहँ ते आवा।—कबीर। (२) आदम की संतान। मनुष्य। जैसे,—चलते-चलते वह एक ऐसे जंगल में पहुँचा जहाँ न कोई आदम था न आदमज़ाद।

यौ०—आदमचश्म। आदमज़ाद।

आदमचश्म-संज्ञा पुं० [अ० आदम+फ़ा० चश्म=चक्षु] वह घोड़ा जिसकी आँख की स्याही मनुष्य की आँख की स्याही के समान हो। ऐसा घोड़ा बड़ा नटखट होता है।

आदमज़ाद-संज्ञा पुं० [अ० आदम+फ़ा० जाद=पैदा] (१) आदम की संतान। (२) मनुष्य की संतान। मनुष्य।

आदमियत-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मनुष्यत्व। इंसानियत। (२) सभ्यता।

क्रि० प्र०—पकड़ना।—सीखना।

आदमी-संज्ञा पुं० [अ०] (१) आदम की संतान। मनुष्य। मानव जाति।

मुहा०—आदमी बनना=सभ्यता सीखना। अच्छा व्यवहार सीखना। शिष्टता सीखना। आदमी बनाना=शिष्ट और सभ्य करना। (२) नौकर। सेवक। उ०—ज़रा अपने आदमी से मेरी यह चिट्ठी डाकख़ाने भेजवा दीजिए।

आदर-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आदरणीय, आदृत, आदर्य] सम्मान। सत्कार। प्रतिष्ठा। इज़्ज़त। क़दर। जैसे,—(क) वे बड़े आदर के साथ हमें अपने घर ले गए। (ख) तुलसीदास के रामचरितमानस का समाज में बड़ा आदर है।

आदरणीय-वि० [सं०] आदरयोग्य। आदर करने के लायक़। सम्माननीय।

आदरना*-क्रि० स० [सं० आदर] आदर करना। मानना। उ०—जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।—तुलसी।

आदर भाव-संज्ञा पुं० [सं० आदर+भाव] सत्कार। सम्मान। क़दर। प्रतिष्ठा। जैसे,—जहाँ अपना आदर भाव नहीं, वहाँ क्यों जायँ?

आदरस*-संज्ञा पुं० दे० "आदर्श"।

आदर्य-वि० [सं०] आदर के योग्य। आदरणीय।

आदर्श-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दर्पण। शीशा। आइना। (२) वह जिससे ग्रंथ का अभिप्राय झलक जाय। टीका। व्याख्या। (३) वह जिसके रूप और गुण आदि का अनुकरण किया जाय। नमूना। जैसे,—उसका चरित्र हम लोगों के लिये आदर्श है।

यौ०—आदर्शमंडल। आदर्शमंदिर। आदर्शरूप।

आदर्शमंदिर-संज्ञा पुं० [सं०] शीश-महल।

आदहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईर्ष्या। जलन। (१) श्मशान। चिताभूमि।

आदा†-संज्ञा पुं० [सं० आर्द्रक] अदरक।

आदान प्रदान-संज्ञा पुं० [सं०] लेना देना।

आदाब-संज्ञा पुं० [अ०] (१) नियम। क़ायदे। (२) लिहाज़। आन। (३) नमस्कार। प्रणाम। सलाम। जोहार।

मुहा०—आदाब अर्ज़ करना=प्रणाम करना। आदाब बजा लाना=नियमानुसार प्रणाम करना।

आदि-वि० [सं०] प्रथम। पहला। शुरू का। आरंभ का। जैसे,—वाल्मीकि आदि कवि माने जाते हैं।

संज्ञा पुं० [सं०] आरंभ। बुनियाद। मूल कारण। जैसे,—(क) इस झगड़े का आदि यही है। (ख) हमने इस पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़ डाला।

मुहा०—आदि से अंत तक=आद्योपांत। शुरू से आख़ीर तक। संपूर्ण। समग्र। सब।

अव्य० वग़ैरह। आदिक।

आदिक-अव्य० [सं०] आदि। वग़ैरह।

आदि कवि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाल्मीकि ऋषि। (२) शुक्राचार्य।

आदिकारण-संज्ञा पुं० [सं०] पहला कारण जिससे सृष्टि के सब व्यापार उत्पन्न हुए। मूल कारण।

विशेष—सांख्यवाले प्रकृति को आदिकारण मानते हैं। नैयायिक पुरुष वा ईश्वर को आदिकारण कहते हैं।

आदित*-संज्ञा पुं० दे० "आदित्य"।

आदित्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अदिति के पुत्र। (२) देवता। (३) सूर्य। (४) इंद्र। (५) वामन। (६) वसु। (७) विश्वेदेवा। (८) बारह मात्राओं के छंदों की संज्ञा; जैसे, तोमर, लीला। (९) मदार का पौधा।

यौ०—आदित्य पुराण।

आदित्यकेतु-संज्ञा पुं० [सं० आदित्य+केतु] एक राजा जिसके वंशजों ने नौ पीढ़ी तक ३७५ वर्ष दिल्ली में राज्य किया था।

आदित्यपुष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल फूल का मदार।

आदित्यभक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] हुरहुर।

आदित्यवार-संज्ञा पुं० [सं०] एतवार। रविवार।

आदिपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर। विष्णु।

आदिम-वि० [सं०] पहले का। पहला। प्रथम।

आदिल-वि० [फ़ा०] न्यायी। न्यायवान्।

आदिविपुला-संज्ञा पुं० [सं०] छंद विशेष। वह आर्य्या जिसके प्रथम दल के प्रथम तीन गणों में पाद अपूर्ण हो।

आदिविपुलाजघनचपला-संज्ञा पुं० [सं०] छंद विशेष। वह आर्य्या जिसके प्रथम पाद के गणत्रय में पाद अपूर्ण हो, दूसरे दल में दूसरा और चौथा गण जगण हो।

आदिश्यमान्-वि० [सं०] आदेश पाया हुआ। जिसको आज्ञा दी गई हो।

आदिष्ट-वि० [सं०] आदेश पाया हुआ। जिसको आज्ञा दी गई हो। आज्ञप्त।

आदी-वि० [अ०] अभ्यस्त।

† संज्ञा स्त्री० [सं० आर्द्रक] अदरक।

आदीचक-संज्ञा पुं० [सं० आर्द्रक+सं० चक्र] एक प्रकार की अदरक जिसकी भाजी बनती है।

आदीनव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दोष (२) क्लेश।

आदृत-वि० [सं०] आदर किया गया। सम्मानित।

आदेय-वि० [सं०] लेने के योग्य।

यौ०—उपादेय। अनादेय।

आदेयकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्रानुसार वह कर्म जिससे जीव को वाक्‌सिद्धि होती है; अर्थात् वह जो कहे, वही होता है।

आदेश-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आदेशक, आदिश्यमान्, आदिष्ट] (१) आज्ञा। (२) उपदेश। (३) प्रणाम। नमस्कार। उ०—शेख बड़ो बड़ सिद्धि बखाना। किय आदेस सिद्धि बड़ माना।—जायसी। (४) ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों का फल। (५) व्याकरण में एक अक्षर के स्थान पर दूसरे अक्षर का आना। अक्षरपरिवर्त्तन।

आदेशक-वि० [सं०] (१) आज्ञा देनेवाला। (२) उपदेश देनेवाला।

आदेस*-संज्ञा पुं० दे० "आदेश"।

आद्यंत-क्रि० वि० [सं०] आदि से अंत तक। आद्योपांत। शुरू से आखीर तक।

आद्य-वि० [सं० आदि, आद्य] (१) पहला। आरंभ का।
वि० [सं० अद्=खाना, आद्य] खाने योग्य। जिसके खाने से शारीरिक वा आत्मिक बल बढ़े।

आद्यश्राद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] मृतक के लिए ग्यारहवें दिन जो सोलह श्राद्ध किए जाते हैं, उनमें से पहला।

आद्या-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुर्गा। प्रधान शक्ति। (२) दस महाविद्याओं में प्रथम देवी।

आद्योपांत-क्रि० वि० [सं०] शुरू से आख़ीर तक।

आद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं० आर्द्रा] (१) एक नक्षत्र। (२) जब सूर्य्य इस नक्षत्र का हो। इस नक्षत्र में लोग धान बोना अच्छा मानते हैं। उ०—चित्रा गेहूँ आद्रा धान। न उनके गेरुई न उनके घाम। आर्द्रा धान पुनर्वसु पइया। गा किसान जब बोवा चिरइया।

आध-वि० [हिं० आधा] किसी वस्तु के दो बराबर भागों में से एक। आधा। निस्फ़।

विशेष—यह वास्तव में आधा का अल्पार्थक रूप है और यौगिक शब्दों और प्रायः तौल और नाप के सूचक शब्दों के साथ व्यवहृत होता है। जैसे, आध सेर, आध पाव, आध छटाँक, आध गज़।

यौ०—एक आध=कुछ थोड़े से। चंद। जैसे—एक आध आदमियों के विरोध करने से क्या होता है?

आधा-वि० [सं० अर्द्ध, पा० अड्ढो, प्रा० अद्ध] [स्त्री० आधी] किसी वस्तु के दो बराबर हिस्सों में से एक।

यौ०—आधा साँझा। आधा सीसी।

मुहा०—आधो आध=दो बराबर भागों में। जैसे,—इन केलों को आधो आध बाँट लो। [यह क्रि० वि० की तरह आता है; जैसे बीचो बीच] आधा तीतर आधा बटेर=कुछ एक तरह का और कुछ दूसरी तरह का। बेजोड़। बेमेल। अंडबंड। क्रमविहीन। आधा होना=दुबला होना। जैसे—वह सोच के मारे आधा हो गया। आधे आध=दो बराबर हिस्सों में बँटा हुआ। उ०—लागे जब संग युग सेर भोग धन्यो रंग आधे आध पाव चले नूपुर बजाइ के।—प्रिया। आधी बात=ज़रा सी भी अपमानसूचक बात। जैसे—हमने किसी की आधी बात भी नहीं सुनी। आधे पेट खाना=भर पेट न खाना। पूरा भोजन न करना। आधे पेट रहना=तृप्त होकर न खाना। आधी बात कहना वा मुँह से निकालना=ज़रा सी भी अपमानसूचक बात कहना जैसे—मेरे रहते तुम्हें कोई आधी बात नहीं कह सकता। आधी बात न पूछना=कुछ ध्यान न देना। क़दर न करना। जैसे—अब वे जहाँ जाते हैं, कोई आधी बात भी नहीं पूछता।

आधाझारा-संज्ञा पुं० [सं० आघाट] अपामार्ग। ओंगा। चिचड़ा। चिचड़ी।

आधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थापन। रखना।

यौ०—अग्न्याधान। गर्भाधान।

(२) गर्भ।

आधानवती-वि० स्त्री० [सं०] गर्भवती।

आधार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आश्रय। सहारा। अवलंब। जैसे—(क) यह छत चार खंभों के आधार पर है। (ख) वह चार दिन फलों ही के आधार पर रह गया। (२) व्याकरण में अधिकरण कारक। (३) थाला। आलवाल। (४) पात्र। (५) नींव। बुनियाद। मूल। (६) योगशास्त्र में एक चक्र का नाम। इसे मूलाधार भी कहते हैं। इसमें चार दल हैं। रंग लाल है। स्थान इसका गुदा है और गणेश इसके देवता हैं। (७) आश्रय देनेवाला। पालन करनेवाला। जैसे—इस दशा में वे ही हमारे आधार हो रहे हैं।

यौ०—आधाराधेय=आधार और आधेय का संबंध; जैसे—पात्र और उसमें रक्खे हुए घी वा टेबुल और उस पर रक्खी हुई किताब का संबंध। प्राणाधार=जिसके आधार पर प्राण हों। परम प्रिय।

मुहा०—आधार होना=कुछ पेट भर जाना। कुछ भूख मिट जाना। जैसे—इतनी मिठाई से क्या होता है; पर कुछ आधार हो जायगा।

आधारी-वि० [सं० आधारिन्] [स्त्री० आधारिणी] (१) सहारा रखनेवाला। सहारे पर रहनेवाला। जैसे, दुग्धाधारी। (२) साधुओं की टेवकी वा अड्डे के आकार की एक लकड़ी जिसका

सहारा लेकर वे बैठते हैं। उ०—मुद्रा श्रवण नहीं थिर जीऊ। तन त्रिसूल आधारी पीऊ।—जायसी।

आधासीसी-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्द्ध+शीर्ष] अधकपाली। आधे सिर की पीड़ा।

आधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मानसिक व्यथा। चिंता। फ़िक्र। शोच। (२) गिरों। रेहन। बंधक।

आधिक*-वि० [हिं० आधा+एक] आधा। आधे के लगभग उ०—(क) आधिक दूरि लौं जाय चितै पुनि आय गरें लपटाय कै रोई।—मुबारक। (ख) आधिक रात उठे रघुबीर कह्यो सुनु बीर प्रजा सब सोई।—हनुमान।

क्रि० वि० आधे के समीप। आधे के लगभग। थोड़ा। उ०—लखि लखि अँखियन अधखुलिन, अंग मोरि अँगराय। आधिक उठि लेटति लटकि, आलस भरी जँभाय।—बिहारी।

आधिक्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुतायत। अधिकता। ज़्यादती।

आधिदैविक-वि० [सं०] देवताओं द्वारा प्रेरित। यक्ष, देवता, भूत, प्रेत आदि द्वारा होनेवाला। देवताकृत।

विशेष—सुश्रुत में जो सात प्रकार के दुःख गिनाए हैं, उनमें से तीन अर्थात् कालबलकृत (बर्फ़ इत्यादि पड़ना, वर्षा अधिक होना इत्यादि), देवबलकृत (बिजली पड़ना, पिशाचादि लगना), स्वभावबलकृत (भूख प्यास का लगना) आधिदैविक कहलाते हैं।

आधिपत्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्रभुत्व। स्वामित्व। अधिकार।

आधिभौतिक-वि० [सं०] व्याघ्र सर्पादि जीवों कृत। जीव वा शरीरधारियों द्वारा प्राप्त।

विशेष—सुश्रुत में रक्त और शुक्र दोष तथा मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न व्याधियों को आधिभौतिक के अंतर्गत ही माना है।

आधिवेदनिक (धन)-संज्ञा पुं० [सं०] वह धन जो पुरुष दूसरा विवाह करने के पूर्व अपनी पहली स्त्री को उसके संतोष के लिये दे। यह स्त्री-धन समझा जाता है।

आधीन*-वि० दे० "अधीन"।

आधीनता*-संज्ञा स्त्री० दे० "अधीनता"।

आधी रात-संज्ञा स्त्री० [सं० अर्धरात्रि] वह समय जब रात का आधा भाग बीत चुका हो।

आधुनिक-वि० [सं०] वर्त्तमान समय का। हाल का। आज कल का। वर्त्तमान काल का। सांप्रतिक। नवीन।

आधूत-वि० [सं०] (१) कंपित। काँपता हुआ (२) पागल। (३) व्याकुल।

आधेक*-वि० क्रि० वि० दे० 'आधिक।'

आधेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधार पर स्थित वस्तु। जो वस्तु किसी के आधार पर रहे। किसी सहारे पर टिकी हुई चीज़। (२) स्थापनीय। ठहराने योग्य। रखने योग्य। गिरों रखने योग्य।

आधोरण-संज्ञा पुं० [सं०] हाथीवान। महावत। पीलवान।

आध्मान-संज्ञा पुं० [सं०] एक वात व्याधि। पेट का फूलना। अफरा।

आध्यात्मिक-वि० [सं०] आत्म संबंधी। मनसंबंधी।

यौ०—आध्यात्मिक ताप=वह दुःख जो मन, आत्मा और देह इत्यादि को पीड़ा दे; जैसे—शोक, मोह, ज्वर आदि।

आनंद-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आनंदित, आनंदी] हर्ष। प्रसन्नता। खुशी। सुख। मोद। आह्लाद।

क्रि० प्र०—आना।—करना।—देना।—पाना।—भोगना।—मनाना।—मिलना।—रहना।—लेना। जैसे,—(क) कल हमको सैर में बड़ा आनंद आया। (ख) यहाँ हवा में बैठे खूब आनंद ले रहे हो। (ग) मूर्खों की संगत में कुछ भी आनंद नहीं मिलता।

यौ०—आनंदमंगल।

मुहा०—आनंद के तार वा ढोल बजाना=आनंद के गीत गाना। उत्सव मानना।

वि० सानंद। आनंदमय। प्रसन्न। जैसे,—आनंद रहो।

विशेष—यह विशेषणवत् प्रयोग ऐसे ही दो एक नियत वाक्यों में होता है। पर ऐसे स्थानों में भी यदि आनंद को विशेषण न मानना चाहें, तो उसके आगे 'से' लुप्त मान सकते हैं।

आनंदबधाई-संज्ञा स्त्री० [सं० आनन्द+हिं० बधाई] (१) मंगल उत्सव। (२) मंगल अवसर।

आनंदबन-संज्ञा पुं० [सं०] काशी। वाराणसी। अविमुक्तक्षेत्र। बनारस। सप्तपुरियों में चौथी।

आनंदभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक रस का नाम जो प्रायः ज्वरादि की चिकित्सा में काम आता है। इसके बनाने की यह रीति है—शुद्ध पारा और शुद्ध गंधक की कजली, शुद्ध सिंगी मुहरा, सिंगरफ, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, भूना सुहागा, इन सबका चूर्ण कर भँगरैया के रस में तीन दिन खरल कर आध आध रत्ती की गोलियाँ बनावे। एक गोली नित्य दस दिन पर्य्यंत खिलाने से खाँसी, क्षय, संग्रहणी, सन्निपात और मृगी के सब रोग विनष्ट हो जाते हैं।

आनंदभैरवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भैरव राग की रागिनी जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं। इसके गाने का समय प्रातः-काल १ दंड से ५ दंड तक है।

आनंदमत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रौढ़ा नायिका का एक भेद। आनंद से उन्मत्त प्रौढ़ा। आनंदसम्मोहिता। दे० "आनंद-सम्मोहिता।"

आनंदसम्मोहिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नायिका जो रति के आनंद में अत्यंत निमग्न होने के कारण मुग्ध हो रही हो। यह प्रौढ़ा नायिका का एक भेद है।

आनंदित-वि० [सं०] हर्षित। मुदित। प्रमुदित। सुखी।

आनंदी-वि० [सं०] हर्षित । प्रसन्न । सुखी । खुश ।

आन-संज्ञा स्त्री० [सं० आणि=मर्यादा, सीमा] (१) मर्य्यादा । (२) शपथ । सौगंद । क़सम । (३) विजय-घोषणा । दुहाई ।

क्रि० प्र०—फिरना । उ०—बार बार यों कहत सकत नहिं ते हति लैहैं प्रान । मेरे जान जनकपुर फिरिहैं रामचंद्र की आन ।—सूर ।

(४) ढंग । तर्ज़ । अदा । छवि । जैसे,—उस मौक़े पर बड़ौदानरेश का इस सादगी से निकल जाना एक नई आन थी । (५) क्षण । अल्पकाल । लमहा । जैसे,—एक ही आन में कुछ का कुछ हो गया है ।

मुहा०—आन की आन में=शीघ्र ही । अत्यल्प काल में । जैसे,—आन की आन में सिपाहियों ने शहर घेर लिया ।

(६) अकड़ । ऐंठ । दिखाव । ठसक । जैसे,—आज तो उनकी और ही आन थी । (७) अदब । लिहाज़ । दबाव । लज्जा । शर्म । हया । शंका । डर । भय । जैसे,—कुछ बड़ों की आन तो माना करो ।

क्रि० प्र०—मानना ।

(२) प्रतिज्ञा । प्रण । हठ । टेक । जैसे,—वह अपनी आन न छोड़ेगा ।

मुहा०—आन तोड़ना=प्रतिज्ञा भंग करना । अड़ छोड़ देना । आन रखना=मान रखना । हठ रखना ।

* वि० [सं० अन्य] दूसरा । और ।

आनक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) डंका । भेरी । दुंदुभी । ढक्का । बड़ा ढोल । मृदंग । नगाड़ा । (२) गरजता हुआ बादल ।

यौ०—आनकदुंदुभी ।

आनकदुंदुभी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा नगाड़ा । (२) कृष्ण के पिता वसुदेव ।

विशेष—ऐसा प्रसिद्ध है कि जब वसुदेवजी उत्पन्न हुए थे, तब देवताओं ने नगाड़े बजाए थे ।

आनत-वि० [सं०] (१) अत्यंत झुका हुआ । अति नम्र । (२) कल्पभव के अंतर्गत वैमानि नामक जैन देवताओं में से एक देवता ।

आन तान-संज्ञा स्त्री० [सं० अन्य+हिं० तान=गीत] अंड बंड बात । ऊटपटाँग बात । बे-सिर पैर की बात ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० आन+तान=खिंचाव] (१) मर्य्यादा । ठसक । (२) टेक । अड़ ।

आनद्ध-वि० [सं०] (१) बँधा हुआ । कसा हुआ । (२) मढ़ा हुआ ।

संज्ञा पुं० (१) वह बाजा जो चमड़े से मढ़ा हो; जैसे—ढोल मृदंग आदि ।

आनन-संज्ञा पुं० [सं०] मुख । मुँह । उ०—आननरहित सकल रस भोगी ।—तुलसी । (२) चेहरा । उ०—आनन है अरविंद न फूलो अलीगन भूले कहाँ मँडरात हैं ।—सूर ।

यौ०—चंद्रानन । गजानन । चतुरानन । पंचानन । षड़ानन ।

आनन फ़ानन-क्रि० वि० [अ०] अति शीघ्र । फ़ौरन । झटपट । बहुत जल्द ।

आनना*-क्रि० स० [सं० आनयन] लाना । उ०—आनहु रामहिं बेगि बुलाई । भूप कुसल पुनि पूछेहु आई ।—तुलसी ।

आन बान-संज्ञा स्त्री० [हिं० आन+बान] (१) सजधज । ठाट बाट । तड़क भड़क । बनावट । (२) ठसक ।

आनयन*-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाना । (२) उपनयन संस्कार ।

आनर-संज्ञा पुं० [अं०] सम्मान । प्रतिष्ठा । सत्कार । इज़्ज़त ।

आनरेबुल-वि० [अं०] प्रतिष्ठित । माननीय ।

विशेष—जो लोग गवर्नर जनरल, गवर्नर, बड़े लाट, वा छोटे लाट की कौंसिल के सभासद होते हैं, उन्हें तथा हाईकोर्ट के जजों और कुछ चुने अधिकारियों को यह पदवी मिलती है ।

आनरेरी-वि० [अं०] (१) अवैतनिक । कुछ । वेतन न लेकर केवल प्रतिष्ठा के हेतु काम करनेवाला ।

यौ०—आनरेरी मजिस्ट्रेट । आनरेरी सेक्रेटरी ।

(२) बिना वेतन लेकर किया जानेवाला । जैसे,—यह काम हमारा आनरेरी है ।

आनर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आनर्त्तक] (१) देश विशेष । द्वारका । (२) आनर्त्त देश का निवासी । राजा शर्य्याति के तीन पुत्रों में से एक । (५) नृत्यशाला । नाचघर । (५) युद्ध । (६) जल ।

आनर्त्तक-वि० [सं०] नाचनेवाला ।

आना-संज्ञा पुं० [सं० आणक] (१) रुपये का सोलहवाँ हिस्सा । (२) किसी वस्तु का सोलहवाँ अंश । जैसे—, (क) प्लेग के कारण शहर में अब चार आने लोग रह गए हैं । (ख) इस गाँव में चार आना उनका है ।

क्रि० अ० [सं० आगमन, पुं० हिं० आगवन, आवना; जैसे द्विगुण से दूना । अथवा सं० आयण, हिं० आवना] वक्ता के स्थान की ओर चलना वा उस पर प्राप्त होना । जिस स्थान पर कहनेवाला है, था, वा रहेगा उसकी ओर बराबर बढ़ना वा वहाँ पहुँचना । जैसे,—(क) वे कानपुर से हमारे पास आ रहे हैं । (ख) जब हम बनारस में थे, तब आप हमारे पास आए थे । (ग) हमारे साथ साथ तुम भी आओ । (२) जाकर वापस आना । जाकर लौटना । जैसे,—तुम यहीं खड़े रहो, मैं अभी आता हूँ । (३) प्रारंभ होना । जैसे,—बरसात आते ही मेंढक बोलने लगते हैं । (४) फलना । फूलना । जैसे,—(क) इस साल आम खूब आए हैं । (ख) पानी देने से इस पेड़ में अच्छे फूल आवेंगे । (५) किसी भाव का उत्पन्न होना । जैसे—आनंद आना, क्रोध आना, दया आना, करुणा आना, लज्जा आना, शर्म आना ।

विशेष—इस अर्थ में "में" के स्थान पर "को" लगता है। जैसे,—उनको यह बात सुनते ही बड़ा क्रोध आया।

(६) आँच पर चढ़े हुए किसी भोज्य पदार्थ का पकना वा सिद्ध होना। जैसे,—(क) चावल आ गए, अब उतार लो। (ख) देखो, चाशनी आ गई या नहीं। (७) स्खलित होना। जैसे,—जो यह दवा खाता है, वह बड़ी देर से आता है।

मुहा०—आई=(१) आई हुई मृत्यु। जैसे,—**आई कहीं टलती है**। (२) आई हुई विपत्ति।

आए दिन=प्रति दिन। रोज रोज। जैसे,—**यह आए दिन का झगड़ा अच्छा नहीं।**

आए गए होना=खो जाना। नष्ट हो जाना। फ़जूल ख़र्च होना। जैसे,—**वे रुपए तो आए गए हो गए।**

आओ वा आइए=जिस काम को हम करने जाते हैं, उस में योग दो। जैसे,—(क) **आओ, चलें घूम आवें।** (ख) **आइए, देखें तो इस किताब में क्या लिखा है।**

आ जाना=पड़ जाना। स्थित होना। जैसे,—**उनका पैर पहिये के नीचे आ गया।**

आता जाता=संज्ञा पुं० [हिं० आना+जाना] आने जाने-वाला। पथिक। बटोही। जैसे,—**किसी आते जाते के हाथ हमारा रुपया भेज देना।**

आना जाना=(१) आवागमन। जैसे,—**उनका बराबर आना जाना लगा रहता है।** (२) सहवास करना। संभोग करना। जैसे,—**कोई आता जाता न होता, तो यह लड़का कहाँ से होता?**

आ धमकना=एक बारगी आ पहुँचना। अचानक आ पहुँचना। जैसे,—**बागी इधर उधर भागने की फ़िक्र कर ही रहे थे कि सरकारी फ़ौज आ धमकी।**

आ निकलना=एकाएक पहुँच जाना। अनायास आ जाना। जैसे,—(क) **कभी कभी जब वे आ निकलते हैं, तब मुलाक़ात हो जाती है।** (ख) **मालूम नहीं, हम लोग कहाँ आ निकले।**

आ पड़ना=(१) सहसा गिरना। एकबारगी गिरना। जैसे,—**धरन एक दम नीचे आ पड़ी।** (२) आक्रमण करना। जैसे,—**उस पर एक साथ ही बीस आदमी आ पड़े।** (३) (अनिष्ट घटना का) घटित होना। जैसे,—**बेचारे पर बैठे बिठाए यह आफ़त आ पड़ी।** (४) संकट, कठिनाई वा दुःख का उपस्थित होना। जैसे,—(क) **तुम पर क्या आ पड़ी है जो उनके पीछे दौड़ते फिरो।** (ख) **जब आ पड़ती है, तब कुछ नहीं सूझता।** (५) उपस्थित होना। एक बारगी आना। जैसे,—(क) **जब काम आ पड़ता है, तब वह खिसक जाता है।** (ख) **उन पर गृहस्थी का सारा बोझ आ पड़ा।** (ग) **कल हमारे यहाँ दस मेहमान आ पड़े।** (६) डेरा जमाना। टिकना। विश्राम करना। जैसे,—**क्यों इधर उधर भटकते हो, चार दिन यहीं आ पड़ो।**

आया गया=अतिथि। अभ्यागत। जैसे,—**आए गए का अच्छी तरह सत्कार करना चाहिए।**

आ रहना=गिर पड़ना। जैसे,—(क) **पानी बरसते ही दीवार आ रही।** (ख) **वह चबूतरे पर से नीचे आ रहा।**

आ लगना=(१) किसी ठिकाने पर पहुँचना। जैसे,—(क) **बात की बात में किश्ती किनारे पर आ लगी।** (ख) **रेलगाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आ लगी।** (**इस क्रियापद का प्रयोग जड़ पदार्थों के लिये होता है, चेतन के लिये नहीं।**) (२) आरंभ होना। जैसे,—**अगहन का महीना आ लगा है।** (३) पीछे लगना। साथ होना। जैसे,—**बाज़ार में जाते ही दलाल आ लगते हैं।**

आ लेना=(१) पास पहुँच जाना। पकड़ लेना। जैसे,—**डाकू भागे, पर सवारों ने आ लिया।** (क) आक्रमण करना। टूट पड़ना। जैसे,—**हिरन चुपचाप पानी पी रहा था कि बाघ ने आ लिया।**

किसी का किसी पर कुछ रुपया आना=किसी के जिम्मे किसी का कुछ रुपया निकलना। जैसे,—**क्या तुम पर उनका कुछ आता है? हाँ, बीस रुपए।**

किसी की आ बनना=किसी को लाभ उठाने का अच्छा अवसर हाथ आना। स्वार्थसाधन का मौक़ा मिलना। जैसे,—**कोई देखनेभालनेवाला है नहीं, नौकरों की ख़ूब आ बनी है।**

किसी को कुछ आना=किसी को कुछ बोध होना। किसी को कुछ ज्ञान होना। जैसे,—(क) **उसे तो बोलना भी नहीं आता।** (ख) **तुम्हें चार महीने में हिंदी आ जायगी।**

किसी को कुछ आना जाना=किसी को कुछ बोध वा ज्ञान होना। जैसे,—**उनको कुछ आता जाता नहीं।**

किसी पर आ बनना=किसी पर विपत्ति पड़ना। जैसे,—(क) **आज कल तो हम पर चारों ओर से आ बनी है।** (ख) **आन बनी सिर आपने छोड़ पराई आस।** (ग) **मेरी जान पर आ बनी है।**

(किसी वस्तु) में आना=(१) ऊपर से ठीक बैठना। ऊपर से जमकर बैठना। चपकना। ढीला या तंग न होना। जैसे,—(क) **देखो तो तुम्हारे पैर में यह जूता आता है।** (ख) **यह सामी इस छड़ी में नहीं आवेगी।** (२) भीतर अटना। समाना। जैसे,—(क) **इस बरतन में दस सेर घी आता है।** (३) अंतर्गत होना। अंतर्भूत होना। जैसे,—**ये सब विषय विज्ञान ही में आ गए।**

किसी वस्तु से (धन वा आय) आना=किसी वस्तु से आमदनी होना। जैसे,— (क) **इस गाँव से तुम्हें कितना रुपया आता है?** (ख) **इस घर का कितना किराया आता है? (जहाँ पर आय के किसी विशेष भेद का प्रयोग होता है,**

जैसे,—भाड़ा, किराया, लगान, मालगुज़ारी आदि वहाँ चाहे 'का' का व्यवहार करें चाहे 'से' का। जैसे—(क) इस घर का कितना किराया आता है? (ख) इस घर से कितना किराया आता है? पर जहाँ 'रुपया,' वा 'धन' आदि शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ केवल 'से' आता है।)

कोई काम करने पर आना=कोई काम करने के लिये उद्यत होना। कोई काम करने के लिये उतारू होना। जैसे—जब वह पढ़ने पर आता है, तब रात दिन कुछ नहीं समझता।

जूतों वा लात घूँसों आदि से आना=जूतों वा लात घूँसों से आक्रमण करना। जूते वा लात घूँसे लगाना। जैसे,—अब तक तो मैं चुप रहा, अब जूतों से आऊँगा।

(पौधे का) आना=(पौधे का) बढ़ना। जैसे,—खेत में गेहूँ कमर बराबर आई है।

(मूल्य) को वा में आना=दामों मे मिलना। मूल्य पर मिलना। मोल मिलना। जैसे—(क) यह किताब कितने को आती है? (ख) यह किताब कितने में आती है? (ग) यह किताब चार रुपए को आती है। (घ) यह किताब चार रुपए में आती है। (इस मुहाविरे में तृतीया के स्थान पर "को" वा "में" का प्रयोग होता है।)

विशेष—'आना' क्रिया के अपूर्णभूत रूप के साथ अधिकरण में भी 'को' विभक्ति लगती है; जैसे—"वह घर को आ रहा था।" इस क्रिया को आगे पीछे लगाकर संयुक्त क्रियाएँ भी बनती हैं। नियमानुसार प्रायः संयुक्त क्रियाओं में अर्थ के विचार से पूर्व पद प्रधान रहता है और गौण क्रिया के अर्थ की हानि हो जाती है; जैसे, दे डालना, गिर पड़ना आदि। पर 'आना' और 'जाना' क्रियाएँ पीछे लगकर अपना अर्थ बनाए रखती हैं; जैसे,—'इस चीज़ को उन्हें देते आओ'। इस उदाहरण में देकर फिर आने का भाव बना हुआ है। यहाँ तक कि जहाँ दोनों क्रियाएँ गत्यर्थक होती हैं, वहाँ 'आना' का व्यापार प्रधान दिखाई देता है; जैसे,—चले आओ। बढ़े आओ। कहीं कहीं 'आना' का संयोग किसी और क्रिया का चिर काल से निरंतर संपादन सूचित करने के लिये होता है; जैसे—(क) इस कार्य्य को हम महीनों से करते आ रहे हैं। (ख) हम आज तक बराबर आपके कहे अनुसार काम करते आए हैं। गतिसूचक क्रियाओं में "आना" क्रिया धातु रूप में पहले लगती है और दूसरी क्रिया के अर्थ में विशेषता करती है; जैसे—आ खसना, आ गिरना, आ घेरना, आ झपटना, आ टूटना, आ ठहरना, आ धमकना, आ निकलना, आ पड़ना, आ पहुँचना, आ फँसना, आ रहना। पर 'आ जाना' में "जाना" क्रिया का अर्थ कुछ भी नहीं है। इससे संदेह होता है कि कदाचित् यह 'आ' उपसर्ग न हो; जैसे, आयान, आगमन, आनयन, आपतन।

आनाकानी—संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ आनाकर्णन] (१) सुनी अनसुनी करने का कार्य्य। न ध्यान देने का कार्य्य। (२) टालमटूल। हीला हवाला। जैसे,—माल तो ले आए, अब रुपया देने में आनाकानी क्यों करते हो?

क्रि॰ प्र॰—करना।—देना।

(३) कानाफूसी। धीमी बात चीत। इशारों की बात। उ॰—आनाकानी कठहँसी मुहाचाही होन लगी देखि दसा कहत बिदेह बिलखाय कै। घरनि सिधारिए सुधारिए आगिले काज, पूजि पूजि धनु कीजै बिजय बजाय कै।—तुलसी।

अनाह—संज्ञा पु॰ [सं॰] एक उदर व्याधि। मलावरोध से पेट का फूलना। मलमूत्र रुकने से पेट फूलना।

आनि*—संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "आन"।

आनिला—संज्ञा पु॰ [अ॰] जहाज़ के लंगर की कुंडी।

आनीजानी—वि॰ [हिं॰ आना+जाना] अस्थिर। क्षणभंगुर। उ॰—दुनिया भी अजब सराय फ़ानी देखी। हर चीज यहाँ की आनी जानी देखी। जो आके न जाए वह बुढ़ापा देखा। जो जाके न आए वह जवानी देखी।—अनीस।

आनुपूर्वी—वि॰ [सं॰ आनुपूर्वीय] क्रमानुसार। एक के बाद दूसरा।

आनुमानिक—वि॰ [सं॰] अनुमानसंबंधी। ख़याली।

आनुश्राविक—वि॰ [सं॰] जिसको परंपरा से सुनते चले आए हों।

संज्ञा पु॰ दो प्रकार के विषयों में से एक, जिसे परंपरा से सुनते आए हों। जैसे—स्वर्ग, अप्सरा।

आनुषंगिक—वि॰ [सं॰] जिसका साधन किसी दूसरे प्रधान कार्य्य को करते समय बहुत थोड़े प्रयास में हो जाय। बड़े काम के घलुए में हो जानेवाला। जिसकी बहुत कुछ पूर्त्ति किसी दूसरे कार्य्य के संपादन द्वारा हो जाय और शेष अंश के संपादन में बहुत ही थोड़े प्रयास की आवश्यकता रहे। साथ साथ होनेवाला। गौण। अप्रधान। प्रासंगिक। जैसे,—(क) भिक्षा माँगने जाओ, उधर से आते समय गाय भी हाँकते लाना। (ख) चलो सखी तहँ जाइये जहाँ बसत ब्रजराज। गोरस बेचत हरि मिलत एक पंथ द्वै काज।

आन्वष्टक्य—वि॰ [सं॰] हेमंत और शिशिर के चारों महीनों, अगहन, पूस, माघ और फागुन में कृष्ण पक्ष की नवमी तिथि को होनेवाला (श्राद्ध)।

आन्वीक्षिकी—संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) आत्मविद्या। (२) तर्कविद्या। न्याय।

आप—सर्व॰ [सं॰ आत्मन्, प्रा॰ अत्तणो, अप्पणो पुं॰ हिं॰ आपनो] (१) स्वयं। ख़ुद।

विशेष—इसका प्रयोग तीनों पुरुषों के लिये होता है। जैसे, उत्तमपुरुष—मैं आप जाता हूँ, तुम्हारे जाने की आवश्यकता

नहीं। मध्यम पुरुष—तुम आप अपना काम क्यों नहीं करते, दूसरों का मुँह क्यों ताका करते हो। अन्य पुरुष—तुम मत हाथ लगाओ, वह आप अपना काम कर लेगा।
(२) "तुम" और "वे" के स्थान में आदरार्थक प्रयोग। जैसे,—(क) कहिए बहुत दिनों पर आप आए हैं; इतने दिन कहाँ थे ? (ख) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पुराने ढंग के पंडित थे। आपने समाज संशोधन के लिए बहुत कुछ उद्योग किया। (ग) आप बड़ी देर से खड़े हैं; ले जाकर बैठाते क्यों नहीं। (२) ईश्वर। भगवान। उ०—(क) जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप। जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ क्षमा तहँ आप।—कबीर। (ख) जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप।—कबीर। (ग) अस्तुत करी बहुत ध्रुव सब विधि सुनि प्रसन्न भे आप। दिये राज भूमि मंडल को सब विधि थिर करि थाप।—सूर।

यौ०—आपकाज=अपना काम। जैसे,—आपकाज महा काज। आपकाजी=स्वार्थी। मतलबी। आपबीती=घटना जो अपने ऊपर बीत चुकी हो। आपरूप=स्वयं। आप। साक्षात् आप। आपस्वार्थी=मतलबी।

मुहा०—आप आप करना=खुशामद करना। जैसे,—हमारा तो आप आप करते मुँह सूखता है और आप का मिज़ाज ही नहीं मिलता। आप आप की पड़ना=अपने अपने काम में फँसना। अपनी अपनी अवस्था का ध्यान रहना। जैसे,—दिल्ली दरबार के समय सब को आप आप की पड़ी थी, कोई किसी की सुनता नहीं था। आप आप को=अलग अलग। न्यारा न्यारा। उ०—(क) दो पुरुष आप आप को ठाढ़े। जब मिलैं जब नित कै गाढ़े।—पहेली (केवाड़)। (ख) शेर के निकलते ही सब आप आप को भाग गए। आप आप में=आपस में। परस्पर। जैसे,—यह मिठाई लड़कों को दे दो, वे आप आप में बाँट लेंगे। आपको भूलना=(१) अपनी अवस्था का ध्यान न रखना। किसी मनोवेग के कारण बेसुध होना। जैसे,—(क) बाज़ारू रंडियों के हाव भाव में पड़कर लोग आपको भूल जाते हैं। (ख) जब मनुष्य को क्रोध आता है तब वह आपको भूल जाता है। (२) मदांध होना। घमंड में चूर होना। जैसे,—थोड़ा सा धन मिलते ही लोग आपको भूल जाते हैं। आप से=स्वयं। खुद। उ०—(क) खेलत ही सतरंज आलिन में आपही ते, तहाँ हरि आये कीधौं काहू के बुलाये से।—केशव। (ख) उसने आपसे ऐसा किया; कोई उससे कहने नहीं गया था। आपसे आप=स्वयं। खुद ब खुद। जैसे,—(क) आप चलकर बैठिए; मैं सब काम आपसे आप कर लूँगा। (ख) घबराओ मत, सब काम आपसे आप हो जायगा। आप ही=स्वयं। आप से आप। उ०—(क) जागहिं दयादृष्टि कै आपी। खोल सो नयन दीन बिधि झाँपी।—जायसी। (ख) हम सब आप ही आप कर लेंगे। आप ही आप=(१) बिना किसी और की प्रेरणा के। आपसे आप। जैसे,—उसने आप ही आप यह सब किया है, कोई, कहने नहीं गया था। (२) मन ही मन में। जैसे,—वह आप ही आप कुछ कहता जा रहा था। (३) किसी को संबोधन करके नहीं। (नाटक में उस 'वाक्य' को सूचित करने का संकेत जिसे अभिनयकर्ता किसी पात्र को संबोधन करके नहीं कहता, वरन इस प्रकार मुँह फेरकर कहता है, मानो अपने मन में कह रहा है। पात्रों पर उसके कहने का कोई प्रभाव नहीं दिखाया जाता। इसे 'स्वगत' भी कहते हैं।)

संज्ञा पुं० [सं० आपः=जल] जल। पानी। उ०—पिंगल जटा कलाप माथे तो पुनीत आप पावक नैना प्रताप भू पर बरत है।—तुलसी।

यौ०—आपधर=बादल। उ०—कर लिए चाप परताप धर। तीन लोक में थाप धर। नृप गरज्यो जैसे आपधर। साँप धरन सम दापधर।—गोपाल। आपनिधि=समुद्र। उ०—आपहि ते आप गाज्यो आपनिधि प्रीति में।—केशव।

आपगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नदी।

आपण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाट। बाज़ार। (२) किराया या महसूल जो बाज़ार से मिले। तह-बज़ारी।

आपत*-संज्ञा स्त्री० दे० "आपद्"।

आपत्काल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विपत्ति। दुर्दिन। (२) दुष्काल। कुसमय।

आपत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुःख। क्लेश। विघ्न। (२) विपत्ति। संकट। आफ़त। (३) कष्ट का समय। (४) जीविका-कष्ट। (५) दोषारोपण। (६) उज्र। एतराज़। जैसे,—हमको आपकी बात मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

आपद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विपत्ति। आपत्ति। (२) दुःख। कष्ट। विघ्न।

यौ०—आपद्ग्रस्त। आपद्धर्म।

आपद-संज्ञा स्त्री० दे० "आपद्"।

आपदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुःख। क्लेश। विघ्न। (२) विपत्ति। आफ़त। संकट। (३) कष्ट का समय। (४) जीविका का कष्ट।

आपद्धर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह धर्म जिसका विधान केवल आपत्काल के लिये हो। जीविका के संकोच की दशा में जीवनरक्षा के लिये शास्त्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के लिये बहुत से ऐसे व्यापारों से निर्वाह करने का विधान है, जिनका करना उनके लिये सुकाल में वर्जित है; जैसे ब्राह्मण के लिये

शस्त्रधारण, खेती और वाणिज्य आदि का करना मना है, पर आपत्काल में इन व्यापारों द्वारा उनके लिये जीविका-निर्वाह करने का विधान है।

आपधाप–संज्ञा स्त्री० [हिं० आप+धाप] अपनी अपनी चिंता। अपने अपने काम का ध्यान। दे० "आपाधापी"।

आपन*†–सर्व० दे० "अपना"।

आपनपो*–संज्ञा पुं० दे० "अपनपो"।

आपनपौ*–संज्ञा पुं० दे० "अपनपो"।

आपना*†–सर्व० दे० "अपना"।

आपनिक–संज्ञा पुं० [सं० आपर्णिक। पर्ण=पता] बहुमूल्य हरा पत्थर। पन्ना।

आपनो*†–सर्व० दे० "अपना"।

आपन्न*–वि० [सं०] (१) आपद्ग्रस्त। दुःखी। (२) प्राप्त।

यौ०—संकटापन्न।

आपया*–संज्ञा स्त्री० [सं० आपगा] नदी।

आपरूप–वि० [हिं० आप+सं० रूप] अपने रूप से युक्त। मूर्त्तिमान्। साक्षात् (महापुरुषों के लिये)। जैसे—इतने ही में आपरूप भगवान् प्रकट हुए।

सर्व० (१) साक्षात् आप। आप महापुरुष। ये महापुरुष। खुद बदौलत। हज़रत। (व्यंग्य) जैसे—(क) यह सब आपरूप ही की करतूत है। (ख) यह देखिए अब आपरूप आए हैं।

आपस–संज्ञा स्त्री० [हिं० आप+से] (१) संबंध। नाता। भाई-चारा। जैसे—आपसवालों से धोखा न होगा। (२) एक दूसरे का साथ। एक दूसरे का संबंध।

विशेष—इस 'शब्द का प्रयोग केवल 'षष्ठी' और 'सप्तमी' में होता है। नियमानुसार षष्ठी में यह विशेषण की तरह आता है। जैसे—(क) यह तो आपस की बात है। (ख) वे आपस में लड़ रहे हैं।

मुहा०—आपस का=(१) एक दूसरे से समान संबंध रखनेवाला। अपने भाई बंधु के बीच का। जैसे—आपस का मामला। आपस की बात। आपस की फूट। जैसे—कहो न, यहाँ तो सब आपस ही के लोग बैठे हैं। (२) पारस्परिक परस्पर का। जैसे,—ज़रा सी बात पर उन्होंने आपस का आना जाना बंद कर दिया। आपस में=परस्पर। एक दूसरे के साथ। एक दूसरे के बीच। उ०—(क) हिन्दू यमन शिष्य रहै दोऊ। आपस में भापै सब कोऊ।—कबीर। (ख) सुख पाइहै कान सुने बतियाँ कल आपुस में कलपै कहिहैं।—तुलसी।

यौ०—आपसदारी=परस्पर का व्यवहार। भाईचारा।

आपस्तंब–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आपस्तंबीय] (१) एक ऋषि जो कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा के प्रवर्त्तक थे। यह शाखा इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। (२) आपस्तंब शाखा के कल्प सूत्रकार जिनके बनाए तीन सूत्र ग्रंथ हैं, कल्प, गृह्य और धर्म्म। (३) एक स्मृतिकार जिनकी स्मृति उनके नाम से प्रसिद्ध है।

आपस्तंबीय–वि० [सं०] आपस्तंबसंबंधी।

आपा–संज्ञा पुं० [हिं० आप] (१) अपनी सत्ता। अपना अस्तित्व। जैसे—अपने आपे को समझो, तब ब्रह्मज्ञान होगा। (२) अपनी असलियत। जैसे—अपने आपे को देखो तब बढ़ बढ़ कर बातें करना। (२) अहंकार। घमंड। गर्व। उ०—(क) जग में बैरी कोइ नहीं जामें शीतल होय। या आपा को डारि दे दया करै सब कोय।—कबीर (ख) कधि यह आपा जायगा? कधि यह बिसरै और? कधि यह सूछम होयगा? कधि यह पावै ठौर?—कबीर। (ग) आपा बुरा है।

क्रि० प्र०—खोना।—छोड़ना।—जाना।—मिटना।

(३) होश हवास। सुध बुध। जैसे—यह दशा देख लोग अपना आपा भूल गए।

मुहा०—आपा खोना=अहंकार त्यागना। नम्र होना। निरभिमान होना। उ०—ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय। औरन को शीतल करै आपुहिं शीतल होय।—कबीर। (२) अपने को बरबाद करना। अपने को मिटाना। अपनी सत्ता को भूलना। खाक में मिलना। उ०—रंगहि पान मिल जस होई। आपहि खोय रहा होय सोई।—जायसी। (३) हस्ती बिगाड़ना। प्राण तजना। मरना। जैसे—उसने ज़रा सी बात पर अपना आपा खो दिया। आपा डालना=अहंकार का त्याग करना। घमंड छोड़ना। उ०—तन मन ताको दीजिए जाके विषया नाहिं। आपा सबही डारि के राखै साहिब माहिं।—कबीर। आपा तजना=(१) अपनी सत्ता को भूलना। अपने को मिटाना। आत्मभाव का त्याग। अपने पराये का भेद छोड़ना। उ०—आपा तजो औ हरि भजो नख शिख तजो विकार। सब जिउते निर्वैर रहु साधु मता है सार।—कबीर। (२) अपने आप को मिटाना। अपने को खराब करना। जैसे—अपना आपा तजकर हम उनके साथ साथ घूम रहे हैं। (३) अहंकार छोड़ना। निरभिमान होना। उ०—आपा तजै सो हरि का होय। (४) चोला छोड़ना। प्राण छोड़ना। मरना। आत्मघात करना। जैसे—यह लड़का क्यों रोते रोते आपा तज रहा है। आपा दिखलाना=दर्शन देना। उ०—कै बिरहिनि को मीच दे कै आपा दिखलाय। आठ पहर का दाझना मोपै

सहा न जाय।—कबीर। आपा बिसरना=(१) आत्मभाव का छूटना। अपने पराए के ज्ञान का नाश होना। उ०—ब्रह्मज्ञान हिये धरु, बोलते की खोज करु, माया अज्ञान हरु, आपा बिसराउ रे।—कबीर। (२) सुध बुध भूलना। होश हवास खोना। आपा बिसराना=(१) आत्मभाव को भूलना। अपने पराये का भेद भूलना। (२) सुध बुध भुलाना। होश हवास खोना। आपे में आना=होश हवास में होना। सुध बुध में होना। चेत में होना। जैसे—ज़रा आपे में आकर बात चीत करो। आपे में न रहना=(१)आपे से बाहर होना। बेकाबू होना। जैसे—मारे क्रोध के वह इस समय आपे में नहीं है। (२) घबराना। बदहवास होना। जैसे,—विपत्ति में बुद्धिमान भी आपे में नहीं रह जाते। आपा मिटना=अहंकार का नाश होना। घमंड का जाता रहना। उ०—या मन फटक पछोरि ले सब आपा मिट जाय। पिंगला होय पिय पिय करै ताको काल न खाय।—कबीर। आपा मेटना=घमंड छोड़ना। अहंकार त्यागना। उ०—गुरु गोविंद दोउ एक हैं दूजा सब आकार। आपा मेटै हरि भजै तब पावै करतार।—कबीर। आपा सँभालना=(१) चैतन्य होना। जागना। होशियार होना। चेतना। जैसे,—अब आपा सँभालो, घर का सब बोझ तुम्हारे ऊपर है। (२) शरीर सँभालना। अपने देह की सुध रखना। जैसे,—यह पहले अपना आपा तो सँभाले; फिर औरों की सहायता करेगा। (३) अपनी दशा सुधारना। (४) बालिग होना। होश सँभालना। जवान होना। जैसे,—अपना आपा सँभालते ही वह इन सब बेईमान नौकरों को निकाल बाहर करेगा। आपे से निकलना=आपे से बाहर होना। क्रोध और हर्ष के आवेश में सुध बुध खोना। जैसे,—उनकी कौन चलावे, वे तो ज़रा ज़रा सी बात पर आपे से निकले पड़ते हैं। (क्रि०) आपे से बाहर होना=(१) वश में न रहना। बेक़ाबू होना। क्रोध और हर्ष आदि के आवेश में सुध बुध खोना। आवेश के कारण अधीर होना। क्षुब्ध होना। उ०—(क) एक ऐसी वैसी छोकरी के लिए इतना आपे से बाहर होना।—अयोध्या। (ख) इतने ही पर वह आपे से बाहर हो गया और नौकर को मारने दौड़ा। (२) घबराना। उद्विग्न होना। जैसे—धीरज धरो, आपे से बाहर होने से काम नहीं चलता।

संज्ञा स्त्री० [हिं० आप] बड़ी बहिन (मुसलमानी)।

संज्ञा पुं० बड़ा भाई (महाराष्ट्र)।

आपात—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिराव। पतन। (२) किसी घटना का अचानक हो जाना। (३) आरंभ। (४) अंत।

आपाततः—क्रि० वि० [सं०] (१) अकस्मात्। अचानक। (२) अंत को। आख़िरकार।

आपातलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छंद जो वैताली छंद के विषम चरणों में ६ और सम चरणों में ८ मात्राओं के उपरांत एक भगण और दो गुरु रखने से बनता है। उ०—हर हर भज रात दिना रे, जंजालहिं तज या जग माहीं। तन, मन, धन सो जपिहौ जो, हर धाम मिलब संशय नाहीं।

आपाधापी—संज्ञा स्त्री० [हिं० आप+धाव] (१) अपनी अपनी चिंता। अपने अपने काम का ध्यान। अपनी अपनी धुन। जैसे,—आज सब लोग आपाधापी में हैं; कोई किसी की सुनता ही नहीं।

क्रि० प्र०—करना।—पड़ना।—होना।

(२) खींच तान। लाग डाँट। जैसे,—उन लोगों में खूब आपाधापी है।

आपान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह गोष्ठी जिसमें शराब पी जाय। शराबियों की गोष्ठी। (२) शराब पीने का स्थान।

आपापंथी—वि० [हिं० आप+सं० पन्थिन्] मनमाने मार्ग पर चलनेवाला। कुमार्गी। कुपंथी।

आपायत*—वि० [सं० आप्यायित=वर्धित] प्रबल। ज़ोरावर।—डिं०

आपी*—संज्ञा पुं० [सं० आप्य] वह नक्षत्र जिसका देवता आप (जल) है। पूर्वाषाढ़ नक्षत्र।

आपीड़—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिर पर पहनने की चीज़; जैसे—पगड़ी, सिरगह, सिरपेच, बेनी इत्यादि। (२) घर के बाहर पाख से निकले हुए बँड़ेरे का भाग। मँगरौरी। मँगौरी।

आपीत—संज्ञा पुं० [सं०] सोना माखी।

वि० [सं०] सोना माखी के रंग का। कुछ पीला।

आपु*†—सर्व० दे० "आप"।

आपुन*†—सर्व० दे० "अपना"।

आपुनो*†—सर्व० दे० "अपना"।

आपुस*†—संज्ञा पुं० दे० "आपस"।

आपूरना*—क्रि० अ० [सं० आपूरण] भरना।

आपूष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राँगा। (२) सीसा।

आपेक्षिक—वि० [सं०] (१) सापेक्ष। अपेक्षा रखनेवाला। (२) अवलंबन पर रहनेवाला। निर्भर रहनेवाला।

आपोक्लिम—संज्ञा पुं० [सं०, यू० एपोक्लिमा] जन्म कुंडली का तीसरा, छठा, नवाँ और बारहवाँ स्थान।

आप्त—वि० [सं०] (१) प्राप्त। लब्ध।

विशेष—इस का प्रयोग इस अर्थ में प्रायः समस्त पदों में मिलता है; जैसे—आप्तकाम। आप्तगर्भा। आप्तकाल।

(२) कुशल। दक्ष। (३) विषय को ठीक तौर से जाननेवाला। साक्षात्कृतधर्मा।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋषि। (२) योगशास्त्र के अनुसार शब्द-प्रमाण।

यौ०—आप्तप्रमाण। आप्तवाक्य। आप्तवचन। आप्तागम। आप्तोक्ति।

(३) भाग का लब्ध ।

आप्तकाम-वि० [सं०] जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गई हों। पूर्णकाम ।

आप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राप्ति । लाभ ।

आप्य-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्वाषाढ़ नक्षत्र ।

आप्यायन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आप्यायित] (१) वृद्धि । वर्धन। (२) तृप्ति । तर्पण । (३) एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना । एक रूप से दूसरे रूप में जाना; जैसे—दूध में खट्टा पदार्थ पड़ने से दही जमना । (४) मृत धातु. को शहद, सुहागे, घी आदि के संयोग से जगाना वा जीवित करना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

आप्यायित-वि० [सं०] (१) तृप्त । संतुष्ट । (२) आर्द्र । तर । (३) परिवर्धित । बढ़ा हुआ । (४) अवस्थान्तर-प्राप्त । दूसरे रूप में परिवर्तित ।

आप्लावन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आप्लावित] डुबाना । बोरना।

आप्लावित-वि० [सं०] (१) डुबाया हुआ । बोरा हुआ । शराबोर । (२) स्नात । भिगोया हुआ ।

आप्लुत-वि० [सं०] स्नात । भीगा हुआ । लथपथ । तरबतर । शराबोर ।

संज्ञा पुं० [सं०] स्नातक । गृहस्थ ।

आफ़त-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आपत्ति । विपत्ति । बला । (२) कष्ट । दुःख । मुसीबत । (३) दुःख का समय । मुसीबत का दिन ।

क्रि० प्र०—आना ।—उठना ।—उठाना ।—टूटना ।—डालना ।—तोड़ना ।—पड़ना ।—मचाना ।—लाना ।—सहना ।

मुहा०—आफ़त उठाना=(१) दुःख सहना । विपत्ति भोगना । जैसे,—(क) धर्म के पीछे प्रताप को बड़ी-बड़ी आफ़त उठानी पड़ी । (ख) तुम्हारे ही लिये हमने इतनी आफ़त उठाई है । (२) ऊधम मचाना । हलचल मचाना । जैसे,—डाकुओं ने चारों ओर आफ़त उठा रक्खी है । आफ़त का टुकड़ा=दे० "आफत का परकाला" । आफ़त का परकाला=(१) किसी काम को बड़ी तेजी से करनेवाला । पटु । कुशल । (२) अटूट प्रयत्न करनेवाला । घोर उद्योगी । आकाश पाताल एक करनेवाला । (३) हलचल मचानेवाला । ऊधम मचानेवाला । उपद्रवी । आफ़त का मारा=(१) विपत्ति से सताया हुआ । दुर्दैव से प्रेरित । जैसे,—आफ़त का मारा एक पथिक उस झाड़ी के पास आ पहुँचा जिसमें शेर बैठा था । (२) विपद्ग्रस्त । संकट में पड़ा हुआ । मुसीबतज़दा । जैसे,—आफ़त के मारे हम आपके दरवाज़े आ पहुँचे हैं, कुछ दया हो जाय । आफ़त ढाना=(१) आफ़त उठाना । ऊधम मचाना । उपद्रव मचाना । हलचल मचाना । जैसे—थोड़ी सी बात के लिये तुम आफ़त ढा देते हो । (२) तकलीफ़ देना । दुःख पहुँचाना । जैसे,—वह जहाँ जाता है, आफ़त ढाता है । (३) गजब करना । अनहोनी बात कहना । ऐसी बात कहना जो कभी हुई न हो । जैसे,—क्या आफ़त ढाते हो ? नित्य चक्कर लगाने की कौन कहे, मैं तो उधर महीनों से नहीं गया हूँ । आफ़त तोड़ना=आफ़त मचाना । ऊधम मचाना । उपद्रव मचाना । जैसे,—मूर्ख लड़के दिन रात घर पर आफ़त तोड़े रहते हैं । आफ़त मचाना=(१) हलचल करना । ऊधम मचाना । दंगा करना । जैसे,—बदमाशों ने सड़क पर आफ़त मचा रक्खी है । (२) शोर मचाना । गुल गपाड़ा करना । जैसे,—तुम्हारा बच्चा दिन रात आफ़त मचाए रहता है । (३) जल्दी मचाना । उतावली करना । जैसे,—क्यों आफ़त मचाए हो, थोड़ी देर में चलते हैं । आफ़त सिर पर लाना वा लेना=(१) झगड़ा मोल लेना । झंझट में पड़ना । जैसे,—तू उसे व्यर्थ छेड़ कर अपने सिर आफ़त लाया । (२) संकट में पड़ना । दुःख को बुलाना । अपने को झंझट में डालना । जैसे,—तुम तो रोज़ रोज़ अपने सिर पर एक न एक आफ़त लाया करते हो ।

आफ़ताब-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [वि० आफ़ताबी] सूर्य्य । उ०—जाहि के प्रताप सों मलीन आफ़ताब होत, ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को ।—भूषण ।

आफ़ताबा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का गड़ुआ जिसके पीछे दस्ती और मुँह पर सरपोश या ढकन लगा रहता है । यह हाथ मुँह धुलाने में काम आता है ।

आफ़ताबी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) पान के आकार का या गोल ज़रदोज़ी का बना एक पंखा जिस पर सूर्य्य का चिह्न बना रहता है । यह एक लकड़ी के डंडे के सिरे पर लगाया जाता है और राजाओं के साथ वा बारात और अन्य यात्राओं में झंडे के साथ चलता है । (२) एक प्रकार की आतशबाज़ी जिसके छूटने से दिन की तरह प्रकाश हो जाता है । (३) किसी दरवाज़े या खिड़की के सामने का छोटा सायबान या ओसारी जो धूप से बचाव के लिये लगाई जाय ।

वि० [फ़ा०] (१) गोल । (२) सूर्य्यसंबंधी ।

यौ०—आफ़ताबी गुलकंद=वह गुलकंद जो धूप में तैयार की जाय ।

आफ़ियत-संज्ञा स्त्री० [अ०] कुशल । क्षेम ।

आफ़िस-संज्ञा पुं० [अं०] दफ़्तर । कार्यालय ।

आफू-संज्ञा स्त्री० [हिं० अफ़ीम मि० मरा० अफू] अफ़ीम । उ०—मीठी कोई चीज़ नहिं मीठी वाकी चाह । अमली मिसिरी छोड़ के आफू खात सराह ।

आब-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) चमक । तड़क भड़क । आभा । छटा । द्युति । कांति । झलक । पानी । उ०—(क) साधू ऐसा चाहिए ज्यों मोती की आब । उतरै त्यों फिरि नहिं चढ़ै

अनादर होय रहाब।—कबीर। (ख) चहचहीं चहल चहूँघाँ चारु चंदन की चंद्रक चुनीन चौक चौकन चढ़ी है आब।—पद्माकर। (२) प्रतिष्ठा। महिमा। गुण। उत्कर्ष। उ०—कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहे गहि मौन। गंधी अंध गुलाब को गँवई गाहक कौन। गँवई गाहक कौन केवरा अरु गुलाब का। हिना पानकी बेल की बूझिहै आब का।—व्यास। (३) शोभा। रौनक़। छवि। उ०—वे न इहाँ नागर बढ़े जिन आदरतो आब। फूल्यो अनफूल्यो भयो गँवई गाँव गुलाब।—बिहारी।

क्रि० प्र०—उतरना।—जाना।—बिगड़ना।—बढ़ना।—चढ़ाना।—देना।

संज्ञा पुं० पानी। जल।

मुहा०—आब आब करना=पानी माँगना। उ०—काबुल गए मुगल हो आए, बोलैं बोल पठानी। आब आब करि पूता मर गए धरा सिरहाने पानी।

यौ०—आब व हवा=जल वायु। सरदी गरमी आदि के विचार से देश की प्राकृतिक स्थिति।

आबकार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] मद्य बनाने वा बेचनेवाला। कलवार। कलाल।

आबकारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) वह स्थान जहाँ शराब चुआई जाती हो। हौली। शराबख़ाना। कलवरिया। भट्ठी। (२) मादक वस्तुओं से संबंध रखनेवाला सरकारी मुहकमा।

आबख़ोरा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) पानी पीने का बरतन। गिलास। (२) प्याला। कटोरा।

आबगीना–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) शीशे का गिलास। (२) आइना। (३) हीरा।

आबगीर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] जुलाहों की कूँची। कूँचा।

आबजोश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] गरम पानी के साथ उबाला हुआ मुनक्का। दे० "अंगूर"।

आबताब–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] तड़क भड़क। चमक दमक। द्युति। कांति। शोभा।

आबदस्त–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मल त्याग के पीछे गुदेंद्रिय को धोना। सौचना। पानी छूना। (२) मल त्याग के अनंतर मल धोने का जल। हाथ-पानी।

क्रि० प्र०—लेना।

आबदाना–संज्ञा पुं० [फ़ा०] अन्न पानी। दाना पानी। अन्न जल। (२) जीविका। जैसे,—आबदाना जहाँ जहाँ ले जायगा, वहाँ वहाँ जायँगे।

मुहा०—आबदाना उठना=जीविका न रहना। रहायश न होना। संयोग टलना। उ०—जब यहाँ से हमारा आबदाना उठ जायगा, तब अपना रास्ता लेंगे।

आबदार–वि० [फ़ा०] चमकीला। कांतिमान्। द्युतिमान्। भड़कीला।

आबदारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] चमक। जिला। ओप। कांति।

आबद्ध–वि० [सं०] (१) बँधा हुआ। (२) क़ैद।

आबनज़ूल–संज्ञा पुं० [फ़ा० आबेनुज़ूल] फ़ोते में पानी उतरने का रोग। अंडवृद्धि।

आबनूस–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [वि० आबनूसी] एक पेड़ जिसे तेंदू कहते हैं और जो जंगलों में होता है। यह पेड़ जब बहुत पुराना हो जाता है, तब इसकी लकड़ी का हीर बहुत काला हो जाता है। यही काली लकड़ी आबनूस के नाम से बिकती है और बहुत वज़नी होती है। आबनूस की बहुत सी नुमायशी चीज़ें बनती हैं; जैसे—छड़ी क़लमदान, रूल, छोटे बक्स इत्यादि। नगीने में आबनूस का काम अच्छा होता है।

यौ०—आबनूस का कुंदा=अत्यंत काले रंग का मनुष्य।

आबनूसी–वि० [फ़ा०] (१) आबनूस का सा काला। अत्यंत श्याम। गहरा काला। (२) आबनूस का। आबनूस का बना हुआ।

आबपाशी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] सिंचाई।

आबरवाँ–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का बारीक कपड़ा। बहुत महीन मलमल।

आबरू–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] इज़्ज़त। प्रतिष्ठा। बड़प्पन। मान।

क्रि० प्र०—उतरना।—उतारना।—खोना।—गँवाना।—जाना।—देना।—पर पानी फिरना।—बिगड़ना।—में बट्टा लगना।—रखना।—रहना।—लेना।—होना। दे० "इज़्ज़त"।

आबला–संज्ञा पुं० [फ़ा०] छाला। फफोला। फुटका।

क्रि० प्र०—पड़ना।

आबशिनास–संज्ञा पुं० [फ़ा०] जहाज का वह कार्य्यकर्त्ता जिसका काम गहराई जाँचकर राह बतलाना होता है।

आबहवा–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] सरदी गरमी आदि के विचार से किसी देश की प्राकृतिक स्थिति। जलवायु।

आबाद–वि० [फ़ा०] (१) बसा हुआ। (२) प्रसन्न। कुशल-पूर्वक। उ०—आबाद रहो बाबा आबाद रहो। (३) उपजाऊ। जोतने बोने योग्य (ज़मीन)। जैसे,—ऊसर ज़मीन को आबाद करने में बहुत ख़र्च पड़ता है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।—रहना।

यौ०—आबादकार।

आबादकार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) एक प्रकार के काश्तकार जो जंगल काटकर आबाद हुए हैं। (२) एक प्रकार के ज़मींदार जिनकी मालगुज़ारी उन्हीं से वसूल की जाती है, नंबरदार के द्वारा नहीं।

आबादानी–संज्ञा स्त्री० दे० "अबादानी"।

आबादी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बस्ती। (२) जनसंख्या। मर्दुमशुमारी। (३) वह भूमि जिस पर खेती होती हो।

आबी–वि० [फ़ा०] (१) पानी संबंधी । पानी का । (२) पानी में रहनेवाला । (३) रंग में हलका । फीका । उ०—दग बने गुलाबी मद भरे लखि अरिमुख आबी करत ।—गोपाल । (३) पानी के रंग का । हलका, नीला या आस्मानी । (४) जलतटनिवासी ।

संज्ञा पुं० (१) खारी नमक जो सूर्य्य के ताप से पानी उड़ा कर बनता है । समुद्र लवण । साँभर नमक । (२) जल के किनारे रहनेवाली एक चिड़िया जिसकी चोंच और पैर हरे होते हैं और ऊपर के पर भूरे और नीचे के सफ़ेद होते हैं । (३) एक प्रकार का अंगूर ।

संज्ञा स्त्री० वह भूमि जिसमें किसी प्रकार की आबपाशी होती हो । (ख़ाकी के विरुद्ध) ।

यौ०—आबी रोटी=रोटी जिसका आटा केवल पानी से सना हो ! आबी शोरा ।

मुहा०—आबी करना=दूध, पानी और लाजवर्द से बने हुए रंग से किसी कपड़े के थान को तर करके उसपर चमक लाना ।

आबू–संज्ञा पुं० [सं० अर्बुद] अरावली पर्वत पर का एक स्थान।

आब्दिक–वि० [सं०] वार्षिक । सालाना । सांवत्सरिक ।

आभ*–संज्ञा स्त्री० [सं० आभा] शोभा । कांति । दीप्ति । आभा । द्युति।

संज्ञा पुं० [फ़ा० आब] पानी । जल । उ०—जिन हरि जैसा सुमरिया ताको तैसा लाभ । ओसे प्यास न भागई जब लग धँसे न आभ ।

संज्ञा पुं० [सं० अभ्र] आकाश ।—डिं० ।

आभरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आभारित] (१) गहना । भूषण । आभूषण । जेवर । अलंकार । इनकी गणना १२ है—(१) नूपुर । (१) किंकिणी । (३) चूड़ी । (४) अँगूठी । (५) कंकण । (६) बिजायठ । (७) हार । (८) कंठश्री । (९) बेसर । (१०) बिरिया । (११) टीका । (१२) सीसफूल । आभरण के चार भेद हैं—(१) आवेध्य अर्थात् जो छिद्र द्वारा पहने जायँ; जैसे—कर्णफूल, बाली इत्यादि । (२) बंधनीय अर्थात् जो बाँधकर पहने जायँ ; जैसे—बाजूबंद, पहुँची, सीसफूल, पुष्पादि । (३) क्षेप्य अर्थात् जिनमें अंग डालकर पहनें; जैसे—कड़ा, छड़ा, चूड़ी, मुँदरी इत्यादि । (४) आरोप्य अर्थात् जो किसी अंग में लटकाकर पहने जायँ; जैसे—हार, कंठश्री, चंपाकली, सिकरी आदि । (२) पोषण । परवरिश ।

आभरन*–संज्ञा पुं० दे० "आभरण" ।

आभरित–वि० [सं०] सजाया हुआ । आभूषित । अलंकृत ।

आभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चमक । दमक । कांति । दीप्ति । द्युति । प्रभा । (२) झलक । प्रतिबिंब । छाया ।

आभाणक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार के नास्तिक । (२) कहावत । मसल । अहाना ।

आभार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बोझ । (२) गृहस्थी का बोझ । गृह प्रबंध के देख भाल की ज़िम्मेदारी । उ०—चलत देत आभार सुनि, वही परोसिनि नाह। लसी तमासे के दगन, हाँसी आँसुनि माँह ।—बिहारी । (३) एक वर्णवृत्त जो आठ तगण का होता है; जैसे—बोल्यौ तबै शिष्य आभार तेरो गुरु जी न भूलों जपौं आठहूँ जाम । हे राम हे राम हे राम हे राम हे राम हे राम हे राम हे राम । (४) एहसान । उपकार । निहोर ।

आभारी–वि० [सं० आभारिन्] एहसान माननेवाला । उपकार माननेवाला । उपकृत ।

आभास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिबिंब । छाया । झलक । जैसे—हिन्दू समाज में वैदिक धर्म्म का आभास मात्र रह गया है । (२) पता । संकेत । जैसे—उनकी बातों से कुछ आभास मिलेगा कि वे किस को चाहते हैं ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

(३) मिथ्या ज्ञान । जैसे—सर्प में रस्सी का आभास ।

यौ०—प्रमाणाभास । विरोधाभास । रसाभास । हेत्वाभास ।

आभीर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० आभीरी] (१) अहीर । ग्वाल । गोप ।

यौ०—आभीर पल्ली=अहीरों का गाँव । ग्वालों की बस्ती ।

(२) एक देश का नाम । (३) एक छंद जिसमें ११ मात्राएँ होती हैं और अंत में जगण होता है । उ०—यहि विधि श्री रघुनाथ । गहे भरत कर हाथ । पूजत लोग अपार । गए राज दरबार । (४) एक राग जो भैरव राग पुत्र कहा जाता है ।

आभीरनट–संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर राग जो नट और आभीर से मिलकर बनता है ।

आभीरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक संकर रागिनी जो देशकार, कल्याण, श्याम और गुर्जरी को मिलाकर बनाई गई है । अबीरी ।

आभील–संज्ञा पुं० [सं०] दुःख । कष्ट ।

आभूषण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आभूषित] गहना । जेवर । आभरण । अलंकार ।

आभूषन*–संज्ञा पुं० दे० "आभूषण" ।

आभोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रूप की पूर्णता । रूप में कोई कसर न रहना । किसी वस्तु को लक्षित करनेवाली सब बातों की विद्यमानता । जैसे—यहाँ आभोग से बस्ती का पास होना जाना जाता है । (२) किसी पद्य के बीच में कवि के नाम का उल्लेख । (३) वरुण का छत्र । (४) सुख आदि का पूरा अनुभव ।

आभ्यंतर–वि० [सं] भीतरी । अंदर का ।

यौ०—आभ्यंतर तप=भीतरी तपस्या । यह तपस्या छः प्रकार की होती है—(१) प्रायश्चित्त, (२) वैयावृत्ति, (३) स्वाध्याय, (४) विनय, (५) व्युत्सर्ग और (६) शुभ ध्यान ।

आभ्यंतरिक-वि० [सं०] अंतरंग। भीतरी।

आभ्युदयिक-वि० [सं०] अभ्युदय-संबंधी। मंगल वा कल्याण-संबंधी।

संज्ञा पुं० [सं०] एक श्राद्ध जिसे नांदीमुख भी कहते हैं। इस श्राद्ध में दही, बेर और चावल को मिलाकर पिंड देते हैं और इसमें माता, दादी और परदादी को पहले तीन पिंड देकर तब बाप, दादा, परदादा, मातामह और वृद्ध-प्रमातामह आदि को पिंड देते हैं। इनके अतिरिक्त तीनों पक्षों के तीन विश्वेदेवा होते हैं। उन्हें भी पिंड दिया जाता है। यह श्राद्ध पुत्र-जन्म, जनेऊ और विवाह आदि शुभ अवसरों पर होता है। इसमें यज्ञ करनेवाले को अपसव्य नहीं होना पड़ता।

आमंत्रण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आमंत्रित] संबोधन। बुलाना। पुकारना। आह्वान। निमंत्रण। न्योता। बुलावा।

आमंत्रित-वि० [सं०] (१) बुलाया हुआ। पुकारा हुआ। (२) निमंत्रित। न्योता हुआ।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

आम्-अव्य० [सं०] अंगीकार, स्वीकृति और निश्चयसूचक शब्द। हाँ। इसका प्रयोग नाटकों की बोलचाल में अधिक है।

आम-संज्ञा पुं० [सं० आम्र] एक बड़ा पेड़ जो उत्तर पश्चिम प्रांत को छोड़ और सारे भारतवर्ष में होता है। हिमालय पर भूटान से कुमाऊँ तक इसके जंगली पेड़ मिलते हैं। इसकी पत्तियाँ लंबी लंबी गहरे हरे रंग की होती हैं। फागुन के महीने में इसके पेड़ मंजरियों वा मौरों से लद जाते हैं, जिनकी मीठी गंध से दिशाएँ भर जाती हैं। चैत के आरंभ में मौर झड़ने लगते हैं और सरसई (सरसों के बराबर फल) बैठने लगती है। जब कच्चे फल बेर के बराबर हो जाते हैं, तब वे टिकोरे कहलाते हैं। जब वे पूरे बढ़ जाते हैं और उन में जाली पड़ने लगती है, तब उन्हें अँबिया कहते हैं। फल के भीतर एक बहुत कड़ी गुठली होती है जिसके ऊपर कुछ रेशेदार गूदा चढ़ा रहता है। कच्चे फल का गूदा सफ़ेद और कड़ा होता है और पक्के फल का गीला और पीला। किसी किसी में तो बिलकुल पतला रस निकलता है। अच्छी जाति के कलमी आमों की गुठली बहुत पतली होती है और उनका गूदा बँधा हुआ और गाढ़ा तथा बिना रेशे का होता है। आम का फल खाने में बहुत मीठा होता है। पक्के आम आषाढ़ से भादों तक बहुतायत से मिलते हैं।

केवल बीज से जो आम पैदा किए जाते हैं, उन्हें बीजू कहते हैं। ये उतने अच्छे नहीं होते। इसी से अच्छे आम क़लम और पैवंद लगाकर उत्पन्न किए जाते हैं, जो कलमी कहलाते हैं। पैवंद लगाने की यह रीति है कि पहले एक गमले में बीज रखकर पौधा उत्पन्न करते हैं। फिर उस पौधे को किसी अच्छे पेड़ के पास ले जाते हैं और उसकी एक डाल उस अच्छे पेड़ की डाल से बाँध देते हैं। जब दोनों की डाल बिलकुल एक होकर मिल जाती हैं, तब गमले के पौधे को अलग कर लेते हैं। इस प्रक्रिया से गमलेवाले पौधे में उस अच्छे पौधे के गुण आ जाते हैं। दूसरी युक्ति यह है कि अच्छे आम की डाल को काटकर किसी बीजू पौधे के ठूँठे में ले जाकर मिट्टी के साथ बाँध देते हैं। आम के लिये हड्डी की खाद बहुत उपकारी है।

आम के बहुत भेद हैं; जैसे मालदह, बंबइया, लँगड़ा, सफ़ेदा, कृष्णभोग, रामकेला इत्यादि। भारतवर्ष में दो स्थान आमों के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं—मालदह (बंगाल में) और मझगाँव (बंबई में)। मालदह आम देखने में सब से बड़ा होता है, पर स्वाद में फीका होता है। बंबइया आम मालदह से छोटा होता है, पर खाने में बहुत मीठा होता है। लँगड़ा आम देखने में लंबा लंबा होता है और सब से मीठा होता है। बनारस का लंगड़ा प्रसिद्ध है। लखनऊ का सफ़ेदा भी मिठास में अपने ढँग का एक है। इसका छिलका सफ़ेदी लिए होता है, इसीसे इसे सफ़ेदा कहते हैं। जितने कलमी और अच्छे आम हैं, वे सब छुरी से काटकर खाए जाते हैं।

आम के रस को रोटी की तरह जमाकर अवँसठ वा अमावट बनाते हैं। कच्चे आम का पन्ना लू लगने की अच्छी दवा है। कच्चे आमों की चटनी बनती है तथा अचार और मुरब्बा भी पड़ता है। आम की फाँकों को खटाई के लिये सुखाकर रखते हैं जो अमहर के नाम से बिकती है। इसी अमहर के चूर को अमचूर कहते हैं।

आम की लकड़ी के तख़्ते, किवाड़, चौखट आदि भी बनते हैं, पर उतने मजबूत नहीं होते। इसकी छाल और पत्तियों से एक प्रकार का पीला रंग निकलता है। चौपायों को आम की पत्ती खिलाकर फिर उनके मूत्र को इकट्ठा करके प्योरी रंग बनाते हैं।

पर्या०—चूत। रसाल। अतिसौरभ। सहकार। माकंद।

यौ०—अमचूर। अमहर।

मुहा०—आम के आम, गुठली के दाम=दोहरा लाभ उठाना। आम खाने से काम या पेड़ गिनने से=इस वस्तु से अपना काम निकालो, इसके विषय में निरर्थक प्रश्न करने से क्या प्रयोजन? बारी में बारह आम, सट्टी में अट्ठारह आम=जहाँ चीज महँगी मिलनी चाहिए, वहाँ उस स्थान से भी सस्ती मिलना जहाँ साधारणतः वह चीज सस्ती बिकती है। (यह ऐसे अवसर पर कहा जाता है जब कोई किसी वस्तु का इतना कम दाम लगाता है जितने पर वह वस्तु जहाँ पैदा होती है, वहाँ भी नहीं मिल सकती।)

वि० [सं०] कच्चा। अपक्व। असिद्ध। उ०—बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) खाए हुए अन्न का कच्चा न पचा हुआ मल जो सफ़ेद और लसीला होता है।

यौ०—आमातिसार।

(२) वह रोग जिसमें आँव गिरती है।

यौ०—आमज्वर। आमवात।

वि० [अ०] (१) साधारण। सामान्य। मामूली। जैसे,—आम आदमियों को वहाँ जाने की इजाज़त नहीं है।

यौ०—आमख़ास=महलों के भीतर का वह भाग जहाँ राजा वा बादशाह बैठते हैं। दरबार आम=वह राजसभा जिसमें सब लोग जा सकें। आमफ़हम=जो सर्व साधारण की समझ में आवे।

(२) प्रसिद्ध। विख्यात। जैसे,—यह बात अब आम हो गई है, छिपाने से नहीं छिपती।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग वस्तु के लिये होता है, व्यक्ति के लिये नहीं।

आमगंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिसायँध गंध; जैसे चिता के धूएँ वा कच्चे मांस वा मछली की।

आमड़ा-संज्ञा पुं० [सं० आम्रात] एक बड़ा पेड़ जिसके फल आम की तरह खट्टे और बड़े बैर के बराबर होते हैं। फलों का आचार पड़ता है। इसकी पत्तियाँ शरीफ़े की पत्तियों से मिलती जुलती होती हैं।

आमद-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) अवाई। आगमन। आना।

यौ०—आमदरफ़्त=आना जाना। आवागमन।

मुहा०—आमद आमद होना=(१) आने का समय अत्यंत निकट होना। (२) आने की ख़बर फैलना वा धूम होना।

(२) आय। आमदनी।

आमदनी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) आय। प्राप्ति। आनेवाला धन। (२) व्यापार की वस्तु जो और देशों से अपने देश में आवे। रफ़तनी का उलटा।

आमन-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) वह भूमि जिसमें साल भर में केवल एक ही फ़सल उत्पन्न हो। (२) बंगाल के धान की जाड़े की फ़सल।

आमनस्य-संज्ञा पुं० [सं०] अनमनापन। दुःख। रंज।

आमना*-क्रि० अ० दे० "आना"।

आमनाय-संज्ञा पुं० दे० "आम्नाय"।

आमनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) वह भूमि जिसमें जाड़े का धान बोया जाता है। (२) जाड़े में बोए जानेवाले धान की खेती।

आमना सामना-संज्ञा पुं० [हिं० सामना] मुक़ाबला। भेंट। जैसे,—इस तरह झगड़ा न मिटेगा, तुम्हारा उनका आमना सामना हो जाय।

आमने सामने-क्रि० वि० [हिं० सामने] एक दूसरे के समक्ष। एक दूसरे के मुक़ाबिले। इस प्रकार जिसमें एक का मुख वा अग्र भाग दूसरे के मुख वा अग्र भाग की ओर हो। इस प्रकार जिसमें एक वस्तु के अग्रभाग से खींची हुई सीधी रेखा पहले पहल दूसरी वस्तु के अग्र भाग ही को स्पर्श करे। जैसे—(क) सभा के बीच वे दोनों प्रतिद्वंद्वी आमने सामने बैठे। (ख) वे दोनों मकान आमने सामने हैं, सिर्फ़ एक सड़क बीच में पड़ती है।

आमय-संज्ञा पुं० [सं०] रोग। व्याधि। बीमारी। आरज़ा।

आमरक्तातिसार-संज्ञा पुं० [सं०] आँव और लहू के साथ दस्त होने का रोग।

आमरख*-संज्ञा पुं० दे० "आमर्ष"।

आमरखना*-क्रि० अ० [सं० आमर्ष=क्रोध] क्रुद्ध होना। दुःखपूर्वक क्रोध करना। उ०—(क) सुनि आमरखि उठे अवनीपति लगे बचन जनु तीर। टरै न चाप करैं अपनो सो महा महा बलधीर।—तुलसी। (ख) तब बिदेह पन बंदिन प्रगट सुनायो। उठे भूप आमरखि सगुन नहिं पायो।—तुलसी।

आमरण-क्रि० वि० [सं०] मरणकाल पर्य्यंत। मृत्यु पर्य्यंत। जीवन की अवधि पर्य्यंत।

आमरस-संज्ञा पुं० दे० "अमरस"।

आमर्दकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आमलकी। आमला। आँवला। (२) फागुन शुक्ला एकादशी का नाम।

आमर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आमर्दित] जोर से मलना। ख़ूब पीसना वा रगड़ना।

आमर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रोध। कोप। ग़ुस्सा। (२) असहनशीलता। (३) रस में एक संचारी भाव। दूसरे का अहंकार न सहकर उसको नष्ट करने की इच्छा।

आमलक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अल्प० आमलकी] आमला। आँवला। धात्री-फल। उ०—जानहिं तीनि काल निज ज्ञाना। करतलगत आमलक समाना।—तुलसी।

आमलकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी जाति का आँवला। आँवली। (२) फागुन सुदी एकादशी।

आमला†-संज्ञा पुं० दे० "आँवला"।

आमवात-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें आँव गिरती है और जोड़ों में पीड़ा तथा हाथ पैर में सूजन हो जाती है, मुँह भी सूज जाता है और शरीर पीला पड़ जाता है। यह रोग मंदाग्निवाले को अजीर्ण में भोजन करने से होता है।

आमशूल-संज्ञा पुं० [सं०] आँव मुरेड़े का रोग। आँव के कारण पेट में मरोड़ होने का रोग।

आमश्राद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का श्राद्ध जिसमें पिंडदान के बदले में ब्राह्मणों को कच्चा अन्न दिया जाता है।

आमाँ–संज्ञा पुं० दे० "आवाँ"।

आमाजीर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] आँव का अजीर्ण। कच्चा अनपच। तुख्मा। इस रोग में खाया हुआ अन्न ज्यों का त्यों गिरता है।

आमातिसार–संज्ञा पुं० [सं०] आँव के कारण अधिक दस्तों का होना। आँव मुरेड़े के दस्त।

आमात्य–संज्ञा पुं० दे० "अमात्य"।

आमादगी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] तैयारी। मुस्तैदी। मौजूदगी। तत्परता।

आमादा–वि० [फ़ा०] उद्यत। तत्पर। उतारू। तैयार। सन्नद्ध।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

आमानाह–संज्ञा पुं० [सं०] आँव के कारण पेट का फूलना। आँव का अफरा।

आमान्न–संज्ञा पुं० [सं०] कच्चा अन्न। बिना पका अनाज। कोरा अन्न। सूखा अनाज।

आमाल–संज्ञा पुं० [अ०] कर्म। करनी। करतूत।

यौ०—आमालनामा।

आमालक–संज्ञा पुं० [देश०] पहाड़ के पास की भूमि।

आमालनामा–संज्ञा पुं० [अ०] वह रजिस्टर जिसमें नौकरों की चाल चलन और कार्य्य करने की योग्यता आदि का विवरण रहता है।

आमाशय–संज्ञा पुं० [सं०] पेट के भीतर की वह थैली जिसमें भोजन किए हुए पदार्थ इकट्ठे होते और पचते हैं। सुश्रुत में इसका स्थान नाभि और छाती के बीच में लिखा है; पर वास्तव में इस थैली का चौड़ा हिस्सा छाती के नीचे बाईं ओर होता है और क्रमशः पतला होता हुआ दाहिनी ओर को घुमाव के साथ यकृत के नीचे तक जाता है। यह थैली झिल्ली और मांस की होती है। इसके ऊपर बहुत से छोटे छोटे बारीक गड्ढे $\frac{1}{100}$ इंच से $\frac{1}{200}$ इंच तक के व्यास के होते हैं, जिनमें पाचन रस भरा रहता है। इस थैली में पहुँचकर भोजन बराबर इधर उधर लुढ़का करता है जिससे उसके हर एक अंश में पाचन रस लगता है। इसी पाचन रस और पित्त आदि की क्रिया से खाए हुए पदार्थ का रूपांतर होता है; जैसे, पित्त में मिलकर दूध पेट में जाते ही दही की तरह जम जाता है।

आमाहल्दी–संज्ञा स्त्री० [सं० आम्रहरिद्रा] एक प्रकार का पौधा जिसकी जड़ रंग में हल्दी की तरह और गंध में कचूर की तरह होती है। यह बंगाल के जंगलों में बहुत जगह आप से आप होती है। यह चोट पर बहुत फ़ायदा करती है।

आमिक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] फटा हुआ दूध। छेना पनीर।

आमिख–संज्ञा पुं० दे० "आमिष"।

आमिन–संज्ञा स्त्री० [हिं० आम] अवध में आम की एक जाति जिसके फल सफ़ेदे की तरह मीठे पर बहुत छोटे छोटे होते हैं।

आमिल–संज्ञा पुं० [अ०] (१) काम करनेवाला। अनुष्ठान करनेवाला। (२) कर्त्तव्यपरायण। (३) अमला। कर्मचारी। (४) हाकिम। अधिकारी। (५) ओझा। सयाना। (६) पहुँचा हुआ फ़क़ीर। सिद्ध।

आमिष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मांस। गोश्त।

यौ०—आमिषप्रिय। आमिषाशी। आमिषाहारी। निरामिष।

(२) भोग्य वस्तु (३) लोभ। लालच। (४) वह वस्तु जिससे लोभ उत्पन्न हो। (५) जँबीरी नीबू।

आमिषप्रिय–वि० [सं०] जिसे मांस प्यारा हो।

संज्ञा पुं० गिद्ध, चील और बाज़ आदि पक्षी जो मांस पर टूटते हैं।

आमिषाशी–वि० [सं० आमिषाशिन्] [स्त्री० आमिषाशिनी] मांस-भक्षक। मांस खानेवाला।

आमिषी–संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामाँसी। बालछड़।

आमीँ–अव्य० [इब०] एवमस्तु। ऐसा ही हो।

मुहा०–आमीँ आमीँ करनेवाले=हाँ में हाँ मिलानेवाले। ख़ुशामदी

आमी–संज्ञा स्त्री० [हिं० आम] (१) छोटा आम। अँबिया। उ०—ऊधो हरि काहे के अंतर्यामी। अजहूँ न आइ मिले यहि अवसर अवधि बतावत लामी।......आई उघरि प्रीति कलई सी जैसी खाटी आमी। सूर इते पर खुनसनि मरियत ऊधो पीवत मामी।—सूर। (२) एक पेड़ जो कद में बहुत छोटा होता है। हर साल शिशिर ऋतु में इसके पत्ते झड़ जाते हैं। इसके हीर की लकड़ी स्याही लिए हुए पीली तथा बड़ी मज़बूत और कड़ी होती है। इससे सजावट की अनेक चीज़ें बनाई जाती हैं। हिमालय के पहाड़ी लोग इसकी पतली टहनियों की टोकरियाँ बनाते हैं। शिमला, हज़ारा तथा कुमाऊँ के पहाड़ों में यह वृक्ष अधिकतर पाया जाता है। तुंगा। भान।

संज्ञा स्त्री० [सं० आम=कच्चा] जौ और गेहूँ की भूनी हुई बाल।

यौ०—आमी होरा।

आमुख–संज्ञा पुं० [सं०] नाटक का एक अंग। प्रस्तावना।

आमुष्मिक–वि० [सं०] [स्त्री० आमुष्मिकी] पारलौकिक। परलोक संबंधी।

आमेज़–वि० [फ़ा०] मिला हुआ। मिश्रित।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः यौगिक शब्द बनाने के लिये होता है; जैसे दर्द-आमेज़। पनियामेज़ (दही वा अफ़ीम)।

आमेज़ना–क्रि० सं० [फ़ा० आमेज़] मिलाना। सानना। उ०—

भीजी अरगजे में भई ना मरगजे सजी आमेजे सुगंध सेजै तजी शुभ्र शीत रे।—देव।

आमेज़िश—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मिलावट। मिश्रण। मेल।

आमेर—संज्ञा पुं० राजपूताने का एक प्रसिद्ध नगर जो जयपुर के पास है और जहाँ पहले राजधानी थी।

आमोख्ता—संज्ञा पुं० [फ़ा०] पढ़े हुए को अभ्यास के लिए फिर पढ़ना। उद्धरणी।

क्रि० प्र०—करना।—पढ़ना।—फेरना।—सुनाना।

आमोद—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आमोदित, आमोदी] (१) आनंद। हर्ष। ख़ुशी। प्रसन्नता। (२) दिल बहलाव। तफ़रीह। (३) दूर से आनेवाली महँक। सुगंधि।

यौ०—आमोद प्रमोद।

आमोद प्रमोद—संज्ञा पुं० [सं०] भोग विलास। सुख चैन। हँसी ख़ुशी।

आमोदित—वि० [सं०] (१) प्रसन्न। ख़ुश। हर्षित। (२) दिल लगा हुआ। जी बहला हुआ। (३) सुगंधित।

आमोदी—वि० [सं०] प्रसन्न रहनेवाला। ख़ुश रहनेवाला।

आम्नाय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभ्यास।

यौ०—अक्षराम्नाय=वर्णमाला। कुलाम्नाय=कुलपरंपरा। कुल की रीति।

(२) वेद आदि का पाठ और अभ्यास। (३) वेद।

आम्म—संज्ञा पुं० [देश०] नेवले के प्रकार का एक जंतु।

आम्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम का पेड़। (२) आम का फल।

यौ०—आम्रवन=आम का वन।

आम्रकूट—संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत जिसे अमर-कंटक कहते हैं।

आम्रात, आम्रातक—संज्ञा पुं० [सं०] आमड़े का पेड़ और फल।

आम्लवेतस—संज्ञा पुं० दे० "अम्लवेतस"।

आम्लिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] इमली।

आयँती पायँती—संज्ञा स्त्री० [सं० अंगस्थ+फ़ा० पायताना] सिरहाना पायताना। जैसे—आयँती की छड़ियाँ पायँती और पायँती की आयँती।

आयंदा—वि०, क्रि० वि० दे० "आइंदा"।

आय—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आमदनी। आमद। लाभ। प्राप्ति। धनागम।

यौ०—आयव्यय।

(२) जन्मकुंडली में ग्यारहवाँ स्थान।

क्रि० अ० [सं० अस्=होना] पुरानी हिंदी के 'आसना' वा 'आहना' (होना) क्रिया का वर्त्तमान कालिक रूप। (शुद्ध शब्द 'आहि' है।)

आयत—वि० [सं०] विस्तृत। लंबा चौड़ा। दीर्घ। विशाल।

संज्ञा स्त्री० [अ०] इंजील का वाक्य। क़ुरान का वाक्य। उ०—पुनि उस्मान बड़ पंडित गुनी। लिखा पुराण जो आयत सुनी।—जायसी।

आयतन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मकान। घर। मंदिर। (२) विश्राम स्थान। ठहरने की जगह। (३) देवताओं की वंदना की जगह।

यौ०—रामपंचायतन=जानकी सहित राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की मूर्ति।

(४) ज्ञान के संचार का स्थान। वे स्थान जिनमें किसी काल तक ज्ञान की स्थिति रहती है; जैसे इंद्रियाँ और उनके विषय। बौद्ध मतानुसार उनके १२ आयतन हैं—(१) चक्षुरायतन, (२) श्रोत्रायतन, (३) घ्राणायतन, (४) जिह्वायतन, (५) कायायतन, (६) मनसायतन, (७) रूपायतन, (८) शब्दायतन, (९) गंधायतन, (१०) रसनायतन, (११) श्रोतव्यायतन और (१२) धर्मायतन।

आयत्त—वि० [सं०] [संज्ञा आयत्ति] अधीन। वशीभूत।

आयत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] अधीनता। परवशता।

आयद—वि० [अ०] आरोपित। लगाया हुआ। जैसे—तुम पर कई जुर्म आयद होते हैं।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

आयमा—संज्ञा स्त्री० [अ०] वह भूमि जो इमाम या मुल्ला को बिना लगान या थोड़े लगान पर दी जाय।

आयस—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आयसी] (१) लोहा। (२) लोहे का कवच।

आयसी—वि० [सं० आयसीय] लोहे का। आहनी। उ०—मंजूषा आयसी कठोरा। बड़ि संखला लगी चहुँ ओरा।—रघुराज।

संज्ञा पुं० [सं०] कवच। ज़िरहबख़्तर।

आयसु—संज्ञा स्त्री० [सं०] आज्ञा। हुक्म।

आया—क्रि० अ० [हिं० आना] आना का भूतकालिक रूप।

संज्ञा स्त्री० [पुर्त्त०] अँगरेज़ों के बच्चों को दूध पिलाने और उनकी रक्षा करनेवाली स्त्री। धाय। धात्री।

अव्य० [फ़ा०] क्या। जैसे—आया तुमने यह काम किया है या नहीं।

आयाम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लंबाई। विस्तार। (२) नियमित करने की क्रिया। नियमन।

यौ०—प्राणायाम=प्राणवायु को नियमित करने की क्रिया।

क्रि० वि० एक पहर तक।

आयास—संज्ञा पुं० [सं०] परिश्रम। मेहनत।

यौ०—अनायास।

आयु—संज्ञा स्त्री० [सं०] वय। उम्र। ज़िंदगी। जीवन-काल।

क्रि० प्र०—क्षीण होना।—घटना।—पूरी होना—बढ़ना।

मुहा०—आयु खुटाना=आयु कम होना। उ०—जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानै जनु आयु खुटानी।—तुलसी।

आयु सिराना=आयु का अंत होना। उ०—जो तैं कही सो सब हम जानी। पुंडरीक की आयु सिरानी।—गोपाल।

आयुध–संज्ञा पुं० [सं०] हथियार। शस्त्र।

यौ०—आयुधागार=सिलहखाना। आयुधन्यास।

आयुधन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णवों में पूजन के पहले बाह्य-शुद्धि का विधान। इसमें चक्र, गदा, आदि आयुधों का नाम ले लेकर एक एक अंग का स्पर्श करते हैं।

आयुर्दाय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फलित ज्योतिष में ग्रहों के बलाबल के अनुसार आयु का निर्णय। जैसे अष्टम स्थान में बृहस्पति आयु बढ़ाता है और तीसरे, छठे और ग्यारहवें स्थान में राहु, मंगल और शनि आदि पाप ग्रह आयु बढ़ाते हैं। लग्न या चंद्रमा को यदि मारकेश वा अष्टमेश देखता हो, तो आयु क्षीण होती है। (२) आयु। जीवन-काल।

आयुर्बल–संज्ञा पुं० [सं०] आयुष्य। उम्र।

आयुर्वेद–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आयुर्वेदीय] आयु-संबंधी शास्त्र। चिकित्सा-शास्त्र। वैद्य-विद्या।

विशेष—इस शास्त्र के आदि आचार्य्य अश्विनी-कुमार माने जाते हैं जिन्होंने दक्ष प्रजापति के धड़ में बकरे का सिर जोड़ा था। अश्विनी-कुमारों से इंद्र ने यह विद्या प्राप्त की। इंद्र ने धन्वंतरि को सिखाया। काशी के राजा दिवोदास धन्वंतरि के अवतार कहे गए हैं। उनसे जाकर सुश्रुत ने आयुर्वेद पढ़ा। अत्रि और भरद्वाज भी इस शास्त्र के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। चरक की संहिता भी प्रसिद्ध है। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग माना जाता है। इसके आठ अंग हैं। शल्य (चीरफाड़) शालाक्य (सलाई), कायचिकित्सा (ज्वर, अतिसार आदि की चिकित्सा), भूत-विद्या (झाड़-फूँक), कौमारतंत्र (बाल-चिकित्सा), अगद तंत्र (बिच्छू साँप आदि के काटने की दवा), रसायन, बाजीकरण। आयुर्वेद शरीर में वात, पित्त, कफ़ मानकर चलता है। इसीसे उसका निदान-खंड कुछ संकुचित सा हो गया। आयुर्वेद के आचार्य्य ये हैं— अश्विनीकुमार, धन्वंतरि, दिवोदास (काशिराज), नकुल, सहदेव, अर्कि, च्यवन, जनक, बुध, जावाल, जाजलि, पैल, करथ, अगस्त, अत्रि तथा उनके छः शिष्य (अग्निवेश, भेड़, जातूकर्ण, पराशर, सीरपाणि, हारीत), सुश्रुत और चरक।

आयुष्टोम–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जो आयु की वृद्धि के लिये किया जाता है।

आयुष्मान–वि० [सं०] [स्त्री० आयुष्मती] (१) दीर्घजीवी। चिरजीवी। (२) नाटकों में सूत रथी को आयुष्मान कहकर संबोधन करते हैं। राजकुमारों को भी इसी शब्द से संबोधन करते हैं। (३) फलित ज्योतिष के विष्कुंभ आदि २७ योगों में से एक।

आयुष्य–संज्ञा पुं० [सं०] आयु। उम्र।

आयोगव–संज्ञा पुं० [सं०] वैश्य स्त्री और शूद्र पुरुष से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति जिसका काम विशेष कर काठ की कारीगरी है। बढ़ई।

आयोजन–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० आयोजना। वि० आयोजित] (१) किसी कार्य्य में लगाना। नियुक्ति। (२) प्रबंध। इंतज़ाम। सामग्री-संपादन। ठीकठाक। तैयारी। (३) उद्योग। (४) सामग्री। सामान।

आयोजित–वि० [सं०] ठीक किया हुआ। तैयार।

आयोधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध। लड़ाई। (२) रण भूमि। लड़ाई का मैदान।

आरंभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी कार्य्य की प्रथमावस्था का संपादन। अनुष्ठान। उत्थान। शुरू। समाप्ति का उलटा।

क्रि० प्र०—करना। जैसे—कल से उसने पढ़ना आरंभ किया।—होना। जैसे—अभी काम आरंभ हुए कै दिन हुए हैं?

(२) किसी वस्तु का आदि। उत्थान। शुरू का हिस्सा। जैसे,—हमने यह पुस्तक आरंभ से अंत तक पढ़ी है। (३) उत्पत्ति। आदि।

आरंभना†–क्रि० अ० [सं० आरंभण] शुरू होना। उ०—अनरथ अवध अरंभ्यो जब ते। कुसगुन होत भरत कहँ तब ते।—तुलसी।

आर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लोहा जो खान से निकाला गया हो, पर साफ़ न किया गया हो। एक प्रकार का निकृष्ट लोहा। (२) पीतल। (३) किनारा। (४) कोना।

यौ०—द्वादशार चक्र। षोडशार चक्र।

विशेष—इस प्रकार के द्वादश-कोण और षोडशकोण के चक्र बनाकर तांत्रिक लोग पूजन करते हैं।

(५) पहिए का आरा।

संज्ञा स्त्री० [सं० अल=डंक] (१) लोहे की पतली कील जो साँटे वा पैने में लगी रहती है। अनी। पैनी। (२) नर मुर्गे के पंजे के ऊपर का काँटा जिससे लड़ते समय वे एक दूसरे को घायल करते हैं। (३) बिच्छू, भिड़ वा मधुमक्खी आदि का डंक।

संज्ञा स्त्री० [सं० आरा] चमड़ा छेदने का सूआ वा टेकुआ। सुतारी।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) ईख का रस निकालने का कलछा। पल्ली। ताँबी। (२) बर्तन बनाने के साँचे में भीतरी भाग के ऊपर मुँह पर रक्खा हुआ मिट्टी का लोंदा जिसे इस तरह बढ़ाते हैं कि वह अँवठ के चारों ओर बढ़ आता है।

† संज्ञा पुं० [हिं० अड़] अड़। ज़िद। हठ। उ०—(क) अँखियाँ करति हैं अति आर। सुन्दर श्याम पाहुने के मिस मिलि न जाहु दिन चार। (ख) जब मोहन कर गही मथानी। परसत बार दधि माट लेन चित उदधि शैल वासुकि भय-

मानी।..........कबहुँक अपर खिरनहीं भावत कबहुँ मेखली उदर समानी। कबहुँक आर करत माखन को कबहुँक मेख दिखाइ बिनानी।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) तिरस्कार। घृणा।

क्रि० प्र०—करना। जैसे,—भले लोग बदचलनों से आर करते हैं।

(२) अदावत। बैर। जैसे,—न जाने वे हमसे क्यों आर रखते हैं। (३) शर्म। हया। लज्जा। जैसे,—इतने पर भी उसे आर नहीं आती।

क्रि० प्र०—आना।

आरक्त—वि० [सं०] (१) ललाई लिए हुए। कुछ लाल। (२) लाल।

आरग्वध—संज्ञा पुं० [सं०] अमिलतास।

आरज*—वि० दे० "आर्य्य"।

आरज़ा—संज्ञा पुं० [अ० आरिजा] रोग। बीमारी।

आरज़ू—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] इच्छा। वांछा। जैसे,—(क) मुझे बहुत दिनों से उनके मिलने की आरज़ू है। (ख) बहुत दिनों के बाद आज मेरी आरज़ू पूरी हुई।

यौ०—आरज़ूमंद।

मुहा०—आरज़ू बर आना=इच्छा पूरी होना। आशा पूरना जैसे,—बहुत दिनों से आशा थी, आज मेरी आरज़ू बर आई। आरज़ू मिटाना=इच्छा पूरी करना। जैसे—लो, तुम भी अपनी आरज़ू मिटा लो।

(२) अनुनय। विनय। विनती।

आरज़ूमंद—वि० [फ़ा०] इच्छुक। अभिलाषी।

आरण्य—वि० [सं०] (१) जंगली। बनैला। (२) जंगल का। बन का।

यौ०—आरण्य कुक्कुट। आरण्य गान। आरण्य पशु।

आरण्यक—वि० [सं०] [स्त्री० आरण्यकी] (१) जंगल का। बन का (२) जंगली। बनैला।

संज्ञा पुं० [सं०] वेदों की शाखा का वह भाग जिसमें वानप्रस्थों के कृत्य का विवरण और उनके लिये उपयोगी उपदेश हैं।

आरत*—वि० दे० "आर्त्त"।

आरति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरक्ति। (२) दे० "आर्त्ति"।

आरती—संज्ञा स्त्री० [सं० आरात्रिक] (१) किसी मूर्त्ति के ऊपर दीपक को घुमाना। इसका विधान यह है कि चार बार चरण, दो बार नाभि, एक बार मुँह के पास तथा सात बार सर्वांग के ऊपर दीपक घुमाते हैं। यह दीपक या तो घी से अथवा कपूर रखकर जलाया जाता है। बत्तियों की संख्या एक से कई सौ तक की होती है। विवाह में वर और पूजा में आचार्य्य आदि की भी आरती की जाती है। नीराजन। दीप। उ०—चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारी। लिए आरती मंगल थारी।—तुलसी।

क्रि० प्र०—उतारना।—करना।

मुहा०—आरती लेना=देवता की आरती हो चुकने पर उपस्थित लोगों का उस दीपक पर हाथ फेरकर माथे पर लगाना।

(२) वह पात्र जिसमें कपूर या घी की बत्ती रखकर आरती की जाती है। (३) वह स्तोत्र जो आरती के समय गाया वा पढ़ा जाता है।

आरन*—संज्ञा पुं० [सं० अरण्य] जंगल। बन। उ०—कीन्हेसि सिसाउज आरन रहई। कीन्हेसि पाँखिरि उड़हि जहँ चहई।—जायसी।

आरनाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कच्चे गेहूँ का खींचा हुआ अर्क। (२) काँजी।

आरपार—संज्ञा पुं० [सं० आर=किनारा+पार=दूसरा किनार] यह किनारा और वह किनारा। यह छोर और वह छोर अधिक। जैसे,—नाव पर से उस नदी का आर पार नहीं दिखाई देता।

विशेष—यह शब्द समाहार द्वंद्व समास है। इससे इसके साथ एक वचन क्रिया ही का प्रयोग होता है।

क्रि० वि० [सं०] एक छोर से दूसरे छोर तक। एक किनारे से दूसरे किनारे तक। जैसे,—(क) इस दीवार में आरपार छेद हो गया है। (ख) तुम्हें आरपार जाने में कितनी देर लगेगी?

आरबल, आरबला—संज्ञा पुं० दे० "आयुर्बल"

आरब्ध—वि० [सं०] आरंभ किया हुआ।

आरभटी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्रोधादिक उग्र भावों की चेष्टा। उ०—हृदय की कबहुँ न जरनि घटी। बिनु गोपाल बिथा या तनु की कैसे जात कटी। झूठो मन झूठी यह काया झूठी आरभटी। अरु झूठन को बदन निहारत मारत फिरत लटी।—सूर। (२) नाटक में एक वृत्ति का नाम जिसमें यमक का प्रयोग अधिक होता है। इसके द्वारा माया, इंद्रजाल संग्राम, क्रोध, आघात, प्रतिघात और बंधनादि विविध रौद्र, भयानक और वीभत्स रस दिखाए जाते हैं। इसके चार भेद हैं—वस्तूत्थापन, संफेट, संक्षिप्ति और अवपातन। (१) वस्तूत्थापन—ऐसी वस्तुओं का प्रदर्शन वा वर्णन जिनसे रौद्रादि रसों की सूचना हो। जैसे सियारों का बोलना और श्मशान आदि। (२) संफेट—दो आदमियों का झटपट आकर भिड़ जाना। (३) संक्षिप्ति—क्रोधादि उग्र भावों की निवृत्ति। जैसे रामचंद्र की बातों को सुनकर परशुराम के क्रोध की निवृत्ति। (४) अवपातन—प्रवेश से निष्क्रमण तक रौद्रादि भाव का अविच्छिन्न प्रदर्शन।

आरव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शब्द। आवाज़। (२) आहट। उ०—सुरसुरात हय आरव पाये। चकित बिलोकत कान उठाये।—तुलसी।

आरषी*—वि [सं० आर्ष] आर्ष। ऋषियों की। उ०—भले भूप

कहत भले भदेस भूपन सों लोक लखि बोलिए पुनीति रीति आरषी।—तुलसी।

आरस*–संज्ञा पुं० दे० "आलस्य"।

संज्ञा स्त्री० दे० "आरसी"।

आरसा–संज्ञा पुं० [हिं० रस्सा] (१) रस्सा। जैसे—बोए का आरसा =वह रस्सा जिसमें लंगर का बोया बँधा रहता है। (२) रस्से की मुद्धी जिसमें कोई चीज़ बाँधकर लटकाई या उठाई जाय। गाँठ।

आरसी–संज्ञा स्त्री० [सं० आदर्श] (१) शीशा। आइना। दर्पण। उ०—(क) कहा कुसुम कह कौमुदी, कितिक आरसी जोति। जाकी उजराई लखे, आँख ऊजरी होति।—बिहारी। (२) एक गहना जिसे स्त्रियाँ दाहिने हाथ के अँगूठे में पहनती हैं। यह एक प्रकार का छल्ला है जिसके ऊपर एक कटोरी होती है, जिसमें शीशा जड़ा होता है। उ०—(क) कर मुदरी की आरसी, प्रतिबिंब्यौ प्यौ आय। पीठि दिये निधरक लखै, इकटक दीठि लगाय। (ख) लखि गुरुजन विच कमल सौं, सीस छुवायौ स्याम। हरि संमुख करि आरसी, हिये लगाई बाम।—बिहारी।

आरा–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री०, अल्प० आरी] (१) एक लोहे की दाँतीदार पटरी जिससे रेतकर लकड़ी चीरी जाती है। इसके दोनों ओर लकड़ी के दस्ते लगे रहते हैं। उ०—यह मन वाको दीजिए, जो साँचा सेवक होय। सिर ऊपर आरा सहै, तबहुँ न दूजा सोय।—कबीर। (२) चमड़ा सीने का टेकुआ वा सूजा। सुतारी।

यौ०—आराकश।

संज्ञा पुं० [सं० आर] लकड़ी की चौड़ी पटरी जो पहिए की गढ़ारी और पुट्ठी के बीच जड़ी रहती है। एक पहिए में ऐसी दो पटरियाँ होती हैं, बाक़ी और जो पतली पतली चार पटरियाँ जड़ी जाती हैं, उन्हें गज कहते हैं।

संज्ञा पुं० [हिं० आड़ा] लकड़ी की कड़ी या पत्थर की पटरी जिसे दीवार पर रखकर उसके ऊपर घोड़िया या टोटा बैठाते हैं। यह इसलिये रक्खा जाता है कि घोड़िया आदि एक सीध में रहें, ऊपर नीचे न हों। दीवारदासा। दासा।

संज्ञा पुं० † दे० "आला"।

आराइश–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] [वि० आरास्ता] (१) सजावट (२) काग़ज़ के फूल पत्ते जो बारात में द्वारपूजा के समय साथ ले जाते हैं। फुलवाड़ी।

आराकश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] आरा चलानेवाला आदमी।

आराज़ी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) भूमि। ज़मीन। (२) खेत।

आराति–संज्ञा पुं० [सं०] शत्रु। बैरी। उ०—(क) सावधान होइ धाये जानि सकल आराति। लागे बरषन राम पर अस्त्र शस्त्र बहु भाँति।—तुलसी। (ख) पुनि उठि झपटहिं सुर आराती। टरइ न कीस चरन एहि भाँती।—तुलसी।

आराधक–वि० [सं०] [स्त्री० आराधिका] उपासक। पूजा करनेवाला।

आराधन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आराधक, आराधित, आराधनीय, आराध्य] (१) सेवा। पूजा। उपासना। (२) तोषण। तर्पण। प्रसन्न करना।

आराधना–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूजा। उपासना।

*क्रि० स० [सं० आराधन] (१) उपासना करना। पूजना। उ०—केहि आराधहु का तुम चहहू। हम सन सत्य मर्म सब कहहू।—तुलसी। (२) संतुष्ट करना। प्रसन्न करना। उ०—इच्छित फल बिनु शिव आराधे। लहइ न कोटि योग जप साधे।—तुलसी।

आराधनीय–वि० [सं०] आराधना के योग्य। पूजनीय।

आराधित–वि० [सं०] जिसकी उपासना हुई हो। पूजित।

आराध्य–वि० [सं०] पूज्य। पूजनीय।

आराम–संज्ञा पुं० [सं०] बाग़। उपवन। फुलवारी। उ०—परम रम्य आराम यह जो रामहिं सुख देत।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) चैन। सुख। जैसे,—संसार में कौन आराम नहीं चाहता।

क्रि० प्र०—करना।—चाहना।—देना।—पहुँचना।—पाना।—लेना।—मिलना।

(२) चंगापन। सेहत। स्वास्थ्य। जैसे,—जब से यह दवा दी गई है, तब से कुछ आराम है।

क्रि० प्र०—करना।—चाहना।—देना।—पाना।—होना। (३) विश्राम। थकावट मिटाना। दम लेना। जैसे,—बहुत चले ज़रा आराम तो लेने दो।

क्रि० प्र०—करना।—पाना।—लेना।

यौ०—आरामगाह। आरामतलब। आरामदान। आरामपाई।

मुहा०—आराम करना=सोना। जैसे,—उन्हें आराम करने दो, बहुत जागे हैं। आराम में होना=सोना। जैसे,—अभी आराम में हैं, इस वक़्त जगाना अच्छा नहीं। आराम लेना=विश्राम करना। आराम से=फ़ुरसत में। धीरे धीरे। बेखटके। जैसे,—(क) कोई जल्दी पड़ी है, ठहरो आराम से लिखा जायगा। (ख) अब इस वक़्त रक्खो, घर पर आराम से बैठ कर देखेंगे। आराम से गुजरना=चैन से दिन कटना।

वि० [फ़ा०] चंगा। तंदुरुस्त। जैसे,—उस वैद्य ने उसे बात की बात में आराम कर दिया।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

आरामगाह–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] सोने की जगह। शयनागार।

आरामतलब–वि० [फ़ा०] [संज्ञा आरामतलबी] (१) सुख चाहनेवाला। सुकुमार। जैसे,—काम न करने से अमीर लोग आरामतलब हो जाते हैं। (२) सुस्त। आलसी। निकम्मा।

जैसे,—वह इतना आरामतलब हो गया है कि कहीं जाता आता भी नहीं।

आरामदान–संज्ञा पुं० [फ़ा० आराम+हिं० दान] (१) पानदान। (२) सिंगारदान।

आरामपाई–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० आराम+हिं० पाय] एक प्रकार की जूती जिसे पहले पहल लखनऊ-वालों ने बनाया था।

आरालिक–वि० [सं०] [स्त्री० आरालिका] रसोईदार। पाचक।

आरास्ता–वि० [फ़ा०] सजा हुआ। सुसज्जित।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

आरि*–संज्ञा स्त्री० [हिं० अड़] हठ। टेक। ज़िद। उ०—(क) द्वार हौं भोरही को आजु। रटत ररिहा, आरि और न, कौरही ते काजु।—तुलसी। (ख) कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं।—तुलसी। (ग) तब सकोप भगवान हरि तीछन चक्र प्रहारि। धर ते सीस धरा धरा, करि लीन्हीं श्रुति आरि।—गोपाल।

आरिया–संज्ञा स्त्री० [सं० आरू=ककड़ी] एक फल जो ककड़ी के समान होता है। भादों क्वार के महीने में होती है और बहुत ठंढी होती है। यह एक बित्ता लंबी और अँगूठे के बराबर मोटी होती है।

आरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० आरा का अल्प०] (१) लकड़ी चीरने का बढ़ई का एक औज़ार। यह लोहे की एक दाँतीदार पटरी होती है जिसमें एक ओर काठ का दस्ता वा मूँठ लगी रहती है। मूँठ की ओर यह पटरी चौड़ी और आगे की ओर पतली होती जाती है। इससे रेतकर लकड़ी चीरते हैं। हाथी-दाँत आदि चीरने के लिये जो आरी होती है, वह बहुत छोटी होती है। (२) लोहे की एक कील जो बैल हाँकने के पैने की नोक में लगी रहती है। (३) जूता सीने का सूजा। सुतारी।

संज्ञा स्त्री०* [सं० आर=किनारा] (१) किनारा। ओर। तरफ़। उ०—बिछवाए पौरि लौं बिछौना जरी बाफन के, खिंचवाए चाँदनी सुगंध सब आरी में।—रघुनाथ। (२) कोर। अवँठ। बारी।

वि० [अ०] तंग। हैरान। आजिज़। जैसे,—हम तो तुम्हारी चाल से आरी आ गए हैं।

क्रि० प्र०—आना।

आरुक–संज्ञा पुं० [सं०] एक जड़ी जो हिमालय पर से आती है। आड़।

आरूढ़–वि० [सं०] (१) चढ़ा हुआ। सवार। उ०—खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा।—तुलसी। (२) दृढ़। स्थिर। जैसे,—हम तो अपनी बात पर आरूढ़ हैं।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—आरूढ़यौवना। अश्वारूढ़। गजारूढ़।

आरूढ़यौवना–संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्या नायिका के चार भेदों में से एक। वह युवती स्त्री जिसे पतिप्रसंग अच्छा लगे।

आरेवत–संज्ञा पुं० [सं०] अमिलतास।

आरो*–संज्ञा पुं० दे० "आरव"।

आरोग–वि० दे० "आरोग्य"।

आरोगना*–क्रि० स० [सं० आ+रोगना (रुज्=हिंसा)] (१) खाना। उ०—शबरी परम भक्त रघुपति की बहुत दिनन की दासी। ताके फल आरोगे रघुपति पूरण भक्ति प्रकाशी।—सूर।

आरोग्य–वि० [सं०] नीरोग। रोगरहित। स्वस्थ। तंदुरुस्त।

आरोग्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वास्थ्य। तंदुरुस्ती।

आरोधना*–क्रि० स० [सं० आ+रुन्धन=छेकना] रोकना। छेंकना। आड़ना। उ०—देखन दे पिय मदन गोपालहिं। हा हा हो पिय पा लागति हौं जाइ सुनौं बन बेनु रसालहिं। लकुटि लिए काहे को त्रासत पति बिनुमति विरहिनि बेहालहिं। अति आतुर आरोधि अधिक दुख तेहिं कह डरति न औ यम कालहिं। मन तौ पिय पहिले ही पहुँच्यो प्राण तहीं चाहत चित चालहिं।—सूर।

आरोप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थापित करना। लगाना। मढ़ना। (२) एक पेड़ को एक जगह से उखाड़कर दूसरी जगह लगाना। रोपना। बैठाना। (३) मिथ्याध्यास। झूठी कल्पना। (४) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के धर्म की कल्पना। जैसे—असंग जीवात्मा में कर्त्तृत्व धर्म का आरोप। (५) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के आरोप से उत्पन्न मिथ्या ज्ञान। (६) (साहित्य में) एक वस्तु में दूसरी वस्तु के धर्म की कल्पना। आरोप दो प्रकार का माना गया है, एक आहार्य्य और दूसरा अनाहार्य्य। आहार्य्य वह है जहाँ इस बात को जानते हुए भी कि पदार्थों की प्रत्यक्षता से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, कहनेवाला अपनी इच्छा के अनुसार उसका प्रयोग करता है। जैसे 'मुखचंद्र'। यहाँ 'मुख' और 'चंद्र' दोनों के धर्म के साक्षात् द्वारा भ्रम की निवृत्ति हो सकती है। दूसरा 'अनाहार्य्य' है जिसमें ऐसे दो पदार्थों के बीच आरोप हो जिनमें एक वा दोनों परोक्ष हों।

आरोपण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आरोपित, आरोप्य] (१) लगाना। स्थापित करना। मढ़ना। (२) पौधे को एक जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह लगाना। रोपना। बैठाना। (३) किसी वस्तु में स्थित गुण को दूसरी वस्तु में मानना। (४) मिथ्याज्ञान। भ्रम।

आरोपना*–क्रि० स० [सं० आरोपण] (१) लगाना। उ०—भानु देखि दल चूरन कोप्यौ। तजि अनिलास्त्र अनिल आरोप्यौ।—गोपाल। (२) स्थापित करना। उ०—सो सुनि नंद सबन दै थोपी। शिशुहिं सप्यार अंक आरोपी।—गोपाल।

आरोपित–वि० [सं०] (१) लगाया हुआ। स्थापित किया हुआ। मढ़ा हुआ। (२) रोपा हुआ। बैठाया हुआ।

आरोप्य–वि० [सं०] (१) लगाने योग्य। स्थापित करने योग्य। (२) रोपने योग्य। बैठाने योग्य।

आरोह–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आरोही] (१) ऊपर की ओर गमन। चढ़ाव। (२) आक्रमण। चढ़ाई। (३) घोड़े, हाथी आदि पर चढ़ना। सवारी। (४) वेदांत में क्रमानुसार जीवात्मा की ऊर्ध्वगति वा क्रमशः उत्तमोत्तम योनियों को प्राप्त होना। (५) कारण से कार्य्य का प्रादुर्भाव वा पदार्थों का एक अवस्था से दूसरी अवस्था की प्राप्ति जैसे—बीज से अंकुर, अंकुर से वृक्ष वा अंडे से बच्चे का निकलना। (६) क्षुद्र और अल्प चेतनावाले जीवों से क्रमानुसार उन्नत प्राणियों की उत्पत्ति। आविर्भाव। विकाश।

विशेष—आधुनिक सृष्टितत्त्वविदों की धारणा है कि मनुष्य आदि सब प्राणियों की उत्पत्ति आदि में एक वा कई साधारण अवयवियों से हुई है जिनमें चेतना बहुत सूक्ष्म थी। यह सिद्धांत इस सिद्धांत का विरोधी है कि संसार के सब जीव जिस रूप में आजकल हैं, उसी रूप में उत्पन्न किए गए। निरावयव जड़ तत्व क्रमशः कई सावयव रूपों में आया, जिनमें भिन्न भिन्न मात्राओं की चेतना आती गई। इस प्रकार अत्यंत सामान्य अवयवियों से जटिल अवयववाले उन्नत जीव उत्पन्न हुए। योरप में इस सिद्धांत के प्रवर्त्तक डार्विन साहब हैं जिनके अनुसार आरोह की निम्नलिखित विधि है—(क) देश काल के अनुसार परिवर्तित होते रहने की इच्छा। (ख) जीवन संग्राम में उपयोगी अंगों की रक्षा और उनकी परिपूर्णता। (ग) सुदृढ़ांग जीवों की स्थिति और दुर्बलांगों का विनाश। (घ) प्राकृतिक प्रतिग्रह वा संवरण जिसमें दंपति प्रतिग्रह प्रधान समझा जाता है। (च) यह साधारण नियम कि किसी प्राणी का वर्त्तमान रूप उपर्युक्त शक्तियों का, जो समान आकृति-उत्पादन की पैतृक प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य करती हैं, परिमाण है।

(७) संगीत में स्वरों का चढ़ाव वा नीचे स्वर से क्रमशः ऊँचा स्वर निकालना, जैसे—सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा।

आरोहण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आरोहित] (१) चढ़ना। सवार होना। (२) अखुआना। अंकुर निकालना। (३) सीढ़ी।

आरोहित–वि० [सं०] (१) चढ़ा हुआ। (२) निकला हुआ। (३) अखुआया हुआ।

आरोही–वि० [सं० आरोहिन्] [स्त्री० आरोहिणी] (१) चढ़नेवाला। ऊपर जानेवाला। (२) उन्नतिशील।

संज्ञा पुं० (१) संगीत शास्त्रानुसार वह स्वर जो षड्ज से लेकर निषाद तक उत्तरोत्तर चढ़ता जाय। जैसे—सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा। (२) सवार।

आर्घा–संज्ञा, स्त्री० [सं०] पीले रंग की एक प्रकार की मधु-मक्खी जिसका सिर बड़ा होता है। सारंग मक्खी।

आर्घ्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आर्घा नाम की मक्खियों का मधु। सारंग मधु। यह कफ़, पित्त नाशक और आँखों को लाभकारी है। यह पकाने से कुछ कड़ुआ और कसैला हो जाता है। (२) एक प्रकार का महुआ जिसकी सफ़ेद गोंद मालवा देश से आती है।

आर्जव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सीधापन। 'टेढ़ापन' का उलटा। (२) सरलता। सुगमता। (३) व्यवहार की सरलता। कुटिलता का अभाव।

आर्ट–संज्ञा पुं० [अं०] (१) शिल्प-विद्या। दस्तकारी। (२) कलाकौशल।

यौ०—आर्ट स्कूल=वह पाठशाला जहाँ शिल्प और कलाकौशल की शिक्षा दी जाती हो।

आर्टिकिल–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) लेख। निबंध। (२) चीज़। वस्तु।

आर्टिक्यूलेटा–संज्ञा पुं० [अं०] बिना रीढ़वाले ऐसे जंतुओं का एक भेद जिनके शरीर संकुचित रहते हैं, पर चलने की दशा में फैल जाते हैं; जैसे—जोंक।

आर्डर–संज्ञा पुं० [अं०] आज्ञा। हुक्म।

आर्डिनरी–वि० [अं०] (१) साधारण। सामान्य। (२) प्रसिद्ध। प्रधान।

यौ०—आर्डिनरी स्टाक=कम्पनी का प्रधान वा असली धन।

आर्त्त–वि० [सं०] [संज्ञा आर्त्ति, आर्त्तता] (१) पीड़ित। चोट खाया हुआ। (२) दुःखित। दुखी। कातर। (३) अस्वस्थ।

यौ०—आर्त्तध्यान। आर्त्तनाद। आर्त्तस्वर।

आर्त्तगल–संज्ञा पुं० [सं०] नीली कटसरैया।

आर्त्तता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीड़ा। दर्द। (२) दुःख। क्लेश।

आर्त्तध्यान–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के मतानुसार वह ध्यान जिससे दुःख हो। यह चार प्रकार का है—(१) अनिष्टार्थ संयोगार्त्त ध्यान। (२) इष्टार्थ वियोगार्त्त ध्यान। (३) रोग निदानार्त्त ध्यान और (४) अग्रशोचनमार्त्त ध्यान।

आर्त्तनाद–संज्ञा पुं० [सं०] वह शब्द जिससे सुननेवाले को यह बोध हो कि उसका उच्चारण करनेवाला दुःख में है। दुःख-सूचक शब्द।

आर्त्तव–वि० [स्त्री० आर्त्तवी] (१) ऋतु में उत्पन्न। मौसमी। सामयिक। (२) ऋतु-संबंधी।

संज्ञा पुं० [सं०] वह रज जो स्त्रियों की योनि से प्रत्येक मास में निकलता है। पुष्प। रज।

यौ०—आर्त्तव रोग=स्त्रियों के मासिक धर्म्म का नियमानुसार न होना। यह दो प्रकार का होता है। (१) रजस्राव=जब रजोधर्म चार से अधिक दिन तक रहे अथवा महीने में एक से अधिक बार हो।

(२) रजस्तंभ=जब रजोधर्म एक मास से अधिक काल पर हो वा कई महीने का अंतर देकर हो।

आर्त्तस्वर-संज्ञा पुं० [सं०] दुःखसूचक शब्द।

आर्त्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीड़ा। दर्द। (२) दुःख। क्लेश।

आर्त्विज-वि० [सं०] [स्त्री० आर्त्विजी] ऋत्विज-संबंधी।

यौ०—आर्त्विजी दक्षिणा=ऋत्विज की दक्षिणा।

आर्थिक-वि० [सं०] धन-संबंधी। द्रव्य-संबंधी। रुपये पैसे का। माली। जैसे,—आर्थिक दशा। आर्थिक सहायता।

आर्द्र-वि० [सं०] [संज्ञा आर्द्रता] (१) गीला। ओदा। तर। (२) सना। लथपथ।

यौ०—आर्द्रवीर। आर्द्राशनि।

आर्द्रक-संज्ञा पुं० [सं०] अदरक। आदी।

आर्द्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] गीलापन।

आर्द्रमाषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी। बनमाष। मसवन।

आर्द्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सत्ताईस नक्षत्रों में छठा नक्षत्र। ज्योतिषियों ने इसे पदाकार लिखा है, पर कोई कोई इसे मणि के आकार का भी मानते हैं। इस नक्षत्र में केवल एक ही उज्ज्वल तारा है। (२) वह समय जब सूर्य्य आर्द्रा नक्षत्र का होता है। प्रायः आषाढ़ के आरंभ में यह नक्षत्र लगता है। इसी नक्षत्र से वर्षा का आरंभ होता है। किसान इस नक्षत्र में धान बोते हैं। उनका विश्वास है कि आर्द्रा नक्षत्र का धान अच्छा होता है। उ०—अर्द्रा धान पुनर्वसु पैया। गा किसान जब बोवा चिरैया। (३) ग्यारह अक्षर की एक वर्ण-वृत्ति जिसके पहले और चौथे चरण में जगण, तगण, जगण और दो गुरु (ज त ज ग ग) और दूसरे और तीसरे चरण में दो तगण, जगण और दो गुरु (त त ज ग ग) होते हैं। यह वृत्ति उपजाति के अंतर्गत है। उ०—साधो भलो योगन पै बढ़ाओ। खड़े रहो क्यों न लचै पचाओ। टीके सुछापे बहुतै लगाओ। वृथा सबै जो हरि को न गाओ।

यौ०—आर्द्रालुब्धक=केतु।

आर्द्रावीर-संज्ञा स्त्री० [सं०] वाममार्गी।

आर्द्राशनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विद्युत्। बिजली। (२) एक अस्त्र।

आर्द्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] पराशर स्मृति के अनुसार वेश्या माता और ब्राह्मण पिता से उत्पन्न एक संकर जाति। ये लोग ब्राह्मणों की पंक्ति में भोजन कर सकते हैं। मनु के अनुसार यह वर्ण शूद्र माना गया है और भोज्यान्न है।

आर्य्य-वि० [सं०] [स्त्री० आर्य्या] (१) श्रेष्ठ। उत्तम। (२) बड़ा। पूज्य। (३) श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न। मान्य।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रेष्ठ पुरुष। श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न।

विशेष—स्वामी, गुरु और सुहृद आदि को संबोधन करने में इस शब्द का व्यवहार करते हैं। छोटे लोग बड़े को, जैसे स्त्री पति को, छोटा भाई बड़े भाई को, शिष्य गुरु को, 'आर्य्य वा आर्य्यपुत्र' कहकर संबोधन करते हैं। नाटकों में नटी भी सूत्रधार को आर्य्य वा आर्य्यपुत्र कहती है।

(२) मनुष्यों की एक जाति जिसने संसार में बहुत पहले सभ्यता प्राप्त की थी। ये लोग गोरे, सुविभक्तांग और डील के लंबे होते हैं। इनका माथा ऊँचा, बाल घने और नाक उठी और नुकीली होती है। प्राचीन काल में इनका विस्तार मध्य एशिया तथा कैस्पियन सागर से लेकर गंगा यमुना के किनारों तक था। इनका आदि स्थान कोई मध्य एशिया, कोई स्कैंडिनेविया और कोई उत्तरीय ध्रुव बतलाते हैं। ये लोग खेती करते थे, पशु पालते थे, धातु के हथियार बनाते थे, कपड़ा बुनते थे, रथ आदि पर चलते थे।

यौ०—आर्य्य अष्टांगमार्ग=बौद्ध दर्शन के अनुसार वह मार्ग जिससे निर्वाण वा मोक्ष मिलता है। ये आठ हैं—(१) सम्यग्दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्पना, (३) सम्यक् वाचा, (४) सम्यक् कर्मणा, (५) सम्यगार्जीव, (६) सम्यग्व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। आर्य्यक्षेत्र। आर्य्यपुत्र। आर्य्यभूमि। आर्य्यावर्त्त।

आर्य्यधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] सदाचार।

आर्य्यपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] आदरसूचक शब्द। दे० "आर्य्य"।

आर्य्यमिश्र-संज्ञा पुं० [सं०] संस्कृत नाटकों में गौरवान्वित वा पूज्य पुरुष के लिये इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

आर्य्यसमाज-संज्ञा पुं० [सं०] एक धार्मिक समाज वा समिति जिसके संस्थापक स्वामी दयानंद थे। इस समाज के प्रधान दस नियम हैं। इस मत के लोग वेदों के संहिता भाग को अपौरुषेय और स्वतःप्रमाण मानते हैं। मूर्तिपूजा, श्राद्ध, तर्पण नहीं करते। वर्ण, गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार मानते हैं।

आर्य्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती। (२) सास (३) दादी। पितामही।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार पद में श्रेष्ठ वा बड़ी बूढ़ी स्त्रियों के लिये होता है।

(४) एक अर्द्ध मात्रिक छंद का नाम। इसके पहले और तीसरे चरण में बारह बारह तथा दूसरे और चौथे में पंद्रह पंद्रह मात्राएँ होती हैं। इस छंद में चार मात्राओं के गण को समूह कहते हैं। इसके पहले, तीसरे, पाँचवें और सातवें गण में जगण का निषेध है। छठे गण में जगण होना चाहिए। उ०—रामा रामा रामा, आठौ यामा, जपौ यही नामा। त्यागौ सारे कामा, पैहौ बैकुंठ विश्रामा। आर्य्या के मुख्य पाँच

भेद हैं—आर्य्या वा गाहा, गीति वा उग्गाहा, उपगीति वा गाहू, उद्गीति वा बिग्गाहा, आर्य्या गीति वा स्कंधक वा खंधा।

आर्य्या गीत—संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्य्या छंद का एक भेद जिसके विषम चरण में बारह ओर सम चरणों में बीस मात्राएँ होती हैं। विषम गणों में जगण नहीं होता तथा अंत में गुरु होता है। उ०—रामा, रामा रामा, आठौ यामा जपौ यही नामा को। त्यागो सारे कामा, पैहो साँची सुनो हरि धामा को।

आर्य्यावर्त—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आर्य्यावर्त्तीय] उत्तरीय भारत जिसके उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्याचल, पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में अरबसागर है। मनु ने इस देश को पवित्र कहा है।

आर्य्यावर्तीय—वि० [सं०] (१) आर्य्यावर्त का रहनेवाला। (२) आर्य्यावर्त-सम्बन्धी।

आर्ष—वि० [सं०] (१) ऋषि-संबंधी। (२) ऋषि-प्रणीत। ऋषि-कृत। (३) वैदिक। (४) ऋषि-सेवित।

यौ०—आर्षक्रम। आर्षग्रंथ। आर्षपद्धति। आर्षप्रयोग। आर्षविवाह।

आर्षक्रम—संज्ञा पुं० [सं०] ऋषियों की प्रथा। ऋषियों की प्राचीन परिपाटी।

आर्षप्रयोग—संज्ञा पुं० [सं०] शब्दों का वह व्यवहार जो व्याकरण के नियम के विरुद्ध हो। प्राचीन संस्कृत के ग्रंथों में प्रायः व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग मिलते हैं। ऐसे प्रयोगों को व्याकरण की रीति से अशुद्ध न कहकर आर्ष कहते हैं। (२) छंद में कवियों का किया हुआ व्याकरण विरुद्ध प्रयोग।

आर्षभी—संज्ञा स्त्री० [सं०] कपिकच्छु। केवाँच।

आर्षविवाह—संज्ञा पुं० [सं०] आठ प्रकार के विवाहों में तीसरा, जिसमें वर से कन्या का पिता दो बैल शुल्क में लेकर कन्या देता था।

आर्षेय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋषियों का गोत्र और प्रवर। (२) मंत्रद्रष्टा ऋषि। (३) पठन-पाठन, यजन-याजन, अध्ययन अध्यापन आदि ऋषि-कर्म।

आलंकारिक—वि० [सं०] (१) अलंकार संबंधी। (२) अलंकार-युक्त। (३) अलंकार जाननेवाला।

आलंग—संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ियों की मस्ती।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग विशेष कर घोड़ियों ही के वास्ते होता है।

क्रि० प्र०—पर होना।—पर आना।

आलंब—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवलंब। आश्रय। सहारा। (२) गति। शरण।

आलंबन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आलंबित] (१) सहारा। आश्रय। अवलंबन। (२) रस में एक विभाग जिसके अवलंब से रस की उत्पत्ति होती है। जैसे—(क) शृंगार रस में नायक और नायिका, (ख) रौद्र रस में शत्रु, (ग) हास्य रस में विलक्षण रूप वा शब्द, (घ) करुणा रस में शोचनीय व्यक्ति वा वस्तु, (च) वीर रस में शत्रु वा शत्रु की प्रिय वस्तु, (छ) भयानक रस में भयंकर रूप, (ज) वीभत्स रस में घृणित पदार्थ, पीब, लोहू, मांसादि, (झ) अद्भुत रस में अलौकिक वस्तु, (ट) शांत रस में अनित्य वस्तु, (ठ) वात्सल्य रस में पुत्रादि। (३) बौद्ध मत में किसी वस्तु का ध्यानजनित ज्ञान। यह छः प्रकार का है—रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द और धर्म। (४) साधन। कारण।

आलंबित—वि० [सं०] आश्रित। अवलंबित।

आलंबित बिंदु—संज्ञा पुं० [सं०] प्रलंबित पुल के आर पार के वे स्थान जहाँ जंजीरों के छोर खंभों से लगे रहते हैं।

आलंभ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छूना। मिलना। पकड़ना। (२) मारण। वध। हिंसा।

यौ०—अश्वालंब। गवालंभ।

आलंभन—संज्ञा पुं० दे० 'आलंभ'।

आल—संज्ञा पुं० [सं०] हरताल।

संज्ञा स्त्री० [सं० अल्=भूषित करना] (१) एक पौधा जिसकी खेती पहले रंग के लिये बहुत होती थी। यह प्रत्येक दूसरे वर्ष बोया जाता है और दो फुट ऊँचा होता है। इसका मूल रूप ३०—४० फुट का पूरा पेड़ होता है। इसके दो भेद हैं—एक मोटी आल और दूसरी छोटी आल। छोटी आल फसल के बीज से बोई जाती है और मोटी आल बड़े पेड़ों के बीज से आषाढ़ में बोई जाती है। इसकी छाल और जड़ गँड़ासे से काटकर हौज़ में सड़ने के लिये डाल दी जाती है और कई दिनों में रंग तैयार होता है। कहते हैं कि इससे रँगे हुए कपड़े में दीमक नहीं लगती। (२) इस पौधे से बना हुआ रंग।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक कीड़ा जो सरसों की फसल को हानि पहुँचाता है। माहो। (२) प्याज़ का हरा डंठल। † (३) कद्दू। लौकी।

संज्ञा पुं० [अनु०] झंझट। बखेड़ा। उ०—(क) आठ पहर योंही गया, माया मोह के आल। राम नाम हिरदय नहीं, जीत लिया जमजाल। (ख) कंचन केवल हरि भजन, दूजा काथ कथीर। झूठा आल जँजाल तजि, पकड़ा साँच कबीर।—कबीर।

यौ०—आल जंजाल=झंझट बखेड़ा।

संज्ञा पुं० [सं० आर्द्र] (१) गीलापन। तरी। (२) आँसू। उ०—सिसक्यो जल किन लेत दृग, भर पलकन में आल। बिचलत खैंचत लाज को मचलत लखि नँदलाल।—रसनिधि।

संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) बेटी की संतति।

यौ०—आल औलाद=बाल बच्चे।

(२) वंश। कुल। खानदान।

† संज्ञा पुं० [देश०] गाँव का एक भाग।

संज्ञा स्त्री० [सं० ओल वा आर्द्र] तरी। गीलापन। जैसे,—ऐसा बरसा कि आल से आल मिल गई।

आलकस†—संज्ञा पुं० [सं० आलस्य] [वि० आलकसी। क्रि० अ० अलकसाना] आलस्य।

आलथी पालथी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पालथी] बैठने का एक आसन जिसमें दाहिनी एँड़ी बाएँ जंघे पर और बाँई एँड़ी दाहिने जंघे पर रखते हैं।

क्रि० प्र०—मारना।—लगाना।

आलन—संज्ञा पुं० [हिं० सालन का अनु०] (१) घास भूसा आदि जो दीवारों में लगाई जानेवाली मिट्टी में मिलाया जाता है। (२) खर पात जो चूल्हा बनाने की मिट्टी वा कंडे पाथने के गोबर में मिलाया जाता है। (३) बेसन वा आटा जो साग बनाने के समय मिलाया जाता है।

आलना—संज्ञा पुं० [सं० आलय, फा० लाना] घोंसला।

आलपाका—संज्ञा पुं० दे० "अलपका"।

आलपीन—संज्ञा स्त्री० [पुर्त० आलफिनेट] एक घुंडीदार सूई जिसे अँगरेज़ी में पिन कहते हैं।

आलम—संज्ञा पुं० [अ०] (१) दुनिया। संसार। जगत्। जहान। (२) अवस्था। दशा। जैसे,—वे बेहोशी के अलम में हैं। (३) जन-समूह। बड़ी जमात।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का नृत्य। उ०—उलथा टेंकी आलम सदिंड। पद पलटि हुरूमयी निशंकचिंड।—केशव।

आलमनक—संज्ञा पुं० [पुर्त०] तिथि-पत्र। पंचांग। जंत्री।

आलमारी—संज्ञा स्त्री० दे० "अल्मारी"।

आलय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर। गृह। मकान। (२) स्थान।

यौ०—अनाथालय। देवालय। विद्यालय। शिवालय।

आलयविज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] अहंकार का आधार। (बौद्ध)

आलवाल—संज्ञा पुं० [सं०] थाला। अवाल।

आलस—वि० [सं०] आलसी। सुस्त। काहिल।

†*संज्ञा पुं० [सं० आलस्य] [वि० आलसी] आलस्य। सुस्ती।

आलसी—वि० [हिं० आलस] सुस्त। काहिल। धीमा। अकर्मण्य।

आलस्य—संज्ञा पुं० [सं०] कार्य्य करने में अनुत्साह। सुस्ती। काहिली

आला—संज्ञा पुं० [सं० आलय] ताक़। ताखा। अरवा।

वि० [अ०] (१) औवल दर्जे का। सब से बढ़िया। श्रेष्ठ। (२) सितार के उतरे और मुलायम स्वर।

संज्ञा पुं० [अ०] औज़ार। हथियार।

संज्ञा पुं० [सं० अलात] कुम्हार का आँवा। पजावा।

*†वि० [सं० आर्द्र वा ओल] (१) गीला। ओदा। नम। भीगा। उ०—आड़े दै आले बसन, जाड़ेहू की राति। साहस कैकै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति।—बिहारी। (२) हरा। टटका। ताज़ा।

आलाइश—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) गंदी वस्तु। मल। गलीज। (२) घाव का गंदा ख़ून, पीब वग़ैरह। (३) पेट के भीतर की अँतड़ी इत्यादि।

आलात—संज्ञा पुं० [सं०] लकड़ी जिसका एक छोर जलता हुआ हो। जलती लुआठी। लुक।

यौ०—आलात क्रीड़ा। आलात चक्र।

संज्ञा पुं० [अ०] औज़ार।

यौ०—आलात काश्तकारी=खेती में काम आनेवाले हल, पहटा आदि यंत्र।

संज्ञा पुं० [देश०] जहाज़ का रस्सा।

यौ०—आलातखाना=जहाज मे रस्से वग़ैरह रखने की कोठरी।

आलातचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] वह मंडल जो जलते हुए लुक को वेग के साथ घुमाने से दिखाई पड़ता है।

आलान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी बाँधने का खंभा व खूँटा। (२) हाथी बाँधने का रस्सा वा जंज़ीर। (३) बंधन। रस्सी।

आलाप—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आलापक, आलापित] (१) कथोपकथन। संभाषण। बातचीत।

यौ०—वर्त्तालाप।

(२) संगीत के सात स्वरों का साधन। तान।

क्रि० प्र०—लेना।

यौ०—आलापचारी।

आलापक—वि० [सं०] (१) बातचीत करनेवाला। (२) गानेवाला।

आलापचारी—संज्ञा स्त्री० [सं० आलाप+चारी] स्वरों को साधने की क्रिया। तान लड़ाने की क्रिया। जैसे—वहाँ तो ख़ूब आलापचारी हो रही है।

आलापना—क्रि० स० [सं०] गाना। सुर खींचना। तान लड़ाना।

आलापित—वि० [सं०] (१) कथित। संभाषित। (२) गाया हुआ।

आलापिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बाँसुरी। बंसी।

आलापी—वि० [सं० आलापिन्] [स्त्री० आलापिनी] (१) बोलनेवाला। उ०—माधोजू और न मोते पापी। मन क्रम बचन दुसह सबहिन सों कटुक बचन आलापी। जेतिक अधम उधारे तुम प्रभु तिनकी गति में नापी।—सूर। (२) आलाप लेनेवाला। तान लगानेवाला। गानेवाला।

आलारासी—वि० [सं० आलस्य ?] बेपरवाह। निर्द्वंद्व। (२) जहाँ किसी बात की पूछ पाछ न हो। बेपरवाही का।

यौ०—आलारासी कारखाना=अंधेरखाता।

आलावर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] कपड़े का पंखा।

आलिंगन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आलिंगित, आलिंगी, आलिंग्य] गले से लगाना। हृदय से लगाना। परिरंभण।

विशेष—यह सात प्रकार की बहिर्रतियों में गिना गया है; जैसे—आलिंगन, चुंबन, परस, मर्दन नख-रद-दान। अधरपान सो जानिए बहिरति सात सुजान।—केशव

आलिंगना*–क्रि० स० [सं०] अँकवार भरना। भेंटना। लपटाना। हृदय से लगाना। गले लगाना। उ०—पिय चूम्यो मुँह चूमि होत रोमांचित सगबग। आलिंगत मदमाति पीय अंगनि मेले अँग—व्यास।

आलिंगित—वि० [सं०] गले लगाया हुआ। हृदय से लगाया हुआ। परिरंभित।

आलिंगी–वि० [सं०] [स्त्री० आलिंगिनी] आलिंगन करनेवाला।

आलिंग्य–वि० [सं०] गले लगाने योग्य। हृदय से लगाने योग्य। परिरंभन करने योग्य।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का मृदंग।

आलि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सखी। सहेली। वयस्या (२) बिच्छू। (३) भ्रमरी। (४) पंक्ति। अवली। (५) सेतु। बाँध। (६) रेखा।

आलिम–वि० [अ०] विद्वान्। पंडित।

आली–संज्ञा स्त्री० [सं० आलि] सखी। सहेली। गोइयाँ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] चार बिस्वे के बराबर का एक मान।

विशेष—यह शब्द गढ़वाल और कुमाऊँ में बोला जाता है।

*† वि० स्त्री० [सं० आर्द्र] भीगी हुई। गीली। तर।

वि० [अ०] बड़ा। उच्च। श्रेष्ठ। माननीय।

यौ०—आलीशान। आलीजाह। जनाब आली।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः यौगिक शब्दों के साथ देखा जाता है।

वि० [हिं० आल] आल के रंग का। जैसे—आली रंग।

आलीजाह–वि० [अ०] ऊँचे दर्जे का। उच्च पदस्थ।

आलीशान–वि० [अ०] भव्य। भड़कीला। शानदार। विशाल।

आलुक–संज्ञा पुं० [सं० आलु] (१) आलू कंद। (२) शेषनाग।

आलू–संज्ञा पुं० [सं० आलु] एक प्रकार का कंद जो बहुत खाया जाता है। कार, कातिक में क्यारियों के बीच मेंड़ बनाकर आलू बोए जाते हैं जो पूस में तैयार हो जाते हैं। एक पौधे की जड़ में पाव भर के लगभग आलू निकलता है। भारतवर्ष में अब आलू की खेती चारों ओर होने लगी है; पर पटना, नैनीताल और चीरापूँजी इसके लिये प्रसिद्ध स्थान हैं। नैनीताल के पहाड़ी आलू बहुत बड़े बड़े होते हैं। आलू दो तरह के होते हैं—लाल और सफ़ेद। यह पौधा वास्तव में अमेरिका का है। वहाँ से १५८० में यह योरप में गया। भारतवर्ष में इसका उल्लेख सब से पहले उस भोज के विवरण में आता है, जो सन् १६१५ ई० में सर टामस रो को आसफ़खाँ की ओर से अजमेर में दिया गया था। जब पहले पहल आलू भारतवर्ष में आया था, तब हिन्दू उसे नहीं खाते थे; केवल मुसलमान और अँगरेज़ ही खाते थे। पर धीरे धीरे इसका प्रचार ख़ूब हुआ और अब हिन्दू व्रत के दिनों में भी इसे खाते हैं। 'आलू' शब्द पहले कई प्रकार के कंदों के लिये व्यवहृत होता था, विशेष कर 'अरुआ' के लिये। फ़ारसी में कुछ गोल फलों के लिये भी आलू शब्द का व्यवहार होता है; जैसे—आलूबुख़ारा, शफ़तालू, आलूचा।

यौ०—रतालू। शफ़तालू।

संज्ञा स्त्री० [सं० आलु] छोटा जलपात्र। झारी। लुटिया। घंटी।

आलूचा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) एक पेड़ जो पश्चिमी हिमालय पर गढ़वाल से काश्मीर तक होता है। इसका फल गोल गोल होता है और पंजाब इत्यादि में बहुत खाया जाता है। फल पकने पर पीला और स्वाद में खटमीठा होता है। अफ़गानिस्तान में आलूचे की एक जाति होती है, जिसके सूखे हुए फल आलूबुख़ारा के नाम से भारतवर्ष में आते हैं। आलूचे के पेड़ से एक प्रकार का पीला गोंद निकलता है। फल की गुठलियों से तेल निकाला जाता है, जो कहीं कहीं जलाने के काम में आता है। इसकी लकड़ी बहुत मुलायम होती है। इससे काश्मीर में रंगीन और नक़्क़ाशीदार संदूक बनाते हैं। (२) इस पेड़ का फल।

पर्या०—भोटिया बदाम। गर्दालू।

आलूबालू–संज्ञा पुं० [सं० आलु+बालू (अनु०)] आलूचे की तरह का एक पेड़ जो पश्चिमीय हिमालय पर होता है। इससे एक प्रकार का गोंद निकलता है। योरप में इसके फलों का अचार और मुरब्बा डालते हैं, बीज से शराब को स्वादिष्ट करते हैं और लकड़ी से बीन और बाँसुरी आदि बाजे बनाते हैं।

पर्या०—गिलास। ओलची।

आलूबुख़ारा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] आलूचा नामक वृक्ष का सुखाया हुआ फल। यह फल पश्चिमीय हिमालय में भी होता है, परंतु बुख़ारा प्रदेश का उत्तम समझा जाता है। इसी से इसका यह नाम प्रसिद्ध है। यह आँवले के बराबर और आड़ू के आकार का होता है और स्वाद में खटमीठा होता है। हिन्दुस्तान में आलूबुख़ारा अफ़गानिस्तान से आता है। यह दस्तावर है और ज्वर को शांत करता है। इसी से रोगियों को इसकी चटनी खिलाते हैं।

आलू शफ़तालू–संज्ञा पुं० [हिं० आलू+फ़ा० शफ़तालू (निरर्थक)] लड़कों का एक खेल जो पच्छिम में दिल्ली, मेरठ आदि स्थानों में खेला जाता है। इसमें एक लड़का दूसरे को घोड़ा बनाकर उसकी पीठ पर सवार होता है और उसकी आँखें अपने हाथों से बंद कर लेता है। तब एक तीसरा लड़का उसके पीछे खड़ा होकर उँगलियाँ बुझाता है। यदि घोड़ा बना हुआ लड़का उँगलियों की संख्या ठीक ठीक बतला देता है, तो वह खड़ा हो जाता है और उस उँगली बुझाने वाले लड़के को घोड़ा बनाकर उस पर सवार होता है

आलेख–संज्ञा पुं० [सं०] लिखावट। लिपि। लिखाई।

आलेख्य–संज्ञा पुं० [सं०] चित्र। तसवीर।

वि० लिखने योग्य।

यौ०—आलेख्य विद्या=मुसव्वरी। चित्रकारी।

आलेप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लेप। (२) उपलेप। पलस्तर।

आलेपन–संज्ञा पुं० [सं०] लेप करने का कार्य्य।

आलोक–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आलोक्य] (१) प्रकाश। चाँदनी। उजाला। रोशनी। (२) चमक। ज्योति।

यौ०—आलोकदायक। आलोकमाला।

(३) दर्शन। दीदार।

आलोकन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आलोकनीय, आलोकित] दर्शन। अवलोकन।

आलोकनीय–वि० [सं०] दर्शनीय। देखने योग्य।

आलोकित–वि० [सं०] देखा हुआ।

आलोच–संज्ञा पुं० [सं० आ+लुञ्चन] खेतों में गिरा हुआ अन्न बीनना। शीला।—डिं०।

आलोचक–वि० [सं०] [स्त्री० आलोचिका] (१) देखनेवाला। (२) जो किसी वस्तु के गुण-दोष की विवेचना करे। जो आलोचना करे। जाँचनेवाला।

आलोचण*–संज्ञा पुं० दे० "आलोच"।

आलोचन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दर्शन। (२) गुण-दोष का विचार। विवेचन। जाँच। (३) जैनमतानुसार पाप का प्रकाशन।

आलोचना–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० आलोचित] किसी वस्तु के गुण-दोष का विचार। गुण-दोष-निरूपण।

आलोचित–वि० [सं०] जिसके गुण-दोष का निरूपण किया गया हो। विचार किया हुआ।

आलोड़न–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आलोड़ित] (१) मथना। हिलोरना। (२) विचार। सोच विचार।

आलोड़ना–*क्रि० स० [सं० आलोड़न] (१) मथना। (२) हिलोरना। (३) खूब सोचना विचारना। ऊहापोह करना।

आलोड़ित–वि० [सं०] (१) मथा हुआ। (२) हिलोरा हुआ। (३) सोचा हुआ।

आल्हा–संज्ञा पुं० [देश०] (१) ३१ मात्राओं के एक छंद का नाम जिसे वीर छंद भी कहते हैं। इसमें १६ मात्राओं पर विराम होता है। उ०—सुमिरि भवानी जगदंबा का श्री सारद के चरन मनाय। आदि सरस्वति तुमका ध्यावों माता कंठ विराजौ आय।

(२) महोबे के एक पुरुष का नाम जो पृथ्वीराज के समय में था। (३) बहुत लंबा चौड़ा वर्णन।

मुहा०—आल्हा गाना=अपना वृत्तांत सुनाना। आप-बीती सुनाना।

यौ०—आल्हा का पँवार=व्यर्थ का लंबा चौड़ा वर्णन। वितंडावाद।

आवंत्य–वि० [सं०] (१) अवंति देश का। (२) अवंति देश का निवासी।

आव*–संज्ञा पुं० [सं० आयु] आयु। ज़िंदगी। उ०—मोहन दग इन दगन तें, जा दिन लख्यो न नेक। मति लेखौ वह आव में, विधि लेखनि लै छेंक।—रसनिधि।

आवआदर–संज्ञा पुं० [हिं० आना+सं० आदर] आव-भगत। आदर-सत्कार।

आवज–संज्ञा पुं० [सं० आवाद्य, पा० आवज्ज] एक पुराना बाजा जो ताशे के ढंग का होता है और जिसे आज कल चमार बहुत बजाते है।

आवझ*–संज्ञा पुं० दे० "आवज"।

आवटना*–संज्ञा पुं० [सं० आवर्त्त, पा० आवट्ट] (१) हलचल। उथल पुथल। डावाँडोलपन। अस्थिरता। (२) संकल्प विकल्प। ऊहापोह। उ०—जान भक्त का नित मरन, अनजाने का राज। सर औसर समझे नहीं, पेट भरन सों काज। जा घट जान बिनान है, तिस घट आवटना घना। बिन खाँड़े संग्राम है नित उठि मन सों जूझना।—कबीर।

क्रि० स० गरम करना। औटना। खौलाना। उ०—जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माह की राति। तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति।—बिहारी।

आवन*–संज्ञा पुं० [सं० आगमन, पुं० हिं० आगवन] आगमन। आना। उ०—द्वारे ठाढ़े हैं द्विज बावन। चारो बेद पढ़त मुख आगर अति सुगंध सुर गावन। बाणी सुनि बलि पूजन लागे इहाँ विप्र करो आवन—सूर।

आवनि*–संज्ञा स्त्री० दे० "आवन"।

आवनेय–संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी का पुत्र, मंगल।

आवपन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बोआई। (२) पेड़ का लगाना। (३) थाला। (४) सारे सिर का मुंडन।

यौ०—केशावपन।

आवभगत–संज्ञा पुं० [हिं० आवना+भक्ति] आदर-सत्कार। ख़ातिर-तवाज़ा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

आवभाव–संज्ञा पुं० [सं० भाव] आदर-सत्कार। ख़ातिर-तवाज़ा।

आवरखाबो–संज्ञा पुं० [बं० आवर=और+बं० खाबो=खाऊँगा] एक प्रकार की बँगला मिठाई।

आवरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आच्छादन। ढकना। (२) वह कपड़ा जो किसी वस्तु के ऊपर लपेटा हो। बेठन। (३) परदा। (४) ढाल। (५) दीवार इत्यादि का घेरा। (६) अज्ञान। (७) चलाए हुए अस्त्र शस्त्र को निष्फल करनेवाला अस्त्र।

आवरणपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह काग़ज़ जो किसी पुस्तक के ऊपर उसकी रक्षा के लिये लगा रहता है और जिसपर पुस्तक और पुस्तककर्त्ता के नाम इत्यादि भी रहते हैं। कवर।

आवरणशक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदांत में आत्मा वा चैतन्य की दृष्टि पर परदा डालनेवाली शक्ति।

आवर्जित–वि० [सं०] त्याग किया हुआ। छोड़ा हुआ।

आवर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी का भँवर। (२) चार मेघाधिपों में से एक। (३) वह बादल जिसमे पानी न बरसे। (४) एक प्रकार का रत्न। राजावर्त्त। लाजवर्द। (५) सोना माखी। (६) रोएँ की भँवरी। (७) सोच-विचार। चिंता। (८) संसार। वि० घूमा हुआ। मुड़ा हुआ।

यौ०—दक्षिणावर्त्त शंख=वह शंख जिसकी भौंरी दाहिनी तरफ़ गई हो। यह शंख बहुत मंगलप्रद समझा जाता है।

आवर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आवर्तनीय, आवर्त्तित] (१) चक्कर देना। फिराव। घुमाव। (२) विलोड़न। मथन। हिलाना। (३) धातु इत्यादि का गलाना। (४) दोपहर के पीछे पदार्थों की छाया का पश्चिम से पूर्व की ओर पड़ना। (५) तीसरा पहर। पराह्न।

आवर्त्तनीय–वि० [सं०] (१) घुमाने योग्य। (२) मथने योग्य।

आवर्त्तमणि–संज्ञा पुं० [सं०] राजावर्त्त मणि। लाजवर्द पत्थर।

आवर्त्तित–वि० [सं०] (१) घुमाया हुआ। (२) मथा हुआ।

आवर्दा–वि० [फ़ा०] (१) लाया हुआ। (२) कृपापात्र।
‡संज्ञा स्त्री० दे० "आयुर्दाय"।

आवलि–संज्ञा स्त्री० [सं०] पंक्ति। श्रेणी। क़तार।

आवली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंक्ति। श्रेणी। क़तार। (२) वह युक्ति वा विधि जिसके द्वारा बिस्वे की उपज का अंदाज होता है। जैसे, बिस्वे की उपज के ढेर का आधा करने से बीघे की उपज का मन निकलता है।

आवश्यक–वि० [सं०] (१) जिसे अवश्य होना चाहिए। ज़रूरी। सापेक्ष्य। जैसे,—(क) आज मुझे एक आवश्यक कार्य्य है। (ख) तुम्हारा वहाँ जाना कुछ आवश्यक नहीं। (२) प्रयोजनीय। काम का। जिसके बिना काम न चले। जैसे,—पहले आवश्यक वस्तुओं को इकट्ठा कर लो।

आवश्यकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज़रूरत। अपेक्षा। (२) प्रयोजन। मतलब।

आवश्यकीय–वि० [सं०] प्रयोजनीय। ज़रूरी।

आवसथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रहने की जगह। (२) बस्ती। गाँव।

आवसथ्य–वि० [सं०] घर का। ख़ानगी।
संज्ञा स्त्री० पाँच प्रकार की अग्नियों में से एक। वह अग्नि जो भोजन पकाने आदि के काम में आती है। लौकिकाग्नि।

आवह–संज्ञा पुं० [सं०] वायु के सात स्कंधों में से पहले स्कंध की वायु। भूवायु। (सिद्धांत-शिरोमणि में इस वायु को बारह योजन ऊपर माना है और इसी से बिजली, ओले आदि की उत्पत्ति बतलाई है।)

आवाँ–संज्ञा पुं० [हिं० आना, आवना] लोहा जब खूब लाल हो जाता है, तब उसको पीटने के लिये दूसरे लोहार को बुलाते हैं। इस बुलावे को 'आवाँ' कहते हैं।

आवागमन–संज्ञा पुं० [हिं० आवा=आना+सं० गमन] (१) आना जाना। अवाई जवाई। आमदरफ़्त। (२) बार बार मरना और जन्म लेना। जन्म और मरण।

यौ०—आवागमन से रहित=मुक्त। मोक्ष-पद-प्राप्त। जैसे,—पूर्ण ज्ञान के उदय से प्राणी आवागमन से रहित हो सकता है।

आवागवन*‡–संज्ञा पुं० दे० "आवागमन"।

आवागौन–संज्ञा पुं० दे० "आवागमन"।

आवाज़–संज्ञा पुं० [फ़ा० मिलाओ सं० आवाच, पा० आवाज्ज] (१) शब्द। ध्वनि। नाद।

क्रि० प्र०—आना।—करना।—देना।—लगाना।

(२) बोली। वाणी। स्वर। जैसे,—वे गाते तो हैं, पर उनकी आवाज़ अच्छी नहीं है। (३) फ़क़ीरों या सौदा बेचनेवालों की पुकार। (४) हल्ला गुल्ला। शोर।

मुहा०—आवाज़ उठाना=गाने में स्वर ऊँचा करना। **आवाज कसना**=(१) जोर से खींचकर शब्द निकालना। (२) दे० "आवाज़ कसना।" **आवाज़ खुलना**=(१) बैठी हुई आवाज़ का साफ़ निकलना। स्पष्ट शब्द निकलना। जैसे,—तुम्हारा गला बैठ गया है; इस दवा से आवाज़ खुल जायगी। (२) अधोवायु का निकलना। **आवाज़ गिरना**=स्वर का मंद पड़ जाना। **आवाज देना**=जोर से पुकारना। जैसे,—हमने आवाज़ दी, पर कोई नहीं बोला। **आवाज़ निकालना**=(१) बोलना। (२) चूँ करना। जबान खोलना। जैसे,—जो कहते हैं चुपचाप किए चलो, आवाज़ न निकालना। **आवाज़ पड़ना**=आवाज़ बैठना। **आवाज़ पर लगना**=आवाज़ पहचानकर चलना। आवाज़ देने पर कोई काम करना। जैसे,—तीतर अपने पालनेवाले की आवाज़ पर लग जाते हैं। **आवाज़ पर कान रखना**=(१) सुनना। (२) ध्यान देना। **आवाज़ फटना**=आवाज़ भर्राना। **आवाज़ लड़ना**=(१) एक के सुर का दूसरे के सुर से मेल खाना। (२) एक की आवाज़ दूसरे तक पहुँचना। **आवाज़ बैठना**=कफ़ के कारण स्वर का साफ़ न निकलना। गला बैठना। जैसे,—उनकी आवाज़ बैठ गई है, वे गावेंगे क्या? **आवाज़ भर्राना**=दे० "आवाज़ भारी होना"। **आवाज़ भारी होना**=कफ़ के कारण कंठ का स्वर विकृत होना। **आवाज़ मारना**=जोर से पुकारना। **आवाज़ मारी जाना**=स्वर सुरीला न रहना। स्वर का कर्कश होना। जैसे,—अवस्था बढ़ने पर आवाज़ भी मारी जाती है। **आवाज़ में आवाज़ मिलाना**=(१) स्वर मिलाना। (२) हाँ में हाँ मिलाना। दूसरा जो कह रहा है, वही कहना। **आवाज़ लगाना**=दे० "आवाज़ देना"।

आवाज़ा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] बोली ठोली। ताना। व्यंग्य।

क्रि० प्र०—कसना।—फेंकना।—मारना।—सुनाना।

आवाजाही‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० आना+जाना] आना जाना।

आवादानी–संज्ञा स्त्री० दे० "अबादानी"।

आवाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थाला । (२) धान आदि का खेत में रोपना । रोपाई । (३) हाथ का कड़ा । कंकड़ ।

आवारगी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] अवारापन । शुहदापन ।

आवारजा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] जमा-ख़र्च की किताब । वि० दे० "अवारजा" ।

आवारा-वि० [फ़ा०] [संज्ञा आवारगी] (१) व्यर्थ इधर उधर फिरनेवाला । निकम्मा । (२) बेठौर ठिकाने का । उठल्लू ।

क्रि० प्र०—घूमना ।—फिरना ।—होना ।

(३) बदमाश । लुच्चा । (४) कुमार्गी । शुहदा ।

आवारागर्द-वि० [फ़ा०] व्यर्थ इधर उधर घूमनेवाला । उठल्लू । निकम्मा ।

आवारागर्दी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) व्यर्थ इधर उधर घूमना । (२) बदमाशी । लुच्चापन । शुहदापन ।

आवाल-संज्ञा पुं० [सं०] थाला ।

आवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रहने की जगह । निवास-स्थान । (२) मकान । घर ।

आवासी‡-संज्ञा स्त्री० [हिं० औसना] अन्न का हरा दाना, विशेषत: जौ का दाना ।

आवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंत्र द्वारा किसी देवता को बुलाने का कार्य्य । (२) निमंत्रित करना । बुलाना ।

आविद्ध-वि० [सं०] (१) छिदा हुआ । भेदा हुआ । (२) फेंका हुआ ।

संज्ञा पुं० तलवार के ३२ हाथों में से एक, जिसमें तलवार को अपने चारों ओर घुमाकर दूसरे के चलाए हुए वार को व्यर्थ वा ख़ाली करते हैं ।

आविर्भाव-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आविर्भूत] (१) प्रकाश । प्राकट्य । (२) उत्पत्ति । जैसे,—रामानुज का आविर्भाव दक्षिण में हुआ था । (३) आवेश । जैसे,—महात्माओं में क्रोध का आविर्भाव नहीं होता ।

आविर्भूत-वि० [सं०] (१) प्रकाशित । प्रकटित । (२) उत्पन्न ।

आविर्होत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

आविल-वि० [सं०] कलुष । मैला ।

आविष्कर्त्ता-वि० [सं०] आविष्कार करनेवाला ।

संज्ञा पुं० आविष्कार करनेवाला व्यक्ति ।

आविष्कार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आविष्कारक, आविष्कर्त्ता, आविष्कृत] (१) प्राकट्य । प्रकाश । (२) कोई ऐसी वस्तु तैयार करना जिसके बनाने की युक्ति पहले किसी को न मालूम रही हो । ईजाद । जैसे,—रेल का आविष्कार इंगलैंड देश में हुआ । (३) किसी तत्व का पहले पहल ज्ञान प्राप्त करना । किसी बात का पहले पहल पता लगाना । साक्षात्करण । जैसे,—उस विद्वान् ने विज्ञान में बहुत से आविष्कार किए ।

आविष्कारक-वि० दे० "आविष्कर्त्ता" ।

आविष्कृत-वि० [सं०] (१) प्रकाशित । प्रकटित । (२) पता लगाया हुआ । जाना हुआ । (३) ईजाद किया हुआ । निकाला हुआ ।

आविष्क्रिया-संज्ञा स्त्री० दे० "आविष्कार" ।

आवीती-वि० [सं० आवीतिन्] दाहिने कंधे पर जनेऊ रक्खे हुए । जनेऊ उलटा रक्खे हुए । अपसव्य ।

आवृत-वि० [सं०] (१) छिपा हुआ । ढका हुआ । (२) लपेटा हुआ । आच्छादित । (३) घिरा हुआ । छेका हुआ ।

आवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बार बार किसी बात का अभ्यास । एक ही काम को बार बार करना । जैसे,—पाठ की आवृत्ति कर जाओ । (२) पाठ करना । पढ़ना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

आवेग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चित्त की प्रबल वृत्ति । मन की झोंक । ज़ोर । जोश । जैसे,—क्रोध के आवेग में हमने तुम्हें वे बातें कही थीं । (२) रस के संचारी भावों में से एक । अकस्मात् इष्ट वा अनिष्ट के प्राप्त होने से चित्त की आतुरता ।

आवेज़ा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) लटकनेवाली वस्तु । (२) किसी गहने में शोभा के लिये लटकती हुई वस्तु । जैसे—लटकन, झुलनी इत्यादि ।

आवेदक-वि० [सं०] निवेदन करनेवाला ।

आवेदन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आवेदक, आवेदनीय, आवेदित, आवेदी, आवेद्य] अपनी दशा को सूचित करना । निवेदन । अर्ज़ी ।

क्रि० प्र०—करना ।

यौ०—आवेदनपत्र ।

आवेदनीय-वि० [सं०] निवेदन करने योग्य ।

आवेदनपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र वा काग़ज़ जिस पर सुधार की आशा से कोई अपनी दशा लिखकर सूचित करे ।

आवेदित-वि० [सं०] निवेदन किया हुआ । सूचित किया हुआ । निवेदित ।

आवेदी-वि० [सं०] निवेदन करनेवाला । सूचित करनेवाला ।

आवेद्य-वि० [सं०] दे० "आवेदनीय" ।

आवेल तेल-संज्ञा पुं० [देश०] नारियल का वह तेल जो ताज़ी गरी से निकाला गया हो । वह तेल जो सूखी गरी से निकाला जाता है । 'मुठेल' का उलटा ।

आवेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्याप्ति । संचार । दौरा । (२) प्रवेश । (३) चित्त की प्रेरणा । झोंक । वेग । आतुरता । जोश । उ०—क्रोध के आवेश में मनुष्य क्या नहीं कर डालता । (३) भूत प्रेत की बाधा । (४) मृगी रोग ।

आवेष्टन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आवेष्टित] (१) छिपाने वा ढँकने का कार्य्य । (२) छिपाने वा ढँकने की वस्तु । (३) वह वस्तु जिसमें कुछ लपेटा हो ।

आवेष्टित-वि० [सं०] छिपा हुआ । ढँका हुआ ।

आशंका-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० आशंकित] (१) डर। भय। ख़ौफ़। (२) शक। शुबहा। संदेह। (३) अनिष्ट की भावना।

आशंकित-वि० [सं०] (१) डरा हुआ। भयभीत। (२) संदेहात्मक।

आशना-संज्ञा उभ० [फ़ा०] (१) जिससे जान पहचान हो। (२) चाहनेवाला। प्रेमी। (३) प्रेमपात्र। जैसे,—(क) वह औरत उसकी आशना है। (ख) वह उस औरत का आशना है।

आशनाई-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) जान पहचान। (२) प्रेम। प्रीति। दोस्ती। (३) अनुचित संबंध।

आशफल-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वृक्ष जो मदरास, बिहार और बंगाल में बहुत होता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है और सजावट के असबाब बनाने के काम में आती है।

आशय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभिप्राय। मतलब। तात्पर्य्य। (२) वासना। इच्छा। जैसे,—ईश्वर क्लेश, कर्म विपाक और आशय से रहित है।

यौ०—उच्चाशय। नीचाशय। महाशय।

(३) स्थान। आधार। जैसे,—आमाशय। गर्भाशय। जलाशय। पक्वाशय। (४) गड्ढा। खात।

आशर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस। उ०—काहू कहूँ शर आशर मारिय। आरत शब्द अकाश पुकारिय।—केशव। (२) अग्नि।

आशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अप्राप्त के पाने की इच्छा और थोड़ा बहुत निश्चय। जैसे,—(क) आशा लगाए बैठे हैं; देखें कब उनकी कृपा होती है। (ख) आशा मरे, निराशा जीए। (२) अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के थोड़े बहुत निश्चय से उत्पन्न संतोष। जैसे,—आशा है कि कल रुपया मिल जायगा।

क्रि० प्र०—करना।—तोड़ना।—रखना।—लगाना।

मुहा०—आशा टूटना=आशा न रहना। आशा भंग होना। जैसे,—तुम्हारे नहीं कर देने से हमारी इतने दिनों की आशा टूट गई। आशा तोड़ना=किसी को निराश करना। जैसे,—इस तरह किसी की आशा तोड़ना ठीक नहीं। आशा देना=किसी को उम्मेद बँधाना। किसी को उसके अनुकूल कार्य्य करने का वचन देना। जैसे,—किसी को आशा देकर धोखा देना ठीक नहीं है। आशा पूजना=आशा पूरी होना। आशा पूरी होना=इच्छा और संभावना के अनुसार किसी कार्य्य वा घटना का होना। जैसे,—बहुत दिनों पर आज हमारी आशा पूरी हुई। आशा पूरी करना=किसी की इच्छा और निश्चय के अनुसार कार्य्य करना। आशा बँधना=आशा उत्पन्न होना। जैसे,—रोग कमी पर है, इसी से कुछ आशा बँधती है। आशा बँधना=आशा करना।

यौ०—आशातीत। आशापाश। आशाबद्ध। आशाभंग। आशारहित। आशावान्। निराश। हताश।

(३) दिशा।

यौ०—आशापाल=दिक्पाल। आशावसन=दिगंबर। उ०—आशावसन व्यसन यह तिनहीं। रघुपति चरित होहिं तहँ सुनहीं।—तुलसी।

(४) दक्ष प्रजापति की एक कन्या। (५) संगीत में एक राग जो भैरव राग का पुत्र कहा जाता है।

आशाढ़-संज्ञा पुं० [सं०] आषाढ़।

आशिक़-संज्ञा पुं० [अ०] प्रेम करनेवाला मनुष्य। चित्त से चाहनेवाला मनुष्य। अनुरक्त पुरुष।

वि० प्रेमी। आसक्त। चाहनेवाला। मोहित।

क्रि० प्र०—होना।

यौ०—आशिक़तन। आशिक़ज़ार। आशिक़-मिज़ाज।

आशिक़ाना-वि० [अ०] आशिक़ों की तरह का। आशिक़ों का सा। आशिक़ों के ढंग का।

आशियाँ, आशियाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) चिड़ियों का बसेरा। पक्षियों के रहने का स्थान। घोंसला। (२) छोटा सा घर। झोपड़ा।

आशिष-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आशीर्वाद। आसीस। दुआ। (२) एक अलंकार जिसमें अप्राप्त वस्तु के लिये प्रार्थना होती है। उ०—मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल। यह बानिक मो मन सदा, बसहु बिहारीलाल।—बिहारी।

आशिषाक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] वह काव्यालंकार जिसमें दूसरे का हित दिखलाते हुए ऐसी बातों के करने की शिक्षा दी जाय जिनसे वास्तव में अपने ही दुःख की निवृत्ति हो। उ०—मंत्री मित्र पुत्र जन केशव कलत्र गन सोदर सुजन जन भट सुख साज सों। एतो सब होत जात जो पै है कुशल गात अबहीं चलौ कै प्रात शकुन समाज सों। कीन्हों जो पयान बाध छमिये सो अपराध रहिये न पल आध बँधिये न लाज सों। हौं न कहौं कहत निगम सब अब तब राजन परम हित आपने ही काज सों।—केशव।

आशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सर्प का विषैला दाँत। (२) बुद्धि नाम की जड़ी जो दवा के काम में आती है।

वि० [सं० आशिन्] [स्त्री० आशिनी] खानेवाला। भक्षक।

यौ०—घाताशी।

विशेष—इसका प्रयोग समास के अंत ही में होता है।

आशीर्वचन-संज्ञा पुं० [सं०] आशीर्वाद। आसीस। दुआ।

आशीर्वाद-संज्ञा पुं० [सं०] किसी के कल्याण की कामना प्रकट करना। मंगल कामना-सूचक वाक्य। आशिष। दुआ।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—मिलना।—लेना।

यौ०—आशीर्वादात्मक।

आशीविष-संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। साँप।

आशु-क्रि० वि० [सं०] बरसात में होनेवाला एक धान। सावन

भादों में होनेवाला धान। व्रीहि। पाटल। आउस। साठी।

क्रि० वि० शीघ्र। जल्द। तुरंत।

विशेष—गद्य में इसका प्रयोग प्रायः यौगिक शब्दों के साथ ही में होता है।

यौ०—आशु कवि। आशुतोष। आशुव्रीहि। आशुमत।

आशुकवि-संज्ञा पुं० [सं०] वह कवि जो तत्क्षण कविता कर सके।

आशुग-वि० [सं०] जल्दी चलनेवाला। शीघ्रगामी।

संज्ञा पुं० (१) वायु। (२) बाण। तीर।

आशुतोष-वि० [सं०] शीघ्र संतुष्ट होनेवाला। जल्दी प्रसन्न होनेवाला।

संज्ञा पुं० शिव। महादेव।

आशुशुक्षणि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) वायु।

आशोब-संज्ञा पुं० [फ़ा०] आँख की पीड़ा।

आश्चर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आश्चर्य्यित] (१) वह मनोविकार जो किसी नई, अभूतपूर्व, असाधारण, बहुत बड़ी, अथवा समझ में न आनेवाली बात के देखने, सुनने वा ध्यान में आने से उत्पन्न होता है। अचंभा। विस्मय। तअज्जुब।

क्रि० प्र०—करना।—मानना।—होना।

यौ०—आश्चर्य्यकारक। आश्चर्य्यजनक।

(२) रस के नौ स्थायी भावों में से एक।

आश्चर्य्यित-वि० [सं०] विस्मित। चकित।

आश्च्योतनकर्म-वि० [सं०] आँख में दिन के समय किसी औषध की आठ बूँद डालना।

आश्रम-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आश्रमी] (१) ऋषियों और मुनियों का निवास-स्थान। तपोवन। (२) साधु संत के रहने की जगह—जैसे, कुटी या मठ। (३) विश्राम-स्थान। ठहरने की जगह। (४) स्मृति में कही हुई हिंदुओं के जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ। ये अवस्थाएँ चार हैं—ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। उ०—देहिं असीस भूमिसुर प्रमुदित प्रजा प्रमोद बढ़ाए। आश्रम धर्म विभाग वेद पथ पावन लोग चलाए।

यौ०—गृहस्थाश्रम। वर्णाश्रम। आश्रम-धर्म। आश्रमवास।

आश्रमी-वि० [सं०] (१) आश्रम-संबंधी। (२) आश्रम में रहनेवाला। (३) ब्रह्मचर्य्यादि चार आश्रमों में से किसी को धारण करनेवाला।

आश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आश्रयी, आश्रित] (१) आधार। सहारा। अवलंब। जैसे,—छत खंभों के आश्रय पर है।

यौ०—आश्रयाश।

(२) आधार वस्तु। वह वस्तु जिसके सहारे पर कोई वस्तु हो। (३) शरण। पनाह। ठिकाना। जैसे,—(क) वह चारों ओर मारा मारा फिरता है, उसे कहीं आश्रय नहीं मिलता। (ख) राजा ने उसको अपने यहाँ आश्रय दिया।

क्रि० प्र०—चाहना।—ढूँढ़ना।—देना।—पाना।—मिलना।—लेना।

(४) जीवन निर्वाह का हेतु। भरोसा। सहारा। जैसे,—हमें तुम्हारा ही आश्रय है कि और किसी का। (५) राजाओं के छः गुणों में से एक। (६) घर। मकान।

आश्रयण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आश्रयणीय] सहारा लेने का कार्य्य।

आश्रयणीय-वि० [सं०] अवलंबन के योग्य। जिसका सहारा लेना उचित हो।

आश्रयाश-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि। आग।

आश्रयी-वि० [सं०] आश्रय लेनेवाला। आश्रय पानेवाला। सहारा लेनेवाला। सहारा पानेवाला।

आश्रव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी के कहे पर चलना। वचन। स्थिति। (२) अंगीकार। (३) क्लेश। (४) जैन मत के अनुसार मन, वाणी और कर्म्म से किए हुए कर्म्म का संस्कार जिसे जीव ग्रहण करके बद्ध होता है। यह दो प्रकार का है—पुण्याश्रव और पापाश्रव। (५) बौद्ध दर्शन के अनुसार विषय जिसमें प्रवृत्त होकर मनुष्य बंधन में पड़ता है। यह चार प्रकार का है—कामाश्रव, भावाश्रव, दृष्टाश्रव और अविद्याश्रव।

आश्रित-वि० [सं०] (१) सहारे पर टिका हुआ। ठहरा हुआ। उ०—यहि विधि जग हरि आश्रित रहई। बेद पुरान निगम अस कहई।—तुलसी। (२) भरोसे पर रहनेवाला। दूसरे का सहारा लेनेवाला। अधीन। शरणागत। जैसे,—वह तो आपका आश्रित है; जैसे चाहिए, उसको रखिए। (३) सेवक। दास।

संज्ञा पुं० न्याय मत से आकाश और परमाणु नित्य द्रव्यों को छोड़ दूसरे अनित्य द्रव्यों का किसी न किसी अंश में एक दूसरे से साधर्म्य। आश्रितत्व। साधर्म्य।

विशेष—भिन्न भिन्न नित्य द्रव्य परमाणुओं ही से बने हैं; अतः रूपांतर होने पर भी उनमें किसी न किसी अंश में समानता रहेगी। पर नित्य द्रव्य पृथक् हैं, इससे उनमें एक दूसरे से साधर्म्य नहीं।

आश्लिष्ट-वि० [सं०] (१) आलिंगित। हृदय से लगा हुआ। (२) लगा हुआ। चिपटा हुआ। सटा हुआ। मिला हुआ।

आश्लेष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आलिंगन। (२) लगाव।

आश्लेषण-संज्ञा पुं० [सं०] मिलावट। मेल।

यौ०—आश्लेषण विश्लेषण=कई दवाओं को एक साथ मिलाना और कई मिली हुई दवाओं को अलग अलग करना।

आश्लेषा-संज्ञा पुं० [सं०] श्लेषा नक्षत्र।

आश्वयुज-संज्ञा पुं० [सं०] वह महीना जिसकी पूर्णिमा अश्विनी नक्षत्र-युक्त हो। आश्विन। क्वार।

आश्वास-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आश्वासक] (१) सांत्वना।

दिलासा। तसल्ली। आशाप्रदान। (२) किसी कथा का एक भाग।

आश्वासक-वि० [सं०] दिलासा देनेवाला। भरोसा देनेवाला।

आश्वासन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आश्वासनीय, आश्वासित, आश्वास्य] दिलासा। तसल्ली। सांत्वना। आशाप्रदान।

आश्वासनीय-वि० [सं०] दिलासा देने योग्य। तसल्ली देने योग्य।

आश्वासित-वि० [सं०] दिलासा दिया हुआ। दिलासा पाया हुआ।

आश्वास्य-वि० [सं०] दे० "आश्वासनीय"।

आश्विन-संज्ञा पुं० [सं०] वह महीना जिसकी पूर्णिमा अश्विनी नक्षत्र में पड़े। क्वार का महीना।

आश्विनेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्विनीकुमार। (२) नकुल-सहदेव।

आषाढ़-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह चांद्र मास जिसकी पूर्णिमा को पूर्वाषाढ़ नक्षत्र हो। ज्येष्ठ मास के पश्चात् और श्रावण के पूर्व का महीना। असाढ़। (२) ब्रह्मचारी का दंड।

आषाढ़ा-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र।

आषाढ़ाभू-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

आषाढ़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आषाढ़ मास की पूर्णिमा। इस दिन गुरुपूजा वा व्यासपूजा होती है। वृष्टि आदि का आगम निश्चय करने के लिये वायु परीक्षा भी इसी दिन की जाती है। (२) इस पूर्णिमा के दिन होनेवाले कृत्य।

आषाढ़ी योग-संज्ञा पुं० [सं०] आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को अन्न की तौल से सुवृष्टि आदि का निश्चय।

विशेष—इस दिन लोग थोड़ा सा अन्न तौलकर हवा में रख देते हैं। यदि वहां की सील से अन्न की तौल कुछ बढ़ गई, तो समझते हैं कि वृष्टि होगी और सुकाल रहेगा।

आसंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साथ। संग। (२) लगाव। संबंध। (३) आसक्ति। अनुरक्ति। लिप्तता। (४) मुलतानी मिट्टी जिसे लोग सिर में मलकर स्नान करते हैं।

क्रि० वि० सतत। निरंतर। लगातार।

आसंदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मचिया। मोढ़ा। कुरसी। (२) खटोला।

आस-संज्ञा स्त्री० [सं० आशा] (१) आशा। उम्मेद उ०—(क) साथ चला संग बीछुरा, भय बिच समुद पहार। आस निरासा हौं फिरौं, तू बिधि देहि अधार।—जायसी। (ख) अद्भुत सलिल सुनत सुखकारी। आस पियास मनोमल-हारी।—तुलसी। (२) लालसा। कामना। उ०—(क) जा कोउ दृष्टि न आवै पूरन होइ अकास। जोगि जती संन्यासी, तप साधहिं तेहि आस।—जायसी। (ख) तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू।—तुलसी। (३) सहारा। आधार। भरोसा। जैसे,—हमें किसी दूसरे की आस नहीं।

मुहा०—आस करना=(१) आशा करना। (२) आसरा करना। मुँह ताकना। जैसे,—चलते पौरुष किसी की आस करना ठीक नहीं। आस छोड़ना=आशा परित्याग करना। उम्मेद न रखना। आस टूटना=निराश होना। जैसे,—जब आस टूट जाती है, तब कुछ करते धरते नहीं बनता। आस तकना=(१) आसरा देखना। इंतज़ार करना। जैसे,—तुम्हारी आस तकते तकते दोपहर हो गए। (२) सहायता की अपेक्षा रखना। मुँह जोहना। जैसे,—ईश्वर न करे, दूसरे की आस तकनी पड़े। आस तजना=आशा छोड़ना। आस तोड़ना=किसी की आशा के विरुद्ध कार्य्य करना। किसी को निराश करना। जैसे,—किसी की आस तोड़ना ठीक नहीं। आस देना=(१) उम्मेद बँधाना। किसी को उसके इच्छानुकूल कार्य्य करने का वचन देना। जैसे,—किसी को आस देकर तोड़ना ठीक नहीं। (२) संगीत में किसी बाजे वा स्वर से सहायता देना। आस पुराना=आशा पूरी करना। आस पूजना=आशा पूरी होना। इच्छानुकूल फल मिलना। उ०—एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी।—तुलसी। आस पूरना=दे० 'आस पूजना। आस बँधना=आशा उत्पन्न होना। जैसे,—रोगी की अवस्था कुछ सुधरी है, इसी से आस बँधती है। आस बाँधना=उम्मेद करना। किसी अनुकूल घटना की संभावना का निश्चय करना। आस रखना=आशा रखना। उम्मेद रखना। जैसे,—ऐसे कृपण से कोई क्या आस रक्खे। आस लगना=आशा उत्पन्न होना। आस लगाना=आशा बांधना। आस होना=(१) आशा होना। (२) सहारा होना। आश्रय होना। (३) गर्भ होना। गर्भ रहना। जैसे,—तुम्हारी बहू को कुछ आस है?

यौ०—आस औलाद।

संज्ञा पुं० दिशा। उ०—जैसे तैसे बीतिगे कलपत द्वादश मास। आई बहुरि बसंत ऋतु बिमल भई दस आस।—रघुराज।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) धनुष। कमान। (२) चूतड़।

यौ०—कप्यास

आसकत-संज्ञा पुं० [सं० आशक्ति] [वि० आसकती। क्रि० असकताना] सुस्ती। आलस्य।

आसकती-वि० [हिं० आसकत+ई=(प्रत्य०)] आलसी।

आसक्त-वि० [सं०] (१) अनुरक्त। लीन। लिप्त। जैसे,—इंद्रियों में आसक्त रहना ज्ञानियों का काम नहीं। (२) आशिक़। मोहित। लुब्ध। मुग्ध। जैसे,—वह उस स्त्री पर आसक्त है।

आसक्ति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुरक्ति। लिप्तता। (२) लगन। चाह। प्रेम। इश्क़।

आसतीन-संज्ञा स्त्री० दे० "आस्तीन"।

आसते*-क्रि० वि० [फ़ा० आहिस्ता] (१) धीरे धीरे। उ०—पौन

करू आसते, न जाउ उढि बास ते, अरी गुलाब पास तें उठाउ आस पास तें।—पद्माकर।

(२) होते हुए।

क्रि० अ० दे० "आसना"।

आसतोष*-वि० संज्ञा पुं० दे० "आशुतोष"।

आसत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] सामीप्य। निकटता। (२) अर्थ-बोध के लिये बिना व्यवधान के एक दूसरे से संबंध रखने-वाले दो पदों वा शब्दों का पास पास रहना। जैसे यदि कहा जाय कि "वह खाता था पुस्तक और पढ़ता था दाल चावल" तो कुछ बोध नहीं होता, क्योंकि आसत्ति नहीं है। पर यदि कहें कि 'वह दाल चावल खाता था और पुस्तक पढ़ता था' तो तात्पर्य्य खुल जाता है। पदों का अन्वय आसत्ति के अनुसार होता है।

आसथा*-संज्ञा स्त्री० [सं० आस्था] अंगीकार।—डिं०।

आसथान*-संज्ञा पुं० दे० "आस्थान"।

आसन-संज्ञा पुं० [सं०] (२) स्थिति। बैठने की विधि। बैठक। जैसे,—ठीक आसन से बैठो।

विशेष—यह अष्टांग योग का तीसरा अंग है और पाँच प्रकार का है—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन। कामशास्त्र वा कोकशास्त्र में भी रति प्रसंग के ८४ आसन हैं।

यौ०—पद्मासन। सिद्धासन। गरुड़ासन। कमलासन। मयूरासन।

मुहा०—**आसन उखड़ना**=अपनी जगह से हिल जाना। घोड़े की पीठ पर रान न जमना। जैसे,—वह अच्छा सवार नहीं है; उसका आसन उखड़ जाता है। **आसन उठना**=स्थान छूटना। प्रस्थान होना। जाना। जैसे,—तुम्हारा आसन यहाँ से कब उठेगा? **आसन करना**=(१) योग के अनुसार अंगों को तोड़ मरोड़कर बैठना। (२) बैठना। टिकना। ठहरना। जैसे,—उन महात्मा ने वहाँ आसन किया है। **आसन कसना**=अंगों को तोड़ मरोड़कर बैठना। **आसन छोड़ना**=उठ जाना। चला जाना। **आसन जमना**=(१) जिस स्थान पर जिस रीति से बैठे, उसी स्थान पर उसी रीति से स्थिर रहना। जैसे,—अभी घोड़े की पीठ पर उनका आसन नहीं जमता है। (२) बैठने में स्थिर भाव आना। जैसे,—अब तो यहाँ आसन जम गया, अब जल्दी नहीं उठते। **आसन जमाना**=स्थिर भाव से बैठना। जैसे,—वह एक घड़ी भर भी कहीं आसन जमाकर नहीं बैठता। **आसन जोड़ना**=दे० 'आसन जमाना'। **आसन डिगना**=(१) बैठने में स्थिर भाव न रहना। (२) चित्त चलायमान होना। मन डोलना। इच्छा और प्रवृत्ति होना। जैसे,—(क) जब रुपए का लोभ दिखाया गया, तब तो उसका भी आसन डिग गया। (ख) उस सुन्दरी कन्या को देख नारद का आसन डिग गया। (जिससे जिस बात की आशा न हो, वह यदि उस बात को करने पर राज़ी वा उतारू हो, तो उसके विषय में यह कहा जाता है।) **आसन डिगाना**=(१) जगह से विचलित करना। (२) चित्त को चलायमान करना। लोभ वा इच्छा उत्पन्न करना। **आसन डोलना**=(१) चित्त चलायमान होना। लोगों के विश्वास के विरुद्ध किसी की किसी वस्तु की ओर इच्छा वा प्रवृत्ति होना। जैसे,—(क) मेनका के रूप को देख विश्वामित्र का भी आसन डोल गया। (ख) रुपए का लालच ऐसा है कि बड़े बड़े महात्माओं का भी आसन डोल जाता है। (२) चित्त क्षुब्ध होना। हृदय पर प्रभाव पड़ना। हृदय में भय और करुणा का संचार होना। जैसे,—(क) विश्वामित्र के घोर तप को देख इंद्र का आसन डोल उठा। (ख) जब प्रजा पर बहुत अत्याचार होता है, तब भगवान का आसन डोल उठता है। **आसन डोल**=कहारों की बोली। जब पालकी का सवार बीच से खिसककर एक ओर होता है और पालकी उस ओर झुक जाती है, तब कहार लोग यह वाक्य बोलते हैं। **आसन तले आना**=वश में आना। अधीन होना। **आसन देना**=सत्कारार्थ बैठने के लिये कोई वस्तु रख देना वा बतला देना। बैठाना। **आसन पहचानना**=बैठने के ढंग से घोड़ों का सवार को पहचानना। जैसे,—घोड़ा आसन पहचानता है, देखो मालिक के चढ़नेसे कुछ इधर उधर नहीं करता। **आसन पाटी**=खाट खटोला। ओढ़ने बिछाने की वस्तु। **आसन पाटी लेकर पड़ना**=अटवाटी खटवाटी लेकर पड़ना। दुःख और कोप प्रकट करने के लिये ओढ़ना ओढ़कर या बिछौना बिछाकर खूब आडंबर के साथ सोना। **आसन बाँधना**=दोनों रानों के बीच दबाना। जाँघों से जकड़ना। **आसन मारना**=(१) जमकर बैठना। (२) पालथी लगाकर बैठना। उ०—मठ मंडप चहुँ पास सँवारे। जपा तपा सब आसन मारे।—जायसी। **आसन लगाना**=(१) आसन मारना। जमकर बैठना। (२) टिकना। ठहरना। जैसे,—बाबाजी, आज तो यहीं आसन लगाइए। (३) किसी कार्य्य के साधन के लिये अड़कर बैठना। जैसे,—यदि आज न दोगे तो यहीं आसन लगावेगा। (४) बैठने की वस्तु फैलाना। बिछौना बिछाना। जैसे,—बाबाजी के लिये यहीं आसन लगा दो। **आसन होना**=रति प्रसंग के लिये उद्यत होना।

(२) बैठने के लिए कोई वस्तु। वह वस्तु जिस पर बैठें।

विशेष—बाज़ार में ऊन, मूँज वा कुश के बने हुए चौखूँटे आसन मिलते हैं। लोग इन पर बैठकर अधिकतर पूजन वा भोजन करते हैं।

(३) टिकान वा निवास। (साधुओं की बोली)

(४) साधुओं का डेरा वा निवास स्थान।

क्रि० प्र०—**करना**=टिकना। डेरा डालना।—**देना**=टिकाना। ठहराना। डेरा देना।

(५) चूतड़। (६) हाथी का कंधा जिस पर महावत बैठता है। (७) सेना का शत्रु के सामने डटे रहना।

आसना*†-क्रि० अ० [अस्=होना] होना। उ०—(क) है नाहीं कोइ ताकर रूपा। ना वहि सों कोइ आहि अनूपा।—जायसी। (ख) मरी डरी कि टरी व्यथा, कहा खरी चलि चाह। रही कराहि कराहि अति, अब मुख आहि न आह—बिहारी।

संज्ञा पुं० [सं० आसन] (१) जीव। (२) वृक्ष।

आसनी-संज्ञा स्त्री० [सं० आसन का हिं० अल्पा०] छोटा आसन। छोटा बिछौना।

आसन्न-वि० [सं०] निकट आया हुआ। समीपस्थ। प्राप्त।

यौ०—आसन्नकाल=(१) प्राप्त काल। आया हुआ समय। (२) मृत्युकाल। (३) जिसका समय आ गया हो। (४) जिसका मृत्युकाल निकट हो। आसन्नप्रसवा=जिसे शीघ्र बच्चा होनेवाला हो।

आसन्नता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नैकट्य। सामीप्य।

आसन्नभूत-संज्ञा [सं०] (१) वह भूतकाल जो वर्त्तमान से मिला हुआ हो, अर्थात् जिसे बीते थोड़ा ही काल हुआ हो। (२) भूतकालिक क्रिया का वह रूप जिससे क्रिया की पूर्णता और वर्त्तमान से उसकी समीपता पाई जाय। जैसे,—मैं रहा हूँ। मैं आया हूँ। उसने खाया है। मैंने देखा है।

विशेष—सामान्य भूत की अकर्मक क्रिया के आगे कर्त्ता के वचन और पुरुष के अनुसार 'हूँ' है, हैं, हो, लगाने से आसन्न भूत क्रिया बनती है। पर सकर्मक क्रिया के आगे केवल कर्म के वचन के अनुसार 'है वा हैं' तीनों पुरुषों में लगता है।

आसपास-क्रि० वि० [अनु० आस+सं० पार्श्व] चारों ओर। निकट। क़रीब। इर्द गिर्द। इधर उधर। अगल बगल।

आसबंद-संज्ञा पुं० [सं० आश्रय+बन्ध] एक तागा है जो पटवों के पैर के अँगूठे में बँधा रहता है। इसी तागे में ज़ेवर को अटका कर गूँथते हैं।

आसमान-संज्ञा पुं० [फ़ा० मिलाओ सं० आशा=दिशा, स्थान+मान] [वि० आसमानी] (१) आकाश। गगन। (२) स्वर्ग। देवलोक। उ०—चहूँ ओर सब नगर के लसत दिवाले चारू। आसमान तजि जनु रह्यो गीरवान परिवारू।—गुमान।

मुहा०—आसमान के तारे तोड़ना=कोई कठिन वा असंभव कार्य्य करना। जैसे,—कहो तो तुम्हारे लिये मैं आसमान के तारे तोड़ लाऊँ। आसमान ज़मीन के कुलाबे मिलाना=(१) खूब लंबी चौड़ी हाँकना। खूब बढ़ बढ़कर बातें करना। (१) गहरा जोड़ तोड़ लगाना। विकट कार्य्य करना। आसमान झाँकना वा ताकना=(१) घमंड से सिर ऊपर उठाना। तनना। (२) मुर्गबाजों की बोली में मुर्ग का मस्त होकर लड़ने के लिये तैयार होना। झड़प चाहना। जैसे;—अब तो यह मुर्ग़ा आसमान झाँकने लगा। (जब मुर्ग़ ज़ोर में भरता है, तब आसमान की ओर देख कर नाचता है। इसी से यह मुहाविरा बना है)। आसमान टूट पड़ना=किसी विपत्ति का अचानक आ पड़ना। वज्रपात होना। ग़ज़ब पड़ना। जैसे,—क्यों इतना झूठ बोलते हो, आसमान टूट पड़ेगा। आसमान दिखाना=(१) कुश्ती में पछाड़कर चित करना। (२) पराजित करना। प्रतिपक्षी को हराना। आसमान पर उड़ना=(१) इतराना। ग़रूर करना। (२) बहुत ऊँचे ऊँचे संकल्प बाँधना। ऐसा कार्य्य करने का विचार प्रकट करना जो सामर्थ्य से बाहर हो। बहुत बढ़कर बातें करना। डींग हाँकना। आसमान पर चढ़ना=ग़रूर करना। घमंड दिखाना। शेखी मारना। सिट्ट मारना। जैसे—(क) कौन सा ऐसा काम कर दिखाया है जो आसमान पर चढ़े जाते हो। (ख) उनका मिज़ाज आज कल आसमान पर चढ़ा है। आसमान पर चढ़ाना=(१) अत्यंत प्रशंसा करना। जैसे,—आप जिसकी प्रशंसा करने लगते हैं उसे आसमान पर चढ़ा देते हैं। (२) अत्यंत प्रशंसा करके किसी को फुला देना। तारीफ करके मिज़ाज बिगाड़ देना। जैसे,—तुमने तो और उसको आसमान पर चढ़ा रक्खा है, जिसके कारण वह किसी को कुछ समझता ही नहीं। आसमान पर थूकना=किसी महात्मा के ऊपर लांछन लगाने के कारण स्वयं निंदित होना। किसी सज्जन को अपमानित करने के कारण उलटे आप तिरस्कृत होना। आसमान में थिगली लगाना=विकट कार्य्य करना। जहाँ किसी की गति न हो, वहाँ पहुचना। जैसे—कुटनियाँ आसमान में थिगली लगाती हैं। आसमान में छेद करना=दे० "आसमान में थिगली लगाना"। आसमान सिर पर उठाना=(१) ऊधम मचाना। उपद्रव मचाना। (२) हलचल मचाना। खूब आंदोलन करना। धूम मचाना। आसमान सिर पर टूट पड़ना=दे० "आसमान टूट पड़ना" आसमान से गिरना=(१) अकारण प्रकट होना। आप से आप आ जाना। जैसे,—अगर यह पुस्तक यहाँ तुमने नहीं रक्खी, तो क्या यह आसमान से गिरी है? (२) अनायास प्राप्त होना। बिना परिश्रम मिलना। जैसे,—कुछ काम धाम करते नहीं, रुपया क्या आसमान से गिरेगा? आसमान से बातें करना=आसमान छूना। आसमान तक पहुँचना। बहुत ऊंचा होना। जैसे,—माधवराय के दोनों धरहरे आसमान से बातें करते हैं। दिमाग़ आसमान पर होना=बहुत अभिमान होना।

आसमान-खोंचा-संज्ञा पुं० [फ़ा० आसमान+हिं० खोंचा] (१) लंबा लग्गा वा धरहरा जो ऊपर दूर तक गया हो। (२) बहुत लंबा आदमी। (३) एक तरह का हुक्का जिसकी नै इतनी लंबी होती है कि हुक्का नीचे रहता है और पीनेवाला कोठे पर।

आसमानी-वि० [फ़ा०] (१) आकाश-संबंधी। आकाशीय। आसमान का। (२) आकाश के रंग का। हलका नीला। (३) दैवी। ईश्वरीय। जैसे,—उनके ऊपर आसमानी ग़ज़ब पड़ा।
संज्ञा स्त्री० (१) ताड़ के पेड़ से निकाला हुआ मद्य। ताड़ी। किसी प्रकार का नशा जैसे भाँग, शराब। (३) मिस्र देश की एक कपास। (४) पालकी के कहारों की एक बोली। जब कोई पेड़ की डाल आदि आगे आ जाती है जिसका ऊपर से पालकी में धक्का लगाने का डर रहता है, तब आगेवाले कहार पीछेवालों को 'आसमानी' 'आसमानी' कह कर सचेत करते हैं।

आसमुद्र-क्रि० वि० [सं०] समुद्र-पर्यंत। समुद्र के तट तक। उ०—आसमुद्र के छितीस और जाति कौ गनै। राज भौम भोज को सबै जने गए बनै।—केशव।

आसय*-संज्ञा पुं० दे० "आशय"।

आसर-संज्ञा पुं० दे० "आशर"।
संज्ञा पुं० [अ० अशर] दस रुपये (क़साइयों की बोली)

आसरना*-क्रि० स० [सं० आश्रय] आश्रय लेना। सहारा लेना। उ०—नर तनु भक्ति तुम्हारे होय। तन में जीव आसरै सोय।

आसरा-संज्ञा पुं० [सं० आश्रय] (१) सहारा। आधार। अवलंब जैसे,—(क) यह छत खंभों के आसरे पर है। (ख) बुड्ढे लोग लाठी के आसरे पर चलते हैं। (२) भरण पोषण की आशा। भरोसा। आस। (३) किसी से सहायता पाने का निश्चय। जैसे,—यहाँ हमें आप ही का आसरा है, दूसरा हमारा कौन है।
क्रि० प्र०—करना।—लगाना।—होना।
मुहा०—आसरा टूटना=भरोसा न रहना। नैराश्य होना। आसरा देना=वचन देना। किसी बात का विश्वास दिलाना।
(३) जीवन वा कार्य्य-निर्वाह का हेतु। आश्रयदाता। सहायक। जैसे,—हम तो अपना आसरा आप ही को समझते हैं। (४) शरण। पनाह। जैसे,—जिसने तुम्हें आसरा दिया, उसी के साथ ऐसा करते हो।
क्रि० प्र०—ढूँढ़ना।—देना।—पकड़ना।—लेना।
(५) प्रतीक्षा। प्रत्याशा। इंतज़ार।
क्रि० प्र०—तकना।—देखना।—में रहना।
(६) आशा। जैसे,—उसका अब क्या आसरा है, चार दिनों का मेहमान है।

आसव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मद्य जो भभके से न चुआई जाय, केवल फलों के ख़मीर को निचोड़ कर बनाई जाय। (२) औषध का एक भेद। कई द्रव्यों को पानी में मिलाकर भूमि में ३०-४० वा ६० दिन तक गाड़ रखते हैं; फिर उस ख़मीर को निकालकर छान लेते हैं। इसी को आसव कहते हैं। (३) अर्क़।

आसवी-वि० [सं०] शराबी। मद्यप। मद्यपान करनेवाला। उ०—वे नैनन से आसवी, मैन लखे घनश्याम। छकि छकि मतवारे रहैं, तब छबि मद बसु जाम।—श्टं० सत०

आसा-संज्ञा पुं० दे० "आशा"।
संज्ञा पुं० [अ० असा] सोने चाँदी का डंडा जिसे केवल सजावट के लिये राजा महाराजों अथवा बरात और जुलूस के आगे चोबदार लेकर चलते हैं।
यौ०—आसा बल्लम। आसा सोंटा।

आसाइश-संज्ञा पुं० [फ़ा०] आराम। सुख। चैन।

आसाढ़*-संज्ञा पुं० दे० 'आषाढ़'।

आसान-वि० [फ़ा०] सहज। सरल। सीधा। सहल।

आसानी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] [वि० आसान] सरलता। सुगमता। सुभीता।

आसपाल-संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ का नाम।

आसाम-संज्ञा पुं० [देश०] भारत का एक प्रांत जो बंगाल के उत्तर पूर्व में है। इसको प्राचीन काल में 'कामरूप' देश कहते थे। इस देश में हाथी अच्छे होते हैं। यहाँ पहले 'आहम' वंशी क्षत्रियों का राज्य था। इसी से इस देश का नाम आहाम वा आसाम पड़ गया है। मनीपुर के राजा लोग अपने को इसी वंश का बतलाते हैं।

आसामी-संज्ञा पुं०, संज्ञा स्त्री० दे० 'असामी'।
वि० [हिं० आसाम] आसाम देश का। आसाम-देश-संबंधी।
संज्ञा पुं० आसाम देश का निवासी।
संज्ञा स्त्री० आसाम देश की भाषा।

आसार-संज्ञा पुं० [अ०] (१) चिह्न। लक्षण। निशान। (२) चौड़ाई।
संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धारा-संपात। मूसलाधार वृष्टि। मेघमाला।—डिं०।

आसारित-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक गीत।

आसावरी-संज्ञा पुं० [?] (१) श्रीराग की एक रागिनी। इसका स्वर ध, नि, स, म, प, ध, है और गाने का समय प्रातः-काल १ दंड से ५ दंड तक। दे० "असावरी"। (२) एक प्रकार का कबूतर। (३) एक प्रकार का सूती कपड़ा।

आसिख, आसिखा*-संज्ञा स्त्री० दे० "आशिष"।

आसिद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] राजाज्ञा के अनुसार मुद्दई के द्वारा हिरासत में किया हुआ मुद्दालै: (प्रतिवादी)।

आसिन-संज्ञा पुं० [सं० आश्विन] क्वार का महीना।

आसी*-वि दे० "आशी"।

आसीन-वि० [सं०] बैठा हुआ। विराजमान।

आसीस-संज्ञा पुं० [सं० आ+ शीर्ष] तकिया। उसीसा। उ०—तिस पर फेन से बिछौने फूलों से सँवारे बिशाल गडुवा और आसीसे समेत सुगंध से महँक रहे थे।—लल्लू

संज्ञा पुं० दे० "आशिष"।

आसु*-सर्व० [सं० अस्य। जैसे 'यस्य' से जासु, 'तस्य' से तासु] इसका। उ०—प्रेम फाँद जो परा न छूटा। जीव दीन्ह पै फाँद न टूटा। जानि पुछार जो भय बनबासू। रोवँ रोवँ परि फाँद न आसू।—जायसी।

क्रि० वि० दे० "आशु"।

आसुग*-वि० संज्ञा पुं० दे० "आशुग"।

आसुतोष*-संज्ञा पुं०, वि० दे० "आशुतोष"।

आसुर-वि० [सं०] असुर-संबंधी।

संज्ञा पुं० खिरिया। सोंचर नमक। कटीला। विड् लवण।

यौ०—आसुर विवाह-वह विवाह जो कन्या के माता-पिता को द्रव्य देकर हो। आसुरावेश=भूत लगना।

आसुरि, आसुरी-संज्ञा पुं० [सं०] एक मुनि जो सांख्य योग के आचार्य्य कपिल मुनि के शिष्य थे।

आसुरी-वि० [सं०] असुरसंबंधी। असुरों का। राक्षसी।

यौ०—आसुरी चिकित्सा=शस्त्र-चिकित्सा। चीर फाड़। आसुरी माया=चक्कर मे डालनेवाली राक्षसों की चाल।

संज्ञा स्त्री० (१) राक्षस की स्त्री। उ०—कहूँ किन्नरी किन्नरी लै बजावैं। सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावैं।—केशव। (२) वैदिक छंदों का एक भेद।

आसुरी संपत्-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राक्षसी वृत्ति। बुरे कर्मों का संचय। (२) कुमार्ग से आई हुई संपत्ति। बुरी कमाई का धन।

आसूदगी-संज्ञा स्त्री० [फा०] तृप्ति। संतोष।

आसूदा-वि० [फ़ा०] (१) संतुष्ट। तृप्त। (२) संपन्न। भरा पूरा।

यौ०—आसूदा हाल=खाने पीने से खुश।

आसेक्य-वि० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का नपुंसक।

आसेध-संज्ञा पुं० [सं०] राजा की आज्ञा से वादी (मुद्दई) का प्रतिवादी (मुद्दालेः) को हिरासत में रखना।

आसेब-संज्ञा पुं० [फा०] [वि० आसेबी] भूत प्रेत की बाधा।

क्रि० प्र०—उतरना।—उतारना।—लगना।—होना।

आसेर*-संज्ञा पुं० [सं० आश्रय] क़िला।—डिं०।

आसोज†-संज्ञा पुं० [सं० अश्वयुज] आश्विन् मास। क्वार का महीना।

आसौं*-क्रि० वि० [सं० अस्मिन्, प्रा० अस्सि=इस+सं० सम=वर्ष] इस वर्ष। इस साल।

आस्तर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिछौना। बिछावन। (२) हाथी की झूल।

आस्तार पंक्ति-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद का नाम जिसके पहले और चौथे चरण में १२ वर्ण और दूसरे तथा तीसरे चरण में ८ वर्ण होते हैं। यह सब मिलाकर ४० वर्ण का छंद है।

आस्तिक-वि० [सं०] (१) वेद, ईश्वर और परलोक इत्यादि पर विश्वास करनेवाला। (२) ईश्वर के अस्तित्व को माननेवाला।

संज्ञा पुं० वेद, ईश्वर और परलोक को माननेवाला पुरुष।

आस्तिकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद, ईश्वर और परलोक में विश्वास।

आस्तिकपन-संज्ञा पु० [सं० आस्तिक+हिं० पन] आस्तिकता।

आस्तिक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर, वेद और परलोक पर विश्वास। (२) जैन शास्त्रानुसार जिन-प्रणीत सब भावों के अस्तित्व पर विश्वास।

आस्तीक-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम, जिन्होंने जनमेजय के सर्पसत्र में तक्षक का प्राण बचाया था। ये जरत्कारु ऋषि और वासुकि नाग की कन्या से उत्पन्न हुए थे।

आस्तीन-संज्ञा स्त्री० [फा०] पहनने के कपड़े का वह भाग जो बाँह को ढँकता है। बाँही।

मुहा०—आस्तीन का साँप=वह व्यक्ति जो मित्र होकर शत्रुता करे। ऐसा संगी जो प्रकट मे हिला मिला हो और हृदय से शत्रु हो। आस्तीन चढ़ाना=(१) कोई काम करने के लिये मुस्तैद होना। (२) लड़ने के लिये तैयार होना। आस्तीन में साँप पालना=शत्रु वा अशुभ चिंतक को अपने पास रख कर उसका पोषण करना।

आस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूज्य बुद्धि। श्रद्धा।

क्रि० प्र०—रखना।

(२) सभा। बैठक। (३) आलंबन। अपेक्षा।

आस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैठने की जगह। बैठक। (२) सभा। दरबार।

आस्पद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थान। (२) कार्य्य। कृत्य। (३) पद। प्रतिष्ठा। (४) अल्ल। वंश। कुल। जाति। जैसे, आप कौन आस्पद हैं। (५) कुंडली में दसवाँ स्थान।

आस्फोट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ठोकर वा रगड़ से उत्पन्न शब्द। (२) ताल ठोंकने का शब्द। (३) मदार।

आस्फोटक-संज्ञा पु० [सं०] अख़रोट

आस्फोटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नवमल्लिका। चमेली।

आस्य-संज्ञा पुं० [सं०] मुख। मुँह। मुखमंडल चेहरा।

आस्यपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

आस्रव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उबलते हुए चावल का फेन। (२) पनाला। (३) इंद्रियद्वार। उ०—आस्रव इंद्रियद्वार कहावै। जीवहिं विषयन ओर बहावै। (४) क्लेश। कष्ट। (५) जैनमतानुसार औदारिक और कामादि द्वारा आत्मा की गति जो दो प्रकार की है—शुभ और अशुभ।

आस्वाद-संज्ञा पुं० [सं०] रस। स्वाद। ज़ायका। मज़ा।

आस्वादन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आस्वादनीय, आस्वादित] चखना। स्वाद लेना। रस लेना। मज़ा लेना।

आस्वादनीय-वि० [सं०] चखने योग्य। स्वाद लेने योग्य। रस लेने योग्य। मज़ा लेने योग्य।

आस्वादित-वि० [सं०] चखा हुआ। स्वाद लिया हुआ। रस लिया हुआ। मज़ा लिया हुआ।

आह-अव्य० [सं० अहह] पीड़ा, शोक, दुःख, खेद और ग्लानि-सूचक अव्यय। पीड़ा—आह! बड़ा भारी काँटा पैर में धँसा। दुःख, शोक—आह! अन्न के बिना उसकी क्या दशा हो रही है। थोड़ा क्रोध और खेद—आह! तुमने तो हमें हैरान कर डाला।

संज्ञा स्त्री० कराहना। दुःख या क्लेशसूचक शब्द। ठंढी साँस। उसास। उ०—तुलसी आह गरीब की, हरि सों सही न जाय। मुई खाल की फूँक सों, लोह भसम होइ जाय।—तुलसी।

मुहा०—आह करना=हाय करना। कलपना। ठंढी साँस लेना। उ०—(क) आह करों तो जग जले, जंगल भी जल जाय। पापी जियरा ना जले, जिसमें आह समाय। (ख) भरथहिं बिछोह पिंगला, आह करत जिव दीन्ह। हौं साँपिन जो जियत हों, यही दोष हम कीन्ह।—जायसी। आह खींचना=ठंढी सांस भरना। उसास खींचना। जैसे,—उसने आह खींचकर कहा कि जो तेरे जी में आवे, सो कर। आह पड़ना=शाप पड़ना। किसी को दुःख पहुँचाने का फल मिलना। जैसे,—तुम पर उसी दुखिया की आह पड़ी है। आह भरना=ठंढी सांस खींचना। उ०—चितहिं जो चित्र कीन्ह, धन रों रों अंग समीप। सहा साल दुख आह भर, मुरछ परी कामीप।—जायसी। आह मारना=ठंढी साँस खींचना। उ०—आह जो भारी विरह की, आग उठी तेहि लाग। हंस जो रहा शरीर महँ, पंख जरे तव भाग।—जायसी। आह लेना=सताना। दुःख देकर कलपाना। किसी को सताने का फल अपने ऊपर लेना। जैसे,—नाहक किसी की आह क्यों लेते हो।

*संज्ञा पुं० [सं० साहस=स+आहस्] (१) साहस। हियाव। उ०—भाल लाल बेंदी दिये, छुटे बार छवि देत। गह्यो राहु अति आह करि, मनु ससि सूर समेत।—बिहारी। (२) बल। उ०—जड़ के निकट प्रवीन की, नहीं चलै कछु आह। चतुराई ढिग अंध के, करै चितेरी चाह।—दीनदयाल।

आहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० आ=आना+हट (प्रत्य०), जैसे बुलाहट, घबराहट] (१) शब्द जो चलने में पैर तथा और दूसरे अंगों से होता है। आने का शब्द। पाँव की चाप। खड़का। उ०—(क) किसी के आने की आहट मिल रही है। (ख) होत न आहट भो पग धारे। बिनु घंटन ज्यों गज मतवारे।—लाल। (ग) आहट पाय गोपाल की ग्वालि गली महँ जायके धाय लियो है।

क्रि० प्र०—पाना।—मिलना।—लेना।

(२) आवाज़ जिससे किसी स्थान पर किसी के रहने का अनुमान हो। जैसे,—कोठरी में किसी आदमी की आहट मिल रही है।

क्रि० प्र०—पाना।—मिलना।—लेना।

(३) पता। सुराग़। टोह। निशान।

क्रि० प्र०—लगना।—लगाना।

आहत-वि० [सं०] [संज्ञा आहति] (१) जिस पर आघात हुआ हो। चोट खाया हुआ। घायल। ज़ख़मी। जैसे, उस युद्ध में ४०० सिपाही आहत हुए। (२) जिस संख्या को गुणित करें। गुण्य। (३) व्याघात-दोष-युक्त (वाक्य)। परस्पर विरुद्ध (वाक्य)। असंभव (वाक्य)। (४) तुरंत का धोया हुआ (वस्त्र)। (वस्त्र) जो अभी धुलकर आया हो। (५) पुराना। जीर्ण। गला हुआ। (६) चलित। कंपित। थर्राता हुआ। हिलता हुआ।

यौ०—हताहत=मारे हुए और जख़मी।

संज्ञा पुं० [सं०] ढोल।

आहति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चोट। मार। (२) गुणन। गुणना।

आहन-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [वि० आहनी] लोहा।

आहनी-वि० [फ़ा०] लोहे का।

आहर-संज्ञा पुं० [सं० अहः] समय। काल। दिन। उ०—कित तप कीन्ह छाँड़िकै राजू। आहर गयो न भा सिध काजू।—जायसी।

संज्ञा पुं० [सं० आहव] युद्ध। लड़ाई।

संज्ञा पुं० [सं० आहाव] [अल्प० आहरा] वह हौज़ जो पोखरे से छोटा हो, पर तलैया और मारू से बड़ा हो।

आहरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आहरणीय। कर्तृ० आहर्ता] (१) छीनना। हर लेना। (२) किसी पदार्थ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना। स्थानांतरित करना। अपनयन। (३) ग्रहण। लेना।

आहरणीय-वि० [सं०] छीनने योग्य। हर लेने योग्य।

आहरन-संज्ञा पुं० [आहनन] लोहारों और सुनारों की निहाई।

आहरी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० आहर का अल्पा०] (१) छोटा हौज़ वा गड्ढा। अहरी। (२) थाला। (३) कूएँ के पास का हौज़ वा गड्ढा जो पशुओं के पानी पीने के लिये बनाया जाता है।

आहर्ता-वि० [सं०] [स्त्री० आहर्त्री] (१) हरण करनेवाला। छीननेवाला। लेनेवाला। लेजानेवाला। (२) अनुष्ठान करनेवाला। अनुष्ठाता।

आहला†-संज्ञा पुं० [सं० आ+हला=जल] जल की बाढ़।

आहव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध। लड़ाई। (२) यज्ञ।

आहवन-संज्ञा [सं०] [वि० आहवनी] यज्ञ करना। होम करना।

आहवनी-वि० [सं०] यज्ञ करने योग्य। होम करने योग्य।

आहवनीय (अग्नि)-संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्मकाण्ड में तीन प्रकार की अग्नियों में तीसरी। यह गार्हपत्य अग्नि से निकालकर अभिमंत्रित करके यज्ञ के लिये मंडप में पूर्व ओर स्थापित की जाती है।

आहाँ-संज्ञा पुं० [सं० आह्वान] (१) हाँक। दुहाई। उ०—अदल जो कीन्ह उमर की नाईं। भइ आहाँ सगरी दुनियाईं।—जायसी। (२) पुकार। बुलावा। उ०—भइ आहाँ पदुमावत चली। छत्तिस कुरि भइँ गोहन भली।—जायसी।
† अव्य० [अ=नहीं+हाँ] अस्वीकार का शब्द। जैसे,—प्रश्न—तुम कुछ और लोगे। उत्तर—आहाँ।

आहा-अव्य० [सं० अहह] आश्चर्य्य और हर्षसूचक अव्यय। जैसे,—आश्चर्य्य—आहा! आप ही थे, जो दीवार की आड़ से बोल रहे थे। हर्ष—आहा! क्या सुंदर चित्र है।

आहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजन। खाना।
क्रि० प्र०—करना।—होना।
यौ०—आहार विहार। निराहार। फलाहार।
(२) खाने की वस्तु। जैसे,—बहुत दिनों से उसे ठीक आहार नहीं मिला है।

आहारक-संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्रानुसार एक प्रकार की उपलब्धि जिसके द्वारा चतुर्दश पूर्वाधारी मुनिराज अपनी शंका के समाधान के लिये हस्तमात्र शरीर धारण कर तीर्थंकरों के पास उपस्थित होते हैं।

आहार विहार-संज्ञा पुं० [सं०] खाना, पीना, सोना आदि शारीरिक व्यवहार। रहन-सहन।
यौ०—मिथ्या आहार विहार=विरुद्ध शारीरिक व्यवहार। खाने पीने आदि में व्यतिक्रम।

आहारी-वि० [सं० आहारिन्] स्त्री० आहारिणी] खानेवाला। भक्षक।

आहार्य्य-वि० [सं०] (१) ग्रहण किया हुआ। गृहीत। (२) कृत्रिम। बनावटी। (३) खाने योग्य।
संज्ञा पुं० [सं०] चार प्रकार के अनुभावों में चौथा। नायक और नायिका का परस्पर एक दूसरे का वेश धारण करना। उ०—स्याम रँग धारि पुनि बाँसुरी सुधारि कर पीत पट धारि बानी माधुरी सुनावैगी। जरकसी पाग अनुराग भरे सीस बाँधि कुंडल किरीटहू की छबि दरसावैगी। याही हेत खरी अरी हेरति हौं बाट वाकी कैयो बहुरूपि हूँ को श्रीधर भुरावैगी। सकल समाज पहिचानैगो न केहू भाँति आज वह बाल बृजराज बनि आवैगी।—श्रीधर।

आहार्य्याभिनय-संज्ञा पुं० [सं०] बिना कुछ बोले या चेष्टा किए केवल रूप और वेषद्वारा ही नाटक के अभिनय का संपादन; जैसे चोबदार का चपकन पहने आसा लिए राजा के निकट खड़ा रहना।

आहिंडिक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० आहिंडकी] वर्ण संकर जो निषाद जाति के पुरुष और वैदेह जाति की स्त्री के संयोग से उत्पन्न हो। यह धर्म-शास्त्र में महाशूद्र कहा गया है।

आहि-क्रि० अ० 'आसना' का वर्त्तमान कालिक रूप है।

आहिक-संज्ञा पुं० [सं०] केतु। पुच्छल तारा।

आहित-वि० [सं०] (१) रक्खा हुआ। स्थापित।
यौ०—आहिताग्नि।
(२) धरोहर रक्खा हुआ। (३) गिरों रक्खा हुआ। रेहन रक्खा हुआ।
संज्ञा पुं० [सं०] पंद्रह प्रकार के दासों में से एक, जो अपने स्वामी से इकट्ठा धन लेकर उसकी सेवा में रहकर उसे पटाता हो।

आहिताग्नि-संज्ञा पुं० [सं०] अग्निहोत्री।

आहिस्ता-क्रि० वि० [फ़ा०] धीरे से। धीरे धीरे। शनैः शनैः। धीमे से।

आहुक-संज्ञा पुं० [सं०] एक यादव का नाम।

आहुड़-संज्ञा पुं० [सं० आहव] युद्ध। लड़ाई।

आहुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अतिथि-यज्ञ। नृयज्ञ। मनुष्य-यज्ञ। आतिथ्यसत्कार। (२) भूतयज्ञ। बलिवैश्वदेव।

आहुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मंत्र पढ़कर देवता के लिये द्रव्य को अग्नि में डालना। होम। हवन। उ०—शिव आहुति की बेरि जब आई। विप्रन दक्ष पूँछियो जाई।—सूर। (२) हवन में डालने की सामग्री (३) होम द्रव्य की वह मात्रा जो एक बार यज्ञकुंड में डाली जाय। उ०—आहुत यज्ञकुंड में डारि। कह्यो पुरिष उपजै बल भारि।—सूर।
क्रि० प्र०—करना।—छोड़ना।—डालना।—देना।—पड़ना।—होना।
यौ०—आज्याहुति। पूर्णाहुति।

आहुती*†-संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "आहुति"।

आहू-संज्ञा पुं० [फ़ा०] हिरन। मृग।

आहूत-वि० [सं०] बुलाया हुआ। आह्वान किया हुआ। निमंत्रित।
यौ०—अनाहूत।

आहृत-वि० [सं०] (१) जो हरण किया गया हो। जो लिया गया हो। (२) जो लाया गया हो। आनीत। लाया हुआ।

आहे*-क्रि० अ० 'आसना' का वर्त्तमान कालिक रूप है।

आह्निक-वि० [सं०] दिन का। दैनिक। रोज़ाना। जैसे,—आह्निक कर्म्म। आह्निक कृत्य।
संज्ञा पुं० (१) एक दिन का काम। (२) सूत्रात्मक शास्त्र के भाष्य का एक अंश जो एक दिन में पढ़ा जाय। (३) अध्यापक। (४) रोज़ाना मज़दूरी। (५) एक दिन की मज़दूरी।

आह्लाद-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० आह्लादित] आनंद। खुशी। हर्ष।
यौ०—आह्लादप्रद।

आह्लादक-वि० [सं०] [स्त्री० आह्लादिका] आनंददायक। खुशी देनेवाला।

आह्लादित-वि० [सं०] आनंदित। हर्षित। प्रसन्न। खुश।

आह्वय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाम। संज्ञा।

यौ०—गजाह्वय। नागाह्वय। शताह्वय।
(२) तीतर, बटेर, मेढ़े आदि जीवों की लड़ाई की बाज़ी। प्राणिद्यूत।
विशेष—मनु के धर्मशास्त्र में इसका बहुत निषेध है।

आह्वान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुलाना। बुलावा। पुकार। (२) राजा की ओर से बुलावे का पत्र। समन। तलबनामा। (३) यज्ञ में मंत्र द्वारा देवताओं को बुलाना।
क्रि० प्र०—करना।—होना।

इ

इ—वर्णमाला में स्वर के अंतर्गत तीसरा वर्ण। इसका स्थान तालु और प्रयत्न विवृत है। ई इसका दीर्घ रूप है।

इंक—संज्ञा स्त्री० [अं०] स्याही। मसी। रोशनाई। यह दो प्रकार की होती है—लिखने की और छापने की। लिखने की स्याही कसीस, हड़, माजू आदि को औटाकर बनती है और छापने की स्याही राल, तेल, काजल इत्यादि को घोंटकर बनाई जाती है।

इंक-टेबुल—संज्ञा पुं० [अं०] छापेखाने में स्याही देने की चौकी। यह दो प्रकार की होती है। सिंपुल (सादी)=यह सिर्फ़ एक चिकनी और साफ़ लोहे की ढली हुई चौकी होती है। सिलेंड्रिकल (बेलनदार)=एक लोहे की साफ़ और चिकनी चौकी जिसके एक ओर लोहे का एक बेलन लगा रहता है। बेलन के पीछे एक नाली सी बनी रहती है जिसमें कुछ पेंच लगे होते हैं और स्याही भरी रहती है। उन पेंचों को कसने और ढीला करने से स्याही आवश्यकतानुसार कम वा अधिक आती है और पिसकर बराबर हो जाती है। बेलनवाली चौकी में स्याही देनेवाले को अधिक मलने का परिश्रम नहीं करना पड़ता।

इंक-मैन—संज्ञा पुं० [अं०] छापेखाने में स्याही देनेवाला मनुष्य। स्याहीवान।

इंक-रोलर—संज्ञा पुं० [अं०] छापेखाने में स्याही देने का बेलन। यह तीन प्रकार का होता है—(१) लकड़ी का मोटा बेलन जिस पर कंबल, बनात वगैर: लपेटकर ऊपर से चमड़ा मढ़ते हैं। यह बेलन पत्थर के छापे में काम देता है। (२) लकड़ी का बेलन जिस पर रबर ढालकर चढ़ाते हैं। यह बहुत कम काम में आता है। (३) तीसरे प्रकार का बेलन गराड़ीदार लकड़ी पर गला हुआ गुड़ और सरेस चढ़ाकर बनाते हैं। यही अधिक काम में आता है।

इंग—संज्ञा पुं० [सं० इङ्ग=इशारा, चिह्न] (१) चलना। हिलना। डुलना। (२) इशारा। (३) निशान। चिह्न। (४) हाथी का दाँत। उ०—बंक लगे कुच बीच नखक्षत देखि भई दृग दूनी लजारी। मानों बियोग बराह हन्यो युग शैल की संधिनि इंगवै डारी।—केशव।

इंगन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० इंगित] (१) चलना। काँपना। हिलना। डोलना। (२) इशारा करना।

इंगनी—संज्ञा स्त्री० [अं० मैंगनीज़] एक प्रकार का मोर्चा जो धातुओं में आक्सिजन के मिलने से पैदा होता है। इंगनी भारतवर्ष में मध्य भारत, मैसूर, मध्य प्रांत और मद्रास की खानों से निकलती है। यह काँच के हरेपन को दूर करने और काँच का लुक करने में काम आती है। यह अब एक प्रकार का सफ़ेद लोहा बनाने के काम में भी आती है जिसे अँगरेज़ी में 'फेरो मैंगनीज़' कहते हैं।

इंगला—संज्ञा स्त्री० [सं० इडा] इड़ा नाम की एक नाड़ी जो बाईं ओर होती है। इसका काम बाईं नाक के नथने से श्वास निकालना और बाहर करना है। हठ-योग के स्वरोदय में इसका विवरण है। उ०—(क) यह उपदेश कह्यो है माधो। करि विचार सन्मुख ह्वै साधो। इंगला पिंगला सुखमना नारी। शून्य सहज में बसहिं मुरारी।—सूर। (ख) दिल मगन भया तब क्या गावै। दिल दरियाव सदा जल निर्मल अंत नहाने क्या जावै। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तुरीया, भौंर गुफ़ा में घर छावै। इंगला, पिंगला, सुषमनि नारी बंक नाल की सुधि पावै।—कबीर।

इंगलिश—वि० [अं०] (१) इंगलैंड-देश-संबंधी। अँगरेज़ी। (२) पेंशन। (सिपाहियों की भाषा)
संज्ञा स्त्री० अँगरेज़ी भाषा।

इंगलिस्तान—संज्ञा पुं० [अं० इंगलिश+फ़ा० स्तान=जगह] [वि० इंगलिस्तानी] अँगरेज़ों का देश। इंगलैंड।

इंगलिस्तानी—वि० [अं० इंगलिश+फ़ा० तानी] अँगरेज़ी। इंगलैंड देश का। उ०—इंगलिस्तानी और दरियाई कच्छी ओलंदेजी। औरहु बिबिध जाति के बाजी नकत पवन की तेजी।—रघुराज।

इंगालकर्म—संज्ञा पुं० [सं० अङ्गारकर्म] जैनमतानुसार वह व्यापार जो अग्नि से हो। जैसे—लोहारी, सुनारी, ईंट बनाना, कोयला बनाना।

इंगित—संज्ञा पुं० [सं०] हृदय के अभिप्राय को किसी चेष्टा द्वारा प्रगट करना। संकेत-चिह्न। इशारा। चेष्टा।
क्रि० प्र०—करना।—होना।
वि० हिलता हुआ। चलित।

इंगुद–संज्ञा पुं० दे० "इंगुदी"।

इंगुदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हिंगोट का पेड़। (२) ज्योतिष्मती वृक्ष। मालकँगनी।

इंगुर*†–संज्ञा पुं० दे० "ईंगुर"।

इँगुरौटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० ईंगुर+औटा (प्रत्य०)] वह डिबिया जिसमें सौभाग्यवती स्त्रियाँ ईंगुर वा सिंदूर रखती हैं। सिंधोरा।

इँगुवा–संज्ञा पुं० [सं० इङ्गुद] हिंगोट का पेड़ और फल। गोंदी।

इंच–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) एक फुट का बारहवाँ हिस्सा। तीन आड़े जव की लंबाई। तस्सू। (२) अत्यल्प। बहुत थोड़ा। उ०—इन महात्माओं के ध्यान में यह बात नहीं आती कि ऐसी दलीलों से उनकी अभ्रांति-शीलता एक इंच भी कम नहीं होती।—सरस्वती।

इँचना*–क्रि० अ० [हिं० खिंचना] किसी ओर आकर्षित होना। खिंचना। उ०—(क) भौंहनि त्रासति मुख नटति, आँखनि सों लपटाति। ऐंच छुरावति कर इँची, आगे आवति जाति—बिहारी। (ख) आवति आँख इँची खिंची भौंह भयो भ्रम आवतु हैं मति यापै।—रघुनाथ। (ग) मदन लाज बस तियनयन, देखत बनत इकंत। इँचे खिंचे इत उत फिरत, ज्यों दुनारि को कंत।—पद्माकर।

इंजन–संज्ञा पुं० [अं० एंजिन] (१) कल। पेंच। (२) भाप वा बिजली से चलनेवाला यंत्र। (३) रेलवे ट्रेन में वह गाड़ी जो सब से आगे होती है और भाप के ज़ोर से सब गाड़ियों को खींचती है।

इंजीनियर–संज्ञा पुं० [अं० एंजीनियर] (१) यंत्र की विद्या जाननेवाला। कलों का बनाने वा चलानेवाला। (२) शिल्पविद्या में निपुण। विश्वकर्मा। (३) वह अफ़सर जिसके निरीक्षण में सरकारी सड़कें, इमारतें और पुल इत्यादि बनते हैं।

इंजील–संज्ञा स्त्री० [यू०] (१) सुसमाचार। (२) ईसाइयों की धर्म पुस्तक।

इँटकोहरा–संज्ञा पुं० [हिं० ईंट+ओहरा (प्रत्य०)] ईंट का फूटा टुकड़ा। ईंट की गिट्टी।

इँटाई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० ईंट] एक प्रकार का पंडुक व पेडुकी।

इंट्रेंस–संज्ञा पुं० [अं० एंट्रेंस] (१) द्वार। दरवाज़ा। फाटक। (२) अंगरेज़ी पाठशालओं की एक श्रेणी।

इँडहर–संज्ञा पुं० [सं० इष्ट+हिं० हर (प्रत्य०)] उर्द की दाल से बना हुआ एक सालन। यह इस रीति से बनता है कि उर्द और चने की दाल एक साथ भिगो देते हैं, फिर दोनों की पीठी पीसते हैं। पीठी में मसाला देकर उसके लंबे लंबे टुकड़े बनाते हैं। इन टुकड़ों को पहले अदहन में पकाते हैं, फिर निकाल कर उनके और छोटे छोटे टुकड़े करते हैं। अंत में इन टुकड़ों को घी में तलते हैं और रसा लगाकर पकाते हैं। उ०—अमृत इडहर है रस सागर बेसन सालन अधिकी नागर।—सूर।

इंडिया–संज्ञा पुं० [यू०। अं०] हिंदुस्तान। भारतवर्ष।

इँडुरी*†–संज्ञा स्त्री० [सं० कुंडली] गुँडरी। बिड़ई। बिड़वा। गेंडुरी।

इँडुवा–संज्ञा पुं० [सं० कुंडल] कपड़े की बनी हुई छोटी गोल गद्दी जिसे बोझ उठाते समय सिर के ऊपर रख लेते हैं। गेंडुरी।

इंडोर्ली–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक औषध का नाम।

इंतकाल–संज्ञा पुं० [अ०] (१) मृत्यु। मौत। परलोक-वास। (२) एक जगह से दूसरी जगह जाना। (३) किसी जायदाद वा संपत्ति का एक के अधिकार से दूसरे के अधिकार में जाना।

इंतज़ाम–संज्ञा पुं० [अ०] प्रबंध। बंदोबस्त। व्यवस्था।

इंतज़ार–संज्ञा पुं० [अ०] प्रतीक्षा। बाट जोहना। रास्ता देखना। अगोरना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

इंतहा–संज्ञा पुं० [अ०] हद। अंत।

इंदर*–संज्ञा पुं० दे० "इंद्र"।

इंदव–संज्ञा पुं० [सं० ऐन्द्रव] एक छंद का नाम। इसके प्रत्येक चरण में ८ भगण और दो गुरु होते हैं। इसे मत्तगयंद और मालती भी कहते हैं।

इँदारा–संज्ञा पुं० [सं० अन्धु। सं० ईर=जल+धर=धारण करनेवाला] कूँआँ।

इँदारुन–संज्ञा पुं० [सं० इन्द्रवारुणी] इंद्रायन। माहुर। उ०—जो पै रहनि राम सों नाहीं।·········। बिनु हरि भजन इँदारुनि के फल तजत नहीं करुआई।—तुलसी।

इंदिया–संज्ञा पुं० [अ०] सम्मति। राय। विचार। मंशा।

इंदिरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी। विष्णुपत्नी। (२) कुआर के कृष्ण पक्ष की एकादशी। (३) शोभा। कांति।

इंदीवर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नील कमल। नीलोत्पल। (२) कमल।

इंदु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर। (३) एक की संख्या।

इँदुआ–संज्ञा पुं० [देश०] इँडुरी। गेंडुरी। बेंडुरी।

इंदुकर–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा की किरण।

इंदुकला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चंद्रमा की कला। (२) चंद्रमा की किरन। उ०—भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि। इंदुकला कुज में बसी, मनो राहु भय भाजि।—बिहारी।

इंदुजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] सोमोद्भवा। नर्मदा नदी।—डिं०।

इंदुमनि–संज्ञा पुं० [सं० इन्दुमणि] चंद्रकांत मणि।

इंदुमती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्णिमा। (२) राजा अज की

पत्नी जो विदर्भ देश के राजा की बहिन थी। (३) राजा चंद्र-विजय की पत्नी। उ०—चंद्रविजय नृप रह्यो तहाँ हीं। रानि इंदुमती रति छाहीं।

इंदुर-संज्ञा पुं० [सं० इन्दूर] चूहा। मूसा।

इंदुरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ता। मोती।

इंदुवदना-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वृत्त। जिसके प्रत्येक चरण में भ ज स न ग ग (ऽ।। ।ऽ। ।।ऽ ।।। ऽऽ) होता है। उ०—इंदुवदना बदत जाउँ बलिहारी। जान मोहिं दे घरहिं सत्वर बिहारी।

इंदुवधू-संज्ञा स्त्री० दे० "इंद्रवधू"।

इंदुवार-संज्ञा पुं० [सं०] वर्ष कुंडली के सोलह योगों में से एक। जब तीसरे, छठे, नवें और बारहवें घर में क्रूर ग्रह हों, तब यह योग होता है। यह शुभ नहीं है।

इंदूर-संज्ञा पुं० [सं०] चूहा। मूसा।

इंद्र-वि० [सं०] (१) ऐश्वर्यवान्। विभूतिसम्पन्न। (२) श्रेष्ठ। बड़ा।

यौ०—नरेंद्र। यादवेंद्र। दानवेंद्र।

संज्ञा पुं० (१) एक वैदिक देवता जिसका स्थान अंतरिक्ष है और जो पानी बरसाता है। यह देवताओं का राजा माना गया है। इसका वाहन ऐरावत और अस्त्र वज्र है। इसकी स्त्री का नाम शचि, और सभा का नाम सुधर्मा है, जिसमें देव, गंधर्व और अप्सराएँ रहती हैं। इसकी नगरी अमरावती और वन नंदन है। उच्चैःश्रवा इसका घोड़ा और मातलि सारथी है। वृत्र, त्वष्टा, नमुचि, शंबर, पण, बलि और विरोचन इसके शत्रु हैं। जयंत इसका पुत्र है। यह ज्येष्ठा नक्षत्र और पूर्व दिशा का स्वामी है।

पर्या०—मरुत्वान्। मघवा। बिड़ौजा। पाकशासन। वृद्धश्रवा। शुनासीर। पुरहूत। पुरंदर। जिष्णु। लेखर्षभ। शक्र। शतमन्यु। दिवस्पति। सुत्रामा। गोत्रभिद्। वज्री। वासव। वृत्रहा। वृषा। वास्तोष्पति। सुरपति। बलाराति। शचीपति। जंभभेदी। हरिहय। स्वाराट्। नमुचिसूदन। संक्रंदन। दुश्च्यवन। तुराषाह। मेघवाहन। आखंडल। सहस्राक्ष। ऋभुक्ष। महेंद्र। कौशिक। पूतक्रतु। विश्वंभर। हरि। पुरदंशा। शतधृति। पृतनाषाड्। अहिद्विष। वज्रपाणि। देवराज। पर्वतारि। पर्य्यण्य। देवाधिप। नाकनाथ। पूर्वदिक्पति। पुलोमारि। अर्ह। प्राचीनबर्हि। तपस्तक्ष।

विशेष—पुराण के अनुसार एक मन्वंतर में क्रमशः चौदह इंद्र भोग करते हैं जिनके नाम ये हैं—इंद्र। विश्वभुक्। विपश्चित। विभु। प्रभु। शिखि। मनोजव। तेजस्वी। बलि। अद्भुत। त्रिदिव। सुशांति। सुकीर्ति। ऋतधाता। दीवसाति। वर्तमान काल में तेजस्वी इंद्र भोग कर रहे हैं।

यौ०—इंद्र का अखाड़ा=(१) इंद्र की सभा जिसमें अप्सराएँ नाचती हैं। (२) बहुत सजी हुई सभा जिसमें खूब नाच रंग होता हो। इंद्र की परी=(१) अप्सरा। (२) बहुत सुंदरी स्त्री। (२) बारह आदित्यों में से एक। सूर्य्य। (३) बिजली। (४) राजा। मालिक। स्वामी। (५) ज्येष्ठा नक्षत्र। (६) चौदह की संख्या। (७) ज्योतिष में विष्कुंभादिक २७ योगों में से २६ वाँ। (८) कुटज वृक्ष। (९) रात। (१०) छप्पय छंद के भेदों में से एक। (११) दाहिनी आँख की पुतली। (१२) व्याकरण के आदि आचार्य्य का नाम। (१३) जीव। प्राण।

इंद्रकील-संज्ञा पुं० [सं०] मंदराचल का एक नाम।

इंद्रकोश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मचान। (२) चारपाई। (३) बालख़ाना। छज्जा।

इंद्रगोप-संज्ञा पुं० [सं०] बीरबहूटी नाम का कीड़ा।

इंद्रजव-संज्ञा पुं० [सं० इन्द्रयव] कुड़ा। कौरैया का बीज। ये बीज लंबे लंबे जव के आकार के होते हैं और दवा के काम में आते हैं। एक एक सींके में हाथ हाथ भर की लंबी दो दो फलियाँ लगती हैं, जिनके दोनों छोर आपस में जुड़े रहते हैं। फलियों के अंदर रुई वा धूवा होता है जिसमें बीज रहते हैं। इसके पेड़ में काँटे भी होते हैं। यह मलरोधक, पाचक और गरम है तथा संग्रहणी और ख़ूनी बवासीर में फ़ायदा करता है। त्वचा के रोगों पर भी यह चलता है।

इंद्रजाल-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० इंद्रजालिक] मायाकर्म। जादूगरी। तिलस्म।

विशेष—यह तंत्र का एक अंग है।

इंद्रजालिक-वि० [सं०] इंद्रजाल करनेवाला। जादूगर।

इंद्रजाली-वि० [सं० इंद्रजालिन्] [स्त्री० इंद्रजालिनी] इंद्रजाल करनेवाला। मायावी। जादूगर।

इंद्रजित्-वि० [सं०] इंद्र को जीतनेवाला।

संज्ञा पुं० रावण का पुत्र, मेघनाद।

इंद्रजीत-संज्ञा पुं० दे० "इंद्रजित्"।

इंद्रदमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाढ़ के समय नदी के जल का किसी निश्चित कुंड, ताल अथवा बट वा पीपल के वृक्ष तक पहुँचना। यह एक पर्व समझा जाता है। (२) बाणासुर का एक पुत्र। (३) मेघनाद का एक नाम।

इंद्रदारु-संज्ञा पुं० [सं०] देवदारु।

इंद्रद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन वृक्ष।

इंद्रधनुष-संज्ञा पुं० [सं०] सात रंगों का बना हुआ एक अर्द्ध वृत्त जो वर्षा काल में सूर्य्य के विरुद्ध दिशा में आकाश में देख पड़ता है। जब सूर्य्य की किरणें बरसते हुए जल से पार होती हैं, तब उनकी प्रतिछाया से यह इंद्रधनुष बनता है।

इंद्रध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र की पताका। (२) भाद्र शुक्ल द्वादशी को वर्षा और खेती की वृद्धि के लिये होनेवाला

एक पूजन जिसमें राजा लोग इंद्र को ध्वजा चढ़ाते और उत्सव करते हैं।

इंद्रनील–संज्ञा पुं० [सं०] नीलमणि। नीलम।

इंद्रनेत्र–वि० [सं०] १००० की संख्या।

इंद्रपुरोहिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्य नक्षत्र।

इंद्रपुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] करियारी। कलिहारी।

इंद्रप्रस्थ–संज्ञा पुं० [सं०] एक नगर जिसे पांडवों ने खांडव वन जलाकर बसाया था। यह आधुनिक दिल्ली के निकट है।

इंद्रफल–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रजव।

इंद्रभाष–संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में इंद्रताल के छः भेदों में से एक।

इंद्रमंडल–संज्ञा पुं० [सं०] अभिजित से अनुराधा तक के सात नक्षत्रों का समूह।

इंद्रमद–संज्ञा पुं० [सं०] पहली वर्षा के जल से उत्पन्न विष, जिसके कारण जोंक और मछलियाँ मर जाती हैं।

इंद्रयव–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "इंद्रजव"।

इंद्रलुप्त–संज्ञा पुं० [सं०] खल्वाट होने का रोग। गंज रोग।

इंद्रलोक–संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग।

इंद्रवंशा–संज्ञा पुं० [सं०] १२ वर्णों का एक वृत्त जिसमें दो तगण, एक जगण और एक रगण होते हैं। उ०—तात ! ज़रा देखु विचार कै मनै। को मार देत सुखै दुखै जनै। संग्राम भारी करु आज बान सों। रे इंद्रवंशा ! लरु कौरवान सों।

इंद्रवज्रा–संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ण वृत्त का नाम जिसमें दो तगण, एक जगण और गुरु होते हैं। उ०—ताता जगो गोकुल नाथ गावो। भारी सबै पापन को नसावो। साँची प्रभू काटहिं जन्म बेरी। है इंद्रवज्रा यह सीख मेरी।

इंद्रवधू–संज्ञा स्त्री० [सं०] बीरबहूटी नाम का कीड़ा।

इंद्रवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रायन।

इंद्रवस्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] जाँघ की हड्डी।

इंद्रवारु–संज्ञा पुं० [सं० इंद्रवारुणी] इंद्रायन। इँदारुन।

इंद्रवारुणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रायन।

इंद्रवृद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की फुंसी।

इंद्रव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] वह राजा जो अपनी प्रजा को उसी तरह भरा पूरा रक्खे, जैसे इंद्र पानी बरसाकर जीवों को प्रसन्न करता है।

इंद्रशत्रु–संज्ञा पुं० [सं०] वृत्रासुर।

इंद्रसावर्णी–संज्ञा पुं० [सं०] चौदहवें मनु का नाम।

इंद्रसेन–संज्ञा पुं० [सं०] राजा बलि का एक नाम।

इंद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रपत्नी, शची। (२) इंद्रायन।

इंद्राणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्र की पत्नी, शची। (२) बड़ी इलायची। (३) इंद्रायन। (४) दुर्गा देवी। (५) बाईं आँख की पुतली। (६) सिंधुवार वृक्ष। संभालू। निगुंडी।

इंद्रानुज–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु, जिन्होंने वामन अवतार लिया था।

इंद्रायन–संज्ञा पुं० [सं० इन्द्राणी] एक लता जो बिलकुल तरबूज़ की लता की तरह होती है। सिंध, डेरा-इस्माइलखाँ, मुलतान, बहालपुर तथा दक्षिण और मध्य भारत में यह आपसे आप उपजती है। इसका फल नारंगी के बराबर होता है जिसमें ख़रबूज़े की तरह फाँकें कटी होती हैं। पकने पर इसका रंग पीला हो जाता है। लाल रंग का भी इंद्रायन होता है। यह फल विषैला और रेचक होता है। अँगरेज़ी और हिन्दुस्तानी दोनों दवाओं में इसका सत काम आता है। यह फल देखने में बड़ा सुन्दर पर अपने कड़ुएपन के लिये प्रसिद्ध है। इनारू।

मुहा०—**इंद्रायन का फल**=देखने में अच्छा पर वास्तव में बुरा। सूरतहराम। खोटा।

इंद्रायुध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वज्र। (२) इंद्रधनुष।

इंद्राशन–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भाँग। सिद्धि। विजया। (२) गुंजा। घुँघची। चिरमिटी।

इंद्रासन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र का सिंहासन। (२) राजसिंहासन। उ०—माँझ ऊँच इंद्रासन साजा। गंध्रपसेन बैठ तहँ राजा।—जायसी। (३) पिंगल में ठगण के पहले भेद की संज्ञा, जिसमें पाँच मात्राएँ इस क्रम से होती हैं—एक लघु और दो गुरु, जैसे पुजारी।

इंद्रिय–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह शक्ति जिससे बाहरी विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। वह शक्ति जिससे बाहरी वस्तुओं के भिन्न भिन्न गुणों का भिन्न भिन्न रूपों में अनुभव होता है। (२) शरीर के वे अवयव जिनके द्वारा यह शक्ति विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। सांख्य ने कर्म करनेवाले अवयवों को भी इंद्रिय मानकर इंद्रियों के दो विभाग किए हैं—ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय। ज्ञानेंद्रिय वे हैं जिनसे केवल विषयों के गुणों का अनुभव होता है। ये पाँच हैं, चक्षु (जिससे रूप का ज्ञान होता है), श्रोत्र (जिससे शब्द का ज्ञान होता है), नासिका (जिससे गंध का ज्ञान होता है), रसना (जिससे स्वाद का ज्ञान होता है) और त्वचा (जिससे स्पर्श द्वारा कड़े और नरम आदि का ज्ञान होता है)। इसी प्रकार कर्मेंद्रियाँ भी, जिनके द्वारा विविध कर्म किए जाते हैं, पाँच हैं, वाणी (बोलने के लिये), हाथ, (पकड़ने के लिये), पैर (चलने के लिये), गुदा (मलत्याग करने के लिये), उपस्थ (मूत्र त्याग करने के लिये)। इनके अतिरिक्त एक उभयात्मक अंतरेंद्रिय 'मन' भी माना गया है जिसके मन, बुद्धि अहंकार और चित्त चार विभाग करके वेदांतियों ने कुल १४ इंद्रियाँ मानी हैं। इनके पृथक् पृथक् देवता कल्पित किए

हैं; जैसे कान के देवता दिशा, त्वचा के वायु, चक्षु के सूर्य्य, जिह्वा के प्रचेता, नासिका के अश्विनीकुमार, वाणी के अग्नि, पैर के विष्णु, हाथ के इंद्र, गुदा के मित्र, उपस्थ के प्रजापति, मन के चंद्रमा, बुद्धि के ब्रह्मा, चित्त के अच्युत, अहंकार के शंकर। न्याय के मत से पृथ्वी का अनुभव घ्राण से, जल का जिह्वा से, तेज का चक्षु से, वायु का त्वचा से और आकाश का कान से होता है।

यौ०—इंद्रियघात। इंद्रियजन्य। इंद्रियजित्। इंद्रियदमन। इंद्रियनिग्रह। इंद्रियसंयम। इंद्रियार्थ। इंद्रियासक्त।

(३) लिंगेंद्रिय। (४) पाँच की संख्या। (५) वीर्य। (६) कुश्ती के एक पेंच का नाम।

इंद्रियजित्-वि० [सं०] जिसने इंद्रियों को जीत लिया हो। जो इंद्रियों को वश में किए हो। जो विषयासक्त न हो।

इंद्रियनिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रियों का दबाना। इंद्रियों के वेग को रोकने का नियम।

इंद्रियवज्री-संज्ञा स्त्री० [सं० इन्द्रिय+वज्र] वाजीकरण क्रिया का एक भेद।

इंद्रियार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रियों का विषय। वे विषय जिनका ज्ञान इंद्रियों द्वारा होता है, जैसे—रूप, रस, गंध, शब्द इत्यादि।

इंद्री*-संज्ञा स्त्री० दे० "इंद्रिय"।

इंद्रीजुलाब-संज्ञा पुं० [सं० इन्द्रिय+फ़ा० जुलाब] वे औषधियाँ जिनसे पेशाब अधिक आता है। पानी मिला हुआ दूध, शोरा, सिलखड़ी आदि वस्तुएँ प्रायः इसमें दी जाती हैं।

इंधन-संज्ञा पुं० [सं०] जलाने की लकड़ी।

इँधरौड़ा-संज्ञा पुं० [सं० इन्धन+हिं० औड़ा (सं० आलय)] ईंधन रखने की कोठरी। ईंधन-गृह। गोठौला।

इंसाफ़-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० मुंसिफ़] (१) न्याय। अदल।

यौ०—इंसाफ़-पसंद=न्याय चाहनेवाला।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) फ़ैसला।

इंस्टिट्यूट-संज्ञा स्त्री० [अं०] संस्था। सभा। समाज।

इंस्ट्रूमेंट-संज्ञा पुं० [अं०] (१) औज़ार। यंत्र। (२) साधन।

इंस्पेक्टर-संज्ञा पुं० [अं०] देखभाल करनेवाला। निरीक्षक।

इ-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

इकंग*-वि० [सं० एकाङ्ग] एक तरफ़ा। एक ओर का। उ०—दुखी इकंगी प्रीति सौं, चातक मीन पतंग। घन जल दीप न जानहीं, उनके हिय को अंग।—रसनिधि।

*संज्ञा पुं० [सं० एकाङ्ग] शिव। महादेव। अर्द्धनारीश्वर।

इकंत*-वि० दे० "एकांत"।

इक*-वि० दे० "एक"।

इक-आँक*-क्रि० वि० [सं० इक=एक+अङ्क=निश्चय] निश्चय। निश्चय करके। अवश्य। उ०—जे तब होत दिखादिखी, भई अमी इक-आँक। दगै तिरीछी दीठ अब, ह्वै बीछी कौ डाँक। यदपि लौंग ललितौ तऊ, तू न पहिर इक-आँक। सदा संक बढ़ियै रहै, रहै चढ़ी सी नाँक।—बिहारी।

इकइस*-वि० दे० "इक्कीस"।

इकजोर*-क्रि० वि० [सं० एक+हिं० जोर=जोड़ना] इकट्ठा। एक साथ। उ०—देखु सखि चारि चंद्र इकजोर। निरखति बैठि नितंबिनि पिय सँग सारसुता की ओर। ह्वै शशि स्याम नवल घनसुन्दर ह्वै कीन्हे बिधि गोर। तिनके मध्य चारि शुक राजत ह्वै फल आठ चकोर। शशि सुरंग परवाल कुंदकलि अरुझि रह्यो मन मोर। सूरदास प्रभु अति रतिनागर बलि बलि जुगुल किशोर।—सूर।

इकट्ठा-वि० [सं० एक+स्थ—एकस्थ, प्रा० इकट्ठो] एकत्र। जमा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

इकडाल-संज्ञा पुं० वि० दे० "एकडाल"।

इकतर*-वि० दे० "एकत्र"। उ०—(क) दई बड़ाई ताहि पंच यह सिगरे जानी। दे कोल्हू में पेरि, करी हैं इकतर घानी।—गिरधर। (ख) प्रथमहि पत्र चमेली आनै। ताको कूटि लेइ रस छानै। कूट सोहागा मनसिल लीजै। मीठे तेल में इकतर कीजै।

इकतरा-संज्ञा पुं० [सं० एक+हिं० तर] वह ज्वर जो जाड़ा देकर एक दिन छोड़ दूसरे दिन आता है। अँतरिया। उ०—बड़ दुख होइ इकतरौ आवै। तीन उपास न बल तन खावै।—लाल।

इकता*-संज्ञा स्त्री० दे० "एकता"।

इकताई*-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० यकता](१)एक होने का भाव। एकत्व। उ०—सिखे आपने दगन ते, इकताई की बात। जुरी डीठ इक सँग रहै, जदपि जुदे दिखात।—रसनिधि। (२) अकेले रहने की इच्छा, स्वभाव या बान। एकांतसेविता। उ०—पिय रुख लखि नागरि सखी कनक कसौटी आनि। तियहि दिखाई लीक लिखि आई मृदु मुसुक्यानि। अली गई अब गरबई इकताई मुकुताइ। भली भई ही अमलई जौं पी दई दिखाइ।—शृं० सत०।

इकताना*-वि० [हिं० एक+तान=खिंचाव] एक रस। एकसा। स्थिर। अनन्य। उ०—ऐसे ही देखत रहौं, जन्म सफल करि मानौं। प्यारे की भावती, भावती के प्यारे जुगल किसोर जानौं। पलौ न टरौं छिन इत उत न होउँ रहौं इकतानो।—हरिदास।

इकतार-वि० [हिं० एक+तार] बराबर। एक रस। समान। उ०—हरि के केसन सों सटी लसत खौर इकतार। मानहुँ रवि की किरन कछु छीन लई अँधियार।—व्यास।

क्रि० वि० लगातार।

इकतारा-संज्ञा पुं० [हिं० एक+तार] (१) एक बाजा। इसकी बनावट इस प्रकार होती है। चमड़े से मढ़ा हुआ एक तूँबा

बाँस के एक छोर पर लगा रहता है। तुंबे के नीचे जो थोड़ा सा बाँस निकला रहता है उससे एक तार तुंबे के चमड़े पर की घोड़िया वा ठिकरी पर से होती हुई बाँस के दूसरे छोर पर एक खूँटी में बँधी रहती है। इस खूँटी को ऐंठ कर तार को ढीला करते और कसते हैं। बजानेवाला इस तार को तर्जनी से हिला हिलाकर बजाता है। प्रायः साधु इसको बजा बजा कर भीख माँगते हैं। एक प्रकार का तानपूरा वा तँबूरा। (२) एक प्रकार का हाथ से बुना जानेवाला कपड़ा। इसके प्रत्येक वर्ग इंच में २४ ताने के और ८ बाने के तागे होते हैं। बुन जाने पर कपड़ा धोया जाता है और उस पर कुंदी की जाती है। इसका थान ६ गज़ लंबा और ११ इंच चौड़ा होता है।

इकताला–संज्ञा पुं० दे० "एकताला"।

इकतीस–वि० [सं० एकत्रिंशत्, पा० एकतीस] तीस और एक। संज्ञा पुं० तीस और एक की संख्या। इकतीस का अंक।

इकत्र–क्रि० वि० दे० "एकत्र"।

इक़दाम–संज्ञा० पुं० [अ०] (१) किसी अपराध के करने की तैयारी वा चेष्टा। (२) संकल्प। इरादा।

इकपेचा–संज्ञा पुं० [हिं० एक+फ़ा० पेच] एक प्रकार की पगड़ी जिसकी चाल दिल्ली, आगरे में बहुत है।

इकबारगी–क्रि० वि० दे० "एकबारगी"।

इकबल*–संज्ञा पुं० दे० "एकबाल"।

इकरदन–संज्ञा पुं० दे० "एकरदन"।

इकरस*–वि० [सं० एक+रस] एकरंग। समान। बराबर। उ०—जो कहु अब का प्रीति न हम में। रहत न कोउ इकरस हर दम में।—विश्राम।

इकराम–संज्ञा पुं० [अ०] (१) दान। पारितोषिक। (२) इज़्ज़त। माहात्म्य। आदर। प्रतिष्ठा।

यौ०—इनाम इकराम। इज़्ज़त इकराम।

इक़रार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रतिज्ञा। वादा। (२) कोई काम करने की स्वीकृति।

इकला*–वि० दे० "अकेला"।

इकलाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० एक+लाई वा लोई=पर्त्त] (१) एक पाट का महीन दुपट्टा वा चद्दर। उ०—दुपटा दुलाई चादरैं इकलाई कटिबंद बर। कंचुकी कुलहिया ओढ़नी अंगवस्त्र धोती अबर।—सूदन। (२) अकेलापन।

इकलोई कड़ाही–संज्ञा स्त्री० [हिं० एक+लोई=पर्त्त] वह कड़ाही जो एक ही लोई वा तवे की बनी हो; अर्थात् जिसके पेंदे में जोड़ न हो।

इकलौता–संज्ञा पुं० [हिं० इकला+पु० हिं० ऊत (सं० पुत्र)] वह लड़का जो अपने माँ-बाप का अकेला हो। वह लड़का जिसके और भाई बहिन न हो।

इकल्ला–वि० [हिं० एक+ला (प्रत्य०)] (१) एकहरा। एक पर्त्त का। *† (२) अकेला। एकाकी।

इकवाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० एक+बाहु] एक प्रकार की निहाई जो संदान वा अरन के आकार की होती है। भेद इतना ही होता है कि संदान में दोनों ओर हाथे वा कोर निकले रहते हैं और इसमें एक ही ओर। भारतवालों की इकवाई की एक कोर या तो लंबी नोक होती है और दूसरी कोर सपाट चौड़ी होती है, जिसके किनारे तीखे होते हैं।

इकसठ–वि० [सं० एकषष्टि, पा० एकसट्ठि] साठ और एक। संज्ञा पुं० वह अंक जिससे साठ और एक का बोध हो। ६१।

इकसर*–वि० [हिं० एक+सर (प्रत्य०)] अकेला। एकाकी।

इकसूत*–वि० [सं० एकश्रुत=लगातार] एक साथ। इकट्ठा। एकत्र। उ०—देखि देह दशा दोऊ लाज सों बहुतै भरी। आइ भीतर ते तौही दौरि बाहेर को टरी। देखि के निकसे दोऊ और जे सखियाँ हुतीं। ते सबै तुरतै दौरीं बाहरी ह्वै इकसुती।—गुमान।

इकहरा–वि० दे० "एकहरा"।

इकहाई–क्रि० वि० [हिं० एक+हाई (प्रत्य०)] (१) एक साथ। फ़ौरन। उ०—यह सुनि रानिन के वदन, भे प्रसन्न हरखाइ। ज्यों सूरज के उदय ते, खिलत कमल इकहाइ। (२) एकदम। अचानक। उ०—फाग के द्यौस गोपालन ग्वालिनी कै इकठानि कियो मिसि काऊ। त्यों पदुमाकर छोरि छमाई सुदौरी सबै हरि पै इकहाऊ। ऐसे समै वहै भीत विनोदी सुनै सुक नैन किये डरपाऊ। लै हर मूसर ऊसर ह्वै कहुँ आयो तहाँ बनि कै बलदाऊ।—पद्माकर।

इकांत*–वि० दे० "एकांत"।

इकेला*–वि० दे० "अकेला"

इकैठ*–वि० [सं० एकस्थ, पा० एकट्ठ] इकट्ठा।

इकोतर*–वि० दे० "एकोत्तर"।

इकौंज–संज्ञा स्त्री० [सं० एक (इक)+वन्ध्या, पा० वज्झा, हिं० बाँझ। अथवा एक+जा। अथवा काकवन्ध्या=काकवज्झा=ककौंज्झा=इकौंजा] वह स्त्री जिसको एक ही पुत्र वा एक ही कन्या उत्पन्न हुई हो। वह स्त्री जो एक बेर जनकर बाँझ हो जाय। काक-वंध्या।

इकौना†–संज्ञा पुं० [हिं० एक+बनना] बिना छाँटा हुआ अन्न। बिना चुना हुआ अनाज।

इकौसो*†–वि० [सं० एक+आवास] एकांत। निराला। उ०—साहु को स्वरूप करि, आये काँधे थैली धरि 'कौन पास हुंडी' दाम लीजिये गनाय कै। बोलि उठे 'हूँ दि हारे! भले जू निहारे आजु' कही 'लाज हमैं देत, मैं हूँ पाये आय कै। मेरो है इकौसो वास, जातै हरि दास, लेवो सुखरासि,

करो चीठी दीजै जाय कै। धरे हैं रुपैया देर, लिख्यौ करो बेर बेर, फेरि आय पाती दई लई गरे लाइ कै।—प्रिया।

इक़बाल–संज्ञा पुं० [अ० एक़बाल] ताजक ज्योतिष के मत से एक ग्रह योग। जब किसी के जन्म के समय सब ग्रह कंटक (१, ४, ७, १०,) या पनकर (२, ५, ८, ११) में हों, अर्थात् ३, ६, ९ और १२ में कोई ग्रह न हो, तब यह राज्य और सुख को बढ़ानेवाला योग होता है।

इक्का–वि० [सं० एक] (१) एकाकी। अकेला। जैसे,—कोई इक्का दुक्का आदमी मिले तो बैठा लेना। (२) अनुपम। बेजोड़। संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार की कान की बाली जिसमें एक मोती होता है। (२) वह योद्धा जो लड़ाई में अकेला लड़े। उ०—कूदि परे लंका बीच इक्का रघुबर के।—मान कवि। (३) वह पशु जो अपना झुंड छोड़कर अलग हो जाय। (४) एक प्रकार की दो पहिए की घोड़ा-गाड़ी जिसमें एक ही घोड़ा जोता जाता है। (५) ताश का वह पत्ता जिसमें किसी रंग की एक ही बूटी हो। यह पत्ता और सब पत्तों को मार देता है। जैसे,—पान का इक्का। ईंट का इक्का।

इक्का दुक्का–वि० [हिं० इक्का+दुक्का] अकेला दुकेला।

इक्कावन–वि० दे० "इक्यावन"।

इक्कासी–वि० दे० "इक्यासी"।

इक्की–संज्ञा, स्त्री० [सं० एक+ई (प्रत्य०)] ताश का वह पत्ता जिसमें एक बूटी हो। एक्का।

इक्कीस–वि० [सं० एकविंशत्, प्रा० एक्कवीस] बीस और एक। संज्ञा पुं० बीस और एक की संख्या वा अंक जो इस तरह लिखा जाता है—२१।

इक्यावन–वि० [सं० एकपंचाशत्, प्रा० एक्कावन्न] पचास और एक। संज्ञा पुं० पचास और एक की संख्या वा अंक जो इस तरह लिखा जाता है—५१।

इक्यासी–वि० [सं० एकाशीति, प्रा० एक्कासि] अस्सी और एक। संज्ञा पुं० अस्सी और एक की संख्या वा अंक जो इस तरह लिखा जाता है—८१।

इक्षु–संज्ञा पुं० [सं०] ईख। गन्ना—दे० "ईख"।
यौ०—इक्षुकांड। इक्षुगंध। इक्षुगंधा। इक्षुतुल्या। इक्षुदंड। इक्षुपत्रा। इक्षुप्रमेह। इक्षुमती। इक्षुमेह। इक्षुरस। इक्षुविदारी। इक्षुविकार।

इक्षुकांड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊख का डंठल। (२) कास। (३) मूँज। (४) रामशर।

इक्षुगंध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटा गोखरू। (२) काश।

इक्षुगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोखरू। (२) कोकिलाक्ष। तालमखाना। (३) कास। (४) सफ़ेद विदारी-कंद।

इक्षुज–संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जो ईख के रस से बने। प्राचीनों के अनुसार इसके छः भेद हैं—फाणित (जूसी या शीरा), मत्स्यंडी (राब), गुड़, खंडक (खांड), सिता (चीनी) और सितोपल (मिस्री)।

इक्षुतुल्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्वार या बाजरे के प्रकार का एक पौधा जिसका रस मीठा होता है। कास।

इक्षुदंड–संज्ञा पुं० [सं०] ईख का डंठल। ईख।

इक्षुपत्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्वार। मक्का। (२) बाजरा।

इक्षुप्र–संज्ञा पुं० [सं०] रामशर। शर।

इक्षुप्रमेह–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह जिसमें मूत्र के साथ मधु वा शक्कर जाती है। इस रोग में मूत्र पर च्यूँटियाँ और मक्खियाँ बहुत बैठती हैं और मूत्र के अंशों को रासायनिक प्रक्रिया से अलग करने पर उसमें चीनी का अंश मिलता है। इक्षुमेह। मधुमेह।

इक्षुमती–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी जिसका कुरुक्षेत्र में होना लिखा है।

इक्षुमालिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराण में लिखी एक नदी जो इंद्र पर्वत से निकलती है।

इक्षुमूल–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की ईख। बाँसी।

इक्षुमेह–संज्ञा पुं० [सं०] इक्षुप्रमेह। मधुप्रमेह। दे० "इक्षुप्रमेह"।

इक्षुर–संज्ञा [सं०] (१) गोखरू। (२) तालमखाना।

इक्षुरस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईख का रस। (२) कास।

इक्षुरसवल्लरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षीरविदारी। दुग्धविदारी। महाश्वेता।

इक्षुरसोद–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सात समुद्रों में से एक जो ईख के रस का है।

इक्षुविदारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बिलारी कंद।

इक्ष्वाकु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्यवंश का एक प्रधान राजा। यह पुराणों में वैवस्वत मनु का पुत्र कहा गया है। रामचंद्र इसी के वंश में थे। (२) कड़ुई लौकी। तितलौकी।
यौ०—इक्ष्वाकुनंदन।

इक्ष्वालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नरकट। नरकुल। (२) सरपत। मूँज। (३) कास।

इखद*–वि० दे० "ईषत्"।

इख़फ़ाये वारदात–संज्ञा पुं० [फ़ा०] क़ानून में किसी पुरुष का किसी ऐसी घटना का छिपाना जिसका प्रकट करना नियमानुसार उसका कर्त्तव्य हो।

इख़राज–संज्ञा पुं० [अ०] निकास। ख़र्च। उठान।

इख़लास–संज्ञा पुं० [अ०] (१) मेलमिलाप। मित्रता। उ०—तू जा सुजानहिं पास। हमसौं करै इख़लास।—सूदन। (२) प्रेम। भक्ति। प्रीति। उ०—कुल आलम इके दीदम अरवाहे इख़लास। बद अमल बदकार तुई पाक यार पास।—दादू। (३) संबंध। साबिक़ा।
क्रि० प्र०—जोड़ना।—बढ़ाना।

इखु*–संज्ञा पुं० दे० "इषु"।

इख़्तियार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) अधिकार। (२) अधिकारक्षेत्र। (३) सामर्थ्य। क़ाबू। जैसे,—यह बात हमारे इख़्तियार के बाहर की है। (४) प्रभुत्व। स्वत्व। जैसे,—इस चीज़ पर तुम्हारा कुछ इख़्तियार नहीं है।

इख़्तिलाफ़–संज्ञा पुं० [अ०] (१) विरोध। विभेद। विभिन्नता। अंतर। फ़र्क़। (२) अनबन। बिगाड़।

इगारह*–वि० दे० "ग्यारह"।

इग्यारह*–वि० दे० "ग्यारह"।

इचकना†–क्रि० अ० [देश०] खीस निकालना। क्रोध मे दाँत निकालना।

इच्छना*–क्रि० स० [सं० इच्छन] इच्छा करना। चाहना। उ०—इच्छ इच्छ बिनती जस जानी। पुनि कर जोरि ठाढ़ भइ रानी।—जायसी।

इच्छा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० इच्छित, इच्छुक] एक मनोवृत्ति जो किसी ऐसी वस्तु की प्राप्ति की ओर ध्यान ले जाती है जिससे किसी प्रकार के सुख की संभावना होती है। कामना। लालसा। अभिलाषा। चाह। ख़्वाहिश।

विशेष—वेदांत और सांख्य में इच्छा को मन का धर्म माना है। पर न्याय और वैशेषिक में इसे आत्मा का धर्म वा व्यापार माना है।

पर्या०—आकांक्षा। वांछा। दोहद। स्पृहा। ईहा। लिप्सा। तृष्णा। रुचि। मनोरथ। कामना। अभिलाषा। इषा। छंद।

यौ०—इच्छाघात। इच्छाचार। इच्छाचारी। इच्छानुकूल। इच्छानुसार। इच्छापूर्वक। इच्छाबोधक। इच्छाभेदी। इच्छाभोजन। इच्छावान्। इच्छाबाधक। इच्छावसु। स्वेच्छा। ईश्वरेच्छा।

इच्छानुसारिणी क्रियाशक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन शास्त्रानुसार योग द्वारा प्राप्त एक शक्ति जिससे योगियों के इच्छानुसार कारण के बिना कार्य्य की सिद्धि हो जाती है। जैसे मिट्टी के बिना घट या बीज के बिना वृक्ष इत्यादि का योगियों की इच्छा से उत्पन्न होना।

इच्छाभेदी–वि० [सं०] इच्छानुसार विरेचन करानेवाला (औषध)। प्रक्रिया भेद से जिसके खाने से उतने ही दस्त आवें जितने की इच्छा हो।

यौ०—इच्छाभेदी वटिका। इच्छाभेदी रस।

इच्छाभोजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिन जिन वस्तुओं की इच्छा हो, उनको खाना। रुचि के अनुसार भोजन। जैसे,—आज हमें इच्छाभोजन कराओ। (२) भोजन की वह सामग्री जिसे खाने की इच्छा हो। रुचि के अनुकूल खाद्य पदार्थ। जैसे,—इतने दिनों पर आज हमें इच्छाभोजन मिला है।

इच्छित–वि० [सं०] चाहा हुआ। वांछित। अभिप्रेत। अभीष्ट।

इच्छु*–संज्ञा पुं० [सं० इक्षु] ईख। उ०—इच्छु रसहू ते है सरस चरनामृत औ लवण समुद्र है लोनाई निरवधि के।—चरण।

वि० [सं०] चाहनेवाला।

विशेष—इसका प्रयोग यौगिक शब्द बनाने में ही होता है; जैसे, शुभेच्छु, हितेच्छु।

इच्छुक–वि० [सं०] चाहनेवाला। अभिलाषी।

इजमाल–संज्ञा पुं० [अ० वि० इजमाली] (१) कुल। समष्टि। (२) किसी वस्तु पर कुछ लोगों का संयुक्त स्वत्व। इस्तराक। साझा। शिरकत।

इजमाली–वि० [अ०] शिरकत का। मुश्तरका। संयुक्त। साझे का।

इजरा–संज्ञा स्त्री० [हिं० इ+जरा=जीर्णता] वह भूमि जो बहुत दिनों तक जोतने से कमज़ोर हो गई हो और फिर उपजाऊ होने के लिये परती छोड़ दी जाय।

इजराय–संज्ञा पुं० [अ०] (१) जारी करना। प्रचार करना। (२) काम में लाना। व्यवहार। अमल।

यौ०—इजराय डिगरी=डिगरी का अमल दरामद होना।

इजलास–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बैठक। (२) वह जगह जहाँ हाकिम बैठकर मुक़दमे का फ़ैसला करता है। कचहरी। विचारालय। न्यायालय।

यौ०—इजलास कामिल=न्यायालय की वह बैठक जिसमें सब जज एक साथ बैठकर फ़ैसला करें।

इजहार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) ज़ाहिर करना। प्रकाशन। प्रकट करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) अदालत के सामने बयान। गवाही। साक्षी। साखी।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।—होना।

इजाज़त–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आज्ञा। हुक्म। (२) परवानगी। मंज़ूरी। स्वीकृति।

इज़ाफ़ा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बढ़ती। बेशी। वृद्धि। बढ़ोतरी। उ०—अपने अँग के जानि कै, जोबन नृपति प्रवीन। स्तन मन नयन नितंब को, बड़ो इजाफा कीन।—बिहारी।

यौ०—इज़ाफ़ा लगान=लगान की बढ़ती। लगान का अधिक होना।

(२) व्यय से बचा हुआ धन। बचत।

इज़ार–संज्ञा स्त्री० [अ०] पायजामा। सूथन। सुथना।

यौ०—इज़ारबंद।

इज़ारबंद–संज्ञा पुं० [फ़ा०] सूत या रेशम का बना हुआ जालीदार बँधना जो पायजामे वा लहँगे के नेफे में उसे कमर से बाँधने के लिये पड़ा रहता है। नारा। कमरबंद।

इजारदार, इजारेदार–वि० [फ़ा०] [स्त्री० इजारदारिन] किसी पदार्थ को इजारे वा ठेके पर लेनेवाला। ठेकेदार। अधिकारी। उ०—कहा तुमही हौ ब्रज के इजारदार।—(गीत)

इजारा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी पदार्थ को उजरत वा किराए पर देना। (२) ठेका। (३) अधिकार। इख़्तियार। स्वत्व। उ०—हम जहाँ पर चाहेंगे, वहाँ घर बनावेंगे;

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

यौ०—इजारदार। इजारेदार।

इज़ाला-हैसियत-उर्फ़ी-संज्ञा स्त्री० [अ०] कोई ऐसा काम करना जिससे दूसरे की इज़्ज़त या आबरू में धब्बा लगे या उसकी बदनामी हो। हतक-इज़्ज़ती। मानहानि।

इज़्ज़त-संज्ञा स्त्री० [अ०] मान। मर्य्यादा। प्रतिष्ठा। आदर।

क्रि० प्र०—करना=प्रतिष्ठा वा सम्मान करना।—खोना=अपनी मर्य्यादा नष्ट करना। जैसे,—तुमने अपने हाथों अपनी इज़्ज़त खोई है।—गँवाना=दे० "इज़्ज़त खोना"।—जाना। जैसे,—पैदल चलने से क्या तुम्हारी इज़्ज़त चली जायगी।—देना=(१) मर्य्यादा खोना। जैसे,—क्या रुपये के लालच से हम अपनी इज़्ज़त देंगे? (२) गौरवान्वित करना। महत्त्व बढ़ाना। जैसे,—बारात में शरीक होकर आपने मुझे बड़ी इज़्ज़त दी।—पाना=प्रतिष्ठा प्राप्त करना। जैसे,—उन्होंने इस दर्बार में बड़ी इज़्ज़त पाई।—बिगाड़ना=प्रतिष्ठा नष्ट करना। जैसे,—बदमाश भले आदमियों की राह चलते इज़्ज़त बिगाड़ देते हैं।—रखना=मर्य्यादा स्थिर रखना। बेइज़्ज़ती न होने देना। जैसे,—इस समय १००) देकर तुमने हमारी इज़्ज़त रख ली।—लेना=इज़्ज़त बिगाड़ना।—होना। जैसे,—उनकी चारों तरफ़ इज़्ज़त होती है।

मुहा०—इज़्ज़त उतारना=मर्य्यादा नष्ट करना। जैसे,—ज़रा सी बात के लिये वह इज़्ज़त उतारने पर तैयार हो जाता है।

यौ०—इज़्ज़तदार।

इज़्ज़तदार-वि० [फ़ा०] प्रतिष्ठित। माननीय।

इज्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ। देवपूजा।

इटालियन-संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का कपड़ा जो पहले पहल इटली से आया था। यह किसी वृक्ष की छाल से बनता है और बहुत चमकीला होता है। रंग इसका प्रायः काला होता है।

इटैलिक-संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का छापा वा टाइप जिसमें अक्षर तिरछे होते हैं।

इठलाना-क्रि० अ० [हिं० ऐंठ+लाना] (१) इतराना। ठसक दिखाना। गर्वसूचक चेष्टा करना। जैसे,—क्षुद्र मनुष्य थोड़े ही में इठलाने लगते हैं। (२) मटकना। नखरा करना। उ०—पाइहैं पकरि तब पाइ है न कैसे हूँ, तू थोर इठलात वे तो अति इठलात हैं।—केशव। (३) छकाने के लिये जान बूझकर अनजान बनना। छकाने के लिये जान बूझ कर किसी काम में देर करना। जैसे,—(क) इठलाओ मत, बताओ, किताब कहाँ छिपाई है। (ख) इठलाओ मत जैसा कहते हैं, वैसा करो।

तुम्हारा कुछ इजारा है।

इठलाहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० इठलाना] इठलाने का भाव। ठसक। उ०—खरे अदब इठलाहटी, उर उपजावति त्रास। दुसह संक बिख की करै, जैसे सोंठ मिठास।—बिहारी।

इठाई*-संज्ञा स्त्री० [सं० इष्ट, पा० इट्ठ+आई (प्रत्य०)] (१) रुचि। चाह। प्रीति। उ०—खारिक खात न दारौ उदाखन माखन हूँ सह मेटि इठाई।—केशव। (२) मित्रता। प्रेम।

इडरहर†-संज्ञा पुं० दे० "ईंडहर"।

इडहर-संज्ञा पुं० दे० "ईंडहर"।

इड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथिवी। भूमि। (२) गाय। (३) वाणी। (४) स्तुति। (५) एक यज्ञपात्र। (६) आहुति जो प्रयाजा और अनुयाजा के बीच दी जाती है। (७) एक प्रकार का अप्रिय देवता जो असोमपा है। (८) अन्न। हवि। (९) नभदेवता। (१०) दुर्गा। अंबिका। (११) पार्वती। (१२) कश्यप ऋषि की एक पत्नी जो दक्ष की एक पुत्री थी। (१३) वसुदेव की एक स्त्री। (१४) मनु या इक्ष्वाकु की पुत्री जो बुध की स्त्री थी, जिससे पुरूरवा उत्पन्न हुआ था। (१५) ऋतध्वज रुद्र की स्त्री। (१६) स्वर्ग। (१७) एक नाड़ी जो बाईं ओर है। यही नाड़ी पीठ की रीढ़ से होकर नाक तक है। बाईं स्वाँस इसी से होकर आती जाती है। स्वरोदय में चंद्रमा इसका प्रधान देवता माना गया है। प्राचीनों के अनुसार यह प्रधान नाड़ी है।

इतःपर-क्रि० वि० [सं०] (१) इसके उपरांत। इसके बाद। (२) इतने पर। इस पर।

इत*†-क्रि० वि० [सं० इतः] इधर। इस ओर। यहाँ। उ०—इततें उत औ उततें इत रहु यम की साँट सँवारी। ज्यों कपि डोर बाँधि बाजीगर अपने खुशी परारी।—कबीर।

मुहा०—इत उत=इधर उधर। उ०—भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ। भाजि चले किलकात मुख, दधि ओदन लपटाइ।—तुलसी।

इतक़ाद-संज्ञा पुं० दे० "एतक़ाद"।

इतना-वि० [सं० एतावत, प्रा० इत्तिअ। अथवा पुं० हिं० ई (यह)+तना (प्रत्य०)] [स्त्री० इतनी] इस मात्रा का। इस क़दर। उ०—कहि न जाय कछु नगर बिभूती। जनु इतनी बिरंचि करतूती।—तुलसी।

मुहा०—इतने में=इसी बीच में। इसी समय। उ०—इतने में रन-ठौर रुधिर नदी प्रगटत भई। गज हय सुभट करारे छिन्न अंग है है गिरे।

इतनो*†-वि० दे० "इतना"।

इतमाम*†-संज्ञा पुं० [अ० इहतिमाम=प्रबंध] इंतज़ाम। बंदोबस्त। प्रबंध। उ०—ताहि तखत बैठारि धारि सिर छत्र जटित जर चँवर मोरछल ढारि कियो इतमाम आमखर।—सूदन।

इतमीनान–संज्ञा पुं० [अ०] [वि० इतमीनानी] विश्वास । दिल-जमई । संतोष । जैसे,—(क) तुम अपना हर तरह से इतमीनान कर लो, तब मकान ख़रीदो । (ख) अब तुम्हारी बातों से हमें इतमीनान हो गया ।

क्रि० प्र०—करना ।—कराना । देना ।—होना ।

इतमीनानी–वि० [फ़ा०] विश्वासपात्र । विश्वसनीय ।

इतर–वि० [सं०] (१) दूसरा । अपर । और । अन्य । (२) नीच । पामर । साधारण ।

† संज्ञा पुं० [अ० इत्र] दे० "अतर" ।

यौ०—इतरदान ।

इतराजी*–संज्ञा स्त्री० [अ० एतराज] विरोध । बिगाड़ । नाराज़ी । उ०—बड़ो मीत तुव मिलन कौ, चित राजी को चाव । इत-राजी मत कर अरे, इत राजी है आव ।—रसनिधि ।

इतराना–क्रि० अ० [सं० इतर । अथवा सं० उत्तरण, हिं० उतराना] (१) सफलता पर फूल उठना । घमंड करना । मदांध होना । उ०—(क) बड़ो बड़ाई नहिं तजै, छोटो बहु इतराय । ज्यों प्यादा फ़रज़ी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ।—कबीर । (ख) छुद्र नदी बहि चली तोराई । जिमि थोरे धन खल इतराई ।—तुलसी । (ग) इन बातन कहुँ होत बड़ाइ । लूटत हौ छबि राशि श्याम की मनो परी निधि पाइ । थोरे ही में उघरि परैंगे अति हि चले इतराइ । डारत खात देत नहिं काहू ओछे घर निधि आइ ।—सूर । (२) रूप और यौवन का घमंड दिखाना । ठसक दिखाना । ऐंठ दिखाना । इठलाना । उ०—तुम कत गाय चरावन जात ? अब काहू के जाउ कहीं जनि आवति हैं युवती इतरात । सूर-श्याम मेरे नैनन आगे रहो काहे कहुँ जात हौ तात ।—सूर ।

इतराहट*–संज्ञा स्त्री० [हिं० इतराना] दर्प । घमंड । गर्व । उ०—जोबन की इतराहट सौं अठिलात अछोटनि ऐंठनि ऐंठी ।—देव ।

इतरेतर–क्रि० वि० [सं०] परस्पर । आपस में ।

इतरेतरयोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परस्पर-संबंध । (२) एक प्रकार का द्वंद समास जिसमें दो जाति के केवल एक एक व्यक्ति का समावेश होता है । हिंदी में समास का यह भेद नहीं है ।

इतरेतराभाव–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय शास्त्र में एक के गुणों का दूसरे में न होना । अन्योन्याभाव । जैसे—गाय घोड़ा नहीं; क्योंकि गाय के धर्म घोड़े में नहीं हैं ।

इतरेतराश्रय–संज्ञा पुं० [सं] तर्क में एक प्रकार का दोष । जब कि एक वस्तु की सिद्धि दूसरी वस्तु की सिद्धि पर निर्भर हो और उस दूसरी वस्तु की सिद्धि भी पहली वस्तु की सिद्धि पर निर्भर हो, तब वहाँ पर इतरेतराश्रय दोष होता है । जैसे यदि परलोक की सिद्धि के लिये शरीर से पृथक् असिद्ध जीवात्मा को प्रमाण में लाना वा जीवात्मा को शरीरातिरिक्त सिद्ध करने के लिये असिद्ध परलोक को प्रमाण में लाना ।

इतरौंहाँ–वि० [हिं० इतराना+औहाँ (प्रत्य०)] जिससे इतराने का भाव प्रकट हो । इतराना सूचित करनेवाला । उ०—कौन की ताकौं रिसैहीं भौंह राम रहो तुम सौंह, रहे परम पद साधत बीचै परी चाह चकचौंह । रतन खोइ कै कौड़ी पाई चाल चलै इतरौंह ।—देव स्वामी ।

इतलाक़–संज्ञा पुं० [अ०] (१) जारी करना । इजराय । (२) बोलना । कथन । (३) वह दफ़्तर या बही जिसमें दस्तक और सम्मन आदि के जारी होने और उनके तलबाने के आयव्यय का लेखा लिखा जाता है ।

यौ०—इतलाक-नवीस=वह कर्मचारी जो इतलाक में काम करे वा इतलाक का हिसाब रक्खे ।

इतवरी–संज्ञा स्त्री० दे० "इत्वरी" ।

इतवार–संज्ञा पुं० [सं० आदित्यवार, प्रा० आइत्तवार=ऐतवार] शनि और सोमवार के बीच का दिन । रविवार ।

इतस्ततः–क्रि० वि० [सं०] इधर उधर । यहाँ वहाँ ।

इताअत–संज्ञा स्त्री० [अ०] आज्ञापालन । ताबेदारी । उ०—तुलसी दिन भल साहु कहँ, भली चोर कहँ राति । निसि बासर ताकहँ भलो, जो माने राम इताति ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—करना ।—मानना ।

इताति*–संज्ञा स्त्री० [अ०] दे० "इताअत" ।

इति–अव्य० [सं०] समाप्तिसूचक अव्यय ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] समाप्ति । पूर्णता । जैसे,—अब तुम्हारी पढ़ाई की इति हो गई ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

यौ०—इतिकर्त्तव्यता । इतिवृत्त । इतिहास । इतिश्री=समाप्ति । अंत । जैसे,—औरंगज़ेब ही से मुगलों के राज्य की इतिश्री हुई ।

इतिकर्तव्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी काम के करने की विधि । परिपाटी । (२) मीमांसा वा कर्मकांड में वह अर्थ-वाद बोधित वाक्य जिससे किसी कर्म की प्रशंसा और उसके करने के विधान का बोध हो ।

इतिवृत्त–संज्ञा पुं० [सं०] पुरावृत्त । पुरानी कथा । कहानी ।

इतिहास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बीती हुई प्रसिद्ध घटनाओं और उनसे संबंध रखनेवाले पुरुषों का काल-क्रम से वर्णन । तवारीख़ । (२) वह पुस्तक जिसमें बीती हुई प्रसिद्ध घट-नाओं और भूत पुरुषों का वर्णन हो ।

इतेक†–वि० [हिं० इत+एक] इतना एक । इतना ।

इतो*–वि० [सं० इयत=इतना] [स्त्री० इती] इतना । इस मात्रा का । निर्दिष्ट मात्रा का । उ०—(क) मेरे जान इनहिं बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाठ इतो री ।—तुलसी । (ख) लाल यह चंदा ले लौ हो । कमल नयन बलि जाय यशोदा नीचे नेक चितै हो । ....गगन मँडल ते गहि आन्यो है पंछी एक पठैहो । सूरदास प्रभु इती बात को कत मेरे लाल हठै हो ।—सूर । (ग) कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगो इतो उदोत ।

बंक बिकारी देत ज्यों, दाम रुपैया होत।—बिहारी।

इत्तफ़ाक़-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० इत्तफ़ाक़िया। क्रि० वि० इत्तफ़ाक़न्] (१) मेल। मिलाप। एका। सहमति।

मुहा०—**इत्तफ़ाक़ करना**=सहमत होना। जैसे,—मैं आपकी राय से इत्तफ़ाक़ नहीं करता।

(२) संयोग। मौक़ा। अवसर। जैसे,—इत्तफ़ाक़ की बात है, नहीं तो आप कभी यहाँ आते हैं।

मुहा०—**इत्तफ़ाक़ पड़ना**=संयोग उपस्थित होना। मौक़ा पड़ना। अवसर आना। जैसे,—मुझे अकेले सफ़र करने का इत्तफ़ाक़ कभी नहीं पड़ा। **इत्तफ़ाक़ से**=संयोगवश। अचानक। अकस्मात्। जैसे,—मैं स्टेशन जा रहा था, इत्तफ़ाक़ से वे भी रास्ते में मिल गए।

इत्तफ़ाक़न्-क्रि० वि० [अ] संयोगवश। अचानक। एकाएक।

इत्तफ़ाक़िया-वि० [अ०] आकस्मिक।

इत्तला-संज्ञा स्त्री० [अ० इत्तलाअ] सूचना। ख़बर।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—होना।

मुहा०—**इत्तला लिखना**=राजकर्मचारियों को किसी बात की सूचना लिखना।

यौ०—**इत्तलानामा**=सूचनापत्र।

इत्ता†-वि० [हिं० इतना] इतना।

इत्तिहाम-संज्ञा पुं० [अ०] दोष। तुहमत।

क्रि० प्र०—देना।

इत्तो*-वि० दे० "इतो"।

इत्थं-क्रि० वि० [सं०] इस प्रकार से। ऐसे। यों।

इत्थंभूत-वि० [सं०] इस प्रकार का। ऐसा।

इत्थमेव-वि० [सं०] ऐसा ही।

क्रि० वि० इसी प्रकार से।

इत्थसाल-संज्ञा पुं० [अ०] ताजक ज्योतिष के अनुसार कुंडली में सोलह योगों में से जहाँ एक वेगगामी ग्रह मंदगामी ग्रह से अंश में कम हो और वे परस्पर एक दूसरे को देखते हों वा संबंध करते हों वहाँ इत्थसाल योग होता है।

इत्यादि-अव्य० [सं०] इसी प्रकार। अन्य। और। इसी तरह और दूसरे। वग़ैरह।

विशेष—जहाँ किसी प्रसंग से समान संबंध रखनेवाली बहुत सी वस्तुओं को गिनाने की आवश्यकता होती है, वहाँ लाघव के लिये केवल दो तीन वस्तुओं को गिनाकर 'इत्यादि' लिख देते हैं जिससे और वस्तुओं का आभास मिल जाता है।

इत्यादिक-वि० [सं०] इसी प्रकार के अन्य और। ऐसे ही और दूसरे। जैसे,—राम, कृष्ण इत्यादिकों ने भी ऐसा ही किया है।

विशेष—इस शब्द के आगे 'लोग' या इसी प्रकार के और विशेष्य शब्द प्रायः लुप्त रहते हैं।

इत्र-संज्ञा पुं० [अ०] अतर। इतर।

इत्रदान-संज्ञा पुं० दे० "अतरदान"।

इत्रफ़रोश-संज्ञा पुं० दे० "इतरफ़रोश"।

इत्रीफल-संज्ञा पुं० [सं० त्रिफला] एक हकीमी दवा। हड़, बहेड़े और आँवले का चूर्ण तिगुने शहद में मिलाकर चालीस दिन तक रखा जाता है और फिर व्यवहार में आता है।

इत्वर-वि० [सं०] [स्त्री० इत्वरी] नीच। क्रूर।

संज्ञा पुं० (१) षंढ। नपुंसक। (२) पथिक। मुसाफ़िर।

इत्वरी-वि० स्त्री० [सं०] छिनाल। कुलटा।

इदम्-सर्व० [सं०] यह।

इदमित्थं-पद० [सं०] यह ऐसा है। ऐसा ही है। ठीक है।

इदानींतन-वि० [सं०] (१) इस समय का। आधुनिक। (२) नवीन। नया।

इदावत्सर-संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति की गति के अनुसार प्रत्येक साठ वर्ष में बारह युग होते हैं और प्रत्येक युग में पाँच पाँच वर्ष होते हैं। प्रत्येक युग के तीसरे वर्ष को इदावत्सर कहते हैं। इनके नाम ये हैं—शुक्र, भाव, प्रमाथी, तारण, विरोधी· जय, विकारी, क्रोधी, सौम्य, आनंद, सिद्धार्थ और रक्ता।

इद्दत-संज्ञा स्त्री० [अ०] पति के मरने के बाद का ४० दिन का अशौच जो मुसलमान विधवाओं को होता है और जिसके बीच वे अन्य पुरुष से विवाह नहीं कर सकतीं। कहते हैं कि यह इसलिए रक्खा गया है कि जिससे यदि गर्भ हो तो उसका पता चल जाय।

इद्वत्सर-संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति की गति के अनुसार साठ वर्ष में बारह युग होते हैं और प्रत्येक युग में पाँच पाँच वत्सर होते हैं। प्रत्येक युग के पाँचवें वा अंतिम वर्ष को इद्वत्सर कहते हैं, जिनके नाम ये हैं—प्रजापति, धाता, वृष, व्यय, खर, दुर्मुख, प्लव, पराभव, रोधकृत्, अनल, दुर्मति और क्षय।

इधर-क्रि० वि० [सं० इतर] इस ओर। यहाँ। इस तरफ़।

मुहा०—**इधर उधर**=(१) यहाँ वहाँ। इतस्ततः। अनिश्चित स्थान में। जैसे,—लोग विपत्ति के मारे इधर उधर मारे मारे फिरते थे। (२) आस पास। इनारे किनारे। अड़ोस पड़ोस में। जैसे,—तुम्हारे घर के इधर उधर कोई नाई हो तो भेज देना। (३) चारों ओर। सब ओर। जैसे,—मेज़ के इधर उधर देखो, पुस्तक वहीं कहीं होगी। **इधर उधर करना**=(१) टाल मटूल करना। हीला हवाला करना। जैसे,—जब हम अपना रुपया माँगते हैं, तब तुम इधर उधर करते हो। (२) अस्त व्यस्त करना। उलट पुलट करना। क्रमभंग करना। जैसे,—बच्चे ने सब काग़ज़ पत्र इधर उधर कर दिए। (३) तितर बितर करना। भगाना। जैसे,—अकेले उसने बीस चोरों को मारकर इधर उधर कर दिया। (४) हटाना। भिन्न भिन्न स्थानों पर कर देना। जैसे,—महाजनों के डर से उसने घर

का माल इधर उधर कर दिया। इधर उधर की बात=(१) बाजारू गप। अफ़वाह। सुनी सुनाई बात। जैसे,—हम ऐसी इधर उधर की बातों पर विश्वास नहीं करते। (२) बेठिकाने की बात। असंबद्ध बात। व्यर्थ की बकवाद। जैसे,—तुम कोई काम नहीं करते; व्यर्थ इधर उधर की बातें किया करते हो। इधर की उधर करना वा लगाना=चुगलखोरी करना। चवाव करना। एक पक्ष के लोगों की बात दूसरे पक्ष के लोगों से कहना। झगड़ा लगाना। इधर की दुनिया उधर होना=अनहोनी बात का होना। असंभव का संभव होना। जैसे,—चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय, पर हम ऐसा कभी नहीं करेंगे। इधर उधर की हाँकना=झूठ मूठ बकना। व्यर्थ बकवाद करना। गप मारना। इधर उधर में रहना=व्यर्थ समय खोना। जैसे,—तुम इधर उधर में रहा करते हो; कोई काम तो करते नहीं। इधर उधर से=(१) अनिर्दिष्ट स्थान से। अनिश्चित जगह से। जैसे,—यह पुस्तक कहीं इधर उधर से झटक लाए हो। (२) औरों से। दूसरों से। जैसे,—(क) जब तक इधर उधर से काम चले, तब तक घोड़ा क्यों मोल लें। (ख) उसे इधर उधर से भोजन मिल ही जाता है; वह रसोई क्यों बनावे? इधर उधर होना-(१) उलट पुलट होना। अंड बंड होना। बिगड़ना। जैसे,—हवा से सब काग़ज़ पत्र इधर उधर हो गए। (२) टाल मटूल होना। हीला हवाला होना। जैसे,—महीनों से इधर उधर हो रहा है देखें रुपया कब मिलता है। (३) भाग जाना। तितर बितर होना। जैसे,—शेर के आते ही सब लोग इधर उधर हो गए। इधर का उधर करना=उलट पुलट देना। अस्त व्यस्त करना। क्रम बिगाड़ना। इधर का उधर होना=उलट पुलट जाना। विपर्य्यय होना। इधर का उधर होना=उलट जाना। विपरीत हो जाना। जैसे,—देखते देखते सारा मामला इधर का उधर हो गया। इधर या उधर होना=परस्पर विरुद्ध दो संभवित घटनाओं में से किसी एक का होना। जैसे, जीना या मरना, हारना या जीतना। जैसे,—जज के यहाँ मुक़दमा हो रहा है; दो चार दिन में इधर या उधर हो जायगा। इधर से उधर फिरना=चारों ओर फिरना। जैसे,—तुम व्यर्थ इधर से उधर फिरा करते हो। न इधर का होना न उधर का=(१) किसी ओर का न रहना। किसी पक्ष में न रहना। जैसे,—वे हमारी शिकायत उनसे और उनकी शिकायत हम से किया करते थे; अंत में न इधर के हुए न उधर के। (२) किसी काम का न रहना। जैसे,—वे इतना पढ़ लिखकर भी न इधर के हुए न उधर के। (३) दो परस्पर विरुद्ध उद्देशों में से किसी एक का भी पूरा न होना। जैसे,—वे नौकरी के साथ साथ रोज़गार भी करना चाहते थे; पर अंत में न इधर के हुए न उधर के।

इधम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काठ। लकड़ी। (२) यज्ञ की समिधा जो प्रायः पलाश वा आम की होती है।

यौ०—इधमजिह्व=अग्नि। इधमवाह=अगस्त्य ऋषि का एक पुत्र जो लोपामुद्रा से उत्पन्न हुआ था।

इन-सर्व० [हिं०] 'इस' का बहुवचन।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) प्रभु। स्वामी।

इनकम—संज्ञा स्त्री० [अं०] आय। आमदनी। अर्थागम।

यौ०—इनकम-टैक्स।

इनकम-टैक्स-संज्ञा पुं० [अं०] आमदनी पर महसूल। आय पर कर।

इनकार—संज्ञा पुं० [अ०] अस्वीकार। नकारना। नामंज़ूरी। नहीं करना। 'इक़रार' का उलटा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

इनफ़िकाक-संज्ञा पुं० [अ०] रेहन का छुड़ाना। बंधक छुड़ाना।

यौ०—इनफ़िकाक रेहन।

इनफ़्लुएंज़ा-संज्ञा पुं० [अं०] सरदी का बुख़ार जिसमें सिर भारी रहता है, नाक बहा करती है और हरारत रहती है।

इनसान-संज्ञा पु० [अ०] मनुष्य। आदमी।

इनसानियत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मनुष्यत्व। आदमीयत। (२) बुद्धिमत्ता। बुद्धि। शऊर। (३) भलमनसी। सज्जनता। मुरव्वत।

इनसालवेंट-वि० [अं०] वह व्यापारी जो व्यापार में घाटा आने के कारण अपना ऋण चुकाने में असमर्थ हो। दिवालिया।

इनाम-संज्ञा पुं० [अ० इनआम] पुरस्कार। उपहार। बख़्शिश।

यौ०—इनाम इकराम=इनाम जो कृपापूर्वक दिया जाय।

इनायत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कृपा। दया। अनुग्रह। मेहरबानी। (२) एहसान।

क्रि० प्र०—करना। —फ़रमाना।—रखना।

मुहा०—इनायत करना=(१) कृपा करके देना। जैसे,—ज़रा क़लम तो इनायत कीजिए। (२) रहने देना। बाज़ रखना। वंचित रखना (व्यंग्य)। जैसे,—इनायत कीजिए, मैं आपकी चीज़ नहीं लेता।

इनारा†-संज्ञा पुं० दे० "इँदारा"।

इने-गिने-वि० [अनु० इन+हिं० गिनना] (१) कतिपय। कुछ। चंद। थोड़े से। (२) चुने चुनाए। गिने गिनाए। जैसे,—इस विद्या के जाननेवाले अब इने गिने लोग हैं।

इन्नर-संज्ञा पुं० [सं० अनीर=बिना जल का] पेउस (१० दिन के भीतर ब्याई हुई गाय का दूध) में गुड़, सोंठ, चिरौंजी और कच्चा दूध मिलाकर पकाने से वह जम जाता है। इसी जमे हुए दूध को इन्नर कहते हैं।

इन्वका-संज्ञा पुं० [सं०] इल्वला नाम का पाँच तारों का समूह जो मृगशिरा नक्षत्र के ऊपर रहता है।

इन्ह*†-सर्व० दे० "इन"।

इफ़रात-संज्ञा स्त्री० [अ०] अधिकता। ज़्यादती। अधिकाई। कसरत। बहुतायत।

इफ़लास-संज्ञा पुं० [अ०] मुफ़लिसी। तंगदस्ती। ग़रीबी। दरिद्रता।

इबरायननामा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह पत्र जिसके द्वारा कोई मनुष्य अपने स्वत्व वा हक़ से दस्तबरदार हो। त्यागपत्र।

इबरानी-वि० [अ०] यहूदी।
संज्ञा स्त्री० पैलिस्तान देश की प्राचीन भाषा।

इबलीस-संज्ञा पुं० [अ०] शैतान।

इबादत-संज्ञा स्त्री० [अ०] पूजा। अर्चा। आराधना।
यौ०—इबादतख़ाना।

इबारत-संज्ञा स्त्री० [अ०] [वि० इबारती] (१) लेख। (२) लेखशैली।

इबारती-वि० [फ़ा०] जो इबारत में हो।
यौ०—इबारती सवाल=वह हिसाब जिसमे राशीकृत अंकों के संबंध में कुछ पूछा जाय।

इब्तिदा-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आरंभ। आदि। शुरू। (२) जन्म। पैदाइश। (३) निकास। उठान।

इब्राहीमी-संज्ञा पुं० [अ०] एक सिक्का जो इब्राहीम लोदी के वक़्त में जारी हुआ था।

इभ-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० इभी वा इभ्या] हाथी।

इभकरण-संज्ञा स्त्री० [सं०] गज-पिप्पली। गजपीपल।

इभकुंभ-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी का मस्तक।

इभ्य- वि० [सं०] जिसके पास हाथी हो। धनवान्। धनी।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) हाथीवान्।

इभ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हथिनी। (२) सलई का पेड़।

इमकान-संज्ञा पुं० [अ०] शक्ति। ताक़त। मक़दूर। बस। क़ाबू। जैसे,—हमने अपने इमकान भर कोशिश कर दी।

इमकोस-संज्ञा पुं० [सं० कोश] तल्वार का म्यान।—डिं०।

इमचार-संज्ञा पुं० [?] गुप्त-चर। गुप्त दूत।—डिं०।

इमदाद-संज्ञा स्त्री० [अ० मदद का बहु०] [वि० इमदादी] मदद। सहायता।

इमदादी-वि० [अ० इमदाद] मदद पानेवाला। जैसे,—इमदादी मदरसा=वह मदरसा जिसे सरकार से कुछ द्रव्य की सहायता मिलती हो।

इमरती-संज्ञा स्त्री० [सं० अमृत] एक मिठाई।
विशेष—उर्द की फेंटी हुई महीन पीठी और चौरेठे को तीन चार तह कपड़े में, जिसके बीच एक छोटा सा छेद रहता है, रखकर खौलते हुए घी की तई में घुमा घुमाकर टपकाते हैं, जिससे कंगन के आकार की बत्तियाँ बनती जाती हैं। इनको चीनी के शीरे में डुबाते हैं।

इमली-संज्ञा स्त्री० [सं० अम्ल+हिं० ई (प्रत्य०)] (१) एक बड़ा पेड़ जिसकी पत्तियाँ बहुत छोटी छोटी होती हैं और सदा हरी रहती हैं। इसमें लंबी लंबी फलियाँ लगती हैं जिनके ऊपर पतला पर कड़ा छिलका होता है। छिलके के भीतर खट्टा गूदा होता है जो पकने पर लाल और कुछ मीठा हो जाता है। (२) इस पेड़ का फल।
मुहा०—इमली घोंटाना=विवाह के समय लड़के वा लड़की का मामा उसको आम्रपल्लव दाँत से खोंटाता है और यथा-शक्ति कुछ दक्षिणा भी बाँटता है। इसी रीति को "इमली घोंटना" कहते हैं।

इमाम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) अगुआ। (२) पुरोहित। मुसल्मानों के धार्मिक कृत्य करानेवाला मनुष्य। (३) अली के बेटों की उपाधि।
यौ०—इमामबाड़ा।
(३) मुसल्मानों की तसबीह वा माला का सुमेर।

इमामदस्ता-संज्ञा पुं० [फ़ा० हावन+दस्ता] एक प्रकार का लोहे वा पीतल का खल बट्टा।

इमामबाड़ा-संज्ञा पुं० [अ० इमाम+हिं० बाड़ा] वह हाता जिसमें शीया लोग ताजिया रखते और उसे दफ़न करते हैं।

इमारत-संज्ञा स्त्री० [अ०] बड़ा और पक्का मकान।

इमि*-क्रि० वि० [सं० एवम्] इस प्रकार। इस तरह।

इम्तहान-संज्ञा पुं० [अ०] परीक्षा। जाँच।

इयत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीमा। हद।

इरम्मद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिजली की आग वा गरमी। वज्राग्नि। (२) बिजली।

इरषा*-संज्ञा स्त्री० दे० "ईर्ष्या"।

इरषित*-वि० दे० "ईर्षित"।

इरसी-संज्ञा स्त्री० [देश०] पहिये की धुरी।

इरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कश्यप की वह स्त्री जिससे बृहस्पति वा उद्भिज उत्पन्न हुए। (२) भूमि। पृथ्वी। (३) वाणी। वाचा। (४) जल। (५) अन्न।

इराक़ी-वि० [अ०] इराक़ देश का।
संज्ञा पुं० घोड़ों की एक जाति।

इरादा-संज्ञा पुं० [अ०] विचार, संकल्प।

इरावत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पर्वत का नाम। (२) एक सर्प का नाम। (३) अर्जुन का एक पुत्र जो नाग-कन्या उलोपी से उत्पन्न हुआ था।

इरावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कश्यप ऋषि की भद्रमदा नाम की पत्नी से उत्पन्न कन्या, जिसका पुत्र ऐरावत नामक महागज हुआ। (२) ब्रह्मा देश की एक नदी। (३) वटपत्री। पथरचट।

इरवेलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सन्निपात से उत्पन्न सिर की फुंसी।

इर्तकाब-संज्ञा पुं० [अ०] (१) एक करना। (२) कोई अपराध करना।
यौ०—इर्तकाबेजुर्म=अपराध करना।

इर्द गिर्द-क्रि० वि० [अनु० इर्द+फ़ा० गिर्द] (१) चारों ओर। चारों तरफ़। (२) आस पास। इधर उधर। अगल बगल।

इर्शाद-संज्ञा पुं० [अ०] आज्ञा। हुक्म।

इर्षना*-संज्ञा स्त्री० [सं० एषणा] प्रबल इच्छा। उ०—छूटी त्रिविध इर्षना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी।—तुलसी।

इल-संज्ञा पुं० [सं०] कर्दम प्रजापति के एक पुत्र का नाम जो वाह्लीक देश का राजा था।

इलज़ाम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दोष। कलंक। अपराध। (२) अभियोग। दोषारोपण।

क्रि० प्र०—लगाना।—देना।

इलविला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विश्रवा की स्त्री अर्थात् कुबेर की माता का नाम। (२) पुलस्त्य की स्त्री।

इलहाक़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) संबंध। मिलान। (२) किसी वस्तु को किसी दूसरी वस्तु के साथ मिला देने का कार्य्य।

इलहाक़दार-संज्ञा पुं० [अ०] वह मनुष्य जिसके साथ बंदोबस्त के वक्त मालगुज़ारी अदा करने का इक़रारनामा हो। नंबरदार वा लंबरदार।

इलहाम-संज्ञा पुं० [अ०] ईश्वर का शब्द। देववाणी।

इला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। (२) पार्वती। (३) सरस्वती। वाणी। (४) बुद्धिमती स्त्री। (५) गौ। धेनु। (६) वैवस्वत मनु की कन्या जो बुध को ब्याही थी और जिससे पुरूरवा उत्पन्न हुआ था। (७) राजा इक्ष्वाकु की एक कन्या का नाम। (८) कर्दम प्रजापति का एक पुत्र जो पार्वती के शाप से स्त्री हो गया था।

इलाक़ा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) संबंध। लगाव। (२) एक से अधिक मौज़े की ज़मींदारी। राज्य। रियासत।

यौ०—इलाक़ेदार।

इलाचा-संज्ञा पुं० [?] एक कपड़ा जो रेशम और सूत मिला कर बुना जाता है।

इलाज-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दवा। औषध। (२) चिकित्सा। (३) निवारण का उपाय। युक्ति। तदबीर।

इलापत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम।

इलाम*-संज्ञा पुं० [अ० ऐलान] (१) इत्तलानामा। (२) हुक्म। आज्ञा। उ०—जसन के रोज यों जलूस गहि बैठ्यो जोब इंद्र आवै सोऊ लागै औरँग की परजा। भूषन भनत तहाँ सरजा सिवाजी गाजी तिन को तुजुक देखि नेकहूँ न लरजा। ठान्यो न सलाम भान्यो साहि को इलाम धूमधाम कै न मान्यो रामसिंह हू को बरजा। जासों बैर करि भूप बचे न दिगंत ताके देत तोरि तखत तरे ते आयो सरजा।—भूषण।

इलायची-संज्ञा स्त्री० [सं० एला+ची (फ़ा० प्रत्य० 'च')] एक सदाबहार पेड़ जिसकी शाखाएँ खड़ी और चार से आठ फुट तक ऊँची होती हैं। यह दक्षिण में कनाडा, मैसूर, कुर्ग, ट्रावंकोर और मदुरा आदि स्थानों के पहाड़ी जंगलों में आप से आप होता है। यह दक्षिण में लगाया भी बहुत जाता है। इलायची के दो भेद होते हैं, सफ़ेद (छोटी) और काली (बड़ी)। सफ़ेद इलायची दक्षिण में होती है और काली इलायची वा बड़ी इलायची नेपाल में होती है, जिसे बँगला इलायची भी कहते हैं। बड़ी इलायची तरकारी आदि तथा नमकीन भोजनों के मसालों में दी जाती है। छोटी इलायची मीठी चीज़ों में पड़ती है और पान के साथ खाई जाती है। सफ़ेद वा छोटी इलायची के भी दो भेद होते हैं—मलाबार की छोटी और मैसूर की बड़ी। मलाबारी इलायची की पत्तियाँ मैसूरी इलायची से छोटी होती हैं और उनकी दूसरी ओर सफ़ेद सफ़ेद बारीक रोईं होती है। इसका फल गोलाई लिए होता है। मैसूरी इलायची की पत्तियाँ मलाबारी से बड़ी होती हैं और उनमें रोईं नहीं होती। इसके लिये तर और छायादार ज़मीन चाहिए, जहाँ से पानी बहुत दूर न हो। यह कुहरा और समुद्र की ठंढी हवा पाकर खूब बढ़ती है। इसे धूप और पानी दोनों से बचाना पड़ता है। क्वार कातिक में यह बोई जाती है, अर्थात् इसकी बेहन डाली जाती है। १७-१८ महीने में जब पौधे चार फुट के हो जाते हैं, तब उन्हें खोदकर सुपारी के पेड़ों के नीचे लगा देते हैं और पत्ती की खाद देते रहते हैं। लगाने के एक ही वर्ष के भीतर यह चैत वैसाख में फूलने लगता है और असाढ़-सावन तक इसमें ढेंढ़ी लगती हैं। क्वार कातिक में फल तैयार हो जाता है और इसके गुच्छे वा घौद तोड़ लिए जाते हैं और दो तीन दिन सुखाकर फलों को मलकर अलग कर लेते हैं। एक पेड़ में पाव भर के लगभग इलायची निकलती है। इसका पेड़ १० या १२ वर्ष तक रहता है। कुर्ग से इलायची गुजरात होकर और प्रांतों में जाती थी, इसी से इसे गुजराती इलायची भी कहते हैं।

यौ०—इलायची डोरा=इलायची की ढोंढी।

इलायचीदाना-संज्ञा पुं० [सं० एला+फ़ा० दाना] (१) इलायची का बीया। (२) एक प्रकार की मिठाई। चीनी में पागा हुआ इलायची वा पोस्ते का दाना।

इलायची पंडु-संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का जंगली फल।

इलावर्त्त*-संज्ञा पुं० [सं० इलावृत्त] जंबू द्वीप के एक खंड का नाम।

इलावृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] जंबू द्वीप के नौ खंडों में से एक।

इलाही-संज्ञा पुं० [अ०] ईश्वर। परमेश्वर। परमात्मा। भगवान्। खुदा।

वि० ईश्वर-संबंधी। ईश्वरीय। जैसे,—कज़ाए इलाही।

यौ०—इलाही खर्च। इलाही गज। इलाही मुहर। इलाही रात।

इलाही खर्च-संज्ञा पुं० [अ०] फ़ज़ूल खर्च। अधिक खर्च। बेहिसाब खर्च।

इलाही गज़-संज्ञा पुं० [अ०] अकबर का चलाया हुआ एक

प्रकार का गज़ जो ४१ अंगुल (३३$\frac{1}{8}$ इंच) का होता है और जो अब तक इमारत आदि नापने के काम में आता है।

इलाही मुहर-वि० [अ०] ज्यों का त्यों । अछूता । ख़ालिस । संज्ञा स्त्री० [अ०] अमानत । धरोहर ।

इलाही रात-संज्ञा स्त्री० [अ०] रतजगे की रात ।

इलिश-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिलसा मछली ।

इलेक्ट्रिक-वि० [अं०] बिजली-संबंधी । बिजली का ।

इल्ज़ाम-संज्ञा पुं० [अ०] आरोप । दोषारोपण ।

क्रि० प्र०—देना ।—लगाना ।

इल्तजा-संज्ञा स्त्री० [अ०] निवेदन । प्रार्थना ।

क्रि० प्र०—करना ।

इल्तिवा-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० मुल्तबी] किसी कार्य्य के लिये स्थिर समय का टल जाना । तारीख़ टलना ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अदालती कार्रवाइयों में अधिक होता है ।

इल्म-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० इल्मी] विद्या । ज्ञान । जानकारी ।

यौ०—इल्मे इलाही । इल्मे ग़ैब । इल्मे नुजूम ।

इल्लत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) रोग । बीमारी । (२) बाधा । जैसे,—बुरी इल्लत पीछे लगी । (३) दोष । अपराध । जैसे,—वह किस इल्लत में गिरफ़्तार हुआ था ।

इल्ला-संज्ञा पुं० [सं० कील] छोटी कड़ी फुंसी जो चमड़े के ऊपर निकलती है । यह मसे के समान होती है ।

इल्वल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दैत्य वा असुर का नाम । यह अपने छोटे भाई वातापि को भेड़ा बनाकर ब्राह्मणों को खिला देता और फिर उसका नाम लेकर बुलाता था । तब वह ब्राह्मण का पेट फाड़कर निकल आता था । इन दोनों को अगस्त्य मुनि खाकर पचा गए थे । (२) ईल वा बाम मछली ।

इल्वला-संज्ञा पुं० [सं०] मृगशिरा नक्षत्र के सिर पर रहनेवाले पाँच तारों का समूह ।

इव-अव्य० [सं०] उपमावाचक शब्द । समान । नाईं । तरह । सदृश । तुल्य ।

इवापोरेशन-संज्ञा पुं० [अं०] गरमी पाकर पानी का भाप के रूप में परिवर्त्तित होना । उच्छोषण ।

इशरत-संज्ञा स्त्री० [अ०] सुख । चैन । आराम । भोग विलास ।

यौ०—ऐश व इशरत ।

इशारा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) सैन । संकेत । चेष्टा । (२) संक्षिप्त कथन । (३) बारीक सहारा । सूक्ष्म आधार । जैसे,—एक लकड़ी के इशारे पर यह संदूक ऊपर टिका है । (४) गुप्त प्रेरणा । जैसे,—इन्हीं के इशारे से उसने यह काम किया है ।

इशिका, इशीका-संज्ञा स्त्री० दे० "इषीका" ।

इश्क़-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० आशिक, माशूक़] मुहब्बत । चाह । प्रेम । लगन । अनुराग । आसक्ति ।

इश्क़पेचाँ-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार की बेल जिसकी पत्तियाँ सूत की तरह बारीक होती हैं और जिसमें लाल फूल लगते हैं ।

इश्तहार-संज्ञा पुं० [अ०] विज्ञापन । नोटिस । ज़ाहिरात । एलान ।

इश्तियालक-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वह सींक जो बत्ती बढ़ाने के लिये दीपक में पड़ी रहती है । टहलवी । (२) बढ़ावा । उत्तेजना ।

क्रि० प्र०—देना ।

इष-संज्ञा पुं० [सं०] क्वार का महीना । आश्विन ।

इषण*-संज्ञा स्त्री० [सं० एषणा] प्रबल इच्छा । कामना । ख़्वाहिश । वासना ।

इषीका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गाँडर वा मूँज के बीच की सींक जिसके ऊपर जीरा वा भूआ होता है । (२) तीर । बाण । (३) हाथी की आँख का डेला ।

इषु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाण । तीर । (२) क्षेत्र गणित में वृत्त के अंतर्गत जीवा के मध्य बिंदु से परिधि तक खींची हुई सीधी रेखा । दे० "शर" ।

इषुधी-संज्ञा पुं० [सं०] तूण । तूणीर । तरकश । उ०—नेकु जही दुचितो चित कीन्हो । शूर बड़ो इषुधी धनु दीन्हो ।—केशव ।

इषुमान्-वि० [सं०] बाण चलानेवाला । तीरंदाज़ । उ०—तब इषुमान प्रधान चलेउ इषुमान ज्ञानधर । देवश्रवा संतान समर पर सान मान हर ।—गोपाल ।

संज्ञा पुं० वसुदेव का भाई, देवश्रवा का पुत्र ।

इषूपल-संज्ञा पुं० [सं०] क़िले के फाटक पर रहनेवाली एक प्रकार की तोप जिसमें कंकड़ पत्थर डालकर छोड़े जाते थे ।

इष्ट-वि० [सं०] (१) अभिलषित । चाहा हुआ । वांछित । जैसे,—(क) परिश्रम से इष्ट फल की प्राप्ति होती है । (ख) हमें वहाँ जाना इष्ट नहीं है । (२) अभिप्रेत । जैसे,—ग्रंथकार का इष्ट यह नहीं है । (३) पूजित ।

यौ०—इष्टदेव ।

संज्ञा पुं० (१) अग्निहोत्रादि शुभ कर्म्म । इष्टापूर्त्त । धर्म्म-कार्य्य । (२) वह देवता जिसकी पूजा से कामना सिद्ध होती है । इष्टदेव । कुलदेव । (३) अधिकार । वश । जैसे,—उस को देवी का इष्ट है । (४) मित्र । दोस्त ।

यौ०—इष्ट मित्र ।

(५) रेंड़ का पेड़ (६) ईंट ।

इष्टका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ईंट । (२) यज्ञकुंड बनाने की ईंट ।

इष्टकाल-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में किसी घटना के घटित होने का ठीक समय ।

इष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मित्रता । मिताई । दोस्ती ।

इष्टदेव-संज्ञा पुं० [सं०] आराध्य देव । पूज्य देवता । वह देवता जिसकी पूजा से कामना सिद्ध होती हो । कुलदेवता ।

इष्टदेवता–संज्ञा पुं० दे० 'इष्टदेव'।

इष्टापत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वादी के कथन में प्रतिवादी की दिखाई हुई ऐसी आपत्ति जो उक्त कथन में किसी प्रकार का व्याघात या अंतर न डाल सके और जिसे वादी स्वीकार कर ले। जैसे वादी ने कहा—"जीव ब्रह्म है"। प्रतिवादी ने कहा—"तो ब्रह्म भी जगत की झूठी कल्पना करके झूठा हुआ"। वादी—"हो, इससे क्या हानि।"

इष्टापूर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] अग्निहोत्र करना, कूआँ तालाब खुदाना, बगीचा लगवाना आदि शुभ कर्म।

विशेष—वेद का पठन-पाठन, अतिथि-सत्कार और अग्निहोत्र इष्ट कहलाते हैं; और कूआँ तालाब खुदाना, देव-मंदिर बनवाना, बगीचा लगाना आदि कर्म्म इष्टापूर्त्त कहलाते हैं। बड़े बड़े यज्ञों के बंद होने पर इष्टापूर्त्त का प्रचार अधिकता से हुआ है।

इष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इच्छा। अभिलाषा। (२) व्याकरण में भाष्यकार की वह सम्मति जिसके विषय में सूत्रकार ने कुछ न लिखा हो। व्याकरण का वह नियम जो सूत्र और वार्त्तिक में न हो। (३) यज्ञ।

इष्य–संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु।

इस–सर्व० [सं० एषः] 'यह' शब्द का विभक्ति के पहले आदिष्ट रूप।

विशेष—जब 'यह' शब्द में विभक्ति लगानी होती है, तब उसे 'इस' कर देते हैं। जैसे—इसने, इसको, इससे, इसमें।

इसकंदर–संज्ञा पुं० [यू०] सिकंदर बादशाह। उ०—नग अमोल अस पाँचो मान समुँद वह दीन्ह। इसकंदर नहिं पाई जोरे समुंद जस लीन।—जायसी।

इसपंज–संज्ञा पुं० [अं० स्पंज] समुद्र में एक प्रकार के अत्यंत छोटे कीड़ों के योग से बना हुआ मुलायम रूई की तरह का सजीव पिंड जिसमें बहुत से छेद होते हैं, जिनमें से होकर पानी आता है। इसपंज भिन्न भिन्न आकार के होते हैं। इनकी सृष्टि दो प्रकार से होती है—एक तो संविभाग द्वारा और दूसरे रजकीट और वीर्य्य-कीट के संयोग से। इसकी बादामी रंग की, रुई के समान मुलायम ठटरी जिसमें बहुत से छेद होते हैं, बाज़ारों में इसपंज के नाम से बिकती है। इसमें पानी सोखने की बड़ी शक्ति होती है; इसी से लड़के इससे स्लेट पोंछते हैं और डाक्टर लोग घाव पर का खून आदि सुखाते हैं। पानी सोखने पर यह खूब मुलायम होकर फूल जाता है। मुर्दा बादल। अब्रे मुर्दा।

इसपात–संज्ञा पुं० [सं० अयस्पत्र। अथवा पुर्त्त० स्पेडा] एक प्रकार का कड़ा लोहा।

इसपिरिट–संज्ञा स्त्री० [अं० स्पिरिट] (१) किसी वस्तु का सत। (२) एक प्रकार की खालिस शराब।

इसपेशल–वि० [अं० स्पेशल] विशेष। खास।

स्त्री० नियत समयों पर चलनेवाली रेलगाड़ियों के अतिरिक्त विशेष रेलगाड़ी जो किसी विशेष अवसर पर वा किसी विशेष व्यक्ति की यात्रा के लिये छोड़ी जाती है।

इस्पंद–संज्ञा पुं० [फ़ा०] राई।

इसबगोल–संज्ञा पुं० [फा०] एक झाड़ वा पौधा जो फ़ारस में बहुत होता है। पंजाब और सिंध में भी इसकी झाड़ियाँ लगाई जाती हैं। इसमें तिल के आकार के बीज लगते हैं जो भूरे और गुलाबी होते हैं। यूनानी चिकित्सा में इसका व्यवहार अधिक है। यह शीतल, बद्धकारक और रक्तातिसार-नाशक है। यह बवासीर, नकसीर आदि रक्तस्राव की बीमारियों में बहुत फ़ायदा करता है। अतीसार और सूज़ाक में भी दिया जाता है।

इसमाईल–संज्ञा पुं० [इब०] (१) इब्राहिम का बेटा जो हाज़िरा नाम्नी दासी से उत्पन्न हुआ था (२) साबर तंत्र में एक योगी का नाम जिसकी आन प्रायः मंत्रों में दी जाती है।

इसरार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) हठ। ज़िद। आग्रह। अनुरोध। (२) सारंगी की तरह का एक बाजा।

इसलाम–संज्ञा पुं० [अ०] [वि० इसलामिया] मुसलमानी धर्म।

क्रि० प्र०—(कबूल) करना।

इसलाह–संज्ञा पुं० [अ०] संशोधन।

इसाई–वि० दे० "ईसाई"।

इसीका*–संज्ञा स्त्री० दे० 'इषीका'।

इसे–सर्व० [सं० एषः] 'यह' का कर्मकारक और संप्रदान-कारक रूप।

इस्क़ात–संज्ञा पुं० [अ०] (१) गिरना। पतन। (२) गर्भपात। हमल गिरना।

इस्तमरारी–वि० [अ०] सब दिन रहनेवाला। जिसमें कुछ अदल बदल न हो। नित्य। अविच्छिन्न।

यौ०—**इस्तमरारी बंदोबस्त**=जमीन का वह बंदोबस्त जिसमें मालगुजारी सदा के लिए मुकर्रर कर दी जाती है।

इस्तंगी–संज्ञा स्त्री० [अं० स्टिंग] जहाज़ों में वह रस्सी जो घिर्नी में लगी होती है और जिससे पाल के किनारे आदि ताने और खींचे जाते हैं।

क्रि० प्र०—चाँपना।

इस्तिंजा–संज्ञा पुं० [अ०] पेशाब करने के बाद मिट्टी के ढेले से इंद्रिय में लगी हुई पेशाब की बूँदों को सुखाने की क्रिया जो मुसलमानों में प्रचलित है।

मुहा०—**इस्तिंजे का ढेला**=अनादृत व्यक्ति। तुच्छ मनुष्य। **इस्तिंजा लड़ना**=अत्यंत मित्रता होना। दाँतकाटी रोटी होना। **इस्तिंजा लड़ाना**=अत्यंत मित्रता करना।

इस्तिरी–संज्ञा स्त्री० [सं०=स्तरी=तह करनेवाली] धोबी का वह औज़ार जिससे वह धोने के पीछे कपड़े की तह को जमाकर

उसकी शिकन मिटाते हैं। इसके नीचे का भाग जो कपड़े पर रगड़ा जाता है, पीतल का होता है। उसके ऊपर एक खोखला स्थान होता है, जिसमें गरम कोयले भरे जाते हैं।

इस्तीफ़ा-संज्ञा पुं० [अ० इस्तैफ़ा] नौकरी छोड़ने की दरख़्वास्त। काम छोड़ने का प्रार्थनापत्र। त्यागपत्र।

क्रि० प्र०—देना।

इस्तेदाद-संज्ञा स्त्री० [अ०] विद्या की योग्यता। लियाक़त।

इस्तेमाल-संज्ञा पुं० [अ०] प्रयोग। उपयोग। व्यवहार।

क्रि० प्र०—करना।—में आना।—में लाना।—होना।

इस्त्री*-संज्ञा स्त्री० दे० "स्त्री"।

इस्पंज-संज्ञा दे० "इसपंज"।

इस्म-संज्ञा पुं० [अ०] नाम। संज्ञा।

यौ०—इस्म नवीसी=(१) संज्ञा पुं० किसी गवाही, नौकरी वा जगह के लिये नामज़द करने का कार्य्य। (२) पटवारी की जगह के लिये ज़मींदार का किसी व्यक्ति का नाम चुनना।

इह-क्रि० वि० [सं०] इस जगह। इस लोक में। इस काल में। यहाँ। संज्ञा पुं० यह संसार। यह लोक।

यौ०—इहामुत्र=यह लोक और परलोक।

इहतियात-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) सावधानी। ख़बरदारी। (२) रक्षा। बचाव।

इहवाँ‡-क्रि० वि० [सं० इह] इस जगह। यहाँ।

इहसान†-संज्ञा पुं० दे० "एहसान"।

इहाँ†-क्रि० वि० दे० "यहाँ"।

इहामृग-संज्ञा पुं० दे० 'ईहामृग'

ई

ई-हिन्दी-वर्णमाला का चौथा अक्षर। यह यथार्थ में 'इ' का दीर्घ रूप है। इसके उच्चारण का स्थान तालु है। इसको प्रत्यय की भाँति कुछ शब्दों में लगाकर संज्ञा और विशेषण, स्त्रीलिंग, क्रिया स्त्रीलिंग, तथा भाववाचक संज्ञा आदि बनाते हैं। जैसे घोड़ा से घोड़ी, अच्छा से अच्छी, गया से गई, स्याह से स्याही, क्रोध से क्रोधी।

ईंगुर-संज्ञा पुं० [सं० हिंगुल, प्रा० इंगुल] एक खनिज पदार्थ जो चीन आदि देशों में निकलता है। इसकी ललाई बहुत चटकीली और सुन्दर होती है। लाल वस्तुओं की उपमा ईंगुर से दी जाती है। हिन्दू सौभाग्यवती स्त्रियाँ माथे पर शोभा के लिये इसकी बिंदी लगाती हैं। इससे पारा बहुत निकाला जाता है।

विशेष—अब कृत्रिम ईंगुर बहुत बनाया जाता है। यह गीला और सूखा दो प्रकार का बनता है। पारा, गंधक, पोटाश और पानी एक साथ मिलाकर एक लंबे बरतन में रखते हैं जिसमें मथने के लिये बेलन लगे रहते हैं। एक घंटा मथने के बाद द्रव्य का रंग काला हो जाता है, फिर ईंट के रंग का होता है और अंत में ख़ासा गीला ईंगुर हो जाता है। सूखा ईंगुर इस प्रकार बनता है—८ भाग पारा, १ भाग गंधक एक बंद बरतन में आँच पर चढ़ाते हैं। यह बरतन घूमता रहता है, जिससे दोनों चीज़ें ख़ूब मिल जाती हैं और ईंगुर तैयार हो जाता है। प्रक्रिया में थोड़ा फेर फार कर देने से यह ईंगुर कई रंगों का हो सकता है—जैसे प्याज़ी, गुलाबी और नारंगी इत्यादि। यह रंगसाज़ी और मोहर की लाह बनाने के काम में आता है।

ईंचना*-क्रि० स० [सं० अञ्चन=जाना, ले जाना, सिकोड़ना, खींचना] खींचना। ऐंचना।

ईंचमनौती-संज्ञा स्त्री० [हिं० ईंचना+मनौती] ज़मींदार का अपने काश्तकार के महाजन से लगान का रुपया वसूल कर लेना और उस रुपए को उस काश्तकार के नाम महाजन की बही में लिखवा देना।

ईंट-संज्ञा स्त्री० [सं० इष्टका, पा० इट्ठका, प्रा० इट्ठआ] (१) साँचे में ढाला हुआ मिट्टी का चौखूँटा लंबा टुकड़ा जो पजावे में पकाया जाता है। इसे जोड़कर दीवार उठाई जाती है। ईंट के कई भेद हैं। (क) लखौरी, जो पुराने ढंग की पतली ईंट है। (ख) नंबरी जो मोटी है और नए ढंग की इमारतों में लगती है। (ग) पुट्ठी जो यथार्थ में मिट्टी की एक चौड़ी परिधि के बराबर खंड करके बनाई जाती है। ये खंड वा ईंटें कूएँ की जोड़ाई में काम आती हैं। इनके सिवा और भी कई प्रकार की ईंटें होती हैं; जैसे ककैया ईंट, नौतेरही ईंट, ननिहारी ईंट, मेज़ की ईंट, फ़र्श ईंट और तामड़ा ईंट।

क्रि० प्र०—गढ़ना=ईंट को हथौड़ी से काट छाँटकर जोड़ाई में बैठने योग्य करना।—चुनना=ईंटों की जोड़ाई करना।—जोड़ना=दीवार उठाते समय एक ईंट के ऊपर वा बगल में दूसरी ईंट रखना।—पाथना वा पारना=गीली मिट्टी को साँचे में ढालकर ईंट बनाना।

यौ०—ईंटकारी=ईंट का काम। ईंट की जोड़ाई। ईंट का परदा=ईंट की एकहरी जोड़ाई की पतली दीवार जो प्रायः विभाग करने के लिये उठाई जाती है।

मुहा०—ईंट का छल्ला देना=कच्ची दीवार से सटाकर ईंट की एकहरी जोड़ाई करना। ईंट से ईंट बजना=किसी नगर वा घर का ढह जाना वा ध्वंस होना। जैसे,—जहाँ कभी अच्छे अच्छे नगर थे, वहाँ आज ईंट से ईंट बज रही है। ईंट से ईंट बजाना=किसी नगर वा घर को ढाना वा ध्वस्त करना।

जैसे,—महमूद जहाँ गया, वहाँ उसने ईंट से ईंट बजा दी। डेढ़ वा ढाई ईंट की मसजिद अलग बनाना=सब से निराला ढंग रखना। जो सब लोग कहते वा करते हों, उसके विरुद्ध कहना वा करना। गुड़ दिखाकर ईंट वा ढेला मारना=भलाई की आशा देकर बुराई करना। ईंट पत्थर=कुछ नहीं। जैसे,—(क) तुमने इतने दिनों तक पढ़ा क्या, ईंट पत्थर? (ख) उन्हें ईंट पत्थर भी नहीं आता।

(२) धातु का चौखूँटा ढला हुआ टुकड़ा। जैसे,—सोने की ईंट। चाँदी की ईंट। जस्ते की ईंट। (३) ताश का एक रंग जिसमें ईंट का लाल चिह्न बना रहता है।

ईंटा-संज्ञा पु० दे० "ईंट"।

ईंढ-वि० [सं० ईदृश] बराबर। समान।—डिं०

ईंत-संज्ञा पु० [हिं० ईंट] ईंट जो औज़ारों पर सान चढ़ाते समय सान के नीचे इसलिए रख दी जाती है जिसमें उसके कण लग कर धार को और तेज़ करें।

क्रि० प्र०—लगाना।

ईंदर-संज्ञा सं० [देश०] आठ दस दिन की ब्याई हुई गाय के दूध को औटाकर बनाई हुई एक प्रकार की मिठाई। प्योसी।

ईंधन-संज्ञा पु० [सं० इन्धन] जलाने की लकड़ी वा कंडा। जलावन। जरनी। उ०—सिंधु न ईंधन पाइए सायर जुरै न नीर। परै उपास कुबेर घर जो विपच्छ रघुबीर।—तुलसी।

ई-संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मी।

*सर्व० [सं० ई=निकट का संकेत] यह। उ०—कहहिं कबीर पुकारि कै ई लेऊ व्यवहार। एक राम नाम जाने बिना भव बूड़ि मुआ संसार।—कबीर।

अव्य० [सं० हि] ज़ोर देने का शब्द। ही। उ०—पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास। नित प्रति पून्यो ई रहै आनन ओप उजास।—बिहारी।

ईक्षण-संज्ञा पु० [सं०] [वि० ईक्षणीय, ईक्षित, ईक्ष्य] (१) दर्शन। देखना। (२) आँख। (३) विवेचन। विचार। जाँच।

विशेष—इसमें अनु, निः, परि, प्रति, या सम् उपसर्ग लगाकर अन्वीक्षण, निरीक्षण, परीक्षण, प्रतीक्षण, समीक्षण आदि शब्द बनाए जाते हैं।

ईक्षणिक-संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० ईक्षणिका] (१) दैवज्ञ। ज्योतिषी। (२) सामुद्रिक जाननेवाला।

ईख-संज्ञा स्त्री० [सं० इक्षु प्रा० इक्खु] शर जाति की एक घास जिसके डंठल में मीठा रस भरा रहता है। इसी रस से गुड़ और चीनी बनती है। डंठल में ६—६ या ७—७ अंगुल पर गाँठें होती हैं और सिरे पर बहुत लंबी लंबी पत्तियाँ होती हैं, जिन्हें गेंडा कहते हैं।

भारतवर्ष में इसकी बुआई चैत बैसाख में होती है। कार्तिक तक यह पक जाती है, अर्थात् इसका रस मीठा हो जाता है और कटने लगती है। इन डंठलों को कोल्हू में पेरकर रस निकालते हैं। रस को छानकर कड़ाहे में औटाते हैं। जब रस पककर सूख जाता है, तब गुड़ कहलाता है। यदि राब बनाना हुआ, तो औटाते समय कड़ाहे में रेंड़ी की गूदी का पुट देते हैं जिससे रस फट जाता है और ठंडा होने पर उसमें क़लमें वा रवे पड़ जाते हैं। इसी राब से ज़ूसी वा चोटा दूर करके खाँड़ बनाते हैं। खाँड़ और गुड़ गलाकर चीनी बनाते हैं। ईख के तीन प्रधान भेद माने गए हैं—ऊख, गन्ना और पौंढ़ा। (क) ऊख का डंठल पतला, छोटा और कड़ा होता है। इसका कड़ा छिलका कुछ हरापन लिए हुए पीला होता है और जल्दी छीला नहीं जा सकता। इसकी पत्तियाँ पतली, छोटी, नरम और गहरे हरे रंग की होती हैं। इसकी गाँठों में उतनी जटाएँ नहीं होतीं, केवल नीचे दो तीन गाँठों तक होती हैं। इसकी आँखें, जिनसे पत्तियाँ निकलती हैं, दबी हुई होती हैं। इसके प्रधान भेद धौल, मतना, कुसवार, लखड़ा, सरौती आदि हैं। गुड़, चीनी आदि बनाने के लिये अधिकतर इसी की खेती होती है।

(ख) गन्ना ऊख से मोटा और लंबा होता है। इसकी पत्तियाँ ऊख से कुछ अधिक लंबी और चौड़ी होती हैं। इसका छिलका कड़ा होता है, पर छीलने से जल्दी उतर जाता है। इसकी गाँठों में जटाएँ अधिक होती हैं। इसके कई भेद हैं; जैसे—अगौल, दिकचन, पंसाही, काला गन्ना, केतारा, दढ़ौखा, तंका, गोड़ारा। इससे जो चीनी बनती है, उसका रंग साफ़ नहीं होता।

(ग) पौंढ़ा—यह विदेशी है। चीन, मारिशस (मिरच का टापू) सिंघापुर इत्यादि से इसकी भिन्न भिन्न जातियाँ आई हैं। इसका डंठल मोटा और गूदा नरम होता है। छिलका कड़ा होता है और छीलने से बहुत जल्दी उतर जाता है। यह यहाँ अधिकतर रस चूसने के काम में आता है। इसके मुख्य भेद थून, काला गन्ना और पौंढ़ा है।

राजनिघंटु में ईख के इतने भेद लिखे हैं—पौंड्रक (पौंढ़ा), भीरुक वंशक (बड़ौखा), शतपोरक (सरौती), कांतार (केतारा), तापसेक्षु, काष्ठेक्षु (लखड़ा), सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोर (काला गेंड़ा), कोशकृत (कुशवार या कुसिआर)।

ईखना*-क्रि० स० [सं० ईक्षण, प्रा० इक्खन] देखना—डिं०।

ईखराज-संज्ञा [पु० हिं० ईख+राज] ईख बोने का पहला दिन।

ईछन*-संज्ञा पु० [सं० ईक्षण=आँख] आँख। उ०—दृगनि लगत बेधत हियो बिकल करत अँग आन। ये तेरे सबते बिखम ईछन तीछन बान।—बिहारी।

ईछना*-क्रि० स० [सं० इच्छा] इच्छा करना। चाहना। उ०—वेष भये विष, भावै न भूषण, भोजन को कुछहू नहिं ईछी।—देव।

ईछा*–संज्ञा स्त्री० "इच्छा"।

ईज़ा–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) दुःख। तकलीफ़। पीड़ा। कष्ट।

क्रि० प्र०—देना।—पहुँचना।—पहुँचाना।

ईजाद–संज्ञा स्त्री० [अ०] किसी नई चीज़ का बनाना। नया निर्माण। आविष्कार।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

ईजान–वि० [सं०] यज्ञ करनेवाला। यजमान।

ईठ*–संज्ञा पुं० [सं० इष्ट, प्रा० इट्ठ] जिसे चाहें। मित्र। सखा। सखी। उ०—(क) यार दोस्त बोले जा ईठ।—खुसरो। (ख) ज्यों क्यों हूँ न मिलै कहूँ केशव दोऊ ईठ।—केशव। (ग) लोने मुख दीठि न लगै यों कहि दीनो ईठि। दूनी ह्वै लागन लगी दिये दिठौना दीठि।—बिहारी।

ईठि–संज्ञा स्त्री० [सं० इष्टि प्रा० इट्ठि] (१) मित्रता। दोस्ती। प्रीति। उ०—(क) लागै न बार मृणाल के तार ज्यों टूटैगी लाल हमैं तुम्हैं ईठी।—केशव। (ख) लहि सूने घर कर गह्यो दिखा दिखी कै ईठि। गड़ी सुचित नाहीं करन करि ललचौंही दीठि।—बिहारी। (२) चेष्टा। यत्न। उ०—केशव कैसहुँ ईठन, दीठ ह्वै दीठ परे, रति ईठ कहाई। ता दिन ते मन मेरे को आनि भई सो भई कहि कैहूँ न जाई।—केशव।

ईठी–संज्ञा स्त्री० [?] भाला। बरछा।

ईठीदाडू*†–संज्ञा पुं० [हिं० ईठी+डंड] चौगान खेलने का डंडा।

ईड़ा–संज्ञा स्त्री० [सं० ईडा=स्तुति] [वि० ईडित, ईड्य] स्तुति। प्रशंसा। उ०—(क) कीन्हि बिड़ौजा ईड़ि जिमि बार बार सिर नाय। कहूँ अभय वर दीन्ह हरि पठयौ त्यहि समुझाय।—लल्लू। (ख) रति माँगी तुमते करि ईड़ा। पारथ करहु संग मम क्रीड़ा।—सबल।

ईड़ित–वि० [सं०] जिसकी स्तुति की गई हो। प्रशंसित।

ईढ़*–संज्ञा स्त्री० [सं० इष्ट, प्रा० इट्ट] [वि० ईढ़ी] ज़िद। हठ। उ०—बोलिये न झूठ ईढ़ मूढ़ पै न कीजई। दीजिये जो बात हाथ भूलिहूँ न लीजई।—केशव।

ईतर*–वि० [हिं० इतराना] (१) इतरानेवाला। ढीठ। शोख़। गुस्ताख़। उ०—गई नंद घर को सबै जसुमति जहँ भीतर। देखि महरि को कहि उठीं सुत कीन्हो ईतर।—सूर। (२) [सं० इतर] निम्न श्रेणी का। साधारण। नीच। उ०—कोटि बिलास कटाच्छ कलोल बढ़ावै हुलासन प्रीतम हीतर। यों मनि या मैं अनूपम रूप जो मैनका मैन बधू कही ईतर। डोरिया सारी सपेद मैं सोहति या छबि ऊँचे उरोजन की तर। जोबन मत्त गयंद के कुंभ लसै जनु गंग तरंगनि भीतर।

ईति–संज्ञा स्त्री० [सं०] खेती को हानि पहुँचानेवाले उपद्रव। ये छः प्रकार के हैं—(क) अतिवृष्टि। (ख) अनावृष्टि। (ग) टिड्डी पड़ना। (घ) चूहे लगना। (च) पक्षियों की अधिकता। (छ) दूसरे राजा की चढ़ाई। उ०—दसरथ राज न ईति भय नहिं दुख दुरित दुकाल। प्रमुदित प्रजा प्रसन्न सब सब सुख सदा सुकाल।—तुलसी। (२) बाधा। उ०—अब राधे नाहिनै ब्रजनीति।········ पोच पिसुन लस दमन सभासद प्रभु अनंग मंत्री बिनु भीति। सखि बिनु मिलै तो ना बनि ऐहै कठिन कुराज राज की ईति।—सूर। (३) पीड़ा। दुःख। उ०—बारुनी ओर की वायु बहै यह सीत की ईति है ग्रीषम बिसा मै। राति बड़ी जुग सी न सिराति रह्यौ हिम पूरि दिशा विदिशा मै।—गोकुल।

ईथर–संज्ञा पुं० [अं०] (१) एक प्रकार का अति सूक्ष्म और लचीला द्रव्य वा पदार्थ जो समस्त शून्य स्थल में व्याप्त है। यह अत्यंत घन पदार्थों के परमाणुओं के बीच में भी व्याप्त रहता है। उष्णता और प्रकाश का संचार इसी के द्वारा होता है। (२) एक रासायनिक द्रव पदार्थ जो अलकोहल और गंधक के तेज़ाब से बनता है। बोतल में अलकोहल और गंधक का तेज़ाब बराबर मात्रा में मिलाकर भरते हैं। फिर आँच द्वारा उसे दूसरी बोतल में टपका लेते हैं, जो ईथर कहलाता है; यह बहुत शीघ्र जलनेवाला पदार्थ है। खुला रक्खा रहने से बहुत जल्द उड़ जाता है और बहुत शीत पैदा करता है; इसलिये बरफ़ जमाने में काम आता है। रासायनिक क्रियाओं में इससे बड़े बड़े कार्य्य होते हैं। सूँघने से यह थोड़ी बेहोशी पैदा करता है। यह क्लोरोफ़ार्म की जगह भी काम में लाया जाता है। यह जरमनी में बहुत ज़्यादा बनता है।

ईद–संज्ञा स्त्री० [अ०] मुसलमानों का एक त्योहार। रमज़ान महीने में तीस दिन रोज़ा (व्रत) रखने के बाद जिस दिन दूज का चाँद दिखाई पड़ता है, उसके दूसरे दिन यह त्योहार मनाया जाता है।

यौ०—ईदगाह=वह स्थान जहाँ मुसलमान ईद के दिन इकट्ठे होकर नमाज़ पढ़ते हैं।

ईदी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) त्योहार के दिन दी हुई सौगात या तोहफ़ा। (२) किसी त्योहार की प्रशंसा में बनाई हुई कविता जो मौलवी लोग उस त्योहार के दिन अपने शिष्यों को देते हैं। (३) वह बेल बूटेदार काग़ज़ जिस पर यह कविता लिखकर दी जाती है। (४) वह दक्षिणा जो इस कविता के उपलक्ष में मौलवियों को शिष्य देते हैं। (५) नौकरों वा लड़कों को त्योहार के ख़र्च के लिये दिया हुआ रुपया पैसा। (मुसल्मान)

ईदृश–क्रि० वि० [सं०] [स्त्री० ईदृशी] इस प्रकार। इस तरह। इस भाँति। ऐसे।

वि० इस प्रकार का। ऐसा।

ईप्सा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० ईप्सित, ईप्सु] इच्छा। वांछा। अभिलाषा।

ईप्सित–वि० [सं०] चाहा हुआ। अभिलषित।

ईप्सु–वि० [सं०] चाहनेवाला। वांछा करनेवाला।

ईफ़ायडिगरी–संज्ञा स्त्री० [अ० ईफाय+अ० डिगरी] डिगरी का रुपया अदा कर देना। जर डिगरी बेबाक़ कर देना।

ईबीसीबी–संज्ञा स्त्री० [अनु०] सिसकारी का शब्द। 'सीसी' शब्द जो संभोग के अत्यंत आनंद के समय मुँह से निकलता है। उ०—गूजरी बजावै रव रसना सजावै कर चूरी छमकावै गरो गहति गहकि कै। मुख मोरि त्योरी तोरि भौहैं नासिका मरोरि देव ईबीसीबी बोल बोलति बहकि कै।—देव।

ईमन–संज्ञा पु० [फा० यमन] संपूर्ण जाति की एक रागिनी। ऐमन।

यौ०—ईमन कल्यान।

ईमन कल्यान–संज्ञा पु० [हिं० ईमन+सं० कल्याण] एक मिश्रित राग का नाम।

ईमान–संज्ञा पु० [अ०] (१) विश्वास। आस्तिक्य बुद्धि। जैसे—ईसाई कहते हैं कि ईसा पर ईमान लाओ।

क्रि० प्र०—लाना। उ०—दादू दिल अरवाह का सो अपना ईमान। सोई साबित राखिए जहँ देखइ रहिमान।—दादू।

(२) चित्त की सद्वृत्ति। अच्छी नीयत। धर्म। सत्य। जैसे,—(क) ईमान से कहना, झूठ मत बोलना। (ख) ईमान ही सब कुछ है; उसे चार पैसे के लिये मत छोड़ो। (ग) यह तो ईमान की बात नहीं है।

क्रि० प्र०—खोना—छोड़ना।—डिगना।—डिगाना।—डोलना।—डोलाना।

मुहा०—ईमान की कहना=सच कहना। ईमान ठिकाने न होना–धर्मभाव दृढ़ न रहना। ईमान देना=सत्य छोड़ना, धर्मविरुद्ध कार्य्य करना। ईमान में फ़र्क आना=धर्मभाव में ह्रास होना। नीयत बिगड़ना। ईमान से कहना=सच सच कहना।

ईमानदार–वि० [फा०] (१) विश्वास करनेवाला। (२) विश्वासपात्र। जैसे,—ईमानदार नौकर। (३) सच्चा। (४) दियानतदार। जो लेन देन वा व्यवहार में सच्चा हो। (५) सत्य का पक्षपाती।

ईर†–संज्ञा स्त्री० दे० "ईद"।

ईरखा*–संज्ञा स्त्री० दे० "ईर्षा"।

ईरमद*–संज्ञा पु० दे० "इरम्मद"।

ईरान–संज्ञा पु० [फा०] [वि० ईरानी] फ़ारस देश।

ईरिण–संज्ञा पु० [सं०] बलुआ मैदान। ऊसर।

ईर्यासमिति–संज्ञा पु० [सं०] जैनमतानुसार साढ़े तीन हाथ तक आगे देखकर चलने का नियम। यह नियम इस कारण रक्खा गया है कि जिसमें आगे पड़नेवाले कीड़े फतंगे दिखाई पड़ें।

ईर्षणा*–संज्ञा स्त्री० [सं० ईर्ष्यण] ईर्षा। हसद। डाह। उ०—पर की पुण्य अधिक लखि सोई। तबै ईर्षणा मन में होई।—विश्राम।

ईर्षा–संज्ञा स्त्री० [सं० ईर्ष्या] [वि० ईर्षालु, ईर्षित, ईर्षु] डाह। हसद। दूसरे की बढ़ती देखकर जो जलन होती है, उसे ईर्षा कहते हैं।

यौ०—ईर्षा पंढ=एक प्रकार का अर्द्ध नपुंसक व्यक्ति। हिरमी टट्टू।

ईर्षालु–वि० [सं०] ईर्षा करनेवाला। दूसरे की बढ़ती देखकर जलनेवाला। दूसरे के उत्कर्ष से दुखी होनेवाला।

ईर्षित–वि० [सं०] जिससे ईर्षा की गई हो।

ईर्षु–वि० [सं०] डाह करनेवाला। ईर्षालु।

ईर्ष्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "ईर्षा"।

ईल–संज्ञा पु० [देश०] एक बनैला जंतु।

संज्ञा स्त्री० [अ०] एक प्रकार की मछली। बाँग।

ईश–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० ईशा, ईशी] (१) स्वामी। मालिक। (२) राजा। (३) ईश्वर। परमेश्वर। (४) महादेव। शिव। रुद्र।

यौ०—ईशकोण।

(५) ग्यारह की संख्या। (६) आर्द्रा नक्षत्र। (७) एक उपनिषद् जो शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा के अंतर्गत है। इसका पहला मंत्र 'ईश' शब्द से प्रारंभ होता है। ईशावास्य उपनिषद्।

यौ०—देवेश। नरेश। वागीश। सुरेश।

ईशता–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वामित्व। प्रभुत्व।

ईशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऐश्वर्य्य। (२) ऐश्वर्य्य-संपन्न स्त्री। (३) दुर्गा।

ईशान–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० ईशानी] (१) स्वामी। अधिपति। (२) शिव। महादेव। रुद्र। (३) ग्यारह की संख्या। (४) ग्यारह रुद्रों में से एक। (५) शिव की आठ मूर्त्तियों में से एक। सूर्य्य। (६) पूरब और उत्तर के बीच का कोना।

ईशिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] आठ प्रकार की सिद्धियों में से एक जिससे साधक सब पर शासन कर सकता है।

ईशित्व–संज्ञा पु० [सं०] दे० "ईशिता"।

ईश्वर–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० ईश्वरी] (१) मालिक। स्वामी। (२) योगशास्त्र के अनुसार क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से पृथक् पुरुष विशेष। परमेश्वर। भगवान।

यौ०—ईश्वरप्रणिधान। ईश्वराधिष्ठान। ईश्वराधिष्ठित। ईश्वराधीन। (३) महादेव। शिव।

ईश्वरप्रणिधान–संज्ञा पु० [सं०] योगशास्त्र के अनुसार पाँच प्रकार के नियमों में से अंतिम। ईश्वर में अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति रखना तथा अपने सब कर्म्मों के फलों को उसे अर्पित करना।

ईश्वरसखा–संज्ञा पु० [सं०] शिवजी के सखा, कुबेर।

ईश्वरीय–वि० [सं०] (१) ईश्वर-संबंधी। (२) ईश्वर का।

ईषत्–वि० [सं०] थोड़ा। कुछ। कम। अल्प।

यौ०—ईषद् उष्ण। ईषद् हास्य।

ईषत्स्पृष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] वर्ण के उच्चारण में एक प्रकार का आभ्यंतर प्रयत्न जिसमें जिह्वा, तालु, मूर्द्धा और दंत को

तथा दाँत, ओष्ठ को कम स्पर्श करता है। 'य', 'र' 'ल', 'व' ईषत्स्पृष्ट वर्ण हैं।

ईषद्–वि० दे० "ईषत्"।

ईषना*–संज्ञा स्त्री० [सं० एषणा] प्रबल इच्छा। उ०—सुत वित नारि ईषना तीनी। केहि की मति इन कृत न मलीनी।—तुलसी।

ईषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गाड़ी या हल में वह लंबी लकड़ी जिसके सिरे पर जुआ बाँधकर बैल को जोड़ते हैं। हरसा। हरिस।

ईषिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हाथी की आँख का खोंड़रा वा गोलक। (२) चित्रकारी में रंग भरने की क़लम। कूँची। (३) बाण। (४) सिरकी। सींक।

ईस*–संज्ञा पुं० दे० "ईश"।

ईसबगोल–संज्ञा पुं० दे० "इसबगोल"।

ईसरगोल–संज्ञा पुं० दे० "इसबगोल"।

ईसवी–वि० [फ़ा०] ईसा से संबंध रखनेवाला।

यौ०—ईसवी सन्=ईसा मसीह के जन्मकाल से चला हुआ संवत्। यह संवत् पहली जनवरी से आरंभ होता है और इस में प्रायः ३६५ दिन होते हैं। ठीक ठीक सौ वर्ष का हिसाब पूरा करने के लिये प्रति चौथे वर्ष जब सन् की संख्या चार से पूरी विभक्त हो जाती है, तब फ़रवरी में एक दिन बढ़ा दिया जाता है और वह वर्ष ३६६ दिन का हो जाता है। इस वर्ष और विक्रमीय संवत् में ५७ वर्ष का अंतर है।

ईसा–संज्ञा पुं० [अ०] ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक वा आचार्य्य।

यौ०—ईसा मसीह=ईसा जिनका धर्माभिसिंचन किया गया था।

ईसाई–वि० [फ़ा०] ईसा को माननेवाला। ईसा के बताए धर्म पर चलनेवाला।

ईसान*–संज्ञा पुं० दे० "ईशान"।

ईहग–संज्ञा पुं० [सं० ईहा=इच्छा+ग=गमन करनेवाला] कवि। —डिं०।

ईहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० ईहित] (१) चेष्टा। (२) उद्योग। (३) इच्छा। वांछा। (४) लोभ।—डिं०।

ईहामृग–संज्ञा पुं० [सं०] नाटक का एक भेद जिसमें चार अंक होते हैं। इसका नायक ईश्वर वा किसी देवता का अवतार और नायिका देवी होती है। इसमें नायिका आदि द्वारा युद्ध कराया जाता है।

ईहावृक–संज्ञा पुं० [सं०] लकड़बग्घा।

ईहित–वि० [सं०] इच्छित। वांछित।

उ

उ–हिन्दी वर्णमाला का पाँचवाँ अक्षर। इसका उच्चारण-स्थान ओष्ठ है। यह तीन मुख्य स्वरों में है। इसके ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, तथा सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से १८ भेद होते हैं। उ को गुण करने से 'ओ' और वृद्धि करने से 'औ' होता है।

उँ–अव्य० एक प्रायः अव्यक्त शब्द जो प्रश्न, अवज्ञा तथा क्रोध सूचित करने के लिये व्यवहृत होता है। इसका प्रयोग उस अवसर पर होता है जब बोलनेवाले से आलस्य, मुँह फँसे रहने वा और किसी कारण मुँह नहीं खोला जाता।

उँखारी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊख] दे० "उखारी"।

उँगनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओंगना] बैल गाड़ी के पहिए में तेल देने की क्रिया।

उंगल–संज्ञा पुं० दे० "अंगुल"।

उँगलना*–क्रि० अ० दे० "उँगली करना"।

उँगली–संज्ञा स्त्री० [सं० अङ्गुलि] हथेली के छोरों से निकले हुये फलियों के आकार के पाँच अवयव जो वस्तुओं को ग्रहण करते हैं और जिनके छोरों पर स्पर्शज्ञान की शक्ति अधिक होती है। उँगलियों की गणना अंगुष्ट से आरंभ करते हैं। अंगुष्ट के उपरांत तर्जनी, फिर मध्यमा, फिर अनामिका, और अंत में कनिष्ठिका है। अनामिका इन पाँचो उँगलियों में निर्बल होती है।

मुहा०—(किसी पर वा किसी की ओर) **उँगली उठना**=(किसी का) लोगों की निंदा का लक्ष्य होना। निंदा होना। बदनामी होना। **(किसी पर वा किसी की ओर) उँगली उठाना**=(१) निंदा का लक्ष्य बनाना। लांछित करना। दोषी बताना। जैसे,—चाहे काम किसी का हो, पर लोग उँगली तुम्हारी ही ओर उठाते हैं। (२) तनिक भी हानि पहुँचाना। टेढ़ी नजर से देखना। जैसे,—मजाल है कि हमारे रहते कोई तुम्हारी ओर उँगली उठा सके। **उँगली करना**=हैरान करना। सताना। दम न लेने देना। आराम न लेने देना। जैसे,—जितना काम करो, उतना ही वे और उँगली किए जाते हैं। **उँगली चटकाना**=(१) उँगलियों को इस प्रकार खींचना वा दबाना कि उनमें से चट चट शब्द निकले। (२) शाप देना। (स्त्री०) (जब स्त्रियाँ किसी पर बहुत कुपित होती हैं, तब उलटे पंजों को मिलाकर उँगलियाँ चटकाती हैं और इस तरह के शाप देती हैं कि "तेरे बेटे मरें, भाई मरें" इत्यादि।) **उँगलियाँ चमकाना**=(१) बातचीत वा लड़ाई करते समय हाथ और उँगलियों को हिलाना वा मटकाना। (यह विशेष कर स्त्रियों और

जनखों की मुद्रा है।) उँगलियाँ नचाना=दे० "उंगलियाँ चमकाना"। उँगली पकड़ते पहुँचा पकड़ना=किसी व्यक्ति से किसी वस्तु का थोड़ा सा भाग पाकर साहसपूर्वक उसका सारी वस्तु पर अधिकार जमाना। थोड़ा सा सहारा पाकर विशेष की प्राप्ति के लिये उत्साहित होना। जैसे,—मैंने तुम्हें बरामदे में जगह दी; अब तुम कोठरी में भी अपना असबाब फैला रहे हो। भाई, उँगली पकड़ते पहुँचा पकड़ना ठीक नहीं। उँगलियों पर नचाना=जिस दशा में चाहे, उस दशा में करना। अपनी इच्छा के अनुसार ले चलना। अपने वश में रखना। तंग करना। हैरान करना। जैसे,—अजी तुम्हारे ऐसों को तो मैं उँगलियों पर नचाता हूँ। उँगलियाँ फोड़ना=दे० "उंगलियाँ चटकाना"। (किसी कृति पर) उँगली रखना=दोष दिखलाना। जैसे,—भला आपकी कविता पर कोई उँगली रख सकता है! उँगली लगाना=(१) छूना। जैसे,—ख़बरदार, इस तसवीर पर उँगली मत लगाना। (२) किसी कार्य्य में हाथ लगाना। किसी कार्य्य में थोड़ा भी परिश्रम करना। जैसे,—उन्होंने इस काम में उँगली भी न लगाई, पर नाम उन्हीं का हुआ। कानी उँगली=कनिष्ठिका वा सब से छोटी उंगली। कानों में उँगली देना=किसी बात से विरक्त वा उदासीन हो कर उसकी चर्चा बचाना। किसी विषय को न सुनने का प्रयत्न करना। जैसे,—हमने तो अब कानों में उँगली दे ली है, जो चाहे सो हो। दाँतों में उँगली देना वा दबाना, दाँत तले उँगली दबाना=चकित होना। अचंभे में आना। जैसे,—उस लड़के का साहस देख लोग दाँतों में उँगली दबाकर रह गए। पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं=एक जाति की सब वस्तुएँ समान गुणवाली नहीं होतीं। पाँचों उँगलियाँ घी में होना=सब प्रकार से लाभ ही लाभ होना। जैसे,—तुम्हारा क्या, तुम्हारी तो पाँचों उँगलियाँ घी में हैं। सीधी उँगलियों घी न निकलना=सिधाई के साथ काम न निकलना। भलमंसाहत से कार्य्य सिद्ध न होना। हलक़ में उँगली देकर (माल) निकालना=बड़ी छान बीन और कड़ाई के साथ किसी हजम की हुई वस्तु को प्राप्त करना। जैसे,—वे रुपए मिलनेवाले नहीं थे; मैंने हलक़ में उँगली देकर उन्हें निकाला।

उँगलीमिलाव—संज्ञा पुं० [हिं० उंगली+मिलाव] नाच की एक गत। इसमें दोनों हाथ सिर के ऊपर उठाकर उनकी उँगलियाँ मिला दी जाती हैं।

उँचन—संज्ञा स्त्री० [सं० उदञ्चन=ऊपर खींचना वा उठाना] अदवायन। अदवान। वह रस्सी जो खाट के पायताने की तरफ़ बुनावट से छूटे हुए स्थान को भरती है और जिसको खींचकर कसने से बुनावट तनकर कड़ी हो जाती है।

उँचना—क्रि० स० [सं० उदञ्चन] अदवान तानना। उंचन कसना। अदवान खींचना।

उँचनाव—संज्ञा पु० [देश०] एक क़िस्म का चारख़ाने का कपड़ा।

उँचाई—संज्ञा स्त्री० [सं० उच्च] (१) बलंदी। ऊँचापन। उ०—हिय न समाइ, दृष्टि नहिं आवहि जानहु ठाढ़ सुमेर। कहँ लगि कहौं उँचाई कहँ लगि बरनौं फेर।—जायसी। (२) बड़प्पन। महत्व।

उँचान*†—संज्ञा पु० [हिं० ऊंचा] ऊँचाई। बलंदी।

उँचाना*—क्रि० स० [हिं० ऊंचा] ऊँचा करना। उठाना। उ०—(क) सुनो क्यों न कनकपुरी के राइ। हौं बुधि, बल, छल करि पचि हारी लख्यो न सीस उँचाइ।—सूर (ख) बलि लह्यो बिलंब अब नेकु नहिं कीजिए मंदराचल अचल चलौ धाई। दोऊ एक मंत्र करि जाय पहुँचे तहाँ कह्यो अब लीजिए यहि उँचाई।—सूर। (ग) भौंह उँचै आँचर उलटि मोरि मोरि मुँह मोरि। नीठि नीठि भीतर गई दीठ दीठ सों जोरि।—बिहारी।

उँचाव*†—संज्ञा पुं० [सं० उच्च] ऊँचापन। उँचाई। बलंदी।

उँचास*†—संज्ञा पुं० [हिं० ऊंचा] ऊँचा होने का भाव। उँचाई।

उंचास*—वि० दे० "उनचास"।

उंछ—संज्ञा स्त्री० [सं०] मालिक के ले जाने के पीछे खेत में पड़े हुए अन्न के एक एक दाने को जीविका के लिये चुनने का काम। सीला बीनना।

यौ०—उंछवृत्ति। उंछशील।

उंछवृत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] खेत में गिरे हुए दानों को चुनकर जीवन-निर्वाह करने का कर्म।

उंछशिल—संज्ञा पुं० [सं०] उंछवृत्ति।

उंछशील—वि० [सं०] उंछवृत्ति पर निर्वाह करनेवाला।

उँजरिया*—संज्ञा स्त्री० दे० "अँजोरिया"।

उँजियार*—संज्ञा पुं० दे० "उजियार"।

उँजेरा, उँजेला—संज्ञा पु० दे० "उजाला", "उजेला"।

उँज्यारी—संज्ञा स्त्री० दे० "उजारी"।

उँटड़ा—संज्ञा पु० दे० "उटड़ा"।

उँटरा—संज्ञा पुं० दे० "उटड़ा"।

उँदरी—संज्ञा स्त्री० [सं० ऊर्ण=बाल+दर=नाश करनेवाला] सिर के बालों का झड़ जाना। गंज।

उँदरू—संज्ञा पुं० [सं० कुन्दरु] बबूल की जाति की एक प्रकार की काँटेदार झाड़ी वा बेल जो हिमालय की तराई, पूर्वीय बंगाल, बरमा और दक्षिण में होती है। इसके छिलके से बंबई में मछली के जाल पर माँझा दिया जाता है। इसकी पत्तियाँ बबूल ही की तरह महीन महीन होती हैं और सीकों में लगती हैं। ये झाड़ियाँ पहले गाँव वा कोट के चारों ओर रक्षा के लिये बहुत लगाई जाती थीं। इसमें बबूल की तरह फलियाँ लगती हैं जिनके गूदे से सिर के बाल साफ़ होते हैं। ऐल। बिसवल। रिसवल। हँस।

उँदुर–संज्ञा पुं० [सं०] चूहा । मूसा । उ०—(क) उँदुर राजा टीका बैठे विषहर करैं खवासी । श्वान बापुरो धरनि ठाकुरो बिल्ली घर में दासी ।—कबीर । (ख) कीन्हेसि लोवा उँदुर चाँटी । कीन्हेसि बहुत रहहिं खनि माटी ।—जायसी ।

उँह–अव्य० [अनु०] (१) अस्वीकार । घृणा वा बे-परवाही का सूचक शब्द । (२) वेदना-सूचक शब्द ।

उ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) नर । उ०—नर, नारायण और विधि ये तीनों मम केस । उ, अ, आ, अलक विभाग ते भाख्यो यह परमेस ।

अव्य० भी । उ०—और उ एक कहौं निज चोरी । सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ।—तुलसी ।

उअना*–क्रि० अ० [हिं० उदयन] उदय होना । उगना । उ०—(क) फूले कुमुद केति उजियारे । मानहुँ उये गगन महँ तारे ।—जायसी । (ख) प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा । सिय मुख सरिस देखि सुख पावा ।—तुलसी । (ग) उयौ सरद राका शशी करति न क्यों चित चेत । मनौं मदन छितिपाल को छाँहगीर छवि देत ।—बिहारी ।

उआना*–क्रि० स० [हिं० उअना का प्रे० रूप] उगाना । उदय करना ।

* क्रि० स० [सं० उद्‌गुरण, पा० उग्गुरन=हथियार तानना] किसी के मारने के लिये हाथ वा हथियार तानना ।

उऋण–वि० [सं० उत्+ऋण] ऋणरहित । ऋणमुक्त । जिसका ऋण से उद्धार हो गया हो । उ०—मातहि पितहिं उऋण भए नीके । गुरु ऋण रहा सोच बड़ जीके ।—तुलसी ।

उकचन–संज्ञा पुं० [सं० मुचकुन्द] मुचकुंद का फूल । उ०—उकचन बिनवौं रोस बिमोही । सुनि बकाउ तज जाही जूही ।—जायसी ।

उकचना*–क्रि० अ० [सं० उत्कच, पा०=उक्कस=उखाड़ना] (१) उखड़ना । अलग होना । (२) पर्त्त से अलग होना । उचड़ना । (३) उठ भागना । हट जाना । स्थान त्याग करना । उ०—सरजा के डर हम आए इतै भाजि तब सिंह सों डराय याहू ठौर ते उकचिहौ ।—भूषण ।

उकटना–क्रि० स० [सं० उत्कथन, पा० उक्कथन] बार बार कहना । दे० "उघटना" । उ०—मैंने तुम से सैकड़ों बार कहा होगा कि जो बात गुज़र गई, उसे बार बार मत उकटा करो । सज्जाद संबुल ।

उकटा–वि० [हिं० उकटना] [स्त्री० उकटी] उकटनेवाला । एहसान जतानेवाला । किए हुए उपकार को बार बार कहने वाला । जैसे,—नकटे का खाइए उकटे का न खाइए ।

संज्ञा पुं० उकटने का कार्य्य । किसी के किए हुए अपराध वा अपने उपकार को बार बार जताने का कार्य्य ।

यौ०—उकटा पुरान=गई बीती और दबी दबाई बातों का विस्तार-पूर्वक कथन । उकटा पेची=दे० "उकटा पुरान" ।

उकठना–क्रि० अ० [सं० अव=बुरा+काष्ठ=लकड़ी । जैसे कठियाना=कड़ा होना] सूखना । सूखकर कड़ा वा चिमड़ा हो जाना । सूखकर ऐंठ जाना । उ०—(क) छोह ते पलुहहिं उकठे रूखा । कोह ते महि सायर सब सूखा ।—जायसी । (ख) कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू । जिमि न नवै पुनि उकठि कुकाठू ।—तुलसी । (ग) मधुबन तुम कत रहत हरे ? बिरह बियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ? तुम हौ निलज न लज्जा तुमको फिर सिर पुहुप धरे । ससा स्यार अरु बन के पखेरू धृग धृग सबन करे । कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठि परे । कपट हेत कीन्हों हरि हम सों खोट न होंहि खरे । जब वे मोहन बेनु बजावत शाखा टेकि खरे । मोहे थावर अरु जड़ जंगम मुनिगन ध्यान टरे । नैनन तें बिछुरे नँदनंदन चित ते नाहिं टरे । सूरदास प्रभु बिरह दवानल नख सिख लौं पसरे ।—सूर ।

उकठा–वि० [अव=बुरा+काष्ठ=लकड़ी] शुष्क । सूखा । सूख कर ऐंठा हुआ । उ०—कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू । जिमि न नवै पुनि उकठ कुकाठू ।—तुलसी ।

उकड़ूँ–संज्ञा पुं० [सं० उत्कुतोरु] घुटने मोड़कर बैठने की एक मुद्रा जिसमें दोनों तलवे ज़मीन पर पूरे बैठते हैं और चूतड़ एँड़ियों से लगे रहते हैं ।

क्रि० प्र०—बैठना ।

उकत*–संज्ञा स्त्री० दे० "उक्ति" ।

उकताना–क्रि० अ० [सं० आकुल, पू० हिं० अकुताना] (१) ऊबना । जैसे,—रोज़ पूरी खाते खाते जी उकता गया । (२) घबराना । आकुल होना । जल्दी मचाना । उतावली करना जैसे,—उकताते क्यों हो, ठहरो थोड़ी देर में चलते हैं ।

संयो० क्रि०—उठना ।—जाना ।—पड़ना ।

उकति*–संज्ञा स्त्री० दे० 'उक्ति' ।

उकलना–क्रि० अ० [सं० उत्कलन=खुलना] [क्रि० स० उकेलना, प्रे० क्रि० उकिलवाना] (१) तह से अलग होना । उचड़ना । पृथक् होना । (२) लिपटी हुई चीज़ का खुलना । उधड़ना ।

उकलवाना–क्रि० स० [क्रि० स० उकेलना का प्रे० रूप] दूसरे को उकेलने के लिये नियुक्त करना ।

उकलाई–संज्ञा स्त्री० [सं० उद्गिरण, हिं० उगलना] क़ै । उलटी । वमन । मचली ।

उकलाना–क्रि० अ० [हिं० उकलाई] उलटी करना । वमन करना । क़ै करना ।

उकलेसरी–संज्ञा पुं० [देश०] उकलेसर का बना हुआ काग़ज़ । (उकलेसर दक्षिण में है ।)

उकलैदिस–संज्ञा पुं० [यू०] (१) एक यूनानी गणितज्ञ जिसने रेखागणित निकाला था । (२) रेखागणित ।

उकवथ–संज्ञा पुं० [सं० उत्कोथ] एक प्रकार का चर्म्म-रोग जो

प्रायः पैर में घुटने के नीचे होता है। इसमें दाने निकलते हैं जिनमें खाज होती है और जिनमें से चेप बहा करता है।

उकसना–क्रि० अ० [सं० उत्कर्षण वा उत्सुक] (१) उभरना। ऊपर को उठना। उ०—(क) पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाई।—तुलसी। (ख) सेज सों उकसि बाम स्याम सों लपटि गई होति रति रीति बिपरीति रस तार की।—रघुनाथ। (२) निकलना। अंकुरित होना। उ०—लाग्यो आनि नवेलियहिं मनसिज बान। उकसन लाग उरोजवा, दृग तिरछान।—रहीम। (३) सीवन का खुलना। उधड़ना।

उकसनि*–संज्ञा स्त्री० [हिं० उकसना] उभाड़। उ०—दृग लागे तिरछे, चलन पग मंद लागे, उर में कछुक उकसनि सी कढ़ै लगी।

उकसाना–क्रि० स० [हिं० 'उकसना' का प्रे० रूप] (१) ऊपर को उठाना। (२) उभाड़ना। उत्तेजित करना। जैसे,—ये लोग तुम्हारे ही उकसाए हुए हैं। (३) उठा देना। हटा देना। उ०—गाढ़े गाढ़े कुचनि ढिल पिय हिय को ठहराय। उकसौहैं ही तो हिये सबै दई उकसाय।—बिहारी। (४) (दिए की बत्ती) बढ़ाना वा खसकाना।

उकसौंहाँ–वि० [हिं० उकसना+औंहाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० उकसौंही] उभड़ता हुआ। उ०—उर उकसौंहैं उरज लखि धरति क्यों न धनि धीर। इनहिं बिलोकि बिलोकियत सौतिन के उर पीर।—पद्माकर।

उक़ाब–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बड़ी जाति का एक गिद्ध। गरुड़। संज्ञा स्त्री० अफ़वाह। उड़ती ख़बर। जैसे,—आज कल ऐसी उक़ाब उड़ रही है कि महाराजा साहेब जापान जानेवाले हैं।

उकारांत–वि० [सं०] वह शब्द जिसके अंत में 'उ' हो, जैसे—साधु।

उकालना*–क्रि० स० दे० "उकेलना"।

उकासना*–क्रि० स० [हिं० उकसाना] उभाड़ना। ऊपर को फेंकना। उपर को खींचना। उ०—गैयाँ बिडरि चलीं जित तित को सखा जहाँ तहँ घेरैं। वृषभ शृंग सों धरनि उकासत बल मोहन तन हेरैं।—सूर।

उकासी*–संज्ञा स्त्री० [हिं० उकसना] सामने से परदे का हट जाना। खुल जाना। उ०—राखी ना रहत जऊ हाँसी कसि राखी देव नेसुक उकासी मुख ससि से उलसि उठैं।—देव। संज्ञा स्त्री० [सं० अवकाश] छुट्टी। फुरसत।

उकिड़ना†–क्रि० अ० दे० "उकलना"।

उकिलना†–क्रि० अ० दे० "उकलना"।

उकिलवाना†–क्रि० स० दे० "उकलवाना"।

उकिसना†–क्रि० अ० दे० "उकसना"।

उकीरना–क्रि० स० [उत्किरण=ऊपर फेंकना] (१) उभाड़ना। उखाड़ना। (२) उचाड़ना। उकेलना। (३) खोदना।

उकुति*–संज्ञा स्त्री० दे० "उक्ति"।

उकुति जुगुति*–संज्ञा स्त्री० दे० "उक्तियुक्ति"।

उकुरू–संज्ञा पुं० दे० "उकड़ूँ"।

उकुसना*–क्रि० स० [हिं० उकसना] उजाड़ना। उधेड़ना। उ०—उकुसि कुटी तेहि छन तृण काटी। मूरति चहुँ कित पाथर पाटी।—रघुराज।

उकेलना–क्रि० स० [हिं० उकलना] तह वा पर्त्त से अलग करना। उचाड़ना। नोचना। जैसे,—वहाँ का चमड़ा मत उकेलो पक जायगा। (२) लिपटी हुई चीज़ को छुड़ाना वा अलग करना। उधेड़ना। जैसे,—चारपाई की पटिया से रस्सी उकेल लो।

उकेला–संज्ञा पुं० [देश०] गड़ेरिये कंबल बुनने में "बाना" को "उकेला" बोलते हैं।

क्रि० स० 'उकेलना' क्रिया का भूतकालिक रूप।

उकौथ, उकौथा–संज्ञा पुं० दे० "उकवथ"।

उक्त–वि० [सं०] कथित। कहा हुआ।

उक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कथन। वचन। (२) अनोखा वाक्य। उ०—कवियों की उक्ति।

उक्तियुक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] सम्मति और उपाय। सलाह और तदबीर।

क्रि० प्र०—भिड़ाना।—लगाना।

उक्थ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भिन्न भिन्न देवताओं के वैदिक स्तोत्र। (२) यज्ञ में वह दिन जब उक्थ का पाठ होता है। (३) प्राण।

उक्षा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) बैल।

उखटना–क्रि० अ० [सं० उत्कर्षण] (१) चलने में इधर उधर पैर रखना। लड़खड़ाना। (२) खोंटना। कुतरना।

उखड़ना–क्रि० अ० [सं० उत्खिदन पा० उक्खिडन। सं० उत्कर्षण, पा० उक्कड्ढन। अथवा सं० उत्खनन, पा० उक्खणन] किसी जमी वा गड़ी हुई, वस्तु का अपने स्थान से अलग हो जाना। जड़-सहित अलग होना। खुदना। "जमना" का उलटा। जैसे,—आँधी आने से यह पेड़ जड़ से उखड़ गया। (२) किसी दृढ़ स्थिति से अलग होना। जैसे—अँगूठी से नगीना उखड़ गया। (३) जोड़ से हट जाना। जैसे,—कुश्ती में उसका एक हाथ उखड़ गया। (४) (घोड़े के वास्ते) चाल में भेद पड़ना। तार वा सिलसिले का टूटना। जैसे,—यह घोड़ा थोड़ी ही दूर में उखड़ जाता है। (५) संगीत में बेताल और बेसुर होना। जैसे,—वह अच्छा गवैया नहीं है; गाने में उखड़ जाया करता है। (६) ग्राहक का भड़क जाना। जैसे,—दलालों के लगने से गाहक उखड़ गया। (७) एकत्र वा जमा न रहना। तितर बितर हो जाना। उठ जाना। जैसे,—वर्षा के कारण मेला उखड़ गया। (८) हटना। अलग होना। जैसे,—जब वह वहाँ से उखड़े, तब तो किसी दूसरे की पहुँच वहाँ हो। (९)

टूट जाना। जैसे,—तुकल हत्थे पर से उखड़ गई। (१०) सीवन वा टाँके का खुलना।

संयो० क्रि०—आना।—जाना।—पड़ना।

मुहा०—**उखड़ी उखड़ी बातें करना**=बेलौस बातें करना। उदासीनता दिखाते हुए बात करना। विरक्ति-सूचक बात करना। **उखड़ी पुखड़ी सुनाना**=ऊँचा नीचा सुनाना। अंड बंड सुनाना। **उखाड़ी उखड़ना**=कुछ किया हो सकना। जैसे,—वहाँ तुम्हारी कुछ भी उखाड़ी न उखड़ेगी। **तबीयत या मन का उखड़ना**—किसी की ओर से उदासीनता होना। विरक्ति होना। **दम उखड़ना**=(१) बँधी हुई साँस टूटना। (२) गाते गाते वा बात करते करते स्वरभंग होना। (३) दम निकलना। प्राण निकलना। **पैर वा पाँव उखड़ना**=(१) ठहर न सकना। एक स्थान पर जमा न रहना। लड़ने के लिये सामने न खड़ा रहना। भागना। जैसे,—(क) नदी के बहाव से पाँव उखड़े जाते हैं। (ख) बैरियों के धावे से उनके पाँव उखड़ गये।

उखड़वाना—क्रि० स० [हिं० उखड़ना का प्रे० रूप] किसी को उखाड़ने में प्रवृत्त करना।

उखभोज†—संज्ञा पुं० [हिं० ऊख+सं० भोज] ईख की बोआई का पहला दिन। इस दिन किसान उत्सव मनाते हैं।

उखम*—संज्ञा पुं० [सं० ऊष्म] गरमी। ताप।

उखमज*†—संज्ञा पु० [सं०] [ऊष्मज] ऊष्मज जीव। क्षुद्र कीट।

उखर*—संज्ञा पु० [हिं० ऊख] ईख बो जाने के पीछे हल पूजने की रीति। हरपुजी।

उखरना†*—क्रि० अ० दे० "उखड़ना"।

उखराज—संज्ञा पु० [हिं० ऊख+राज] ईख की बोआई का पहला दिन। इस दिन किसान उत्सव मनाते हैं।

उखली—संज्ञा स्त्री० [सं० उलूखल, पा० उक्खल] मोढ़े के आकार का लकड़ी का बना हुआ एक पात्र जिसके बीच में एक हाथ से कुछ कम गहरा गड्ढा होता है। इस गड्ढे में डालकर भूसीवाले अनाजों की भूसी मूसलों से कूटकर अलग की जाती है। कहीं कहीं उखली पत्थर की भी बनती है जो ज़मीन में एक जगह गाड़ दी जाती है। काँड़ी।

उखा—संज्ञा स्त्री० [सं०] देग। बटलोई।

*संज्ञा स्त्री० दे० "उषा"।

उखाड़—संज्ञा पुं० [हिं० उखड़ना] (१) उखाड़ने की क्रिया। उत्पाटन। (२) कुश्ती के पेंच का तोड़। वह युक्ति जिससे कोई पेंच रद्द किया जाता है। (३) कुश्ती का एक पेंच जो उस समय काम में लाया जाता है जब विपक्षी पट होकर हाथ और पैर ज़मीन में अड़ा लेता है। इसमें विपक्षी के दाहिने पैर को अपने दाहिने पैर में फँसाकर कमर तक ऊपर उठाते हैं और अपना दाहिना हाथ विपक्षी की पसलियों से ले जाकर उसकी गर्दन पर चढ़ाते हैं और दबा कर चित करते हैं। उखेड़। उचकाव।

उखाड़ना—क्रि० स० [हिं० उखड़ना का स० रूप] किसी जमी, गड़ी वा बैठी हुई वस्तु को स्थान से पृथक् करना। जैसे,—(क) हाथी ने बाग़ के कई पेड़ उखाड़ डाले। (ख) उसने मेरी अँगूठी का नगीना उखाड़ दिया। (२) अंग के जोड़ से अलग करना। जैसे,=कुश्ती में एक पहलवान ने दूसरे की एक कलाई उखाड़ दी। (३) जिस कार्य्य के लिए जो उद्यत हो उससे उसका मन सहसा फेर देना। भड़काना। बिचकाना। जैसे,=तुमने आकर हमारा गाहक उखाड़ दिया। (४) तितर बितर कर देना। जैसे,—उस दिन मेंह ने मेला उखाड़ दिया। (५) हटाना। टालना। जैसे—उसे यहाँ से उखाड़ो, तब तुम्हारा रंग जमेगा। (६) नष्ट करना। ध्वस्त करना। उ०—भुजाओं से वैरियों को उखाड़नेवाले दिलीप।—लक्ष्मण।

मुहा०—**उखाड़ पछाड़**—(१) अदल बदल। इधर का उधर। उलट पुलट। (२) इधर की उधर लगाना। लगाई लुतरी। चुगलखोरी। **कान उखाड़ना**=किसी अपराध के दंड में कान मलना। कान गरम करना। (विशेष कर शिक्षक और माँ बाप नटखट लड़कों के कान मलते हैं।) **गड़े मुर्दे उखाड़ना**=पुरानी बातों को फिर से छेड़ना। गई बीती बात उभाड़ना। **पैर उखाड़ देना**=स्थान से विचलित करना। हटाना। भगाना। जैसे,—सिक्खों ने पठानों के पैर उखाड़ दिए।

उखाड़ू—वि० [हिं० उखाड़ना+ऊ (प्रत्य०)] (१) उखाड़नेवाला। (२) चुगलखोर। इधर की उधर लगानेवाला।

उखारना†*—क्रि० स० दे० "उखाड़ना"।

उखारी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊख] ईख का खेत। उ०—तपै मृगसिरा बिलखैं चारि। बन बालक औ भैंस उखारि।

उखालिया—संज्ञा पु० [सं० उष+काल] प्रातःकाल का भोजन। सहरगही। सरगही।

उखेड़—संज्ञा पु० दे० "उखाड़"।

उखेड़ना—क्रि० स० दे० "उखाड़ना"।

उखेड़वाना—क्रि० स० [हिं० उखेड़ना का प्रे० रूप] उखाड़ने के लिए नियुक्त करना। उखड़वाना।

उखेरना*—क्रि० स० [हिं० उखाड़ना] उखाड़ना। नोच कर अलग करना। उ०—(क) आज ब्रज महा घटनि घट घेरो। इतनी कहत यशोदानंदन गोवर्द्धन तन हेरो। कियो उपाय गिरवर धरिबे को महि ते पकरि उखेरो।—सूर। (ख) मन तो गयो नैन हैं मेरे। अब इनसों वे भेद कियो कछु एउ भए हरि चेरे। तनिक सहाय रहे हैं मोको येहू हिलि मिलि घेरे। क्रम क्रम गयो कह्यो नहिं काहू श्याम संग अरुझे रे। ज्यों दीवाल गिले पर काकर डारतही जु गड़े रे। सूर लटकि लागे अँग छवि पर निठुर न जात उखेरे।—सूर।

उखेलना*—क्रि० स० [सं० उल्लेखन] उरेहना। लिखना। (तसवीर) खींचना। उ०—चचा चित्र रचो बहु भारी।

चित्रहिं छोड़ि चेतु चित्रकारी। जिन यह चित्र विचित्र उखेला। चित्र छोड़ि तू चेत चितेला।—कबीर।

उख्य-संज्ञा पुं० [सं०] हंडी में पकाया मांस जिसकी आहुति यज्ञों में दी जाती है।

उगजौआ-संज्ञा पु० [देश०] परतेले के रंग में कपड़े को बार बार डुबाने की क्रिया।

उगटना*-क्रि० अ० [सं० उद्घाटन] (१) उघटना। बार बार कहना। उ०—उगटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान। सुनि किन्नर गंधर्व सराहत बिथकहिं विबुध विमान।—तुलसी। (२) ताना मारना। बोली बोलना।

उगदना†-क्रि० अ० [सं० उद+गद=कहना हिं० उकटना] कहना। बोलना। (दलाली बोली)।

उगना-क्रि० अ० [सं० उद्गमन, पा० उग्गवन] (१) निकलना। उदय होना। प्रकट होना। जैसे,—वह देखो, सूरज उगा। (२) जमना। अंकुरित होना। जैसे,—खेत में धान उग आए।

संयो० क्रि०—आना।—उठना।—जाना।—पड़ना।

(३) उपजना। उत्पन्न होना। उ०—बिछुरंत जब भेटै सो जानै जेहि नेह। सुक्ख सुहेला उग्वै दुःख झरै जिमि मेह।—जायसी।

उगलना-क्रि० स० [सं० उद्गिलन, पा० उग्गिलन] (१) पेट में गई हुई वस्तु को मुँह से बाहर निकालना। क़ै करना। जैसे,—जो कुछ खाया पिया था, सो सब उगल दिया। (२) मुँह में गई वस्तु को बाहर थूक देना। जैसे,—देखो निगलना मत, उगल दो। (३) पचाया माल विवश होकर वापस करना। जैसे,—यार! माल तो पच गया था, पर ऐसे फेर में पड़ गए कि उगल देना पड़ा। (४) किसी बात को पेट में न रखना। जो बात छिपाने के लिये कही जाय, उसे प्रकट कर देना। जैसे,—यह बड़ा दुष्ट मनुष्य है; जो कुछ यहाँ देखता है, सब जाकर शत्रुओं के सामने उगलता है। (५) विवश होकर कोई भेद खोल देना। दबाव वा संकट में पड़कर गुप्त बात बता देना। जैसे,—जब अच्छी मार पड़ेगी, तब आपही सब बातें उगल देगा।

मुहा०—उगल पड़ना=तलवार का म्यान से बाहर निकल पड़ना।

संयो० क्रि०—देना।—पड़ना।

(६) बाहर निकालना। जैसे,—ज्वालामुखी पहाड़ आग उगलते हैं।

मुहा०—ज़हर उगलना=ऐसी बात मुँह से निकालना जो दूसरे को बहुत बुरी लगे वा हानि पहुचावे।

उगलवाना-क्रि० स० दे० "उगलाना"।

उगलाना-क्रि० स० [हिं० उगलना का प्रे० रूप] (१) मुख से निकलवाना। (२) इक़बाल कराना। दोष को स्वीकार कराना। (३) पचे हुए माल को निकलवाना।

उगवना*-क्रि० स० [उगना का स० रूप] (१) उगाना। उदय करना। (२) उत्पन्न करना।

उगसाना*-क्रि० स० दे० "उकसाना"।

उगसारना*-क्रि० स० [हिं० उकसाना] बयान करना। कहना। प्रकट करना। खोलना। उ०—संगै राजा दुख उगसारा। जियत जीव ना करौ निरारा।—जायसी।

उगहना*-क्रि० स० दे० "उगाहना"।

उगाना-क्रि० स० [हिं० उगना का स० रूप] (१) जमाना। अंकुरित करना। (पौधा वा अन्न आदि) उत्पन्न करना। (२) उदय करना। प्रकट करना। † (३) मारने के लिये कोई वस्तु उठाना। तानना। उआना।

उगार*-संज्ञा पु० दे० (१) "उगल"। (२) धीरे धीरे निचुड़ कर इकट्ठा हुआ पानी। (३) निचोड़ा हुआ पानी। (४) कपड़ा रँगने पर बचा हुआ रंग जो फेंक दिया जाता है।

उगाल-संज्ञा पु० [सं० उद्गार, पा० उग्गाल] (१) पीक। थूक। खखार।

यौ०—उगालदान।

(२) पुराने कपड़े (ठगों की बोली)।

उगालदान-संज्ञा पु० [हिं० उगाल+फा० दान (प्रत्य०)] थूकने वा खखार आदि गिराने का बरतन। पीकदान।

उगाला-संज्ञा पु० [हिं० उगाल] एक प्रकार का कीड़ा जो अनाज की फ़सल को हानि पहुँचाता है।

†संज्ञा स्त्री० [उगाल] वह ज़मीन जो सर्वदा पानी से तर रहे। पनमार।

उगाहना-क्रि० स० [सं० उद्ग्रहण, प्रा० उग्गहन] वसूल करना। बहुत से आदमियों से उनके स्वीकृत नियमानुसार अलग अलग अन्न धन आदि लेकर इकट्ठा करना। उ०—(क) वह चपरासी चंदा उगाहने गया है। (ख) को जानै हरि चरित तुम्हारे?......................लेखो करि लीजै मन मोहन दूध दह्यो कछु खाहु। सद माखन तुम्हरेहि मुख लायक लीजै दान उगाहु।—सूर। (ग) गाढ़े लीन्हं अरु कतलाम कीन्हें ठौर ठौर हासिल उगाहत हैं साल को।—भूषण।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

उगाही-संज्ञा स्त्री० [हिं० उगाहना] (१) भिन्न भिन्न लोगों से उनके स्वीकृत नियमानुसार अन्न धन आदि लेकर इकट्ठा करने का कार्य्य। रुपया पैसा वसूल करने का काम। वसूली। (२) वसूल किया हुआ रुपया पैसा। ज़मीन का लगान। (४) एक प्रकार का रुपए का लेन देन जिसमे महाजन कुछ रुपए देकर ऋणी से तब तक महीने महीने वा सप्ताह सप्ताह कुछ वसूल करता रहता है, जब तक उसका रुपया ब्याजसहित वसूल न हो जाय।

उगिलना*†-क्रि० स० दे० "उगलना"।

उगिलवाना*†-क्रि० स० दे० "उगलवाना"।

उगिलाना*-क्रि० स० दे० "उगलाना"।

उग्गाहा-संज्ञा पु० [सं० उद्गाथा, प्रा० उग्गाहा] आर्य्या छंद के भेदों में से एक। इसका दूसरा नाम गीति भी है। इसके विषम चरणों में बारह बारह मात्राएँ और सम चरणों में अठारह अठारह मात्राएँ होती हैं। विषम गणों में जगण न होना चाहिए। रामा रामा रामा, आठो जामा जपौ यही नामा। त्यागो सारे कामा, पैहौ अंतै हरी जु को धामा।

उग्र-वि० [सं०] प्रचंड। उत्कट। तेज़। तीव्र। कड़ा। प्रबल। घोर। रौद्र।

संज्ञा पु० [स्त्री० उग्रा] (१) महादेव। (२) वत्सनाग विष। बच्छनाग ज़हर। (३) क्षत्री पिता और शूद्रा माता से उत्पन्न एक संकर जाति। (४) उग्र संज्ञक पाँच नक्षत्र अर्थात् पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ, पूर्वाभाद्रपद मघा और भरणी। (५) सहजन का पेड़। मुनगा। (६) केरल देश। (७) एक दानव का नाम। (८) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (९) विष्णु। (१०) सूर्य्य।

उग्रकांड-संज्ञा पु० [सं०] करैला।

उग्रगंध-संज्ञा पु० [सं०] (१) लहसुन। (२) कायफल। (३) हींग। (४) बर्बरी। ममरी। (५) चंपा।

उग्रगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अजवायन। (२) अजमोदा। (३) बच। (४) नकछिकनी।

उग्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] तेज़ी। प्रचंडता। उद्दंडता। उत्कटता।

उग्रधन्वा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) शिव।

उग्रशेखरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिव के मस्तक पर रहनेवाली गंगा।

उग्रसेन-संज्ञा पु० [सं०] (१) मथुरा का राजा, कंस का पिता। (२) राजा परीक्षित का एक पुत्र।

उग्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। महाकाली। (२) अजवायन। (३) बच। (४) नकछिकनी। (५) उग्र जाति की स्त्री। (६) धनिया। (७) कर्कशा स्त्री। (८) निषाद स्वर की दो श्रुतियों में से पहली श्रुति।

उघटना-क्रि० अ०[सं० उत्कथन, पा० उक्कथन अथवा सं० उद्घाटन, पा० उग्घाटन] संगीत में ताल की जाँच के लिये मात्राओं की गणना करके किसी प्रकार का शब्द वा संकेत करना। ताल देना। सम पर तान तोड़ना। उ०—(क) आज बने बनते ब्रज आवत। नाना रंग सुमन की माला नंदनँदन उर पै छवि पावत।………कोउ गावत कोउ नृत्य करत कोउ उघटत कोउ ताल बजावत।—सूर। (ख) उघटत स्याम नृत्यत नारि। धरे अधर उपंग उपजैं लेत हैं गिरि धारि। (२) गई बीती बात को उठाना। दबी दबाई बात को उभाड़ना। (३) कभी के किए हुए अपने उपकार वा दूसरे के अपराध को बार बार कहकर ताना देना। जैसे,—(क) नकटे का खाइए, उघटे का न खाइए। (ख) जो बात भूल चूक से एक बार हो गई, उसे क्या बार बार उघटते हो? (३) किसी को भला बुरा कहते कहते उसके बाप-दादे को भी भला बुरा कहने लगना। उ०—कान्ह कहत दधि दान न दैहौ। लैहौं छीनि दूध दधि माखन देखत ही तुम रैहौ। सब दिन को भरि लेउँ आज ही तब छाँड़ौं मैं तुम को। उघटति हौ तुम मातु पिता लौं नहिं जानौ तुम हम को। हम जानति हैं तुमको मोहन लै लै गोद खिलाए। सूरस्याम अब भए जगाती वे दिन सब बिसराए।—सूर।

उघटा-वि० [हिं० उघटना] उघटनेवाला। किए हुए उपकार को बार बार कहनेवाला। एहसान जतानेवाला। जैसे,—नकटे का खाइए, उघटे का न खाइए।

संज्ञा पुं० [सं०] उघटने का कार्य्य।

यौ०—उघटा पुरान=दे० "उकटा पुरान"।

उघड़ना-क्रि० अ० [सं० उद्घाटन, प्रा० उग्घाटन] (१) खुलना। आवरण का हटना (आवरण के संबंध में)। (२) खुलना। आवरणरहित होना (आवृत के संबंध में)। (३) नंगा होना।

मुहा०—उघड़कर नाचना=खुलम खुला लोकलज्जा छोड़कर मनमाना काम करना।

(४) प्रकट होना। प्रकाशित होना। (५) भंडा फूटना।

मुहा०—उघड़ पड़ना=खुल पड़ना। अपने असल रूप को खोल देना। भेद प्रकट कर देना। दे० "उघटना"।

उघन्नी†-संज्ञा स्त्री० [सं० उद्घाटिनी, हिं० उघरिनी] ताली। कुंजी। चाभी।

उघरना*†-क्रि० अ० [सं० उद्घाटन, पा० उग्घाटन] (१) खुलना। आवरण का हटना (आवरण के संबंध में)। उ०—(क) सकल तजि भजु मन चरन मुरारि।………जैसे सपनो सोइ देखियत तैसो यह संसार। जात विलय ह्वै छिनक मात्र में उघरत नैन किवार।—सूर। (ख) स्यामा स्याम सों होरी खेलत आज नई।……सूरदास जसुमति के आगे उघरि गई कलई।—सूर। (२) खुलना। आवरणरहित होना (आवृत के संबंध में)। उ०—उघरहिं विमल विलोचन हिय के।—तुलसी। (३) नंगा होना।

मुहा०—उघरकर नाचना=लोकलज्जा छोड़कर खुलम खुला मनमाना काम करना। उ०—(क) आजु हौं एक एक करि टरिहौं। अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुमहि बिरद बिनु करिहौं।—सूर। (ख) गोपी स्याम रंग राची। देह गेह सुधि बिसारी बढ़ी प्रीति साँची। दुबिधा उर दूरि भई गइ मति वह काँची। राधा ते बिबस भई लाज उघरि नाँची।—सूर। (४) प्रकट होना। प्रकाशित होना। उ०—(क) छतो नेह कागद हिये भई लखाय न टाँक। बिरह तचे उघर्‍यो सो अब सेंहुड़

को सो आँक।—बिहारी। (ख) ज्यों ज्यों मद लाली चढ़ै त्यों त्यों उघरत जाय।—बिहारी। (५) असल रूप में प्रकट होना। असलियत का खुलना। भंडा फूटना।—(क) चरन चोंच लोचन रँगौ चलौ मराली चाल। छीर नीर बिवरन समय बक उघरत तेहि काल।—तुलसी। (ख) उघरहिं अंत न होहि निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू।—तुलसी। (ग) सुनि सुनि बात सखी मुसुकानी। अब ही जाय प्रगट करि दैहौं कहाँ रहैगी बात छिपानी। औरन सों दुराव जो करती तो हम कहती भली सयानी। दाई आगे पेट दुरावति वाकी बुद्धि आज मैं जानी। हम जातहिं वह उघरि परैगी, दूध दूध पानी सो पानी। सूरदास अब करति चतुरई हमहिं दुरावति बातन ठानी।—सूर। (घ) इन बातन कहुँ होति बड़ाई। लूटत हैं छवि राशि श्याम की मनौं परी निधि पाई। थोरे ही में उघरि परैंगे अतिहि चले इतराई।—सूर।

उघरारा*†–संज्ञा पुं० [हिं० उघरना] [स्त्री० उघरारी] खुला हुआ स्थान। उ०—(क) पावस परखि रहे उघरारैं। सिसिर समय बसि नीर मझारैं।—पद्माकर। (ख) रंग गयो उखरि, कुरंग भयो परे परे, डारे उघरारे मारे फूँक के उड़त है। काशीराम राम सो परशुराम ऐसे कह्यो तोरने धनुष ऐसे ऐसे बलकत है।—हनुमान।

वि० (१) खुला हुआ। (२) खुला रहनेवाला।

उघाड़ना–क्रि० स० [हिं० उघड़ना का स० रूप] (१) खोलना। आवरण का हटाना (आवरण के संबंध में)। (२) खोलना। आवरणरहित करना (आवृत के संबंध में)। (३) नंगा करना। (४) प्रकट करना। प्रकाशित करना। (५) गुप्त बात को खोलना। भंडा फोड़ना।

उघारना*–क्रि० स० [सं० उद्घाटन, प्रा० उग्घाडन] (१) खोलना। ढाकनेवाली चीज़ को दूर करना (आवरण के संबंध में)। उ०—आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।—तुलसी। (२) खोलना। आवरणरहित करना। नंगा करना (आवृत के संबंध में)। उ०—(क) तब शिव तीसर नैन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा।—तुलसी। (ख) विदुर शस्त्र सब तहीं उतारी। चल्यो तीरथनि मुंड उघारी।—सूर। (ग) मनहुँ काल तरवारि उघारी।—तुलसी। (घ) हा हा! बदन उघार दृग सफल करैं सब कोय। ओज सरोजन के परैं हँसी ससी की होय।—बिहारी। (३) प्रकट करना। प्रकाशित करना। (४) कूआँ खोदने के लिये ज़मीन की पहली खोदाई।

उघेलना–क्रि० स० [हिं० उघारना] खोलना। उ०—कित तीतर बन जीभ उघेला। सो कित हँकरि फाँद गिउ मेला।—जायसी।

उचकन–संज्ञा पुं० [सं० उच्च+करण] ईंट, पत्थर आदि का वह टुकड़ा जिसे नीचे देकर किसी चीज को ऊँची करते हैं; जैसे—चूल्हे पर चढ़े हुए बरतन के नीचे दिया हुआ खपरैल का टुकड़ा, अथवा खाते समय थाली को एक ओर ऊँची करने के लिये पेंदी के नीचे रक्खी हुई लकड़ी आदि।

उचकना–क्रि० अ० [सं० उच्च=ऊँचा+करण=करना] (१) ऊँचा होने के लिये पैर के पंजों के बल एड़ी उठाकर खड़ा होना। कोई वस्तु लेने वा देखने के लिये शरीर को उठाना और सिर ऊँचा करना। जैसे, (क) दीवार की आड़ से क्या उचक उचककर देख रहे हो। (ख) वह लड़का टोकरे में से आम निकालने के लिये उचक रहा है। उ०—सुठि ऊँचे देखन वह उचका। दृष्टि पहुँच पर पहुँच न सका।—जायसी। (२) उछलना। कूदना। उ०—यों कहिकै उचकी परजंक ते पूरि रही दृग वारि की बूँदैं।—देव।

क्रि० स० उछलकर लेना। लपक कर छीनना। उठाकर चल देना। जैसे,—जो चीज होती है, तुम हाथ से उचक ले जाते हो।

संयो० क्रि०—ले जाना।

उचका*–क्रि० वि० [हिं० अचाका] अचानक। सहसा। उ०—ज्यों हरनिन की होत हँकाई। उचका उठे बाघ बिरझाई।—लाल।

उचकाना–क्रि० स० [हिं० उचकना का स० रूप] उठाना। ऊपर करना। उ०—श्याम लियो गिरिराज उठाई......... सत्य वचन गिरि देव कहत है कान्ह लेहु मोहिं कर उचकाई।—सूर।

उचक्का–संज्ञा पुं० [हिं० उचकना] [स्त्री० उचक्की] (१) उचक कर चीज़ ले भागनेवाला आदमी। चाई। ठग। जैसे,—मेलों में चोर उचक्के बहुत जाते हैं। (२) बदमाश। लुच्चा। उठाईगीरा।

उचटना–क्रि० अ० [सं० उच्चाटन] (१) जमी हुई वस्तु का उखड़ना। उचड़ना। उ०—लंक लगाई दई हनुमंत विमान बचे अति उच्चरुखी है। पाचि फटैं उचटैं बहुधा मनि रानी रटैं पानी पानी दुखी है।—केशव। (२) अलग होना। पृथक् होना। छूटना। उ०—नाहिं न मोर बकत पिक दादुर ग्वाल मंडली खगन खिलावत। नहिं नभ वृष्टि झरना अरु ऊपर बूँद उचटि आवत। (३) भड़कना। बिचकना। जैसे,—तुम्हारा गाहक उचट गया। (४) विरक्त होना। हटना। जैसे,—जी उचटना।

उचटाना*–क्रि० स० [सं० उच्चाटन] (१) उचाड़ना। अलग करना। बिखेरना। नोचना। (२) अलग करना। पृथक् करना। छुड़ाना। (३) उदासीन करना। खिन्न करना। विरक्त करना। उ०—नैनन हरि को निठुर कराए। चुगली करी जाइ उन आगे हमतें वे उचटाए।—सूर। (४) भड़काना। बिचकाना। उ०—चहती उचटायो, सोर मचायो, सब मिलि यासों बीचु हरै।—गुमान।

उचड़ना-क्रि० अ० [सं० उच्चाटन, प्रा० उच्चाड़न] (१) सटी वा लगी हुई चीज़ का अलग होना । पृथक् होना । (२) किसी स्थान से हटना वा अलग होना । जाना । भागना । जैसे,—कौआ ! यदि हमारे भैया आते हों तो उचड़ जा । (स्त्रि०)
विशेष—जब घर का कोई विदेश में रहता है, तब स्त्रियाँ शकुन द्वारा उसके आने का समय विचारती हैं । जैसे, यदि कौआ खपड़ैल पर आकर बैठता है, तो उससे कहती हैं कि यदि 'अमुक अमुक आते हों तो उचड़ जा' । यदि कौआ उड़ गया तो समझती हैं कि विदेश गया हुआ व्यक्ति शीघ्र आवेगा ।

उचना*-क्रि० अ० [सं० उच्च] (१) ऊँचा होना । ऊपर उठना । उचकना । उ०—अँगुरिन उचि, भरु भीत दै, उलमि चितै चख लोल । रुचि सों दुहूँ दुहून के चूमे चारु कपोल ।—बिहारी । (२) उठना । उ०—(क) इतर नृपति जिहि उचत निकट करि देत न मूठ रिती ।—सूर । (ख) औचक ही उचि ऐंचि लई गहि गोरे बड़े कर कोर उचाइ कै ।—देव ।
क्रि० स० ऊँचा करना । ऊपर उठाना । उठाना । उ०—(क) हँसि ओठनि बिच, कर उचै किए निचौंहैं नैन । खरे अरे पिय के पिया लगी बिरी मुख दैन ।—बिहारी । (ख) भौंह उचै आँचर उलटि मोरि मोरि मुँह मोरि । नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि ।—बिहारी ।

उचनि*-संज्ञा स्त्री० [सं० उच्च] उभाड़ । उठान । उ०—(क) युवति अंग छबि निरखत श्याम । नँदकुमार श्री अंग माधुरी अवलोकति व्रज-वाम । परी दृष्टि कुच उचनि पिया की वह सुख कह्यो न जाइ । अँगिया नील, माँड़नी राती निरखत नैन चुराई ।—सूर । (ख) निरखि व्रजनारि छबि श्याम लाजै । ············चिबुक तर कंठ श्रीमाल मोतीन छबि कुच उचनि हेमगिरि अतिहि लाजै । सूर की स्वामिनी नारि व्रज-भामिनी निरखि पिय प्रेम सोभा सुलाजै ।—सूर ।

उचरंग†-संज्ञा पुं० [हिं० उछरना+अंग] उड़नेवाला कीड़ा । पतंग । पतिंगा ।

उचरना*-क्रि० स० [सं० उच्चारण] उच्चारण करना । बोलना । मुँह से शब्द निकालना । उ०—चढ़ि गिरि शिखर शब्द इक उचर्यो गगन उठ्यो आघात । कंपत कमठ शेष बसुधा नभ रविरथ भयो उतपात ।—सूर ।
क्रि० अ० शब्द होना । मुँह से शब्द निकलना ।
दे० "उचड़ना" ।

उचलना†-क्रि० अ० दे० "उचड़ना" ।

उचाट-संज्ञा पुं० [सं० उच्चाट] मन का न लगना । विरक्ति । उदासीनता । अनमनापन । उ०—(क) न जाने क्यों आज कल चित्त उचाट रहता है । (ख) सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमंत्र कुठाट । रचि प्रपंच माया प्रबल, भय, भ्रम, अरति, उचाट ।—तुलसी । (ग) प्रथम कुमति करि कपट सकेला । सो उचाट सब के सिर मेला ।—तुलसी । (घ) मोहन लला को सुन्यो चलत विदेश, भयो मोहनी को चारु चित निपट उचाट में ।—मतिराम ।

उचाटन*-संज्ञा पुं० दे० "उच्चाटन" ।

उचाटना-क्रि० स० [सं० उच्चाटन] उचाटन करना । हटाना । विरक्त करना । जैसे,—उसने हमारा चित्त उचाट दिया ।

उचाटी*-संज्ञा स्त्री० [सं० उच्चाट] उचाट । उदासीनता । अनमनापन । विरक्ति । उ०—धेनु दुहत अति ही रिस बाढ़ी । एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।······सखी संग की निरखति यह छबि भई व्याकुल मन्मथ की डाढ़ी । सूरदास प्रभु के बस भईं सब भवन काज ते भईं उचाढ़ी ।—सूर ।

उचाटू†-वि० [हिं० उचाट] उचाट करनेवाला । मन को उदास करनेवाला ।

उचाड़ना-क्रि० स० [हिं० उचड़ना] (१) लगी वा सटी हुई चीज़ को अलग करना । नोचना । (२) उखाड़ना ।

उचाना†*-क्रि० स० [सं० उच्च+करण] (१) ऊँचा करना । ऊपर उठाना । (२) उठाना । उ०—(क) मोहन मोहनी रस भरे ।······दरकि कंचुकि, तरकि माला, रही धरणी जाइ । सूर प्रभु करि निरखि करुणा तुरत लई उचाइ ।—सूर । (ख) सुनि यह श्याम बिरह भरे । बारंबारहि गगन निहारत कबहूँ होत खरे । मानिनी नहिं मान मोर्यो दूसरी निशि आजु । तब पर्यो मुरझाइ धरनी काम कर्यो अकाजु । सखिन तब भुज गहि उचाए बावरे कत होत । सूर प्रभु तुम चतुर मोहन मिलो अपने गोत ।—सूर ।

उचापत†-संज्ञा पुं० [देश०] (१) बनिए का हिसाब किताब । उठान । लेखा । (२) जो चीज़ बनिए के यहाँ से उधार ली जाय ।

उचार*-संज्ञा पुं० दे० "उच्चार" ।

उचारना*-क्रि० स० [सं० उच्चारण] उच्चारण करना । मुँह से शब्द निकालना । बोलना । उ०—पकरि लियो छन माँझ असुर बल डार्यो नखन बिदारी । रुधिर पान करि माल आँत धरि जय जय शब्द उचारी ।—सूर ।
क्रि० स० [सं० उच्चाटन] उखाड़ना । नोचना । उ०—(क) वृक्ष उचारि पेड़ि सों लीन्ही । मस्तक झार तार मुख दीन्ही ।—जायसी । (ख) ऋषी क्रोध करि जटा उचारी । सो कृत्या भइ ज्वाला भारी ।—सूर ।

उचालना†-क्रि० स० दे० "उचाड़ना" ।

उचावा-संज्ञा पुं० [देश०] सुपने में बकना । बर्राना ।

उचित-वि० [सं० संज्ञा औचित्य] योग्य । ठीक । मुनासिब वाजिब ।

उचेड़ना†-क्रि० स० दे० "उचाड़ना" ।

उखेलना†–क्रि० स० दे० "उकेलना", "उचाड़ना"।

उचौंहा*–वि० [हिं० ऊँचा+औहाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० उचौहीं] ऊँचा उठा हुआ। उभड़ा हुआ। उ०—आजु कालिह दिन द्वैक तें भई और ही भाँति। उरज उचौंहैं दै उरू तनु तकि तिया अन्हाति।—पद्माकर।

उच्च–वि० [सं०] (१) ऊँचा। (२) श्रेष्ठ। बड़ा। महान्। उत्तम। जैसे,—(क) यहाँ पर उच्च और नीच का विचार नहीं है। (ख) उनके विचार बहुत उच्च हैं।

यौ०—उच्चाशय। उच्चकुल। उच्चकोटि। उच्चपद।

विशेष—ज्योतिष में मेष का सूर्य्य उच्च (दस अंशों के भीतर परम उच्च), वृष का चंद्रमा उच्च (६ अंशों के भीतर परम उच्च), मकर का मंगल उच्च (२८ अंशों के भीतर परम उच्च), कन्या का बुध उच्च (१५ अंशों के भीतर परम उच्च), कर्क का बृहस्पति उच्च (५ अंशों के भीतर परम उच्च), मीन का शुक्र उच्च (२७ अंशों के भीतर परम उच्च), तुला का शुक्र उच्च (२० अंशों के भीतर परम उच्च)। इसी प्रकार उच्च राशि से सातवीं राशि पर होने से वह नीच होता है जैसे, मेष का सूर्य्य उच्च और तुला का नीच होता है।

उच्चतम–वि० [सं०] सब से ऊँचा।

संज्ञा पुं० संगीत में एक बनावटी सप्तक जो 'तार' से भी ऊँचा होता है और केवल बजाने के काम में आता है।

उच्चता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऊँचाई। (२) श्रेष्ठता। बड़ाई। बड़प्पन (३) उत्तमता।

उच्चरण*–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उच्चरणीय, उच्चरित] कंठ, तालु, जिह्वा आदि के प्रयत्न से शब्द निकलना। मुँह से शब्द फूटना।

उच्चरना*–क्रि० स० [सं० उच्चारण] उच्चारण करना। बोलना। उ०—वेद मंत्र मुनिवर उच्चरहीं। जय जय जय संकर सुर करहीं।—तुलसी।

उच्चाट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उखाड़ने वा नोचने की क्रिया। (२) चित्त का न लगना। अनमनापन। विरक्ति। उदासीनता।

उच्चाटन–संज्ञा पुं० [सं०] वि० उच्चाटनीय, उच्चाटित] (१) लगी वा सटी हुई चीज़ को अलग करना। विश्लेषण। (२) उचाड़ना। उखाड़ना। नोचना। (३) किसी के चित्त को कहीं से हटाना। तंत्र के छः अभिचारों वा प्रयोगों में से एक। (४) चित्त का न लगना। अनमनापन। विरक्ति। उदासीनता।

उच्चाटनीय–वि० [सं०] (१) उखाड़ने योग्य। उखाड़ने के लायक़। (२) उच्चाटन प्रयोग के योग्य। जिस पर उच्चाटन प्रयोग हो सके।

उच्चाटित–वि० [सं०] (१) उखाड़ा हुआ। उचाड़ा हुआ। (२) जिस पर उच्चाटन प्रयोग किया गया हो।

उच्चार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह से शब्द निकालना। बोलना। कथन।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—गोत्रोच्चार। मंत्रोच्चार। शाखोच्चार।

(२) मल। पुरीष।

उच्चारण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उच्चारणीय, उच्चरित, उच्चार्य्य, उच्चार्य्यमाण] (१) कंठ, तालु, ओष्ठ, जिह्वा आदि के प्रयत्न द्वारा मनुष्यों का व्यक्त और विभक्त ध्वनि निकालना। मुँह से स्वर और व्यंजनयुक्त शब्द निकालना। जैसे,—(क) वह लड़का शब्दों का ठीक ठीक उच्चारण नहीं कर सकता। (ख) बहुत से लोग वेद के मंत्रों का उच्चारण सब के सामने नहीं करते।

विशेष—गद्य में मनुष्य ही की बोली के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। मानव शब्द के उच्चारण के स्थान आठ हैं–उर, कंठ, मूर्द्धा, जिह्वा, दाँत, नाक, ओठ और तालु।

(२) वर्णों वा शब्दों को बोलने का ढँग। तलफ़्फ़ुज़। जैसे,—बंगालियों का संस्कृत उच्चारण अच्छा नहीं होता।

उच्चारणीय–वि० [सं०] उच्चारण करने योग। बोलने लायक़। मुँह से निकालने लायक़।

उच्चारना*–क्रि० स० [सं० उच्चारण] (शब्द) मुँह से निकालना। उच्चारण करना। बोलना।

उच्चारित–वि० [सं०] जिसका उच्चारण किया गया हो। बोला हुआ। कहा हुआ।

उच्चार्य्य–वि० [सं०] उच्चारण के योग्य। बोलने के लायक़। कहने लायक़।

उच्चार्य्यमाण–वि० [सं०] जिसका उच्चारण किया जाय। बोला जानेवाला।

उच्चैःश्रवा–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र का सफ़ेद घोड़ा जिसके खड़े खड़े कान और सात मुँह थे। यह समुद्र में से निकले हुए चौदह रत्नों में था।

वि० ऊँचा सुननेवाला। बहरा।

उच्छन्न–वि० [सं०] दबा हुआ। लुप्त।

उच्छरना*–क्रि० अ० दे० "उछरना", "उछलना"।

उच्छलना*–क्रि० अ० दे० "उछलना"।

उच्छव*–संज्ञा पुं० [सं० उत्सव, प्रा० उच्छव] उत्सव।

उच्छाव*–संज्ञा पुं० [सं० उत्साह, प्रा० उच्छाह] (१) उत्साह। उमंग। (२) धूमधाम।

उच्छास–संज्ञा पुं० दे० "उच्छ्वास"।

उच्छाह*–संज्ञा पुं० दे० "उछाह", "उत्साह"।

उच्छिन्न–वि० [सं०] (१) कटा हुआ। खंडित। (२) उखाड़ा हुआ। जैसे,—यहाँ के पौधे सब उच्छिन्न कर दिए गए। (३) निर्मूल। नष्ट। जैसे,—चार पीढ़ी के पीछे वह वंश ही उच्छिन्न हो गया।

उच्छिलींध्र–संज्ञा पुं० [सं०] कुकुरमुत्ता वा रामछाता जो बरसात

में भूमि फोड़कर निकलता है। छत्रक।

उच्छिष्ट-वि० [सं०] (१) किसी के खाने से बचा हुआ। जिसमें खाने के लिये किसी ने मुँह लगा दिया हो। किसी के आगे का बचा हुआ (भोजन)। जूठा। जैसे,—वह किसी का उच्छिष्ट भोजन नहीं खा सकता।

विशेष—धर्म्मशास्त्र में उच्छिष्ट भोजन का निषेध है।

(२) दूसरे का बर्ता हुआ। जिसे दूसरा व्यवहार कर चुका हो।

संज्ञा पुं० (१) जूठी वस्तु। (२) मधु। शहद।

उच्छू-संज्ञा स्त्री० [सं० उत्थान, पं० उत्थू] एक प्रकार की खाँसी जो गले में पानी इत्यादि के रुकने से आने लगती है। सुनसुनी।

उच्छून-वि० [सं०] (१) बढ़ा हुआ। (२) फूला हुआ।

उच्छृंखल-वि० [सं०] (१) जो श्रृंखलाबद्ध न हो। क्रमविहीन। अंडबंड। (२) बंधनविहीन। निरंकुश। स्वेच्छाचारी। मनमाना काम करनेवाला। (३) उद्दंड। अक्खड़। किसी का दबाव न माननेवाला।

उच्छेतव्य-वि० [सं०] उच्छेद के योग्य। उखाड़ने के योग्य। निर्मूल करने के योग्य।

विशेष—राजनीति और धर्म्मशास्त्र में राजाओं के चार प्रकार के शत्रु माने गए हैं। उनमें से उच्छेतव्य वह है जो व्यसनी और सेना दुर्ग से रहित हो तथा प्रजा जिसके वश में न हो।

उच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उखाड़ पखाड़। विश्लेषण। खंडन। (२) नाश।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

यौ०—मूलोच्छेदन।

उच्छेदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उखाड़ पखाड़। खंडन। (२) नाश।

उच्छ्वसित-वि० [सं०] (१) उच्छ्वासयुक्त। (२) जिस पर उच्छ्वास का प्रभाव पड़ा हो। (३) विकसित। प्रफुल्लित। फूला हुआ। (४) जीवित। (५) बाहर गया हुआ।

उच्छ्वास-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उच्छ्वसित, उच्छ्वासित, उच्छ्वासी] (१) ऊपर को खींची हुई साँस। उसास। (२) साँस। श्वास।

यौ०—शोकोच्छ्वास।

(३) ग्रंथ का विभाग। प्रकरण।

उच्छ्वासित-वि० [सं०] (१) उच्छ्वासयुक्त। (२) जिस पर साँस का प्रभाव पड़ा हो। (३) प्रफुल्लित।

उच्छ्वासी-वि० [सं० उच्छ्वासिन्] [स्त्री० उच्छ्वासिनी] साँस लेनेवाला।

उछंग*-संज्ञा पुं० [सं० उत्संग, प्रा० उच्छंग] (१) गोद। क्रोड़। कोरा। उ०—(क) स्तुति करि वे गए स्वर्ग को अभय हाथ करि दीन्हों। बंधन छोरि नंद बालक को लै उछंग करि लीन्हों।—सूर। (ख) जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लेइ उछंग सुन्दर सिख दीन्ही।—तुलसी। (ग) जानि कुअवसर प्रीति दुराई। सखी उछंग बैठि पुनि जाई।—तुलसी। (२) हृदय।

मुहा०—उछंग लेना=आलिंगन करना। हृदय से लगाना। उ०—हा हा हों पिय नृत्य करो। जैसे करि मैं तुमहिं रिझाई त्यों मेरो मन तुमहूँ हरो।.........मैं हारी त्योंही तुम हारो चरन चापि श्रम मेटोंगी। सूर स्याम ज्यों उछँग लई मोहिं त्यों मैं हूँ हँसि भेटोंगी।—सूर।

उछकना-क्रि० अ० [हिं० उचकना, उझकना=चौंकना] चौंकना। चेतना। चेत में आना। उ०—डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल विपाक। छिन छाकै उछकै न फिरि खरो विषम छवि छाक।—बिहारी।

उछरना*†-क्रि० अ० दे० "उछलना"।

उछल कूद-संज्ञा स्त्री० [हिं० उछलना+कूदना] (१) खेल कूद। (२) हलचल। अधीरता। चंचलता।

मुहा०—उछल कूद करना=आवेग और उत्साह दिखाना। बढ़ बढ़कर बातें करना। जैसे,—बहुत उछल कूद करते थे; पर इस समय कुछ करते नहीं बनता।

उछलना-क्रि० अ० [सं० उच्छलन] (१) नीचे ऊपर होना। वेग से ऊपर उठना और गिरना। जैसे,—समुद्र का जल पूरनमों उछलता है। (२) झटके के साथ एक बारगी शरीर को क्षण भर के लिये इस प्रकार ऊपर उठा लेना जिसमें पृथ्वी का लगाव छूट जाय। कूदना। जैसे,—उस लड़के ने उछलकर पेड़ से फल तोड़ लिया।

विशेष—अत्यंत प्रसन्नता के कारण भी लोग उछलते हैं। जैसे,—यह बात सुनते ही वह खुशी के मारे उछल पड़ा। क्रोध में भी ऐसा कहा जाता है।

(३) अत्यंत प्रसन्न होना। खुशी से फूलना। जैसे,—जब से उन्होंने यह खबर सुनी है, तभी से उछल रहे हैं। (४) चिह्न पड़ना। उपटना। उभड़ना। जैसे,—(क) उसके हाथ में जहाँ जहाँ बेंत लगा है, उछल आया है। (ख) तुम्हारे माथे में चंदन उछला नहीं। (ग) इस मोहर के अक्षर ठीक उछलते नहीं। उ०—बैठ भँवर कुच नारँग लारी। लागे नख उछरै रँग धारी।—जायसी। (५) उतराना। तरना। उ०—(क) चोर चुराई तूँबड़ी गाड़ी पानी माहिं। वह गाड़े ते ऊछलै यों करनी छपनी नाहिं।—कबीर। (ख) बैरी बिन काज बृद्धि बृद्धि उछरत वह बड़े बंस बिरद बढ़ाई सो बढ़ायती। निधि है निधान की परिधि प्रिय प्रान की सुमन की अवधि वृषभान की लड़ायती।—देव।

उछलवाना-क्रि० स० [हिं० उछलना का प्रे० रूप] उछालने में प्रवृत्त करना।

उछलाना–क्रि० स० [हिं० उछालना का प्रे० रूप] उछालने में प्रवृत्त करना। उछलवाना।

उछाँटना–क्रि० स० [सं० उच्चाटन, हिं० उचाटना] उचाटना। उदासीन करना। विरक्त करना। उ०—हरकिशोर ने हरगोविन्द की तरफ़ से आप का मन उछाँटने के लिये यह तदबीर की हो तो भी कुछ आश्चर्य्य नहीं।—परीक्षा-गुरु। * क्रि० स० [हिं० छाँटना] छाँटना। चुनना। उ०—अकिल अरश सों उतरी बिधिना दीन्ही बाँटि। एक अभागी रह गया एकन लई उचाँटि।—कबीर।

उछार*–संज्ञा पुं० [सं० उच्छाल] (१) सहसा ऊपर उठने की क्रिया। उछाल। (२) ऊपर उठने की हद। ऊँचाई, जहाँ तक कोई वस्तु उछल सकती है। (३) ऊँचाई। उ०—यक लख योजन भानु तें, है शशि लोक उछार। योजन अड़तालिस सहस में ताको बिस्तार।—विश्राम। (४) उछलता हुआ कण। छींटा। उ०—आई खेलि होरी ब्रज गोरी वा किशोरी संग अंग अंग रंगनि अनंग सरसाइगो। कुंकुम की मार वापै रंगनि उछार उड़ै बुक्का औ गुलाल लाल लाल बरसाइगो।—रसखान। (५) वमन। क़ै।

उछारना*†–क्रि० स० दे० "उछालना"।

उछाल–संज्ञा स्त्री० [सं० उच्छाल] (१) सहसा ऊपर उठने की क्रिया। (२) फलाँग। चौकड़ी। कुदान। जैसे,—हिरन की उछाल सब से अधिक होती है।

क्रि० प्र०—भरना।—मारना।—लेना।

(३) ऊपर उठने की हद। ऊँचाई जहाँ तक कोई वस्तु उछल सकती है। † (४) उलटी। क़ै। वमन।

उछाल छक्का–वि० [हिं० उछाल+छक्का] व्यभिचारिणी। छिनाल।

उछालना–क्रि० स० [सं० उच्छालन] (१) ऊपर की ओर फेंकना। उचकाना। (२) प्रकट करना। प्रकाशित करना। उजागर करना। जैसे,—तुम अपनी करनी से अपने पुरखों का खूब नाम उछाल रहे हो।

उछाह*–संज्ञा पुं० [सं० उत्साह, प्रा० उच्छाह] [वि० उछाही] (१) उत्साह। उमंग। हर्ष। प्रसन्नता। आनंद। उ०—(क) चढ़हि कुँवर मन करहि उछाहू। आगे घाल गिनै नहिं काहू।—जायसी। (ख) और सबै हरखी फिरैं गावति भरी उछाह। तुहीं बहू! बिलखी फिरै क्यों देवर के ब्याह?—बिहारी। (ग) नाह के ब्याह की चाह सुनी हिय माहिं उछाह छबीली के छायो। पौढ़ि रही पट ओढ़ि अटा दुख को मिस कै सुख बाल छिपायो।—मतिराम। (२) उत्सव। आनंद की धूम। (३) जैन लोगों की रथ-यात्रा। (४) उत्कंठा। इच्छा। उ०—लंकदाह देखे न उछाह रह्यो काहू को, कहत सब सचिव पुकारि नाँव रोपिहैं। बाँचिहै न पाछे से पुरारि हू मुरारि हू के, को है रन रारि को जो कोसलेस कोपिहैं।—तुलसी।

उछाला–संज्ञा पुं० [हिं० उछाल] (१) जोश। उबाल। (२) वमन। क़ै। उलटी।

उछाही*†–वि० [हिं० उछाह] उत्साह करनेवाला। आनंद मनानेवाला।

उछिन्न*†–वि० दे० "उच्छिन्न"।

उछिष्ट*†–वि० दे० "उच्छिष्ट"।

उछीनना*–क्रि० स० [सं० उच्छिन्न] उच्छिन्न करना। उखाड़ना। नष्ट करना। उ०—घने मीर बन बीर उछीने। पेलि मतंग घाट उन लीने।—लाल।

उछीर*–संज्ञा पुं० [हिं० छीर=किनारा] अवकाश। जगह। रंध्र। अनावृत स्थान। उ०—देखि द्वार भीर, पगदासी कटि बाँधी चीर, कर सों उछीर करि चाहैं पद गाइए। देखि लीनो वेई, काहू दीनी पाँच सात चोट, कीनी धकाधकी, रिस मन में न आइए।—प्रिया।

उछेद*†–संज्ञा पुं० दे० "उच्छेद"।

उज़क–संज्ञा पुं० [तु०] शाही ज़माने की बड़ी मुहर।

उजका†–संज्ञा पुं० [हिं० उझकना] चिथड़े और घास फूस का पुतला जो खेत में चिड़ियों को दूर रखने के लिये रक्खा जाता है। बिजूखा।

उजट*–संज्ञा पुं० [सं० उटज] झोपड़ा। पर्णशाला।

उजड़ना–क्रि० अ० [सं० अव—उ=नहीं+जड़ना=जमाना] [वि० उजाड़] (१) उखड़ना पुखड़ना। उच्छिन्न होना। ध्वस्त होना। (२) गिर पड़ जाना। बिखरना। तितर बितर होना। जैसे,—यह घर एक ही बरसात में उजड़ जायगा। (३) बरबाद होना। नष्ट होना। वीरान होना। उ०—(क) कई प्राणियों के मर जाने से उनका घर उजड़ गया। (ख) यह गाँव उजड़ गया। (ग) पर-हित हानि लाभ जिन केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे।—तुलसी। (घ) नारद-बचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ।—तुलसी।

उजड़वाना–क्रि० स० [हिं० उजाड़ना का प्रे० रूप] किसी को उजाड़ने में प्रवृत्त करना।

उजड़ा–वि० [हिं० उजड़ना] [स्त्री० उजड़ी] (१) उजड़ा हुआ। उखड़ा पुखड़ा हुआ। ध्वस्त। (२) जिसका घर बार उजड़ गया हो। (३) नष्ट। निकम्मा (खि०)।

उजड्ड–वि० [सं० उद्=बहुत+जड़=मूर्ख या सं० उद्दंड] (१) वज्र मूर्ख। अशिष्ट। असभ्य। जंगली। गँवार। (२) उद्दंड। निरंकुश। जिसे बुरा काम करने में कोई आगा पीछा न हो।

उजड्डपन–संज्ञा पुं० [हिं० उजड्ड+पन (प्रत्य०)] उद्दंडता। अशिष्टता। असभ्यता। बेहूदापन।

उजबक–[तु०] तातारियों की एक जाति।

वि० उजड्ड। बेवकूफ़। अनाड़ी। मूर्ख।

उजरत-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मज़दूरी। (२) किराया। भाड़ा।
मुहा०—उजरत पर देना=किराए पर देना। भाड़े पर देना।

उजरना*-क्रि० अ० दे० "उजड़ना"।

उजरा*-वि० दे० "उजला"।

उजराई*-संज्ञा स्त्री० [हिं० उज्जर] (१) उज्ज्वलता। सफ़ेदी। (२) स्वच्छता। सफ़ाई। कांति। दीप्ति। उ०—कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितिक आरसी ज्योति। जाकी उजराई लखे आँख ऊजरी होति।—बिहारी।

उजराना*-क्रि० स० [सं० उज्ज्वल] उज्ज्वल कराना। उजलवाना। साफ़ कराना। उ०—(क) अंजन दै नैननि, अतर मुख मंजन कै, लीन्हें उजराइ कर गजरा जराइके।—देव। (ख) तन कंचन हीरा हँसनि विद्रुम अधर बनाय। तिल मनि स्याम जड़े तहाँ बिधि जरिया उजराय।—मुबारक।

उजलत-संज्ञा स्त्री० [अ०] उतावली। जल्दी।

उजलवाना-क्रि० स० [हिं० उजालना का प्रे० रूप] गहने या अस्त्र आदि का साफ़ करवाना। मैल निकलवाना। निखरवाना।

उजला-वि० [सं० उज्ज्वल, प्रा० उज्जल] [स्त्री० उजली] (१) श्वेत। धौला। सफ़ेद। (२) स्वच्छ। साफ़। निर्मल। झक। दिव्य।
मुहा०—उजला मुँह करना=गौरवान्वित करना। महत्त्व बढ़ाना। जैसे,—उसने अपने कुल भर का मुँह उजला किया। उजला मुँह होना=(१) गौरवान्वित होना। जैसे,—उनके इस कार्य्य से सारे भारतवासियों का मुँह उजला हुआ। (२) निष्कलंक होना। जैसे,—लाख करो तुम्हारा मुँह उजला नहीं हो सकता। उजली समझ=अच्छी बुद्धि। स्वच्छ विचार।

उजली-संज्ञा स्त्री० [हिं० उजला] धोबिन। (स्त्रि०)।
विशेष—मुसल्मान स्त्रियाँ रात को धोबिन का नाम लेना बुरा समझती हैं; इससे वे उसे 'उजली' कहती हैं।

उजवास†-संज्ञा पुं० [सं० उद्यास=प्रयत्न] प्रयत्न। चेष्टा। तैयारी।

उजागर-वि० [सं० उद्=ऊपर, अच्छी तरह+जागर=जागना, जलना, प्रकाशित होना। उ०—उद्बुद्ध्यस्वाग्ने प्रति जागृहीय] [स्त्री० उजागरी] (१) प्रकाशित। जाज्वल्यमान। दीप्तिमान्। जगमगाता हुआ। उ०—बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेसि राम सोभा सुख सागर।—तुलसी। (२) प्रसिद्ध। विख्यात। उ०—(क) जांबवान जो बली उजागर सिंह मारि मणि लीन्ही। पर्वत गुफ़ा बैठि अपने गृह जाय सुता को दीन्ही।—सूर। (ख) सोइ भिजई बिनई गुन सागर। तासु सुजस त्रयलोक उजागर।—तुलसी। (ग) तहँ बस नगर जनकपुर परम उजागर। सीय लच्छि जहँ प्रगटी सब सुख सागर।—तुलसी। (घ) क्यों गुन रूप उजागरि नागरि भूखन धारि उतारन लागी।—मतिराम।

उजाड़-संज्ञा पुं० [हिं० उजड़ना] (१) उजड़ा हुआ स्थान। ध्वस्त स्थान। गिरी पड़ी जगह। (२) निर्जन स्थान। शून्य स्थान। वह स्थान जहाँ बस्ती न हो। (३) जंगल। बियाबान। उ०—बड़ा हुआ तो क्या हुआ जो रे बड़ा-मति नाहिं। जैसे फूल उजाड़ का मिथ्या ही झरि जाहिं।—जायसी।
वि० (१) ध्वस्त। उच्छिन्न। गिरा पड़ा।
क्रि० प्र०—करना।—होना। उ०—(क) अबहूँ दृष्टि मया करु नाथ निठुर घर आव। मँदिर उजाड़ होत है नव कै आइ बसाव।—कबीर।
(२) जो आबाद न हो। निर्जन। उ०—उस उजाड़ गाँव में क्या था जो मिलता।

उजाड़ना-क्रि० स० [हिं० उजड़ना] (१) ध्वस्त करना। तितर बितर करना। गिराना पड़ाना। उधेड़ना। जैसे,—घर उजाड़ना। (२) उखाड़ना। उच्छिन्न करना। नष्ट करना। खोद फेंकना। उ०—(क) नाथ सोइ आवा कपि भारी। जेइ असोकबाटिका उजारी।—तुलसी। (ख) जारि डारौं लंकहिं उजारि डारौं उपवन फारि डारौं रावन को तो मैं हनुमंत हौं।—पद्माकर। (३) नष्ट करना। बिगाड़ना। जैसे,—मैंने तेरा क्या उजाड़ा है जो तू मेरे पीछे पड़ा है।

उजाड़ू-वि० [हिं० उजाड़ना] उजाड़नेवाला। सत्यानाशी।

उजान-क्रि० वि० [सं० उद्=ऊपर+यान=जाना] धारा से उलटी ओर। चढ़ाव की ओर। 'भाठा' का उलटा। जैसे,—नाव इस समय उजान जा रही है।

उजार*-संज्ञा पुं० दे० "उजाड़"।

उजारा*-संज्ञा पुं० [हिं० उजाला] उजाला। प्रकाश।
वि० प्रकाशमान्। कांतिमान्। उ०—(क) जो न होत अस पुरुष उजारा। सूझि न परत पंथ अँधियारा।—जायसी। (ख) हरि के गर्भवास जननी को बदन उजार्यो लाग्यो हो। मानहुँ सरद चंद्रमा प्रगट्यो सोच तिमिर तनु भाग्यो हो।—सूर।

उजारी-संज्ञा स्त्री० दे० "उजाली"।
†संज्ञा स्त्री० कटी हुई फ़सल का थोड़ा सा अन्न जो किसी देवता के लिये अलग निकाल दिया जाता है। अगउँ।

उजालना-क्रि० स० [सं० उज्ज्वलन] (१) गहने या हथियार आदि साफ़ करना। मैल निकालना। चमकाना निखारना। (२) प्रकाशित करना। उ०—उन्होंने हिंगोट के तेल से उजाली हुई, भीतर पवित्र मृगचर्म्म के बिछौनेवाली कुटी उसको रहने के लिये दी।—लक्ष्मण। (३) बालना। जलाना। जैसे,—दीया उजालना।

उजाला-संज्ञा पुं० [सं० उज्ज्वल] [स्त्री० उजाली] (१) प्रकाश। चाँदना। रोशनी जैसे,—(क) उजाले में आओ, तुम्हारा मुँह तो देखें। (ख) उजाले से अँधेरे में आने पर थोड़ी देर तक कुछ नहीं सुझाई पड़ता।
क्रि० प्र०—करना।—होना।
(२) वह पुरुष जिससे गौरव हो। अपने कुल और जाति में

श्रेष्ठ व्यक्ति। जैसे,—वह लड़का अपने घर का उजाला है।

मुहा०—उजाला होना=(१) दिन निकलना। (२) सर्वनाश होना। उजाले का तारा=शुक्र ग्रह।

वि० [सं० उज्ज्वल] [स्त्री० उजली] प्रकाशमान्। 'अँधेरा' का उलटा।

यौ०—उजाली रात=चाँदनी रात।

उजाली—संज्ञा स्त्री० [हिं० उजाला] चाँदनी। चँद्रिका। उ०—उस प्रसन्न मुख में और खिली उजाली के चद्रमा में दोनों में नेत्र-धारियों की प्रीति समान रस लेनेवाली हुई।—लक्ष्मण।

उजास—संज्ञा पुं० [हिं० उजाला+स (प्रत्य०)] चमक। प्रकाश। उजाला। उ०—(क) पिंजर प्रेम प्रकासिया अंतर भया उजास। सुख करि सूती महल में बानी फूटी बास।—कबीर। (ख) पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास। नित प्रति पूनो ई रहत आनन ओप उजास।—बिहारी। (ग) जालरंध्र मग अँगनि को कछु उजास सो पाई। पीठ दिए जग सों रहै दीठि झरोखा लाई।—बिहारी।

उजियर*—वि० [सं० उज्ज्वल] उजला। सफ़ेद। उ०—छालहिं माखा और घी पोई। उजियर देखि पाप गय धोई।—जायसी।

उजियरिया‡—संज्ञा स्त्री० [सं० उज्ज्वल] चाँदनी। प्रकाश। उजेला। उ०—लै पौढ़ी आँगन हीं सुत को छिटकि रही आछी उजियरिया। सूरदास कछु कहत कहत ही बस करि लिए आइ नींदरिया।—सूर।

उजियार*—संज्ञा पुं० [सं० उज्ज्वल] उजाला। प्रकाश। उ०—राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार। तुलसी भीतर बाहिरौ जो चाहसि उजियार।—तुलसी।

वि० (१) प्रकाशमान्। दीप्तिमान्। कांतिमान्। उज्ज्वल। उ०—जस अंचल महँ छिपै न दीया। तस उजियार दिखावै हीया।—जायसी। (२) चतुर। बुद्धिमान। उ०—आगे आउ पंखि उजियारा। कह सुदीप पतंग किय मारा?—जायसी।

उजियारना*—क्रि० स० [हिं० उजियारा] (१) प्रकाशित करना। (२) बालना। जलाना। उ०—सरस सुगंधन सों आँगन सिंचावै करपूरमय बातिन सों दीप उजियारती।—व्यंग्यार्थ।

उजियारा*—संज्ञा पुं० [सं० उज्ज्वल] [स्त्री० उजियारी] (१) उजाला। प्रकाश। चाँदना। उ०—देखि धराहर कर उजियारा। छिपि गए चाँद सुरुज औ तारा।—जायसी। (२) प्रतापी और भाग्यशाली पुरुष। वंश को उज्ज्वल वा गौरवान्वित करनेवाला पुरुष। उ०—तू राजा दुहुँ कुल उंजियारा। अस कै चरच्यों मरम तुम्हारा। तेहि कुल रतनसेन उजियारा। धनि जननी जनमा अस बारा।—जायसी।

वि० (१) प्रकाशमय। उ०—सैयद अशरफ़ पीर पियारा। जेहि मोहि दीन्ह पंथ उजियारा।—जायसी। (२) कांतिमान्। द्युतिमान्। उज्ज्वल। उ०—ससि चौदस जो दई सँवारा। ताहू चाहि रूप उजियारा।—जायसी।

उजियारी*—संज्ञा स्त्री० [हिं० उजियारा] (१) चाँदनी। चंद्रिका। उ०—आय सरद ऋतु अधिक पियारी। नव कुआर कातिक उजियारी।—जायसी। (२) प्रकाश। रोशनी। उ०—और नखत चहुँ दिसि उजियारी। ठाँवहिं ठाँव दीप अस बारी।—जायसी। (३) वंश को उज्ज्वल करनेवाली स्त्री। सती साध्वी स्त्री। उ०—(क) माई मैं दूनो कुल उजियारी। बारह खसम नैहरे खायो सोरह खायों ससुरारी।—कबीर। (ख) सो पद्मावति ता करि बारी। औ सब दीप माहिं उजियारी।—जायसी।

वि० प्रकाशयुक्त। उजेला। उ०—कबहुक रतनमहल चित्रसारी सरदनिसा उजियारी। बैठे जनकसुता सँग बिलसत मधुर केलि मनुहारी।—सूर।

उजियाला—संज्ञा पुं० दे० "उजाला"।

उजीर*†—संज्ञा पुं० दे० "वज़ीर"।

उजीता—वि० [सं० उद्योत, प्रा० उज्जोत] प्रकाशमान्। रोशन। संज्ञा पुं० चाँदना। प्रकाश। उजाला।

उजूबा—संज्ञा पुं० [अ० अजूबा] बैंगनी रंग का एक पत्थर जिसमें चमकदार छींटे पड़े रहते हैं।

†वि० दे० "अजूबा"।

उजेनी*—संज्ञा स्त्री० [सं० उज्जयिनी] उज्जैन।

उजेर*—संज्ञा पुं० [सं० उज्ज्वल] उजाला। प्रकाश। उ०—मारग हुत जो अँधेरा सूझा। भा उजेर सब जाना बूझा।—जायसी।

उजेरा*—संज्ञा पुं० [सं० उज्ज्वल] उजाला। प्रकाश।

वि० प्रकाशमान्।

संज्ञा पुं० [सं० अव-उ=नहीं+जेर=रहट] बैल जो हल इत्यादि में जोता न गया हो।

उजेला—संज्ञा पुं० [सं० उज्ज्वल] प्रकाश। चाँदना। रोशनी।

वि० [सं० उज्ज्वल] [स्त्री० उजेली] प्रकाशमान्।

यौ०—उजेली रात=चाँदनी रात।

उज्जर†*—वि० दे० "उज्ज्वल"।

उज्जल—क्रि० वि० [सं० उद्=ऊपर+जल=पानी] बहाव से उलटी ओर। नदी के चढ़ाव की ओर। 'भाठा' का उलटा। उजान। जैसे,—यह नाव उज्जल जा रही है।

*वि० दे० 'उज्ज्वल'।

उज्जयिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मालवा देश की प्राचीन राजधानी जो सिप्रा नदी के तट पर है। विक्रमादित्य यहाँ के बड़े प्रतापी राजा हुए हैं। यहाँ महाकाल नाम का शिव का एक अत्यंत प्राचीन मंदिर है।

उज्झासन—संज्ञा [सं०] मारण। वध।

उज्झिहान—संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का नाम जिसका उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में है।

उउजैन—संज्ञा पुं० [सं०] मालवा देश की प्राचीन राजधानी ।

उउझड़—वि० [सं० उद्०=बहुत+जड़=मूर्ख] झक्की । झक्कड़ । मनमौजी । आगा पीछा न सोचनेवाला । उद्धत । मूर्ख ।

उज्यारा*—संज्ञा पुं० दे० "उजाला" ।

उज्यारी*†—संज्ञा स्त्री० दे० "उजाली" ।

उज्यास*—संज्ञा पुं० दे० "उजास" ।

उज़्र—संज्ञा पुं० [अ०] बाधा । विरोध । आपत्ति । वक्तव्य । जैसे,—(क) हमको इस काम के करने में कोई उज़्र नहीं है । (ख) जिसे जो उज़्र हो, वह अभी पेश करे ।

क्रि० प्र०—करना ।—पेश करना ।—लाना ।

उज़्रदारी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] किसी ऐसे मामले में उज़्र पेश करना जिसके विषय में अदालत से किसी ने कोई आज्ञा प्राप्त की हो वा प्राप्त करने की दरख़ास्त दी हो; जैसे—दाख़िलख़ारिज, बँटवारा, नीलाम आदि के विषय में ।

उज्ज्वल—वि० [सं०] [संज्ञा उज्ज्वलता] (१) दीप्तिमान् । प्रकाशमान् । (२) शुभ्र । विशद । स्वच्छ । निर्मल । (३) बेदाग़ । (४) श्वेत । सफ़ेद ।

उज्ज्वलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कांति । दीप्ति । चमक । आभा । आब । (२) स्वच्छता । निर्मलता । (३) सफ़ेदी ।

उज्ज्वलन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उज्ज्वलित] (१) प्रकाश । दीप्ति । (२) जलना । बलना । (३) स्वच्छ करने का कार्य्य ।

उज्ज्वला—संज्ञा स्त्री० [सं०] बारह अक्षरों की एक वृत्ति जिसमें दो नगण, एक भगण और एक रगण होते हैं । उ०—न नभ रघुवरा कह भूसुरा । लसत तरणि तेज मनौं फुरा । धरनितल जबै मिल ना थला । गगन भरति कीरति उज्ज्वला ।

उज्ज्वलित—वि० [सं०] (१) प्रकाशित किया हुआ । प्रदीप्त । (२) स्वच्छ किया हुआ । साफ़ किया हुआ । झलकाया हुआ ।

उझकना*—क्रि० अ० [हिं० उचकना] (१) उचकन । उछलना । कूदना । उ०—(क) बरज्यो नाहिं मानत उझकत झिरत हौ कान्ह घर घर ।—सूर । (ख) यह सब मेरी ऐ कुमति । अपने ही अभिमान दोष दुख पावत हौं मैं अति । जैसे केहरि उझकि कूपजल देखे आप मरत ।—सूर ।

यौ०—उझकना झिझकना=उछलना कूदना । उछलना पटकना । उ०—बाँह छुए उझकै बिझुकै न धरै पलिका पग ज्यों रति भीति है ।—सेवक ।

(२) ऊपर उठना । उभड़ना । उमड़ना । उ०—नेह उझके से नैन, देखिबे को बिरझे से, बिझुकी सी भौंहैं उझके से उजारत हैं ।—केशव । (३) ताकने के लिये ऊँचा होना । देखने के लिये सिर उठाना । झाँकने के लिये सिर बाहर निकालना । उ०—(क) जहँ तहँ उझकि झरोखा झाँकति जनक-नगर की नार । चितवनि कृपा राम अवलोकत दीन्हों सुख जो अपार ।—सूर । (ख) राधा चकित भई मन माहीं । अबहीं श्याम द्वार है झाँके ह्याँ आए क्यों नाहीं ।...... सूने भवन अकेली मैं ही नीके उझकि निहार्‌यो । मोते चूक परी मैं जानी ताते मोहिं बिसार्‌यो ।—सूर । (ग) मोहिं भरोसो रीझिहै उझकि झाँकि इक बार । रूप रिझावनहार वह ये नैना रिझवार ।—बिहारी । (घ) सम रस समर सकोच बस बिवस न ठिक ठहराय । फिरि फिरि उझकति फिर दुरति, दुरि दुरि उझकति जाय ।—बिहारी । (च) अचरज करै भूलि मन रहै । फेरि उझक कर देखन चहै ।—लल्लू । (४) चंचल होना । सजग होना । चौंकना । उ०—(क) देखि देखि मुगलन की हरमैं भवन त्यागैं, उझकि उझकि उठैं बहत बयारी के ।—भूषण । (ख) हेरत ही जाके छके पल हू उझकि सकै न । मन गहनै धरि मीत पै छबि मद पीवत नैन ।—रसनिधि ।

उझकुन†—संज्ञा पुं० दे० "उचकन" ।

उझलना—क्रि० स० [सं० उज्झरण] ढालना । किसी द्रव पदार्थ को ऊपर से गिराना ।

* क्रि० अ० उमड़ना । बढ़ना । उ०—वह सेन दरेरन देति चली । मनु सावन की सरिता उझली ।—सूदन ।

उझाँकना—क्रि० स० [हिं० झाँकना] झाँकना । उचककर देखना । उ०—कोऊ खड़ी द्वार कोउ ताकै । दौरी गलियन फिरत उझाँकै ।—लल्लू ।

उझालना†—क्रि० स० दे० "उझलना" ।

उझिलना†—क्रि० स० दे० "उझलना" ।

उझिला—संज्ञा स्त्री० [हिं० उझिलना] (१) उबटन के लिये उबाली हुई सरसों । (२) खेत के ऊँचे स्थानों से खोदी हुई मिट्टी जो उसी खेत के गड्ढों वा नीचे स्थानों में खेत चौरस करने के लिये भरी जाती है । (३) अदाव वा टपके हुए महुए को पिसे हुए पोस्ते के दाने के साथ उबालकर बनाया हुआ एक प्रकार का भोजन ।

उझीना—संज्ञा पुं० [देश०] जलाने के लिये उपले जोड़ने की क्रिया । अहरा ।

क्रि० प्र०—लगाना ।

उटंग—वि० [सं० उत्तंग] वह कपड़ा जो पहनने में ऊँचा या छोटा हो । वह कपड़ा जो नीचे वहाँ तक न पहुँचता हो जहाँ तक पहुँचना चाहिए ।

उटंगन—संज्ञा पुं० [सं० उट=घास+अन्न] एक घास जो ठंडी जगहों में, नदी के कछारों में, उत्पन्न होती है । यह तिनपतिया के आकार की होती है, पर इसमें चार पत्तियाँ होती हैं । इसका साग खाया जाता है । यह शीतल, मलरोधक, त्रिदोषघ्न, हलकी, कसैली और स्वादिष्ट होती है और ज्वर, श्वास तथा प्रमेह आदि को दूर करती है ।

पर्या०—सुनिषण्ण । शिरिआरि । चौपतिया । गुठुवा । सुसना ।

उटकना*–क्रि० स० [सं० अट्=घूमना, बार बार+कलन=गिनती करना] अनुमान करना। अटकल लगाना। अंदाजना। उ०—भूखन बसन बिलोकत सिय के। प्रेम बिबस मन वेखु पुलक तन नीरज नयन नीर भरे पिय के।......स्वामि दसा लखि लखन, सखा कपि पिघले हैं आँच माठ मनो घिय के।......धीर बीर सुनि समुझि परसपर बल उपाय उटकत निज हिय के।—तुलसी।

उटकनाटक–वि० [हिं० उठना] ऊँचा नीचा। ऊबड़खाबड़।

उटकरलैस–वि० [हिं० अटकल+लसना] अटकलपच्चू। मनमाना। अंडबंड। बिना समझा बूझा। जैसे,—तुम्हारी सब बातें उटकरलैस हुआ करती हैं।

उटज–संज्ञा पुं० [सं०] झोपड़ी। कुटी।

उटड़ुपा–संज्ञा पुं० [हिं० उठना] एक लकड़ी जो गाड़ी के आगे लगी रहती है और जिस पर गाड़ी रुकनी है। उटहड़ा। उटड़ा।

उटड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० ऊँट वा उठना] एक टेढ़ी लकड़ी जो गाड़ी के अगले भाग में जहाँ हरसे मिलते हैं, जूए के नीचे लगी रहती है। इसी के बल पर गाड़ी का अगला भाग ज़मीन पर टिकाया जाता है।

उटारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० उठना] वह लकड़ी जिस पर रखकर चारा काटा जाता है। निहा। निहटा।

उटेव–संज्ञा पुं० [हिं० उठना] छाजन की धरन के बीचों बीच ठोंकी हुई डेढ़ डेढ़ हाथ की दो खड़ी लकड़ियाँ जिन पर एक बेंड़ी लकड़ी वा गदारी बैठाकर उसके ऊपर धरन रखते हैं।

उट्टा–संज्ञा पुं० [हिं० ओटना] ओटनी।

उठँगन†–संज्ञा पुं० [सं० उत्थ+अङ्ग] (१) आड़। टेक। (२) उठँगने की वस्तु। बैठने में पीठ को सहारा देनेवाली वस्तु।

उठँगना–क्रि० अ० [सं० उत्थ+अङ्ग] (१) किसी ऊँची वस्तु का कुछ सहारा लेना। टेक लगाना। जैसे,—वह दीवार से उठँगकर बैठ गया। (२) लेटना। पड़ रहना। कमर सीधी करना। जैसे,—बहुत देर से जग रहे हो, ज़रा उठँग तो लो।

उठंगल–वि० [देश०] (१) बेढंगा। भोंडा। (२) बेशऊर। अशिष्ट।

उठँगाना–क्रि० स० [हिं० उठँगना क्रिया का स० रूप] (१) किसी वस्तु को पृथ्वी वा और किसी आधार पर खड़ा रखने के लिये उसे तिरछा करके उसके किसी भाग को किसी दूसरी वस्तु से लगाना। भिड़ाना। (२) (किवाड़) भिड़ाना वा बंद करना।

उठतक–संज्ञा पुं० [हिं० उठना] (१) वह चीज़ जो पीठ लगे हुए घोड़े की पीठ को बचाने के लिये जीन वा काठी के नीचे रक्खी जाय। उड़तक। (२) उचकन। आड़। टेक।

उठना–क्रि० अ० [सं० उत्थान, पा० उट्ठान] (१) नीची स्थिति से और ऊँची स्थिति में होना; किसी वस्तु का ऐसी स्थिति में होना जिसमें उसका विस्तार पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचाई तक पहुँचे। जैसे लेटे हुए प्राणी का बैठना वा बैठे हुए प्राणी का खड़ा होना। ऊँचा होना।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

मुहा०—उठ खड़ा होना=चलने को तैयार होना। जैसे,—अभी आए एक घंटा भी नहीं हुआ और उठ खड़े हुए। उठ जाना=दुनिया से उठ जाना। मर जाना। जैसे,—इस संसार से कैसे कैसे लोग उठ गए। उ०—जो उठि गयो बहुरि नहिं आयो मरि मरि कहाँ समाहीं।—कबीर। उठती कोंपल=नवयुवक। गभरू। उठती जवानी=युवावस्था का आरंभ। उठती परती=जोत का एक भेद जिसके अनुसार किसानों को केवल उन खेतों का लगान देना पड़ता है जिनको वे उस वर्ष जोतते हैं और परती खेतों का कुछ नहीं देना पड़ता (आजमगढ़)। उठते बैठते प्रत्येक अवस्था में। हर घड़ी। प्रति क्षण। जैसे,—किसी को उठते बैठते गालियाँ देना ठीक नहीं। उठना बैठना=आना जाना। संग साथ। मेल जोल। जैसे,—इनका उठना बैठना बड़े लोगों में रहा है। उठ बैठ=दे० "उठा बैठी।" उठा बैठी=(१) हैरानी। दौड़ धूप। (२) बेकली। बेचैनी। (३) उठने बैठने की कसरत। बैठक।

(२) ऊँचा होना। और ऊँचाई तक बढ़ जाना, जैसे—लहर उठना। उ०—लहरैं उठीं समुद उलथाना। भूला पंथ सरग नियराना।—जायसी। (३) ऊपर जाना। ऊपर चढ़ना। ऊपर होना। जैसे—बादल उठना, धूँआँ उठना, गर्द उठना, टिड्डी उठना। उ०—(क) उठी रेनु मानहुँ जल धारा। बान बुंद भइ वृष्टि अपारा।—तुलसी। (ख) खनै उठइ खन बूड़इ, अस हिय कमल सँकेत। हीरामन हि बुलावहि सखी कहन जिव लेत।—जायसी। (४) कूदना। उछलना। उ०—उठहि तुरंग लेहि नहिं बागा। जानौ उलटि गगन कहँ लागा। (५) बिस्तर छोड़ना। जागना। जैसे,—देखो कितना दिन चढ़ आया, उठो। उ०—प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा।—तुलसी।

संयो० क्रि०—पड़ना।—बैठना।

(६) निकलना। उदय होना। उ०—बिहँसि जगावहिं सखी सयानी। सूर उठा, उठु पदुमिनि रानी।—जायसी। (७) निकलना। उत्पन्न होना। उद्भूत होना, जैसे—विचार उठना, राग उठना। जैसे,—मेरे मन से तरह तरह के विचार उठ रहे हैं। उ०—(क) छुद्र घंट कटि कंचन तागा। चलते उठहिं छतीसो रागा।—जायसी। (ख) सो धनहीन मनोरथ ज्यों उठि बीचहि बीच बिलाइ गयो है। (८) सहसा आरंभ होना। एक बारगी शुरू होना। अचानक उभड़ना। जैसे—बात उठना, दर्द उठना, आँधी उठना, हवा उठना। उ०—आधे समुद आय सो नाहीं। उठी बाउ आँधी उप-

राही।—जायसी। (९) तैयार होना। सन्नद्ध होना। उद्यत होना। जैसे,—अब आप उठे हैं; यह काम चटपट हो जायेगा।

मुहा०—मारने उठना=मारने के लिये उद्यत होना।

(१०) किसी अंक वा चिह्न का स्पष्ट होना। उभड़ना। जैसे,—इस पृष्ठ के अक्षर अच्छी तरह उठे नहीं हैं। (११) पाँस बनना। ख़मीर आना। सड़ कर उफाना। जैसे,—(क) ताड़ी धूप में रखने से उठने लगती है। (ख) ईख का रस जब धूप खाकर उठता है, तब छानकर सिरका बनाने के लिये रख लिया जाता है। (१२) किसी दूकान वा सभा समाज का बंद होना। किसी दूकान वा कार्यालय के कार्य्य का समय पूरा होना। जैसे,—अगर लेना है तो जल्दी जाओ, नहीं तो दूकानें उठ जायँगी। उ०—दास तुलसी परत धरनि धर धकनि धुक हाटसी उठत जंबुकनि लूट्यो। धीर रघुबीर के बीर रन बाँकुरे हाँकि हनुमान कुलि कटक लूट्यो। —तुलसी। (१३) किसी दूकान वा कारख़ाने का काम बंद होना। किसी कार्यालय का चलना बंद हो जाना। जैसे,—यहाँ बहुत से चीनी के कारख़ाने थे, सब उठ गए। (१४) हटना। अलग होना। दूर होना। स्थान त्याग करना। प्रस्थान करना। जैसे,—(क) यहाँ से उठो। (ख) बारात उठ चुकी। (१५) किसी प्रथा का दूर होना। किसी रीति का बंद होना। जैसे,—सती की रीति अब हिंदुस्तान से उठ गई। (१६) ख़र्च होना। काम में लगना। जैसे,—(क) आज सबेरे से इस समय तक १०) उठ चुके। (ख) तुम्हारे यहाँ कितने का घी रोज़ उठता होगा?

संयो० क्रि०—जाना।

(१७) बिकना। भाड़े पर जाना। लगान पर जाना। जैसे,—(क) ऐसा सौदा दूकान पर क्यों रखते हो जो उठता नहीं। (ख) उनका घर कितने महीने पर उठा है? (१८) याद आना। ध्यान पर चढ़ना। स्मरण आना। जैसे,—वह श्लोक मुझे उठता नहीं है। (१९) किसी वस्तु का क्रमशः जुड़ जुड़ कर पूरी ऊँचाई पर पहुँचना। मकान वा दीवार आदि का तैयार होना। जैसे,—(क) तुम्हारा घर अभी उठा या नहीं। (ख) नदी के किनारे बाँध उठ जाय तो अच्छा है। उ०—उठा बाँध तस सब जग बाँधा।—जायसी।

विशेष—इस अर्थ में उठना का प्रयोग उन्हीं वस्तुओं के संबंध में होता है जो बराबर ईंट मिट्टी आदि सामग्रियों को नीचे ऊपर रखते हुए कुछ ऊँचाई तक पहुँचाकर तैयार की जाती हैं। जैसे, मकान, दीवार, बाँध, भीटा इत्यादि।

(२०) गाय, भैंस वा घोड़ी आदि का मस्ताना वा अलंग पर आना।

विशेष—'उठना' उन कई क्रियाओं में से है जो और क्रियाओं के पीछे संयोज्य क्रियाओं की तरह पर लगती हैं। यह अकर्मक क्रिया की धातु के पीछे प्रायः लगता है। केवल कहना, बोलना आदि दो एक सकर्मक क्रियाएँ हैं जिनकी धातु के साथ भी यह देखा जाता है। जिस क्रिया के पीछे इसका संयोग होता है, उसमें आकस्मिक का भाव आ जाता है। जैसे, रो उठना, चिल्ला उठना, बोल उठना।

उठल्लू—वि० [हिं० उठ+लू (प्रत्य०)] (१) एक स्थान पर न रहनेवाला। आसनदगधी। आसनकोपी। (२) आवारा। बेठिकाने का।

मुहा०—उठल्लू का चूल्हा या उठल्लू चूल्हा=बेकाम इधर उधर फिरनेवाला। निकम्मा। आवारा गरद।

उठवाना—क्रि० स० [हिं० उठाना क्रिया का प्रे० रूप] उठाने के लिये किसी को तत्पर करना।

उठाँगन—संज्ञा पुं० [हिं० उठ+आँगन] बड़ा आँगन। लंबा चौड़ा सहन।

उठाईगीरा—वि० [हिं० उठाना+फ़ा० गीरा] (१) आँख बचाकर छोटी छोटी चीज़ों को चुरा लेनेवाला। उचक्का। जेब-कतरा। चाई। (२) बदमाश। लुच्चा।

उठान—संज्ञा स्त्री० [सं० उत्थान, पा० उट्ठान] (१) उठना। उठने की क्रिया। (२) रोह। बाढ़। बढ़ने का ढंग। वृद्धिक्रम। जैसे,—इस लड़के की उठान अच्छी है। (३) गति की प्रारंभिक अवस्था। आरंभ। उ०—सरस सुमिलि चित तुरँग की करि करि अमित उठान। गोइ निबाहे जीतिये प्रेम खेल चौगान।—बिहारी। जैसे,—इस ग्रंथ का उठान तो अच्छा है; इसी तरह पूरा उतर जाय तो कहें। (४) ख़र्च। व्यय। खपत। जैसे,—गल्ले की उठान यहाँ बहुत नहीं होती है।

उठाना—क्रि० स० [हिं० उठना का स० रूप] (१) नीची स्थिति से ऊँची स्थिति में करना। जैसे लेटे हुए प्राणी को बैठाना वा बैठे हुए प्राणी को खड़ा करना। किसी वस्तु को ऐसी स्थिति में लाना जिसमें उसका विस्तार पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचाई तक पहुँचे। ऊँचा वा खड़ा करना। जैसे,—(क) दुहने के लिये गाय को उठाओ। (ख) कुरसी गिर पड़ी है, उसे उठा दो। (२) नीचे से ऊपर ले जाना। निम्न आधार से उच्च आधार पर पहुँचाना। ऊपर ले लेना। जैसे,—(क) क़लम गिर पड़ी है, ज़रा उठा दो। (ख) वह पत्थर को उठाकर ऊपर ले गया। (३) धारण करना। कुछ काल तक ऊपर लिए रहना। जैसे,—(क) उतना ही लादो जितना उठा सको। (ख) ये कड़ियाँ पत्थर का बोझ नहीं उठा सकतीं। (४) स्थान त्याग कराना। हटाना। दूर करना। जैसे,—(क) इसको यहाँ से उठा दो। (ख) यहाँ से अपना डेरा डंडा उठाओ। (५) जगाना। (६) निकालना। उत्पन्न करना। (७) सहसा आरंभ करना। एकबारगी शुरू करना। अचानक उभाड़ना। छेड़ना, जैसे—बात उठाना, झगड़ा उठाना। उ०—(क) जबसे हमने

यह काम उठाया है, तभी से विघ्न हो रहे हैं। (८) तैयार करना। उद्यत करना। सन्नद्ध करना। जैसे,—उन्हें इस काम के लिये उठाओ तो ठीक हो। (९) मकान वा दीवार आदि तैयार करना। जैसे—घर उठाना, दीवार उठाना। (१०) नित्य नियमित समय के अनुसार किसी दूकान वा कारखाने को बंद करना। (११) किसी प्रथा का बंद करना। जैसे,—अँगरेज़ों ने यहाँ से सती की रीति उठा दी। (१२) ख़र्च करना। लगाना। व्यय करना। जैसे,—रोज़ इतना रुपया उठाओगे तो कैसे काम चलेगा? (१३) किसी वस्तु को भाड़े वा किराये पर देना। (१४) भोग करना। अनुभव करना। भोगना। जैसे—दुःख उठाना, सुख उठाना। जैसे,—इतना कष्ट हमने आपही के लिये उठाया है। (१५) शिरोधार्य करना। सादर स्वीकार करना। मानना। उ०—करै उपाय सो विरथा जाई। नृप की आज्ञा लियो उठाई।—सूर। (१६) जगाना। जैसे,—उसे सोने दो, मत उठाओ। (१७) किसी वस्तु को हाथ में लेकर क़सम खाना। जैसे—गंगा उठाना, तुलसी उठाना।

मुहा०—उठा रखना=छोड़ना, बाक़ी रखना। कसर छोड़ना। जैसे,—तुमने हमें तंग करने के लिये कोई बात उठा नहीं रक्खी। उठा धरना=बढ़ जाना। जैसे,—उसने तो इस बात में अपने बाप को भी उठा धरा।

विशेष—कहीं कहीं जिस वस्तु वा विषय की सामग्री के साथ इस क्रिया का प्रयोग होता है उस वस्तु वा विषय के करने का आरंभ सूचित होता है। जैसे, क़लम उठाना=लिखने के लिये तैयार होना। डंडा उठाना=मारने के लिये तैयार होना। झोली उठाना=भीख माँगने जाने के लिये तैयार होना इत्यादि। जैसे,—(क) अब बिना तुम्हारे क़लम उठाए न बनेगा। (ख) जब हमसे नहीं सहा गया, तब हमने छड़ी उठाई।

उठाव—संज्ञा पुं० [हिं० उठना] (१) उन्नत अंश। उठान। (२) मिहराब के पाट के मध्य बिंदु और झुकाव के मध्य बिंदु का अंतर।

उठौआ—वि० दे० "उठौवा"।

उठौनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० उठाना, उठावनी] (१) उठाने की क्रिया। (२) उठाने की मज़दूरी वा पुरस्कार। (३) वह रुपया जो किसी फ़सल की पैदावार वा और किसी वस्तु के लिये पेशगी दिया जाय। अगौहा। बेहरी। दादनी। (४) बनियों वा दूकानदारों के साथ उधार का लेन देन। (५) वह दक्षिणा जो पुरोहित वा ज्योतिषी को विवाह का मुहूर्त्त विचारने पर दी जाती है। पुरहत। (६) वह धन वा रुपया आदि जो नीच जातियों में वर की ओर से कन्या के घर विवाह के पहले उसे दृढ़ करने के लिये भेजा जाता है। लगन धरौआ। (७) वह रुपया-पैसा वा अन्न जो देवता के निमित्त संकट पड़ने पर किसी देवता की पूजा के उद्देश से अलग रक्खा जाय। (८) वैश्यों के यहाँ की एक रीति जो किसी के मर जाने पर होती है। इसमें मरने के दूसरे या तीसरे दिन बिरादरी के लोग इकट्ठे होकर मृतक के परिवार के लोगों को कुछ रुपया देते हैं और पुरुषों को पगड़ी बाँधते हैं। (९) एक रीति जो किसी के मरने के तीसरे दिन होती है। इसमें मृतक की अस्थि संचित करके रख दी जाती है। (१०) एक लकड़ी जिसमें जुलाहे पाई की लुगदी लपेटते हैं। (११) धान के खेत की हलके हल की दूर दूर जोताई। यह दो प्रकार की होती है—बिदहनी और धुरदहनी। अधिक पानी होने पर जोतने को बिदहनी कहते हैं और सूखे में जोतने को धुरदहनी कहते हैं। गाहना। (१२) प्रसूता की सेवा-सुश्रूषा।

उठौवा—वि० [हिं० उठाना] जिसका कोई स्थान नियत न हो। जो नियत स्थान पर न रहता हो।

यौ०—उठौवा चूल्हा=वह चूल्हा जिसे जब जहाँ चाहें उठा ले जायँ। उठौवा पायखाना=वह पायखाना जिसे भंगी साफ़ करता है।

†संज्ञा स्त्री० [हिं० उठाना] प्रसूता की सेवा-सुश्रूषा जो दाई करती है। उठौनी।

क्रि० प्र०—कमाना।

उड़ंकू—वि० [हिं० उड़ना+अक (प्रत्य०)] (१) उड़नेवाला। (२) उड़ने की योग्यता रखनेवाला। जो उड़ सके। (३) चलने फिरनेवाला। डोलनेवाला।

उड़ंत—संज्ञा पुं० [हिं० उड़ना] कुश्ती का एक पेंच वा ढंग जिसमें खिलाड़ी एक दूसरे की पकड़ को बचाने के लिये इधर से उधर हुआ करते हैं।

उडंबरी—संज्ञा स्त्री० [सं० उडुम्बर] एक पुराना बाजा जिसमें बजाने के लिये तार लगे रहते हैं।

उड़ेंचा†—संज्ञा पुं० [हिं० उड़+पेच] (१) कुटिलता। कपट। (२) बैर। अदावत। दुश्मनी।

क्रि० प्र०—रखना।—निकालना।

उड़*—संज्ञा पुं० दे० "उडु"।

उड़चक†—संज्ञा पुं० [हिं० उड़ना] चोर। उचक्का।

उड़तक—संज्ञा पुं० दे० "उठतक"।

उड़ती बैठक—संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़ना+बैठकें] दोनों पाँवों को समेटकर उठते बैठते हुए आगे बढ़ना या पीछे हटना। बैठक का एक भेद।

उड़द†—संज्ञा पुं० दे० "उरद"।

उड़न—संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़ना] उड़ने की क्रिया। उड़ान।

यौ०—उड़नखटोला। उड़नछू। उड़नझाईं।

उड़नखटोला—संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़ना+खटोला] उड़नेवाला खटोला। विमान।

उड़नगोला-संज्ञा पुं० [हिं० उड़ना+गोला] बंदूक की गोली जो बिना निशाना ताके चलाई जाय।

उड़नछू-वि० [हिं० उड़ना] चंपत। ग़ायब।

क्रि० प्र०—होना।

उड़नझाँई-संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़ना+झाँई] चकमा। धुत्ता। बहाली।

क्रि० प्र०—बताना।

उड़नफल-संज्ञा पुं० [हिं० उड़ना+फल] वह फल जिसके खाने से उड़ने की शक्ति उत्पन्न हो। उ०—वह उड़ान फर तहि-अइ खाए। जब भा पंखि पाँख तन पाए।—जायसी।

उड़नफाख्ता-वि० [हिं० उड़ना+फ़ा० फाख़्ता] सीधा सादा। मूर्ख।

उड़ना-क्रि० अ० [सं० उड्डयन] [स० क्रि० उड़ाना, प्रे० उड़वाना] (१) चिड़ियों का आकाश में वा हवा में होकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। जैसे,—चिड़ियाँ उड़ती हैं। उ०—सुआ जो उतर देत रह पूछा। उड़गा पिंजर न बोलै छूछा।—जायसी। (२) आकाश मार्ग से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। हवा में होकर जाना। निराधार हवा में ऊपर फिरना। जैसे—गर्द उड़ना, पत्ती उड़ना। उ०—अंधकूप भा आवइ उड़त आव तस छार। ताल तलाब औ पोखरा धूरि भरी ज्योनार।—जायसी। (३) हवा में ऊपर उठना। जैसे,—गुड्डी उड़ रही है। उ०—(क) उड़इ लहर पर्वत की नाईं। होइ फिरइ योजन लख ताईं।—जायसी। (ख) लहर झकोर उड़हिं जल भीजा। तौहू रूप रंग नहिं छीजा।—जायसी। (४) हवा में फैलना। जैसे,—छींटा उड़ना, सुगंध उड़ना, ख़बर उड़ना। (५) वायु से चीज़ों का इधर उधर हो जाना। छितराना। फैलना। जैसे,—एक ऐसा झोंका आया कि सब काग़ज़ कमरे भर में उड़ गए। (६) किसी ऐसी वस्तु का हवा में इधर उधर हिलना जिस का कोई भाग किसी आधार से लगा हो। फहराना। फरफराना। जैसे,—पताका उड़ रहो है। (७) तेज़ चलना। वेग से चलना। भागना। जैसे,—(क) चलो उड़ो, अब देर मत करो। (ख) घोड़ा सवार को लेकर उड़ा। उ०—कोइ बोहित जस पवन उड़ाहीं। कोई चमक बीज पर जाहीं।—जायसी। (८) झटके के साथ अलग होना। कटना। गिरकर दूर जा पड़ना। जैसे,—(क) एक हाथ में बकरे का सिर उड़ गया। (ख) सँभालकर चाक़ू पकड़ो, नहीं तो उँगली उड़ जायगी। उ०—फूटा कोट फूट जनु सीसा। उड़हिं बुर्ज जाहिं सब पीसा।—जायसी। (९) पृथक् होना। उधड़ना। छितराना। जैसे,—(क) किताब की जिल्द उड़ गई। उ०—वहि के गुण सँवरत भइ माला। अबहुँ न बहुरा उड़िगा छाला।—जायसी। (१०) जाता रहना। ग़ायब होना। लापता होना। दूर होना। मिटना। नष्ट होना। उ०—(क) घर बंद का बंद और सारा माल उड़ गया। (ख) अभी तो वह स्त्री यहीं बैठी थी, कहाँ उड़ गई। (ग) देखते देखते दर्द उड़ गया। (घ) इस पुरानी पुस्तक के अक्षर उड़ गए हैं, पढ़े नहीं जाते। (च) रजिस्टर से लड़के का नाम उड़ गया। (११) खाने पीने की चीज़ का ख़र्च होना। आनंद के साथ खाया पीया जाना। जैसे,—कल तो ख़ूब मिठाई उड़ी। (१२) किसी भोग्य वस्तु का भोगा जाना। जैसे—स्त्री-संभोग होना। (१३) आमोद-प्रमोद की वस्तु का व्यवहार होना। जैसे,—(क) वहाँ तो ताश उड़ रहा है। (ख) यहाँ दिन रात तान उड़ा करती है। (१४) रंग आदि का फीका पड़ना। धीमा पड़ना। जैसे,—(क) इस कपड़े का रंग उड़ गया। (ख) इस बरतन की क़लई उड़ गई। (१५) किसी पर मार पड़ना। लगना। जैसे,—उस पर स्कूल में ख़ूब बेत उड़े। (१६) बातों में बहलाना। भुलावा देना। चकमा देना। धोखा देना। जैसे,—भाई उड़ते क्यों हो, साफ़ साफ़ बताओ। (१७) घोड़े का चौफाल कूदना। घोड़े का चारों पैर उठा कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर बड़ी शान से रखना। जमना। (१८) फलाँग मारना। फलाँगना। कूदना। (कुश्ती)।

क्रि० स० फलाँग मारकर किसी वस्तु को लाँघना। कूदकर पार करना। जैसे—(क) वह घोड़ा खाईं उड़ता है। (ख) अच्छे सिखाए हुए घोड़े सात सात टट्टियाँ उड़ते हैं। (ग) वह घोड़ा बात की बात मे खंदक उड़ गया।

मुहा०—उड़ आना=(१) किसी स्थान से वेग से आना। झटपट आना। भाग आना। जैसे,—इतने जल्द तुम वहाँ से उड़ आए। उ०—बहुरि व्यास कह ठाकुर काही। उड़ि अइहै ठाकुर ब्रज माँही।—रघुराज। (२) इतनी जल्दी से आना कि किसी को खबर न हो। चुपके से भाग आना। उ०—करी खेचरी सिद्ध जनु उड़ि सी आई ग्वारि। बाहिर जनु मदमत्त बिधु दियो अमी सब डारि।—व्यास। उड़ चलना=(१) तेज दौड़ना। सरपट भागना। (२) शोभित होना। भला लगना। अच्छा लगना। फबना। जैसे,—टोपी देने से वह उड़ चलता है। (३) मज़ेदार होना। स्वादिष्ट बनना। जैसे,—तरकारी मसाले से उड़ चलती है। (४) कुमार्ग स्वीकार करना। बदराह बनना। जैसे,—अब तो वह भी उड़ चला। (५) इतराना। मर्य्यादा को छोड़कर चलना। बढ़कर चलना। घमंड करना। जैसे,—नीच आदमी थोड़े ही में उड़ चलते हैं। उड़ता होना वा बनना=भाग जाना। चलता होना। चल देना। जैसे,—वह सारा माल लेकर उड़ता हुआ। उड़ती ख़बर=वह ख़बर जिसकी सच्चाई का निश्चय न हो। बाजारू ख़बर। किंवदंती। उड़ खाना=(१) उड़ उड़ के काटना। धर खाना। (२) अप्रिय लगना। न सुहाना।

उ०—ऐसे सुनिय है बैसाख । जानत हौं जीवन काहे को जतन करो जो लाख । मृग मद मिलै कपूर कुमकुमा केसरि मलया लाख । जरति अगिनि में ज्यों घृत नायो तनु जरि ह्वैहै राख । ता ऊपर लिखि योग पठावत खाहु नीब तजि दाख । सूरदास ऊधो की बतियाँ उड़ि उड़ि बैठी खात ।—सूर ।

उड़प—संज्ञा पुं० [हिं० उड़ना] नृत्य का एक भेद ।
संज्ञा पुं० दे० "उडुप" ।

उड़पति*—संज्ञा पुं० दे० "उडुपति" ।

उड़पाल—संज्ञा पुं० दे० "उडुपाल" ।

उड़राज—संज्ञा पुं० दे० "उडुराज" ।

उड़री—संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़द+ई (प्रत्य०)] एक प्रकार का उरद जो छोटा होता है ।

उड़व—संज्ञा पुं० [सं० ओड़व] (१) रागों की एक जाति जिसमें केवल पाँच स्वर लगें और कोई दो स्वर न लगें । जैसे मधुमाध सारंग,वृंदावनी सारंग—इन दोनों में गांधार और धैवत नहीं लगते, भूपाली जिसमें मध्यम और निषाध नहीं है, तथा मालकोश और हिंडोल जिनमें ऋषभ और पंचम नहीं लगते । (२) मृदंग के बारह प्रबंधों में से एक ।

उड़वाना—क्रि० स० [हिं० 'उड़ाना' का प्रे० रूप] उड़ाने में प्रवृत्त करना ।

उड़ाँक†—वि० [हिं० उड़ना] (१) उड़नेवाला । उड़ंकू । (२) जिसमें उड़ने की योग्यता हो । जो उड़ सकता हो । उ०—छपन छपा के रवि इव भा के दंड उतंग उड़ाँके । विविध कता के, बँधे पताके, छुवैं जे रवि-रथ चाके ।—रघुराज ।

उड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० ओटना] रेशम खोलने का एक औज़ार । यह एक प्रकार का परेता है जिसमें चार परे और छः तीलियाँ होती हैं । तीलियाँ मथानी के आकार की होती हैं । तीलियों के बीच में छेद होता है जिसमें गज़ डाला जाता है ।

उड़ाऊ—वि० [हिं० उड़ना] (१) उड़नेवाला । उड़ंकू । (२) ख़र्च करनेवाला । ख़रची । अमितव्ययी । फ़ज़ूल ख़र्च । जैसे,—वह बड़ा उड़ाऊ है; इसी से उसे अँटता नहीं ।

उड़ाकू—वि० [हिं० उड़ना] उड़नेवाला । जो उड़ सकता हो ।

उड़ान—संज्ञा स्त्री० [सं० उड्डयन] (१) उड़ने की क्रिया । उ०—पंखि न कोई होय सुजानू । जानइ भुगति कि जान उड़ानू ।—जायसी ।
यौ०—उड़ान फल । उड़न फल । उड़ान पदार्थ ।
(२) छलाँग । कुदान । जैसे,–(क) हिरन ने कुत्तों को देखते ही उड़ान मारी । (ख) चार उड़ान में घोड़ा २०मील गया ।
क्रि० प्र०—भरना ।—मारना ।
(३) उतनी दूरी जितनी एक दौड़ में तै कर सकें । उ०—काशी से सारनाथ दो उड़ान है ।* (४) कलाई । गट्टा । पहुँचा । उ०—गोरे उड़ान रही लुभिकै लुभिकै चित माँह बड़ी चटकीली । नीलम तार मिहीं सुकुमार रँगी रचि कंचन बेलि रँगीली । चंचल ह्वै मिलि कंकन संग कहै रतिया बतियान रसीली । मूरति सी स्मराज की राजत नील वधू की चुरी नव नीली ।—गुमान । (५) मालखंभ की एक कसरत जिसमें एक हाथ में बेत दबाकर उसे हाथ से लपेटकर पकड़ते हैं और दूसरे हाथ से ऊपर का भाग पकड़कर पाँव पृथ्वी से उठा लेते हैं और एक बेर आज़माकर उसी प्रकार चढ़ जाते हैं जैसे गड़े हुए मालखंभ पर ।

मुहा०—उड़ानघाई=संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़ान+घाई=उंगलियों के बीच की संधि] धोखा । जुल । चालाकी । (यह शब्द जुआरियों का है । जुआरी जुआ खेलते समय उँगलियों की घाई या गवा में छोटी कौड़ियाँ छिपाए रहते हैं जिसमें फेंकते समय यथेष्ट कौड़ियाँ पड़ें । इसके संग में "बनाना" क्रिया लगती है ।) उड़ान पर्दा=संज्ञा पुं० [हिं०उड़ान+फ़ा० पर्दा] बैलगाड़ी का पर्दा । वह पर्दा जो बैलगाड़ी पर डाला जाता है। उड़ान फल=संज्ञा पुं० दे० "उड़न फल" । उड़ान मारना=बहाना करना । बातों में टालना । जैसे,—तुम इतनी उड़ान क्यों मारते हो; साफ़ साफ़ कह क्यों नहीं डालते ? उड़् उड़् होना=(१) दुरदुरू होना । (२) चारो ओर से बुरा होना । कलंकित होना । बदनाम होना । नक्कू बनना ।

उड़ाना—क्रि० स० [हिं० उड़ना का स० रूप] [प्रे० उड़वाना] (१) किसी उड़नेवाली वस्तु को उड़ने में प्रवृत्त करना । जैसे,—वह कबूतर उड़ाता है । (२) हवा में फैलाना । हवा में इधर उधर छितराना । जैसे—सुगंध उड़ाना, धूल उड़ाना । उ०—(क) होली के दिन लड़के अबीर उड़ाते हैं । (ख) जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं । कहहु तूल केहि लेखे माहीं ।—तुलसी । (ग) जानि कै सुजान कही लै दिखाओ लाल प्यारे नैसुक उघारे पर सुगंध उड़ाइए ।—प्रिया । (३) उड़नेवाले जीवों को भगाना वा हटाना । जैसे,–चिड़ियों को खेत में से उड़ा दो । (४) झटके के साथ अलग करना । चट से पृथक् करना । काटना । गिराकर दूर फेंकना । जैसे,–(क) उसने चाकू से अपनी उँगली उड़ा दी । (ख) मारते मारते खाल उड़ा देंगे । (ग) सिपाहियों ने गोलों से बुर्ज उड़ा दिए । उ०–असि रन धारत जदपि तदपि बहु सिर न उड़ावत ।—गोपाल । (५) हटाना । दूर करना । गायब करना । जैसे—बाजीगर ने देखते देखते रूमाल उड़ा दिया । (६) चुराना । हज़म करना । जैसे,—चोर ने यात्री की गठरी उड़ाई । (७) दूर करना । मिटाना । नष्ट करना । ख़ारिज करना । जैसे,—(क) गुरु ने लड़के का नाम रजिस्टर से उड़ा दिया । (ख) उसने चाकू से छीलकर सब अक्षर उड़ा दिए । (८) ख़र्च करना । बरबाद करना । जैसे,—उसने अपना धन थोड़े दिनों में ही उड़ा दिया । (९)

खाने पीने की चीज़ को ख़ूब खाना पीना। चट करना। जैसे,—वे लोग शराब कबाब उड़ा रहे हैं। (१०) किसी भोग्य वस्तु को भोगना, जैसे—स्त्री-संभोग करना। (११) आमोद-प्रमोद की वस्तु का व्यवहार करना। जैसे,—(क) लोग वहाँ ताश वा शतरंज उड़ाते हैं। (ख) थोड़ी देर रह उसने तान उड़ाई। (१२) हाथ वा हलके हथियार से प्रहार करना। लगाना। मारना। जैसे—चपत उड़ाना, बेत उड़ाना, जूते उड़ाना, दंडे उड़ाना इत्यादि। (१३) भुलावा देना। बात काटना। बात टालना। प्रसंग बदलना। जैसे,—(क) हमें बातों ही में मत उड़ाओ, लाओ कुछ दो। (ख) हम उसी के मुँह से कहलाना चाहते थे; पर उसने बात उड़ा दी। (१४) झूठ मूठ दोष लगाना। झूठी अपकीर्ति फैलाना। जैसे,—व्यर्थ क्यों किसी को उड़ाते हो। (१५) किसी विद्या या कला कौशल को इस प्रकार चुपचाप सीख लेना कि उसके आचार्य्य वा धारणकर्त्ता को ख़बर न हो। जैसे,—जब कि उसने तुम्हें सिखाने से इनकार किया, तब तुमने यह विद्या कैसे उड़ाई। (१६) दौड़ाना। बेग से भगाना। जैसे,—उसने अपना घोड़ा उड़ाया और चलता हुआ।

उड़ायक*—वि० [हिं० उड़ान+क (प्रत्य०)] उड़ानेवाला। उ०—कहा भयौ जो बीछुरे मो मन तो मन साथ। उड़ी जाति कित हूँ गुड़ी तऊ उड़ायक हाथ।—बिहारी।

उड़ाल—संज्ञा पुं० [?] (१) कचनार की छाल। (२) कचनार के छाल की बटी हुई रस्सी जिससे पंजाब में छप्पर छाते हैं।

उड़ास*—संज्ञा स्त्री० [सं० उद्वास] रहने का स्थान। वास-स्थान। महल। उ०—(क) सात खंड धौराहर तासू। सो रानी कहँ दीन उड़ासू।—जायसी। (ख) और नखत चहि के चहुँ पासा। सब रानिन की अहैं उड़ासा।—जायसी।

उड़ासना—क्रि० स० [सं० उद्वासन] (१) बिछौने को समेटना। बिस्तर उठाना। जैसे,—बिस्तर उड़ास दो। *(२) किसी चीज़ को तहस नहस करना। उजाड़ना। उ०—भनै रघुराज राज सिंहन की वासिनी है शासिनी अधिन की यमपुर की उड़ासिनी।—रघुराज। (३) किसी के बैठने या सोने में विघ्न डालना। किसी को स्थान से हटाना। जैसे,—चिड़ियों ने यहाँ बसेरा लिया है, उन्हें मत उड़ासो।

उड़िया—वि० [हिं० उड़ीसा] उड़ीसा देश का रहनेवाला।

उड़ियाना—संज्ञा पुं० [?] एक मात्रिक छंद जिसमें १२ और १० के विश्राम से २२ मात्राएँ होती हैं और अंत में एक गुरु होता है। १२ मात्राएँ इस क्रम से हों कि या तो सब द्विकल या त्रिकल हों, अथवा दो त्रिकल के पीछे तीन द्विकल अथवा तीन द्विकल के पीछे दो त्रिकल हों। उ०—ठुमुकि चलत रामचंद्र बाजत पैजनियाँ। धाय मातु गोद लेत दशरथ की रनियाँ।—तुलसी।

उड़िल—संज्ञा पुं० [सं० ऊर्ण+इल (प्रत्य०)] वह भेड़ जिसका बाल मूड़ा न गया हो। 'मूड़िल' का उलटा।

उड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़ना] मालखंभ की एक प्रकार की कसरत जिससे शरीर में फुरती आती है। इसके तीन भेद हैं। सशस्त्र, सचक्र और साधारण।

उड़ीशा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की बँवर जिससे बोझ बाँधते हैं और झूले का पुल और टोकरा बनाते हैं।

उड़ीसा—संज्ञा पु० [सं०ओड्र+देश] भारतवर्ष का एक समुद्र तटस्थ प्रदेश जो छोटा नागपुर के दक्षिण पड़ता है। उत्कल देश।

उडुंबर—संज्ञा पुं० [सं०] गूलर। ऊमर।

उडु—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नक्षत्र। तारा।

यौ०—उडुगा। उडुपति। उडुराज।

(२) पक्षी। चिड़िया। (३) केवट। मल्लाह।

उडुप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) नाव। (३) घड़नई वा घंड़ई। (४) भिलावाँ। (५) बड़ा गरुड़।

संज्ञा पुं० [हिं० उडना] एक प्रकार का नृत्य। उ०—बहु वर्ण विविधि आलाप कालि। मुख चालि चारु अरु शब्द चालि। बहु उडुप, तियगपति, पति, अड़ाल। अरु लाग, धाउ रायउरँगाल।—केशव।

उडुपति—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

उडुराज—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

उडुस—संज्ञा पुं० [हिं० उडासना वा सं० उद्दंश] खटमल।

उड़ेदंड—संज्ञा पुं० [उडना+दंड] एक प्रकार का दंड। (कसरत) जिसमें सपाट खींचते हुए दोनों पैरों को ऊपर फेंकते हैं।

उड़ेरना*—क्रि० स० दे० "उड़ेलना"।

उड़ेलना—क्रि० स० [सं० उद्धारण=निकालना। अथवा उदीरण=फेंकना] (१) किसी तरल पदार्थ को एक पात्र से दूसरे पात्र में डालना। ढालना। जैसे,—दूध इस गिलास में उड़ेल दो। (२) किसी द्रव पदार्थ को गिराना वा फेंकना। जैसे,—पानी को ज़मीन पर उड़ेल दो।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

उड़ैनी*—संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़ना] जुगनू। खद्योत। उ०—(क) कौंधत रहि जस भादों रैनी। श्याम रैन जनु चलै उड़ैनी।—जायसी। (ख) चमक बीज जस भादों रैनी। जगत दृष्टि भरि रही उड़ैनी।—जायसी।

उड़ौहाँ†—वि० [हिं० उड़ना+औहाँ (प्रत्य०)] उड़नेवाला। उ०—करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन। लाज नवाये तरफरत करत खूँदसी नैन।—बिहारी।

उड्डयन—संज्ञा पुं० [सं०] उड़ना। उड़ान।

उड्डीयन—संज्ञा पुं० [सं०] हठ योग का एक बंध वा क्रिया जिसके द्वारा योगी उड़ते हैं। कहते हैं कि इसमें सुषुम्ना नाड़ी में प्राण

को ठहरा कर पेट को पीठ में सटाते हैं और पक्षियों की तरह उड़ते हैं।

उड्डीयमान-वि० [सं० उड्डीयमत्] [स्त्री० उड्डीयमती] उड़नेवाला। उड़ता हुआ।

क्रि० प्र०—होना=उड़ना।

उढ़ा†-संज्ञा पुं० [हिं० ऊद] वह घास फूस वा चिथड़े का पुतला जो फ़सल को चिड़ियों से बचाने के लिये खेत में गाड़ दिया जाता है। पुतला। बिजूखा।

उढ़कन-संज्ञा पुं० [हिं० उढ़कना] (१) ठोकर। रोक। (२) सहारा। वह वस्तु जिस पर कोई दूसरी वस्तु अड़ी रहे।

उढ़कना-क्रि० अ० [हिं० उढ़कना] (१) अड़ना। ठोकर खाना। जैसे,—देखो उढ़क कर गिरना मत। (२) रुकना। ठहरना। (३) सहारा लेना। टेक लगाना। जैसे,—वह दीवार से उढ़क कर बैठा है।

उढ़काना-क्रि० स० [हिं० उढ़कना] किसी के सहारे खड़ा करना। भिड़ाना। जैसे,—हल को दीवार से उढ़का कर रख दो। उ०—असमसान की भूमि तें गुरु को घर लै आय। गिरदा में उढ़काय के देत भये बैठाय।—रघुराज।

उढ़रना†-क्रि० अ० [सं० ऊढा=विवाहित] विवाहिता स्त्री का किसी अन्य पुरुष के साथ निकल जाना। उ०—मुए चाम से चाम कटावैं भुइँ सँकरी में सोवैं। घाघ कहैं ये तीनों भकुआ उढ़रि जाय औ रोवैं।

उढ़री-संज्ञा स्त्री० [हिं० उढरना] (१) वह स्त्री जो विवाहिता न हो। रखुई। सुरैतिन। (२) वह स्त्री जिसे कोई निकाल ले गया हो।

उढ़ाना-क्रि० स० दे० "ओढ़ाना"।

उढारना-क्रि० स० [हिं० उढरना] किसी अन्य की स्त्री को निकाल लाना। दूसरे की स्त्री को ले भागना।

उढावनी*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० उढ़ाना] चद्दर। ओढ़नी। उ०—उन्होंने आते ही·········रुक्मिणी को·········राता चोला उढावनि बनाय बिठाया।—लल्लू।

उढुकन-संज्ञा पुं० दे० "उढ़कन"।

उढुकना†-क्रि० अ० दे० "उढ़कना"।

उढुकाना†-क्रि० स० दे० "उढ़काना"।

उढ़ौनी*-संज्ञा स्त्री० दे० "ओढ़नी"।

उतंक-संज्ञा पुं० [सं० उत्तङ्क] (१) एक ऋषि जो वेद मुनि के शिष्य थे। (२) एक ऋषि जो गौतम के शिष्य थे।

वि०* [सं० उत्तुंग] ऊँचा। उ०—देवै पाथर भर पुरट तब लेवै निःसंक। इहि बिधान पूजै गिरिहि नर वर बुद्धि उतंक।—गोपाल।

उतंग-वि०[सं०उत्तङ्ग](१)ऊँचा।बलंद।उ०—(क) अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा। कनक कोट कर परम प्रकासा।—तुलसी। (ख) चलन न पावत निगम मग, जग उपज्यो अति त्रास। कुच उतंग गिरिवर गह्यो मीना मैन मवास।—बिहारी। (२) श्रेष्ठ। उच्च। उ०—अति उतंग कुल बाम सन, जो बिहरै मतिमंद। तासु भाल बिच होइ ब्रन, बहु कराल दुख कंद।—रामाश्वमेध।

उतंत*-वि० [सं० उन्नत वा उत्तप्त=ऊँचा] सयाना। जवान। बड़ा। उ०—भइ उतंत पदमावति बारी। रचि रचि बिधि सब कला सँवारी।—जायसी।

उत्-उप० दे० "उद्"

उत*†-क्रि० वि० [सं० अत्र। अथवा उत्तर। अथवा हिं० उस+त (प्रत्य०)] वहाँ। उधर। उस ओर। उ०—इत उत सोभित सुन्दरि डोलैं। अर्थ अनेकनि बोलनि बोलैं।—केशव।

उतथ्य-संज्ञा पुं० [सं०] अंगिरस गोत्र के एक ऋषि जो बृहस्पति के भाई थे। इनके बनाए बहुत से मंत्र वेदों में हैं।

यौ०—उतथ्यानुज=बृहस्पति।

उतन*-क्रि० वि० [सं० उ+तनु] उस तरफ़। उस ओर। उ०—उतन ग्वालि तू कित चली ये उनये घन घोर। हौं आयौं लखि तुव घरै पैठत कारो चोर।

उतना-वि० [हिं० उस+तन (हिं० प्रत्य० सं० 'तावान्' से)] उस मात्रा का। उस क़दर। जैसे,—बालकों को जितना आराम माता दे सकती है उतना और कोई नहीं।

क्रि० वि० उस परिमाण से। उस मात्रा से। जैसे,—अरे भाई उतना ही चलना जितना तुम चल सको।

उतन्ना-संज्ञा पुं० [हिं० उतरना] एक प्रकार की बाली जो कान के ऊपरी भाग में पहिनी जाती है।

उतपन्न*†-वि० दे० "उत्पन्न"।

उतपात*†-संज्ञा पुं० दे० "उत्पात"।

उतपानना*-क्रि० स० [सं० उत्पन्न] उत्पन्न करना। उपजाना। पैदा करना। उ०—तासों मिलि नृप बहु सुख माने। षष्ट पुत्र तासों उतपाने।—सूर।

क्रि० अ० उत्पन्न होना।

उतमंग*-संज्ञा पुं० दे० "उत्तमांग"।

उतरंग-संज्ञा पुं० [सं० उत्तरंग] लकड़ी वा पत्थर की पटरी जो दरवाज़ों में साह के ऊपर बैठाई जाती है।

उतर*-संज्ञा पुं० दे० "उत्तर"।

उतरन†-संज्ञा स्त्री० [हिं० उतरना] (१) पहने हुए पुराने कपड़े। (२) दे० "उतरंग"।

उतरन पुतरन†-संज्ञा स्त्री० [हिं० उतरना+अनु] उतारे हुए पुराने वस्त्र।

उतरना-क्रि० अ० [सं० अवतरण, प्रा० उत्तरण][क्रि० स० उतारना। प्रे० उतरवाना] (१) अपनी चेष्टा से ऊपर से नीचे आना। ऊँचे स्थान से सँभलकर नीचे आना। जैसे—घोड़े से उतरना।

चारपाई से उतरना। कोठे पर से उतरना इत्यादि। (२) ढलना। अवनति पर होना। घटाव पर होना। ह्रासोन्मुख होना। जैसे,—(क) उसकी अब उतरती अवस्था है। (ख) नदी अब उतर गई है। (३) शरीर में किसी जोड़, नस या हड्डी का अपनी जगह से हट जाना। जैसे,—(क) उसका कूला उतर गया। (ख) यहाँ की नस उतर गई है। (४) कांति वा स्वर का फीका पड़ना। बिगड़ना वा धीमा पड़ना। जैसे,—(क) धूप खाते खाते इसका रंग उतर गया है। (ख) ये आम अब उतर गए हैं, खाने योग्य नहीं हैं। (ग) उसका चेहरा उतर गया है। (घ) देखो स्वर कैसा उतरता चढ़ता है। (५) किसी उग्र प्रभाव वा उद्वेग का दूर होना, जैसे—नशा उतरना। गुस्सा उतरना। ज्वर उतरना। विष उतरना। (६) किसी निर्दिष्ट कालविभाग जैसे वर्ष, मास वा नक्षत्र विशेष का समाप्त होना। जैसे,—(क) आषाढ़ उतरते उतरते वे आ जायँगे। (ख) शनि की दशा अब उतर रही है।

विशेष—दिन वा उससे छोटे कालविभाग के लिये "उतरना" का प्रयोग नहीं होता; जैसे यह नहीं कहा जाता कि "सोमवार उतर गया" वा 'एकादशी उतर गई'।

(७) किसी ऐसी वस्तु का तैयार होना जो सूत वा उसी प्रकार की और किसी अखंड सामग्री के थोड़े थोड़े अंश को किसी स्थिति में बराबर बैठाते जाने से तैयार हो। सूई तागे आदि से बननेवाली चीज़ों का तैयार होना। जैसे—मोज़ा उतरना, थान उतरना, कसीदा उतरना। उ०—चार दिनों के बाद आज यह मोज़ा उतरा है। (८) ऐसी वस्तु का तैयार होना जो खराद वा साँचे पर चढ़ाकर बनाई जाय। (९) भाव का कम होना। जैसे,—गेहूँ का भाव आज कल उतर गया है। (१०) डेरा करना। ठहरना। टिकना। जैसे,—जब आप बनारस आइए तब मेरे यहाँ उतरिये। (११) नक़ल होना। खींचना। अंकित होना। जैसे,—(क) तुम्हारी तसवीर कहाँ उतरेगी। (ख) ये सब कविताएँ तुम्हारी कापी पर उतरी हैं। (१२) बच्चों का मर जाना। जैसे,—उसके बच्चे हो होकर उतर जाते हैं। (१३) भर आना। संचारित होना, जैसे—नजला उतरना। दूध उतरना। पोता में पानी उतरना। उ०—इसकी माँ के थनों में दूध ही नहीं उतरता। (१४) फलों का पकने पर तोड़ा जाना। जैसे,—तुम्हारी ओर ख़रबूज़े उतरने लगे वा नहीं? (१५) भभके में खिंचकर तैयार होना। खौलते पानी में किसी वस्तु का सार उतरना। जैसे,—(क) यहाँ अर्क किस जगह उतरता है? (ख) अभी कुसुम का रंग अच्छी तरह नहीं उतरा, और खौलाओ। (ग) अभी चाय अच्छी तरह नहीं उतरी। (१६) लगी वा लिपटी वस्तु का अलग होना। सफ़ाई के साथ कटना। उचड़ना। उधड़ना। जैसे,—(क) क़लम बनाते हुए उसकी उँगली उतर गई। (ख) एक ही हाथ में बकरे का सिर उतर गया। (ग) बकरे की खाल उतर गई। (१७) धारण की हुई वस्तु का अलग होना। जैसे,—उसके शरीर पर से सब कपड़े लत्ते उतर गए। (१८) तौल में ठहरना। जैसे,—देखें यह चीज़ तौलने पर कितनी उतरती है। (१९) किसी बाजे की कसन का ढीला होना जिससे उसका स्वर विकृत हो जाता है, जैसे—सितार उतरना, पखावज उतरना, ढोल उतरना। (२०) जन्म लेना। अवतार लेना। जैसे,—तुम क्या सारे संसार की विद्या लेकर उतरे हो? (२१) सामने आना। घटित होना। जैसे,—जैसा तुम करोगे, वैसा तुम्हारे आगे उतरेगा। (२२) कुश्ती वा युद्ध के लिये अखाड़े वा मैदान में आना। जैसे,—(क) अखाड़े में अच्छे अच्छे पहलवान उतरे हैं। (ख) यदि हिम्मत हो तो तलवार लेकर उतर आओ। (२३) आदर के निमित्त किसी वस्तु का शरीर के चारों ओर घुमाया जाना। जैसे,—आरती उतरना, न्यौछावर उतरना। (२४) शतरंज में किसी प्यादे का कोई बड़ा मोहरा बन जाना। जैसे,—फ़रज़ी उतरा और मात हुई। (२५) वसूल होना। जैसे,—(क) कितना चंदा उतरा? (ख) हमारा सब लहना उतर आया। (२६) स्त्री-संभोग करना (अशिष्टों की भाषा) (२७) आग पर चढ़ाई जानेवाली चीज़ का पक कर तैय्यार होना, जैसे—पूरी उतरना। पाग उतारना।

मुहा०—उतरकर=निम्न श्रेणी का। नीचे दरजे का। जैसे,—वह जाति में मुझसे उतरकर है। गले में उतरना अथवा गले के नीचे उतरना=(१) निगला जाना। जैसे,—क्या करें, दवा गले के नीचे उतरती ही नहीं। (२) मन में धँसना। चित्त में असर करना। जैसे,—हमारी कही बातें तो उसके गले के नीचे उतरती ही नहीं। चित्त से उतरना=(१) विस्मृत होना। भूल जाना। (२) नीचा जँचना। अप्रिय लगना। अश्रद्धा भाजन होना। जैसे,—उसकी चाल ही ऐसी है कि वह सबके चित्त से उतर जायगा। चेहरा उतरना=मुख मलिन होना। मुख पर उदासी छाना। जैसे,—उनका चेहरा आज हमने उतरा देखा। चेहरे का रंग उतरना—दे० "चेहरा उतरना"।

क्रि० स० [सं० उत्तरण] नदी, नाले वा पुल का पार करना। उ०—लखन दीख पय उतरि करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा।—तुलसी।

उतरवाना—क्रि० स० [हिं० उतरना का प्रे० रूप]

उतरहा—वि० [हिं० उत्तर+हा (प्रत्य०)] [स्त्री० उतरही] उत्तरवाला। उत्तर का।

उतराई—संज्ञा स्त्री० [हिं० उतरना] (१) ऊपर से नीचे आने की क्रिया। (२) नदी के पार उतारने का महसूल। उ०—कहो कृपालु लेहु उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई।—तुलसी।

उतराना–क्रि० अ० [सं० उत्तरण] (१) पानी के ऊपर आना। पानी की सतह पर तैरना। जैसे,—काग इतना हलका होता है कि पानी में डालने से उतराता रहता है। (२) उबलना। उफान खाना। उ०—ताही समय दूध उतराना। दौरी तुरत उतार न जाना।—विश्राम। (३) पीछे पीछे लगे फिरना। जैसे,—यह बच्चा कहना नहीं मानता, साथ ही साथ उतराता फिरता है। (४) प्रकट होना। हर जगह दिखाई देना। इधर उधर बहका फिरना। जैसे,—आज कल शहर में काबुली बहुत उतराए हैं। उ०—घायल ह्वै करसायल ज्यों मृग त्यों उतही उतरायल घूमै।—देव। (५) 'उतारना' क्रिया का प्रे० रूप।

उतरायल*–वि० [हिं० उतारना] उतारा हुआ। व्यवहार किया हुआ। पुराना। जैसे—उतरायल कपड़े।

उतरारी†*–वि० [सं० उत्तर+हिं०=वारी] उत्तर की (हवा)।

उतराव–संज्ञा पुं० [हिं० उतरना] उतार। ढाल। उ०—शिमला, मंसूरी इत्यादि स्थानों में जहाँ सरकार ने पत्थर काटकर सड़कें निकाल दी हैं, वहाँ चढ़ाव उतराव तो अवश्य रहता है, पर लोग बे-खटके घोड़े दौड़ाते चले जाते हैं।—शिवप्रसाद।

उतरावना*–क्रि० स० हिं० "उतारना" का प्रे० रूप।

उतराहा†–क्रि० वि० [सं० उत्तर+हा (प्रत्य०)] उत्तर की ओर। उ०—मिथुन तुला कुंभ पछाहाँ। करक मीन बिरछिक उतराहा।—जायसी।

उतरिन*†–वि० दे० "उऋण"।

उतलाना*†–क्रि० अ० [हिं० आतुर] जल्दी करना। उ०—चली तब धाई लछमन पाँव छुवे जाई बोली मुसकाय एक बात कहाँ भावती। बरवे के काज राम तुम पै पठाई हौं गजानन मनाय आई ताते उतलावती।—हनुमान।

उतला–वि० दे० "उतायल"।

उतवंग*–संज्ञा पुं० [सं० उत्तमंग] मस्तक। सिर।—डिं०।

उतसहकंठा*–संज्ञा स्त्री० [सं० उत्कंठा] प्रबल इच्छा। उत्कंठा। उ०—शरद सुहाई आई राति। दुहुँ दिस फूल रही बन जाति।·········उतसहकंठा हरि सो बढ़ी।—सूर।

उताइल*–वि० दे० "उतायल"।

उताइली*–संज्ञा स्त्री० दे० "उतायली"।

उतान–वि० [सं० उत्तान] पीठ को ज़मीन पर लगाए हुए। चित। सीधा। उ०—उमा रावनहिं अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना।—तुलसी।

उतायल*–वि० [सं० उत्+त्वरा] जल्दी। शीघ्र। तेज। उ०—जब सुमिरत रघुबीर सुभाऊ। तब पथ परत उतायल पाऊ।—तुलसी।

उतायली–संज्ञा स्त्री० [सं० उत्+त्वरा] जल्दी। शीघ्रता। उ०—श्याम सकुच प्यारी उर जानी।············करत कहा पिय अति उतायली मैं कहुँ जात परानी।—सूर।

उतार–संज्ञा पुं० [हिं० उतरना] (१) उतरने की क्रिया। (२) क्रमशः नीचे की ओर प्रवृत्ति। ढाल। जैसे,—पहाड़ का उतार।

यौ०—उतार चढ़ाव=ऊँचाई नीचाई। उतार सुतार=गौं। सुबीता।

मुहा०—उतार चढ़ाव बताना=(१) ऊँचा नीचा समझाना। (२) धोखा देना।

(३) उतरने योग्य स्थान। जैसे,—पहाड़ के उस तरफ़ उतार नहीं है, मत जाओ। (४) किसी वस्तु की मोटाई वा घेरे का क्रमशः कम होना। जैसे,—इस छड़ी का चढ़ाव उतार बहुत अच्छा है। (५) किसी क्रमशः बढ़ी हुई वस्तु का घटना। घटाव। कमी। जैसे,—नदी अब उतार पर है। (६) नदी में हल कर पार करने योग्य स्थान। हिलान। जैसे,—यहाँ उतार नहीं है; और आगे चलो। (७) समुद्र का भाटा। (८) दरी के करघे का पिछला बाँस जो बुननेवाले से दूर और चढ़ाव के समानांतर होता है। (९) उतारन। निकृष्ट। उ०—अपत, उतार, अपकार को अगार, जग जाकी छाँह छुए सहमत ब्याध बाधको।—तुलसी। (१०)* उतारा। न्योछावर। सदक़ा। (११) उस वस्तु का प्रयोग जिससे विष आदि का दोष वा और कोई उत्पन्न प्रभाव दूर हो। परिहार। जैसे,—(क) हींग अफीम का उतार है। (ख) इस मंत्र का उतार क्या है? (१२) वह अभिचार जो अपने मंगल के लिये किसान करते हैं। इसमें वे एक दिन गाँव के बाहर रहते हैं।

उतारन–संज्ञा पुं० [हिं० उतारना] (१) उतारा हुआ कपड़ा। वह पहिरावा जो धारण करते करते पुराना हो गया हो। जैसे,—आपकी उतारन पुतारन मिल जाय। (२) न्योछावर। उतारा। (३) निकृष्ट वस्तु।

उतारना–क्रि० स० [सं० अवतरण] (१) ऊँचे स्थान से नीचे स्थान में लाना। उ०—अहे दहेंडी जिन धरै जिन तू लेइ उतारि। नीके है छीको छुए ऐसे ही रह नारि।—बिहारी। (२) किसी वस्तु का काग़ज़ इत्यादि पर प्रतिरूप बनाना। (चित्र) खींचना। जैसे,—यह मनुष्य बहुत अच्छी तसवीर उतारता है। (३) लेख की प्रतिलिपि लेना। लिखावट की नक़ल करना। जैसे,—इस पुस्तक की एक प्रति उतारकर अपने पास रख लो। (४) लगी वा लिपटी हुई वस्तु का अलग करना। सफ़ाई के साथ काटना। उचाड़ना। उधेड़ना। उ०—(क) अश्वत्थामा तब तहँ आए। द्रौपद सुत तहँ सोवत पाए। उनको सिर लै गयो उतारि। कह्यो दुर्योधन आयो मारि।—सूर। (ख) सिर सरोज निज करन उतारी। पूजे अमित बार त्रिपुरारी।—तुलसी। (ग) बकरे की खाल

उतार लो। (घ) दूध पर से मलाई उतार लो। (५) किसी धारण की हुई वस्तु को दूर करना। पहनी हुई चीज को अलग करना। जैसे,—(क) कपड़े उतार डालो। (ख) अँगूठी कहाँ उतारकर रक्खी ? (६) ठहराना। टिकाना। डेरा देना। जैसे,—इन लोगों को धर्मशाला में उतार दो। (७) आदर के निमित्त किसी वस्तु को शरीर के चारों ओर घुमाना, जैसे—आरती उतारना, न्योछावर उतारना, राई लोन उतारना। (८) उतारा करना। किसी वस्तु को मनुष्य के चारों ओर घुमाकर भूत प्रेत की भेंट के रूप में चौराहे आदि पर रखना। (९) न्योछावर करना। वारना। उ०—वारिये गौन में सिंधुर सिंहिनि, शारद नीरज नैनन वारिए। वारिए मत्त महा वृष ओजहिं चंद्रछटा मुसुकान उतारिए।—रघुराज। (१०) चुकाना। अदा करना। जैसे,—पहले अपने ऊपर से ऋण तो उतार लो, तब तीर्थ-यात्रा करना। (११) वसूल करना। जैसे,—(क) पुस्तकालय का सब चंदा उतार लाओ, तब तनख़ाह मिलेगी। (ख) हम अपना सब लहना उतार लेंगे, तब यहाँ से जायँगे। (ग) उसने इधर उधर की बातें करके हम से १००) उतार लिए। (१२) किसी उग्रप्रभाव का दूर करना। जैसे—नशा उतारना, विष उतारना। (१३) निगलना। जैसे,—इस दवा को पानी के साथ उतार जाओ। *(१४) जन्म देना। उत्पन्न करना। उ०—दियो शाप भारी, बात सुनी न हमारी, घटिकुल में उतारी, देह सोई याको जानिए।—प्रिया। (१५) किसी ऐसी वस्तु का तैयार करना जो सूत वा उसी प्रकार की और किसी अखंड सामग्री के थोड़े थोड़े अंश को किसी स्थिति में बराबर बैठाते जाने से तैयार हो। सूई तागे आदि से बननेवाली चीज़ों का तैयार करना। जैसे,—मोज़ा उतारना। थान उतारना। क़सीदा उतारना। उ०—जोलाहे ने कल चार थान उतारे। (१६) ऐसी वस्तु का तैयार करना जो खराद, साँचे वा चाक आदि पर चढ़ा कर बनाई जाय। जैसे—चाक पर से बरतन उतारना। कालिब पर से टोपी उतारना। उ०—(क) कुम्हार ने दिन भर में १०० हँडियाँ उतारीं। (ख) केशोदास कुंदन के कोश ते प्रकाशमान चिंतामणि ओपनी सों ओपि कै उतारी सी। (१७) बाजे आदि की कसन को ढीला करना। जैसे—सितार और ढोल को उतार कर रख दो। (१८) भभके से खींचकर तैयार करना। खौलते पानी में किसी वस्तु का सार उतारना। जैसे,—(क) वह शराब उतारता है। (ख) हम कुसुम का रंग अच्छी तरह उतार लेते हैं। (१९) शतरंज में प्यादे को बढ़ाकर कोई बड़ा मोहरा बनाना। (२०) स्त्री का संभोग करना। (अशिष्टों की भाषा) (२१) तौल में पूरा कर देना। जैसे,—वह तौल में सेर का सवा सेर उतार देता है। (२२) आग पर चढ़ाई जाने-वाली चीज़ का पकाकर तैयार करना। जैसे—पूरी उतारना। पाग उतारना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

क्रि० स० [सं० उत्तारण] पार ले जाना। नदी नाले के पार पहुँचाना। उ०—बरु तीर मारहिं लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं। तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं।—तुलसी।

उतारा—संज्ञा पुं० [हिं० उतरना] (१) डेरा डालने वा टिकने का कार्य्य। उ०—बाग ही में पथिक उतारो होत आयो है।—दूलह। (२) उतरने का स्थान। पड़ाव। (३) नदी पार करने की क्रिया।

संज्ञा पुं० [हिं० उतारना] (१) प्रेत-बाधा वा रोग की शांति के लिये किसी व्यक्ति के शरीर के चारों ओर खाने पीने आदि की कुछ सामग्री को घुमाकर चौराहे वा और किसी स्थान पर रखना। उ०—कहुँ रूसत रोवत नहिं सोवत रगवाए न रगाहीं। घी के तुला करावहिं जननी विविध उतार कराहीं।—रघुराज।

क्रि० प्र०—उतारना।—करना।

(२) उतारे की सामग्री वा वस्तु।

उतारू—वि० [हिं० उतरना] उद्यत। तत्पर। सन्नद्ध। तैयार। मुस्तैद। जैसे,—इतनी ही सी बात के लिये वे मारने पर उतारू हुए।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

संज्ञा पुं० मुसाफ़िर।—लश०।

उताल*—क्रि० वि० [सं० उद्+त्वर] जल्दी। शीघ्र। उ०—(क) कहै न जाइ उताल जहाँ भूपाल तिहारो। हौं वृंदाबन चंद्र कहा कोउ करै हमारो?—सूर। (ख) कहै धाय मिलाय के आव उताल तू गाय गोपाल की गाइन में।—रघुनाथ।

संज्ञा स्त्री० शीघ्रता। जल्दी। उ०—(क) ज्यों ज्यों आवनि निकट निसि त्यों त्यों खरी उताल।—बिहारी। (ख) कहै शिव कवि दबि काहे को रही है, बाम ! घाम तें पसीना भयो ताको सियराय ले। बात कहिबे में नंदलाल की उताल कहा ? हाल तो, हरिननैनी ! हफनि मिटाय ले।—शिव।

उताली*—संज्ञा स्त्री० [हिं० उताल] शीघ्रता। जल्दी। उतावली। चपलता। फुर्त्ती। उ०—गोपी ग्वाल माली जुरे आपुस में कहैं आली कोऊ जसुदा के अवतार्‍यो इंद्रजाली है। कहै पद्माकर करै को यौं उताली जापै रहन न पावै कहूँ एकौ फन खाली है।—पद्माकर।

क्रि० वि० शीघ्रता के साथ। जल्दी से। उ०—रूसि कहूँ कढ़ि माली गयो गई ताहि मनावन सासु उताली।—पद्माकर।

उतावल*—क्रि० वि० [सं० उद्+त्वर] जल्दी जल्दी। शीघ्रता से। उ०—नंद यशोदा सब ब्रजवासी। अपने अपने शकट

साज के मिलव चले अविनाशी। कोउ गावत कोउ बेनु बजावत कोऊ उतावल धावत। हरि दर्शन लालसा कारनै विविध मुदित सब आवत।—सूर।

वि० दे० "उतावला"।

उतावला—वि० [सं० उद्+त्वर] [स्त्री० उतावली] (१) जल्दी मचानेवाला। जिसे जल्दी हो। जल्दबाज। हड़बड़ी मचानेवाला। चंचल। उ०—(क) पानी हू ते पातला धुआँ हू ते झीन। पवनहु बेग उतावला दोस्त कबीरा कीन।—कबीर। (ख) अरे मन! तू उतावला मत हो। धीरज धर। तेरे हित की अनसूया ही पूछ रही है।—लक्ष्मण। (२) व्यग्र। घबराया हुआ। उत्सुक। उ०—क्या जाने उतावला होकर बहलाने के लिये उसने बाजे में कुंजी दे रक्खी हो।—अयोध्या।

उतावली—संज्ञा स्त्री० [सं० उद्+त्वर] (१) जल्दी। शीघ्रता। जल्दबाज़ी। हड़बड़ी। उ०—(क) दानव वृषपर्वा बल भारी। नाम शर्मिष्ठा तासु कुमारी।······बसन शुक्र तनया के लीन्हें। करत उतावलि परत न चीन्हें।—सूर। (ख) उनको कई तीर्थों में जाना है; इसीलिये वह उतावली कर रहे हैं।—अयोध्या। (२) व्यग्रता। चंचलता।

वि० स्त्री० जिसे जल्दी हो। जो जल्दी में हो। शीघ्रता करनेवाली। उ०—(क) सैन दै प्यारी लई बोलाई। प्रातहि धेनु दुहावन आई अहिर नहीं तहँ पाई। तबहिं भई मैं ब्रज उतावली लाई ग्वाल बोलाई।—सूर। (ख) आजु अकेली उतावली हौं पहुँची तट लों तुम आई करार में। बाल सखीन के हा हा किए मन कैहूँ दियो जलकेलि बिहार में।—सुंदरीसर्वस्व।

उताहल*—क्रि० वि० [सं० उद्+त्वर] शीघ्रता से। तेज़ी से। चपलता से। उ०—गुरु मेहदी सेवक मैं सेवा। चलै उताहल जेहि कर खेवा।—जायसी।

वि० उतावला।

उताहिल*—क्रि० वि० दे० "उतावल"।

उतृण—वि० [सं० उद्+ऋण] (१) ऋण से मुक्त। उऋण। अनृण। उ०—हाय किस भाँति उस पिता के धर्म ऋण से मैं उतृण होऊँ।—तोताराम। (२) जिसने उपकार का बदला चुका दिया हो। उ०—आप अपना आधा धन भी उसको दे देवें, तब भी उसके उपकार से उतृण नहीं हो सकते।—शिवप्रसाद।

उतै*†—क्रि०वि० [हिं० उत] वहाँ। उधर। उस ओर।

उतैला*†—क्रि० वि० दे० "उतावला"।

संज्ञा पुं० [देश०] उर्द। माष।

उत्कंठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० उत्कंठित] (१) प्रबल इच्छा। तीव्र अभिलाषा। लालसा। चाव। उ०—भई उतकंठा भारी आए श्री बिहारीलाल मुरली बजाई कै सु कियो भायो जी को है।—प्रिया। (२) रस में एक संचारी का नाम। किसी कार्य्य के करने में विलंब न सहकर उसे चटपट करने की अभिलाषा। उ०—फिरि फिरि बूझति कहि कहा कह्यो साँवरे गात। कहा करत देखे कहाँ अली चली क्यों बात।—बिहारी।

उत्कंठित—वि० [सं०] उत्कंठायुक्त। उत्सुक। उत्साहित। चाव से भरा हुआ।

उत्कंठिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] संकेत स्थान में प्रिय के न आने पर वितर्क करनेवाली नायिका। उ०—नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन। रति पाली आली अनत आए बनमाली न।—बिहारी।

उत्कंप—संज्ञा पुं० [सं०] कँपकँपी।

उत्कच—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसके बाल खड़े हों। (२) हिरण्याक्ष के नौ पुत्रों में से एक। (३) परावसु गंधर्व के नव पुत्रों में से एक।

उत्कट—वि० [सं०] तीव्र। विकट। कठिन। उग्र। प्रचंड। दुःसह। प्रबल।

उत्कर्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ाई। प्रशंसा। (२) श्रेष्ठता। उत्तमता। अधिकता। बढ़ती। (३) समृद्धि। परिपूर्णता। (४) किसी नियत तिथि के विधान को टालकर किसी दूसरी तिथि पर करना।

उत्कर्षता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्रेष्ठता। बड़ाई। उत्तमता। (२) अधिकता। प्रचुरता। (३) समृद्धि।

उत्कल—संज्ञा पुं० [सं०] एक देश जिसे अब उड़ीसा कहते हैं।

यौ०—उत्कलखंड=स्कंदपुराण का एक भाग।

उत्कलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उत्कंठा। (२) फूल की कली। (३) तरंग। लहर। (४) वह गद्य जिसमें बड़े बड़े समासवाले पद हों।

उत्का—संज्ञा स्त्री० दे० "उत्कंठिता"।

उत्काका—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाय जो प्रति वर्ष बच्चा दे। बरसाइन गाय।

उत्कीर्ण—वि० [सं०] लिखा हुआ। खुदा हुआ। छिदा हुआ। विधा हुआ। उ०—गवर्नमेंट ने पंडितजी की विद्वत्ता की प्रशंसा उत्कीर्ण कराकर एक सोने का पदक उनको पुरस्कार में दिया।—सरस्वती।

उत्कीर्त्तन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्कीर्त्तित] प्रशंसा।

उत्कुण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मत्कुण। खटमल। उड़ुस। (२) बालों का कीड़ा। जूँ।

उत्कृति—संज्ञा पुं० [सं०] २६ वर्णों के वृत्तों का नाम। सुख और विजृंभित इत्यादि छंद इन्हीं के अंतर्गत हैं।

वि० छब्बीस (संख्या)।

उत्कृष्ट—वि० [सं०] उत्तम। श्रेष्ठ। अच्छे से अच्छा। सर्वोत्तम।

उत्कृष्टता—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ाई। श्रेष्ठता। अच्छापन। बड़प्पन।

उ०—यह मनुष्य जिससे वेनिस के प्रत्येक निवासी को घृणा है, जिसके निकट महत्व और शानिप कोई उत्कृष्टता नहीं रखता, जो वृद्ध और युवा सब पर कराघात करने को उद्यत है······।—अयोध्या।

उत्केंद्रकशक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] केंद्र से दूर फेंकनेवाली शक्ति। यह शक्ति ज़ोर से चक्कर मारती हुई वस्तुओं में उत्पन्न हो जाती है जिससे उस वस्तु का कोई खंडित अंश अथवा ऊपर रक्खी हुई कोई और चीज़ उसके केंद्र से बाहर की ओर वेग से जाती है; जैसे—पहिए में लगा हुआ कीचड़ गाड़ी के चलते समय दूर जा पड़ता है।

उत्कोच–संज्ञा पुं० [सं०] घूँस। रिशवत।
यौ०—उत्कोचग्राही। उत्कोचजीवी।

उत्कोचक–वि० [सं०] [स्त्री० उत्कोचिका] घूँसखोर। रिशवत खानेवाला।

उत्क्रम–संज्ञा पुं० [सं०] उलट पलट। क्रमभंग। विपर्य्यय।

उत्क्रमण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्क्रमणीय] (१) क्रम का उल्लंघन। (२) मरण। मृत्यु।

उत्क्रांति–संज्ञा स्त्री० [सं०] क्रमशः उत्तमता और पूर्णता की ओर प्रवृत्ति। दे० "आरोह"।
यौ०—उत्क्रांतिवाद।

उत्क्लेदन–संज्ञा पुं० [सं०] तर या गीला करना।
यौ०—उत्क्लेदन-वस्ति=तरी पहुँचाने की इच्छा से उपयुक्त ओषधियों के क्वाथ पिचकारी द्वारा वस्ती में पहुँचाना।

उत्क्षेपक–संज्ञा पुं० [सं०] वस्त्रादि का चोर।—(स्मृति)।

उत्क्षेपण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चुराना। चोरी। (२) ऊपर की ओर फेंकना। (३) सोलह पण की एक माप। (४) पंखा। (५) किसी वस्तु का ढकना। पिहान। (६) मूसल, मुँगरी, वा पिटना इत्यादि जिससे अन्न पीटा जाता है। (७) सूप।

उत्खात–वि० [सं०] उखाड़ा हुआ।

उत्खाता–वि० [सं०] उखाड़नेवाला। खोदनेवाला। उ०—नख अरु दंत अस्त्र हैं जिनके सकल अस्त्र के ज्ञाता। मंदर मेरु डुलावन वारे महा द्रुमन उतखाता।—रघुराज।

उत्तंग*–वि० दे० "उत्तुंग"।

उत्तंस*–संज्ञा पुं० दे० "अवतंस"।

उत्त*–संज्ञा पुं० [सं० उत्] (१) आश्चर्य। (२) संदेह। उ०—मेरे मन उत्तरी तू कैसे कर उतरी है मुंदरी तू कैसे करि उतरी समुंदरी।—हनुमान।
क्रि० वि० दे० "उत"।

उत्तप्त–वि० [सं०] (१) ख़ूब तपा हुआ। (२) दुःखी। क्लेशित। क्षुब्ध। पीड़ित। संतप्त। (३) क्रोधित। कुपित।

उत्तम–वि० [सं०] [स्त्री० उत्तमा] श्रेष्ठ। सब से अच्छा। सब से भला।
यौ०—उत्तमगंधा। उत्तमश्लोक। उत्तमांग। उत्तमाम्भस। उत्तमोत्तम।
संज्ञा पुं० [सं०] छोटी रानी सुरुचि से उत्पन्न राजा उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव का सौतेला भाई।

उत्तमगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] चमेली। उ०—सुमना, जाती, मल्लिका, उत्तमगंधा आस। कछु तुव तन की बास तें मिलत मालती बास।—नंददास।

उत्तमश्लोक–वि० [सं०] यशस्वी। कीर्तिमान्।
संज्ञा पुं० (१) सुयश। उत्तम कीर्ति। पुण्य। यश। (२) भगवान्। नारायण। विष्णु।

उत्तमतया–क्रि०वि० [सं०] अच्छी तरह से। भली भाँति से।

उत्तमता–संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रेष्ठता। उत्कृष्टता। ख़ूबी। भलाई।

उत्तमताई*–संज्ञा स्त्री० [सं०] भलाई। बड़ाई। बड़प्पन। उ०—बनिक लहत सुनि धन अधिकाई। लहत सूद्र कुल उत्तमताई।—पद्माकर।

उत्तमत्व–संज्ञा पुं० [सं] अच्छापन। भलाई।

उत्तम पुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में वह सर्वनाम जो बोलने वाले पुरुष को सूचित करता है; जैसे "मैं", "हम"।

उत्तमर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] ऋण देनेवाला व्यक्ति। महाजन।

उत्तमसाहस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक हज़ार पण के जुरमाने का दंड (२) कोई बड़ा दंड, जैसे—शूली, फाँसी, जायदाद का ज़ब्त होना, अंगभंग, देशनिकाला इत्यादि।

उत्तमांग–संज्ञा पुं० [सं०] सिर। शीर्ष। मस्तक।

उत्तमांभस–संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य मतानुसार नौ प्रकार की तुष्टियों में से एक जो हिंसा के त्याग से होती है। योग की परिभाषा में इसे सार्वभौम महाव्रत कहते हैं।

उत्तमा–वि० [सं० उत्तम का स्त्री०] अच्छी। भली।
संज्ञा स्त्री० (१) पुरी विशेष। (२) शूक रोग के १८ भेदों में से एक जिसमें अजीर्ण तथा रक्त पित्त के प्रकोप से इंद्रिय पर मूँग या उर्द की सी लाल फुंसियाँ हो जाती हैं।

उत्तम दूती–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह दूती जो नायक वा नायिका को मीठी बातों से समझा बुझाकर मना लावे।

उत्तमा नायिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्वकीया नायिका जो पति के प्रतिकूल होने पर भी स्वयं अनुकूल बनी रहे।

उत्तमोत्तम–वि० [सं०] अच्छे से अच्छा। सर्वोत्तम।

उत्तमौजा–वि० [सं० उत्तमौजस्] जिसका बल वा तेज उत्तम हो।
संज्ञा पुं० (१) मनु के दस लड़कों में से एक। (२) युधामन्यु का भाई एक राजा जो पांडवों का पक्षपाती था।

उत्तर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दक्षिण दिशा के सामने की दिशा। ईशान और वायव्य कोण के बीच की दिशा। उदीची। (२) किसी प्रश्न वा बात को सुनकर उसके समाधान के लिये कही हुई बात। जवाब। उ०—लघु आनन उत्तर देत बड़ो लरिहै मरिहै करिहै कछु साको। गोरो, गरूर, गुमान

भरो कहो कौशिक ! छोटो सो छोटो है का को ।—तुलसी । जैसे,—हमारे पत्र का उत्तर अभी नहीं आया । (३) प्रतीकार । बदला । जैसे,—हम गालियों का उत्तर घूँसों से देंगे । (४) एक वैदिक गीत । (५) राजा विराट का पुत्र । (६) एक काव्यालंकार जिसमें उत्तर के सुनते ही प्रश्न का अनुमान किया जाता है अथवा प्रश्नों का ऐसा उत्तर दिया जाता है जो अप्रसिद्ध हो । उ०—(क) धेनु धूमरी रावरी, ह्याँ कित है यदुवीर । वा तमाल तरु तर तकी, तरनि तनूजा तीर । इस उदाहरण में "तुम्हारी गाय यहाँ कहाँ है" इस उत्तर के सुनने से "हमारी गाय यहाँ कहीं है ?" इस प्रश्न का अनुमान होता है । (ख) कहा विषम है ? दैवगति; सुख कह ? तिय गुनवान । दुर्लभ कह ? गुनगाहकहि, कहा दुःख ? खल जान । इस उदाहरण में "दुःख क्या है" आदि प्रश्नों के 'खल' आदि अप्रसिद्ध उत्तर दिए गए हैं । (७) एक काव्यालंकार जिसमें प्रश्न के वाक्यों ही में उत्तर भी होता है अथवा बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है । उ०—(क) को कहिए जल सों सुखी का कहिए पर श्याम । को कहिए जे रस बिना को कहिए सुख वाम । यहाँ "जल से कौन सुखी है ?" इस प्रश्न का उत्तर इसी प्रश्न वाक्य का आदि शब्द 'कोक (कमल)' है । इसी प्रकार और भी है । (ख) गाउ, पीठ पर लेहु अंग राग अरु हार करु । गृह प्रकाश गरि देहु कान्ह कह्यो सारँग नहीं । यहाँ गाओं, पीठ पर चढ़ाओ आदि सब बातों का उत्तर "सारँग (जिसके अर्थ, वीणा, घोड़ा, चंदन, फूल और दीपक आदि हैं) नहीं" से दे दिया गया है । (ग) प्रश्न—घोड़ा क्यों अड़ा, पान क्यों सड़ा, रोटी क्यों जली ? उत्तर—"फेरा न था" ।

वि० (१) पिछला । बाद का । उपरांत का । उ०—देहँहु दाग स्वकर इत आछे । उत्तर क्रियहिं करहुँगो पाछे । —पद्माकर ।

यौ०—उत्तरार्द्ध । उत्तर भाग । उत्तर-क्रिया । उत्तराधिकारी । उत्तर काल ।

(२) ऊपर का । जैसे,—उत्तरदंत । उत्तरहनु । उत्तरारणी ।

(३) बढ़ कर । श्रेष्ठ । जैसे,—लोकोत्तर ।

क्रि० वि० पीछे । बाद । जैसे,—उत्तरोत्तर ।

उत्तरकाशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक स्थान जो हरिद्वार के उत्तर में है और बदरीनारायण के यात्रियों के मार्ग में पड़ता है ।

उत्तरकुरु—संज्ञा पुं० [सं०] जंबूद्वीप के नौ वर्षों वा खंडों में से एक ।

उत्तरकोशल—संज्ञा पुं० [सं०] अयोध्या के आस पास का देश । अवध ।

उत्तरकोशला—संज्ञा स्त्री० [सं०] अयोध्या नगरी ।

उत्तरक्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] शवदाह के अनंतर मृतक के निमित्त होनेवाला विधान ।

उत्तरगुण—संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रानुसार वे गुण जो मूल गुण की रक्षा करें ।

उत्तरज्योतिष—संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम दिशा का एक देश ।

उत्तरतंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत वा किसी वैद्यक ग्रंथ का पिछला भाग ।

उत्तरदाता—संज्ञा पुं० [सं० उत्तरदातृ] [स्त्री० उत्तरदात्री] वह जिससे किसी कार्य्य के बनने बिगड़ने पर पूछ पाछ की जाय । जवाबदेह । ज़िम्मेदार ।

उत्तरदायित्व—संज्ञा पुं० [सं०] जवाबदेही । ज़िम्मेदारी ।

उत्तरदायी—वि० [सं० उत्तरदायिन्] [स्त्री० उत्तरदायिनी] उत्तर देनेवाला । जवाबदेह । ज़िम्मेदार ।

उत्तरनाभि—संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ में उत्तर ओर का कुंड ।

उत्तर पक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] शास्त्रार्थ में वह सिद्धांत जिससे पूर्व पक्ष अर्थात् पहले किए हुए निरूपण वा प्रश्न का खंडन वा समाधान हो । जवाब की दलील ।

उत्तरपट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपरना । दुपट्टा । चादर । (२) बिछाने की चद्दर ।

उत्तरपथ—संज्ञा पुं० [सं०] देवयान ।

उत्तरपद—संज्ञा पुं० [सं०] किसी यौगिक शब्द का अंतिम शब्द । जैसे—"रवि-कुल-कमल-दिवाकर" में "दिवाकर" शब्द ।

उत्तरप्रोष्ठपदयुग—संज्ञा पुं० [सं०] नंदन, विजय, जय, मन्मथ और दुर्मुख इन वर्षों का समूह ।

उत्तरप्रोष्ठपदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तराभाद्रपद नक्षत्र ।

उत्तरमंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में एक मूर्छना का नाम । इस का स्वरग्राम यों है ।—स रे ग म प ध नी । ध नि स रे ग म प ध नि स रे ग ।

उत्तरमानस—संज्ञा पुं० [सं०] गया तीर्थ में एक सरोवर ।

उत्तरमीमांसा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदांतदर्शन ।

उत्तरवयस—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुढ़ापा । वृद्धावस्था ।

उत्तरसाक्षी—संज्ञा पुं० [सं०] कृतसाक्षी के पाँच भेदों में से एक । वह साक्षी जो औरों के मुँह से मामले का हाल सुन सुना कर साक्षी दे ।

उत्तरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा विराट की कन्या और अभिमन्यु की स्त्री जिससे परीक्षित उत्पन्न हुए थे ।

उत्तराखंड—संज्ञा पुं० [सं० उत्तरा+खंड] भारतवर्ष का हिमालय के पास का उत्तरीय भाग ।

उत्तराधिकार—संज्ञा पुं० [सं०] किसी के मरने के पीछे उसके धनादि का स्वत्व । वरासत ।

उत्तराधिकारी—संज्ञा पुं० [सं० उत्तराधिकारिन्] [स्त्री० उत्तराधिकारिणी] वह जो किसी के मरने के पीछे उसकी संपत्ति का

मालिक हो।

उत्तराफाल्गुनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बारहवाँ नक्षत्र।

उत्तराभाद्रपद–संज्ञा स्त्री० [सं०] छब्बीसवाँ नक्षत्र।

उत्तराभास–संज्ञा पुं० [सं०] झूठा जवाब। अंड बंड जवाब। (स्मृति)। यह कई प्रकार का होता है—(१) संदिग्ध, जैसे किसी पर १०० मुद्रा का अभियोग है और वह पूछने पर कहे कि हमें याद नहीं कि हमने सौ स्वर्णमुद्रा लिये वा रजतमुद्रा। (२) प्रकृत से अन्य, जैसे किसी पर गाय का दाम न देने का अभियोग है और वह पूछने पर कहे कि गाय तो नहीं घोड़ा अलबत इनसे लिया था। (३) अत्यल्प, जैसे १००) के स्थान पर पूछने पर कोई कहे कि मैंने ५) ही रुपये लिए थे। (४) अत्यधिक। (५) पक्षैकदेशव्यापी, जैसे किसी पर सोने और कपड़े का दाम न देने का अभियोग है और वह कहे कि हमने कपड़ा लिया था, सोना नहीं। (६) व्यस्तपद, जैसे रुपए के अभियोग के उत्तर में कोई कहे कि वादी ने मुझे मारा है। (७) अव्यापी अर्थात् जिसके उत्तर का कोई ठौर ठिकाना न हो। (८) निगूढ़ार्थ, जैसे रुपए के अभियोग में अभियुक्त कहे कि "हैं क्या मुझ पर चाहते हैं?" अर्थात् मुझ पर नहीं किसी और पर चाहते होंगे। (९) आकुल, जैसे "मैंने रुपये लिए हैं, पर मुझ पर चाहिएँ नहीं"। (१०) व्याख्यागम्य, जिस उत्तर में कठिन वा दोहरे अर्थ के शब्दों के प्रयोग से व्याख्या की आवश्यकता हो। (११) असार, जैसे किसी ने अभियोग चलाया कि अमुक ने ब्याज दे दिया है, पर मूल धन नहीं दिया है; और वह कहे कि हमने ब्याज तो दिया है, पर मूल धन लिया ही नहीं।

उत्तरायण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य की मकर रेखा से उत्तर कर्क रेखा की ओर गति। (२) वह छः महीने का समय जिसके बीच सूर्य्य मकर रेखा से चल कर बराबर उत्तर की ओर बढ़ता रहता है।

विशेष—सूर्य्य २२ दिसंबर को अपनी दक्षिणी अयन-सीमा मकर रेखा पर पहुँचता है। फिर वहाँ से मकर की अयन-संक्रांति अर्थात् २३, २४ दिसंबर से उत्तर की ओर बढ़ने लगता है और २१ जून को कर्क रेखा अर्थात् उत्तरीय अयन सीमा पर पहुँच जाता है।

उत्तरायणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक मूर्छना जिसका स्वर-ग्राम यों है—ध नि स रे ग म प। स रे ग म प।

उत्तरारणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि-मंथन की दो लकड़ियों में से ऊपर की लकड़ी।

उत्तरार्द्ध–संज्ञा पुं० [सं०] पिछला आधा। पीछे का अर्द्ध भाग।

उत्तराषाढ़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] इक्कीसवाँ नक्षत्र।

उत्तरीय–संज्ञा पुं० [सं०] उपरना। दुपट्टा। चद्दर। ओढ़नी।
वि० (१) ऊपर का। ऊपरवाला। (२) उत्तर दिशा का। उत्तर-दिशा संबंधी।

उत्तरोत्तर–क्रि० वि० [सं०] आगे आगे। एक के पीछे एक। एक के अनंतर दूसरा। क्रमशः। लगातार। दिनों दिन।

उत्ता†–वि० [हिं० उतना] [स्त्री० उत्ती] उतना।

उत्तान–वि० [सं०] पीठ को ज़मीन पर लगाए हुए। चित सीधा।

यौ०—उत्तानपाणि। उत्तानपाद।

उत्तानपाद–संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा जो स्वायंभुवमनु के पुत्र और प्रसिद्ध भक्त ध्रुव के पिता थे।

उत्ताप–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्तप्त, उत्तापित] (१) गर्मी तपन। (२) कष्ट। वेदना। (३) दुःख। शोक। उ०—जं कुकार्य्य में अभिमत द्रव्य। फूँक दिखाते निज सामर्थ्य जो अपनी करनी पर आप। पछताते पाकर उत्ताप।—सरस्वती
(४) क्षोभ। उग्रभाग। उ०—उठैं विविध उत्ताप प्रबल अवरुद्ध भाव गर्जनकारी। त्यों उन्नत अभिलाष अपूरित करैं यत्न साधन भारी।—श्रीधर पाठक।

उत्तापित–वि० [सं०] (१) गर्म। तपाया हुआ। संतापित (२) क्षुब्ध। दुःखी। क्लेशित।

उत्तिर–संज्ञा पुं० [सं० उत्तर] वह पट्टी जो खंभे में गले के ऊपर और कंप के नीचे होती है।

उत्तीर्ण–वि० [सं०] (१) पार गया हुआ। पारंगत। (२) मुक्त (३) परीक्षा में कृतकार्य्य। पास-शुदः।

उत्तुंग–वि० [सं०] ऊँचा। बहुत ऊँचा।

उत्तू–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) वह औज़ार जिसको गरम कर कपड़े पर बेल-बूटों वा चुनट के निशान डालते हैं। (२) बेल बूटे का काम जो इस औज़ार से बनता है।

क्रि० प्र०—करना।—का काम बनाना।

यौ०—उत्तूकश। उत्तूगर।

मुहा०—उत्तू करना=किसी को इतना मारना कि उसके बदन में दाग पड़ जायँ जो कुछ दिनों तक बने रहें।

वि० बदहवास। नशे में चूर।

क्रि० प्र०—करना।—होना। जैसे,—उसने इतनी भाँग पी ली कि उत्तू हो गया।

उत्तूकश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] उत्तू का काम बनानेवाला।

उत्तूगर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] उत्तू का काम बनानेवाला।

उत्तेजक–वि० [सं०] (१) उभाड़नेवाला। बढ़ानेवाला। उकसानेवाला। प्रेरक। (२) वेगों को तीव्र करनेवाला।

उत्तेजन–संज्ञा पुं० [सं०] बढ़ावा। उत्साह। प्रेरणा।

उत्तेजना–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० उत्तेजित, उत्तेजक] (१) प्रेरणा बढ़ावा। प्रोत्साह। (२) वेगों को तीव्र करने की क्रिया

उत्तोलन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर को उठाना। ऊँचा करना तानना। (२) तौलना। वज़न करना।

उत्थपना*–क्रि० स० [सं० उत्थापन] अनुष्ठान करना। आरं

करना। उ०—राजा सुकृत यज्ञ उत्थयऊ। तेहि ठाँ एक अचंभा भयऊ।—सबल।

उत्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उठने का कार्य्य। (२) उठान। आरंभ। (३) उन्नति। समृद्धि। बढ़ती।

उत्थापन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर उठाना। तानना। (२) हिलाना डुलाना। (३) जगाना।

उत्पट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पेड़ की गोंद। (१) ऊपर पहनने का कपड़ा। उपरना। दुपट्टा।

उत्पतन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्पतनीय, उत्पतित] ऊपर उठना।

उत्पत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० उत्पन्न] (१) उद्‌गम। पैदा-इश। जन्म। उद्‌भव। (२) सृष्टि। उ०—हरि हरि हरि हरि सुमरन करो। हरि चरणारविंद उर धरो।········· उत्पति प्रलय होत जा भाई। कहौं सुनौ सो नृप चित लाई।—सूर। (३) आरंभ। शुरू।

उत्पथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुरा रास्ता। विकट मार्ग। (२) कुमार्ग। बुरा आचरण।

यौ०—उत्पथगामी।

उत्पन्न-वि० [सं०] [स्त्री० उत्पन्ना] जन्मा हुआ। पैदा।

उत्पन्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] अगहन बदी एकादशी।

उत्पल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल। (२) नील कमल।

उत्पाटन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्पाटित] उखाड़ना।

उत्पात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कष्ट पहुँचनेवाली आकस्मिक घटना। उपद्रव। आफ़त। (२) अशांति। हलचल। (३) ऊधम। दंगा। शरारत।

उत्पातक-संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग। लोलक के छेद में भारी गहना पहनने से अथवा किसी प्रकार के खिंचाव से लोलक में सूजन, दाह और पीड़ा उत्पन्न होती है।

वि० उपद्रव वा उत्पात करनेवाला।

उत्पाती-संज्ञा पुं० [सं० उत्पातिन्] [स्त्री० हिं० उत्पातिन्] उत्पात मचानेवाला। उपद्रवी। नटखट। शरारती। दंगा मचाने-वाला। अशांति उत्पन्न करनेवाला।

उत्पादक-वि० [सं० स्त्री० उत्पादिका] उत्पन्न करनेवाला।

उत्पादन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्पादित] उत्पन्न करना। पैदा करना।

उत्पादित-वि० [सं०] उत्पन्न किया हुआ।

उत्पादी-[सं० उत्पादिन्] [स्त्री० उत्पादिनी] उत्पन्न करनेवाली।

उत्पीड़न-संज्ञा पुं० [सं] [वि० उत्पीड़ित] दबाना। तकलीफ़ देना। पीड़ा पहुँचाना।

उत्प्रेक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० उत्प्रेक्ष्य] (१) उद्‌भावना। आरोप। (२) एक अर्थालंकार जिसमें भेद-ज्ञान-पूर्वक उपमेय में उप-मान की प्रतीति होती है। जैसे, "मुख मानो चंद्रमा है"। मानो, जानो, मनु, जनु, इव, मेरी जान इत्यादि शब्द इस अलंकार के वाचक हैं। पर कहीं ये शब्द लुप्त भी रहते हैं, जैसे गम्योत्प्रेक्षा में।

इस अलंकार के पाँच भेद हैं—(१) वस्तूत्प्रेक्षा, (२) हेतू-त्प्रेक्षा, (३) फलोत्प्रेक्षा, (४) गम्योत्प्रेक्षा और (५) सापह्न-वोत्प्रेक्षा। (१) वस्तूत्प्रेक्षा में एक वस्तु दूसरी वस्तु के तुल्य जान पड़ती है। इसको स्वरूपोत्प्रेक्षा भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं—"उक्तविषया" और "अनुक्तविषया"। जिसमें उत्प्रेक्षा का विषय कह दिया जाय, वह उक्त विषया है। जैसे,—"सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात। मनो नीलमणि शैल पर आतप पर्‍यो प्रभात। यहाँ "श्याम तनु" जो उत्प्रेक्षा का विषय है, वह कह दिया गया है। जहाँ विषय न कहकर उत्प्रेक्षा की जाय उसे अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा कहते हैं। जैसे,—"अंजन बरषत गगन यह मानो अथये भानु।" अंधकार जो उत्प्रेक्षा का विषय है उसका उल्लेख यहाँ नहीं है।

(२) हेतूत्प्रेक्षा जिसमें जिस वस्तु का हेतु नहीं है, उसको उस वस्तु का हेतु मानकर उत्प्रेक्षा करते हैं। इसके भी दो भेद हैं—'सिद्ध विषया' और 'असिद्ध विषया'। जिसमें उत्प्रेक्षा का विषय सिद्ध हो, उसे सिद्ध विषया कहते हैं। जैसे,—"अरुण भये कोमल चरण भुवि चलिबे ते मानु।" यहाँ नायिका का भूमि पर चलना सिद्ध विषय है। परंतु भूमि पर चलना चरणों के लाल होने का कारण नहीं है। जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय असिद्ध अर्थात् असंभव हो, उसे असिद्धविषया कहते हैं। जैसे,—"अजहुँ मान रहिबो चहत थिर तिय हृदय निकेत। मनहुँ उदित शशि कुपित ह्वै अरुण भयो एहि हेत।" स्त्रियों का मान दूर न होने से चंद्रमा को क्रोध उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है, इसलिये यह 'असिद्धविषया' है।

(३) फलोत्प्रेक्षा जिसमें जो जिसका फल नहीं है, वह उसका फल माना जाय। इसके भी दो भेद हैं—सिद्धविषया और असिद्धविषया। "सिद्ध विषया" जैसे,—कटि मानो कछु धरन को कसी कनक की दाम। "असिद्धविषया", जैसे,—जौ कटि समता लहन मनु सिंह करत बनवास।

(४) गम्योत्प्रेक्षा जिसमें उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द न रखकर उत्प्रेक्षा की जाय। जैसे,—तोरि तीर तरु के सुमन वर सुगंध के भौन। यमुना तव पूजन करत वृंदावन को पौन।

(५) सापह्नवोत्प्रेक्षा जिसमें अपह्नुति सहित उत्प्रेक्षा की जाय। यह भी वस्तु, हेतु और फल के विचार से तीन प्रकार की होती है—(क) सापह्नव वस्तूत्प्रेक्षा। जैसे,—तैसी चाल चाहन चलति उतसाहन सौं जैसो विधिवाहन बिराजत बिजैठौं है। तैसो भृगुटी को ठाट तैसो ही दिपै ललाट तैसो ही बिलोकिबे को पीको प्रान पैठो है। तैसिए तरुनताई नीलकंठ आई उर शैशव महाई तासों फिरै ऐंठो ऐंठो है। नाहीं लट भाल पर छूटे गोरे गाल पर मानो रूपमाल पर ब्याल ऐंठ

बैठो है। यहाँ गौर वर्ण कपोल पर छूटी हुई अलकों का निषेध करके रूपमाला पर सर्प के बैठने की संभावना की गई है। अतः "सापह्नव वस्तूत्प्रेक्षा" है। (ख) सापह्नव हेतूत्प्रेक्षा। जैसे,—फूलन के मग में परत पग डगमगे मानो सुकुमारता की बेलि छिधि बई है। गोरे गरे धँसत लसत पीक लीक नीकी मुख ओप पूरण छपेश छवि छई है। उन्नत उरोज औ नितंब भीर श्रीपति जू टूटि जिन परै लंक शंका चित्त भई है। याते रोममाल मिस मारग छरी दै त्रिवली की डोरि गाँठि काम बागबान दई है। यहाँ मिस शब्द कथन से कैतवापह्नुति से मिली हुई हेतूत्प्रेक्षा है; क्योंकि त्रिवली रूप रस्सी बाँधते कुच और नितंब भार से कटि न टूट पड़े, इस अहेतु को हेतु भाव से कथन किया गया है। (ग) सापह्नव फलोत्प्रेक्षा, जैसे,—कमलन कों तिहि मित्र लखि मानहु हतबे काज। प्रविशहिं सर नहिं स्नान हित रवि तापित गजराज। यहाँ सूर्य्य से तापित होकर गज का सरोवर में प्रवेश स्नान के लिये न बताकर यह दिखाया गया है कि वह कमलों को जो सूर्य के मित्र हैं, नष्ट करने के लिये आया है।

उत्प्रेक्षोपमा—संज्ञा स्त्री० [सं] एक अर्थालंकार जिसमें किसी एक वस्तु के गुण का बहुतों से पाया जाना वर्णन किया जाता है। उ०—न्यारो ही गुमान मन मीननि के मानियत जानियत सबही सुकैसे न जताइए। गर्व बाढ्यो परिमाण पंचबाण बाणनि को आन आन भाँति बिनु कैसे कै बताइए। केसोदास सविलास गीतरंग रंगनि-कुरंग अंगनानि हूँ के आँगननि गाइए। सीताजी की नयन निकाई हमही में है सु झूठै है कमल खंजरीट हू में पाइए।—केशव।

उत्फुल्ल—वि० [सं] (१) विकसित। फूला हुआ। प्रफुल्लित। खिला हुआ। (२) उत्तान। चित्त।

उत्संग—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोद। क्रोड़। कोरा। अंक। (२) मध्य भाग। बीच। (३) ऊपर का भाग। (४) निर्लिप्त। विरक्त।

उत्सर्ग—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्सर्गी, औत्सर्गिक, उत्सर्ग्य] (१) त्याग। छोड़ना।

यौ०—वृषोत्सर्ग। व्रतोत्सर्ग।

(२) दान। न्योछावर। (३) समाप्ति। एक वैदिक कर्म जो पूस महीने की रोहिणी और अष्टका को ग्राम से बाहर जल के समीप अपने गृहसूत्र की विधि के अनुसार किया जाता है। उसके बाद दो दिन एक रात वेद की पढ़ाई बंद रहती है। (५) व्याकरण का कोई साधारण सा नियम।

उत्सर्जन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्सर्जित, उत्सृष्ट] (१) त्याग। छोड़ना। (२) दान। (३) एक वैदिक गृहकर्म जो वर्ष में दो बार होता है—एक पूस में, दूसरा श्रावण में।

उत्सर्पण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर चढ़ना। चढ़ाव। (२) उल्लंघन। लाँघना।

उत्सर्पिणी—संज्ञा पुं० [सं०] जैनमतानुसार काल की वह गति वा अवस्था जिस में रूप, रस, गंध, स्पर्श इन चारों की क्रम क्रम से वृद्धि होती है।

उत्सव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उछाह। मंगल-कार्य्य। धूम धाम। जलसा। (२) मंगल-समय। तेहवार। पर्व। समैया। आनंद। विहार। जैसे,—रत्युत्सव।

उत्सारक—संज्ञा पुं० [सं०] द्वारपाल। चोबदार।

उत्साह—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उत्साहित, उत्साही] (१) वह प्रसन्नता जो किसी आनेवाले सुख को सोचकर होती है और मनुष्य को कार्य्य में प्रवृत्त करती है। उमंग। उछाह जोश। हौसला। (२) साहस। हिम्मत।

विशेष—उत्साह वीर रस का स्थायी माना जाता है।

उत्साही—वि० [सं० उत्साहिन्] उत्साहयुक्त। उमंगवाला। हौसलेवाला।

उत्सुक—वि० [सं०] (१) उत्कंठित। अत्यंत इच्छुक। चाह से आकुल। जैसे,—वे यह पुस्तक देखने के लिये बड़े उत्सुक हैं। (२) चाही हुई बात में देर न सहकर उसके उद्योग में तत्पर।

उत्सुकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आकुल इच्छा। (२) किसी कार्य्य में विलंब न सहकर उस में तत्पर होना। यह रस में एक संचारी भाव है।

उत्सूर—संज्ञा पुं० [सं०] सायंकाल। संध्या।

उत्सृष्ट—वि० [सं०] त्यागा हुआ। छोड़ा हुआ।

उत्सृष्ट वृत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] फेंके हुए अन्न को लेना। यह एक वृत्ति है जिस के दो भेद हैं—शिल और उंछ।

उत्सेध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बढ़ती। उन्नति। (२) ऊँचाई। (३) शोथ। वि० (१) ऊँचा। (२) श्रेष्ठ। उ०—जहाँ कहीं निज बात कौं समुझि करत प्रतिषेध। तहाँ कहत आक्षेप हैं कवि-जन मति उत्सेध।

उथपना—क्रि० स० [सं० उत्थापन] उठाना। उखाड़ना। उजाड़ना। उ०—(क) तेरे थपे उथपै न महेश थपै थिर को कपि जे घर घाले।—तुलसी। (ख) उथपे तेहि को जेहि राम थपै थपिहै पुनि को जेहि वै टरिहैं।—तुलसी।

उथलना—क्रि० अ० [सं० उत्+स्थल] (१) डगमगाना। डाँवा-डोल होना। चलायमान होना। उ०—राजा शिशुपाल जरासंध समेत सब असुर दल लिए इस धूमधाम से आया कि जिसके बोझ से लगे शेषनाग डगमगाने और पृथ्वी उथलने।—लल्लू।

यौ०—उथलना पुथलना=नीचे ऊपर होना। इधर का उधर होना। (२) उलटना। उलट पुलट होना। नीचे ऊपर होना। (३) पानी का कम होना। पानी का छिछला होना।

उथल पुथल–संज्ञा पुं० [हिं० उथलना] उलट पुलट । अंडबंड । विपर्य्यय । क्रम-भंग ।

वि० उलट पुलट । अंड का बंड । इधर का उधर ।

उथला–वि० [सं० उत्+स्थल] कम गहरा । छिछला ।

उदंड*–वि० दे० "उद्दंड" ।

उदंत–वि० [सं० अ+दन्त] जिसके दाँत न जमे हों । बिना दाँत का । अदंत ।

विशेष—इसका प्रयोग चौपायों के लिये होता है ।

संज्ञा पुं० वार्ता । वृत्तांत ।

उदंतक–संज्ञा पुं० [सं०] वृत्तांत । वार्ता ।

उद्–उप० [सं०] एक उपसर्ग जो शब्दों के पहले लगकर उनमें इन अर्थों की विशेषता करता है । ऊपर, जैसे—उद्‌गमन । अतिक्रमण, जैसे—उत्तीर्ण, उत्क्रांत । उत्कर्ष, जैसे—उद्‌बोधन, उद्‌गति । प्राबल्य, जैसे—उद्वेग, उद्वल । प्राधान्य, जैसे—उद्देश । अभाव, जैसे—उत्पथ, उद्वासन । प्रकाश, जैसे—उच्चारण । दोष, जैसे—उन्मार्ग ।

संज्ञा पुं० (१) मोक्ष । (२) ब्रह्म । (३) सूर्य्य । (४) जल ।

उदउ*–संज्ञा पुं० दे० 'उदय' ।

उदक्–संज्ञा पुं० [सं०] उत्तर दिशा ।

उदक–संज्ञा पुं० [सं०] जल । पानी ।

यौ०—उदकदान । उदकाद्रि । गंगोदक ।

विशेष—समस्त पदों के आदि में कभी कभी उदक के स्थान में उद् हो जाता है; जैसे—उत्कुंभ ।

उदकअद्रि*–संज्ञा पुं० दे० "उदगद्रि" ।

उदकक्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तिलांजलि । जलदान । उदकदान । प्रेत का तर्पण । यह क्रिया मृतक का शवदाह हो जाने पर उसके गोत्रवालों को दस दिन तक करनी पड़ती है । (२) तर्पण ।

उदककृच्छ्र–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु स्मृति के अनुसार एक व्रत जिसमें एक मास तक जौ का सत्त और जल पीने का विधान है ।

उदकदान–संज्ञा पुं० [सं०] जल-दान । तर्पण ।

उदकना*–क्रि० अ० [सं० उद्=ऊपर+क=उदक] कूदना । उछलना । छटकना । उ०—भक्षण करत देखि लोगन को हन्यो कुलिश सुरराई । गड़यो न तनु में उदकि गयो मुरि शक्र भज्यो भय पाई ।—रघुराज ।

उदकपरीक्षा–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का शपथ का एक भेद जिसमें शपथ करनेवाले को अपने वचन की सत्यता प्रमाणित करने के लिये जल में डूबना पड़ता था ।

उदकप्रमेह–संज्ञा पुं० [सं०] प्रमेह रोग का एक भेद । इसमें वीर्य्य अत्यंत पतला हो जाता है और मूत्र के साथ निकला करता है । मूत्र सफ़ेद रंग का, चिकना, गाढ़ा, गंध रहित और ठंढा होता है । इस रोग में पेशाब बहुत होता है ।

उदकमेह–संज्ञा पुं० दे० "उदकप्रमेह" ।

उदकेचर–संज्ञा पुं० [सं०] जलचर । पानी का जंतु ।

उदकोदर–संज्ञा पुं० [सं०] जलोदर ।

उदक्य–वि० [सं०] (१) जलवाला । (२) जिसको पवित्रता के लिये स्नान की आवश्यकता हो । अपवित्र । अशुचि ।

संज्ञा पुं० पानी में होनेवाला अन्न; जैसे, धान ।

उदक्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला ।

उदगद्रि–संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय ।

उदगयन–संज्ञा पुं० [सं०] उत्तरायण ।

उदगरन†–क्रि० अ० [सं० उद्‌गारण] (१) उगरना । निकलना । बाहर होना । (२) प्रकाशित होना । खुल पड़ना । प्रकट होना । (३) उभड़ना । भड़कना ।

उदगर्गल–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष शास्त्र के अंतर्गत वह विद्या जिससे यह ज्ञान प्राप्त हो कि अमुक स्थान में इतने हाथ की दूरी पर जल है । यह भूगर्भ विद्या के अंतर्गत है ।

उदगार*–संज्ञा पुं० दे० "उद्‌गार" ।

उदगारना*–क्रि० स० [सं० उद्‌गार] (१) बाहर निकालना । बाहर फेंकना । उगलना । (२) उभाड़ना । भड़काना । प्रज्वलित करना । उत्तेजित करना । जैसे,—क्रोध उद्‌गारना । उ०—पीवत प्याला प्रेम सुधा रस मतवाले सतसंगी । अरध उरध लै भाठी रोपी ब्रह्म अगिन उदगारी ।—कबीर ।

उदगारी*–वि० [हिं० उदगारना] (१) उगलनेवाला । (२) बाहर निकालनेवाला ।

उदग्ग–वि० [सं० उदग्र, प्रा० उदग्ग] (१) ऊँचा । उन्नत । उ०—सुंडन भ्रपट्टि कै उलट्टत उदग्गगिरि पदत सुसद्दबल किमत बिहद है ।—सूदन । (२) प्रचंड । उग्र । उद्धत । उ०—(क) सत एक हयंदनु लै उदग्ग । हरि नारायण जिहिं प्रबल खग्ग ।—सूदन । (ख) हरि नारायण सुकिसोर वै स्यामसिंह सब रोसमन । औरो उदग्गकर खग्ग धरि अग्ग पग्ग धर धरिय रन ।—सूदन । (ग) मालव भूप उदग्ग चल्यो कर खग्ग जग्ग जित ।—गोपाल ।

उदग्र–वि० [सं०] [स्त्री० उदग्रा] (१) ऊँचा । उन्नत । (२) बढ़ा । परिवर्द्धित । (३) प्रचंड । उद्धत ।

उदघटना*–क्रि० स० [सं० उद्‌घट्टन=संचालन] प्रगट होना । उदय होना । उ०—कुथि रटि भटत विमूढ़ लट घट उदघटत न ज्ञान । तुलसी रटत हटत नहीं अतिसय गत अभिमान ।—तुलसी ।

उदघाटन*–संज्ञा पुं० दे० "उद्‌घाटन" ।

उदघाटना*–क्रि० स० [सं० उत्घाटन] प्रगट करना । प्रकाशित करना । खोलना । उ०—(क) तव भुजबल महिमा उदघाटी । प्रगटी धनु विघटन परिपाटी ।—तुलसी । (ख) तहाँ सुधन्वा

सब शर काटी। उदघाटी अपनी परिपाटी।—सबल।

उद्थ–संज्ञा पुं० [सं० उद्गाथ=सूर्य] सूर्य। उ०—बिन अवलंब कलिकानि आसमान है, होत बिसराम जहाँ इंदुऔ उदथ के।—भूषण।

उदधि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र।

यौ०—उदधिजा। उदधितनय। उदधितिय। उदधिमल। उदधिमेखला। उदधिवस्त्रा। उदधिसुत।

(२) घड़ा। (३) मेघ।

उदधिकुमार–संज्ञा पुं० [सं०] जैन मत के अनुसार एक देवता जो भुवनपति नामक देवगण में है।

उदधिमेखला–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथिवी।

उदधिवस्त्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथिवी।

उदधिसुत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पदार्थ जो समुद्र से उत्पन्न हो वा समझा जाता हो। (२) चंद्रमा। (३) अमृत। (४) शंख। (५) कमल।

उदधिसुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समुद्र से उत्पन्न वस्तु। (२) लक्ष्मी। (३) सीप।

उदधीय–वि० [सं०] समुद्र संबंधी।

उदपान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कूएँ के समीप का गड्ढा। कूल। खाता। (२) कमंडलु। उ०—मुँदरा स्रवन कंठ जपमाला। कर उदपान काँध बघ छाला।—जायसी।

उदबस*–वि० [हिं० उद्वासन=स्थान से हटाना] (१) उजाड़। सूना। उ०—(क) उदबस अवध नरेश बिनु देस दुखी नर नारि। राज भंगु कुसमाज बड़ गत ग्रह चालि बिचारि।—तुलसी। (ख) उदबस अवध अनाथ सब अंब दसा दुख देखि।–तुलसी। (२) स्थान से निकाला हुआ। उद्वासित। एक स्थान पर न रहनेवाला। खानाबदोश। उ०—(क) हमारे हिरदै कुलिसै जीत्यौ। फटत न सखी अजहुँ उहि आशा बरष दिवस परि बीत्यौ।······अब तो बात घरी पहरन सखि ज्यों उदबस की प्रीत्यौ। सूरश्याम दासी सुख सोवहु भयो उभय मन चीत्यौ।—सूर। (ख) चंचल निशि उदबस रहै करत प्रात बसि राज। अरबिंदनि में इंदिरा सुन्दर नैननि लाज।—मतिराम।

उदबासना–क्रि० स० [सं० उद्वासन] (१) स्थान से हटाना। उठा देना। भगा देना। (२) उजाड़ना।

उदभट*†–वि० संज्ञा पुं० दे० "उद्भट"।

उद्भव*–वि० पुं० दे० "उद्भव"।

उदभौत*–संज्ञा पुं० [सं० अद्भुत] अद्भुत वस्तु वा घटना। अचंभा।—अँखिअन को सुधि भूलि गई। श्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकृत नारि भई।·········अँखिअन ते मुरली अति प्यारी वह बैरनि यह सौति। सूर परस्पर कहत गोपिका यह उपजी उदभौति।—सूर।

उदमदना*–क्रि० अ० [सं० उद्+मद] पागल होना। उन्मत्त होना। आपे को भूलना। उ०—अपने अपने टोल कहत ब्रजवासी आई। आवभगति ले चले सुदंपति आसी आई। शरद काल ऋतु जानि दीपमालिका बनाई। गोपन के उदमाद फिरत उदमदे कन्हाई। घर घर थापे दीजिए घर घर मंगलचार। सात वर्ष को साँवरो खेलत नंददुआर।—सूर।

उदमाद*–संज्ञा पुं० [सं० उद्+माद] उन्मत्तता। पागलपन। मतवालापन। उ०—(क) अपने अपने टोल कहत ब्रजवासी आई। आवभगति ले चलौ सुदंपति आसी आई। शरद-काल ऋतु जानि दीपमालिका बनाई। गोपन के उदमाद फिरत उदमदे कन्हाई।—सूर। (ख) गुरु अंकुश मानइ नहीं उदमद माता अंध। दादू मन चेतइ नहीं काल न देखइ कंध।—दादू। (ग) दोऊ उमिरि अराक दुहुन उदमाद रारि हित। दोऊ जानत जीति हारि जानत न दुहूँ चित।—सूदन।

उदमादी*–वि० [सं० उद्+माद] जिसे मद हो। मतवाला। उन्मत्त।

उदमान*–वि० [सं० उन्मत्त] [स्त्री० उदमानी] उन्मत्त। उ०—सुभट शाल्व करि क्रोध हरिपुरी आयो।·········अग्नि कबहुँक बरखि बारि वर्षा करै प्रद्युमन सकल माया निवारी। शाल्व परधान उदमान मारी गदा प्रद्युमन मुरहित भए सुधि बिसारी।—सूर।

उदमानना*–क्रि० अ० [सं० उन्मादन] उन्मत्त होना। उ०—मैं तुम्हरे मन की सब जानी। आपु सबै इतराति हो दूषन देतु स्याम को आनी। मेरे हरि कहँ दसहि बरस को तुमही जोबन मद उनमानी। लाज नाहिं आवत इन लँगरिन कैसे धौं कहि आवत बानी।—सूर।

उदय–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उदित] (१) ऊपर आना। निकलना। प्रगट होना। जैसे,—(क) सूर्य्य के उदय से अंधकार दूर हो जाता है। (ख) न जाने हमारे किन बुरे कर्मों का उदय हुआ।

विशेष—ग्रहों और नक्षत्रों के संबंध में इस शब्द का विशेष प्रयोग है।

क्रि० प्र०—करना (क्रि० अ०)=उगना। निकलना। प्रगट होना। उ०—जनु ससि उदय पुरुब दिसि लीन्हा। औ रवि उदय पछिम दिसि कीन्हा।—जायसी।—करना (क्रि०स०) =प्रकट करना। प्रकाशित करना। उ०—तिलक भाल पर परम मनोहर गोरोचन को दीनो। मानो तीन लोक की शोभा अधिक उदय सो कीनो।—सूर।–लेना=उगना। निकलना। उ०–जनु ससि उदय पुरुब दिसि लीन्हा।–जायसी।—होना।

मुहा०—उदय से अस्त तक वा लौं=पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक। सारी पृथ्वी में। उ०—(क) ऐसी कौन करी है और भक्त काजै। जैसे धरै जगदीश जिय माहिं लाजै।

हिरनकश्यप बढ़यो उदय अरु अस्त लौं ग्रस्यो प्रह्लाद चित चरण लायो। भीर के परे ते धीर सबहिन तज्यो खंभ ते प्रगट करि जन छुड़ायो।—सूर। (ख) चारिहु खंड भीख का बाजा। उदय अस्त तुम ऐस न राजा।—जायसी।

यौ०—सूर्य्योदय। चंद्रोदय। शुक्रोदय। कर्म्मोदय।

(२) वृद्धि। उन्नति। बढ़ती। जैसे,—किसी का उदय देखकर जलना नहीं चाहिए।

क्रि० प्र०*—देना (क्रि० स०)=उन्नति करना। बढ़ती करना। उ०—प्रबोधौ उदै देहु श्रीविंद माधव।—केशव।—होना।

यौ०—भाग्योदय।

(३) निकलने का स्थान। उद्‌गम। (४) उदयाचल।

उदयगढ़*—संज्ञा पुं० [सं० उदय+हिं० गढ़] उदयाचल। उ०—सूर उदयगढ़ चढ़त भुलाना। गहने गहा कमल कुँभिलाना।—जायसी।

उदयगिरि—संज्ञा पुं० [सं०] उदयाचल।

उदयन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवंति देश का राजा वत्सराज जिसका वर्णन कथासरित्सागर में है। (२) एक दार्शनिक आचार्य्य जिसने न्यायकुसुमांजलि और आत्मतत्त्वविवेक आदि ग्रंथ रचे हैं। (३) गौड़ देश का एक पंडित जिसे शंकराचार्य्य ने शास्त्रार्थ में परास्त किया था।

उदयनक्षत्र—संज्ञा पुं० [सं०] जिस नक्षत्र पर कोई ग्रह दिखाई पड़े, वह नक्षत्र उस ग्रह का उदय-नक्षत्र कहलाता है।

उदयाचल—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार पूर्व दिशा का एक पर्वत जहाँ से सूर्य्य निकलता है।

उदयातिथि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह तिथि जिसमें सूर्य्योदय हो।

विशेष—शास्त्र में स्नान, दान और अध्ययन आदि कर्म इसी तिथि में कराना लिखा है।

उदयाद्रि—संज्ञा पुं० [सं०] उदयाचल।

उदरंभर*—वि० दे० "उदरंभरि"।

उदरंभरि—वि० [सं०] अपना पेट भरनेवाला। पेटू। पेटार्थी।

उदरंभरी—संज्ञा स्त्री० [सं० उदरंभरि+हिं० ई (प्रत्य०)] पेटार्थीपन। पेटूपन।

उदर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पेट। जठर।

मुहा०—उदर जिलाना=पेट पालना। पेट भरना। खाना। उ०—माँगत बार बार शेष ग्वालन को पाऊँ। आप लियो कछु जानि भक्ष करि उदर जियाऊँ।—सूर। उदर भरना=पेट भरना। खाना। उ०—हरि हरि हरि सुमिरन करो। हरि चरणारविंद उर धरो।......भिक्षा-वृत्ति उदर नित भरै। निशि दिन हरि हरि सुमिरन करै।—सूर।

यौ०—जलोदर। वृकोदर।

(२) किसी वस्तु के बीच का भाग। मध्य। पेट। जैसे,—घटोदर। (३) भीतर का भाग। अंतर। जैसे,—पृथ्वी के उदर में अग्नि है।

उदरज्वाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जठराग्नि। (२) भूख।

उदरना*†—क्रि० अ० [हिं० उदारना] (१) फटना। विदीर्ण होना। उ०—अमित अविद्या राक्षसी प्रेत सहित पाखंड। राम निरंजन रटत मुख उदरि गई सत खंड।—केशव। (२) छिन्न भिन्न होना। ढहना। नष्ट होना। जैसे,—पानी से उसका कोठिला उदर गया।

उदरपिशाच—संज्ञा पुं० [सं०] बहुत खानेवाला आदमी। पेटू।

उदररेखा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह लकीर जो बैठने से पेट में पड़ जाती है। त्रिवली।

उदरवृद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें पेट बढ़ आता है और उसमें पानी भर जाता है। जलोदर।

उदरामय—संज्ञा पुं० [सं०] पेट का रोग। उदर-रोग।

उदरावर्त—संज्ञा पुं० [सं०] नाभि। ढोंढ़ी।

उदर्द—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जो शिशिर ऋतु में होता है। इसमें शरीर पर ददोरे निकलते हैं। ये ददोरे बीच में गहरे और किनारों पर ऊँचे होते हैं। इनका रंग लाल होता है और इनमें खुजली होती है। वैद्यक के अनुसार यह रोग कफ की अधिकता से होता है। ददोरा। जुड़पित्ती।

उदवना*—क्रि० अ० [सं० उदयन] उगना। निकलना। प्रगट होना। उ०—(क) जोबन भानु नहीं उदयो ससि सैसवहूँ को परकाश न ऊनो। ज्यों हरदी महँकी पियराई जुन्हाई को तेज भयो मिलि चूनो।—देव। (ख) दमयंती भहराइ, उठी देखि आयो नृपति। उदवत शशि नियराइ, सिंधु प्रतीची बीच ज्यों।—गुमान।

उदवाह*—संज्ञा पुं० दे० "उद्वाह"।

उदवेग*†—संज्ञा पुं० दे० "उद्वेग"।

उदसन—क्रि० अ० [सं० उदसन=नष्ट करना। अथवा उद्वासन] (१) उजड़ना। उ०—तिन इन देसन आनि उजार्‌यो। उदसि देस यह भो बन भार्‌यो।—पद्माकर। (२) बे-तरतीब होना। अंडबंड होना। उड़सना।

उदात्त—वि० [सं०] (१) ऊँचे स्वर से उच्चारण किया हुआ। (२) दयावान्। कृपालु। (३) दाता। उदार। (४) श्रेष्ठ। बड़ा। (५) स्पष्ट। विशद। (६) समर्थ। योग्य।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद के स्वर के उच्चारण का एक भेद जिसका तालु आदि के ऊपरी भाग से उच्चारण होता है। (२) उदात्त स्वर। (३) एक काव्यालंकार जिसमें संभाव्य विभूति का वर्णन खूब बढ़ा चढ़ाकर किया जाता है। उ०—कुंदन की भूमि कोट काँगरे सुकंचन दिवार द्वार विद्रुम अशेष के। लसत पिरोजा के किवार खंभ मानिक के हीरामय छात छाजै पन्ना छवि वेश के। जटित जवाहिर झरोखा पै सिम्याने तास तास आस पास मोती उड़ुगन

भेष के। उन्नत सुमंदिर से सुंदर पुरंदर के मंदिर तै सुंदर ये मंदिर वृजेश के। (४) दान। (५) एक आभूषण। (६) एक बाजा।

उदान-संज्ञा पुं० [सं०] प्राण वायु का एक भेद जिसका स्थान कंठ है। इसकी गति हृदय से कंठ और तालु तक और सिर से भ्रूमध्य तक है। इससे डकार और छींक आती है।

उदाम*-वि० दे० "उद्दाम"।

उदायन*-संज्ञा पुं० [सं० उद्यान=बाग] बाग। बाटिका। उपवन। उ०—तुम श्याम गौर सुनो दोउ लालन, आयो कहाँ से उदायन में।—रघुराज।

उदार-वि० [सं०] [संज्ञा उदारता] (१) दाता। दानशील। (२) महान्। बड़ा। श्रेष्ठ। (३) जो संकीर्ण-चित्त न हो। ऊँचे दल का। (४) सरल। सीधा। शीलवान्। शिष्ट। (५) दक्षिण। अनुकूल।

उदारचरित-वि० [सं०] जिसका चरित्र उदार हो। ऊँचे दिल का। शीलवान्।

उदारचेता-वि० [सं० उदारचेतस्] जिसका चित्त उदार हो।

उदारता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दानशीलता। फ़ैयाज़ी। (२) उच्च विचार। शील।

उदारना-क्रि० स० [सं० उद्दारण] (१) फाड़ना। विदीर्ण करना। उ०—भनैं रघुराज तैसे अतिथि के आदर को आसुही अनादर उदार्‌यो करि पीर को।—रघुराज। (२) गिराना। तोड़ना। ढाना। छिन्न भिन्न करना। उ०—रावण से गहि कोटिक मारों। जो तुम आज्ञा देहु कृपानिधि तो एहि पुर संहारों। कहहु तो जननि जानकी ल्याऊँ कहो तो लंक उदारों। कहो तो अबही पैठि सुभट हति अनल सकल पुर जारों।—सूर।

उदाराशय-वि० [सं०] उदार आशय का। जिसका उद्देश उच्च हो। जिसके विचार संकुचित न हों। महात्मा।

उदावर्त-संज्ञा पुं० [सं०] गुदा का एक रोग जिसमें काँच निकल आती है और मल-मूत्र रुक जाता है। वैद्यकशास्त्र के अनुसार यह रोग वायु के बिगड़ने से होता है। यह वायु, अधोवायु, मल, मूत्र, जँभाई, आँसू (रोवाई), छींक, डकार, वमन, काम, भूख, पियास, नींद के वेगों को रोकने से तथा श्वास रोग से कुपित हो जाती है। गुदग्रह। काँच।

उदावर्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों का एक रोग जिसमें रजोधर्म रुक जाता है और ऋतुकाल में पीड़ा के साथ योनि में फेनयुक्त रुधिर वा रज निकलता है।

उदास-वि० [सं०] (१) जिसका चित्त किसी पदार्थ से हट गया हो। विरक्त। उ०—(क) बरहीं महँ रहु भई उदासा। अंचल खप्पर शृंगी खासा।—जायसी। (ख) तेहि के बचन मानि विश्वासा। तुम चाहहु पति सहज उदासा।—तुलसी। (ग) भक्तबछल हरि भक्त-उधारन। भक्ति परीक्षा के हित कारन। निःकंचन जनमें मम बासा। नारि संग मैं रहौं उदासा।—सूर। (२) झगड़े से अलग। निरपेक्ष। तटस्थ। जो किसी के लेने देने में न हो। उ०—एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं।—तुलसी। (३) खिन्नचित्त। दुःखी। रंजीदा। उ०—(क) साधू भँवरा जगकली निसि दिनि फिरै उदास। टुक इक तहाँ बिलंबिया जहँ शीतल शब्द निवास।—कबीर। (ख) हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यों घास। यह सब जलता देखि के भया कबीर उदास।—कबीर। (ग) चातक जलहल भरे जो पासा। मेघ न बरसे चले उदासा।—कबीर। (घ) रामचंद्र अवतार कहत है सुनि नारद मुनि पास। प्रगट भयो निश्चर मारन को सुनि वह भयो उदास।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं०] दुःख। खेद। रंज। उ०—कहहिं कबीर दासन के दास। काहुहि सुख दे काहुहि उदास।—कबीर।

उदासना*-क्रि० स० [सं० उद्वासन] (१) उजाड़ना। नष्ट करना। उ०—केशव अफल अकाशवायु किल देश उदासै।—केशव। (२) (बिस्तर) समेटना वा बटोरना। (फैला हुआ बिस्तर) लपेटना।

उदासिल*-वि० [सं० उदास+हिं० इल (प्रत्य०)] उदासीन। उदास। उ०—देवता तुम को चहैं निज प्राण सों सरसाइ कै। आप हौ उनते उदासिल कौन सों गुण पाइ कै।—गुमान।

उदासी-संज्ञा पुं० [सं० उदास+हिं० ई (प्रत्य०)] [स्त्री० उदासिन] (१) विरक्त पुरुष। त्यागी पुरुष। संन्यासी। उ०-(क) होय गृही पुनि होय उदासी। अंत काल दोऊ बिश्वासी।—जायसी। (ख) वह पथ जाय जो होय उदासी। योगी जती तपी संन्यासी।—जायसी। (ग) प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी।—तुलसी। (२) नानकशाही साधुओं का एक भेद। ये साधू शिखा नहीं रखते। संन्यासियों के समान सिर घुटाते हैं और लँगोट पहनते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं० उदास+हिं० ई (प्रत्य०)] (१) खिन्नता। उत्साह वा आनंद का अभाव। दुःख। जैसे,—(क) नादिरशाह के आक्रमण के बाद दिल्ली में चारों ओर उदासी बरसती थी। (ख) राम के बनवास से अयोध्या में उदासी छा गई। उ०—बिनु दशरथ सब चले तुरत ही कोशलपुर के बासी। आये रामचंद्र मुख देख्यो सबकी मिटी उदासी।—सूर।

क्रि० प्र०—छाना।—टपकना।—बरसना।—होना।

उदासीन-वि० [सं०] [स्त्री० उदासीना। संज्ञा उदासीनता] (१) विरक्त। जिसका चित्त हट गया हो। प्रपंचशून्य। (२) झगड़े बखेड़े से अलग। जो किसी के लेने देने में न हो। (३) जो विरोधी पक्षों में से किसी की ओर न हो। निष्पक्ष। तटस्थ। (४) रूखा। उपेक्षायुक्त। जैसे,—हम उनसे मिलने गए, पर उन्होंने बड़ा उदासीन भाव धारण किया।

संज्ञा पुं० (१) बारह प्रकार के राजाओं में से वह राजा जो दो राजाओं के बीच युद्ध होते समय किसी की ओर न हो, किनारे रहे। (२) वह पुरुष जिसे किसी अभियोग वा मामले में दो पक्षों में से किसी से संबंध न हो। (३) पंच। तीसरा।

उदासीनता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरक्ति। त्याग। (२) निरपेक्षता। निर्द्वंद्वता। (३) उदासी। खिन्नता।

उदासी बाजा–संज्ञा पुं० [हिं० उदासी+फ़ा० बाजा] एक प्रकार का भोंपा वा फूँककर बजाया जानेवाला बाजा।

उदाहट–संज्ञा पुं० [हिं० ऊदा+हट (प्रत्य०)] ललाई मिला हुआ नीलापन। ऊदापन।

उदाहरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उदाहरणीय, उदाहार्य्य, उदाहृत] (१) दृष्टांत। मिसाल। (२) न्याय में वाक्य के पाँच अवयवों में से तीसरा, जिसके साथ साध्य का साधर्म्य वा वैधर्म्य होता है। उदाहरण दो प्रकार का होता है; एक 'अन्वयी', और दूसरा 'व्यतिरेकी' जिससे साध्य के साथ साधर्म्य होता है, वह अन्वयी है; जैसे—शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्मवाला होने से घट की तरह। यहाँ घट 'अन्वयी', उदाहरण है। व्यतिरेकी वह है, जिससे साध्य के साथ वैधर्म्य हो। जैसे,—शब्द अनित्य है उत्पत्ति धर्म्मवाला होने से। जो उत्पत्ति धर्म्मवाला नहीं होता, वह नित्य होता है, जैसे, आकाश, आत्मा आदि।

उदियाना*–क्रि० अ० [सं० उद्विग्न] उद्विग्न होना। घबराना। हैरान होना। उ०—मन रे कौन कुमति तैं लीनी। परदारा निंदिया रस रचि और राम भगति नहिं कीन्ही।...... ना हरि भज्यो न गुरुजन सेयो नहिं उपज्यो कछु ज्ञाना। घटही माँहि निरंजन तेरे तैं खोजत उदियाना।–तेगबहादुर।

उदित–वि० [सं०] [स्त्री० उदिता] (१) जो उदय हुआ हो। निकला हुआ। (२) प्रकट। ज़ाहिर। (३) उज्ज्वल। स्वच्छ। (४) प्रफुल्लित। प्रसन्न। (५) कहा हुआ। कथित।

उदितयौवना–संज्ञा स्त्री० [सं०] मुग्धा नायिका के सात भेदों में से एक जिसमें तीन हिस्सा यौवन और एक हिस्सा लड़कपन हो। उ०–तीन अंस जोबन जहाँ लरिकाई इक अंस। उदित यौवना सो तहाँ बरनत कवि अवतंस।—रघुनाथ।

उदीची–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० उदीचीन, उदीच्च, औदीच्य] उत्तर दिशा।

उदीचीन–वि० [सं०] उत्तर का।

उदीच्य–वि० [सं०] (१) उत्तर का रहनेवाला। (२) उत्तर की दिशा का। उत्तर की ओर का।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देश जो सरस्वती के उत्तर पश्चिम ओर है। (२) किसी यज्ञ आदि कर्म्म के पीछे दान दक्षिणादि कृत्य।

संज्ञा पुं० [सं०] वैताली छंद का एक भेद जिसके विषम अर्थात् पहले और तीसरे चरणों में दूसरी और तीसरी मात्राएँ मिलकर एक गुरु वर्ण हो जायँ। उ०—हरिहिं भज जाम आठहूँ। जंजालहिं तजि कै करौ यही। तन मन दे लगा सबै। पाइ हौ परमधाम ही सही।

उदीपन*–संज्ञा पुं० दे० "उद्दीपन"।

उदीपित*–वि० दे० "उद्दीपित"।

उदुंबर–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० औदुंबर] (१) गूलर। (२) देहली। ड्योढ़ी। (३) नपुंसक। (४) एक प्रकार का कोढ़। (५) ताँबा। (६) अस्सी रत्ती का एक तौल।

उदुंबरपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दंती। दाँती। एक वृक्ष।

उदुआ†–संज्ञा पुं० [सं० ऋतु, प्रा० उतु] एक प्रकार का मोटा जड़हन।

उदूलहुक्मी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] आज्ञा न मानना। आज्ञा का उल्लंघन करना।

उदेग*–संज्ञा पुं० [सं० उद्वेग] उद्वेग। उचाट। उ०—देश काल बल ज्ञान लोभ करि हीन है। स्वामि काम में लीन सुशील कुलीन है। बहु विधि बरने बानि हिये नहिं भै रहै। पर उर करै उदेग दूतता सो लहै।—सूदन।

उदेल–संज्ञा पुं० [अ० ऊद] लोहबान।

उदै*–संज्ञा पुं० दे० "उदय"।

उदो*–संज्ञा पुं० दे० "उदय"।

उदोत*–संज्ञा पुं० [सं० उद्योत] प्रकाश। दीप्त। उ०—हीरा दिपहिं जो सूर उदोती। नाही तो कित पाहन जोती।—जायसी।

यौ०—उदोतकर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

वि० (१) प्रकाशित। दीप्त। उ०—कबहुँ न मूर्ति मिलिन दोउ होती। दिन दिन करती कला उदोती।—रघुराज। (२) शुभ्र। उत्तम। उ०—एक ब्राह्मणी रचै एक धोती। वर्ष दिवस महँ अतिहिं उदोती।—रघुराज।

उदोतकर*–वि० [सं० उद्योतकर] (१) प्रकाश करनेवाला। प्रकाशक। (२) चमकानेवाला। उज्ज्वल करनेवाला। उ०—औषधि बर वंश उदोतकर सूर सूरता लोप रत।—गोपाल।

उदोती*–वि० [सं० उद्योत] [स्त्री० उदोतिनी] प्रकाश करनेवाला। उदय करनेवाला। विकाशक। उ०—अट्टहास की रोरनि चिंतित मन की द्योतिनि। कलित किलकिला मिलित मोद उर भाव उदोतिनि।—श्रीधर पाठक।

उदौ*–संज्ञा पुं० दे० "उदय"।

उद्गत*–वि० [सं०] (१) निकला हुआ। उद्भूत। उत्पन्न। (२) प्रकट। ज़ाहिर। (३) फैला हुआ। व्याप्त। (४) वमन किया हुआ। छर्दित। (५) प्राप्त। लब्ध।

उद्गम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उदय। आविर्भाव। (२) उत्पत्ति का

स्थान । उद्भव स्थान । निकास । मख़रज । (३) वह स्थान जहाँ से कोई नदी निकलती हो ।

उदुगाता-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में चार प्रधान ऋत्विजों में से एक जो सामवेद के मंत्रों का गान करता है और सामवेद-संबंधी कृत्य कराता है ।

उदुगाथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्य्या छंद का एक भेद जिसके विषम पादों में १२ मात्राएँ और सम में १८ मात्राएँ हों । इसके विषम गणों में जगण नहीं होता । इसे गीत और उग्गाहा भी कहते हैं । उ०—रामा रामा रामा, आठौ जामा जपौ यही नामा । त्यागौ सारे कामा, पैहौ अंत हरी जू को धामा ।

उदुगार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्गारी, उद्गारित] (१) तरल पदार्थ के वेग से बाहर निकलने वा ऊपर उठने की क्रिया । उबाल । उफान । (२) मुँह से निकल पड़ने की क्रिया । वमन । (३) वेग से बाहर निकला हुआ तरल पदार्थ । (४) वमन की हुई वस्तु । कै । (५) थूक । कफ़ । (६) डकार । खट्टी डकार । (७) बाढ़ । आधिक्य । (८) घोर शब्द । तुमुल शब्द । घरघराहट । (९) किसी के विरुद्ध बहुत दिन से मन में रक्खी हुई बात को एकबारगी कहना । जैसे,—उनकी बातें सुनकर न रहा गया, मैंने भी अपने हृदय का उदुगार खूब निकाला ।

उदुगारी-संज्ञा पुं० [सं० उद्गारिन्] ज्योतिष में बृहस्पति के बारहवें युग का दूसरा वर्ष । इसमें राजक्षय और असमान वृष्टि होती है । इसका दूसरा नाम रक्तोद्गारी भी है ।

वि० [सं० उद्गारिन्] [स्त्री० उद्गारिणी] (१) उगलनेवाला । बाहर निकालनेवाला । (२) प्रकट करनेवाला ।

उदुगिरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्गीर्ण] (१) उगलना । बाहर निकालना । (२) वमन ।

उदुगीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्य्या छंद का एक भेद जिसके विषम पदों में १२, दूसरे में १५ तथा चौथे में १८ मात्राएँ होती हैं । इसके विषम गणों में जगण नहीं होता । इसे विगाथा और विगाहा भी कहते हैं । उ०—राम भजहु मन लाई, तन मन धन के सहित मीता । रामहिं निसि दिन ध्यावौ, राम भजहिं तबहिं जग जीता ।

उदुगीथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सामवेद के गाने का एक भेद । एक प्रकार का साम-गान । (२) ओंकार । (३) सामवेद ।

उदुगीर्ण-वि० [सं०] (१) उगला हुआ । मुँह से निकाला हुआ । (२) निकाला हुआ । बाहर किया हुआ ।

उदुघट्टक-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक ।

उदुघाट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खोलने का कार्य्य । (२) वह स्थान जहाँ राज्य की ओर से माल को खोलकर जाँच हो । चौकी ।

उदुघाटन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्घाटक, उद्घाटनीय, उद्घाटित, उद्घाट्य] (१) खोलना । उघाड़ना । (२) प्रकट करना । प्रकाशित करना ।

उदुघात-संज्ञा पुं० [सं०] [उद्घातक, उद्घातर्का] (१) ठोकर । धक्का । आघात । (२) आरंभ ।

उदुघातक-वि० [सं०] [स्त्री० उद्घातिका] (१) धक्का मारनेवाला । ठोकर लगानेवाला । (२) आरंभ करनेवाला ।

संज्ञा पुं० नाटक में प्रस्तावना का एक भेद जिसमें सूत्रधार और नटी आदि की कोई बात सुनकर उसका और अर्थ लगाता हुआ कोई पात्र प्रवेश करता है वा नेपथ्य से कुछ कहता है । उ०—सूत्रधार—प्यारी मैंने ज्योतिष शास्त्र के चौसठों अंगों में बड़ा परिश्रम किया है । जो हो, रसोई तो होने दो । पर आज ग्रहण है, यह तो किसी ने तुम्हें धोखा ही दिया है । क्योंकि—चंद्रबिंब पूरन भए क्रूर केतु हठ दाप । बल सों करि है ग्रास कह । (नेपथ्य में) हैं मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रास कर सकता है ? सूत्र०—जेहि बुध रक्षत आप ।—हरिश्चंद्र । यहाँ सूत्रधार ने तो ग्रहण का विषय कहा था; किंतु चाणक्य ने 'चंद्र' शब्द का अर्थ चंद्रगुप्त प्रकट करके प्रवेश करना चाहा, इसीसे उद्घातक प्रस्तावना हुई ।

उदुघाती-वि० [सं० उद्घातिन्] [स्त्री० उद्घातिनी] (१) ठोकर मारनेवाला । धक्का पहुँचानेवाला । (२) ऊँचा नीचा । ऊभड़ खाबड़ ।

उद्दंड-वि० [सं०] [संज्ञा उद्दंडता] (१) जिसे दंड इत्यादि का कुछ भी भय न हो । अक्खड़ । निडर । उजड्ड । प्रचंड । उद्धत । (२) जिसका डंडा ऊँचा हो ।

उद्दान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन । (२) उद्यम । (३) बड़वानल । (४) चूल्हा । (५) लग्न ।

उद्दाम-वि० [सं०] (१) बंधनरहित । (२) निरंकुश । उग्र । उद्दंड । बेकहा । (३) स्वतंत्र । (४) महान् । गंभीर ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वरुण । (२) दंडक वृत्त का एक भेद जिसके प्रत्येक चरण में २ नगण और १३ रगण होते हैं ।

उद्दालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बनकोदव नाम का अन्न । (२) एक ऋषि का नाम । (३) एक व्रत जो उसके लिये कर्त्तव्य है जिसकी सावित्री पतित हो गई हो; अर्थात् १६ वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी जिसको गायत्री की दीक्षा न मिली हो । इस व्रत में दो महीने जौ, एक महीना सिखरन (दही, दूध और चीनी का शरबत), आठ रात घी और छः रात बिना माँगे मिले हुए पदार्थ पर निर्वाह करना चाहिए । इसके पीछे तीन रात केवल जल पीकर एक दिन रात उपवास करना चाहिए ।

उद्दित*-वि० दे० (१) "उद्यत", (२) "उदित", (३) "उद्धत" ।

उद्दिम*-संज्ञा पुं० दे० "उद्यम" ।

उद्दिष्ट-वि० [सं०] (१) दिखाया हुआ । इंगित किया हुआ । (२) लक्ष्य । अभिप्रेत ।

संज्ञा पुं० (१) पिंगल में वह क्रिया जिससे यह बतलाया जाता है कि दिया हुआ छंद मात्रा-प्रस्तार का कौन सा भेद है । (२) लाल चंदन ।

उद्दीपक–वि० [सं०] [स्त्री० उद्दीपिका] उद्दीपन करनेवाला । उत्तेजित करनेवाला । उभाड़नेवाला ।

उद्दीपन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्दीपनीय, उद्दीपक, उद्दीपित, उद्दीप्त, उद्दीप्य] (१) उत्तेजित करने की क्रिया । उभाड़ना । बढ़ाना । जगाना । (२) उद्दीपन करनेवाली वस्तु । उत्तेजित करनेवाला पदार्थ । (३) काव्य में वे विभाव जो रस को उत्तेजित करते हैं । जैसे, श्रृंगार रस के उद्दीपन करनेवाले सखा, सखी, दूती, ऋतु, पवन, वन, उपवन, चाँदनी आदि ।

उद्देश–संज्ञा पुं० [सं०] [वि०उद्दिष्ट, उद्देश्य, उद्देशित] (१) अभिलाष । चाह । इष्ट । मंशा । मतलब । अभिप्राय । (२) हेतु । कारण । (३) अनुसंधान । (४) न्याय में प्रतिज्ञा ।

उद्देश्य–वि० [सं०] लक्ष्य । इष्ट ।

संज्ञा पुं० (१) वह वस्तु जिस पर ध्यान रखकर कोई बात कही वा की जाय । अभिप्रेत अर्थ । इष्ट । जैसे,—किस उद्देश्य से तुम यह कार्य्य कर रहे हो ! (२) वह जिसके विषय में कुछ विधान किया जाय । वह जिसके संबंध में कुछ कहा जाय । विशेष्य । विधेय का उलटा । जैसे, "वह पुरुष बड़ा वीर है" इस वाक्य में 'वह पुरुष' वा 'पुरुष', उद्देश्य है और "वीर है" वा 'वीर' विधेय है ।

यौ०—उद्देश्य-विधेय-भाव=उद्देश्य और विधेय का संबंध । विशेषण विशेष्य का भाव ।

उद्दोत*–संज्ञा पुं० [सं० उद्योत] प्रकाश ।

वि० (१) प्रकाशित । चमकीला । (२) उदित । उत्पन्न । उ०—काहू को न भयो कहूँ ऐसो सगुन न होत । पुर बैठत श्रीराम के भयो मित्र उद्दोत ।—केशव ।

उद्ध*–क्रि० वि० [सं० ऊर्द्ध, पा० उद्ध] ऊपर । उ०—मिली परस्पर डीठ बीर पग्गिय रिस लग्गिय । जग्गिय जुद्ध विरुद्ध उद्ध पलचर खग खग्गिय ।—सूदन ।

उद्धत–वि० [सं०] [संज्ञा औद्धत्य] (१) उग्र । प्रचंड । अक्खड़ जैसे,—वह उद्धत स्वभाव का मनुष्य है । (२) प्रगल्भ । जैसे,—वह अपने विषय का उद्धत विद्वान् है ।

संज्ञा पुं० (१) ४० मात्राओं का एक छंद जिसमें प्रत्येक दसवीं मात्रा पर विराम होता है और अंत में गुरु लघु होता है । उ०—विभु पूरण रघुबर, सुन्दर हरि नरवर, विभु परम धुरंधर, रामजू सुखसार । मम आशय पूरन, बहु दानव मारन, दीनन जन तारन, कृष्ण जू हर भार । (२) राजा का पहलवान । राजमल्ल ।

उद्धतपन–संज्ञा पुं० [सं० उद्धत+हिं० पन (प्रत्य०)] उजड्डपन । उग्रता ।

उद्धना*–क्रि० अ० [सं० उद्धरण] ऊपर उठना । उड़ना । छितराना । बिखरना । उ०—जरैं बाँस औ काँस, उद्धै फुलंगा । नचै भूमि को पूत कै कोटि अंगा ।—सूदन ।

उद्धरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्धरणीय, उद्धृत] (१) ऊपर उठना । (२) मुक्त होने की क्रिया । (३) बुरी अवस्था से अच्छी अवस्था में आना । (४) पढ़े हुए पिछले पाठ का अभ्यास के लिये फिर फिर पढ़ना । (५) किसी पुस्तक वा लेख के किसी अंश को दूसरी पुस्तक वा लेख में ज्यों का त्यों रखना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(६) उन्मूलन । उखाड़ना । (७) उत्थापन । (८) परोसना । (९) वमन ।

उद्धरणी–संज्ञा स्त्री० [सं० उद्धरण+हिं० ई० (प्रत्य०)] पढ़े हुए पिछले पाठ को अभ्यास के लिये बार बार पढ़ना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

उद्धरना*–क्रि० स० [सं० उद्धरण] उद्धार करना । उबारना ।

क्रि० अ० बचना । छूटना । मुक्त होना । उ०—सूम सदा ही उद्धरै दाता जाय नरक । कहै कबीर ये साख सुनि मति कोई जाव सरक ।—कबीर ।

उद्धव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्सव । (२) यज्ञ की अग्नि । (३) कृष्ण के सखा एक यादव ।

उद्धार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्धारक, उद्धारित] (१) मुक्ति । छुटकारा । त्राण । निस्तार । दुःखनिवृत्ति । जैसे,—(क) इस दुःख से हमारा उद्धार करो । (ख) इस ऋण से तुम्हारा उद्धार जल्दी न होगा । (२) बुरी दशा से अच्छी दशा में आना । सुधार । उन्नति ।

यौ०—जीर्णोद्धार ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(३) ऋणमुक्ति । कर्ज़ से छुटकारा । (४) संपत्ति का वह अंश जो बराबर बाँटने के पहले किसी विशेष क्रम से बाँटने के लिये निकाल लिया जाय । जैसे मनु के अनुसार पैतृक संपत्ति का बीसवाँ भाग सब से बड़े के लिये, चालीसवाँ उससे छोटे के लिये, ८० वाँ उससे छोटे के लिये इत्यादि निकालकर तब बाक़ी को बराबर बाँटना चाहिए । (५) युद्ध की लूट का छठा भाग जो राजा लेता है । (६) ऋण, विशेष कर वह जिस पर ब्याज न लगे । (५) चूल्हा ।

उद्धारना*–क्रि० स० [सं० उद्धार] उद्धार करना । मुक्त करना । छुटकारा देना ।

उद्ध्वस्त–वि० [सं०] गिरा पड़ा हुआ । टूटा हुआ । ध्वस्त । भंग । नष्ट ।

उद्धृत–वि० [सं०] (१) उगला हुआ । (२) ऊपर उठाया हुआ । (३) अन्य स्थान से ज्यों का त्यों लिया हुआ । जैसे,—(क) यह लेख उसका लिखा नहीं है, कहीं से उद्धृत है । (ख) इन उद्धृत वाक्यों का अर्थ बतलाओ ।

उद्बुद्ध–वि० [सं०] (१) विकसित । फूला हुआ । (२) प्रबुद्ध ।

चैतन्य। जिसे बोध वा ज्ञान हो गया हो। (३) जगा हुआ।

उद्बुद्धा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अपनी ही इच्छा से उपपति से प्रेम करनेवाली परकीया नायिका।

उद्बोध—संज्ञा पुं० [सं०] थोड़ा बहुत ज्ञान।

उद्बोधक—वि० [सं०] [स्त्री० उद्बोधिक] (१) बोध करानेवाला। चेतानेवाला। ख़्याल रखानेवाला। (२) प्रकाशित करनेवाला। प्रकट करनेवाला। सूचित करनेवाला। (३) उद्दीप्त करनेवाला। उत्तेजित करनेवाला। (४) जगानेवाला।

उद्बोधन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्बोधनीय, उद्बोधक, उद्बोधित] (१) बोध कराना। चेताना। ख़्याल रखाना। (२) उद्दीपन करना। उत्तेजित करना। (३) जगाना।

उद्बोधिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह परकीया नायिका जो उपपति के चतुराई द्वारा प्रकट किए हुए प्रेम को समझकर प्रेम करे।

उद्भट—वि० [सं०] [संज्ञा उद्भटता] (१) प्रबल। प्रचंड। श्रेष्ठ। जैसे,—ईश्वरचंद्र संस्कृत के एक उद्भट विद्वान थे।

यौ०—रणोद्भट।

(२) उदाशय।

संज्ञा पुं० (१) सूप। (२) कच्छप।

उद्भव—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्भूत] (१) उत्पत्ति। जन्म। सृष्टि।

यौ०—उद्भव स्थान=उत्पत्ति स्थान।

(२) वृद्धि। बढ़ती। जैसे,—हम दूसरे के उद्भव को देख कर क्यों जलें?

उद्भावन—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० उद्भावना] [वि० उद्भावनीय, उद्भावित, उद्भाव्य] (१) कल्पना करना। मन में लाना। (२) उत्पन्न होना।

उद्भावना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कल्पना। मन की उपज।

यौ०—दोषोद्भावना।

(२) उत्पत्ति।

उद्भास—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्भासनीय, उद्भासित, उद्भासुर] (१) प्रकाश। दीप्ति। आभा। (२) हृदय में किसी बात का उदय। प्रतीति।

उद्भासित—वि० [सं०] (१) उत्तेजित। उद्दीप्त। (२) प्रकाशित। प्रकट। जैसे,—उसकी आकृति से क्रूरता उद्भासित होती है। (३) प्रतीत। विदित। जैसे,—हमें तो ऐसा उद्भासित होता है कि इस वर्ष वृष्टि कम होगी।

उद्भिज—संज्ञा पुं० दे० "उद्भिज्ज"।

उद्भिज्ज—संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष, लता, गुल्म आदि जो भूमि फोड़ कर निकलते हैं। वनस्पति।

विशेष—सृष्टि में ये चार प्रकार के प्राणियों में से हैं। मनु इत्यादि ने वृक्षों को अंतसत्त्व कहा है अर्थात् उनमें ऐसी चेतना वा संवेदना बतलाई है जिन्हें वे प्रगट नहीं कर सकते। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी यही मत है।

उद्भिद्—संज्ञा पुं० दे० "उद्भिद"।

उद्भिद—संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष, लता, गुल्म आदि जो भूमि फोड़कर निकलते हैं। वनस्पति।

उद्भिन्न—वि० [सं०] (१) तोड़कर कई भागों में किया हुआ। फोड़ा हुआ। (२) उत्पन्न।

उद्भूत—वि० [सं०] उत्पन्न। निकला हुआ।

उद्भेद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फोड़कर निकलना (पौधों के समान)। (२) प्रकाशन। उद्घाटन। (३) प्राचीनों के मत से एक काव्यालंकार जिसमें कौशल से छिपाई हुई किसी बात का किसी हेतु से प्रकाशित वा लक्षित होना वर्णन किया जाय। उ०—वातायन गत नारि प्रति नमस्कार मिस भान। सो कटाच्छ मुसुकान सों जान्यो सखी सुजान। यहाँ सूर्य्य को नमस्कार करने के बहाने से प्रिय को देखने के लिये नायिका खिड़की पर गई, पर छिपाने की चेष्टा करने पर भी मुसुकान और कटाक्ष द्वारा उसका गुप्त प्रेम प्रकट हो ही गया।

उद्भेदन—संज्ञा पुं० [सं०] [उद्भेदनीय, उद्भिन्न] (१) तोड़ना। फोड़ना। (२) फोड़कर निकलना। छेदकर पार जाना।

उद्भ्रांत—वि० [सं०] (१) घूमता हुआ। चक्कर मारता हुआ। (२) भ्रांतियुक्त। भूला हुआ। भटका हुआ। (३) चकित। भौचक्का।

संज्ञा पु० तलवार के ३२ हाथों में से एक, जिसमें ऊँचा हाथ करके तलवार चारों ओर घुमाते हैं। इससे दूसरे के किए हुए वार को रोकते वा व्यर्थ करते हैं।

उद्यत—वि० [सं०] (१) तैयार। तत्पर। प्रस्तुत। मुस्तैद। उतारू।

यौ०—वधोद्यत। गमनोद्यत।

(२) उठाया हुआ। ताना हुआ।

उद्यम—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्यमी, उद्यत] (१) प्रयास। प्रयत्न। उद्योग। मेहनत। उ०—विफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि पर-द्रोह-निरत-मनसा के।—तुलसी। (२) काम धंधा। रोज़गार। व्यापार। जैसे,—किसी उद्यम में लगो, तब रुपया मिलेगा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

उद्यमी—वि० [सं० उद्यमिन्] उद्यम करनेवाला। उद्योगी। प्रयत्नशील।

उद्यान—संज्ञा पुं० [सं०] बगीचा। उपवन।

उद्यापन—संज्ञा पुं० [सं०] किसी व्रत की समाप्ति पर किया जानेवाला कृत्य, जैसे हवन, गोदान इत्यादि।

उद्युक्त—वि० [सं०] उद्योग में रत। तत्पर। तैयार। मुस्तैद।

उद्योग—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्योगी, उद्युक्त] (१) प्रयत्न। प्रयास। कोशिश। मेहनत। (२) उद्यम। काम धंधा।

उद्योगी–वि० [सं० उद्योगिन्] [स्त्री० उद्योगिनी] उद्योग करनेवाला । प्रयत्नवान् । मेहनती ।

उद्योत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकाश । उजाला । (२) चमक । झलक । आभा ।

उद्योतन–संज्ञा पुं० [सं०][वि० उद्योतक, उद्योतनीय, उद्योतित] (१) प्रकाशित करने वा होने की क्रिया । चमकने वा चमकाने का कार्य्य । (२) प्रकट करने की क्रिया । व्यक्त करने का कार्य्य ।

उद्रेक–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्रिक्त] (१) वृद्धि । बढ़ती । अधिकता । ज़्यादती । (२) एक काव्यालंकार जिसमें कई सजातीय वस्तुओं की किसी एक सजातीय वा विजातीय वस्तु की अपेक्षा तुच्छता दिखाई जाय; अर्थात् जिसमें वस्तु के कई गुणों वा दोषों का किसी एक गुण वा दोष के आगे मंद पड़ जाना वर्णन किया जाय । इसके चार भेद हो सकते हैं ।—(क) जहाँ गुण से गुणों की तुच्छता दिखाई जाय । उ०—जयो नृपति चालुक्य को, नयो बंगपति कंध । पर गहि अठ सुलतान सथ, किय अपूर्व जयचंद । यहाँ जयचंद का आठ सुलतानों को एक साथ पकड़ना चालुक्य और बंग देश के राजाओं के जीतने की अपेक्षा बढ़कर दिखाया गया है । (ख) जहाँ गुण से दोषों की तुच्छता दिखाई जाय । उ०—बैठत जल, पैठत पुहुमि ह्वै निशि अन उद्योत । जगत प्रकाशकता तदपि रवि में हानि न होत । यहाँ जल में बैठ जाने और रात को प्रकाश-रहित रहने की अपेक्षा सूर्य्य में जगत को प्रकाशित करने के गुण की अधिकता दिखाई गई है । (ग) जहाँ दोष से दोषों की तुच्छता दिखाई जाय । उ०—निरखत बोलत हँसत नहिं नहिं आवत पिय पास । भो इन सब सों अधिक दुख सौतिन के उपहास । (घ) जहाँ दोष से गुणों की तुच्छता दिखाई जाय । उ०—गिरि हरि लोटत जंतु लौं पूर्ण पतालहिं कीन्ह । पर ग्यो गौरव सिंधु को मुनि इक अंजुलि पीन्ह । यहाँ समुद्र में विष्णु और पर्वत के लोटने और पाताल को पूर्ण करने के गुणों की अपेक्षा उसके अगस्त मुनि द्वारा पिये जाने के दोष का उद्रेक है ।

उद्वर्तन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु को शरीर में लगाने की क्रिया । व्यवहार । अभ्यंग । जैसे, तेल लगाना, चंदन लगाना, उबटन लगाना । (२) उबटन ।

उद्वह–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० उद्वहा] (१) पुत्र । बेटा ।

यौ०—रघूद्वह ।

(२) सात वायुओं में से एक जो तृतीय स्कंध पर है ।

उद्वहन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर खिंचना । उठना । (२) विवाह ।

उद्वहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कन्या । पुत्री ।

उद्वांत–संज्ञा पुं० [सं०] वमन । क़ै ।

वि० उगला हुआ । क़ै किया हुआ । वमित ।

उद्वासन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्वासनीय, उद्वासक, उद्वासित, उद्वास्य] (१) स्थान छुड़ाना । हटाना । भगाना । खदेड़ना । (२) उजाड़ना । वासस्थान नष्ट करना । (३) मारना । वध । (४) एक संस्कार । यज्ञ के पहले आसन बिछाने, यज्ञपात्रों को साफ़ करके यथास्थान रखने और उनमें घृत आदि डाल रखने का काम । (५) प्रतिमा की प्रतिष्ठा के एक दिन पहले उसे रात भर औषध मिले हुए जल में डाल रखना ।

उद्वाह–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्वाहक, उद्वाहिक, उद्वाहित, उद्वाही, उद्वाह्य] विवाह ।

उद्वाहन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्वाहक, उद्वाहनीय, उद्वाही, उद्वाहित, उद्वाह्य] (१) ऊपर ले जाना । ऊपर चढ़ाना । उठाना । (२) ले जाना । हटाना । (३) विवाह । (४) एक बार जोते हुए खेत को फिर से जोतना । एक बाँह जोते हुए खेत को दूसरी बाँह जोतना । चास लगाना ।

उद्वाहर्क्ष–संज्ञा पुं० [सं०] वे नक्षत्र जिनमें विवाह होते हैं, जैसे तीनों उत्तरा, रेवती, रोहिणी, मूल, स्वाती, मृगशिरा, मघा, अनुराधा और हस्त ।

उद्विग्न–वि० [सं०] (१) उद्वेगयुक्त । आकुल । घबराया हुआ । (२) व्यग्र ।

उद्विग्नता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आकुलता । घबराहट । (२) व्यग्रता ।

उद्वेग–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्विग्न] (१) चित्त की आकुलता । घबराहट । (२) मनोवेग । चित्त की तीव्र वृत्ति । आवेश । जोश । जैसे,—मन के उद्वेगों को दबाए रखना चाहिए । (३) झोंक । जैसे,—क्रोध के उद्वेग में उसने यह काम किया है । (४) रस की दस दशाओं में से एक । वियोग समय की वह व्याकुलता जिसमें चित्त एक जगह स्थिर नहीं रहता ।

उद्वेजन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उद्वेजक, उद्वेजनीय, उद्वेजित] उद्वेग में होने वा करने की क्रिया । आकुल होने वा करने का काम । घबड़ाना ।

उधड़ना–क्रि० अ० [सं० उद्धरण=उन्मूलन, उखड़ना] (१) खुलना । उखड़ना । बिखरना । तितर बितर होना । जैसे,—(क) कुछ दिन में इस कपड़े का सूत सूत उधड़ जायगा । (ख) इस पुस्तक के पन्ने पन्ने उधड़ गए ।

यौ०—सिलाई उधड़ना=सिलाई का टाँका टूट जाना वा खुल जाना ।

(२) उचड़ना । पर्त से अलग होना । जैसे,—पानी में भीगने से दफ़्ती के ऊपर का काग़ज़ उधड़ गया ।

यौ०—चमड़ा उधड़ना=शरीर से चमड़े का अलग होना । जैसे,—ऐसी मार मारेंगे कि चमड़ा उधड़ जायगा ।

उधम*–संज्ञा पुं० दे० "ऊधम" ।

उधर–क्रि० वि० [सं० उतर अथवा पुं० हिं० ऊ (वह)+धर (प्रत्य० सं० त्रल्)] उस ओर । उस तरफ़ । दूसरी तरफ़ । जैसे,—भूलकर भी उधर मत जाना ।

उधरना*-क्रि० स० [सं० उद्धरण] (१) उद्धार पाना। मुक्त होना। छुटकारा पाना। (२) दे० "उधड़ना"।

क्रि० स० उद्धार करना। मुक्त करना। उ०—(क) सोक कनक लोचन, मति छोनी। हरी विमल गुन गन जग जोनी। भरत विवेक बराह विसाला। अनायास उधरी तेहि काला।—तुलसी। (ख) छीर समुद्र मध्य तें यों कहि दीरघ बचन उचारा हो। उधरौं धरनि असुर कुल मारौं धरि नर तन अवतारा हो।—सूर।

उधराना-क्रि० अ० [सं० उद्धरण] (१) हवा के कारण छितराना। खंड खंड होकर इधर उधर उड़ना। तितर बितर होना। बिखरना। जैसे,—रूई हवा में मत रक्खो, उधरा जायगी। उ०—मन के भेद नैन गए माई। लुबधे जाइ श्यामसुंदर रस करी न कछू भलाई।………व्याकुल फिरत भवन बन जहँ तहँ तूल आक उधराई।—सूर। (२) मदांध होना। ऊधम मचाना। सिर पर दुनिया उठाना।

संयो० क्रि०—पड़ना।

उधाड़-संज्ञा पुं० [सं० उद्धार] कुश्ती का एक पेंच।

विशेष—जब दोनों लड़नेवालों के हाथ दोनों की कमर पर रहते हैं और पेंच करनेवाले की गर्दन विपक्षी के कंधे पर होती है, तब वह (पेंच करनेवाला) अपना बायाँ हाथ अपनी गरदन पर से ले जाता है और उससे विपक्षी का लँगोट पकड़ता है और दाहिना पैर बढ़ाकर उसको बगल में फेंक देता है। इस पेंच को उधाड़ वा उखाड़ कहते हैं।

उधार-संज्ञा पुं० [सं० उद्धार=बिना व्याज का ऋण] (१) कर्ज़। ऋण। जैसे,—उसने मुझसे १००) उधार लिए हैं।

क्रि० प्र०—करना। जैसे,—वह १०) बनिए का उधार कर गया है।—रखना=ऋण लेना। ऋण लेकर काम चलाना। —देना।—लेना।

मुहा०—उधार खाए बैठना=(१) किसी अपने अनुकूल होनेवाली बात के लिये अत्यंत उत्सुक रहना। किसी भारी आसरे पर दिन काटते रहना। जैसे,—कभी न कभी रियासत हाथ आवेगी, इसी बात पर तो वे उधार खाए बैठे हैं। (२) किसी की मृत्यु के आसरे में रहना। किसी का नाश चाहना। जैसे,—वह बहुत दिनों से तुम पर उधार खाए बैठा है। (महापात्र लोग इस आशा पर उधार लेते हैं कि अमुक धनी आदमी मरेगा तो ख़ूब रुपया मिलेगा)।

(२) किसी एक की वस्तु का दूसरे के पास केवल कुछ दिनों के व्यवहार के लिये जाना। मँगनी। जैसे,—हलवाई ने बरतन उधार लाकर दूकान खोली है।

क्रि० प्र०—देना।—पर लेना।—लेना।

*(३) उद्धार। छुटकारा।

उधारक-वि० दे० "उद्धारक"।

उधारना*-क्रि स० [सं० उद्धरण] उद्धार करना। मुक्त करना।

उधारी*-वि० [सं० उद्धारिन्] [स्त्री० उधारिणी] उद्धार करनेवाला।

उधेड़ना-क्रि० स० [सं० उद्धरण=उन्मूलन, उखाड़ना] (१) मिली हुई पर्त्त को अलग अलग करना। उचाड़ना। जैसे,—मारते मारते चमड़ा उधेड़ लूँगा। (२) टाँका खोलना। सिलाई खोलना। (३) छितराना। बिखराना।

उधेड़बुन-संज्ञा पुं० [हिं० उधेड़ना+बुनना] (१) सोच विचार। ऊहा पोह। (२) युक्ति बाँधना। जैसे,—किस उधेड़बुन में हो जो कही हुई बात नहीं सुनते।

उधेरना*-क्रि० स० दे० "उधेड़ना"।

उन-सर्व० "उस" का बहुवचन।

विशेष—'वह' का किसी विभक्ति के साथ संयोग होने से "उस" रूप हो जाता है।

उनइस*-वि० दे० "उन्नीस"।

उनक़ा-संज्ञा पुं० [अ०] एक पक्षी जिसे आज तक किसी ने नहीं देखा है। यह यथार्थ में एक कल्पित वस्तु है।

यौ०—उनक़ा-सिफ़त=उनक़ा की तरह कभी न दिखाई देनेवाला। जैसे,—आप तो आजकल उनक़ा-सिफ़त हो रहे हैं, कभी आपकी सूरत ही नहीं दिखाई देती।

उनचास-वि० [सं०एकोनपंचाशत, पा० एकोनपंचास, उनपंचास, पु० हिं० उनचास] चालीस और नौ।

संज्ञा पुं० चालीस और नौ की संख्या वा अंक जो इस तरह लिखा जाता है—"४९"।

उनतीस-वि० [सं० एकोनत्रिंशत, पा० एकुनतीसा, उनतीसा] एक कम तीस। बीस और नौ।

संज्ञा पुं० बीस और नौ की संख्या वा अंक जो इस तरह पर लिखा जाता है—"२९"।

उनदा*-वि० [सं० उन्निद्र] उनींदा। नींद से भरा। उ०—पाग्यो सोर सुहाग को इन बिनही पिय नेह। उनदी ही अँखियाँ ककै कै अलसौंही देह।—बिहारी।

उनमद*-वि० [सं० उद्+मद्] उन्मत्त। मतवाला। उ०—बात कुबैन रहै, उनमद मैन रहै, चित में न चैन रहै चातकी के रव सों।—पद्माकर।

उनमना*-वि० दे० "अनमना"।

उनमाथना*-क्रि० स० [सं० उन्मथन] [वि० उनमाथी] मथना। विलोड़न करना।

उनमाथी*-वि० [हिं० उन्माथना] मथनेवाला। विलोड़न करनेवाला। उ०—जल तें सुथल पर, थल तें सुजल पर उथल पथल जल थल उनमाथी की। बरस कितेक बीते जुगुति चली न कछु बिना दीनबंधु होत साँकरे में साथी को? मन बच करम, पुकारत प्रकट बेनी नाथन के नाथ औ अनाथन

सनाथी को। बल करि हारे हाथाहाथी सब हाथी, तब हाथाहाथी हरखि उबारि लीनों हाथी को।—बेनी।

उनमाद*–संज्ञा पुं० दे० "उन्माद"।

उनमान*–संज्ञा पुं० [सं० अनुमान] (१) अनुमान। ख़याल। ध्यान। समझ। उ०—(क) तीन लोक उनमान में चौथा अगम अगाध। पंचम दिशा है अलख की जानैगा कोइ साध।—कबीर। (ख) कहिबे में न कछू सक राखी। बुधि विवेक उनमान आपने मुख आई सो भाखी। हौं मरि एक कहौं पहरन में वे छिन माहिं अनेक। हारि मानि उठि चल्यो दीन ह्वै छाँड़ि आपनी टेक।—सूर। (२) अटकल। अंदाज़।

संज्ञा पुं० [सं० उद्+मान] (१) परिमाण। नाप। तौल। थाह। उ०—(क) आगम निगम नेति करि गायो शिव उनमान न पायो। सूरदास बालक रसलीला मन अभिलाख बढ़ायो।—सूर। (ख) रूप समुद छवि रस भरो अतिही सरस सुजान। तामें तें भरि लेत दृग अपने घट उनमान।—रसनिधि। (२) शक्ति। सामर्थ्य। योग्यता। उ०—जो जैसा उनमान का तैसा तासों बोल। पोता को गाहक नहीं हीरा गाँठिन खोल।—कबीर।

वि० तुल्य। समान। उ०—तुव नासापुट गात मुक्त फल अधरबिंब उनमान। गुंजा फल सब के सिर धारत प्रकटी मीन प्रमान।—सूर।

उनमानना–क्रि० स० [हिं० उनमान] अनुमान करना। ख़याल करना। सोचना। समझना।

उनमुना*–वि [सं० अन्यमनस्क, हिं० अनमना] [स्त्री० उनमुनी] मौन। चुपचाप। उ०—हँसै न बोलै उनमुनी चंचल मेल्या मार। कह कबीर अंतर बिधा सतगुरु का हथियार।—कबीर।

उनमुनी*–संज्ञा स्त्री० [सं० उन्मनी] उन्मनी मुद्रा। उ०—निराकाश औ लोक निराश्रय निर्णयज्ञान विसेखा। सूक्ष्म वेद है उनमुनि मुद्रा उनमुन बानी लेखा।—कबीर।

उनमूलना*–क्रि० स० [सं० उन्मूलन] उखाड़ना।

उनमेख*–संज्ञा पुं० [सं० उन्मेष] (१) आँख का खुलना। (२) फूल का खुलना। विकाश। उ०—सखि, रघुबीर मुख छबि देखु।......नयन सुखमा निरखि नागरि सुफल जीवन लेखु। मनहुँ बिधि जुग जलज बिरचे ससि सुपूरन मेखु। भृकुटि भाल विशाल राजत रुचिर कुंकुम रेखु। भ्रमर द्वै रवि किरन लाए करन जनु उनमेखु।—तुलसी। (३) प्रकाश।

उनमेखना*–क्रि० स० [सं० उन्मेष] (१) आँख का खुलना। उन्मीलित होना। (२) विकसित होना (फूल आदि का)।

उनमेद–संज्ञा पुं० [सं० उद्=जल+मेद=चरबी] पहली वर्षा से उठा हुआ ज़हरीला फेन जिससे मछलियाँ मर जाती हैं। माँजा। उ०—थोरो जीवन बहुत न भारो। कियो न साधु समागम कबहूँ लियो न नाम तिहारो। अति उन्मत्त मोह माया वश नहिं कफ़ वात बिचारो। करत उपाव न पूछत काहू गनत न खाए खारो। इंद्री स्वाद विवस निसि बासर आपु अपुनपो हार्‌यो। जल उनमेद मीन ज्यों बपुरो पाव कुहारो मार्‌यो।—सूर।

उनरना–क्रि० अ० [सं० उन्नरण=ऊपर जाना] (१) उठना। उमड़ना। उ०—(क) अहिरिनि हाथ दहेंडि सगुन लेइ आवइ हो। उनरत जोबन देखि नृपति मन भावइ हो।—तुलसी। (ख) ऊनरी घटा में आली तू न री! अटा पै बैठ, खून री करैगी लाल चूनरी पहिरि कै। (ग) ऊनरी घटा में देखि चून री लगी है, अहा! कैसी आजु चूनरी फबी है मुख गोरे पै।—हरिश्चंद्र। (२) कूदते हुए चलना। उछलते हुए जाना। उ०—मेरो कह्यो किन मानती, मानिनि, आपुही तें उतको उनरोगी।—देव।

उनवना–क्रि० अ० [सं० उन्नमन] (१) झुकना। लटकना। उ०—लागि सुहाई हरफारेवरी। उनय रही केरा की घौरी।—जायसी। (२) छाना। घिर आना। उ०—(क) उनई बदरिया परिगै साँझा। अगुआ भूले बनखँड माँझा।—कबीर। (ख) उनई घटा चहूँ दिसि आई। छूटहिं बान मेघ झरि लाई।—जायसी। उनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी।—जायसी। (ग) उनवत आव सैन सुलतानी। जानहु परलय आय तुलानी।—जायसी। (३) टूटना। ऊपर पड़ना। उ०—देखि सिंगार अनूप बिधि बिरह चला तब भाग। काल कष्ट वह उनवा सब मोरे जिउ लाग।—जायसी।

उनवर–वि० [सं० ऊन=कम] न्यून। कम। तुच्छ। उ०—जहँ कटहर की उनवर पूछी। बर पीपर का बोलहि छूछी।—जायसी।

उनवान*–संज्ञा पुं० [सं० अनुमान] अनुमान। सोच। ध्यान। समझ।

उनसठ–वि० [सं० एकोनषष्टि, प्रा० एकुन्नसट्ठि, उनसट्ठि] पचास और नौ।

संज्ञा पुं० पचास और नौ की संख्या वा अंक जो इस तरह लिखा जाता है—'५९'।

उनसठि–वि० दे० "उनसठ"।

उनहत्तर–वि० [सं० एकोनसप्तति, प्रा० एकोनसत्तरि, उनसत्तरि, उनहत्तरि] साठ और नौ।

संज्ञा पुं० साठ और नौ की संख्या वा अंक जो इस तरह लिखा जाता है—'६९'।

उनहत्तरि*–वि० दे० "उनहत्तर"।

उनहार*–वि० [सं० अनुसार, प्रा० अनुहार] सदृश। समान।

उनहारि*–संज्ञा स्त्री० [सं० अनुसार] समानता। सादृश्य। एकरूपता।

उनाना*†–क्रि० स० [सं० उन्नमन] (१) झुकाना। (२) लगाना। प्रवृत्त करना।

यौ०—कान उनाना=सुनने के लिये कान लगाना । उ०—पासा सारि कुँवर सब खेलहिं श्रौनन्ह गीत उनाहिं । चैन चाव तस देखा जनु गढ़ छेंका नाहिं ।—जायसी । (३) सुनना । ध्यान देना । उ०—लाख करोरहिं वस्तु बिकाई । सहसन केर न कोउ गनाई । (४) आज्ञा मानना । कहने पर कोई काम करना ।

उनासी*†–वि० दे० "उन्नासी" ।

उनींदा–वि० [सं० उन्निद्र] [स्त्री० उनींदी] बहुत जागने के कारण अलसाया हुआ । नींद से भरा हुआ । नींद में माता हुआ । ऊँघता हुआ । उ०—(क) श्याम उनींदे जानि मातु रचि सेज बिछायो । तापै पौढ़े लाल अतिहि मन हरख बढ़ायो ।—सूर । (ख) उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन । सिय रघुबर के भए उनींदे नैन ।—तुलसी । (ग) लटपटी पाग सिर साजत, उनींदे अंग द्विज देव ज्यों त्यों कै सँभारत सबै बदन ।—देव ।

उन्नइस*–वि० दे० "उन्नीस" ।

उन्नत–वि० [सं०] (१) ऊँचा । ऊपर उठा हुआ । (२) वृद्धिप्राप्त । बढ़ा हुआ । समृद्ध । (३) श्रेष्ठ । बड़ा । महत् ।

उन्नतांश–संज्ञा पुं० [सं०] दूज के चंद्रमा का वह छोर जो दूसरे से ऊँचा हो । (फलित ज्योतिष में इसका विचार होता है कि चंद्रमा का बायाँ छोर उन्नत है वा दाहिना।)

उन्नति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऊँचाई । चढ़ाव । (२) वृद्धि । समृद्धि । तरक्की । बढ़ती ।

उन्नतोदर–संज्ञा पुं० [सं०] चाप वा वृत्तखंड के ऊपर का तल ।

उन्नबी–संज्ञा पुं० [सं०] संकीर्ण राग का एक भेद ।

उन्नाब–संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का बेर जो अफ़ग़ानिस्तान से सूखा हुआ आता है और हकीमी नुसख़ों में पड़ता है ।

उन्नाबी–वि० [अ० उन्नाब] उन्नाब के रँग का । कालापन लिए हुए लाल । स्याही लिए हुए सुर्ख़ ।

उन्नाय–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उन्नायक] (१) ऊपर ले जाना । उठाना । (२) वितर्क । सोच विचार ।

उन्नायक–वि० [सं०] [स्त्री० उन्नायिका] (१) ऊँचा करनेवाला । उन्नत करनेवाला । (२) बढ़ानेवाला । तरक्की देनेवाला ।

उन्नासी–वि० [सं० ऊनाशीति, प्रा० ऊन्नासी] सत्तर और नौ । एक कम अस्सी ।

संज्ञा पुं० सत्तर और नौ की संख्या वा अंक । ७९ ।

उन्निद्र–वि० [सं०] (१) निद्रारहित । जैसे,—उन्निद्र रोग । (२) जिसे नींद न आई हो । (३) विकसित । खिला हुआ ।

उन्नीस–वि० [सं० एकोनविंशति, पा० एकोनवीसा, एकूनवीसा, प्रा० एकोन्नीस, उन्नीस] एक कम बीस । दस और नौ ।

संज्ञा पुं० दस और नौ की संख्या वा अंक । १९ ।

मुहा०—उन्नीस बिस्वे=(१) अधिकतर । जैसे,—उन्नीस बिस्वे तो उनके आने की आशा है । (२) अधिकांश । प्रायः । जैसे,—यह बात उन्नीस बिस्वे ठीक है । उन्नीस होना=(१) मात्रा में कुछ कम होना । थोड़ा घटना । जैसे,—उसका दर्द कल से कुछ उन्नीस अवश्य है । (मात्रा के संबंध में इस मुहाविरे का प्रयोग केवल दशा सूचित करने के लिये होता है जिस में गुण का कुछ भाव आ जाता है ।) (२) गुण में घट कर होना । जैसे,—यह कपड़ा उस से किसी तरह उन्नीस नहीं है । उन्नीस बीस होना=(१) मात्रा में कुछ कम होना । थोड़ा घटना । जैसे,—कहिए, इस दवा से आपका दर्द कुछ उन्नीस बीस है । (मात्रा के संबंध में इस मुहाविरे का प्रयोग केवल दशा सूचित करने के लिये होता है जिसमें गुण का कुछ भाव आ जाता है) । (२) आपत्ति आना । बुरी घटना का होना । ऐसी वैसी बात होना । भला बुरा होना । जैसे,—क्यों पराए लड़के को अपने घर रखते हो ? कुछ उन्नीस बीस हो जाय तो मुशकिल हो । (दो वस्तुओं का परस्पर) उन्नीस बीस होना=एक का दूसरे से कुछ अच्छा होना । जैसे,—मैंने दोनों धोतियाँ देखी हैं, कुछ उन्नीस बीस ज़रूर हैं । उन्नीस बीस का फ़र्क़=बहुत ही थोड़ा अंतर ।

उन्नीसवाँ–वि० [हिं० उन्नीस+वाँ (प्रत्य०)] गिनती में उन्नीस के स्थान पर पड़नेवाला । अठारहवें के बाद का ।

उन्नेता–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करानेवाले सोलह ऋत्विजों में से चौदहवाँ जो तैयार सोमरस को ग्रहों वा पात्रों में ढालता है ।

उन्मंथ–संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग जिससे कान की लव सूज आती हैं और उनमें खाज होती है । यह रोग कान के लव के छेद को आभूषण आदि पहनने के निमित्त बहुत बढ़ाने से होता है ।

उन्मज्जन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उन्मज्जनीय, उन्मज्जित] मज्जन वा डूबने का उलटा । निकलना । उठना ।

उन्मत्त–वि० [सं०] [संज्ञा उन्मत्तता] (१) मतवाला । मदांध । (२) जो आपे में न हो । बेसुध । (३) पागल । बावला । सिड़ी । विक्षिप्त ।

यौ०—उन्मत्त प्रलाप=पागलों की बात चीत । अंडबंड और निरर्थक वचन ।

संज्ञा पुं० (१) धतूरा । (२) मुचकुंद का पेड़ ।

यौ०—उन्मत्त पंचक=धतूरा, बकुची, भाँग, जावित्री और खसखास इन पाँच मादक द्रव्यों का समुच्चय । उन्मत्त रस=पारे गंधक, सोंठ, मिर्च और पीपल के संयोग से बना हुआ एक रसौषध जिसे नाक में नास देने से सन्निपात दूर होता है ।

उन्मत्तता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मतवालापन । पागलपन ।

उन्मनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] खेचरी, भूचरी आदि हठ योग की पाँच मुद्राओं में से एक । इसमें दृष्टि को नाक की नोक पर गड़ाते हैं और भौं को ऊपर चढ़ाते हैं ।

उन्माद–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उन्मादक, उन्मादी] (१) पागलपन। बावलापन। विक्षिप्तता। चित्त विभ्रम। वह रोग जिसमें मन और बुद्धि का कार्य्यक्रम बिगड़ जाता है।

विशेष—वैद्यक के अनुसार भाँग, धतूरा आदि मादक द्रव्यों तथा प्रकृतिविरुद्ध पदार्थों के सेवन तथा भय, हर्ष, शोक आदि की अधिकता से मन वातादि-दोषयुक्त हो जाता है और उसकी धारणाशक्ति जाती रहती है। बुद्धि ठिकाने न रहना, शरीर का बल घटना, दृष्टि स्थिर न रहना आदि उन्माद के पूर्व रूप कहे गए हैं। उन्माद के छः मुख्य भेद माने गए हैं—वातोन्माद, पित्तोन्माद, कफोन्माद, सन्निपातोन्माद, शोकोन्माद और विषोन्माद। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सकों के अनुसार जीवन की झंझट, विश्राम के अभाव, मादक द्रव्यों के सेवन, कुत्सित भोजन, घोर व्याधि, अधिक संतानोत्पत्ति, अधिक विषय भोग, सिर की चोट आदि से उन्माद होता है। डाक्टरों ने उन्माद के दो विभाग किए हैं। एक तो वह मानसिक विपर्य्यय जो मस्तिष्क के अच्छी तरह बढ़कर पुष्ट हो जाने पर होता है। दूसरा वह जो मस्तिष्क की बाढ़ के रुकने के कारण होता है। उन्माद प्रत्येक अवस्था के मनुष्यों को हो सकता है; पर स्त्रियों को २५ और ३५ के बीच और पुरुषों को ३५ और ५० के बीच अधिक होता है।

(२) रस के ३३ संचारी भावों में से एक जिसमें वियोग आदि के कारण चित्त ठिकाने नहीं रहता।

यौ०—उन्मादग्रस्त।

उन्मादक–वि० [सं०] (१) चित्त-विभ्रम उत्पन्न करनेवाला। पागल करनेवाला। (२) नशा करनेवाला।

उन्मादन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उन्मत्त करने का कार्य्य। मतवाला करने की क्रिया। (२) कामदेव के पाँच बाणों में से एक।

उन्मादी–वि० [सं० उन्मादिन्] [स्त्री० उन्मादिनी] जिसे उन्माद हुआ हो। उन्मत्त। पागल। बावला।

उन्मान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नापने वा तौलने का कार्य्य। (२) नाप। तौल। (३) द्रोण नामक पुरानी तौल जो ३२ सेर की होती थी।

उन्मार्ग–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उन्मार्गी] (१) कुमार्ग। बुरा रास्ता। (२) बुरा ढंग। बुरी चाल। निकृष्ट आचरण।

उन्मार्गी–वि० [सं० उन्मार्गिन्] [स्त्री० उन्मार्गिनी] कुमार्गी। बुरी राह पर चलनेवाला। बुरे चाल चलन का।

उन्मिषित–वि० [सं०] (१) खुला हुआ। (२) फूला हुआ। विकसित।

उन्मीलन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उन्मीलक, उन्मीलनीय, उन्मीलित] (१) खुलना। (नेत्र का)। (२) विकसित होना। खिलौना।

उन्मीलना*–क्रि० स० [सं० उन्मीलन] खोलना।

उन्मीलित–वि० [सं०] खुला हुआ।

संज्ञा पुं० एक काव्यालंकार जिसमें दो वस्तुओं के बीच इतना अधिक सादृश्य वर्णन किया जाय कि केवल एक ही बात के कारण उनमें भेद दिखाई पड़े। उ०—दीठि न परत समान दुति कनक कनक से गात। भूखन कर करकस लगत परस पिछाने जात। यहाँ सोने के गहने और सोने के ऐसे शरीर के बीच केवल छूने से भेद मालूम होता है।

उन्मुख–वि० [सं०] [स्त्री० उन्मुखा] (१) ऊपर मुँह किए। ऊपर ताकता हुआ। (२) उत्कंठा से देखता हुआ। (३) उत्कंठित। उत्सुक। (४) उद्यत। तैयार। जैसे,—गमनोन्मुख। प्रसवोन्मुख।

उन्मूलक–वि० [सं०] उखाड़नेवाला। समूल नष्ट करनेवाला। ध्वस्त करनेवाला। बरबाद करनेवाला।

उन्मूलन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उन्मूलक, उन्मूलनीय, उन्मूलित] (१) जड़ से उखाड़ना। समूल नष्ट करना। (२) नष्ट करना। ध्वस्त करना। मटियामेट करना।

उन्मूलनीय–वि० [सं०] (१) उखाड़ने योग्य। (२) नष्ट करने योग्य।

उन्मूलित–वि० [सं०] (१) उखाड़ा हुआ। (२) नष्ट किया हुआ।

उन्मेष–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उन्मिषित] (१) खुलना (आँख का)। (२) विकाश। खिलना। (३) थोड़ा प्रकाश। थोड़ी रोशनी।

उन्हाँलागम*–संज्ञा पुं० [सं० उष्णकालागम] ग्रीष्म ऋतु। जेठ और असाढ़।—डिं०।

उन्हानि*–संज्ञा स्त्री० [हिं० उनहारि] समता। बराबरी। उ०—इंदु, रवि, चंद्र न, फणींद्र न, मुनींद्र न, नरेंद्र न, नगेन्द्र, गति जानै जगजैनी की। देव, ब्रज दंपति, सुहाग भाग संपति की सुख उन्हानि ये करै न एक रैनी की।—देव।

उपंग–संज्ञा पुं० [सं० उपाङ्ग] (१) एक प्रकार का बाजा। नसतरंग। उ०—(क) चंग उपंग नाद सुर तूरा। मुहरवंस बाजे भल तूरा।—जायसी। (ख) उघटत श्याम नृत्यत नारि। धरे अधर उपंग उपजैं लेत हैं गिरधारि।—सूर। (२) उद्धव के पिता। उ०—हरि गोकुल की प्रीति चलाई। सुनहु उपँगसुत मोहिं न बिसरत ब्रजनिवास सुखदाई।—सूर।

उपंत*–वि० [सं० उत्पन्न, प्रा० उप्पन्न] उत्पन्न। पैदा। उ०—तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देइ झकझोरा। तरवर झरहिं झरहिं बन ढाखा। भईं उपंत फूल कर साखा।—जायसी।

उप–उप० [सं०] यह उपसर्ग जिन शब्दों के पहले लगता है उनमें इन अर्थों की विशेषता करता है। समीपता, जैसे—उपकूल, उपकूप, उपनयन, उपगमन। सामर्थ्य (वास्तव में आधिक्य), जैसे—उपकार। गौणता वा न्यूनता, जैसे—उपमंत्री, उपसभापति, उपपुराण। व्याप्ति, जैसे—उपकीर्ण।

उपकनिष्ठिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] सबसे छोटी उँगली के पास की अँगुली। अनामिका।

उपकरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) साधक वस्तु। सामग्री। सामान। (२) राजाओं के छत्र, चँवर आदि राजचिह्न।

उपकरना*–क्रि० स० [सं० उपकार] उपकार करना। भलाई करना। उ०—(क) मुक्ते साँठ गाँठ जो करे। साँकर परे सोइ उपकरे। —जायसी। (ख) जहाँ परस्पर उपकरत तहाँ परस्पर नाम। बरनत सब ग्रंथनि मते कविकोविद मतिराम।—मतिराम।

उपकर्त्ता–संज्ञा पुं० [सं० उपकर्तृ] [स्त्री० उपकर्त्री] उपकार करनेवाला। भलाई करनेवाला।

उपकार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपकारक, उपकारी, उपकार्य, उपकृत] (१) हितसाधन। भलाई। नेकी।

क्रि० प्र०—करना।—मानना=की हुई भलाई को याद रखना। कृतज्ञ होना।

यौ०—कृतोपकार। परोपकार।

(२) लाभ। फ़ायदा। जैसे,—इस औषध ने बड़ा उपकार किया।

उपकारक–वि० [सं०] [स्त्री० उपकारिका] उपकार करनेवाला। भलाई करनेवाला।

उपकारिका–वि० [सं०] उपकार करनेवाली।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजभवन। (२) ख़ेमा। तंबू।

उपकारिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] भलाई। प्रयोजन की सिद्धि।

उपकारी–वि० [सं० उपकारिन्] [स्त्री० उपकारिणी] (१) उपकार करनेवाला। भलाई करनेवाला। (२) लाभ पहुँचानेवाला। फ़ायदा पहुँचानेवाला।

उपकार्य्य–वि० [सं०] [स्त्री० उपकार्य्या] उपकार किए जाने योग्य। जिसके साथ उपकार करना उचित हो।

उपकार्य्या–वि० [सं०] जिस (स्त्री) के साथ उपकार करना उचित हो।

संज्ञा स्त्री० ख़ेमा। तंबू।

उपकुर्वाण–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मचारियों के दो भेदों में से एक। वह ब्रह्मचारी जो स्वाध्याय पूरा कर गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे; अर्थात् यावज्जीवन ब्रह्मचारी न रहे।

उपकुश–संज्ञा पुं० [सं०] मसूड़े का एक रोग जिसमें दाँत हिलने लगते हैं और उनमें मंद मंद पीड़ा होती है।

उपकूल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किनारा। तट। (२) तट के पास की भूमि। तीर के पास की ज़मीन।

उपकृत–वि० [सं०] (१) जिसके साथ उपकार किया गया हो। जिसके साथ भलाई की गई हो। उपकार-प्राप्त। (२) कृतज्ञ। एहसानमंद।

उपकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] उपकार। भलाई।

उपकोशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] उपवर्ष की कन्या, वररुचि की पत्नी जिसकी कथा कथासरित्सागर में लिखी है।

उपक्रम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्य्यारंभ की पहली अवस्था। प्रथमारंभ। अनुष्ठान। उठान। (२) किसी कार्य्य को आरंभ करने के पहले का प्रयोजन।

क्रि० प्र०—करना।

(३) भूमिका। तमहीद।

क्रि० प्र०—बाँधना।

(४) चिकित्सा। इलाज।

उपक्रमण–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० उपक्रमणी] (१) आरंभ। अनुष्ठान। (२) आयोजन। तैयारी। (३) भूमिका। तमहीद।

उपक्रमणिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी पुस्तक के आदि में दी हुई विषय-सूची। किसी पुस्तक के विषयों का संक्षिप्त विवरण। (२) एक पुस्तक जिसमें वेद के मंत्रों और सूक्तों के ऋषि, छंद और देवता लिखे हैं।

उपक्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] उपकार। भलाई।

उपक्षेप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभिनय के आरंभ में नाटक के समस्त वृत्तांत का संक्षेप में कथन। (२) आक्षेप।

उपखान*–संज्ञा पुं० दे० "उपाख्यान"।

उपगंता–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहुँचनेवाला। (२) स्वीकार करनेवाला। (३) जानकार। जाननेवाला।

उपगत–वि० [सं०] (१) प्राप्त। उपस्थित। सामने आया हुआ। (२) ज्ञात। जाना हुआ। (३) स्वीकार किया हुआ। अंगीकार किया हुआ।

उपगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राप्ति। स्वीकार। (२) ज्ञान।

उपगमन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपगत] (१) पास जाना। (२) स्वीकार। (३) ज्ञान।

उपगाता–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के ऋत्विजों में से एक जो गाने में उद्गाता का साथ देता है।

उपगीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्य्या छंद का एक भेद जिसके विषम पदों में १२ और सम पदों में १५ मात्राएँ होती हैं। अंत में एक गुरु होता है। विषम गणों में जगण न होना चाहिए। इसका दूसरा नाम "गाहू" भी है। उ०—रामा रामा रामा आठौ जामा जपौ रामा। छाँडौ सारे कामा पैहौ अंतै सुविश्रामा।

उपगूहन–संज्ञा पुं० [सं०] आलिंगन।

उपग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिरफ़्तारी। (२) क़ैद। (३) बँधुआ। क़ैदी। (४) अप्रधान ग्रह। छोटा ग्रह।

विशेष—ग्रहों की पुरानी गणना में राहु और केतु उपग्रह माने गए हैं।

(५) फलित ज्योतिष में सूर्य्य जिस नक्षत्र के हों, उससे पाँचवाँ (विद्युन्मुख), आठवाँ (शून्य), चौदहवाँ (सन्निपात), अठारहवाँ (केतु), इक्कीसवाँ (उल्का), बाईसवाँ (कंप), तेईसवाँ (वज्रक) और चौबीसवाँ (निर्घात), नक्षत्र भी उप-

ग्रह कहलाता है। (६) वह छोटा ग्रह जो अपने बड़े ग्रह के चारों ओर घूमता है। जैसे पृथ्वी का उपग्रह चंद्रमा।

उपग्रहण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हथेली में ली हुई चीज़ को गिरने वा टपकने से बचाने के लिये उसके नीचे दूसरी हथेली लगा देना। (२) गिरफ्तार करना। क़ैद करना। (३) संस्कारपूर्वक अध्ययन। पढ़ना।

उपघात–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपघातक, उपघाती] (१) नाश करने की क्रिया। (२) इंद्रियों का अपने अपने काम में असमर्थ होना। अशक्ति। (३) रोग। व्याधि। (४) इन पाँच पातकों का समूह, उपपातक, जातिभ्रंशीकरण, संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलिनीकरण (स्मृति)।

उपघातक–वि० [सं०] [स्त्री० उपघातिका] (१) नाशकारक। (२) पीड़ा देनेवाला।

उपघाती–वि० [सं० उपघातिन्] [स्त्री० उपघातिनी] (१) नाशकारी। (२) पीड़ा पहुँचानेवाला।

उपचय–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपचयित, उपचित] (१) वृद्धि। उन्नति। बढ़ती। (२) संचय। जमा करना। (३) कुंडली में लग्न से तीसरा, छठा, दसवाँ वा ग्यारहवाँ स्थान।

उपचरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपचारित, उपचर्य] (१) पास जाना। पहुँचना। (२) सेवा। पूजा करना।

उपचरित–वि० [सं०] (१) सेवित। पूजित। (२) लक्षण से जाना हुआ।

उपचर्य्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेवा। (२) चिकित्सा।

उपचार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपचारक, उपचारी, उपचारित, औपचारिक] (१) व्यवहार। प्रयोग। विधान। (२) चिकित्सा। दवा। इलाज। उ०—ग्रह गृहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार। ताहि पिलाई बारुनी कहहु कौन उपचार।—तुलसी। (३) सेवा। तीमारदारी। (४) धर्म्मानुष्ठान। (५) पूजन के अंग वा विधान जो प्रधानतः सोलह माने गए हैं। जैसे, आवाहन, आसन, अर्घपाद्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्राभरण, यज्ञोपवीत, गंध (चंदन), पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, तांबूल, परिक्रमा, वंदना।

यौ०—षोडशोपचार।

(६) किसी को संतुष्ट करने के लिये उसके मुँह पर झूठ बोलना। ख़ुशामद। (७) घूस। रिशवत। (८) एक प्रकार की संधि जिसमें विसर्ग के स्थान पर श वा स हो जाता है; जैसे निःछल से निश्छल, निःसंदेह से निस्संदेह (९) सामवेद का एक परिशिष्ट।

उपचारक–वि० [सं०] [स्त्री० उपचारिका] (१) उपचार करनेवाला। सेवा करनेवाला। (२) विधान करनेवाला। (३) चिकित्सा करनेवाला। दवा करनेवाला।

उपचारछल–संज्ञा पुं० [सं०] वादी के कहे वाक्य में जान बूझकर अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना कर दूषण निकालना। जैसे किसी ने कहा कि "ये नव (नौ) कंबल हैं"। इस पर दूसरा कहे कि "वाह ये नए कहाँ हैं ?"

उपचारना*–क्रि० स० [सं० उपचार] (१) व्यवहार में लाना। काम में लाना। (२) विधान करना। उ०—घर घर तें आई व्रज सुंदरि मंगल साज सँवारे। हेम कलस सिर पर धरि पूरन काम मंत्र उपचारे।—सूर।

उपचारी–वि० [सं० उपचारिन्] [स्त्री० उपचारिणी] (१) उपचार करनेवाला।

उपचार्य्य–वि० [सं०] (१) उपचार वा सेवा के योग्य। (२) चिकित्सा के योग्य।

संज्ञा पुं० चिकित्सा।

उपचित–वि० [सं०] (१) बढ़ा हुआ। समृद्ध। (२) संचित। इकट्ठा।

उपचित्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णार्द्ध समवृत्त जिसके विषम चरणों में तीन सगण और एक लघु और एक गुरु तथा सम चरणों में तीन भगण और दो गुरु हों। उ०—करुणानिधि माधव मोहना। दीन दयाल सुनो हमरी जू। कमलापति यादव सोहना। मैं शरणागत हौं तुम्हरी जू।

उपचित्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चित्रा नक्षत्र के पास के नक्षत्र, हस्त और स्वाती। (२) दंती वृक्ष। (३) मूसाकानी का पौधा। (४) १६ मात्राओं का एक छंद जिसमें आठ मात्राओं के बाद एक गुरु होता है और अंत में भी गुरु होता है। यह एक प्रकार की चौपाई है। उ०—मोरी सुनु चित दै रघुबीरा। करु दाया मोपै बलबीरा।

उपज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्पत्ति। उद्भव। पैदावार। जैसे,—इस खेत की उपज अच्छी है।

विशेष—इसका प्रयोग बड़े जीवों के संबंध में नहीं होता; विशेष कर वनस्पति के संबंध में होता है।

(२) मन में आई हुई नई बात। नई उक्ति। उद्भावना। सूझ। जैसे,—यह सब कवियों की उपज है। (३) मन में गढ़ी हुई बात। मनगढ़ंत।

मुहा०—उपज की लेना=नई उक्ति निकालना।

(४) गाने में राग की सुंदरता के लिये उसमें बँधी हुई तानों के सिवा कुछ तान अपनी ओर से मिला देना। सितार बजानेवाले इसे मिज़राब कहते हैं। उ०—धरे अधर उपंग उपजैं लेत हैं गिरिधारि।—सूर।

क्रि० प्र०—लेना।

उपजना–क्रि० अ० [सं] उत्पन्न होना। पैदा होना। उगना। उ०—(क) जेहि जल उपजे सकल सरीरा। सो जल भेद न जान कबीरा।—कबीर। (ख) खेत में उपजै सब कोई

खाय। घर में उपजै घर बहि जाय।—पहेली। (ग) उपजै बिनसै ज्ञान जिमि पाइ सुसंग कुसंग।—तुलसी।

विशेष—गद्य में इस शब्द का प्रयोग बड़े जीवों के लिये नहीं होता, जड़ और वनस्पति के लिये होता है। पर पद्य में इसका व्यवहार सब के लिये होता है; जैसे—जिमि कुपूत कुल उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं।

उपजाऊ-वि० [हिं० उपज+आऊ (प्रत्य०)] जिसमें अच्छी उपज हो। जिसमें पैदावार अच्छी हो। उर्वर। ज़रख़ेज़।

यौ०—उपजाऊ भूमि।

उपजाति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वे वृत्त जो इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा तथा इंद्रवंशा और वंशस्थ के मेल से बनते हैं। इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा के मेल से १४ वृत्त बनते हैं—कीर्ति, वाणी, माला, शाला, हंसी, माया, जाया, बाला, आर्द्रा, भद्रा, प्रेमा, रामा, ऋद्धि और सिद्धि। कहीं कहीं शार्दूलविक्रीड़ित और स्रग्धरा के योग से भी उपजाति बनती है।

उपजाना-क्रि० स० [हिं० उपजना का स० रूप] उत्पन्न करना। पैदा करना।

विशेष—गद्य में इसका प्रयोग विशेषत: जड़ और वनस्पति के लिये होता है, बड़े जीवों के लिये नहीं। पर पद्य में सब के लिये होता है। जैसे,—भलेहु पोच सब विधि उपजाए।—तुलसी।

उपजीवन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपजीवी, उपजीवक] (१) जीविका। रोज़ी। (२) दूसरे का सहारा। निर्वाह के लिये दूसरे का अवलंबन।

उपजीवी-वि० [सं० उपजीविन्] [स्त्री० उपजीविनी] दूसरे के आधार पर रहनेवाला। दूसरे के सहारे पर गुज़र करनेवाला।

उपटन-संज्ञा पुं० दे० "उबटन"।

संज्ञा पुं० [सं० उत्पट=पट के ऊपर। उत्पतन=ऊपर उठना] अंक वा चिह्न जो आघात पहुँचाने, दबाने वा लिखने से पड़ जाय। निशान। साँट।

उपटना-क्रि० अ० [सं० उत्पट=पट के ऊपर। अथवा उत्पतन=ऊपर उठना] (१) आघात, दाब वा लिखने का चिह्न पड़ना। निशान पड़ना। साँट पड़ना। जैसे,—(क) इस स्याही से लिखे अक्षर उपटे नहीं हैं। (ख) उसने ऐसा तमाचा मारा कि गाल पर उँगलियाँ (उँगलियों के चिह्न) उपट आईं। (२) उखड़ना।

उपटा†-संज्ञा पुं० [सं० उत्पतन=ऊपर आना] (१) पानी की बाढ़। करार पर पानी चढ़ना। (२) ठोकर।

उपटाना*-क्रि० अ० [हिं० उबटना का प्रे० रूप] उबटन लगवाना।

क्रि० स० [सं० उत्पाटन] (१) उखड़वाना। (२) उखाड़ना। उ०—द्विरद को दंत उपटाय तुम लेत हौ उहै बल आज काहे न सँभाग्यो।—सूर।

विशेष—यह प्रयोग उन प्रयोगों में से है जहाँ सकर्मक रूप अकर्मक के स्थान पर लाया जाता है।

उपटारना-क्रि० स० [सं० उत्पटन] उचाटन करना। उठाना। हटाना। उ०—कोकिल हरि को बोल सुनाव। मधुबन ते उपटारि श्याम को यहि ब्रज लै करि आव।—सूर।

उपड़ना-क्रि० अ० [सं० उत्पटन] (१) उखड़ना। (२) उपटना। अंकित होना। निशान पड़ना। उ०—देखा कि उन चरण चिह्नों के पास एक नारी के पाँव भी उपड़े हुए हैं।—लल्लू।

उपतुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वास्तुविद्या (घर बनाना) में खंभे के नौ बराबर भागों में तीसरा भाग।

उपत्यका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पर्वत के पास की भूमि। तराई।

उपदंश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरमी। आतशक। फिरंगरोग। (२) मद्य के ऊपर रुचनेवाली वस्तु। गज़क। चाट। उ०—राधिका हरि अतिथि तुम्हारे। अधर सुधा उपदंश सीक शुचि विधु पूरन मुख वास सँचारे।—सूर।

उपदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] भेंट जो बड़े लोगों को दी जाय। नज़र।

उपदिशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दो दिशाओं के बीच की दिशा। कोण।

उपदिष्ट-वि० [सं०] (१) जिसे उपदेश दिया गया हो। जिसे कुछ सिखाया गया हो। (२) जिसके विषय में उपदेश दिया गया हो। ज्ञापित।

उपदेश-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपदेश्य, उपदिष्ट, उपदेशी, औपदेशिक] (१) हित की बात का कथन। शिक्षा। सीख। नसीहत। (२) दीक्षा। गुरुमंत्र।

उपदेशक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० उपदेशिका] उपदेश करनेवाला। शिक्षा देनेवाला। अच्छी बात बतलानेवाला। उ०—कहाँ सो गुरु पाऊँ उपदेशी। अगम पंथ कर होय सँदेशी।—जायसी।

उपदेश्य-वि० [सं०] (१) उपदेश के योग्य। जिसे उपदेश देना उचित हो। (२) जिस (बात) का उपदेश करना उचित हो। सिखाने योग्य (बात)।

उपदेष्टा-संज्ञा पुं० [सं० उपदेष्टृ] [स्त्री० उपदेष्ट्री] उपदेश देनेवाला। शिक्षक।

उपदेस*†-संज्ञा पुं० दे० "उपदेश"।

उपद्रव-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपद्रवी] (१) उत्पात। आकस्मिक बाधा। हलचल। विप्लव। (२) ऊधम। दंगा फ़साद। गड़बड़।

क्रि० प्र०—उठाना।—करना।—खड़ा करना।—मचाना।

(३) किसी प्रधान रोग के बीच में होनेवाले दूसरे विकार वा पीड़ाएँ; जैसे ज्वर में प्यास, सिर की पीड़ा आदि। जैसे,—यह दवा दो, दाह आदि सब उपद्रव शांत हो जायँगे।

उपद्रवी-वि० [सं० उपद्रविन्] (१) उपद्रव मचानेवाला। हलचल मचानेवाला। दंगा करनेवाला। ऊधम मचानेवाला। (२) नटखट। फ़सादी। बखेड़िया।

उपधरना*–क्रि० अ० [सं० उपधरण=अपनी ओर खींचना] ग्रहण करना। अंगीकार करना। अपनाना। शरण में लेना। सहारा देना। उ०—जिनको साँई उपधरा तिन्ह बाँका नहिं कोइ। सब जग रूसा का करै राखनहारा सोइ।—दादू।

उपधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छल। कपट। (२) राजा द्वारा मंत्री पुरोहित आदि की परीक्षा। (३) व्याकरण में किसी शब्द के अंतिम अक्षर के पहले का अक्षर। (४) उपाधि।

उपधातु–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अप्रधान धातु, जो या तो लोहे, ताँबे आदि धातुओं के विकार वा मैल हैं वा उनके योग से बनी हैं अथवा स्वतंत्र खानों से निकलती हैं। प्रधान धातुओं के समान उपधातु भी सात गिनाई गई हैं—सोनामक्खी, रूपामाखी, तूतिया, काँसा, मुर्दासंख, सिंदूर, शिलाजतु वा गेरू (भाव प्रकाश)। पर किसी के मत मे सात उपधातु ये हैं। सोनामाखी, नीलाथोथा, हरताल, सुरमा, अब्रक, मैनसिल और खपरिया। (२) शरीर के रस रक्त आदि सात धातुओं से बने हुए, दूध, चरबी, पसीना आदि पदार्थ।

उपधान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपधृत] (१) ऊपर रखना वा ठहराना। (२) वह जिस पर कोई वस्तु रक्खी जाय। सहारे की चीज। यौ०—पादोपधान।
(३) तकिया। गेडुआ। उ०—विविध बसन उपधान तुराई। छीर फेन सम विशद सुहाई।—तुलसी। (४) मंत्र जो यज्ञ की ईंट रखते समय पढ़ा जाता है। (५) विशेषता। (६) प्रणय। प्रेम।

उपधारण–संज्ञा पुं० [सं०] किसी ऊपर रक्खी हुई वस्तु को लग्गी आदि से खींचना।

उपधि–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० औपधिक] जान बूझकर और का और कहना। छल। कपट।

उपधूमित योग–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में वह योग जिसमें यात्रा तथा और शुभ कर्म्मों का निषेध है; जैसे प्रत्येक दिन का पहला पहर ईशान कोण की यात्रा के लिये, दूसरा पूर्व के लिये, तीसरा अग्नि कोण के लिये, चौथा दक्षिण के लिये उपधूमित है।

उपधृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] किरण।

उपनंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रज के अधिकारी नंद के छोटे भाई। (२) वसुदेव के एक पुत्र। (३) गर्गसंहिता के अनुसार वह जिसके पास पाँच लाख गौएँ हों।

उपनद्ध–वि० [सं०] (१) बँधा हुआ। (२) नधा हुआ।

उपनना*–क्रि० अ० [सं०] पैदा होना। उत्पन्न होना। उपजना। उ०—(क) वह सूरज तुम ससि बदन आन मिलाऊ सोय। तस दुख महँ सुख उपनै रैन माँझ दिन होय।—जायसी। (ख) बन बन बृच्छ न चंदन होई। तन तन बिरह न उपनै सोई।—जायसी।

उपनय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समीप ले जाना। (२) बालक को गुरु के पास ले जाना। (३) उपनयन-संस्कार। (४) न्याय में वाक्य के चौथे अवयव का नाम। कोई उदाहरण देकर उस उदाहरण के धर्म को फिर उपसंहार रूप मे साध्य में घटाना। जैसे,—उत्पत्ति धर्म्मवाले अनित्य हैं; जैसे घट (उदाहरण)। जैसे घट (उत्पत्ति-धर्मवाला होने से) अनित्य है; वैसे ही शब्द भी अनित्य है (उपनय)। उपनय वाक्य के चिह्न "वैसे ही" "उसी प्रकार" आदि शब्द हैं। "उपनय" को "उपनीति" भी कहते हैं।

उपनयन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपनीत, उपनेता, उपनेतव्य] (१) निकट लाना। पास ले जाना। यज्ञोपवीत संस्कार। व्रतबंध। जनेऊ।

उपनागरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] अलंकार में वृत्ति अनुप्रास का एक भेद जिसमें कान को मधुर लगनेवाले वर्ण आते हैं। इसमें ट ठ ड ढ को छोड़ 'क' से लेकर 'म' तक सब वर्ण तथा अनुस्वार सहित अक्षर रह सकते हैं। समास इसमें या तो न हों और हों भी तो छोटे छोटे हों। उ०—कंजन, खंजन, गंजन हैं अलि अंजन हूँ मनरंजन हारे।

उपनाम–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूसरा नाम। प्रचलित नाम। (२) पदवी। तखल्लुस। उपाधि।

उपनायक–संज्ञा पुं० [सं०] नाटकों में प्रधान नायक का साथी वा सहकारी।

उपनायन–संज्ञा पुं० दे० "उपनयन"।

उपनाह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सितार की खूँटी जिसमें तार बँधे रहते हैं। (२) फोड़े वा घाव पर लगाने का लेप। मरहम। (३) आँख का एक रोग। बिलनी। गुहांजनी।

उपनिधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० औपनिधिक] धरोहर। अमानत।

उपनिविष्ट–वि० [सं०] दूसरे स्थान से आकर बसा हुआ।

उपनिवेश–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपनिवेशित, उपनिविष्ट] (१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा बसना। (२) अन्य स्थान से आए हुए लोगों की बस्ती। एक देश के लोगों की दूसरे देश में आबादी। कालोनी।

उपनिवेशित–वि० [सं०] दूसरे स्थान से आकर बसा हुआ।

उपनिषद्–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पास बैठना। (२) ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये गुरु के पास बैठना। (३) वेद की शाखाओं के ब्राह्मणों के वे अंतिम भाग जिनमें ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मा, परमात्मा आदि का निरूपण रहता है। कोई कोई उपनिषद् संहिताओं में भी मिलते हैं; जैसे ईश जो शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय माना जाता है। प्रधान उपनिषद् ये हैं—ईश वा वाजसनेय, केन वा तवल्कार, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक। इनसे अतिरिक्त कौषीतकी, मैत्रायणी और श्वेताश्वतर भी

आर्ष माने जाते हैं। उपनिषदों की संख्या कोई १८, कोई ३४, कोई ५२ और कोई १०८ तक मानते हैं; पर इनमें से बहुत से बहुत पीछे के बने हुए हैं। (४) वेदव्रत ब्रह्मचारी के ४० संस्कारों में से एक जो गोदान अर्थात् केशांत संस्कार के पहले होता है। (५) निर्जन स्थान। (६) धर्म्म।

उपनीत–वि० [सं०] (१) लाया हुआ। (२) जिसका उपनयन संस्कार हो गया हो।

उपनेता–संज्ञा पुं० [सं० उपनेतृ] [स्त्री० उपनेत्री] लानेवाला। पहुँचानेवाला। (२) उपनयन करनेवाला। आचार्य्य। गुरु।

उपन्ना–संज्ञा पुं० दे० "उपरना"।

उपन्यस्त–वि० [सं०] (१) पास रक्खा हुआ। (२) धरोहर रक्खा हुआ। अमानत रक्खा हुआ। (३) उल्लिखित। दर्ज। कहा हुआ।

उपन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपन्यस्त] (१) वाक्य का उपक्रम। बंधान। बात की लपेट। बात का लच्छा। (२) कल्पित आख्यायिका। कथा। नावेल। (३) धरोहर। गिरवी।

उपपति–संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जिससे किसी दूसरे की ब्याही हुई स्त्री प्रेम करे। जार। यार। आशना।

उपपत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हेतु द्वारा किसी वस्तु की स्थिति का निश्चय। (२) प्राप्ति। सिद्धि। प्रतिपादन। घटना। चरितार्थ होना। मेल मिलना। संगति। (३) युक्ति। हेतु।

उपपत्तिसम–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में दो कारणों की प्राप्ति। बिना वादी के कारण और निगमन आदि का खंडन किए हुए प्रतिवादी का अन्य कारण उपस्थित करके विरुद्ध विषय का प्रतिपादन करना। प्रतिवादी का यह कहना कि जिस प्रकार वादी के दिए हुए कारण से वह बात हो सकती है, उसी प्रकार हमारे दिए हुए कारण से यह बात भी हो सकती है। जैसे,—एक कहता है शब्द अनित्य है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है। दूसरा कहता है जिस प्रकार उत्पत्ति धर्मवाला होने से शब्द अनित्य कहा जा सकता है; उसी प्रकार स्पर्शवाला न होने से नित्य भी हो सकता है।

उपपन्न–वि० [सं०] (१) पास आया हुआ। पहुँचा हुआ। (२) शरण में आया हुआ। शरणागत। (३) प्राप्त। लब्ध। पाया हुआ। मिला हुआ। (४) युक्त। संपन्न। (५) उपयुक्त। मुनासिब।

उपपातक–संज्ञा पुं० [सं०] छोटा पाप।

विशेष—मनु के अनुसार परस्त्रीगमन, गुरुसेवात्याग, आत्मविक्रय, गोवध आदि उपपातक हैं।

उपपादन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपपादक, उपपादित, उपपन्न, उपपादनीय, उपपाद्य] (१) सिद्ध करना। साबित करना। ठहराना। युक्ति देकर समर्थन करना। (२) संपादन। कार्य्य को पूरा करना।

उपपादनीय–वि० [सं०] प्रतिपादनीय। सिद्ध करने योग्य। साबित करने योग्य।

उपपादित–वि० [सं०] जिसका उपपादन या समर्थन किया गया हो। सिद्ध किया हुआ। साबित किया हुआ। ठहराया हुआ। प्रतिपादित।

उपपाद्य–वि० [सं०] प्रतिपादन के योग्य। सिद्ध किए जाने योग्य।

उपपुराण–संज्ञा पुं० [सं०] १८ मुख्य पुराणों के अतिरिक्त और छोटे पुराण। ये भी गिनती में १८ हैं—(१) सनत्कुमार, (२) नारसिंह, (३) नारदीय, (४) शिव, (५) दुर्वासा, (६) कपिल, (७) मानव, (८) औशनस, (९) वरुण, (१०) कालिक, (११) शांब, (१२) नंदा, (१३) सौर, (१४) पराशर, (१५) आदित्य, (१६) माहेश्वर, (१७) भार्गव और (१८) वाशिष्ठ।

उपप्लव–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपप्लवित, उपप्लवी, उपप्लव्य, उपप्लुत] (१) बाढ़। (२) उत्पात। हलचल। हंगामा। बलवा। (३) कोई प्राकृतिक घटना जैसे ग्रहण, भूकंप आदि। (४) आँधी। तूफ़ान। (५) भय। ख़तरा। (६) विघ्न। बाधा। (७) राहु।

उपप्लवी–वि० [सं० उप्लविन्] [स्त्री० उपप्लविनी] (१) उपद्रव मचानेवाला। हलचल मचानेवाला। आफ़त ढानेवाला। (२) डुबानेवाला। तराबोर करनेवाला। (३) जिस पर वा जहाँ पर आफ़त आई हो। (४) जिस पर ग्रहण लगा हो।

उपभुक्त–वि० [सं०] (१) जिसका भोग किया गया हो। व्यवहार किया हुआ। काम में लाया हुआ। बर्त्ता हुआ। (२) जूठा। उच्छिष्ट।

उपभोक्ता–वि० [सं० उपभोक्तृ] [स्त्री० उपभोक्त्री] उपभोग करनेवाला। व्यवहार का सुख उठानेवाला। काम में लानेवाला।

उपभोग–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपभोगी, उपभोग्य, उपभुक्त] (१) किसी वस्तु के व्यवहार का सुख। मज़ा लेना। (२) व्यवहार। काम में लाना। बर्तना। (३) सुख की सामग्री। विलास की वस्तु।

उपभोग्य–वि० [सं०] उपभोग के योग्य। व्यवहार के योग्य।

उपमंत्री–संज्ञा पुं० [सं०] वह मंत्री जो प्रधान मंत्री के नीचे हो।

उपमन्यु–संज्ञा पुं० [सं०] गोत्रप्रवर्त्तक एक ऋषि जो आपोद्धौम्य के शिष्य थे।

उपमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० उपमान, उपमापक, उपमित, उपमेय] (१) किसी वस्तु, व्यापार वा गुण को दूसरी वस्तु, व्यापार वा गुण के समान प्रकट करने की क्रिया। सादृश्य। समानता। तुलना। मिलान। पटतर। जोड़। मुशाबहत। (२) एक अर्थालंकार जिसमें दो वस्तुओं (उपमेय और उपमान) के बीच भेद रहते हुए भी उनका समान धर्म बतलाया जाता है; जैसे,—उसका मुख चंद्रमा के समान है।

विशेष—उपमा दो प्रकार की होती है, पूर्णोपमा और लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा वह है जिसमें उपमा के चारों अंग उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द वर्तमान हों। उ०—"हरिपद कोमल कमल से" इस उदाहरण में हरिपद (उपमेय), कमल (उपमान), कोमल (सामान्य धर्म) और 'से' (उपमासूचक शब्द) चारों आए हैं। लुप्तोपमा वह है जिसमें उपमा के चारों अंगों में से एक, दो वा तीन न प्रकट किए गए हों। जिसमें एक अंग का लोप हो, उसके तीन भेद हैं, धर्मलुप्ता, उपमानलुप्ता और वाचकलुप्ता। उ०—(क) बिज्जुलता सी नागरी, सजल जलद से श्याम। (प्रकाश आदि धर्मों का लोप)। (ख) मालति सम सुंदर कुसुम ढूँढ़ेहु मिलिहै नाहिं। (उपमान का लोप)। (ग) नील सरोरुह श्याम तरुण अरुण वारिज नयन। (उपमावाचक शब्द का लोप)। इसी प्रकार जिस उपमा के दो अंगों का लोप होता है, उसके चार भेद हैं—वाचकधर्मलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता और वाचकोपमानलुप्ता। उ०—(क) धरनधीर रन टरन नहिं करन करन अरि नाश। राजत नृप कुंजर सुभट यश तिहुँ लोक प्रकाश। (सामान्य धर्म और वाचक शब्द का लोप)। (ख) रे अलि! मालति सम कुसुम ढूँढ़ेहु मिलिहै नाहिं। (उपमान और धर्म का लोप) (ग) अटा उदय हो-तो भयो छबिधर पूरन चंद। (वाचक और उपमेय का लोप)।

उपमाता—संज्ञा पुं० [सं०] उपमातृ] [स्त्री० उपमात्री] उपमा देने-वाला। मिलान करनेवाला।

उपमान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वस्तु जिससे उपमा दी जाय। वह जिसके समान कोई दूसरी वस्तु बतलाई जाय। वह जिसके धर्म्म का आरोप किसी वस्तु में किया जाय। जैसे,—'उसका मुख कमल के समान है' इस वाक्य में 'कमल' उपमान है। (२) न्याय में चार प्रकार के प्रमाणों में से एक। किसी प्रसिद्ध पदार्थ के साधर्म्य से साध्य का साधन। वह निश्चय जो किसी वस्तु को किसी अधिक परिचित वस्तु के कुछ समान देखकर होता है। जैसे,—गाय नीलगाय की तरह होती है। इस बात को सुनकर यदि कोई जंगल में गाय की तरह का कोई जानवर देखेगा तो समझेगा कि वह नील गाय है। वास्तव में उपमान अनुमान के अंतर्गत आ जाता है; इसीसे योग में तीन ही प्रमाण माने गए हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। (३) २३ मात्राओं का एक छंद जिसमें १३ वीं मात्रा पर विराम होता है। उ०—अब बोलि ले हरिनामै, काल जात बीता। हाथ जोरि बिनती करौं, नाहिं जात रीता।

उपमानलुप्ता—संज्ञा स्त्री० दे० "उपमा"।

उपमित—वि० [सं०] जिसकी उपमा दी गई हो। जो किसी वस्तु के समान बतलाया गया हो। जिस पर उपमा घटती हो। जैसे, "उसका मुख कमल के ऐसा है", इसमें मुख उपमित है।

संज्ञा पुं० कर्मधारय के अंतर्गत एक समास जो दो शब्दों के बीच उपमावाचक शब्द का लोप करके बनता है। जैसे,—पुरुषसिंह। नरव्याघ्र। घनश्याम।

उपमिति—संज्ञा स्त्री० [सं०] उपमा वा सादृश्य से होनेवाला ज्ञान।

उपमेय—वि० [सं०] उपमा के योग्य। जिसकी उपमा दी जाय। वर्ण्य। वर्णनीय।

संज्ञा सं० वह वस्तु जिसकी उपमा दी जाय। वह वस्तु जो किसी दूसरी वस्तु के समान बतलाई गई हो। जैसे 'मुख कमल' में मुख उपमेय है।

उपमेयोपमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह उपमा अलंकार जिसमें उपमेय की उपमा उपमान हो और उपमान की उपमेय। उ०—पूरनमासी सी तू उजरी अरु तोसी उजारी है पूरनमासी।—देव।

उपयंता—वि० [सं० उपयंतृ] [स्त्री० उपयत्री] विवाह करनेवाला। वर। पति।

उपयंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यों वा जर्राहों का एक यंत्र जिससे काँटा आदि देह में चुभ कर रह जानेवाली चीज़ें निकाली जाती हैं।

उपयम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवाह। (२) संयम।

उपयमन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवाह।। (२) संयम। (३) बटा हुआ कुश।

उपयुक्त—वि० [सं०] योग्य। ठीक। उचित। वाजिब। मुनासिब।

उपयुक्तता—संज्ञा स्त्री० [सं०] ठीक उतरने का भाव। यथार्थता। योग्यता। औचित्य।

उपयोग—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपयोगी, उपयुक्त] (१) काम। व्यवहार। इस्तेमाल। प्रयोग। (२) योग्यता। (३) फ़ायदा। लाभ। (४) प्रयोजन। आवश्यकता।

यौ०—उपयोगवाद।

उपयोगवाद—संज्ञा पुं० [सं०] वह सिद्धांत जिसके अनुसार जीवन के सब कार्यों का उद्देश्य अधिक से अधिक प्राणियों को अधिक से अधिक सुख पहुँचाना है।

उपयोगिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] काम में आने की योग्यता। लाभकारिता।

उपयोगी—वि० [सं० उपयोगिन्] [स्त्री० उपयोगिनी] (१) काम देने-वाला। काम में आनेवाला। प्रयोजनीय। मसरफ़ का। (२) लाभकारी। फ़ायदेमंद। उपकारी (३) अनुकूल। मुवाफ़िक।

उपरंजक—वि० [सं०] [सं० उपरंजिका] (१) रँगनेवाला। (२) प्रभाव डालनेवाला। असर डालनेवाला।

संज्ञा पुं० सांख्य में वह वस्तु जिसका आभास उसके पास-वाली वस्तु पर पड़ता है। वह वस्तु जिसके प्रभाव से उसके निकट की वस्तु अपने असल रूप से कुछ भिन्न दिखाई पड़ती है। उपाधि। जैसे—लाल कपड़ा जिसके कारण उस पर रक्खा हुआ स्फटिक लाल दिखाई पड़ता है।

उपरंजन—संज्ञा [सं०] [वि० उपरंजक, उपरंजनीय, उपरंजित, उपरंज्य] (१) रँगना। (२) प्रभाव डालना। असर डालना।

उपरंजनीय-वि० [सं०] (१) रँगने के लायक। (२) जिस पर प्रभाव डाला जा सके।

उपरंज्य-वि० [सं०] (१) रँगने लायक। (२) जिस पर प्रभाव पड़े।

उपरक्त-संज्ञा [सं०] (१) जिसमें ग्रहण लगा हो। राहुग्रस्त। (२) भोग-विलास में फँसा हुआ। विषयासक्त। (३) उपरंजक वा उपाधि की सन्निकटता के कारण जिसमें उसका गुण आ गया हो।

उपरक्षण-वि० [सं०] (१) चौकी। पहरा। (२) फ़ौजी तैयारी।—डिं०।

उपरत-वि० [सं०] (१) विरक्त। उदासीन। हटा हुआ। (२) मरा हुआ।

उपरति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विषय से विराग। विरति। त्याग। (२) उदासीनता। उदासी। (३) मृत्यु। मौत।

उपरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] कम दाम के रत्न वा पत्थर। घटिया रत्न। वैद्यक ग्रन्थों के अनुसार वैक्रांत मणि, मोती का सीप, रक्षस, मरकत मणि, लहसुनिया, लाजा, गारुड़ि मणि (ज़हरमोहरा), शंख और स्फटिक मणि, ये नौ उपरत्न माने गए हैं।

उपरना-संज्ञा पुं० [हिं० ऊपर+ना (प्रत्य०)] ऊपर से ओढ़ने का वस्त्र। दुपट्टा। चद्दर। उ०—पीत उपरना काँखा सोती। दुहुँ आँचरन लगे मणि मोती।—तुलसी।

† क्रि० स० [सं० उत्पटन] उखड़ना।

उपरफट-वि० [सं० उपरि+स्फुट] ऊपरी। इधर उधर का। व्यर्थ का। निष्प्रयोजन।—नंद बबा की बात सुनौ हरि।··················मेरी बाँह छाँड़ि दे राधे करत उपरफट बातैं। सूर श्याम नागर नागरि सों करत प्रेम की घातैं।—सूर।

उपरफट्टू-वि० [सं० उपरि+स्फुट] (१) ऊपरी। बालाई। नियमित के अतिरिक्त। बँधे हुए के सिवाय। जैसे,—नौकरी के सिवाय उन्हें उपरफट्टू काम भी बहुत मिलते हैं। (२) इधर उधर का। बे ठिकाने का। व्यर्थ का। फ़ज़ूल। निष्प्रयोजन। जैसे,—वह उपरफट्टू बातों में बहुत रहा करता है, अपना काम नहीं देखता है।

उपरम-संज्ञा पुं० [सं०] विरति। वैराग्य। उदासीनता। चित्त का हटना।

उपरवार-संज्ञा स्त्री० [वि०ऊपर+वारा (प्रत्य०)] लाँगर ज़मीन।

उपरस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में पारे के समान गुण करनेवाले पदार्थ। गंधक, ईंगुर, अभ्रक, मैनशिल, सुर्मा, तूतिया, लाजवर्द पत्थर, चुम्बक पत्थर, फिटकिरी, शंख, खड़िया मिट्टी, गेरू, मुल्तानी मिट्टी, कौड़ी, कसीस और बालू इत्यादि उपरस कहलाते हैं।

उपरहित†-संज्ञा पुं० दे० "पुरोहित"।

उपरहिती†-संज्ञा स्त्री० दे० "पुरोहिती"।

उपराँठा†-संज्ञा पुं० दे० "पराँठा"।

उपरांत-क्रि० वि० [सं०] अनंतर। बाद।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग काल ही के संबंध में होता है।

उपरा†-संज्ञा पुं० [सं० उत्पल] उपला। कंडा। गोहरा।

उपराग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रंग। (२) किसी वस्तु पर उसके पास की वस्तु का आभास पड़ना। अपने निकट की वस्तु के प्रभाव से किसी वस्तु का अपने असल रूप से भिन्न रूप में दिखाई पड़ना, जैसे लाल कपड़े के ऊपर रक्खा हुआ स्फटिक लाल दिखाई पड़ता है। उपाधि।

विशेष—सांख्य में बुद्धि के उपराग वा उपाधि से पुरुष (आत्मा) कर्त्ता समझ पड़ता है, वास्तव में है नहीं।

(३) विषय में अनुरक्ति। वासना। (४) चंद्र वा सूर्य्य ग्रहण। उ०—भयो पर्व बिनु रवि उपरागा।—तुलसी।

उपरा-चढ़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊपर+चढ़ना] किसी काम को करने वा किसी चीज़ को लेने के लिये कई आदमियों का यह कहना कि हमीं करें वा हमीं लें, दूसरा नहीं। एक ही वस्तु के लिये कई आदमियों का उद्योग। अहमहमिका। स्पर्द्धा। उ०—एक पारिषद ने हँसकर कहा—"महाराज! यदि बहुत आदमी जाने को प्रस्तुत हैं, तो बहुत अच्छी बात है। इस उपराचढ़ी में आपकी सेना का व्यय कम होगा।"—गदाधरसिंह।

उपराज-संज्ञा पुं० [सं०] राजप्रतिनिधि। वाइसराय। गवर्नर-जनरल।

उपराजना*-क्रि० स० [सं० उपार्जन] (१) पैदा करना। उत्पन्न करना। जनमाना। उ०—प्रथम जोति बिधि ताकर साजी। औ तेहि प्रीति सृष्टि उपराजी।—जायसी। (२) रचना। बनाना। उ०—पछिम का बार पुरुब कै बारी। लिखी जो जोरि होय न निनारी। मानुष साज लाख मन साजा। सोई होइ जो बिधि उपराजा।—जायसी। (३) उपार्जन करना। कमाना। उ०—शालिग्रामशिला नहिं जानै। तौन शिला पषाण करि मानै। घटै बढ़ै सो शिला सदाही। उपराजै धन दिन प्रति ताही।—रघुराज।

उपराना†-क्रि० अ० [सं० उपरि] (१) ऊपर आना। उठना। (२) प्रकट होना। ज़ाहिर होना। (३) उतराना।

क्रि० स० ऊपर करना। उठाना।

उपराम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) त्याग। उदासीनता। विराम। उ०—साधन सहित कर्म सब त्यागै। लखि विष सम विषयन तें भागै। नारी लखे होय जिय ग्लाना। यह लक्षण उपराम बखाना। (२) आराम। विश्राम। उ०—नियमकाल तजि नित प्रति होई। राति दिवस उपराम न सोई।—शं० दि०। (३) निवृत्ति। छुटकारा।

उपराला-संज्ञा पुं० [हिं० ऊपर+ला (प्रत्य०)] पक्षग्रहण । सहायता । रक्षा । उ०—चहुँ दिसि घेरि कोटरा लीनौ । जूझ लतीफ मास द्वै कीनो । उपराला करि सक्यो न कोई । संकित भयो लतीफ गढ़ोई ।—लाल ।

उपरावटा*-वि० [सं० उपरि+आवर्त्त] तना हुआ । ऊकड़ा हुआ । जो अपना सिर गर्व से ऊँचा किए हो । उ०—कहा चलत उपरावटे अजहूँ खिसी न गात । कंस सौंह दै पूछिए जिन पटके हैं सात ।—सूर ।

उपराहीं*-क्रि० वि० [हिं० ऊपर] ऊपर । उ०—(क) छाड़हिं बान जाहिं उपराहीं । गर्व केर सिर सदा तराहीं ।—जायसी । (ख) सेंदुर आग सीस उपराहीं । पहिया तरवन चमकत जाहीं ।—जायसी ।

वि० बढ़कर । बेहतर । श्रेष्ठ । उ०—(क) वह सो जोति हीरा उपराहीं । हीर ओहिं सो तेहि परछाहीं ।—जायसी । (ख) कहँ अस नारि जगत उपराहीं । कहँ अस जीव मिलन सुख छाहीं ।—जायसी ।

उपरि-क्रि० वि० [सं०] ऊपर ।

यौ०—उपर्युक्त ।

उपरिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] पराँठा । परौंठा । पराँवठा । उपराँठा ।

उपरी-संज्ञा स्त्री० दे० (१) "ऊपरी", (२) "उपला" ।

उपरी-उपरा-संज्ञा पुं० [हिं० ऊपर] (१) एक ही वस्तु के लिये कई आदमियों का उद्योग । चढ़ाउपरी । उपराचढ़ी । (२) एक दूसरे से बढ़ जाने की इच्छा । स्पर्द्धा । उ०—(क) कटकटात भट भालु विकट मर्कट करि केहरि नाद । कूदत कर रघुनाथ सपथ उपरी-उपरा करि बाद ।—तुलसी । (ख) बिरुझे बिरदैत जे खेत अरे न टरे हठि बैर बढ़ावन के । रन रारि मची उपरी-उपरा भले बीर रघुपति रावन के ।—तुलसी ।

उपरूपक-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक के दस भेदों में से दूसरा भेद । छोटा नाटक । इसके १८ भेद हैं—(१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्य-रासक, (६) प्रस्थान, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) प्रेक्षण, (१०) रासक, (११) संलापक, (१२) श्रीगदित (श्रीरासिका), (१३) शिल्पक, (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणिका, (१७) हल्लीश, और (१८) भाणिका ।

उपरैना*-संज्ञा पुं० [हिं० ऊपर+ना (प्रत्य०)] दुपट्टा । चद्दर ।

उपरैनी-संज्ञा स्त्री० [सं० उत्+परणी] ओढ़नी । उ०—धोखे उपरैना के जा ओढ़े उपरैनी रहे ताही को लै दियो सो तो तबै लै अली गई । फूलन को हार लिए रही तासो मारि फेरि हाथन पसारि कै सरापत चली गई ।—रघुनाथ ।

उपरोक्त-वि० [हिं० ऊपर+सं० उक्त] ऊपर कहा हुआ । पहले कहा हुआ ।

उपरोध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक । अटकाव । रुकावट । (२) आड़ । आच्छादन । ढकना ।

उपरोधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोकनेवाला । बाधा डालनेवाला । (२) भीतर की कोठरी ।

उपरोधन-संज्ञा पुं० [सं०] रुकावट । अटकाव । अड़चन ।

उपरोधी-संज्ञा पुं० [सं० उपरोधिन्] [स्त्री० उपरोधिनी] रोकनेवाला । बाधा डालनेवाला ।

उपरोहित†-संज्ञा पुं० दे० "पुरोहित" ।

उपरोहिती†-संज्ञा स्त्री० दे० "पुरोहिती" ।

उपरौंछा†-क्रि० वि० [हिं० ऊपर+औंछा (प्रत्य०)] ऊपर की ओर ।

उपरौटा-संज्ञा पुं० [हिं० ऊपर+औटा (प्रत्य०)] (किसी वस्तु के) ऊपर का पल्ला ।

उपरौठा†-वि० [हिं० ऊपर+औठा (प्रत्य०)] ऊपर की ओर का । ऊपरवाला । जैसे—उपरौठी कोठरी ।

उपरौना*-संज्ञा पुं० दे० "उपरना" ।

उपर्युक्त-वि० [सं०] ऊपर कहा हुआ । पहले कहा हुआ ।

उपल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्थर । (२) ओला । (३) रत्न । (४) मेघ । बादल । (५) बालू । (६) चीनी ।

उपलक्ष-संज्ञा पुं० दे० "उपलक्ष्य" ।

उपलक्षक-वि० [सं०] (१) उद्भावना करनेवाला । अनुमान करनेवाला । ताड़नेवाला । लखनेवाला ।

संज्ञा पुं० वह शब्द जो उपादान लक्षण से अपने वाच्य वा अर्थ द्वारा निर्दिष्ट वस्तु के अतिरिक्त प्रायः उसी कोटि की और और वस्तुओं का भी बोध करावे । जैसे—"कौओं से अनाज को बचाना" इस वाक्य में लक्षणा द्वारा "कौओं" शब्द से और और पक्षी भी समझ लिए गए ।

उपलक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपलक्षक, उपलक्षित] (१) बोध करानेवाला चिह्न । संकेत । (२) शब्द की वह शक्ति जिससे उसके अर्थ से निर्दिष्ट वस्तु के अतिरिक्त प्रायः उसी की कोटि की और और वस्तुओं का भी बोध होता है । यह एक प्रकार की अजहल्स्वार्था लक्षणा है । जैसे, "खेत को कौओं से बचाना" इस वाक्य में "कौओं" शब्द से और और पक्षी भी समझ लिए गए ।

उपलक्ष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संकेत । चिह्न । (२) दृष्टि । उद्देश्य ।

यौ०—उपलक्ष्य में=दृष्टि से । विचार से । बदले में । एवज में । उ०—पंडित जी को हिंदी के सुलेखक होने के उपलक्ष में एक एड्रेस भी दिया गया ।—सरस्वती ।

उपलब्ध-वि० [सं०] (१) पाया हुआ । प्राप्त । (२) जाना हुआ ।

उपलब्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राप्ति । (२) बुद्धि । ज्ञान ।

उपला-संज्ञा पुं० [सं० उत्पल] [स्त्री०, अल्प० उपली] ईंधन के लिये गोबर के सुखाए हुए टुकड़े । कंडा । गोहरा ।

उपली-संज्ञा स्त्री० [उपला का अल्पा० रूप] छोटा उपला। गोहरी। कंडी। चिपड़ी।

उपलेप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु से लीपना। किसी वस्तु की ऊपरी तह में कोई गीली चीज़ पोतना। (२) गाय के गोबर से लीपना। वह वस्तु जिससे लेप करें।

उपलेपन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपलेपित, उपलेप्य, उपलिप्त] लीपने का कार्य्य। लीपना।

उपल्ला-संज्ञा पुं० [हिं ऊपर+ला (प्रत्य०)] [स्त्री० अल्पा० उपल्ली] ऊपर का पर्त। वह तह जो ऊपर हो। किसी वस्तु का ऊपरवाला भाग।

उपवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाग। बगीचा। कुंज। फुलवारी। (२) छोटे छोटे जंगल। (पुराणों में २४ उपवन गिनाए गए हैं।)

उपवना*-क्रि० अ० [सं० उप+यमन] ऊपर जाना। उड़ जाना। विलीन होना। ग़ायब होना। उ०—देखत बुरै कपूर ज्यों उपै जाय जनि लाल। छन छन होति खरी खरी छीन छबीली बाल।—बिहारी।

उपवर्ण्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिससे उपमा दी जाय। उपमान। उ०—जहँ प्रसिद्ध उपवर्न को पलटि कहत उपमेय। बरनत तहाँ प्रतीप हैं कविजन जगत अजेय।

उपवर्ष-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदांत के प्रधान भाष्यकारों वा आचार्य्यों में से एक।

उपवसथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाँव। बस्ती। (२) यज्ञ करने के पहले का दिन जिसमें व्रत आदि करने का विधान है।

उपवाद-संज्ञा पुं० [सं०] अपवाद। निंदा।

उपवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजन का छूटना। फ़ाक़ा। जैसे,—आज इन्हें तीन उपवास हुए।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) वह व्रत जिसमें भोजन छोड़ दिया जाता है।

उपवासी-वि० [सं० उपवासिन्] [स्त्री० उपवासिनी] उपवास करनेवाला। निराहार रहनेवाला।

उपविष-संज्ञा पुं० [सं०] फल विष। कम तेज़ ज़हर। जैसे, अफ़ीम, धतूरा, इत्यादि। एक मत से उपविष पाँच हैं—(१) मदार का दूध, (२) सेहुँड़ का दूध, (३) कलिहारी वा करियारी, (४) कनेर, (५) धतूरा, दूसरे मत से सात हैं—(१) मदार, (२) सेहुँड़, (३) धतूरा, (४) कलिहारी वा करियारी, (५) कनेर, (६) गुंजा, और (७) अफ़ीम।

उपविषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अतीस।

उपविष्ट-वि० [सं०] बैठा हुआ।

उपवीत-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपवीती] (१) जनेऊ। यज्ञसूत। (२) उपनयन। संस्कार। उ०—करणबेध चूड़ाकरण श्रीरघुवर उपवीत। समय सकल कल्यानमय मंजुल मंगल गीत।—तुलसी।

उपवेद-संज्ञा पुं० [सं०] विद्याएँ जो वेदों से निकली हुई कही जाती हैं। ये चार हैं—(१) धनुर्वेद—जिसे विश्वामित्र ने यजुर्वेद से निकाला। (२) गंधर्ववेद—जिसे भरत मुनि ने सामवेद से निकाला। (३) आयुर्वेद—जिसे धन्वंतरि ने ऋग्वेद से निकाला। और (४) स्थापत्य—जिसे विश्वकर्मा ने अथर्ववेद से निकाला।

उपवेशन-संज्ञा पुं० [सं०] वि० उपवेशित, उपवेशी, उपवेश्य, उपविष्ट] (१) बैठना। (२) स्थित होना। जमना।

उपवेशित-वि० [सं०] बैठा हुआ।

उपशम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वासनाओं को दबाना। इंद्रिय-निग्रह। निवृत्ति। शांति। उ०—राम भलाई आपनी भल कियो न काको। चितवत भाजन कर लियो उपशम समता को?—तुलसी। (२) निवारण का उपाय। इलाज। चारा। उ०—कामानल को ताप यह हिय जारैगो तोहि। वृथा जरो, उपशम कछू सूझत नाहीं मोहि।—रत्नावली।

उपशमन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपशमनीय, उपशमित, उपशम्य] (१) शांत रखना। दबाना। (२) उपाय से दूर करना। निवारण।

उपशय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु के व्यवहार से क्लेश का घटना वा बढ़ना देखकर रोग का अनुमान। यह रोग-ज्ञान के पाँच उपायों में से एक है। (२) सुख वा आराम देनेवाली वस्तु वा उपाय। अनुकूल औषध वा पथ्य। मुवाफ़िक़ इलाज।

उपशल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर के आस पास की भूमि। गाँव का सिवाना (२) भाला।

उपशिष्य-संज्ञा पुं० [सं०] शिष्य का शिष्य। चेले का चेला।

उपशीर्षक-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें सिर में छोटी छोटी फुंसियाँ निकल आती हैं। चाईंचूईं।

उपसंपादक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० उपसंपादिका] किसी कार्य्य में मुख्य कर्त्ता का सहायक, वा उसकी अनुपस्थिति में उसका कार्य्य करनेवाला व्यक्ति।

उपसंहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरण। परिवार। समाप्ति। ख़ातमा। जैसे,—गुरु जी, कृपाकर हमारे श्रम का उपसंहार कीजिए। (३) किसी पुस्तक का अंतिम प्रकरण। किसी पुस्तक के अंत का अध्याय जिसमें उसका उद्देश या परिणाम संक्षेप में बतलाया गया हो। (४) सारांश। निचोड़। (५) किसी दाँव, पेंच वा हथियार की रोक। संहार।

उपस†-संज्ञा स्त्री० [सं० उप+बास=महक] दुर्गंध। बदबू।

उपसना†-क्रि० स० [सं० उप+बास=महक] (१) दुर्गंधित होना। (२) सड़ना।

उपसर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह शब्द वा अव्यय जो किसी शब्द के केवल पहले लगाता है और उसमें किसी अर्थ की विशेषता करता है। जैसे, अनु, अव, उप, उद् इत्यादि। (२) अशकुन। (३) दैवी उत्पात। उपद्रव।

उपसर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) डालना । (२) दैवी उत्पात । उपद्रव । (३) अप्रधान वस्तु । गौण वस्तु । (४) त्याग ।

उपसागर-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा समुद्र । समुद्र का एक भाग । खाड़ी ।

उपसाना-क्रि० स० [हिं० उपसना] बासी करना । सड़ाना ।

उपसुंद-संज्ञा पुं० [सं०] सुंद नाम के दैत्य का छोटा भाई ।

उपसेचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी से सींचना वा भिगोना । पानी छिड़कना । (२) गीली चीज़ । रसा । (३) वह गीली चीज़ जिससे रोटी वा भात खाया जाय । जैसे, दाल, कढ़ी, सालन इत्यादि ।

उपस्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिंसा करना । चोट पहुँचाना । (२) दाल वा तरकारी में डालने का मसाला । (३) घर का सामान वा सजावट की सामग्री । (४) वस्त्राभूषणादि ।

उपस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीचे वा मध्य का भाग । (२) पेड़ू । (३) पुरुष-चिह्न । लिंग । (४) स्त्री-चिह्न । भग ।
यौ०—उपस्थेन्द्रिय ।
(५) गोद ।
वि० निकट बैठा हुआ ।

उपस्थल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नितंब । चूतड़ । (२) कूल्हा । (३) पेड़ू ।

उपस्थली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कूल्हा । कटि । (२) नितंब । (३) पेड़ू ।

उपस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपस्थानीय, उपस्थित] (१) निकट आना । सामने आना । (२) अभ्यर्थना वा पूजा के लिये निकट आना । (३) खड़े होकर स्तुति करना । खड़े होकर पूजा करना । उ०—दै दिनकर को अर्घ्य मंत्र पढ़ि उपस्थान पुनि कीन्हें । गायत्री को जपन लगे पुनि ब्रह्म-बीज मन दीन्हें ।—रघुराज ।
विशेष—इस प्रकार का विधान प्रायः सूर्य्य ही की पूजा में है ।
(४) पूजा का स्थान । (५) सभा । समाज ।

उपस्थित-वि० [सं०] (१) समीप बैठा हुआ । सामने वा पास आया हुआ । विद्यमान । मौजूद । हाज़िर ।
क्रि० प्र०—**करना**=(१) हाजिर करना । सामने लाना । (२) पेश करना । दायर करना । जैसे,—अभियोग उपस्थित करना । —**होना**=(१) आ पड़ना । जैसे,—बड़ा संकट उपस्थित हुआ । (२) ध्यान में आया हुआ । मन में आया हुआ । स्मरण किया हुआ । याद । जैसे,—हमें वह सूत्र उपस्थित नहीं है ।

उपस्थिता-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ण-वृत्ति का नाम । इस वृत्ति के प्रत्येक चरण में एक तगण, दो जगण और अंत में एक गुरु होता है । त, ज, ज, ग = ऽऽ॥ ऽ । ।ऽ।ऽ उ०—तीजी जग पावन कंस को । दै मुक्ति पठावत धाम को । वाकी लखि रानि उपस्थिता । दै ज्ञान करी सुख साजिता ।

उपस्थिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्यमानता । मौजूदगी । हाज़िरी ।

उपस्वत्व-संज्ञा पुं० [सं०] ज़मीन वा किसी जायदाद की पैदावार वा आमदनी का हक़ ।

उपहत-वि० [सं०] नष्ट किया हुआ । बरबाद किया हुआ । (२) बिगाड़ा हुआ । दूषित । (३) पीड़ित । संकट में पड़ा हुआ । (४) किसी अपवित्र वस्तु के संसर्ग से अशुद्ध ।

उपहसित (हास)-संज्ञा पुं० [सं०] हास के छः भेदों में से चौथा । नाक फुलाकर आँखें टेढ़ी करते और गर्दन हिलाते हुए हँसना ।

उपहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेंट । नज़र । नज़राना । उ०—(क) धरि धरि सुन्दर वेष चले हरषित हिए । चवँर चीर उपहार हार मणिगण लिये ।—तुलसी । (ख) आये गोप भेंट लै लै के भूषण बसन सोहाये । नाना विधि उपहार दूध दधि आगे धरि सिर नाये ।—सूर । (ग) दीह दीह दिग्गजन के केशव मनहुँ कुमार । दीन्हे राजा दशरथहिं दिगपालन उपहार । केशव । (२) शैवों की उपासना के नियम जो छः हैं—हसित, गीत, नृत्य, डुडुक्कार, नमस्कार और जप ।

उपहास-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपहास्य] (१) हँसी । ठट्ठा । दिल्लगी । (२) निंदा । बुराई । उ०—पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास ।—तुलसी ।
यौ०—उपहासजनक । उपहासार्ह ।

उपहासास्पद-वि० [सं०] (१) उपहास के योग्य । हँसी उड़ाने के लायक़ । (२) निंदनीय ।

उपहासी-संज्ञा स्त्री० [सं० उपहास] हँसी । ठट्ठा । निंदा । उ०—सब नृप भए जोग उपहासी ।—तुलसी ।

उपहित-वि० [सं०] (१) ऊपर रक्खा हुआ । स्थापित । (२) धारण किया हुआ । (३) समीप लाया हुआ । हवाले किया हुआ । दिया हुआ । (४) सम्मिलित । मिला हुआ । (५) उपाधियुक्त ।

उपही*-संज्ञा पुं० [हिं० ऊपरा] अपरिचित व्यक्ति । बाहरी वा विदेशी आदमी । बायबी । अजनबी । उ०—(क) ये उपही कोउ कुँवरि अहेरी । श्याम गौर धनुवाण तूनधर, चित्रकूट अब हाय रहे री ।—तुलसी । (ख) जानि पहचानि बिनु आपु ते आपने हुते प्रानहू ते प्यारे प्रियतम उपही । सुधा के सनेहहु के सारु लै सँवार विधि जैसे भावते हैं भाँति जाति न कही ।—तुलसी ।

उपांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंग का भाग । अवयव । (२) वह वस्तु जिससे किसी वस्तु के अंगों की पूर्ति हो । जैसे,—वेद के उपांग, जो चार हैं—पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्म्म-शास्त्र । (३) तिलक । टीका । (४) प्राचीन काल का एक बाजा जो चमड़ा मढ़कर बनाया जाता था ।

उपांत-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपांत्य] (१) अंत के समीप का

भाग। (२) आस पास का हिस्सा। प्रांत भाग। (३) छोटा किनारा।

उपांत्य-वि० [सं०] (१) अंतवाले के समीपवाला। अंतिम से पहले का।

उपाइ*-संज्ञा पुं० दे० "उपाय"।

उपाउ*-संज्ञा पुं० दे० "उपाय"।

उपाकरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योजना। उपक्रम। तैयारी। अनुष्ठान। (२) यज्ञ में वेदपाठ। (३) यज्ञ के पशु का एक संस्कार।

उपाकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] संस्कारपूर्वक वेद का ग्रहण। वेदपाठ का आरंभ।

विशेष—यह वैदिक कर्म समस्त ओषधियों के जम आने पर श्रावण मास की पूर्णिमा को, वा श्रवण-नक्षत्रयुक्त दिन को, वा हस्त-नक्षत्रयुक्त पंचमी को अपने गृह्य सूत्र में कही विधि से किया जाता है। 'उत्सर्ग' का उलटा।

उपाख्यान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरानी कथा। पुराना वृत्तांत। (२) किसी कथा के अंतर्गत कोई और कथा। (३) वृत्तांत। हाल।

उपाग्रहण-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "उपाकर्म।

उपाटना*-क्रि० स० [सं० उत्पाटन] उखाड़ना। उ०—लीन्ह एक तेहिं शैल उपाटी। रघुकुल-तिलक भुजा सोइ काटी।—तुलसी।

उपाड़ना*-क्रि० स० दे० "उपाटना"।

उपादान-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपादेय] (१) प्राप्ति। ग्रहण। स्वीकार। (२) ज्ञान। परिचय। बोध। (३) अपने अपने विषयों से इंद्रियों की निवृत्ति। (४) वह कारण जो स्वयं कार्य्य रूप में परिणत हो जाय। सामग्री जिससे कोई वस्तु तैयार हो। जैसे, घड़े का उपादान कारण मिट्टी है। वैशेषिक में इसी को समवायिकारण कहते हैं। सांख्य के मत से उपादान और कार्य्य एक ही हैं। (५) सांख्य की चार आध्यात्मिक तुष्टियों में से एक जिसमें मनुष्य एक ही बात से पूरे फल की आशा करके और प्रयत्न छोड़ देता है। जैसे, "संन्यास लेने ही से विवेक हो जायगा" यह समझ कर कोई संन्यास ही लेकर संतोष कर ले, विवेकप्राप्ति के लिये और यत्न न करे।

उपादेय-वि० [सं०] (१) ग्रहण करने योग्य। अंगीकार करने योग्य। लेने योग्य। (२) उत्तम। श्रेष्ठ। अच्छा।

उपाधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) और वस्तु को और बतलाने का छल। कपट। (२) वह जिसके संयोग से कोई वस्तु और की और अथवा किसी विशेष रूप में दिखाई दे। जैसे, आकाश एक अपरिमित और निराकार पदार्थ है। पर घड़े और कोठरी के भीतर परिमित और जुदा जुदा रूपों में जान पड़ता है।

विशेष—सांख्य में बुद्धि की उपाधि से ब्रह्म कर्त्ता देख पड़ता है, वास्तव में है नहीं। इसी प्रकार वेदांत में माया के संबंध और असंबंध से ब्रह्म के दो भेद माने गये हैं—सोपाधि ब्रह्म (जीव) और निरुपाधि ब्रह्म।

(३) उपद्रव। उत्पात। (४) कर्त्तव्य का विचार। धर्मचिंता। (५) प्रतिष्ठासूचक पद। ख़िताब।

उपाधी-वि० [सं० उपाधिन्] [स्त्री० उपाधिन] उपद्रवी। उत्पात करनेवाला।

उपाध्या†-संज्ञा पुं० दे० "उपाध्याय"।

उपाध्याय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० उपाध्याया, उपाध्यायनी, उपाध्यायी] (१) वेद वेदांग का पढ़ानेवाला। (२) अध्यापक। शिक्षक। गुरु। (३) ब्राह्मणों का एक भेद।

उपाध्याया-संज्ञा स्त्री० [सं०] अध्यापिका। पढ़ानेवाली।

उपाध्यायानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उपाध्याय की स्त्री। गुरुपत्नी।

उपाध्यायी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उपाध्याय की स्त्री। गुरुपत्नी। (२) अध्यापिका। पढ़ानेवाली।

उपान-संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊपर+आन (प्रत्य०)] (१) इमारत की कुरसी। (२) खंभे के नीचे की वह चौकी जिस पर खंभा बैठाया जाता है। पदस्तल।

उपानत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जूता। पनही। (२) खड़ाऊँ। उ०—(क) विरचि उपानत बेचन करई। आधो धन संतन कहँ भरई।—रघुराज। (ख) लघु लघु लसत उपानत लघु पद लघु धनुही कर माहीं।—रघुराज।

उपानद्-संज्ञा पुं० [सं०] हिंडोल राग का पुत्र वा भेद।

उपानह्-संज्ञा पुं० [सं०] जूता। पनही।

उपाना*-क्रि० स० [सं० उत्पन्न, पा० उप्पन्न] (१) उत्पन्न करना। पैदा करना। उ०—जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा। सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिय भक्ति न पूजा।—तुलसी। (२) संपादन करना। करना। उ०—तबहिं स्याम इक युक्ति उपाई।—सूर।

उपाय-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपयी, उपेय] (१) पास पहुँचना। निकट आना। (२) वह जिससे अभीष्ट तक पहुँचें। साधन। युक्ति। तदबीर। (३) राजनीति में शत्रु पर विजय पाने की युक्ति। ये चार हैं, साम (मैत्री), भेद (फूट डालना), दंड (आक्रमण) और दान (कुछ देकर राज़ी करना)। (४) शृंगार के दो साधन, साम और दान।

उपायन-संज्ञा पुं० [सं०] भेंट। उपहार। नज़राना। सौग़ात।

उपायी-वि० [सं० उपायिन्] उपाय करनेवाला। युक्ति रचनेवाला।

उपारना*-क्रि० स० दे० 'उपाटना'।

उपार्जन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपार्जनीय, उपार्जित] पैदा करना। लाभ करना। प्राप्त करना। कमाना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

उपार्जनीय–वि० [सं०] संग्रह करने योग्य । एकत्र करने के लायक । प्राप्त करने योग्य ।

उपार्जित–वि० [सं०] कमाया हुआ । प्राप्त किया हुआ । संगृहीत ।

उपालंभ–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपालब्ध] ओलाहना । शिकायत । निंदा ।

उपालंभन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपालभनीय, उपालंभित, उपालंभ्य, उपालब्ध] ओलाहना देना । निंदा करना ।

उपाव*†–संज्ञा पुं० दे० "उपाय" ।

उपास†*–संज्ञा पुं० [सं० उपवास] खाना पीना छूटना । लंघन । फ़ाक़ा । उ०—(क) बैठ सिंहासन गूंजै सिंह चरै नहिं घास । जब लग मिरग न पावै भोजन करै उपास । (ख) अब हौं मरों निसाँसी हिये न आवै साँस । रोगिया की को चालै बैदहिं जहाँ उपास ।—जायसी ।

उपासक–वि० [सं०] [स्त्री० उपासिका] पूजा करनेवाला । आराधना करनेवाला । भक्त । सेवक ।

उपासन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपासी, उपासित, उपासनीय, उपास्य] (१) पास बैठना । (२) सेवा में उपस्थित रहना । सेवा करना । पूजा करना । आराधना करना । (३) अभ्यास के लिये बाण चलाना । तीरंदाज़ी । शराभ्यास । (४) गार्हपत्याग्नि ।

उपासना–संज्ञा स्त्री० [सं० उपासन] (१) पास बैठने की क्रिया । (२) आराधन । पूजा । टहल । परिचर्या ।

क्रि० स० * [सं० उपासन] उपासना करना । पूजा करना । सेवा करना । भजना । उ०—गौड़ देश पाखंड मेटि कियो भजन परायन । करुनासिंधु कृतज्ञ भये अगनित गति दायन । दशधा रस आक्रांत महतजन चरण उपासे । नाम लेत निष्पाप दुरित तिहि नर के नासे ।—प्रिया ।

क्रि० अ० (१) उपवास करना । भूखा रहना । अन्न छोड़ना । (२) निराहार व्रत रहना ।

उपासनीय–वि० [सं०] सेवा करने योग्य । आराधनीय । पूजनीय ।

उपासी–वि० [सं० उपासिन्] [स्त्री० उपासिनी] उपासना करनेवाला । सेवक । भक्त ।

उपास्य–वि० [सं०] पूजा के योग्य । आराध्य । जिसकी सेवा पूजा की जाती हो ।

यौ०—उपास्य देव ।

उपेंद्र–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के छोटे भाई, वामन वा विष्णु भगवान् । कृष्ण ।

उपेंद्रवज्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] ग्यारह वर्णों की एक वृत्ति जिसमें जगण, तगण, जगण और अंत में दो गुरु होते हैं । उ०—अकंप धूम्राक्षहि जानि जूझयो । महोदरै रावण मंत्र बूझयो । सदा हमारे तुम मंत्रवादी । रहे कहा ह्वै अति ही विषादी ।—केशव ।

उपेक्षक–वि० [सं०] (१) उपेक्षा करनेवाला । विरक्त रहनेवाला । (२) घृणा करनेवाला ।

उपेक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपेक्षणीय, उपेक्षित, उपेक्ष्य] (१) त्याग करना । छोड़ना । विरक्त होना । उदासीन होना । दूर रहना । किनारा खींचना । (२) घृणा करना ।

उपेक्षणीय–वि० [सं०] (१) त्यागने योग्य । दूर करने योग्य । (२) घृणा योग्य ।

उपेक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उदासीनता । लापरवाही । विरक्ति । चित्त का हटना । (२) घृणा । तिरस्कार ।

उपेक्षित–वि० [सं०] जिसकी उपेक्षा की गई हो । जिसकी परवा न की गई हो । तिरस्कृत ।

उपेक्ष्य–वि० [सं०] उपेक्षा के योग्य । दूर करने योग्य । घृणा के योग्य ।

उपेय–वि० [सं०] उपाय-साध्य । जो उपाय से सिद्ध हो । जिसके लिये उपाय करना उचित हो ।

उपैना*–वि० [सं० उ+पह्नव] [स्त्री० उपैनी] खुला हुआ । नंगा । आच्छादन रहित । उ०—जय जय जय जय माधव बेनी । जग हित प्रगट करी करुणामय अगनित को गति देनी । जानि कठिन कलिकाल कुटिल नृप संग सजी अघसैनी । जनु ता लगि तरवार त्रिविक्रम धरि करि कोप उपैनी ।—सूर ।

उपोद्घात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पुस्तक के आरंभ का वक्तव्य । प्रस्तावना । भूमिका । (२) नव्य न्याय में छः संगतियों में से एक । सामान्य कथन से भिन्न निर्दिष्ट वा विशेष वस्तु के विषय में कथन ।

उपोषण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उपोषणीय, उपोषित, उपोष्य] उपवास । निराहार व्रत ।

उपोसथ–संज्ञा पुं० [सं० उपवसथ, प्रा० उपोसथ] निराहार व्रत । उपवास । (यह शब्द जैन और बौद्ध लोगों का है) ।

उप्पम–संज्ञा स्त्री० [देश०] मदरास प्रांत के तिनावली और कोयम्बटूर ज़िलों में उत्पन्न होनेवाली एक प्रकार की कपास ।

उफ़–अव्य० [अ०] आह । ओह । अफ़सोस । (यह शब्द प्रायः शोक और पीड़ा के अवसरों पर अनायास मुँह से निकलता है।)

यौ०—उफ़ ओह ! =विस्मयसूचक शब्द ।

उफड़ना*–क्रि० अ० [हिं० उफनना] उबलना । उफान खाना । जोश खाना । उ०—काचा उछरई उफडई काया हाँड़ी माँहि दादू पर कामिलि रहहिं जीव ब्रह्म होइ नाहिं ।—दादू ।

उफ़तादा–वि० [फा०] परती पड़ा हुआ (खेत) ।

उफनना*–क्रि० अ० [सं० उत्+फेन] (१) उबलना । उठना । आँच वा गरमी से फेन के साथ होकर ऊपर उठना । उ०—(क) जसुमति रिस करि करि जो करपै । सुत हित क्रोध देखि माता के मनही मन हरि हरपै । उफनत छीर जननि करि व्याकुल इहि बिधि भुजा छुड़ायो ।…………।—सूर ।

(ख) हरि मुख सुनत बैन रसाल।······ ·····एक उफनत ही चलीं उठि धन्यो नहीं उतारि। एक जेवन करत त्याग्यो चढ़े चूल्हे दारि।—सूर। (ग) एक दुहावत ते उठि चली। एक सिरावत मग महं मिली। उत्सुहकंठा हरि सों बढ़ी। उफनत दूध न धन्यो उतारि। सीझी थूली चूल्हे दारि।—सूर। (२) उमड़ना। उ०—अनुराग के रंगन रूप तरंगन अंगन रूप मनो उफनी।

उफनाना–क्रि० अ० [सं० उत्+फेन] (१) उबलना। किसी तरह की आँच वा गरमी पाकर फेन के सहित ऊपर उठना। उ०—बालक सीय के विहरत मुदित मन दोउ भाइ।······ दुखी सिय पिय विरह तुलसी सुखी सुत सुख पाइ। आँच पय उफनात सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ।—तुलसी। (२) पानी आदि का ऊपर उठना। हिलोरा मारना। उमड़ना। उ०—भौंर भरी उफनात खरी सु उपाय की नाव तरेरनि तोरत।—घनानंद।

उफान–संज्ञा पुं० [सं० उत्+फेन] किसी वस्तु का आँच वा गरमी पाकर फेन के सहित ऊपर उठना। उबाल।

उबकना–क्रि० अ० [हिं० ओकना या उबाक] कै करना।

उबका–संज्ञा पुं० [सं० उद्वाहक, पा० उब्बाहक] डोरी का वह फंदा जिसमें लोटे वा गगरे का गला फँसाकर कूँएँ से पानी निकालते हैं। अरिवन।

उबकाई†*–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओकाई] उबाँत। मतली। कै।
क्रि० प्र०—आना।—लगना।

उबछना†–क्रि० स० [सं० उत्प्रेक्षण, प्रा० उप्पोक्खन, उप्पोच्छन] (१) पछाड़ना। पछाड़कर धोना। (२) सिंचाई के लिये पानी खींचना।

उबट*–संज्ञा पुं० [सं० उद्वाट] अटपट मार्ग। बुरा रास्ता। विकट मार्ग।

वि० ऊबड़ खाबड़। ऊँचा नीचा। अटपट। उ०—(क) जोरि उबट भुइं परी भलाई। की मरि पंथ चलै नहिं जाई।—जायसी। (ख) सायर उबट सिखिर की पाटी। चढ़ी पानि पाहन हिय फाटी।—जायसी।

उबटन–संज्ञा पुं० [सं० उद्वर्त्तन, पा० उब्बट्टन] शरीर पर मलने के लिये सरसों, तिल और चिरौंजी आदि का लेप। बटना। अभ्यंग। उ०—(क) कान्ह बलिजाऊँ ऐसी आरि न कीजै।······महरि बाँह गहि आने। तब तेल उबटने साने।—सूर। (ख) एक दुहावत ते उठि चली।·····लेत उबटना त्यागो दूरि। भागन पाई जीवनमूरि।—सूर।

उबटना–क्रि० अ० [सं० उद्वर्त्तन, पा० उब्बटन] बटना लगाना। उबटन मलना। उ०—(क) ब्रज को जीवन नँदलाल। जननि उबटि अन्हवाइ कै अति क्रम सों लीन्हों गोद। पौढ़ाये पट पालने शिशु निरखि जननि मन मोद—सूर। (ख) सुंदर बदन सरसीरुह सुहाए नैन मंजुल प्रसून माथे मुकुट जटनि के। ········नारि सुकुमारि संग जाको अंग उबटि कै विधि विरचे वरूथ विद्युत छटनि के।—तुलसी। (ग) भाइन सहित उबटि अन्हवाए। छ रस असन अति हेतु जेंवाए।—तुलसी।

मुहा०—उबटना खेलना=मुसलमानों में विवाह की एक रस्म जिसमें लोग गले मिलते हैं।

उबरना–क्रि० अ० [सं० उद्वारण, पा० उब्बारन] (१) उद्धार पाना। निस्तार पाना। मुक्त होना। छूटना। बचना। उ०—(क) आपुहि मूल फूल फुलवारी आपुहि चुनि चुनि खाई। कहैं कबीर तेई जन उबरे जेहि गुरु लियो जगाई।—कबीर। (ख) भवसागर जो उबरन चाहै साईं नाम जिन छोड़े। (ग) धरा न काहू धीर सब के मन मनसिज हरे। जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महँ।—तुलसी। (२) शेष रहना। बाक़ी बचना। उ०—(क) ऐसो हाल मेरे घर में कीन्हों हौं लै आई तुम पास पकरि कै। फोरे सब बासन घर के दधि माखन खायो जो उबान्यो सो डान्यो रिस करि कै।—सूर। (ख) नाचत ही निसि दिवस मन्यो।·········देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जाँचत कोउ उबन्यो। मेरे दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तो न हन्यो।—तुलसी।

उबरा†–वि० [हिं० उबरना] (१) बचा हुआ। फालतू। (२) जिसका उद्धार हुआ हो।

संज्ञा पुं० बोने से बचा हुआ बीज जो हलवाहों और मज़दूरों को बाँट दिया जाता है।

उबरी–संज्ञा स्त्री० दे० "ओबरी"।

संज्ञा स्त्री० [हिं० उबरना] एक प्रकार की काश्तकारी।

वि० स्त्री० (१) मुक्त। जिसका उद्धार हुआ हो। (२) बची हुई। शेष।

उबलना–क्रि० अ० [सं० उद्=ऊपर+वलन=जाना] (१) ऊपर की ओर जाना। आँच वा गरमी पाकर पानी, दूध आदि तरल पदार्थों का फेन के साथ ऊपर उठना। उफनना। जैसे,—दूध जब उबलने लगे, तब आग पर से उतार लो। (२) उमड़ना। वेग से निकलना। जैसे,—सोते से पानी उबल रहा है।

उबसन–संज्ञा पुं० [सं० उद्घसन] खर वा नारियल की कूटी हुई जटा जिससे रगड़कर बरतन माँजते हैं। गुझना। जूना।

उबसना–क्रि० स० [सं० उद्घसन] (१) बरतन माँजना। (२) दे० "उपसना"।

उबहनी†–संज्ञा स्त्री० [सं० उद्वहनी, पा० उब्बहनी] कूँएँ से गगरी वा लोटा खींचने की रस्सी। पानी निकालने की डोरी।

उबहना*–क्रि० स० [सं० उद्वहनी, पा० उब्बहन=ऊपर उठना] (१) हथियार खींचना। (हथियार) म्यान से निकालना। शस्त्र उठाना। उ०—(क) पुनि सलार कादिम मत माहाँ। खाँड़ै

वान उबह नित बाहाँ। (ख) रघुराज लखे रघुनायक ते नह भीम भयानक दंड गहे। सिर काटन चाहत ज्यों अबहीं करवाल कराल लिए उबहे।—रघुराज। (२) पानी फेंकना। उलीचना। क्रि० स० [सं० उद्वहन=जोतना] जोतना। उ०—स्वारथ सेवा कीजिए ताते भला न कोय। दादू ऊसर उबहि करि कोठा भरै न कोय।—दादू।

वि० [सं० उपानह्] बिना जूते का। नंगा। उ०—रथ तें उतरि उबहनेपायन। चलि भे रहहिं हरहि चितचायन।—पद्माकर।

उबाँत*†-संज्ञा स्त्री० [सं० उद्वान्त] उलटी। वमन। कै। उ०—कस तुम महा प्रसाद न पायो। अस कहि करि उबाँत दरसायो।—रघुराज।

उबाना-संज्ञा पुं० [हिं० उबहना=नंगा, वा उ=नहीं+बाना] वह सूत जो कपड़ा बुनने में राछ के बाहर रह जाता है। उ०—पाई करि कै, भरना लीन्हों वे बाँधे को रामा। वे ये भरि तिहुँ लोकहिं बाँधे कोइ न रहै उबाना।—कबीर।

वि० बिना जूते का। नंगे पैर। उ०—मोहित मोहन जेठ की धूप में आए उबाने परे पग छाले।—बेनी।

उबार-संज्ञा पुं० [सं० उद्धारण] (१) उद्धार। निस्तार। छुटकारा बचाव। रक्षा। उ०—(क) मन ते दान कै राघो झूरा। नाहिं उदार जिया उर पूरा।—जायसी। (ख) ग्वालन हरि की बात चलाई। यह सुनि कंस गयो अकुलाई।······यासों मेरो नहीं उबारा। मोहि मारत मारै परिवारा।—सूर। (ग) गहत चरन कह बालिकुमार। मम पद गहे न तोर उबारा।—तुलसी। † (२) ओहार।

उबारना-क्रि० स० [सं० उद्धारण] उद्धार करना। छुड़ाना। निस्तार करना। मुक्त करना। रक्षा करना। बचाना। उ०—तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिं उबारा।—तुलसी।

उबारा-संज्ञा पुं० [सं० उद्=जल+वारण=रोक] जल का वह कुंड जो कुँओं पर चौपायों के जल पीने के लिए बना रहता है। निपान। चवँर। अहरी।

उबाल-संज्ञा पुं० [हिं० उबलना] (१) आँच पाकर फेन के सहित ऊपर उठना। उफान।

क्रि० प्र०—आना।—उठना।

(२) जोश। उद्वेग। क्षोभ। जैसे,—उसे देखते ही उनके जी में ऐसा उबाल आया कि वे उसकी ओर दौड़ पड़े।

उबालना-क्रि० स० [सं० उद्वालन,प्रा० उब्बालन] (१) पानी, दूध वा और किसी तरल पदार्थ को आग पर रखकर इतना गरम करना कि वह फेन के साथ ऊपर उठ आवे। खौलाना। चुराना। जोश देना। जैसे,—दूध उबालकर पीना चाहिए। (२) किसी वस्तु को पानी के साथ आग पर चढ़ाकर गरम करना। जोश देना। उसिनना। जैसे,—आलू उबाल डालो।

उबासी-संज्ञा स्त्री० [सं० उश्वास] जँभाई।

उबाहना*-क्रि० स० दे० "उबहना"।

उबिठना†*-क्रि० स०, क्रि०, अ० दे० "उबीठना"।

उबीठना-क्रि० स० [सं० अव, पा० औ+सं० इष्ट, पा० इट्ठ=ओट्ठ] जी भर जाने के कारण अच्छा न लगना। चित्त से उतर जाना। अधिक व्यवहार के कारण अरुचिकर हो जाना। उ०—(क) कान्ह बलि जाऊँ ऐसी आरि न कीजै। जोइ जोइ भावै सोइ सोइ लीजै।······मुतिलाडू हैं सुठि मीठे। वै खात न कबहूँ उबीठे।—सूर। (ख) जौ मोहिं राम लागते मीठे। तो नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे। बंचक विषय विविध तनु धरि अनुभवे, सुने अरु डीठे। यह जानतहु हृदय अपने सपने न अघाइ उबीठे।—तुलसी।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग यद्यपि देखने में कर्तृप्रधान की तरह है, पर वास्तव में है कर्मप्रधान।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० अ० ऊबना। घबराना। उ०—देव समाज के, साधु समाज के लेत निवेदन नाहिं उबीठे।

उबीधना*-क्रि० अ० [सं० उद्विद्ध] (१) फँसना। उलझना। (२) धँसना। गड़ना।

उबीधा-वि० [सं० उद्विद्ध] [स्त्री० उबीधी] (१) धँसा हुआ। गड़ा हुआ। उ०—गरबीली गुनन लजीली ढीली भौंहन कै, ज्यों ज्यों नई जाति त्यों लों नई नेह नित ही। बीधी बात बातन, समीधी गात गातन, उबीधी परजंक में निसंक अंक हित ही।—देव। (२) छेदनेवाला। गड़नेवाला। काँटों से भरा हुआ। झाड़-झंखाड़-वाला। उ०—कहुँ शीतल कहुँ उष्ण उबीधो। कहूँ कुटिल मारग कहुँ सीधो।—शं० दि०।

उबेना*†-वि० [हिं० उ=नहीं+सं० उपानह=जूता] नंगे पैर। बिना। जूते का। उ०—तब लौं मलीन हीन दीन सुख सपने न जहाँ तहाँ दुखी जन भाजन कलेस को। तब लौं उबेने पाएँ फिरत पेट खलाए बाए मुँह सहत पराभौ देस देस को।—तुलसी।

उबेरना*-क्रि० स० दे० "उबारना"।

उभइ*-वि० दे० "उभय"।

उभड़ना-क्रि० अ० [सं० उद्भिदन। अथवा, उद्भरण, प्रा० उब्भरण] (१) किसी तल वा सतह का आस पास की सतह से कुछ ऊँचा होना। किसी अंश का इस प्रकार ऊपर उठना कि समूचे से उसका लगाव बना रहे। उकसना। फूलना। जैसे, गिलटी उभड़ना। फोड़ा उभड़ना। उ०—नारंगी के छिलके पर उभड़े हुए दाने होते हैं। (२) किसी वस्तु का इस प्रकार ऊपर उठना कि वह अपने आधार से लगी रहे। ऊपर निकलना। जैसे,—अभी तो खेत में अँखुए उभड़ रहे हैं। (३) आधार छोड़कर ऊपर उठना। उठना। जैसे,—(क)

मेरा तो पैर ही नहीं उभड़ता, चलूँ कैसे ? (ख) यह पत्थर यहाँ से उभड़ता ही नहीं है। (४) प्रकट होना। उत्पन्न होना। पैदा होना। जैसे,—दर्द उभड़ना। ज्वर उभड़ना। (५) खुलना। प्रकाशित होना। जैसे, बात उभड़ना। (६) बढ़ना। अधिक होना। प्रबल होना। जैसे,—आज कल उसकी चर्चा ख़ूब उभरी है। (७) वृद्धि को प्राप्त होना। समृद्ध होना। प्रतापवान होना। जैसे,—मरहटों के पीछे सिक्ख उभड़े। (८) चल देना। हट जाना। भागना। जैसे,—अब यहाँ से उभड़ो। (९) जवानी पर आना। उठना। (१०) गाय, भैंस आदि का मस्त होना।

उभय–वि० [सं०] दोनों।

उभयतः–क्रि० वि० [सं०] दोनों ओर से। दोनों तरफ़ से।

उभयतोदंत–वि० [सं०] जिसके दोनों ओर दो दाँत निकले हों। जैसे—हाथी, सूअर आदि।

उभयतोमुखी–वि० स्त्री० [सं०] दोनों ओर मुँहवाली।

यौ०—उभयतोमुखी गौ=ब्याती हुई गाय जिसके गर्भ से बच्चे का मुँह बाहर निकल आया हो। ऐसी गाय के दान का बड़ा माहात्म्य लिखा है।

उभयवादी–वि० [सं०] स्वर और ताल दोनों का बोध करानेवाला (बाजा, जैसे वीणा)।

उभयविपुला–संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्य्या छंद का एक भेद। वह आर्य्या जिस के दोनों दलों के प्रथम तीन गणों में पाद पूर्ण नहीं होते।

उभयसुगंध-गण–संज्ञा पुं० [सं०] वे महँकनेवाली वस्तुएँ जिनकी सुगंध जलाने पर भी फैलती है। जैसे—चंदन, सुगंधबाला, अगरु, जटामासी, नख, कपूर, कस्तूरी इत्यादि।

उभयोन्नतोदर–वि० [सं०] जिसका पेट दोनों ओर को निकला हो।

उभरना*†–क्रि० अ० दे० "उभड़ना"।

मुहा०—उभारा लेना=किसी बीमारी का फिर फिर होना।

उभाड़–संज्ञा पुं० [सं० उद्भिदन] (१) उठान। ऊँचापन। ऊँचाई। (२) ओज। वृद्धि।

उभाड़ना–क्रि० स० [हिं० उभड़ना] (१) किसी जमी वा रक्खी हुई भारी वस्तु को धीरे धीरे उठाना। उकसाना। जैसे,—पत्थर ज़मीन में धँस गया है, इसको उभाड़ो। (२) उत्तेजित करना। इधर उधर की बातें करके किसी को किसी बात पर उतारू करना। बहकाना। जैसे,—उसी के उभाड़ने से तुमने यह सब उपद्रव किया है। (३) जगह से उठाना।

उभाड़दार–वि० [सं० उद्भिदन] (१) उठा हुआ। उभरा हुआ। सतह से ऊँचा। फूला हुआ। जैसे,—उस बरतन पर की नक्काशी उभाड़दार है। (२) भड़कीला। जैसे,—इस ज़ेवर की बनावट ऐसी उभाड़दार है कि लागत तो दस ही रुपये की है, पर सौ का जँचता है।

उभाना*–क्रि० अ० [हिं० अभुआना] सिर हिलाना और हाथ पैर पटकना जिससे सिर पर भूत का आना समझा जाता है। अभुआना। उ०—घूमन लगे समर में घैहा। मनहुँ उभात भाव भरि भैहा।—लाल।

उभिटना*–क्रि० अ० [हिं० उबीठना] ठिठकना। हिचकना। झिटकना। उ०—कान्ह भले जु भले ढँग लागे भले ह्वै है नैनन के रँग रागे। जानति हौं सबही तुम जानत आप से केशव लालच लागे। जाहु नहीं अहो जाहु चले हरि जात जितै दिन ही बनि बागे। देखि कहा रहे धोखे परे उभिटे कैसे ? देखिबो देखहु आगे।—केशव।

उभै*–वि० दे० "उभय"।

उमंग–संज्ञा स्त्री० [सं० उद्=ऊपर+मंग=चलना] (१) चित्त का उभाड़। सुखदायक मनोवेग। जोश। मौज। लहर। आनंद। उल्लास। उ०—बसे जाय आनंद उमंग सों गैयाँ सुखद चरावैं।—सूर। जैसे,—आज उनका चित्त बड़ी उमंग में है। (२) उभाड़। (३) अधिकता। पूर्णता। उ०—आनँद उमंग मन, जोबन उमंग तन, रूप के उमंग उमगत अंग अंग है।—तुलसी।

उमंगना*–क्रि० अ० दे० "उमगना"।

उमंड–संज्ञा पुं० [सं० उद्=ऊपर+मण्ड=माँड़ वा फेन] (१) उठान। (२) चित्त का उबाल। वेग। जोश।

उमंडना–क्रि० अ० दे० "उमड़ना"।

उमकना†–क्रि० अ० [देश०] उखड़ना।

क्रि० अ० दे० "उमगना"।

उमग*–संज्ञा स्त्री० दे० "उमंग"।

उमगन*–संज्ञा स्त्री० [सं० उ+मंग] आनंद। हर्ष। खुशी। प्रसन्नता।

उमगना–क्रि० अ० [हिं० उमंग+ना] (१) उभड़ना। उमड़ना। भरकर ऊपर उठना। बढ़ चलना। उ०—ऋधि, सिधि, संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहँ आई।—तुलसी। (२) उल्लास में होना। हुलसना। जोश में आना।

उमगा–वि० पुं० [सं० उ+मंग] [स्त्री० उमगी] उमड़ा। उत्साहित हुआ। सीमा से बाहर हुआ। हद से निकला हुआ। सीमोल्लंघित।

उमचना*–क्रि० अ० [सं० उन्मञ्च=ऊपर उठना] (१) किसी वस्तु पर तलवों से अधिक दाब पहुँचाने के लिये झटके के साथ शरीर को ऊपर उठाकर फिर नीचे गिराना। हुमचना। (२) चौंक पड़ना। चौकन्ना होना। सजग होना। उ०—सुनहु सखी मोहन कहा कीन्हों। एक एक सों कहति बात यह दान लियो कै मन हरि लीन्हों।.........उमचि जाति तबही सब सकुचति बहुरि मगन ह्वै जाति। सूर श्याम सों कहौ कहा यह कहत न बनत लजाति।—सूर।

उमड़–संज्ञा स्त्री० [सं० उन्मण्डन्] (१) बाढ़। बढ़ाव। भराव। (२) घिराव। घिरन। छाजन। (३) धावा।

उमड़ना–क्रि० अ० [हिं० उमंग] (१) पानी या किसी और द्रव वस्तु का बहुतायत के कारण ऊपर उठना। भरकर ऊपर आना। उतराकर बह चलना। उ०—(क) बरसात में नदी नाले उमड़ते हैं। (ख) नदियाँ नद लौं उमड़ीं लतिका तरु डारन पै गुरबान लगीं।—सेवक। (२) उठकर फैलना। छाना। घेरना। जैसे,—बादल उमड़ना। सेना उमड़ना। उ०—(क) घनघोर घटा उमड़ी चहुँ ओर सो मेह कहै न रहौं बरसौं। (ख) अनी बनी उमड़ी लखें असिवाहक भट भूप।—बिहारी।

यौ०—उमड़ना घुमड़ना=घूम घूमकर फैलना वा छाना। उ०—उमड़ि घुमड़ि घन बरसन लागे।

(३) किसी आवेश में भरना। जोश में आना। क्षुब्ध होना। जैसे,—इतनी बातें सुनकर उसका जी उमड़ आया।

संयो० क्रि०—आना।—चलना।—जाना।—पड़ना।

उमड़ाना–क्रि० अ० दे० "उमड़ना"

उमदगी–संज्ञा स्त्री० [अ०] अच्छापन। उत्तमता। ख़ूबी।

उमदना*–क्रि० अ० [सं० उन्मद] (१) उमंग में भरना। मस्त होना। (२) उमगना। उमड़ना। उ०—बद्दल उमड़ जैसें जलद। गोली बर बूँदें परि बिहद।—सूदन।

उमदा–वि० [अ०] [स्त्री० उमदी] अच्छा। उत्तम। बढ़िया।

उमदाना*–क्रि० अ० [सं० उन्मद] (१) मतवाला होना। मद में भरना। मस्त होना। उ०—(क) वे ठाढ़े उमदात उत जल न बुझे बड़वागि। जाही सों लाग्यो हियो ताही के उर लागि।—बिहारी (ख) हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।—बिहारी। (ग) जोबन के मद उनमद मदिरा के मद मदन के मद उमदात बरबस पर।—देव। (२) उमंग में आना। आवेश में आना। जोश में आना। उ०—बहु सुभट बढ़ि कै प्रान त्यागे विष्णु पुरते जात भे। सो देखि संगर करन महँ सब सुभट अति उमदात भे।—गोपाल।

उमर–संज्ञा स्त्री० [अ० उम्र] (१) अवस्था। वय। (२) जीवनकाल। आयु।

संज्ञा पुं० [अ०] बगदाद का एक ख़लीफ़ा।

उमरती–संज्ञा स्त्री० [सं० अमृत] एक प्रकार का बाजा। उ०—बीन निपातक कमायज गहे। बाज उमरती अति कहकहे। (पाठांतर) बाज उँबरती अति गहगहे।—जायसी।

उमरा–संज्ञा पुं० [अ०] अमीर का बहुवचन। प्रतिष्ठित लोग। सरदार। उ०—लिखी पत्रि चारिहुँ दिशि धाए। जहँ तहँ उमरा बेगि बुलाए।—जायसी।

उमराव*†–संज्ञा पुं० [अ० उमरा] प्रतिष्ठित लोग। सरदार। दरबारी। रईस। उ०—असुरपति अतिही गर्व धर्यो।…… …महा महा जो सुभट दैत्यबल बैठे सब उमराव। तिहूँ भुवन भरि गम है मेरो मो सम्मुख को आव?—सूर।

उमरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक पौधा जिसे जलाकर सज्जी खार बनाते हैं। यह मदरास, बंबई तथा बंगाल में खारी मिट्टी के दलदलों के पास होता है। मचोल।

उमस–संज्ञा स्त्री० [सं० ऊष्म] वह गरमी जो हवा पतली पड़ने वा न चलने पर मालूम होती है। गरमी।

उमहना–क्रि० अ० [सं० उन्मंथन, प्रा० उम्महन अथवा सं० उद्+मह् =उभाड़ना] (१) उमड़ना। भर कर ऊपर आना। उमगना। फूट चलना। उ०—(क) माधो जू मैं अति ही सचुपायो। …………नहिं श्रुति शेष महेष प्रजापति जो रस गोपिन गायो। कथा गंग लागी मोहि तेरी उहि रस सिंधु उम्हायो।—सूर। (ख) कान्ह भले जु भले समुझायहौ मोह समुद्र को जो उमह्यो है। केशव आपने मानिक सों मन हाथ पराये दे कौने लह्यो है।—केशव। (ग) सोने सो जाको स्वरूप सबै कर पल्लव कांति महा उमही है।—देव। (२) छाना। घेरना। चारों ओर से टूट पड़ना। उ०—सघन विमान गगन भरि रहे। कौतुक देखन अम्मर उमहे।—सूर। (३) उमंग में आना। जोश में आना। उ०—पाँव धवावति ही नँदलाल सों ऐंठि उमेठन रंग भरी सी। चारु महा कवि की कविता सी लसै रस में दुलही उमही सी।

उमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शिव की स्त्री, पार्वती।

विशेष—कालिका पुराण में लिखा है कि जब पार्वती शिव के लिये तप कर रही थीं, उस समय उनकी माता मेनका ने उन्हें तप करने से रोका था। इसी से पार्वती का नाम उमा पड़ा; अर्थात् उ (हे) मा (मत)।

(२) दुर्गा। (३) हलदी। (४) अलसी। (५) कीर्ति। (६) कांति। (७) ब्रह्मविद्या। ब्रह्मज्ञान।

यौ०—उमागुरु। उमाचतुर्थी। उमावन।

उमाकना*–क्रि० अ० [सं० उ=नहीं+मक्क=जाना] उखाड़ना। खोद कर फेंक देना। नष्ट करना।

उमाकिनी*†–वि० स्त्री० [हिं० उमाकना] उखाड़नेवाली। खोदकर फेंक देनेवाली। उ०—माया मोहनाशिनी उमाकिनी अविद्या मूल, पापन की त्रासिनी है ज्ञान रस रासिनी।—रघुराज।

उमागुरु–संज्ञा पुं० [सं०] पार्वती के पिता, हिमाचल।

उमाचना*†–क्रि० स० [सं० उन्मञ्चन=ऊपर उठाना] (१) उभाड़ना। ऊपर उठाना। (२) निकालना। उ०—लाज बस बाम छाम छाती पै छली के, मानो नाभि त्रिबली तें दूजी नलिनी उमाची है।

उमाद*–संज्ञा पुं० दे० "उन्माद"।

उमाधव–संज्ञा पुं० [सं०] पार्वती के पति। महादेव। शिव। उ०—हरो पीर मेरी रमाधो उमाधो। प्रबोधो उदो देहि श्री बिंदुमाधो।—केशव।

उमापति–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव। शंकर। शिव।

उमाह–संज्ञा पुं० [सं० उद्+मह्=उमगाना, उत्साहित करना] उत्साह। उमंग। जोश। चित्त का उद्गार। उ०—(क) आयो सुबाहु उमाह भरो रन जो सुरनाह को दाह देवैया।—रघुराज। (ख) जान देहु सब और चित्त के मिलि रस करन उमाहु। हरीचंद सूरत को अपनी बारेक फेरि दिखाहु।—हरिश्चंद्र।

उमाहना–क्रि० अ० [हिं० उमहना] (१) उमड़ना। उमगना। भरकर ऊपर आना। उ०—अंगन अंगन माँहिं अनंग के तुंग तरंग उमाहत आवैं।—पद्माकर। (२) उमंग में आना। उद्गार से भरना। उ०—तैसहि राज समाज जोरि जन धावैं हरख उमाहे।—रघुराज।

क्रि० स० उमड़ाना। उमगाना। बेग से बढ़ाना। उ०—झलझलात रिस ज्वाल बदनसुत चहुँ दिसि चाहिय। प्रलय करन त्रिपुरारि कुपित जनु गंग उमाहिय।—सूदन।

उमाहल*–वि० [हिं० उमाह] उमंग से भरा। उत्साहित। उ०—ब्रज घर घर अति होत कोलाहल। ग्वाल फिरत उमँगे जहँ तहँ सब अति आनंद भरे जु उमाहल।—सूर।

उमेठन–संज्ञा स्त्री० [सं० उद्वेष्टन] ऐंठन। मरोड़। पेंच। बल।

उमेठना–क्रि० स० [सं० उद्वेष्टन] ऐंठना। मरोड़ना।

उमेठवाँ–वि० [हिं० उमेठना] ऐंठदार। ऐंठनदार। घुमावदार।

उमेड़ना*–क्रि० स० दे० "उमेठना"।

उमेदवार–संज्ञा पुं० दे० "उम्मेदवार"।

उमेदवारी–संज्ञा स्त्री० दे० "उम्मेदवारी"।

उमेलना*–क्रि० स० [सं० उन्मीलन] (१) खोलना। उघाड़ना। प्रकट करना। (२) वर्णन करना। उ०—पद्मावत जगरूपमनि कहँ लग कहौं उमेल। ते समुंद महँ खोयों हौं का जियों अकेल।—जायसी।

उम्दगी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] अच्छापन। भलापन। ख़ूबी।

उम्दा–वि० [अ०] अच्छा। भला। उत्तम। श्रेष्ठ। बढ़िया।

उम्मट–संज्ञा पुं० एक देश का नाम।

उम्मत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) किसी मत के अनुयायियों की मंडली। उ०—कबीर सोई हुकुम हरम की उम्मत निबाहै जात। पैगंबर हुकुम हरम के बड़े शरम की बात।—कबीर। (२) जमाअत। समिति। समाज। फिरका। (३) औलाद। संतान। (परिहास)। (४) पैरोकार।

उम्मी–संज्ञा स्त्री० [सं० उम्बी] गेहूँ वा जौ की कच्ची बाल जिसमें से हरे दाने निकलते हैं।

उम्मीद–संज्ञा स्त्री० दे० "उम्मेद"।

उम्मेद–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] आशा। भरोसा। आसरा।

क्रि० प्र०—करना।—बाँधना।—होना।

मुहा०—उम्मेद होना=संतान की आशा होना। गर्भ के लक्षण दिखाई पड़ना। जैसे,—इन दिनों लाला साहब के घर में कुछ उम्मेद है; देखें लड़का होता है कि लड़की। उम्मेद से होना=गर्भवती होना। जैसे,—उनकी स्त्री उम्मेद से है।

उम्मेदवार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) आशा करनेवाला। आसरा रखनेवाला (२) नौकरी पाने की आशा करनेवाला। नौकरी के लिये प्रार्थना करनेवाला। (३) काम सीखने के लिये और नौकरी पाने की आशा से किसी दफ़्तर में बिना तनख़ाह काम करनेवाला आदमी।

उम्मेदवारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) आशा। आसरा। (२) काम सीखने के लिये और नौकरी पाने की आशा से बिना तनख़ाह किसी दफ़्तर में काम करना।

उम्र–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अवस्था। वयस। (२) जीवनकाल। आयु।

क्रि० प्र०—काटना।—गुज़ारना।—बिताना।

मुहा०—उम्र टेरना=किसी प्रकार जीवन के दिन पूरे करना। किसी तरह दिन काटना।

उरंग–संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

उरंगम–संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

उर–संज्ञा पुं० [सं० उरस्] (१) वक्षस्थल। छाती।

यौ०—उरोज।

मुहा०—उर आनना वा लाना=छाती से लगाना। आलिंगन करना। उ०—(क) ताप सरसानी, देखै अति अकुलानी, जऊ पति उर आनी तऊ सेज में बिलानी जात।—पद्माकर (ख) दिन दस गए बालि पहँ जाई। पूछेहु कुशल सखा उर लाई।—तुलसी।

(२) हृदय। मन। चित्त। उ०—करहु सो मम उर धाम, सदा छीर सागर सयन।—तुलसी।

मुहा०—उर आनना वा लाना=मन में लाना। ध्यान करना। विचारना। उ०—उर आनहु रघुपति प्रभुताई।—तुलसी। उर धरना=ध्यान में रखना। ध्यान करना। उ०—बंदि चरण उर धरि प्रभुताई। अंगद चले सबहिं सिर नाई।—तुलसी।

उरई–संज्ञा स्त्री० [सं० उशीर] उशीर। ख़स।

उरकना*–क्रि० अ० [हिं० रुकना] रुकना। ठहरना। उ०—राघव-चेतन चेतन महा। आइ उरकि राजा पहँ रहा।—जायसी।

उरग–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० उरगी] साँप।

यौ०—उरगराज=वासुकी। उरगस्थान=पाताल। उरगाशन। उरगारि। उरगाराति।

उरगड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० उर+गाड़ना] एक खूँटी जिससे जुलाहे पृथिवी में ताना गाड़ने के लिये सूराख़ करते हैं।

उरगलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवल्ली। पान।

उरगाद–संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

उरगाय*–दे० "उरुगाय"।

उरगारि–संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

उरगिनी*–संज्ञा स्त्री० [सं० उरगी] सर्पिणी। नागिनी। उ०—तहहिं जाव जहँ निशा बसे हो। जानते हो पिय चतुर शिरो-

मणि नागरि जागर रास रसे हो। घूमत हौ मनौ प्रिया उरगिनी नव विलास श्रम से जड़ से हो। काजर अधरनि प्रगट देखियत नागबेलि रँग निपट लसे हो।—सूर।

उरज*—संज्ञा पुं० [सं० उरोज] कुच। स्तन। उ०—बाढ़त तो उर उरज भर भर तरुनई विकास। बोझनि सौतिन के लिए आवत रूँध उसास।—बिहारी।

उरजात*—संज्ञा पुं० [सं० उरस+जात] कुच। स्तन। उ०—अति सुंदर उर में उरजात। शोभा सर में जनु जलजात।—केशव।

उरझना*—क्रि० अ० दे० "उलझना"।

उरझाना*—क्रि० स० दे० "उलझाना"।

उरण—संज्ञा पुं० [सं०] भेड़ा। मेढ़ा।

उरद—संज्ञा पुं० [सं० ऋद्ध, पा० उद्ध] [स्त्री० अल्पा० उरदी] एक प्रकार का पौधा जिसकी फलियों के बीज वा दाने की दाल होती है। एक एक सीके में सेम की तरह तीन तीन पत्तियाँ होती हैं। बैंगनी रंग के फूल लगते हैं। फलियाँ ३-४ अंगुल की होती हैं और गुच्छों में लगती हैं। फलियों के भीतर ५-६ लंबे गोल दाने होते हैं जिनके मुँह पर सफ़ेद बिंदी होती है। उरद दो प्रकार का होता है—एक काला और एक हरा। यह भादों क्वार में बोया जाता है और अगहन पूस में काटा जाता है। इसके लिये बलुई मिट्टी और थोड़ी वर्षा चाहिए। इसकी दाल खाई जाती है और पीठी से बड़े, पापड़, पकौड़ी, आदि बनती हैं।

पर्या०—माष। कुरुविंद। मांसल।

मुहा०—उरद के आटे की तरह ऐंठना=(१) बिगड़ना। नाराज होना। जैसे,—क्यों उरद के आँटे की तरह ऐंठते हो? अपनी चीज़ ले लो। (२) घमंड करना। इतराना। ठसक दिखाना। जैसे,—क्षुद्र लोग थोड़े ही धन में उरद के आँटे की तरह ऐंठ जाते हैं। उरद पर सफ़ेदी=बहुत कम। नाम मात्र को। दाल में नमक। जैसे,—उनमें विद्या उतनी ही है जितनी उरद पर सफ़ेदी।

विशेष—उरद का बीज काला या हरा होता है; केवल उसके मुँह पर बहुत छोटी सी सफ़ेद बिंदी होती है।

उरदी—संज्ञा स्त्री० [उरद का अल्पा० रूप] (१) उरद की एक छोटी जाति। यह असाढ़ महीने में ज्वार, बाजरे, अरहर आदि के साथ बोई जाती है और कार-कातिक में काटी जाती है। इसके बीज वा दाने काले होते हैं। एक प्रकार की तिनपखिया उरदी होती है जो तीन पक्ष अर्थात् डेढ़ ही महीने में तैयार हो जाती है। (२) वह गोल चिह्न जो पीतल की थाली के बीच में बना रहता है। (३) लोहे का एक ठप्पा जिससे थाली में उरदी बनाते हैं।

उरध*—क्रि० वि० दे० "ऊर्ध्व"।

उरधारना—क्रि० स० [हिं० उधड़ना] बिखराना। उधेड़ना। उ०—उरधारी लटैं छूटी आनन पर भीजीं फुलेलन सों आली संग केलि।—सूर।

उरप-तरप—संज्ञा पुं० दे० "उड़प"।

उरबसी—संज्ञा स्त्री० दे० "उर्वशी"।

उरबी*—संज्ञा स्त्री० दे० "उर्वी"।

उरभ्र—संज्ञा पुं० [सं०] भेड़।

उरमना*†—क्रि० अ० [सं० अवलम्बन, प्रा० ओलंबन] लटकना। उ०—फूलन के विविध हार घोड़िलनि उरमत उदार बिच बिच मणि श्यामहार उपमा शुक भाषी।—केशव।

उरमाना*†—क्रि० स० [हिं० उरमना] लटकाना। उ०—कटि के तट हार लपेट लियो कल किंकिणि लै उर में उरमाई।—केशव।

उरमाल*†—संज्ञा पुं० [फ़ा० रुमाल] रूमाल। उ०—लघु डालैं लघु लघु करवालैं लघु लघु कर उरमालै।—रघुराज।

उरविज*—संज्ञा पुं० [सं० उर्वी=पृथ्वी+ज=उत्पन्न] भौम। मंगल ग्रह। उ०—जौ उरविज चाहसि झटित तौ करि घटित उपाय। सुमनस-अरि-अरि-बर-चरन-सेवन सरल सुभाय।—तुलसी।

उरल—संज्ञा पुं० [देश०] पच्छिमी पंजाब और हज़ारा की एक भेड़ जिसे दाढ़ी होती है।

उरला—वि० [सं० अपर, अवर+हिं० ला (प्रत्य०)] पिछला। उत्तर। पीछे का।

[हिं० विरल] विरला। बहुतों में एक। निराला। उ०—ब्रह्मा वेद सही किया शिव योग पसारा हो। विष्णु माया उत्पन्न किया उरला व्यवहारा हो।—कबीर।

उरस—वि० [सं० कुरस] कुरस। फीका। नीरस। बिना स्वाद का। उ०—चलो लाल कुछ करो बियारी। रुचि नाहीं काहू पर मेरी? तू कहि भोजन कर्‌यो कहारी। बेसन मिले उरस मैदा सों अति कोमल पूरी है भारी।—सूर। संज्ञा पुं० [सं० उरस] (१) छाती। वक्षस्थल। (२) हृदय। चित्त।

उरसना—क्रि० अ० [हिं० उड़सना] ऊपर नीचे करना। हिलाना। उथल पुथल करना। उ०—यशोदा मदन गोपाल सोआवै देखि स्वप्न-गति त्रिभुवन कंप्यो ईश विरंचि भ्रमावै। स्वास उदर उरसति यों मानो दुग्ध सिंधु छवि पावै। नाभि सरोज प्रगट पद्मासन उतरि नाल पछताव।—सूर।

उरसिज—संज्ञा पुं० [सं०] स्तन। छाती।

उरस्क—संज्ञा पुं० [सं०] छाती। वक्षस्थल।

उरहना*—संज्ञा पुं० [सं० उपालम्भ, वा अवलम्भन, पा० ओलंभन] उलाहना। शिकायत। उ०—(क) सब ब्रजनारी उरहन आईं ब्रजरानी के आगे! मैं नाहिन दधि खायो याको शिशु ह्वै रोवन लागे।—सूर। (ख) मो कहँ झूठेहु दोष लगावहिं। मैय्या इनहिं बानि परगृह की नाना जुगुति बनावहिं। इन्हके लिए खेलिबो छोड्यो तऊ न उबरन पावैं। भाजन फोरि बोरि कर गोरस देन उरहनो आवैं।—तुलसी।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

उरा*-संज्ञा स्त्री० [सं० उर्वी] पृथ्वी ।
उराउ*-संज्ञा पुं० दे० "उराव" ।
उराट*-संज्ञा पुं० [सं० उरस] छाती ।—डिं० ।
उराय-संज्ञा पुं० दे० "उराव"
उरारा-वि० [सं० उरु] विस्तृत । विशाल । उ०—सुख दै बोलाई बन सूने दुख दूने दिये एकै बार उससि सरोस स्वास सरकनि । औचक उचकि चित चकित चितौनि चहूँ मुकुत हरानि थहरानि कुच थरकनि । रूप भरे भारे अनूप अनियारे दृग कोरनि उरारे कजरारे बूँद ढरकनि । देव अरुनाई अरु नई रिपि की छवि सुधा मधुर अधर सुधा मधुर पलकनि ।—देव ।
उराव-संज्ञा पुं० [सं० उरस+आव (प्रत्य०)] चाव । चाह । उमंग । उत्साह । हौसला । उ०—(क) आजु वे चरण देखिहौं जाय । जेहि पद कमल प्रिया श्री उर से नेक न सके भुलाइ ।......जे पद कमल सुरसरी परसे तिहूँ भुवन जस छाव । सूरस्याम पद कमल परसिहौं मन अति बढ़्यो उराव ।—सूर । (ख) तुलसी उराव होत राम को सुभाव सुनि को न बलि जाइ न बिकाइ बिन मोल को ।—तुलसी । (ग) अति उराव महराज मगन अति जान्यो जात न काला। आयो बिमल बसंत बाल पुनि बीति गयो इक साला।—रघुराज।
उराहना-संज्ञा पुं० [सं० उपालम्भ] (१) उपालंभ । शिकायत । उ०—(क) भये बटाऊ नेह तजि बाद बकति बेकाज । अब अलि देत उराहनौ उर उपजति अति लाज ।—बिहारी । (ख) काहे को काहू को दीजै उराहनौ, आवैं इहाँ हम आपनी चाहैं ।—देव ।
उरिण-वि० दे० "उऋण" ।
उरिन†-वि० दे० "उऋण" ।
उरिष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] रीठा । रीठी । फेनिल ।
उरु-वि० [सं०] (१) विस्तीर्ण । लंबा चौड़ा । (२) विशाल । बड़ा ।
*संज्ञा पुं० [सं० ऊरु] जंघा । जाँघ ।
उरुक्रम-वि० [सं०] (१) बलवान् । पराक्रमी । (२) लंबा लंबा पाँव बढ़ानेवाला । लंबे डग भरनेवाला ।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु का वामन अवतार । (२) सूर्य्य ।
उरुगाय-वि० [सं०] (१) जिसका गान किया जाय । (२) प्रशंसित । (३) जिसकी गति विस्तृत हो । फैला हुआ ।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) सूर्य्य । (३) स्तुति । प्रशंसा ।
उरुझना*-क्रि० अ० दे० "उरझना" ।
उरुवा*-संज्ञा पुं० [सं० उलूक, प्रा० उलुअ] उल्लू की जाति की एक चिड़िया । रुरुआ ।
उरूज-संज्ञा पुं० [अ०] बढ़ती । वृद्धि । उन्नति ।
उरुसी-संज्ञा पुं० [?] एक वृक्ष जो जापान में होता है । इसके धड़ से एक प्रकार का गोंद निकाला जाता है जिससे रंग और वारनिश बनती है ।
उरे†*-क्रि० वि० [सं० अवर] (१) परे । आगे । (२) दूर ।
उरेखना*-क्रि० स० दे० "अवरेखना" ।
उरेह-संज्ञा पुं० [सं० उल्लेख] चित्रकारी । नक्काशी । उ०—(क) कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा । कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा ।—जायसी । (ख) जावँत सबै उरेह उरेहे । भाँति भाँति नग लाग उवेहे ।—जायसी ।
उरेहना-क्रि० स० [सं० उल्लेखन] (१) खींचना । लिखना । रचना । उ०—(क) जावँत सबै उरेह उरेहे । भाँति भाँति नग लाग उवेहे ।—जायसी । (ख) काह न मूठ भरी वह देही । अस मूरति के दैव उरेही ।—जायसी । (२) लगाई से लकीर करना । रँगना । रंग लगाना । उ०—खेह उड़ानी जाहि घर हेरत सो खेहु । पिय आवहिं अब दिष्ट तोहि अंजन नयन उरेहु ।—जायसी ।
उरोज-संज्ञा पुं० [सं०] स्तन । कुच । छाती ।
उर्द-संज्ञा पुं० दे० "उरद" ।
उर्दपर्णी-संज्ञा स्त्री० [हिं० उर्द+सं० पर्णी] माषा-पर्णी । बन-उरदी ।
उर्दू-संज्ञा स्त्री० [तु०] वह हिंदी जिसमें अरबी, फ़ारसी भाषा के शब्द अधिक मिले हों और जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाय ।
विशेष—तुर्की भाषा में इस शब्द का अर्थ लश्कर, सेना वा शिविर है । शाहजहाँ के समय में इस शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में होने लगा था । उस समय बादशाही सेना में फ़ारसी, तुर्क और अरब आदि भरती थे और वे लोग हिंदी में कुछ कुछ फ़ारसी, तुर्की, अरबी आदि के शब्द मिलाकर बोलते थे । उनको इस भाषा का व्यवहार लश्कर के बाज़ार में चीज़ों के लेने देने में करना पड़ता था । पहले उर्दू एक बाज़ारू भाषा समझी जाती थी; पर धीरे धीरे वह साहित्य की भाषा बन गई ।
उर्दू बाज़ार-संज्ञा पुं० [हिं० उर्दू+बाजार] (१) लशकर का बाज़ार । छावनी का बाज़ार । (२) वह बाज़ार जहाँ सब चीज़ें मिलें ।
उर्ध*-वि० [सं०] ऊर्ध्व ।
उर्फ़-संज्ञा पुं० [अ०] चलतू नाम । पुकारने का नाम । उपनाम ।
उर्मि*-संज्ञा स्त्री० दे० "ऊर्मि" ।
उर्मिला-संज्ञा स्त्री० [सं० ऊर्मिला] (१) सीताजी की छोटी बहिन जो लक्ष्मणजी से ब्याही गई थी । उ०—मांडवी श्रुतिकीर्ति उर्मिला कुँअरि लई हँकारि कै ।—तुलसी । (२) एक गंधर्वी जिसकी पुत्री सोमदा से ब्रह्मदत्त उत्पन्न हुआ जिसने कपिला नगरी बसाई ।
उर्वरा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपजाऊ भूमि । (२) पृथिवी । भूमि । (३) एक अप्सरा ।
वि० स्त्री० उपजाऊ । ज़रख़ेज़ ।
यौ०—उर्वराशक्ति ।
उर्वशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा ।
उर्वारु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खरबूज़ा । (२) ककड़ी ।

उर्वारुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) खरबूजा। (२) ककड़ी।

उर्वीजा*—संज्ञा स्त्री० दे० "उर्वीजा"।

उर्वी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

उर्वीजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी से उत्पन्न, सीता।

उर्वीधर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शेष। (२) पर्वत।

उर्स—संज्ञा पुं० [अ०] (१) मुसलमानों के मत के अनुसार किसी साधु, महात्मा, पीर आदि के मरने के दिन का कृत्य। (२) मुसलमान साधुओं की निर्वाण तिथि।

उलंग—वि० [उन्नग्न] नंगा।

उलंगना*—क्रि० स० दे० "उलंघना"।

उलंघन*—संज्ञा पुं० दे० "उल्लंघन"।

उलंघना, उलँघना*—क्रि० स० [सं० उल्लंघन] (१) नाँघना। डाकना। फाँदना। उल्लंघन करना। उ०—(क) ऊँचा चढ़ि असमान को मेरु उलंघी ऊड़ि। पशु पक्षी जीव जंतु सब रहा मेरु में गूड़ि।—कबीर। (ख) काहे मोहि उलँघि चले तुम को हो?—केशव। (ग) या भव पारावार को उलँघि पार को जाय। तिय छबि छाया ग्राहिनी गहै बीच ही आय।—बिहारी। (२) न मानना। अवहेलना करना। अवज्ञा करना। उ०—सत गुरु सबद उलंघि करि जो कोइ शिष जाय। जहां जाय तहँ काल है कह कबीर समुझाय।—कबीर।

उलका*—संज्ञा स्त्री० दे० "उल्का"।

उलगट†—संज्ञा स्त्री० [हिं० उलगना] कूद। फाँद।

उलगना†—क्रि० अ० [सं० उल्लंघन] कूदना। फाँदना।

उलगाना†—क्रि० स० [सं० उल्लंघन] [संज्ञा उलगट] कुदाना। फँदाना।

उलचना—क्रि० स० दे० "उलीचना"।

उलछना*†—[हिं० उलचना] (१) हाथ से छितराना। बिखराना। (२) उलीचना।

उलछा—संज्ञा पुं० [हिं० उलचना] हाथ से छितराकर बीज बोने की रीति। छींटा। पसरना। बखेरा। इसका उल्टा 'सेव' वा 'गुल्ली' है।

उलछारना*†—क्रि० स० दे० "उछालना"।

उलझन—संज्ञा पुं० [सं० अवरुन्धन, प्रा० ओरुज्झन] (१) अटकाव। फँसान। गिरह। गाँठ। बाधा। जैसे,—तुम सब कामों में उलझन डाला करते हो।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

(२) पेच। चक्कर। समस्या। व्यग्रता। चिंता। तरद्दुद।

मुहा०—उलझन में डालना झंझट में फसाना। बखेड़े में डालना। जैसे,—तुम क्यों व्यर्थ अपने को उलझन में डालते हो। उलझन में पड़ना=फेर में पड़ना। चक्कर में पड़ना। आगा पीछा करना।

उलझना—क्रि० अ० [सं० अवरुन्धन, प्रा० ओरुज्झन] (१) फँसना। अटकना। किसी वस्तु में इस तरह लगना कि उसका कोई अंग घुस जाय और छुड़ाने से जल्दी न छूटे। जैसे काँटे में उलझना ('उलझना' का उल्टा 'सुलझना' है) उ०—(क) कहेसिन तुम कस होहु दहेला। उरझी प्रेम प्रीति कै बेला।—जायसी। (ख) पाँच बान कर खोंचा लासा भरे सो पाँच। पाँख भरा तन उरझा कित मारे बिनु बाँच।—जायसी।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) लपेट में पड़ना। गुथ जाना। (किसी वस्तु में) पेंच पड़ना। बहुत से घुमावों के कारण फँस जाना। जैसे,—रस्सी उलझ गई है, खुलती नहीं है। उ०—ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहै त्यों त्यों उरझत जात।—बिहारी।

संयो० क्रि०—जाना।

(३) लिपटना। उ०—मोहन नवल शृँगार विटप सों उरझी आनँद बेल।—सूर।

संयो० क्रि०—जाना।

(४) किसी काम में लगना। लिप्त होना। लीन होना। जैसे,—(क) हम तो अपने काम में उलझे थे; इधर उधर ताकते नहीं थे। (ख) इस हिसाब में क्या है, जो घंटों से उलझे हो?

संयो० क्रि०—जाना।

(५) प्रेम करना। आसक्त होना। जैसे,—वह लखनऊ में जाकर एक रंडी से उलझ गया।

संयो० क्रि०—जाना।

(६) विवाद करना। तकरार करना। लड़ना झगड़ना। छेड़ना। जैसे,—तुम जिससे देखो, उसी से उलझ पड़ते हो।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

(७) कठिनाई में पड़ना। अड़चन में पड़ना। (८) अटकना। रुकना। जैसे,—वह जहाँ जाता है, वहीं उलझ रहता है। (९) बल खाना। टेढ़ा होना। जैसे,—छड़ी या तख्त उलझ गया।

मुहा०—उलझना सुलझना=फसना और खुलना। उ०—को सुख को दुख देत है देत करम झकझोर। उरझै सुरझै आपही ध्वजा पवन के जोर।—सभा० वि०। उलझना पुलझना=अच्छी तरह फसना। उ०—ब्राह्मण गुरु हैं जगत के करम भरम का ग्वाहिं। उलझि पुलझि के मरि गए चारिउ बेदन माँहिं।—कबीर। उलझा सुलझा=टेढ़ा सीधा। भला बुरा। उ०—बेसुरी बेठेकाने की उलझी सुलझी तान सुनाऊँ—इन्शा अल्लाह। उलझना उलझाना बात बात में दखल देना। उ०—जब तक लाला जी लिहाज़ करते हैं, तब तक ही उनका उलझना उलझाना बन रहा है।—परीक्षागुरु।

उलझाना—क्रि० स० [हिं० उलझना] (१) फँसाना। अटकाना। (२) लगाए रखना। लिप्त रखना। जैसे,—वह लोगों को चंदी बातों में उलझा रखता है। (३) लकड़ी आदि में बल डालना वा उसको टेढ़ा करना।

*क्रि० अ० उलझना। फँसना। उ०—जीव अँजालौ मधि रहा उलझानों मन सूत। कोइ एक सुलझै सावधौं गुरु बाइ अवधूत।—कबीर।

उलझाव–संज्ञा पुं० [हिं० उलझना] (१) अटकाव। फँसाव। (२) झगड़ा। बखेड़ा। झंझट। (३) चक्कर। फेर।

उलझेड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० उलझना] (१) अटकाव। फँसाव। (२) झगड़ा बखेड़ा। झंझट। (३) खींचातानी।

उलझौहाँ–वि० [हिं० उलझना] (१) अटकानेवाला। फँसानेवाला। (२) वश में करनेवाला। लुभानेवाला। उ०—होत सखी ये उलझौंहे नैन। उरझि परत सुरझ्यो नहिं जानत सोचत समुझत हैं न।—"हरिश्चंद्र"

उलटकंबल–संज्ञा पुं० [देश] एक पौधा या झाड़ी जो हिंदुस्तान के गरम भागों में पनीली भूमि में होती है। इसकी रेशेदार छाल पानी में सड़ाकर या योंही छीलकर निकाली जाती है। छाल सफ़ेद रंग की होती है। पौधे से साल में दो तीन बार ६ या ७ फुट की डालियाँ छाल के लिये काटी जाती हैं। छाल को कूटकर रस्सी बनाते हैं। जड़ की छाल प्रदर रोग में दी जाती है।

उलटकटेरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० उष्ट्रकंट] ऊँटकटारा। ऊँटकटाई।

उलटना–क्रि० अ० [सं० उल्लोठन] (१) ऊपर नीचे होना। ऊपर का नीचे और नीचे का ऊपर होना। औंधा होना। पलटना। जैसे,—यह दवात कैसे उलट गई?

क्रि० प्र०—जाना।

(२) फिरना। पीछे मुड़ना। घूमना। पलटना। जैसे,—मैंने उलटकर देखा तो वहाँ कोई न था। उ०—जेहि दिशि उलटै सोइ जनु खावा। पलटि सिंह तेहि ठाउँ न आवा।—जायसी।

संयो० क्रि०—पड़ना।

विशेष—गद्य में पूर्वकालिक रूप में वा "पड़ना" के साथ संयुक्त रूप ही में यह क्रि० अधिक आती है।

(३) उमड़ना। टूट पड़ना। उलझ पड़ना। एक बारगी बहुत संख्या में आना वा जाना। जैसे,—तमाशा देखने के लिये सारा शहर उलट पड़ा। उ०—नयन बाँक सर पूज न कोऊ। मनु समुद्र अस उलटहिं दोऊ।—जायसी।

संयो० क्रि०—पड़ना।

विशेष—गद्य में इस अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग अकेले नहीं होता; या तो "पड़ना" के साथ होता है अथवा "आना" और "जाना" के साथ केवल इन रूपों में—"उलटा आ रहा है" "उलटा चला आ रहा है", "उलटा जा रहा है" और उलटा चला जा रहा है"।

(४) इधर का उधर होना। अंडबंड होना। अस्त व्यस्त होना। क्रमविरुद्ध होना। जैसे,—यहाँ तो सब प्रबंध ही उलट गया है। उ०—जागे प्रात निपट अलसाने भूखन सब उलटाने। करत सिंगार परस्पर दोऊ अति आलस सिथिलाने।—सूर।

संयो० क्रि०—जाना।

(५) विपरीत होना। विरुद्ध होना। और का और होना। जैसे,—आज कल ज़माना ही उलट गया है।

संयो० क्रि०—जाना।

(६) फिर पड़ना। क्रुद्ध होना। चिढ़ना। विरुद्ध होना। जैसे,—मैं तो तुम्हारे भले के लिये कहता था; तुम मुझ पर व्यर्थ ही उलट पड़े।

संयो० क्रि०—पड़ना।

विशेष—केवल 'पड़ना' के साथ इस अर्थ में यह क्रि० आती है। (७) ध्वस्त होना। उखड़ना पुखड़ना। बरबाद होना। नष्ट होना। बुरी गत को पहुँचना। जैसे,—एक ही बार ऐसा घाटा आया कि वे उलट गए। उ०—इसकी बातों से तो प्राण मुँह को आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है।—हरिश्चंद्र।

संयो० क्रि०—जाना।

विशेष—केवल 'जाना' के साथ इस अर्थ में यह क्रि० आती है। (८) मरना। बेहोश होना। बेसुध होना। जैसे,—(क) वह एक ही डंडे में उलट गया। (ख) भाँग पीते ही वह उलट गया।

संयो० क्रि०—जाना।

विशेष—केवल 'जाना' के साथ इस अर्थ में यह क्रि० आती है। (९) गिरना। धरती पर पड़ जाना। जैसे,—हवा से खेत के धान उलट गए।

संयो० क्रि०—जाना।

(१०) घमंड करना। इतराना। जैसे,—थोड़े ही से धन में इतने उलट गए।

विशेष—केवल 'जाना' के साथ इस अर्थ में यह क्रि० आती है। (११) चौपायों का एक बार जोड़ा खाकर गर्भ धारण न करना और फिर जोड़ा खाना। (१२) (किसी अंग का) मोटा वा पुष्ट। जैसे—चार ही दिनों की कसरत से उसका बदन वा उसकी रान उलट गई।

क्रि० स० (१) नीचे का भाग ऊपर और ऊपर का भाग नीचे करना। औंधा करना। औटना। पलटना। फेरना। जैसे,—घड़ा उलटकर रख दो। (२) औंधा गिरना। (३) पटकना। दे मारना। गिरा देना। फेंक देना। जैसे,—पहले पहलवान ने दूसरे को हाथ पकड़ते ही उलट दिया। (४) किसी लटकती हुई वस्तु को समेट कर ऊपर चढ़ाना। जैसे,—परदा उलट दो। (५) इधर का उधर करना। अंडबंड करना। अस्तव्यस्त करना। घालमेल करना। जैसे,—तुमने

तो हमारा किया कराया सब उलट दिया। (६) विपरीत करना। और का और करना। जैसे,—(क) उसने तो इस पद का सारा अर्थ ही उलट दिया। (ख) कलक्टर ने तहसील के इंतज़ाम को उलट दिया।

संयो० क्रि०—देना।

(७) उत्तर प्रत्युत्तर करना। बात दोहराना। जैसे,—बड़ों की बात मत उलटा करो। उ०—आवत गारी एक है उलटत होय अनेक। कहै कबीर नहिं उलटिए वही एक की एक।—कबीर। (८) खोदकर फेंकना। उखाड़ डालना। खोदना। खोदकर नीचे ऊपर करना। जैसे,—यहाँ की मिट्टी भी फावड़े से उलट दो। उ०—बेगि दिखाव मूढ़ न तु आजू। उलटौं महि जहँ लगि तव राजू।—तुलसी।

संयो० क्रि०—देना।

(९) बीज मारे जाने पर फिर से बोने के लिये खेत जोतना। (१०) बेसुध करना। बेहोश करना। जैसे,—भाँग ने उलट दिया है, मुँह से बोला नहीं जाता।

संयो० क्रि०—देना।

(११) क़ै करना। वमन करना। जैसे,—उसने खाया पीया सब उलट दिया। (१२) उँडेलना। अच्छी तरह ढालना। ऐसा ढालना कि बरतन ख़ाली हो जाय। जैसे,—उसने सब दवा गिलास में उलट दी।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(१३) बरबाद करना। नष्ट करना। जैसे,—लड़की के ब्याह के ख़र्च ने उन्हें उलट दिया। (१४) रटना। जपना। बार बार कहना। जैसे,—तू रात दिन क्यों उसी का नाम उलटती रहती है।

विशेष—माला फेरने वा जपने को "माला उलटना" भी बोलते हैं; इसी से यह मुहाविरा बना है।

उलटना पलटना-क्रि० स० [हिं० उलट पलट] (१) इधर उधर फेरना। नीचे ऊपर करना। जैसे,—सब असबाब उलट पलट कर देखो, घड़ी मिल जायगी। उ०—उलटा पलटा न ऊपजे ज्यों खेतन में बीज।—कबीर। (२) अंडबंड करना। अस्त-व्यस्त करना। (३) और का और करना। बदल डालना। जैसे,—नए राजा ने सब प्रबंध ही उलट पलट दिया।

क्रि० अ० इधर उधर पलटा खाना। घूमना फिरना। उ०—(क) आप अपुनपो भेद बिनु उलटि पलटि अरुझाइ। गुरु बिनु मिटइ न दुगदुगी अनबनियत न नसाइ।—कबीर। (ख) उलटि पलटि लंका कपि जारी।—तुलसी।

उलट पलट-संज्ञा पुं० [हिं०] हेर फेर। अदल बदल। परिवर्तन। अव्यवस्था। गड़बड़ी।

क्रि० प्र०—करना। होना।

वि० (१) परिवर्त्तित। बदला हुआ। (२) इधर का उधर किया हुआ। अंडबंड। अव्यवस्थित। गड़बड़। अस्त व्यस्त।

क्रि० प्र०—करना।—जाना।—देना।—होना।

उलट पुलट-संज्ञा पुं०, वि० दे० "उलट पलट"।

उलट फेर-संज्ञा पुं० [हिं० उलटना+फेर] परिवर्त्तन। अदल बदल। हेर फेर। जैसे,—(क) समय का उलट फेर। (ख) इन दो तीन महीनों के बीच न जाने कितने उलट फेर हो गए।

उलटा-वि० [हिं० उलटना] [स्त्री० उलटी] (१) जो ठीक स्थिति में न हो। जिसके ऊपर का भाग नीचे और नीचे का भाग ऊपर हो। औंधा। जैसे,—(क) उलटा घड़ा। (ख) बैताल पेड़ से उलटा जा लटका।

मुहा०—उलटा तवा=अत्यंत काला। काला कलूटा। जैसे,—उसका मुँह उलटा तवा है। उलटा लटकना=किसी वस्तु के लिये प्राण देने पर उतारू होना। जैसे,—तुम उलटे लटक जाओ तो भी तुम्हें वह पुस्तक न देंगे। उलटी टाँगें गले पड़ना=(१) अपनी चाल से आप ख़राब होना। आपत्ति मोल लेना। लेने के देने पड़ना। (२) अपनी बात में आप ही कायल होना। उलटी साँस चलना=साँस का जल्दी जल्दी बाहर निकलना। दम उखड़ना। साँस का पेट में समाना। मरने का लक्षण दिखाई देना। उलटी साँस लेना=जल्दी जल्दी साँस खींचना। मरने के निकट होना। उलटे मुँह गिरना=दूसरे की हानि करने के प्रयत्न में स्वयं हानि उठाना। दूसरे को नीचा दिखाने के बदले स्वयं नीचा देखना।

(१) जो ठिकाने से न हो। जिसका आगे का भाग पीछे अथवा दाहिनी ओर का भाग बाईं ओर हो। इधर का उधर। क्रमविरुद्ध। जैसे—उलटी टोपी। उलटा जूता। उलटा मार्ग। उलटा छुरा। उलटा हाथ। उलटा परदा (अँगरखे का)। उ०—उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना।—तुलसी।

मुहा०—उलटा धड़ा बाँधना=और का और करना। मामले को फेर देना। ऐसी युक्ति रचना कि विरुद्ध चाल चलनेवाले की चाल का बुरा फल घूमकर उसी पर पड़े। उलटा फिरना वा लौटना=तुरंत लौट पड़ना। बिना क्षण भर ठहरे पलटना। चलते चलते घूम पड़ना। जैसे,—तुम्हें घर पर न पाकर वह उलटा फिरा, दम मारने के लिये भी न ठहरा। उलटा हाथ=बायाँ हाथ। उलटी गंगा बहना=अनहोनी बात होना। उलटी गंगा बहाना=जो कभी न हुआ हो, वह करना। विरुद्ध रीति चलाना। उलटी माला फेरना=मारण वा उच्चाटन के लिये जप करना। बुरा मनाना। अहित चाहना। उलटे काँटे तौलना=कम तौलना। डाँडी मारना। उलटे छुरे से मूँड़ना=उल्लू बनाकर काम निकालना। बेवकूफ़ बनाकर लूटना। झँसना। उलटे पाँव फिरना=तुरंत लौट पड़ना। बिना क्षण भर ठहरे पलटना। चलते चलते घूम पड़ना। उलटे हाथ का दाँव=बाएँ हाथ का खेल। बहुत ही सहज काम।

(३) कालक्रम में जो आगे का पीछे और पीछे का आगे हो। जो समय से आगे पीछे हो। जैसे,— उसका नहाना खाना सब उलटा। (४) अत्यंत असमान। एक ही कोटि में सबसे अधिक भिन्न। विरुद्ध। विपरीत। खिलाफ़। बरअक्स। जैसे,—हमने तुमसे जो कहा था, उसका तुमने उलटा किया। (५) उचित के विरुद्ध। जो ठीक हो उससे अत्यंत भिन्न। अंडबंड। अयुक्त। और का और। बेठीक। जैसे—उलटा ज़माना। उलटी समझ। उलटी रीति। उ०—अहित विषाद परस्पर कहहीं। विधि करतब सब उलटे अहहीं।—तुलसी।

मुहा०—उलटा ज़माना=वह समय जब भला बात बुरी समझी जाय और कोई नियत व्यवस्था न हो। अंधेर का समय। उलटा सीधा बिना क्रम का। अंडबंड। बेसिर पैर का। बिना ठीक ठिकाने का। अव्यवस्थित। भला बुरा। जैसे,—(क) उन्होंने जो उलटा सीधा बताया, वही तुम जानते हो। (ख) हमसे जैसा उलटा सीधा बनेगा, हम कर लेंगे। उलटी खोपड़ी का=औंधी समझ का। जड़। मूर्ख। उलटी पट्टी पढ़ाना=टेढ़ी बात समझाना। और का और सुझाना। भ्रम में डालना। बहकाना। उलटी सीधी सुनना=भला बुरा सहना। गाली खाना। जैसे,—तुम बिना दस पाँच उलटी सीधी सुने मानोगे। उलटी सीधी सुनाना=खरी खोटी सुनाना। भला बुरा कहना। फटकारना।

क्रि० वि० (१) विरुद्ध क्रम से। और तौर से। बेठिकाने। ठीक रीति से नहीं। अंडबंड। (२) जैसा होना चाहिए, उससे और ही प्रकार से। विपरीत व्यवस्था के अनुसार। विरुद्ध न्याय से। जैसे,—(क) उलटा चोर कोतवाल को डांटे। (ख) तुम्हीं ने काम बिगाड़ा, उलटा मुझे दोष देते हो।

संज्ञा पु० (१) एक पकवान। जो चने या मटर के बेसन से बनाया जाता है। बेसन को पानी में पतला घोलते हैं; फिर उसमें नमक, हलदी, ज़ीरा आदि मिलाते हैं। जब तवा गरम हो जाता है, तब उस पर घी वा तेल डाल कर घोले हुए बेसन को पतला फैला देते हैं। जब वह सूखकर रोटी की तरह हो जाता है, तब उलटकर उतार लेते हैं। पपरा। पोपरा। (२) एक पकवान जो आटे और उरद की पीठी से बनता है। आटे का पहले चकवा बनाते हैं फिर उसमें पीठी भरकर ढाँक देते हैं इसे पानी की भाप से पकाते हैं। गोझा। (३) विपरीत।

उलटाना*–क्रि० स० [हिं० उलटना] (१) पलटाना। लौटाना। पीछे फेरना। उ०—(क) बिहारीलाल, आवहु आई छाकि। भई अबार गाइ बहुरावहु उलटावहु दै हाँक।—सूर। (ख) जो शोक सो भइ मातु गन की दशा सो उलटाइहै।—हरिश्चंद्र। (२) और का और करना या कहना। अन्यथा करना वा कहना। उ०—हरि से हितू सों भ्रम भूलि हू न कीजै मान हाँ तो करि हियहू सों होत हित हानिये। लोक में अलोक आन नीकहू लगावत हैं सीताजू को कृत गीत कैसे उर आनिये। औगुन जो देखियत कोई साँची केशव राइ कानन की सुनी साँची काहू न मानिये। गोकुल की कुलटा ये योंही उलटावति हैं आज लौं तो वैसी ही हैं कालिह कहा जानिये।—केशव। (३) फेरना। दूसरे पक्ष में करना। उ०—अब लगु करि हठ कन्ह नृप सों भेद बुद्धि उपाइ कै। परबत उलन सों हम बिगारत राक्षसहिं उलटाइ कै।—हरिश्चंद्र।

उलटा पलटा, उलटा पुलटा–वि० [हिं० उलटा+पलटना] इधर का उधर। अंडबंड। बेसिर पैर का। बिना ठीक ठिकाने का। बेतरतीब। उ०—उलटी पुलटी बजै सो तार। काहुहि मारै काहुहि उबार।—कबीर। (ख) सखी तुम बात कही यह साँची। तुमहिं उलटी कहौ, तुमहिं पुलटी कहौ, तुमहिं बिन काति मैं कछु न जानौ।—सूर।

उलटा पलटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० उलटना] फेरफार। अदल बदल। इधर का उधर होना। नीचे ऊपर होना।

उलटा माँच–संज्ञा पु० [हिं० उलटा+माच?] जहाज़ का पीछे की ओर हटना या चलना।

उलटाव–संज्ञा पु० [हिं० उलटना] (१) पलटाव। फेर। (२) घुमाव। चक्कर।

उलटी–संज्ञा स्त्री० (१) वमन। कै। (२) मालखंभ की एक कसरत जिसमें खिलाड़ी की पीठ मालखंभ की ओर और सामना देखनेवालों की ओर रहता है। खिलाड़ी दोनों पैरों को पीछे फेंककर मालखंभ में लिपटाता है और ऊपर चढ़ता उतरता है। कलैया।

उलटी पकड़ी–संज्ञा स्त्री० [?] मालखंभ की एक कसरत जिसमें पंजा उलटकर उँगलियाँ फँसाई जाती हैं।

उलटी एड़ी–संज्ञा स्त्री० [?] मालखंभ की एक कसरत जिसमें खड़े होकर दोनों पैरों को आगे से सिर पर उड़ाते हुए पीठ पर ले जाते हैं और फिर उसी जगह पर लाते हैं जहाँ से पैर उड़ाते हैं।

उलटी चीन–संज्ञा स्त्री० [हिं० उलट+चीन=चुनन] नैचा बाँधने का एक भेद जिसमें कपड़े की मुड़ी हुई पट्टी नर पर लपेटते हैं।

उलटी बगली–संज्ञा स्त्री० [हिं० उलटा+बगला] मुगदल की एक कसरत जो हाथ भाँजने के लिये की जाती है। इसमें पीठ पर से छाती पर मुगदल आता है तो भी मुट्ठी ऊपर ही रहती है।

उलटी रूमाली–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० रूमाल] मुगदल भाँजने का एक भेद। यह एक प्रकार की रूमाली है, भेद केवल यही है कि इसमें मुगदलों का झोंक आगे को होती है। रूमाली के समान इसमें भी मुगदल की मुठिया उलटी पकड़नी चाहिए।

उलटी सरसों–संज्ञा स्त्री० [हिं० उलटा+सरसों] वह सरसों जिसकी कलियों का मुँह नीचे होता है। यह जादू, टोना, मंत्र-तंत्र के काम में आती है। टेरी।

उलटी सवाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० उलटा+सवाई] वह ज़ंजीर

जिससे जहाज़ की अनी या नोक के नीचे सबदरा बँधा रहता है।

उलटे–क्रि० वि० [हिं० उलटा] (१) विरुद्ध क्रम से। और तौर से। बेठिकाने। ठीक ठिकाने के साथ नहीं। उ०—करु विचार चलु सुपथ मग आदि मध्य परिनाम। उलटे जपे जरा मरा सूधे राजा राम।—तुलसी। (२) विपरीत व्यवस्थानुसार। विरुद्ध न्याय से। जैसे होना चाहिए, उससे और ही ढंग से। जैसे,—(क) उलटे चोर कोतवाल को डाँड़े। (ख) उसने उलटे अपने ही पक्ष की हानि की।

विशेष—क्रि० वि० में भी 'उलटा' ही का प्रयोग अधिकतर होता है। 'आ' कारांत विशेषण के 'आ' को क्रि० वि० में 'ए' कर देने के भी नियम का पालन खड़ी बोली में कभी कभी नहीं होता; पर पूर्वीय प्रांत की भाषाओं में बराबर होता है। जैसे "अच्छा" का क्रि० वि० 'अच्छे' खड़ी बोली में नहीं होता, पर पूर्वीय भाषा में बराबर होता है।

उलठ पलट*–संज्ञा स्त्री० दे० "उलट पलट"।

उलठना*–क्रि० अ० और स० दे० "उलटना"।

उलठाना*–क्रि० स० "उलटाना"।

उलथना*–क्रि० अ० [सं० उद्=नहीं+स्थल=जमना वा दृढ़ होना। उत्थलन] ऊपर नीचे होना। उथल पुथल होना। उलटना। उ०—(क) उलथहिं सीप मोति उतराहीं। चुँगहि हंस औ केलि कराहीं।—जायसी। (ख) लहरें उठीं समुँद उलथाना। भूला पंथ सरग नियराना।—जायसी।

क्रि० स० ऊपर नीचे करना। उलट पुलट करना। मथना। उलट फेर करना।

उलथा–संज्ञा पुं० [हिं० उलथना] (१) एक प्रकार का नृत्य। नाचने के समय ताल के अनुसार उछलना।

क्रि० प्र०—मारना।

(२) कलाबाज़ी। कलैया। (३) गिरह मारकर या कलाबाज़ी के साथ पानी में कूदना। उलटा। उड़ी।

क्रि० प्र०—मारना।—लेना।

(४) एक स्थान पर बैठे बैठे इधर उधर अंग फेरना। करवट बदलना।

क्रि० प्र०—मारना।—लेना। उ०—भैंस पानी में पड़ी पड़ी उलथा मारा करती है।

उलद*–संज्ञा स्त्री० [हिं० उलदना] प्रस्रवण। झड़ी। वर्षण। उ०—देख्यो गुजरेठी ऐसे प्रात ही गली में जात स्वेद भर्‍यो गात भात घन की उलद से।—रघुनाथ।

उलदना*–क्रि० स० [हिं० उलटना] (१) उँडेलना। उलटना। ढालना। गिराना। बरसाना। उ०—(क) गाज्यौ कपि गाज ज्यौं विराज्यो ज्वाल जाल जुत भाजे बीर बीर अकुलाइ उठ्यो रावनो। धावो धावो धरो सुनि धाए जातुधान धारि बारि धार उलदै जलद ज्यों न सावनों।—तुलसी। (ख) उलदत मद अनुमद ज्यों जलधि जल, बल हद भीम कद काहू के न आह के।—भूषण। (ग) लै तुंबा सरजू जल आनो। उलदत सुहरैं सब कोइ जानी।—रघुराज।

उलफ़त–संज्ञा स्त्री० [अ०] प्रेम। मुहब्बत। प्यार। प्रीति।

उलमना†*–क्रि० अ० [सं० अवलम्बन, प्रा० ओलम्बन=लटकना] लटकना। झुकना। उ०—अँगुरिन उचि भरु भीत दै उलमि चितै चख लोल। रुचि सों दुहूँ दुहून के चूमे चारु कपोल।—बिहारी।

उलरना*–क्रि० अ० [सं० उद्+लर्व=डोलना वा उल्ललन] (१) कूदना। उछलना। उ०—बिनहि लहे फल फूल भूल सों उलरत हुलसत। मनहुँ पाइ रवि रतन तारिहैं सो निज कुल सत। (२) नीचे ऊपर होना। (३) झपटना। उ०—कह गिरिधर कविराय बाज पर उलरै घुघुकी। समय समय की बात बाज कहँ घिरवै फुदकी।—गिरिधर।

उलरुआ†–संज्ञा पुं० [हिं० उलरना] बैलगाड़ी के पीछे लटकती हुई एक लकड़ी जिससे गाड़ी उलार नहीं होती अर्थात् पीछे की ओर नहीं दबती।

उललना*–क्रि० अ० [हिं० उड़लना] (१) ढरकना। ढलना। (२) उलटना। पलटना। इधर उधर होना।

उलवी–संज्ञा स्त्री० [?] एक प्रकार की मछली जिसके पर वा पाँव का व्यापार होता है। इसके पर से एक प्रकार की सरेस निकलती है।

उलसना*–क्रि० अ० [सं० उल्लसन] शोभित होना। सोहना।

उलहना–क्रि० स० [सं० उल्लंभन] (१) उभड़ना। निकलना। प्रस्फुटित होना। उ०—(क) दोष वसंत को दीजे कहा उलही न करील की डारन पाती।—पद्माकर। (२) उमड़ना। हुलसना। फूलना। उ०—(क) केलि भवन नव बेलि सी दुलही उलही कंत। बैठि रही चुप चंद लखि तुमहि बुलावत कंत।—पद्माकर। (ख) काजर भीनी कामनिधि दीठ तिरीछी पाय। भर्‍यो मंजरिन तिलक तरु मनहुँ रोम उलहाय।—हरिश्चंद्र।

संज्ञा पुं० दे० "उलाहना"

उलाँक–संज्ञा पुं० [हिं० लाँघना] (१) चिट्ठी पत्री आने जाने का प्रबंध। डाक। (२) पटेला नाव।

उलाँक पत्र†–संज्ञा पुं० [हिं० उलाँक+पत्र] पोस्टकार्ड या चिट्ठी।

उलाँकी–संज्ञा पुं० [हिं० उलाँक] डाक का हरकारा।

उलाँघन†*–क्रि० स० [सं० उल्लंघन] (१) लाँघना। डाँकना। फाँदना। (२) अवज्ञा करना। न मानना। विरुद्ध आचरण करना। (३) चाबुक सवारों की बोली में पहले पहल घोड़े पर चढ़ना।

उला*–संज्ञा स्त्री० [सं० ऊर्ण] भेड़ का बच्चा। मेमना।—डिं०।

उलाटना†–क्रि० अ० दे० "उलटना"।

उलार–वि० [हिं० ओलरना=लेटना] जिसका पिछला हिस्सा भारी हो। जो पीछे की ओर झुका हो। जिसके पीछे की ओर बोझ अधिक हो।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग गाड़ी आदि के संबंध में होता है। जब गाड़ी में आगे की अपेक्षा पीछे अधिक बोझ हो जाता है, तब वह पीछे की ओर झुक जाती है और ठीक नहीं चलती। इसी को 'उलार' होना कहते हैं।

उलारना†–क्रि० स० [हिं० उलरना] उछालना। नीचे ऊपर फेंकना। उ०—दीन्हे शकुनी अक्ष उलारी। किंकर भए धरमसुतहारो।—सबल।

क्रि० स० [हिं० ओलरना] दे० "ओलारना"।

उलारा–संज्ञा पु० [हिं० उलरना] वह पद जो चौताल के अंत में गाया जाता है।

उलाहना–संज्ञा पु० [सं० उपालंभन, प्रा० उवालहन] (१) किसी की भूल वा अपराध को उसे दुःखपूर्वक जताना। किसी से उसकी ऐसी भूल चूक के विषय में कहना सुनना जिससे कुछ दुःख पहुँचा हो। शिकायत। गिला। जैसे,—जो हम उनके यहाँ न उतरेंगे, तो वे जब मिलेंगे तब उलाहना देंगे।

क्रि० प्र०—देना।

(२) किसी के दोष वा अपराध को उससे संबंध रखने वाले किसी और आदमी से कहना। शिकायत। जैसे,—लड़के ने कोई नटखटी की है; तभी ये लोग उसके बाप के पास उलाहना लेकर आए हैं।

क्रि० प्र०—देना।—लाना।—लेकर आना।

क्रि० स० (१) उलाहना देना। गिला करना। (२) दोष देना। निन्दा करना।

उलिचना–क्रि० स० दे० "उलीचना"।

उलीचना–क्रि० स० [सं० उल्लुचन] पानी फेंकना। हाथ वा बरतन से पानी उछालकर दूसरी ओर डालना। जैसे, नाव से पानी उलीचना। उ०–(क) पेड़ काटि तैं पालव सींचा। मीन जियन हित बारि उलीचा।–तुलसी। (ख) पानी बाढ़्यो नाव में घर में बाढ़्यो दाम। दोऊ करन उलीचिए यही सयानो काम।—गिरिधर। (ग) दै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछे गोपाल गुलाल उलीची।—पद्माकर।

उलूक–संज्ञा पु० [सं०] (१) उल्लू चिड़िया। (२) इंद्र। (३) दुर्योधन का एक दूत। यह उलूक देश के राजा कितव का पुत्र था और महाभारत में कौरवों की ओर था। (४) उत्तर पर्वत पर का एक प्राचीन देश जिसका वर्णन महाभारत में आया है। (५) कणाद मुनि का एक नाम।

यौ०—उलूकदर्शन=कणाद मुनि का वैशेषिक दर्शन।

संज्ञा पुं० [सं० उल्का] लुक। लौ। उ०—जोरि जो धरी है बेदरद द्वारे होरी तौन मेरी बिरहाग की उलूकनि लौ लाय आव।—पद्माकर।

उलूखल–संज्ञा पु० [सं०] (१) ओखली। (२) खल। खरल। चट्टू (३) गुग्गुल।

उलूत–संज्ञा पु० [सं०] अजगर की जाति का एक साँप।

उलूपी–संज्ञा पु० [सं०] (१) ऐरावतवंशी कौरव्य नाग की कन्या जिससे अर्जुन ने अपने बारह वर्ष के बनवास में ब्याह किया था। इसी का पुत्र बभ्रुवाहन था। (२) मछली (नाममाला)।

उलेटना†–क्रि० स० दे० "उलटना"

उलेटा†–संज्ञा पु० दे० "उलटा"।

उलेड़ना*–क्रि० स० [हिं० उड़ेलना] ढरकाना। उँड़ेलना। ढालना। उ०—गारी होरी देत देवावत। ब्रज में फिरत गोपिकन गावत। रुकि गए बाटन नारे पैंड़े। नवकेसर के माट उलेड़े।—सूर।

उलेल*–संज्ञा स्त्री० [हिं० कुलेल] (१) उमंग। जोश। तेज़ी। उछल कूद। उ०—(क) ठठके सब जब से भए मरि गई हिय कि उलेल। प्राननाथ के बिनु रहे माटी के सो खेल।—काष्ठजिह्वा। (ख) क्यों याके ढिग भाव ताव भाषत उलेल को। सुकवि कहत यह हँसत आचमन करि फुलेल को।—व्यास। (२) बाढ़।

वि० बेपरवाह। अल्हड़। अनजान।

उलैंडना*–क्रि० स० दे० "उलेड़ना"।

उल्का–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रकाश। तेज। (२) लुक। लुआठा।

यौ०—उल्कामुख। उल्काजिह्व।

(३) मशाल। दस्ती। (४) दीआ। चिराग। (५) एक प्रकार के चमकीले पिंड जो कभी कभी रात को आग की लकीर के समान आकाश में एक ओर से दूसरी ओर को वेग से जाते हुए अथवा पृथ्वी पर गिरते हुए दिखाई पड़ते हैं। इनके गिरने को "तारा टूटना" वा "लुक टूटना" कहते हैं। उल्कापिंड प्रायः किसी विशेष आकार के नहीं होते, कंकड़ वा झाँवे की तरह ऊबड़ खाबड़ होते हैं। इनका रंग प्रायः काला होता है और इनके ऊपर पालिश वा लुक की तरह चमक होती है। ये दो प्रकार के होते हैं—एक धातुमय और दूसरे पाषाणमय। धातुमय पिंडों की परीक्षा करने से उनमें विशेष अंश लोहे का मिलता है जिसमें निकल भी मिला रहता है। कभी कभी थोड़ा ताँबा और राँगा भी मिलता है। इनके अतिरिक्त सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुएँ कभी नहीं पाई जातीं। पाषाणमय पिंड यद्यपि चट्टान के टुकड़ों के समान होते हैं, पर उनमें भी प्रायः लोहे के बहुत महीन कण मिले रहते हैं। यद्यपि किसी किसी में उज्जन (हाइड्रोजन) और आक्सिजन के साथ मिला हुआ कारबन भी पाया जाता है जो सावयव द्रव्य (जीव और वनस्पति) के नाश से

उत्पन्न कारबन से कुछ कुछ मिलता है। पर ऐसे पिंड केवल पाँच या छः पाए गए हैं जिनमें किसी प्रकार की वनस्पति की नसों का पता नहीं मिला है। धातुवाले उल्का कम गिरते देखे गए हैं। पत्थरवाले ही अधिक मिलते हैं। उल्का पिंड में कोई ऐसा तत्व नहीं है जो इस पृथ्वी पर न पाया जाता हो। उनकी परीक्षा से यह बात जान पड़ती है कि वे जिस बड़े पिंड से टूटकर अलग हुए होंगे, उन पर न जीवों का अस्तित्व रहा होगा और न जल का नाम निशान रहा होगा। वे वास्तव में "तेजसंभव" हैं। वे कुछ कुछ उन चट्टान वा धातु के टुकड़ों से मिलते जुलते हैं जो ज्वालामुखी पर्वतों के मुख से निकलते हैं। भेद इतना ही होता है कि ज्वालामुखी पर्वत से निकले टुकड़ों में लोहे के अंश मोरचे के रूप में रहते हैं और उल्का पिंडों में धातु के रूप में। उल्का की गति का वेग प्रति सेकंड दस मील से लेकर चालीस पचास मील तक का होता है। साधारण उल्का छोटे छोटे पिंड हैं जो आकाश में अनियत मार्ग पर इधर उधर फिरा करते हैं। पर उल्काओं का एक बड़ा भारी समूह है जो सूर्य्य के चारों ओर केतुओं की कक्षा में घूमता है। पृथ्वी इस उल्का क्षेत्र में से होकर प्रत्येक तेंतीसवें वर्ष कन्याराशि पर अर्थात् १४ नवंबर के लगभग निकलती है। इस समय उल्का की झड़ी देखी जाती है। उल्का-खंड जब पृथ्वी के वायुमंडल के भीतर आते हैं, तब वायु की रगड़ से वे जलने लगते हैं और उनमें चमक आ जाती है। छोटे छोटे पिंड तो जल कर राख हो जाते हैं, बड़े बड़े पिंड कभी कभी हवा के दाब से टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं और घड़घड़ाहट का शब्द भी होता है। जब उल्काएँ वायुमंडल के भीतर आती हैं और उनमें चमक उत्पन्न होती है, तभी वे हमें दिखाई पड़ती हैं। उल्काएँ पृथ्वी से अधिक से अधिक १०० मील के ऊपर अथवा कम से कम ४० मील के ऊपर से होकर जाती दिखाई पड़ती हैं। पृथ्वी के आकर्षण से ये नीचे गिरती हैं। गिरने पर इनके ऊपर का भाग गरम रहता है। लंडन, पेरिस, बरलिन, वियना आदि स्थानों में उल्का के बहुत से पत्थर रक्खे हुए हैं। (६) फलित ज्योतिष में गौरी जातक के अनुसार मंगला आदि आठ दशाओं में से एक। यह छः वर्षों तक रहती है।

उल्काचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्पात। विघ्न। (२) हलचल।

उल्काजिह्व—संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम।

उल्कापात—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तारा टूटना। लुक गिरना। (२) उत्पात। विघ्न।

उल्कापाती—वि० [सं० उल्कापातिन्] [स्त्री० उल्कापातिनी] दंगा मचानेवाला। हलचल करनेवाला। उत्पाती। विघ्नकारी।

उल्कामुख—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० उल्कामुखी] (१) गीदड़। (२) एक प्रकार का प्रेत जिसके मुँह से प्रकाश या आग निकलती है। अगिया बैताल। (३) महादेव का एक नाम।

उल्था—संज्ञा पुं० [हिं० उलथना] भाषांतर। अनुवाद। तरजुमा।

उल्मुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगारा। अंगार। (२) लुआठा। उल्का। (३) एक यादव का नाम। (४) महाभारत के अनुसार एक महारथी राजा।

उल्लंघन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाँघना। डाँकना। (२) अति-क्रमण। (३) विरुद्धाचरण। न मानना। पालन न करना। जैसे,—बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन न करना चाहिए।

उल्लंघना*—क्रि० स० दे० "उलंघना"।

उल्लसन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उल्लसित, उल्लासी] (१) हर्ष करना। ख़ुशी करना। (२) रोमांच।

उल्लाप—संज्ञा पुं० [सं०] (२) काकूक्ति। (२) आर्त्तनाद। कराहना। बिलखाना। (३) दुष्ट वाक्य।

उल्लापक—वि० [सं०] [स्त्री० उल्लापिका] ठकुरसुहाती कहनेवाला। ख़ुशामदी।

उल्लापन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उल्लापक] ख़ुशामद। ठकुर-सुहाती। उपचार। तोषामोद।

उल्लाप्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपरूपक का एक भेद। यह एक अंक का होता है। (२) सात प्रकार के गीतों में से एक। जब सामगान में मन न लगे, तब इसके पाठ का विधान है। (मिताक्षरा)।

उल्लाल—संज्ञा पुं० [सं०] एक मात्रिक अर्द्धसम छंद जिसके पहले और तीसरे चरण में पंद्रह पंद्रह मात्राएँ और दूसरे और चौथे चरण में तेरह तेरह मात्राएँ होती हैं, जैसे—कह कवित कहा बिन रुचिर मति। मति सो कह बिनहि विरति। कह विरति उलाल गोपाल के। चरननि होय जु प्रीति अति।

उल्लाला—संज्ञा पुं० [सं० उल्लाल] एक मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में तेरह मात्राएँ होती हैं। इसे चंद्रमणि भी कहते हैं। जैसे—सेवहु हरि सरसिज चरण। गुण गण गावहु प्रेम कर। पावहु मन में भक्ति को। और न इच्छा जानि यह।

उल्लास—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उल्लासक, उल्लासित] (१) प्रकाश। चमक। झलक। (२) हर्ष। सुख। आनंद। (३) ग्रंथ का एक भाग। पर्व। (४) एक अलंकार जिसमें एक के गुण वा दोष से दूसरे में गुण वा दोष का होना दिखलाया जाता है। इसके चार भेद हैं।—(क) गुण से गुण होना। उ०—न्हाय संत पावन करैं, गंग धरैं यह आस। (ख) दोष से दोष होना। उ०—निरखि परस्पर घसन सो, बाँस अनल उपजाय। जारत आप सकुटुंब अन, बन हू देत जराय। (ग) गुण से दोष होना। उ०—करन ताल मद बस करी, उड़वत अलि अवलीन। ते अलि विचरहिं सुमन बन, ह्वै करि शोभाहीन। (घ) दोष से गुण होना। उ०—सूँघ चूम अरु चाट झट, फेंक्यो बानर

रत्न। चंचलता वश जिन वच्यो, जेहि फोरन को यत्न। कोई कोई (क) और (ख) को हेतु अलंकार व सम अलंकार और (ग) और (घ) को विचित्र वा विषम अलंकार मानते हैं। उनके मत से यह अलंकारांतर है।

उल्लासक–वि० [सं०] [स्त्री० उल्लासिका] आनंद करनेवाला। आनंदी।

उल्लासना*–क्रि० स० [सं० उल्लासन] प्रकट करना। प्रकाशित करना। उ०—चंद्र उदय सागर उल्लासा। होहिं सकल तमकेर विनासा।—शं० दि०।

उल्लासित–वि० [सं०] (१) खुश। हर्षित। मुदित। प्रसन्न। (२) उद्धत। (३) स्फुरित।

उल्लासी–वि० [सं० उल्लासिन्] [स्त्री० उल्लासिनी] आनंदी। सुखी।

उल्लिखित–वि० [सं०] (१) खोदा हुआ। उत्कीर्ण। (२) छीला हुआ। खरादा हुआ। (३) ऊपर लिखा हुआ। (४) खींचा हुआ। चित्रित। नक़्श किया हुआ। (५) लिखा हुआ। लिखित।

उल्लू–संज्ञा पुं० [सं० उलूक] (१) दिन में न देखनेवाला एक पक्षी। यह प्रायः भूरे रंग का होता है। इसका सिर बिल्ली की तरह गोल और आँखें भी उसी की तरह बड़ी और चमकीली होती हैं। संसार में इसकी सैकड़ों जातियाँ हैं; पर प्रायः सबकी आँखों के किनारे के पर भौंरी के समान चारों ओर ऊपर को फिरे होते हैं। किसी जाति के उल्लू के सिर पर चोटी होती है और किसी किसी के पैर में उँगलियों तक पर होते हैं। ५ इंच से २ फुट तक ऊँचे उल्लू संसार में होते हैं। उल्लू की चोंच कटिये की तरह टेढ़ी और नुकीली होती हैं। किसी किसी जाति के कान के पास के पर ऊपर को उठे होते हैं। सब उल्लुओं के पर नरम और पंजे दृढ़ होते हैं। ये दिन को छिपे रहते हैं और सूर्यास्त होते ही उड़ते हैं और रात भर छोटे बड़े जानवरों, कीड़े मकोड़ों को पकड़ कर अपना पेट भरते हैं। इसकी बोली भयावनी होती है और यह प्रायः ऊजड़ स्थानों में रहता है। लोग इसकी बोली को बुरा समझते हैं और इसका घर में या गाँव में रहना अच्छा नहीं मानते। तांत्रिक लोग इसके मांस का प्रयोग उच्चाटन आदि प्रयोगों में करते हैं। प्रायः सभी देश और जातिवाले इसे अभक्ष्य मानते हैं। कुम्हार का डिंगरा। कुचकुचवा। खूसट।

मुहा०—उल्लू का गोश्त खिलाना=बेवकूफ़ बनाना। मूर्ख बनाना। (लोगों की धारणा है कि उल्लू का मांस खाने से लोग मूर्ख वा गूँगे-बहरे हो जाते हैं)। उल्लू बोलना=उजाड़ होना। उजड़ जाना। जैसे,—किसी समय यहाँ उल्लू बोलेंगे।

(२) निर्बुद्धि। बेवकूफ़। मूर्ख।

क्रि० प्र०—करना।—बनना।—बनाना।—होना।

उल्लेख–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० उल्लेखक, उल्लेखनीय, उल्लेखित, उल्लेख्य] (१) लिखना। लेख। (२) वर्णन। चर्चा। ज़िक्र। जैसे,—इस बात का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) एक काव्यालंकार जिसमें एक ही वस्तु का अनेक रूपों में दिखाई पड़ना वर्णन किया जाय। इसके दो भेद हैं, प्रथम और द्वितीय। प्रथम—जहाँ अनेक जन एक ही वस्तु को अनेक रूपों में देखें, वहाँ प्रथम भेद है। जैसे,—वारन तारन वृद्ध तिय, श्रीपति जुवतिन झमि। दर्शनीय बाला जनन, लखे कृष्ण रँगभूमि। अथवा—जानत सौति अनीति है, जानत सखी सुनीति। गुरुजन जानत लाज हैं, प्रीतम जानत प्रीति। पहले उदाहरण में एक ही कृष्ण को वृद्धा स्त्रियों ने हाथी का उद्धार करनेवाला और युवतियों ने लक्ष्मी के साथ रमण करनेवाला देखा; और दूसरे उदाहरण में एक ही नायिका को सौति ने अनीति रूप में और गुरुजनों ने लज्जा रूप में देखा। पहला उदाहरण शुद्ध उल्लेख का है क्योंकि उसमें और अलंकार का आभास नहीं है; पर दूसरा उदाहरण संकीर्ण उल्लेख का है; क्योंकि एक ही नायिका में सुनीति और लज्जा आदि कई अन्य वस्तुओं का आरोप होने के कारण उसमें रूपक अलंकार भी मिल जाता है। द्वितीय—जहाँ एक ही वस्तु को एक ही व्यक्ति कई रूपों में देखें, वहाँ द्वितीय भेद होता है। उ०—कंजन अमलता में, खंजन चपलता में, छलता में मीन, कलता में बड़े ऐन के।.........या में झूठी है न प्यारे ही में आई लागिबे में प्यारी जूके नैन ऐन तीखे बान मैन के।

उल्लेखनीय–वि० [सं०] लिखने योग्य। उल्लेख योग्य।

उल्लोल–संज्ञा पुं० [सं०] लहर। कल्लोल। हिलोरा।

उल्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) झिल्ली जिसमें बच्चा बँधा हुआ पैदा होता है। आँवल। अँवरी (२) गर्भाशय।

उल्वण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उल्व। आँवल। अँवरी। (२) अद्भुत। विलक्षण। (३) वसिष्ठ का एक पुत्र।

उवना*–क्रि० अ० दे० या "उअना", "उगना"।

उवनि–संज्ञा स्त्री० [हिं० उवना] उदय। प्रकाश। उ०—चंद से बदन भानु भई वृषभानु जाई, उवनि लुनाई की लवनि की सी लहरी—देव।

उशना–संज्ञा पुं० [सं० उशनस्] शुक्राचार्य्य का एक नाम।

उशबा–संज्ञा पुं० [अ०] एक पेड़ जिसकी जड़ रक्तशोधक है। हकीम लोग इसका व्यवहार करते हैं।

उशीनर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गांधार देश। (२) एक चंद्रवंशी राजा जो शिवि का पिता था।

उशीर–संज्ञा पुं० [सं०] गाँडर की जड़।

यौ०—उशीरबीज=हिमालय का एक खंड।

उशीरक–संज्ञा पुं० [सं०] उशीर। खस।

उषर्बुध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) चीते का पेड़।

उषस्–संज्ञा स्त्री० दे० "उषा"।

उषसुत–संज्ञा पुं० [सं०] पांशुज लवण। नोनी मिट्टी से निकाला हुआ नमक।

उषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रभात। वह समय जब दो घंटे रात रह जाय। ब्राह्मवेला। (२) अरुणोदय की लालिमा। (३) वाणासुर की कन्या जो अनिरुद्ध को ब्याही गई थी।

यौ०—उषाकाल। उषापति।

उषाकाल–संज्ञा पुं० [सं०] भोर। प्रभात। तड़का।

उषापति–संज्ञा पुं० [सं०] अनिरुद्ध।

उष्ट्र–संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट।

उष्ण–वि० [सं०] (१) तप्त। गरम। (२) तासीर में गरम। जैसे,—यह औषध उष्ण है। (३) सरगरम। फुरतीला। तेज़। आलस्यरहित।

संज्ञा पुं० (१) ग्रीष्मऋतु। (२) प्याज। (३) एक नरक का नाम।

उष्णक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्रीष्म काल। (२) ज्वर। बुख़ार। (३) सूर्य्य।

वि० (१) गरम। तप्त। (२) ज्वरयुक्त। (३) तेज़। फुरतीला।

उष्ण कटिबंध–संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी का वह भाग जो कर्क और मकर रेखाओं के बीच में पड़ता है। इसकी चौड़ाई ४७ अंश है अर्थात् भूमध्य रेखा से २३½ अंश उत्तर और २३½ अंश दक्षिण। पृथ्वी के इस भाग में गरमी बहुत पड़ती है।

उष्णता–संज्ञा स्त्री० [सं०] गरमी। ताप।

उष्णत्व–संज्ञा पुं० [सं०] गरमी।

उष्णिक–संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में सात अक्षर होते हैं। यह वैदिक छंद है। प्रस्तार से इसके १२८ भेद होते हैं।

उष्णीष–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पगड़ी। साफ़ा। (२) मुकुट। ताज।

उष्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरमी। ताप। (२) धूप। (३) गरमी की ऋतु।

उष्मज–संज्ञा पुं० [सं०] छोटे छोटे कीड़े जो पसीने, मैल और सड़ी गली चीज़ों से पैदा होते हैं। जैसे, खटमल, मच्छर, किलनी, जूँ, चीलर इत्यादि।

उष्मा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गरमी। (२) धूप। (३) गुस्सा। क्रोध। रिस।

उस–सर्व उभ० [हिं० वह] यह शब्द 'वह' शब्द का वह रूप है जो विभक्ति लगने पर होता है, जैसे—उसने, उसको, उससे, उसमें।

उसकन–संज्ञा पुं० [सं० उत्कर्षण=खींचना, रगड़ना] घास पात वा पयाल का वह पोटा जिसमें बालू आदि लगाकर बरतन माँजते हैं। उबसन।

उसकना†–क्रि० अ० दे० "उकसना"।

उसकाना†–क्रि० स० दे० "उकसाना"।

उसकारना†–क्रि० स० दे० "उकसाना"।

उसनना–क्रि० स० [सं० उष्ण वा स्विन्न] (१) उबालना। पानी के साथ आग पर चढ़ाकर गरम करना। (२) पकाना।

उसनाना–क्रि० स० [हिं० उसनना का प्रे० रूप] उबलवाना। पकवाना।

उसनीस*–संज्ञा पुं० दे० "उष्णीश"।

उसमा†–संज्ञा पुं० [अ० वसमा] उबटन। बटना।

उसमान–संज्ञा पुं० [अ०] मुहम्मद के चार सखाओं में से एक।

उसरना–क्रि० अ० [सं० उद्+सरण=जाना] (१) हटना। टलना। दूर होना। स्थानांतरित होना। उ०—(क) कर उठाय घूँघुट करत उसरत पर गुझरौट। सुखमोटैं लूटी ललन लखि ललना की लोट।—बिहारी। (ख) उसरि बैठ कुकि काग रे जो बलबीर मिलाय। तो कंचन के कागरे पालूँ छीर पिलाय।—शृं० सत०। (ग) उनका गुण और फल नित्य के कामों में ऐसे अधिक विस्तार से पाया जाता है कि जिसका ध्यान से उसरना असंभव सा है।—गोलविनोद। (२) बीतना। गुज़रना। उ०—सघन कुंज ते उठे भोर ही श्यामा श्याम खरे। जलद नवीन मिली मानो दामिनी बरषि निसा उसरे।—सूर।

उसरौंड़ी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया।

उसलना*–क्रि० अ० [हिं० उसरना] (१) दे० "उसरना"। (२) पानी के भीतर से ऊपर आना। तरना। उतराना उ०—ढिग बूड़ा उसला नहीं यही अँदेसा मोहिं। सलिल मोह की धार में क्या निंद आई तोहि।—कबीर।

उससना*–क्रि० स० [सं० उत्+सरण] (१) खिसकना। टलना। स्थानांतरित होना। उ०—(क) प्रिया पिय नाहिं मनायो मानै। श्रीमुख वचन मधुर मृदु वाणी मादक कठिन कुलिशहू ते जानै।......गोरे गात उससत जो असित पट और प्रगट पहिचानै। नैन निकट ताटंक की शोभा मंडल कविन बखानै।—सूर। (ख) वैसिये सु हिलि मिलि, वैसी पिय संग अंग, मिलत न कैहूँ मिस, पीछे उससति जाति।—रसकुसुमाकर। (२) साँस लेना। दम लेना। उ०—एक उसाँस ही के उससे सिगरेई सुगंध बिदा करि दीन्हें।—केशव।

उसाँस*–संज्ञा पुं० दे० "उसास"

उसाना†–क्रि० स० दे० "ओसाना"।

उसारना*–क्रि० स० [सं० उद्+सरण=जाना] (१) उखाड़ना। हटाना। टालना। उ०—(क) बिहँसि रूप वसुदेव निहारै। कोटि जामिनी तिमिर उसारै।—लाल। (ख) रीछ कपि झुंडन के झुंडन उतारों कहो कोट ले उसारों पै न हारों

रहौं टेक ही ।—हनुमान ।

उसारा†–संज्ञा पुं० दे० "ओसारा" ।

उसालना*–क्रि० स० [सं० उत्+शालन] (१) उखाड़ना । (२) हटाना । टालना । (३) भगाना । उ०—अपनो वरणधर्म प्रतिपालौं । साहन के दल दौरि उसालौं ।—लाल ।

उसास–संज्ञा स्त्री० [सं० उत्+श्वास] (१) लंबी साँस । ऊपर को चढ़ती हुई साँस । उ०—(क) बिथुर्‌यो जावक सौति पग निरखि हँसी गहि गाँस । सलज हँसौंही लखि लियो आधी हँसी उसाँस ।—बिहारी । (ख) अजब जोगिनी सी सबै झुकी परत चहुँ पास । करिहैं काय प्रवेश जनु सब मिलि ऐंचि उसाँस ।—व्यास । (२) साँस । श्वास । उ०—पल न चलै जकि सी रही, थकि सी रही उसांस । अबहीं तन रितयो कहा मन पठयो केहि पास ।—बिहारी ।

क्रि० प्र०—छोड़ना ।—भरना ।—लेना ।

(३) दुःख वा शोकसूचक श्वास । ठंढी साँस ।

क्रि० प्र०—छोड़ना ।—भरना ।—लेना ।

उसासी†*–संज्ञा स्त्री० [हिं० उसास] दम लेने की फुरसत । अवकाश । छुट्टी । उ०—केहू नहिं गिरिराजहिं धारा । हमरै सुत भारू कह ठहरा । लेहु लेहु अब तो कोइ लेहू । लालहिं नेकु उसासी देहू ।—विश्राम ।

उसिनना†–क्रि० स० दे० "उसनना" ।

उसीर–संज्ञा पुं० दे० "उशीर" ।

उसीला†–संज्ञा पुं० दे० "वसीला" ।

उसीसा–संज्ञा पुं० [सं० उत्+शीर्ष] (१) सिरहाना । (२) तकिया ।

उसूल–संज्ञा पुं० [अ०] सिद्धांत । उ०—सब बातें काम के पीछे अच्छी लगती हैं । जो सब तरह का प्रबंध बँध रहा हो, काम के उसूलों पर दृष्टि हो, भले बुरे काम और भले बुरे आदमियों की पहिचान हो, तो अपना काम किये पीछे घड़ी दो घड़ी की दिल्लगी में कुछ बिगाड़ नहीं है ।—परीक्षागुरु ।

वि० दे० "वसूल" ।

उसेना†–क्रि० स० [सं० उष्ण] उबालना । उसनना । पकाना ।

उसेय–संज्ञा पुं० [देश०] खसिया और जयंतिया की पहाड़ियों पर होनेवाला एक प्रकार का बाँस जिसकी ऊँचाई ५०-६० फुट, घेरा ५-६ इंच और दल की मोटाई एक इंच से कुछ कम होती है । इससे दूध या पानी रखने के चोंगे बनते हैं ।

उस्तरा–संज्ञा पुं० दे० "उस्तुरा" ।

उस्ताद–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [स्त्री० उस्तानी] गुरु । शिक्षक । अध्यापक । मास्टर ।

वि० (१) चालाक । छली । धूर्त । गुरुघंटाल । जैसे,—वह बड़ा उस्ताद है, उससे बचे रहना । (२) निपुण । प्रवीण । विज्ञ । दक्ष । जैसे,—इस काम में वह उस्ताद है ।

उस्तादी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा] (१) शिक्षक की वृत्ति । गुरुआई । मास्टरी । (२) चतुराई । निपुणता । (३) विज्ञता । (४) चालाकी । धूर्तता ।

उस्तानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) गुरुआनी । गुरुपत्नी । (२) जो स्त्री किसी प्रकार की शिक्षा दे । (३) चालाक स्त्री । ठगिन ।

उस्तुरा–संज्ञा पुं० [फ़ा] छुरा । अस्तुरा । बाल मूड़ने का औज़ार ।

उहदा†–संज्ञा पुं० दे० "ओहदा" ।

उहदेदार†–संज्ञा पुं० दे० "ओहदेदार" ।

उहवाँ†–क्रि० वि० [हिं० वहाँ] वहाँ । उस जगह । उस स्थान पर ।

उहाँ–क्रि० वि० दे० "वहाँ" ।

उहार†–संज्ञा पुं० दे० "ओहार" ।

उहि†–सर्व० दे० "वह" ।

उही†–सर्व० दे० "वही" ।

उहूल*–संज्ञा स्त्री० [सं० उल्लोल] तरंग । लहर । मौज ।—डिं० ।

उहै†–सर्व० दे० "वही" ।

ऊ

ऊ–संस्कृत वा हिंदी वर्णमाला का छठा अक्षर वा वर्ण जिसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है । यह दो मात्राओं का होने से दीर्घ और तीन मात्राओं का होने से प्लुत होता है । अनुनासिक और निरनुनासिक के भेद से इन दोनों के भी दो दो भेद होंगे । इस वर्ण के उच्चारण में जीभ की नोक नहीं लगती ।

ऊख†–संज्ञा पुं० दे० "ऊख", "ईख" ।

ऊँग–संज्ञा स्त्री० दे० "ऊँघ" ।

ऊँगना†–संज्ञा पुं० [देश०] (१) चौपायों का एक रोग जिसमें उनके कान बहते हैं, शरीर ठंढा हो जाता है और खाना पीना छूट जाता है ।

ऊँगा–संज्ञा पुं० [सं० अपामार्ग] [स्त्री० अल्पा० ऊँगी] अपामार्ग । चिचड़ा । अज्झाझारा ।

ऊँगी–संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊँगा] चिचड़ी । अपामार ।

ऊँघ–संज्ञा स्त्री० [अवाङ्=नीचे मुँह] ऊँघाई । निद्रागम । झपकी । अर्द्ध निद्रा ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० औंगना] बैलगाड़ी के पहिए की नाभि और धुरकीली के बीच पहनाई हुई सन की गेडुरी । यह इसलिये लगाई जाती है जिसमें पहिया कसा रहे और धुरकीली की रगड़ से कटे न ।

ऊँघन–संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊँघ] ऊँघ । झपकी ।

ऊँघना-क्रि० अ० [सं० अवाङ्=नीचे मुँह] झपकी लेना । नींद में झूमना । निद्रालु होना ।

ऊँचा *-वि० [सं० उच्च] (१) ऊँचा । ऊपर उठा हुआ । (२) बड़ा । श्रेष्ठ । उत्तम ।

यौ०—ऊँच नीच=छोटा बड़ा । आला अदना ।

(३) उत्तम जाति वा कुल का । कुलीन । उ०—दानव, देव, ऊँच अरु नीचू ।—तुलसी ।

यौ०—ऊँच नीच=कुलीन अकुलीन । सुजाति कुजाति । जाति विजाति । जैसे,—वहाँ पर ऊँच नीच का कुछ भी विचार नहीं है ।

ऊँचा-वि० [सं० उच्च] [स्त्री० ऊँची] (१) जो दूर तक ऊपर की ओर गया हो । उठा हुआ । उन्नत । बलंद । जैसे, ऊँचा पहाड़ । ऊँचा मकान ।

मुहा०—ऊँचा नीचा=(१) ऊबड़ खाबड़ । जो समथल न हो । उ०—ऊँच नीच में बोई कियारी । जो उपजी सो भई हमारी । (२) भला बुरा । हानि लाभ । जैसे,—मनुष्य को ऊँचा नीचा देखकर चलना चाहिए । ऊँचा नीचा दिखाना, सुझाना वा समझाना-(१) हानि लाभ बतलाना । (२) उलटा सीधा समझाना । बहकाना । जैसे,—उसने ऊँचा नीचा सुझाकर उसे अपने दावँ पर चढ़ा लिया । ऊँचा नीचा सोचना वा समझना=हानि लाभ विचारना । उ०—बड़ा हुआ तो क्या हुआ बढ़ गया जैसे बाँस । ऊँच नीच समझे नहीं किया बंस का नास ।—कबीर ।

(२) जिसका छोर नीचे तक न हो । जो ऊपर से नीचे की ओर कम दूर तक आया हो । जिसका लटकाव कम हो । जैसे, ऊँचा कुरता । ऊँचा परदा । उ०—तुम्हारा अँगरखा बहुत ऊँचा है । (३) श्रेष्ठ । महान् । बड़ा । जैसे, ऊँचा कुल । ऊँचा पद । उ०—(क) उनके विचार बहुत ऊँचे हैं । (ख) नाम बड़ा ऊँचा । कान दोनों बूचा ।

मुहा०—ऊँचा नीचा वा ऊँची नीची सुनाना=खोटी खरी सुनाना । भला बुरा कहना । फटकारना ।

(४) ज़ोर का (शब्द) । तीव्र (स्वर) । जैसे,—उसने बहुत ऊँचे स्वर से पुकारा ।

मुहा०—ऊँचा सुनना=केवल जोर की आवाज सुनना । कम सुनना । जैसे,—वह थोड़ा ऊँचा सुनता है ज़ोर से कहो । ऊँचा सुनाई देना वा पड़ना=केवल जोर की आवाज सुनाई देना । कम सुनाई पड़ना । जैसे,—उसे कुछ ऊँचा सुनाई पड़ता है । ऊँची साँस=लंबी साँस । दुःख भरी साँस ।

ऊँचाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊँचा+ई (प्रत्य०)] (१) ऊपर की ओर का विस्तार । उठान । उच्चता । बलंदी । (२) गौरव । बड़ाई । श्रेष्ठता ।

ऊँचे *-क्रि० वि० [हिं० ऊँचा] (१) ऊँचे पर । ऊपर की ओर । उ०—ऊँचे चितै सराहियत गिरह कबूतर लेत ।—बिहारी । (२) ज़ोर से (शब्द करना) । उ०—औसर हार्‌यो रे तैं हार्‌यो ।......हरि भजु बिलंब छाँड़ि सूरज प्रभु ऊँचे टेरि पुकार्‌यो ।—सूर ।

मुहा०—ऊँचे नीचे पैर पड़ना=व्यभिचार में फँसना ।

विशेष—खड़ी बोली में वि० 'नीचा' से क्रि० वि० "नीचे" तो बनाते हैं किन्तु "ऊँचा" से "ऊँचे" नहीं बनाते । पर व्रजभाषा तथा और और प्रांतिक बोलियों में इस रूप का क्रि० वि० की तरह प्रयोग बराबर मिलता है ।

ऊँछ-संज्ञा पुं० [देश०] एक राग का नाम । उ०—ऊँछ अड़ाने के सुर सुनियत निपट नायकी लीन । करत विहार मधुर केदारो सकल सुरन सुख दीन ।—सूर ।

ऊँछना-क्रि० अ० [सं० उच्छन=बीनना] कंघी करना ।

ऊँट- संज्ञा पुं० [सं० उष्ट्र, पा० उट्ट] [स्त्री० ऊँटनी] एक ऊँचा चौपाया जो सवारी और बोझ लादने के काम में आता है । यह गरम और जलशून्य स्थानों अर्थात् रेगिस्तानी मुल्कों में अधिक होता है । एशिया और अफ्रिका के गरम प्रदेशों में सर्वत्र होता है । इसका आदि स्थान अरब और मिस्र है । इसके बिना अरबवालों का कोई काम ही नहीं चल सकता । वे इस पर सवारी ही नहीं करते बल्कि इसका दूध, मांस, चमड़ा, सब काम में लाते हैं । इसका रंग भूरा, डील बहुत ऊँचा (७-८ फुट), टाँगें और गरदन लंबी, कान और पूँछ छोटी, मुँह लंबा और होंठ लटकते हुए होते हैं । ऊँट की लंबाई के कारण ही कभी कभी लंबे आदमी को भी हँसी से ऊँट कह देते हैं । ऊँट दो प्रकार का होता है—एक साधारण वा अरबी और दूसरा बगदादी । अरबी ऊँट की पीठ पर एक कूब होता है । ऊँट भारी बोझ उठाकर सैकड़ों कोस की मंजिलें तै करता है । यह बिना दाने पानी के कई दिनों तक रह सकता है । मादा को ऊँटनी वा साँड़नी कहते हैं । यह बहुत दूर तक बराबर एक चाल से चलने में प्रसिद्ध है । पुराने समय में इसी पर डाक जाती थी । ऊँटनी एक बार एक बच्चा देती है और उसे दूध बहुत उतरता है । इसका दूध बहुत गाढ़ा होता है और उसमें से एक प्रकार की गंध आती है । कहते हैं कि यदि यह दूध देर तक रक्खा जाय तो उसमें कीड़े पड़ जाते हैं ।

ऊँटकटारा-संज्ञा पुं० [सं० उष्ट्रकण्ट] एक कँटीली झाड़ी जो ज़मीन पर फैलती है । इसकी पत्तियाँ भँड़भाँड़ की तरह लंबी लंबी और काँटेदार होती हैं । फलों में भी काँटे होते हैं । डालियों में गड़नेवाली रोईं होती हैं । ऊँटकटारा कँकरीली और ऊसर ज़मीन में होता है । इसे ऊँट बड़े चाव से खाते हैं । इसकी जड़ को पानी में पीसकर पिलाने से स्त्रियों को शीघ्र प्रसव होता है । इसको कोई कोई बलवर्द्धक भी मानते हैं ।

पर्या०—ऊँटकटीरा। ऊँटकटेला। कंटालु। करमादन। उत्कंटक। शृंगाल। तीक्ष्णाग्र।

ऊँटकटीरा-संज्ञा पुं० दे० "ऊँटकटारा"।

ऊँटवान-संज्ञा पुं० [हिं० ऊँट+वान (प्रत्य०)] ऊँट चलानेवाला।

ऊँड़ा*†-संज्ञा पुं० [सं० कुंड] (१) वह बरतन जिसमें धन रखकर भूमि में गाड़ दें। (२) चहबच्चा। तहखाना। उ०—(क) है कोई भूला मन समझावै। ई मन चंचल चोर पाहरू छूटा हाथ न आवै। जोरि जोरि धन ऊँड़ा गाड़े जहाँ कोइ लेन न पावै। कंठ कपोल आइ जम घेरे देइ देइ सैन बतावै।—कबीर। (ख) ऊँड़ा चित्त रु सम दसा साधू गण गंभीर। जो धोखा विरचै नहीं सोही संत सधीर।—कबीर।

वि० गहरा। गंभीर।—डिं०।

ऊँदर†-संज्ञा पुं० [सं० उन्दुर] चूहा। मूसा।

ऊँधा†-संज्ञा पुं० [हिं० औंधा] (१) ढालुवाँ किनारा। ढाल। (२) तालाब में चौपायों के पानी पीने का घाट जो ढालुवाँ होता है। गऊघाट।

ऊँहूँ-अव्य० [देश०] नहीं। कभी नहीं। हर्गिज़ नहीं।

विशेष—जब लोग किसी प्रश्न के उत्तर में आलस्य से वा और किसी कारण से मुँह खोलना नहीं चाहते, तब इस अव्यक्त शब्द से काम लेते हैं।

ऊ-संज्ञा पुं० (१) महादेव। (२) चंद्रमा।

*†अव्य० भी। उ०—तुलसिदास ग्वालिनि अति नागरि, नट नागर मनि नंदलल्लाउ।—तुलसी।

*†सर्व० वह।

ऊअना*†-क्रि अ० [सं० उदयन] उगना। उदय होना। निकलना। उ०—(क) भयो रजायस मारहु सूआ। सूर न आउ चंद्र जहँ ऊआ।—जायसी। (ख) नासा देखि लजान्यो सूआ। सूक आय बेसर होय ऊआ।—जायसी।

ऊआबाई-वि० [हिं० आव बाव। सं० वायु=हवा] अंडबंड। बे सिर पैर का। निरर्थक। व्यर्थ। उ०—जन्म गँवायो ऊआबाई। भजे न चरण कमल यदुपति के रह्यो विलोकत छाई।—सूर।

ऊक*-संज्ञा पुं० [सं० उल्का] (१) उल्का। टूटता तारा। उ०—ऊकपात दिकदाह दिन फेकरहिं स्वान सियार। उदित केतुगत हेतु महि कंपति बारहिं बार।—तुलसी। (२) लुक। लुआठा। (३) दाह। जलन। आँच। ताप। तपन। ताव। उ०—कहाँ लौं मानै अपनी चूक। बिन गुपाल सखि री यह छतियाँ है न गई द्वै टूक। तन मन धन यौवन ऐसे सब भए भुअंगम फूँक। हृदय जरत है दावानल ज्यों कठिन विरह की ऊक। जाकी मणि सिरते हरि लीनी कहा कहत अति मूक। सूरदास ब्रजवास बसीं हम मनो दाहिनो सूक।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [हिं० चूक का अनु०] भूल। चूक। गलती।

ऊकना*†-क्रि० अ० [हिं० चूकना का अनु०] चूकना। भूल करना। गलती करना। उ०—अपनो हित मानि सुजान सुनो! धरि कान निदान तें ऊकिए ना। निज प्रेम की पोखनिहारि बिसारि अनीति झरोखनि झुकिए ना।—आनंदघन।

क्रि० स० छोड़ देना। भूल जाना। उ०—दूर दूर पर काज द्वै परे एक सँग आय। ऊकन जोग न एकहू इनमें परत लखाय।—लक्ष्मणसिंह।

[क्रि० स० उल्का, हिं० ऊक] जलाना। दाहना। भस्म करना। तपाना। उ०—ए ब्रजचंद! चलो किन वा ब्रज लूकैं बसंत की ऊकन लागीं। त्यों पदमाकर पेखो पलासन पावक सी मनो फूँकन लागीं।—पद्माकर।

ऊख-संज्ञा पुं० [सं० इक्षु] ईख। गन्ना। दे० "ईख"।

ऊखम-संज्ञा पुं० दे० "उष्म"।

ऊखल-संज्ञा पुं० [सं० उलूखल] काठ वा पत्थर का बना हुआ एक गहरा बरतन जिसमें रखकर धान वा और किसी अन्न को भूसी अलग करने के लिये मूसल से कूटते हैं। ओखली। काँड़ी। हावन।

ऊगना-क्रि० अ० दे० "उगना"।

ऊगरा-वि०, संज्ञा पुं० [ओगरना] खाली उबाला हुआ (भोजन)।

ऊज*-संज्ञा पुं० [सं० उद्वन्=ऊपर फेंकना, हलचल करना] उपद्रव। ऊधम। अँधेर। उ०—हमारो दान मार्‍यो इनि रातिनी बेचि बेचि जात। घेरो सखा जान ज्यों न पावैं छियो जिनि। देखो हरि के ऊज उठाइबे की बात राति बिराति बहू बेटी कोऊ निकसति है पुनि। श्री हरिदास के स्वामी की प्रकृति ना फिरी छिया छाड़ों किनि।—स्वामी हरिदास।

क्रि० प्र०—उठाना।—मचाना।

ऊजड़-वि० [हिं० उजड़ना] उजड़ा हुआ। ध्वस्त। वीरान। बिना बस्ती का।

ऊजर*-वि० दे० "उजला"।

वि० [हिं० उजड़ना] उजाड़। उजड़ा हुआ। बिना बस्ती का। उ०—ऊधो कैसे जीवैं कमल-नयन बिनु। तब तौ पलक लगत दुख पावत अब जो निरपि भरि जात अंग छिनु। जो ऊजर खेरे के देवन को पूजै को मानै। तो हम बिनु गोपाल भए ऊधो कठिन प्रीति को जानै।—सूर।

ऊजरा*-वि० दे० "ऊजर" और "उजला"।

ऊटना*-क्रि० अ० [हिं० औटना=खलबलाना] (१) उत्साहित होना। हौसला करना। मंसूबा बाँधना। उमंग में आना। उ०—(क) काज मही सिवराज बली हिंदुवान बढ़ाइबे को उर ऊटै।—भूषण। (ख) काढ़े तीर बीर जब ऊट्यो। सर समूह सत्रुन पर छूट्यो।—लाल। (ग) मारत गाल कहा इतनो मनमोहन जू अपने मन ऊटे।—रघुनाथ। (घ) जूटै लगे जान गन, ऊटै लगे ज्वान जब, छूटै लगे बान घन, लूटै लगे

प्रान तन ।—गोपाल । (२) तर्क वितर्क करना । सोच विचार करना ।

ऊटपटाँग–वि० [हिं० अटपट+अंग] (१) अटपट । टेढ़ामेढ़ा । बेढंगा । बेमेल । असंबद्ध । बेजोड़ । बेसिर पैर का । क्रमविहीन । अंडबंड । ऊलजलूल । जैसे,—तुम्हारे सब काम ऊटपटाँग होते हैं । (२) निरर्थक । व्यर्थ । वाहियात । फ़जूल ।

विशेष—दिल्ली में "ऊटपटाँग" बोलते हैं ।

ऊड़ा–संज्ञा पुं० [सं० ऊन] (१) कमी । टोटा । घाटा । (२) गिरानी । अकाल । (३) नाश । लोप ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

ऊड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० उड़ना] (१) जुलाहों के डाँड़े वा सैंठे में लगा हुआ टेकुआ जिस पर लपेटे हुए सूत को जुलाहे पट्टी पर घूम घूमकर चढ़ाते जाते हैं । दुतकला । (२) रेशम खोलनेवालों की चरखी जिस पर वे लोग संगल वा रेशम के बड़े बड़े लच्छों को डालकर एक प्रकार की परेती पर उतारते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [सं० बुड़=डूबना, हिं० डूबना] (१) डुब्बी । गोता ।

क्रि० प्र०—मारना ।

(२) पनडुब्बी चिड़िया । उ०—भौंह धनुक पल काजल बूड़ी । वह भइ धानुक, हौं भयौं ऊड़ी ।—जायसी ।

ऊढ़–वि० [सं०] [स्त्री० ऊढ़ा] विवाहित ।

ऊढ़ना*–क्रि० अ० [सं० ऊह=संदेह पर विचार] तर्क करना । सोच विचार करना । अनुमान बाँधना । उ०—मृग मद नाहिन मृगन में ऊढ़त हैं दिन राति । तिल तरुनी के चिबुक में सोई मृगमद भाति ।—मुबारक ।

ऊढ़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वि० (१) विवाहिता स्त्री । (२) परकीया नायिका का एक भेद । वह ब्याही स्त्री जो अपने पति को छोड़कर दूसरे से प्रेम करे ।

ऊत–वि० [सं० अपुत्र, प्रा० अउत्त] (१) बिना पुत्र का । निःसंतान । निपूता ।

यौ०—ऊत निपूता=निःसंतान । बे-औलाद । (यह एक प्रकार की गाली है जो स्त्रियाँ बहुत देती हैं ।)

(२) उजड्ड । बेवकूफ़ ।

संज्ञा पुं० वह जो निःसंतान मरने के कारण पिंड आदि न पाकर भूत होता है । उ०—ऊत के ऊत उजाड़ के भूत । सीता के सरापे जनम के शराबी ।

ऊतर*–संज्ञा पुं० दे० "उत्तर" ।

ऊतला*–वि० [हिं० उतावला] चंचल । वेगवान । तेज़ । उ०—पानी ते अति पातला । धूआँ ते अति झीन । पवनहुँ ते अति ऊतला दोस्त कबीरा कीन ।—कबीर ।

ऊतिम†–वि० दे० "उत्तम" ।

ऊद–संज्ञा पुं० [अ०] (१) अगर का पेड़ । (२) अगर की लकड़ी । (३) एक प्रकार का बाजा । बरबत ।

संज्ञा पुं० [सं० उद्र] ऊदबिलाव ।

ऊदबत्ती–संज्ञा स्त्री० [अ० ऊद+हिं० बत्ती] एक प्रकार की दक्षिण की बनी हुई अगर की बत्ती । इसे लोग सुगंध के लिये जलाते हैं ।

ऊदबिलाव–संज्ञा पुं० [सं० उद्बिडाल] नेवले के आकार का, पर उससे बड़ा एक जंतु जो जल और स्थल दोनों में रहता है । यह प्रायः नदी के किनारों पर पाया जाता है और मछलियाँ पकड़ पकड़कर खाता है । इसके कान छोटे, पंजे जालीदार, नाखून टेढ़े और पूँछ कुछ चिपटी होती है । रंग इसका भूरा होता है । यह पानी में जिस स्थान पर डूबता है वहाँ से बड़ी दूर पर और बड़ी देर के बाद उतराता है । लोग इसे मछली पकड़वाने के लिये पालते हैं ।

यौ०—ऊदबिलाव की ढेरी=वह झगड़ा जो कभी न निपटे । सब दिन लगा रहनेवाला झगड़ा । (कहते हैं, जब कई ऊदबिलाव मिलकर मछलियाँ मारते हैं, तब वे एक जगह उनकी एक ढेरी लगा देते हैं और फिर बाँटने बैठते हैं । जब सब के हिस्से अलग अलग लग जाते हैं, तब कोई न कोई ऊदबिलाव अपना हिस्सा कम समझकर फिर सबको मिला देता है और फिर से बँटाई शुरू होती है ।)

ऊदल–संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ जो हिमालय की तराई के जंगलों में बहुत होता है । बरमा और दक्षिण में भी होता है । इसकी छाल से बड़ा मज़बूत रेशा निकलता है जिसे बटकर रस्सा बनाते हैं । दक्षिण में हाथी बाँधने का रस्सा प्रायः इसी का बनाते हैं । गुलबादला । बूटी ।

संज्ञा पुं० [उदयसिंह का संक्षिप्त रूप] महोबे के राजा परमाल के मुख्य सामंतों में से एक, जो अपने समय के बड़े भारी वीरों में था । यह पृथ्वीराज का समकालीन था ।

ऊदा–वि० [अ० ऊद अथवा फा० कबूद] ललाई लिए हुए काले रंग का । बैंगनी रंग का ।

संज्ञा पुं० ऊदे रंग का घोड़ा ।

ऊदी सेम–संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊदा+सेम] केवाँच ।

ऊधम–संज्ञा पुं० [सं० उद्धम=ध्वनित] उपद्रव । उत्पात । धूम । हुल्लड़ । हल्ला गुल्ला । शोर गुल । दंगा फ़साद ।

क्रि० प्र०—उठाना ।—करना ।—जोतना ।—मचाना ।

ऊधमी–वि० [हिं० ऊधम] [स्त्री० ऊधमिन] ऊधम करनेवाला । उत्पाती । उपद्रवी । शरारती । फ़सादी ।

ऊधव*–संज्ञा पुं० दे० "उद्धव" ।

ऊधस्–संज्ञा पुं० [सं०] स्तन ।

ऊधस*–संज्ञा पुं० [सं० ऊधस्य] दूध ।—डिं० ।

ऊधो–संज्ञा पुं० [सं० उद्धव] कृष्ण के सखा, एक यादव । उद्धव ।

मुहा०—ऊधो का लेना न माधो का देना=किसी से कुछ संबंध नहीं। किसी के लेने देने में नहीं। लगाव बझाव से अलग।

ऊन—संज्ञा पुं० [सं० ऊर्ण] भेड़ बकरी आदि का रोयाँ। भेड़ के ऊपर का वह बाल जिससे कंबल और पहनने के गरम कपड़े बनते हैं। भारतवर्ष में उत्तराखंड वा हिमालय के तटस्थ देशों की भेड़ों का ऊन अच्छा होता है। काशमीर और तिब्बत इसके लिये प्रसिद्ध हैं। पंजाब, हज़ारा और अफ़ग़ानिस्तान की कोच वा उरल नाम की भेड़ का भी ऊन अच्छा होता है। गढ़वाल, नैनीताल, पटना, कोयंबटूर और मैसूर आदि की भेड़ों से भी बढ़िया ऊन निकलता है।

ऊन और बाल में भेद यह है कि ऊन के तागे योंही बहुत बारीक होते हैं अर्थात् उनका घेरा एक इंच के हज़ारवें भाग से भी कम होता है। इसके अतिरिक्त उनके ऊपर बहुत ही सूक्ष्म दिउली वा पर्त (जो एक इंच में ४००० तक आ सकती हैं) होती है। इसी कारण अच्छे ऊन की जो लोई आदि होती हैं, उनके ऊपर थोड़े दिन के बाद महीन महीन गोल रवे से दिखाई पड़ने लगते हैं। प्रायः बहुत सी भेड़ों में ऊन और बाल मिला रहता है। ऊन की उत्तमता इन बातों से देखी जाती है—रोएँ की बारीकी, उसकी गुरचन, उसका दिउलीदार होना, उसकी लंबाई, मज़बूती, मुलायमियत और चमक। भेड़ के चमड़े की तह में से एक प्रकार की चिकनाई निकलती है जिससे ऊन मुलायम रहता है।

काशमीर, तिब्बत और नेपाल आदि ठंढे देशों में एक प्रकार की बकरी होती है जिसके रोएँ के नीचे की तह में पशम वा पशमीना होता है। इसी को काशमीर में 'असली तूस' कहते हैं जो दुशाले आदि में दिया जाता है।

वि० [सं०] (१) कम। न्यून। थोड़ा। (२) तुच्छ। हीन। नाचीज़। क्षुद्र।

संज्ञा पुं० मन का छोटा करना। खेद। दुःख। ग्लानि। रंज। उ०—(क) अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सुहाग तुम कहँ दिन दूना।—तुलसी। (ख) सुन कपि जनि मानसि मन ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना।—तुलसी। (ग) जनि जननी मानहु मन ऊना। तुमतें प्रेम राम के दूना।—तुलसी।

क्रि० प्र०—मानना।

ऊनता—संज्ञा पुं० [सं० ऊन] कमी। न्यूनता। घटी। हीनता।

ऊना—वि० [सं० ऊन] [स्त्री० ऊनी] (१) कम। थोड़ा। छोटा। उ०—सूनौ कै परम पद, ऊनौ कै अनंत मद, नूनौ कै नदीस नद, इंदिरा झुरै परी।—देव। (२) तुच्छ। नाचीज़। हीन।

संज्ञा पुं० एक प्रकार की छोटी तलवार जो स्त्रियों के व्यवहार के लिये बनती है। इसका लोहा बहुत अच्छा और लचीला होता है। इसे रानियाँ अपने तकिये के नीचे रखती हैं।

ऊनी—वि० [सं० ऊन] कम। न्यून। थोड़ा।

संज्ञा स्त्री० उदासी। रंज। खेद। ग्लानि। उ०—सौति सँजोग न जानि परै मन मानती का उर आनती ऊनी। सुंदर मंजुल मोतिन की पहिरो न भटू किन नाक नथूनी।—प्रताप।

वि० [हिं० ऊन+ई (प्रत्य०)] ऊन का बना हुआ वस्त्र आदि।

ऊनोदरता तप—संज्ञा पुं० [सं०] जैन लोगों का एक व्रत जिसमें प्रति दिन एक एक ग्रास भोजन घटाते जाते हैं।

ऊप—संज्ञा पुं० [सं० वप्] अन्न का एक तरह का ब्याज। इसका व्यवहार यों है कि बीज बोने के लिये जो अन्न किसान लेते हैं, उसके बदले में फसल के अंत में प्रति मन दो तीन सेर अधिक देते हैं। कहीं कहीं ड्योढ़ा सवाई भी चलता है।

ऊपना—क्रि० अ० "उपना"।

ऊपर—क्रि० स्त्री० [सं० उपरि] [वि० ऊपरी] (१) ऊँचे स्थान में। ऊँचाई पर। आकाश की ओर। जैसे,—तसवीर बहुत ऊपर है, नहीं पहुँचोगे। (२) आधार पर। सहारे पर। जैसे,—(क) पुस्तक मेज़ के ऊपर है। (ख) मेरे ऊपर कृपा कीजिए। (३) ऊँची श्रेणी में। उच्च कोटि में। जैसे,—इनके ऊपर कई कर्म्मचारी हैं। (४) (लेख में) पहले। जैसे,—ऊपर लिखा जा चुका है कि·········। (५) अधिक। ज़्यादा। जैसे,—हमें यहाँ आए दो घंटे के ऊपर हुए। (६) प्रकट में। देखने में। ज़ाहिरी तौर पर। प्रत्यक्ष में। उ०—ऊपर हित अंतर कुटिलाई।—विश्राम। (७) तट पर। किनारे पर। जैसे,—ताल के ऊपर गाँव से थोड़ा हटकर, एक बड़ा भारी बड़ का पेड़ है। (८) अतिरिक्त। परे। प्रतिकूल। उ०—वर्णाश्रम कर मान यदि तब लगि श्रुति कर दास। वर्णाश्रम ते त्यक्त जे श्रुति ऊपर तेहि वास।

मुहा०—ऊपर ऊपर=बाला बाला। अलग अलग। निराले निराले। बिना और किसी के जताए। चुपके से। जैसे,—तुम ऊपर ही ऊपर रुपया फटकार लेते हो हमें कुछ नहीं देते। ऊपर ऊपर जाना=लक्ष्य से बाहर जाना। निष्फल होना। व्यर्थ जाना। कुछ प्रभाव उत्पन्न न करना। जैसे,—मैं लाख कहूँ, मेरा कहना तो सब ऊपर ऊपर जाता है। ऊपर का दम भरना=ऊँची साँस चलना। उखड़ी साँस चलना। घर्रा चलना। ऊपर की आमदनी=(१) वह प्राप्ति जो नियत द्वारा से न हो। बँधी तनख्वाह वा आमदनी के सिवाय मिली हुई रकम। (२) इधर उधर से फटकारी हुई रकम। ऊपर की दोनों जाना=दोनों आँखें फूटना। उ०—ऊपर की दोनों गईं हिय की गईं हेराय। कह कबीर चारिहुँ गईं तासो कहा बसाय।—कबीर।—ऊपर छार पड़ना=मर जाना। उ०—जौ लहि ऊपर छार न परे। तौलहि यह तृष्णा नहिं मरे।—जायसी। ऊपर टूट पड़ना=धावा करना। आक्रमण करना। ऊपर तले=

(१) ऊपर नीचे। (२) एक के पीछे एक। आगे पीछे। लगातार। क्रमशः। **ऊपर तले के**=आगे पीछे के भाई वा बहनें। वे दो भाई वा बहनें जिनके बीच में और कोई भाई वा बहन न हुई हो। (**स्त्रियों का विश्वास है कि ऐसे लड़कों में बराबर खटपट रहा करती है।**) **ऊपर लेना**=जिम्मे लेना। हाथ में लेना। (किसी कार्य्य का) भार लेना। **जैसे,—तुम यह काम अपने ऊपर लोगे? ऊपरवाला**=(१) ईश्वर। (२) अफसर। ऊँचे दर्जे का (३) भृत्य। सेवक। नौकर। चाकर। काम करनेवाला। (४) अपरिचित। बिना जाना बूझा आदमी। बाहरी आदमी। **ऊपर से**=(१) बलंदी से। ऊँचे से। (२) इसके अतिरिक्त। सिवा इसके। (३) वेतन से अधिक। घूँस। रिशवत। ऊपर की आय। भेंट। नज़्र। असाधारण आय। (४) प्रत्यक्ष में। दिखाने के लिये। जाहिरा तौर पर। **जैसे,—वह मन में कुछ और रखता है और ऊपर से मीठी मीठी बातें करता है। ऊपर से चला जाना**=कचरकर चले जाना। रौंदते हुए जाना। **ऊपर होना**=(१) बढ़ जाना। आगे निकल जाना। (२) बढ़ कर होना। श्रेष्ठ होना। (३) प्रधान होना। मुख्य होना। **जैसे,—(क) उन्हीं की बात सब के ऊपर है। (ख) भाग्य ही सब के ऊपर है।**

ऊपरचूँट†—संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊपर+चूँटना=खोंटना] **बाल को ऊपर से काट लेना और डंठल को खड़ा रहने देना। छपका। उपरछँट।**

ऊपरी—वि० [हिं० ऊपर] **(१) ऊपर का। (२) बाहर का। बाहरी (३) जो नियत न हो। बँधे हुए के सिवा। ग़ैर मामूली। (४) दिखौआ। नुमाइशी।**

ऊब—संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊबना] **कुछ काल तक निरंतर एक ही अवस्था में रहने से चित्त की व्याकुलता। उद्वेग। घबराहट। उ०—चहत न काहू सों, न कहत कछु काहू की, सब की सहत उर अंतर न ऊबहै। तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के, राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है।—तुलसी।**

यौ०—ऊबकर साँस लेना=ठंढी साँस लेना। दीर्घ निश्वास खींचना। **उ०—हाथ धोय जब बैठो लीन्ह ऊबि के साँस।—जायसी।**

संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊभ=हौसला, उमंग] **उत्साह। उमंग। उ०—नँदनंदन ले गए हमारी अब ब्रज कुल की ऊब। सूरश्याम तजि औरे सूझै ज्यों हेरे की दूब।—सूर।**

ऊबट—संज्ञा पुं० [सं० उद्=बुरा+वर्त्म, प्रा० बट्ट=मार्ग] **कठिन मार्ग। अटपट रास्ता। उ०—जब वर्षा में होत है मारग जल संयोग। बाट छाँड़ि ऊबट चलत सकल सयाने लोग।—गुमान।**

वि० **ऊबड़ खाबड़। ऊँचा नीचा। उ०—ऊबट न गैल सदा सिंहन की शैल बनजारे के से बैल मानों बोलें डकरात से।—हनुमान।**

ऊबड़ खाबड़—वि० [अनु०] **ऊँचा नीचा। जो समथल न हो।** अटपट।

ऊबना—क्रि० अ० [सं० उद्वेजन, पा० उव्विजन, पु० हिं० उबियाना] **उकताना। घबराना।** अकुलाना। **कुछ काल तक एकही अवस्था में निरंतर रहने से चित्त का व्याकुल होना। उ०—ऊबत हौ डूबत हौ डोलत हौ बोलत न काहे प्रीति रीति न रितै चले। कहै पद्माकर त्यों उससि उसासनि सों आँसुवै अपार आइ आँखिन इतै चले।—पद्माकर।**

ऊबरना—क्रि० अ० **दे० "उबरना"।**

ऊभ*—वि० [हिं० ऊभना=खड़ा होना] **ऊँचा। उभरा हुआ। उठा हुआ। उ०—बर पीपर शिर ऊभ जो कीन्हा। पाकर तिन सूखे फर दीन्हा। बँवर जो बोंड सीस भुइँ लावा। बड़ फल सुफर वहीं पै पावा।—जायसी।**

संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊब] **(१) व्याकुलता। (२) उमस। गरमी। (३) हौसला। उमंग। हुब्ब।**

ऊभना*—क्रि० अ० [सं० उद्भवन=ऊपर होना। गुज० ऊभू=खड़ा होना] **उठना। खड़ा होना। उ०—(क) बिरहिन ऊभी पंथ सिर पंथी पूछै धाय। एक शब्द कहो पीव का कब रे मिलैंगे आय।—कबीर। (ख) एक खड़ा होना लहै इक ऊभा ही विललाय। समरथ मेरा साइयाँ सूता देइ जगाय।—कबीर। (ग) ऊभा मारूँ बैठा मारूँ मारूँ जागत सूता। तीन भुवन में जाल पसारूँ कहाँ जायगा पूता।—दादू। (घ) करुणा करति मँदोदरि रानी। चौदह सहस सुंदरी ऊभीं उठै न कंत महा अभिमानी।—सूर।**

क्रि० अ० [हिं० ऊबना] **घबराना। व्याकुल होना।**

ऊभासाँसी—संज्ञा स्त्री० [हिं० ऊबना+साँस] **दम घुटना। साँस फूलना। ऊबना।**

ऊमक*—संज्ञा स्त्री० [सं० उमंग] **झोंक। उठान। वेग। उ०—इक ऊमक अरु दमक सँहारै। लेहि साँस जब बीसक मारै।—लाल।**

ऊमट—संज्ञा पुं० [देश०] **क्षत्रियों का एक भेद। उ०—ऊमट अनेक अवनी निधान। अरबीन चढ़े आए अमान।—सूदन।**

ऊमना—क्रि० अ० [देश०] **उमड़ना। उमगना। उ०—बरसत झमि झमि उनए बादर महि कहँ चूमि चूमि। निसरि परी साँपिनि सी नदिया बेगि चली ऊमि ऊमि।—देवस्वामी।**

ऊमर—संज्ञा पुं० [सं० उदुम्बर] **(१) गूलर। उदुंबर। (२) बनियों की एक जाति।**

ऊमस—संज्ञा स्त्री० **दे० "उमस"।**

ऊमहना—क्रि० अ० **दे० "उमहना"।**

ऊमी—संज्ञा स्त्री० [सं० उम्बी] **जौ या गेहूँ की हरी बाल।**

ऊर—संज्ञा पुं० [देश०] **पंजाब में धान बोने की एक रीति।**

जड़हन रोपना।

विशेष—जड़हन के पौधे जब एक महीने के हो जाते हैं, तब उन्हें पानी से घेरे हुए खेत में दूर दूर पर बैठाते हैं।

ऊरज–वि०, संज्ञा पुं० दे० "ऊर्ज"।

ऊरध*–वि० दे० "उर्ध्व"।

ऊरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] जोलाहों का एक औज़ार। दुतकला। सलाका।

ऊरु–संज्ञा पुं० [सं०] जानु। जंघा। रान।

ऊरुज–संज्ञा पुं० [सं० उरु+ज (प्रत्य०)] (१) जंघा से उत्पन्न वस्तु। (२) वैश्य जाति जो कि ब्रह्मा के जंघे से उत्पन्न कही जाती है।

ऊरुजन्मा–संज्ञा पुं० [सं०] वैश्य।

ऊरुस्तंभ–संज्ञा पुं० [सं०] वात का एक रोग जिसमें पैर जकड़ जाते हैं।

ऊर्ज–वि० [सं०] बलवान्। शक्तिमान्। बली।

संज्ञा पुं० [सं०] [वि० ऊर्जस्वल, ऊर्जस्वी] (१) बल। शक्ति। (२) कार्तिकमास। (३) एक काव्यालंकार जिसमें सहायकों के घटने पर भी अहंकार का न छोड़ना वर्णन किया जाता है। उ०—को बपुरा जो मिल्यौ है विभीषण है कुलदूषण जीवैगो कौ लौं। कुंभकरन्न मर्यो मघवारिपु तौऊ कहा न डरौं यम सौ लौं। श्रीरघुनाथ के गातन सुंदरि जानहु तू कुशलात न तौ लौं। शाल सबै दिगपालन को कर रावण के करवाल है जौ लौं।—केशव (इसमें भाई और पुत्र के न रहने पर भी रावण अहंकार नहीं छोड़ता।)

ऊर्जस्वल–वि० [सं०] बलवान्। बली। शक्तिमान्।

ऊर्जस्वी–वि० [सं०] (१) बलवान्। शक्तिमान। (२) तेजवान। (३) प्रतापी।

संज्ञा पुं० [सं०] एक काव्यालंकार। जहाँ रसाभास वा भावाभास स्थायी भाव का अथवा भाव का अंग हो, ऐसे वर्णन में यह अलंकार माना जाता है। दे० "ऊर्ज"।

ऊर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] भेड़ या बकरी के बाल। ऊन।

यौ०—ऊर्णनाभ।

ऊर्णनाभ, ऊर्णनाभि–संज्ञा पुं० [सं०] मकड़ी। लूता।

ऊर्णा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऊन। (२) चित्ररथ नामक गंधर्व की स्त्री।

ऊर्णायु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंबल। ऊनी वस्त्र। (२) एक गंधर्व का नाम।

ऊर्द्ध्व–क्रि० वि० [सं०] ऊपर। ऊपर की ओर।

वि० (१) ऊँचा। ऊपर का। (२) खड़ा।

विशेष—हिंदी में यौगिक शब्दों में ही यह प्रायः आता है, जैसे ऊर्द्ध्वगमन, ऊर्द्ध्वरेता, ऊर्द्ध्वश्वास।

ऊर्द्ध्वक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मृदंग।

ऊर्द्ध्वगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऊपर की ओर की चाल (२) मुक्ति।

ऊर्द्ध्वगामी–वि० [सं०] (१) ऊपर को जानेवाला। (२) मुक्त। निर्वाणप्राप्त।

ऊर्द्ध्वचरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार के तपस्वी जो सिर के बल खड़े होकर तप करते हैं। (२) शरभ नामक पौराणिक सिंह, जिसके आठ पैरों में से चार पैर ऊपर को होते हैं।

ऊर्द्ध्वताल–संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में एक प्रकार का ताल।

ऊर्द्ध्वतिक्त–संज्ञा पुं० [सं०] चिरायता।

ऊर्द्ध्वदेव–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु। नारायण।

ऊर्द्ध्वद्वार–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मरंध्र। दसवाँ द्वार। ब्रह्मांड पर का छिद्र।

विशेष—कहते हैं कि इससे प्राण निकलने से मुक्ति होती है।

ऊर्द्ध्वनयन–संज्ञा पुं० [सं०] शरभ नामक जंतु।

ऊर्द्ध्वपाद–संज्ञा पुं० [सं०] शरभ नामक पौराणिक जंतु। इसके आठ पैर माने गए हैं, जिनमें से चार ऊपर को होते हैं।

ऊर्द्ध्वपुंड्र–संज्ञा पुं० [सं०] खड़ा तिलक। वैष्णवी तिलक।

ऊर्द्ध्वबाहु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के तपस्वी जो अपने एक बाहु को ऊपर की ओर उठाए रहते हैं। वह बाहु सूख कर बेकाम हो जाता है।

ऊर्द्ध्वबृहती–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद।

ऊर्द्ध्वमंथी–वि० [सं०] जो अपने वीर्य को गिरने न दे। स्त्री प्रसंग से बचनेवाला। ऊर्द्ध्वरेता।

संज्ञा पुं० ब्रह्मचारी।

ऊर्द्ध्वमुख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर को मुख किए हुए (व्यक्ति)। (२) अग्नि।

ऊर्द्ध्वमूल–संज्ञा पुं० [सं०] संसार। दुनिया। जगत।

ऊर्द्ध्वरेखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार राम कृष्ण आदि विष्णु के अवतारों के ४८ चरणचिह्नों में से एक चिह्न।

विशेष—अँगूठे और अँगूठे के निकटवाली उँगली के बीच से निकलकर यह रेखा सीधे और लंबे आकार में एँड़ी के मध्य भाग तक गई हुई मानी जाती है।

ऊर्द्ध्वरेता–वि० [सं०] (१) जो अपने वीर्य को गिरने न दे। स्त्री प्रसंग से परहेज़ करनेवाला। ब्रह्मचारी।

संज्ञा पुं० (१) महादेव। (२) भीष्मपितामह। (३) हनुमान। (४) सनकादि। (५) संन्यासी।

ऊर्द्ध्वलिंगी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) ऊर्ध्वरेता। ब्रह्मचारी।

ऊर्द्ध्वलोक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। (२) बैकुंठ। स्वर्ग।

ऊर्द्ध्ववात–संज्ञा पुं० [सं०] अधिक डकार आने का रोग।

ऊर्द्ध्ववायु–संज्ञा स्त्री० [सं०] डकार।

ऊर्द्ध्वश्वास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर को चढ़ती हुई साँस। (२) श्वास की कमी वा तंगी।

ऊर्द्ध्वांग–संज्ञा पुं० [सं०] सिर। मूँड़। मस्तक।

ऊर्द्ध्वाकर्षण–संज्ञा पुं० [सं०] ऊपर की ओर खिँचाव।

ऊर्द्ध्वारोह, ऊर्द्ध्वारोहण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर को चढ़ना। (२) स्वर्गारोहण। स्वर्गगमन। (३) मरना। देहांत। इंतकाल।

ऊर्ध–क्रि० वि०, वि० दे० "ऊर्ध्व"।

ऊर्ध्व–क्रि० वि०, वि० दे० "ऊर्द्ध्व"।

ऊर्मि, ऊर्मी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लहर। तरंग। (२) पीड़ा। दुःख। ये छः हैं। जैसे—एक मत से—सर्दी, गर्मी, लोभ, मोह, भूख, प्यास। और दूसरे मत से—भूख, प्यास, जरा, मृत्यु, शोक, मोह। (३) छः की संख्या। (४) शिकन। कपड़े की सलोट।

यौ०—ऊर्मिमाली=समुद्र।

ऊर्मिमाली–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सिंधु।

ऊलंग–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चाय।

ऊलजलूल–वि० [देश०] (१) असंबद्ध। बेसिर पैर का। अंड-बंड। बेठिकाने का। अनुचित। उ०—जो मैं जानूँगा कि तूने भूल के किसी ऊलजलूल काम में ये रुपए धूल किए तो फिर उमर भर तेरी बात न मानूँगा।—शिवप्रसाद। (२) अनाड़ी। अहमक। बेसमझ। जैसे,—वह बड़ा ऊलजलूल आदमी है। (३) बेअदब। अशिष्ट।

ऊलर–संज्ञा स्त्री० [देश०] काश्मीर देश की एक बड़ी झील।

ऊषर–संज्ञा पुं० [सं०] वह भूमि जहाँ रेह अधिक हो और कुछ उत्पन्न न होता हो। ऊसर।

ऊषा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभात। सवेरा। (२) अरुणोदय। पौ फटने की लाली। (३) बाणासुर की कन्या जो अनिरुद्ध को ब्याही गई थी।

ऊषाकाल–संज्ञा पुं० [सं०] प्रातःकाल। सवेरा। तड़का।

ऊषापति–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध।

ऊष्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरमी। (२) भाप। (३) गरमी का मौसिम।

वि० गरम।

ऊष्म वर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] "श, ष, स, ह" ये अक्षर ऊष्म कहलाते हैं। शायद इस कारण कि इनके उच्चारण के समय मुँह से गरम हवा निकलती है।

ऊष्मा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ग्रीष्म काल। (२) तपन। गरमी। (३) भाप।

ऊसन–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पौधा जिससे तेल निकलता है। यह सरसों की तरह जौ और गेहूँ के साथ बोया जाता है और इसमें से तेल निकलता है जो जलाने के काम में आता है। इसकी खली चौपायों को दी जाती है। इसे जेवा और तरमिरा भी कहते हैं।

ऊसर–संज्ञा पुं० [सं० ऊषर] वह भूमि जिसमें रेह अधिक हो और कुछ उत्पन्न न हो। उ०—ऊसर बरसे तृण नहिं जामा।—तुलसी।

वि० (भूमि) जिसमें तृण वा पौधा उत्पन्न न हो।

ऊह–अव्य० [सं०] (१) क्लेश वा दुःखसूचक शब्द। ओह। (२) विस्मयसूचक शब्द।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुमान। विचार। उ०—संग सवा लाख सवार। गज त्योंहिं अमित तयार। बहु सुतर प्यादे जूह। कवि को कहै करि ऊह।—रघुराज। (२) तर्क। दलील।

ऊहन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० ऊहनीय] तर्क। दलील।

ऊहनीय–वि० [सं०] तर्क करने योग्य। तर्कनीय। विचारयोग्य।

ऊहा–संज्ञा स्त्री० दे० "ऊह"।

ऊहापोह–संज्ञा पुं० [सं० ऊह+अपोह] तर्क वितर्क। सोच विचार। जैसे,—इस कार्य्य की साधन-सामग्री मेरे पास है वा नहीं, अशक्त पुरुष इसी ऊहापोह में कार्य्य का समय व्यतीत करके चुपचाप बैठ रहता है।

विशेष—यह बुद्धि का एक गुण कहा गया है जिसमें किसी विचार का त्याग और किसी विचार का ग्रहण किया जाता है।

ऋ

ऋ–एक स्वर जो वर्णमाला का सातवाँ वर्ण है। इसकी गणना स्वरों में है और इसका उच्चारणस्थान मूर्द्धा है। इसके तीन भेद हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। फिर इनमें से एक एक के भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन तीन भेद हैं। फिर इन नौ भेदों में भी प्रत्येक के अनुनासिक और निरनुनासिक दो दो भेद हैं। इस प्रकार इसके कुल अठारह भेद हुए।

ऋ–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) देवमाता। अदिति। (२) निंदा। बुराई।

ऋक्–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऋचा। वेदमंत्र। (२) दे० "ऋग्वेद"।

ऋक्थ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) धन। (२) सुवर्ण। सोना। (३) दाय धन। वरासत। वर्सा। किसी संबंधी की संपत्ति का वह भाग जो धर्मशास्त्र के अनुसार मिले। (४) हिस्से की जायदाद। हिस्सा।

ऋक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० ऋक्षी] (१) भालू। (२) तारा। नक्षत्र। (३) मेष, वृष आदि राशियाँ। (४) भिलावाँ। (५) शोनाक वृक्ष। (६) रैवतक पर्वत का एक भाग।

ऋक्षजिह्व–संज्ञा पुं० [सं०] कुष्ठ का एक भेद। वह पीड़ायुक्त

कोढ़ जो किनारों पर लाल, बीच में पीलापन लिए काला, छूने में कड़ा और रीछ की जीभ के आकार का हो।

ऋक्षपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नक्षत्रों के राजा चंद्रमा। (२) भालुओं के सरदार जांबवान।

ऋक्षवान-संज्ञा सं० [पुं०] ऋक्ष पर्वत जो नर्मदा के किनारे से गुजरात तक है। यह रैवतक पर्वत की चोटी से उत्पन्न अर्थात् उसी का एक भाग माना गया है।

ऋग्वेद-संज्ञा पुं० [सं०] चार वेदों में से एक। वि० दे० "वेद"।

ऋग्वेदी-वि० [सं० ऋग्वेदिन्] ऋग्वेद का जानने वा पढ़नेवाला।

ऋचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेदमंत्र जो पद्य में हो। (२) वेद-मंत्र। कांडिका। (३) स्तोत्र। स्तुति।

ऋचीक-संज्ञा पुं० [सं०] भृगुवंशीय एक ऋषि जो जमदग्नि के पिता थे। विश्वामित्र के पिता गाधि ने अपनी सत्यवती नाम की कन्या इन्हें ब्याह दी थी।

ऋच्छ-संज्ञा पुं० दे० "ऋक्ष"।

ऋजीष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहे का तसला। (२) सोमलता की सीठी। (३) सीठी।

ऋजु-वि० [सं०] [संज्ञा आर्जव, ऋजुता] [स्त्री० ऋज्वी] (१) जो टेढ़ा न हो। सीधा। अवक्र। (२) सरल। सुगम। सहज। जो कठिन न हो। (३) सीधे स्वभाव का। सरल चित्त का। अकुटिल। सज्जन। (४) अनुकूल। प्रसन्न।

ऋजुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीधापन। टेढ़ेपन का अभाव। (२) सरलता। सुगमता। (३) सरल स्वभाव। सिधाई। सज्जनता।

ऋजुसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] जैन दर्शन में वह "नय" या प्रमाणों द्वारा निश्चित अर्थ को ग्रहण करने की वृत्ति जो अतीत और अनागत को नहीं मानती, केवल वर्त्तमान ही को मानती है।

ऋण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० ऋणी] किसी से कुछ समय के लिये कुछ द्रव्य लेना। क़र्ज़। उधार।

क्रि० प्र०—करना।—काढ़ना।—चुकाना।—देना।—लेना।

मुहा०—ऋण उतरना=क़र्ज़ अदा होना। ऋण चढ़ना=क़र्ज़ होना। जैसे,—उनके ऊपर बहुत ऋण चढ़ गया है। ऋण चढ़ाना=ज़िम्मे रुपया निकालना। ऋण पटना=धीरे धीरे क़र्ज़ का रुपया अदा होना। ऋण पटाना=धीरे धीरे उधार लिया हुआ रुपया चुकता करना। जैसे,—हम चार महीने में यह ऋण पटा देंगे। ऋण मढ़ना=ऋण चढ़ाना। देनदार बनाना। जैसे,—वह हमारे ऊपर ऋण मढ़कर गया है।

यौ०—ऋण मुक्त। ऋणमुक्ति। ऋणशुद्धि।

ऋणमार्गण-संज्ञा पुं० [सं०] जिसने क़र्ज़दार से महाजन का रुपया अदा कराने का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया हो। प्रतिभू। ज़ामिन।

ऋणमोक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] स्मृति में लिखे हुए १५ प्रकार के दासों में से एक। वह जो अपना ऋण चुकाने में असमर्थ होकर अपने महाजन का अथवा उस महाजन को रुपया चुकानेवाले का दास हो गया हो।

ऋणशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] ऋण का साफ़ होना। क़र्ज़ का अदा होना।

ऋणार्ण-संज्ञा पुं० [सं०] वह ऋण जो दूसरा ऋण चुकाने के लिये लिया जाय।

ऋणिक-संज्ञा पुं० [सं०] ऋणी। क़र्ज़दार।

ऋणिया‡-वि० [सं० ऋणिन्] ऋणी।

ऋणी-वि० [सं० ऋणिन्] (१) जिसने ऋण लिया हो। क़र्ज़दार देनदार। अधमर्ण। (२) उपकार माननेवाला। उपकृत। अनुगृहीत। जिसे किसी उपकार का बदला देना हो। जैसे,—इस विपत्ति से उद्धार कीजिए; हम आप के चिर ऋणी रहेंगे। उ०—गर्भ देवकी के तनु धरिहौं जसुमति के पय पीहौं। पूरब तप बहु कियो कष्ट करि इनको बहुत ऋनी हौं।—सूर।

ऋत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उंछवृत्ति। (२) मोक्ष। (३) जल। (४) कर्म का फल। (५) यज्ञ। (६) सत्य।

वि० (१) दीप्त। (२) पूजित। (३) सत्य।

ऋतपर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] अयोध्या के एक राजा जो नल के सखा थे और पाँसा खेलने में बड़े निपुण थे।

ऋतपेय-संज्ञा पुं० [सं०] एक एकाह यज्ञ जो छोटे छोटे पापों के नाश के लिये किया जाता है।

ऋति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गति। (२) स्पर्द्धा। (३) निंदा। (४) मार्ग। (५) मंगल। कल्याण।

ऋतु-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुसार वर्ष के दो दो महीनों के छः विभाग। ऋतुएँ ६ हैं—(क) वसंत (चैत और वैशाख), (ख) ग्रीष्म (जेठ और आषाढ़), (ग) वर्षा (सावन और भादों), (घ) शरद (क्वार और कातिक), (च) हेमंत (अगहन और पूस), (छ) शिशिर (माघ और फागुन)। (२) रजोदर्शन के उपरांत वह काल जिसमें स्त्रियाँ गर्भ धारण के योग्य होती हैं।

ऋतुकर-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

ऋतुकाल-संज्ञा पुं० [सं०] रजोदर्शन के उपरांत के १६ दिन जिन में स्त्रियाँ गर्भ-धारण के योग्य रहती हैं। इनमें प्रथम चार दिन तथा ग्यारहवाँ और तेरहवाँ दिन गमन के लिये निषिद्ध हैं।

ऋतुगमन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० ऋतुगामी] ऋतुकाल में स्त्री के पास जाना।

ऋतुचर्य्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] ऋतुओं के अनुसार आहार-विहार की व्यवस्था।

ऋतुदान–संज्ञा पुं० [सं०] ऋतुमती स्त्री के साथ संतान की इच्छा से संभोग । गर्भाधान ।

ऋतुप्राप्त–वि० [सं०] फलनेवाला (वृक्ष) । फल देनेवाला (पेड़) ।

ऋतुमती–वि० स्त्री० [सं०] (१) रजस्वला । पुष्पवती । मासिक-धर्मयुक्ता ।

विशेष—धर्मशास्त्र और आयुर्वेद के अनुसार रजोदर्शन के उपरांत तीन दिन तक स्त्री को ब्रह्मचर्य्यपूर्वक रहना चाहिए, पति का मुख न देखना चाहिए, चटाई इत्यादि पर सोना चाहिए, हाथ पर अथवा कटोरे वा दोने में खाना चाहिए, आँसू न गिराना चाहिए, नाखून न कटाना चाहिए, तेल, उबटन और काजल न लगाना चाहिए, दिन को सोना न चाहिए, बहुत भारी शब्द न सुनना चाहिए, हँसना और बहुत बोलना भी न चाहिए। चौथे दिन स्नान करके सुंदर वस्त्र और आभूषण धारण करे और पति का मुख देखकर सब व्यवहार करे ।

(२) (स्त्री) जिसका ऋतुकाल हो। जिस (स्त्री) से रजोदर्शन के उपरांत के १६ दिन न बीते हों और जो गर्भाधान के योग्य हो ।

ऋतुराज–संज्ञा पुं० [सं०] ऋतुओं का राजा वसंत ।

ऋतुवती*–वि० स्त्री० दे० "ऋतुमती" ।

ऋतुस्नान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० स्त्री० ऋतुस्नाता] रजोदर्शन के चौथे दिन का स्त्रियों का स्नान । रजस्वला का चौथे दिन का स्नान ।

विशेष—रजोदर्शन के उपरांत तीन दिन तक स्त्री अपवित्र रहती है । चौथे दिन जब वह स्नान करती है, तब कुटुम्ब के लोगों तथा घर की सब खाने पीने की वस्तुओं को छूने पाती है। स्नान के पीछे स्त्री को पति वा उसके अभाव में सूर्य्य का दर्शन करना चाहिए ।

ऋत्विज्–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० आर्त्विज्य] यज्ञ करनेवाला । वह जिसका यज्ञ में वरण किया जाय । ऋत्विजों की संख्या १६ होती है जिनमें चार मुख्य हैं—(क) होता (ऋग्वेद के अनुसार कर्म करानेवाला), (ख) अध्वर्य्यु (यजुर्वेद के अनुसार कर्म करानेवाला), (ग) उद्गाता (सामवेद के अनुसार कर्म करानेवाला,), (घ) ब्रह्मा (चार वेदों का जाननेवाला और पूरे कर्म का निरीक्षण करनेवाला) । इनके अतिरिक्त बारह और ऋत्विजों के नाम ये हैं—मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणच्छंसी, प्रस्तोता, अच्छावाक्, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रतिहर्त्ता, ग्रावस्तुत्, उन्नेता, पोता और सुब्रह्मण्य ।

ऋद्ध–वि० [सं०] संपन्न । वृद्धिप्राप्त । समृद्ध ।

संज्ञा पुं० पेड़ से मलकर वा दायँकर अलग किया हुआ धान । संपन्न धान्य ।

ऋद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक ओषधि वा लता जिसका कंद दवा के काम में आता है। यह कंद कपास की गाँठ के समान और बाँई ओर को कुछ घूमा हुआ होता है तथा इसके ऊपर सफ़ेद रोंई होती है । यह बलकारक, त्रिदोषनाशक, शुक्रजनक, मधुर, भारी तथा मूर्च्छा को दूर करनेवाला है।

पर्या०—प्राणप्रिया । वृष्या । प्राणदा । संपदाह्वया। योग्या। सिद्धि । लक्ष्मी । प्राणप्रदा। जीवदात्री। सिद्धा। चेतनीया रथांगी । मंगल्या । लोककांता । जीवश्रेष्ठा । यशस्या ।

(२) समृद्धि । बढ़ती। (३) आर्य्या छंद का एक भेद जिसमें २६ गुरु और ५ लघु होते हैं ।

ऋद्धि सिद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] समृद्धि और सफलता । उ०—रिधि सिधि संपति नदी सुहाई । उमँगि अवध अंबुधि पहँ आई ।—तुलसी ।

विशेष—ये गणेशजी की दासियाँ मानी जाती हैं।

ऋनिया–वि० [सं० ऋणी] ऋणी । क़र्ज़दार । देनदार ।

ऋनी–वि० दे० "ऋणी" ।

ऋभु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गण देवता । (२) देवता ।

ऋभुक्ष–संज्ञा पुं० [सं० ऋभुक्षन्] (१) इंद्र । (२) स्वर्ग। (३) वज्र।

ऋषभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल ।

विशेष—पुरुष वा नर आदि शब्दों के आगे उपमान रूप में समस्त होने से सिंह, व्याघ्र, आदि शब्दों के समान यह शब्द भी श्रेष्ठ का अर्थ देता है । जैसे, पुरुषर्षभ ।

(२) नक्र वा नाक नामक जल जंतु की पूँछ। (३) राम की सेना का एक बंदर। (४) बैल के आकार का दक्षिण का एक पर्वत जिसपर हरिश्याम नामक चंदन होता है (वाल्मीकीय)। (५) संगीत के सात स्वरों में से दूसरा । इसकी तीन श्रुतियाँ हैं, दयावती, रंजनी और रतिका। इसकी जाति क्षत्रिय, वर्ण पीला, देवता ब्रह्मा, ऋतु शिशिर, वार सोम, छंद गायत्री, पुत्र मालकोश है । स्वर बैल के समान कहा जाता है; पर कोई कोई इसे चातक के स्वर के समान मानते हैं । नाभि से उठकर कंठ और शीर्ष को जाती हुई वायु से इसकी उत्पत्ति होती है। ऋषभ (कोमल) के स्वरग्राम बनाने से विकृत स्वर इस प्रकार होते हैं—ऋषभ—स्वर। गांधार—ऋषभ । तीव्र मध्यम—गांधार । पंचम—मध्यम । धैवत—पंचम । निषाद—धैवत। कोमल ऋषभ—निषाद। (६) लहसुन की तरह की एक ओषधि वा जड़ी जो हिमालय पर होती है । इसका कंद मधुर, बलकारक और कामोद्दीपक होता है।

ऋषभदेव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भागवत के अनुसार राजा नाभि के पुत्र जो विष्णु के २४ अवतारों में गिने जाते हैं । (२) जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ।

ऋषभध्वज–संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।

ऋषभी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका रंग रूप पुरुष की तरह हो ।

ऋषि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद मंत्रों का प्रकाश करनेवाला । मंत्र-

द्रष्टा। (२) आध्यात्मिक और भौतिक तत्वों का साक्षात्कार करनेवाला। ऋषि सात प्रकार के माने गए हैं—(क) महर्षि, जैसे व्यास। (ख) परमर्षि, जैसे भेल। (ग) देवर्षि, जैसे नारद। (घ) ब्रह्मर्षि, जैसे वशिष्ठ। (च) श्रुतर्षि, जैसे सुश्रुत। (छ) राजर्षि, जैसे ऋतपर्ण। (ज) कांडर्षि, जैसे जैमिनि। एक पद ऐसे सात ऋषियों का माना गया है जो कल्पांत प्रलयों में वेदों को रक्षित रखते हैं। भिन्न भिन्न मन्वतरों में सप्तर्षि के अंतर्गत भिन्न भिन्न ऋषि माने गए हैं। जैसे, इस वैवस्वत मन्वंतर के सप्तर्षि ये हैं—कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज। स्वायंभुव मन्वंतर के—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, और वशिष्ठ हैं।

यौ०—ऋषिऋण=ऋषियों के प्रति कर्तव्य। वेद के पठन पाठन से इस ऋण से उद्धार होता है।

ऋषिकुल्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम जिसका उल्लेख महाभारत के तीर्थयात्रापर्व में है।

ऋषीक—संज्ञा पुं० [सं०] ऋषि का पुत्र।

ऋष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खड्ग। तलवार। (२) शस्त्र। हथियार। (३) दीप्ति। कांति।

ऋष्टिक—संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण का एक देश जिसका उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में है।

ऋष्य—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मृग जो कुछ काले रंग का होता है।

ऋष्यकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] अनिरुद्ध।

ऋष्यप्रोक्ता—संज्ञा स्त्री० [सं०] सतावर।

ऋष्यमूक—संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण का एक पर्वत।

ऋष्यशृंग—संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि जो विभांडक ऋषि के पुत्र थे। लोमपाद राजा की कन्या शांता इनको ब्याही गई थी।

ए

ए—संस्कृत वर्णमाला का ग्यारहवाँ और नागरी वर्णमाला का आठवाँ स्वर वर्ण। शिक्षा में यह संध्यक्षर माना गया है और इसका उच्चारण कंठ और तालु से होता है। यह अ और इ के योग से बना है; इसीलिये यह कंठतालव्य है। संस्कृत में मात्रानुसार इसके केवल दीर्घ और प्लुत दो ही भेद होते हैं; पर हिंदी में इसका ह्रस्व वा एकमात्रिक उच्चारण भी सुना जाता है। जैसे, उ०—एहि बिधि राम सबहिं समुझावा।—तुलसी। पर इसके लिये कोई और संकेत नहीं माना गया है। मौके के अनुसार ह्रस्व पढ़ा जाता है। प्रत्येक के सानुनासिक और निरनुनासिक दो भेद होते हैं।

एँच पेंच—संज्ञा पुं० [फ़ा० पेच] (१) उलझाव। उलझन। घुमाव। फिराव। अटकाव। (२) टेढ़ी चाल। घात। गूढ़ युक्ति।

क्रि० प्र०—करना।—डालना।—होना।

एंजिन—संज्ञा पुं० दे० "इंजन"।

एँड़ा बेंड़ा—वि० [हिं वेंड़ा+अनु एड़ाँ] [स्त्री एँड़ी बेंड़ी] उलटा सीधा। अंडबंड।

मुहा०—एँड़ी बेंड़ी सुनाना=भला बुरा कहना। फटकारना।

एँड़ी—संज्ञा पुं० [सं० एरंड] (१) एक प्रकार का रेशम का कीड़ा जो अंडी के पत्ते खाता है। यह पूर्वी बंगाला तथा आसाम के ज़िलों में होता है। जो कीड़े नवंबर, फ़रवरी और मई में रेशम बनाते हैं, उनका रेशम बहुत अच्छा समझा जाता है। मूँगा से अंडी का रेशम कुछ घट कर होता है। (२) इस कीड़े का रेशम। अंडी। मूँगा।

एँडुआ—संज्ञा पुं० [हिं ऐंडना] [स्त्री अल्पा० एँडुई] रस्सी, कपड़े आदि का बना हुआ गोल मेंडरा जिसे गद्दी की तरह सिर पर रखकर मज़दूर लोग बोझ उठाते हैं। बिंडुआ। गेंडुरी। (बिना पेंदे के बरतनों के नीचे भी एँडुआ लगाया जाता है जिसमें वे लुढ़क न जायँ।)

ए—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

अव्य० एक अव्यय जिसका प्रयोग संबोधन या बुलाने के लिये करते हैं। उ०—ए! बिधिना जो हमें हँसतीं अब नेक कहीं उत को पग धारैं।—रसखान।

*सर्व० [सं० एष] यह। उ०—दुरै न निघर घटौ दिये ए रावरी कुचाल। विष सी लागति है बुरी, हँसी खिसी की लाल।—बिहारी।

एकंग—वि० [सं०] एक+अंग] अकेला। तनहा।

एकंगा—वि० [सं० एक+अंग] [स्त्री० एकंगी] एक ओर का। एक तरफ़ा।

एकंगी—संज्ञा स्त्री० [हिं० एक+अंगी] मुठिया लगा हुआ दो डेढ़ गज़ लंबा लट्टूदार डंडा जिसे हाथ में लेकर लकड़ी खेलनेवाले लकड़ी खेलते हैं। इसी डंडे से वार भी करते हैं और रोकते भी हैं।

एकँडिया—वि० [सं० एक+अंड] एक अंडे का।

संज्ञा पुं० वह घोड़ा वा बैल जिसके एक ही अंडकोष हो। (२) वह लहसुन की गाँठ जिसमें एक ही अँठी हो। एक-पुतिया लहसुन।

एकंत—वि० [सं० एकांत] जहाँ कोई न हो। एकांत। निराला। सूना। जैसे,—एकंत स्थान में मैं तुमसे कुछ कहूँगा। उ०—आइ गयो मतिराम तहाँ घर जानि एकंत अनंद से चंचल।—मतिराम।

एक—वि० [सं०] (१) एकाइयों में सब से छोटी और पहली संख्या। वह संख्या जिससे जाति वा समूह में किसी अकेली वस्तु वा

व्यक्ति का बोध हो। (२) अकेला। एकता। अद्वितीय। बेजोड़। अनुपम। जैसे,—वह अपने ढंग का एक आदमी है। (३) कोई। अनिश्चित। किसी। जैसे,—सब को एक दिन मरना है। उ०—एक कहै अमल कमल मुख सीता जू को एक कहै चंद्र सम आनंद को कंदरी।—केशव। (४) एक ही प्रकार का। समान। तुल्य। जैसे,—एक उमर के चार पाँच लड़के खेल रहे हैं।

मुहा०—एक अंक वा आँक=एक ही बात। ध्रुव बात। पक्की बात। निश्चय। उ०—(क)मुख फेरि हँसैं सब राव रंक। तेहि धरे न पैंड़ू एक अंक।—कबीर। (ख) जाउँ राम पहँ आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित येहू।—तुलसी। (ग) राम राज सब काज कहँ नीक एक ही आँक। सकल सगुन मंगल कुसल होइहि बारु न बाँक।—तुलसी। (घ) भूपति विदेह कही नीकयै जो भई है। बड़े ही समाज आजु राजन की लाज पति हाँकि आँक एक ही पिनाक छीन लई है।—तुलसी। एक आध=थोड़ा कम। इक्का दुक्का। जैसे,—(क) सब लोग चले गए हैं,एक आध आदमी रह गए हैं। (ख) अच्छा एक आध रोटी मेरे लिये भी रहने देना। एक आँख देखना=समान भाव रखना। एक ही तरह का बर्त्ताव करना। एक आँख न भाना=तनिक भी अच्छा न लगना। एक एक=(१)हर एक। प्रत्येक। सब। जैसे,—एक एक मुहताज को दो दो रोटियाँ दो। (२) अलग अलग। पृथक् पृथक्। जैसे,—एक एक आदमी आवे और अपने हिस्से को उठा उठा चलता जाय। वि०(३) बारी बारी। क्रमशः। जैसे,—एक एक लड़का मदरसे से उठे और घर की राह ले। एक एक करके=एक के पीछे दूसरा। धीरे धीरे। जैसे,—यह सुन सब लोग एक एक करके चलते हुए। एक एक के दो दो करना=(१) काम बढ़ाना। जैसे,—एक एक के दो दो मत करो,झटपट काम होने दो। (२) व्यर्थ समय खोना। दिन काटना। जैसे,—वह दिन भर बैठा हुआ एक एक के दो दो किया करता है। एक ओर वा तरफ़=किनारे। दाहिने वा बाएँ। जैसे,—एक तरफ़ खड़े हो, रास्ता छोड़ दो। एक और एक ग्यारह करना=मिलकर शक्ति बढ़ाना। एक और एक ग्यारह होना=कई आदमियों के मिलने से शक्ति बढ़ना। एक-क़लम=बिलकुल। सब। जैसे,—(क)साहब ने उनको एक-क़लम बरख़ास्त कर दिया। (ख) इस खेत में एक-क़लम ईख ही बो दी गई। एक के दस सुनाना=एक कड़ी बात के बदले दस कड़ी बातें सुनाना। एक-जान=खूब मिला जुला। जो मिलकर एक रूप हो गया हो। अपनी और किसी की जान एक करना=(१) किसी की अपनी सी दशा करना। (२) मारना और मर जाना। जैसे,—अब फिर तुम ऐसा करोगे तो मैं अपनी और तुम्हारी जान एक कर दूँगा। एक टाँग फिरना=बराबर घूमा करना। बैठकर दम भी न लेना। एकटक=बिना आँख की पलक मारे हुए। अनिमेष। स्थिर दृष्टि से। नजर गड़ा कर। उ०—(क) सकुच सनेह मोद मन बाढ़ा। भरतहिं चितवत एकटक ठाढ़ा।—तुलसी। (ख) भरत विमल जस विमल विधु सुमति चकोर कुमारि। उदित विमल जन हृदय नभ एकटक रही निहारि।—तुलसी। एकटक आशा लगाना=लगातार बहुत दिनों से आसरा बँधा रहना। उ०—जन्म ते एकटक लागि आशा रही विषय विष खात नहिं तृप्ति मानी।—सूर। एकटक आशा देखना=लगातार बाट जोहना। एकताक=समान। बराबर। भेद रहित। तुल्य। उ०—सखन सँग हरि जेंवत छाक। प्रेम सहित मैया दै पठयो सबै बनाए हैं एकताक।—सूर। एकतार=(१) वि० एक ही नाम का। एक ही रूप रंग का। समान। बराबर। (२) क्रि० वि० सम भाव से। बराबर। लगातार। उ०—(क) आकिंचन इंद्रिय दमन रमन राम एकतार। तुलसी ऐसे संत जन बिरले या संसार।—तुलसी। (ख) का जानौं का होयगा हरि सुमिरन एकतार। का जानौं कब छाँड़ि है यह मन विषय विकार।—दादू। एक तो=पहले तो। पहली बात तो यह कि। जैसे,—(क) एक तो वह यों ही उजड्ड है; दूसरे आज उसने भाँग पी ली है। (ख) एक तो वहाँ भले आदमियों का संग नहीं; दूसरे खाने पीने की भी तकलीफ़। एक-दम=(१) बिना रुके। एक क्रम से। लगातार। जैसे,—(क) यह सड़क एक-दम चुनार चली गई है। (ख) एक-दम घर ही चले जाना, बीच में रुकना मत। (२) फ़ौरन। उसी समय। जैसे,—इतना सुनते ही वह एक-दम भागा। (३) एक बारगी। एक साथ। जैसे,—एक-दम इतना बोझ मत लाद दो कि बैल चल ही न सके। (४) बिलकुल। नितांत। जैसे,—हमने वहाँ का आना जाना एक-दम बंद कर दिया। (५) जहाज में यह वाक्य कह कर उस समय चिल्लाते हैं जब बहुत से जहाजियों को एक साथ किसी काम में लगाना होता है। एक-दिल=(१) खब मिला जुला। जो मिलकर एक रूप हो गया हो। जैसे,—सब दवाओं को खरल में घोटकर एक-दिल कर डालो। (२) एक ही विचार का। अभिन्न हृदय। एक दीवार रुपया=हजार रुपया। (दलाल)। एक दूसरे का,को,पर,में, से=परस्पर। जैसे,—(क) वे एक दूसरे का बड़ा उपकार मानते हैं। (ख) वहाँ कोई एक दूसरे से बात नहीं कर सकता। (ग) मित्र एक दूसरे में भेद नहीं मानते। (घ) वे एक दूसरे पर हाथ रक्खे जाते थे। एक न चलना=कोई युक्ति सफल न होना। एक पास=पास पास। एक ही जगह। परस्पर निकट। उ०—(क) रवी सार दोनों एक-पासा। होय जुग जुग आवहिं कैलासा।—जायसी। (ख)जलचर वृंद जाल अंतरगत सिमिटि होत एक पासा।—

तुलसी। एक पेट के=एक ही माँ से उत्पन्न। सहोदर। (भाई)। एक-ब-एक=अकस्मात्। अचानक। एक बारगी। एक बात=(१) दृढ़ प्रतिज्ञा। जैसे,—मर्द की एक बात। (२) ठीक बात। सच्ची बात। जैसे,—एक बात कहो, मोल चाल मत करो। एक मामला=कई आदमियों में परस्पर इतना हेल मेल कि किसी एक का किया हुआ दूसरों को स्वीकृत हो। जैसे,—हमारा उनका तो एक मामला है। एक मुँह से कहना, बोलना आदि=एक मत होकर कहना। एक स्वर से कहना। जैसे,—सब लोग एक मुँह से यही बात कहते हैं। एक मुँह होकर कहना, बोलना इत्यादि=एक मत होकर कहना। एक मुश्त वा एक मुट्ठ=एक साथ। एक बारगी। इकट्ठा। (रुपए पैसे के संबंध में)। जैसे,—जो कुछ देना हो एक मुश्त दीजिए, थोड़ा थोड़ा करके नहीं। एक-लख्त=एक दम। एक बारगी। एक सा=समान। बराबर। एक से एक=एक से एक बढ़कर। जैसे,—वहाँ एक से एक महाजन पड़े हैं। उ०—एक ते एक महा रनधीरा।—तुलसी। एक से इक्कीस होना=बढ़ना। उन्नति करना। फलना फूलना। एक स्वर से कहना वा बोलना=एक मत होकर कहना। जैसे,—सब लोग एक स्वर से इसका विरोध कर रहे हैं। एक होना=(१) मिलना जुलना। मेल करना। जैसे,—ये लड़के अभी लड़ते हैं, फिर एक होंगे। (२) तद्रूप होना।

एक-कपाल—संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरोडाश जो यज्ञ में एक कपाल में पकाया जाय।

एक-कुंडल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बलराम। (२) कुबेर।

एक-गाछी—संज्ञा स्त्री० [हिं० एक+गाछ] वह नाव जो एक ही पेड़ के तने को खोखला करके बनाई गई हो।

एक-चक्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य का रथ (जिसमें एक ही पहिया माना गया है)। (२) सूर्य्य।

वि० चक्रवर्ती। उ०—चल्यो सुभट हरि केश सुवन स्यामक को भारी। एकचक्र नृप जोग दोय भुज सर धनु धारी।—गोपाल।

एकचक्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नगरी जो आरे के पास थी। यहाँ बकासुर रहता था। पांडव लोग लाक्षागृह से बचकर यहीं रहे थे और यहीं भीम ने बकासुर को मारा था।

एकचर—वि० [सं०] अकेले चरनेवाला। झुंड में न रहनेवाला। एका।

संज्ञा पुं० (१) जंतु वा पशु जो झुंड में नहीं रहते, अकेले चरते हैं। जैसे सिंह, साँप। (२) गैंडा।

एकचित—वि० [सं० एकचित्त] (१) स्थिर चित्त। एकाग्र चित्त। जैसे,—मैं कथा कहता हूँ, एकचित होकर सुनो। (२) समान विचार का। एक दिल। खूब हिला मिला। जैसे,—तुम दोनों एकचित हो।

एकचोबा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह खेमा वा डेरा जिसमें केवल एक चोब वा खंभा लगे।

एकछत्र—वि० [सं०] बिना और किसी के आधिपत्य का (राज्य)। जिसमें कहीं और किसी का राज्य वा अधिकार न हो। पूर्ण प्रभुत्वयुक्त। अनन्य शासनयुक्त। निष्कंटक। उ०—जरा मरन दुख रहित तनु समर जितइ जनि कोउ। एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ।—तुलसी।

क्रि० वि० एकाधिपत्य के साथ। प्रभुत्व के साथ। उ०—बैठ सिंहासन गरभहिं गूजा। एकछत्र चारउ खँड भूजा।—जायसी।

संज्ञा पुं० [सं०] शासन वा राज्यप्रणाली का वह भेद जिसमें किसी देश के शासन का सारा अधिकार अकेले एक पुरुष को प्राप्त होता है और वह जो चाहे सो कर सकता है।

एकज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो द्विज न हो। शूद्र। (२) राजा।

वि० [सं० एक+एव, प्रा० ज्जेव] एक ही। एकमात्र। उ०—(क) थली जो चरता मिरिग ला बेधा एकज सौन। हम तो पंथी पंथ सिर हरा चरैगा कौन।—कबीर। (ख) अकबर एकणबार, दागल की सारी दुनी। बिन दागल असवार एकज राण प्रतापसी।

एकजद्दी—वि० [फ़ा०] जो एक ही पूर्वज से उत्पन्न हुए हों। सपिंड वा सगोत्र।

एकजन्मा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शूद्र। (२) राजा।

एक़ज़ीक्यूटिव—वि० [अं०] (१) प्रबंध विषयक। कार्य्य संपादन संबंधी। अमल दरामद से संबंध रखनेवाला। (२) प्रबंध करनेवाला। अमलदरामद रखनेवाला। आमिल। कार्य्य में परिणत करनेवाला।

विशेष—शासन के तीन विभाग हैं—नियम, न्याय और प्रबंध। विचारपूर्वक क़ानून बनाना और आवश्यकतानुसार समय समय पर उनका संशोधन करना नियम वा लेजिस्लेटिव विभाग का काम है। उन नियमों के अनुसार मुक़दमों का फ़ैसला करना वा मामलों में व्यवस्था देना, न्याय वा जुडिशल विभाग का काम है। उन नियमों का खुद या अपनी निगरानी में पालन कराना प्रबंध वा एकज़ीक्यूटिव विभाग का काम है।

एक़ज़ीक्यूटिवकाउन्सिल—संज्ञा स्त्री० [अं०] कार्य्यकारिणी सभा। वह सभा जो निश्चित नियमों के पालन का प्रबंध करती है।

एक़ज़ीक्यूटिव आफ़िसर—संज्ञा पुं० [अं०] वह राजकर्म्मचारी जिसका काम प्रबंध करना हो। नियमों का पालन करनेवाला राजकर्मचारी। आमिल।

एक़ज़ीक्यूटिव कमेटी—संज्ञा स्त्री० [अं०] प्रबन्धकारिणी समिति।

एकटंगा—वि० [हिं० एक+टाँग] एक टाँग का। लँगड़ा।

एकट†—संज्ञा पुं० [अं० एक्ट] नियम। क़ानून। आईन।

एकटकी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० एकटक] स्तब्ध दृष्टि। टकटकी।

एकट्ठा–वि० दे० "इकट्ठा"।

एकठा–संज्ञा पुं० [हिं० एक+काठ=एककठा] एक प्रकार की नाव जो एक लकड़ी की होती है।

एकड़–संज्ञा पुं० [अं०] पृथिवी की एक माप जो १¾ बीघे के बराबर होती है।

एकडाल–वि० [हिं० एक+डाल] (१) एक मेल का। एक ही तरह का। (२) एक ही टुकड़े का बना हुआ।

संज्ञा पुं० वह कटार वा छुरा जिसका फल और बेंट एकही लोहे का हो।

एकतः–क्रि० वि० [सं०] एक ओर से।

एकत✻–क्रि० वि० [सं० एकत्र, प्रा० एकत] एक जगह। एकत्र। इकट्ठा। उ०—(क) नहिं हरि लौं हियरा धरौ नहिं हर लौं अरधंग। एकत ही करि राखिए अंग अंग प्रति अंग।—बिहारी। (ख) कहलाने एकत रहत अहि मयूर मृग बाघ। जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ।—बिहारी।

एकतरफ़ा–वि० [फ़ा०] (१) एक ओर का। एक पक्ष का। (२) जिसमें तरफ़दारी की गई हो। पक्षपातग्रस्त। (३) एकरुखा। एक पार्श्व का।

मुहा०—एकतर्फ़ा डिगरी=वह व्यवस्था जो प्रतिवादी का उत्तर बिना सुने ही दी जाय। वह डिगरी जो मुद्दालेह के हाजिर न होने के कारण मुद्दई को प्राप्त हो।

एकतरा–संज्ञा पुं० [सं० एकोत्तर] एक दिन अंतर देकर आनेवाला ज्वर। अँतरा।

एकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऐक्य। मेल। (२) समानता। बराबरी।

वि० [फ़ा०] अकेला। एक्का। अद्वितीय। बेजोड़। अनुपम। जैसे,—वह अपने हुनर में एकता है।

एकतान–वि० [सं०] तन्मय। लीन। एकाग्र चित। उ०—तुझ में इस तरह एकतान हुई, उस बाला को देख मैंने अपना प्रयास सफल समझा।—सरस्वती।

एकतारा–संज्ञा पुं० [हिं० एक+तारा] एक तार की सितार वा बाजा।

विशेष—इसमें एक डंडा होता है जिसके एक छोर पर चमड़े से मढ़ा हुआ तूँबा लगा रहता है और दूसरे छोर पर एक खूँटी होती है। डंडे के एक छोर से लेकर दूसरे छोर की खूँटी तक एक तार बँधा रहता है जो मढ़े हुए चमड़े के बीचो बीच घोड़िया पर से होकर जाता है। तार को अँगूठे के पासवाली उँगली से बजाते हैं।

एकताल–वि० दे० "एक" के मुहा० में "एकतार"।

एकताला–संज्ञा पुं० [सं० एकताल] बारह मात्राओं का एक ताल। इसमें केवल तीन आघात होते हैं। खाली का इसमें व्यवहार नहीं होता। एकताला का तबले का बोल यह है—

+ ३ १ +

धिन् धिन् धा, धा दिन्ता, तादेत् धागे तेरे केटे धिन्ता, धा।

एकतालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] सालंग अर्थात् दो रागों से मिल कर बने हुए रागों में से एक।

एकतालीस–वि० [सं० एकचत्वारिंशत्, पा० एकचत्तालीसा, एकत्तालासा] गिनती में चालीस और एक।

संज्ञा पुं० ४१ की संख्या का बोध करानेवाला अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—४१।

एकतीर्थी–संज्ञा पु० [सं० एकतीर्थिन्] वह जिसने एक ही आश्रम में एक ही गुरु से शिक्षा पाई हो। गुरुभाई।

एकतीस–वि० [सं० एकत्रिंश, पा० एकतीसा] गिनती में तीस और एक।

संज्ञा पुं० ३१ की संख्या का बोधक अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—३१।

एकत्र–क्रि० वि० [सं०] इकट्ठा। एक जगह।

मुहा०—एकत्र करना=बटोरना। संग्रह करना। एकत्र होना=जमा होना। इकट्ठा होना। जुड़ना। जुटना।

एकत्रा–संज्ञा पु० [सं० एकत्र] कुल जोड़। मीजान। टोटल।

एकत्रित–वि० [सं०] जो इकट्ठा किया गया हो वा जो इकट्ठा हुआ हो। जुटा हुआ। संगृहीत।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

एकत्व-भावन–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनशास्त्रानुसार आत्मा की एकता का चिंतन, जैसे,—जीव अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेले ही जन्म लेता और मरता है, इसका कोई साथी नहीं। स्त्री पुत्रादि सब यहीं रह जाते हैं, यहाँ तक कि उसका शरीर भी यहीं छूट जाता है। केवल उसका कर्म ही उसका साथी होता है, इत्यादि बातों का सोचना।

एकदंडा–संज्ञा पुं० [सं० एकदंड] कुश्ती का एक पेंच जो पीठ के दंडे के तोड़ का तोड़ है। इसमें शत्रु जिस ओर को कुंदा मारता है, खिलाड़ी उसकी दूसरी ओर का हाथ झट गर्दन पर से निकालकर कुंदे में फँसा हुआ हाथ खूब ज़ोर से गर्दन पर चढ़ाता है; फिर गर्दन को उखेड़ते हुए पुट्ठे पर से लेकर टाँग मारकर गिराता है। तोड़—खिलाड़ी की तरफ़ की टाँग से भीतरी अड़ानी खिलाड़ी की दूसरी टाँग पर मारे और दूसरी तरफ़ के हाथ से टाँग को लपेटकर पिछली बैठक करके खिलाड़ी को पीछे सुलावे।

एकदंत–संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

एकदंता–वि० [सं० एकदन्त] [स्त्री० एकदन्ती] एक दाँतवाला। जिसके। एक दाँत हो।

एकदरा–संज्ञा पुं० [हिं० एक+फ़ा० दर] एक दर का दालान।

एकदस्ती–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] कुश्ती का एक पेंच।

विशेष—खिलाड़ी एक हाथ से विपक्षी का हाथ दस्ती से खींचता है और दूसरे हाथ से झट पीछे से उसी तरफ़ की टाँग का मोज़ा उठाता है और भीतरी अड़ानी से टाँग मार कर गिराता है।

एकदा—क्रि० वि० [सं०] एक समय। एक बार।

एकदिशा-परिमाणातिक्रमण—संज्ञा पुं० [सं०] जैनशास्त्रानुसार दिशा संबंधी बाँधे हुए नियम को उल्लंघन करना।

विशेष—प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह नित्य यह नियम कर लिया करे कि आज मैं अमुक अमुक दिशा में इतनी इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। जैसे, किसी श्रावक ने यह निश्चय किया कि आज मैं १ कोस पूरब, १½ कोस पच्छिम, ½ कोस उत्तर तथा ½ कोस दक्षिण जाऊँगा। यदि वह किसी दिशा में निर्धारित नियम के विरुद्ध अधिक चला जाय और अपने मन में यह समझ ले कि मैं अमुक अमुक दिशा में नहीं गया, उसके बदले इसी ओर अधिक चला गया, तो यह एकदिशा-परिमाणातिक्रमण नाम का अतिचार हुआ।

एकदृक—वि० [सं०] (१) काना। (२) समदर्शी। (३) ब्रह्मज्ञानी। तत्त्वज्ञ।

संज्ञा पुं० (१) शिव। (२) कौवा।

एकदेह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुध ग्रह। (२) गोत्र। वंश। (३) दंपती।

एक-देशीय—वि० [सं०] एक देश का। एक ही स्थान से संबंध रखनेवाला। जो एक ही अवसर या स्थल के लिये हो। जिसको सब जगह काम में न ला सकें। जो सर्वत्र न घटे। जो सर्व-देशी वा बहु-देशीय न हो। जैसे,—एक-देशीय नियम। एक-देशीय प्रवृत्ति। एक-देशीय आचार।

एकनयन—वि० [सं०] काना। एकाक्ष।

संज्ञा पुं० (१) कौवा। (२) कुबेर।

एकनिष्ठ—वि० [सं०] जिसकी निष्ठा एक में हो। जो एक ही से सरोकार रक्खे। एक ही पर श्रद्धा रखनेवाला।

एकपक्षीय—वि० [सं०] एक ओर का। एक-तरफ़ा।

एकपटा—वि० [हिं० एक+पाट=चौड़ाई] [स्त्री० एकपटी] एक पाट का। जिसकी चौड़ाई में जोड़ न हो। जैसे,—एकपटी चादर।

एकपट्टा—संज्ञा पुं० [हिं एक+पट्टा] कुश्ती का एक पेंच।

विशेष—जब विपक्षी सामने होता है, तब उसका पाँव जंघे में से उठाकर बगली बाहरी ठोकर दूसरे पाँव में लेकर उसे चित्त करते हैं।

एकपत्नी—वि० स्त्री० [सं०] जो एक ही की पत्नी हो। पतिव्रता।

एकपत्नी-व्रत—संज्ञा पुं० [सं०] एक को छोड़ दूसरी स्त्री से विवाह वा प्रेमसंबंध न करनेवाला।

एकपद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बृहत्संहिता के अनुसार एक देश। यह आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्रों के अधिकार में है। (२) वैकुंठ। (३) कैलाश।

एकपदी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पगडंडी। रास्ता।

एकपर्णिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

एकपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

एकपलिया (मकान)—संज्ञा पुं० [हिं० एक+पल्ला] वह मकान जिसमें बँड़ेर नहीं लगाई जाती, बल्कि लंबाई की दोनों आमने सामने की दीवारों पर लकड़ियाँ रखकर छाजन की जाती है। छाजन की ढाल ठीक रखने के लिए एक ओर की दीवार ऊँची कर दी जाती है।

एकपात्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) सूर्य्य। (३) शिव।

एकपिंग—संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर।

एकपिंगल—संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर।

एकपुत्रक—संज्ञा पुं० [?] कौड़िल्ला पक्षी।

एकपेचा—वि० [फ़ा] एक पेंच का। जिसमें एक ही पेंच वा एंठन हो।

संज्ञा पुं० एक प्रकार की पगड़ी जो बहुत पतली होती है। इसकी चाल दिल्ली की ओर है। इसे पेचा भी कहते हैं।

एकफ़र्दा—वि० [फ़ा०] जिस (खेत वा ज़मीन) में वर्ष में केवल एक ही फ़सल उपजे। एक-फ़सला।

एक-फ़सला—वि० दे० "एकफ़र्दा"।

एकबद्धी—संज्ञा स्त्री० [हिं० एक+बाँधना] नाव ठहराने का लोहे का लंगर जिसमें केवल दो आँकुड़े हों।

वि० [हिं० एक+बाध (रस्सी)] एक बाध वा रस्सी का।

एकबारगी—क्रि० वि० [फ़ा०] (१) एक ही दफ़े में। एक ही साथ। एक ही समय में। जैसे,—सब पुस्तकें एक बारगी मत ले जाओ, एक एक करके ले जाओ। (२) अचानक। अकस्मात्। जैसे,—तुम एकबारगी आ गए, इससे मैं कोई प्रबंध न कर सका। (३) बिल्कुल। सारा। जैसे,—आपने तो एकबारगी दवात ख़ाली कर दी।

एकबाल—संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रताप। (२) भाग्य। सौभाग्य। (३) स्वीकार। हामी।

क्रि० प्र०—करना।

यौ०—एकबाल दावा=(१) मुद्दई वा महाजन के दावों की स्वीकृति मे मुद्दाअलेह की ओर से लिखा हुआ स्वीकार-पत्र जो अदालत में हाकिम के सामने उपस्थित किया जाता है। एक़रार-दावा। (२) राज़ीनामा।

एकभुक्त—वि० [सं०] जो रात दिन में केवल एक बार भोजन करे।

एकमत—वि० [सं०] एक वा समान मत रखनेवाले। एक राय के। जैसे,—सब ने एकमत होकर उस बात का विरोध किया।

एकमात्रिक—वि० [सं०] एक मात्र का। जिसमें केवल एक ही मात्रा हो। जैसे—एक मात्रिक छंद।

एकमुँहा—वि० [हिं०एक+मुँह] एक मुँह का।

यौ०—एक मुँहा दहरिया=फूल या काँसे का एक गहना जिसे लोधियों और काछियों की स्त्रियाँ पहनती हैं। इसके ऊपर रब्बा और नीचे सूत होता है।

एकमुखी–वि० [सं०] एक मुँहवाला।

यौ०—एकमुखी रुद्राक्ष=वह रुद्राक्ष जिसमें फाँकवाली लकीर एक ही हो।

एकमूला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शालपर्णी। (२) अलसी। तीसी।

एकरंग–वि० [हिं० एक रंग] (१) एक रंग ढंग का। समान। (२) जिसका भीतर बाहर एक हो। जो बाहर से भी वही कहता वा करता हो जो उसके मन में हो। कपट-शून्य। साफ़ दिल का। जैसे,—दो रंगी छोड़ दे एकरंग हो जा। (३) जो चारों ओर एक सा हो।

एकरदन–संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

एकरस–वि० [सं०] एक ढंग का। समान। न बदलेवाला। उ०—(क) शिशु किशोर वृद्ध तनु होई। सदा एकरस आतम सोई।—सूर। (ख) भरत सुभाउ सुसीतलताई। सदा एकरस बरनि न जाई।—तुलसी। (ग) महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एकरस रहई।—तुलसी। (घ) सुखी मीन सब एकरस, अति अगाध जल माहिँ। जथा धर्मसीलनन्ह के, दिन सुख संजुत जाहिँ।—तुलसी।

एकरार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) स्वीकार। हामी। स्वीकृति। मंजूरी। (२) प्रतिज्ञा। वादा।

क्रि० प्र०—करना।—लेना।—होना।

यौ०—एकरारनामा=वह पत्र जिसमे दो या दो से अधिक पुरुष परस्पर कोई प्रतिज्ञा करे। प्रतिज्ञापत्र।

एकरूप–वि० [सं०] (१) एक ही रूप का। समान आकृति का। एकही रंग ढंग का। उ०—एक रूप तुम भ्राता दोऊ।—तुलसी। (२) ज्यों का त्यों। वैसा ही। जैसे का तैसा। कोरा। उ०—एक रूप ऊधो फिरि आए हरि चरनन सिर नायो। कह्यो वृतांत गोप-वनिता को विरह न जात कहायो।—सूर।

एकरूपता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समानता। एकता। (२) सायुज्य मुक्ति।

एकरूपी–वि० [सं० एकरूपिन्] [स्त्री० एकरूपिणी, संज्ञा एकरूपता] समान रूप का। एक तरह का। एकसा।

एकलंगा—संज्ञा पुं० [हिं० एक+लंगा=लँगड़ा] कुश्ती का एक पेंच।

विशेष—जब विपक्षी सामने खड़ा होता है, तब खिलाड़ी अपने दाहिने हाथ से विपक्षी की बाईं बाँह ऊपर से लपेट कर अपने बाएँ हाथ से विपक्षी का दाहिना पहुँचा पकड़ अपनी दाहिनी टाँग पर रखता है और उसको एकबारगी उठाता हुआ विपक्षी को बाँह से दबाकर झुककर चित्त कर देता है।

एकलंगा डंड–संज्ञा पुं० [हिं० एक+अलंग+डंड] एक प्रकार की कसरत वा डंड जिसे करते समय एक ही हाथ पर बहुत ज़ोर देकर उसी ओर सारा शरीर झुकाकर दंड करते हैं और दूसरी ओर का पाँव उठाकर हाथ के पास ले जाते हैं।

एकल*–वि० [स०] (१) अकेला। (२) अद्वितीय। एकता। उ०—वेद पुरान कुरान कितेवा नाना भाँति बखानी। हिन्दू तुरक जैन अरु जोगी एकल काहु न जानी।—कबीर।

एकलत्ती छपाई–संज्ञा स्त्री० [?] कुश्ती का एक पेंच।

विशेष—जब विपक्षी के हाथ और पाँव ज़मीन पर टिके रहते हैं और उसकी पीठ पर खिलाड़ी रहता है, तब वह विपक्षी की पीठ पर अपना सिर रखकर बाएँ हाथ को उसकी पीठ पर से ले जाकर पेट के पास लँगोट पकड़ता है और दाहिने पाँव से उसके दाहिने हाथ की कुहनी पर थाप मारता है और उसे लुढ़का कर चित करता है।

एकलव्य–संज्ञा पुं० [स०] एक निषाद का नाम जिसने द्रोणाचार्य्य की मूर्ति को गुरु मान उसके सामने शस्त्राभ्यास किया था।

एकला*†–वि० [सं० एकल] [स्त्री० एकली] अकेला।

एकलिंग–संज्ञा पु० [सं०] (१) शिव का एक नाम। एक शिव-लिंग जो मेवाड़ के महाराणाओं और गहलौत राजपूतों के प्रधान कुलदेव हैं। (२) कुबेर।

एकलो†–संज्ञा पु० [हिं० एक+ला (प्रत्य०)] ताश वा गंजीफ़े का एक्का।

एकलौता–वि० [सं० एकल=अकेला+पुत्र, प्रा० उत्त] [स्त्री० एकलौती] अपने माँ-बाप का एकही (लड़का)। जिसके और भाई न हों।

एकवचन–संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में वह वचन जिससे एक का बोध होता हो।

एकवाँज–संज्ञा स्त्री० [सं० एक+वंध्या] वह स्त्री जिसे एक बच्चे के पीछे और दूसरा बच्चा न हुआ हो। काकवंध्या।

एकवाक्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऐकमत्य। परस्पर दो या अधिक लोगों के मत का मिल जाना। (२) मीमांसा में दो या अधिक आचार्य्यों, ग्रंथों वा शास्त्रों के वाक्यों वा उनके आशयों का परस्पर मिल जाना।

एकविलोचन–संज्ञा पुं० [स०] बृहत्संहिता के अनुसार पश्चिमोत्तर दिशा का एक देश जो उत्तराषाढ़, श्रवण और धनिष्ठा नक्षत्रों के अधिकार में है।

एकवृंद–संज्ञा पुं० [सं०] गले का एक रोग जिसमें कफ और रक्त के विकार से गले में गिल्टी वा सूजन हो जाती है। इस गिल्टी वा सूजन में दाह और खुजली भी होती है तथा वह पकने पर भी कड़ी रहती है।

एकवेणी–वि० [सं०] (१) जो (स्त्री) शृंगार की रीति से कई चोटियाँ बनाकर सिर न गुँधावे, बल्कि एक ही चोटी बनाकर बालों को किसी प्रकार समेट ले। (२) वियोगिनी। जिसका पति परदेश गया हो। (३) विधवा।

एकशफ–संज्ञा पुं० [सं०] वह पशु जिसके खुर फटे न हों, जैसे घोड़ा, गदहा।

एकश्रुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद पाठ करने का वह क्रम जिसमें उदात्तादि स्वरों का विचार न किया जाय।

एकसठ–वि० [सं० एकषष्ठि, पा० एकसट्ठि] साठ और एक।
संज्ञा पुं० वह अंक जिससे एकसठ की संख्या का बोध हो। ६१।

एकसत्तावाद–संज्ञा पुं० [सं०] दर्शन का एक सिद्धांत जिसमें सत्ता ही प्रधान वस्तु ठहराई गई है। योरप में इस मत का प्रधान प्रवर्त्तक पर्मेडीज़ था। यह समस्त संसार को सत्स्वरूप मानता था। इसका कथन था कि सत् ही नित्य वस्तु है। यह एक अविभक्त और परिमाणशून्य वस्तु है। इसका विभाजक असद् हो सकता है, पर असद् कोई वस्तु नहीं। ज्ञान सत् का होता है, असत् का नहीं। अतः ज्ञान सत्स्वरूप है। सद् निर्विकल्प और अविकारी है, अतः इंद्रियजन्य ज्ञान केवल भ्रम है; क्योंकि इंद्रिय से वस्तु अनेक और विकारी देख पड़ती है। वास्तविक पदार्थ एक सत् ही है। पर मनुष्य अपने मन से असत् की कल्पना कर लेता है। यही सत् और असत् अर्थात् प्रकाश और तम सब संसार का कारण रूप है। यह मत शंकराचार्य्य के मत से बिल्कुल मिलता हुआ है। भेद केवल यही है कि शंकर ने सत् और असत् को ब्रह्म और माया कहा है।

एकसर*†–वि० [हिं० एक+सर (प्रत्य०)] (१) अकेला। (२) एक पल्ले का।
वि० [फ़ा०] एक सिरे से दूसरे सिरे तक। बिल्कुल। तमाम।

एकसाँ–वि० [फ़ा०] (१) बराबर। समान। तुल्य। (२) समथल। हमवार।

एकहत्तर–वि० [सं० एकसप्तति, पा० एकसत्तरि] सत्तर और एक।
संज्ञा पुं० सत्तर और एक की संख्या का बोध करानेवाला अंक जो इस तरह लिखा जाता है—७१।

एकहरा–वि० [सं० एक+हरा (प्रत्य०)] [स्त्री० एकहरी] एक परत का। जैसे एकहरा अंगा।
यौ०—एकहरा बदन=वह शरीर जो मोटा न हो। दुबला पतला शरीर। न मोटानेवाली देह।

एकहरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० एकहरा] कुश्ती का एक पेच।
विशेष—जब विपक्षी सामने खड़ा होकर हाथ मिलाता है, तब खिलाड़ी उसका हाथ पकड़कर अपनी दाहिनी तरफ़ झटका देकर दोनों हाथों से उसकी दाहिनी रान निकाल लेता है।

एकहत्थी–संज्ञा स्त्री० [हिं० एक+हाथ] मालखंभ की एक कसरत। इसमें एक हाथ उलटा कमर पर ले जाते हैं और दूसरे हाथ से पकड़ के ढंग से मालखंभ में लपेट कर उड़ते हैं। कभी कभी कमर पर के हाथ में तलवार या छुरा भी लिए रहते हैं।
यौ०—**एकहत्थी छूट**=मालखंभ की एक कसरत जिसमें किसी तरह की पकड़ करके मालखंभ पर एक ही हाथ की थाप देते हुए कूदते हैं। **एकहत्थी निचली कमान**=मालखंभ की कसरत में कमान उतरने की वह विधि जिसमें खिलाड़ी एक ही हाथ से मालखंभ पकड़ता है। खिलाड़ी का मुँह नीचे की ओर झुकता है और छाती उठी रहती है। **एकहत्थी पीठ की उड़ान**=मालखंभ की एक कसरत जिसमें खिलाड़ी मालखंभ को एक बगल में दबाकर दूसरा हाथ पीछे की ओर से ले जाकर दोनों हाथ बाँध कर पीठ के बल उलटा उड़ता है और उलटी सवारी बाँधता है।

एकहत्थी हुलूक–संज्ञा पुं० [?] कुश्ती का एक पेंच।
विशेष—विपक्षी जब बगल में आता है, तब खिलाड़ी अपने उस बगल के हाथ को उसकी गर्दन में लपेटता है और दूसरे हाथ से उस हाथ को तानते हुए गरदन दबाकर बगली टाँग से उसे चित करता है।

एकहाव–संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य का एक भेद। एक प्रकार का नाच।

एकांग–वि० [सं०] एक अंग का। जिसे एक अंग हो।
संज्ञा पुं० (१) बुध ग्रह। (२) चंदन।

एकांगी–वि० [सं०] (१) एक ओर का। एक पक्ष का। एकतरफ़ा। जैसे एकांगी प्रीति। उ०—चंद की चाह चकोर मरै अरु दीपक चाह जरै जो पतंगी। ये सब चाहैं, इन्हैं नहिं कोऊ, सो जानिए प्रीति की रीति एकंगी। (२) एक ही पक्ष पर अड़नेवाला। हठी। जिद्दी। (३) एक ओषधि जो कड़वी, शीतल और स्वादिष्ट होती है। यह पित्त, वात, ज्वर, रुधिर-दोष आदि को नष्ट करती है।

एकांत–वि० [सं०] (१) अत्यंत। बिल्कुल। नितांत। अति। (२) अलग। पृथक्। अकेला।
संज्ञा पुं० [सं०] निर्जन स्थान। निराला। सूना स्थान।
यौ०—एकांतकैवल्य। एकांतवास।

एकांतकैवल्य–संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ति का एक भेद। जीवनमुक्ति।

एकांतता–संज्ञा स्त्री० [सं०] अकेलापन। तनहाई।

एकांतवास–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० एकांतवासी] निर्जन स्थान में रहना। अकेले में रहना। सब से न्यारे रहना।

एकांतवासी–वि० [सं० एकांतवासिन्] [स्त्री० एकांतवासिनी] निर्जन स्थान में रहनेवाला। अकेले में रहनेवाला। सबसे न्यारा रहनेवाला।

एकांतस्वरूप–वि० [सं०] असंग। निर्लिप्त।

एकांतिक–वि० [सं०] जो एक ही स्थल के लिये हो। जिसका व्यवहार एक से अधिक स्थानों वा अवसरों पर न हो सके। जो सर्वत्र न घटे। एकदेशीय। जैसे,—एकांतिक नियम।

एकांती–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का भक्त जो भगवत्प्रेम को अपने अंतःकरण में रखता है, प्रकट नहीं करता फिरता।

एका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

संज्ञा पुं० [सं० एक] ऐक्य । एकता । मेल । अभिसंधि । जैसे,—(क) उन लोगों में बड़ा एका है । (ख) उन्होंने एका करके माल का लेना ही बंद कर दिया ।

एकाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० एक+आई (प्रत्य०)] (१) एक का भाव । एक का मान । (२) वह मात्रा जिसके गुणन वा विभाग से और दूसरी मात्राओं का मान ठहराया जाता है; जैसे किसी लंबी दीवार को मापने के लिये कोई लंबाई ले ली और उसका नाम गज़, फुट इत्यादि रख लिया । फिर उस लंबाई को एक मानकर जितनी गुनी दीवार होगी, उतने ही गज़ वा फुट लंबी वह कही जायगी । (३) अंकों की गिनती में पहले अंक का स्थान । (४) उस स्थान पर लिखा हुआ अंक ।

विशेष—अंकों के स्थान की गिनती दाहिनी ओर से चलती है; जैसे—हज़ार, सैकड़ा, दहाई, एकाई ।

० ० ० ०

एक स्थान पर केवल ९ तक की संख्या लिखी जा सकती है । संख्या के अभाव में शून्य रक्खा जाता है; जैसे १० । इसका अभिप्राय यह है कि इस संख्या के केवल एक दहाई (अर्थात् दस है) और एकाई के स्थान पर कुछ नहीं है । इसी प्रकार १०५ लिखने से यह अभिप्राय है कि इस संख्या में एक सैकड़ा, शून्य दहाई और पाँच एकाई है ।

एकाएक–क्रि० वि० [हिं० एक] अकस्मात् । अचानक । सहसा ।

एकाएकी†*–क्रि० वि० [हिं० एक] अकस्मात् । सहसा । अचानक । एकाएक ।

वि० [सं० एकाकी] अकेला । तनहा । उ०—एकाएकी रमै अवनि पर दिल का दुविधा खोइबे । कहै कबीर अलमस्त फ़कीरा आप निरंतर सोइबे ।—कबीर ।

एकाकार–संज्ञा पुं० [सं०] मिल मिलाकर एक होने की क्रिया । एकमय होना । भेद का अभाव । जैसे,—वहाँ सर्वत्र एकाकार है, जाति पाँति कुछ नहीं है ।

एकाकी–वि० [सं० एकाकिन्] [स्त्री० एकाकिनी] अकेला । तनहा ।

एकाक्ष–वि० [सं०] [स्त्री० एकाक्षी] जिसे एक ही आँख हो । काना ।

यौ०—एकाक्ष रुद्राक्ष=वह रुद्राक्ष जिसमें एक ही आँख वा बिंदी हो । एकमुखी रुद्राक्ष ।

संज्ञा पुं० (१) कौआ । (२) शुक्राचार्य्य ।

एकाक्ष पिंगल–संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर ।

एकाक्षरी–वि० [सं० एकाक्षरिन्] एक अक्षर का । जिसमें एक ही अक्षर हो । एक अक्षर-वाला । जैसे,—एकाक्षरी मंत्र ।

यौ०—एकाक्षरी कोश=वह कोश जिसमें अक्षरों के अलग अलग अर्थ दिए हों; जैसे, "अ" से वासुदेव, "इ" से कामदेव इत्यादि ।

वि० एक आकार का । समान रूप का । मिल जुल कर एक ।

एकाग्र–वि० [सं०] [संज्ञा एकाग्रता] (१) एक ओर स्थिर । चंचलतारहित । (२) जिसका ध्यान एक ओर लगा हो । अनन्यचित्त ।

यौ०—एकाग्रचित्त ।

एकाग्रचित्त–वि० [सं०] जिसका ध्यान बँधा हो । जिसका मन इधर उधर न जाता हो, एक ही ओर लगा हो । स्थिरचित्त ।

एकाग्रता–संज्ञा स्त्री० [सं०] चित्त का स्थिर होना । अचंचलता ।

एकात्मता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एकता । अभेद । (२) मिल मिलाकर एक होना । एकमय होना ।

एकादश–वि० [सं०] ग्यारह ।

संज्ञा पुं० ग्यारह की संख्या का बोध करानेवाला अंक ।

एकादशाह–संज्ञा पुं० [सं०] मरने के दिन से ग्यारहवाँ दिन ।

विशेष—इस दिन हिंदू मृतक के लिये वृषोत्सर्ग करते हैं, महाब्राह्मण खिलाते हैं, शय्यादान देते हैं इत्यादि ।

एकादशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रत्येक चांद्रमास के शुक्ल और कृष्ण पक्ष की ग्यारहवीं तिथि । वैष्णव मत के अनुसार एकादशी के दिन अन्न खाना दोष है । इस दिन लोग अनाहार वा फलाहार व्रत करते हैं । व्रत के लिये दशमी-विद्धा एकादशी का निषेध है और द्वादशी-विद्धा ही ग्राह्य है । वर्ष में चौबीस एकादशियाँ होती हैं जिनके नाम अलग अलग हैं; जैसे—भीमसेनी, प्रबोधिनी, उत्पन्ना इत्यादि ।

एकाधिपत्य–संज्ञा पुं० [सं०] एकमात्र अधिकार । पूर्ण प्रभुत्व ।

एकायन–वि० [सं०] (१) एकाग्र । (२) एकमात्र गमनयोग्य । जिसको छोड़ और किसी पर चलने लायक न हो (मार्ग आदि) ।

संज्ञा पुं० [सं०] नीतिशास्त्र ।

एकार्थ–वि० [सं०] समान अर्थवाला ।

एकार्थक–वि० [सं०] समानार्थक ।

एकावली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक अलंकार जिसमें पूर्व और पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर वस्तुओं का विशेषण भाव से स्थापन अथवा निषेध दिखलाया जाय । इसके दो भेद हैं । पहला वह जिसमें पूर्वकथित वस्तुओं के प्रति उत्तरोत्तर कथित वस्तु का विशेषण भाव से स्थापन किया जाय । जैसे—सुबुद्धि सो जो हित आपनो लखै, हितौ वही है पर दुःख ना जहाँ । परो वहै आश्रित साधु भाव जो, जहाँ रहैं केशव साधुता वही । यहाँ "सुबुद्धि" का विशेषण "हित आपनो लखै" और "हित" का "पर दुःख ना जहाँ" रक्खा गया है । दूसरा वह जिसमें पूर्वकथित वस्तु के प्रति उत्तरोत्तरकथित वस्तु का विशेषण भाव से निषेध किया जाय । जैसे—शोभित सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जो पढ़े कछु नाहीं । ते न पढ़े जिन साधु न साधत, दीह दया न दिखै जिन माहीं । सो न दया जु न धर्म धरै, धर धर्म न सो जहँ दान वृथाहीं ।

दान न सो जहँ माँच न केशव, साँच न सो जु बसै छल छाहीं। (२) एक छंद। दे० "पंकज-वाटिका"।

वि० एक लर का। एकहरा।

एकाह-वि० [सं०] एक दिन में पूरा होनेवाला। जैसे,—एकाह पाठ।

एकाहिक-वि० [सं०] एक दिन का। एक दिन में पूरा होनेवाला।

एकीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० एकीकृत] एक करना। मिला कर एक करना। गड्डबड्ड करना।

एकीकृत-वि० [सं०] एक किया हुआ। मिलाया हुआ।

एकीभाव-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० एकीभूत] (१) मिलना। मिलाव। एक होना। (२) एकत्र होना। एकट्ठा होना।

एकीभूत-वि० [सं०] (१) मिला हुआ। मिश्रित। जो मिलकर एक हो गया हो। (२) जो इकट्ठा हुआ हो।

एकेंद्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सांख्य शास्त्र के अनुसार उचित और अनुचित दोनों प्रकार के विषयों से इंद्रियों को हटा कर उन्हें अपने मन में लीन करना। (२) जैनमतानुसार वह जीव जिसके केवल एक ही इंद्रिय अर्थात् त्वचामात्र होती है। जैसे, जोंक, केंचुआ आदि।

एकोतरसो-वि० [सं० एकोत्तर शत] एक सौ एक।

एकोतरा-संज्ञा पुं० [सं० एकोत्तर] एक रुपया सैकड़ा ब्याज।

वि० एक दिन अंतर देनेवाला। जैसे,—एकोतरा ज्वर।

एकोद्दिष्ट (श्राद्ध)-संज्ञा पु० [सं०] वह श्राद्ध जो एक के उद्देश से किया जाय। यह प्रायः वर्ष में एक बार किया जाता है।

एकौझा*†-वि० [सं० एक] अकेला। एकाकी। उ०—जो देवपाल राउ रन गाजा। मोहिं तोहिं जूझ एकौझा राजा।—जायसी।

एकौतना†-क्रि० अ० [हिं० एक+पत्ता] धान या गेहूँ में उस पत्ते का निकलना जिसके गाभ में बाल हो। धान आदि का फूटनेपर आना। गरभाना।

एक्का-वि० [हिं० एक+का (प्रत्य०)] (१) एकवाला। एक से संबंध रखनेवाला। (२) अकेला।

यौ०—एक्का दुक्का=अकेला दुकेला।

संज्ञा पुं० (१) वह पशु वा पक्षी जो झुंड छोड़कर अकेला चरता वा घूमता हो।

विशेष—इसका व्यवहार उन पशुओं वा पक्षियों के संबंध में होता है जो स्वभाव से झुंड बाँध कर रहते हैं, जैसे, एक्का सूअर, एक्का मुर्ग़।

(२) एक प्रकार की दो पहिए की गाड़ी जिसमें एक बैल या घोड़ा जोता जाता है। (३) वह सिपाही जो अकेले बड़े बड़े काम कर सकता है और जो किसी कठिन समय में भेजा जाता है। (४) फ़ौज में वह सिपाही जो प्रति दिन अपने कमान अफ़सर के पास तुमन (फ़ौज) के लोगों की रिपोर्ट करे। (५) बड़ा भारी मुगदर जिसे पहलवान दोनों हाथों से उठाते हैं। (६) बाँह पर पहनने का एक गहना जिसमें एक ही नग होता है। (७) वह बैठकी या शमादान जिसमें एक ही बत्ती जलाई जाती है। (८) ताश या गंजीफ़े का वह पत्ता जिसमें एकही बूटी वा चिह्न हो। एक्की।

एक्कावान-संज्ञा पु० [हिं० एक्का+वान् (प्रत्य०)] [संज्ञा एक्कावानी] एक्का हाँकनेवाला। वह पुरुष जो एक्का चलाता है।

एक्कावानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० एक्कावान] (१) एक्का हाँकने का काम। (२) एक्का हाँकने की मजदूरी।

एक्की-संज्ञा स्त्री० [हिं० एक] (१) वह बैलगाड़ी जिसमें एक ही बैल जोता जाय। (२) ताश वा गंजीफ़े का वह पत्ता जिसमें एक ही बूटी हो। यह पत्ता प्रायः सबसे प्रबल माना जाता है और अपने रंग के सब पत्तों को मार सकता है।

एक्यानबे-वि० [सं० एकनवति, प्रा०, एक्काणउइ] नब्बे और एक। संज्ञा पुं० नब्बे और एक की संयुक्त संख्या का बोध करानेवाला अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—९१।

एक्यावन-वि० [सं० एकपंचाश, प्रा० एक्कावन्न] पचास और एक। संज्ञा पुं० पचास और एक की संख्या का बोधक अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—५१।

एक्यासी-वि० [सं० एकाशीत, प्रा० एक्कासि] अस्सी और एक। संज्ञा पु० एक और अस्सी की संख्या का बोधक अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—८१।

एक्सचेंज-संज्ञा पुं० [अं०] (१) बदला। (२) वह स्थान जहाँ नगर के व्यापारी और महाजन परस्पर लेन देन वा क्रय विक्रय के लिये इकट्ठे होते हैं।

एक्स पोज़-संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी वस्तु को इसलिये दूसरी वस्तु के सामने वा निकट रखना जिसमें उस पर उस दूसरी वस्तु का प्रभाव पड़े। (२) फ़ोटोग्राफ़ी में प्लेट को क्यामरे में लगाकर अक्स लेने के लिये लेंस का मुँह खोलना।

एख़नी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मांस का रसा। मांस का शोरबा।

यौ०—एख़नीपुलाव=वह पुलाव जिसमें एख़नी डालते हैं।

एगानगी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) एका। मेल। (२) मित्रता। मैत्री। हेलमेल।

एजेंट-संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह आदमी जो किसी की ओर से उसका कोई काम करता हो। मुख़तार। (२) वह आदमी जो किसी कोठी, कारख़ाने या व्यापारी की ओर से माल बेचने या ख़रीदने के लिये नियुक्त हो।

एजेंसी-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) आढ़त। वह स्थान जहाँ किसी कारख़ाने या कंपनी का माल एजेंट के द्वारा बिकता हो। (२) वह स्थान जहाँ एजेंट वा गुमाश्ते किसी कंपनी वा कारख़ाने के लिये माल ख़रीदते हों।

एड़-संज्ञा स्त्री० [सं० एड्रूक=हड्डी या हड्डी की तरह कड़ा] **टखनी के पीछे पैर की गद्दी का निकला हुआ भाग। एड़ी।**

क्रि० प्र०—देना।—मारना।—लगाना।

मुहा०—एड़ करना=(१) एड़ लगाना। (२) चल देना। रवाना होना। **एड़ देना वा लगाना**=(१) लात मारना। (२) घोड़े को आगे बढ़ाने के लिये एड़ से मारना। (घोड़े को) आगे बढ़ाना। (३) उभाड़ना। उकसाना। उत्तेजित करना। (४) चलते हुए काम में बाधा डालना। अड़ंगा लगाना।

एड़क-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० एड़का] **भेड़ा। मेढ़ा।**

एड़गज-संज्ञा पुं० [सं०] **चकवँड़।**

एडिटर-संज्ञा पुं० [अं०] **किसी पत्र वा पुस्तक को ठीक करके उसे प्रकाशित करने योग्य बनानेवाला। संपादक।**

एडिटरी-संज्ञा स्त्री० [अं० एडिटर+ई (प्रत्य०)] **संपादन। किसी ग्रंथ वा पत्र को प्रकाशित करने के लिए ठीक करने का काम।**

एड़ी-संज्ञा स्त्री० [अं० एड्रूक=हड्डी वा हड्डी की तरह कड़ा] **टखनी के पीछे पैर की गद्दी का निकला हुआ भाग। एड़।**

मुहा०—एड़ी घिसना वा रगड़ना=(१) एड़ी को मल मल कर धोना। **उ०—मुख धोवति एड़ी घसति हँसति अनँगवति तीर।—बिहारी।** (२) रौंधना। बहुत दिनों से क्लेश वा दुःख में पड़े रहना। कष्ट उठाना। **जैसे,—वे महीनों से चारपाई पर पड़े एड़ियाँ घिस रहे हैं।** (३) खूब दौड़ धूप करना। अंगतोड़ परिश्रम करना। अत्यंत यत्न करना। **जैसे,—व्यर्थ एड़ियाँ घिस रहे हो; कुछ होने जाने का नहीं। एड़ी चोटी पर से वारना**=सिर और पाँव पर से न्योछावर करना। तुच्छ समझना। नाचीज समझना। कुछ क़दर न करना। **(स्त्रि०)। जैसे,—(क) ऐसों को तो मैं एड़ी चोटी पर वार दूँ। उ०—एड़ी चोटी पै मुए देव को कुरबान करूँ।—इंदर-सभा। एड़ी देख**=चश्मबद्दूर। तेरी आँख में राई लोन। **(जब कोई ऐसी बात कहता है जिससे बच्चे को नज़र वा भूत प्रेत लगने का डर होता है, तब स्त्रियाँ यह वाक्य बोलती हैं।) एड़ी से चोटी तक**=सिर से पैर तक।

एडीकांग-संज्ञा पुं० [अं०] **वह कर्मचारी जो सेना के प्रधान सेनापति की आज्ञा का प्रचार करता हो और काम पड़ने पर उसकी ओर से पत्र व्यवहार भी करता हो। एडीकांग प्रधान शरीररक्षक का काम भी करता है।**

एड्रेस-संज्ञा पुं० दे० "अड्रेस"।

एढ़ा*-वि० [सं० आढ्य] **बलवान। बली।—डिं०।**

एण-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० एणी] **हिरन की एक जाति जिसके पैर छोटे और आँखें बड़ी होती हैं। यह काले रंग का होता है। कस्तूरी मृग।**

यौ०—एणतिलक। एणभृत=चंद्रमा।

एतक़ाद-संज्ञा पुं० [अ०] **विश्वास। भरोसा।**

क्रि० प्र०—जमना।

एतद्-सर्व० [सं०] **यह।**

विशेष—इसका प्रयोग यौगिक वा समस्त पद बनाने ही में अधिक होता है; जैसे—एतद्देशीय, एतद्विषयक।

एतदर्थ-क्रि० वि० [सं०] (१) इसके लिये। **इसके हेतु।** (२) **इसलिए। इस हेतु।**

एतद्देशीय-वि० [सं०] **इस देश से संबंध रखनेवाला। इस देश का।**

एतदाल-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० मुअतदिल] (१) **बराबरी। समता। न कमी, न अधिकता।** (२) **फ़ारसी के मुक़ाम नामक राग का पुत्र।**

एतबार-संज्ञा पुं० [अ०] **विश्वास। प्रतीति। साख।**

क्रि० प्र०—करना।—मानना।—होना।

मुहा०—किसी का एतबार उठना=किसी के ऊपर से लोगों का विश्वास हटना। किसी का अविश्वास होना। **जैसे,—उनका एतबार उठ गया है; इससे उन्हें कहीं उधार भी नहीं मिलता। एतबार खोना**=अपने ऊपर से लोगों का विश्वास हटाना। **उ०—तुमने अपनी चाल से अपना एतबार खो दिया। एतबार जमना**=विश्वास उत्पन्न होना।

एतराज़-संज्ञा पुं० [अ०] **विरोध। आपत्ति।**

एतवार-संज्ञा पुं० दे० "**इतवार**"।

एतवारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० इतवार] (१) **वह दान जो रविवार को दिया जाता है।** (२) **पैसा जो मदरसों के लड़के प्रति रविवार को गुरुजी वा मौलवी साहब को देते हैं।**

एता*†-वि० [सं० इयत्] [स्त्री० एती] **इस मात्रा का। इतना।** उ०—**(क) तनक दधि कारण यशोदा एत कहा रिसाहीं।—सूर। (ख) दादू परदा पलक का एता अंतर होइ। दादू बिरही राम बिनु क्यों करि जीवइ सोइ।—दादू।**

एतादृश-वि० [सं०] **इसके समान। ऐसा।**

एतिक*†-वि० स्त्री० [हिं० एती+एक] **इतनी।**

एनस-संज्ञा पुं० [सं० एनस्] (१) **पाप।** (२) **अपराध।**

एनी-संज्ञा पुं० [देश०] **एक बहुत बड़ा पेड़ जो दक्षिण में पश्चिमी घाट पर होता है। इसकी लकड़ी मकानों में लगती है तथा असबाब बनाने के काम में आती है। इसके हीर की लकड़ी मज़बूत और कुछ पीलापन लिये हुए भूरी होती है। एनी ही का एक दूसरा भेद डील है जिसकी लकड़ी चमकदार होती है तथा जिसके बीज और फल कई तरह से खाए जाते हैं।**

एबा-संज्ञा पुं० दे० "आबा"

एमन-संज्ञा पुं० [सं० यवन, फ़ा० यमन] **संपूर्ण जाति का एक राग जो कल्याण और केदारा राग के मिलाने से बना है। इसमें तीव्र मध्यम स्वर लगता है और यह रात के पहले पहर में गाया**

जाता है। इसको लोग श्रीराग का पुत्र मानते हैं। कोई इसे कौआली के ठेके से बजाते हैं और कोई झपताल के।

यौ०—एमनकल्याण। एमनचौताल। एमनधमार। एमनरूपक।

एरंड–संज्ञा पुं० [सं०] रेंड। रेंड़ी।

एरंड खरबूजा–संज्ञा पुं० [सं० एरंड+हिं० खरबूजा] पपीता। रेंड खरबूजा।

एरंड सफ़ेद–संज्ञा पुं० [सं० एरंड+हिं० सफ़ेद] मोगली। बागबरेंडा।

एरंडा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिप्पली।

एरंडी–संज्ञा स्त्री० [सं० एरंड] एक झाड़ी जो सुलेमान पर्वत और पश्चिमी हिमालय के ऊपर ६००० फुट तक की ऊँचाई पर होती है। इसकी छाल, पत्ती और लकड़ियाँ चमड़ा सिझाने के काम में आती हैं। इसे तुंगा, आमी वा दरेंगड़ी भी कहते हैं।

एरफेर†–संज्ञा पुं० दे० "हेरफेर"।

एराक–संज्ञा पुं० [अ०] [वि० एराकी] (१) फ़ारसी संगीत के अनुसार बारह मुक़ामों या स्थानों में से एक। (२) अरब देश का एक प्रदेश जहाँ का घोड़ा अच्छा होता है।

एराकी–वि० [फ़ा०] एराक देश का। एराक का।

संज्ञा पुं० वह घोड़ा जिसकी नस्ल एराक देश की हो। यह अच्छी जाति के घोड़ों में गिना जाता है।

एराफ़–संज्ञा पुं० [अ० एराफ़=स्वर्ग और नरक के बीच का स्थान] जहाज़ का पेंदा। (लश०)

एराब–संज्ञा पुं० [अ० एराफ़] जहाज़ का पेंदा।

एल–संज्ञा पुं० [अं०] कपड़े की एक नाप जो ४५ इंच की होती है। इससे अधिकतर विलायती रेशमी कपड़े (जैसे मख-मल आदि) नापे जाते हैं।

एलक†–संज्ञा पुं० [सं० एलक=भेड़। भेड़ के चमड़े का बना हुआ] (१) चलनी जिसमें आटा चालते हैं। (२) मैदा चालने का आखा।

एलकेशी–संज्ञा स्त्री० [सं० एला+केश] एक तरह का बैंगन जो बंगाल में होता है।

एलची–संज्ञा पुं० [तु०] वह जो एक राज्य का सँदेसा लेकर दूसरे राज्य में जाता है। दूत। राजदूत।

एलचीगरी–संज्ञा पुं० [फ़ा०] दौत्य। दूत कर्म।

एलविल–संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर।

एला–संज्ञा स्त्री० [सं० मला० एलाम्] (१) इलायची। (२) शुद्धराग का एक भेद।

एलुवा–संज्ञा पुं० [अ०] मुसब्बर।

एल्क–संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का बहुत बड़ा बारहसिंहा जो युरोप और एशिया में मिलता है। इसे थूथन होता है। इसकी गरदन इतनी छोटी होती है कि यह ज़मीन पर की घास आराम से नहीं चर सकता। यह पेड़ की पत्तियाँ और डालियाँ खाता है। इसकी टाँगें चलते समय छितरा जाती हैं और यह न हिरन की तरह दौड़ सकता है और न कूद सकता है। इसकी घ्राणशक्ति बहुत तीव्र होती है।

एवं–क्रि० वि० [सं०] ऐसा ही। इसी प्रकार।

यौ०—एवमस्तु=ऐसा ही हो।

विशेष—इस पद का प्रयोग प्रार्थना को स्वीकार करने वा माँगा हुआ बरदान देने के समय होता है।

अव्य० ऐसे ही और। इसी प्रकार और।

एव–अव्य० [सं०] (१) एक निश्चयार्थक शब्द। ही। (२) भी।

एवज़–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बदला। प्रतिफल। प्रतिकार। (२) परिवर्त्तन। बदला।

क्रि० प्र०—देना।—मिलना।—लेना।

(३) दूसरे की जगह पर कुछ काल तक के लिये काम करनेवाला आदमी। स्थानापन्न पुरुष।

एवज़ी–संज्ञा पुं० [फ़ा०] दूसरे की जगह पर कुछ काल के लिये काम करनेवाला आदमी। स्थापनापन्न पुरुष।

एशिया–संज्ञा पुं० [यू०, यह शब्द इबरानी शब्द अशु से निकला है जिसका अर्थ है "वह दिशा जिधर से सूर्य्य निकले" अर्थात् पूर्व] पाँच बड़े भूखंडों में से एक भूखंड जिसके अंतर्गत भारतवर्ष, फ़ारस, चीन, ब्रह्मा इत्यादि अनेक देश हैं।

एशियाई–वि० [यू० एशिया] एशिया का। एशिया संबंधी।

यौ०—एशियाई रूम। एशियाई रूस।

एषण–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० एषणीय, एषतव्य] इच्छा। आकांक्षा। अभिलाषा।

एषणासमिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों में ४२ दोषरहित वस्तुओं के आहार का नियम। दूषणरहित आहार का ग्रहण।

एसिड–संज्ञा पुं० [अं०] तेज़ाब। द्राव।

एसीवादी–संज्ञा पुं० [प्रा०] वाणव्यंतर नामक देवगण के अंतर्गत एक देवता (जैन)।

एस्परांटो–संज्ञा स्त्री० [अं०] युरोप में प्रचलित एक नवीन कल्पित भाषा।

एह*–सर्व० [सं० एषः] यह। उ०—एक जन्म कर कारण एहा। जेहि लगि राम धरी नर-देहा।—तुलसी।

वि० यह।

एहतमाम–संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रबंध। (२) निरीक्षण।

एहतियात–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) सावधानी। होशियारी। चौकसी। बचाव। (२) परहेज़।

एहसान–संज्ञा पुं० [अ०] वह भाव जो उपकार करनेवाले के प्रति होता है। कृतज्ञता। निहोरा।

एहसानमंद–वि० [अ०] निहोरा माननेवाला। उपकार माननेवाला। कृतज्ञ।

एहि–सर्व० "एह" का वह रूप जो उसे विभक्ति के पहले प्राप्त होता है।

एहो–अव्य० [हिं० हे, हो] संबोधन शब्द। हे, ऐ।

ऐ

ऐ–संस्कृत वर्णमाला का बारहवाँ और हिंदी वा देवनागरी वर्णमाला का नवाँ स्वर वर्ण । इसका उच्चारण स्थान कंठ और तालु है। हिंदी में इसका उच्चारण दो ढंग से होता है। संस्कृत शब्दों में तो ऐ का उच्चारण संस्कृत के अनुसार ही कुछ "इ" लिए हुए "अइ" के ऐसा होता है, जैसे ऐरावत। पर हिंदी शब्दों में इसका उच्चारण "य" लिए "अय" की तरह होता है; जैसे ऐसा। यह प्रवृत्ति पच्छिम की है। पूरब की प्रांतिक बोलियों में "ऐसा" में "ऐ" का उच्चारण संस्कृत ही की तरह रहता है।

ऐं–अव्य० (१) एक अव्यय जिसका प्रयोग अच्छी तरह न सुनी वा समझी हुई बात को फिर से कहलाने के लिये होता है; जैसे—"ऐं,—क्या कहा? फिर तो कहो"। (२) एक अव्यय जिस से आश्चर्य सूचित होता है, जैसे,—ऐं! यह क्या हुआ?

ऐंचना–क्रि० स० [हिं० खींचना, पू० हिं० हींचना] (१) खींचना। तानना। उ०—(क) नीलांबर पट ऐंचि लियो हरि मनु बादर ते चाँद उतार्‍यो।—सूर। (ख) रह्यो ऐंचि अंत न लह्यो, अवधि दुसासन बीर। आली बाढ़त बिरह ज्यों पाँचाली को चीर।—बिहारी। (२) अपने ज़िम्मे लेना। जिसका रुपया अपने यहाँ बाक़ी हो, उसका क़र्ज़ अपने जिम्मे लेना। ओढ़ना। ओटना। जैसे,—अब आप इनसे अपने रुपये का तक़ाज़ा न करें। मैं उसे अपनी ओर ऐंच लेता हूँ।† (३) अनाज को भूसी अलग करने के लिये फटकारना।

ऐंचाताना–वि० [हिं० ऐंचना+तानना] जिसकी पुतली ताकने में दूसरी ओर को खिंचती हो। जो देखने में उधर ताकता हुआ नहीं जान पड़ता जिधर वह वास्तव में ताकता है। भेंगा। उ०—सौ में फुली सहस में काना। सवा लाख में ऐंचाताना।

ऐंचातानी–संज्ञा स्त्री० [हिं० ऐंचना+तानना] खींचा खींची। घसीटा घसीटी। अपनी अपनी ओर लेने का प्रयत्न। अपने अपने पक्ष का आग्रह।

ऐंछना*–क्रि० स० [सं० उञ्छन=चुनना] (१) झाड़ना। साफ़ करना। (२) (बालों में) कंघी करना। ऊँछना। उ०—भोरहिं मातु उठावति लालन संबल कछुक खवाई। पोंछि शरीर, ऐंछि कारे कच भूषन पट पहराई।—रघुराज।

ऐंठ–संज्ञा पुं० [हिं० ऐंठन] (१) अहंकार की चेष्टा। अकड़। ठसक। (२) गर्व। घमंड।

क्रि० प्र०—करना।—दिखलाना।

(३) कुटिल भाव। द्वेष। विरोध।

क्रि० प्र०—पड़ना।—रखना।

ऐंठन–संज्ञा स्त्री० [सं० आवेष्ठन, पा० आवेट्ठन] (१) वह स्थिति जो रस्सी वा उसी प्रकार की और लचीली चीज़ को लपेटने वा मरोड़ने से उसे प्राप्त होती है। घुमाव। लपेट। पेच। मरोड़। बल। उ०—रस्सी जल गई, पर ऐंठन नहीं गई।

यौ०—उलटी ऐंठन=वह ऐंठन जिसका घुमाव दाहिनी ओर से बाईं ओर को हो। सीधी ऐंठन=वह ऐंठन जो बाएँ से दाहिने गई हो।

(२) खिंचाव। अकड़ाव। तनाव। (३) कुंडिल। तशन्नुज।

ऐंठना–क्रि स० [स० आवेष्ठन, पा० आवेट्ठन] (१) घुमाव देना। बटना। बल देना। मरोड़ना। घुमाव के साथ तानना वा कसना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

यौ०—ऐंठे की बेल=पत्थर के खंभे पर बनी हुई वह बेल जो उसके चारों ओर लिपटी हो।

(२) दबाव डालकर वसूल करना।

संयो० क्रि०—लेना।

(३) धोखा देकर लेना। झँसना।

संयो० क्रि०—रखना।—लेना।

क्रि अ० (१) बल खाना। पेच खाना। खिंचना। घुमाव के साथ तनना। (२) तनना। खिंचना। अकड़ना। जैसे,—हाथ पाँव ऐंठना।

मुहा०—पेट ऐंठना=पेट वा आँतों मे मरोड़ वा दर्द होना। † (३) मरना। (४) अकड़ दिखाना। घमंड करना। इतराना। उ०—अब भरि जनम सहेलिया तकब न ओहि। ऐंठल गौ अभिमनिया तजि के मोहिं।—रहीम। (५) टेढ़ी सीधी बातें करना। टर्राना। उ०—अँखियन तब ते बैर धर्‍यो। जब हम हरकति हरिदरसन को सो रिसि नहिं बिसर्‍यो। तब ही ते उन हमहीं भुलाई गईं उतही को धाई। अब तो तरकि तरकि ऐंठति है लेनी लेति बनाई।—सूर

ऐंठवाना–क्रि० स० [हिं० ऐंठना का प्रे० रूप] ऐंठने की क्रिया दूसरे से करवाना।

ऐंठा–संज्ञा पु० [हिं० ऐंठना] (१) रस्सी बटने का एक यंत्र।

विशेष—इस में एक लकड़ी होती है जिसके बीचो बीच एक छेद होता है। इस छेद में एक लट्टूदार लकड़ी पड़ी रहती है। लकड़ी के एक छोर से दूसरे छोर तक एक ढीली रस्सी बँधी रहती है जिसके बीच में बटी जानेवाली रस्सी बाँध दी जाती है। लकड़ी के एक छोर पर लंगर बँधा रहता है। छेद में पड़ी हुई लकड़ी को घुमाने से बिनी जानेवाली रस्सी में ऐंठन पड़ती जाती है।

(२) घोंघा।

ऐंठाना–क्रि० स० [ऐंठना का प्रे० रूप] ऐंठने की क्रिया दूसरे से करवाना। ऐंठवाना।

ऐँठू-वि० [हिं० ऐँठना] अकड़बाज़। ऐँठ रखनेवाला। अभिमानी। टर्रा।

ऐँड़-संज्ञा पुं० [हिं० ऐँठ] (१) ऐँठ। ठसक। गर्व। उ०—(क) रँगी सुरति रँग पिय हिये लगी जगी सब राति। पैंड़ पैंड़ नर ठठकि कै, ऐँड़ भरी ऐँड़ाति।—बिहारी। (ख) दिल्लि दलन, दक्खिन दिसि थंमन, ऐँड़ धरन शिवराज विराजै।—भूषण। (२) पानी का भँवर।

वि० निकम्मा। नष्ट।

यौ०—ऐँड़ हो जाना=निकम्मा हो जाना। नष्ट भ्रष्ट हो जाना। टूट फूट जाना। गया बीता होना।

ऐँड़दार-वि० [हिं० ऐँड़+फ़ा० दार] (१) ठसकवाला। गर्वीला। घमंडी। उ०—जेते ऐँड़दार दरबार सरदार सब ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भो।—मतिराम। (२) शानदार। बाँका। तिरछा। उ०—सखा सरदार ऐँड़दार सोहैं संग संग करैं सतकार पुर जन सुख हेतु हैं।—रघुराज।

ऐँड़ना-क्रि० अ० [हिं० ऐँठना] (१) ऐँठना। बल खाना। (२) अँगड़ाना। अँगड़ाई लेना। (३) इतराना। घमंड करना। उ०—धन जोबन मद ऐँड़ो ऐँड़ो ताकत नारि पराई। लालच लुब्ध श्वान जूठन ज्यों सोऊ हाथ न आई।—सूर।

मुहा०—ऐँड़ा ऐँड़ा फिरना वा डोलना=इतराया फिरना। घमंड से फूलकर घूमना। उ० जिन पै कृपा करी नँदनंदन सो ऐँड़ो काहे नहिं डोलै।—सूर।

क्रि० स० (१) ऐँठना। बल देना। (२) बदन तोड़ना। अँगड़ाना। उ०—ब्रजवासी सब सोवत पाए। ऐँड़त अंग जम्हात बदन भरि कहत सबै यह बानी।—सूर।

ऐँड़बैँड़*-वि० [हिं० बैंड़ी+ऐंड़ी (अनु०)] टेढ़ा। तिरछा। उ०—ऐँड़ सो ऐँड़ाइ अति अंचल उड़ाई ऐसी छाँड़ि ऐँड़ बैंड़ चितवन निरमोलिए।—केशव।

ऐँड़ा-वि० [हिं० ऐँड़ना] [स्त्री० ऐँड़ी] टेढ़ा। ऐँड़ा हुआ।

मुहा०—अंग ऐँड़ा करना=ऐँठ दिखाना। बेपरवाई और घमंड दिखाना। उ०—यह ग्वारन को गाँव बात नहिं सूधे बोलैं। बसैं पसुन के संग अंग ऐँड़े करि डोलैं।—दीनदयाल।

संज्ञा पुं० [सं० आढ़क] (१) बाट। बटखरा। अँहड़ा। (२) सेंध।

ऐँड़ाना-क्रि० अ० [हिं० ऐँड़ना] (१) अँगड़ाना। अँगड़ाई लेना। बदन तोड़ना। उ०—(क) कबहूँ श्रुति कुंडन करैं आरस सों ऐँड़ाय। केशवदास विलाससों बार बार जमुहाय।—केशव। (ख) रँगी सुरति रँग पिय हिये लगी जगी सी राति। पैंड़ पैंड़ पर ठठकि कै, ऐँड़ि भरी ऐँड़ाति।—बिहारी। (२) इठलाना। अकड़ दिखाना। बल दिखाना। उ०—ज्यों सावन ऐँड़ात भुजा ठोंकि सब शूरमा।—केशव।

ऐँढ़ा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का गड़ासा।

ऐंदव-वि० [सं०] चंद्रमा-संबंधी।

संज्ञा पुं० मृगसिरा नक्षत्र (जिसके देवता चंद्रमा हैं)।

ऐंद्र-वि० [सं०] इंद्रसंबंधी।

संज्ञा पुं० (१) इंद्र का पुत्र। (२) ज्येष्ठा नक्षत्र।

ऐंद्रजालिक-वि० [सं०] इंद्रजाल करनेवाला। मायावी।

ऐंद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र का पुत्र। (२) जयंत।

ऐंद्रियक-वि० [सं०] इंद्रियग्राह्य। जिसका ज्ञान इंद्रियोंसे हो। इंद्रिय-संबंधी।

ऐंद्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्राणी। शचि। (२) दुर्गा। (३) इंद्रवारुणी। (४) इलायची।

ऐंहड़ा†-संज्ञा पुं० दे० "ऐँड़ा" (२)

ऐ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव।

अव्य० [सं० अयि, वा हे] एक संबोधन।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का उच्चारण संस्कृत से भिन्न "अय" की तरह होता है।

ऐकागारिक-वि० [सं०] एक ही घर में रहनेवाला।

संज्ञा पुं० चोर।

ऐकट-संज्ञा पुं० दे० "एकट"

ऐक्टर-संज्ञा पुं० [अं०] नाटक में अभिनय करनेवाला। नाटक का कोई पात्र बननेवाला।

ऐक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक का भाव। एकत्व। (२) एका। मेल।

ऐगुन*†-संज्ञा पुं० दे० "अवगुण"।

ऐंची-संज्ञा स्त्री० [हिं० ऐंचना] चंडू या मदक पीने की नली। बंबू।

ऐज़न-अव्य० [अं०] तथा। तदेव।

विशेष—सारिणी वा चक्र में जब एक ही वस्तु को कई बार लिखना रहता है, तब केवल ऊपर एक बार उसका नाम लिख कर नीचे बराबर ऐज़न ऐज़न लिखते जाते हैं।

ऐडवोकेट-संज्ञा पुं० [अं०] अदालत में किसी का पक्ष लेकर बोलनेवाला।

ऐडवोकेट जनरल-संज्ञा पुं० [अं०] वह सरकारी वकील जो हाई-कोर्टों में सरकार का पक्ष लेकर बोलता है।

ऐडमिरल-संज्ञा पुं० [अं०] सामुद्रिक सेना का प्रधान सेनापति।

ऐतरेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋग्वेद का एक ब्राह्मण जिसमें ४० अध्याय और आठ पंचिकाएँ हैं। पहले १६ अध्यायों में अग्निष्टोम और सोमयाग का वर्णन है। १७—१८ अध्याय में गवामयन का विवरण है जो ३६० दिनों में पूरा होता है। १९ से २४ तक द्वादशाह यज्ञ की विधि और होता के कर्त्तव्य का वर्णन है। २५ वें अध्याय में अग्निहोत्र विधान और भूलों के लिये प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था है। २६ से ३० अध्याय तक सोमयाग में होता के सहायक का कर्त्तव्य तथा शिल्पशास्त्र के कुछ विषय वर्णित हैं। ३१ अध्याय से ४० अध्याय तक राजा को गद्दी पर बैठाने तथा पुरोहित के और

और कामों का वर्णन है। शुनःशेप की कथा ऐतरेय ब्राह्मण की है।

(२) एक अरण्यक जो वानप्रस्थों के लिये है। इसके पाँच अरण्यक अर्थात् भाग हैं। प्रथम भाग में जिसमें पाँच अध्याय और २२ खंड हैं, सोमयाग का विचार है। दूसरे अरण्यक के ७ अध्याय और २६ खंड हैं जिन में से तीसरे अध्याय में प्राण और पुरुष का विचार है और चार अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है। तीसरे अरण्यक (२ अध्याय १२ खंड) में संहिता के पदपाठ और क्रमपाठ के अर्थ को अलंकारों द्वारा प्रकट किया है। चौथे अरण्यक में एक अध्याय है जिस को आश्वलायन ने प्रकट किया था। पाँचवें अरण्यक के ३ अध्याय और १४ खंड हैं जो शौनक ऋषि द्वारा प्रकट हुए हैं।

ऐतिहासिक–वि० [सं०] (१) इतिहास संबंधी। जो इतिहास में हो। जो इतिहास से सिद्ध हो। (२) जो इतिहास जानता हो।

ऐतिह्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणों के अतिरिक्त, अर्थापत्ति और संभव आदि जो चार और प्रमाण माने गए हैं, उनमें से एक परंपरा-प्रसिद्ध प्रमाण। इस बात का प्रमाण कि लोक में बराबर बहुत दिनों से ऐसा सुनते आए हैं।

विशेष—यह शब्दप्रमाण के अंतर्गत ही आ जाता है। न्याय में ऐतिह्य आदि को चार प्रमाणों से अलग नहीं माना है, उनके अंतर्गत ही माना है।

ऐन–संज्ञा पुं० दे० "अयन" और "एण"।

वि० [अ०] (१) ठीक। उपयुक्त। सटीक। जैसे,—तुम ऐन वक्त पर आए। (२) बिलकुल। पूरा पूरा। जैसे,—आपकी ऐन मेहरबानी है।

ऐनक–संज्ञा स्त्री० [अ० ऐन=आँख] आँख में लगाने का चश्मा।

ऐना†–संज्ञा पुं० दे० "आइना"।

ऐनि–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य का पुत्र।

यौ०—ऐनिवंश=सूर्य्यवंश। उ०—मन संकल्पत आप कल्पतरु सम सोहर बर। जन मन बांछित देत तुरत द्विज ऐनि बंसवर।—तुलसी।

ऐनीता–संज्ञा पुं० [फ़ा० आइना] बंदर को शीशा वा दर्पण दिखाना। (कलंदरों की बोली।)

ऐपन–संज्ञा वि० [सं० लेपन] एक मांगलिक द्रव्य जो चावल और हलदी को एक साथ गीला पीसने से बनता है। देवताओं की पूजा में इससे थापा लगाते हैं और बड़े पर चिह्न करते हैं।

ऐब–संज्ञा पुं० [अ०] [वि० ऐबी] (१) दोष। दूषण। नुक़्स।

मुहा०—ऐब निकालना=दोष दिखाना (किसी वस्तु में)।

(२) अवगुण। कलंक। बुराई।

मुहा०—ऐब लगाना=कलंक लगाना। दोषारोपण करना। (किसी व्यक्ति पर)।

यौ०—ऐबजोई=दोष ढूँढ़ना। छिद्रान्वेषण।

ऐबी–वि० [अ०] (१) दूषणयुक्त। खोटा। बुरा। (२) नटखट। दुष्ट। शरीर। (३) विकलांग, विशेषतः काना।

ऐबजो–वि० [फ़ा०] दोष ढूँढ़नेवाला। छिद्रान्वेषी।

ऐबजोई–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] दोष ढूँढ़ना। छिद्रान्वेषण।

ऐबारा†–संज्ञा पुं० [हिं० वार (द्वार)=दरवाजा] (१) बाड़ा जिसमें भेड़ बकरियाँ रक्खी जाती हैं। (२) वह घेरा जिसके भीतर जंगल में चौपाए रक्खे जाते हैं। गोवाड़। ठाढ़ा।

ऐया†–संज्ञा स्त्री० [सं० आर्य्या, प्रा० अज्जा] (१) बड़ी बूढ़ी स्त्री। दादी। (२) सास।

ऐयाम–संज्ञा पुं० [अ० योम (दिन) का बहुवचन] दिन। समय। मौसिम। वक़्त।

ऐयार–संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० ऐयारा] चालाक। धूर्त्त। उस्ताद। धोखेबाज़। छली।

ऐयारी–संज्ञा स्त्री० [अ०] चालाकी। धूर्त्तता। छल।

ऐयाश–वि० [अ०] [संज्ञा ऐयाशी] (१) बहुत ऐश वा आराम करनेवाला। (२) विषयी। लंपट। इंद्रियलोलुप।

ऐयाशी–संज्ञा स्त्री० [अ०] विषयशक्ति। भोग-विलास।

ऐरा ग़ैरा–वि० [अ० ग़ैर] (१) बेगाना। अजनबी। (आदमी) जिससे कुछ वास्ता न हो। (२) इधर उधर का। तुच्छ।

यौ०—ऐरे ग़ैरे पँचकल्यानी=इधर उधर के बिना जाने बूझे आदमी।

ऐराक–संज्ञा पुं० दे० "एराक"।

ऐराकी–वि० दे० "एराकी"।

ऐरापति*–संज्ञा पुं० [सं० ऐरावत] ऐरावत हाथी। उ०—सुरगण सहित इंद्र व्रज आवत। धवल बरन ऐरापति देख्यो उतरि गगन ते धरणि धसावत।—सूर।

ऐराब–संज्ञा पुं० [अ०] शतरंज में बादशाह की किस्त बचाने के लिये किसी मोहरे को बीच में डाल देना। अरदब।

ऐरालु–संज्ञा पुं० [सं० इरा=जल+आलु] एक प्रकार की पहाड़ी ककड़ी जो तरबूज़ की तरह की होती है। यह कुमाऊँ से सिक्किम तक होती है।

ऐरावण–संज्ञा पुं० [सं०] ऐरावत।

ऐरावत–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० ऐरावती] (१) इरावान मेघ। बिजली से चमकता हुआ बादल। (२) इंद्रधनुष। (३) बिजली। (४) इंद्र का हाथी, जो पूर्व दिशा का दिग्गज है। (५) एक नाग का नाम। (६) नारंगी। (७) बड़हर। (८) संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

ऐरावती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऐरावत हाथी की हथिनी। (२) बिजली। (३) रावी नदी। (४) ब्रह्मा की एक प्रधान नदी। (५) वटपत्री का पौधा। (६) चंद्रमा की एक वीथी जिसमें श्लेषा, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र पड़ते हैं।

ऐल-संज्ञा पुं० [सं०] इला का पुत्र पुरूरवा।
*संज्ञा पुं० [हिं० अहिला] (१) बाढ़। बूढ़ा। (२) अधिकता। बहुतायत। उ०—भूषन भनत साहि तनै सरजा के पास आइबे को चढ़ी उर हौसनि के ऐल है।—भूषण। (३) कोलाहल। शोरगुल। हलचल। खलबली। उ०—खलनि के खैलभैल मनमथ मन ऐल शैलजा के शैल गैल प्रति रोक है।—केशव।

ऐलक-संज्ञा स्त्री० दे० "एलक"।

ऐश-संज्ञा पुं० [अ०] आराम। चैन। भोग-विलास।
क्रि० प्र०—करना।
यौ०—ऐश व आराम=सुख चैन।

ऐशानी-वि० [सं०] ईशान कोण संबंधी।

ऐशू-संज्ञा पुं० [देश०] चौपायों का एक रोग जिसमें उनका मुँह बँध जाता है, वे पागुर नहीं कर सकते।

ऐश्वर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विभूति। धन संपत्ति। (२) अणिमादिक सिद्धियाँ। (३) प्रभुत्व। आधिपत्य।
क्रि० प्र०—भोगना।
यौ०—ऐश्वर्य्यशाली। ऐश्वर्य्यवान्।

ऐश्वर्यवान्-वि० [सं०] [स्त्री० ऐश्वर्य्यवती] वैभवशाली। संपत्तिवान्। संपन्न।

ऐषीक-संज्ञा पुं० [सं०] एक शस्त्र जो त्वष्टा देवता का मंत्र पढ़कर चलाया जाता था।

ऐसा-वि० [सं० ईदृश] [स्त्री० ऐसी] इस प्रकार का। इस ढंग का। इस भाँति का। इसके समान। जैसे,—तुमने ऐसा आदमी कहीं देखा है?
मुहा०—ऐसा तैसा वा ऐसा वैसा=साधारण। तुच्छ। अदना। नाचीज़। जैसे,—क्या तुमने हमें ऐसा वैसा आदमी समझ रक्खा है? (किसी की) ऐसी तैसी=योनि वा गुदा (एक गाली)। जैसे,—उसकी ऐसी तैसी, वह क्या कर सकता है? ऐसी तैसी करना=बलात्कार करना। (गाली)। जैसे,—तुम्हारी ऐसी तैसी करूँ, खड़े रहो। ऐसी तैसी में जाना=भाड़ में जाना। चूल्हे में जाना। नष्ट होना। (बेपरवाई सूचित करने के लिये)। जैसे,—जब समझाने से नहीं मानते तब अपनी ऐसी तैसी में जायँ।

ऐसे-क्रि० वि० [हिं० ऐसा] इस ढब से। इस ढंग से। इस तरह से। जैसे,—वह ऐसे न मानेगा।

ऐहिक-वि० [सं०] इस लोक से संबंध रखनेवाला। जो पारलौकिक न हो। सांसारिक। दुनियावी।

ओ

ओ-संस्कृत वर्णमाला का तेरहवाँ और हिंदी वर्णमाला का दसवाँ स्वरवर्ण। इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ और कंठ है। इसके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा सानुनासिक और अननुनासिक भेद होते हैं। संधि में अ+उ=ओ होता है।

ओं-अव्य० (१) एक अंगीकार वा स्वीकृतिसूचक शब्द। हाँ। अच्छा। तथास्तु। (२) परब्रह्मवाचक शब्द जो प्रणव मंत्र कहलाता है।
विशेष—यह शब्द बहुत पवित्र माना जाता है और वेद मंत्रों के पहले और पीछे बोला जाता है। मांडूक्य उपनिषद् में इसी शब्द की व्याख्या भरी हुई है। यह ग्रंथ के आरंभ में भी रक्खा जाता है। पुराण में ओम् के "अ" "उ" और "म्" क्रम से विष्णु, शिव और ब्रह्मा के वाचक माने गए हैं।

ओंइछना†-क्रि० स० [सं० अंचन=पूजा करना] वारना। न्योछावर करना।

ओंकना-क्रि० अ० दे० "ओकना"।

ओंकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) "ओं" शब्द। (२) सोहन चिड़िया। (३) सोहन पक्षी का पर जिससे फ़ौजी टोप की कलँगी बनती है।

ओंकारनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के द्वादश लिंगों में से एक। इनका मंदिर मध्य प्रदेश के मान्धाता ग्राम में है।

ओंगना-क्रि० स० [सं० अंजन] गाड़ी की धुरी में चिकनाई लगाना जिसमें पहिया आसानी से फिरे।

ओंगा-संज्ञा पुं० [सं० अपामार्ग] अपामार्ग। लटजीरा। अज्झाझारा। चिचड़ा।

ओंटना†-क्रि० स० दे० "ओटना"।

ओंठ-संज्ञा पुं० [सं० ओष्ठ, प्रा० ओट्ठ] मुँह के बाहरी उभड़े हुए छोर जिनसे दाँत ढके रहते हैं। लब। होंठ।
पर्या०—रदच्छद। रदपट।
मुहा०—ओंठ उखाड़ना=परती खेत को पहले पहल जोतना। ओंठ काटना=दे० "ओंठ चबाना"। ओंठ चबाना=क्रोध और दुःख से ओंठों को दाँतों के नीचे दबाना। क्रोध और दुःख प्रकट करना। ओंठ चाटना=किसी वस्तु को खा चुकने पर स्वाद के लालच से ओंठों पर जीभ फेरना। स्वाद की लालसा रखना। जैसे,—उस दिन कैसी अच्छी मिठाई खाई थी, अब तक ओंठ चाटते होगे। ओंठ चूसना=अधर चुंबन करना। ओंठ पपड़ाना=ओंठ पर खुश्की के कारण चमड़े की सूखी हुई तह बँध जाना। ओंठों पर=ज़बान पर कुछ कुछ स्मरण आने के कारण मुँह से निकलने पर। वाणी द्वारा स्फुरित होने के निकट। जैसे,—(क) उनका नाम ओंठों ही पर है, मैं याद करके बतलाता हूँ। (ख) उनका नाम ओंठों पर

आके रह जाता है (अर्थात् थोड़ा बहुत याद आता है और कहना चाहते हैं, पर भूल जाता है)। **ओंठों पर हँसी वा मुसकुराहट आना वा दिखाई देना**=चेहरे पर हँसी देख पड़ना। **ओंठ फटना**=खुश्की के कारण ओंठ पर पपड़ी पड़ना। **ओंठ फड़कना**=क्रोध के कारण ओंठ काँपना। **ओंठ मलना**=कड़ुई बात कहनेवाले को दंड देना। मुँह मसलना। जैसे,—अब ऐसी बात कहोगे तो ओंठ मल देंगे। **ओंठों में कहना**=धीमे और अस्पष्ट स्वर में कहना। मुँह से साफ़ शब्द न निकालना। **ओंठों में मुसकराना**=बहुत थोड़ा हँसना। ऐसा हँसना कि बहुत प्रकट न हो। **ओंठ हिलना**=मुँह से शब्द निकलना। **ओंठ हिलाना**=मुँह से शब्द निकालना।

ओंड़ा*-वि० [सं० कुंड] गहरा।

संज्ञा पुं० [सं० कुंड] (१) गड्ढा। गढ़ा। (२) चोरों की खोदी हुई संध।

ओंधा†-संज्ञा पुं० [सं० बंध] वह रस्सी जिससे छाजन पूरी होने के पहले लकड़ियाँ अपनी अपनी जगहों पर कसी रहती हैं।

ओ-संज्ञा पुं० ब्रह्मा।

अव्य० (१) एक संबोधन-सूचक शब्द। जैसे,—ओ, लड़को! इधर आओ। (२) संयोजक शब्द। और। (३) विस्मय वा आश्चर्य सूचक शब्द। ओह। (४) एक स्मरण सूचक शब्द। जैसे,—ओ! हाँ ठीक है, आप एक बार हमारे यहाँ आए थे।

ओआ-संज्ञा पुं० [देश०] हाथी फँसाने का गड्ढा।

ओई-संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ का नाम।

ओक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर। स्थान। निवासस्थान। (२) आश्रय। ठिकाना।

यौ०—जलौक।

(३) नक्षत्रों वा ग्रहों का समूह।

यौ०—ओकपति।

संज्ञा स्त्री० ["ओ" "ओ" से अनु०] मतली। वमन करने की इच्छा।

संज्ञा पुं० [हिं० बूक=अंजली] अंजली।

क्रि० प्र०—लगाना। जैसे,—ओक लगाकर पानी पी लो।

ओकना-क्रि० अ० [अनु०ओ+हिं० करना] (१) ओ ओ करना। कै करना। (२) भैंस की तरह चिल्लाना।

ओकपति-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य वा चंद्रमा। उ०—नागरी श्याम सों कहत बानी।.........रुद्रपति, क्षुद्रपति, लोकपति, ओकपति, धरनिपति, गगनपति अगम बानी।—सूर।

ओकस्-संज्ञा पुं० दे० "ओक"।

यौ०—वनौकस्। दिवौकस्।

ओकाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० ओकना] (१) वमन। कै। (२) वमन करने की इच्छा।

ओकार-संज्ञा पुं० [सं०] "ओ" अक्षर।

ओकारांत-वि० [सं०] जिसके अंत में "ओ" अक्षर हो। जैसे, फोटो, टेंगो।

ओकी†-संज्ञा स्त्री० "ओकाई"।

ओखद†-संज्ञा पुं० दे० "औषध"।

ओखरी†-संज्ञा स्त्री० दे० "ओखली"।

ओखल†-संज्ञा पुं० [सं० ऊषर] (१) परती भूमि। (२) ओखली।

ओखली-संज्ञा स्त्री० [सं० उलूखल] काठ वा पत्थर का बना हुआ एक गहरा बरतन जिसमें धान वा किसी और अन्न को डालकर भूसी अलग करने के लिये मूसल से कूटते हैं। काँड़ी। हावन।

मुहा०—**ओखली में सिर देना**=अपनी इच्छा से किसी झंझट में पड़ना। कष्ट सहने पर उतारू होना। जैसे,—अब तो हम ओखली में सिर दे चुके हैं, जो चाहे सो हो।

ओखा*-संज्ञा पुं० [सं० ओख=वारण करना, बचाना] मिस। बहाना। हीला। उ०—(क) गोरस लै तो जेठानी चलै घर सासु परी रहै प्रानन पोखे। जान ही जाय जवाल है ज्वाल है, पौरि न पाँव रुकैं धरि धोखे। क्यों हूँ परै कल एक घरी न परी फँसि, बेनी प्रवीन, अनोखे। देखिबे को नँद नंदन को ननदी नँदगाँव चलैं केहि ओखे।—बेनी प्रवीन। (ख) नेकौ अनखाति न, अनख भरी आँखिन, अनोखी अनखीली रोख ओखे से करति है।—देव। (ग) बालम त्यों न विलोकती अंतर खोलती ना करि ओखो। जानि परै न विराग सोहाग तिहारो भटू अनुराग अनोखो।—देव।

वि० [सं० ओख=सूखना। पं० औखा=टेढ़ा, कठिन] (१) रूखा सूखा। (२) कठिन। विकट। टेढ़ा। उ०—सुनु, नीको न नेह लगावनो है, फिर जो पै लगै तो निबाहनो है। अति ओखी है प्रीति की रीति अरी, नहि जोस को रोस सुहावनो है।—सुंदरीसर्वस्व। (३) खोटा। जिसमें मिलावट हो। 'चोखा' का उलटा। (४) झीना। जिसकी बिनावट दूर दूर पर हो। विरल।

ओग*-संज्ञा पुं० [हिं० उगहना] उगहनी। कर। चंदा। महसूल। उ०—काहे को हमसों हरि लागत। बातहि कछू खोलरस नाहीं को जानै कह माँगत.......। पैंडो देहु बहुत अब कीनो सुनत हँसैंगे लोग। सूर हमैं मारग जनि रोकहु घर तें लीजै ओग।—सूर।

ओगरना†-क्रि० अ० [सं० अवगरण] निचुड़ना। रसना। पानी या किसी और तरल वस्तु का धीरे धीरे टपकना वा निकलना।

ओगल-संज्ञा पुं० [देश०] परती भूमि।

संज्ञा पुं० [हिं० ओगरना] एक प्रकार का कुआँ।

ओगारना†-क्रि० स० [सं० अवगारण] कुएँ का पानी निकाल डालना। कुआँ साफ़ करना। छाकना।

ओघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। ढेर। उ०—सिय निंदक अघ ओघ नसाये। लोक विसोक बनाय बसाये।—तुलसी।

यौ०—अघौघ

(२) किसी वस्तु का घनत्व। (३) बहाव। धारा। उ०—सुनु मुनि उहाँ सुबाहु लखि निज दल खंडित गात। महा विकल पुनि रुधिर के ओघ विपुल तन जात।—रामाश्वमेध। (४) सांख्य के अनुसार एक प्रकार की तुष्टि। कालतुष्टि। "काल पा के सब काम आपही हो जायगा"—इस प्रकार संतोष करने को कालतुष्टि वा ओघ कहते हैं।

ओछना—क्रि० स० दे० "ऊँछना"।

ओछा—वि० [सं० तुच्छ, प्रा० उच्छ] [स्त्री० ओछी] जो गंभीर न हो। जो उच्चाशय न हो। तुच्छ। क्षुद्र। छिछोरा। बुरा। खोटा। उ०—(क) इन बातन कहुँ होति बड़ाई। ढारत, खात देत नहिं काहू ओछे घर निधि आई।—सूर। (ख) ओछे बड़े न ह्वै सकैं लगि सतरौहैं बैन। दीरघ होंहि न नेकहू फारि निहारे नैन।—बिहारी।

यौ०—ओछी कोख=ऐसी कोख वा पेट जिससे जनमे लड़के न जिएँ।

(२) जो गहरा न हो। छिछला। (२) हलका। ज़ोर का नहीं। जिसमें पूरा ज़ोर न लगा हो। जैसे,—ओछा हाथ पड़ा, नहीं तो बचकर न निकल जाता। (४) छोटा। कम। जैसे,—ओछा अँगरखा। ओछी पूँजी।

ओछाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० ओछा] नीचता। क्षुद्रता। छिछोरापन। खोटाई। उ०—हमहि ओछाई भई जबहि तुमको प्रतिपाले। तुम पूरे सब भाँति मातु पितु संकट घाले।—सूर।

ओछापन—संज्ञा पुं० [हिं० ओछा+पन (प्रत्य०)] नीचता। क्षुद्रता। छिछोरापन।

ओज—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० ओजस्वी, ओजित] (१) बल। प्रताप। तेज। (२) उजाला। प्रकाश। (३) कविता का वह गुण जिससे सुननेवाले के चित्त में आवेश उत्पन्न हो।

विशेष—वीर और रौद्र रस की कविता में यह गुण अवश्य होना चाहिए। टवर्गी अक्षरों की अधिकता, संयुक्ताक्षरों की बहुतायत और समासयुक्त शब्दों से यह गुण अधिक आता है। परुषावृत्ति में यह गुण होता है।

(४) शरीर के भीतर के रसों का सार भाग।

ओजना†—क्रि० स० [सं० अवरुन्धन, प्रा० ओरुज्झन, हिं० ओझल] रोकना। ऊपर लेना।

ओजस्विता—संज्ञा स्त्री० [सं०] तेज। कांति। दीप्ति। प्रभाव।

ओजस्वी—वि० [सं० ओजस्विन्] [स्त्री० ओजस्विनी] शक्तिवान्। तेजवान्। प्रभावशाली। प्रतापी।

ओजित—वि० [सं०] (१) बलवान्। प्रतापी। तेजवान्। शक्तिशाली। (२) जिसमें जोश आया हो। उत्तेजित।

ओज़ोन—संज्ञा पुं० [अं०] कुछ घना किया हुआ अम्लजन तत्व। इसका घनत्व अम्लजन से १½ गुना होता है। इसमें गंध दूर करने का विशेष गुण है। गरमी पाने से ओज़ोन साधारण अम्लजन के रूप में हो जाता है। वायु में ओज़ोन का बहुत थोड़ा अंश रहता है। नगरों की अपेक्षा गाँवों की वायु में ओज़ोन अधिक रहता है।

ओज़ोन पेपर—संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का कागज़ जिसके द्वारा यह परीक्षा हो सकती है कि वायु में ओज़ोन है वा नहीं।

ओज़ोन बकस—संज्ञा पुं० [अं०] वह संदूक जिसमें ओज़ोन पेपर रख कर परीक्षा करते हैं कि यहाँ की हवा में ओज़ोन है वा नहीं। यह बकस ऐसा बना होता है कि इसके भीतर हवा तो जा सकती है, पर प्रकाश नहीं जा सकता।

ओझ—संज्ञा पुं० [सं० उदर, हिं० ओझर] (१) पेट की थैली। पेट। (२) आँत।

ओझइत†—संज्ञा पुं० दे० "ओझा (२)"।

ओझर—संज्ञा पुं० [सं० उदर, पुं० हिं० ओदर। ओझर] [स्त्री० अल्पा० ओझरी] (१) पेट। (२) पेट के भीतर की वह थैली जिसमें खाए हुए पदार्थ भरे रहते हैं। पचौनी।

ओझरी—संज्ञा स्त्री० दे० "ओझर"।

ओझल—संज्ञा पुं० [सं० अव=नहीं+हिं० झलक अथवा सं० अवन्धन, प्रा० ओरुज्झन।] ओट। आड़। जैसे—वे देखते देखते आँख से ओझल हो गए।

ओझा—संज्ञा पुं० [सं० उपाध्याय, प्रा० उवज्झाओ, उवज्झाअ] [स्त्री० ओझाइन] (१) सरजूपारी, मैथिल और गुजराती ब्राह्मणों की एक जाति। (२) भूत प्रेत झाड़नेवाला। उ०—भये जीउँ बिनु नाउत ओझा। विष भए पूरि, काल भए गोझा।—जायसी।

ओझाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० ओझा] ओझा की वृत्ति। झाड़ फूँक। भूत प्रेत झाड़ने का काम।

ओझैती†—संज्ञा स्त्री० दे० "ओझाई"।

ओट—संज्ञा स्त्री० [सं० उट=घास फूस] (१) रोक जिससे सामने की वस्तु दिखाई न पड़े वा और कोई प्रभाव न डाल सके। विक्षेप जो दो वस्तुओं के बीच में किसी तीसरी वस्तु के आ जाने से होता है। व्यवधान। आड़। ओझल। उ०—(क) लता ओट तब सखिन लखाए। श्यामल गौर किशोर सुहाए।—तुलसी। (ख) तृण धरि ओट कहति वैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही।—तुलसी। (ग) वह पेड़ों की ओट में छिप गया।

मुहा०—आँखों से ओट होना=दृष्टि से छिप जाना। ओट में=बहाने से। हीले से। जैसे,—धर्म की ओट में बहुत से पाप होते हैं।

(२) शरण। पनाह। रक्षा। उ०—(क) बड़ी है राम नाम की ओट। शरण गए प्रभु काढ़ि देत नहीं करत कृपा के कोट।—सूर। (ख) ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।—तुलसी।

ओटन–संज्ञा पुं० [हिं० ओटना] चरखी के दो डंडे जिनके घूमने से रुई में से बिनौले अलग हो जाते हैं।

ओटना–क्रि० स० [सं० आवर्तन, पा० आवट्टन] (१) कपास को चरखी में दबाकर रूई और बिनौलों को अलग करना। उ०—यहि विधि कहौं कहा नहि माना। मारग माहिं पसारिनि ताना। रात दिवस मिलि जौरिन तागा। ओटत कातत भरम न भागा।—कबीर। (२) बार बार कहना। अपनी ही बात कहते जाना। जैसे,—तुम तो अपनी ही ओटते हो, दूसरे की सुनते नहीं। (३) रोकना। आड़ना। अपने ऊपर सहना। उ०—दास को जो डारी चोट ओटि लई अंग में ही नहीं मैं तो जाहुं विजय मूरति बताई है।—प्रिया। (४) अपने जिम्मे लेना। अपने ऊपर लेना।

ओटनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओटना] कपास ओटने की चरखी। चरखी जिससे कपास के बिनौले अलग किए जाते हैं। बेलनी।

ओटा–संज्ञा पुं० [हिं० ओट] परदे की दीवार। पतली दीवार जो केवल परदे के वास्ते बनाते हैं।

संज्ञा पु० [हिं० ओटना] कपास ओटनेवाला आदमी।

संज्ञा पु० [हिं० उठना] जाँते के निकट पिसनहारियों के बैठने का चबूतरा।

संज्ञा पु० [हिं० गोठना] सोनारों का एक औज़ार जिससे वे बाजूबंद के दानों की खोरिया बनाते हैं। इसे गोटा भी कहते हैं।

ओटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओटना] चरखी। कपास ओटने की कल।

ओठँगना–क्रि० अ० [हिं० उठना+अंग] (१) किसी वस्तु से टिक कर बैठना। सहारा लेना। टेक लगाना। अड़कना। (२) थोड़ा आराम करना। कमर सीधी करना।

ओठ†–संज्ञा पुं० दे० "ओंठ"।

ओड़†–संज्ञा पुं० दे० "ओट"।

ओड़चा†–संज्ञा पु० दे० "ओलचा"।

ओड़न*†–संज्ञा पुं० [हिं० ओड़ना] (१) ओड़ने की वस्तु। वार रोकने की चीज़। (२) ढाल। फरी। उ०—(क) दूसर खर्ग कंध पर दीन्हा। सुरजै वै ओड़न पर लीन्हा।—जायसी। (ख) एक कुशल अति ओड़न खाँड़े। कूदहिं गगन मनहु छिति छाँड़े।—तुलसी।

ओड़ना–क्रि० स० [सं० ओणन=हटाना, वा हिं० ओट] (१) रोकना। वारण करना। आड़ करना। ऊपर लेना। उ०—दूसरि ब्रह्म की शक्ति अमोघ चलावत ही हाय हाय भई है। राख्यो भले शरणागत लक्ष्मण फूलि कै फूल सी ओड़ लई है।—केशव। (२) (कुछ लेने के लिये) रोपना। फैलाना। पसारना। उ०—(क) लेहु मातु मुद्रिका निशानी दई प्रीति कर नाथ। सावधान है शोक निवारो, ओड़हु दक्षिण हाथ।—सूर। (ख) अंचल ओड़ि मनावहिं विधि सों सबै जनकपुर नारी। विघ्न निवारि विवाह करावहु जो कछु पुन्य हमारी।—रघुराज।

ओड़व–संज्ञा पुं० [सं०] रागों का एक भेद जिसमें ये पाँच स्वर लगते हैं—सा ग म प ध नि। इसमें ऋषभ और पंचम वर्जित हैं। कलार आदि राग इसी के अंतर्गत हैं।

ओड़ा–संज्ञा पुं० (१) दे० "ओंड़ा"। (२) बाँस का वह टोकरा जिसमें तँबोली पान रखते हैं। बड़ा टोकरा। खाँचा। (३) एक खँचिया का मान जिससे सुरखी, चूना नापा जाता है।

संज्ञा पुं० कमी। अकाल। टोटा।

मुहा०—ओड़ा पड़ना=(१) अप्राप्य होना। अकाल पड़ना। (२) मिटना।

ओड़ू–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उड़ीसा देश। (२) उस देश का निवासी। (३) गुड़हर का फूल। देवी फूल। अड़हुल।

ओढ़न†–संज्ञा पुं० दे० "ओढ़ना"।

ओढ़ना–क्रि० स० [स० उपवेष्ठन, प्रा० ओवेड्ढन] कपड़े या इसी प्रकार की और वस्तु से देह ढकना। शरीर के किसी भाग को वस्त्र आदि से आच्छादित करना। जैसे, रजाई ओढ़ना, दुपट्टा ओढ़ना, चादर ओढ़ना। (२) अपने सिर लेना। अपने ऊपर लेना। ज़िम्मे लेना। भागी बनना। उ०—बोलै नहीं रह्यो दुरि बानर द्रुम में देह छिपाइ। कै अपराध ओढ़ अब मेरो कै तू देहि दिखाइ।—सूर। जैसे,—उनका ऋण हमने अपने ऊपर ओढ़ लिया।

मुहा०—ओढ़ें या बिछावें ?=क्या करें ? किस काम मे लावे ? उ०—दु:सह वचन हमें नहिं भावैं। योग कथा ओढ़ै कि बिछावैं।—सूर।

संज्ञा पुं० ओढ़ने का वस्त्र।

यौ०—ओढ़ना बिछौना।

मुहा०—ओढ़ना उतारना=अपमानित करना। इज्जत उतारना। ओढ़ना ओढ़ाना=रांड़ स्त्री के साथ सगाई करना (छोटी जाति)। ओढ़ना गले में डालना=बाँधकर न्यायकर्त्ता के पास ले जाना। अपराधी बनाकर रखना। (पहले यह रीति थी कि जब छोटी जाति की स्त्रियों के साथ कोई अत्याचार करता था, तब वे उसके गले में कपड़ा डालकर चौधरी आदि के पास उसे ले जाती थीं।)

ओढ़नी–संज्ञा पुं० [हिं० ओढ़ना] स्त्रियों के ओढ़ने का वस्त्र। उपरेनी। फरिया।

मुहा०—ओढ़नी बदलना=बहनापा जोड़ना। सखी बनाना। बहन का संबंध स्थापित करना।

ओढ़र†*संज्ञा पुं० [हिं० ओढ़ना] बहाना। मिस। उ०—सुनि बोली ओढ़र जनि करहू। निज कुल रीति हृदय महँ धरहू। सैन बैन सब गोपिन केरे। करि ओढ़र आवैं चलि नेरे।—विश्राम।

ओढ़वाना–क्रि० स० [हिं० ओढ़ाना का प्रे० रूप] कपड़ों से ढकवाना।

ओढ़ाना–क्रि० स० [हिं० ओढ़ना] ढाँकना। कपड़े से आच्छादित करना। उ०—(क) लहरैं देत पीठ जनु चढ़ा। चीर

ओढ़ावा केंचुल मढ़ा ।—जायसी । (ख) कामरी ओढ़ाय कोऊ साँवरो कुँवर मोहिं बाँह गहि लायो छाँह बाँह की पुलिन ते ।—देव ।

ओत–संज्ञा स्त्री० [सं० अवधि] (१) कष्ट की कमी । आराम । चैन । इफ़ाक़ा । उ०—(क) भली वस्तु नागा लगै काहू भाँति न ओत । त्रै उद्वेग सुवस्तु अरु देस काल तें होत ।—देव । (ख) निहनि निहनि या विधि महि जोतै । देत न छिन इक बैलनि ओतै ।—पद्माकर । †(२) आलस्य । (३) किफ़ायत ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० आवत] प्राप्ति । लाभ । नफ़ा । बचत । जैसे,—जहाँ चार पैसे की ओत होगी, वहाँ जायँगे ।

यौ०—ओत कसर=नफ़ा नुक़सान । जैसे,—इसमें कौन सी ओत कसर है ।

संज्ञा पुं० [सं०] ताने का सूत ।

वि० [सं०] बुना हुआ । गुथा हुआ ।

यौ०—ओत प्रोत ।

ओत प्रोत–वि० [सं०] एक में एक बुना हुआ । गुथा हुआ । परस्पर लगा और उलझा हुआ । बहुत मिला जुला । इतना मिला हुआ कि उसका अलग करना असंभव सा हो ।

संज्ञा पुं० (१) ताना बाना । (२) एक प्रकार का विवाह जिस में एक आदमी अपनी लड़की का विवाह दूसरे के लड़के के साथ करता है और वह दूसरा भी अपनी लड़की का विवाह पहले के लड़के के साथ करता है ।

ओता*†–वि० [हिं० उतना] [स्त्री० ओती] उतना । उ०—मोहि कुशल कर शोच न ओता । कुशल होत जो जनम न होता । —जायसी ।

ओतु–संज्ञा स्त्री० [सं०] बिल्ली ।

ओतो†–वि० दे० "ओता" ।

ओत्ता†–वि० दे० "ओता" वा "उतना" ।

संज्ञा पुं० [सं० अवस्था] उस पटरे का पावा जिस पर दरी बुननेवाले बैठते हैं ।

ओद†*–संज्ञा पुं० [सं० उद=जल] नमी । तरी । गीलापन । सील ।

वि० गीला । तर । नम ।

ओदन–संज्ञा पुं० [सं०] पका हुआ चावल । भात ।

ओदनी–संज्ञा स्त्री० [देश०] बरियारा । बीजबंध ।

ओदर†—संज्ञा पुं० दे० "उदर" ।

ओदरना†–क्रि० अ० [हिं० ओदारना] (१) विदीर्ण होना । फटना । (२) छिन्न भिन्न होना । ढहना । नष्ट होना । जैसे,—घर ओदरना ।

ओदा–वि० [सं० उद=जल] गीला । नम । तर ।

ओदारना†–क्रि० स० [सं० अवदारण वा उद्दारण] (१) विदीर्ण करना । फाड़ना । (२) छिन्न भिन्न करना । ढाना । नष्ट करना ।

ओधना†–क्रि० अ० [सं० आबंधन] (१) बँधना । लगना । फँसना । उलझना । उ०—रोम रोम तन तासों ओधा । सूतहि सूत बेध जिउ सोधा ।—जायसी । (२) काम में लगना वा फँसना । उ०—(क) भारथ होय जूझ जो ओधा । होहिं सहाय आप सब जोधा ।—जायसी । (ख) सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे । निज निज काज, पाय सिख, ओधे ।—तुलसी ।

ओधे†–संज्ञा पुं० [सं० उपाध्याय] अधिकारी । मालिक ।

ओनचन–संज्ञा स्त्री० [हिं० ऐंचना] वह रस्सी जो चारपाई के पायताने की ओर बिनन को खींचकर कड़ा रखने के लिये लगी रहती है ।

ओनचना–क्रि० स० [हिं० ऐंचना] चारपाई के पायताने की ख़ाली जगह में लगी हुई रस्सी की बिनन को कड़ी रखने के लिये खींचना ।

ओनवना*†–क्रि० अ० दे० "उनवना" ।

ओना†–संज्ञा पुं० [सं० उद्गमन, प्रा० उग्गवन] तालाबों में पानी के निकलने का मार्ग । निकास । उ०—गावति बजावति नचत नाना रूप करि जहाँ तहाँ उमगत आनँद को ओनो सो ।—केशव ।

मुहा०—ओना लगना=तालाब में इतना पानी भरना कि ओने की राह से बाहर निकल चले । जैसे,—आज इतना पानी बरसा है कि कीरत-सागर में ओना लग जायगा ।

ओनाड़*–वि० [सं० अनार्य्य] ज़ोरावर । बलवान ।—डिं० ।

ओनाना†–क्रि० स० दे० "उनाना" ।

ओनामासी–संज्ञा स्त्री० [सं० ॐ नमः सिद्धम्] (१) अक्षरारंभ ।

विशेष—बच्चों से पाठ आरंभ कराने के पहले ओं नमः सिद्धम् कहलाया जाता है ।

(२) प्रारंभ । शुरू ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

ओप–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओपना] (१) चमक । दीप्ति । आभा । कांति । झलक । सुन्दरता । शोभा । उ०—(क) मलिन देह वेई बसन, मलिन विरह के रूप । पिय आगम औरै बढ़ी आनन ओप अनूप ।—बिहारी । (ख) झीने पट में झुलमुली झलकति ओप अपार । सुरतरु की मनु सिंधु में लसति सपल्लव डार ।—बिहारी । (२) जिला । पालिश ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना ।

ओपची–संज्ञा पुं० [ओप=चमक] वह जोधा जिसके शरीर पर झिलिम चमकता है । कवचधारी योद्धा । रक्षक योद्धा । उ०—किते बीर तनु त्रान को अंग साजैं । किते ओपची ह्वै धरे ओप गाजैं ।—सूदन ।

यौ०—ओपचीख़ाना=चौका ।

ओपना–क्रि० स० [सं० आवपन=सब बाल मुड़ाना] माँजना। साफ़ करना। जिला देना। चमकाना। पालिश करना। उ०—(क) केशवदास कुंदन के कोश ते प्रकाशमान, चिंतामणि ओपनी सों ओपि कै उतारी सी।—केशव। (ख) जुरि न मुरे संग्राम लोक की लीक न लोपी। दान, सत्य, सम्मान, सुयश दिशि विदिशा ओपी।—केशव।

क्रि० अ० झलकना। चमकना। उ०—सब ते परम मनोहर गोपी।…………जेती हती हरि के अवगुण की ते सबई तोपी। सूरदास प्रभु प्रेम हेम ज्यों अधिक ओप ओपी।—सूर।

ओपनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओप] माँजने की वस्तु। पत्थर वा ईंट का टुकड़ा जिससे तलवार या कटारी इत्यादि रगड़कर साफ़ की जाती है। उ०—केशोदास कुंदन के कोश ते प्रकाशमान, चिंतामणि ओपनी सों ओपि कै उतारी सी।—केशव।

ओपास्सम–संज्ञा पुं० [अं०] दक्षिणी अमेरिका में रहनेवाला बिल्ली की तरह का एक जंतु। यह रात को घूमता और छोटे छोटे जीवों का शिकार करता है। इसके ५० दाँत होते हैं। मादा एक बेर में कई बच्चे देती है। चलते समय बच्चे माँ की पीठ पर सवार हो जाते हैं और उसकी पूँछ में अपनी पूँछ लपेट लेते हैं।

ओफ़–अव्य० [अनु०] पीड़ा, खेद, शोक और आश्चर्य्यसूचक शब्द। ओह।

ओबरी†–संज्ञा स्त्री० [सं० विवर] छोटा घर। छोटा कमरा। कोठरी। उ०—(क) हीरा की ओबरी नहीं मलयागिरि नहिं पाँति। सिंहन के लेहँड़ा नहीं साधु न चलैं जमाति।—कबीर। (ख) विलग मति मानौ ऊधो प्यारे। वह मथुरा काजर की ओबरी जे आवैं ते कारे।—सूर।

ओम्–संज्ञा पुं० [सं०] प्रणव मंत्र। ओंकार। दे० "ओं"।

ओरंगोटंग–संज्ञा पुं० [मला० ओरंग=मनुष्य+ऊटन=वन] सुमात्रा और बोरनियो आदि द्वीपों में रहनेवाला एक प्रकार का बंदर वा बनमानुष जो चार फुट ऊँचा होता है। इसका रंग लाल और भुजाएं बहुत लंबी होती हैं। टाँगे छोटी होती हैं। यह बंदर पेड़ों ही पर अधिक रहता है। इसके चेहरे पर बाल नहीं होते। चलते समय इसके तलवे और पंजे अच्छी तरह से ज़मीन पर नहीं पड़ते। यदि कोई इसे बहुत सताता है, तो यह बड़ी भयंकरता से सामना करता है।

ओर–संज्ञा स्त्री० [सं० अवार=किनारा] (१) किसी नियत स्थान के अतिरिक्त शेष विस्तार जिसे दाहिना, बायाँ, ऊपर, नीचे, पूर्व, पश्चिम आदि शब्दों से निश्चित करते हैं। तरफ़। दिशा।

यौ०—ओर पास=आस पास। इधर उधर।

विशेष—जब इस शब्द के पहले कोई संख्यावाचक शब्द आता है, तब इसका व्यवहार पुंलिंग की तरह होता है। जैसे, घर के चारों ओर। उसके दोनों ओर।

(२) पक्ष। जैसे,—(क) यह उनकी ओर का आदमी है। (ख) हम आप की ओर से बहुत कुछ कहेंगे।

संज्ञा पुं० (१) अंत। सिरा। छोर। किनारा। उ०—देखि हाट कछु सूझ न ओरा। सबै बहुत कुछ दीख न थोरा।—जायसी।

मुहा०—ओर आना=नाश का समय आना। उ०—हँसता ठाकुर, खाँसता चोर। इन दोनों का आया ओर। ओर निभाना वा निबाहना=अंत तक अपना कर्त्तव्य पूरा करना। उ०—(क) पुरुष गँभीर न बोलहिं काहू। जो बोलहिं तो ओर निबाहू।—जायसी। (ख) प्रणतपाल पालहिं सब काहू। देहु दुहूँ दिसि ओर निबाहू।—तुलसी।

(२) आदि। आरंभ। उ०—ओर से छोर तक।

ओरमना†–क्रि० अ० [सं० अवलंबन] लटकना।

ओरमा–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओरमना] एक प्रकार की सिलाई जो औंवट जोड़ने के काम में आती है।

विशेष—जब औंवटों को मोड़कर कहीं सीना होता है, तब दोनों औंवटों की कोरों को भीतर की ओर मोड़कर परस्पर मिला देते हैं। फिर आगे की ओर से सूई को दोनों औंवटों वा कोरों में से डालकर ऊपर को निकाल लेते हैं और फिर धागे को उन कोरों के ऊपर से लाकर सूई डालते हैं।

ओरवना–क्रि० अ० [हिं० ओरमना] बच्चा देने का समय निकट आ जाना (चौपायों के लिये)। जैसे,—गाय का ओरवना।

ओरहना–संज्ञा पुं० दे० "उलहना"।

ओराना†–क्रि० अ० [हिं० ओर=अंत+आना] अंत तक पहुँचना। समाप्त होना। ख़तम होना।

ओराहना†–संज्ञा पुं० दे० "उलाहना"।

ओरिया–संज्ञा स्त्री० (१) दे० "ओरी"। "ओत"। (२) वह लकड़ी जो ताना तनते समय खूँटी के पास गाड़ी जाती है।

ओरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओरौती] ओलती। उ०—ओरी का पानी बरेंडी जाय। कंडा बूड़ै सिल उतराय।—कबीर।

अव्य० [ओ, री] स्त्रियों को पुकारने का एक संबोधन शब्द।

विशेष—बुंदेलखंड में इस शब्द से माता को भी पुकारते हैं। और माता शब्द के अर्थ में भी इसका व्यवहार करते हैं।

ओरौता†–वि० [हिं० ओर+औता (प्रत्य०)] अंत। समाप्ति।

ओरौती†–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओरमना] ओलती।

ओरी–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत लंबा बाँस जो आसाम और ब्रह्मा में होता है। यह ब्रह्मा में घर तथा छकड़े बनाने के काम में आता है। इससे छाते के डंडे भी बनते हैं। इसकी ऊँचाई १२० फुट तक की होती है और घेरा २५-३० इंच।

ओलंदेज़–संज्ञा पुं० [अं० हालैंड] [वि० ओलंदेजी] हालैंड देश का निवासी।

ओलंदेज़ी–वि० [दे० ओलंदेज] हालैंड देशसंबंधी। हालैंड देश का। उ०—इंगलिस्तानी और दरियायी कच्छी ओलंदेज़ी। औरहु विविध जाति के बाजी नकत पवन की तेज़ी।—रघुराज।

ओलंबा✻–संज्ञा पुं० [सं० उपालंभ] उलहना। दे० "ओलंभा" उ०—सो बाचाल भयो विज्ञानी। लखि कूरेश उचित नहिं जानी। रामानुज को दियो ओलंबा। कीन्ह्यौ काह धर्म अवलंबा।—रघुराज।

ओलंभा–संज्ञा पुं० [सं० उपालंभ] उलाहना। शिकायत। गिला। उ०—सच है बुद्धिमान मनुष्य जो करना होता है, वही करता है; परंतु औरों का ओलंभा मिटाने के लिये उनके सिर मुफ्त का छप्पर ज़रूर धर देता है।—परीक्षागुरु।

ओल–संज्ञा पुं० [सं०] सूरन। ज़िमीकंद।

वि० गीला। ओदा।

संज्ञा स्त्री० [सं० क्रोड़] (१) गोद। (२) आड़। ओट। (३) शरण। पनाह। उ०—सूरदास ताको डर काको हरि गिरिवर के ओले।—सूर। (४) किसी वस्तु वा प्राणी का किसी दूसरे के पास ज़मानत में उस समय तक के लिये रहना जब तक उस दूसरे व्यक्ति को कुछ रुपया न दिया जाय वा उसकी कोई शर्त्त न पूरी की जाय। ज़मानत। उ०—टीपू ने अपने दोनों लड़कों को ओल में लार्ड कार्नवालिस के पास भेज दिया।—शिवप्रसाद।

क्रि० प्र०—देना।—में देना।—में लेना।

(५) वह वस्तु वा व्यक्ति जो दूसरे के पास ज़मानत में उस समय तक रहे, जब तक उसका मालिक वा उसके घर का प्राणी उस दूसरे आदमी को कुछ रुपया न दे या उसकी कोई शर्त्त पूरी न करे। उ०—(क) राज छुड़ावन रानी चली आप होय तहँ ओल। तीस सहस तुरि खींच सँग सोरह सै चंडोल।—जायसी। (ख) बने विशाल हरि लोचन लोल। चितै चितै हरि चारु विलोकनि मानहुँ माँगत हैं हरि ओल।—सूर। (ग) तोप रहकला माल सब लै ओल सिधाया। बैठि जहानाबाद में तो भी न सिराया।—सूदन।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

(६) बहाना। मिस। उ०—बैठी बहू गुरु लोगन में लखि लाल गए करि कै कछु ओलो।—देव।

ओलचा–संज्ञा पुं० [हिं० उलचना] (१) खेत का पानी उलीचने का चम्मच के आकार का काठ का बरतन। हाथा। (२) दौरी जिसमे किसी ताल का पानी ऊपर खेत में ले जाते हैं।

ओलची–संज्ञा स्त्री० [सं० आलु] आलू बालू नाम का फल। गिलास।

ओलती–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओलमना] (१) ढलुवाँ छप्पर का वह भाग जहाँ से वर्षा का पानी नीचे गिरता है। पू० हिं० ओरी। (२) वह भाग जहाँ ओलती का पानी गिरता हो।

ओलना–क्रि० स० [हिं० ओल=आड़] (१) परदा करना। ओट में देना। उ०—लोल अमोल कटाक्ष कलोल अलौकिक सो पट ओलिकै फेरे।—केशव। (२) आड़ना। रोकना (३) ऊपर लेना। सहना। उ०—केशवदास कौन बड़े रूप कुलकानि पै अनोखो एक तेरो ही अनख उर ओलिए?—केशव।

क्रि० स० [सं० शूल, हिं० हूल] घुसाना। चुभाना। उ०—ऐसी हू है ईश पुनि आपने कटाक्ष मृगमद घनसार सम मेरे उर ओलिहै।—केशव।

ओलमना–क्रि० अ० दे० "ओरमना", "उलमना"।

ओलहना–संज्ञा पुं० दे० "उलाहना"।

ओला–संज्ञा पुं० [सं० उपल] गिरते हुए मेह के जमे हुए गोले। पत्थर। बिनौली। इंद्रोपल।

विशेष—इन गोलों के बीच में बर्फ़ की कड़ी गुठली सी होती है जिसके ऊपर मुलायम बर्फ़ की तह होती है। पत्थर कई आकार के गिरते हैं। पत्थर पड़ने का समय प्रायः शिशिर और वसंत है।

क्रि० प्र०—गिरना।—पड़ना।

वि० (१) ओले के ऐसा ठंढा। बहुत सर्द। (२) मिस्री का बना हुआ लड्डू जिसे गरमी में ठंढक के लिये घोलकर पीते हैं।

संज्ञा पुं० [देश०] काँगड़े के ज़िले में होनेवाला एक प्रकार का बबूल जिसकी लकड़ी से खेती के औज़ार बनते हैं।

संज्ञा पुं० [हिं० ओल] (१) परदा। ओट। (२) भेद। गुप्त बात।

ओलिक–संज्ञा पुं० [हिं० ओल=आड़, ओट, पं० ओह्ला] ओट। परदा। उ०—नील निचोल दुराय कपोल विलोकति ही किये ओलिक तोहीं।—केशव।

ओली–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओल] (१) गोद।

मुहा०—ओली लेना=गोद लेना। दत्तक बनाना।

(२) अंचल। पल्ला।

मुहा०—ओली ओड़ना=आँचल फैलाकर कुछ माँगना। विनयपूर्वक कोई प्रार्थना करना। विनती करना। उ०—(क) ऐंड सों ऐंडाय जनि अंचल उड़ात ओली ओड़त हौं काहू की जु डीठि लगि जायगी।—केशव। (ख) एरछ ही जैये सब छोड़ि। हौं जु कहत हौं ओली ओड़ि।—केशव। (ग) बोली न हौं वे बोलाय रहे हरि पायँ परे अरु ओलियौ ओड़ी।—केशव। (३) झोली। उ०—ओलिन अबीर, पिचकारि हाथ। सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ।—तुलसी। (३) खेत की उपज का अंदाज़ करने का एक ढंग जिसमें एक बिस्वे का परता लगाकर बीघे भर की उपज का अनुमान किया जाता है।

ओलौना†–संज्ञा पुं० [सं० तुलना] उदाहरण। मिसाल। तुलना।

क्रि० अ० उदाहरण देना। दृष्टांत देना।

ओवर–संज्ञा पुं० [अं०] क्रीकेट के खेल में पाँच गेंद दिए जाने भर का समय।

क्रि० प्र०—होना।

विशेष—जब एक खिलाड़ी ओवर हो जाता है, तब गेंद दूसरी तरफ़ से दिया जाता है और खिलाड़ियों की जगहें बदल दी जाती हैं।

ओवरकोट–संज्ञा पुं० [अं०] बहुत लंबा कोट जो जाड़े में सब कपड़ों के ऊपर पहना जाता है। लबादा।

ओवरसियर–संज्ञा पुं० [अं०] इंजीनियरी के मुहकमे का एक कार्य्यकर्त्ता जिसका काम बनती हुई इमारतों, सड़कों आदि की निगरानी और मज़दूरों की देख रेख करना है।

ओंवा–संज्ञा पुं० दे० "ओंआ"।

ओषधि, ओषधी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वनस्पति। जड़ी बूटी जो दवा में काम आवे। (२) पौधे जो एक बार फलकर सूख जाते हैं। जैसे, गेहूँ, जव इत्यादि।

यौ०—ओषधिपति। ओषधीश।

ओषधिपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर।

विशेष—ओषधिवाची शब्दों में "स्वामी" वाची शब्द लगाने से चंद्रमा वा कपूरवाची शब्द बनते हैं; जैसे—ओषधीश।

ओषधीश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर।

ओष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० ओष्ठ्य] होंठ। ओंठ। लब।

यौ०—ओष्ठोपमाफल=कुँदरू।

ओष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिंबाफल। कुँदरू। (२) कुँदरू की लता।

ओष्ठ्य–वि० [सं०] (१) ओंठ संबंधी। (२) जिसका उच्चारण ओंठ से हो।

यौ०—ओष्ठ्यवर्ण=उ, ऊ, प फ ब भ म।

ओस–संज्ञा स्त्री० [सं० अवश्याय, पा० उस्साव] हवा में मिली हुई भाप जो रात की सरदी से जमकर और जलबिन्दु के रूप में हवा से अलग होकर पदार्थों पर लग जाती है। शीत। शबनम।

विशेष—जब पदार्थों की गर्मी निकलने लगती है, तब वे तथा उनके आस पास की हवा बहुत ही ठंढी हो जाती है। उसी से ओस की बूँदें ऐसी ही वस्तुओं पर अधिक देखी जाती हैं जिनमें गरमी निकालने की शक्ति अधिक है और धारण करने की कम, जैसे घास। इसी कारण ऐसी रात को ओस अधिक पड़ेगी जिसमें बादल न होंगे और हवा तेज़ न चलती होगी। अधिक सरदी पाकर ओस ही पाला हो जाती है।

मुहा०—ओस पड़ना वा पड़ जाना=(१) कुम्हलाना। बेरौनक हो जाना। (२) उमंग बुझ जाना। (३) लज्जित होना। शरमाना। ओस का मोती=शीघ्र नाशवान। जल्दी मिटनेवाला। उ०—यह संसार ओस का मोती बिखर जात इक छिन में।—कबीर।

ओसर, ओसरिया–संज्ञा स्त्री० [सं० उपसर्या] वह भैंस जो गर्भ धारण करने योग्य हो चुकी हो, परंतु अभी गाभिन न हुई हो। जवान। बिना ब्याई भैंस।

ओसरा†–संज्ञा पुं० [सं० अवसर] (१) बारी। दाँव। (२) बूध बूहने का समय।

ओसरी†–संज्ञा स्त्री० [सं० अवसर] पारी। बारी। दाँव।

ओसाई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओसाना] (१) ओसाने का काम। दायें हुए गल्ले को हवा में उड़ाने का काम, जिससे भूसा और अन्न अलग हो जाता है। (२) ओसाने के काम की मज़दूरी।

ओसान†–संज्ञा पुं० (१) दे० "ओसाई(१)"। (२) दे० "अवसान"।

ओसाना–क्रि० स० [सं० आवर्षण, पा० आवस्सन] दायें हुए गल्ले को हवा में उड़ाना, जिससे दाना और भूसा अलग अलग हो जाय। बरसाना। डाली देना।

मुहा०—अपनी ओसाना=इतनी अधिक बातें करना कि दूसरे को बात करने का समय ही न मिले। बातों की झड़ी बाँधना। जैसे,—तुम तो अपनी ही ओसाते हो, दूसरे की सुनते ही नहीं। किसी को ओसाना=किसी को खूब फटकारना।

ओसार–संज्ञा पुं० [सं० अवसर=फैलाव] (१) फैलाव। विस्तार। चौड़ाई। (२) दे० "ओसारा"।

वि० चौड़ा।

ओसारा†–संज्ञा पुं० [सं० उपशाला] [स्त्री० अल्पा० ओसारी] (१) दालान। बरामदा। उ०—राति ओसारे में सोय रही कहि जाति न एती मसानि सताई।—रघुनाथ। (२) ओसारे की छाजन। सायबान।

क्रि० प्र०—लगाना।—लटकाना।

ओसीसा†–संज्ञा पुं० दे० "उसीसा"।

ओह–अव्य० [सं० अहह] (१) आश्चर्य्यसूचक शब्द। (२) दुःखसूचक शब्द। (३) बेपरवाई का सूचक शब्द।

ओहट*–संज्ञा स्त्री० [हिं० ओट] ओट। ओझल। उ०—(क) ओहट होहु रे भाँट भिखारी। का तू मोहि देइ अस गारी।—जायसी। (ख) ओहट हो जोगी तोर चेरी। आवै बास करकटा केरी।—जायसी।

ओहदा–संज्ञा पुं० [अ०] पद। स्थान।

यौ०—ओहदेदार।

ओहदेदार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] पदाधिकारी। हाकिम। कार्य्यकर्त्ता। कर्मचारी। अधिकारी।

ओहरना†–क्रि० अ० [सं० अवहरण] बढ़ती और उमड़ती हुई चीज़ का घटना। घटाव पर होना।

ओहरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० हारना] थकावट।

ओहा†–संज्ञा पुं० [सं० ऊधस्] गाय का थन।

ओहार–संज्ञा पुं० [सं० अवधार] रथ वा पालकी के ऊपर पड़ा हुआ कपड़ा। परदा। उ०—(क) शिविका सुभग ओहार उघारी। देखि दुलहिनिनि होहिं सुखारी।—तुलसी। (ख) संत पालकी निकट सिधारे। करिकै विनय ओहार उघारे।—रघुराज।

ओहो–अव्य० [सं० अहो] (१) एक आश्चर्यसूचक शब्द। (२) एक आनंदसूचक शब्द।

औ

औ–संस्कृत वर्णमाला का चौदहवाँ और हिंदी वर्णमाला का ग्यारहवाँ स्वर वर्ण। इसके उच्चारण का स्थान कंठ और ओष्ठ है। यह स्वर अ+ओ के संयोग से बना है।

औंगको–संज्ञा पुं० [मला०] गिब्बन की जाति का एक बंदर जो सुमात्रा टापू में होता है। यह जंतु कई रंग का होता है; पर विशेष कर ऊदापन लिए हुए पीले रंग का होता है। इसके पैर की उँगलियाँ मिली होती हैं। यह जंतु जोड़े के साथ रहता है। इसका स्वभाव सुशील और डरपोक है; पर यह बड़ा चालाक होता है।

औंगी–संज्ञा स्त्री० [सं० अवाङ] चुप्पी। गूँगापन। खामोशी।

औंगना–क्रि० स० [सं० अंजन] बैलगाड़ी के पहिए की धुरी में तेल देना।

औंघना, औंघाना†–क्रि० अ० [सं० अवाङ्=नीचे मुँह] ऊँघना। अलसाना। झपकी लेना।

औंघाई†–संज्ञा स्त्री० [सं० अवाङ्=नीचे मुँह] हलकी नींद। तंद्रा। झपकी।

औंजना*†–क्रि० अ० [सं० अविजन=व्याकुल होना] ऊबना। व्याकुल होना। अकुलाना। उ०—एक करै धौज, एक सौंज लै निकरै, एक औंजि पानी पी कै सीकै, बनत न आवनो। एक परे गाढ़े, एक डाढ़त ही काढ़े, एक देखत हैं ठाढ़े कहैं पावक भयावनो।—तुलसी।

औंटन–संज्ञा पुं० [सं० आवर्त्तन, प्रा० आवट्टन] (१) लकड़ी का ठीहा जिस पर चौपायों का चारा काटा जाता है। (२) वह ठीहा जिस पर ऊख की गँड़ेरी काटी जाती है।

औंठ–संज्ञा स्त्री० [सं० ओष्ठ, प्रा० ओट्ठ] उठा हुआ किनारा। उभड़ा हुआ किनारा। बारी। जैसे,—घड़े की औंठ। रोटी की औंठ।

मुहा०—**औंठ उठाना**=परती पड़े हुए खेत को जोतना।

औंड़*–संज्ञा पुं० [सं० कुंड=गड्ढा] गड्ढा खोदनेवाला। मिट्टी खोदनेवाला। मिट्टी उठानेवाला मज़दूर। बेलदार। उ०—चले जाहु ह्याँ को करै हाथिन को ब्योपार। नहिं जानत यहि पुर बसैं धोबी, औंड़, कुम्हार।—बिहारी।

औंड़ा–वि० [सं० कुंड] [स्त्री० औंड़ी] गहरा। गंभीर। उ०—(क) तब तिन एक पुरस भरि औंड़ी। एक एक योजन लाँबी चौड़ी। .... साठ सहस योजन महि खोदी।—पद्माकर। (ख) यों कह गोवर्द्धन के निकट जाय दो औंड़े कुंड खुदवाए।—लल्लू। (ग) यह समझ मणि न पाय श्रीकृष्णचंद्र सब को साथ लिए वहाँ गए जहाँ वह औंड़ी महाभयावनी गुफा थी।—लल्लू।

वि० [हिं० औड़ना, उमड़ना] उमड़ा हुआ। चढ़ा हुआ। बढ़ा हुआ। उ०—आवत जात ही होय है साँझ बहै जमुना भतरौंड लौं औंड़ी।—रसखान।

औंड़ा बौंड़ा†–वि० दे० "अंड बंड"।

औंदना*†–क्रि० अ० [सं० उन्माद] (१) उन्मत्त होना। बेसुध होना। उ०—देव कहै आप औंदै बूझति प्रसंग आगे सुधि ना सँभारै बूझि आनँद परस्पर।—देव। (२) व्याकुल होना। घबराना। अकुलाना। उ०—देत दुसह दुख पवन मोहिं अंचल चारु उड़ाय। कसु कामिनि करि कै कृपा, औंदिय सुधि बिसराय।—रघुराज।

औंदाना*–क्रि० अ० [सं० उद्वेदन] ऊबना। व्याकुल होना। दम घुटने के कारण घबराना। उ०—ब्रह्मा गुरु सुर असुर के संधिक विष नाहिं जान। मरैं सकल औंदाइ कै संधिक विष करि पान।—कबीर।

औंधना–क्रि० अ० [सं० अधः वा अवधा] उलट जाना। उलटा होना। क्रि० स० उलटा देना। उलटा कर देना। उ०—जीति सबै जग औंधि धरे हैं मनोज महीप के दुंदुभी दोऊ।

औंधा–वि० [सं० अधः वा अवधा] [स्त्री० औंधी] (१) उलटा। पट। जिसका मुँह नीचे की ओर हो। जैसे, औंधा बरतन। उ०—औंधा घड़ा नहीं जल डूबै सूधे सों घट भरिया। जेहि कारन नर भिन्न भिन्न करु गुरु प्रसाद ते तरिया।—कबीर।

मुहा०—**औंधी खोपड़ी का**=मूर्ख। जड़। कूढ़ मग्ज़। उ०—कबिरा औंधी खोपड़ी, कबहूँ धापै नाहिं। तीन लोक की संपदा, कब आवै घर माहिं।—कबीर। **औंधी समझ**=उलटी समझ। जड़ बुद्धि। **औंधे मुँह**=मुँह के बल। नीचे मुँह किए। **औंधे मुँह गिरना**=(१) मुँह के बल गिरना। (२) बेतरह चूकना वा धोखा खाना। झटपट बिना सोचे समझे कोई काम करके दुःख उठाना। जैसे,—(क) वे चले तो थे हमें फँसाने, पर आप ही औंधे मुँह गिरे। (३) भूल करना। भ्रम में पड़ना। जैसे,—रामायण का अर्थ करने में वे कई जगह औंधे मुँह गिरे हैं। **औंधा हो जाना**=(१) गिर पड़ना। (२) बेसुध होना। अचेत होना।

(२) नीचा। उ०—राजा रहा दृष्टि कै औंधी। रहि न सका तब भाँट दसौंधी।—जायसी। (३) वह जिसे गुदाभंजन कराने की आदत हो। गाँडू। (बाजारू)

संज्ञा पुं० एक पकवान जो बेसन और पीठी का नमकीन और आटे का मीठा बनता है। उलटा। चिल्ला। चिलड़ा।

औंधाना–क्रि० स० [सं० अधः] (१) उलटना। उलट देना। पट कर देना। अधोमुख करना। उ०—औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरत बिललात। बीचहि सूखि गुलाब गौ छींटौ छुई

न गात।—बिहारी। (२) नीचा करना। लटकाना। उ०—बुधि बल विक्रम विजय बड़ापन सकल बिहाई। हारि गए हिय भूप बैठि सीसन औंधाई।—रघुराज।

औंरा†–संज्ञा पुं० दे० "आँवला"।

औंस–संज्ञा पुं० दे० "आउंस"।

औंहर†–संज्ञा स्त्री० [सं० अवरोध, प्रा० ओरोह] अटकाव। रुकावट। बाधा। विघ्न।

औ–संज्ञा पुं० [सं०] अनंत। शेष।

संज्ञा स्त्री० विश्वंभरा। पृथ्वी।

*अव्य० दे० "और"।

औकन–संज्ञा स्त्री० [देश०] राशि। ढेर।

विशेष—औकन ज्वार के उन बालों वा भुट्टों के ढेर को कहते हैं, जिनसे दाने निकाल लिए गए हों। इस ढेर को एक बार फिर बचा खुचा दाना निकालने के लिये पीटते हैं।

औक़ात–संज्ञा पुं० बहु० [अ० वक्त का बहु०] समय। वक़्त।

स्त्री० एक वचन। (१) वक़्त। समय।

यौ०—औक़ात बसरी=जीवन निर्वाह। औक़ात ज़ाया करना=समय नष्ट करना। औक़ात बसर करना=जीवन निर्वाह करना।

(२) हैसियत। बिसात। बिसारत। जैसे,—अपनी औक़ात देखकर ख़र्च करना चाहिए।

औखल†–संज्ञा स्त्री० [सं० ऊषर] वह भूमि जो परती से आबाद की गई हो।

औखद–संज्ञा पुं० दे० "औषध"।

औखा–संज्ञा पुं० [हिं० गोखा] गाय का चमड़ा। गाय का चरसा।

औगत–संज्ञा स्त्री० [सं० अव+गति] दुर्दशा। दुर्गति।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

वि० दे० "अवगत"।

औगाहना*–क्रि० अ० दे० "अवगाहना"।

औगी–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) रस्सी बटकर बनाया हुआ कोड़ा जो पीछे की ओर मोटा और आगे की ओर बहुत पतला होता है। इसे घोड़ों को चक्कर देते समय उनके पीछे ज़ोर ज़ोर से हवा में फटकारते हैं जिसके शब्द से चौंककर वे और तेज़ी से दौड़ते हैं। (२) बैल हाँकने की छड़ी। पैना। (३) कारचोबी के जूते के ऊपर का चमड़ा।

संज्ञा स्त्री० [सं० अवगर्त्त] हाथी, शेर, भेड़िए आदि को फँसाने का गड्ढा जो घास फूस से ढँका रहता है।

औगुन*†–संज्ञा पुं० दे० "अवगुण"।

औगुनी*†–वि० [सं० अवगुणिन्] (१) निर्गुणी। (२) दोषी। ऐबी।

औघट*†–वि० दे० "अवघट"।

औघड़–संज्ञा पुं० [सं० अघोर=भयानक। शिव] [स्त्री० औघड़िन] (१) अघोर मत का पुरुष। अघोरी। (२) काम में सोच विचार न करनेवाला। मनमौजी। (३) बुरा शकुन। अपशकुन। (ठगों की बोली)।

वि० अंडबंड। उलटा पलटा। अटपट।

औघर–वि० [सं० अव+घट] (१) अटपट। अनगढ़। अंडबंड। उलटा पलटा। 'सुघर' का प्रतिकूल। (२) अनोखा। विलक्षण। उ०—(क) कुंजबिहारी नाचत नीके लाड़िली नचावति नीके। औघर ताल धरे श्रीश्यामा मिलवत ताताथेई ताथेई गावत सँग पी के।—हरिदास। (ख) बलिहारी वा रूप की लेति सुघर औ औघर तान दै चुंबन आकर्षति प्रान।—सूर। (ग) मोहन मुरली अधर धरी। कंचन मणिमय खचित रचित अति कर गिरिधरन परी। औघर तान बँधान सरस सुर अरु रस उमगि भरी। आकर्षत मन तन युवतिन के नग खग वित्रस करी। पियमुख सुधा विलास विलासिनि सुरत सँगीत समुद्र तरी। सूरदास त्रैलोक विजययुत दर्प मीनपति गर्व हरी।—सूर।

औचक–क्रि० वि० [सं० अव+चक=भ्रांति] अचानक। एकाएक। सहसा। एकबारगी। उ०—(क) खेलत औचक ही हरि आए। जननी बाँह पकरि बैठाए—सूर। (ख) बनतन तें आए अति भोर·········औचक आइ गए गृह मेरे दुर्लभ दर्शन दीन्हों। सूर स्याम निसि हौ कहुँ जागे पावति अँग अँच चीन्हों।—सूर। (ग) औचक आव जोबनवा अति दुख दीन। छुटिगो संग गोइयवाँ नहिं भल कीन।—रहीम। (घ) जौ वाके तन की दसा देख्यो चाहत आप। तौ बलि नेक बिलोकिये चलि औचक चुपचाप।—बिहारी।

औचट–संज्ञा स्त्री० [सं० अ=नहीं+हिं० उचटना=हटना] ऐसी स्थिति जिसमें निस्तार का उपाय जल्दी न सूझे। अंडस। संकट। कठिनता। साँकरा। जैसे,—साँप जब औचट में पड़ता है, तभी काटता है। उ०—रसखान सों केतो उचाटि रही, उचटी न सकोच की औचट सों। अली कोटि कियो अटकी न रही, अटकी अँखियाँ लटकी लट सों।—रसखान।

मुहा०—औचट में पड़ना=संकट मे पड़ना।

क्रि० वि०(१) अचानक। अकस्मात्। उ०—इक दिन सब करती रहीं जमुना में अस्नान। चीर हरे तहँ आइ कै औचट स्याम सुजान।—विश्राम। (२) अनचीते में। भूल से। उ०—स्वारथ के साथी तज्यो, तिजरा को सो टोटको औचट उलटि न हेरो।—तुलसी।

औचिंत*–वि० [सं० अव=नहीं=चिंता] निश्चिंत। बेख़बर। उ०—काल सचाना नर चिड़ा औजड़ औ औचिंत।—कबीर।

औचिती–संज्ञा स्त्री० [सं०] औचित्य। उपयुक्तता।

औचित्य–संज्ञा पुं० [सं०] उचित का भाव। उपयुक्तता। उ०—विपक्षी की प्रतिकूलता ही हर पक्ष को औचित्य की सीमा के बाहर नहीं जाने देती।—द्विवेदी।

औछ–संज्ञा स्त्री० [देश०] दारुहल्दी की जड़।

औज–संज्ञा स्त्री० दे० "ओज"।

औजकमाल–संज्ञा पुं० [अ०] संगीत में एक मुक़ाम (फ़ारसी राग) का पुत्र।

औजड़–वि० [सं० अव+जड़] उजड्ड। अनाड़ी। उ०—काल सचाना, नर चिड़ा औजड़ औ औचिंत।—कबीर।

औज़ार–संज्ञा पुं० [अ०] वे यंत्र जिनसे लोहार, बढ़ई आदि कारीगर अपना काम करते हैं। हथियार। राछ।

औझक†–क्रि० वि० दे० "औचक"।

औझड़, औझर–क्रि० वि० [सं० अव+हिं० झड़ी] लगातार। निरंतर। उ०—हिरना विरझेउ सिंह से औझर छुरी चलाय। झारखंड झींना पर्यो सिंहा चले पराय।—गिरिधर।

मुहा०—औझड़ मारना वा लगाना=वार पर वार करना। धड़ाधड़ चाँटे लगाना।

औटन–संज्ञा स्त्री० [सं० आवर्त्तन, प्रा आवट्टन] (१) उबाल। ताव। ताप। उ०—कनक पान कित जोवन कीन्हा। औटन कठिन विरह वह दीन्हा।—जायसी। (२) तंबाकू काटने की छुरी।

औटना–क्रि० स० [सं० आवर्त्तन, प्रा आवट्टन] (१) दूध वा किसी और पतली चीज़ को आँच पर चढ़ाकर धीरे धीरे हिलाना और गाढ़ा करना। उ०—(क) औट्यौ दूध कपूर मिलायो प्यावत कनक कटोरे। पीवत देखि रोहिणी यशुमति डारत है तृन तोरे।—सूर। (ख) सकत न तुव ताते बचन मो रस को रस खोय। छिन छिन औटे छीर लौं खरो सवादल होय।—बिहारी। (२) पानी, दूध वा और किसी पतली चीज़ को आँच पर गरम करना। खौलाना।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग केवल तरल पदार्थों के लिये होता है।

*(३) व्यर्थ घूमना। इधर उधर हैरान होना।

क्रि० अ० (१) किसी तरल वस्तु का आँच वा गरमी खा खा कर गाढ़ा होना। (२) खौलना।

औटनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० औटना] कलछी वा चम्मच जिससे आँच पर चढ़े हुए दूध वा और किसी तरल पदार्थ को हिलाते वा चलाते हैं।

औटाना–क्रि० स० [हिं० औटना] दूध वा किसी और पतली चीज़ को आँच पर चढ़ाकर धीरे धीरे हिलाना और गाढ़ा करना। खौलाना। उ०—(क) लखि द्विज धर्म तेल औटायो। बरत कराह माँझ डरवायो।—विश्राम। (ख) पय औटावत महँ इक काला। कढ़े रंगपति विभव विशाला।—रघुराज।

औटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० औटना] (१) वह पुष्टई जो गाय को ब्याने पर दी जाती है। (२) पानी मिलाकर पकाया हुआ ऊख का रस।

औडुलोमि–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि वा आचार्य्य जिनका मत वेदांत सूत्रों में उदाहृत किया गया है।

औढर–वि० [सं० अव+हिं० ढार वा ढाल] जिस ओर मन में आवे, उसी ओर ढल पड़नेवाला। जिसकी प्रकृति का कुछ ठीक ठिकाना न हो। मनमौजी। उ०—(क) देत न अघात रीझि जात पात आकही के भोरानाथ जोगी जब औढर ढरत है।—तुलसी। (ख) औढर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे।—तुलसी।

औणक–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक गीत।

औतरना*–क्रि० अ० दे० "अवतरना"।

औतार–संज्ञा पुं० दे० "अवतार"।

औत्तमि–संज्ञा पुं० [सं०] चौदह मनुओं में से तीसरा।

औत्सुक्य–संज्ञा पुं० [सं०] उत्सुकता। उत्कंठा। हौसला।

औथरा*–वि० [सं० अवस्थल] उथला। छिछला। उ०—अति अगाध अति औथरो नदी कूप सर बाय। सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय।—बिहारी।

औदयिक–वि० [सं०] उदयसंबंधी।

संज्ञा पुं० वह भाव वा विचार जो पूर्व संचित कर्मों के कारण चित्त में उठता है। (जैन)

औदरिक–वि० [सं०] (१) उदरसंबंधी। (२) बहुत खानेवाला। पेटू।

औदान†–संज्ञा पुं० [सं० अवदान] वह वस्तु जो मोल लेनेवाले को ऊपर से दी जाती है। घाल। घलुआ।

औदसा*†–संज्ञा स्त्री० [सं० अवदशा] बुरी दशा। दुर्दशा। दुःख। आपत्ति।

क्रि० प्र०—फिरना=बुरे दिन आना।

औदार्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उदारता। (२) सात्विक नायक का एक गुण।

औदीच्य–संज्ञा पुं० [सं०] गुजराती ब्राह्मणों की एक जाति।

औदुंबर–वि० [सं०] (१) उदुंबर वा गूलर का बना हुआ। (२) ताँबे का बना हुआ।

संज्ञा पुं० (१) गूलर की लकड़ी का बना हुआ यज्ञपात्र। (२) चौदह यमों में से एक। (३) एक प्रकार के मुनि जिनका यह नियम होता था कि सबेरे उठकर जिस दिशा की ओर पहले दृष्टि जाती थी, उसी ओर जो कुछ फल मिलते थे, उस दिन उन्हीं को खाते थे।

औद्दालक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दीमक और बिलनी आदि बाँबी के कीड़ों के बिल से निकला हुआ चेप वा मधु। (२) एक तीर्थ का नाम।

वि० उद्दालक के वंश का।

औद्धत्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उग्रता। अक्खड़पन। उजड्डपन। (२) अविनीतता। अशालीनता। धृष्टता। ढिठाई।

औद्योगिक–वि० [सं०] उद्योगसंबंधी।

औद्वाहिक–वि० [सं०] विवाहसंबंधी।

संज्ञा पुं० विवाह में ससुराल से मिला हुआ धन जिसका बटवारा नहीं होता।

औंध*-संज्ञा पुं० दे० "अवध"।

संज्ञा स्त्री० दे० "अवधि"।

औंधमोहरा-संज्ञा पुं० [सं० उर्द्ध+हिं० मोहड़ा] सिर उठाकर चलनेवाला हाथी।

औंधि*-संज्ञा स्त्री० दे० "अवधि"।

औनि*-संज्ञा स्त्री० दे० "अवनि"।

औना पौना-वि० [हिं० ऊन (कम)+पौना (¾ भाग)] आधा तीहा। थोड़ा बहुत। अधूरा।

क्रि० वि० कमती बढ़ती पर।

मुहा०—औने पौने करना=कमती बढ़ती दाम पर बेच डालना। जितना मिले उतने पर बेच डालना।

औपक्रमिक निर्जरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अर्हत वा जैनदर्शन में दो निर्जराओं में से एक। वह निर्जरा वा कर्मक्षय जिसमें तपोबल द्वारा कर्म का उदय कराकर नाश किया जाय।

औपचारिक-वि० [सं०] (१) उपचार संबंधी। (२) जो केवल कहने सुनने के लिये हो। बोलचाल का। जो वास्तविक न हो। जैसे,—यदि देह से आत्मा अभिन्न हुआ तो मेरा देह, इस प्रकार प्रतीति किस प्रकार हो सकती है। इसके उत्तर में यही कहना है जो "राहु का शिर" इत्यादि प्रतीति की नाईं मेरा देह, इस प्रकार औपचारिक प्रतीति हो जाती है।

औपधिक-वि० [सं०] भय दिखाकर धन लेनेवाला पुरुष।

औपनिधिक-वि० [सं०] उपनिधि वा धरोहर संबंधी।

औपनिषदिक-वि० [सं०] उपनिषद् संबंधी वा उपनिषद् के समान।

औपन्यासिक-वि० [सं०] (१) उपन्यासविषयक। उपन्याससंबंधी। (२) उपन्यास में वर्णन करने योग्य। (३) अद्भुत। विलक्षण।

औपपत्तिक शरीर-संज्ञा पुं० [सं०] देवलोक और नरक के जीवों का नैसर्गिक वा सहज शरीर। लिंग शरीर।

औपम्य-संज्ञा पुं० [सं०] उपमा का भाव। समता। बराबरी। तुल्यता।

औपशमिक-वि० [सं०] शांतिकारक। शांतिदायक।

यौ०—औपशमिक भाव=वह भाव जो अनुदय प्राप्त कर्मों के शांत न होने पर उत्पन्न हो। जैसे गँदला पानी रीठी डालने से साफ़ हो जाता है। (जैन)

औपसर्गिक-संज्ञा पुं० [सं०] उपसर्ग संबंधी।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का सन्निपात।

औपश्लेषिक (आधार)-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में अधिकरण कारक के अंतर्गत तीन आधारों में से वह आधार जिसके किसी अंश ही से दूसरी वस्तु का लगाव हो। जैसे, वह चटाई पर बैठा है। वह बटलोई में पकाता है। यहाँ चटाई और बटलोई औपश्लेषिक आधार हैं।

औपासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वैदिक अग्नि जो उपासना के लिये हो। (२) कृत्य जो औपासन अग्नि के पास किया जाय।

औम*-संज्ञा स्त्री० [सं०] अवम तिथि। वह तिथि जिसकी हानि हुई हो। उ०—गनती गनबे तें रहे छत हू अछत समान। अलि अब ये तिथि औम लौं परे रहो तन प्रान।—बिहारी।

और-अव्य० [सं० अपर, प्रा० अवर] एक संयोजक शब्द। दो शब्दों वा वाक्यों का जोड़नेवाला शब्द। उ०—(क) घोड़े और गधे चर रहे हैं। (ख) हमने उनको पुस्तक दे दी और घर का रास्ता दिखला दिया।

वि० (१) दूसरा। अन्य। भिन्न। उ०—यह पुस्तक किसी और मनुष्य को मत देना।

मुहा०—और का और=कुछ का कुछ। विपरीत। अंडबंड। जैसे,—वह सदा और का और समझता है। और का और होना=भारी उलट फेर होना। विशेष परिवर्तन होना। उ०—द्विज पतिया दे कहियो श्यामहिं। अब ही और की और होत कछु लागै बारा? ताते मैं पाती लिखी तुम प्रान अधारा।—सूर। और क्या=(१) हाँ। ऐसा ही है। जैसे,—(क) प्रश्न—क्या तुम अभी जाओगे। उत्तर—और क्या। (ख) क्या इसका यही अर्थ है? उत्तर—और क्या। (ऐसे प्रश्नों के उत्तर में इसका प्रयोग नहीं होता जिनके अंत में निषेधार्थक शब्द "नहीं" वा "न" इत्यादि भी लगे हों; जैसे,—तुम वहाँ जाओगे या नहीं। (२) आश्चर्यसूचक शब्द। (३) उत्साह वर्द्धक वाक्य। और तो और=दूसरों का ऐसा करना तो उतने आश्चर्य की बात नहीं। दूसरों से या दूसरों के विषय में तो ऐसी संभावना हो भी। जैसे,—(क) और तो और, स्वयं सभापति जी नहीं आए। (ख) और तो और, यह छोकड़ा भी हमारे सामने बातें करता है। और ही कुछ होना=सब से निराला होना। विलक्षण होना। उ०—वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान।—बिहारी। (१) और बातों को जाने दो। और सब तो छोड़ दो। जैसे,—और तो और, पहले आप इसी को करके देखिए। (२) दे० "और तो क्या"। और तो क्या=और बातें तो दूर रहीं। और बातों का तो जिक्र ही क्या। उचित तो बहुत कुछ था। जैसे,—और तो क्या, उन्होंने पान तंबाकू के लिये भी न पूछा। और लो, और सुनो=यह वाक्य किसी तीसरे से उस समय कहा जाता है जब कोई व्यक्ति एक के उपरांत दूसरी और अधिक अनहोनी बात कहता है वा कहनेवाले पर दोषारोपण करता है।

(२) अधिक। ज्यादा। जैसे,—अभी और काग़ज़ लाओ इतने से काम न होगा।

औरत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) स्त्री। (२) जोरू। पत्नी।

औरस-संज्ञा पुं० [सं०] स्मृति के अनुसार १२ प्रकार के पुत्रों में सब से श्रेष्ठ, अपनी धर्मपत्नी से उत्पन्न पुत्र।

वि० जो अपनी विवाहिता स्त्री से उत्पन्न हो।

औरस्य–संज्ञा पुं० [सं०] औरस पुत्र।

औरसना*–क्रि० अ० [सं० अव=बुरा+रस] विरस होना। अनखाना। रुष्ट होना। उदासीन होना। उ०—खंजन नैन सुरँग रसमाते। अतिसै चारु विमल दृग चंचल पल पिंजरा न समाते। बसे कहूँ सोइ बात कही सखि रहे इहाँ केहि नाते। सोइ संज्ञा देखत औरासी बिकल उदास कला ते। चलि चलि आवत श्रवण निकट अति सकुच तटंक फँदाते। सूरदास अंजन गुन अटके नतरु कबै उड़ि जाते।—सूर।

औरेबे–संज्ञा पुं० [सं० अव=विरुद्ध+रवे=गति] (१) वक्र गति। तिरछी चाल। (२) कपड़े की तिरछी काट। (३) पेंच। उलझन। (४) पेंच की बात। चाल की बात। उ०—दीनी है मधुप सबहिं सिख नीकी। हमहूँ कछुक लखी है तब की औरेबैं नँदलाल की।—तुलसी।

और्द्धदैहिक–वि० [सं०] मरने के पीछे का। अंत्येष्टि।

यौ०—और्द्धदैहिक कर्म=प्रेतक्रिया। दसगात्र सपिंड दान कर्म।

और्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़वानल। (२) नोनी मिट्टी का नमक। (३) पौराणिक भूगोल का दक्षिण भाग जहाँ संपूर्ण नरक हैं और दैत्य रहते हैं। (४) पंच प्रवर मुनियों में से एक। (५) एक भृगुवंशीय ऋषि।

और्वशेय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उर्वशी के पुत्र। (२) वशिष्ठ और अगस्त्य।

औलंभा–संज्ञा पुं० दे० "ओलंभा"

औल–संज्ञा पुं० [देश०] जंगली ज्वर।

औलाद–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) संतान। संतति। (२) वंश-परंपरा। नस्ल।

औलिया–संज्ञा पुं० [अ० वली का बहु०] मुसलमान मत के सिद्ध लोग। पहुँचे हुए फ़क़ीर।

औली†–संज्ञा स्त्री० [सं० आवली] वह नया और हरा अन्न जो पहले पहल काटकर खेत से लाया जाय। नवान्न।

औलूक–संज्ञा पुं० [सं०] उल्लुओं का समूह।

औलूक्य–संज्ञा पुं० [सं०] कणाद वा उलूक ऋषि का वैशेषिक दर्शन।

औलेखाँ–संज्ञा पुं० दे० "औले भाई"।

औले भाई–संज्ञा पु० [?] ठगों की एक बोली। ठग लोग जब किसी को देखकर यह जानना चाहते हैं कि यह ठग है वा मुसाफ़िर, तब वे उससे यदि वह हिंदू हुआ तो "औले भाई राम राम" और यदि मुसलमान हुआ तो "औले खाँ सलाम" कहते हैं। यदि उसने ठगों ही की बोली में जवाब दिया तब वे समझ जाते हैं कि यह भी ठग है।

औवल–वि० [अ०] (१) पहला (२) प्रधान। मुख्य। (३) सर्वश्रेष्ठ। सर्वोत्तम।

संज्ञा पुं० आरंभ। शुरू।

औशि*–क्रि० वि० दे० "अवश्य"।

औशीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खस वा तृण की चटाई। (२) चँवर।

औषध–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह द्रव्य जिससे रोग का नाश हो। रोग दूर करनेवाली वस्तु। दवा।

यौ०—औषधालय। औषधसेवन।

ओषर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] छुटिया नोन। रेह का नमक।

औसत–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह संख्या जो कई स्थानों की भिन्न भिन्न संख्याओं को जोड़ने और उस जोड़ को, जितने स्थान हों, उतने से भाग देने से निकलती हो। बराबर का परता। समष्टि का समविभाग। सामान्य। जैसे,—एक मनुष्य ने एक दिन १०), दूसरे दिन २०), तीसरे दिन १५) और चौथे दिन ३५) कमाए, तो उसकी रोज की औसत आमदनी २०) हुई। (२) माध्यमिक। दरमियानी। साधारण। मामूली। जैसे,—वह औसत दरजे का आदमी है।

औसना†–क्रि० अ० [हिं० ऊमस+ना] (१) गरमी पड़ना। ऊमस होना। (२) देर तक रक्खी हुई खाने की चीज़ों में गंध उत्पन्न होना। बासी होकर सड़ना।

क्रि० प्र०—जाना।

(३) गरमी से व्याकुल होना।

क्रि० प्र०—जाना।

(४) फल आदि का भूसे आदि में दबकर पकना।

औसर*–संज्ञा पुं० दे० "अवसर"।

औसान–संज्ञा [सं० अवसान] (१) अंत। (२) परिणाम। उ०—जेहि तन गोकुलनाथ भज्यो। ऊधो हरि बिछुरत ते बिरहिनि सो तनु तबहिं तज्यो। ......अब औसान घटत कहि कैसे उपजी मन परतीति।—सूर।

संज्ञा पुं० सुध बुध। होश हवास। चेत। धैर्य्य। प्रत्युत्पन्न मति। उ०—(क) सुरसरि-सुवन रन भूमि आए। बाण-वर्षा लागे करन अति क्रोध है पार्थ औसान तब भुलाए।—सूर। (ख) पूँछ राखी चापि रिसनि काली काँपि देखि सब साँप औसान भूले। पूँछ लीनी झटकि, धरनि सों गहि पटकि, फूँ कह्यो लटकि करि क्रोध फूले।—सूर।

मुहा०—औसान उड़ाना, औसान ख़ता होना, औसान जाता रहना, औसान भूलना=सुधबुध भूलना। बुद्धि का चकराना। धैर्य्य न रहना। मतिभ्रम होना।

औसाना–क्रि० स० [हिं० औसना] फल वा और किसी वस्तु को भूसे आदि में दबाकर पकाना।

औसेर*–संज्ञा स्त्री० दे० "अवसेर"।

औहत–संज्ञा स्त्री० [सं० अपघात, अवहन=कुचलना, कूटना] अपमृत्यु। कुगति। दुर्गति। उ०—औहत होय मरौ नहिं झूरी। यह सठ मरौ जो नेरहि दूरी—जायसी।

औहाती*†–वि० स्त्री० दे० "अहिवाती"।

क

क–हिंदी वर्णमाला का पहला व्यंजन वर्ण। इसका उच्चारण कंठ से होता है। इसे स्पर्श वर्ण भी कहते हैं। ख, ग, घ और ङ इसके सवर्ण हैं।

कं–संज्ञा पुं० [सं० कम्] (१) जल। उ०—बाँधे जलनिधि, नीरनिधि, जलधि, सिंधु, वारीश। सत्य तोयनिधि, कंपति, उदधि, पयोधि, नदीश।—तुलसी। (२) मस्तक। उ०—सिंभु भष के पत्र वन दो बने चक्र अनूप। देव कं को छत्र छावत सकल सोभा रूप।—सूर। (३) सुख। (४) अग्नि। (५) काम। (६) सोना। उ०—कं सुख, कं जल, कं अनल, कं शिर, कं पुनि काम। कं कंचन, ते प्रीति तजि, सदा कहो हरिनाम।—नंददास।

कँउधा*–संज्ञा पुं० [हिं० कौंधना] बिजली की चमक। उ०—मनि-कुंडल चमकहिं अति लोने। जनु कँउधा लउकहिं दुहुँ कोने।—जायसी।

कंक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कंका, कंकी (हिं०)] (१) एक मांसाहारी पक्षी जिसके पंख बाणों में लगाए जाते थे। सफ़ेद चील। काँक। उ०—खग, कंक, काक, शृगाल। कट कटहि कठिन कराल—तुलसी। (२) एक प्रकार का आम जो बहुत बड़ा होता है। (३) यम। (४) क्षत्रिय। (५) युधिष्ठिर का उस समय का कल्पित नाम जब वे ब्राह्मण बन कर गुप्त भाव से विराट के यहाँ रहे थे। (६) एक महारथी यादव जो वसुदेव का भाई था। (७) कंस के एक भाई का नाम। (८) एक देश का नाम। (९) एक प्रकार के केतु जो वरुण देवता के पुत्र माने जाते हैं। ये संख्या में ३२ हैं और इनकी आकृति बाँस की जड़ के गुच्छे की सी है। ये अशुभ माने जाते हैं। (१०) बगला।

यौ०—कंकत्रोट। कंकपत्र। कंकपर्वा। कंकपृष्ठी। कंकमुख।

कँकई–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक नदी का नाम जो नैपाल की पूर्वी सीमा है। यह सिकिम से नैपाल को अलग करती है।

कंकड़–संज्ञा पुं० [सं० कर्कर, प्रा० कक्कर] [स्त्री० अल्पा० कंकड़ी] [वि० ककड़ीला] (१) एक खनिज पदार्थ जो उत्तरीय भारत में पृथिवी के खोदने से निकलता है। इसमें अधिकतर चूना और चिकनी मिट्टी का अंश पाया जाता है। यह भिन्न भिन्न आकृति का होता है, पर इसमें प्रायः तह वा परत नहीं होते। इसकी सतह खुरदुरी और नुकीली होती है। यह चार प्रकार का होता है–(क) तेलिया अर्थात् काले रंग का; (ख) दुधिया, अर्थात् सफ़ेद रंग का। (ग) बिछुआ, अर्थात् बहुत खड़बीहड़; और (घ) छर्रा अर्थात् छोटी छोटी कंकड़ी। कंकड़ जो जलाकर चूना बनाया जाता है। यह प्रायः सड़क पर कूटा जाता है। छत की गच और दीवार की नींव में भी दिया जाता है। (२) पत्थर का छोटा टुकड़ा। (३) किसी वस्तु का व ह कठिन टुकड़ा जो आसानी से न पिस सके। अँकड़ा। (४) सूखा या सेंका हुआ तमाकू जिसे गाँजे की तरह पतली चिलम पर रखकर पीते हैं। (५) रवा। डला। जैसे,—एक कंकड़ी नमक लेते आओ। (६) जवाहिरात का छोटा अनगढ़ और बेडौल टुकड़ा।

मुहा०—कंकड़ पत्थर=बेकाम की चीज। कूड़ा करकट।

कंकड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कंकड़ का अल्प० रूप] (१) छोटा कंकड़। अँकटी। (२) कण। छोटा टुकड़ा।

विशेष—दे० "कंकड़"।

कँकड़ीला–वि० [हिं० कंकड़+ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० कँकड़ीली] कंकड़ मिला हुआ। जिसमें कंकड़ हों। जैसे कँकड़ीली ज़मीन, कँकड़ीला घाट।

कंकण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कलाई में पहनने का एक आभूषण। ककना। कड़ा। खड़ुवा। चूड़ा। (२) एक धागा, जिसमें सरसों आदि की पुटली पीले कपड़े में बाँधकर लोहे के एक छल्ले के साथ विवाह के समय से पहले दूलह वा दुलहिन के हाथ में रक्षार्थ बाँधते हैं। विवाह में देशाचार अनुसार चोकर, सरसों, अजवायन आदि की नौ पोटलियाँ पीले कपड़े में लाल पीले तागे से बाँधते हैं। एक तो लोहे के छल्ले के साथ दूलह वा दुलहिन के हाथ में बाँध दी जाती है; शेष आठ मूसल, चक्की, ओखली, पीढ़े, हरिस, लोढ़े, कलश, आदि में बाँधी जाती हैं।

क्रि० प्र०—बाँधना।—खोलना।—पहनना।—पहनाना।

(३) ताल के आठ भेदों में से एक।

कंकणास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] वाल्मीकि के अनुसार एक प्रकार का अस्त्र।

कंकत्रोट–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कंकत्रोटी] एक प्रकार की मछली जिसका मुँह बगले के मुँह की तरह होता है। कौआ मछली।

कंकन–संज्ञा पुं० दे० "कंकण"।

कंकपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंक का पर। (२) बाण।

कंकपत्री–संज्ञा पुं० [सं० कंकपात्रिन्] बाण। तीर।

कंकपर्वा–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप।

कंकपृष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मछली।

कंकमुख–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की सँड़सी जिससे चिकित्सक किसी के शरीर में चुभे हुए काँटे आदि को निकालते हैं।

कंकर*–संज्ञा पुं० दे० "कंकड़"।

कंकरीट–संज्ञा स्त्री० [अं० कांक्रीट] (१) एक मसाला जो गच पीटने के समय छत पर डाला जाता है। चूना, कंकड़, बालू इत्यादि से मिलकर बना हुआ गच बनाने का मसाला। छर्रा। बजरी।

विशेष—चूने में चौगुने या पचगुने कंकड़, ईंट के टुकड़े, बालू आदि मिलाकर यह बनाया जाता है।

(२) छोटी छोटी कंकड़ी जो सड़कों में बिछाई और कूटी जाती है।

कँकरीला–वि० [हिं० कंकड] [स्त्री० कँकरीली] कंकड़ मिला हुआ। जिसमें कंकड़ अधिक हों। उ०—नाक चढ़ै सीबी करै, जितै छबीली छैल। फिरि फिरि भूलि उहै गहै, पिय कँकरीली गैल।—बिहारी।

कँकरेत–वि० [हिं० काँकर] कँकरीला।

संज्ञा स्त्री० [अं० कांक्रीट] कंकड़ जिसे छत पर डालकर गच पीटते हैं। छर्रा। बजरी।

कंकल–संज्ञा पु० [सं० कुकल] चव्य वा चाब का पौधा जो मलक्का द्वीप में बहुत होता है। भारतवर्ष के मलाबार प्रदेश में भी होता है। इसका फल गजपीपर है। लकड़ी भी दवा के काम में आती है। जड़ को चैकठ कहते हैं। बंगाल में जड़ और लकड़ी रँगने के काम में आती है। इसका अकेला रंग कपड़े पर पीलापन लिए हुए बादामी होता है और बक्कम के साथ मिलाने से लाल बादामी रंग आता है।

कंका–संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा उग्रसेन की लड़की जो कंक की बहिन थी। यह वसुदेव के भाई को ब्याही थी।

कंकाल–संज्ञा पु० [सं०] ठठरी। अस्थिपंजर।

यौ०—कंकालास्त्र।

कंकालमाली–वि० [सं०] हड्डी की माला पहननेवाला। जो हड्डी की माला पहने हो।

संज्ञा पु० [सं० कंकालमालिन्] [स्त्री० कंकालमालिनी] (१) शिव। महादेव। (२) भैरव।

कंकालशर–संज्ञा पु० [सं०] वह बाण जिसके सिरे पर हड्डी लगी हो।

कंकालास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक अस्त्र का नाम जो हड्डी का बनता था।

कंकालिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक रूप।

वि० उग्र स्वभाव की। कर्कशा। झगड़ालू। लड़ाकी। दुष्टा। उ०—कंकालिनि कूबरी, कलंकिनि कुरूप तैसी चेटकनि चेरी ताके चित्त को चहा कियो।—पद्माकर।

कंकाली–संज्ञा पुं० [सं० कंकाल] [स्त्री० कंकालिन] एक नीच जाति जो गाँव गाँव किंगरी बजाकर भीख माँगती फिरती है। उ०—यश कारण हरिचंद नीच घर नारि समर्प्यो। यश कारण जगदेव सीस कंकालिहि अर्प्यो।—बैताल।

संज्ञा स्त्री० [सं० कंकालिनी] दुर्गा का एक रूप।

वि० कर्कशा। लड़ाकी।

कंकेर–संज्ञा पु० [देश०] एक प्रकार का पान जो कड़ुआ होता है।

कंकेरू–संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

कंकेल–संज्ञा पुं० [सं०] बथुआ।

कंकेलि–संज्ञा पुं० [सं०] अशोक का पेड़।

कंकोल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शीतल चीनी के वृक्ष का एक भेद जिसके फल शीतल चीनी से बड़े और कड़े होते हैं। फलों में महँक होती है। ये दवा के काम में आते हैं और तेल के मसालों में पड़ते हैं। उ०—चंदन बंदन योग तुम, धन्य द्रुमन के राय। देत कुकुज कंकोल लौं, देवन सीस चढ़ाय।—दीनदयाल। (२) कंकोल का फल। इसे कंकोल मिर्च भी कहते हैं। उ०—शशिद्युत ढील जिती कंकोल।—रत्नपरीक्षा।

कँखवारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काँख] वह फोड़िया जो काँख में होती है। कँखवार। कँखवाली। ककराली।

कँखौरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काँख] (१) काँख। (२) दे० "कँखवारी"।

कंग–संज्ञा पुं० [सं० कङ्कट] कवच। जिरह बखतर।—डिं०।

कंगण–संज्ञा पुं० [सं० कङ्कण] (१) लोहे का एक चक्र जिसे अकाली सिक्ख सिर में बाँधते हैं। (२) † दे० "कंकण"।

कंगन–संज्ञा पुं० [सं० कङ्कण] कंकण।

मुहा०—**कंगन खोलना**=(१) दो आदमियों का एक दूसरे के पंजे को गठना। (२) पंजा मिलाना। पंजा फँसाना। **हाथ कंगन को आरसी क्या**=प्रत्यक्ष बात के लिये दूसरे प्रमाण का क्या आवश्यकता है।

कँगना–संज्ञा पुं० [सं० कंकण] [स्त्री० कँगनी] (१) दे० "कंकण" (२) वह गीत जो कंकण बाँधते वा खोलते समय गाया जाता है।

संज्ञा स्त्री० [सं० कंकु] एक प्रकार की घास जिसे बैल, घोड़े आदि बहुत खाते हैं। यह पहाड़ी मैदानों में अधिक होती है। साका।

कँगनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कँगना] (१) छोटा कँगना। (२) छत वा छाजन के नीचे दीवार में रीढ़ सी उभड़ी हुई लकीर जो ख़ूबसूरती के लिये बनाई जाती है। कगर। कार्निस। (३) कपड़े का वह छल्ला जो नैचाबंद नैचे की मुहनाल के पास लगाते हैं। (४) गोल चक्कर जिसके बाहरी किनारे पर दाँत वा नुकीले कँगूरे हों। दनदानेदार चक्कर। (५) ऐसे चक्कर पर गोल उभड़े हुए दाने।

संज्ञा स्त्री० [सं० कङ्गु] एक अन्न का नाम। यह समस्त भारतवर्ष, बर्मा, चीन, मध्य एशिया और योरप में उत्पन्न होता है। यह मैदानों तथा ६००० फुट तक की ऊँचाई तक पहाड़ों में भी होता है। इसके लिये दोमट अर्थात् हलकी सूखी ज़मीन बहुत उपयोगी है। आकृति, वर्ण और काल के भेद से इसकी बहुत जातियाँ होती हैं। रंग के भेद से कँगनी दो प्रकार की होती है—एक पीली, दूसरी लाल। यह असाढ़ सावन में बोई और भादों कार में काटी जाती है। इसकी एक जाति चेना वा चीना भी है जो चैत बैसाख में बोई और जेठ में काटी जाती है। इसमें बारह तेरह

बार पानी देना पड़ता है; इसीलिये लोग कहते हैं—"बारह पानी चेन, नाहीं तो लेन का देन"। कँगनी के दाने साँवाँ से कुछ छोटे और अधिक गोल होते हैं। बाल में छोटे छोटे पीले पीले घने रोएँ होते हैं। यह दाना चिड़ियों को बहुत खिलाया जाता है। पर किसान इसके चावल को पका कर खाते हैं। कँगनी के पुराने चावल रोगी को पथ्य की तरह दिए जाते हैं।

पर्या०—काकन। ककुनी। प्रियंगु। कंगु। टाँगुन। टँगुनी।

कँगनी-दुमा—वि० [हिं० कंगनी+फ़ा० दुम] जिसकी दुम में गाँठें हों। गठीली पूँछवाला।

संज्ञा पुं० वह हाथी जिसकी दुम में गाँठें हों। ऐसा हाथी ऐबी समझा जाता है।

कँगल—संज्ञा पुं० दे० "कंग"।—डिं०।

कँगला—वि० [सं० कंकाल] [स्त्री० कँगली] दे० "कंगाल"।

कँगसी—संज्ञा स्त्री० [सं० कंकनी=कँगही] पंजा गठना। ककन। कैंचा।

क्रि० प्र०—बाँधना।—गठना।

यौ०—कंगसी की उड़ान=मालखंभ में एक प्रकार की सादी पकड़ जिसमें दोनों हाथों से कगसी बाँधकर वा पंजा गठकर उड़ना पड़ता है।

कँगही†—संज्ञा स्त्री० दे० "कंघी"।

कँगारू—संज्ञा पुं० [अं०] एक जंतु जो आस्ट्रेलिया, न्यू-गिनी आदि टापुओं में होता है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। बड़ी जाति का कँगारू ६, ७ फुट लंबा होता है। मादा नर से छोटी होती है और उसकी नाभी के पास एक थैली होती है जिसमें वह कभी कभी अपने बच्चों को छिपाए रहती है। कँगारू की पिछली टाँगें लंबी और अगली बिलकुल छोटी और निकम्मी होती हैं। इसकी पूँछ लंबी और मोटी होती है। पैरों में पंजे होते हैं। गर्दन पतली, कान लंबे और मुँह खरगोश की तरह होता है। यह खाकी रंग का होता है, पर अगला हिस्सा कुछ स्याही लिए हुए और पिछला पीलापन लिए होता है। इसका आगे का धड़ पतला और निर्बल और पीछे का मोटा और दृढ़ होता है। यह १५ से २० फुट तक की लंबी छलाँग मारता है और बहुत डरपोक होता है। आस्ट्रेलिया वाले इसका शिकार करते हैं।

कंगाल—वि० [सं० कङ्काल] [स्त्री० कंगालिन (क०)] (१) भुक्खड़। अकाल का मारा। उ०—तुलसी निहारि कपि भालु किलकत ललकत लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की।—तुलसी। (२) निर्धन। दरिद्र। गरीब। रंक। उ०—डाक्टरों के यत्न से वह फिर सचेत हुई और कंगाल से धनी हुई।—सरस्वती।

यौ०—कंगाल गुंडा=वह पुरुष जो कंगाल होने पर भी व्यसनी हो। कंगाल बाँका=दे० "कंगाल गुंडा।"

कंगाली—संज्ञा स्त्री० [हिं० कंगाल] निर्धनता। दरिद्रता। गरीबी।

कँगुरिया—†संज्ञा स्त्री० दे० "कनगुरिया"।

कँगूरा—संज्ञा पुं० [फ़ा० कुंगरा] [वि० कँगूरेदार] (१) शिखर। चोटी। उ०—(क) मैं उनके सुन्दर सफ़ेद कँगूरों को संध्या काल के सूर्य्य की किरणों से गुलाबी होने तक देखता रहा।—सरस्वती। (ख) कौतुकी कपीश कूदि कनक कँगूरा चढ़ि रावन भवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो।—तुलसी। (२) कोट वा क़िले की दीवार में थोड़ी थोड़ी दूर पर बने हुए स्थान जिनका सिरा दीवार से कुछ ऊँचा निकला होता है और जहाँ से सिपाही खड़े होकर लड़ते हैं। बुर्ज। उ०—कोट कँगूरन चढ़ि गए कोटि कोटि रणधीर।—तुलसी। (३) कँगूरे के आकार का छोटा रवा। (४) नथ के चंदक आदि पर का वह उभाड़ जो छोटे छोटे रवों को शिखराकार रखकर बनाया जाता है।

कँगूरेदार—वि० [फ़ा० कुंगरादार] जिसमें कँगूरे हों। कँगूरेवाला।

कंघा—संज्ञा पुं० [सं० कङ्कत, प्रा० कंकअ] [स्त्री० अल्पा० कंघी] (१) लकड़ी, सींग या धातु की बनी हुई चीज़ जिसमें लंबे लंबे पतले दाँत होते हैं। इससे सिर के बाल झाड़े वा साफ़ किए जाते हैं। इसमें एक ही ओर दाँत होते हैं। (२) जुलाहों का एक औज़ार जिससे वे करघे में भरनी के तागों को कसते हैं। बय। बौला। बैसर। दे० "कंघी (२)"।

कंघी—संज्ञा स्त्री० [सं० कंकती प्रा० कंकई] (१) छोटा कंघा जिसमें दोनों ओर दाँत होते हैं।

मुहा०—कंघी चोटी=बनाव सिंगार। कंघी चोटी करना=बाल सँवारना। बनाव सिंगार करना।

(२) जुलाहों का एक औज़ार। यह बाँस की तीलियों का बनता है। पतली गज़ डेढ़ गज़ लंबी दो तीलियाँ चार से आठ अंगुल के फ़ासले पर आमने सामने रक्खी जाती हैं। इन पर बहुत सी छोटी छोटी तथा बहुत पतली और चिकनी तीलियाँ होती हैं जो इतनी सटाकर बाँधी जाती हैं कि उनके बीच एक एक तागा निकल सके। करघे में पहले ताने का एक एक तार इन आड़ी पतली तीलियों के बीच से निकाला जाता है। बाना बुनते समय इसे जोलाहे राछ के पहले रखते हैं। ताने में प्रत्येक बाना बुनने पर बाने को गँसने के लिये कंघी को अपनी ओर खींचते हैं जिससे बाने सीधे और बराबर बुने जाते हैं। बय। बौला। बैसर। (३) एक पौधे का नाम जो पाँच छः फुट ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ पान के आकार की पर अधिक नुकीली होती हैं और उनके कोर दँदानेदार होते हैं। पत्तियों का रंग भूरापन लिए हलका हरा होता है। फूल पीले पीले होते हैं। फूलों के झड़ जाने पर मुकुट के आकार के ढेंढ़ लगते हैं जिनमें खड़ी खड़ी कमरखी वा कँगनी होती है। पत्तों और

फलों पर छोटे छोटे घने नरम रोएँ होते हैं जो छूने में मखमल की तरह मुलायम होते हैं। फल पक जाने पर एक एक कमरखी के बीच कई कई काले काले दाने निकलते हैं। इसकी छाल के रेशे मज़बूत होते हैं। इसकी जड़, पत्तियाँ और बीज सब दवा के काम में आते हैं। वैद्यक में इसको वृष्य और ठंढा माना है। संस्कृत में इसे अतिबला कहते हैं।

पर्या०—अतिबला। वलिका। कंकती। विकंकता। घंटा। शीता। शीतपुष्पा। वृष्यगंधा।

कँघेरा–संज्ञा पुं० [हिं० कंघा+एरा (प्रत्य०)] [स्त्री० कँघेरिन] कंघा बनानेवाला। ककहगर।

कंचन–संज्ञा पुं० [सं० काञ्चन] (१) सोना। सुवर्ण।

मुहा०—कंचन बरसना=(किसी स्थान का) समृद्धि और शोभा से युक्त होना। उ०—तुलसी वहाँ न जाइए कंचन बरसै मेह।—तुलसी।

(२) धन। संपत्ति। उ०—(क) चलन चलन सब कोउ कहै पहुँचै बिरला कोय। इक कंचन इक कामिनी दुर्गम घाटी दोय।—कबीर। (ख) बंचक भगत कहाय राम के। किंकर कंचन कोह काम के।—तुलसी। (३) धतूरा। (४) एक प्रकार का कचनार। रक्त कांचन। (५) [स्त्री० कंचनी] एक जाति का नाम जिसमें स्त्रियाँ प्रायः वेश्या का काम करती हैं।

वि० (१) नीरोग। स्वस्थ। (२) स्वच्छ। सुन्दर। मनोहर।

कंचन पुरुष–संज्ञा पुं० [सं० काञ्चन पुरुष] सोने के पत्र पर खुदी हुई पुरुष की एक मूर्ति जो मृतक कर्म में महाब्राह्मण को दी जाती है। यज्ञ पुरुष को भी कांचन पुरुष कहते हैं।

कंचनिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० कचनार] एक छोटी जाति का कचनार। इसकी पत्तियाँ और फूल छोटे होते हैं।

कंचनी–संज्ञा स्त्री० [सं० कंचन] वेश्या।

कंचुक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कंचुकी] (१) जामा। चोलक। चपकन। अचकन। (२) चोली। अँगिया। (३) वस्त्र। (४) बख्तर। कवच। (५) केंचुल।

कंचुकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगिया। चोली।

संज्ञा पुं० [सं० कंचुकिन्] (१) रनिवास के दास दासियों का अध्यक्ष। अंतःपुररक्षक।

विशेष—कंचुकी प्रायः बड़े बूढ़े और अनुभवी ब्राह्मण हुआ करते थे जिन पर राजा का पूरा विश्वास रहता था।

(२) द्वारपाल। नकीब। (३) साँप। (४) छिलकेवाला अन्न, जैसे—धान, जौ, चना इत्यादि।

कंचुरि*–संज्ञा स्त्री० [सं० कंचुली] केंचुल। उ०—नैना हरि अंग रूप लुबधे रे माई। लोकलाज कुल की मर्य्यादा बिसराई। जैसे चंदा चकोर, मृगी नाद जैसे। कंचुरि ज्यों त्यागि फनिक फिरत नहीं तैसे।—सूर।

कँचुली†–संज्ञा स्त्री० [सं० कञ्चुली] केंचुल।

कँचुवा†–संज्ञा पुं० [सं० कंचुक, प्रा० कंचुअ] कुर्त्ता। चोली।

कँचेरा–संज्ञा पुं० [हिं० काँच] [स्त्री० कँचेरिन] काँच का काम करनेवाला। एक जाति जो काँच बनाती और उसका काम करती है। इस जाति के लोग प्रायः मुसलमान होते हैं पर कहीं कहीं हिंदू भी मिलते हैं।

कँचेली–संज्ञा स्त्री० [सं० कचुक वा देश०] एक वृक्ष का नाम जो हज़ारा, शिमला और जौंसर में होता है। वृक्ष मियाना कद का होता है। लकड़ी सफ़ेद रंग की और मज़बूत होती है, मकान में लगती है, तथा खेत के औज़ार बनाने के काम में आती है। पत्ते चौपायों को खिलाए जाते हैं। बरसात में इसके बीज बोए जाते हैं।

कंछा–संज्ञा स्त्री० [हिं० कनखा] पतली डाल। कनखा। कल्ला।

कंज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) कमल।

यौ०—कंजज=ब्रह्मा। उ०—कंजज की मति सी बड़ भागी। श्री हरि मंदिर सों अनुरागी।—केशव।

(३) चरण की एक रेखा जिसे कमल वा पद्म कहते हैं। यह विष्णु के चरण में मानी गई है। (४) अमृत। (५) सिर के बाल। केश।

कंज-अवलि–संज्ञा स्त्री० दे० "कंजावलि"।

कंजई–वि० [हिं० कंजा] कंजे के रंग का। धूएँ के रंग का। ख़ाकी।

संज्ञा पुं० (१) एक रंग। ख़ाकी रंग। (२) वह घोड़ा जिसकी आँख कंजई रंग की होती है।

कंजड़–संज्ञा पुं० [देश०, वा कालंजर] [स्त्री० कंजड़िन] एक अनार्य्य जाति जो भारतवर्ष के अनेक स्थानों में विशेष कर बुंदेलखंड में पाई जाती है। इस जाति के लोग रस्सी बटते, सिरकी बनाते और भीख माँगते हैं।

कंजा–संज्ञा पुं० [सं० करंज] (१) एक कँटीली झाड़ी जिसकी पत्तियाँ सिरिस की पत्तियों से मिलती जुलती कुछ अधिक चौड़ी होती हैं। इसके फूल पीले पीले होते हैं। फूलों के गिर जाने पर कँटीली फलियाँ लगती हैं। ये फलियाँ ढाई तीन अंगुल चौड़ी और छः सात अंगुल लंबी होती हैं। इनके ऊपर का छिलका कड़ा और कँटीला होता है। एक एक फली में एक से तीन चार तक बेर के बराबर गोल गोल दाने होते हैं। दानों के छिलके कड़े और गहरे ख़ाकी धूएँ के रंग के होते हैं। लड़के इन दानों से गोली की तरह खेलते हैं। वैद्य लोग इसकी गूदी को औषध में काम लाते हैं। यह ज्वर और चर्म्म रोग में बहुत उपयोगी होती है। अँगरेज़ी दवाइयों में भी इसका प्रयोग होता है। इससे तेल भी निकाला जाता है जो खुजली की दवा है। इसकी फुनगी और जड़ भी काम में आती है। यह हिंदुस्तान और बर्मा में बहुत होता है और पहाड़ों पर २५०० फुट की ऊँचाई तक तथा मैदानों और समुद्र

के किनारे पर होता है। इसे लोग खेतों के बाड़ पर भी रूँधने के लिये लगाते हैं।

पर्या०—गटाइन। करंजुवा। कुवेराक्षी। कृकचिका। त्वारिणी। कंटकिनी।

(२) इस वृक्ष का बीज।

वि० [स्त्री० कंजी] (१) कंजे के रंग का। गहरे ख़ाकी रंग का। जैसे,—कंजी आँख।

विशेष—इस विशेषण का प्रयोग आँख ही के लिये होता है। (२) जिसकी आँख कंजे के रंग की हो। उ०—ऊँचा ताना कहै पुकार। कंजे से रहियो हुसियार। (कहा०)

कंजावलि—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्ण वृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में भगण, नगण और दो जगण और एक लघु (भ न ज ज ल) होता है। इसे पंकजवाटिका और एकावली भी कहते हैं। उ०—भानुज जल महँ आय परे जब। कंजअवलि विकसै सर में तब। त्यों रघुबर पुर आय गए जब। नारिरु नर प्रमुदे लखि के सब।

कंजास†—संज्ञा पु० [हिं० गाँजना] कूड़ा।

कँजियाना—क्रि० अ० [हिं० कंडा] दहकते हुए अंगारे का ठंढा पड़ना। झँवाना। मुरझाना।

कँजुवा†—संज्ञा पुं० दे० "कँडुवा"।

कंजूस—[सं० कण+हिं० चूस] [संज्ञा कजूसी] जो धन का भोग न करे। जो न खाय और न खिलावे। कृपण। सूम। मक्खीचूस।

कंजूसी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कंजूस] कृपणता। सूमपन। उदारता का अभाव।

कंटक—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कंटकित] (१) काँटा। (२) सूई की नोक। (३) क्षुद्र शत्रु। (४) वाममार्गवालों के अनुसार वह पुरुष जो वाममार्गी न हो वा वाममार्ग का विरोधी हो। पशु। (५) विघ्न। बाधा। बखेड़ा। (६) रोमांच। (७) ज्योतिष के अनुसार जन्मकुंडली में पहला, चौथा, सातवाँ और दसवाँ स्थान। (८) बाधक। विघ्नकर्त्ता। (९) बख़्तर। कवच।—डिं०।

यौ०—निष्कंटक।

कंटकार—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कंटकारी] (१) सेमल। (२) एक प्रकार का बबूल। विकंक। बैंची। (३) भटकटैया। कटेरी।

कंटकारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भटकटैया। कटेरी। छोटी कटाई। (२) सेमल।

कंटकाल—संज्ञा पु० [सं०] (१) कटहल। (२) काँटों का घर।

कंटकालुक—संज्ञा पुं० [सं०] जवासा।

कंटकाशन—संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट।

कंटकित—वि० [सं०] (१) रोमांचित। पुलकित। उ०—कंटकित होति अति उससि उसासन तें, सहज सुवासन शरीर मंजु लागे पौन।—देव। (२) काँटेदार। उ०—कमल कंटकित सजनी कोमल पाय। निशि मलीन यह प्रफुलित नित दरसाय।—तुलसी।

कंटकी—वि० [सं० कंटकिन्] काँटेदार। कँटीला।

संज्ञा पु० (१) छोटी मछली। कँटवा। (२) ख़ैर का पेड़। (३) मैनफल का पेड़। (४) बाँस। (५) बैर का पेड़। (६) गोखरू। (७) कांटेदार पेड़।

संज्ञा स्त्री० [सं०] भटकटैया।

कँटबाँस—संज्ञा पुं० [हिं० काँट+बाँस] एक प्रकार का बाँस जिसमें बहुत काँटे होते हैं और जो पोला कम होता है। इसकी लाठी अच्छी होती है।

कंटर—संज्ञा पुं० [अं० डिकैंटर] शीशे की बनी हुई सुन्दर सुराही जिसमें शराब और सुगंध आदि रक्खे जाते हैं। यह अच्छे शीशे की होती है, इस पर बेल बूटे भी होते हैं। इसकी डाट शीशे की होती है। कराबा।

कंटा—संज्ञा पुं० [सं० कांड] डेढ़ बालिश्त की एक पतली लकड़ी जिसके एक छोर पर चमड़े का एक टुकड़ा लगा रहता है जिससे चुरिहारे चूड़ी रँगते हैं।

कंटाइन—संज्ञा स्त्री० [सं० कात्यायिनी] (१) चुड़ैल। भुतनी। डाइन। (२) लड़ाकी स्त्री। दुष्टा स्त्री। कर्कशा स्त्री।

कंटाप—संज्ञा पुं० [हिं० कंटोप] किसी वस्तु का अगला हिस्सा जो भारी हो। भारी सिरा।

यौ०—कंटापदार=जिसका आगा भारी हो। जैसे कंटापदार जूता।

कंटाल—संज्ञा पुं० [सं० कंटालु] एक प्रकार का रामबाँस वा हाथी-चक जो बंबई, मदरास, मध्य भारत और गंगा के मैदानों में होता है। इसकी पत्तियों के रेशे से रस्सियाँ बटी जाती हैं।

कँटिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० काँटा] (१) काँटी। छोटी कील। (२) मछली मारने की पतली नोकदार अँकुसी। (३) अँकुसियों का गुच्छा जिससे कूएँ में गिरी हुई चीज़ें, गगरा, रस्सी आदि निकलाते हैं। (४) किसी प्रकार की अँकुसी जिससे कोई वस्तु फँसाई वा उलझाई जाय। (५) एक गहना जो सिर पर पहना जाता है।

कँटीला—वि० [हिं० काँटा+ला (प्रत्य)] [स्त्री० कँटीली] काँटेदार। जिसमें काँटे हों। उ०—जिन दिन देखे वे सुमन गई सो बीत बहार। अब अलि रही गुलाब की अपत कँटीली डार।—बिहारी।

कंटूनमेंट—संज्ञा स्त्री० [अं०] वह स्थान जहाँ फौज रहती हो। छावनी।

कँटेला—संज्ञा पुं० [हिं० काठ+केला] एक प्रकार का केला जिसके फल बड़े और रूखे होते हैं। यह हिंदुस्तान के सभी प्रांतों में होता है। कचकेला। कठकेला।

कंटोप—संज्ञा पुं० [हिं० कान+तोपना] एक प्रकार की टोपी जिससे

सिर और कान ढके रहते हैं। इसमें एक चँदिया के किनारे किनारे छः सात अंगुल चौड़ी दीवाल लगाई जाती है जिसमें चेहरे के लिये मुँह काट दिया जाता है।

कंट्रैक्ट–संज्ञा पुं० [अं०] ठेका। ठीका। इजारा।

कंट्रैक्टर–संज्ञा पुं० [अं०] ठेकेदार वा ठीकेदार।

कंठ–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कंठ्य] (१) गला। टेंटुआ।

यौ०—कंठमाला।

मुहा०—कंठ सूखना=प्यास से गला सूखना।

(२) गले की वे नलियाँ जिनसे भोजन पेट में उतरता है और आवाज़ निकलती है। घाँटी।

यौ०—कंठस्थ। कंठाग्र।

मुहा०—कंठ खुलना=(१) रुँधे हुए गले का साफ़ होना। (२) आवाज़ निकलना। कंठ बैठना=आवाज़ का बेसुरा हो जाना। आवाज़ का भारी होना। गला बैठना, कंठ फूटना=(१) वर्णों के स्पष्ट उच्चारण का आरंभ होना। आवाज़ खुलना। बच्चों की आवाज़ साफ़ होना। (२) बकारी फूटना। बक्कुर निकलना। मुँह से शब्द निकलना। (३) घाँटी फूटना। युवावस्था आरंभ होने पर आवाज़ का बदलना। कंठ करना वा रखना=कंठस्थ करना वा रखना। ज़बानी याद करना वा रखना। कंठ होना=कंठाग्र होना। ज़बानी याद होना। जैसे,—उनको यह सारी पुस्तक कंठ है।

(३) स्वर। आवाज़। शब्द। जैसे,—उसका कंठ बड़ा कोमल है। उ०—अति उज्ज्वला मत्र कालहु बसे। शुक केकि पिकादिक कंठहु लसै।—केशव। (४) वह लाल नीली आदि कई रंगों की लकीर जो सुग्गों, पंडुक आदि पक्षियों के गले के चारों ओर जवानी में पड़ जाती है। हँसली। कंठा। उ०—(क) राते श्याम कंठ दुई गीवाँ। तेहि दुई फंद डरो सठ जीवाँ।—जायसी। (ख) अबहूँ कंठ फंद दुई चीन्हा। दुहुँ के फंद चाह का कीन्हा।—जायसी।

मुहा०—कंठ फूटना=तोते आदि पक्षियों के गले में रंगीन रेखाएँ पड़ना। हँसली पड़ना वा फूटना। उ०—हीरामन हौं तेहिक परेवा। कंठा फूट करत तेहि सेवा।—जायसी।

(५) किनारा। तट। तीर। काँठा। जैसे,—वह गाँव नदी के कंठ पर बसा है। (६) मैनफल का पेड़। मदन वृक्ष।

कंठकुब्ज–संज्ञा पुं० [सं०] सन्निपात रोग का एक भेद। यह तेरह दिन तक रहता है। इसमें सिर में पीड़ा और जलन होती है, सारा शरीर गरम रहता है और दर्द करता है।

कंठकूजिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वीणा।

कंठगत–वि० [सं०] गले में प्राप्त। गले में स्थित। गले में आया हुआ। गले में अँटका हुआ।

मुहा०—प्राण कंठगत होना=प्राण निकलने पर होना। मृत्यु का निकट आना। उ०—प्राण कंठगत भयउ भुआलू।—तुलसी।

कंठतालव्य–वि० [सं०] (वर्ण) जिनका उच्चारण कंठ और तालु स्थानों से मिलकर हो।

विशेष—शिक्षा में "ए" और "ऐ" को कंठतालव्य वर्ण वा कंठतालव्य कहते हैं। इनका उच्चारण कंठ और तालु से होता है।

कंठदबाव–संज्ञा पुं० [हिं० कंठ+दबाव] कुश्ती का एक पेच जिसमें खिलाड़ी एक हाथ से अपने प्रतिद्वंद्वी के कंठ पर थाप मारता है और दूसरे हाथ से उसका उसी तरफ़ का पैर उठाकर उसे भीतरी अड़ानी टाँग मारकर चित्त कर देता है। इसे कंठभेद भी कहते हैं।

कंठमणि–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े की एक भँवरी जो कंठ के पास होती है।

कंठमाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] गले का एक रोग जिसमें रोगी के गले में लगातार छोटी फुड़ियाँ निकलती हैं।

कँठला–संज्ञा पुं० [हिं० कंठ+ला (प्रत्य)] गले में पहनने का बच्चों का एक गहना।

विशेष—नज़रबट्टू, बाघ का नख, दो चार तावीज़ आदि को तागे में गूथकर बालकों को उनके रक्षार्थ पहनाते हैं।

कंठशालूक–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें गले के भीतर कफ़ के प्रकोप से बेर के बराबर गाँठ उत्पन्न हो जाती है। यह गाँठ खुरखुरी होती है और काँटे की नाईं चुभती है।

कंठशूल–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े के गले की एक भौंरी जो दूषित मानी जाती है।

कंठश्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गले का एक गहना जो सोने का और जड़ाऊ होता है। (२) पोत की कंठी। गुरिया। घूटा।

कंठस्थ–वि० [सं०] (१) गले में अटका हुआ। कंठगत। (२) ज़बानी। जिह्वाग्र। कंठ। कंठाग्र।

कँठहरिया–संज्ञा स्त्री० (सं० कंठहार का अल्पा० रूप) कंठी। उ०—सूर सगुन बाँटि गोकुल में अब निर्गुन को ओसरो। ताकी छार छार कँठहरिया जो ब्रज जानो दूसरो।—सूर।

कंठहार–संज्ञा पुं० [सं०] गले में पहनने का एक गहना।

कंठा–संज्ञा पुं० [हिं० कंठ] [स्त्री० अल्पा० कंठी] (१) वह भिन्न भिन्न रंगों की रेखा जो तोते आदि पक्षियों के गले के चारों ओर निकल आती है। हँसली। (२) गले का एक गहना जिसमें बड़े बड़े मनके होते हैं। ये मनके सोने, मोती वा रुद्राक्ष इत्यादि के होते हैं। (३) कुरते वा अँगरखे का वह अर्धचंद्राकार भाग जो गले पर आगे की ओर रहता है। (दर्ज़ी)। (४) वह अर्धचंद्राकार कटा हुआ कपड़ा जो कुरते वा अंगे के कंठे पर लगाया जाता है। (५) पत्थर वा ईंट के मोढ़े का वह भाग जो उठान और कारनिस के बीच में हो।

कंठाग्र–वि० [सं०] कंठस्थ। ज़बानी। हिफ़्ज़। बरज़बान।

कंठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कंठा का अल्पा० रूप] (१) छोटी गुरियों का

कंठा। (२) तुलसी, चंपा आदि के छोटे छोटे मनियों की माला जिसे वैष्णव लोग गले में बाँधते हैं।

मुहा०—कंठी उठाना वा छूना=कंठी की सौगंद खाना। क़सम खाना। कंठी देना=चेला करना वा चेला बनाना। कंठी बाँधना=(१) चेला बनाना। चेला मूँड़ना। (२) अपना अंधभक्त बनाना। (३) वैष्णव होना। भक्त होना। (४) मद्य मांस छोड़ना। (५) विषयों को त्यागना। कंठी लेना=(१) वैष्णव होना। भक्त होना। (२) मद्य मांस छोड़ना। (३) विषयों को त्यागना।

(३) तोते आदि पक्षियों के गले की रेखा। हँसली। कंठी।

कंठीरव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंह। (२) कबूतर। (३) मतवाला हाथी।

कंठौष्ठ्य—वि० [सं०] जो एक साथ कंठ और ओठ के सहारे से बोला जाय।

विशेष—शिक्षा में "ओ" और "औ" कंठौष्ठ्य वर्ण कहलाते हैं।

कंठ्य—वि० [सं०] (१) गले से उत्पन्न। (२) जिसका उच्चारण कंठ से हो। (३) गले वा स्वर के लिये हितकारी। जैसे,—कंठ्य औषध।

संज्ञा पुं० (१) वह वर्ण जिसका उच्चारण कंठ से होता है। हिंदी वर्णमाला में ऐसे आठ वर्ण हैं—अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह और विसर्ग। (२) वह वस्तु जिसके खाने से स्वर अच्छा होता है वा गला खुलता है। गले के लिये उपकारी औषध।

विशेष—सोंठ, कुलंजन, मिर्च, बच, राई, पीपर, पान। गुटिका करि मुख मेलिए, सुर कोकिला समान।—वैद्यजीवन।

कँडरा—संज्ञा पुं० [सं० कंदल] मूली, सरसों आदि के बीच का मोटा डंठल जिसमें फूल निकलते हैं। इसका लोग साग बनाते और अचार डालते हैं।

कंडरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मोटी नस। मोटी नाड़ी।

विशेष—सुश्रुत में सोलह कंडराएँ मानी गई हैं जिनसे शरीर के अवयव फैलते और सिकुड़ते हैं।

कंडा—संज्ञा पुं० [सं० स्कंदन=मलत्याग] [स्त्री० अल्पा० कंडी] (१) सूखा गोबर जो ईंधन के काम में आता है।

मुहा०—कंडा होना=(१) सूखना। दुर्बल हो जाना। ऐंठ जाना। (२) मर जाना। जैसे,—ऐसा पटका कि कंडा हो गया।

(२) लंबे आकार में पथा हुआ सूखा गोबर जो जलाने के काम में आता है। (३) सूखा मल। गोटा। सुद्दा।

संज्ञा पुं० [सं० कांड] मूँज के पौधे का डंठल जिसके चिक, क़लम, मोढ़े आदि बनाए जाते हैं। सरकंडा।

कंडारी—संज्ञा पुं० [सं० कर्णधारिन्] जहाज़ का माँझी। (लश०)

कंडाल—संज्ञा पुं० [सं० करनाल फ़ा० करनाय] एक बाजा जो पीतल की नली का बनता है और मुँह में लगाकर बजाया जाता है। नरसिंहा। तुरही। तूरी।

संज्ञा पुं० [हिं० कंड=मूँज] जोलाहों का एक कैंचीनुमा औज़ार जिस पर ताना फैला कर पाई करते हैं।

विशेष—यह दो सरकंडों का बनता है। दो बराबर बराबर सरकंडों को एक साथ रखकर बीच में बाँध देते हैं। फिर उनको आड़े कर आमने सामने के भागों को पतली रस्सी से तानते और ऊपर के सिरों पर तागा बाँधकर नीचे के सिरों को ज़मीन में गाड़ देते हैं। इस तरह कई एक को दूर दूर पर गाड़कर उनके सिरे पर बँधे तागों पर ताना फैलाते हैं।

संज्ञा पुं० [सं० कंडोल] लोहे और पीतल आदि की चद्दर का बना हुआ कूपाकार एक गहरा बरतन जिसका मुँह गोल और चौड़ा होता है। इसमें पानी रक्खा जाता है।

कंडिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेद की ऋचाओं का समूह। (२) वैदिक ग्रंथों का एक छोटा वाक्य, खंड वा अवयव। पैरा।

कंडी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कंडा] (१) छोटा कंडा। गोहरी। उपली। (२) सूखा मल। गोटा। सुद्दा।

कंडील—संज्ञा स्त्री० [अ० कंदील] मिट्टी, अबरक वा काग़ज़ की बनी हुई लालटेन जिसका मुँह ऊपर होता है। इसमें दीया जलाकर लटकाते हैं।

कंडीलिया—संज्ञा स्त्री० [अ० कंदील वा पुर्त्त० गंडील] वह ऊँचा धरहरा जिसके ऊपर रोशनी की जाती है। यह समुद्र में उन स्थानों पर बनाया जाता है जहाँ चट्टानें रहती हैं और जहाज़ के टकराने का डर रहता है। जहाज़ों का ठीक मार्ग बतलाने का काम भी इससे लेते हैं।

कंडु—संज्ञा स्त्री० [सं०] खुजली। खाज।

कंडुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भिलावाँ। (२) तमाल। (नाममाला) उ०—कालकंध तापिच्छ पुनि कंडुक सोह तमाल। अने०।

कँडुवा—संज्ञा पुं० [हिं० काँदो वा सं० कंडु] बालवाले अन्नों का एक रोग। इसमें बाल पर एक काली काली चिकनी वस्तु जम जाती है जिससे उसके दाने मारे जाते हैं। यह रोग गेहूँ, ज्वार, बाजरे आदि के बालों में होता है। कँजुआ। झीटी।

क्रि० प्र०—लगना।—मारना।

कंडू—संज्ञा स्त्री० दे० "कंडु"।

कँडेरा—संज्ञा पुं० [सं० कांड=शर] [स्त्री० कंडेरिन्] एक जाति जो पहले तीर कमान बनाती थी और अब रूई धुनती है। धुनिया।

कंडालवीण—संज्ञा स्त्री० [सं०] चांडाल वीणा। किंगरी।

कंडौर—संज्ञा पुं० [सं० कंडु वा हिं० काँदो] (१) अन्न का एक रोग। यह रोग प्रायः ऐसे अन्नों को होता है जिनमें बाल लगती है; जैसे, धान, गेहूँ, ज्वार, बाजरा आदि। बाल में काले रंग

की चिकनी धूल वा भुकड़ी बैठ जाती है। इससे बाल में दाने नहीं बैठते और फसल को बड़ी हानि होती है। कँडुआ। कँजुआ। (२) दे० "कंडौरा"।

कंडौरा–संज्ञा पुं० [हिं० कंडा+औरा (प्रत्य०)] (१) वह स्थान जहाँ कंडा पाथा जाता है। गोहरौर। (२) वह घर जिसमें कंडे रक्खे जाते हैं। गोठौला। (३) कंडों का ढेर जिसके ऊपर से गोबर छोप देते हैं। बठिया।

कंत*–संज्ञा पुं० [सं० कांत] (१) पति। स्वामी। उ०—मदन लाजवश तिय नयन देखत बनत एकंत। इँचे खिंचे इत उत फिरत ज्यों दुनारि को कंत।—पद्माकर। (२) मालिक। ईश्वर। उ०—तू मेरा हौं तेरा गुरु सिष कीया मंत। दूनों भूल्या जात है दादू बिसर्‍या कंत।—दादू।

कंतित–संज्ञा पुं० [देश०] एक पुरानी राजधानी जिसके खंडहर मिर्ज़ापुर के पश्चिम गंगा के किनारे पर हैं और जहाँ इस नाम का एक गाँव भी है। मिथ्या वासुदेव की राजधानी यहीं थी।

कंथ*†–संज्ञा पुं० दे० "कंत"।

कंथा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गुदड़ी। कथड़ी। उ०—फारि पटोर सो पहिरौं कंथा। जो मोहिं कोउ दिखावै पंथा।—जायसी।

कंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जड़ जो गूदेदार और बिना रेशे की हो; जैसे सूरन, शकरकंद इत्यादि।

यौ०—ज़मींकंद। शकरकंद। बिलारीकंद।

(२) सूरन। ओल। काँद। (३) बादल। उ०—यज्ञोपवीत विचित्र हेममय मुक्तामाल उरसि मोहि भाई। कंद तड़ित विच ज्यों सुरपति धनु निकट बलाक पाँति चलि आई।—तुलसी।

यौ०—आनंदकंद।

(४) तेरह अक्षरों का एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में चार यगण और अंत में एक लघु वर्ण होता है (य य य य ल)। जैसे—हरे राम हे राम हे राम हे राम। करों मो हिये में सदा आपनो धाम। (५) छप्पय छंद के ७१ भेदों में से एक जिसमें ४२ गुरु, ६८ लघु, ११० वर्ण और १५२ मात्राएँ, अथवा ४२ गुरु, ६४ लघु, १०६ वर्ण और १४८ मात्राएँ होती हैं। (६) योनि का एक रोग जिसमें बतौरी की तरह गाँठ बाहर निकल आती है।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] जमाई हुई चीनी। मिस्री।

यौ०—कलाकंद। गुलकंद।

कंदन–संज्ञा पुं० [सं०] नाश। ध्वंस।

कंदमूल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तीन चार हाथ ऊँचा एक पौधा। इसका पत्ता सेमल के पत्ते का सा होता है। इसकी जड़ मोटी, लंबी और गूदेदार होती है। इसकी डालियाँ ज़मीन में लगती हैं। नेपाल की तराई में पहाड़ों के किनारे यह बहुत मिलता है। इसकी लकड़ी पोली और निकम्मी होती है। जड़ को लोग उबालकर या तरकारी बनाकर खाते हैं। (२) कंद और मूल।

कंदर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कंदरा] (१) गुफ़ा। गुहा। उ०—कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे।—तुलसी। (२) अंकुश।

कंदरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गुफ़ा। गुहा।

कंदराकर–संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत।—डिं०।

कंदर्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव। (२) संगीत में रुद्रताल के ग्यारह भेदों में से एक।

कंदल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नया अँखुआ। (२) कपाल। (३) सोना। (४) वादविवाद। कचकच। वाग्युद्ध।

कंदला–संज्ञा पुं० [सं० कंदल=सोना] (१) चाँदी की वह गुल्ली वा लंबा छड़ जिससे तारकश तार बनाते हैं। पाँसा। रैनी। गुल्ली।

विशेष—तार बनाने के लिये चाँदी को गलाकर पहले उसका एक लंबा छड़ बनाया जाता है। इस छड़ के दोनों छोर नुकीले होते हैं। अगर सुनहला तार बनाना होता है, तो उसके बीच में सोने का पत्तर चढ़ा देते हैं, फिर इस को जंत्री में खींचते हैं। इस छड़ को सोनार गुल्ली और तारकश कँदला, पाँसा और रैनी कहते हैं।

मुहा०—कँदला गलाना=चाँदी और सोना मिलाकर एक साथ गलाना।

(२) सोने वा चाँदी का पतला तार।

यौ०—कंदलाकश। कंदला कचहरी।

संज्ञा पुं० [सं० कन्दल] एक प्रकार का कचनार। दे० "कचनार"।

कंदली–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक पौधा जो नदियों के किनारे पर होता है। बरसात में इसमें बहुत से सफ़ेद सफ़ेद फूल लगते हैं।

कंदला कचहरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कंदला+कचहरी] वह जगह जहाँ कंदलाकशी का काम होता है तार का कारख़ाना। कंदले का कारखाना।

कंदलाकश–संज्ञा पुं० [हिं० कंदला+फ़ा० कश] तार खींचनेवाला। जो तारकशी का काम करता हो। तारकश।

कंदलाकशी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कंदलाकश] तार खींचने का काम।

कंदसार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नंदनवन। इंद्र का बगीचा। (२) हिरन की एक जाति।

कंदा–संज्ञा पुं० दे० "कंद"। (२) शकरकंद। गंजी। † (३) घुइयाँ। अरुई।

कंदीत–संज्ञा पुं० [प्रा०] जैन मत के अनुसार एक प्रकार के देवगण जो वाणव्यंतर के अंतर्गत हैं।

कंदील–संज्ञा स्त्री० दे० "कंडील"।

संज्ञा पुं० [हिं० कंडाल] जहाज़ में वह स्थान जहाँ पानी रहता है और लोग पायखाना फिरते और नहाते हैं। सेतखाना।

कँदु-संज्ञा पुं० दे० "कंदुक"।

कँदुआ-संज्ञा पुं० [हिं० कॉदों] बालवाले अन्नों का एक रोग जिससे बाल पर काली भुकड़ी जम जाती है और दाना नहीं पड़ता। कंडौर।

कंदुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गेंद।

यौ०—कंदुकतीर्थ।

(२) गोल तकिया। गल-तकिया। गेंडुआ। (३) सुपारी। पुंगीफल। (४) एक प्रकार का वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में चार यगण और एक गुरु होता है। जैसे—यची गाइ कै कृष्ण को राधिका माथ। भजो पाद पाथोज नैके सदा माथ।

कंदुकतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रज का एक तीर्थ जहाँ श्रीकृष्ण जी ने गेंद खेला था।

कँदूरी-संज्ञा स्त्री० [सं० कंदूरा] कुँदरु। बिंबा।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह खाना जिससे मुसलमान बीबी फ़ातमा या किसी पीर के नाम का फ़ातिहा करते हैं।

कंदेब-संज्ञा पुं० [देश०] पुन्नाग या सुल्ताना चंपा की जाति का एक वृक्ष। यह उत्तरीय और पूर्वीय बंगाल में होता है। इसकी लकड़ी मज़बूत होती है और नाव या जहाज़ के मस्तूल बनाने के काम में आती है।

कँदैला-वि० [हिं० कॉदो, पू० हिं० कंदई+ला (प्रत्य०)] मलिन। गँदला। मलयुक्त। उ०—जनम कोटि को कँदैलो हृद हृदय थिरातो।—तुलसी।

कँदोरा-संज्ञा पुं० [हिं०गाँड़+डोरा] कमर में पहनने का एक तागा। करधनी।

कंध*-संज्ञा पुं० [सं० स्कंध] (१) डाली। उ०—अव्यक्त मूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने। षट् कंध शाखा पंचबीस अनेक पर्ण सुमन घने।—तुलसी। (२) दे० "कंधा"।

कंधनी-संज्ञा स्त्री० [सं० कटिबंधनी] कमर में पहनने का एक गहना। किंकिणी। मेखला।

कंधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरदन। ग्रीवा। (२) बादल। (३) मुस्ता। मोथा।

कंधा-संज्ञा पुं० [सं० स्कंध, प्रा० कंध] (१) मनुष्य के शरीर का वह भाग जो गले और मोढ़े के बीच में है।

मुहा०—कंधा देना=(१) अर्थी में कंधा लगाना। अर्थी को कंधे पर लेना वा लेकर चलना। शव के साथ श्मशान तक जाना। (२) सहारा देना। सहायता देना। मदद देना। कंधा बदलना=(१) बोझ को एक कंधे से दूसरे कंधे पर लेना। (२) बोझ को दूसरे के कंधे से अपने कंधे पर लेना। कंधे की उड़ान=(१) मालखंभ की एक कसरत जिसमें कंधे के बल उड़ते हैं।

(२) बाहुमूल। मोढ़ा।

मुहा०—कंधे से कंधा छिलना=बहुत अधिक भीड़ होना। जैसे,—मंदिर के फाटक पर कंधे से कंधा छिलता था, भीतर जाना कठिन था।

(३) बैल की गर्दन का वह भाग जिसपर जुआ रक्खा जाता है।

मुहा०—कंधा डालना=(१) बैल का अपने कंधे से जुआ फेंक देना। जुआ डालना। (२) हिम्मत हारना। थक जाना। साहस छोड़ना। कंधा लगाना=जुए की रगड़ से कंधे का छिल जाना।

कंधार-संज्ञा पुं० [सं० गांधार] [वि० कंधारी] अफ़ग़ानिस्तान के एक नगर और प्रदेश का नाम।

संज्ञा पुं० [सं० कर्णधार] [वि० कंधारी] केवट। मल्लाह। उ०—(क) जो लै भार निबाह न पारा। सो का गरब करै कंधारा।—जायसी। (ख) कहो कपि कैसे उतर्यो पार। दुस्तर अति गंभीर वारिनिधि शत योजन विस्तार। राम प्रताप सत्य सीता को यहै नाव कंधार। बिन अधार छन में अवलंब्यो आवत भई न बार।—सूर।

कंधारी-वि० [हिं० कंधार] जो कंधार देश में उत्पन्न हुआ हो। कंधार का।

संज्ञा पुं० घोड़े की एक जाति जो कंधार देश में होती है।

संज्ञा पुं० [सं० कर्णधारिन्] मल्लाह। केवट। माँझी।

यौ०—कंधारी जहाज=डाकुओं का जहाज। (लश०)।

कँधावर-संज्ञा स्त्री० [हिं० कंधा+आवर (प्रत्य०)] (१) जूए का वह भाग जो बैल के कंधे के ऊपर रहता है। (२) वह चद्दर वा दुपट्टा जो कंधे पर डाला जाता है।

मुहा०—कंधावर डालना=किसी पटके या दुपट्टे को जनेऊ की तरह कंधे पर डालना।

विशेष—विवाह आदि में कपड़े पहनाकर ऊपर से एक दुपट्टा ऐसा डालते हैं कि उसका एक पल्ला बाएँ कंधे पर रहता है और दूसरा छोर पीछे से होकर दहिने हाथ की बग़ल से होता हुआ फिर बाएँ कंधे पर आ पड़ता है। इसे कँधावर कहते हैं। (३) हुडुक या ताशे की वह रस्सी जिससे उसे गले में लटका कर बजाते हैं।

कंधेला-संज्ञा पुं० [हिं० कंधा+एला (प्रत्य०)] स्त्रियों की साड़ी का वह भाग जो कंधे पर पड़ता है।

मुहा०—कँधेला डालना=साड़ी के छोर को सिर पर न ले जाकर बाँए कंधे पर से ले जाना। उ०—डोलत दिमाग डूबी डग देत दीठि लागै डेरे कर डारन डरौवन कँधेला की।—पजनेस।

कँधेली-संज्ञा स्त्री० [हिं० कंधा] (१) घोड़ा-गाड़ी का एक साज़ जिसे घोड़े को जोतते समय उसके गले में डालते हैं। यह अंडाकृत गोल मेखला के आकार का होता है। इसके नीचे

कोई मुलायम वा गुलगुली चीज़ टँकी रहती है जिससे घोड़े के कंधे में रगड़ नहीं लगती। (२) घोड़े और बैल की पीठ पर रखने का सुँड़का वा गद्दी। यह चारजामे वा पलान के नीचे इसलिये रक्खी जाती है कि उनकी पीठ पर रगड़ न लगे।

कँधैया–संज्ञा पुं० दे० "कन्हैया"।

कंप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कँपकँपी। काँपना। (२) शृंगार के सात्विक अनुभावों में से एक। इसमें शीत, कोप और भय आदि से अकस्मात् सारे शरीर में कँपकँपी सी मालूम होती है। (३) शिल्पशास्त्र में मन्दिरों वा स्तंभों के नीचे या ऊपर की कँगनी। उभड़ी हुई कँगनी।

संज्ञा पुं० [अं० कैंप] पड़ाव। लशकर। डेरा।

कँपकँपी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काँपना] थरथराहट। काँपना। संचलन।

कंपति–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

कंपन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कंपित] काँपना। थरथराहट। कँपकँपी।

कँपना–क्रि० अ० [सं० कंपन] (१) हिलना। डोलना। संचलित होना। काँपना। (२) भयभीत होना। डरना।

कंपनी–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) व्यापारियों का वह समूह जो अपने संयुक्त धन से नियमानुसार व्यापार करता हो। (२) इंगलैंड के व्यापारियों का वह समूह जो सन् १६०० ई० में बना था। रानी एलीज़बेथ की आज्ञा पाकर इस समूह ने भारतवर्ष में व्यापार प्रारंभ किया। इसने यहाँ पहले कोठियाँ बनाईं, फिर ज़मींदारी ख़रीदी और बढ़ते बढ़ते देश के बहुत से प्रांतों पर अधिकार कर लिया।

यौ०—कंपनी कागद=प्रामिसरी नोट।

(३) सेना का एक भाग जिसमें १८० सैनिक होते हैं। (४) मंडली। जत्था।

कंपमान्–वि० दे० "कंपायमान"।

कंपा–संज्ञा पुं० [हिं० कँपना] बाँस की पतली पतली तीलियाँ जिनमें बहेलिए लासा लगाकर चिड़ियों को फँसाते हैं। यह दस पाँच पतली पतली तीलियों का कूँचा होता है। इसे पतले बाँस के सिरे पर खोंसकर लगाते हैं और फिर उस बाँस को दूसरे में और उसे तीसरे में इसी तरह खोंसते जाते हैं। इससे पेड़ पर बैठी हुई चिड़ियों को फँसाते हैं। बाँस को खोंचा और कूँचे को कंपा कहते हैं। उ०—लीलि जाते बरही बिलोकि बेनी बनिता की जो न होती गूँथनि कुसुमसर कंपा की।

मुहा०—कंपा मारना या लगाना=(१) चिड़ियों को कंपे से फँसाना। (२) धोखे से किसी को अपने वश में करना। फँसाना। दाँव पर चढ़ाना।

कंपाना–क्रि० स० [हिं० कँपना का प्रे०] (१) हिलाना। हिलाना-डोलाना। (२) भय दिखाना। डराना।

कंपायमान–वि० [सं०] हिलता हुआ। कंपित।

कंपास–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) एक प्रकार का यंत्र जिससे दिशाओं का ज्ञान होता है। यह एक छोटी सी डिबिया होती है जिसमें चुंबक की एक सूई होती है जिसका सिरा सदा उत्तर को रहता है। इससे लोगों को दिशाओं का ज्ञान होता है। यह समुद्र में माझियों और स्थल में नापनेवालों और नक़शे बनानेवालों के लिये बड़ा उपकारी है। दिग्दर्शक। कुतुबनुमा।

यौ०—कंपासघर=जहाज़ में वह स्थान जहाँ कंपास रहता है।

(२) परकार। (३) एक यंत्र जिससे पैमाइश में लैन डालते समय समकोण का अनुमान किया जाता है। राइटैंगिल।

मुहा०—कंपास लगाना=(१) नापना। (२) ताक झाँक करना। फँसाने की घात में रहना।

कंपित–वि० [सं०] (१) काँपता हुआ। अस्थिर। चलायमान। चंचल। (२) भयभीत। डरा हुआ।

कंपिल–संज्ञा पुं० [सं० कम्पिल] फर्रुखाबाद के जिले का एक पुराना नगर जो पहले दक्षिण पांचाल की राजधानी था और जहाँ द्रौपदी का स्वयंवर हुआ था।

कंपिल्ल–संज्ञा पुं० [सं०] कमीला।

कंपू–संज्ञा पुं० [अं० कैंप] (१) वह स्थान जहाँ फौज रहती हो। छावनी। (२) वह स्थान जहाँ लड़ाई के समय फौज ठहरती है। पड़ाव। जनस्थान। (३) डेरा। खेमा। (४) फौज। सेना। दे० "कंपनी"।

मुहा०—कंपू का बिगड़ा हुआ=(१) लुच्चा या गुंडा। (लश०) (२) बागी।

कंपोज़–संज्ञा पुं० [अं०] शब्दों और वाक्यों के अनुसार टाइप के अक्षरों का जोड़ना। जैसे,—(क) आज प्रेस में कितना मैटर कंपोज़ हुआ? (ख) तुमने कल कितनी गेली कंपोज़ की थी?

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कंपोज़िंग–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) कंपोज़ करने का काम। (२) कंपोज़ करने की मज़दूरी। कंपोज़ कराई।

कंपोज़िंग स्टिक–संज्ञा स्त्री० [अं०] कंपोज़िटर का एक औज़ार जिस पर अक्षर बैठाए जाते हैं।

कंपोज़िटर–संज्ञा पुं० [अं०] छापेख़ाने का वह कर्मचारी जो छापने के मैटर के अक्षरों को छापने के लिये क्रम से बैठाता है।

कंपोज़िटरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कंपोज़िटर+ई (प्रत्य०)] (१) कंपोज़िटर का पद। जैसे,—कंपोज़िटरी का खयाल छोड़ो। (२) कंपोज़िटर का काम।

कंपौंडर–संज्ञा पुं० [अं०] दवा बनानेवाला। डाक्टर को दवा तैयार करने में सहायता पहुँचानेवाला।

कंपौंडरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कंपौंडर+ई (प्रत्य०)] (१) कंपौंडर का काम। (२) कंपौंडरी का काम करने की उजरत। (३) कंपौंडर का पद।

कंबख़्त–वि० दे० "कमबख़्त"।

कंबर*†–संज्ञा पुं० दे० "कंबल"।

कंबल–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अल्पा० कमली] (१) ऊन का बना हुआ मोटा कपड़ा जिसे ग़रीब लोग ओढ़ते हैं। यह भेड़ों के ऊन का बनता है और इसे गड़ेरिये बुनते हैं। (२) एक कीड़ा जो बरसात में दिखाई देता है और जिसके ऊपर काले काले रोएँ होते हैं। कमला।

कंबिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक बाजा जिससे ताल दिया जाता था।

कंबु–संज्ञा पु० [सं०] (१) शंख।

यौ०—कंबुकंठ। कंबुग्रीव।

(२) शंख की चूड़ी। (३) घोंघा। (४) हाथी।

कंबुक–संज्ञा पुं० दे० "कंबु"।

कंबोज–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कांबोज] (१) अफ़ग़ानिस्तान के एक भाग का प्राचीन नाम जो गांधार के पास पड़ता था। यहाँ के घोड़े प्रसिद्ध थे। (२) तांत्रिक खंभात को कंबोज मानते हैं।

कंभारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] गँभारी का पेड़।

कँवरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कौर] तमोलियों की भाषा में पचास पान की गड्डी। (चार कँवरी की एक ढोली होती है।)

कँवल–संज्ञा पुं० दे० "कमल"।

कँवल-ककड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कँवल+ककड़ी] कमल की जड़। भसींड़। मुरार।

कँवलगट्टा–संज्ञा पुं० [सं० कमल+हिं० गट्टा] कमल का बीज।

कँवलवाव–संज्ञा पुं० दे० "कमलवायु"।

कँवासा–संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० कँवासी] लड़की के लड़के का लड़का। नाती का लड़का।

कंस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँसा। (२) प्याला। छोटा गिलास या कटोरा। (३) सुराही। (४) मँजीरा। झाँझ। (५) काँसे का बना हुआ बर्तन वा चीज़। (६) मथुरा के राजा उग्रसेन का लड़का जो श्रीकृष्ण का मामा था और जिसको श्रीकृष्ण ने मारा था।

कंसक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कसीस। (२) काँसे का बना पात्र।

कंसताल–संज्ञा पुं० [सं०] झाँझ। उ०—कंसताल कठताल बजावत शृंग मधुर मुँहचंग।—सूर।

कंसपात्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँसे का बर्तन। (२) एक नाप जिसे आढ़क भी कहते थे। यह चार सेर की होती थी।

कंसरटीना–संज्ञा पुं० [अं०] संदूक़ के आकार का एक अँगरेज़ी बाजा जिसमें भाथी होती है और जो दोनों हाथों से खींच खींच कर बजाया जाता है।

कंसरवेटिव–वि० [अं०] (१) परंपरा से प्रचलित रीति भाँति के अनुसार ही कार्य्य करनेवाला और उनमें सहसा परिवर्तन का विरोधी। पुरानी लकीर का फ़क़ीर। (२) इंगलैंड देश के पार्लामेंट में वह राजनैतिक दल जो निर्धारित राज्यप्रणाली में कोई परिवर्त्तन वा प्रजातंत्र सिद्धांतों का प्रसार नहीं चाहता।

कंसर्ट–संज्ञा पु० [अं०] (१) कई एक बाजों का एक साथ मिलकर बजना वा कई एक गवैयों का स्वर मिलाकर गाना-बजाना। (२) भिन्न भिन्न प्रकार के बजते हुए बाजों का समूह। (३) कई गानेवालों वा बजानेवालों के स्वर का मेल।

कंसर्टीना–संज्ञा पु० दे० "कंसरटीना"।

कंसासुर–संज्ञा पु० [सं०] कंस नामक मथुरा का राजा जो असुर कहा जाता था। उ०—वही धनुख रावन संधारा। वही धनुख कंसासुर मारा।—जायसी।

कँसुला–संज्ञा पुं० [हिं० काँसा] [स्त्री० अल्पा० कँसुली] काँसे का एक चौखूँटा टुकड़ा जिसके पहलों में गोल गोल गड्ढे होते हैं। इस पर सोनार घुँघुँरू आदि के बोरों की खोरिया बनाते हैं। पाँसा। किरकिरा।

कँसुली–संज्ञा स्त्री० दे० "कँसुला"।

कँसुवा–संज्ञा पु० [हिं० काँस] एक कीड़ा जो ईख के नए पौधों को नष्ट करता है।

क–संज्ञा पु० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) विष्णु। (३) कामदेव। (४) सूर्य्य। (५) प्रकाश। (६) प्रजापति। (७) दक्ष। (८) अग्नि। (९) वायु। (१०) राजा। (११) यम। (१२) आत्मा। (१३) मन। (१४) शरीर। (१५) काल। (१६) धन। (१७) मयूर। (१८) शब्द। (१९) ग्रंथि। गाँठ।

कइत†–संज्ञा स्त्री० [हिं० कित] ओर। तरफ़।

कई–वि० [सं० कति, प्रा० कइ] एक और से अधिक। अनेक। जैसे,—कई बार। कई आदमी।

यौ०—कई एक=अनेक। बहुत से। कई बार=कितने बार। कइ दफ़ा।

ककई†–संज्ञा स्त्री० दे० "कंघी"।

ककड़ा सींगी–संज्ञा स्त्री० दे० "काकड़ा सींगी"।

ककड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्कटी, प्रा० कक्कटी] (१) जमीन पर फैलनेवाली एक बेल जिसमें लंबे लंबे फल लगते हैं। यह फागुन चैत में बोई जाती है और बैसाख जेठ में फलती है। फल लंबा और पतला होता है। इसका फल कच्चा तो बहुत खाया जाता है, पर तरकारी के काम में भी आता है। लखनऊ की ककड़ियाँ बहुत नरम, पतली और मीठी होती हैं। (२) ज्वार वा मक्के के खेत में फैलनेवाली एक बेल जिसमें लंबे लंबे और बड़े फल लगते हैं। ये फल भादों में पककर आप से आप फूट जाते हैं, इसी से फूट कहलाते हैं। ये ख़रबूज़े ही की तरह होते हैं, पर स्वाद में फीके होते हैं। मीठा मिलाने से इनका स्वाद बन जाता है।

मुहा०—ककड़ी के चोर को कटारी से मारना=छोटे अपराध

वा दोष पर कड़ा दंड देना। निष्ठुरता करना। **ककड़ी खीरा करना**=तुच्छ समझना। तुच्छ बनाना। कुछ क़दर न करना। जैसे,—तुमने हमारे माल को ककड़ी खीरा कर दिया है।

ककना†-संज्ञा पुं० दे० "कंगन"।

ककनी-संज्ञा स्त्री० दे० (१) "कँगनी"। (२) गोल चक्कर जिसके बाहरी किनारे पर दाँत या नुकीले कँगूरे हों। दंदानेदार चक्कर। (३) कँगनी के आकार की एक मिठाई।

ककराली-संज्ञा [सं० कक्ष, पा० कक्ख, हिं० काँख+वाली (प्रत्य०)] काँख का एक फोड़ा। वह गिल्टी जो बगल में निकलती है। कंदराली। कंखवाली। कखवार। कँखौरी।

ककरा सींगी†-संज्ञा स्त्री० दे० "काकड़ा सींगी"।

ककरी-संज्ञा स्त्री० दे० "ककड़ी"।

ककवा†-संज्ञा पुं० दे० "कंघा"।

ककसा†-संज्ञा स्त्री० [सं० कक्षा, प्रा० कक्खा] काँख।

ककसी-संज्ञा स्त्री० [सं० कर्कशा, प्रा० ककसा] एक प्रकार की मछली जो गंगा, जमुना, ब्रह्मपुत्र, सिंधु आदि नदियों में होती है। इसका मांस रूखा होता है।

ककहरा-संज्ञा स्त्री० [क+क—ह+रा (प्रत्य०)] 'क' से 'ह' तक वर्णमाला। वरतनिया।

विशेष—बालकों को पढ़ाने के लिये एक प्रकार की कविता होती है जिसके प्रत्येक चरण के आदि में प्रत्येक वर्ण क्रम से आता है। ऐसी कविताओं में प्रत्येक वर्ण दो बार रक्खा जाता है, जैसे— क का कमल किरन में पावै। ख खा चाहै खोरि मनावै।—कबीर।

ककही-संज्ञा स्त्री० [सं० कंकती, प्रा० कंकई] (१) एक प्रकार की कपास जिसकी रुई कुछ लाल होती है। (२) चौबगला। †संज्ञा स्त्री० दे० "कंघी"।

ककुत्स्थ-संज्ञा पुं० [सं०] इक्ष्वाकुवंशीय एक राजा।

विशेष—पुराणानुसार एक समय देवताओं और राक्षसों में युद्ध हुआ था। देवताओं ने उस समय अयोध्या के राजा से सहायता माँगी। राजा की सवारी के लिये इंद्र बैल बनकर आया। राजा ने उस बैल की पीठ पर चढ़कर लड़ाई में जा असुरों को परास्त किया। तब से उसका नाम ककुत्स्थ पड़ गया। वाल्मीकीय रामायण में ककुत्स्थ को भगीरथ का पुत्र लिखा है; पर कहीं उसे इक्ष्वाकु का पुत्र और कहीं सोमदत्त का पुत्र भी लिखा है।

ककुद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल के कंधे का कूबड़। डिल्ला। (२) राजचिह्न।

वि० [सं०] प्रधान। श्रेष्ठ।

ककुद्मान्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल। (२) पर्वत। (३) ऋषभ नाम की एक औषधि।

ककुभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन का पेड़। (२) वीणा का एक अंग। वीणा के ऊपर का वह अंश जो मुड़ा रहता है। प्रसेवक।

विशेष—कोई कोई नीचे के तूँबे को भी ककुभ कहते हैं।

(३) एक राग। (४) एक छंद जो तीन पदों का होता है। इसके पहले पद में ८, दूसरे में १२ और तीसरे में १८ वर्ण होते हैं। (५) दिशा।

ककुभा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिशा। (२) दक्ष की एक पुत्री जो धर्म की पत्नी थी। (३) मालकोस राग की पाँचवीं रागिनी जो संपूर्ण जाति की है। इसे दिन के दूसरे पहर में गाना चाहिए।

ककुम्मती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसके तीन चरणों में पाँच पाँच और एक में ६ वर्ण होते हैं।

ककेड़ा-संज्ञा पुं० [सं० कर्कटक, प्रा० कक्कटक] चिचड़ा। एक बेल जिसके फल साँप के आकार के होते हैं और तरकारी के काम में आते हैं।

ककैया-वि० [हिं० ककही] कंघी के आकार की (ईंट)।

विशेष—यह शब्द ईंट के एक भेद के लिये प्रयुक्त होता है जो बहुत छोटी होती है और जिसे लखावरी या लखौरी भी कहते हैं।

ककोड़ा-संज्ञा पुं० [सं० कर्कोटक, पा० कक्कोडक] खेखसा। ककरौल। उ०—कुँदरू और ककोड़ा कौरे। कचरी चार चचेड़ा सौरे।—सूर।

ककोरना†-क्रि० स० [हिं० कोड़ना] खरोचना। खुरचना। खुरेदना।

ककोरा-संज्ञा पुं० दे० "ककोड़ा"।

कक्कड़-संज्ञा पुं० [सं० कर्कर] सूखी वा सेंकी हुई सुरती का भुरभुरा चूर जिसमें पीनेवाला तमाखू मिला रहता है। इसे छोटी चिलम पर रखकर पीते हैं।

यौ०—**कक्कड़बाज़**=जो बहुत तमाकू पीता हो। हुक्के की लत वाला। **कक्कड़खाना**=(१) जहाँ कई आदमी बेकार बैठकर हुक्का पीते हों। (२) चंडूखाना। भटियारखाना। बुरी जगह। **कक्कड़वाला**=वह आदमी जो पैसे लेकर लोगों को हुक्का पिलाता फिरता हो।

कक्का-संज्ञा पुं० [सं० केकय] एक देश जिसे प्राचीन काल में केकय कहते थे। यह अब काश्मीर देश के अंतर्गत एक प्रांत है। यहाँ के रहनेवाले कक्करवाले या गक्कर कहलाते हैं।

संज्ञा पुं० [सं०] नगाड़ा। दुंदुभी।

संज्ञा पुं० दे० "काका"।

संज्ञा पुं० सिख जिनके यहाँ कर्द, केस, कड़ा, कच्छ, कड़ाह इन पंच ककारों का व्यवहार है।

कक्कोल-संज्ञा पुं० दे० "कंकोल"।

कक्खट—वि० [सं०] कठिन । कठोर ।

कक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँख । बगल । (२) काँछ । कछोटा । लाँग । (३) कछार । कच्छ । (४) काम । (५) जंगल । (६) सूखी घास । (७) सूखा वन । (८) भूमि । (९) भीत । पाखा । (१०) घर । कमरा । कोठरी । (११) पाप । दोष । (१२) एक रोग । काँख का फोड़ा । कखरवार । (१३) दुपट्टे का वह आँचल वा छोर जिसे पीठ पर डालते हैं । आँचल । (१४) दर्जा । श्रेणी ।

यौ०—समकक्ष=बराबरी का ।

(१५) तराज़ू का पल्ला । पलरा । (१६) बेल । लता । (१७) पेटी । कमरबंद । पटुका ।

कक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिधि । (२) ग्रह के भ्रमण करने का मार्ग । वह वर्तुलाकार मार्ग जिसमें कोई ग्रह वा उपग्रह भ्रमण करता है । (३) तुलना । समता । बराबरी । (४) श्रेणी । दर्जा । (५) ड्योढ़ी । देहली । (६) काँख । (७) कँखरवार । एक रोग जिसमें बगल में फोड़ा होता है । (८) किसी घर की दीवार या पाख । (९) काँछ । कछोटा । (१०) हाथी के बाँधने की रस्सी । (११) एक तौल । रत्ती ।

कक्षीवत—संज्ञा पुं० [सं०] दे० "कक्षीवान्" ।

कक्षीवान्—संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि का नाम ।

कक्षोत्था—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा ।

कक्ष्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आँगन । (२) चमड़े की रस्सी । ताँत । नाड़ी । (३) हाथी बाँधने की रस्सी । (४) महल । (५) ड्योढ़ी । (६) हौदा । अमारी । (७) घुँघची । (८) समानता । सादृश्य । (९) रत्ती । (१०) उद्योग ।

कखवाली—संज्ञा स्त्री० दे० "ककराली" ।

कखौरी†—संज्ञा स्त्री० (१) दे० "काँख" (२) काँख का फोड़ा । बगल का फोड़ा ।

कगदही—संज्ञा स्त्री० [हिं० कागद+ही (प्रत्य०)] बस्ता जिसमें काग़ज़-पत्र बँधे हों ।

कगर—संज्ञा पुं० [सं० क=जल+अग्र=समाना] (१) कुछ उठा हुआ किनारा । कुछ ऊँचा किनारा । (२) बाट । औंठ । बारी । (३) मेंड़ । डाँड़ । (४) छत वा छाजन के नीचे दीवार में रीढ़ सी उभड़ी हुई लकीर जो ख़ूबसूरती के लिये बनाई जाती है । कारनिस । कँगनी ।

क्रि० वि० (१) किनारे पर । किनारे । (२) समीप । निकट । (३) अलग । दूर । उ०—जसुमति तेरो बारो अतिहि अचगरो । दूध, दही, माखन लै डारि दयो सगरो । लियो दियो कछु सोऊ डारि देहु कगरो ।—सूर ।

कगार—संज्ञा पुं० [हिं० कगर] (१) ऊँचा किनारा । (२) नदी का करारा । (३) ऊँचा टीला ।

कगोड़ी—संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ का नाम जो हिंदुस्तान में प्रायः सब जगह होता है । इसकी लकड़ी इमारतों में नहीं लग सकती ।

कच—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाल । (२) सूखा फोड़ा वा ज़ख़्म । पपड़ी । (३) झुंड । (४) अंगरखे का पल्ला । (५) बादल । (६) बृहस्पति का पुत्र । (७) सुगंधवाला । (८) कुश्ती का एक पेंच जिसमें एक आदमी दूसरे की बग़ल में से हाथ ले जाकर उसके कंधे पर चढ़ाता है और गर्दन को दबाता है ।

मुहा०—कच बाँधना=किसी की बगल में हाथ ले जाकर उसके कंधे पर चढ़ाना और उसकी गरदन को दबाना ।

संज्ञा पुं० [अनु०] (१) धँसने वा चुभने का शब्द । जैसे—उसने कच से काट लिया । काँटा कच से चुभ गया । (२) कुचले जाने का शब्द ।

वि० 'कच्चा' का अल्पा० रूप जिसका व्यवहार समास में होता है; जैसे, कचलहू, कचपेंदिया ।

कचक†—संज्ञा स्त्री० [हिं० कच] वह चोट जो दबने से लगे । कुचल जाने की चोट ।

क्रि० प्र०—लगना ।

कचकच—संज्ञा पुं० [अनु०] वाग्युद्ध । बकवाद । झकझक ।

क्रि० प्र०—करना ।—मचाना ।—लगाना—होना ।

कचकचाना—क्रि० अ० [अनु० कचकच] (१) कचकच शब्द करना । धँसाने वा चुभाने का शब्द करना । खूब दाँत धँसाना । जैसे,—उसने कचकचाकर काट लिया । (२) दाँत पीसना । दे० "किचकिचाना" ।

कचकड़—संज्ञा पुं० [हिं० कच्छ=कछुआ+सं० कांड=हड्डी] (१) कछुए का खोपड़ा । (२) कछुए वा ह्वेल की हड्डी जिससे चीन जापान में खिलौने बनते हैं ।

कचकड़ा—संज्ञा पुं० दे० "कचकड़" ।

कचकना†—क्रि० अ० [हिं० कचक+ना (प्रत्य०)] (१) कुचलना । दबना । (२) ठेस लगना । ठोकर खाना ।

संयो० क्रि०—उठना ।—जाना ।

कचकाना†—क्रि० स० [हिं० कचकना] (१) कच से धँसाना । भोंकना । (२) किसी खरी पतली चीज़ को हाथ से दबाकर तोड़ना वा फोड़ना ।

कचकेला—संज्ञा पुं० [हिं० कठकेला] एक प्रकार का केला जिसके फल बड़े बड़े और खाने में रूखे वा फीके होते हैं ।

कचकोल—संज्ञा पुं० [फ़ा० कशकोल] दरियाई नारियल का भिक्षा-पात्र जिसे फ़क़ीर लिए रहते हैं । कपाल । कासा ।

कचड़ा—संज्ञा पुं० दे० "कचरा" ।

कचदिला—वि० [हिं० कच्चा+फ़ा० दिल] कच्चे दिल का । जो कड़े जी का न हो । जिसे किसी प्रकार के कष्ट, पीड़ा आदि सहने का साहस न हो ।

कचनार—संज्ञा पुं० [सं० काञ्चनार] पतली पतली डालियों का एक छोटा पेड़ जो कई तरह का होता है और भारतवर्ष में प्रायः हर जगह मिलता है। यह लता के रूप में भी होता है। इसकी पत्तियाँ गोल और सिरे पर दो फाँकों में कटी होती हैं। यह पेड़ अपनी कली के लिये प्रसिद्ध है। कली की तरकारी होती है और अचार पड़ता है। कचनार वसंत ऋतु में फूलता है। फूलों में भीनी भीनी सुगंध रहती है। फलों के झड़ जाने पर इसमें लंबी लंबी चिपटी फलियाँ लगती हैं। कचनार कई प्रकार के फूलवाले होते हैं। किसी में लाल फूल लगते हैं, किसी में सफ़ेद और किसी में पीले। लाल फूलवाले ही को संस्कृत में कांचनार कहते हैं। कांचनार शीतल और कसैला समझा जाता है और दवा में बहुत काम आता है। कचनार की जाति के बहुत पेड़ होते हैं। एक प्रकार का कचनार कुराल वा कंदला कहलाता है जिसकी गोंद "सेम की गोंद" वा "सेमला गोंद" के नाम से बिकती है। यह कतीरे की तरह की होती है और पानी में घुलती नहीं। यह देहरादून की ओर से आती है और इंद्रिय-जुलाब तथा रज खोलने की दवा मानी जाती है। एक प्रकार का कचनार बनराज कहलाता है जिसकी छाल के रेशों की रस्सी बनती है।

कचपच—संज्ञा पुं० [अनु०] (१) थोड़े से स्थान में बहुत सी चीज़ों वा लोगों का भर जाना। गिचपिच। गुत्थम गुत्था। (२) दे० "कचकच"।

कचपचिया‡—संज्ञा स्त्री० दे० "कचपची"।

कचपची—संज्ञा वि० [हिं० कचपच] (१) बहुत से छोटे छोटे तारों का पुंज जो एक गुच्छे के समान आकाश में दिखाई पड़ता है। कृत्तिका नक्षत्र। उ०—(क) तेहि पर ससि जो कचिपचि भरा। राज मँदिर सोने नग जरा।—जायसी। (ख) तिलक सँवारि जो चंदन रचे। दुइज माँझ जानहु कचपचे।—जायसी। (२) दे० "कचबची"।

कचपेंदिया—वि० [हिं० कच्चा+पेंदी] (१) पेंदी का कमज़ोर। (२) अस्थिर विचार का। बात का कच्चा। जिसकी बात का कुछ ठीक ठिकाना न हो। ओछा।

कचबची—संज्ञा स्त्री० [हिं० कचपच] चमकीले बुंदे जिन्हें स्त्रियाँ शोभा के लिये मस्तक, कनपटी और गाल पर चिपकाती हैं। सोरिया। सितारा। तारा। चमकी। उ०—घालि कचबची टीका सजा। तिलक जो देख ठाउँ जिउ तजा।—जायसी।

कचरई अमौवा—संज्ञा पुं० [हिं० कचरी+अमौवा] एक प्रकार का अमौवा रंग जो आम की कचरी के रंग सा अर्थात् हरापन लिए बादामी होता है। इसकी चाह लोग रंग के लिये उतनी नहीं करते जितनी सुगंधि के लिये करते हैं। बड़े आदमियों के लिहाफ़ और रजाई के अस्तर इस रंग में प्रायः रँगे जाते हैं। पहले कपड़े को हल्दी के रंग में रँगकर हर्रे के जोशाँदे में डुबाते हैं; इसके पीछे उसे कसीस में डुबोकर फिटकिरी मिले हुए अनार के छिलके के जोशाँदे में रँगते हैं। इस रंग के तीन भेद होते हैं—संदली, सुफियानी और मलयगिरी।

कचर कचर—संज्ञा पुं० [अनु०] (१) कच्चे फल के खाने का शब्द। जैसे—(क) आलू पका नहीं, कचर कचर करता है। (ख) वह सारी ककड़ी कचर कचर खा गया। (२) कच-कच। बकवाद।

कचरकूट—संज्ञा पुं० [हिं० कचरना+कूटना] (१) ख़ूब पीटना और लतियाना। मारकूट।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।

†(२) ख़ूब पेट भर भोजन। इच्छा भोजन।

क्रि० प्र०—करना।

कचरघान—संज्ञा पुं० [हिं० कचरना+घान] (१) बहुत सी ऐसी वस्तुओं का इकट्ठा होना जिनसे गड़बड़ी हो। (२) बहुत से लड़के बाले। कच्चे बच्चे। (३) घमासान। (४) मारपीट।

कचरना*†—क्रि० स० [सं० कच्चरण=बुरी तरह चलना, वा० अनु० कच] (१) पैर से कुचलना। रौंदना। दबाना। उ०—चलो चलु चलो चलु बिचलु न बीच ही तें, कीच बीच नीच तौ कुटुंब को कचरिहौं। एरे दगावाज मेरे पातक अपार तोहि गंगा के कछार में पछारि छार करिहौं।—पद्माकर। (२) ख़ूब खाना। चबाना।

मुहा०—कचर कचर कर खाना=ख़ूब पेट भर खाना।

कचर पचर—संज्ञा पुं० [अनु०](१) गिचपिच। दे० (२) "कचपच"।

कचरा—संज्ञा पुं० [हिं० कच्चा] (१) कच्चा ख़रबूज़ा। (२) फूट का कच्चा फल। ककड़ी। (३) सेमल का डोडा वा ढोंढ़। (४) खूद खाद। कूड़ा करकट। रद्दी चीज़। (५) रूई का ख़ूद वा बिनौला जो धुनने पर अलग कर दिया जाता है। (६) उरद वा चने की पीठी। (७) सेवार जो समुद्र में होता है। पत्थर का झाड़। जरस। जर।

कचरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कच्चा] (१) ककड़ी की जाति की एक बेल जो खेतों में फैलती है। इसमें चार पाँच अंगुल के छोटे छोटे अंडाकार फल लगते हैं जो पकने पर पीले और खटमीठे होते हैं। कच्चे फलों को लोग काट काटकर सुखाते हैं और भूनकर सोंधाई वा तरकारी बनाते हैं। जयपुर की कचरी खट्टी बहुत होती है और कड़ुई कम। पच्छिम में सोंठ और पानी में मिलाकर इसकी चटनी बनाते हैं। यह गोश्त गलाने के लिये उसमें डाली जाती है। पेहँटा। पेहँटुल। गुरम्ही। सेंधिया। (२) कचरी वा कच्चे पेहँटे के सुखाए हुए टुकड़े। (३) सूखी कचरी की तरकारी। उ०—पापर बरी फुलौरी

कचौरी। कूरबरी कचरी औ मिथौरी।—सूर। (४) काट कर सुखाए हुए फल मूल आदि जो तरकारी के लिये रक्खे जाते हैं। उ०—कुँदुरु और ककोड़ा कौरे। कचरी चार चचेड़ा सौरे।—सूर। (५) छिलकेदार दाल। (६) रूई का बिनौला वा खूद।

कचलंपट–वि० दे० "कछलंपट"।

कचला†–संज्ञा पुं० [सं० कच्चर=मलिन] (१) गीली मिट्टी। गिलावा। (२) कीचड़।

कचलू–संज्ञा पुं० [देश०] एक पहाड़ी पेड़ जिसकी कई जातियाँ होती हैं। हिंदुस्तान में इसके चौदह भेद मिलते हैं जिनकी पहचान केवल पत्तियों से होती है, लकड़ियों में कुछ भेद नहीं होता। इसकी लकड़ी सफेद चमकदार और कड़ी होती है। प्रति घन फुट यह २१ सेर वज़न में होती है। यह पेड़ जमुना के पूर्व में हिमालय पर्वत पर ५००० से ९००० फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। पेड़ देखने में बहुत सुंदर होता है। इसकी पत्तियाँ शिशिर में झड़ जाती हैं और वसंत के पहले निकल आती हैं। इसके तख़्ते मकानों में लगते हैं और चाय के संदूक़ बनाने के काम में आते हैं।

कचलोंदा–संज्ञा पुं० [हिं० कच्चा+लोंदा] कच्चे आटे का पेड़ा। लोई। जैसे,—वह रोटी पकाना नहीं जानता, कचलोंदे उठाकर सामने रख देता है।

कचलोन–संज्ञा पु० [हिं० काँच+लोन] एक प्रकार का लवण जो काँच की भट्ठियों में जमे हुए क्षार से बनता है। यह पानी में जल्दी नहीं घुलता और पाचक होता है।

कचलोहा–संज्ञा पु० [हिं० कच्चा+लोहा] (१) कच्चा लोहा। † (२) अनाड़ी का किया हुआ वार। हलका हाथ।

कचलोही–संज्ञा स्त्री० दे० "कचलोहा"।

कचलोहू–संज्ञा पु० [हिं० कच्चा+लोहू] वह पनछा वा पानी जो खुले ज़ख़म से थोड़ा थोड़ा निकलता है। रसधातु।

कचवाँसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कच्चा=बहुत छोटा+अंश] खेत मापने का एक मान जो बीघे का आठ हज़ारवाँ भाग होता है। बीस कचवाँसी का एक बिस्वाँसी होता है।

कचवाट†–संज्ञा स्त्री० [हिं०कचाहट] (१) खिन्नता। विराग। (२) नफ़रत। चिढ़।

कचहरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कचकच=वादविवाद+हरी (प्रत्य०)] (१) गोष्ठी। जमावड़ा। जैसे,—तुम्हारे यहाँ दिन रात कचहरी लगी रहती है। (२) दरबार। राजसभा।

क्रि० प्र०—उठना।—करना।—बैठना।—लगना।—लगाना।

(३) न्यायालय। अदालत।

क्रि० प्र०—उठना।—करना।—लगना।

मुहा०—कचहरी चढ़ना=अदालत तक मामला ले जाना।

(४) न्यायालय का दफ़्तर। (५) दफ़्तर। कार्य्यालय।

कचाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० कच्चा+ई (प्रत्य०)] (१) कच्चापन। (२) नातजुर्बेकारी। अनुभव की कमी। उ०—ललन सलोने अरु रहे अति सनेह सों पागि। तनक कचाई देति दुख सूरन लौं मुख लागि।—बिहारी।

कचाकु–वि० [सं०] (१) दुःशील। उद्दंड। (२) कुटिल।

कचाटुर–संज्ञा पु० [सं०] बनमुरगी जो पानी वा दलदल के किनारे की घासों में घूमा करती है।

कचाना‡–क्रि० अ० [हिं० कच्चा] (१) कचियाना। पीछे हटना। सकपकाना। हिम्मत हारना। (२) भयभीत होना। डरना।

कचायँध–संज्ञा स्त्री० [हिं० कच्चा+गंध] कच्चेपन की महक।

कचायन–संज्ञा स्त्री० [हिं० कचकच] किचकिच। लड़ाई झगड़ा।

कचार–संज्ञा पु० [हिं० कछार] नदी के किनारे उस स्थान का जल जहाँ कीचड़ वा दलदल के कारण बबूले उठते हैं और जहाँ नाव नहीं चढ़ सकती।

कचालू–संज्ञा पु० [हिं० कच्चा+आलू] (१) एक प्रकार की अरुई। बंडा। (२) एक प्रकार की चाट। उबाले हुए आलू या बंडे के कतरे जिनमें नमक, मिर्च, खटाई आदि चरपरी चीज़ें मिली रहती हैं। (३) कमरख, अमरूत, खीरे, ककड़ी आदि के छोटे छोटे टुकड़े जिनमें नमक मिर्च मिली रहती है।

मुहा०—कचालू करना वा बनाना=खूब पीटना।

कचावट–संज्ञा पु० [हिं० कच्चा+आवट (प्रत्य०)] कच्चे आम के पन्ने की अमावट की तरह जमाई हुई खटाई।

कचिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० काटना] दाँती। हँसिया।

कचियाना–क्रि० अ० [हिं० कच्चा] (१) दिल कच्चा करना। साहस छोड़ना। हिम्मत हारना। तत्पर न रहना। (२) डर जाना। पीछे हटना। (३) लज्जित होना। शर्माना। झेंपना।

संयो० क्रि०—जाना।

कचीची※–संज्ञा स्त्री० [हिं० कचपची] कृत्तिका। (१) कचपचिया उ०—कानन कुंडल खूँट औ खूँटी। जानहुँ परी कचीची टूटी।—जायसी। (२) कनपटी के पास दोनों जाबड़ों का जोड़ जिससे मुँह खुलता और बंद होता है। जबड़ा। दाढ़।

मुहा०—कचीची बटना=दाँत पीसना। किचकिचाना। कचीची लेना=मरने के समय का दाँत पीसना। कचीची बँधना= दाँत बैठाना।

कचुल्ला–संज्ञा पु० [हिं० कसोरा, कचोरा+ऊला (प्रत्य०)] वह कटोरा जिसकी पेंदी चौड़ी हो।

कचूमर–संज्ञा पु० दे० "कचूमर"।

संज्ञा पुं० (१) [हिं० कुचलना] कुचलकर बनाया हुआ अचार। कुचला। (२) कुचली हुई वस्तु।

मुहा०—कचूमर करना वा निकालना=(१) खूब कूटना। चूर चूर करना। कुचलना। (२) असावधानी वा अत्यंत अधिक व्यवहार के कारण किसी वस्तु को नष्ट करना। बिगाड़ना।

नष्ट करना। जैसे,—**तुम्हारे हाथ में जो चीज़ पड़ती है, उसी का कचूमर निकाल डालते हो।** (३) मारते मारते बेदम करना। खूब पीटना। भुरकुस निकालना।

कचूर—संज्ञा पुं० [सं० कर्चूर] **हल्दी की जाति का एक पौधा जो ऊपर से देखने में बिलकुल हल्दी की तरह का होता है, पर हल्दी की जड़ में और इसकी जड़ वा गाँठ में भेद होता है। कचूर की जड़ वा गाँठ सफ़ेद होती है और उसमें कपूर की सी कड़ी महँक होती है। यह पौधा सारे भारतवर्ष में लगाया जाता है और पूर्वीय हिमालय की तराई में आपसे आप होता है। वैद्यक के अनुसार कचूर रेचक, अग्निदीपक और वात तथा कफ़ को दूर करनेवाला है। यह साँस, हिचकी और बवासीर में दिया जाता है। नरकचूर। जरंबाद।**

पर्या०—कर्चूर। द्राविड़। कर्श्य। गंधमूलक। गंधसार। वेधमुख। जटाल।

मुहा०—कचूर होना=कचूर की तरह हरा होना। खूब हरा होना (खेती आदि का)।

संज्ञा पुं० [हिं० कचोरा] कचुल्ला [स्त्री० कचूरी] **कटोरा। उ०—(क) नयन कचूर प्रेम मद भरे। भइ सुदिष्टि योगी सों ढरे।—जायसी। (ख) हिया थार कुच कंचन लाडू। कनक कचूर उठे कै चाडू।—जायसी। (ग) माँगी भीख खपर लइ मुये न छोड़े बार। बूझ जो कनक कचूरी भीख देहु नहिं मार।—जायसी। (घ) दसन दिपै जस हीरा जोती। नयन कचूर भरे जनु मोती।—जायसी।**

कचेरा—संज्ञा पु० **दे० "कँचेरा"।**

कचेहरी—संज्ञा स्त्री० **दे० "कचहरी"।**

कचोना—क्रि० स० [हिं० कच=धँसाने का शब्द] **चुभाना। धँसाना।**

कचोरा*†—संज्ञा पुं० [हिं० काँसा+ओरा (प्रत्य०)] [स्त्री० कचोरी] **कटोरा। प्याला। उ०—(क) पान लिए दासी चहुँ ओरा। अमिरित दानी भरे कचोरा।—जायसी। (ख) रतन छिपाये ना छिपै पारखि होय सो परीख। घालि कसौटी दीजिए कनक कचोरी भीख।—जायसी। (ग) मुकुलित केश सुदेश देखियत नील बसन लपटाए। भरि अपने कर कनक कचोरा पीवत प्रियहि चखाए।—सूर।**

कचोरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कचोरा+ई (प्रत्य०)] **छोटा कटोरा। प्याली।**

कचौड़ी—संज्ञा स्त्री० **दे० "कचौरी"।**

कचौरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कचरी] **एक प्रकार की पूरी जिसके भीतर उरद आदि की पीठी भरी जाती है। यह कई प्रकार की होती है। जैसे—सादी, खस्ता आदि।**

कच्चर—वि० [सं०] **गर्द से भरा हुआ। मैला कुचैला। मल से दूषित।**

कच्चा—वि० [सं० कषण=कच्चा] **(१) बिना पका। जो पका न हो। हरा और बिना रस का। अपक्व। जैसे, कच्चा फल।**

मुहा०—कच्चा खा जाना=मार डालना। नष्ट करना। (क्रोध में लोगों की यह साधारण बोल चाल है।) **जैसे,—तुम से जो कोई बोलेगा, उसे मैं कच्चा खा जाऊँगा।**

(२) जो आँच पर पका न हो। जो आँच खाकर गला न हो वा खरा न हो गया हो। जैसे कच्ची रोटी, कच्ची दाल, कच्चा घड़ा, कच्ची ईंट। (३) जो अपनी पूरी बाढ़ को न पहुँचा हो। जो पुष्ट न हुआ हो। अपरिपुष्ट। जैसे,—कच्ची कली, कच्ची लकड़ी, कच्ची उमर।

मुहा०—कच्चा जाना=गर्भपात होना। पेट गिरना। **कच्चा बच्चा**=वह बच्चा जो गर्भ के दिन पूरे होने के पहले ही पैदा हो।

(४) जो बनकर तैयार न हुआ हो। जिसके तैयार होने में कसर हो। (५) जिसके संस्कार वा संशोधन की प्रक्रिया पूरी न हुई हो। जैसे कच्ची चीनी, कच्चा शोरा। (६) अदृढ़। कमज़ोर। जल्दी टूटने वा बिगड़नेवाला। बहुत दिनों तक न रहनेवाला। अस्थायी। अस्थिर। जैसे, कच्चा धागा, कच्चा काम, कच्चा रंग।

मुहा०—कच्चा जी वा दिल=विचलित होनेवाला चित्त। धैर्य्यच्युत होनेवाला चित्त। वह हृदय जिसमें कष्ट, पीड़ा आदि सहने का साहस न हो। 'कड़ा जी' का उलटा। जैसे,—**(क) उसका बड़ा कच्चा जी है, चीरफाड़ नहीं देख सकता। (ख) लड़ाई पर जाना कच्चे जी के लोगों का काम नहीं है। कच्चा करना**=(१) डराना। भयभीत करना। हिम्मत छुड़ा देना। (२) कच्ची सिलाई करना। लंगर डालना। सलंगा भरना। **कच्चा होना**=(१) अधीर होना। हतोत्साह होना। हिम्मत हारना। (२) लंगर पड़ना। कच्ची सिलाई होना।

(७) जो प्रमाणों से पुष्ट न हो। अप्रामाणिक। निःसार। अयुक्त। बेठीक। जैसे कच्ची राय, कच्ची दलील, कच्ची जुगुत।

मुहा०—कच्चा करना=अप्रामाणिक ठहराना। झूठा साबित करना। **जैसे,—उसने तुम्हारी सब बातें कच्ची कर दीं।** (२) लज्जित करना। शरमाना। नीचा दिखाना। **जैसे,—उसने सब के सामने तुम्हें कच्चा किया। कच्चा पड़ना**=(१) अप्रामाणिक ठहरना। निःसार ठहरना। झूठा ठहरना। **जैसे,—(क) यहाँ तुम्हारी दलील कच्ची पड़ती है। (ख) यदि हम इस समय उन्हें रुपया न देंगे तो हमारी बात कच्ची पड़ेगी।** (२) मिटपिटाना। संकुचित होना। **जैसे,—हमें देखते ही वे कच्चे पड़ गए। कच्ची पक्की**=भली बुरी। उलटी सीधी। दुर्वाक्य। दुर्वचन। गाली। **जैसे,—बिना दो चार कच्ची पक्की सुने वह ठीक काम नहीं करता। कच्ची बात**=अश्लील बात। लज्जाजनक बात।

(८) जो प्रामाणिक तौल वा माप से कम हो। जैसे, कच्चा सेर, कच्चा मन, कच्चा बीघा, कच्चा कोस, कच्चा गज।

विशेष—एक ही नाम के दो मानों में जो कम वा छोटा होता है, उसे कच्चा कहते हैं। जैसे जहाँ नंबरी सेर से अधिक वज़न का सेर चलता है, वहाँ नंबरी ही को कच्चा कहते हैं। (९) जो सर्वांगपूर्ण रूप में न हो। जिसमें काट छाँट की जगह हो। जैसे, कच्ची बही, कच्चा मसविदा। (१०) जो नियमानुसार न हो। जो क़ायदे के मुताबिक़ न हो। जैसे, कच्ची दस्तावेज़। कच्ची नक़ल। (११) कच्ची मिट्टी का बना हुआ। गीली मिट्टी का बना हुआ। जैसे, कच्चा घर, कच्ची दीवार।

मुहा०—कच्चा पक्का=इमारत वा जोड़ाई का वह काम जिसमें पक्की ईंटें मिट्टी के गारे से जोड़ी गई हो।

(१२) अपरिपक्व। अपटु। अव्युत्पन्न। अनाड़ी। जिसे पूरा अभ्यास न हो (व्यक्ति)। जैसे,—वह हिसाब में बहुत कच्चा है। (१३) जिसे अभ्यास न हो। जो मँजा न हो। जो किसी काम को करते करते जमा वा बैठा न हो (वस्तु)। जैसे, कच्चा हाथ। (१४) जिसका पूरा अभ्यास न हो। जो मँजा हुआ न हो। जैसे, कच्चा खेत, कच्चे अक्षर। उ०—जो विषय कच्चा हो उसका अभ्यास करो। संज्ञा पु० (१) वह दूर दूर पर पड़ा हुआ तागे का डोभ जिस पर दरज़ी बखिया करते हैं। यह डोभ वा सीवन पीछे खोल दी जाती है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) ढाँचा। ख़ाका। ढड्ढा। (३) मसविदा। (४) कनपटी के पास नीचे ऊपर के जबड़ों का जोड़ जिससे मुँह खुलता और बंद होता है। (५) जबड़ा। दाढ़।

मुहा०—कच्चा बैठना=दाँत बैठना। मरने के समय ऊपर नीचे के दाँतों का इस प्रकार मिल जाना कि वे अलग न हो सकें।

(६) बहुत छोटा ताँबे का सिक्का जिसका चलन सब जगह न हो। कच्चा पैसा। (७) अधेला। (८) एक रुपए का एक दिन का ब्याज एक "कच्चा" कहलाता है। ऐसे सौ कच्चों का ३$\frac{1}{8}$ तक्का माना जाता है। पर प्रत्येक ३०० कच्चों का १० पक्का लिया जाता है। देशी व्यापारी इसी रीति पर ब्याज फैलाते हैं।

कच्चा असामी—संज्ञा पु० (१) वह असामी जो किसी खेत को दो है। एक फसल जोतने के लिये ले। ऐसे असामी का खेत पर कोई अधिकार नहीं होता। (२) जो लेन देन के व्यवहार में दृढ़ न रहे। जो अपना वादा पूरा न करता हो। (३) जो अपनी बात पर दृढ़ न रहे। जो समय पर किसी बात से नट जाय।

कच्चा काग़ज़—संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का काग़ज़ जो घोंटा हुआ नहीं होता। यह शरबत, तेल आदि के छानने के काम में आता है। (२) वह दस्तावेज़ जिसकी रजिस्ट्री न हुई हो।

कच्चा काम—संज्ञा पु० वह काम जो झूठे सल्मे सितारे वा गोटे पट्ठे से बनाया गया हो। झूठा काम।

कच्चा कोढ़—संज्ञा पु० (१) खुजली। (२) गरमी। आतशक।

कच्चा गोटा—संज्ञा पु० झूठा गोटा।

कच्चा घड़ा—संज्ञा पु० (१) वह घड़ा जो आँवें में पकाया न गया हो।

मुहा०—कच्चे घड़े पानी भरना=अत्यंत कठिन काम करना।

(२) घड़ा जो खूब पका न हो। सेवर घड़ा।

मुहा०—कच्चे घड़े की चढ़ना=शराब या ताड़ी आदि को पीकर मतवाला होना। नशे में चूर होना। गहागड्ड नशा चढ़ना। पागल होना। उन्मत्त होना। बहकना।

कच्चा चिट्ठा—संज्ञा पु०—वह वृत्तांत जो ज्यों का त्यों कहा जाय। पूरा और ठीक ठीक ब्योरा।

मुहा०—कच्चा चिट्ठा खोलना=गुप्त भेद खोलना। गुप्त बातों को पूरे ब्योरे के साथ प्रकट करना।

कच्चा चूना—संज्ञा पु० चूने की कली जो पानी में बुझाई न गई हो।

कच्चा जिन—संज्ञा पु० [हिं० कच्चा+अ० जिन=भूत] (१) जड़। मूर्ख। (२) हठी आदमी। (३) पीछे पड़ जानेवाला आदमी। वह जिसे गहरी धुन हो।

कच्चा जोड़—संज्ञा पु० बर्त्तन बनानेवालों की बोली में वह जोड़ जो राँगे से जोड़ा गया हो। यह जोड़ उखड़ जाता है और बहुत दिनों तक रहता नहीं। कच्चा टाँका।

कच्चा टाँका—संज्ञा पु० दे० "कच्चा जोड़"।

कच्चा तागा—संज्ञा पु० (१) कता हुआ तागा जो बटा न गया हो। (२) कमज़ोर चीज़। नाज़ुक चीज़।

कच्चा धागा—संज्ञा पु० दे० "कच्चा तागा"।

कच्चा नील—संज्ञा पु० एक प्रकार का नील। कारख़ाने में मथाई के बाद हौज में पलास का गोंद मिलाकर नील छोड़ दिया जाता है। जब वह नीचे जम जाता है, तब ऊपर का पानी हौज के किनारे के छेद से निकाल दिया जाता है। पानी निकल जाने पर नीचे के गड्ढे में नील के जमे हुए माँठ वा कीचड़ को कपड़े में बाँधकर रात भर लटकाते हैं। सबेरे उसे खोलकर राख पर धूप में फैला देते हैं। सूखने पर इसी को कच्चा नील वा नीलबरी कहते हैं। इसमें पक्के नील से कम मेहनत लगती है, इसी से यह सस्ता बिकता है।

कच्चा पैसा—संज्ञा पु० वह छोटा ताँबे का सिक्का वा पैसा जिसका प्रचार सब जगह न हो और जो राज्यानुमोदित न हो। जैसे, गोरखपुरी, बालासाही, मद्धूसाही, नानकसाही।

कच्चा बाना—संज्ञा पु० (१) रेशम का वह डोरा जो बटा न हो। (२) वह रेशमी कपड़ा जिस पर कलफ न किया गया हो।

कच्चा माल—संज्ञा पु० (१) वह रेशमी कपड़ा जिस पर कलफ न किया गया हो। (२) झूठा गोटा पट्ठा।

कच्चा मोतियाबिंद–संज्ञा पुं० वह मोतियाबिंद जिसमें आँख की ज्योति बिल्कुल नहीं मारी जाती, केवल धुँधला दिखाई देता है। ऐसे मोतियाबिंद में नश्तर नहीं लगता।

कच्चा रेज़ा–संज्ञा पुं० दे० "कच्चा माल (१)"।

कच्चा शोरा–संज्ञा पुं० वह शोरा जो उबाली हुई नोनी मिट्टी के खारे पानी में जम जाता है। इसी को फिर साफ़ करके कलमी शोरा बनाते हैं।

कच्चा हाथ–संज्ञा पुं० वह हाथ जो किसी काम में बैठा न हो। बिना मँजा हुआ हाथ। अनभ्यस्त हाथ।

कच्चा हाल–संज्ञा पुं० सच्ची कथा। पूरा और ठीक ब्योरा।

कच्ची–वि० "कच्चा" का स्त्रीलिंग।

संज्ञा स्त्री० कच्ची रसोई। केवल पानी में पकाया हुआ अन्न। अन्न जो दूध वा घी में न पकाया गया हो। "पक्की" का उलटा। सखरी। जैसे,—हमारा उनका कच्ची का व्यवहार है।

विशेष—द्विजातियों में लोग अपने ही संबंध वा बिरादरी के लोगों के हाथ की कच्ची रसोई खा सकते हैं।

कच्ची असामी–संज्ञा स्त्री० वह काम या जगह जो थोड़े दिनों के लिये हो। चंदरोज़ा जगह।

कच्ची कली–संज्ञा स्त्री० (१) वह कली जिसके खिलने में देर हो। मुँह बँधी कली। (२) स्त्री जो पुरुष-समागम के योग्य न हो। अप्राप्त-यौवना। (३) जिस स्त्री से पुरुषसमागम न हुआ हो। अछूती।

मुहा०—कच्ची कली टूटना=(१) थोड़ी अवस्थावाले का मरना। (२) बहुत छोटी अवस्थावाली वा कुमारी का पुरुष से संभोग होना।

कच्ची गोटी–संज्ञा स्त्री० चौसर के खेल में वह गोटी जो उठी तो हो, पर पक्की न हो। चौसर में वह गोटी जो अपने स्थान से चल चुकी हो, पर जिसने आधा रास्ता पार न किया हो। उ०—कच्ची बारहि बार फिरासी। पक्की तो फिर थिर न रहासी।—जायसी।

विशेष—चौसर में गोटियों के चार भेद हैं।

मुहा०—कच्ची गोटी खेलना=नातजुरुबेकार रहना। अशिक्षित बने रहना। अनाड़ीपन करना। जैसे,—उसने ऐसी कच्ची गोटियाँ नहीं खेली हैं जो तुम्हारी बात में आ जाय।

कच्ची गोली–संज्ञा स्त्री० मिट्टी की गोली जो पकाई न गई हो। ऐसी गोली खेलने में जल्दी टूट जाती है।

मुहा०—कच्ची गोली खेलना=(१) नातजरुबेकार बनना। नातजरुबेकार होना। अनाड़ीपन करना। दे० "कच्ची गोटी खेलना"।

कच्ची घड़ी–संज्ञा स्त्री० काल का एक माप जो दिन रात के साठवें अंश के बराबर होता है। दंड। २४ मिनट का काल।

कच्ची चाँदी–संज्ञा स्त्री० चोखी चाँदी। खरी चाँदी।

कच्ची चीनी–संज्ञा स्त्री० वह चीनी जो गलाकर खूब साफ़ न की गई हो।

कच्ची जाकड़–संज्ञा स्त्री० वह बही जिसमें उस माल के लेन देन का ब्योरा हो जो निश्चित रूप से न बिक गया हो।

कच्ची नक़ल–संज्ञा स्त्री० वह नकल जो सरकारी नियम के विरुद्ध किसी सरकारी काग़ज़ या मिसिल से खानगी तौर पर सादे काग़ज़ पर उतरवाई जाय। यह नकल निज के काम में आ सकती है, पर किसी हाकिम के सामने या अदालत में पेश नहीं हो सकती।

कच्ची पेशी–संज्ञा स्त्री० मुक़दमे की पहली पेशी जिसमें कुछ फैसला नहीं होता।

कच्ची बही–संज्ञा स्त्री० वह बही जिसमें किसी दूकान या कारखाने का ऐसा हिसाब लिखा हो जो पूर्ण रूप से निश्चित न हो।

कच्ची मिती–संज्ञा स्त्री० (१) वह मिती जो पक्की मिती के पहले आवे। लेन देन में जिस दिन हुंडी का दिन पूजता है, उसे मिती कहते हैं। उसका दूसरा नाम पक्की मिती भी है। उसके पूर्व के दिनों को कच्ची मिती कहते हैं। (२) रुपये के लेन देन में रुपये लेने की मिती और रुपए चुकाने की मिती। इन दोनों मितियों का सूद प्रायः नहीं जोड़ा जाता।

कच्ची रसोई–संज्ञा स्त्री० केवल पानी में पकाया हुआ अन्न। अन्न जो दूध वा घी में न पकाया गया हो।

कच्ची रोकड़–संज्ञा स्त्री० वह बही जिसमें प्रति दिन के आय व्यय का कच्चा हिसाब दर्ज रहता है।

कच्ची शक्कर–संज्ञा स्त्री० वह शक्कर जो केवल राब को जूसी निकालकर सुखा लेने से बनती है। खाँड़।

कच्ची सड़क–संज्ञा स्त्री० वह सड़क जिसमें कंकड़ आदि न पिटा हो।

कच्ची सिलाई–संज्ञा स्त्री० (१) वह दूर दूर पड़ा हुआ डोभ वा टाँका जो बखिया करने के पहले जोड़ों को मिलाए रहता है। यह पीछे खोल दिया जाता है। लंगर। कोका। (२) किताबों की वह सिलाई जिसमें सब फरमे एक साथ हाशिए पर से सी दिए जाते हैं। इस सिलाई की पुस्तक के पन्ने पूरे नहीं खुलते। जिल्दबंदी में इस प्रकार की सिलाई नहीं की जाती।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कच्चू–संज्ञा स्त्री० [सं० कंचु] (१) अरुई। घुइयाँ। (२) बंडा।

कच्चे पक्के दिन–संज्ञा पुं० (१) चार या पाँच महीने का गर्भ काल। (२) दो ऋतुओं की संधि के दिन।

कच्चे बच्चे–संज्ञा पुं० बहुत छोटे छोटे बच्चे। बहुत से लड़के बाले। जैसे,—इतने कच्चे बच्चे लिए हुए तुम कहाँ कहाँ फिरोगे?

कच्छ–संज्ञा पुं० [सं०] जलप्राय देश। अनूपदेश। (२) नदी आदि के किनारे की भूमि। कछार। (३) [वि० कच्छी] गुजरात के समीप एक अंतरीप। कच्छभुज। (४) कच्छ देश का घोड़ा। (५) धोती का वह छोर जिसे दोनों टाँगों के बीच से निकालकर पीछे खोंस लेते हैं। लाँग।

मुहा०—कच्छ की उखेड़=कुश्ती का एक पेंच जिसमें पट पड़े

हुए को उलटते हैं। इसमें अपने बाएँ हाथ को विपक्षी के बाएँ बगल से ले जाकर उसकी गर्दन पर चढ़ाते हैं और दाहिने हाथ को दोनों जाँघों में से ले जाकर उसके पेट के पास लँगोट को पकड़ते हैं और उखेड़ देते हुए गिरा देते हैं। इसका तोड़ यह है—अपनी जो टाँग प्रतिद्वंद्वी की ओर हो, उसे उसकी दूसरी टाँग में फँसाना अथवा झट घूमकर अपने खुले हाथ से खिलाड़ी की गर्दन दबाते हुए छलाँग मार कर गिराना।

(६) छप्पय का एक भेद जिसमें ५३ गुरु, ४६ लघु, ९९ वर्ण और १४२ मात्राएँ होती हैं।

* संज्ञा पुं० [सं० कच्छप] कछुआ।

कच्छप–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० कच्छपी] (१) कछुआ। (२) विष्णु के २४ अवतारों में से एक। (३) कुबेर की नव निधियों में से एक निधि। (४) एक रोग जिसमें तालु में बतौड़ी निकल आती है। (५) एक यंत्र जिससे मद्य खींचा जाता है। (६) कुश्ती का एक पेंच। (७) एक नाग। (८) विश्वामित्र का एक पुत्र। (९) तुन का पेड़। (१०) दोहे का एक भेद जिसमें ८ गुरु और ३२ लघु होते हैं। जैसे—एक छत्र इक मुकुट मणि, सब बरनन पर जोइ। तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोइ।—तुलसी।

कच्छपिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का क्षुद्र रोग जिस में पाँच छः फोड़े निकलते हैं जो कछुए की पीठ ऐसे होते हैं और कफ और वात से उत्पन्न होते हैं। (२) प्रमेह के कारण उत्पन्न होनेवाली फुड़ियों का एक भेद। ये फुड़ियाँ छोटी छोटी शरीर के कठिन भाग में कछुए की पीठ के आकार की होती हैं। इनमें जलन होती है। कच्छपी।

कच्छपी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कच्छप की स्त्री। कछुई। (२) सरस्वती की वीणा का नाम। (३) एक प्रकार की छोटी वीणा। (४) दे० "कच्छपिका (२)"।

कच्छा–संज्ञा पुं० [सं० कच्छ=नाव का एक भाग] एक प्रकार की बड़ी नाव जिसके छोर चिपटे और बड़े होते हैं। इसमें दो पतवारें लगती हैं।

मुहा०—कच्छा पाटना=कई कच्छों वा पटैलो को एक साथ बाँधकर पाटना।

कच्छार–संज्ञा पु० [सं०] एक देश जो बृहत्संहिता के अनुसार शतभिष पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपद के अधिकृत देशों में है। कच्छ।

कच्छी–वि० [हिं० कच्छ] (१) कच्छ देश का। (२) कच्छ देश में उत्पन्न।

संज्ञा पु० [हिं० कच्छ] घोड़े की एक प्रसिद्ध जाति जो कच्छ देश में होती है। इस जाति के घोड़ों की पीठ गहरी होती है।

कच्छू†–संज्ञा पुं० [सं० कच्छप] कछुआ।

कछना–संज्ञा पुं० [हिं० काछना] घुटने के ऊपर चढ़ाकर पहनी हुई धोती।

क्रि० प्र०—काछना।

कछनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काछना] (१) घुटने के ऊपर चढ़ाकर पहनी हुई धोती। उ०—पीतांबर की कछनी काछे मोर मुकुट सिर दीने।—गीत।

क्रि० प्र०—काछना।—बाँधना।—मारना।

(२) छोटी धोती। उ०—स्याम रंग कुलही सिर दीन्हें। स्याम रंग कछनी कछ लीन्हें।—लाल। (३) रामलीला आदि में पहनने का घाँघरे की तरह का एक वस्त्र जो घुटने तक आता है। (४) वह वस्तु जिससे कोई चीज़ काछी जाय।

कछरा–संज्ञा पु० [सं० क=जल+क्षरण=गिरना] [स्त्री० अल्पा० कछरी] चौड़े मुँह का मिट्टी का घड़ा वा बरतन जिसमें पानी, दूध या अन्न रक्खा जाता है। इसकी अवँठ ऊँची और दृढ़ होती है। उ०—बाँधे न मैं बछरा लै गरैयन छीर भर्यो कछरा सिर फूटि है।—बेनी।

कछराली–संज्ञा स्त्री० दे० "ककराली"।

कछरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कछरा का अल्पा०] छोटा कचरा।

कछवारा–संज्ञा पु० [हिं० काछी+बाड़ा] काछी का खेत जिसमें तरकारियाँ बोई जाती हैं।

कछवाहा–संज्ञा पु० [सं० कच्छ] राजपूतों की एक जाति।

कछवी केवल–संज्ञा स्त्री० [?] एक प्रकार की काली मिट्टी जो बिखरने से सफ़ेद हो जाती है। भटकी।

कछान–संज्ञा पु० [हिं० काछना] घुटने के ऊपर चढ़ाकर धोती पहनना।

कछार–संज्ञा पु० [सं० कच्छ] (१) समुद्र वा नदी के किनारे की भूमि जो तर और नीची होती है। नदियों की मिट्टी से पटकर निकली हुई ज़मीन जो बहुत हरी भरी रहती है। खादर। दियारा। उ०—(क) एरे दगादार मेरे पातक अपार! तोहि गंगा के कछार में पछारि छार करिहौं।—पद्माकर। (ख) कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में, क्यारिन में, कलिन कलीन किलकंत है।—पद्माकर। (२) आसाम प्रांत का एक भाग।

कछु†*–वि० दे० "कुछ"।

कछुआ–संज्ञा पु० [सं० कच्छप] [स्त्री० कछुई] एक जल-जंतु जिसके ऊपर बड़ी कड़ी ढाल की तरह की खोपड़ी होती है। इस खोपड़ी के नीचे वह अपना सिर और हाथ पैर सिकोड़ लेता है। इसकी गरदन लंबी और दुम बहुत छोटी होती है। यह ज़मीन पर भी चल सकता है। इसकी खोपड़ी के खिलौने बनते हैं।

कछुक*–वि० [हिं० कछु+एक] कुछ। थोड़ा।

कछुवा–संज्ञा पु० दे० "कछुआ"।

कछोटा–संज्ञा पुं० [हिं० काछ] [स्त्री० अल्पा० कछोटी] कछनी।

क्रि० प्र०—बाँधना।—मारना।

कज–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) टेढ़ापन। जैसे,—उनके पैर में कुछ कज है।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।

मुहा०—**कज निकालना**=टेढ़ापन दूर करना। सीधा करना।

(२) कसर। दोष। दूषण। ऐब।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—होना।

मुहा०—**कज निकालना**=(१) दोष दूर करना। (२) दोष बतलाना। दूषण दिखाना।

कजक–संज्ञा पुं० [फ़ा०] हाथी का अंकुश।

कजकोल–संज्ञा पुं० [फ़ा० कशकोल] भिक्षुकों का कपाल वा खप्पर।

कजनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काछना, कछनी] वह औज़ार जिससे ताँबे वा पीतल के बरतनों को खुरच कर साफ़ करते हैं। खरदनी।

कजपूती–संज्ञा स्त्री० दे० "कयपूती"।

कजरा†–संज्ञा पुं० (१) दे० "काजल"। (२) काली आँखों-वाला बैल।

वि० [हिं० काजल] [स्त्री० कजरी] काली आँखोंवाला। जिसकी आँखों में काजल लगा हो वा ऐसा मालूम होता हो कि काजल लगा है। जैसे,—कजरा बैल।

कजराई*–संज्ञा स्त्री० [हिं० काजल] कालापन। उ०—गई ललाई अधर ते कजराई अँखियान। चंदन पंक न कुचन में आवति बात तियान।—शृं० सत०।

कजरारा–वि० [हिं० काजर+आरा (प्रत्य०)] [स्त्री० कजरारी] (१) काजलवाला। जिसमें काजल लगा हो। अंजनयुक्त। उ०—(क) फिर फिर दौरत देखियत निचले नेकु रहैं न। ये कजरारे कौन पै करत कजाकी नैन।—बिहारी। (ख) कजरारे दृग की घटा जब उनवै जेहि ओर। बरसि सिरावै पुहुमि उर रूप झलान झकोर।—रसनिधि। (२) काजल के समान काला। काला। स्याह। उ०—(क) वह सुधि नेकु करो पिय प्यारे। कमलपात में तुम जल लीनो जा दिन नदी किनारे। तहँ मेरो आय गयो मृगछौना जाके नैन सहज कजरारे।—प्रताप। (ख) गरजैं गरारे कजरारे अति दीह देह जिनहिं निहारे फिरैं बीर करि धीर भंग।—गोपाल।

कजरी–संज्ञा स्त्री० दे० "कजली"।

संज्ञा पुं० [सं० कज्जल] एक धान जो काले रंग का होता है। उ०—कपूरकाट, कजरी, रतनारी। मधुकर, ढेला, जीरा सारी।—जायसी।

कजरौटा†–संज्ञा पुं० दे० "कजलौटा"।

कजरौटी†–संज्ञा स्त्री० दे० "कजलौटी"।

कजलबाश–संज्ञा पुं० [तु०] मुग़लों की एक जाति जो बड़ी लड़ाकी होती है।

कजला–संज्ञा पुं० (१) दे० "कजरा (१) (२)"। (२) एक काला पक्षी। मटिया।

वि० दे० "कजरा"।

कजलाना–क्रि० अ० [हिं० काजल] (१) काला पड़ना। साँवला होना। (२) आग का झँवाना। आग का बुझना।

क्रि० स० काजल लगाना। आँजना।

कजली–संज्ञा स्त्री० [हिं० काजल] (१) कालिख। (२) एक साथ पिसे हुए पारे और गंधक की बुकनी। (३) गन्ने की एक जाति जो बर्दवान में होती है। (४) काली आँखवाली गाय। (५) वह सफ़ेद भेड़ जिसकी आँखों के किनारे के बाल काले होते हैं। (६) पोस्ते की फसल का एक रोग जिसमें फूलते समय फूलों पर काली काली धूल सी जम जाती है और फसल को हानि पहुँचाती है। (७) एक त्योहार जो बुंदेलखंड में सावन की पूर्णिमा को और मिर्ज़ापुर बनारस आदि में भादों बदी तीज को मनाया जाता है। इसमें कच्ची मिट्टी के पिंडों में गोदे हुए जौ के अंकुर किसी ताल या पोखरे में डाले जाते हैं। इस दिन से कजली गाना बंद हो जाता है। (८) मिट्टी के पिंडों में गोदे हुए जौ से निकले हुए हरे हरे अंकुर वा पौधे जिन्हें कजली के दिन स्त्रियाँ ताल वा पोखरे में डालती हैं और अपने संबंधियों को बाँटती हैं। (९) एक प्रकार का गीत जो बरसात में सावन बदी तीज तक गाया जाता है।

कजली तीज–संज्ञा स्त्री० भादों बदी तीज।

कजली बन–संज्ञा पुं० [सं० कदलीवन] (१) केले का जंगल। (२) आसाम का एक जंगल जहाँ हाथी बहुत होते थे।

कजलौटा–संज्ञा पुं० [हिं०काजल+औटा (प्रत्य०)] [स्त्री० अल्पा० कजलौटी] (१) काजल रखने की लोहे की छिछली डिबिया जिसमें पतली डाँड़ी लगी रहती है। (२) डिबिया जिसमें गोदना गोदने की स्याही रक्खी जाती है।

कजलौटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कजलौटा] छोटा कजलौटा।

कजही†–संज्ञा स्त्री० दे० "कायजा"।

कजा*†–संज्ञा स्त्री० [सं० कांजी] काँजी। माँड़।

क़ज़ा–संज्ञा स्त्री० [अ०] मौत। मृत्यु।

मुहा०—**क़ज़ा करना**=मर जाना।

कज़ाक*–संज्ञा पुं० [तु०] लुटेरा। डाकू। बटमार। उ०—(क) प्रीतम रूप कजाक के समसर कोई नाहिं। छबि फाँसी दै दृग गरे मन धन को लै जाहिं।—रसनिधि। (ख) मन धन तो राख्यो हतो मैं दीबे को तोहि। नैन कजाकन पै अरे क्यों लुटवायो मोहि।—रसनिधि।

कजाकी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) लुटेरापन। लूटमार। उ०—फिरि फिरि दौरत देखियत निचले नेकु रहैं न। ये कजरारे कौन पै करत कजाकी नैन।—बिहारी। (२) छल कपट। धोखे-बाज़ी। धूर्त्तता। उ०—सहित भला कहि चित अली लिये

कजाकी माहिं। कला लला की ना लगी चली चलाकी नाहिं।—शृं० सत०।

कजावा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] ऊँट की वह काठी जिसके दोनों ओर एक एक आदमी के बैठने की जगह और असबाब रखने के लिये जाली रहती है।

क़ज़िया–संज्ञा पुं० [अ०] झगड़ा। लड़ाई। टंटा। बखेड़ा। दंगा।

कजी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) टेढ़ापन। टेढ़ाई। (२) दोष। ऐब। नुक्स। कसर।

कज्जल–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कज्जलित] (१) अंजन। काजल। (२) सुरमा। (३) कालिख। स्याही।

यौ०—कज्जलध्वज=दीपक। कज्जलगिरि।

(४) बादल। (५) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ होती हैं। अंत में एक गुरु और एक लघु होता है। उ०—प्रभु मम ओरी देख लेव। तुम सम नाहीं और देव।

कज्जलित–वि० [सं०] (१) काजल लगा हुआ। आँजा हुआ। अंजनयुक्त। (२) काला। स्याह।

क़ज़्ज़ाक़–संज्ञा पुं० [तु०] (१) डाकू। लुटेरा। † (२) चालाक।

क़ज़्ज़ाकी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) क़ज़्ज़ाक़ की वृत्ति। लुटेरापन। लूटमार। मारकाट। † (२) चालाकी।

कट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी का गंडस्थल। (२) गंडस्थल। (३) नरकट वा नर नाम की घास। (४) नरकट की चटाई। दरमा। उ०—आय गए शबरी की कुटी प्रभु नृत्य नटी सी करैं जहँ प्रीती। टूटी फटी कट दीनी बिछाइ बिदा कै दई मनो विश्व की भीती।—रघुराज। (५) टट्टी। (६) खस, सरकंडा आदि घास।

यौ०—कटाग्नि।

(७) शव। लाश। (८) शव उठाने की टिकटी। अरथी। (९) श्मशान। (१०) पाँसे की एक चाल। (११) लकड़ी का तख़्ता। (१२) समय। अवसर।

संज्ञा पुं० [हिं० कटना] (१) एक प्रकार का काला रंग जो टीन के टुकड़ों, लोहचून, हर, बहेड़े आँवले और कसीस आदि से तैयार किया जाता है। (२) काट का संक्षिप्त रूप जिसका व्यवहार यौगिक शब्दों में होता है, जैसे, कटखना कुत्ता।

संज्ञा पुं० [अं०] काट। तराश। ब्योंत। क़ता। जैसे,—कोट का कट अच्छा नहीं।

वि० [सं०] (१) अतिशय। बहुत। (२) उग्र। उत्कट।

कटक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेना। दल। फौज। (२) राजशिविर। (३) चूड़ा। कंकण। कड़ा उ०—(क) देव आदि मध्यांत भगवंत त्वम् सर्वगतमीश पश्यंत जे ब्रह्मवादी। यथा पटतंतु घट मृत्तिका सर्प स्रगदारु करि कनक कटकाँगदादी।—तुलसी। (ख) बिन अंगद बिन हार कटक के लखि न परै नर कोई।—रघुराज। (४) पैर का कड़ा।—डिं०। (५) पर्वत का मध्य भाग। (६) नितंब। चूतड़। (७) सामुद्रिक नमक। (८) घास फूस की चटाई। गोंदरी। सथरी। (९) जंज़ीर की एक कड़ी। (१०) हाथी के दाँतों पर चढ़े हुए पीतल के बंद वा साम। (११) चक्र। (१२) उड़ीसा प्रांत का एक प्रसिद्ध नगर। (१३) पहिया। (१४) समूह।

कटकई*–संज्ञा स्त्री० [सं० कटक+ई (प्रत्य०)] कटक। सेना। फ़ौज। लशकर। उ०—(क) मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं शोक न हृदय समाइ। मनहु करुण-रस-कटकई उतरी अवध बजाइ।—तुलसी। (ख) विजय हेत कटकई बनाई। सुदिन साधि नृप चल्यो बजाई।—तुलसी।

कटकट–संज्ञा पुं० [अनु०] (१) दाँतों के बजने का शब्द। उ०—तब लै खड्ग खंभ मैं मारो भयो शब्द अति भारी। प्रगट भये नर हरि वपु धरि हरि कटकट करि उच्चारी।—गोपाल। लड़ाई-झगड़ा। वादविवाद।

कटकटान*–क्रि० अ० दे० "कटकटाना"।

कटकटाना–क्रि० अ० [हिं० कटकट] दाँत पीसना। उ०—कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि मारी।—तुलसी।

कटकटिका–संज्ञा स्त्री० [हिं० कटकट] एक प्रकार की बुलबुल जो जाड़े में पहाड़ से उतर कर मैदान में आ जाती है और पेड़ पर या दीवार के खोंडरे में घोंसला बनाती है।

कटकुटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] तृणशाला। पर्णशाला। फूस की झोपड़ी।

कट-कबाला–संज्ञा पु० [हिं कटना+अ० क़बाला] मियादी बै।

कटकाई*–संज्ञा स्त्री० [हिं० कटक+आई (प्रत्य०)] सेना। फौज।

कटकोल–संज्ञा पुं० [सं०] पीकदान।

कटखना–वि० [हिं० काटना+खाना] काट खानेवाला। दाँत से काटनेवाला।

संज्ञा पुं० कतर ब्योंत। युक्ति। चाल। हथकंडा। जैसे,—(क) वह वैद्यक के अच्छे कटखने जानता है। (ख) तुम कटखने में मत आना।

यौ०—कटखनेबाज़ी।

कटखादक–वि० [सं०] भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करनेवाला। अशुद्ध वस्तु को भी खा लेनेवाला। सर्वभक्षी।

कटग्लास–संज्ञा पुं० [अं०] मज़बूत काँच जिस पर नक़्क़ाशी कटी हो।

कटघरा–संज्ञा पुं० [हिं० काठ+घर] (१) काठ का घर जिसमें जँगला लगा हो। काठ का घेरा जिसमें लोहे वा लकड़ी के छड़ लगे हों। (२) बड़ा भारी पिंजड़ा।

कटजीरा–संज्ञा पुं० [सं० कणजीरक] काला ज़ीरा। स्याह ज़ीरा। उ०—कूट कायफर सोंठि चिरैता कटजीरा कहुँ देखत। आल मजीठ लाख सेंदुर कहुँ ऐसेहि बुधि अवरेखत।—सूर।

कटड़ा—संज्ञा पुं० [सं० कटार] भैंस का पँड़वा ।

कटताल—संज्ञा पुं० [हिं० काठ+ताल] काठ का बना हुआ एक बाजा जिसे "करताल" भी कहते हैं। उ०—कंसताल कटताल बजावत शृंग मधुर मुँहचंग । मधुर, खंजरी, पटह, पणव, मिलि सुख पावत रत भंग ।—सूर ।

कटताला—संज्ञा पुं० दे० "कटताल" वा "करताल" ।

कटती—संज्ञा स्त्री० [हिं० कटना] बिक्री । फ़रोख़्त । जैसे,—इस बाज़ार में माल की कटती अच्छी नहीं ।

कटना—क्रि० अ० [सं० कर्त्तन, प्रा० कट्टन] (१) किसी धारदार चीज़ की दाब से दो टुकड़े होना । शस्त्र आदि की धार के धँसने से किसी वस्तु के दो खंड होना । जैसे,—पेड़ कटना, सिर कटना ।

मुहा०—कटती कहना=लगती हुई बात कहना । मर्मभेदी बात कहना ।

(२) पिसना । महीन चूर होना । जैसे,—भाँग कटना, मसाला कटना । (३) किसी धारदार चीज़ का धँसना । शस्त्र आदि की धार का घुसना । जैसे,—उसका ओंठ कट गया है । (४) किसी वस्तु का कोई अंश निकल जाना । किसी भाग का अलग हो जाना । जैसे,—(क) बाढ़ के समय नदी का बहुत सा किनारा कट गया । (ख) उनकी तनख़्वाह मे २५) कट गए । (५) युद्ध में घाव खाकर मरना । लड़ाई में मरना । जैसे,—उस लड़ाई में लाखों सिपाही कट गए ।

संयो० क्रि०—जाना ।—मरना ।

(६) कतरा जाना । ब्योंता जाना । जैसे,—मेरा कपड़ा कटा न हो तो वापस दो । (७) छीजना । छँटना । नष्ट होना । दूर होना । जैसे, पाप कटना, ललाई कटना, मैल कटना, रंग कटना । (८) समय का बीतना । वक्त गुज़रना । जैसे, रात कटना, दिन कटना, ज़िंदगी कटना । जैसे,—किसी प्रकार रात तो कटी । (९) ख़तम होना । जैसे,—बात चीत करते चलेंगे, रास्ता कट जायगा । (१०) धोखा देकर साथ छोड़ देना । चुपके से अलग हो जाना । खिसक जाना । जैसे,—थोड़ी दूर तक तो उसने मेरा साथ दिया, पीछे कट गया ।

क्रि० प्र०—जाना ।—रहना ।

(११) शरमाना । लज्जित होना । झेंपना । जैसे,—मेरी बात पर वे ऐसे कटे कि फिर न बोले । (१२) जलना । डाह से दुःखी होना । ईर्ष्या से पीड़ित होना । जैसे,—उसको रुपया पाते देख ये लोग मन ही मन कट गए । (१३) मोहित होना । आसक्त होना । जैसे,—वे उसकी चितवन से कट गए । उ०—पूछे क्यों रूखी परति सगबग रही सनेह । मनमोहन छबि पर कटी कहै कट्यानी देह ।—बिहारी । (१४) व्यर्थ व्यय होना । फ़ज़ूल निकल जाना । जैसे,—तुम्हारे कारण हमारे १०) यों ही कट गए । (१५) बिकना । खपना । (१६) प्राप्ति होना । आय होना । जैसे,—आज कल ख़ूब माल कट रहा है । (१७) क़लम की लकीर से किसी लिखावट का रद्द होना । मिटना । ख़ारिज होना । जैसे,—उसका नाम स्कूल से कट गया है । (१८) ऐसे कामों का तैयार होना जो बहुत दूर तक लकीर के रूप में चले गए हों । जैसे, नहर कटना, सड़क कटना, नहर की शाख़ कटना । (१९) ऐसी चीज़ों का तैयार होना जिनमें लकीरों के द्वारा कई विभाग हुए हों । जैसे, क्यारी कटना, ख़ाना कटना । (२०) बाँटनेवाले के हाथ पर रक्खी हुई ताश की गड्डी में से कुछ पत्तों का इसलिये उठाया जाना जिसमें हाथ में आई हुई गड्डी के अंतिम पत्ते से बाँट आरंभ हो । (२१) ताश की गड्डी का पहले या इस प्रकार फेंटा जाना कि उसका पहले से लगा हुआ क्रम न बिगड़े । (जादू) (२२) एक संख्या के साथ दूसरी संख्या का ऐसा भाग लगना कि शेष न बचे । जैसे,—यह संख्या सात से कट जाती है । (२३) चलती गाड़ी में से माल चोरी होना वा लुटना । जैसे,—कल रात को उस सुनसान रास्ते में कई गाड़ियाँ कट गईं ।

कटनास†—संज्ञा पुं० [देश०, वा सं० कीट+नाश] नीलकंठ । उ०—बहु कटनास रहैं तेहि बासा । देखि सो पाव भाग जेहि पासा ।—उसमान ।

कटनि*—संज्ञा स्त्री० [हिं० कटना] (१) काट । उ०—करत जात जेती कटनि बढ़ि रस सरिता सोत । आलबाल उर प्रेम तरु तितो तितो दृढ़ होत ।—बिहारी । (२) प्रीति । आसक्ति । रीझन । उ०—फिरत जो अटकत कटनि बिन रसिक सुरस न खियाल । अनत अनत नित नित हितनि कत सकुचावत लाल ।—बिहारी ।

कटनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कटना] (१) काटने का औज़ार । (२) काटने का काम । फसल की कटाई का काम ।

क्रि० प्र०—करना ।—पड़ना ।—होना ।

मुहा०—कटनी मारना=बैसाख जेठ में अर्थात् जोतने के पहले कुदाल से खेतों की घास खोदना ।

(३) एक ओर से भागकर दूसरी ओर और फिर उधर से मुड़कर किसी और ओर, इसी प्रकार आड़े तिरछे भागना । कतनी ।

क्रि० प्र०—काटना ।—मारना ।

मुहा०—कटनी काटना=इधर से उधर और उधर से इधर भागना । दाहिनी से बाईं और बाईं से दाहिनी ओर भागना ।

कटपीस—संज्ञा पुं० [अं०] नए कपड़ों का वह टुकड़ा जो थान बड़ा होने के कारण उसमें से काट लिया जाता है ।

कटपूतन—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रेत ।

कटफरेस—संज्ञा पुं० [अं० कट+फ्रेश] वह नया ताज़ा माल जिसमें समुद्र में गिरने के कारण दाग पड़ जायँ अथवा जो गाँठ वा

बकस खोलते समय कहीं से कट जाय। ऐसे माल का दाम कुछ घट जाता है।

कटर–संज्ञा स्त्री० [सं० कट=नरकट वा घास फूस] एक प्रकार की घास जिसे पलवान भी कहते हैं।

†संज्ञा पुं० [अं०] (१) एक प्रकार की बड़ी नाव जिसमें डाँड़ा नहीं लगता, और जो तख्तीदार चरखियों के सहारे चलती है। (२) पनसुइया। छोटी नाव।

कटरना–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मछली।

कटरा–संज्ञा पुं० [हिं० कटहरा] छोटा चौकोर बाजार।

संज्ञा पुं० [सं० कटाह] भैंस का नर बच्चा।

कटरिया–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो आसाम में बहुतायत से होता है।

कटरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] धान की फ़सल का एक रोग।

संज्ञा स्त्री० [सं० कट=नरकट] किसी नदी के किनारे की नीची और दलदल ज़मीन जिसके किनारे नरकट आदि होता है।

कटरेती–संज्ञा स्त्री० [हिं० काटना+रेतना] लकड़ी रेतने का औज़ार।

कटल्लू–संज्ञा पुं० [हिं० कटना+ल्लू (प्रत्य०)] (१) बूचड़। कसाई। (२) मुसलमान के लिए एक घृणा-सूचक शब्द।

कटवाँ–वि० [हिं० कटना+वाँ (प्रत्य०)] जो काटकर बना हो। जिसमें कटाई का काम हो। कटा हुआ।

मुहा०—कटवाँ ब्याज=वह ब्याज जो मूलधन का कुछ अंश चुकता होने पर शेष अंश पर लगे।

कटवाँसी–संज्ञा पुं० [हिं० काठ+बाँस, वा काँट+बाँस] एक प्रकार का प्रायः ठोस और कँटीला बाँस जिसकी गाँठें बहुत निकट निकट होती हैं। यह सीधा बहुत कम जाता है और बहुत घना होता है। यह गाँव और कोट आदि के किनारे लगाया जाता है।

कटवा–संज्ञा पुं० [हिं० काँटा] एक प्रकार की छोटी मछली जिसके गलफड़ों के पास काँटे होते हैं। इन काँटों से वह चोट करती है।

कटसरैया–संज्ञा स्त्री० [सं० कटसारिका] अड़ूसे की तरह का एक काँटेदार पौधा जिसमें पीले, लाल, नीले और सफ़ेद कई रंग के फूल लगते हैं। लाल फूलवाली कटसरैया को संस्कृत में "कुरवक", पीले फूलवाली को "कुरंटक", नीले फूलवाली को "आर्त्तगल" और सफ़ेद फूलवाली को "सैरेयक" कहते हैं। कटसरैया कातिक में फूलती है।

कटहर*–संज्ञा पुं० दे० "कटहल"।

कटहरा–संज्ञा पुं० [हिं० कटघरा] कटघरा।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली जो उत्तरी भारत और आसाम की नदियों में पाई जाती है।

कटहल–संज्ञा पुं० [सं० कंटकिफल, हिं० काठ+फल] (१) एक सदाबहार घना पेड़ जो भारतवर्ष के सब गरम भागों में लगाया जाता है तथा पूर्वी और पश्चिमी घाटों की पहाड़ियों पर आप से आप होता है। इसकी अंडाकार पत्तियाँ ४-५ अंगुल लंबी, कड़ी, मोटी और ऊपर की ओर श्यामता लिए हुए हरे रंग की होती हैं। इसमें बड़े बड़े फल लगते हैं जिनकी लंबाई हाथ, डेढ़ हाथ तक की और घेरा भी प्रायः इतना ही होता है। ऊपर का छिलका बहुत मोटा होता है जिस पर बहुत से नुकीले कँगूरे होते हैं। फल के भीतर बीच में गुठली होती है जिसके चारों ओर मोटे मोटे रेशों की कथरियों में गूदेदार कोए रहते हैं। कोए पकने पर बड़े मीठे होते हैं। कोयों के भीतर बहुत पतली झिल्लियों में लिपटे हुए बीज होते हैं। फल माघ फागुन में लगते हैं और जेठ असाढ़ में पकते हैं। कच्चे फल की तरकारी और अचार होते हैं और फल के कोए खाए जाते हैं। कटहल नीचे से ऊपर तक फलता है, जड़ और तने में भी फल लगते हैं। इसकी छाल से बड़ा लसीला दूध निकलता है जिससे रबर बन सकता है। इसकी लकड़ी नाव और चौखट आदि बनाने के काम में आती है। इसकी छाल और बुरादे को उबालने से पीला रंग निकलता है जिससे बरमा के साधु अपना वस्त्र रंगते हैं। (२) इस पेड़ का फल।

कटहा–वि० [हिं० काटना+हा (प्रत्य०)] [स्त्री० कटही] जिसका स्वभाव दाँतों से काट खाने का हो। काट खानेवाला।

कटा*–संज्ञा पुं० [हिं० काटना] मार काट। बध। हत्या। कत्ल-आम। उ०—(क) चोरे चख चोटन चलाक चित चोरी भयो, लूटि गई लाज कुलकानि को कटा भयो।—पद्माकर। (ख) मेघ घटा से शैल छटा से कूरन करत कटा से। सिंह सटा से फटकि अटा से फेरत पुच्छ पटा से।—रघुराज। (ग) घन घोर घटा की छटा लखिबे मिस, ठाढ़ी अटा पै कटा करती हौ।—ठाकुर।

कटाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० काटना] (१) काटने का काम। (२) फ़सल काटने का काम। (३) फ़सल काटने की मज़दूरी।

संज्ञा स्त्री० [सं० कंटकी] भटकटैया। कँटेरी।

कटाऊ*–संज्ञा पुं० दे० "कटाव"।

कटाकट–संज्ञा पुं० [हिं० कट] (१) कटकट शब्द। (२) लड़ाई।

कटाकटी–संज्ञा स्त्री० [काटना] मार काट।

कटाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिरछी चितवन। तिरछी नज़र। उ०— कोए न लाँघि कटाक्ष सकैं, मुसक्यानि न ह्वै सकै ओठनि बाहिर। (२) व्यंग्य। आक्षेप। ताना। तनज़। जैसे,—इस लेख में कई लोगों पर अनुचित कटाक्ष किए गए हैं।

क्रि० प्र०—करना।

(३) [रामलीला] काले रंग की छोटी छोटी पतली रेखाएँ जो आँख की दोनों बाहरी कोरों पर खींची जाती हैं। ऐसे कटाक्ष रामलीला में राम लक्ष्मण आदि

की आँखों के किनारे बनते हैं। हाथियों के शृंगार में भी कटाक्ष बनाए जाते हैं।

कटाग्नि-संज्ञा स्त्री० [सं०] घास फूस की आग।

विशेष—प्राचीन काल में राजपत्नी वा ब्राह्मणी के गमन आदि के प्रायश्चित्त वा दंड के लिये लोग कटाग्नि में जलते वा जलाए जाते थे। कहते हैं कि कुमारिल भट्ट गुरुसिद्धांत का खंडन करने के प्रायश्चित्त के लिये कटाग्नि में जल मरे थे।

कटाछनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मार काट"।

कटाना-क्रि० स० [हिं० काटना का प्रे० रूप] (१) काटने के लिये नियुक्त करना। काटने में लगाना। (२) डसवाना। दाँतों से नोचवाना। (३) थोड़ा घूमकर आगे निकल जाना। बगल देकर आगे निकल जाना (गाड़ीवान)।

कटार-संज्ञा पुं० [सं० कट्टार] [स्त्री० अल्पा० कटारी] (१) एक बालिश्त का छोटा तिकोना और दुधारा हथियार जो पेट में हूला जाता है। (२) एक प्रकार का बनबिलाव। कटास। खीखर।

कटारा-संज्ञा पुं० [हिं० कटार] (१) बड़ा कटार। (२) इमली का फल। संज्ञा पुं० [हिं० काँटा] ऊँटकटारा।

कटारिया-संज्ञा पुं० [हिं० कटार] एक रेशमी कपड़ा जिसमें कटार की तरह की धारियाँ बनी रहती हैं।

कटारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कटार] (१) छोटा कटार। (२) नारियल के हुक्के बनानेवालों का वह औज़ार जिससे वे नारियल को खुरचकर चिकना करते हैं। (३) (पालकी उठानेवाले कहारों की बोली में) रास्ते में पड़ी हुई नोकदार लकड़ी।

कटाली-संज्ञा स्त्री० [हिं० काँटा] भटकटैया।

कटाव-संज्ञा पुं० [हिं० काटना] (१) काट। काट छाँट। कतर ब्योंत। (२) काटकर बनाए हुए बेल बूटे।

यौ०—कटाव का काम=(१) पत्थर वा लकड़ी पर खोदकर बनाए हुए बेल बूटे। (२) कपड़े के कटे हुए बेल बूटे जो दूसरे कपड़े पर लगाए जाते हैं।

कटावदार-वि० [हिं० कटाव+दार (प्रत्य०)] जिस पर खोद वा काट कर चित्र और बेल बूटे बनाए गए हों।

कटावन-संज्ञा पुं० [हिं० कटना] (१) कटाई करने का काम।

मुहा०—कटावन पड़ना वा लगना=(१) किसी दूसरे के कारण अपनी वस्तु का नष्ट होना वा उसका दूसरे के हाथ लगना। (२) किसी ऐसी वस्तु का नष्ट होना वा हाथ से निकल जाना जो दूसरे की नजर में खटकती हो। दे० "कट्टे लगना"।

(२) किसी वस्तु का कटा हुआ टुकड़ा। कतरन।

कटास-संज्ञा पुं० [हिं० काटना] एक प्रकार का बनबिलाव। कटार। खीखर।

कटासी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुर्दों के गाड़ने की जगह। क़बरिस्तान।

कटाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कड़ाह। बड़ी कड़ाही। (२) कछुए का खपड़ा। (३) कूआँ। (४) नरक। (५) झोपड़ी। (६) भैंस का पँड़वा जिसके सींग निकल रहे हों। (७) टूह। ऊँचा टीला।

कटाहक-संज्ञा पुं० [सं०] कड़ाह।

कटिंजरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक ताल का नाम।

कटि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शरीर का मध्य भाग जो पेट और पीठ के नीचे पड़ता है। कमर। लंक।

यौ०—कटिजेब। कटितट। कटिदेश। कटिबंध। कटिबद्ध। कटिशूल। कटिसूत्र।

(२) देवालय का द्वार। (३) हाथी का गंडस्थल। (४) पीपल। पिप्पली।

कटिजेब-संज्ञा स्त्री० [सं० कटि+फ़ा० जेब] किंकिणी। करधनी। उ०—पंजर की खंजरीट नैनन को किधौं मीन मानस को केशोदास जलु है कि जारु है। अंग को कि अंगराग गेड़ुआ कि गलसुई किधौं कटिजेब ही को उरको कि हारु है।—केशव।

कटिबंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमरबंद। (२) गरमी सरदी के विचार से किए हुए पृथ्वी के पाँच भागों में से कोई एक। जैसे, उष्ण कटिबंध।

कटिबद्ध-वि० [सं०] (१) कमर बाँधे हुए। (२) तैयार। तत्पर। उद्यत।

कटिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० काटना] (१) नगों वा जवाहिरात को काट छाँटकर सुडौल करनेवाला। हकाक। (२) छोटे छोटे टुकड़ों में कटा हुआ चौपायों का चारा।

संज्ञा स्त्री० दे० "कँटिया"।

कटियाना⁕-क्रि० अ० [हिं० काँटा] (१) हर्ष, प्रेम आदि में मग्न होने के कारण रोओं का काँटे के समान खड़ा हो जाना। कंटकित होना। पुलकित होना। उ०—पूछे क्यों रूखी परति सगबग रही सनेह। मन मोहन छबि पर कटी कहै कट्यानी देह।—बिहारी।

कटियाली†-संज्ञा स्त्री० [सं० कंटकारि] भटकटैया।

कटिसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] करगता। कमर में पहनने का डोरा। मेखला। सूत की करधनी। उ०—कल किंकिण कटि सूत्र मनोहर। बाहु विशाल विभूषण सुंदर।—तुलसी।

कटीरा-संज्ञा पुं० दे० "कतीरा"।

कटील-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कपास जिसे बरदी, निमरी और बँगई भी कहते हैं।

कटीला-वि० [हिं० काँटा] [स्त्री० कटीली] (१) काट करनेवाला। तीक्ष्ण। चोखा। (२) बहुत तीव्र प्रभाव डालनेवाला। गहरा असर करनेवाला। जैसे, कटीली बात। (३) मोहित करनेवाला। उ०—नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौंह। काँटे लौं कसकति हिये वही कटीली भौंह।—बिहारी। (४) नोक झोंक का। आनबानवाला। जैसे,—कटीला जवान।

वि० [हिं० काँटा] (१) काँटेदार । काँटों से भरा हुआ । (२) नुकीला । तेज़ ।

संज्ञा पुं० [हिं० काँटा] एक नुकीली लकड़ी जो दूध देनेवाले पशुओं के बच्चों की नाक पर इसलिये बाँध दी जाती है जिसमें वे अपनी माता का दूध न पी सकें ।

संज्ञा पुं० दे० "कतीरा" ।

कटु-वि० [सं०] (१) छः रसों में से एक जिसका अनुभव जीभ से होता है । चरपरा । कड़ुआ ।

विशेष—इंद्रायन, चिरायता, मिर्च, पीपल, मूली, लहसुन, कपूर आदि का स्वाद कटु कहलाता है ।

(२) जो मन को न भावे । बुरा लगनेवाला । अनिष्ट । जैसे, कटु वचन । उ०—देखहिं राति भयानक सपना । जागि करहिं कटु कोटि कलपना ।—तुलसी । (३) काव्य में रस के विरुद्ध वर्णों की योजना । जैसे, शृंगार में ट, ठ, ड आदि वर्ण ।

कटुआ-संज्ञा पुं० [हिं० काटना] (१) काले रंग का एक कीड़ा जो धान की फ़सल को जमते ही काट डालता है । बाँका । (२) नहर की बड़ी शाखाओं अर्थात् राजबहा में से काटकर लिए हुए पानी की सिंचाई । ‡ (३) मुसलमान ।

कटुई दही†-संज्ञा स्त्री० [हिं० काटना+दही] वह दही जिसके ऊपर की साढ़ी काट वा उतार ली गई हो । छिनुई दही । छिका । (इसका प्रयोग पूरब में होता है जहाँ दही को स्त्री लिंग बोलते हैं) ।

कटुकंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अदरक । (२) लहसुन । (३) मूली ।

कटुक-वि० [सं०] (१) कड़ुआ । कटु । (२) जो चित्त को न भावे । जो बुरा लगे । उ०—अरी मधुर अधरान ते कटुक वचन जनि बोल । तनक खटाई ते घटै लखि सुबरन को मोल ।—रसनिधि ।

कटुकत्रय-संज्ञा पुं० [सं०] मिर्च, सोंठ और पीपल, इन तीन वस्तुओं का वर्ग ।

कटुकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटकी ।

कटुकीट-संज्ञा पुं० [सं०] मच्छड़ । डाँस । मसा ।

कटुग्रंथि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोंठ । पिपरामूल ।

कटु चातुर्जातक-संज्ञा पुं० [सं०] चार कड़वी वस्तुओं का समूह अर्थात् इलाची, तज, तेजपात और मिर्च ।

कटुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] कड़ुवापन । कड़ुवाई ।

कटुत्व-संज्ञा पुं० [सं०] कड़ुवापन ।

कटुफल-संज्ञा पुं० [सं०] कायफल ।

कटुभंगा-संज्ञा पुं० [सं०] सोंठ ।

कटुभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] अदरक । आदी ।

कटुरव-संज्ञा पुं० [सं०] मेंढक । दादुर ।

कटूक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] कड़ुई बात । अप्रिय बात ।

कटूमर-संज्ञा स्त्री० [सं० कटु+उदुम्बर] जंगली गूलर का वृक्ष । कटगूलर ।

कटेरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० काँटा] भटकटैया ।

कटेली-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कपास जो बंगाल प्रांत में बहुतायत से होती है ।

कटेहर-संज्ञा पुं० [हिं० काठ+घर] हल के नीचे की वह लकड़ी जिसमें फाल बैठाया रहता है । खोंपा ।

कटैया†-संज्ञा पुं० [हिं० काटना] (१) काटनेवाला । जो काट डाले । (२) फसल काटनेवाला । उ०—एक कृपाल तहाँ तुलसी दसरत्थ के नंदन बंदि कटैया ।—तुलसी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कंटक] भटकटैया ।

कटैला-संज्ञा पुं० [?] एक कीमती पत्थर । उ०—लोहे और फिटकिरी की वहाँ खानें हैं, और माणक, लहसनिया, नीलम, कटैला, गोमेदक, बिल्लौर नदियों के बालू में मिलता है ।—शिवप्रसाद ।

कटोरदान-संज्ञा पुं० [हिं० कटोरा+दान (प्रत्य०)] पीतल का एक ढक्कनदार बरतन जिसमें तैयार भोजन आदि रखते हैं ।

कटोरा-संज्ञा पुं० [हिं० काँसा+ओरा (प्रत्य०)=कँसोरा] एक खुले मुँह, नीची दीवार और चौड़ी पेंदी का छोटा बरतन । धातु का प्याला । बेला ।

मुहा०—कटोरा चलाना=मंत्रबल से चोर वा माल का पता लगाने के लिये कटोरा खसकाना ।

विशेष—इसमें एक आदमी मंत्र पढ़ता हुआ पीली सरसों डालता जाता है और औरों से कटोरे को खूब दबाने के लिये कहता जाता है । कटोरा अधिक दाब पड़ने से किसी न किसी ओर खसकता जाता है । लोगों का विश्वास है कि कटोरा वहीं रुकता है जहाँ चोर वा माल रहता है ।

कटोरा सी आँख=बड़ी बड़ी और गोल आँख ।

कटोरिया-संज्ञा स्त्री० दे० "कटोरी" ।

कटोरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कटोरा का अल्पा०] (१) छोटा कटोरा । बेलिया । प्याली । (२) अँगिया का वह जुड़ा हुआ भाग जो स्तन के नाप का होता है और जिसके भीतर स्तन रहते हैं । (३) कटोरी के आकार की वस्तु । (४) तलवार की मूठ के ऊपर का गोल भाग ।

कटौती-संज्ञा स्त्री० [हिं० कटना] किसी रक़म को देते हुए उसमें से कुछ बँधा हक वा धर्मार्थ द्रव्य निकाल लेना । जैसे, पल्लेदार वा ठेकेदार का हक़, डंडावन, मंदिर, गोशाला ।

कट्वाँसी†-संज्ञा पुं० दे० "कटवाँसी" ।

कट्टर-वि० [हिं० काटना] (१) काटखानेवाला । कटहा । (२) अपने विश्वास के प्रतिकूल बात को न सहनेवाला । अंधविश्वासी । (३) हठी । दुराग्रही ।

कट्टहा-संज्ञा पुं० [सं० कट=शव+हा (प्रत्य०)] **महाब्राह्मण। कट्टिया। महापात्र। उ०—कट्टहों (महाब्राह्मणों) को दान देने से इन तीनों बातों में से एक का भी साधन नहीं होता।—श्यामबिहारी।**

कट्टा-वि० [हिं० काठ] (१) **मोटा ताज़ा। हट्टा कट्टा।** (२) **बलवान। बली।**

संज्ञा पुं० **सिर का कीड़ा। जूँ। ढील।**

संज्ञा पुं० **कल्ला जबड़ा।**

मुहा०—कट्टे लगना=(१) किसी दूसरे के कारण अपनी वस्तु का नष्ट होना वा उसका दूसरे के हाथ लगना। स्वामी की इच्छा के विरुद्ध किसी वस्तु का दूसरे के हाथ में आना। जैसे,—**इतने दिनों की रक्खी चीज़ आज तेरे कट्टे लगी।** (२) किसी ऐसी वस्तु का नष्ट होना वा हाथ से निकल जाना जो दूसरे की नजर मे खटकती हो। जैसे,—**मेरे पास एक मकान बचा था, वह भी तेरे कट्टे लगा।**

कट्ठा-संज्ञा पुं० [हिं० काठ] (१) **ज़मीन की एक नाप जो पाँच हाथ चार अंगुल की होती है और जिसमे खेत नापे जाते हैं। यह जरीब का बीसवां भाग है। कहीं कहीं बिस्वांसी को भी कट्ठा कहते हैं।** (२) **धातु गलाने की भट्ठी। दबका।** (३) **अन्न कूतने का एक बरतन जिसमें पाँच सेर अन्न आता है।** (४) **एक पेड़ जिसकी लकड़ी बहुत कड़ी होती है।**

कठंगर-वि० [हिं० काठ+अंग] **मोटा और कड़ा।**

यौ०—काठ कठंगर=कड़ी और काम में न आने योग्य वस्तु।

कठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) **एक ऋषि।** (२) **एक यजुर्वेदीय उपनिषद् जिसमें यम और नचिकेता का संवाद है।** (३) **कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा।**

संज्ञा पुं० [सं० काष्ट] (१) **एक पुराना बाजा जो काठ का बनता था और चमड़े से मढ़ा जाता था।** (२) **(केवल समस्त पदों में) काठ। लकड़ी। जैसे, कठपुतली, कठकीली।** (३) **(केवल समस्त पदों में फल आदि के लिये) जंगली। निकृष्ट जाति का। जैसे, कठकेला, कठजामुन, कठूमर।**

कठकीली-संज्ञा स्त्री० [हिं० काठ+कीली] **पच्चड़।**

कठकेला-संज्ञा पुं० [हिं० काठ+केला] **एक प्रकार का केला जिसका फल रूखा और फीका होता है।**

कठकोला-संज्ञा पुं० [हिं० काठ+कोलना=खोदना] **कठफोड़वा।**

कठगुलाब-संज्ञा पुं० [हिं० कठ+गुलाब] **एक प्रकार का जंगली गुलाब जिसके फूल छोटे छोटे होते हैं।**

कठताल-संज्ञा पुं० दे० **"करताल"।**

कठधूर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] **यजुर्वेद की कठ नामक शाखा का अच्छा ज्ञाता।**

कठनेरा-संज्ञा पुं० [?] **वैश्यों की एक जाति।**

कठपुतली-संज्ञा स्त्री० [हिं० काठ+पुतली] (१) **काठ की बनी हुई पुतली। काठ की गुड़िया वा मूर्ति जिसको तार द्वारा नचाते हैं।**

यौ०—कठपुतली का नाच=एक खेल जिसमें काठ की पुतलियां तार वा घोड़े के बाल के सहारे पर नचाई जाती हैं।

(२) **वह व्यक्ति जो दूसरे के कहे पर काम करे, अपनी बुद्धि से कुछ न करे। जैसे,—वे तो उन लोगों के हाथ की कठपुतली हो रहे हैं।**

कठड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० कठघरा] (१) **कठघरा। कटहरा।** (२) **काठ का बड़ा संदूक।** (३) **काठ का बड़ा बरतन। कठौता।**

कठफुला-संज्ञा पुं० [हिं० काठ+फूल] **कुकुरमुत्ता। खुमी।**

कठफोड़वा-संज्ञा पुं० [हिं० काठ+फोड़ना] **खाकी रंग की एक चिड़िया जो अपनी चोंच से पेड़ों की छाल को छेदती रहती है और छाल के नीचे रहनेवाले कीड़ों को खाती है। इसके पंजे में दो उँगलियाँ आगे और दो पीछे होती हैं। जीभ इसकी लंबी कीड़े की तरह की होती है। यह कई रंग का होता है। यह मोटी डालों पर पंजों के बल चिपक जाता है और चक्कर लगाता हुआ चढ़ता है। ज़मीन पर भी कूद कूदकर कीड़े चुनता है। दुम इसकी बहुत छोटी होती है।**

कठफोड़ा-संज्ञा पुं० दे० **"कठफोड़वा"।**

कठबंधन-संज्ञा पुं० [हिं० काठ+बंधन] **काठ की वह बेड़ी जो हाथी के पैर में डाली जाती है। अँदुआ।**

कठबाप-संज्ञा पुं० [हिं० काठ+बाप] **सौतेला बाप।**

विशेष—यदि कोई पुरुष किसी ऐसी विधवा से विवाह करे जिसके पहले पति से कोई संतति हो तो वह पुरुष (विधवा-विवाह कर्त्ता) विधवा की उस संतति का कठबाप कहलावेगा।

कठबेल-संज्ञा पुं० [हिं० काठ+बेल] **कैथ का पेड़।**

कठमलिया-संज्ञा पुं० [हिं काठ+माला] (१) **काठ की माला वा कंठी पहननेवाला वैष्णव।** (२) **झूठ मूठ कंठी पहननेवाला। बनावटी साधु। झूठा संत। उ०—कर्मठ कठमलिया कहै, ज्ञानी ज्ञान विहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाय गो राम दुवारे दीन।—तुलसी।**

कठमस्त, कठमस्ता-वि० [हिं० कठ+फ़ा० मस्त] (१) **संड मुसंड।** (२) **व्यभिचारी।**

कठमस्ती-संज्ञा स्त्री० हिं० कठमस्त] **मुसंडापन। मस्ती।**

कठमाटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० काठ+माटी] **कीचड़ की मिट्टी जो बहुत जल्दी सूखकर कड़ी हो जाती है।**

कठवत-संज्ञा स्त्री० दे० **"कठौत"।**

कठरा-संज्ञा पुं० (१) दे० **"कटहरा" वा "कटघरा"।** (२) **काठ का संदूक।** (३) **काठ का बरतन। कठौता।**

कठरी†-संज्ञा स्त्री० दे० **"कठौली"।**

कठला-संज्ञा पुं० [सं० कंठ+ला (प्रत्य०)] **एक प्रकार की माला जो बच्चों को पहनाई जाती है। इसमें चाँदी वा सोने की चौकियाँ**

तागे में गुथी होती हैं। बीच बीच में वाघ के नख, नजर-बट्टू तावीज़ आदि नज़र से बचाने के लिये गुथे रहते हैं।

कठवल्ली–संज्ञा पुं० [सं०] कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा का एक उपनिषद् जिसमें दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में नचिकेता की गाथा है। नचिकेता के पिता "विश्वजित्" यज्ञ करके सर्वस्वदान देते समय बुड्ढी गाय देने लगे। पुत्र ने पूछा—"पिता ! मुझे किसको दोगे ?" तीन बार पूछने पर पिता ने चिढ़कर कहा—"तुम्हें यमराज को देंगे"। इतना सुनते ही लड़का यमलोक पहुँचा। वहाँ यमराज ने उसे ब्रह्मविद्या का जो उपदेश दिया,उसी का वर्णन पहले अध्याय में है। दूसरे अध्याय में ब्रह्म का लक्षण बतलाया गया है।

कठसरैया†–संज्ञा स्त्री० [सं० कटसारिका] दे० "कटसरैया"।

कठारा*†–संज्ञा पुं० [सं० कंठ=किनारा+हिं० आरा (प्रत्य०)] नदी वा ताल का किनारा।

कठारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काठ+आरी (प्रत्य०)] (१) काठ का बरतन। (२) कमंडल।

कठिन–वि० [सं०] (१) कड़ा। सख़्त। कठोर। (२) मुशकिल। दुष्कर। दुःसाध्य।

संज्ञा स्त्री० [सं०](१)कठिनता। (२) कष्ट। संकट। उ०—अब मन मगन हो राम दोहाई। मन बच क्रम हरि नाम हृदय धरु जो गुरुदेव बताई। महा कष्ट दस मास गर्भ बसि अधोमुख सीस रहाई। इतनी कठिन सही तब निकस्यो अजहुँ न तू समुझाई।—सूर।

कठिनता–संज्ञा स्त्री०[सं० कठिन] (१) कठोरता। कड़ाई। कड़ापन। सख़्ती। (२) मुशकिल। असाध्यता। (३) निर्दयता। बेरहमी। (४) मज़बूती। दृढ़ता।

कठिनताई–संज्ञा स्त्री० दे० "कठिनाई" वा "कठिनता"।

कठिनत्व–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "कठिनता"।

कठिनाई–संज्ञा स्त्री० [सं० कठिन+आई (प्रत्य०)] (१) कठोरता। सख़्ती। (२) मुशकिल। क्लिष्टता। (३) असाध्यता। दुःसाध्यता।

कठिया–वि० [हिं० काठ] जिसका छिलका मोटा और कड़ा हो। जैसे कठिया बादाम, कठिया गेहूँ, कठिया कसेरू।

यौ०—कठिया गेहूँ=एक गेहूँ जिसका छिलका लाल और मोटा होता है। इसे 'ललिया' भी कहते हैं। इसके आटे में चोकर बहुत निकलता है।

संज्ञा स्त्री० [हिं० कंठ=तट] एक प्रकार की भाँग जो झेलम नदी के किनारे बहुत होती है।

कठियाना–क्रि० अ० [हिं० काठ+आना (प्रत्य०)] काठ की तरह कड़ा हो जाना। सूखकर कड़ा हो जाना।

कठीर*–संज्ञा पुं० [सं० कंठीरव] सिंह।—डिं०।

कठुला–संज्ञा पुं० [हिं० कंठ+ला (प्रत्य०)] (१) गले की माला जो बच्चों को पहनाई जाती है। दे० "कठला"। उ०—कठुला कंठ ब्रज केहरि नख राजै मसि बिंदुका मृगमद भाल। देखत देत असीस ब्रज जन नर नारी चिरजीवो जसोदा तेरो बाल।—सूर। (२) माला। हार। उ०—(क) भल भूँजि कै नेक सु लाक सी कै दुख दीरघ देवन के हरिहौं। सितकंठ के कंठन को कठुला दशकंठ के कंठन को करिहौं।—केशव। (ख) मधि हीरा दुहुँ दिशि मुकुतावलि कठुला कंठ बिराजा। मंधु कंबु कहँ भुज पसारि जनु मिलन चहत द्विजराजा।—रघुराज।

कठुवाना†–क्रि० अ० [हिं० काठ+आना (प्रत्य०)] (१) काठ की तरह कड़ा हो जाना। सूखकर कड़ा हो जाना। (२) ठंढक से हाथ पैर ठिठुरना।

कठूमर–संज्ञा पुं० [हिं० काठ+ऊमर] जंगली गूलर जिसके फल बहुत छोटे छोटे और फीके होते हैं।

कठेठ, कठैठा–वि० पुं० [सं० काठ+एठ (प्रत्य०)] [स्त्री० कठेठी] (१) कड़ा। कठोर। कठिन। दृढ़। सख़्त। उ०—बैर कियो शिव चाहत हौ तबलौं अरि बाह्यौ कटार कठेठो। यौंही मलिच्छहिं छाड़ै नहीं सरजा मन तापर रोस में पैठो।—भूषण। (२) अधिक बलवाला। दृढांग। तगड़ा।

कठेठी–वि० स्त्री० [हिं० कठेठा] कठोर। कड़ी। उ०—(क) माखन सो मेरे मोहन को मन काठ सी तेरी कठेठी ये बातें। नेक हरे हरे बोल बलाय ल्यौं हौं डरपौं गड़ि जाय न यातें।—केशव। (ख) माखन सी जीभ मुख कंज सो कुँवरि, कहु काठ सी कठेठी बात कैसे निकरति है।—केशव। (ग) जी की कठेठी अमेठी गँवारिन नेकु नहीं हँसि कै हिय हेरी। नंदकुमारहि देखि दुखी छतियाँ कसकी न कसाइन तेरी।—ठाकुर।

कठेल–संज्ञा पुं० [हिं० काठ+एल (प्रत्य०)] (१) धुनियों की कमान जिसमें ऊन वा रूई धुनते समय धुनकी को बाँधकर लटकाते हैं। (२) कसेरों का काठ का एक औज़ार जिसमें एक गड्ढा होता है। इस गड्ढे में धात का पात्र रखकर उसे गोल करते हैं।

कठैला–संज्ञा पुं० [हिं० काठ+ ऐला (प्रत्य०)] [स्त्री० अल्पा० कठैली] कठौता। काठ का बरतन।

कठैली–संज्ञा स्त्री० [हिं० कठैला] कठैला की तरह छोटा बरतन। काठ का एक छोटा बरतन।

कठोदर–संज्ञा पुं० [हिं० काठ+उदर] पेट का एक रोग जिसमें पेट बढ़ता है और बहुत कड़ा रहता है।

कठोर–वि० [सं०] (१) कठिन। सख़्त। कड़ा। (२) निर्दय। निष्ठुर। निठुर। बेरहम।

यौ०—कठोर-हृदय।

कठोरता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कड़ाई। सख़्ती। (२)निर्दयता। निष्ठुरता। बेरहमी।

कठोरताई*–संज्ञा स्त्री० [हिं० कठोरता+ई (प्रत्य०)] (कठोरता का बिगड़ा हुआ रूप)। (१)कठोरता। कठिनता। (२)निर्दयता।

कठोरपन–संज्ञा पुं० [हिं० कठोर+पन (प्रत्य०)] (१) कठोरता। कड़ापन। सख़्ती। (२) निर्दयता। निष्ठुरता। उ०—जनु कठोरपन धरे शरीरू। सिखइ धनुष विद्या बर बीरू।—तुलसी।

कठौत–संज्ञा स्त्री० [हिं० काठ+औता (प्रत्य०)] छोटा कठौता।

कठौता–संज्ञा पुं० [हिं० काठ+औता (प्रत्य०)] काठ का एक बड़ा बरतन जिसकी बारी बहुत ऊँची और ढालुआँ होती है। उ०—केवट राम रजायसु पावा। पानि कठौता भरि लै आवा।—तुलसी।

कठौती–संज्ञा स्त्री० [हिं० कठौता] छोटा कठौता।

कड़ूँगा–वि० [हिं०कड़ा+अंग] मोटा। तगड़ा। अक्खड़।

कड़–संज्ञा पुं० [देश०] (१) कुसुम। बर्रे। (२) कुसुम का बीज
*संज्ञा पुं० [सं० कटि] कमर।—डिं०।

कड़क–संज्ञा स्त्री० [हिं० कड़कड़] (१) कड़कड़ाहट का शब्द। कठोर शब्द। जैसे,—बिजली की कड़क। (२) तड़प। दपेट। जैसे,—बीरों की कड़क। (३) गाज। वज्र। (४) घोड़े की सरपट चाल।
क्रि० प्र०—जाना।—दौड़ना।
(५) पटेबाज़ी का वह हाथ जो विपक्षी के दाहिने पैर की बाईं ओर मारा जाय।
क्रि० प्र०—मारना।
(६) कसक। दर्द जो रुक रुककर हो। (६) रुक रुककर और जलन के साथ पेशाब उतरने का रोग।
क्रि० प्र०—थामना।—पकड़ना।

कड़कड़–संज्ञा पुं० [अनु०] (१) दो वस्तुओं के आघात का कठोर शब्द। घोर शब्द। जैसे, ताशे या बादल की गरज का। (२) कड़ी वस्तु के टूटने वा फूटने का शब्द। जैसे,—वह हड्डी को कड़कड़ चबा गया।

कड़कड़ाता–वि० [हिं० कड़कड़] [स्त्री० कड़कड़ाती] (१) कड़कड़ शब्द करता हुआ। (२) कड़ाके का। बहुत तेज़। घोर। प्रचंड। जैसे, कड़कड़ाता जाड़ा, कड़कड़ाती धूप।

कड़कड़ाना–क्रि० अ० [सं० कड्] (१) कड़ कड़ शब्द करना। घोर नाद करना। (२) तोड़ना। चूर चूर करना। जैसे,—छाती पर चढ़कर तुम्हारी हड्डियाँ कड़कड़ा देंगे।

कड़कड़ाहट–संज्ञा स्त्री० [सं० कड़कड़] कड़कड़ शब्द। गरज। घोर नाद।

कड़कना–क्रि० अ० [हिं० कड़कड़] (१) कड़कड़ शब्द करना। गड़गड़ाना। जैसे बादल कड़कना। (२) चिटकने का शब्द होना। (३) ज़ोर से शब्द करना। दपेटना। जैसे,—इतना सुनते ही वे कड़ककर बोले। (४) चिटकना। फटना। दरकना। (५) आवाज़ के साथ टूटना। (६) कड़े रेशमी कपड़े का तह पर से कट जाना।

कड़कनाल–संज्ञा पुं० [हिं० कड़क+नाल] वह चौड़े मुहड़े की तोप जिससे बड़ा भयंकर शब्द होता है और जो शत्रु-सेना को डराने और भड़काने के लिये छोड़ी जाती है।

कड़क बाँका–संज्ञा पुं० [हिं० कड़क+बाँका] (१) वह जवान जिसकी दपट से लोग हिल जायँ। (२) नोक झोंक का जवान। बाँका तिरछा जवान। छैला।

कड़क बिजली–संज्ञा स्त्री० [हिं० कड़क+बिजली] (१) एक गहना जिसे स्त्रियाँ कान में पहनती हैं। इसकी बनावट चंद्राकार होने से इसे "चाँदबाला" भी कहते हैं। (२) तोड़ेदार बंदूक जिसकी आवाज़ बड़ी कड़ी हो। (३) एक यंत्र जिसके द्वारा बिजली उत्पन्न करके वात, लकवे आदि के रोगियों के शरीर में दौड़ाई जाती है।

कड़का–संज्ञा पुं० [हिं० कड़क] कड़ाके की आवाज़।

कड़खा–संज्ञा पुं० [हिं० कड़क] वीरों की प्रशंसा से भरे लड़ाई के गीत जिनको सुनकर वीरों को लड़ने की उत्तेजना होती है। उ०—मिरदंग औ मुहचंग चंग सुढंग संग बजावहीं। करताल दै दै ताल मारू ख्याल कड़खा गावहीं।—गोपाल।

कड़खैत–संज्ञा पुं० [हिं० कड़खा+ऐत (प्रत्य०)] (१) कड़खा गानेवाला पुरुष। (२) भाट। चारण।

कड़बड़ा–वि० [सं० कर्बर=कबरा] जिसका कुछ भाग सफ़ेद और कुछ दूसरे रंग का हो। कबरा। चितकबरा। जैसे, कड़बड़ी दाढ़ी।
संज्ञा पुं० वह मनुष्य जिसकी दाढ़ी के कुछ बाल काले और कुछ सफ़ेद हों।

कड़बा–संज्ञा पुं० [हिं० कड़ा] कोई गोल वस्तु जैसे पुराना तवा, कड़ाही आदि जो हलके फाल के ऊपर इसलिये बाँध दी जाती है कि वह बहुत गहरा न धँसे।

कड़बी†–संज्ञा स्त्री० दे० "कड़वी"।

कड़वा–वि० दे० "कड़ुवा"

कड़वी–वि० दे० "कड़ुई"।
संज्ञा स्त्री० [देश०] ज्वार का पेड़ जिसके भुट्टे काट लिए गए हों और जो चारे के लिये छोड़ दिया गया हो। उ०—श्याम और एशिया के पूर्वी देशों में घोड़े शाम और सुबह कड़वी और जौ खाते हैं और बीच में कुछ नहीं।—शिवप्रसाद।

कड़हन–संज्ञा पुं० [हिं० कठधान] एक प्रकार का धान। एक प्रकार का मोटा चावल।

कड़ा–संज्ञा पुं० [सं० कटक] [स्त्री० कड़ी] (१) हाथ या पाँव में पहनने का चूड़ा। (२) लोहे वा और किसी धातु का छुल्ला वा कुंडा। जैसे, कंडाल का कड़ा। (३) एक प्रकार का कबूतर।

वि० [सं० कड्ड] [स्त्री० कड़ी] (१) **जिसकी सतह दबाने से न दबे वा मुश्किल से दबे । जो दबाने से जल्दी न दबे । जिसमें कोई वस्तु जल्दी गड़ न सके अथवा जिसे सहज में तोड़ वा काट न सकें । जो कोमल वा मुलायम न हो । कठोर । कठिन । सख़्त । ठोस ।**

मुहा०—कड़ी छत वा पाटन=लदाव की छत । वह छत जो केवल चूने और ईंटों से पीटी गई हो, कड़ी वा शहतीर के आधार पर न हो, जैसे शिवाले का गुंबद । **कड़ा लगाना**= लदाव की छत बनाना ।

(२) **जिसकी प्रकृति कोमल न हो । रूखा । (३) जो नियम में किसी प्रकार का शील संकोच न करे । उग्र । दृढ़ । जैसे, कड़ा हाकिम ।** उ०—ज़रा कड़े हो जाओ, रुपया मिल जाय । (४) कसा हुआ । चुस्त । **जैसे, कड़ा जूता, कड़ा बंधन, कड़ी कमान । (५) जो गीला न हो । कम गीला ।** जैसे, कड़ा आटा । (६) **हृष्ट पुष्ट । तगड़ा । दृढ़ । जैसे, —उनकी अवस्था तो अधिक है, पर वे अभी कड़े हैं ।** (७) साधारण से अधिक । ज़ोर का । प्रचंड । तेज़ । अधिक । जैसे, **कड़ा झोंका, कड़ी धूप, कड़ी भूख, कड़ी प्यास, कड़ी मार, कड़ा दाम, कड़ी आवाज़, कड़ी चोट ।** (८) सहने-वाला । झेलनेवाला । धीर । विचलित न होनेवाला । जैसे, **कड़ा जी, कड़ा कलेजा ।** उ०—(क) जी कड़ा करके सब सहो । (ख) जी कड़ा करके दवा पी जाओ । (९) जिसका करना सहज न हो । दुष्कर । दुःसाध्य । मुश्किल । जैसे, **कड़ा काम, कड़ा सवाल, कड़ा परचा, कड़ा परिश्रम, कड़ा कोस, कड़ी मंज़िल ।** (१०) तीव्र प्रभाव डालनेवाला । तेज़ । जैसे, **कड़ी दवा, कड़ी महक, कड़ी शराब ।** (११) असह्य । बुरा लगनेवाला । जैसे, **कड़ी बात, कड़ा बरताव ।** (१२) कड़ा । कर्कश । जैसे, **कड़ा स्वर । कड़ी बोली ।**

कड़ाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० कड़ा का भाव०] **कठोरता । कड़ा-पन । सख़्ती ।**

कड़ाका-संज्ञा पुं० [हिं० कड़कड़] (१) **किसी कड़ी वस्तु के टूटने का शब्द ।** उ०—**रेवड़ी कड़ाका, पापड़ पड़ाका ।—हरिश्चंद्र ।**

मुहा०—कड़ाके का=ज़ोर का । तेज़ । प्रचंड । जैसे, कड़ाके का जाड़ा, कड़ाके की गरमी, कड़ाके की भूख ।

(२) उपवास । लंघन । फ़ाक़ा । जैसे,—**कई कड़ाके के बाद आज खाने को मिला है ।**

कड़ाबीन-संज्ञा स्त्री० [तु० करार्बान] (१) **चौड़े मुँह की बंदूक जिसमें बहुत सी गोलियाँ भरकर छोड़ते हैं । (२) छोटी बंदूक जिसे कमर में बाँधते हैं । इसे झोंका भी कहते हैं ।**

कड़ाह-संज्ञा पुं० दे० "**कड़ाहा**" ।

कड़ाहा-संज्ञा पुं० [सं० कटाह, प्रा० कड़ाह] [स्त्री० अल्पा० कड़ाही] **आँच पर चढ़ाने का लोहे का बहुत बड़ा गोल बरतन जिसके दो ओर पकड़ने के लिये कुंडे लगे रहते हैं । इसमें पूरी, हलवा इत्यादि बनाते हैं ।**

क्रि० प्र०—चढ़ना=आँच पर रक्खा जाना ।—**चढ़ाना**=आँच पर रखना ।

कड़ाही-संज्ञा स्त्री० [हिं० कड़ाह] **छोटा कड़ाहा, जो लोहे पीतल, चाँदी आदि का बनता है ।**

क्रि० प्र०—चढ़ना=आँच पर रक्खा जाना ।—**चढ़ाना**=आँच पर रखना ।

मुहा०—कड़ाही करना=कड़ाही चढ़ाना । मनौती पूरी होने पर किसी देवी देवता की पूजा के लिये हलवा पूरी करना । **कड़ाही पूजन**=किसी शुभ कार्य्य के निमित्त पकवान बनाने के लिये कड़ाही चढ़ाने के पहले उसकी पूजा करना । **कड़ाही में हाथ डालना**=अग्निपरीक्षा देना ।

कड़ियल-संज्ञा पुं० [सं० काड] **ऊपर से फूटा हुआ मटके वा घड़े आदि का टुकड़ा जिसमें आग रखकर दबाई जाती है ।**

†वि० [हिं० कड़ा] **कड़ा ।**

यौ०—कड़ियल जवान=हट्टा कट्टा जवान ।

कड़िया-संज्ञा स्त्री० [सं० कांड, हिं० काँड़ी] **अरहर का सूखा पेड़ जो फसल झाड़ लेने के बाद बच रहता है । काँड़ी । रहटा ।**

कड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कड़ा=चुल्ला, चूड़ा](१) **ज़ंजीर वा सिकड़ी की लड़ी का एक छल्ला । (२) छोटा छल्ला जो किसी वस्तु को अटकाने वा लटकाने के लिये लगाया जाय । जैसे, पंखा कड़ियों में लटक रहा है । (३) गीत का एक पद ।**

संज्ञा स्त्री० [सं० काड] (१) **छोटी धरन ।**

मुहा०—कड़ी बोलना=धरन से चिटकने की सी आवाज़ निकलना जो रहनेवाले के लिये अशकुन समझा जाता है ।

(२) **भेड़ बकरी आदि चौपायों की छाती की हड्डी ।**

संज्ञा स्त्री० [हिं० कड़ा=कठिन] **कठिनाई । अंडस । संकट । दुःख मुसीबत ।**

क्रि० प्र०—उठाना ।—झेलना ।—सहना ।

वि० स्त्री० [हिं० कड़ा=कठिन] (१) **कठिन । कठोर । सख़्त ।**

मुहा०—कड़ी धरती=(१)वह प्रदेश जहाँ के लोग हट्टे कट्टे हों । (२) भूत प्रेत के रहने की जगह । **कड़ी दृष्टि वा आँख रखना**= पूरी निगरानी रखना । ताक में रहना । जैसे,—**देखना उस लड़के पर कड़ी आँख रखना, कहीं जाने न पावे । कड़ी दृष्टि वा आँख होना**=(१) पूरी निगरानी होना । (२) कोप का भाव रहना । जैसे,—**उन दिनों समाचारपत्रों पर सरकार की कड़ी आँख थी । कड़ी सुनाना**=खोटी खरी सुनाना ।

कड़ीदार-वि० [हिं०कड़ी+दार (प्रत्य०)] **जिसमें कड़ी हो । छल्लेदार ।**

संज्ञा पुं० **एक प्रकार का कसीदा जो कड़ियों की लड़ी की तरह का होता है ।**

विशेष—कपड़े के नीचे से सूई ऊपर निकालकर धागे के पिछले भाग में फंदा इस प्रकार बनावे कि तागा घूमकर अर्थात् गोल फंदा बनाता हुआ धागे के पिछले भाग के नीचे से जाय। फिर सूई की नोक के नीचे से तागे का दूसरा फंदा देकर सूई को बाहर निकाले।

कडुआ—वि० [सं० कटुक, प्रा० कडुअ] [स्त्री० कडुई] (१) कटु। स्वाद में उग्र और अप्रिय। जिसका तीक्ष्ण स्वाद जीभ को असह्य हो। जैसे, नीम, इंद्रायन, चिरायता आदि का।

क्रि० प्र०—लगना।

यौ०—कडुआ कसैला=अरुचिकर। कटु। बुरा। कडुआ ज़हर=(१) ज़हर सा कडुआ। बहुत कडुआ। (२) अत्यंत अरुचिकर। बहुत बुरा लगनेवाला। कडुआ जी=कड़ा जी। विपत्ति और कठिनाई में धीरचित्त। जैसे,—यह कडुए जी के आदमी का काम है।

(२) तीक्ष्ण। झालदार। जैसे, कडुआ तमाकू, कडुआ तेल। (३) तीखी प्रकृति का। गुस्सल। तुंद मिज़ाज। झल्ला। अक्खड़। जैसे,—कडुआ आदमी। उ०—कडुए से मिलिए मीठे से डरिए।

मुहा०—कडुआ होना=नाराज होना। बिगड़ना। जैसे,—इतनी ही बात पर वे मुझसे कडुए हो गए।

(४) क्रोध से भरा। जैसे, कडुआ मिज़ाज, कडुई निगाह।

क्रि० प्र०—होना=नाराज होना। बिगड़ना।

(५) अप्रिय। जो भला न मालूम हो। जो न भावे। जैसे, कडुई बात।

मुहा०—कडुआ करना=(१) धन बिगाड़ना। रुपए लगाना। जैसे,—जहाँ इतना खर्च किया वहाँ दो रुपए और कडुए करेंगे। (२) कुछ दाम खड़ा करना। औने पौने करना। जैसे,—माल बहुत दिनों से पड़ा था, ५) कडुए किए। कडुआ मुँह=वह मुँह जिससे कटु शब्द निकले। कटुभाषी मुख। उ०—खीरा को मुख काटि कै मलियत लोन लगाय। रहिमन कडुए मुखन को चहिए यही उपाय।—रहीम। कडुआ होना=बुरा बनना। जैसे,—तुम क्यों सबसे कडुए होते हो?

(६) विकट। टेढ़ा। कठिन। जैसे,—उस पार जाना ज़रा कडुआ काम है।

मुहा०—कडुए कसैले दिन=(१) बुरे दिन। कष्ट के दिन। (२) दो रसे दिन जिनमें रोग फैलता है। जैसे, क्वार, कातिक वा फागुन, चैत। (३) गर्भ का आठवाँ महीना जिसमें गर्भ गिरने का भय रहता है। कडुआ घूँट=कठिन काम।

कडुआ तेल—संज्ञा पुं० [हिं० कडुआ+तेल] सरसों का तेल जिसमें बहुत झाल होती है।

कडुआना—क्रि० अ० [हिं० कडुआ] (१) कडुआ लगना। जैसे,—तरकारी में मेथी अधिक हो गई है, इससे कडुआती है। (२) बिगड़ना। रिसाना। खीझना। (३) नींद रोकने के कारण आँख में किरकिरी पड़ने का सा दर्द होना।

कडुआहट—संज्ञा स्त्री० [हिं० कडुआ+हट (प्रत्य०)] कडुआपन।

कडुई रोटी वा खिचड़ी—संज्ञा स्त्री० वह भोजन जो मृतक के घर के प्राणियों के पास उसके संबंधी दो तीन दिनों तक भेजते हैं।

कडू—वि० पुं० [सं० कटु] दे० "कडुआ"।

कड़ेरा—संज्ञा पुं० [हिं० कैड़ा] खरादनेवाला। जो किसी वस्तु को खरादकर ठीक करे। उ०—ग्रीव मयूर केर जस ठाढ़ी। कोड़े फेर कड़ेरै काढ़ी।—जायसी।

कड़ेलोट, कड़ेलोटन—संज्ञा पुं० [हिं० कड़ा+लोटना] मालखंभ की एक कसरत जिसमें अधंतरी करके हाथ को मोगरे पर लाते और उसी पर बदन तौलकर ऐसे उड़ते हैं कि सिर मोगरे के पास कंधे के आसरे रहता है और पाँव पीठ पर से उलटे उड़कर नीचे आता है।

कड़ोड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० करोड़ा] बहुत बड़ा अधिकारी जिसके अधीन बहुत से लोग हों। बहुत बड़ा अफ़सर।

कड्ढा† कड्ढू†—वि०[हिं० काढ़ना] ऋण लेनेवाला। क़र्ज़ काढ़नेवाला।

कढ़ना—क्रि० अ० [सं० कर्षण पा० कड्ढन] (१) निकलना। बाहर आना। खिंचना। (२) उदय होना। (३) बढ़ जाना। किसी बात में किसी से बढ़कर प्रमाणित होना। (४) (प्रतिद्वन्द्विता में) आगे निकल जाना।

मुहा०—कढ़ जाना=किसी के साथ चले जाना। यार के साथ चले जाना। कुटुंब छोड़कर उपपति करना। उ०—गोकुल के कुल को तजि कै भजि कै बन बीथिन में बढ़ि जइये। त्यों पदमाकर कुंज कछार बिहार पहारन में चढ़ि जइये। हैं नँदनंद गोविंद जहाँ तहाँ नंद के मंदिर में मढ़ि जइये। यों चित चाहत एरी भटू मनमोहनै लैके कहूँ कढ़ि जइये।—पद्माकर।

(५) [हिं० गाढ़ा] दूध का औटाया जाकर गाढ़ा होना।

कढ़नी—संज्ञा स्त्री० [सं० कर्षणी, प्रा० कड्ढनी] मथानी के घुमाने की रस्सी। नेती।

कढ़लाना*†—क्रि० स० [सं० काढ़ना+लाना] घसीटना। घसीटकर बाहर करना। उ०—नाहिनै काँचो कृपानिधि, करौ कहा रिसाइ। सूर तबहु न द्वार छाड़ै डारिही कढ़राइ।—सूर।

कढ़ाई—संज्ञा स्त्री० (१) दे० "कड़ाही"। [हिं० काढ़ना] (२) निकालने की क्रिया। (३) निकालने की मज़दूरी। निकलवाई। (४) बूटा-कसीदा निकालने का काम। (५) बूटा-कसीदा बनाने की मज़दूरी।

कढ़ाना, कढ़वाना—क्रि० स० [हिं० काढ़ना का प्रे० रूप] निकलवाना। बाहर कराना। खिंचवा लेना। उ०—सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई।—तुलसी।

कढ़ाव–संज्ञा पुं० [हिं० काढ़ना] (१) बूटे कशीदे का काम। (२) बेलबूटों का उभार। (३) दे० "कड़ाह"।

कढ़ावना*†–क्रि० स० [हिं० काढ़ना का प्रे० रूप०] निकलवाना। बाहर करना। खिंचवाना। उ०—पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तो धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी।—तुलसी।

कढ़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कढ़ना=गाढ़ा होना] एक प्रकार का सालन। इसके बनाने की रीति यों है—आग पर चढ़ी हुई कड़ाही में घी, हींग, राई और हलदी की बुकनी डाल दे। जब सुगंध उठने लगे तब उसमें नमक, मिर्च समेत मठे में घोला हुआ बेसन छोड़ दे और मंदी आँच से पकावे। कोई कोई इसमें बेसन की पकौड़ी भी छोड़ देते हैं। यह सालन पाचक, दीपक, हलका और रुचिकर है। कफ़, वायु और वद्धकोष्ठ का नाश करता है। उ०—दाल भात घृत कढ़ी सलोनी अरु नाना पकवान। आरोगत नृप चारि पुत्र मिलि अति आनंद निधान।—सूर।

मुहा०—**कढ़ी का सा उबाल**=शीघ्र ही घट जानेवाला जोश। (कढ़ी में एकही बार उबाल आता है और शीघ्र ही दब जाता है)। **कढ़ी में कोयला**=(१) अच्छी वस्तु में कुछ छोटा सा दोष। (२) दाल में काला। कुछ मर्म की बात। कोई भेद। **बासी कढ़ी में उबाल आना**=(१) बुढ़ापे में पुनः युवावस्था की सी उमंग आना। (२) छोड़े हुए कार्य्य को पुनः करने के हेतु तत्पर होना।

कढ़ुआ, कढ़ुवा–संज्ञा पुं० [हिं० काढ़ना] (१) निकाला हुआ। (२) रात का बचा हुआ भोजन जो बच्चों के कलेवा के वास्ते रख छोड़ते हैं। (३) क़र्ज़ा। ऋण।

क्रि० प्र०—काढ़ना।—देना।—लेना।

(४) मटके में से पानी निकालने का छोटा बरतन। बोरना। बोरका। पुरवा।

कढ़ोरना–संज्ञा पुं० [हिं० काढ़ना] सोने-चाँदी वा पीतल-ताँबे इत्यादि में बर्तनों पर नक़ाशी करनेवालों का एक औज़ार जिससे वे लोग गोल गोल लकीरें डालते हैं।

कढ़ैया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "कड़ाही"।

†संज्ञा पुं० [हिं० काढ़ना] (१) निकालनेवाला। (२) उद्धार करनेवाला। उबारनेवाला। बचानेवाला।

कढ़ोरना*–क्रि० स० [सं० कर्षण] कढ़लाना। घसीटना। उ०—(क) तोरि यमकातरि मंदोदरी कढ़ोरि आनी रावन की रानी मेघनाद महतारी है। भीर बाहुपीर की निपट राखी महाबीर कौन के सकोच तुलसी के सोच भारी है।—तुलसी। (ख) रावण जैहै गूढ़ थल, रावर लुटै विशाल। मंदोदरी कढ़ोरिबो अरु रावण को काल।—केशव।

संयो० क्रि०—डालना।—लाना।

कण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किनका। रवा। ज़र्रा। अत्यंत छोटा टुकड़ा। (२) चावल का बारीक टुकड़ा। कना। (३) अन्न के कुछ दाने। दो चार दाने। (४) भिक्षा। दे० "कन"। उ०—कण दैबो सौंप्यो ससुर बहू थोरहथी जानि।—बिहारी।

कणकच†–संज्ञा पुं० [देश०] (१) केवाँच। कौंछ। कपिकच्छु। (२) करंज। कंजा।

कणगच, कणगज–संज्ञा पुं० दे० "कणकच"।

कणजीरक, कणजीरा–संज्ञा पुं० [सं०] सफ़ेद ज़ीरा।

कणप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] गौरैया चिड़िया। बाम्हन चिरैया।

कणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पीपल। पिप्पली।

कणाच†–संज्ञा पुं० [देश०] केवाँच। करेंच। कौंछ।

कणाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैशेषिक शास्त्र के रचयिता एक मुनि। उलूक मुनि। (२) सोनार।

कणामूल–संज्ञा पुं० [सं०] पिपरामूल।

कणासुफल–संज्ञा पुं० [सं०] अंकोल।

कणिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] किनका। टुकड़ा। ज़र्रा।

कणिश–संज्ञा पुं० [सं०] अनाज की बाल। जौ, गेहूँ आदि की बाल।

कणीसक*–संज्ञा स्त्री० [सं० कणिश] अनाज की बाल। जौ, गेहूँ इत्यादि की बाल।—डिं०।

कण्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक मंत्रकार ऋषि जिनके बहुत से मंत्र ऋग्वेद में हैं। (२) शुक्ल यजुर्वेद के एक शाखाकार ऋषि। इनकी संहिता भी है और ब्राह्मण भी। सायणाचार्य्य ने इन्हीं की संहिता पर भाष्य किया है। (३) कश्यप गोत्र में उत्पन्न एक ऋषि जिन्होंने शकुंतला को पाला था।

कत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निर्मली। (२) रीठा।

संज्ञा पुं० [अ०] देशी कलम की नोक की आड़ी काट।

क्रि० प्र०—काटना।—देना।—मारना।—रखना।—लगाना।

यौ०—कतज़न।

अव्य० [सं० कुतः, पा० कुतो] क्यों। किस लिये। काहे को। उ०—कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बल पाई।—तुलसी।

कतक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निर्मली। (२) रीठा।

कतज़न–संज्ञा पुं० [फ़ा०] लकड़ी वा हाथीदाँत का बना हुआ एक छोटा सा दस्ता जिस पर कमल की नोक रखकर उस पर क़त रखते हैं।

कतना–क्रि० अ० [हिं० कातना] काता जाना।

‡क्रि० वि० दे० "कितना"।

कतनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कातना] (१) सूत कातने की टेकुरी। ढेरिया। (२) वह टोकरी जिसमें सूत कातने के सामान रक्खे जाते हैं।

कतन्ना†–संज्ञा पुं० दे० "कतरना"।

कतन्नी†–संज्ञा स्त्री० दे० "कतरनी"।

कतरछाँट-संज्ञा स्त्री० [हिं० कतरना+छाँटना] **कतर ब्योंत। काट छाँट।**

कतरन-संज्ञा स्त्री० [हिं० कतरना] **कपड़े, कागज़ वा धातु की चद्दर आदि के वे छोटे छोटे रद्दी टुकड़े जो काट छाँट के पीछे बच रहते हैं। जैसे, पान की कतरन। कपड़े की कतरन।**

कतरना-क्रि० स० [सं० कृंतन] [संज्ञा कतरन, कतरनी] (१) **किसी वस्तु को कैंची से काटना। (२) (किसी औज़ार से) काटना।**

संज्ञा पुं० (१) **बड़ी कतरनी। बड़ी कैंची। (२) बात काटनेवाला व्यक्ति। बतकट।**

कतरनाल-संज्ञा स्त्री० [देश०] **एक प्रकार की घिरनी जिस पर दोहरी गड़ारी होती है। (लश०)।**

कतरनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कतरना] (१) **बाल, कपड़े आदि काटने का एक औज़ार। कैंची। मिकराज़।**

मुहा०—कतरनी सी ज़बान चलना=बकवाद करना। दूसरे की बात काटने को बहुत बकवाद करना।

(२) लोहारों और सोनारों का एक औज़ार जिससे वे धातुओं की चद्दर, तार, पत्तर आदि काटते हैं। यह सँड़सी के आकार की होती है, केवल मुँह की ओर इसमें कतरनी रहती है। काती। (३) तँबोलियों का एक औज़ार जिससे वे पान कतरते हैं।

विशेष—इसमें लोहे की चद्दर के दो बराबर लंबे टुकड़े वा बाँस वा सरकंडे के सोलह सत्रह अंगुल के फाल होते हैं जिन्हें दाहिने हाथ में लेकर पान कतरते हैं।

(४) जुलाहों का एक औज़ार जिससे वे सूत काटते हैं। (५) मोचियों और ज़ीनगरों की एक चौड़ी नुकीली सुतारी जिससे वे कड़े स्थान में छोटी सुतारी जाने के लिये छेद करते हैं। (६) सादे कागज़ या मोमजामे का वह टुकड़ा जिसे छीपी बेल छापते समय कोना बनाने के लिये काम में लाते हैं। जहाँ कोने पर पूरा छाप नहीं लगाना होता, वहाँ इसे रख लेते हैं। चंद्री। पत्ती। (७) एक मछली जो मलाबार देश की नदियों में होती है।

कतर ब्योंत-संज्ञा स्त्री० [हिं० कतरना+ब्योंत] (१) **काट छाँट। (२) उलट फेर। हेर फेर। इधर का उधर करना।**

क्रि० प्र०—करना।—में रहना।—होना।

(३) उधेड़ बुन। सोच विचार।

क्रि० प्र०—करना।—में रहना।—होना।

(४) दूसरे के सौदे सुलुफ में से कुछ रकम अपने लिये निकाल लेना। जैसे,—बाज़ार से सौदा लाने में नौकर कुछ न कुछ कतर ब्योंत करते हैं। (५) हिसाब किताब बैठाना। युक्ति। जोड़ तोड़। जैसे,—ऐसी कतर ब्योंत करो कि इतने ही में काम बन जाय।

मुहा०—कतर ब्योंत से=हिसाब से। समझ बूझकर। सावधानी से। जैसे,—**वे ऐसी कतर ब्योंत से चलते हैं कि थोड़ी आमदनी में अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए हैं।**

कतरवाँ-वि० [हिं० कतरना+वाँ (प्रत्य०)] **घुमावदार। औरेबदार। टेढ़ा। तिरछा।**

यौ०—कतरवाँ चाल=(१) टेढ़ी चाल। वक्र गति। (२) अटपटी चाल।

कतरवाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० कतरवाना+आई (प्रत्य०)] **कतरवाने की क्रिया। (२) कतरवाने की मज़दूरी।**

कतरा-संज्ञा पुं० [हिं० कतरना] (१) **कटा हुआ टुकड़ा। खंड। जैसे,—तीन चार कतरे सोहन हलुआ खाकर वह चला गया। (२) पत्थर का छोटा टुकड़ा जो गढ़ाई में निकलता है।**

संज्ञा पुं० [देश०] **एक प्रकार की बड़ी नाव जिसमें माँझी खड़े होकर डाँड़ चलाते हैं। यह पटेले के बराबर लंबी पर उससे कम चौड़ी होती है। इस पर पत्थर आदि लादते हैं।**

क़तरा-संज्ञा पुं० [अ०] **बूँद। बिंदु।**

कतराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० कतराना] (१) **कतरने का काम। (२) कतरने की मज़दूरी।**

कतराना-संज्ञा स्त्री० [हिं० कतरना] **किसी वस्तु वा व्यक्ति को बचाकर किनारे से निकल जाना। जैसे,—वह मुझे देखते ही कतरा जाता है।**

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० स० [हिं० कतरना का प्रे० रूप] **कटाना। कटवाना। छँटवाना।**

संयो० क्रि०—डालना।

कतरी-संज्ञा स्त्री० [सं० कर्त्तरी=चक्र] (१) **कोल्हू का पाट जिस पर आदमी बैठकर बैलों को हाँकता है। कातर। (२) पीतल का बना हुआ एक ढलवाँ ज़ेवर जिसे नीच जाति की स्त्रियाँ हाथों में पहनती हैं। (३) लकड़ी का बना हुआ एक औज़ार जिससे राज कारनिस जमाते हैं। यह औज़ार एक फुट लंबा, ३ इंच चौड़ा और चौथाई इंच मोटा होता है।**

संज्ञा स्त्री० [हिं० कतरना] (१) **जमी हुई मिठाई का कटा हुआ टुकड़ा। (२) कतरने वा छाँटने का औज़ार। कैंची। (लश०)।**

क़तल-संज्ञा पुं० [अ० क़त्ल] **वध। हत्या।**

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कतलबाज-संज्ञा पुं० [अ० क़त्ल+फ़ा० बाज] **वधिक। जल्लाद। संहारक। मारनेवाला। उ०—आई तजि हौं तो ताहि तरनितनूजा तीर, ताकि ताकि तारापति तरफति ताती सी। कहै पदमाकर घरीक ही में घनश्याम काम को कतलबाज कुंज ह्वैहै काती सी।—पद्माकर।**

कतला–संज्ञा पुं० [देश० वा अ० क़ातिला] **एक प्रकार की मछली जो बड़ी नदियों में पाई जाती है। इसकी लंबाई ६ फुट तक की होती है। यह मछली बड़ी बलवती होती है और पकड़ते समय कभी कभी मछुओं पर आक्रमण करके उन्हें गिरा देती और काट लेती है।**

क़तलाम–संज्ञा पुं० [अ० क़त्ले=आम] **सर्वसाधारण का वध। सब का वध। बिना विचारे अपराधी, निरपराध, छोटे बड़े सब का संहार। सर्वसंहार।**

कतवाना–क्रि० स० [हिं० कातना का प्रे० रूप] **किसी दूसरे से कातने का काम लेना। कातने में लगाना।**

कतवार–संज्ञा पुं० [हिं० पतवार=पताई] **कूड़ा करकट। बेकाम घास फूस।**

*†संज्ञा पुं० [हिं० कातना] [स्त्री० कतवारी] **कातनेवाला। उ०—मन के मते न चालिए छोड़ि जीव की बानि। कतवारी के सूत ज्यों उलटि अपूठा आनि।—कबीर।**

कतहुँ, कतहूँ*†–अव्य० [हिं० कत+हूँ] **कहीं। किसी स्थान पर। किसी जगह। उ०—मूँदहु आँखि कतहुँ कोउ नाहीं।—तुलसी।**

कता–संज्ञा स्त्री० [अ० क़तअ] (१) **बनावट। आकार। उ०—छपन छपा के रवि इव भाके दंड उतंग उचाके। विविध कता के धँधे पताके छुवें जे रवि रथ चाके।—रघुराज।** (२) **ढंग। वज़ा। जैसे,—तुम किस कता के आदमी हो।** (३) **कपड़े की काट छाँट। जैसे,—तुम्हारे कोट की कता अच्छी नहीं है।**

मुहा०—कता करना=कपड़े को किसी नाप के अनुसार काटना। कपड़े को ब्योंतना। **जैसे,—दर्ज़ी ने तुम्हारा अंगा कता किया या नहीं?**

कताई–संज्ञा स्त्री० [हिं० कातना] (१) **कातने की क्रिया।**

क्रि० प्र०—करना—होना।

(२) **कातने की मज़दूरी। कतौनी।**

कताना–क्रि० स० [हिं० कातना का प्रे० रूप] **किसी अन्य से कातने का काम कराना। कतवाना।**

क़तार–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) **पंक्ति। पाँति। श्रेणी। लैन।** (२) **समूह। झुंड। उ०—सुजन सुखारे करे पुण्य उजियारे अति पतित कतारे भवसिंधु ते उतारे हैं।—पद्माकर।**

कतारा–संज्ञा पुं० [सं० कांतार, प्रा० कंतार] [स्त्री० अल्पा० कतारी] **एक प्रकार की लाल रंग की ऊख जो बहुत लंबी होती है। इसका छिलका मोटा और गूदा नर्म होता है। इसका गुड़ बनता है।**

संज्ञा पुं० [हिं० कटार] **इमली का फल।**

कतारी†*–संज्ञा स्त्री० दे० **"कतार"।**

संज्ञा स्त्री० [हिं० कतारा] **कतारे की जाति की ईख जो उससे छोटी और पतली होती है।**

कति*–वि० [सं०] (१) **(गिनती में) कितने। उ०—मीत रही तुम्हरे नहिं दारा। अब दिखाहिं पोखशहि हजारा। कहहु मीत कुल की कुशलाई। सुता सुवन कति भे सुखदाई।—रघुराज।** (२) **किस क़दर (तौल या माप में)।** (३) **कौन।** (४) **बहुत से। अगणित। उ०—(क) जाहि के उदोत लहि जगमग होत जग जोत के उमंग जामें अनु अनुमाने हैं। चेत के निचय जातें चेतन अचेत चय, लय के निलय जामें सकल समाने हैं। विश्वाधार कति जामें थिति है चराचर की इति की न गति जामें श्रुति परमाने हैं। ब्रह्मानंदमय ते अनामय अभय अंब तेरे पद मेरे अवलंब ठहराने हैं।—चरण। (ख) भरत कौन नृत पद पालन पै राम राय को थतिऊ। रामदेव राजा नहिं दूसर इंद्र एक सुर कतिऊ।—देवस्वामी।**

कतिक*†–वि० [सं० कति+एक] (१) **कितना। कितेक। किस क़दर। दे० "कितक"।** (२) **थोड़ा।** (३) **बहुत। ज़्यादा। अनेक।**

कतिधा–वि० [सं०] **अनेक प्रकार का। बहुत भाँति का। कई क़िस्म का।**

क्रि० वि० **कई तरह से। अनेक प्रकार से। बहुत भाँति से।**

कतिपय–वि० [सं०] (१) **कितने ही। कई एक।** (२) **कुछ थोड़े से।**

विशेष—संस्कृत में यह सर्वनाम माना गया है। हिंदी में यह संख्यासूचक विशेषण है।

कतीरा–संज्ञा पुं० [देश०] **गुलू नामक वृक्ष का गोंद जो ख़ूब सफ़ेद होता है और पानी में घुलता नहीं। और गोंदों की तरह इसमें लसीलापन नहीं होता। यह बहुत ठंढा समझा जाता है और रक्तविकार तथा धातुविकार के रोगों में दिया जाता है। बोतल में बंद करके रखने से इसमें सिरके की सी गंध आ जाती है।**

कतेक*†–वि० [सं० कति+एक] (१) **कितने। कुछ।** (२) **अनेक।** (३) **थोड़े से।**

कत्तर–संज्ञा पुं० [?] **स्त्रियों की चोटी बाँधने की डोरी।**

कत्तल–संज्ञा पुं० [हिं० कतरा] (१) **कटा हुआ टुकड़ा।** (२) **पत्थर का छोटा टुकड़ा जो गढ़ाई में निकलता है।**

यौ०—कत्तल का बघार=किसी तरल पदार्थ को पत्थर वा ईंट के तपाए हुए टुकड़े से छौंकना।

कत्ता–संज्ञा पुं० [सं०, वा कर्तृ का बृहदार्थक रूप] (१) **बँसफोरों का एक औज़ार जिससे वे लोग बाँस वग़ैरः काटते या चीरते हैं। बाँका। बाँस।** (२) **छोटी टेढ़ी तलवार। उ०—चौंकत चकत्ता जाके कत्ता के कराकनि सो सेल की सराकनि न कोऊ जुरे जंग है—सूदन।**

(३) **(चौपड़ का) पासा। कावतैन।**

कत्ती–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्तरी] (१) **चाकू। छुरी।** (२) **छोटी तलवार।** (३) **कटारी। पेशकब्ज।** (४) **सोनारों की कतरनी।**

(५) वह पगड़ी जो कपड़े को बत्ती के समान बटकर बाँधी जाती है। उ०—बत्ती बटि कसी पाग कत्ती सिर टेढ़ी लसै बढ़ी मुख रत्ती ऐसे पत्ती जदुपति के।—गोपाल।

कत्थ–संज्ञा पुं० [हि० कत्था] कमेरे की स्याही। लोहे की स्याही (रँगरेज़)।

विशेष—१५ सेर पानी में आध सेर गुड़ वा शक्कर मिलाकर घड़े में रख देते हैं। फिर उस घड़े में कुछ लोहचून छोड़कर उसे धूप में उठने के लिये रख देते हैं। थोड़े दिनों में यह उठने लगता है और मुँह पर गाज जमा हो जाता है। जब यह स्याही-मायल भूरे रंग का हो जाता है, तब यह पक्का हो जाता है और रँगाई के काम के योग्य हो जाता है। इसे लोहे की स्याही कहते हैं।

कत्थई–वि० [हि० कत्था] खैर के रंग का। खैरा (रंग)।

विशेष—यह रंग हर्रे, कसीस, गेरू, कत्थे और चूने से बनता है। इसमें खटाई वा फिटकिरी का बोर नहीं दिया जाता।

कत्थक–संज्ञा पुं० [सं० कथक] एक जाति जिसका काम गाना बजाना और नाचना है।

कत्था–संज्ञा पुं० [सं० क्वाथ] (१) खैर के पेड़ की लकड़ियों को उबालकर निकाला हुआ रस जिसे जमाकर कतरे काटते हैं। ये कतरे पान में खाए जाते हैं। दे० "खैर"। (२) खैर का पेड़। कथ-कीकर।

कथंचित्–क्रि० वि० [सं०] शायद।

कथ†–संज्ञा पुं० [हिं० कत्था] कत्था। खैर।

कथक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कथा कहनेवाला। क़िस्सा कहनेवाला। (२) पुराण बाँचनेवाला। पौराणिक। (३) दे० "कत्थक"। (४) नाटक की कथा का वर्णन करनेवाला एक पात्र या नट।

कथक्कड़–संज्ञा पुं० [सं० कथा+कड़ (प्रत्य०)] बहुत कथा कहनेवाला।

कथन–संज्ञा पुं० [सं०] कहना। बयान। बात।

यौ०—कथनानुसार। कथोपकथन।

(२) उपन्यास का एक भेद जिसमें पूर्वपीठिका और उत्तर-पीठिका नहीं होती, पर कहनेवाले के नाम आदि का पता प्रसंग से चल जाता है। कहनेवाला अचानक कथा प्रारंभ करता है और कहनेवाले की वक्तृता की समाप्ति के साथ ग्रंथ समाप्त हो जाता है।

कथना*–क्रि० स० [सं० कथन] (१) बात करना। कहना। बोलना। उ०—(क) जिमि जिमि तापस कथइ उदासा। तिमि तिमि नृपहिं उपज बिस्वासा।—तुलसी। (ख) बेनु बजाय रास बन कीन्हों अति आनँद दरसायो। लीला कथत सहसमुख तौऊ अजहूँ पार न पायो।—सूर। (२) निंदा करना। बुराई करना।

कथनी*–संज्ञा स्त्री० [सं० कथन+ई (प्रत्य०)]। (१) बात। कथन। कहना। उ०—कथनी थोथी जगत में करनी उत्तम सार। कहै कबीर करनी भली उतरै भव जग पार।—कबीर। (२) हुज्जत। बकवाद।

क्रि० प्र०—कथना।—करना।

कथनीय–वि० [सं०] (१) कहने योग्य। वर्णनीय। उ०—रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया।—तुलसी। (२) निंदनीय। बुरा।

कथरी–संज्ञा पु० [सं० कंथा+री (प्रत्य०)] वह बिछावन या ओढ़ना जो पुराने चिथड़ों को जोड़ जोड़कर सीने से बनता है। गुदड़ी। उ०—पातक पीन कुदारिद दीन मलीन धरे कथरी करवा है।—तुलसी।

कथा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जो कहा जाय। बात।

विशेष—न्याय में यथार्थ निश्चय वा विपक्षी के पराजय के लिये जो बात कही जाय। इसके तीन भेद हैं—वाद, जल्प, वितंडा।

यौ०—कथोपकथन=परस्पर बात चीत।

(२) धर्म-विषयक व्याख्यान वा आख्यान।

क्रि० प्र०—करना।—कहना।—बाँचना।—सुनना।—सुनाना।—होना।

मुहा०—**कथा उठना**=कथा बंद वा समाप्त होना। **कथा बैठना**=(१) कथा होना। (२) कथा प्रारंभ होना। **कथा बैठाना**=कथा कहने के लिये किसी व्यास को नियुक्त करना।

यौ०—कथामुख। कथारंभ। कथोदय। **कथोद्घात**=कथा का प्रारंभिक भाग। **कथापीठ**=कथा का मुख्य भाग।

(३) उपन्यास का एक भेद जिसमें पूर्वपीठिका और उत्तर पीठिका होती है। पूर्वपीठिका में एक वक्ता और एक वा अनेक श्रोता बनाए जाते हैं। श्रोता की ओर से ऐसा उत्साह दिखलाया जाता है कि पढ़नेवालों को भी उत्साह होता है। वक्ता के मुँह से सारी कहानी कहलाई जाती है। कथा की समाप्ति में उत्तरपीठिका होती है। इसमें वक्ता और श्रोता का उठ जाना आदि उत्तर दशा दिखाई जाती है। (४) बात। चर्चा। ज़िक्र।

क्रि० प्र०—उठना।—चलना।—चलाना।

(५) समाचार। हाल। (६) वादविवाद। कहा सुनी। झगड़ा।

मुहा०—**कथा चुकाना**=(१) झगड़ा मिटाना। मामला खतम करना। (२) काम तमाम करना। मार डालना। उ०—मेघनादै रिस आई, मंत्र पढ़ि कै चलाइयो बाण ही में नाग फाँस बड़ी दुखदाइनी।............काहे को लराई, उन कथा ही चुकाई जैसे पारा मारि डारत है पल में रसाइनी।—हनुमान।

कथानक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कथा। (२) छोटी कथा। बड़ी कथा का सारांश। कहानी। क़िस्सा।

कथानिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] उपन्यास का एक भेद, जिसमें सब लक्षण कथोपन्यास ही के होते हैं, पर अनेक पात्रों की बात चीत से प्रधान कहानी कहलाई जाती है।

कथापीठ-संज्ञा पुं० [सं०] कथा की प्रस्तावना।

कथाप्रबंध-संज्ञा पुं० [सं०] कथा की गठन या बंदिश।

कथाप्रसंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनेक प्रकार की बात चीत। (२) विषवैद्य। सँपेरा। मदारी।

कथामुख-संज्ञा पुं० [सं०] आख्यान वा कथा ग्रंथ की प्रस्तावना।

कथा वार्त्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] अनेक प्रकार की बात चीत।

कथिक-संज्ञा पुं० दे० "कत्थक"।

कथित-वि०[सं०] कहा हुआ।

संज्ञा पुं० [सं०] मृदंग के बारह प्रबंधों में से एक प्रबंध।

कथीर-संज्ञा पुं० [सं० कस्तीर, पा० कत्थीर] राँगा। हिरनखुरी राँगा। उ०—(क) कंचन केवल हरि भजन दूजी कथा कथीर। झूठा आल जँजाल तजि पकरो साँच कबीर।—कबीर। (ख) अब तो मैं ऐसा भया निरमोलिक निज नाम। पहले काच कथीर था फिरता ठामहि ठाम।—कबीर। (ग) जहँ वह बीरज पर्‌यो सुनीजै। हेम भई तहँ की सब चीजैं। ता आगे की चीजैं रूपो। होत भई पुनि लोह अनूपो। जहँ वह बीरज कोमल छायो। तहँ कथीर भो राँग सोहायो।—पद्माकर।

कथील, कथीला-संज्ञा पुं० दे० "कथीर"।

कथोद्घात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रस्तावना। कथाप्रारम्भ। (२) (नाटक में) सूत्रधार की बात, अथवा उसके मर्म को लेकर पहले पहल पात्र का रंगभूमि में प्रवेश और अभिनय का आरंभ। जैसे, रत्नावली में सूत्रधार की बात को दोहराते हुए यौगंधरायण का प्रवेश। सत्य हरिश्चंद्र में सूत्रधार के "जो गुन नृप हरिचंद में" इस वाक्य को सुनकर और उसके अर्थ को ग्रहण करके इंद्र का "यहाँ सत्य भय एक के" इत्यादि कहते हुए रंगभूमि में प्रवेश।

कथोपकथन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बातचीत। गुफ़्तगू। (२) वाद विवाद।

कदंब-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध वृक्ष। कदम। (२) समूह। ढेर। झुंड। उ०—(क) यहि विधि करेहु उपाय कदंबा। फिरहि तो होय प्राण अवलंबा।—तुलसी। (ख) सोहत हार हिये हीरन को हिमकर सरिस बिशाला। अंबरेख कौस्तुभ कदंब छबि पद प्रलंब बनमाला।—रघुराज।

कदंबक-संज्ञा पुं० दे० "कदंब"।

कदंबनट-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो धनाश्री, कनाड़ा, टोल, आभीरी, मधुमाध और केदार को मिलाकर बनता है। इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

कद-संज्ञा स्त्री० [अ० कद] [वि० कदी] (१) ईर्ष्या। द्वेष। शत्रुता। जैसे,—वह न जाने क्यों, हमसे कद रखता है। (२) हठ। ज़िद। जैसे,—उनको इस बात की कद हो गई है।

संज्ञा पुं० [सं० कं=जल+द+ददाति] बादल। मेघ।

अव्य० [सं० कदा] कब। किस दिन। किस समय।

क़द-संज्ञा पुं० [अ० क़द] डील। ऊँचाई।

यौ०—क़द्दे आदम=मानव शरीर के बराबर ऊँचा।

विशेष—इसका प्रयोग साधारणतः प्राणियों और पौधों के लिये ही होता है।

कदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) डेरा। (२) चँदवा। चाँदनी।

कदध्व*-संज्ञा पुं० [सं० कदध्वा] खोटा मार्ग। कुपथ। बुरा रास्ता।

कदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरण। विनाश। (२) युद्ध। संग्राम। जैसे, कदनप्रिय। (३) हिंसा। पाप। (४) दुःख। उ०—कदनविदन अकदन तुदा गहन वृजन क्लेश आहि। दुख जनि दे अब जान दे कत बैठी अनखाहि।—नंददास। (५) मारनेवाला। घातक।

विशेष—इस अर्थ में यह यौगिक वा समस्त पद के अंत में आता है। जैसे, मदनकदन, कंसकदन।

कदन्न-संज्ञा पुं० [सं०] वह अन्न जिसका खाना शास्त्रों में वर्जित वा निषिद्ध है अथवा जिसका खाना वैद्यक में अपथ्य वा स्वास्थ्य को हानिकारक माना गया है। कुत्सित अन्न। बुरा अन्न। कुअन्न मोटा अन्न। जैसे, कोदो, केसारी, मसूर।

यौ०—कदन्नभुक्। कदन्नभोजी।

कदम-संज्ञा पुं० [सं० कदंब] (१) एक सदाबहार बड़ा पेड़ जिसके पत्ते महुए के से पर उससे छोटे और चमकीले होते हैं। इसमें बरसात में गोल गोल लड्डू के से पीले फूल लगते हैं। पीले पीले किरनों के झड़ जाने पर गोल गोल हरे फल रह जाते हैं जो पकने पर कुछ कुछ लाल हो जाते हैं। ये फल स्वाद में खटमीठे होते हैं और चटनी अचार बनाने के काम में आते हैं। इसकी लकड़ी की नाव तथा और बहुत सी चीज़ें बनती हैं। प्राचीन काल में इसके फलों से एक प्रकार की मदिरा बनती थी, जिसे कादंबरी कहते थे। श्रीकृष्ण को यह पेड़ बहुत प्रिय था। वैद्यक में कदम को शीतल, भारी, विरेचक, सूखा, तथा कफ़ और वायु को बढ़ानेवाला कहा है।

पर्या०—नीप। प्रियक। हरीप्रिय। प्रावृषेण्य। वृत्तपुष्प। सुरभि। ललनाप्रिया। कर्णपूरक। महाढ्य।

(२) एक घास का नाम।

क़दम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पैर। पग। पाँव।

मुहा०—क़दम उठाना=(१) तेज चलना। जैसे,—क़दम उठाओ, दूर चलना है। (२) उन्नति करना। क़दम उठाकर चलना=तेज वा शीघ्र चलना। क़दम चूमना=अत्यंत आदर करना। जैसे,—अगर तुम यह काम कर दो तो तुम्हारे क़दम चूम लूँ।

क़दम छूना=(१) पैर पकड़ना। दंडवत करना। प्रणाम करना। (२) शपथ खाना। जैसे,—आपके क़दम छू कर कहता हूँ, मेरा उससे कोई संबंध नहीं है। (३) विनती करना। खुशामद करना। जैसे,—वह बार बार क़दम छूने लगा, तब मैंने उसे छोड़ दिया। (४) बड़ा वा गुरु मानना। गुरु बनाना। क़दम पकड़ना वा लेना=(१) पैर पकड़ना। प्रणाम करना। आदर से पैर लगना। (२) बड़ा वा गुरु मानना। आदर करना। (३) विनती करना। खुशामद करना। क़दम बढ़ाना वा क़दम आगे बढ़ाना=(१) तेज़ चलना। (२) उन्नति करना। क़दम रखना=प्रवेश करना। दाखिल होना। पैर रखना।

मुहा०—क़दम ब क़दम चलना=(१) साथ साथ चलना। (२) अनुकरण करना। क़दम भरना=चलना। डग बढ़ाना।

(३) धूल वा कीचड़ में बना हुआ पैर का चिह्न।

मुहा०—क़दम पर क़दम रखना=(१) ठीक पीछे पीछे चलना। पीछे लगना। (२) अनुकरण करना। नक़ल करना। पैरवी करना।

(४) चलने में एक पैर से दूसरे पैर तक का अंतर। पैंड। पग। फाल। जैसे,—वह जगह यहाँ से १०० क़दम होगी।

(५) घोड़े की एक चाल जिसमें केवल पैरों में गति होती है और पैर बिलकुल नपे हुये और थोड़ी थोड़ी दूर पर पड़ते हैं। इसमें सवार के बदन पर कुछ भी झटका नहीं पहुँचता। क़दम चलाने के लिये बाग खूब कड़ी रखनी पड़ती है।

क्रि० प्र०—निकालना=क़दम की चाल सिखाना।

क़दमचा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) पैर रखने का स्थान। (२) पाखाने की वे खुड्डियाँ जिन पर पैर रखकर बैठते हैं। खुड्डी।

क़दमबाज़—वि० [अ०] क़दम की चाल चलनेवाला (घोड़ा)।

कदमा—संज्ञा स्त्री० [हिं० कदम] एक प्रकार की मिठाई जो कदंब के फूल के आकार की बनती है।

कदर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लकड़ी चीरने का आरा। (२) अंकुश। (३) वह गाँठ जो हाथ वा पैर में काँटा वा कंकड़ी चुभने से पड़ जाती है और कड़ी होकर बढ़ती है। चाँई। टाँकी। गोखरू। (४) सफ़ेद खैर।

क़दर—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मान। मात्रा। मिक़दार। जैसे,—तुम्हारे पास इस क़दर रुपया है कि तुम एक अच्छा रोज़गार खड़ा कर सकते हो। (२) मान। प्रतिष्ठा। बड़ाई। आदर सत्कार जैसे,—(क) उस दरबार में उनकी बड़ी क़दर है। (ख) तुम्हारे यहाँ चीज़ों की क़दर नहीं है।

यौ०—क़दरदान। बेक़दर।

कदरई*—संज्ञा स्त्री० [हिं० कादर] कायरपन।

कदरज—संज्ञा पुं० [सं० कदर्य्य] एक प्रसिद्ध पापी। उ०—गणिका अरु कदरज ते जग महँ अघ न करत उबर्‌यो। तिनको चरित पवित्र जानि हरि निज हर भवन धर्‌यौ।—तुलसी।

वि० दे० "कदर्य्य"।

क़दरदान—वि० [फ़ा०] क़दर करनेवाला। गुणग्राही। गुणग्राहक।

क़दरदानी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] गुणग्राहकता।

कदरमस*—संज्ञा स्त्री० [सं० कदन+हिं० मस (प्रत्य०)] मारपीट। लड़ाई। उ०—आवहु करहु कदरमस साजू। चढ़हिं बजाय जहाँ लह राजू।—जायसी।

कदराई—संज्ञा स्त्री० [हिं० कादर+ई० (प्रत्य०)] कायरपन। भीरुता। कायरता। उ०—भृगुपति केरि गर्व गरुआई। सुर मुनिवरन केरि कदराई।—तुलसी।

कदराना*—क्रि० अ० [हिं० कादर] कायर होना। डरना। भयभीत होना। कचियाना। उ०—(क) समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई।—तुलसी। (ख) तात प्रेमवश जनि कदराहू। समुझि हृदय परिणाम उछाहू।—तुलसी।

कदरी—संज्ञा स्त्री० [सं० कद—बुरा+रव—शब्द] एक पक्षी जो डील डौल में मैना के बराबर होता है। उ०—(क) धरी परेवा पाँडुक हेरी। कोहा कदरी उतर दगेरी।—जायसी। (ख) सब छोड़ो बात तूती औ कदरी व लाल की। यारो कुछ अपनी फ़िक्र करो आटे दाल की।—नज़ीर।

कदर्थ—संज्ञा पुं० [सं०] निकम्मी वस्तु। कूड़ा करकट।

वि० कुत्सित। बुरा।

कदर्थना—संज्ञा स्त्री० [सं० कदर्थन] [वि० कदर्थित] दुर्गति। दुर्दशा। बुरी दशा। उ०—हा हा करै तुलसी दयानिधान राम ऐसी काशी की कदर्थना कराल कलिकाल की।—तुलसी।

कदर्थित—वि० [सं०] (१) जिसकी बुरी दशा की गई हो। दुर्गति-प्राप्त। (२) जिसकी विडंबना की गई हो। जिसकी खूब गति बनाई गई हो। जैसे,—वे उस सभा में खूब कदर्थित किए गए।

कदर्य—वि० [सं०] [संज्ञा कदर्यता] जो स्वयं कष्ट उठा कर और अपने परिवार को कष्ट देकर धन इकट्ठा करे। कंजूस। मक्खीचूस।

कदर्यता—संज्ञा स्त्री० [सं०] कंजूसी। सूमपन।

कदली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केला। (२) एक पेड़ जो बरमा और आसाम में बहुत होता है। इसकी लकड़ी जहाज़ बनाने में बहुत काम आती है। इसके पेड़ सड़कों के किनारे लगाए जाते हैं। (३) काले और लाल रंग का एक हिरन जिसका स्थान महाभारत आदि में कंबोज देश लिखा गया है।

कदा—क्रि० वि० [सं०] कब। किस समय।

मुहा०—यदा कदा=कभी कभी। अनिश्चित समय पर।

कदाकार—वि० [सं०] बुरे आकार का। बदसूरत।

कदाख्य—वि० [सं०] बदनाम।

कदाच*—क्रि० वि० [सं० कदाचन] शायद। कदाचित्। उ०—कौन समौ इन बातन को रण राम दहै घर में पदरानी। राम के

हाथ मरे दशकंधर तैं यह बात सु काहे ते जानी। और कदाच बने यहि भाँति तो आज बने कहु कौन सी हानी। देह छुटे हू न सीय छुटी चलिहै जग में युग चार कहानी। —हनुमान।

कदाचन–क्रि० वि० [सं०] (१) किसी समय। कभी। (२) शायद।

कदाचार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कदाचारी] बुरी चाल। बुरा आचरण। बदचलनी।

कदाचित्–क्रि० वि० [सं०] कभी। शायद कभी। शायद।

कदापि–क्रि० वि० [सं०] कभी भी। किसी समय। हर्गिज़।

विशेष—इसका प्रयोग निषेधार्थक शब्द 'न' वा 'नहीं' के साथ ही होता है। जैसे,—ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

क़दामत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) प्राचीनता। पुरानापन। (२) प्राचीन काल। सनातन।

कदी–वि० [अ० कद=हठ] हठी। ज़िद्दी।

कदीम–वि० [अ०] पुराना। प्राचीन। पुरातन।

संज्ञा पुं० लोहे के छड़ जो जहाज़ों में बोझ इत्यादि उठाने के काम में आते हैं। (लश०)।

कदुष्ण–वि० [सं०] इतना गर्म कि जिसके छूने से त्वचा न जले। थोड़ा गर्म। शरीरगर्म। सीतगरम। कोसा।

कदूरत–संज्ञा पुं० [अ०] रंजिश। मनमोटाव। कीना।

क्रि० प्र०—आना।—रखना।—होना।

क़द्दावर–वि० [फ़ा०] बड़े डील डौल का। लंबा चौड़ा।

कद्दी–वि० दे० "कदी"।

कद्रुज–संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। नाग। साँप।

कद्दू–संज्ञा पुं० [फ़ा० कदू] (१) लौकी। लौवा। घिया। गड़ेरू। (२) लिंग (बाज़ारू)।

कद्दूकश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] लोहे पीतल आदि की एक छोटी सी चौकी जिसमें ऐसे लंबे छेद होते हैं, जिनका एक किनारा उठा और दूसरा दबा होता है। इस पर कद्दू को रगड़-कर रायते आदि के लिये उसके महीन टुकड़े करते हैं।

कद्दूदाना–संज्ञा पुं० [फ़ा०] पेट के भीतर के छोटे छोटे सफ़ेद कीड़े जो मल के साथ गिरते हैं।

कद्रू–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार कश्यप की एक स्त्री जिससे सर्प पैदा हुए थे।

यौ०—कद्रुज=सर्प।

कधी–क्रि० वि० [हिं० कद+ही (प्रत्य०)] कभी। किसी समय।

यौ०—कधी कधार=कभी कभी। भूले भटके।

कन–संज्ञा पुं० [सं० कण] (१) किसी वस्तु का बहुत छोटा टुकड़ा। ज़र्रा। (२) अन्न का एक दाना। (३) अन्न की किनकी। अनाज के दाने का टुकड़ा। (४) प्रसाद। जूठन। (५) भीख। भिक्षान्न। उ०—कन दैव्यो सौंप्यो ससुर बहू थोरहथी जान। रूप रहचटे लगि लग्यौ माँगन सब जग आन।—बिहारी। (६) बूँद। क़तरा। उ०—निज पद जलज बिलोकि सोक रत नयननि वारि रहत न एक छन। मनहु नील नीरज ससि संभव रवि वियोग दोउ श्रवत सुधा कन।—तुलसी। (७) चावलों की धूल। कना जैसे,—इन चावलों में बहुत कन है। (८) बालू वा रेत के कण। उ०—अरु कन के माला कर अपने कौने गूँथ बनाई ?—सूर। (९) कनखे वा कली का महीन अंकुर जो पहले रवे के ऐसा दिखाई पड़ता है। (१०) शारीरिक शक्ति। हीर। सत। जैसे,—चार महीने की बीमारी से उनके शरीर में कन नहीं रहा। (११) कान का संक्षिप्त रूप जो यौगिक शब्दों में आता है। जैसे—कनपेड़ा, कनपटी, कनछेदन, कनटोप।

कनई†–संज्ञा स्त्री० [सं० कांड वा कंदल] कनखा। नई शाखा। कल्ला। कोंपल।

†संज्ञा स्त्री० [हिं० काँदव] गीली मिट्टी। गिलावा। हीला। कीचड़।

कनउँगली–संज्ञा स्त्री० [सं० कनीयान, हिं० कानी+हिं० उंगली] कानी उँगली। सबसे छोटी उँगली। कनिष्ठिका।

कनउड़*–वि० दे० "कनौड़ा"। उ०—हमें आजु लग कनउड़ काहु न कीन्हेंउ। पारवती तप प्रेम मोल मोहिं लीन्हेंउ।—तुलसी।

कनक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। सुवर्ण। स्वर्ण।

यौ०—कनककदली। कनककार। कनकक्षार। कनकाचल।

(२) धतूरा। उ०—कनक कनक ते सौ गुनो मादकता अधिकाय।—बिहारी। (३) पलाश। टेसू। ढाक। (४) नागकेसर। (५) खजूर। (६) छप्पय छंद का एक भेद।

संज्ञा पुं० [सं० कणिक=गेहूँ का आटा] (१) गेहूँ का आटा। कनिक। (२) गेहूँ।

कनककदली–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का केला।

कनककली–संज्ञा पुं० [सं०] कनक+हिं० कली] कान में पहनने का एक गहना। लौंग। उ०—चौतनी सिरन, कनककली कानन कटिपट पीत सोहाये। उर मणिमाल विशाल विलोचन सीय स्वयंवर आये।—तुलसी।

कनककशिपु–संज्ञा पुं० दे० "हिरण्यकशिपु"।

कनकक्षार–संज्ञा पु० [सं०] सोहागा।

कनकचंपा–संज्ञा पुं० [सं० कनक+हिं० चंपा] मध्यम आकार का एक पेड़ जिसकी छाल खाकी रंग की होती है। इसकी टहनियों और फल के दलों के नीचे की हरी कटोरी रोएँदार होती है। इसके पत्ते बड़े और कुम्हड़े, ननुए आदि की तरह के होते हैं। फल इसके ख़ूब सफ़ेद और मीठी सुगंध के होते हैं। यह दलदलों में प्राय: होता है। बसंत और ग्रीष्म में फूलता है। इसकी लकड़ी के तख़्ते मज़बूत और अच्छे होते हैं। इसे कनिआरी भी कहते हैं।

कनकजीरा-संज्ञा पुं० [सं० कनक+हिं० जीरा] **एक प्रकार का महीन धान जो अगहन में तैयार होता है। इसका चावल बहुत दिनों तक रह सकता है।**

कनकटा-वि० [हिं० कान+कटना] (१) **जिसका कान कटा हो। बूचा।** (२) **कान काट लेनेवाला। जैसे,—वह कनकटा आया, नटखटी मत करो। (लड़कों को डराने के लिये कहते हैं।)**

कनकटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कान+काटना] **कान के पीछे का एक रोग जिसमें कान का पिछला भाग जड़ के निकट लाल हो कर कट जाता है और उसमें जलन और खुजली होती है।**

कन-कना-वि० [हिं० कन+—क—ना (प्रत्य०)] **ज़रा से आघात से टूट जानेवाला। 'चीमड़' का उलटा। उ०—नेहिन के मन काँच से अधिक कनकने आँइ। दग ठोकर के लगत ही टूक टूक ह्वै जाँइ।—रसनिधि।**

कनकना-वि० [हिं० कनकनाना] [स्त्री० कनकनी] (१) **जिससे कनकनाहट उत्पन्न हो।** (२) **चुनचुनानेवाला।** (३) **अरुचिकर। नागवार।** (४) **चिड़चिड़ा। थोड़ी बात पर चिढ़नेवाला।**

कनकनाना-क्रि० अ० [हिं० काँद, पुं० हिं० कान] [संज्ञा कनकनाहट] (१) **सूरन, अरवी आदि वस्तुओं के स्पर्श से मुँह हाथ आदि अंगों में एक प्रकार की वेदना या चुनचुनाहट प्रतीत होना। चुनचुनाना। जैसे,—सूरन खाने से गला कनकनाता है।** (२) **चुनचुनाहट वा कनकनाहट उत्पन्न करना। गला काटना। जैसे,—बासुकी सूरन बहुत कनकनाता है।** (३) **अरुचिकर लगना। नागवार मालूम होना। जैसे,—हमारी बातें तुम्हें बहुत कनकनाती हैं।**

क्रि० अ० [हिं० कना] (१) **कान खड़ा करना। चौकन्ना होना। जैसे,—पैर की आहट पाते ही हिरन कनकनाकर खड़ा हुआ।** (२) **गनगनाना। रोमांचित होना।**

कनकनाहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० कनकनाना] **कनकनाने का भाव। कनकनी।**

कनकफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) **धतूरे का फल।** (२) **जमालगोटा।**

कनकसेन-संज्ञा पुं० [सं०] **एक राजा जिन्होंने सन् २०० ई० में वल्लभी संवत् चलाया था और जो मेवाड़ वंश के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं।**

कनकाचल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) **सोने का पर्वत।** (२) **सुमेरु पर्वत।**

कनकानी-संज्ञा पुं० [देश०] **घोड़े की एक जाति। इस जाति के घोड़े डील डौल में गधे से कुछ ही बड़े होते हैं और बड़े कदमबाज़ और तेज़ होते हैं। उ०—चले सहस बैसक सुलतानी। तीख तुरंग बाँक कनकानी।—जायसी।**

कनकी-संज्ञा स्त्री० [सं० कणिक] (१) **चावलों के टूटे हुए छोटे छोटे टुकड़े।** (२) **छोटा कण।**

कनकूत-संज्ञा पुं० [सं० कण+हिं० कूत] **बँटाई का एक ढंग जिसमें खेत में खड़ी फ़सिल की उपज का अनुमान किया जाता है और किसान को उस अटकल के अनुसार उपज का भाग वा उसका मूल्य ज़मींदार को देना पड़ता है। यह कनकूत या तो ज़मींदार स्वयं वा उसका नौकर अथवा कोई तीसरा करता है।**

कनकैया†-संज्ञा स्त्री० दे० **"कनकौवा"।**

कनकौवा-संज्ञा पुं० [हिं० कन्ना+कौवा] **काग़ज़ की बड़ी पतंग। गुड्डी।**

क्रि० प्र०—उड़ाना।—काटना।—बढ़ाना। लड़ाना।

मुहा०—कनकौवा काटना=किसी बढ़ी हुई पतंग की डोरी को अपनी बढ़ी हुई पतंग की डोरी से रगड़कर काटना। **कनकौवा लड़ाना**=किसी बढ़ी हुई पतंग की डोरी में अपनी बढ़ी हुई पतंग की डोरी को फँसाना जिसमें रगड़ खाकर दोनों में से कोई पतंग कट जाय। **कनकौवा बढ़ाना**=कनकौवे की डोर ढीली करना जिसमें वह हवा में और ऊपर या आगे जा सके।

यौ०—कनकौवे-बाज़ी।

कनखजूरा-संज्ञा पुं० [हिं० कान+खर्जू=एक कीड़ा] **लगभग एक बालिश्त का एक ज़हरीला कीड़ा जिसके बहुत से पैर होते हैं। इसकी पीठ पर बहुत से गंडे पड़े रहते हैं। यह कई रंगों का होता है। लाल मुँहवाले बड़े और ज़हरीले होते हैं। कनखजूरा काटता भी है और शरीर में पैर गड़ाकर चिपट भी जाता है। इसे गोजर भी कहते हैं।**

कनखियां†-संज्ञा स्त्री० दे० **"कनखी"।**

कनखियाना-क्रि० स० [हिं० कनखी] (१) **कनखी से देखना। तिरछी नज़र से देखना।** (२) **आँख से इशारा करना। कनखी मारना।**

कनखी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कोन+आँख] (१) **पुतली को आँख के कोने पर ले जाकर ताकने की मुद्रा। इस प्रकार ताकने की क्रिया कि औरों को मालूम न हो। दूसरों की दृष्टि बचा-कर देखने का ढंग। उ०—(क) देह लग्यो ढिग गेहपति तऊ नेह निरबाहि। ढीली अँखियन ही इतै गई कन-खियन चाहि।—बिहारी। (ख) ललचौहैं, लजौहैं, हँसौहैं चितै हित सों चित चाय बढ़ाय रही। कनखी करिके पग सों परि कै फिर सूने निकेत में जाय रही।—भिखारी-दास।** (२) **आँख का इशारा।**

क्रि० प्र०—देखना।—मारना।

मुहा०—कनखी मारना=(१) आँख से इशारा करना। (२) आँख के इशारे से किसी को कोई काम करने से रोकना। **कनखियों लगना**=छिपकर देखना। ताकना। भाँपना। **उ०—धुनि किंकिनि होत जगैंगी सबै सुक सारिका चौंकि चितै परिहैं। कनखैयन लागि रही हैं परोसिन सो सिसकी सुनि कै डरिहैं।—लाल।**

कनखुरा–संज्ञा पुं० [देश०] रीहा नाम की घास जो आसाम देश में बहुत होती है। बंगाल में इसे 'करकुंड' भी कहते हैं।

कनखैया*‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० कनखी] तिरछी नज़र।

क्रि० प्र०—देखना।—लगना।—निहारना।—हेरना।

मुहा०—कनखैयन लगाना—छिपकर देखना। ताड़ना। भाँपना। उ०—धुनि किंकिनि होति जगैगी सबै सुक सारिका चौकि चितै परिहैं। कनखैयन लागि रही हैं परोसिन सो सिसकी सुनि कै डरिहैं।—लाल।

कनगुरिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० कानी+अँगुरी या अँगुरिया] कनिष्ठिका उँगली। सब से छोटी उँगली। छिगुनिया। छिंगुली। उ०—अब जीवन की है कपि आस न कोइ। कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ।—तुलसी।

कनछेदन–संज्ञा पुं० [हिं० कान+छेदना] हिंदुओं का एक संस्कार जो प्रायः मुंडन के साथ होता है और जिसमें बच्चों का कान छेदा जाता है। कर्णवेध।

कनटोप–संज्ञा० पुं० [हिं० कान+टोप वा तोपना] कानों को ढँकनेवाली टोपी।

कनधार*–संज्ञा पुं० [सं० कर्णधार] मल्लाह। केवट। खेनेवाला। उ०—जाके होय ऐस कनधारा। तुरत बेगि सो पावै पारा।—जायसी।

कनपट–संज्ञा पुं० दे० "कनपटी"।

कनपटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कान+सं० पट] कान और आँख के बीच का स्थान।

कनपेड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० कान+पेड़ा] कान का एक रोग जिसमें कान की जड़ के पास चिपटी गिल्टी निकल आती है। यह गिल्टी पक भी जाती है।

कनफटा–संज्ञा पुं० [हिं० कान+फटना] गोरखनाथ के अनुयायी योगी जो कानों को फड़वाकर उनमें बिल्लौर, मिट्टी, लकड़ी आदि की मुद्राएँ पहनते हैं।

वि० जिसका कान फटा हो।

कनफूँका–वि० [हिं०कान+फूँकना] [स्त्री० कनफुँकी] (१) कान फूँकनेवाला। दीक्षा देनेवाला। उ०—कनफुँकवा गुरु हद का बेहद का गुरु और। बेहद का गुर हद मिलै, लहै ठिकाना ठौर।—कबीर। (२) जिसका कान फूँका गया हो। जिसने दीक्षा ली हो। जैसे,—कनफुँका चेला।

संज्ञा पुं० (१) कान फूँकनेवाला गुरु। (२) कान फुँकानेवाला चेला।

कनफुँकवा†–वि० दे० "कनफुँका"।

कनफुसका–संज्ञा पुं० [हिं० कान+फुसकना] [स्त्री० कनफुसकी] (१) फुस फुस करनेवाला। कान में धीरे से बात कहनेवाला। (२) चुगुलखोर। पीठ पीछे धीरे धीरे लोगों की बुराई करनेवाला।

कनफुसकी†–संज्ञा स्त्री० दे० "कानाफूसी"।

कनफूल†–संज्ञा पुं० [हिं० कान+फूल] फूल के आकार का कान का गहना। तरवन।

कनफेड़†–संज्ञा पुं० दे० "कनपेड़ा"।

कनफोड़ा–संज्ञा पुं० [सं० कर्णस्फोटा] एक लता जो दवा के काम में आती है। यह खाने में कड़ुई और गुण में ठंडी और विषघ्न होती है।

पर्या०—त्रिपुटा। चित्रपर्णी। कोपलता। चंद्रिका।

कनबिधा–संज्ञा पुं० [हिं० कान+बेधना] (१) कान छेदनेवाला। (२) जिसका कान छेदा हुआ हो।

कनभेंड़ी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का सन का पौधा जो अमेरिका से भारत में लाया गया है। बंबई प्रांत में इसकी खेती बहुत होती है। इसको "वनभेंडी" भी कहते हैं। यह अब प्रायः हर जगह होता है। इसके रेशे आठ नौ फुट लंबे होते हैं और पटसन से कुछ घटिया होते हैं। इसके पत्ते, फल और फूल भिंडी की तरह होते हैं।

कनयून–संज्ञा पुं० [सं० कण+सं० ऊन] एक प्रकार का सफ़ेद काश्मीरी चावल जो उत्तम समझा जाता है।

कनरई–संज्ञा स्त्री० [देश०] गुल्लू नाम का पेड़ जिससे कतीरा निकलता है। दे० "गुल्लू"।

कनरश्याम–संज्ञा पुं० [हिं० कान्हड़ा+श्याम] संपूर्ण जाति का एक संकर राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

कनरस–संज्ञा पुं० [हिं० कान+रस] (१) संगीत का स्वाद। गाना बजाना सुनने का आनंद। (२) गाना बजाना या बात सुनने का व्यसन। संगीत की रुचि।

कनरसिया–संज्ञा पुं० [हिं० कान+हिं० रसिया] गाना बजाना सुनने का शौक़ीन। संगीतप्रिय। नादप्रिय।

कनवई†–संज्ञा स्त्री० [सं० कण] सेर का सोलहवाँ भाग। छटाँक।

कनवाँसा–संज्ञा पुं० [सं० कन्या+वंश। फ़ा० नवासा] [स्त्री० कनवाँसी] दौहित्र का पुत्र। नाती वा नवासे का पुत्र।

कनवा†–संज्ञा पुं० दे० "कनवई"।

कनवास–संज्ञा पुं० [अं० कनवस] एक मोटा कपड़ा जिससे नावों के पाल और जूते आदि बनते हैं। यह सन या पटसन से बनता है।

कनवी–संज्ञा स्त्री० [सं० कण, हिं० कन] एक प्रकार की कपास जिसके बिनौले बहुत छोटे होते हैं। यह गुजरात में होती है।

कनवोकेशन–संज्ञा स्त्री० [अं०] यूनीवर्सिटी का वह सालाना जलसा जिसमें बी० ए० आदि की उपाधि-परीक्षा में उत्तीर्ण ग्रेजुएटों को डिपलोमा आदि दिए जाते हैं। विश्वविद्यालय के वार्षिक पदवी-दान का महोत्सव।

कनसलाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० कान+हिं० सलाई] (१) कनखजूरे की तरह का एक छोटा कीड़ा। छोटा कनखजूरा। (२) कुश्ती का एक पेंच। जब विपक्षी के दोनों हाथ खिलाड़ी की

कमर पर होते हैं और वह पेट के नीचे झुका होता है, तब खिलाड़ी अपना एक हाथ उसकी बगल में ले जाकर उसकी गर्दन पर चढ़ाता है और अपने धड़ को मरोड़ता हुआ उसे टाँग मारकर चित्त कर देता है।

कनसाल-संज्ञा पुं० [हिं० कान+सालना] चारपाई के पायों के वे छेद जो छेदते समय कुछ तिरछे हो जायँ और जिनके तिरछेपन के कारण चारपाई में कनेव आ जाय।

कनसार-संज्ञा पुं० [हिं० काँसा+आर (प्रत्य०)] ताम्रपत्र पर लेख खोदनेवाला।

कनसुई-संज्ञा स्त्री० [हिं० कान+सुनना] आहट। टोह।

मुहा०—कनसुई वा कनसुइयाँ लेना=(१) छिपकर किसी की बात सुनना। अकनना। (२) भेद लेना। टोह लेना। आहट लेना। (३) सगुन विचारना।

विशेष—स्त्रियाँ चलनी में गोबर की गौर रखकर पृथिवी पर फेंकती हैं। यदि वह गौर सीधी गिरती है तो सगुन मानती हैं और यदि उलटी या बेंड़ी गिरती है तो असगुन। उ०—लेत फिरत कनसुई सगुन सुभ बूझत गनक बुलाइ के। सुनि अनुकूल मुदित मन मानहुँ धरत धीरजहिं धाइ के।—तुलसी।

कनस्तर-संज्ञा पुं० [अं० कनिस्टर] टीन का चौखूँटा पीपा जिसमें घी तेल आदि रक्खा जाता है।

कनहा-संज्ञा पुं० [हिं० कन=अनाज+हा (प्रत्य०)] फ़सल कूतनेवाला कर्म्मचारी।

कनहार*-संज्ञा पुं० [सं० कर्णधार, प्रा० कण्णहार] पतवार पकड़नेवाला मल्लाह। केवट। उ०—रामबाहुबल सिंधु अपारू। चहत पार, नहिं कोउ कनहारू।—तुलसी।

कना-संज्ञा पुं० [सं० कण] दे० "कन"।

संज्ञा पुं० [सं० कांड] सरकंडा। सरपत।

कनाई-संज्ञा स्त्री० [सं० कांड] (१) वृक्ष वा पौधे की पतली डाल वा शाखा। (२) कल्ला। टहनी।

क्रि० प्र०—निकलना।—फूटना।

मुहा०—कनाई काटना=(१) रास्ता काटकर दूसरे रास्ते निकल जाना। सामना बचाकर दूसरा रास्ता पकड़ना। (२) किसी काम के लिये कहकर मौके पर निकल जाना। चालबाज़ी करना।

(३) पगहे के गेराँव के वे दोनों भाग जिन्हें मिलाकर जानवर बाँधे जाते हैं। (४) आल्हा की किसी एक घटना का वर्णन।

कनाउड़ा*-वि० दे० "कनौड़ा"। उ०—प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचान। जाचक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि।—तुलसी।

कनागत-संज्ञा पुं० [सं० कन्यागत] (१) क्वार के महीने का अँधेरा पाख। पितृपक्ष।

विशेष—प्रायः यह पक्ष उस समय पड़ता है जब सूर्य कन्या राशि में जाते हैं। इसी से 'कन्यागत' नाम पड़ा। इस समय श्राद्धादि पितृकर्म करना अच्छा समझा जाता है। उ०—आय कनागत फूले काँस। बाम्हन कूदें सौ सौ बाँस।

(२) श्राद्ध।

क्रि० प्र०—करना।

क़नात-संज्ञा स्त्री० [तु०] मोटे कपड़े की वह दीवार जिससे किसी स्थान को घेरकर आड़ करते हैं। उ०—तुंग मेरु मंदर सम सुंदर भूपति शिविर सोहाये। विमल विख्यात सोहात कनातन बड़ वितान छबि छाये।—रघुराज।

विशेष—इसे खड़ा करने के लिये इसमें तीन तीन चार चार हाथ पर बाँस की फट्टियाँ सिली रहती हैं जिनके सिरों पर से रस्सियाँ खींचकर यह खड़ी की जाती है।

क्रि० प्र०—खड़ी करना।—खींचना।—घेरना।—लगना।—लगाना।

कनार-संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों का ज़ुकाम (सर्दी)।

कनारा-संज्ञा पुं० [देश०] मदरास प्रांत का एक भाग।

कनारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० किनारा] दे० "किनारी"।

संज्ञा स्त्री० [हिं० कनारा+ई (प्रत्य०)] (१) मदरास प्रांत के कनारा नामक प्रदेश की भाषा। (१) कनारा का निवासी। (३) काँटा (पालकीवाले कहारों की बोली)।

कनाल-संज्ञा पुं० [देश०] पंजाब में ज़मीन की एक नाप जो घुमावँ के आठवें भाग वा बीघे की चौथाई के बराबर होती है।

कनावड़ा*-संज्ञा पुं० दे० "कनौड़ा"। उ०—बानर विभीषण की ओर को कनावड़ो है सो प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को।—तुलसी।

कनासी-संज्ञा स्त्री० [सं० कण+आशी] (१) एक रेती जिससे हुक्केवाले नारियल के हुक्के का मुँह चौड़ा करते हैं। (२) बढ़ई की रेती जिससे आरे की दाँतें निकाली वा तेज़ की जाती हैं।

कनिआरी-संज्ञा स्त्री० [सं० कर्णिकार] कनकचंपा का पेड़। उ०—अति व्याकुल भईं गोपिका ढूँढ़ति गिरधारी। बूझति हैं बन बेलि सों देखे बनवारी। जाही जूही सेवती करना कनिआरी। बेलि चमेली मालती बूझति द्रुम डारी।—सूर।

कनिक-संज्ञा स्त्री० [सं० कणिक] (१) गेहूँ। (२) गेहूँ का आटा।

कनिका*-संज्ञा पुं० [सं० कणिका] किसी वस्तु का बहुत छोटा टुकड़ा। उ०—मुख आँसू माखन के कनिका निरखि नैन सुख देत। मनु शशि श्रवत सुधा निधि मोती उडुगण अवलि समेत।—सूर।

कनिगर*-संज्ञा पुं० [हिं० कानि+फ़ा० गर] अपनी मर्य्यादा का ध्यान रखनेवाला। अपनी कीर्तिरक्षा का ध्यान रखनेवाला। अपने सुयश को रक्षित रखनेवाला। नाम की लाज रखने-

वाला। उ०—तुलसी के माथे पर हाथ फेरो कीशनाथ देखिये न दास दुखी तोसे कनिगर के।—तुलसी।

कनियाँ†–संज्ञा स्त्री० [हिं० काँध] गोद। कोरा। उछंग। उ०—सादर सुमुखि बिलोकि राम सिसु रूप अनूप भूप लिये कनियाँ।—तुलसी।

कनियाना–क्रि० अ० [हिं० कोना०, पू० हिं० कोनियाना] आँख बचा कर निकल जाना। कतराकर चला जाना। कतराना।

क्रि० अ० [हिं० कन्नी, कन्ना] पतंग का किसी ओर झुक जाना। कन्नी खाना।

† क्रि० अ० [हिं० कनिया] गोद लेना। गोद में उठाना।

कनियार–संज्ञा पु० [सं० कर्णिकार] कनकचंपा।

कनिष्ठ–वि० [सं०] [स्त्री० कनिष्ठा] (१) बहुत छोटा। अत्यंत लघु। सब से छोटा। जैसे,—कनिष्ठ भाई। (२) पीछे का। जो पीछे उत्पन्न हुआ हो। (३) उमर में छोटा। (४) हीन। निकृष्ट।

कनिष्ठा–वि० [सं०] (१) बहुत छोटी। सब से छोटी। जैसे, कनिष्ठा भगिनी। (२) हीन। निकृष्ट। नीच।

संज्ञा स्त्री० (१) दो वा कई स्त्रियों में सबसे छोटी वा पीछे की विवाहिता स्त्री। (२) नायिका भेद के अनुसार दो वा अधिक स्त्रियों में वह स्त्री जिस पर पति का प्रेम कम हो। (३) छोटी उँगली। छिगुनी। कनगुरी।

कनिष्ठिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँचों उँगलियों में से सबसे छोटी उँगली। कानी उँगली। छिगुनी।

कनी–संज्ञा स्त्री० [सं० कण] (१) छोटा टुकड़ा। किरिच। (२) हीरे का बहुत छोटा टुकड़ा जैसे,—यह कनी उसने पचास रुपए की खरीदी है।

मुहा०—कनी खाना या चाटना=हीरे की कनी निगलकर प्राण देना। हीरे की किरिच खाकर आत्मघात करना। जैसे,—अनी के बस कनी खाना।

(३) चावल के छोटे छोटे टुकड़े। किनकी। जैसे,—इस चावल में बहुत कनी है। (४) चावल का मध्य भाग जो कभी कभी नहीं गलता या पकाने पर गलने से रह जाता है। जैसे,—चावल की कनी, बर्छी की अनी। (५) बूँद। उ०—संग्राम भूमि बिराज रघुपति अतुल बल कोसलधनी। श्रम बिंदु मुख राजीव लोचन अरुण तन सोणित कनी।—तुलसी।

कनीनिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आँख की पुतली का तारा। उ०—औरे ओप कनीनिकन गनी घनी सिरताज। मनी धनी के नेह की बनी छनी पट लाज।—बिहारी। (२) कन्या।

कनु*–संज्ञा पुं० दे० "कण"।

कने†–क्रि० वि० [सं० कोण] (१) पास। ढिग। निकट। समीप। उ०—(क) मीत तुम्हारा तुम्ह कने तुमही लेहु पिछानि। दादू दूर न देखिये प्रतीबिंब ज्यों जानि।—दादू। (ख) जब आके बुढ़ापे ने किया हाय य कुछ क़हर। अब जिसके कने जाते हैं लगते हैं उसे ज़हर।—नज़ीर। (ग) बेद बिपिन बूटी बचन हरिजन किमियाकार। खरी जरी तिनके कने खोटी गहत गँवार।—विश्राम। (२) ओर। तरफ़। जैसे,—आज किस कने जाओगे?

विशेष—यद्यपि यह क्रि० वि० है, पर 'यहाँ वहाँ' आदि के समान यह संबंधकारक के साथ भी आता है। जैसे,—उनके कने।

कनेखी*–संज्ञा स्त्री० दे० "कनखी"।

कनेठा†–संज्ञा पु० [हिं० कान+एठा (प्रत्य०)] कातर में लगी हुई वह लकड़ी जो कोल्हू से रगड़ खाती हुई उसके चारों ओर घूमती है। कान।

वि० [हिं० काना+एठा (प्रत्य०)] (१) काना। (२) भेंगा। ऐंचा ताना।

विशेष—यह काना शब्द के साथ प्रायः आता है। जैसे, काना कनेठा।

कनेठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कान+ऐंठना] कान मरोड़ने की सज़ा। गोशमाली। कान उमेठना।

क्रि० प्र०—खाना।—देना।—लगना।—लगाना।

कनेती–संज्ञा स्त्री० [देश०] दलालों की बोली में "रुपया"।

कनेर–संज्ञा पु० [सं० कणेर] एक पेड़ जिसकी पत्तियाँ एक एक बित्ता लंबी और आध अंगुल से एक अंगुल तक चौड़ी और नुकीली होती हैं। ये कड़ी, चिकनी और गहरे हरे रंग की होती हैं तथा दो दो पत्तियाँ एक साथ आमने सामने निकलती हैं। डाल में से सफ़ेद दूध निकलता है। फूलों के विचार से यह दो प्रकार का है, सफ़ेद फूल का कनेर और लाल फूल का कनेर। दोनों प्रकार के कनेर सदा फूलते रहते हैं और बड़े विषैले होते हैं। सफ़ेद फूल का कनेर अधिक विषैला माना जाता है। फूलों के झड़ जाने पर आठ दस अंगुल लंबी पतली पतली फलियाँ लगती हैं। फलियों के पकने पर उनके भीतर से बहुत छोटे छोटे बीज मदार की तरह रूई में लगे निकलते हैं। कनेर घोड़ों के लिये बड़ा भयंकर विष है; इसीलिये संस्कृत कोषों में इसके अश्वघ्न, हयमार, तुरंगारि आदि नाम मिलते हैं। एक और पेड़ होता है जिसकी पत्तियाँ और फल कनेर ही के ऐसे होते हैं। उसे भी कनेर कहते हैं, पर उसकी पत्तियाँ पतली, छोटी और अधिक चमकीली होती हैं। फूल भी बड़ा और पीले रंग का होता है। फूलों के गिर जाने पर उसमें गोल गोल फल लगते हैं जिनके भीतर गोल गोल चिपटे बीज निकलते हैं।

वैद्यक में दो प्रकार के और कनेर लिखे हैं—एक गुलाबी फूल का, दूसरा काले फूल का। गुलाबी फूलवाले कनेर को लाल कनेर ही के अंतर्गत समझना चाहिए; पर काले रंग का कनेर सिवाय निघंटुरत्नाकर ग्रंथ के और कहीं देखने या सुनने में नहीं आया है। वैद्यक में कनेर गरम, कृमिनाशक

तथा घाव, कोढ़ और फोड़े फुंसी आदि को दूर करनेवाला माना गया है।

पर्या०—करवीर। शतकुंभ। अश्वमारक। शतकुंद। स्थल-कुमुद। शंकुद्र। चंडात। लगुड। भूतद्रावी।

कनेरिया—वि०। [हिं० कनेर] कनेर के फूल के रंग का। कुछ श्यामता लिए लाल रंग का।

कनेव—संज्ञा पुं० [हिं० कोन+एव] चारपाई का टेढ़ापन।

विशेष—यह टेढ़ापन दो कारणों से होता है। एक तो पायों के छेद टेढ़े होने से चारपाई सालने में कनी हो जाती है। दूसरे बुनते समय ताने के छोटे रखने से चारपाई में कनेव पड़ जाता है।

क्रि० प्र०—निकलना।—पड़ना।

मुहा०—कनेव छेदना=पाये के छेदों को टेढ़ा छेदना जिससे चारपाई कन्नी हो जाय। जैसे,—बढ़ई ने पायों को कनेव छेदा है।

कनोतर—वि० [हिं० कोन=नौ सं० उत्तर] दलालों की बोली में 'उन्नीस'।

कनौजिया—वि० [हिं० कन्नौज+इया (प्रत्य०)] (१) कन्नौज-निवासी। (२) जिसके पूर्वज कन्नौज के रहनेवाले रहे हों वा कन्नौज से आए हों। जैसे, कन्नौजिया ब्राह्मण, कनौजिया नाऊ, कनौजिया भड़भूँजा।

संज्ञा पुं० कनौजिया ब्राह्मण।

कनौठा—संज्ञा पुं० [हिं० कोन+औठा (प्रत्य०)] (१) कोना। (२) बग़ल। किनारा।

संज्ञा पुं० [सं० कनिष्ठ] (१) भाई बंधु। (२) पट्टीदार।

कनौड़ा—वि० [हिं० काना+औड़ा (प्रत्य०)] (१) काना। (२) जिसका कोई अंग खंडित हो। अपंग। खोंड़ा। जैसे,—हाथ पाँव से कनौड़ा कर दिया। (३) कलंकित। निंदित। बदनाम। उ०—जेहि सुख हित हम भईं कनौड़ी। सो सुख अब लूटत है लौंड़ी।—विश्राम। (४) क्षुद्र। तुच्छ। दीन हीन। नीच। हेठा। उ०—प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि। जाचक जगत कनावड़ो कियो कनौड़ी दानि।—तुलसी। (५) लज्जित। संकुचित। शरमिंदा। उ०—सुरत सुरत कैसे दुरत? मुरत नैन जुरि नीठ। डौंड़ी दै गुन रावरे, कहत कनौड़ी डीठ।—विहारी। (६) दबैल। एहसानमंद। उपकृत। उ०—कपि सेवा बस भयो कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ। देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ।—तुलसी।

कनौती—संज्ञा स्त्री० [हिं० कान+औती (प्रत्य०)] (१) पशुओं के कान वा उनके कानों की नोक। उ०—उस दिन जो मैं हरियाली देखने को गया था, वहाँ जो मेरे सामने एक हिरनी कनौतियाँ उठाए हुए हो गई थी, उसके पीछे मैंने घोड़ा बगछुट फेंका था।—इंशाअल्ला खाँ।

क्रि० प्र०—उठाना।

मुहा०—कनौतियाँ उठाना वा खड़ा करना=कान खड़ा करना। चौकन्ना होना।

(२) कानों के उठाने वा उठाए रखने का ढंग। जैसे,—इस घोड़े की कनौती बहुत अच्छी है।

मुहा०—कनौतियाँ बदलना=(१) कानों को खड़ा करना। (२) चौकन्ना होना। चौंककर सावधान होना।

(३) कान में पहनने की बाली। मुरकी।

कन्नड़श्याम—संज्ञा पुं० दे० "कनरश्याम"।

कन्ना—संज्ञा पुं० [सं० कर्ण, प्रा० कण्ड] [स्त्री० कन्नी] (१) पतंग का वह डोरा जिसका एक छोर काँप औ ठड्ढे के मेल पर और दूसरा पुछल्ले के कुछ ऊपर बाँधा जाता है। इस तागे के ठीक बीच में उड़ानेवाली डोर बाँधी जाती है।

क्रि० प्र०—बाँधना।—लगाना।

मुहा०—कन्ने ढीले होना वा पड़ना=(१) थक जाना। शिथिल होना। ढीला पड़ना। (२) ज़ोर का टूटना। शक्ति और गर्व न रहना। मान मर्दन होना।

(२) पतंग का छेद जिसमें कन्ना बाँधा जाता है।

क्रि० प्र०—छेदना।

(३) किनारा। कोर। औंठ। (४) जूते के पंजे का किनारा। जैसे,—मेरे जूते का कन्ना निकल गया है। (५) कोल्हू की कातर के एक छोर के दोनों ओर लगी हुई लकड़ियाँ जो कोल्हू से भिड़ी रहती हैं और उससे रगड़ खाती हुई घूमती हैं। इन लकड़ियों में एक छोटी और दूसरी बड़ी होती है।

संज्ञा पुं० [सं० कण] चावल का कन।

संज्ञा पुं० [सं० कर्णक=वनस्पति का एक रोग, प्रा० कण्णअ] वनस्पति का एक रोग जिससे उसकी लकड़ी तथा फल आदि में कीड़े पड़ जाते हैं, लकड़ी वा फल खोखले होकर तथा सड़कर बेकाम हो जाते हैं।

वि० [स्त्री० कन्नी] (लकड़ी वा फल) जिसमें कन्ना लगा हो। काना। जैसे,—कन्ना भंटा, कन्नी ऊँख।

कन्नासी—संज्ञा स्त्री० दे० "कनासी"।

कन्नी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कन्ना] (१) पतंग वा कनकौए के दोनों ओर के किनारे।

मुहा०—कन्नी खाना वा मारना=पतंग का उड़ते समय किसी ओर झुका रहना। पतंग का एक ओर झुककर उड़ना। (इस प्रकार उड़ने से पतंग बढ़ नहीं सकती।)

(२) वह धज्जी जो पतंग की कन्नी में इसलिये बाँधी जाती है कि उसका वज़न बराबर हो जाय और वह सीधी उड़े।

क्रि० प्र०—बाँधना।—लगाना।

(३) किनारा। हाशिया। कोर।

मुहा०—किसी की कन्नी दबाना=(१) किसी के अधीन वा वशीभूत होना। किसी के ताबे में होना। (२) दबना। सहमना। धीमा पड़ना। (३) झेंपना। लजाना।

(४) धोती, चद्दर आदि का किनारा। हाशिया। जैसे, लाल कन्नी की धोती।

यौ०—कन्नीदार=किनोरेदार।

संज्ञा पुं० [सं० करण] राजगीरों का एक औज़ार जिससे वे दीवार पर गारा पन्ना लगाते हैं। करनी।

संज्ञा पुं० [सं० स्कंध] (१) पेड़ों का नया कल्ला। कोपल। (२) तमाकू के वे छोटे छोटे पत्ते वा कल्ले जो पत्तों के काट लेने पर फिर से निकलते हैं। ये अच्छे नहीं होते। (३) हेंगे वा पटैल के खींचने के लिये रस्सियों की मुट्ठी में लगी हुई वह खूँटी जिसे हेंगे के सूराख़ में फँसाते हैं।

कन्नौज—संज्ञा पुं० [सं० कान्यकुब्ज, प्रा० कण्णउज्ज] फ़र्रुख़ाबाद ज़िले का एक नगर वा क़सबा जो किसी समय बड़े विस्तृत साम्राज्य की राजधानी था। आज कल यहाँ का इत्र प्रसिद्ध है।

कन्यका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कारी लड़की। अनब्याही लड़की। (२) पुत्री। बेटी।

कन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अविवाहिता लड़की। कारी लड़की।

विशेष—पराशर के अनुसार १० वर्ष की लड़की का नाम कन्या है।

यौ०—पंच कन्या=पुराण के अनुसार वे पाँच स्त्रियाँ जो बहुत पवित्र मानी गई हैं—अहल्या, द्रौपदी, कुंती, तारा, मंदोदरी। नव कन्या=तंत्र के अनुसार वे नौ जातियों की स्त्रियाँ जो चक्र-पूजा के लिये बहुत पवित्र मानी गई हैं—नटी, कापालिकी (कपाड़िया), वेश्या, धोबिन, नाइन, ब्राह्मणी, शूद्रा, ग्वालिन और मालिन।

(२) पुत्री। बेटी।

यौ०—कन्यादान। कन्याराशी। कन्याबेटी।

(३) बारह राशियों में से छठी राशि जिसकी स्थिति उत्तर फाल्गुनी के दूसरे पाद के आरंभ से चित्रा के दूसरे पाद तक है। (४) घीकार। (५) बड़ी इलायची। (६) बाँझ ककोली। (७) बाराही कंद। गेठी। (८) एक वर्ण वृत्ति का नाम जिसमें चार गुरु होते हैं। (९) एक तीर्थ वा पवित्र क्षेत्र का नाम। दे० "कन्याकुमारी"।

कन्याकुमारी—संज्ञा स्त्री० [सं० कन्या+कुमारी] भारत के दक्षिण में रामेश्वर के निकट का एक अंतरीप। रासकुमारी। केप कुमारी।

कन्यागत—संज्ञा पुं० [सं०] कनागत।

कन्याजात—वि० [सं०] जो क्वारी कन्या से उत्पन्न हुआ हो। कानीन।

कन्यादान—संज्ञा पुं० [सं०] विवाह में वर को कन्या देने की रीति।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लेना।

कन्याधन—संज्ञा पुं० [सं०] वह धन जो स्त्री को अविवाहिता वा कन्या अवस्था में मिला हो। एक प्रकार का स्त्रीधन।

विशेष—अधिकारिणी के अविवाहिता मरने पर इस धन का अधिकारी भाई होता है।

कन्यापाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुमारी लड़कियों को बेचने का रोज़गार करनेवाला पुरुष। (२) बंगाल की एक शूद्र जाति जो अब "पाल" कहलाती है।

कन्यापुर—संज्ञा पु० [सं०] अंतःपुर। ज़नानख़ाना।

कन्याराशी—वि० [सं० कन्याराशिन्] (१) जिसके जन्म के समय चंद्रमा कन्या राशि में हो। (२) चौपट। सत्यानाशी। (३) निकम्मा। कमज़ोर। कायर।

कन्यालोक—संज्ञा पुं० [सं०] जैन मत के अनुसार वह मृषावाद वा झूठ जो कन्या के विवाह के संबंध में बोला जाय।

कन्यावानी—संज्ञा स्त्री० [सं० कन्या+हिं० पानी] वह पानी जो उस समय बरसता है जब सूर्य्य कन्या का होता है। यह वर्षा अच्छी समझी जाती है।

कन्यावेदी—संज्ञा पुं० [सं०] दामाद। जामाता। जमाई।

कन्याशुल्क—संज्ञा पुं० [सं०] कन्याधन।

कन्हड़ी—सं० स्त्री० [सं० कर्णाटी] दे० "कर्णाटी"।

कन्हाई—संज्ञा पुं० [सं० कृष्ण,प्रा० कण्ह] श्रीकृष्ण जी।

कन्हावर*—संज्ञा पुं० दे० "कँधावर"।

कन्हैया—संज्ञा पुं० [सं० कृष्ण, प्रा० कण्ह] (१) श्रीकृष्ण। (२) अत्यंत प्यारा आदमी। प्रिय व्यक्ति। उ०—आछे रहौ राजराज राजन के महाराज, कच्छ कुल कलश हमारे तो कन्हैया हो।—पद्माकर। (३) बहुत सुंदर लड़का। बाँका आदमी। (४) एक पहाड़ी पेड़ जो पूर्वी हिमालय पर आठ हज़ार फुट की ऊँचाई पर होता है। इसकी लकड़ी मज़बूत होती है और उसमें हरी वा लाल धारियाँ पड़ी रहती हैं। आसाम में इसकी लकड़ी की किश्तियाँ बनाई जाती हैं। इसके चाय के संदूक़चे भी बनते हैं। कोई कोई इसे इमारत के काम में भी लाते हैं।

कपट—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कपटी] (१) अभिप्राय-साधन के लिये हृदय की बात को छिपाने की वृत्ति। छल। दंभ। धोखा। उ०—जो जिय होत न कपट कुचाली। केहि सुहात रथ, बाजि, गजाली।—तुलसी।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।

यौ०—कपटप्रबंध। कपटवेश।

(२) दुराव। छिपाव।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।

कपटना—क्रि० स० [सं० कल्पन, क्लृप्त] (१) काटकर अलग करना। काटना। छाँटना। खोटना। उ०—(क) कपट कपट डार्‍यो निपट कै औरन सों मेटी पहिचान मन में हूँ पहि-

चान्यो है। जीत्यो रति रण, मथ्यो मनमथ हूँ को मन केशो-राइ कौन हूँ पै रोष उर आन्यो है।—केशव। (ख) पापी मुख पीरो करै, दासन की पीर हरै, दुख भत्र हेत कोटि भानु सी दपड है। कपट कपट डार रे मन गँवार झट, देखु नव नट कृष्ण प्यारे को सुपद है।—गोपाल।

(२) काटकर अलग निकालना। धीरे से निकाल लेना। किसी वस्तु का कुछ भाग निकालकर उसे कम करना। जैसे,—जो रुपए मुझे मिले थे, तुमने तो उनमें से ५) कपट लिए।

कपटा—संज्ञा पुं० [सं० कपटना] [स्त्री० कपटी] एक प्रकार का कीड़ा जो धान के पौधों में लगता है और उसे काट डालता है।

कपटी—वि० [हिं० कपट] कपट करनेवाला। छली। धोखेबाज़। धूर्त्त। दग़ाबाज। उ०—(क) कपटी कुटिल नाथ मोहि चीन्हा।—तुलसी। (ख) सेवक शठ नृप कृपिन कुनारी। कपटी मित्र शूल सम चारी।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० कपटना] (१) धान की फ़सल को नष्ट करनेवाला एक कीड़ा। दे० "कपटा"। (२) तमाखू के पौधों में लगनेवाला एक रोग जिसे "कोढ़ी" भी कहते हैं।

कपड़कोट—संज्ञा पुं० [हिं० कपड़ा+कोट] डेरा। ख़ीमा। तंबू।

कपड़गंध—संज्ञा स्त्री० [हिं० कपड़ा+गंध] कपड़े के जलने की दुर्गंध।

कपड़छन, कपड़छान—संज्ञा पुं० [हिं० कपड़ा+छानना] किसी पिसी हुई बुकनी को कपड़े में छानने का कार्य्य। मैदे की तरह महीन करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

वि० कपड़े से छाना हुआ मैदे की तरह महीन।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कपड़द्वार—संज्ञा पुं० [हिं० कपड़ा+द्वार] कपड़ों का भंडार। वस्त्रागार। तोशाख़ाना।

कपड़धूलि—संज्ञा स्त्री० [हिं० कपड़ा+धूलि] एक प्रकार का बारीक रेशमी कपड़ा। करेब।

कपड़मिट्टी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कपड़ा+मिट्टी] धातु वा ओषधि फूँकने के संपुट पर गीली मिट्टी के लेव के साथ कपड़ा लपेटने की क्रिया। कपड़ौटी। गिल-हिकमत।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कपड़विदार—संज्ञा पुं० [हिं० कपड़ा+सं० विदारण] (१) कपड़ा ब्योंतनेवाला दरज़ी। (२) रफ़ूगर।—डिं०।

कपड़ा—संज्ञा पुं० [सं० कर्पट, प्रा० कप्पट, कप्पड़] (१) रुई, रेशम, ऊन वा सन के तागों से बुना हुआ आच्छादन। वस्त्र। पट।

यौ०—कपड़ा लत्ता=व्यवहार के सब कपड़े।

मुहा०—कपड़ों से होना=मासिक धर्म से होना। रजस्वला होना। एकवस्त्रा होना। उ०—उसका नाम पवन रेखा,सो अति सुंदरी और पतिव्रता थी। आठों पहर स्वामी की आज्ञा ही में रहे। एक दिन कपड़ों से भई तो पति की आज्ञा ले सखी सहेली को साथ लेकर रथ में चढ़कर वन में खेलने को गई।—लल्लू। कपड़े आना=मासिक धर्म से होना। जैसे,—आज तो उसे कपड़े आए हैं।

(२) पहनावा। पोशाक।

क्रि० प्र०—उतारना।—पहनना।

यौ०—कपड़ा लत्ता=पहनने का सामान। जैसे,—जो आदमी आए थे, सब कपड़े लत्ते से थे।

मुहा०—कपड़ों में न समाना=फूले अंग न समाना। आनंद से फूलना। कपड़े उतार लेना=वस्त्रमोचन करना। खूब लूटना। कपड़े छानना=पल्ला छुड़ाना। पिंड छुड़ाना। पीछा छुड़ाना। कपड़े रँगना=गेरुआ वस्त्र पहनना। योगी होना। विरक्त होना।

कपड़ौटी—संज्ञा स्त्री० दे० "कपड़मिट्टी"।

कपरिया—संज्ञा पुं० [सं० कपाली] एक नीच जाति।

कपरौटी*—संज्ञा स्त्री० दे० "कपड़ौटी"।

कपर्द—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव की जटा। जटाजूट। (२) कौड़ी।

कपर्दक—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कपर्दिका] (१) (शिव का) जटाजूट। (२) कौड़ी।

कपर्दिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कौड़ी। वराटिका।

कपर्दिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। शिवा। भवानी। उ०—जै जैयति जै आदि सकति जै कालि कपर्दिनि। जै मधुकैटभ छलनि देवि जै महिष विमर्दिनि।—भूषण।

कपर्दी—संज्ञा पुं० [सं० कपर्दिन्] [स्त्री० कपर्दिनी] (२) जटाजूटधारी शिव। (२) ग्यारह रुद्रों में से एक का नाम।

वि० जटाजूट-धारी।

कपसा—संज्ञा स्त्री० [सं० कपिश] (१) एक प्रकार की चिकनी मिट्टी जिससे कुम्हार बर्तनों पर रंग चढ़ाते हैं। काबिस। (२) गारा। लेई।

कपसेठा—संज्ञा पुं० [हिं० कपास+एठा] [स्त्री० अल्पा० कपसेठी] कपास के सूखे हुए पेड़ जो ईंधन के काम में लाए जाते हैं।

कपसेठी—संज्ञा स्त्री० दे० "कपसेठा"।

कपाट—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अल्पा० कपाटी] किवाड़। पाट। उ०—नाम पाहरू दिवस निस ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद यंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट।—तुलसी।

यौ०—कपाटबद्ध। कपाटमंगल।

कपाटबद्ध—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चित्रकाव्य जिसके अक्षरों को विशेष रूप से लिखने से किवाड़ों का चित्र बन जाता है।

कपाटमंगल—संज्ञा पुं० [सं०] द्वार बंद करना। (वल्लभकुल)।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कपाटवक्षा—वि० [सं०] जिसकी छाती किवाड़ की तरह हो। चौड़ी छातीवाला।

कपाटसंधिक—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार कान के पंद्रह प्रकार के रोगों में से एक।

कपार†*—संज्ञा पुं० दे० "कपाल"।

कपाल—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कपाली, कापालिक] (१) खोपड़ा। खोपड़ी।

यौ०—कपालक्रिया। कपालमाला। कपालमोचन।

(२) ललाट। मस्तक। (३) अदृष्ट। भाग्य।

मुहा०—कपाल खुलना=(१) भाग्य उदय होना। (२) सिर खुलना। सिर से लोहू निकलना।

(४) घड़े आदि के नीचे वा ऊपर का भाग। खपड़ा। खर्पर। (५) मिट्टी का एक पात्र जिसमें पहले भिक्षुक लोग भिक्षा लेते थे। खप्पर। (६) वह बर्तन जिसमें यज्ञों में देवताओं के लिये पुरोडाश पकाया जाता था।

यौ०—पंचकपाल। अष्टाकपाल। एकादश-कपाल।

(७) वह बर्तन जिसमें भड़भूँजे दाना भूनते हैं। खपड़ी। (८) अंडे के छिलके का आधा भाग। (९) कछुए का खोपड़ा। (१०) ढक्कन। (११) कोढ़ का एक भेद।

कपालक*—वि० दे० "कापालिक"।

कपालकेतु—[सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक केतु जिसकी पूँछ धुएँदार प्रकाशरश्मि के तुल्य होती है। यह आकाश के पूर्वार्द्ध में अमावस्या के दिन उदय होता है। इस तारे के उदय से भारी अनावृष्टि होती है और अकाल पड़ता है।

कपालक्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] मृतकसंस्कार के अंतर्गत एक कृत्य जिसमें जलते हुए शव की खोपड़ी को बाँस या किसी और लकड़ी से फोड़ देते हैं।

कपाल-चूर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य में एक प्रकार की क्रिया जिसमें सिर को नीचे ज़मीन पर टेककर और पैर ऊपर करके चलते हैं।

कपालमाली—संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

कपालमोचन—संज्ञा पुं० [सं०] काशी का एक तालाब जहाँ लोग स्नान करते हैं।

कपाल-अस्त्र—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का अस्त्र। (२) ढाल।

कपालिक—संज्ञा पुं० दे० "कापालिक"।

कपालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खोपड़ी। (२) घड़े के नीचे वा ऊपर का भाग। (३) दाँतों का एक रोग जिसमें दाँत टूटने लगते हैं। दंतशर्करा।

संज्ञा स्त्री० [सं० कापालिक=शिव] काली। रणचंडी। उ०—कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कपालिका काल को। यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को।—केशव।

कपालिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा। शिवा।

कपाली—संज्ञा पुं० [सं० कपालिन्] [स्त्री० कपालिनी] (१) शिव। महादेव। (२) भैरव। (३) ठीकरा लेकर भीख माँगनेवाला भिक्षुक। (४) एक वर्णसंकर जाति जो ब्राह्मणी माता और धीवर बाप से उत्पन्न मानी जाती है। कपरिया।

कपास—संज्ञा स्त्री० [सं० कर्पास] [वि० कपासी] एक पौधा जिसके ढेंढ़ से रूई निकलती है। इसके कई भेद हैं। किसी किसी के पेड़ ऊँचे और बड़े होते हैं, किसी का झाड़ होता है, किसी का पौधा छोटा होता है, कोई सदाबहार होता है, और कितने की काश्त प्रति वर्ष की जाती है। इसके पत्ते भी भिन्न भिन्न आकार के होते हैं और फूल भी किसी का लाल, किसी का पीला तथा किसी का सफ़ेद होता है। फूलों के गिरने पर उनमें ढेंढ़ लगते हैं; जिनमें रूई होती है। ढेंढ़ों के आकार और रंग भिन्न भिन्न होते हैं। भीतर की रूई अधिकतर सफ़ेद होती है, पर किसी किसी के भीतर की रूई कुछ लाल और मटमैली भी होती है और किसी की सफ़ेद होती है। किसी कपास की रूई चिकनी और मुलायम और किसी की खुरखुरी होती है। रूई के बीच में जो बीज निकलते हैं वे बिनौले कहलाते हैं। कपास की बहुत सी जातियाँ हैं, जैसे, नरमा, नंदन, हिरगुनी, कील, वरदी, कटेली, नदम, रोजी, कुपटा, तेलपट्टी, खानपुरी इत्यादि।

क्रि० प्र०—ओटना=चरखी में रूई डालकर बिनौले को अलग करना। उ०—आए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास।

मुहा०—दही के धोखे कपास खाना=और को और समझना। एक ही प्रकार की वस्तुओं के बीच धोखा खाना।

कपासी—वि० [हिं० कपास] कपास के फूल के रंग के समान बहुत हलके पीले रंग का।

संज्ञा पुं० एक रंग जो कपास के फूल के रंग का बहुत हलका पीला होता है।

विशेष—यह रंग हल्दी, टेसू और अमहर के संयोग से बनता है। हरसिंगार से भी यह रंग बनाया जाता है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] भोटिया बादाम। यह पेड़ मझोले डील-डौल का होता है। इसकी लकड़ी गुलाबी रंग की होती है जिससे कुरसी, मेज़ आदि बनते हैं। इसका फल खाया जाता है और भोटिया बादाम के नाम से प्रसिद्ध है।

कपिंजल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चातक। पपीहा। (२) गौरा पक्षी। (३) भरदूल। भरुही। (४) तीतर। (५) एक मुनि का नाम।

वि० [सं०] पीला। पीले रंग का। हरताली रंग का।

कपि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंदर। (२) हाथी। गज। (३) करंज। कंजा। (४) शिलारस नाम की सुगंधित ओषधि। (५) सूर्य्य।

कपिकंदुक—संज्ञा पुं० [सं०] खोपड़ा कपाल।

कपिकच्छु—संज्ञा स्त्री० [सं०] केवाँच। करेंच। मर्कटी। वानरी। कौंछ।

कपिकच्छुरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "कपिकच्छु"।

कपिकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन जिनकी ध्वजा पर हनुमान जी थे।

कपित्थ–संज्ञा पुं० [सं०] कैथे का पेड़। (२) कैथे का फल। (३) नृत्य में एक प्रकार का हस्तक जिसमें अंगूठे की छोर को तर्जनी की छोर से मिलाते हैं।

कपिध्वज–संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन।

कपिप्रभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] केवाँच। कौंछ।

कपिप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] कैथ।

कपिरथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्री रामचंद्रजी। (२) अर्जुन।

कपिल–वि० [सं०] (१) भूरा। मटमैला। तामड़ा रंग का। (२) सफ़ेद। जैसे,—कपिला गाय।

संज्ञा पुं० (१) अग्नि। (२) कुत्ता। (३) चूहा। (४) शिलाजतु। शिलाजीत (५) महादेव। (६) सूर्य्य। (७) विष्णु। (८) एक प्रकार का सीसम। बरना। (९) एक मुनि जो सांख्यशास्त्र के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका उल्लेख ऋग्वेद में है। (१०) पुराण के अनुसार एक मुनि जिन्होंने सगर के पुत्रों को भस्म किया था। (११) कुशद्वीप के एक वर्ष का नाम।

कपि-लता–संज्ञा स्त्री० [सं०] केवाँच। कौंछ।

कपिलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूरापन। मटमैलापन। (२) ललाई। (३) पीलापन। (४) सफ़ेदी।

कपिलद्युति–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

कपिलधारा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काशी का एक तीर्थस्थान। (२) गया का एक तीर्थ स्थान।

कपिलवस्तु–संज्ञा पुं० [सं०] गौतम बुद्ध का जन्मस्थान। यह स्थान नैपाल की तराई में बस्ती ज़िले में था।

कपिला–वि० स्त्री० [सं०] (१) कपिल रंग की। भूरे रंग की। मटमैले रंग की। (२) सफ़ेद रंग की। जैसे,—कपिला गाय। (३) जिसके शरीर में सफ़ेद दाग़ हों। जिसके शरीर में सफ़ेद फूल पड़े हों। जैसे,—कपिला कन्या। (मनु)। (४) सीधी सादी। भोली भाली।

संज्ञा स्त्री० (१) सफ़ेद रंग की गाय। उ०—जिमि कपिलहिं घालै हरहाई।—तुलसी।

विशेष—इस रंग की गाय बहुत अच्छी और सीधी समझी जाती है।

(२) एक प्रकार की जोंक। (३) एक प्रकार की च्यूँटी। माटा। (४) पुंडरीक नामक दिग्गज की पत्नी। (५) दक्ष-प्रजापति की एक कन्या। (६) रेणुका नाम की सुगंधित ओषधि। (७) मध्य प्रदेश की एक नदी।

कपिलागम–संज्ञा पुं० [सं०] सांख्यशास्त्र।

कपिलाश्व–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र जिनका घोड़ा सफ़ेद है।

कपिश–वि० [सं०] (१) काला और पीला रंग मिलाने से जो भूरा रंग बने, उस रंग का। मटमैला। उ०—पुरइन कपिश निचोल विविध रँग विहँसत सचु उपजावै। सूर-श्याम आनंद कंद की शोभा कहत न आवै।—सूर। (२) पीला भूरा। लाल भूरा। उ०—कपिश केश कर्कश लँगूर खल दल बल भानन।—तुलसी।

कपिशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का मद्य। (२) एक नदी का नाम जिसे आज कल कसाई कहते हैं और जो मेदनीपुर के दक्षिण में पड़ती है। रघुवंश में लिखा है कि इसी नदी को पार करके रघु उत्कल देश में गए थे। (३) कश्यप की एक स्त्री जिससे पिशाच उत्पन्न हुए थे।

कपी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काँपना] घिर्री। घिरनी।

कपीश–संज्ञा पुं० [सं०] बानरों का राजा। जैसे, हनुमान, सुग्रीव, बालि इत्यादि।

कपूत–संज्ञा पुं० [सं० कुपुत्र] वह पुत्र जो अपने कुल-धर्म के विरुद्ध आचरण करे। बुरी चाल चलन का पुत्र। बुरा लड़का। उ०—राम नाम ललित ललाम कियो लाखन को बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आध को।—तुलसी।

कपूती–संज्ञा स्त्री० [हिं० कपूत] पुत्र के अयोग्य आचरण। नालायक़ी।

कपूर–संज्ञा पुं० [सं० कर्पूर, पा० कप्पूर, जावा कापूर] एक सफ़ेद रंग का जमा हुआ सुगंधित द्रव्य जो वायु में उड़ जाता है और जलाने से जलता है। प्राचीनों के अनुसार कपूर दो प्रकार का होता है। एक पक्क, दूसरा अपक्क। राज-निघंटु और निघंटु रत्नाकर में पोतास, भीमसेन, हिम इत्यादि इसके बहुत भेद माने गये हैं और इनके गुण भी अलग अलग लिखे हैं। कवियों का और साधारण गँवारों का विश्वास है कि केले में स्वाती की बूँद पड़ने से कपूर उत्पन्न होता है। जायसी ने पद्मावत में लिखा है—'पड़े धरनि पर होय कचूरू। पड़े कदलि मँह होय कपूरू'। आज कल कपूर कई वृक्षों से निकाला जाता है। ये सब के सब वृक्ष प्रायः दारचीनी की जाति के हैं। इनमें प्रधान पेड़ दार-चीनी कपूरी मियाने क़द का सदाबहार पेड़ है जो चीन, जापान, कोचीन और फारमूसा में होता है। अब इसके पेड़ हिंदुस्तान में भी देहरादून और नीलगिरि पर लगाए गए हैं और कलकत्ते तथा सहारनपुर के कंपनी बाग़ों में भी इसके पेड़ हैं। इससे कपूर निकालने की विधि यह है—इसकी पतली पतली चैलियों तथा डालियों और जड़ों के टुकड़े बंद बर्तन में जिसमें कुछ दूर तक पानी भरा रहता है, इस ढंग से रक्खे जाते हैं कि उनका लगाव पानी से न रहे। बर्तन के नीचे आग जलाई जाती है। आँच लगने से लकड़ियों में से कपूर उड़कर ऊपर के ढकन में जम जाता है। इसकी लकड़ी भी संदूक़ आदि बनाने के काम में आती है।

दारचीनी जीलानी—इसका पेड़ ऊँचा होता है। यह दक्खिन में कोकन से दक्खिन पश्चिमी घाट तक और लंका, टनासरम, बर्मा आदि स्थानों में होता है। इसका पत्ता तेजपात और छाल दारचीनी है। इससे भी कपूर निकलता है।

बरास—यह बोर्नियो और सुमात्रा में होता है और इसका पेड़ बहुत ऊँचा होता है। इसके सौ वर्ष से अधिक पुराने पेड़ के बीच से तथा गाँठों में से कपूर का जमा हुआ डला निकलता है और छिलकों के नीचे से भी कपूर निकलता है। इस कपूर को बरास, भीमसेनी आदि कहते हैं और प्राचीनों ने इसी को अपक्व कहा है। पेड़ में कभी कभी छेव लगाकर दूध निकालते हैं जो जमकर कपूर हो जाता है। कभी पुराने पेड़ की छाल फट जाती है और उससे आपसे आप दूध निकलने लगता है जो जमकर कपूर हो जाता है। यह कपूर बाज़ारों में कम मिलता है और महँगा बिकता है। इसके अतिरिक्त रासायनिक योग से कितने ही प्रकार के नकली कपूर बनते हैं। जापान में दारचीनी कपूरी के तेल से (जो लकड़ियों को पानी में रखकर खींचकर निकाला जाता है) एक प्रकार का कपूर बनाया जाता है। तेल भूरे रंग का होता है और वार्निश के काम में आता है।

कपूर स्वाद में कड़ुवा, सुगंध में तीक्ष्ण और गुण में शीतल होता है। यह कृमिघ्न और वायु-शोधक होता है और अधिक मात्रा के खाने से विष का काम करता है।

पर्या०—घनसार। चंद्र। सिताभ।

मुहा०—कपूर खाना=विष खाना। उ०—बूड़े जलजात कूर कदली कपूर खात दाड़िम दरकि अंग उपमा न तौलै री। तेरे स्वास सौरभ को त्रिविध समीर धीर विविध लतान तीर बन बन डोलै री।—बेनी प्रवीन।

कपूरकचरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कपूर+कचरी] एक बेल जिसकी जड़ सुगंधित होती है और दवा के काम में आती है। आसाम के पहाड़ी लोग इसकी पत्तियों की चटाई बनाते हैं। इसकी जड़ खाने में कड़ुई, चरपरी और तीक्ष्ण होती है तथा ज्वर, हिचकी और मुँह की विरसता को दूर करती है। सितरुती।

पर्या०—गंधपलाशी। गंधमूली। गंधौली।

कपूरकाट—संज्ञा पुं० [हिं० कपूर+काट] एक प्रकार का महीन जड़हन धान जिसका चावल सुगंधित और स्वादिष्ट होता है।

कपूरा—संज्ञा पुं० [हिं० कपूर=कपूर के ऐसा सफ़ेद] भेड़, बकरी आदि चौपायों का अंडकोश।

कपूरी—वि० [हिं० कपूर] (१) कपूर का बना हुआ। (२) हलके पीले रंग का।

संज्ञा पुं० (१) एक रंग जो कुछ हलका पीला होता है और केसर फिटकिरी और हरसिंगार के फूल से बनता है। (२) एक प्रकार का पान जो बहुत लंबा और कड़ुआ होता है। इसके किनारे कुछ लहरदार होते हैं।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की बूटी जो पहाड़ों पर होती है इसकी पत्तियाँ लंबी लंबी होती हैं जिनके बीच में सफ़ेद लकीर होती है। इसकी जड़ में से कपूर की सी सुगंध निकलती है।

कपोत—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कपोतिका, कपोती] (१) कबूतर (२) परेवा।

यौ०—धूम्र कपोत। चित्र कपोत। हरित कपोत। कपोत-मुद्रा

(३) पक्षी मात्र। चिड़िया।

यौ०—कपोतपालिका। कपोतारि।

(४) भूरे रंग का कच्चा सुरमा।

कपोतपालिका, कपोतपाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काबुक कबूतरों का दर्बा। (२) कबूतरों के बैठने की छतरी। (३ चिड़ियाखाना।

कपोतवंका—संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मी बूटी।

कपोतवर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी इलायची।

कपोतवृत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] संचयहीन वृत्ति। रोज़ कमाना रोज़ खाना।

कपोतव्रत—संज्ञा स्त्री० [सं०] चुप चाप दूसरे के अत्याचारों को सहना। दूसरे के पहुँचाए हुए अत्याचार वा कष्ट पर चूँ न करना। उ०—है इत लाल कपोतव्रत कठिन प्रीति की चाल। मुख सों आह न भाखिहौं निज सुख करो हलाल

विशेष—कबूतर कष्ट के समय नहीं बोलता, केवल हर्ष के समय गुटरगूँ की तरह का अस्फुट स्वर निकालता है।

कपोतसार—संज्ञा पुं० [सं०] सुरमा (धातु)।

कपोतांजन—संज्ञा पुं० [सं०] सुरमा (धातु)।

कपोतारि—संज्ञा पुं० [सं०] बाज़ पक्षी।

कपोती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कबूतरी। (२) पेंडुकी। (३) कुमरी

वि० [सं०] कपोत के रंग का। ख़ाकी। धूमले रंग का। फ़ाख़्तई रंग का। नीले रंग का।

कपोल—संज्ञा पुं० [सं०] गाल।

यौ०—कपोलकल्पना। कपोलकल्पित।

संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य या नाट्य में कपोल की चेष्टा, जो सात प्रकार की होती है—(१) कुंचित (लज्जा के समय)। (२) रोमांचित (भय के समय)। (३) कंपित (क्रोध के समय) (४) फुल्ल (हर्ष के समय)। (५) सम (स्वाभाविक)। (६) क्षाम (कष्ट के समय)। (७) पूर्ण (गर्व या उत्साह के समय

कपोलकल्पना—संज्ञा स्त्री० [सं०] मनगढ़ंत। बनावटी बात। गप्प

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कपोलकल्पित—वि० [सं०] बनावटी। मनगढ़ंत। झूठ।

कपोलगेंदुआ—संज्ञा पुं० [सं० कपोल+हिं० गेंदा] गाल के नीचे रखने का तकिया। गल-तकिया।

कपौला—संज्ञा पुं० [देश०] वैश्यों की एक जाति।

कप्तान—संज्ञा पुं० [अं० कैप्टेन] (१) जहाज़ वा सेना का एक अफ़सर। (२) दल का नायक। अधिपति। जैसे, क्रिकेट का कप्तान।

कप्पर*†—संज्ञा पुं० [सं० कर्पट] कपड़ा वस्त्र। उ०—कर खग्ग खप्पर विगत कप्पर पुहुमि उप्पर नचत हैं। बैताल भूत पिशाच केती कला गहि महि रचत हैं।—रघुराज।

कप्फा—संज्ञा पुं० [फ़ा० कफ़=झाग, गाज] (१) अफ़ीम का पसेव जिसमें कपड़ा डुबो कर मदक बनाने के लिये सुखाते हैं। (२) वह वस्त्र जिसे किसी बरतन के मुँह पर बाँधकर उसके ऊपर अफ़ीम सुखाई जाती है। साफ़ा। छनना।

कप्यास—संज्ञा पुं० [सं०] बंदर का चूतड़।

वि० [सं०] लाल। रक्त।

कफ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह गाढ़ी लसीली और अंठेदार वस्तु जो खाँसने वा थूकने से मुँह से बाहर आती है तथा नाक से भी निकलती है। श्लेष्मा। बलग़म। (२) वैद्यक के अनुसार शरीर के भीतर की एक धातु जिसके रहने के स्थान आमाशय, हृदय, कंठ, शिर और संधि हैं। इन स्थानों में रहनेवाले कफ का नाम क्रमशः, क्लेदन, अवलंबन, रसन, स्नेहन और श्लेष्मा है। आधुनिक पाश्चात्य मत से इसका स्थान साँस लेने की नलियाँ और आमाशय है। कफ कुपित होने से दोषों में गिना जाता है।

यौ०—कफकारक। कफकृत। कफक्षय।

कफ़—संज्ञा पुं० [अं०] कमीज़ वा कुर्ते की आस्तीन के आगे की वह दोहरी पट्टी जिसमें बटन लगते हैं।

यौ०—कफ़दार। जैसे,—कफ़दार कुर्ता।

[अ०] लोहे का वह अर्द्ध चंद्राकार टुकड़ा जिससे ठोंककर चकमक से आग झाड़ते वा निकालते हैं। नाल। उ०—काया कफ़, चकमकै झारौं बारंबार। तीन बार धूआँ भया, चौथे परा अँगार।—कबीर।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] झाग। फेन।

कफ़गीर—संज्ञा पुं० [फ़ा०] हथेली की तरह की लंबी डाँड़ी की कलछी जिससे दाल, घी आदि का झाग निकालते हैं।

कफ़न—संज्ञा पुं० [अ०] वह कपड़ा जिसमें मुर्दा लपेटकर गाड़ा या फूँका जाता है।

यौ०—कफ़नखसोट। कफ़नचोर। कफ़नकाठी।

मुहा०—कफ़न को कौड़ी न होना वा रहना=अत्यंत दरिद्र होना। कफ़न को कौड़ी न रखना=(१) जो कमाना वह खा लेना। धन संचित न करना। (२) अत्यंत त्यागी होना। (साधु के लिये)। कफ़न फाड़कर उठना=(१) मुर्दे का उठना। मुर्दे का जी उठना। (२) सहसा उठ पड़ना। कफ़न फाड़कर बोलना या चिल्लाना=सहसा जोर से चिल्लाना। कफ़न सिर से बाँधना—मरने पर तैयार होना। जान जोखिम में डालना।

कफ़नखसोट—वि० [हिं० कफ़न+खसोट] [संज्ञा कफ़नखसोटी] (१) कंजूस। मक्खीचूस। अत्यंत लोभी। सूमड़ा।

विशेष—पूर्व काल में डोम श्मशान में मुर्दों का कफ़न फाड़कर कर की तरह लेते थे; इसीलिये उन्हें कफ़नखसोट कहते थे। (२) दूसरे के माल को ज़बरदस्ती छीनकर हड़प जानेवाला।

कफ़नखसोटी—संज्ञा स्त्री० [हिं०] कफ़न+खसोटना] (१) डोमों का कर जो वे श्मशान पर मुर्दों का कफ़न फाड़कर लेते थे। उ०—जाति दास चंडाल की, घर घनघोर मसान। कफ़नखसोटी को करम, सब ही एक समान।—हरिश्चंद्र। (२) इधर उधर से भले वा बुरे ढंग से धन एकत्र करने की वृत्ति। (३) कंजूसी। सूमड़ापन।

कफ़नचोर—संज्ञा पुं० [हिं० कफ़न+चोर] (१) क़ब्र खोदकर कफ़न चुरानेवाला। (२) भारी चोर। गहरा चोर। (३) दुष्ट। बदमाश।

कफ़नाना—क्रि० स० [अ० कफ़न+हिं० आना (प्रत्य०)] गाड़ने या जलाने के लिये मुर्दे को कफ़न में लपेटना।

कफ़नी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कफ़न] (१) वह कपड़ा जिसे मुर्दे के गले में डालते हैं। (२) साधुओं के पहनने का एक कपड़ा जो बिना सिला हुआ होता है और जिसके बीच में सिर जाने के लिये छेद रहता है। मेखला।

कफ़स—संज्ञा पुं० [अ०] (१) पिंजरा। (२) काबुक। दरबा। (३) बंदीगृह। क़ैदख़ाना। (४) बहुत तंग और संकुचित जगह जहाँ वायु और प्रकाश न पहुँचता हो।

कफ़ाबंद—संज्ञा पुं० [फ़ा० कफ़ा=गर्दन का पिछला भाग+हिं० बंद] कुश्ती का एक पेंच, जिसमें विपक्षी के नीचे आने पर पहलवान दाहिनी तरफ़ बैठकर अपना बायाँ हाथ विपक्षी की कमर में डालकर अपने दाहिने हाथ और दाहिनी टाँग से विपक्षी की गर्दन दबाता है और बाएँ हाथ से उसका जाँघिया पकड़ कर उसे उलटकर चित कर देता है।

कफ़ालत—संज्ञा पुं० [अ०] ज़िम्मेदारी। ज़मानत।

यौ०—कफ़ालत नामा=जमानतनामा।

कफाशय—संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ पर कफ रहता है। वैद्यक शास्त्रानुसार ये स्थान पाँच हैं—आमाशय, हृदय, कंठ, शिर और संधियाँ।

कफ़िआ—संज्ञा पुं० [अं० कफ़] लकड़ी वा लोहे की कोनियाँ जो जहाज़ों में आड़े और बेड़े शहतीरों को जोड़ने के लिये लगाई जाती हैं।

कफ़ीना—संज्ञा पुं० [अ० कफ़] वे तख्ते जो जहाज़ के फ़र्श पर लगे रहते हैं।

कफ़ील—संज्ञा पुं० [अ०] ज़ामिन। ज़िम्मेवार।

क्रि० प्र०—होना।

कफोणि—संज्ञा स्त्री० [सं०] कफोणी। कुहनी। टिहुनी।

कफोदर–संज्ञा पुं० [सं०] कफ से उत्पन्न पेट का एक रोग।
विशेष—इस रोग में शरीर में सुस्ती, भारीपन और सूजन हो जाती है, नींद बहुत आती है, भोजन में अरुचि रहती है, खाँसी आती और पेट भारी रहता है, मतली मालूम होती है और पेट में गुड़गुड़ाहट रहती है तथा शरीर ठंढा रहता है।

कबंध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीपा। कंडाल। (२) बादल। मेघ। (३) पेट। उदर। (४) जल। (५) बिना सिर का धड़। रुंड। उ०—(क) कूदत कबंध के कदंब बंब सी करत धावत देखावत हैं लाघौ राम बान के। तुलसी महेश विधि लोकपाल देव गण देखत विमान चढ़े कौतुक मसान मे।—तुलसी। (ख) अपनो हित रावरे सों जो पै सूझै। तौ जनु तनु पर अछत सीस सुधि क्यों कबंध ज्यों जूझै।—तुलसी। (६) एक दानव जो देवी का पुत्र था। इसका मुँह इसके पेट में था। कहते हैं कि इंद्र ने एक बार इसे वज्र से मारा था और इसके सिर और पैर इसके पेट में घुस गए थे। इसे पूर्वजन्म का विश्वावसु गंधर्व लिखा है। रामचंद्रजी से और इससे दंडकारण्य में युद्ध हुआ था। रामचंद्रजी ने इसके हाथ काटकर इसे जीता ही भूमि में गाड़ दिया था। उ०—आवत पंथ कबंध निपाता। तेहि सब कही सीय की बाता।—तुलसी। (७) राहु। (८) एक प्रकार के केतु जो संख्या में ९६ हैं और आकृति में कबंध से बतलाए गए हैं। ये काल के पुत्र माने गए हैं और इनके उदय का फल दारुण बतलाया गया है। (९) एक गंधर्व का नाम। (१०) एक मुनि का नाम।

कब–क्रि० वि० [सं० कदा, हिं० कद] (१) किस समय? किस वक्त? जैसे,—तुम कब घर जाओगे?
विशेष—इस क्रि० वि० का प्रयोग प्रश्न में होता है।
मुहा०—कब का, कब के, कब से=देर से। विलंब से। जैसे,—हम यहाँ कब के बैठे हैं, पर तुम्हारा पता नहीं। (जब क्रिया एकवचन हो तो 'कब का' और जब बहु० हो तो 'कब के' का प्रयोग होता है।) कब कब=कभी कभी। बहुत कम। उ०—कब कब मंगरू बोवै धान। सूखा डाला है भगवान। कब ऐसा हो, कब ऐसा करें=ज्योंही ऐसा हो त्योंही ऐसा करें। जैसे,—वह तो इसी ताक में है कि कब बाप मरें, कब मालिक हों। कब नहीं=बराबर। सदा। जैसे,—हमने तुम्हारी बात कब नहीं मानी?।
(२) कदापि नहीं। नहीं। जैसे,—वह हमारी बात कब मानेंगे? (अर्थात् नहीं मानेंगे)
मुहा०—कब का=कभी नहीं। नहीं। जैसे,—वह कब का देनेवाला है? (अर्थात् नहीं देनेवाला है।)

कबक–संज्ञा [फ़ा०] चकोर।

कबड़िया–संज्ञा पुं० [हिं० कबाड़] [स्त्री० कबड़िन] अवध की एक मुसलमान जाति का नाम जो तरकारी बोती और बेंचती है।

कबड्डी–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) लड़कों के एक खेल का नाम। इसमें लड़के दो दलों में होकर मैदान में एक मिट्टी का ढूह बनाते हैं जिसे पाला या डाँड़-मेड़ कहते हैं। फिर एक दल पाले के एक ओर और दूसरा दूसरी ओर हो जाता है। एक लड़का एक ओर से दूसरी ओर "कबड्डी कबड्डी" कहता हुआ जाता है और दूसरे दल के लड़कों को छूने की चेष्टा करता है। यदि वह लड़का किसी दूसरे दल के लड़के को छूकर पाले के इस पार बिना साँस तोड़े चला आता है, तो दूसरे पक्ष के वे लड़के जिन जिन को इसने छुआ था, मर जाते हैं अर्थात् खेल से अलग हो जाते हैं। यदि इसे दूसरे दल के लड़के पकड़ लें और उसकी साँस उनकी हद में टूट जाय तो उलटा वह मर जाता है। फिर दूसरे दल से एक लड़का पहले दल की ओर "कबड्डी कबड्डी" करता जाता है। यह तब तक होता रहता है जब तक किसी दल के सब खिलाड़ी शेष नहीं हो जाते। मरे हुए लड़के तब तक खेल से अलग रहते हैं जब तक उनके दल का कोई लड़का विपक्षी के दल के लड़कों में से किसी को मार न डाले। इसे वे जीना कहते हैं। यह जीना भी उसी क्रम से होता है जिस क्रम से वे मरे थे।
क्रि० प्र०—खेलना।
मुहा०—कबड्डी खेलना=कूदना। फाँदना। कबड्डी खेलते फिरना=बेकाम फिरना। इधर उधर घूमना।
(२) काँपा। कंपा।

क़बर†–संज्ञा स्त्री० [अ०] दे० "क़ब्र"।

क़बरस्तान–संज्ञा पुं० दे० "क़ब्रिस्तान"।

कबरा–वि० [सं० कर्बर, पा० कब्बर] [स्त्री० कबरी] सफ़ेद रंग पर काले, लाल, पीले आदि दागवाला। जिसके शरीर का रंग दोरंगा हो। चितला। कल्माष। शबला। अबलक़।
विशेष—इस रंग के लिये यह आवश्यक है कि या तो सफ़ेद रंग पर काले, पीले, लाल आदि दाग़ हों वा काले, पीले, लाल आदि रंगों पर सफ़ेद दाग़ हों।
यौ०—चितकबरा।

कबरिस्तान–संज्ञा पुं० दे० "क़ब्रिस्तान"।

क़बा–संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का पहनावा जो घुटनों के नीचे तक लंबा और कुछ कुछ ढीला होता है। यह आगे से खुला हुआ होता है और इसकी आस्तीन ढीली होती है।

कबाड़–संज्ञा पुं० [सं० कर्पट, प्रा० कप्पट=चिथड़ा] [संज्ञा कबाड़ी] (१) रद्दी चीज़। काम में न आनेवाली वस्तु। अंगड़ खंगड़।
यौ०—काठ कबाड़। कूड़ा कबाड़=अंगड़ खंगड़ चीज। टूटी फूटी वस्तु।
(२) अंडबंड काम। व्यर्थ का व्यापार। तुच्छ व्यवसाय।

कबाड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० कबाड़] व्यर्थ की बात। झंझट। बखेड़ा।

कबाड़िया-संज्ञा पुं० [हिं० कबाड़] (१) टूटी फूटी, सड़ी गली चीज़ें बेचनेवाला आदमी। अंगड़ खंगड़ बेचनेवाला पुरुष। (२) तुच्छ व्यवसाय करनेवाला पुरुष।

वि० क्षुद्र। नीच।

कबाड़ी-संज्ञा पुं० वि० [हिं० कबाड़] [स्त्री० कबाड़िन] दे० "कबाड़िया"।

कबाब-संज्ञा पुं० [अ०] सीख़ों पर भूना हुआ मांस।

विशेष—खूब बारीक कटे वा कूटे हुए मांस को बेसन में मिलाकर नमक और मसालों में देकर गोलियाँ बनाते हैं। इन गोलियों को लोहे की सीख़ में गोदकर घी का पुट देकर कोयले की आँच पर भूनते हैं।

क्रि० प्र०—करना।—भूनना।—लगना।—लगाना।—होना।

मुहा०—**कबाब करना**=जलाना। दुःख देना। कष्ट पहुँचाना। **कबाब लगना**=कबाब पकना। **कबाब होना**=(१) भुनना। जलना। (२) क्रोध से जलना। जैसे,—तुम्हारी बात सुनकर तो देह कबाब हो जाती है।

कबाबचीनी-संज्ञा स्त्री० [अ० कबाबा+हिं० चीनी] (१) मिर्च की जाति की एक लिपटनेवाली झाड़ी जो सुमात्रा, जावा आदि टापुओं तथा भारतवर्ष में भी कहीं कहीं होती है। इसकी पत्तियाँ कुछ कुछ बेर की सी पर अधिक नुकीली होती हैं और उनकी खड़ी नसें उभरी हुई मालूम होती हैं। इसमें मिर्च के से गोल गोल फल गुच्छों में लगते हैं। ये फल मिर्च से कुछ मुलायम और खाने में कड़ुए और चरपरे होते हैं। इनके खाने के पीछे जीभ बहुत ठंढी मालूम होती है। वैद्यक में इसे दीपन, पाचक और रेचक कहा है। (२) कबाबचीनी का फल।

कबाबी-वि० [अ० कबाब] (१) कबाब बेचनेवाला। (२) कबाब खानेवाला। मांसभक्षी।

यौ०—**शराबी कबाबी**=मद्य-मांस-भोजी।

कबाय*-संज्ञा पुं० [अ० कबा] एक ढीला पहनावा। उ०—एक दोस्त हमहूँ किया, जेहि गल लाल कबाय। सब जग धोबी धोय मरे, तो भी रंग न जाय।—कबीर।

कबार-संज्ञा पुं० [हिं० कारोबार वा कबाड़] (१) व्यापार। रोज़गार। उद्यम। व्यवसाय। लेन देन। उ०—(क) एहि परि पालउँ सब परिवारू। नहिं जानउँ कछु अउर कबारू।—तुलसी। (ख) रानिन दिए बसन मनि भूषण राजा सहन भँडार। मागध सूत भाट नट याचक जहँ तहँ करहिं कबार।—तुलसी। (२) दे० "कबाड़"।

संज्ञा पुं० [देश०] एक छोटा पेड़ वा झाड़ी।

कबाल-संज्ञा स्त्री० [देश०] खजूर का रेशा जिसे बटकर रस्सा बनाते हैं।

क़बाला-संज्ञा पुं० [अ०] वह दस्तावेज़ जिसके द्वारा कोई जायदाद एक के अधिकार से दूसरे के अधिकार में चली जाय, जैसे,—बयनामा, दानपत्र इत्यादि।

यौ०—क़बालानवीस। क़बाला-नीलाम। **कट क़बाला**=बैनामा। मियादी। **क़बाला लिखना**=अधिकार दे देना।

मुहा०—**क़बाला लिखाना या क़बाला लेना**=किसी जायदाद पर क़बज़ा करना। अधिकार में लाना। मालिक बनना। जैसे,—क्या तुमने इस घर का क़बाला लिखा लिया है?

क़बालानवीस-संज्ञा पुं० [फ़ा०] क़बाला लिखने का काम करनेवाला मुहर्रिर।

क़बाला-नीलाम-संज्ञा पुं० [फ़ा० क़बाला+नीलाम] नीलाम में बिकी हुई ज्ञायदाद की वह सनद जो नीलाम करनेवाला अपनी ओर से उसके ख़रीदनेवाले को दे। नीलाम का सर्टिफ़िकेट।

कबाहट*-संज्ञा स्त्री० दे० "क़बाहत"।

क़बाहत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) बुराई। ख़राबी। (२) मुश्किल। दिक़्क़त। तरद्दुद। अड़चन। झंझट। बखेड़ा।

क्रि० प्र०—उठाना।—में डालना।—में पड़ना।

कबीठ†-संज्ञा पुं० [सं० कपित्थ, प्रा० कविट्ठ] (१) कैथ का पेड़। (२) कैथ का फल।

कबीर-संज्ञा पुं० [अ० अबीर=बड़ा, श्रेष्ठ] (१) एक प्रसिद्ध वैष्णव भक्त का नाम।

यौ०—कबीरपंथी।

(२) एक प्रकार का गीत वा पद जो होली में गाया जाता है प्रायः अश्लील होता है। उ०—अररर कबीर। तब के बाभन व रहे पढ़ते बेद पुरान। अब के बाभन अस भये जो लेत घाट पर दान। भला हम साँच कहैं में ना डरबै।

वि० [अ०] श्रेष्ठ। बड़ा। जैसे, अमीर कबीर।

कबीरपंथी-वि० [हिं० कबीर+पंथ] कबीर का मतानुयायी। कबीर संप्रदाय का। जैसे, कबीरपंथी साधु।

कबीर-बड़-संज्ञा पुं० [अ० कबीर=बड़ा+सं० वट=बड़] नर्मदा के किनारे भड़ौंच के पास का एक बड़ का पेड़ जिसका फैलाव या घेरा १४००० हाथ है और जिसके नीचे ७००० आदमी आराम से टिक सकते हैं।

क़बीला-संज्ञा स्त्री० [अ०] स्त्री। जोरू।

कबीला-संज्ञा पुं० दे० "कमीला"।

कबुलवाना-क्रि० स० [हिं० कबूलना का प्रे० रूप] क़बूल करवाना। स्वीकार करवाना।

कबुलाना-क्रि० स० [हिं० कबूलना का प्रे० रूप] क़बूल कराना। उ०—भगवत भक्ति करन कबुलाई। तुरत आपने सदन सिधाई।—रघुराज।

कबूतर-संज्ञा पुं० [फ़ा०, मिलाओ सं० कपोतः] [स्त्री० कबूतरी] एक पक्षी जो कई रंगों का होता है और जिसके आकार भी कुछ

भिन्न भिन्न होते हैं। पैर में तीन उँगलियाँ आगे और एक पीछे होती है। यह अपने स्थान को अच्छी तरह पहचानता है और कभी भूलता नहीं। यह झुंड में चलता है। मादा दो अंडे देती है। केवल हर्ष के समय यह गुटरगूँ का अस्पष्ट स्वर निकालता है। पीड़ा के तथा और दूसरे अवसरों पर नहीं बोलता। इसे मार भी डालें तो यह मुँह नहीं खोलता। गिरहबाज़, गोला, लोटन, लक्का, शीराजी, बुग़दादी इत्यादि इसकी बहुत सी जातियाँ होती हैं। शिखावाले कबूतर भी होते हैं। गिरहबाज़ कबूतरों से लोग कभी कभी चिट्ठी भेजने का भी काम लेते हैं।

क्रि० प्र०—उड़ाना=कबूतरबाज़ी करना।

कबूतरझाड़-संज्ञा पुं० [हिं० कबूतर+झाड़] पित्तपापड़े की तरह की एक झाड़ी।

कबूतरबाज़-वि० [फ़ा०] जिसे कबूतर पालने और उड़ाने की लत हो।

कबूतरबाज़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] कबूतर पालने की लत।

कबूतरी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कबूतर] (१) कबूतर की मादा। (२) नाचनेवाली। (३) सुंदर स्त्री। (बाज़ारू)

कबूद-वि० [फ़ा०] नीला। आसमानी। कासनी।

संज्ञा पुं० बंसलोचन का एक भेद जिसे 'नीलकंठी' भी कहते हैं।

कबूदी-वि० [फ़ा०] नीला। आसमानी।

क़बूल-संज्ञा पुं० [अ०] [संज्ञा क़बूलियत, क़बूली] स्वीकार। अंगीकार। मंजूर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—क़बूल सूरत=सुंदर। रूपवान।

संज्ञा पुं० [?] ताजक ज्योतिष के १६ योगों में से एक।

कबूलना-क्रि० स० [अ० क़बूल+ना (प्रत्य०)] स्वीकार करना। सकारना। मंजूर करना।

कबूलियत-संज्ञा स्त्री० [अ०] वह दस्तावेज़ जो पट्टा लेनेवाला पट्टे की स्वीकृति में ठेका वा पट्टा देनेवाले को लिख दे। स्वीकारपत्र।

क़बूली-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] चने की दाल की खिचड़ी।

क़ब्ज़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) ग्रहण। पकड़। अवरोध।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—रूह क़ब्ज़ होना=होश गुम होना।

(२) दस्त का साफ़ न होना। मलावरोध। (३) मुसलमान राज्य के समय का एक नियम जिसके अनुसार कोई फ़ौजी अफ़सर फ़ौज के तनख़ाह के लिये किसी ज़मींदार से सरकारी लगान वसूल करता था।

विशेष—यह दो प्रकार का होता था (१) लाकलामी और (२) अमानी वा वसूली। क़ब्ज़ लाकलामी वह कहलाता था जिसके अनुसार फ़ौजी अफ़सर को तनख़ाह का नियमित रुपया पहले ही दे देना पड़ता था, चाहे उसे उस ज़मींदारी से उतना रुपया वसूल हो या न हो। क़ब्ज़ अमानी वा वसूली वह कहलाता था जिसके अनुसार वह फ़ौजी अफ़सर उतना रुपया वसूल करता था जितना वह कर सके। इसके लिये उस फ़ौजी अफ़सर को ५) सैकड़ा कमीशन भी मिलता था। इस दस्तूर को अकबर ने बंद कर दिया था; परंतु अवध के नव्वाबों ने इसे फिर जारी किया था।

(३) वह शाही हुक्मनामा जिसके अनुसार उक्त फ़ौजी अफ़सर ऐसा रुपया वसूल करता था।

यौ०—क़ब्ज़दार।

क़ब्ज़ा—संज्ञा पुं० [अ०] (१) मूँठ। दस्ता। जैसे,—तलवार का क़ब्ज़ा। दराज का क़ब्ज़ा।

मुहा०—क़ब्ज़े पर हाथ डालना=(१) तलवार खींचने के लिये मूँठ पर हाथ ले जाना। (२) दूसरे की तलवार की मूँठ को पकड़ लेना और उसे तलवार न निकालने देना। दूसरे की तलवार को साहस से पकड़ना। क़ब्ज़े पर हाथ रखना=किसी के मारने के लिये तलवार की मूँठ पकड़ना। तलवार खींचने पर उतारू होना।

(२) लोहे वा पीतल की चद्दर के बने हुए दो चौखूँटे टुकड़े जो पकड़ से जुड़े रहते हैं और सलाई पर घूम सकते हैं। इन से दो पल्ले वा टुकड़े इस प्रकार जोड़े जाते हैं जिसमें वे घूम सकें। किवाड़ों और संदूकों आदि में ये जड़े जाते हैं। नरमादगी। पकड़। (३) दखल। अधिकार। वश। इख़्तियार।

यौ०—क़ब्ज़ादार।

क्रि०प्र०—करना।—जमना।—पाना।—मिलना।—होना।

मुहा०—क़ब्ज़ा उठना=अधिकार का जाता रहना।

(४) दंड। भुजदंड। डाँड। बाज़ू। मुश्क। (५) कुश्ती का एक पेंच।

विशेष—यदि विपक्षी कलाई पकड़ता है तो खिलाड़ी दूसरे हाथ से उस पर चोट करता है अथवा अपने खाली हाथ से उसकी कलाई पर चोट करता है अथवा अपने खाली हाथ से उसकी कलाई पर झटका देता है और अपना हाथ खींच लेता है। इसे "गट्टा" वा "पहुँचा" भी कहते हैं।

क़ब्ज़ादार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [भाव० संज्ञा क़ब्ज़ादारी] (१) वह अधिकारी जिसका क़ब्ज़ा हो। (२) दख़ीलकार असामी (अवध)।

वि० जिसमें कब्ज़ा लगा हो।

क़ब्ज़ियत-संज्ञा स्त्री० [अ०] पायखाने का साफ़ न आना। मलावरोध।

क़ब्ज़ुलवसूल-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह काग़ज़ जिस पर तनख़ाह पानेवालों की भरपाई लिखी हुई हो।

क़ब्र-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वह गड्ढा जिसमें मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि अपने मुर्दे गाड़ते हैं। (२) वह चबूतरा जो ऐसे गड्ढे के ऊपर बनाया जाता है।
यौ०—क़ब्रिस्तान।
मुहा०—क़ब्र का मुँह झाँकना वा झाँक आना=मरते मरते बचना। उ०—वह कई बार क़ब्र का मुँह झाँक चुका है। क़ब्र में पैर वा पाँव लटकाना=(१) मरने को होना। मरने के क़रीब होना। बहुत बुड्ढा होना।

क़ब्रिस्तान-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह स्थान जहाँ बहुत सी क़ब्रें हों। वह स्थान जहाँ मुर्दे गाड़े जाते हों।

कभी-क्रि० वि० [हिं० कब+ही] (१) किसी समय। किसी घड़ी। किसी अवसर पर। जैसे,—(क) तुम वहाँ कभी गए हो? (ख) हम वहाँ कभी नहीं गए हैं।
विशेष—'कब' का प्रयोग उस स्थान पर होता है जहाँ क्रिया निश्चित होती है। जैसे,—तुम वहाँ कब गए थे? 'कभी' का प्रयोग उस स्थान पर होता है जहाँ क्रिया और समय दोनों अनिश्चित होते हैं। जैसे,—तुम वहाँ कभी गए हो?
मुहा०—कभी का=बहुत देर से। कभी कभी=कुछ काल के अंतर पर। बहुत कम। कभी कभार=कभी कभी। कभी न कभी=किसी न किसी समय। आगे चलकर अवश्य किसी अवसर पर। जैसे,—कभी न कभी तुम अवश्य हमसे माँगने आओगे। कभी कुछ कभी कुछ=एक ढंग पर नहीं। (इस वाक्य का व्याकरण संबंध दूसरे वाक्य के साथ नहीं रहता, जैसे,—उनका कुछ ठीक नहीं, कभी कुछ कभी कुछ)।

कभू*-क्रि० वि० दे० "कभी"।

कमंगर-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमानगर] (१) कमान बनानेवाला। कमानसाज़। (२) हड्डियों को बैठानेवाला। हाथ, पाँव या किसी जोड़ की उखड़ी हुई हड्डी को मलकर वा दवा से असली जगह पर ले जानेवाला। (३) चितेरा। मुसौवर।
वि०† किसी फ़न का उस्ताद। दक्ष। कुशल। निपुण। कारीगर।

कमंगरी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमानगर] (१) कमान बनाने का पेशा वा हुनर। (२) हड्डी बैठाने का काम। (३) मुसौवरी।

कमंचा-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमानच] बढ़ई का कमान की तरह का एक टेढ़ा औज़ार जिसमें बँधी रस्सी को बरमे में लपेटकर उसे घुमाते हैं।

कमंडल-संज्ञा पुं० दे० "कमंडलु"।

कमंडली-वि० [सं० कमंडलु+ई (प्रत्य०)] (१) कमंडलु रखनेवाला। साधु। वैरागी। (२) पाखंडी। आडंबरी।
संज्ञा पुं० ब्रह्मा। उ०—मुख तेज सहस दस मंडली बुधि दस सहस कमंडली। नृप चहूँ ओर सोहित भली मंडलीक की मंडली।—गोपाल।

कमंडलु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संन्यासियों का जलपात्र, जो धातु, मिट्टी, तुमड़ी, दरियाई नारियल आदि का होता है। (२) पाकर वा पक्कड़ का पेड़।

कमंद*-संज्ञा पुं० [सं० कबंध] बिना सिर का धड़। कबंध। उ०—(क) शीश सिखै साँई लखै भल बाँका असवार। कमँद कबीरा किलकिया केता किया शुमार।—कबीर। (ख) जब लग धर पर सीस है सूर कहावै कोय। माथा टूटै धर लरै कमँद कहावै सोय।—कबीर।
संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) रेशम, सूत वा चमड़े की फंदेदार रस्सी जिसे फेंककर जंगली पशु आदि फँसाए जाते हैं। लड़ाई में इससे शत्रु भी बाँधे और खींचे जाते थे। फंदा। पाश। (२) फंदेदार रस्सी जिसे फेंककर चोर, डाकू आदि ऊँचे मकानों पर चढ़ते हैं। फंदा।
क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।—फेंकना।—लगाना।

कमंध-संज्ञा पुं० (१) दे० "कबंध"। (२) कलह। लड़ाई। झगड़ा।
क्रि० प्र०—मचना।—मचाना।

कम-वि० [फ़ा०] (१) थोड़ा। न्यून। अल्प। तनिक।
यौ०—कमअक्ल=अल्प बुद्धि का। कमज़ोर। कमज़ात। कम सिन=थोड़ी अवस्था का।
मुहा०—कम से कम=अधिक नहीं तो इतना अवश्य। जैसे,—कम से कम एक बार वहाँ हो तो आइए। (इस मुहावरे के साथ "तो" प्रायः आता है।)
(२) बुरा। जैसे,—कमबख़्त। कमअसल।
क्रि० वि० प्रायः नहीं। बहुधा नहीं। जैसे,—(क) वे अब कम आते हैं। (ख) वे अब कम मिलते हैं।

कमअसल-वि० [फ़ा० कम+अ० असल] वर्णसंकर। दोगला।

कमकस-वि० [हिं० काम+कसना] काम से जी चुरानेवाला। काहिल। सुस्त। कामचोर। उ०—जिस देश के बहुत मनुष्य सावधान और उद्योगी होते हैं, उसकी उन्नति होती जाती है; और जिस देश में असावधान और कमकस विशेष होते हैं, उसकी अवनति होती जाती है।—परीक्षागुरु।

कमख़ाब-संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का मोटा और गफ़ रेशमी कपड़ा जिस पर कलाबत्तू के बेल बूटे बने होते हैं। यह एक-रुख़ा और दो-रुख़ा दोनों तरह का होता है। इसका थान चार साढ़े चार गज़ का होता है और बड़े दामों पर बिकता है। यह काशी में बुना जाता है।

कमख़ोरा-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमख़ोर] चौपायों के मुँह का एक रोग जिसमें वे खाना नहीं खा सकते।

कमचा—संज्ञा पुं० (१) दे० "कमची"। (२) दे० "कमंचा"।

कमची-संज्ञा स्त्री० [तु०। सं० कंचिका] (१) बाँस, झाऊ आदि की पतली लचीली टहनी जिससे टोकरी बनाई जाती है। बाँस की पतली लचीली धज्जी। तीली। (२) पतली लचदार छड़ी।

क्रि० प्र०—लगाना ।

(३) लकड़ी आदि की पतली फट्टी ।

कमच्छा-संज्ञा स्त्री० [सं० कामाख्या] आसाम प्रांत में कामरूप की एक प्रसिद्ध देवी । उ०—कौरूँ देस कमच्छा देवी तहाँ बसै इस्माइल जोगी ।

कमज़ोर-वि० [फ़ा०] दुर्बल । निर्बल । अशक्त ।

कमज़ोरी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] निर्बलता । दुर्बलता । नाताक़ती । अशक्तता ।

कमटा-संज्ञा पुं० [देश०] एक छोटा कँटीदार पौधा ।

कमटी-संज्ञा स्त्री० [तु० कमची] पेड़ की पतली लचीली टहनी ।
संज्ञा स्त्री० [सं० कमठ=बाँस] बाँस या लकड़ी की लचीली धज्जी । फट्टी ।

कमठ-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कमठी] (१) कछुआ । कच्छप । (२) साधुओं का तुंबा । (३) बाँस । (४) सलई का पेड़ । (५) एक दैत्य का नाम । (६) एक पुराना बाजा जिस पर चमड़ा मढ़ा रहता था ।

कमठा-संज्ञा पुं० [सं० कमठ=बाँस] (१) धनुष । कमान । (२) जैनियों के एक महात्मा का नाम जिसने तपोबल से सकाम निर्जरा प्राप्त की थी ।

कमठी-संज्ञा पुं० [सं०] कछुई । उ०—कहा भयो कपट जुआ जौ हौं हारी ।..............सकुचि गात गोवत कमठी ज्यों हहरी हृदय बिकल भइ भारी ।—तुलसी ।
संज्ञा स्त्री० [सं० कमठ=बाँस] बाँस की पतली लचीली धज्जी । फट्टी ।

कमती-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कम+त, ती (प्रत्य०)] कमी । घटती । जैसे,—(क) दाम में कुछ कमती बढ़ती नहीं करेंगे । (ख) उनके यहाँ कुछ कमती है ?
वि० कम । थोड़ा । जैसे,—वह सौदा कमती देता है ।

कमनचा-संज्ञा पुं० दे० "कमंचा" ।

कमना*‡-क्रि० अ० [फ़ा० कम] कम होना । न्यून होना । घटना । उ०—दोउ श्रमत नहिं पद भ्रमत नहिं उर कमत कोप न थोर । बहु विधि अखंडल कहत मंडल तनु बराबर जोर ।—रघुराज । (ख) कमिहै नहिं यह द्रव्य सुहाई । वचन मानि मम अब घर जाई ।—रघुराज ।

विशेष—यह प्रयोग अनुचित और व्यवहार विरुद्ध है ।

कमनीय-वि० [सं०] (१) कामना करने योग्य । (२) मनोहर । सुंदर ।

कमनैत-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमान+हिं० ऐत (प्रत्य०)] [संज्ञा कमनैती] कमान चलानेवाला । तीरंदाज़ । उ०—मानो अरविंदन पै चंद्र को चढ़ाय दीनी मान कमनैत बिन रोदा की कमानै है ।—पद्माकर । (ख) नई कमनैत नई ये कमान नये नये बान नई नई चोटैं ।

कमनैती-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमान+हिं० ऐती (प्रत्य०)] तीर चलाने की विद्या । तीरंदाज़ी । धनुर्विद्या । उ०—(क) तिय कत कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान । चित चल बेझे चुकति नहिं बंक विलोकनि बान ।—बिहारी । (ख) निरखत मन घनश्याम कहि भेंटन उठति जु बाम । बिकल बीच ही करत जनु करि कमनैती काम ।—पद्माकर ।

कमबख़्त-वि० [फ़ा०] भाग्यहीन । अभागा । बदनसीब ।

कमबख़्ती-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बदनसीबी । दुर्भाग्य । अभाग्य ।
क्रि० प्र०—आना ।

कमयाब-वि० [फ़ा०] जो कम मिले । दुष्प्राप्य । दुर्लभ ।

कमरंग-संज्ञा पुं० दे० "कमरख" ।

कमर-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) शरीर का मध्य भाग जो पेट और पीठ के नीचे और पेड़ू और चूतड़ के ऊपर होता है । शरीर के बीच का घेरा जो पेट और पीठ के नीचे पड़ता है । कटि ।
यौ०—कमरकस । कमर-दोआल । कमरबंद । कमरबस्ता ।
मुहा०—**कमर करना**=(१) घोड़ों का इस प्रकार कमर उछालना कि सवार का आसन उखड़ जाय । (२) कबूतर का कलाबाजी करना । **कमर कसना**=(१) किसी काम को करने के लिये तैयार होना । उद्यत होना । उतारू होना । तत्पर होना । कटिबद्ध होना । (२) चलने की तैयारी करना । गमनोद्यत होना । (३) किसी काम को करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करना । संकल्प करना । इरादा करना । **कमर खोलना**=(१) कमरबंद उतारना । पटका खोलना । पेटी खोलना । (२) विश्राम करना । दम लेना । सुस्ताना । ठहरना । (३) किसी काम को करने का विचार छोड़ देना । संकल्प छोड़ना । (४) किसी उद्यम से मन हटाना । किसी उद्योग का ध्यान छोड़ देना । निश्चिंत बैठना । (५) हिम्मत हारना । हतोत्साह होना । **कमर टूटना**=आशा टूटना । निराश होना । उत्साह का न रहना । जैसे,—जब से उनका लड़का मरा, तब से उनकी कमर टूट गई । **कमर तोड़ना**=हताश करना । निराश करना । **कमर बाँधना**=(१) कमर में पटका या दुपट्टा बाँधना । कमरबंद बाँधना । पेटी लगाना । (२) दे० "कमर कसना" । **कमर बैठ जाना**=दे० "कमर टूटना" । **कमर सीधी करना**=ओठँगकर विश्राम करना । लेटकर थकावट मिटाना ।

(२) कुश्ती का एक पेंच जो कमर या कूल्हे से किया जाता है ।

क्रि० प्र०—करना ।

मुहा०—**कमर की टँगड़ी**=कुश्ती का एक पेंच । जब शत्रु पीठ पर रहता है और उसका बायाँ हाथ कमर पर होता है, तब खिलाड़ी अपना भी बायाँ हाथ उसकी बगल में से ऊपर चढ़ाकर कमर पर ले जाता है और बाँई टँगड़ी मारते हुए चूतड़ से उठाकर उसे सामने गिराता है ।

(३) किसी लंबी वस्तु के बीच का वह भाग जो पतला वा धँसा हुआ हो। जैसे,—कोल्हू की कमर=कोल्हू का वह गड़ारीदार मध्य भाग जिस पर कनेठा और भुजेला घूमते हैं। (४) अँगरखे वा सलूके आदि का वह भाग जो कमर पर पड़ता है। लपेट।

यौ०—कमरपट्टी।

कमरकस-संज्ञा पुं० [हि० कमर+फ़ा० कश] पलास की गोंद। ढाक की गोंद। चुनिया गोंद।

विशेष—यह गोंद पलास के पेड़ से आपसे आप भी निकलती है और पाछकर भी निकाली जाती है। इसके लाल लाल चमकीले टुकड़े बाज़ारों में बिकते हैं जो स्वाद में कसैले होते हैं। यह गोंद पुष्टई की दवाओं में पड़ती है। वैद्यक में इसे मलरोधक तथा संग्रहणी और खाँसी को दूर करनेवाला माना जाता है।

कमर-कसाई-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमर+कसना] वह रुपया पैसा जो सिपाही लोग अगले समय में अपने असामियों को पेशाब पाख़ाने की छुट्टी देने के बदले में वसूल करते थे।

कमरकोट, कमकोटा-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमर+हिं० कोट] (१) कमर भर या और ऊँची दीवार जो प्रायः किलों और नगरों की चार-दीवारियों के ऊपर होती है और जिसमें कँगूरे और छेद होते हैं। (२) रक्षा के लिये घेरी हुई दीवार।

कमरकोठा-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमर+हिं० कोठा] कोठे की वह कड़ी वा धरन जो दीवार के बाहर निकली हो।

कमरख-संज्ञा पुं० [सं० कर्मरंग, पा० कम्मरंग] (१) मध्यम आकार के एक पेड़ का नाम जो हिंदुस्तान के प्रायः सभी प्रांतों में मिलता है। इसकी पत्तियाँ अंगुल डेढ़ अंगुल चौड़ी, दो अंगुल लंबी और कुछ नुकीली होती हैं तथा सीकों में लगती हैं। यह जेठ असाढ़ में फूलता है। फूल झड़ जाने पर लंबे लंबे पाँच फाँकोंवाले फल लगते हैं जो पूस माघ में पकते हैं और पककर खूब पीले होते हैं। कच्चे फल खट्टे और पक्के खटमिट्ठे होते हैं। इनमें कसाव बहुत होता है इसीलिये लोग पक्के फलों में चूना लगाकर खाते हैं। फल अधिकतर अचार चटनी आदि के काम में आता है। कच्चे फल रँगाई के काम में भी आते हैं। इससे लोहे के मूर्चे का रंग दूर हो जाता है। वैद्य लोग इसके फल, जड़ और पत्तियों को ओषध के काम में लाते हैं। खाज के लिये यह अत्यंत उपयोगी माना जाता है। कर्मरंग। कमरंग। (२) इस पेड़ का फल।

कमरखी-वि० [हि० कमरख] कमरख के जैसा। कमरख के समान फाँकदार। जिसमें कमरख के ऐसी उभड़ी हुई फाँकें हों। जैसे, कमरखी गिलास। कमरखी चिलम।

संज्ञा स्त्री० किसी गोल चीज़ के किनारे पर कटी हुई कँगूरेदार फाँकें।

क्रि० प्र०—काटना।—काढ़ना।—बनाना।

कमरचंडी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमर+सं० चंडी] तलवार।—डिं०।

कमरटूटा-वि० [फ़ा० कमर+हिं० टूटना] कुब्ज। कुबड़ा। (२) नामर्द। सुस्त।

कमरतेगा-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमर+हिं० तेग] कुश्ती का एक पेंच।

कमरतोड़-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमर+हिं० तोड़ना] कुश्ती का एक पेंच।

कमर-दोआल-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमर+दोआल] चमड़े का वह तसमा जिससे घोड़े की पीठ पर ज़ीन आदि कसी जाती है।

कमरपट्टी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमर+हिं० पट्टी] एक पतली पट्टी जो अँगरखे, सलूके आदि के घेरे में छाती के नीचे और कमर के ऊपर चारों ओर लगाई जाती है।

कमरपेटा-संज्ञा पुं० [फ़ा० कमर+हिं० पेटा] (१) मालखंभ की एक कसरत जो दो प्रकार की होती है। एक में तो बेंत को कमर में लपेटते और उसके छोर को दोनों अँगूठों में तानकर ऐसा खींचते हैं कि एँड़ी चूतड़ के पास लग जाती है और कसरत करनेवाला अपना धड़ नीचे झुकाकर हाथ छोड़ता हुआ झोंका खाता है। दूसरी में पहले मालखंभ पर सीधी पकड़ से चढ़ते हैं। फिर जब पूर्वकाय नीचा हो जाता है, तब कसरत करनेवाला एक तरफ़ की टाँग से मालखंभ को लपेटता और खूब दबाता तथा रियारी की पकड़ करता हुआ बराबर रहे देता है।

यौ०—कमर लपेटे की उलटी=मालखंभ की एक कसरत जिसमे पहले कमर-लपेटा बाँधकर अगला धड़ हाथ समेत पीठ पर उलटा लटकाते और फिर शरीर मोड़कर उलटी के समान सवारी बाँधते हैं।

(२) कुश्ती का एक पेंच। जब प्रतिद्वंदी नीचे होता है, तब खिलाड़ी अपनी दाहिनी टाँग को उसकी कमर में डाल और दूसरी ओर निकालकर बाएँ पैर की जाँघ और पिंडली के बीच फँसाता है। फिर बाएँ हाथ के पंजे को विपक्षी के बाएँ हाथ के घुटने के पास भीतर से अड़ाता और दहिने हाथ से उसकी दहिनी भुजा निकालकर वा आगे बढ़ाकर हसले के पेंच से उसे चित्त करता है।

कमरबंद-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [भाव० संज्ञा कमरबंदी] (१) लंबा कपड़ा जिससे कमर बाँधते हैं। पटुका। (२) पेटी। (३) इज़ारबंद। नाड़ा। (४) वह रस्सी या डोरी जो किसी पदार्थ के मध्य भाग के चारों ओर लपेटी जाय।

क्रि० प्र०—बाँधना।—लगाना।

(५) लहासी जिसमें एक जहाज़ को दूसरे जहाज़ से बाँधते हैं वा जिसमें लंगर बाँधते हैं। (६) जहाज़ के किनारे अँवठ से नीचे बाहर की तरफ़ चारों ओर कमानी की तरह निकले हुए तख़्ते जिनमें कुलावे लगे रहते हैं। ये तख़्ते बाहर से जहाज़ की मज़बूती के लिये

लगाए जाते हैं। (७) जहाज़ के किनारे बाहरी तरफ़ की रंगीन लकीरें वा धारियाँ।

वि० कमर कसे तैयार। मुस्तैद। कटिबद्ध।

कमरबंदी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] लड़ाई की तैयारी। मुस्तैदी।

कमरबंध–संज्ञा पुं० [फ़ा० कमर+हिं० बाँधना] कुश्ती का एक पेंच।

विशेष—जब दोनों पहलवानों की कमर परस्पर बँधी रहती है और दोनों ओर से पूरा ज़ोर लगता रहता है, तब खिलाड़ी विपक्षी को छाती के बल से अपनी ओर खींचकर दबाता है और बाहरी टाँग मारकर चित्त करता है।

कमरबल्ला–संज्ञा पुं० [फ़ा० कमर+बल्ला] खपड़े की छाजन में वह लकड़ी जो पटुका वा तड़क के ऊपर और कोरों के नीचे लगाई जाती है। कमरबस्ता।

कमरबस्ता–वि० [फ़ा०] (१) तैयार। प्रस्तुत। कटिबद्ध। सन्नद्ध। (२) हथियारबंद। (३) दे० "कमरबल्ला"।

कमरा–संज्ञा पुं० [लै० कैमेरा] (१) कोठरी। (२) फोटोग्राफी का एक औज़ार जो संदूक के ऐसा होता है और जिसके मुँह पर लेंस वा प्रतिबिंब उतारने का गोल शीशा लगा रहता है। इस संदूक को आवश्यकतानुसार फैला वा सिकोड़ सकते हैं। संदूक में पीछे की ओर अर्थात् लेंस के सामने एक ग्राउंड ग्लास (कोरा शीशा) होता है जिस पर पहले फोकस करते हैं फिर उस ग्राउंड ग्लास को निकालकर स्लाइड रखते हैं जिसके भीतर प्लेट रहता है। स्लाइड का परदा हटा देने से प्लेट खुल जाता है और लेंस खोलने से उस पर अक्स पड़ता है। कमरा दो प्रकार का होता है, एक भाथी-दार और दूसरा सरकौआँ।

संज्ञा पुं० दे० (१) कंबल। (२) कमला।

कमरिया–संज्ञा पुं० [फ़ा० कमर] एक प्रकार का हाथी जो डील डौल में छोटा पर बहुत ज़बरदस्त होता है। इसकी सूँड़ लंबी और पैर मोटे होते हैं। बौना हाथी। नाटा हाथी।

‡संज्ञा स्त्री० दे० "कमली" वा "कमरी"।

‡संज्ञा स्त्री० दे० "कमर"।

कमरी–‡संज्ञा स्त्री० दे० "कमली"।

संज्ञा पुं० एक रोग जिसके कारण घोड़े सवार वा बोझ को देर तक पीठ पर लेकर नहीं चल सकते, उनकी पीठ दबने वा काँपने लगती है।

वि० [हिं० कमर] चलने में पीठ मारनेवाला (घोड़ा)। कमज़ोर वा कच्ची पीठ का (घोड़ा)। कुबड़ा।

विशेष—कमरी घोड़े की पीठ कमज़ोर होती है, इसी से वह बोझ वा सवारी लेकर बहुत दूर तक नहीं चल सकता, थोड़ी ही दूर में उसकी पीठ गरमा जाती है और वह बार बार पीठ कँपाता है। ऐसा घोड़ा ऐबी समझा जाता है।

संज्ञा स्त्री० (१) चरखी की मुँड़ी में लगी हुई डेढ़ बालिश्त की लंबी लकड़ी। † (२) छोटी फतुई। सलूका।

संज्ञा पुं० जहाज़ जिसकी कमर टूट गई हो। टूटा जहाज़।

कमरेंगा–संज्ञा पुं० [देश०] बंगाल की एक प्रकार की मिठाई।

कमल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी में होनेवाला एक पौधा जो प्रायः संसार के सभी भागों में पाया जाता है। यह झीलों, तालाबों, नदियों और गड्ढों तक में होता है। इसका पेड़ बीज से जमता है। रंग और आकार के भेद से इसकी बहुत सी जातियाँ होती हैं, पर अधिकतर लाल, सफ़ेद और नीले रंग के कमल देखे गए हैं। कहीं कहीं पीला कमल भी मिलता है। कमल की पेड़ी पानी में जड़ से पाँच छः अँगुल के ऊपर नहीं आती। इसकी पत्तियाँ गोल गोल बड़ी थाली के आकार की होती हैं और बीच के पतले डंठल में जुड़ी रहती हैं। इन पत्तियों को पुरइन कहते हैं। इनके नीचे का भाग जो पानी की तरफ़ रहता है बहुत नरम और हलके रंग का होता है; पर ऊपर का भाग बहुत चिकना, चमकीला और गहरे हरे रंग का होता है। कमल चैत बैसाख में फूलने लगता है और सावन भादों तक फूलता है। फूल लंबे डंठल के सिरे पर होता है तथा डंठल वा नाल में बहुत से महीन महीन छेद होते हैं। डंठल वा नाल तोड़ने से महीन सूत निकलता है जिसे बटकर मंदिरों में जलाने की बत्तियाँ बनाई जाती हैं। प्राचीन काल में इसके कपड़े भी बनते थे। वैद्यक में लिखा है कि इस सूत के कपड़े से ज्वर दूर हो जाता है। कमल की कली प्रातःकाल खिलती है। सब फूलों के पंखड़ियों या दलों की संख्या समान नहीं होती। पंखड़ियों के बीच में केसर से घिरा हुआ एक छत्ता होता है। कमल की गंध भौंरे को बड़ी प्यारी लगती है। मधुमक्खियाँ कमल के रस को लेकर मधु बनाती हैं जो आँख के रोग के लिये उपकारी होता है। भिन्न भिन्न जाति के कमल के फूलों की आकृतियाँ भिन्न भिन्न होती है। उमरा (अमेरिका) टापू में एक प्रकार का कमल होता है जिसके फूल का व्यास १५ इंच और पत्ते का व्यास साढ़े छः फुट होता है। पंखड़ियों के झड़ जाने पर छत्ता बढ़ने लगता है और थोड़े दिनों में उसमें बीज पड़ जाते हैं। बीज गोल गोल लंबोतरे होते हैं और पकने और सूखने पर काले हो जाते हैं और कमलगट्टा कहलाते हैं। कच्चे कमलगट्टे को लोग खाते और उसकी तरकारी बनाते हैं, सूखे दवा के काम में आते हैं। कमल की जड़ मोटी और सूराख़दार होती है और भसीड़, भिस्सा वा मुरार कहलाती है। इसमें से भी तोड़ने पर सूत निकलता है। सूखे दिनों में पानी कम होने पर जड़ अधिक मोटी और बहुतायत से होती है। लोग इस की तरकारी बनाकर खाते हैं। अकाल के दिनों में ग़रीब

लोग इसे सुखाकर आटा पीसते हैं और अपना पेट पालते हैं। इसके फूलों के अंकुर वा उसके पूर्व रूप प्रारंभिक दशा में पानी से बाहर आने के पहले नरम और सफ़ेद रंग के होते हैं और पौनार कहलाते हैं। पौनार खाने में मीठा होता है। एक प्रकार का लाल कमल होता है जिसमें गंध नहीं होती और जिसके बीज से तेल निकलता है। रक्त कमल भारत के प्रायः सभी प्रांतों में मिलता है। इसे संस्कृत में कोकनद, रक्तोत्पल, हल्लक इत्यादि कहते हैं। श्वेत कमल काशी के आस पास और अन्य स्थानों में होता है। इसे शतपत्र, महापद्म, नल, सितांबुज इत्यादि कहते हैं। नील कमल विशेष कर काश्मीर के उत्तर तिब्बत और कहीं कहीं चीन में होता है। पीत कमल अमेरिका, साइबेरिया, उत्तर जर्मनी इत्यादि देशों में मिलता है।

यौ०—कमलगट्टा। कमलज। कमलनाभ। कमलनयन।

पर्या०—अरविंद। उत्पल। सहस्रपत्र। शतपत्र। कुशेशय। पंकज। पंकेरुह। तामरस। सरस। सरसीरुह। बिसप्रसून। राजीव। पुष्कर। पंकज। अंभोरुह। अंभोज। अंबुज। सरसिज। श्रीवास। श्रीपर्ण। इंदिरालय। जलजात। कोकनद। बनज इत्यादि।

विशेष—जल वाचक सब शब्दों में 'ज', 'जात', आदि लगाने से कमल-वाची शब्द बनते हैं; जैसे, वारिज, नीरज, कंज आदि।

(२) कमल के आकार का एक मांस-पिंड जो पेट में दाहिनी ओर होता है। क्लोमा।

मुहा०—कमल खिलना=चित्त आनंदित होना। जैसे—आज तुम्हारा कमल खिला है।

(३) जल। पानी। उ०—हृदय-कमल नैन-कमल, देखि कै कमलनैन, होहुँगी कमलनैनी और हौं कहा कहों।—केशव। (४) ताँबा। (५) [स्त्री० कमली] एक प्रकार का मृग। (६) सारस। (७) आँख का कोया। डेला। (८) कमल के आकार का पहल काटकर बना हुआ रत्नखंड। (९) योनि के भीतर कमलाकार अँगूठे के अगले भाग के बराबर एक गाँठ जिसके ऊपर एक छेद होता है। यह गर्भाशय का मुख वा अग्रभाग है। फूल। धरन। टणा।

मुहा०—कमल उलट जाना=बच्चेदान वा गर्भाशय के मुँह का अपवर्तित हो जाना जिससे स्त्रियाँ वंध्या हो जाती हैं।

(१०) ध्रुवताल का दूसरा भेद जिसमें गुरु, लघु, द्रुत द्रुतविराम, लघु और गुरु, यथाक्रम होते हैं। 'धिधिकट धाकिट धिमिकिट, धरि, थरकु, गिड़ि गिड़ि, दिदिगन, थों।' (११) दीपक राग का दूसरा पुत्र। इसकी भार्य्या का नाम जयजयवंती है। (१२) मात्रिक छंदों में छः मात्राओं का एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में गुरु लघु गुरु लघु (ऽ।ऽ।) होता है। जैसे, दीन बंधु। शील सिंधु। (१३) छप्पय के ७१ भेदों में से एक। इसमें ४३ गुरु, ६६ लघु, १०९ वर्ण और १५२ मात्राएँ होती हैं। (१४) एक प्रकार का वर्णवृत्त जिसका प्रत्येक चरण एक नगण का होता है। जैसे, न बन, भजन, कमल, नयन। (१५) काँच का एक प्रकार का गिलास जिसमें मोमबत्ती जलाई जाती है। (१६) एक प्रकार का पित्त रोग जिसमें आँखें पीली पड़ जाती हैं और पेशाब भी पीला आता है। पीलू। कमला। काँवर। (१७) मूत्राशय। मसाना। मुतवर।

कमलअंडा—संज्ञा पुं० [सं० कमल+हिं० अंडा] कंवलगट्टा।

कमलकंद—संज्ञा पुं० [सं०] कमल की जड़। भिस्सा। भसीड़। मुरार।

कमलगट्टा—संज्ञा पुं० [सं० कमल+हिं० गट्टा] कमल का बीज। पद्मबीज। कमलाक्ष। (कमल के बीज छत्ते में से निकलते हैं। इनका छिलका कड़ा होता है। छिलके के भीतर सफ़ेद रंग की गिरी निकलती है जिसे वैद्य लोग ठंढी और मूत्र-कारक मानते हैं तथा वमन, डकार आदि कई रोगों में देते हैं। कमलगट्टा पुष्टई में भी पड़ता है।)

कमलगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] कमल का छत्ता।

कमलज—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

कमलनयन—वि० [सं०] [स्त्री० कमलनैनी] जिसकी आँखें कमल की पंखड़ी की तरह बड़ी और सुंदर हों। सुंदर नेत्रवाला। संज्ञा पु० (१) विष्णु। (२) राम। (३) कृष्ण।

कमलनाभ—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

कमलनाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल की डंडी जिसके ऊपर फूल रहता है। मृणाल।

कमलबंध—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चित्रकाव्य जिसके अक्षरों को एक विशेष क्रम से लिखने से कमल के आकार का एक चित्र बन जाता है।

कमलबंधु—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

कमलबाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० कमल+बाई] एक रोग जिसमें शरीर, विशेष कर आँख पीली पड़ जाती है।

कमलभव—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

कमलभू—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

कमलमूल—संज्ञा पु० [सं०] भसीड़। मुरार।

कमलयोनि—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

कमला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी। (२) धन। ऐश्वर्य्य। (३) एक प्रकार की बड़ी नारंगी। संतरा। (४) एक नदी का नाम जो तिरहुत में है। दर्भंगा नगर इसी के किनारे पर है। (५) एक वर्णवृत्त का नाम। दे० "रतिपद"।
संज्ञा पुं० [सं० कंबल] (१) एक कीड़ा जिसके ऊपर रोएँ होते हैं। इसके मनुष्यों के शरीर में छू जाने से खुजलाहट होती है। झाँझाँ। सूँडी। (२) अनाज वा सड़े फल आदि में पड़नेवाला लंबा सफ़ेद रंग का कीड़ा। ला। ढोल्ट।

कमलाई–संज्ञा पुं० [सं० कमल=कमल के समान लाल] एक पेड़ का नाम जो राजपूताने की पहाड़ियों और मध्य प्रांत में होता है। यह पेड़ मियाने कद का होता है और जाड़े में इसके पत्ते झड़ जाते हैं। इसके हीर की लकड़ी चीरने पर लाल और फिर सूखने पर कुछ भूरी हो जाती है। यह बहुत चिकनी और मज़बूत होती है तथा गाड़ी और कोल्हू बनाने के काम में आती है। अलमारियाँ और आरायशी सामान भी इसके अच्छे बनते हैं। पत्तियाँ चारे के काम आती हैं। हाथी इसे बड़े चाव से खाते हैं। छाल चमड़ा रँगने के लिये और गोंद कागज़ बनाने और कपड़ा रँगने के काम में आती है। इसे कमूल भी कहते हैं।

कमलाकर–संज्ञा पुं० [सं०] सरोवर। तालाब। पुष्कर।

कमलाकांत–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

विशेष—यह शब्द राम, कृष्णादि विष्णु के अवतारों के लिये भी आता है।

कमलाकार–संज्ञा स्त्री० [सं०] छप्पय का एक भेद। इसमें २७ गुरु, ९८ लघु, १२५ वर्ण और १५२ मात्राएँ होती हैं।
वि० [सं०] [स्त्री० कमलाकारा] कमल के आकार का।

कमलाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का बीज। कमलगट्टा। (२) दे० "कमलनयन"।

कमलाग्रजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मी की बड़ी बहिन, दरिद्रा।

कमलानिवास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लक्ष्मी के रहने का स्थान। (२) कमल का फूल। कमल।

कमलापति–संज्ञा पुं० [सं०] लक्ष्मी के पति, विष्णु।

कमलालया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जिसका निवास कमल में हो। (२) लक्ष्मी।

कमलावर्ती–संज्ञा स्त्री० [सं०] पद्मावती छंद का दूसरा नाम।

कमलासन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) योग का एक आसन जिसे पद्मासन कहते हैं। दे० "पद्मासन"।

कमलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमल। (२) छोटा कमल। (३) वह तालाब जिसमें बहुत कमल हों।

कमली–संज्ञा पुं० [सं० कमलिन्] (१) ब्रह्मा। (२) छोटा कंबल।

कमलेश–संज्ञा पुं० [सं०] लक्ष्मी के पति, विष्णु।

कमलो-संज्ञा पुं० [सं० क्रमेल। यू० कमेल] ऊँट। साँड़िया। उष्ट्र।—डिं०।

कमवाना–क्रि० स० [हिं० कमाना का प्रे० रूप] (१) (धन) उपार्जन कराना। (रुपया) पैदा कराना। (२) निकृष्ट सेवा कराना। जैसे, पाख़ाना कमवाना (उठवाना)। दाढ़ी कमवाना (मुड़ाना)। (३) किसी वस्तु पर मिहनत करा के उसे सुधरवाना वा कार्य्य के योग्य बनवाना। जैसे, चमड़ा कमवाना, खेत कमवाना।

कमसमझी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कम+हिं० समझ] अल्पज्ञता। मूर्खता। नादानी।

कमसरियट–संज्ञा पुं० [अं०] सेना का वह विभाग जो सेना के रसद-पानी का प्रबन्ध करता है। फ़ौज के मोदीखाने का मुहकमा।

कमसिन–वि० [फ़ा०] [संज्ञा कमसिनी] कम उम्र का। छोटी अवस्था का।

कमसिनी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] लड़कपन। कम उमरी।

कमहा†–वि०[हिं०काम+हा] (१) काम करनेवाला। (२) मजदूर।

कमांडर–संज्ञा पुं० [अं० कमेंडर] फ़ौज का वह अफ़सर जो लेफ्टेंट के ऊपर और कप्तान के मातहत होता है। कमान। कमान अफ़सर।

यौ०—कमांडर-इन-चीफ़।

कमांडर-इन-चीफ़–संज्ञा पुं० [अं०] फ़ौज का सबसे बड़ा अफ़सर। प्रधान सेनापति। सेनाध्यक्ष।

कमाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० कमाना] (१) कमाया हुआ धन। अर्जित द्रव्य।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) कमाने का काम। व्यवसाय। उद्यम। धंधा। जैसे,—दिन भर किस कमाई में रहते हो?

कमाऊ–वि० [हिं०कमाना]उद्यम व्यापार में लगा रहनेवाला। धनोपार्जन करनेवाला। कमानेवाला। कमासुत। जैसे, कमाऊ पूत।

कमाची–संज्ञा स्त्री० दे० "कमची"।
संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमानचा] कमान की तरह झुकाई हुई तीली।

कमान–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) धनुष। कमठा।

यौ०—कमानगर।

मुहा०—कमान उतारना=कमान का चिल्ला वा रोदा उतार देना। कमान खींचना=कमान पर तीर चढ़ाकर उसके रोदे को अपनी ओर खींचना। कमान चढ़ना=(१) दौरदौरा होना। जैसे,—आज कल उन्हीं की कमान चढ़ी हुई है। (२) त्योरी चढ़ना। क्रोध में होना। कमान चढ़ाना=कमान का चिल्ला चढ़ाना। कमान तानना=दे० 'कमान खींचना'।

(२) इंद्रधनुष।

क्रि० प्र०—निकलना।

(३) मेहराबदार बनावट। मेहराब। (४) तोप। बंदूक। उ०—गरगज बाँध कमानैं धरीं। बज्र अगिन मुख दारू भरीं।—जायसी।

क्रि० प्र०—चढ़ना।—दगना।

(५) मालखंभ की एक कसरत जिसमें मालखंभ के गले की खाँच वा मुँगरे की संधि पर एक ओर पैर और दूसरी ओर हाथ रखकर पेट को ऊपर उठाते हैं।

यौ०—कमान की लोटन=कमान करते समय मुँगरे पर के हाथ से मुँगरा लपेटना और पाँव उड़ाकर मालखंभ से कमर पेटे के समान नीचे आते हुए लिपट जाना।

(६) कालीन बुननेवालों का एक औज़ार। (७) एक यंत्र जिससे दो तारों वा वस्तुओं के बीच की कोणांश दूरी अथवा क्षितिज से किसी तारे की ऊँचाई मापी जाती है। इसमें एक शीशा लगा रहता है जिस पर दोनों तारों की छाया ठीक नीचे ऊपर आ जाती है। इस शीशे के सामने एक दूरबीन लगी रहती है।

संज्ञा स्त्री० [अं० कमँड] (१) आज्ञा। हुक्म। फ़ौजी काम की आज्ञा।

यौ०—कमान अफ़सर।

(२) नौकरी। ड्यूटी। फ़ौजी काम।

मुहा०—कमान पर जाना=नौकरी पर जाना। लड़ाई पर जाना। कमान पर होना=काम पर होना। लड़ाई पर होना। कमान बोलना=(१) नौकरी पर जाने की आज्ञा देना। (२) लड़ाई पर जाने की आज्ञा देना। कमान बोली जाना=काम या लड़ाई पर जाने की आज्ञा मिलना।

कमान अफ़सर—संज्ञा पुं० [अं० कमैंडिंग आफ़िसर] फ़ौज का वह अफ़सर जो कप्तान के मातहत, पर लेफ्टेंट से ऊपर होता है। कमानियर।

कमानगर—संज्ञा पुं० दे० "कमंगर"।

कमानगरी—संज्ञा स्त्री० दे० "कमंगरी"।

कमानचा—संज्ञा पु० [फ़ा०] (१) छोटी कमान। (२) सारंगी बजाने की कमानी। (३) मिहराब। डाट।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

कमानदार—संज्ञा पु० [अं० कमैंडर] फ़ौजी अफ़सर।

वि० [फ़ा०] मेहराबदार।

कमाना—क्रि० स० [हिं० काम] (१) व्यापार वा उद्यम से धन उपार्जन करना। कामकाज करके रुपया पैदा करना।

मुहा०—कमाना धमाना=उद्यम व्यापार करना। काम काज करके रुपया पैदा करना।

संयो० क्रि०—रखना।—लेना।

(२) उद्यम वा परिश्रम से किसी वस्तु को अधिक दृढ़ करना। सुधारना वा काम के योग्य बनाना। जैसे, खेत कमाना, चमड़ा कमाना, लोहा कमाना।

यौ०—कमाई हुई हड्डी या देह=कसरत से बलिष्ट किया हुआ शरीर। कमाया साँप=वह साँप जिसके विषैले दाँत उखाड़ लिए गए हों। (मदारी)।

(३) सेवा संबंधी छोटे छोटे काम करना। जैसे, पाख़ाना कमाना (उठाना), घर कमाना, दाढ़ी कमाना (मूँड़ना)। (४) कर्म संचय करना। कर्म करना। जैसे, पाप कमाना, पुण्य कमाना। उ०—जो तू मन मेरे कहे राम काम कमातो। सीतापति संमुख सुखी सब ठाँय समातो।—तुलसी।

क्रि० अ० (१) तुच्छ व्यवसाय करना। मेहनत मज़दूरी करना। जैसे,—वह कमाने गया है। (२) कसब करना। ख़र्ची कमाना। जैसे,—अब तो वह इधर उधर कमाती फिरती है।

†क्रि० स० [हिं० कम] कम करना। घटाना। (बाज़ारू)। जैसे,—इस सौदे में ५) और कमाओ तो हम इसे ले लें।

कमानिया—संज्ञा पुं० [फ़ा० कमान] कमान चलानेवाला। धनुष चलानेवाला। तीरंदाज़। उ०—गुगुलन चूकै कबहुँ को अरु चूकै सब कोइ। बरकंदाज़ कमानियाँ चूक उनहुँ से होइ।—गिरिधर।

कमानी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमान] [वि० कमानीदार] (१) लोहे की तीली, तार अथवा इसी प्रकार की और कोई लचीली वस्तु जो इस प्रकार बैठाई हो कि दाब पड़ने से दब जाय और हटने पर फिर अपनी जगह पर आ जाय। कई फेटों में लपेटा हुआ तार, लोहे को झुका के बैठाई हुई पट्टियाँ आदि कमानी का काम देती हैं। कमानी कई कामों के लिये लगाई जाती है—गति के लिये जैसे, घड़ी, पंखे आदि में, झटका बचाने के लिये; जैसे, गाड़ी में; दाब के द्वारा तौल का अंदाज़ करने के लिये; जैसे, तौलने के काँटे में; किसी वस्तु को झटके के साथ खोलने वा बंद करने के लिये; जैसे, किवाड़ में; एक साथ कई काम करनेवाली कलों के किसी कार्य्य को रोकने के लिये; जैसे, छापने वा ख़रादने की मशीन में।

क्रि० प्र०—उतारना।—चढ़ाना।—जड़ना।—बैठाना।—लगाना।

यौ०—बालकमानी=घड़ी की एक बहुत पतली कमानी जिसके सहारे कौआ वा चक्कर घूमता है।

(२) झुकाई हुई लोहे की लचीली तीली। जैसे, छाते की कमानी, चश्मे की कमानी। (३) एक प्रकार की चमड़े की पेटी जिसके भीतर लोहे की लचीली पट्टी होती है और सिरों पर गद्दियाँ होती हैं। इसे आँत उतरनेवाले रोगी कमर में इसलिये लगाते हैं जिसमें आँत उतरने का मार्ग बंद रहे। (४) कमान के आकार की कोई झुकी हुई लकड़ी जिसके दोनों सिरों के बीच में रस्सी, तार वा बाल बँधा हो। जैसे, सारंगी की कमानी, (बढ़ई के) बरमे की कमानी, हकाकों की कमानी (जिससे नग या पत्थर काटने की सान घुमाई जाती है)। (५) बाँस की एक पतली फट्टी जो दरी बुनने के करघे में काम आती है।

कमानीदार—वि० [फ़ा०] जिसमें कमानी लगी हो। कमानीवाला। जैसे, कमानीदार एक्का।

कमायज—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमानचा] सारंगी आदि बजाने की कमानी।

कमाल–संज्ञा पुं० [अ०] (१) परिपूर्णता । पूरापन ।
मुहा०—कमाल को पहुँचाना=पूरा उतारना ।
(२) निपुणता । कुशलता । (३) अद्‌भुत कर्म । अनोखा कार्य्य ।
क्रि० प्र०—करना ।—दिखाना ।
(४) कारीगरी । सनअत ।
(५) कबीर के बेटे का नाम, जो कबीरदास ही की भाँति फक्कड़ साधु था । कहते हैं कि जो बात कबीर कहते थे, उसका उलटा ये कहते थे । जैसे, कबीर ने कहा—मन का कहना मानिए, मन है पक्का मीत । परब्रह्म पहिचानिये, मन ही की परितीत । कमाल ने कहा—मन का कहा न मानिये, मन है पक्का चोर । ले बोरै मझधार में, देय हाथ से छोड़ । इसी बात को लेकर किसी ने कहा है कि "बूड़ा बंस कबीर का कि उपजा पूत कमाल ।"
वि० (१) पूरा । संपूर्ण । सब । (२) सर्वोत्तम । पहुँचा हुआ । (३) अत्यंत । बहुत ज़्यादा ।

कमाला–संज्ञा पुं० [अ० कमाल] पहलवानों की वह कुश्ती जो केवल अभ्यास बढ़ाने वा हुनर दिखाने के लिये होती है और जिसमें हार जीत का ध्यान नहीं रक्खा जाता ।

कमालियत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) परिपूर्णता । पूरापन । (२) निपुणता । कुशलता ।

कमासुत–वि० [हिं० कमाना+सुत] (१) कमानेवाला । कमाई करनेवाला । पैदा करनेवाला । (२) उद्यमी ।

कमिता–वि० [सं० कमितृ–कमिता] (१) कामुक । कामी । (२) कामना रखनेवाला । चाहनेवाला ।

कमिश्नर–संज्ञा पुं० [अं०] (१) माल का वह बड़ा अफ़सर जिसके अधिकार में कई ज़िले हों । (२) वह अधिकारी जिसको किसी कार्य के करने का अधिकारपत्र मिला हो ।

कमी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कम] (१) न्यूनता । कोताही । घटाव । अल्पता । जैसे,—अभी पचास में दस की कमी है ।
क्रि० प्र०—करना ।
(२) हानि । नुक़सान । टोटा । घाटा । जैसे,—उन्हें इस साल ५) रु० सैकड़े की कमी आई ।
क्रि० प्र०—आना ।—पड़ना ।—होना ।

कमीज़–संज्ञा स्त्री० [अ० क़मीस, फ़ा० शेमीज] एक प्रकार का कुर्ता जिसमें कली और चौबग़ले नहीं होते । पीठ पर चुनन, हाथों में कफ़ और गले में कालर होता है । यह पहिनावा अँगरेज़ों से लिया गया है ।

कमीनगाह–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह स्थान जहाँ से ओट में खड़े होकर तीर वा बंदूक़ चलाई जाती है ।

कमीना–वि० [फ़ा०] [स्त्री० कमीनी] ओछा । नीच । क्षुद्र ।

कमीनापन–संज्ञा पुं० [फ़ा० कमीना+हिं० पन (प्रत्य०)] नीचता । ओछापन । क्षुद्रता ।

कमीनी बाछ–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कमीना+हिं० बाछ=उगाही] देहात में वह कर जो ज़मींदार उन गाँव में बसनेवालों से वसूल करता है जो खेती नहीं करते ।

कमीला–संज्ञा पुं० [सं० कंपिल्ल] एक छोटा पेड़ जिसके पत्ते अमरूद की तरह के होते हैं और जिसमें बेर की तरह के फल गुच्छों में लगते हैं । यह पेड़ हिमालय के किनारे काश्मीर से लेकर नेपाल तक होता है, तथा बंगाल (पुरी, सिंहभूमि), युक्त प्रदेश (गढ़वाल, कमाऊँ, नेपाल की तराई), पंजाब (काँगड़ा), मध्यप्रदेश और दक्षिण में बराबर मिलता है । इसके फलों पर एक प्रकार की लाल लाल धूल जमी होती है जिसे झाड़कर अलग कर लेते हैं । यह धूल भी कमीला के नाम से प्रसिद्ध है । यह रेशम रँगने के काम में आती है । इसकी रँगाई इस प्रकार होती है—सेर भर रेशम को आध सेर सोडा के साथ थोड़ी देर तक पानी में उबालते हैं । जब रेशम कुछ मुलायम हो जाता है, तब उसे निकाल लेते हैं और उसी पानी में २० तोले कमीला (बुकनी) और ढाई तोले तिल का तेल, पाव भर फिटकिरी और सोडा मिलाते हैं । फिर सब चीज़ों के साथ पानी को पाव घंटे तक उबालते हैं । इसके अनंतर उसमें फिर रेशम डाल देते हैं और १५ मिनट उबालकर निकाल लेते हैं । निकालने पर रेशम का रंग नारंगी निकल आता है । कमीला फोड़े फुंसी की मरहमों में भी पड़ता है । यह खाने में गरम और दस्तावर होता है । यह विषैला होता है: इससे ६ रत्ती से अधिक नहीं दिया जाता ।

कमीशन–संज्ञा पुं० [अं० कमिशन] (१) कुछ चुने हुए विद्वानों की वह समिति जो कुछ समय के लिये किसी गूढ़ विषय पर विचार करने के लिये नियत की जाती है । (२) कोई ऐसी सभा जो किसी कार्य की जाँच के लिये वा खोज के लिये नियत की जाय ।
क्रि० प्र०—बैठना ।—बैठाना ।
(३) किसी दूर रहनेवाले व्यक्ति की गवाही लेने के लिये एक वा अधिक वकीलों का नियत होना ।
क्रि० प्र०—जाना ।—निकलना ।
(४) दलाली । दस्तूरी ।

कमीस–संज्ञा स्त्री० दे० "कमीज़" ।

कमुआ–संज्ञा पुं० [हिं० काम] नाव खेने के डाँड़ का दस्ता ।

कमुकंदर*‡–संज्ञा पुं० [सं० कार्मुक+दर] धनुष तोड़नेवाले रामचंद्र । उ०—व्याकुल लखि बंदर, हँसि कमुकंदर सब दसकंधर नाश किये ।—विश्राम ।

कमून–संज्ञा पुं० [अ०] जीरा । जीरक । अजाजी ।

कमूनी-वि० [फ़ा० कमून=जीरा] जीरासंबंधी । जीरे का । जिसमें जीरा मिला हो ।

यौ०—जवारिश कमूनी=जीरे का अवलेह वा चटनी ।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] एक यूनानी दवा जिसका प्रधान भाग जीरा है ।

कमूल-संज्ञा पुं० दे० "कमलाई" ।

कमेटी-संज्ञा स्त्री० [अं० कमिटी] सभा । समिति ।

कमेरा-संज्ञा पुं० [हिं० काम+एरा (प्रत्य०)] (१) काम करनेवाला । मज़दूर । नौकर । (२) मातहत नौकर ।

कमेला-संज्ञा पुं० [हिं० काम+एला (प्रत्य०)] वह जगह जहाँ पशु मारे जाते हैं । वधस्थान ।

मुहा०—कमेला करना=मारना । हनना ।

† संज्ञा पुं० दे० "कमीला" ।

कमेहरा-संज्ञा पुं० [हिं० काम] कच्ची मिट्टी का साँचा जिसमें मठिया वा कसकुट की चूड़ियाँ ढाली जाती हैं ।

कमोदन*-संज्ञा स्त्री० दे० "कुमुदिनी" ।

कमोदिक-संज्ञा पुं० [सं० कामोद=एक राग+क] (१) कामोद राग गानेवाला पुरुष । (२) गवैया । उ०—वेगि चलो बलि कुँवरि सयानी । समय बसंत विपिन रथ हय गय मदन सुभट नृप फौज पलानी ।.........बोलत हँसत चपल बंदीजन मनहुँ प्रशंसित पिक वर बानी । धीर समीर रटत वर अलिगन मनहुँ कमोदिक मुरलि सुठानी ।—सूर ।

कमोदिन*†-संज्ञा स्त्री० दे० "कुमुदिनी" ।

कमोरा-संज्ञा पुं० [सं० कुंभ+ओरा (प्रत्य०)] [स्त्री० कमोरी, कमोरिया] मिट्टी का एक बरतन जिसका मुँह चौड़ा होता है और जिसमें दूध दुहा और रक्खा जाता है तथा दही जमाया जाता है । (२) घड़ा । कछरा ।

कमोरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कमोरा] चौड़े मुँह का छोटा मिट्टी का बरतन जिसमें दूध दही रक्खा जाता है । मटका । उ०—भली करी हरि माखन खायो । इहौ मानि लीनी अपने सिर उबरो सो ढरकायो । राखी रही दुराइ कमोरी सो लै प्रगट दिखायो । यह लीजै कछु और मँगावें दान सुनत रिस पायो । दान दिये बिन जान न पैहौ कब मैं दान छुटायो । सूर श्याम हठ परे हमारे कहो न कहा लदायो ।—सूर ।

कम्मल-संज्ञा पुं० दे० "कंबल" ।

कम्मा-संज्ञा पुं० [देश०] ताड़पत्र पर लिखा हुआ लेख ।

कयपूती-संज्ञा स्त्री० [मला० कयु=पेड़+पूती=सफ़ेद] एक सदाबहार पेड़ जो सुमात्रा, जावा, फिलिपाइन आदि पूर्वीय द्वीपसमूह में होता है । जावा और मैनिला आदि स्थानों में इसकी पत्तियों का तेल निकाला जाता है जिसकी महक बहुत कड़ी होती है और जो बहुत साफ़, कपूर की तरह उड़नेवाला और स्वाद में चरपरा होता है । यह तेल दर्द के लिये बहुत उपकारी है । गठिया के दर्द में यह और दवाओं के साथ मला जाता है ।

कया*-संज्ञा स्त्री० दे० "काया" ।

क़याम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) ठहराव । टिकान । विश्राम ।

क्रि० प्र०—करना ।—फ़रमाना ।—होना ।

(२) टिकने की जगह । ठहरने की जगह । विश्राम-स्थान । ठिकाना । (३) ठौर ठिकाना । निश्चय । स्थिरता । जैसे,—उनकी बात का कुछ क़याम नहीं ।

क़यामत-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मुसल्मानों, ईसाइयों और यहूदियों के अनुसार सृष्टि का वह अंतिम दिन जब सब मुर्दे उठकर खड़े होंगे और ईश्वर के सामने उनके कर्मों का लेखा रक्खा जायगा । लेखे का दिन । अंतिम दिन ।

क्रि० प्र०—आना ।

(२) प्रलय । (३) आफ़त । विपत्ति । हलचल । खलबली । उपद्रव ।

क्रि० प्र०—आना ।—उठना ।—उठाना ।—टूटना ।—ढाना ।—बरपा करना ।—मचना ।—मचाना ।—लाना ।—होना ।

मुहा०—क़यामत का=(१) ग़ज़ब का । हद दरजे का । अत्यंत अधिक । (२) अत्यंत अधिक प्रभाव डालनेवाला ।

कयारी†-संज्ञा पुं० [हिं० कोयर] सूखी घास । सूखा चारा ।

क़यास-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० क़यासी] अनुमान । अटकल । सोच विचार । ध्यान ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—क़यास लगाना, लड़ाना वा दौड़ाना=अनुमान बाँधना । अटकल पच्चू विचार करना । खयाल दौड़ाना । **क़यास में आना**=समझ में आना । मन में बैठना ।

करंक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मस्तक । (२) करवा । कमंडलु । •(३) नरियरी । नारियल की खोपड़ी । (४) पंजर । ठठरी । उ०—(क) चारों ओर दौरे नर आए ढिग टरि जानी ऊँट के करंक मध्य देह जा दुराई है । जगदुर्गंध कोऊ ऐसी बुरी लागी जामें बहु दुर्गंध सो सुगंध लौं सराही है ।—प्रिया । (ख) कागा रे करंक परि बोलइ । खाइ मास अरु लगही डोलइ ।—दादू ।

करँगा-संज्ञा पुं० [हिं० काला वा कारा+अंग] एक प्रकार का मोटा धान जिसकी भूसी कुछ कालापन लिए होती है । यह कार महीने में पकता है ।

करँगी-संज्ञा स्त्री० दे० "करँगा" ।

करंज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंजा । (२) एक छोटा जंगली पेड़ जिसकी पत्तियाँ सीसम की सी पर कुछ बड़ी बड़ी होती हैं । इसकी डाल बहुत लचीली होती है । इसकी टहनियों की लोग दातन करते हैं । (३) एक प्रकार की आतिशबाज़ी ।

करंजा-संज्ञा पुं० दे० "कंजा" ।

वि० [स्त्री० करंजी] करंज वा कंजे के रंग की सी आँख-वाला । भूरी आँखवाला ।

करंजुवा-संज्ञा पुं० [सं० करंज] दे० "करंज" वा "कंजा" ।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार के अंकुर जो बाँस, ऊख वा उसी जाति के और पौधों में होते हैं और उनको हानि पहुँचाते हैं । घमोई । (२) जौ के पौधे का एक रोग जो खेती को हानिकारक है ।

वि० [सं० करंज] करंज के रंग का । ख़ाकी ।

संज्ञा पुं० ख़ाकी रंग । करंज का सा रंग ।

विशेष—यह रंग माजू, कसीस, फिटकिरी और नासपाल के योग से बनता है ।

करंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधुकोश । शहद का छत्ता । (२) तलवार । (३) कारंडव नाम का हंस । (४) बाँस की बनी हुई टोकरी वा पिटारी । डला । डली । (५) एक प्रकार की चमेली । हज़ारा चमेली ।

संज्ञा पुं० [सं० कुरबिंद] कुरुल पत्थर जिस पर रखकर छुरी और हथियार आदि तेज़ किए जाते हैं ।

करंडी-संज्ञा स्त्री० [हिं० अंडी] कच्चे रेशम की बनी हुई चादर ।

करंब-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० करंबित] मिश्रण । मिलावट ।

करंबित-वि० [सं०] (१) मिश्रित । मिलवाँ । मिला हुआ । (२) खचित । बना हुआ । गढ़ा हुआ ।

करँही-संज्ञा स्त्री० [सं० कर+हिं० गहना] मोचियों वा चमारों का एक हाथ लंबा, ६ अंगुल चौड़ा और ३ अंगुल मोटा एक औज़ार जिस पर जूता सीया जाता है ।

कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथ ।

मुहा०—कर गहना=(१) हाथ पकड़ना । (२) पाणिग्रहण वा विवाह करना ।

(२) हाथी की सूँड़ । (३) सूर्य्य वा चंद्रमा की किरन । (४) ओला । पत्थर । (५) प्रजा के उपार्जित धन में से राजा का भाग । मालगुज़ारी । महसूल । टैक्स ।

क्रि० प्र०—चुकना ।—चुकाना ।—देना ।—बाँधना ।—लगना ।—लगाना ।—लेना ।

(६) करनेवाला । उत्पन्न करनेवाला ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल यौगिक शब्दों में होता है; जैसे, कल्याणकर, सुखकर, स्वास्थ्यकर इत्यादि ।

(७) छल । युक्ति । पाखंड । जैसे, कर, बल, छल । उ०—कीरतन करत कर सपनेहु मथुरादास न मंडियो ।—नाभा ।

प्रत्य० [सं० कृत] का । उ०—राम ते अधिक राम कर दासा—तुलसी ।

करइत†-संज्ञा पुं० [देश०] एक तरह का कीड़ा जो अनुमानतः ६ अंगुल लंबा होता है और हवा में उड़ता है ।

करई-संज्ञा स्त्री० [हिं० करवा] पानी रखने का एक प्रकार का टोंटीदार बरतन ।

संज्ञा स्त्री० [सं० करक] एक छोटी चिड़िया जो गेहूँ के छोटे छोटे पौधों को काट काटकर गिराया करती है ।

करकंटक-संज्ञा पुं० [सं०] नख । नाख़ून ।

करक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमंडलु । करवा । उ०—कहुँ मृग-चर्म कतहुँ कोपीना । कहुँ कंथा कहुँ करक नवीना ।—शं० दि० । (२) दाड़िम । अनार । उ०—सहज रूप की राशि नागरी भूषण अधिक बिराजै ।.........नासा नथ मुक्ता बिंबाधर प्रतिबिंबित असमूच । धोख्यो कनकपाश शुक सुंदर करक बीज गहि चूँच ।—सूर । (३) कचनार । (४) पलास । (५) बकुल । मौलसिरी । (६) करील का पेड़ । (७) नारियल की खोपड़ी । (८) ठठरी ।

संज्ञा पुं० [हिं० कड़क] (१) रुक रुककर होनेवाली पीड़ा । कसक । चिनक । (२) रुक रुककर और जलन के साथ पेशाब होने का रोग ।

क्रि० प्र०—थामना ।—पकड़ना ।

(३) वह चिह्न जो शरीर पर किसी वस्तु की दाब, रगड़ वा आघात से पड़ जाता है । साँट । उ०—दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धर धीर । बारहिं बार अमर-खत करखत करकैं परी सरीर ।—तुलसी ।

करकच-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का नमक जो समुद्र के पानी से निकाला जाता है ।

करकट-संज्ञा पुं० [हिं० खर+सं० कट] कूड़ा । झाड़न । बहारन । घास पात । घास फूस । कतवार ।

यौ०—कूड़ा करकट ।

करकटिया-संज्ञा स्त्री० [सं०कर्करेटु] एक चिड़िया । दे० "करकरा" ।

करकना-क्रि० अ० [हिं० कड़क वा करक] (१) किसी कड़ी वस्तु का कर कर शब्द के साथ टूटना । तड़कना । फटना । फूटना । चिटकना । उ०—फरकि फरकि उठैं बाँहैं अस्त्र बाहिबे कों करकि करकि उठें करी बख़्तर की ।—हरि-केस । (२) रह रह कर दर्द करना । कसकना । सालना । खटकना । उ०—बचन बिनीत मधुर रघुबर के । सर सम लगे मातु उर करके ।—तुलसी ।

करकनाथ-संज्ञा पुं० [सं० कर्करेटु] एक काला पक्षी जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसकी हड्डियाँ तक काली होती हैं ।

करकर-संज्ञा पुं०[सं० कर्कर] एक प्रकार का नमक जो समुद्र के पानी से निकाला जाता है ।

वि० दे० "करकरा" ।

करकरा-संज्ञा पुं० [सं० कर्करेटु] एक प्रकार का सारस जिसका पेट तथा नीचे का भाग काला होता है और जिसके सिर पर एक चोटी होती है । इसका कंठ काला होता है और बाक़ी

शरीर करंज के रंग का ख़ाकी होता है। इसकी पूँछ एक बित्ते की तथा टेढ़ी होती है। करकटिया।
वि० [सं० कर्कर] [स्त्री० करकरी] छूने में जिसके रवे या कण उँगलियों में गड़ें। खुरखुरा। उ०—बालू जैसी करकरी उज्वल जैसी धूप। ऐसी मीठी कछु नहीं जैसी मीठी चूप।—कबीर।

करकराहट-संज्ञा पुं० [हिं० करकरा+आहट (प्रत्य०)] (१) कड़ापन। खुरखुराहट। (२) आँख में किरकिरी पड़ने की सी पीड़ा।

करकस*-वि० दे० "कर्कश"।

करका-संज्ञा पुं० [सं०] ओला। वर्षा का पत्थर।

करका चतुर्थी-संज्ञा स्त्री० [सं०] करवा चौथ। कार्तिक कृष्ण चतुर्थी।

करकायु-संज्ञा पुं० [सं०] धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

करखा-संज्ञा पुं० (१) दे० "कड़खा"। (२) एक छंद जिसके प्रत्येक पद में ८, १२, ८ और ९ के विराम से ३७ मात्राएँ होती हैं और अंत में यगण होता है। उ०—नमों नरसिंह बलवंत प्रभु, संत हितकाज, अवतार धारो। खंभ तें निकसि, भू हिरनकश्यप पटक, झटक दै नखन सों, उर विदारो।
संज्ञा पुं० [सं० कर्ष] उत्तेजना। बढ़ावा। लाग डाँट। ताव। उ०—(क) नैननि होड़ बदी बरखा सों। राति दिवस बरसत झर लाये दिन दूना करखा सों।—सूर। (ख) भलेहि नाथ सब कहहिं सहरषा। एकहिं एक बढ़ावहिं करषा।—तुलसी।
†संज्ञा पुं० दे "कालिख"।

करगता-संज्ञा पुं० [सं० कटि+गता] (१) सोने वा चाँदी की करधनी। (२) सूत की करधनी।

करगह-संज्ञा पुं० [फ़ा० कारगाह] (१) जुलाहों के कारख़ाने की वह नीची जगह जिसमें जुलाहे पैर लटकाकर बैठते हैं और कपड़ा बुनते हैं। (२) जुलाहों का कपड़ा बुनने का यंत्र। (३) जुलाहों का कारख़ाना। उ०—करगह छोड़ तमाशे जाय। नाहक चोट जुलाहे खाय।

करगहना-संज्ञा पुं० [सं० कर+हिं० गहना] पत्थर वा लकड़ी जिसे खिड़की वा दरवाज़ा बनाने में चौखटे के ऊपर रखकर आगे जोड़ाई करते हैं। भरेठा।

करगही-संज्ञा स्त्री० [हिं० कारा, काला+अंग] एक मोटा जड़हन धान जो अगहन में तैयार होता है।

करगी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कर+गहना] (१) चीनी के कारख़ाने में साफ़ की हुई चीनी बटोरने की खुरचनी। *† (२) बाढ़। बूड़ा। उ०—राही ले पिपराही बही। करगी आवत काहु न कही।—जायसी।

करग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] पाणिग्रहण। ब्याह।

करघा-संज्ञा पुं० दे० "करगह"।

करचंग-संज्ञा पुं० [हिं० कर+चंग] ताल देने का एक बाजा। एक प्रकार का डफ़ वा बड़ी खँजरी जिस पर लावनीबाज़ प्रायः ठेका देते हैं।

करछा-संज्ञा पुं० [सं० कर+रक्षा] [स्त्री० करछी] बड़ी करछी।
संज्ञा पुं० [हिं० करौंछा=काला] एक चिड़िया। दे० "करछिया"।

करछाल-संज्ञा स्त्री० [हिं० कर+उछाल] उछाल। छलाँग। कुलाँग। चौकड़ी। कुदान। कुलाँच। फलाँग।

करछिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० करौंछा=काला] पानी के किनारे रहनेवाली एक पहाड़ी चिड़िया जो हिमालय पर काश्मीर, नेपाल आदि प्रदेशों में होती है। जाड़े के दिनों में यह मैदानों में भी उतर आती है और पानी के किनारे दिखाई पड़ती है। यह पानी में तैरती और गोता लगाती है। इसके पंजों में आधी ही दूर तक झिल्ली रहती है जिससे वस्तुओं को पकड़ भी सकती है। इसका शिकार किया जाता है, पर इसका मांस अच्छा नहीं होता।

करछी†-संज्ञा स्त्री० दे० "कलछी"।

करछुल†-संज्ञा पुं० दे० "कलछी"।

करछुली†-संज्ञा स्त्री० दे० "कलछी"।

करछुला†-संज्ञा पुं० (१) दे० "कलछी"। (२) भड़भूँजों की बड़ी कलछी जिसमें हाथ डेढ़ हाथ लकड़ी का बेंट लगा रहता है और जिससे चबेना भूनते समय उसमें गरम बालू डालते हैं।

करज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नख। नाख़ून। (२) उँगली। उ०—(क) प्रिय अंदेश जानि सूरजप्रभु लियो करज की कोर। टूटत धनु नृप लुके जहाँ तहँ ज्यों तारागन भोर।—सूर। (ख) करज मुद्रिका, कर कंकन छबि, कटि किंकिन, नूपुर पग भ्राजत। नख सिख कांति विलोकि सखी री शशि अरु भानु मगन तनु लाजत।—सूर। (३) नख नामक सुगंधित द्रव्य। (४) करंज। कंजा।

करट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौआ। उ०—कटु कुठाव करटा रटहिं फेकरहिं फेरु कुभाँति। नीच निसाचर मीचु बस अनी मोह मदमाँति।—तुलसी। (२) हाथी की कनपटी। हाथी का गंडस्थल। (३) कुसुम का पौधा। (४) एकादशाहादि श्राद्ध। (५) दुर्दुरूढ़। नास्तिक।

करटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कठिनाई से दुही जानेवाली गाय।

करटी-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी। उ०—मधुकर-कुल करटीनि के कपोलनि तें उड़ि उड़ि पियत अमृत उड़पति में।—मतिराम।

करड़ करड़-संज्ञा पुं० [अनु०] (१) किसी वस्तु के बार बार टूटने वा चिटकने का शब्द। (२) दाँतों के नीचे पड़कर बार बार टूटने का शब्द। जैसे,—कुत्ता करड़ करड़ करके हड्डी चबा रहा है।

करण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्याकरण में वह कारक जिसके द्वारा कर्त्ता क्रिया को सिद्ध करता है। जैसे—छड़ी से साँप मारो।

इस उदाहरण में 'छड़ी' 'मारने' का साधक है, अतः उसमें करण का चिह्न 'से' लगाया गया है। (२) हथियार। औज़ार। (३) इंद्रिय। उ०—विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता।—तुलसी। (४) देह। (५) क्रिया। कार्य्य। उ०—कारण करण दयालु दयानिधि निज भय दीन डरे।—सूर। (६) स्थान। (७) हेतु। (८) ज्योतिष में तिथियों का एक विभाग। एक एक तिथि में दो दो करण होते हैं। करण ग्यारह हैं जिनके नाम ये हैं—वव,वालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज, विष्टि,शकुनि चतुष्पद,किंतुघ्न और नाग। इनके देवता यथाक्रम ये हैं—इंद्र,कमलज, मित्र, अर्य्यमा,भू,श्री,यम, कलि,वृष,फणी, मारुत। शुक्ल प्रतिपदा के शेषार्द्ध से कृष्ण चतुर्दशी के प्रथमार्द्ध तक वव आदि प्रथम सात करणों की आठ आवृत्तियाँ होती हैं। फिर कृष्ण चतुर्दशी के शेषार्ध से शुक्ल प्रतिपदा के प्रथमार्द्ध तक शेष चार करण होते हैं। (९) नृत्य में हाथ हिलाकर भाव बताने की क्रिया। इसके चार भेद हैं—आवेष्टित,उद्वेष्टित,व्यावर्त्तित और परिवर्त्तित। जिसमें तिरछे फैले हुए हाथ की उँगलियाँ तर्जनी से आरंभ कर एक एक करके हथेली में लगाते हुए हाथ को छाती की ओर लावें, उसे आवेष्टित कहते हैं। जिसमें इसी प्रकार एक एक उँगली उठाते हुए हाथ को लावें उसे उद्वेष्टित कहते हैं। जिसमें तिरछे फैले हाथ की उँगलियाँ कनिष्ठिका से आरंभ कर एक एक करके हथेली में मिलाते हुए छाती की ओर लावें, उसे व्यावर्त्तित कहते हैं। और जिसमें इसी प्रकार उँगलियाँ उठाते हुए हाथ को लावें उसे परिवर्त्तित कहते हैं। (१०) गणित (ज्योतिष) की एक क्रिया। (११) एक जाति। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार करण वैश्य और शूद्रा से उत्पन्न हैं और लिखने का काम करते थे। तिरहुत में अब भी करण पाए जाते हैं। (१२) कायस्थों का एक अवांतर भेद। (१३) आसाम, बरमा और स्याम की एक जंगली जाति। (१४) वह संख्या जिसका पूरा पूरा वर्गमूल न निकल सके। करणीगत संख्या।

करणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गणित में वह संख्या जिसका पूरा पूरा वर्गमूल न निकल सके।

करणीय-वि० [सं०] करने योग्य। करने के लायक़। कर्त्तव्य।

करतब-संज्ञा पुं० [सं० कर्त्तव्य] [वि० करतबी] (१) कार्य्य। काम। करनी। करतूत। कर्म। उ०—(क) बचन विकार करतबउ खुआर मन विगत विचार कलिमल को निधान है।—तुलसी। (ख) जे जनमे कलिकाल कराला। करतब बायस, वेष मराला।—तुलसी।

क्रि० प्र०—करना।

(२) कला। हुनर। गुण।

क्रि० प्र०—दिखाना।

(३) करामात। जादू।

क्रि० प्र०—दिखाना।

करतबिया-वि० दे० "करतबी"।

करतबी-वि० [हिं० करतब] (१) काम करनेवाला। पुरुषार्थी। (२) निपुण। गुणी। (३) करामात दिखानेवाला। बाज़ीगर।

करतरी*-संज्ञा स्त्री० दे० "कर्त्तरी"।

करतल-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० करतली] (१) हाथ की गदोरी। हथेली।

यौ०—करतलगत।

(२) मात्रिक गणों में चार मात्राओं के गण (डगण) का एक रूप जिसमें प्रथम दो मात्राएं लघु और अंत में एक गुरु होता है। जैसे, हरि जू। (३) छप्पय के एक भेद का नाम।

करतली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हथेली। (२) हथेली का शब्द। ताली।

संज्ञा स्त्री० [देश०] बैलगाड़ी में हाँकनेवाले के बैठने की जगह।

करतव्य†*-संज्ञा पुं० दे० "कर्त्तव्य"।

करता-संज्ञा पुं० दे० "कर्त्ता"।

संज्ञा पुं० (१) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में एक नगण और एक लघु गुरु होता है। उ०—न लग मना। अधम जना। सिय भरता। जग करता। (२) उतनी दूरी जहाँ तक बंदूक से छुटी हुई गोली जा सकती है। गोली का टप्पा वा पल्ला।

करतार-संज्ञा पुं० [सं० कर्त्तार] सृष्टि करनेवाला। ईश्वर। उ०—जड़ चेतन गुन दोष मय विश्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार।—तुलसी।

† संज्ञा पुं० दे० "करताल"।

करतारी-संज्ञा स्त्री० दे० "करताली"।

करताल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दोनों हथेलियों के परस्पर आघात का शब्द। (२) लकड़ी काँसे आदि का एक बाजा जिसका एक एक जोड़ा हाथ में लेकर बजाते हैं। लकड़ी के करताल में झाँझ वा घुघरू बँधे रहते हैं। (३) झाँझ। मँजीरा।

करताली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दोनों हथेलियों के परस्पर आघात का शब्द। ताली। हथोड़ी। (२) करताल नाम का बाजा।

करती-संज्ञा स्त्री० [सं० कृति] गाय के मरे बछड़े का, भूसा भरा हुआ चमड़ा जो बिलकुल बछड़े के आकार का होता है। इसे गाय के पास ले जाकर अहीर दूध दुहते हैं।

करतू†-संज्ञा स्त्री० [देश०] खेत सींचने की दौरी की रस्सियों के सिरे पर लगी हुई लकड़ी जो हाथ में रहती है।

करतूत-संज्ञा स्त्री० [हिं० करना+ऊत (प्रत्य०)। सं० कर्तृत्व] (१) कर्म। करनी। काम। जैसे,—यह सब तुम्हारी ही करतूत है। (२) कला। गुण। हुनर।

करतूति*-संज्ञा स्त्री० [हि० करना+ऊत, आवत (प्रत्य०)] (१) कर्म। करनी। काम। करतब। उ०—ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ विभूती।—तुलसी।
क्रि० प्र०—करना।
(२) कला। हुनर। गुण। उ०—कहि न जाइ कछु नगर विभूती। जनु इतनिय विरंचि करतूती।—तुलसी।
क्रि० प्र०—दिखाना।

करतोया-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी जो जलपाईगोड़ी के जंगलों से निकलकर रंगपुर होती हुई, बोगड़ा ज़िले के दक्षिण हलहलिया नदी में मिलती है। यहाँ से इसकी कई शाखाएँ हो जाती हैं। फूलझर नाम से एक शाखा अत्राई नदी में मिलती है। कोई इसी फूलझर को करतोया की धारा मानते हैं। यह नदी बहुत पवित्र मानी गई है। वर्षा में सब नदियों का अशुचि होना कहा गया है। पर यह वर्षा काल में भी पवित्र मानी गई है, इसीसे इसका नाम 'सदानीरा' या 'सदानीरवहा' भी है। इसके विषय में यह कथा है कि पार्वती के पाणिग्रहण के समय शिवजी के हाथ से गिरे हुए जल से इसकी उत्पत्ति हुई, इसी से इसका नाम 'करतोया' पड़ा।

करथरा-संज्ञा पुं० [देश०] हाला पहाड़ का सिलसिला जो सिंधु नदी के पार सिंध और बलूचिस्तान के बीच में है।

करद-वि० [सं०] (१) कर देनेवाला। मालगुज़ार। अधीन। जैसे,—करद राज्य। (२) सहारा देनेवाला। उ०—राँक सिरोमनि काकिनी भाव विलोकत लोकप को करदा है।—तुलसी।
संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कारद] छुरा। चाकू। बड़ा छुरा। उ०—करद मरद को चाहिए जैसी तैसी होय। (ख) गरद भई है वह, दरद बतावै कौन, सरद मयंक मारी करद करेजे में।—बेनी प्रवीन।

करदम*-संज्ञा पुं० दे० "कर्दम"।

करदल, करदला-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का छोटा वृक्ष जिसकी छाल चिकनी और कुछ पीलापन लिए हुए होती है। इसकी टहनियों के सिरों पर छोटी छोटी पत्तियों के गुच्छे होते हैं। पतझड़ के बाद नई पत्तियाँ निकलने से पहले इसमें पीले रंग के फूल लगते हैं जिनके बीच में दो दो बीज होते हैं। हिमालय में यह वृक्ष पाँच हज़ार फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह मार्च अप्रेल में फूलता है और इसके बीज खाए जाते हैं।

करदा-संज्ञा पुं० [हिं० गर्द] (१) बिक्री की वस्तु में मिला हुआ कूड़ा करकट वा खूद खाद। जैसे, अनाज में धूल, बरतन में लगी हुई लाख। उ०—अनाज में से इतना तो करदा गया।
क्रि० प्र०—जाना।—निकलना।
(२) किसी वस्तु के बिकने के समय उसमें मिले हुए कूड़े करकट की घटी कुछ दाम कम करके वा माल अधिक देकर पूरी करना।
क्रि० प्र०—काटना।—देना।
(३) दाम में वह कमी जो किसी वस्तु के बिकने के समय उसमें मिले कूड़े करकट आदि का वज़न निकाल देने के कारण की जाय। धड़ा। कटौती।
क्रि० प्र०—कटना।—काटना।—देना।
(४) पुरानी वस्तुओं को नई वस्तुओं से बदलने में जो और धन ऊपर से दिया जाय। बदलाई। बट्टा। फेरवट। बाध। (इस शब्द का प्रयोग प्रायः बरतनों को बदलने में होता है।)

करदौना-संज्ञा पुं० [सं० कर+हिं० दौना] दौना।

करधनी-संज्ञा स्त्री० [सं० कटि+आधानी, वा सं० किंकिणी] (१) सोने वा चाँदी का कमर में पहनने का एक गहना जो या तो सिकड़ी के रूप में होता है या घुँघरूदार होता है। अब घुँघुरूवाली करधनी केवल बच्चों को पहनाई जाती है। तागड़ी। (२) कई लड़ों का सूत जो कमर में पहना जाता है।
मुहा०—करधन टूटना=(१) सामर्थ्य न रहना। साहस छूटना। हिम्मत न रहना। (२) धन का बल न रहना। दरिद्र होना। करधन में बूता होना=कमर में ताकत होना। शरीर में बल होना। पौरुष होना।
संज्ञा पुं० [हिं० काला+धान] एक प्रकार का मोटा धान जिसके ऊपर का छिलका काला और चावल का रंग कुछ लाल होता है।

करधर-संज्ञा पुं० [सं० कर=वर्षोपल+धर=धारण करनेवाला] (१) बादल। मेघ। उ०—करधर,की धरमैर सखी री, की सूक सीपज की बगपंगति की मयूर की पीड़ पखी री ?—सूर।
संज्ञा पुं० [देश०](२) महुवे के फल की रोटी। महुअरी।

करन-संज्ञा पुं०[देश०] एक ओषधि जो स्वाद में कुछ खटमिट्ठी होती है और प्रायः चटनी आदि में डाली जाती है। यह दस्तावर भी है। यह रेचन के ओषधों में भी दी जाती है। ज़रिश्क।

करनधार*-संज्ञा पुं० दे० "कर्णधार"।

करनफूल-संज्ञा पुं० [सं० कर्ण+हिं० फूल] स्त्रियों के कान में पहनने का सोने चाँदी का एक गहना जो फूल के आकार का बनाया जाता है। यह कान की लौ में बड़ा सा छेद करके पहना जाता है। करनफूल सादा भी होता है और जड़ाऊ भी। तरौना। काँप।

करनबेध-संज्ञा पुं० [सं० कर्णवेध] बच्चों के कान छेदने का संस्कार वा रीति। उ०—करनबेध उपवीत विवाहा। संग संग सब भयउ उछाहा।—तुलसी।

करना-संज्ञा पुं० [सं० कर्ण] एक पौधा जिसके पत्ते केवड़े के पत्ते की तरह लंबे लंबे पर बिना काँटे के होते हैं। इसमें सफ़ेद सफ़ेद

फूल लगते हैं जिनमें हलकी मीठी महक होती है। सुदर्शन।

संज्ञा पुं० [सं० करुण] बिजौरे की तरह का एक बड़ा नीबू जो कुछ लंबोतरा होता है। इसे पहाड़ी नीबू भी कहते हैं। वैद्यक में इसको कफ़, वायु नाशक और पित्तवर्द्धक बताया है। * संज्ञा पुं० [सं० करण] किया हुआ काम। करनी। करतूत। उ०—अति अपार करता कर करना। बरन न कोई पावै बरना।—जायसी।

क्रि० स० [सं० करण] (१) किसी काम को चलाना। किसी क्रिया को समाप्ति की ओर ले जाना। निबटाना। भुगताना। सपराना। अमल में लाना। अंजाम देना। संपादित करना। जैसे,—यह काम चटपट कर डालो।

संयो० क्रि०—आना।—छोड़ना।—जाना।—डालना।—देखना।—दिखाना।—देना।—धरना।—पाना।—बैठना।—रखना।—लाना।—लेना।

(२) पकाकर तैयार करना। रींधना। जैसे, रसोई करना, दाल करना, रोटी करना।

विशेष—इसका प्रयोग ऐसी संज्ञाओं के साथ ही होता है जो तैयार की हुई वस्तुओं के नाम हैं, प्राकृत पदार्थों के नामों के साथ नहीं, जैसे, दूध करना, पानी करना, कोई नहीं कहता। (३) ले जाना। पहुँचाना। रखना। जैसे,—(क) इस किताब को ज़रा पीछे कर दो। (ख) इनको इनके बाप के यहाँ कर आओ।

मुहा०—किसी वस्तु में करना=किसी वस्तु में घुसाना। डालना। जैसे,—तलवार म्यान में कर लो।

(४) पति वा पत्नी रूप से ग्रहण करना। ख़सम वा जोरू बनाना। जैसे,—उस स्त्री ने दूसरा कर लिया। (५) रोज़गार खोलना। व्यवसाय खोलना। जैसे, दलाली करना, दूकान करना, प्रेस करना।

विशेष—वस्तुवाचक संज्ञा के साथ इसका प्रयोग इस अर्थ में दो चार इने गिने शब्दों ही के साथ होता है।

(६) सवारी ठहराना। भाड़े पर सवारी लेना। जैसे, गाड़ी करना, नाव करना, पालकी करना। उ०—पैदल मत जाना, रास्ते में एक गाड़ी कर लेना। (७) रोशनी बुझाना। प्रकाश बुझाना। जैसे,—सबेरा हुआ चाहता है, अब दिया कर दो। (८) कोई रूप देना। किसी रूप में लाना। एक रूप से दूसरे रूप में लाना। बनाना। जैसे,—(क) उन्होंने उस चाँदी के कटोरे को सोनेका कर दिया। (ख) गधे को मार पीटकर घोड़ा नहीं कर सकते। (९) कोई पद देना। बनाना। जैसे,—कलक्टर ने उन पर प्रसन्न होकर उन्हें तहसीलदार कर दिया। (१०) किसी वस्तु को पोतना। जैसे, स्याही करना, रंग करना, चूना करना। (११) पशुओं का वध वा ज़बह करना। जैसे,—उसने आज १५ बकरियाँ की हैं। (१२) संभोग करना। प्रसंग करना।

विशेष—संज्ञा शब्दों के साथ 'करना' लगाने से बहुत सी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं। जैसे,—प्रशंसा करना, सुस्ती करना, अच्छा करना, बुरा करना, ढीला करना। सब भाववाचक और गुणवाचक संज्ञाओं में इसका प्रयोग हो सकता है। पर वस्तु वा व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के साथ यह केवल कहीं कहीं लगता है और भिन्न भिन्न अर्थों में। जैसे, गड्ढा करना, छेद करना, घास करना, दाना पानी करना, लकीर करना।

करनाई—संज्ञा स्त्री० [अ० क़रनाय] तुरही।

करनाट—संज्ञा पुं० दे० "कर्णाट"।

करनाटक—संज्ञा पुं० [सं० कर्णाटक] मद्रास प्रांत का एक भाग जो कन्याकुमारी से लेकर उत्तरी सरकार पर्य्यंत है और जिसमें पूर्वी घाट और कारमंडल का किनारा अर्थात् समस्त तामिल प्रदेश है।

करनाटकी—संज्ञा पुं० [सं० कर्णाटकी] (१) करनाटक प्रदेश का निवासी। (२) कलाबाज़। कसरत दिखानेवाला मनुष्य। (३) जादूगर। इंद्रजाली। उ०—करनाटकी हाटकी सुंदर सभा तुरंत बनाई। ढोल बजाय बखानि भूप कँह दिय आवर्त्त लगाई।

करनाल—संज्ञा पुं० [अ० करनाय] (१) सिंघा। नरसिंहा। भोंपा। धूतू। (२) एक बड़ा ढोल जो गाड़ी पर लदकर चलता है। (३) एक प्रकार की तोप। उ०—(क) भेजना है भेजो सो रिसालैं सिवराज जू की बाजीं करनालैं परनालैं पर आय कै।—भूषण। (ख) तिमि घरनाल और करनालैं सुतरनाल जंजालैं। गुरगुराब रहँकले भले तहँ लाये विपुल बयालैं।—रघुराज। (४) पंजाब का एक नगर।

करनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० करना] (१) कार्य। कर्म। करतूत। करतब। उ०—(क) देखो करनी कमल की कीनों जल सों हेत। प्राण तज्यो प्रेम न तज्यो सूख्यो सरहि समेत।—सूर। (ख) अपने मुख तुम आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी।—तुलसी। (२) मृतक क्रिया। अंत्येष्टि कर्म। मृतक संस्कार। उ०—पितु हित भरत कीन्ह जस करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी।—तुलसी। (३) पेसराजों वा कारीगरों का लोहे का एक औज़ार जिससे वे दीवार पर पलस्तर वा गारा लगाते हैं। कन्नी।

करनैल—संज्ञा पुं० [अं० कर्नेल] सेना का एक उच्च कर्मचारी। फ़ौज का एक बड़ा अफ़सर।

करपर*—संज्ञा स्त्री० [सं० कर्पर] खोपड़ी।

वि० [सं० कृपण] कंजूस।

करपरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] पीठी की पकौड़ी। बरी उ०—भई मुगौछैं मिरचहि परी। कीन्ह मुँगौरा औ करपरी।—जायसी।

करपलई—संज्ञा स्त्री० दे० "करपल्लवी"।

करपल्लव—संज्ञा पुं० [सं०] उँगली।

करपल्लवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] उँगलियों के संकेत से शब्दों को प्रकट करने की विद्या।

विशेष—इस विद्या का सूत्र यह है—अहिफन कमल, चक्र, टंकार। तरु, पर्वत, यौवन, शृंगार। अँगुरिन अच्छर, चुटकिन मंत्र। कहँ राम बूझें हनुमंत। जैसे, कमल का आकार दिखाने से कवर्ग का ग्रहण होता है। उसके बाद एक उँगली दिखाने से 'क' दो से ख, इसी प्रकार और अक्षर समझ लिए जाते हैं।

करपा-संज्ञा पुं० [देश०] अनाज के तैयार पौधे जिनमें बाल लगी हो। लेहना। डाँठ।

करपान-संज्ञा पुं० [देश०] एक चर्मरोग जिसमें बच्चों के शरीर पर लाल लाल दाने निकल आते हैं।

करपाल-संज्ञा पुं० [सं०] खड्ग। तलवार।

करपीड़न-संज्ञा पुं० [सं०] पाणिग्रहण। विवाह।

करपृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] हथेली के पीछे का भाग।

करफूल-संज्ञा पुं० [हिं० कर+फूल] दे० "दौना"।

करबच†-संज्ञा पुं० [देश०] बैलों पर लादने का दोहरा थैला। खुरजी। गौन।

करबला-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अरब का वह उजाड़ मैदान जहाँ हुसैन मारे गए थे। (२) वह स्थान जहाँ ताजिए दफ़न किए जाँय। (३) वह स्थान जहाँ पानी न मिले।

करबस-संज्ञा पुं० [देश०] दरियाई घोड़े के चमड़े का बना हुआ एक प्रकार का चाबुक जो अफ्रिका के सिनार नगर में बनता है और मिस्र में बहुत काम में लाया जाता है।

करबी†-संज्ञा स्त्री० [सं० खर्व] ज्वार के पेड़ जो काटकर चौपायों को खिलाए जाते हैं। काँटा।

करबुर*-संज्ञा पुं० दे० "कर्बुर"।

करबूस-संज्ञा पुं० [?] घोड़े की ज़ीन वा चारजामे में टँकी हुई रस्सी वा तसमा जिसमें हथियार या और कोई चीज़ लटकाते हैं।

करभ-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० करभी] (१) हथेली के पीछे का भाग। करपृष्ठ। (२) ऊँट का बच्चा। (३) हाथी का बच्चा। (४) ऊँट। (५) नख नाम की सुगंधित वस्तु। (६) कटि। कमर। (७) दोहे के सातवें भेद का नाम जिसमें १६ गुरु और १६ लघु होते हैं। जैसे,—भए पशू तारे पशू सुनी पशुन की बात। मेरी पशुमति देखि कै काहे मोहिं बिनात।

करभीर-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह।

करभोरु-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी की सूँड़ के ऐसा जंघा। उ०—पृथु नितंब करभोरु कमल पद नख मणि चंद्र अनूप। मानहु लब्ध भयो वारिज दल इंदु किये दश रूप।—सूर।

वि० जिसकी जाँघ हाथी की सूँड़ की सी मोटी हो। जिसकी जाँघ सुंदर हो। सुंदर जाँघवाली।

करम-संज्ञा पुं० [सं० कर्म] (१) कर्म। काम। करनी।

यौ०—करमभोग=अपने कर्म्मों का फल। वह दुःख जो अपने किए हुए कर्म्मों के कारण हो।

मुहा०—करम भोगना=अपने किए का फल पाना।

(२) कर्म का फल। भाग्य। क़िस्मत।

मुहा०—करम फूटना=भाग्य मंद होना। भाग्य बुरा होना। क़िस्मत खोटी होना। करम टेढ़ा वा तिरछा होना=दे० 'करम फूटना'। उ०—पालागों छाड़ौ अब अंचल बार बार अंचल करौं तेरी। तिरछो करम भयो पूरब को प्रीतम भयो पाँय की बेरी।—सूर।

यौ०—करम का धनी वा बली=(१) जिसका भाग्य प्रबल हो। भाग्यवान। (२) अभागा। बदक़िस्मत। (व्यंग्य)। करमरेख=भाग्य का लिखा। वह बात जो क़िस्मत में लिखी हो।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) मिहरबानी। कृपा। (२) मुर नाम की गोंद वा पच्छिमी गुग्गुल जो अरब और अफ्रिका से आती है। इसे 'बंदा करम' भी कहते हैं।

संज्ञा पुं० [देश०] एक बहुत ऊँचा पेड़ जो तर जगहों में विशेष कर जमुना के पूर्व की ओर हिमालय पर ३००० फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी सफ़ेद और खरदरी छाल आध इंच के लगभग मोटी होती है, जिसके भीतर से पीले रंग की मज़बूत लकड़ी निकलती है। इस लकड़ी का वज़न प्रति घन फुट १८ से २५ सेर तक होता है। यह लकड़ी इमारतों में लगती है और मेज़, अलमारी आदि असबाब बनाने के काम में आती है। इस पेड़ को हलदू वा हरदू भी कहते हैं।

करमई-संज्ञा स्त्री० [देश०] कचनार की जाति का एक झाड़ीदार पेड़ जो दक्षिण मलाबार आदि प्रांतों में होता है। हिमालय की तराई में गंगा से लेकर आसाम तक तथा बंगाल और बरमा में भी यह पाया जाता है। बंबई में इसकी चरपरी पत्तियाँ खाई जाती हैं। और जगह भी इसकी कोपलों का साग बनता है।

करमकल्ला-संज्ञा पुं० [अ० करम+हिं० कल्ला] एक प्रकार की गोभी जिसमें केवल कोमल कोमल पत्तों का बँधा हुआ संपुट होता है। इन पत्तों की तरकारी होती है। यह जाड़े में फूलगोभी के थोड़ा पीछे माघ फागुन में होती है। चैत में पत्ते खुल जाते हैं और उनके बीच से एक डंठल निकलता है जिसमें सरसों की तरह के फूल और पत्तियाँ लगती हैं। फलियों के भीतर राई के से दाने वा बीज निकलते हैं। बँधी-गोभी। पातगोभी।

करमचंद‡*-संज्ञा पुं० [सं० कर्म्म] कर्म्म। उ०—बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे। हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद मंद मोल बिनु डोला रे।—तुलसी।

करमट्ठा-वि० [सं० कृपण] कृपण। सूम। कंजूस।

करमठ*†–वि० [सं० कर्म्मठ] (१) कर्मनिष्ठ। (२) कर्मकांडी। उ०—करमठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान विहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाइगो राम दुआरे दीन।—तुलसी।

करमरिया–वि० [पुर्त० कलमरिया] समुद्र में हवा के गिर जाने से लहरों का शांत हो जाना।

करमर्दक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कराम्ल। आँवला। (२) करौंदा।

करमसेंक–संज्ञा पुं० [हिं० कर्म्म+सेंकना] (१) पंचों का हुक्का। बिरादरी का हुक्का। (२) कम घी में पके हुए कड़े पराठे जो कठिनता से खाए जायँ।

करमा–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्मा] एक भक्तिन का नाम जिसका मंदिर जगन्नाथजी में बना है। इसकी खिचड़ी जगन्नाथजी को भोग लगती है।

संज्ञा पुं० दे० "कैमा"।

करमात*–संज्ञा पुं० [सं० कर्म्म] कर्म्म। भाग्य। क़िस्मत। नसीब। उ०—सुनु सजनी मेरी एक बात। तुम तौ अतिही करति बड़ाई मन मेरो सरमात। मोसों हँसति स्याम तुम एकै यह सुनि कै मरमात। एक अंग को पार न पावति चकित होइ भरमात। वह मूरति ह्वै नैन हमारे लिखा नहीं करमात।—सूर।

करमाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] उँगलियों के पोर जिन पर उँगली रखकर माला के अभाव में जप की गिनती करते हैं।

† संज्ञा पुं० [देश०] अमलतास।

करमाली–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य। उ०—दीनदयाल दया कर देवा। करैं मुनि मनुज सुरासुर सेवा। हिम तम करि केहरि करमाली। दलन दोष दुख दुरित रुजाली।—तुलसी।

करमी–वि० [सं० कर्मी] (१) कर्म करनेवाला। (२) कर्मठ। कर्मरत।

करमुखा*–वि० [हिं० काला+मुख] [स्त्री० करमुखी] काले मुँहवाला। कलंकी। उ०—(क) सुरुज के दुख जो ससि होइ दुखी। सो कित दुख मानै करमुखी।—जायसी। (ख) कित करमुखे नयन भै, हरा जीव जेहि बाट। सरवर नीर बिछोह ज्यौं, तड़क तड़क हिय फाट।—जायसी।

करमुँहा–वि० [हिं० काला+मुँह] (१) काले मुँहवाला। उ०—जरी लंगूर सु राती उहाँ। निकसि जो भाग गए करमुँहा।—जायसी। (२) कलंकी।

करमूली–संज्ञा पुं० [देश०] एक पहाड़ी पेड़ जो गढ़वाल और कुमाऊँ में बहुत होता है। इसकी लकड़ी कड़ी और ललाई लिए हुए भूरे रंग की तथा वज़न में प्रति घन फुट २२ सेर के लगभग होती है। यह इमारतों में लगती है और खेती के औज़ार बनाने के भी काम आती है। पहाड़ी लोग इस लकड़ी के कटोरे भी बनाते हैं।

करमेस–संज्ञा पुं० [देश०] करगह की एक लकड़ी जो ऊपर की ओर बँधी रहती है। इसी में दो नचनियाँ लटकती हैं जो कंघियों की कौड़ी से बँधी रहती हैं। इन नचनियों को पैर से दबाकर जुलाहे ताने का सूत ऊपर का नीचे और नीचे का ऊपर किया करते हैं। कुलवाँसा। कुलर। अभँर। सुतुर।

करमैती–संज्ञा स्त्री० [हिं० करम+ऐत (प्रत्य०)] कृष्ण की एक उपासिका भक्तिन जो शेखावती नगरी के राजा के पुरोहित परशुराम की कन्या थी।

करमोद–संज्ञा पुं० [सं० मोद+कर] एक प्रकार का धान जो अगहन के महीने में तैयार होता है।

करर–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक ज़हरीला कीड़ा जिसके शरीर में बहुत सी गाँठें होती हैं। (२) रंग के अनुसार घोड़े का एक भेद। (३) एक प्रकार का जंगली कुसुम वा बरैं का पौधा जो उत्तर पश्चिम में पंजाब, पेशावर आदि सूखे स्थानों में बहुत होता है। जहाँ यह अधिक होता है, वहाँ इसके बीज का तेल निकाला जाता है जो रोगनी का तेल कहलाता है। अफ़रीदियों का मोमजामा इसी तेल से बनाया जाता है। इसमें फूल बहुत अधिकता से लगते हैं। इसकी लकड़ी बहुत मुलायम होती है। इसकी टहनियाँ और पत्तियाँ चारे के काम में आती हैं।

कररना, कर्राना*–क्रि० अ० [अनु०] (१) चरमरा कर टूटना। मरमरा कर टूटना। (२) कर्णकटु शब्द करना। कर्कश शब्द बोलना। उ०—मधुर वचन कटु बोलिबो बिनु श्रम भाग अभाग। कुहू कुहू कलकंठ रव का का करत काग।—तुलसी।

कररान*–संज्ञा स्त्री० [अनु०] धनुष चलाने का शब्द। धनुष की टंकार। उ०–कररान धनुष सुक्षी। मरमरान बीर दुक्षी।–सूदन।

करारी–संज्ञा पुं० [सं० कर्बुर] बनतुलसी। बबरी। ममरी। उ०—ऊधो तनिक सुयश श्रौनन सुन। कंचन काँच, कपूर करारि रस, सम दुख सुख, गुन औगुन।—सूर।

कररुह–संज्ञा पुं० [सं०] नख। नाखून।

कररेचकरल–संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य में ५१ प्रकार के चालकों वा हाथ घुमाने फिराने की मुद्राओं में से एक जो बहुत कठिन समझी जाती है। इसमें दोनों हाथों को कमर पर रख स्वस्तिक कर माथे पर ले जाते हैं तथा हाथों को मंडलाकार करते हुए ऊपर लाते हैं। फिर एक हाथ नितंब पर रखकर दूसरे हाथ को पहिये की तरह घुमाते हुए दोनों हाथों को झुलाते हैं और सिर सरल उतारी करके सीधा फैलाते हैं। फिर उद्वेष्टित, प्रसारित आदि कई प्रकार से कंधों के पास दोनों हाथ घुमाते हैं। इसी प्रकार की और बहुत सी क्रियाएँ करते हैं।

करल*–संज्ञा पुं० [सं० कटाह] कड़ाह। कड़ाही। उ०—करल चढ़ै तेहि पाकहि पूरी। मूठी माँझ रहैं सौ जूरी।—जायसी।

करला*-संज्ञा पुं० दे० "कला"।

करली*-संज्ञा स्त्री० [सं० करील] कला। कोमल पत्ता। कनखा। उ०—वही भाँति पलही सुख डारी। उठी करलि नइ कोंप सँवारी।—जायसी।

करसुरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की काँटेदार लता जिसमें सफ़ेद और गुलाबी फूल लगते हैं। यह समस्त भारत में पाई जाती है और फ़रवरी से मई तक फूलती और अगस्त-सितम्बर में फलती है। इसका फूल सुर्खी लिए भूरे रंग का होता है और उसका अचार पड़ता है। हाथी इसकी पत्तियाँ और टहनियाँ बड़ी रुचि से खाते हैं।

करवँठ-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की लता जो अवध, बंगाल, दक्षिण और लंका में पाई जाती है। इसमें ४-५ इंच लंबी पत्तियाँ लगती हैं और पीले फूल होते हैं। इसकी डाल छाजन या डौरियाँ बनाने के काम में आती है।

करवट-संज्ञा स्त्री० [सं० करवर्त, प्रा० करवट्ट] हाथ के बल लेटने की मुद्रा। वह स्थिति जो पार्श्व के बल लेटने से हो। उ०—गइ मुरछा रामहिं सुमिरि नृप फिरि करवट लीन्ह। सचिव राम आगमन कहि विनय समय सम कीन्ह।—तुलसी।

क्रि० प्र०—फिरना।—फेरना।—बदलना।—लेना।

मुहा०—करवट बदलना=(१) दूसरी ओर घूमकर लेटना। (२) पलटा खाना। और का और कर बैठना। (३) एक ओर से दूसरी ओर हो जाना। एक पक्ष छोड़कर दूसरे पक्ष में हो जाना। करवट लेना=(१) दूसरी ओर फिरकर लेटना। मुँह फेरना। पीठ फेरना। (२) और का और हो जाना। पलट जाना। (३) बे-रुख़ होना। फिर जाना। विमुख होना। करवट खाना, होना=(१) उलट जाना। फिर जाना। (२) जहाज़ का किनारे लग जाना। (३) जहाज़ का टेढ़ा होना वा झुक जाना। (लश०)। करवट न लेना=किसी कर्त्तव्य का ध्यान न रखना। दम न लेना। साँस न लेना। सन्नाटा खींचना। जैसे,—इतने दिन रुपए लिए हो गए, अब तक करवट न ली। करवटों में काटना=सोने का समय व्याकुलता में बिताना। करवटें बदलना=बार बार पहलू बदलना। बिस्तर पर बेचैन रहना। तड़पना। विकल रहना।

संज्ञा पुं० [सं० करपत्र, प्रा० करवत्त] (१) एक दाँतेदार औज़ार जिससे बढ़ई बड़ी बड़ी लकड़ियाँ चीरते हैं। करवत। आरा। (२) पहले प्रयाग, काशी आदि स्थानों में आरे वा चक्र रहते थे जिनके नीचे लोग फल की आशा से प्राण देते थे, ऐसे आरे वा चक्र को 'करवट' कहते थे; जैसे, 'काशीकरवट'।

मुहा०—करवट लेना=करवट के नीचे सिर कटाना। उ०—(क) गारी मति दीजै मो गरीबिनी को जायो है।………… काशी करवट लीनों द्रव्य हू लुटायो है। (ख) तिल भर मछली खाइ जो कोटि गऊ दे दान। काशी करवट लै मरै तौ हू नरक निदान।

करवत-संज्ञा पुं० [सं० करपत्र, प्रा० करवत्त] एक दाँतेदार औज़ार जिससे लकड़ी काटी जाती है। आरा।

करवर*†-संज्ञा स्त्री० [देश०] अलप। घात। विपत्ति। औघट। आ[illegible]। संकट। आपत्ति। कठिनाई। मुसीबत। जानजोखिम। उ०—(क) ईश अनेक करवरैं टारी।—तुलसी। (ख) भुजनि पर जननी वारि फेरि डारी। क्यों तोर्‌यो कोमल कर कमलनि शंभु शरासन भारी। क्यों मारीच सुबाहु महाबल प्रबल ताड़का मारी। मुनि प्रसाद मेरे राम लखन की विधि बड़ि करवर टारी।—तुलसी। (ग) ललित लाल निहारि महरि मन विचारि डारि दे घरबसी लकुट बेगि कर ते।……………आनँद बधावनो मुदित गोप गोपी गन आजु परी कुशल कठिन करवर ते। तुलसी जे तोरे तरु किए देव दिए बरु कैन लह्यो कौन फरु देव दामोदर ते।—तुलसी। (घ) कुँवरि सों कहति वृषभानु घरनी।……… बड़ी करवर टरी साँप सों ऊबरी बात के कहत तोहि लगति जरनी।—सूर। (च) बूझहु जाय तात सों बात।……… जब ते जनम भयो हरि तेरो कितने करवर टरे कन्हाई। सूर स्याम कुल देवनि तोको जहाँ तहाँ करि लिए सहाई।—सूर।

क्रि० प्र०—टलना।—पड़ना।

करवरना*-क्रि० अ० [सं० कलरव, हिं० करवर, कलबल] कलरव वा शोर करना। चहकार करना। चहकना। उ०—सारी सुआ जो रह चह करहीं। कुरहि परेवा औ करवरहीं।—जायसी।

करवल-संज्ञा स्त्री० [देश०] जिस्ता मिली हुई चाँदी। वह चाँदी जिसमें रुपए में दो आने भर जिस्ता मिला हो।

करवा-संज्ञा पुं० [सं० करक] (१) धातु वा मिट्टी का टोंटीदार लोटा। बधना। (२) जहाज़ में लगाने की लोहे की कोनिया वा घोड़िया। (लश०)।

संज्ञा पुं० [सं० कर्क=केकड़ा] एक प्रकार की मछली जो पंजाब, बंगाल तथा दक्खिन की नदियों में पाई जाती है।

करवा गौर-संज्ञा स्त्री० दे० "करवा चौथ"।

करवा चौथ-संज्ञा स्त्री० [सं० करका चतुर्थी] कार्तिक कृष्ण चतुर्थी।

विशेष—इस दिन स्त्रियाँ सौभाग्य आदि के लिये गौरी का व्रत करती हैं और सायंकाल को मिट्टी के करवे से चंद्रमा को अर्घ्य देती हैं तथा पकवान के साथ करवे का दान करती हैं।

करवाना-क्रि० स० [हिं० करना का प्रे० रूप] करने में लगाना। दूसरे को करने में प्रवृत्त करना।

करवार*-संज्ञा स्त्री० [सं० करवाल] तलवार। उ०—फूले फदकत लै फरी पल कटाछ करवार। करत बचावत विय नयन पायक घाय हज़ार।—बिहारी।

करवाल-संज्ञा पुं० [सं० करवाल] (१) नख। नाखून। (२) तलवार।

करवाली-संज्ञा स्त्री० [सं० करवाल] छोटी तलवार। करौली। उ०—कर करवाली सोह जथा काली विकराली।—गोपाल।

करवीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनेर का पेड़। (२) तलवार। खड्ग। (३) श्मशान। (४) ब्रह्मावर्त्त देश में दृशद्वती के किनारे की एक प्राचीन राजधानी। (५) चेदि देश का एक नगर जहाँ के राजा शृगाल ने कृष्ण और बलराम को उस समय रोका था, जब वे जरासंध के भागने पर करवीर की ओर ससैन्य जा रहे थे।

करवीराक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] खर राक्षस का एक सेनापति जिसे रामचंद्र ने मारा था।

करवील†-संज्ञा पुं० [सं० करीर] करील। टेंटी का पेड़। कचड़ा।

करवैया†*-वि० [हिं० करना+वैया (प्रत्य०)] करनेवाला।

करवोटी-संज्ञा पुं० [देश०] एक चिड़िया का नाम। उ०—करवोटी बगबगी नाक बासा बेसर दै श्यामा बया कूर ना गरूर गहियतु है। (चिड़ीमारिन)—रघुनाथ।

करशू-संज्ञा पुं० [देश०] हिमालय पर होनेवाला एक बड़ा सदाबहार पेड़ जो अफ़ग़ानिस्तान से लेकर भूटान तक होता है। इसकी लकड़ी बहुत दिनों तक रहती है और बड़ी मज़बूत होती है। इसका कोयला भी बहुत अच्छा होता है। इसकी पत्तियाँ चारे के काम में आती हैं। इस पर चीनी रेशम के कीड़े भी पाले जाते हैं।

करश्मा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] चमत्कार। अद्भुत व्यापार। करामात।

करष-संज्ञा पुं० [सं० कर्ष] (१) खिंचाव। मनमोटाव। अकस। तनाज़ा। तनाव। द्रोह। उ०—(क) करषा तजि कै परुषा बरषा हिमि मारुत घाम सदा सहि कै।—तुलसी। (ख) कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हिय धरहू।—तुलसी। (२) क्रोध। आमर्ष। ताव। लड़ाई का जोश। उ०—(क) बातहिं बात करष बढ़ि आई। जुगल अतुल बल पुनि तरुनाई।—तुलसी। (ग) भलेहि नाथ सब कहहिं सहरषा। एकहि एक बढ़ावहिं करषा।—तुलसी।

करषक*-संज्ञा पुं० [सं० कर्षक] खेती से जीविका करनेवाला। किसान। खेतिहर।

करषना-क्रि० स० [सं० कर्षण] (१) खींचना। तानना। घसीटना। उ०—(क) बारहिं बार अमरषत करषत करकैं परी सरीर।—तुलसी। (ख) सुर तरु सुमन माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिं।—तुलसी। (ग) पद नख निरखि देव सरि हरषी। सुनि प्रभु वचन मोह मति करषी।—तुलसी। (२) सोख लेना। सुखाना। जज़्ब करना। उ०—कोइ सिरजै पालै संहारै। कोइ बरषै करषै कोइ जारै।—रघुनाथ। (३) बुलाना। निमंत्रित करना। आकर्षण करना। समेटना। इकट्ठा करना। बटोरना। उ०—सुनि वसुदेव देवकी हरषे। गोद लगाइ सकल सुख करषे।

करसना*-क्रि० स० दे० "करषना"।

करसनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की लता जो समस्त उत्तर भारत में होती है। इसकी पत्तियाँ २-३ इंच लंबी होती हैं जिन पर भूरे रंग के रोएँ होते हैं। यह फ़रवरी और मार्च में फूलती है। इसके पके फलों के रंग से एक प्रकार की बैंगनी स्याही बनती है। इसकी जड़ और पत्तियाँ दवा के काम आती हैं। इसको हीर भी कहते हैं।

करसाइल*-संज्ञा पुं० दे० "करसायल"।

करसान*-संज्ञा पुं० [सं० कृषाण] किसान। खेतिहर। उ०—कुरुक्षेत्र सब मेदिनी खेत करै करसान। मोह मृगा सब चरि गया आस न रहि खलिहान।—कबीर।

करसायल, करसायर-संज्ञा पुं० [सं० कृष्णसार] काला मृग। काला हिरन। उ०—घायल ह्वै करसायल ज्यों मृग त्यों उतही उतरायल घूमें।

करसी-संज्ञा स्त्री० [सं० करीष] (१) उपले वा कंडे का टुकड़ा। उपलों का चूर। कंडों की भूसी वा कुनाई। कंडे की कोर। (२) कंडा। उपला। उ०—सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि राम तुम रीझे। गनिका गीध बधिक हरिपुर गए लै करसी प्रयाग कब सीझे।—तुलसी।

करस्पर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य से उतप्लुत करण के ३६ भेदों में से एक जिसमें गर्दन नीची करके उछलते तथा धरती पर गिर और कुक्कुट आसन रच दोनों हाथों को उलट देते हैं।

करहंच*-संज्ञा पुं० दे० "करहंस"।

करहँज-संज्ञा पुं० [सं० कर+खंज] खेत में अनाज (अलसी, चने, मूँग, उरद आदि) का वह पौधा जो अधिक ज़ोरदार ज़मीन में पड़ने के कारण बढ़ तो बहुत जाता है, पर जिसमें दाना बहुत कम पड़ता है।

करहंत-संज्ञा पुं० दे० "करहंस"।

करहंस-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक पाद में नगण, सगण और एक लघु (न स ल अर्थात् ।।।+ ।।ऽ+।) होता है। इसी को करहंत, वीरवर वा करहंच भी कहते हैं। उ०—निसि लखु गुपाल। ससिहि मम बाल। लखत अरि कंस। नखत करहंस।

करह*-संज्ञा पुं० [सं० करभ] ऊँट। उ०—दादू करह पलाणि करि को चेतन चढ़ि जाइ। मिलि साहिब दिन देषतां साझ पड़ै जिनि आइ।—दादू। (ख) बन ते भगि बिहड़े परा करहा अपनी बानि। वेदन करह कासों कहै को करहा को जानि।—कबीर।

संज्ञा पुं० [सं० कालिः] फूल की कली। उ०—बाल बिभूषन लसत पाइ मृदु मंजुल अंग विभाग। दसरथ सुकृत मनोहर बिरवनि रूप करह जनु लाग।—तुलसी।

करह कटंग-संज्ञा पुं० [देश०] गढ़ कटंग। यह अकबर के समय

में सूबा मालवा के १२ सरकारों में से एक था ।

करहनी—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है और जिसका चावल बहुत दिनों तक रहता है ।

करहा—संज्ञा पुं० [देश०] सफ़ेद सिरिस का वृक्ष ।

करहाई—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की बेल ।

करहाट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल की जड़ । भसीड़ । मुरार । (२) कमल का छत्ता । कमल की छतरी । उ०—अंगद कूदि गये जहँ आसनगत लंकेश । मनु हाटक करहाट पर शोभित श्यामल वेश ।—केशव । (३) मैनफल ।

करहाटक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल की मोटी जड़ । भसीड़ । मुरार । (२) कमल का छत्ता । कमल के फूल के भीतर की छतरी जो पहले पीली होती है, फिर बढ़ने पर हरी हो जाती है । उ०—(क) सुंदरि मंदिर में मन मोहति स्वर्ण सिंहासन ऊपर सोहति । पंकज के करहाटक मानहु । है कमला विमला यह जानहु ।—केशव । (ख) सुंदर सेत सरोरुह में करहाटक हाटक की दुति को है ।—केशव । (३) मैनफल ।

करही†—संज्ञा स्त्री० [देश०] वह दाना जो पीटने के बाद बाल में लगा रह जाता है ।

करांकुल—संज्ञा पुं० [सं० कलांकुर] पानी के किनारे की एक बड़ी चिड़िया जिसके झुंड ठंढे पहाड़ी देशों से जाड़े के दिनों में आते हैं । यह 'कर्र' 'कर्र' शब्द करती हुई पंक्ति बाँधकर आकाश में उड़ती है । इसका रंग स्याही और कुछ सुर्खी लिए हुए भूरा होता है और इसकी गरदन के नीचे का भाग सफ़ेद होता है । कूँज । पनकुकड़ी । क्रौंच । उ०—(क) तहँ तमसा के विपुल पुलिन में लख्यो करांकुल जोरा । बिहरत मिथुन भाव महँ अति रत करत मनोहर शोरा ।—रघुराज । (ख) तहँ विचरत बन महँ मुनिराई । युगल करांकुल परे दिखाई ।—रघुराज ।

विशेष—यद्यपि संस्कृत कोशों में 'कलांकुर' और 'क्रौंच' दोनों एक नहीं माने गए हैं, पर अधिकांश लोग 'करांकुल' ही को 'क्रौंच' पक्षी मानते हैं ।

करांत—संज्ञा पुं० [सं० करपत्र, प्रा० करवत्त] लकड़ी चीरने का आरा ।

करांती—संज्ञा पुं० [हिं० करांत] करांत वा आरा चलानेवाला ।

करा*—संज्ञा स्त्री० दे० "कला" । उ०—(क) कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा । नाम मुहम्मद पूनो करा ।—जायसी । (ख) तुम हुत भयो पतंग की करा । सिंहल दीप आय उड़ि परा ।—जायसी ।

कराइत—संज्ञा पुं० [सं० किरात, हिं० कारा, काला] एक प्रकार का काला साँप जो बहुत विषैला होता है ।

कराइन†—संज्ञा पुं० [हिं० खर+सं० अयन=घर] छप्पर के ऊपर का फूस ।

कराई—संज्ञा स्त्री० [हिं० केराना] दाल का छिलका । उर्द, अरहर आदि के ऊपर की भूसी ।

*संज्ञा स्त्री० [हिं० कारा, काला], कालापन । श्यामता । उ०—मुख मुरली सिर मोर-पखौआ बन बन धेनु चराई । जे जमुना-जल-रंग रँगे हैं ते अजहूँ नहिं तजत कराई ।—सूर ।

कराड़—संज्ञा पुं० [सं० क्रयार=खरीदनेवाला] (१) महाजन ।—डिं० । (२) बनियों की एक जाति जो पंजाब के उत्तर पश्चिम भाग में मिलती है । ये लोग महाजनी का व्यवसाय करते हैं ।

करात—संज्ञा पुं० [अ० क़ीरात] एक तौल जो चार जौ की होती है और प्रायः सोना, चाँदी वा दवा तौलने के काम में आती है ।

कराना—क्रि० स० [हिं० करना का प्रे० रूप] करने में लगाना ।

क़राबत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) नज़दीकी । समीपता । (२) नाता । रिश्ता । रिश्तेदारी । संबंध ।

क़राबतदारी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] रिश्तेदारी । नातेदारी । अपनायत । संबंध ।

क़राबा—संज्ञा पुं० [अ० । सं० करका, हिं० करवा] शीशे का बड़ा बरतन जिसमें अर्क इत्यादि रखते हैं । काँच का छोटे मुँह का बड़ा पात्र ।

करामात—संज्ञा स्त्री० [अ० 'करामत' का बहु०] चमत्कार । अद्भुत व्यापार । करश्मा । जैसे,—बाबा जी, कुछ करामात दिखाओ ।

करामाती—वि० [हिं० करामात+ई (प्रत्य०)] करामात दिखानेवाला । करश्मा दिखानेवाला । सिद्ध ।

करायजा†—संज्ञा पुं० [सं० कुटज] (१) कोरैया । (२) इंद्रजवा ।

करायल†—संज्ञा स्त्री० [सं० काला] कलौंजी । मँगरैला ।

संज्ञा पुं० [सं० कराल] तेल मिली हुई राल ।

करार—संज्ञा पुं० [सं० कराल=ऊँचा । हिं० कट=कटना+सं० आर=किनारा] नदी का ऊँचा किनारा जो जल के काटने से बनता है ।

क़रार—संज्ञा पुं० [अ०] (१) स्थिरता । ठहराव ।

क्रि० प्र०—पाना ।—देना ।—होना ।

(२) धैर्य्य । धीरज । तसल्ली । संतोष । (३) आराम । चैन ।

क्रि० प्र०—आना ।—पड़ना ।—होना ।

(४) वादा । प्रतिज्ञा । क़ौल ।

क्रि० प्र०—पाना=निश्चित होना । ठहरना । ते पाना । जैसे,—उन दोनों के बीच यह बात क़रार पाई है ।

करारना*—क्रि० अ० [अनु० । सं० करट] काँ काँ शब्द करना । कौवों का बोलना । कर्कश स्वर निकालना । उ०—राधे भूलि रही अनुराग । तरु तरु रुदन करत मुरझानी ढूँढ़ि फिरी बन बाग । कुँवरि प्रसित श्रीखंड अहि भ्रम चरण शिलीमुख लाग । बाणी मधुर जानि पिक बोलत कदम करारत काग ।—सूर ।

करारा–संज्ञा पुं० [सं० कराल=ऊँचा या हिं० कट=काटना+सं० आर=किनारा] (१) नदी का वह ऊँचा किनारा जो जल के काटने से बने । (२) ऊँचा किनारा । (३) टीला । ढूह ।

संज्ञा पुं० [सं० करट] कौआ । उ०—असगुन होहिं नगर पैठारा । रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ।—तुलसी ।

वि० [हिं० कड़ा, कर्रा] (१) छूने में कठोर । कड़ा । (२) दृढ़चित्त । जैसे,—ज़रा करारे हो जाओ, रुपया निकल आवे । (३) खूब सेंका हुआ । आँच पर इतना तला वा सेंका हुआ कि तोड़ने से कुर कुर शब्द करे । जैसे,—करारा सेव, करारा पापड़ । (४) उग्र । तेज़ । तीक्ष्ण ।

मुहा०—करारा दम=जो थका माँदा न हो । जो शिथिल न हो । तेज ।

(५) चोखा । खरा । जैसे,—करारा रुपया । (६) अधिक गहरा । घोर । जैसे,—उस पर बड़ी करारी मार पड़ी । (७) जिसका बदन कड़ा हो । हट्टा कट्टा । बलवान् । जैसे,—करारा जवान ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार की मिठाई ।

करारापन–संज्ञा पुं० [हिं० करारा+पन (प्रत्य०)] कड़ाई । कड़ापन ।

कराल–वि० [सं०] (१) जिसके बड़े बड़े दाँत हों । (२) डरावनी आकृति का । डरावना । भयानक । भीषण । (३) ऊँचा ।

संज्ञा पुं० (१) राल मिला हुआ तेल । गर्जन तेल । (२) दाँतों का एक रोग जिसमें दाँतों में बड़ी पीड़ा होती है और वे ऊँचे-नीचे और बेडौल हो जाते हैं ।

कराल मंच–संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में एक ताल का नाम ।

विशेष—इसमें ३ आघात और २ खाली होते हैं । इसके पखावज के बोल ये हैं—

\+ १ ० २ ० +

धा केटे खुंता केटेताग् गदिघेने नागदेत । धा ।

कराला–संज्ञा स्त्री० [सं०] अनंतमूल । सारिवा ।

कराली–संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि की सात जिह्वाओं में से एक ।

वि० डरावनी । भयावनी । उ०—परम कराली दूबरी लंबवान जिन केश । सहसन महा पिशाचिका देखि परीं तेहि देश ।—रघुराज ।

कराव, करावा–संज्ञा पुं० [हिं० करना] एक प्रकार का विवाह वा सगाई । बैठावा ।

कराह–संज्ञा पुं० [हिं० करना+आह] वह शब्द जो व्यथा के समय प्राणी के मुँह से निकलता है । पीड़ा का शब्द । जैसे, आह ! ऊह ! इत्यादि ।

*† संज्ञा पुं० दे० "कड़ाह" ।

कराहना–क्रि० अ० [हिं० करना+आह] व्यथासूचक शब्द मुँह से निकालना । क्लेश वा पीड़ा का शब्द मुँह से निकालना । आह आह करना । उ०—मरी डरी कि टरी व्यथा कहा खरी चलि चाहि । रही कराहि कराहि अति अब मुख आहि न आहि ।—बिहारी ।

कराहा*†–संज्ञा पुं० दे० "कड़ाहा" ।

कराही*†–संज्ञा स्त्री० दे० "कड़ाही" ।

करिंद*–संज्ञा पुं० [सं० करींद्र] (१) हाथियों में श्रेष्ठ । उत्तम हाथी । बड़ा हाथी । (२) ऐरावत हाथी ।

करि–संज्ञा पुं० [सं० करी, करिन्] [स्त्री० करिणी] सूँड़वाला अर्थात् हाथी ।

करिखई*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० कारिख+ई (प्रत्य०)] श्यामता । कालापन ।

करिखा*†–संज्ञा पुं० दे० "कालिख" ।

करिगह–संज्ञा पुं० दे० "करगह" ।

करिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हस्तिनी । हथिनी । (२) वह कन्या जो वैश्य पिता और शूद्र माता से उत्पन्न हुई हो ।

करिनी–संज्ञा स्त्री० दे० "करिणी" ।

करिबू–संज्ञा पुं० [देश०] अमेरिका के उत्तर ध्रुवीय प्रदेश का एक बारहसिंगा जिससे वहाँ के निवासियों का बहुत सा काम चलता है । वे इसका मांस खाते हैं, इसकी खाल ओढ़ते हैं, खाल से तंबू तथा बरफ़ पर चलने का जूता बनाते हैं और हड्डी की छुरी बनाते हैं ।

करिया*–संज्ञा पुं० [सं० कर्ण] (१) पतवार । कलवारी । उ०—सारँग स्यामहि सुरति कराइ । पौढ़े होंहि जहाँ नंदनंदन ऊँचे टेर सुनाइ । गए ग्रीषम पावस ऋतु आई सब काहू चित चाइ । तुम बिनु ब्रजवासी यौं जीवैं ज्यौं करिया बिनु नाइ । तुमहरो कह्यो मानिहै मोहन चरन पकरि लै आइ । अब की बेर सूर के प्रभु को नैननि आइ दिखाइ ।—सूर । (२) कर्णधार । माँझी । केवट । मल्लाह । (३) पतवार थामनेवाला माँझी । कलवारी धरनेवाला मल्लाह । उ०—(क) सुआ न रहइ खुरुकि जिव, अबहि काल सो आउ । सतुर अहइ जो करिया, कबहूँ सो बोरइ नाउ ।—जायसी । (ख) सेतु मूल शिव शोभिजै केशव परम प्रकास । सागर जगत जहाज को करिया केशवदास ।—केशव । (ग) जल बूड़त नाव राखिहै सोई जोई करिया पूरौ । करौ सलाह देव जो माँगै मैं कहा तुम तै दूरौ ।—सूदन ।

*† वि० काला । श्याम । उ०—(क) ताके बचन बान सम लागे । करिया मुख करि जाहिं अभागे ।—तुलसी । (ख) तुलसी दुख दूनो दसा दुहूँ देखि कियो मुख दारिद को करिया ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० ऊख का एक रोग जो रस सुखा देता है और पौधे को काला कर देता है ।

करियाई*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० करिया+ई (प्रत्य०)] (१) कालापन । स्याही । कालिमा । श्यामता । (२) कजली । कालिख ।

करियारी†–संज्ञा स्त्री० [सं० कलिकारी] (१) कलियारी विष ।

(२) लगाम। उ०—छठी भवन भूपति रानिन युत छठी कृत्य सब करही। खड्ग, कमान, बान, करियारी मंथ पूजि सुख भरही।—रघुराज।

करिबदन—संज्ञा पुं० [सं०] जिनका मुँह हाथी के ऐसा हो। गणेश।

करिहस्ताचार—संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य में देशी भूमिचार के ३५ भेदों में एक जिसमें हंस स्थानक रचकर दोनों पैर तिरछे करके ज़मीन पर रगड़ते हैं।

करहाँ†—संज्ञा स्त्री० [सं० कटिभाग] कमर। कटि।

करिहाँव†—संज्ञा स्त्री० [सं० कटिभाग] (१) कमर। कटि। (२) कोल्हू का वह गड़ारीदार मध्य भाग जिसमें कनेठा और भुजेला घूमता है।

करिहारी†—संज्ञा स्त्री० दे० "करियारी" वा "कलियारी"।

करी—संज्ञा पुं० [सं० करिन्] [स्त्री० करिणी] (१) हाथी। उ० —दीरघ दरीन बसै केशोदास केसरी ज्यों केसरी को देखे बन करी ज्यों कँपत है।—केशव।

संज्ञा स्त्री० [सं० कांड] (१) छत पाटने का शहतीर। धरन। कड़ी। *(२) कली। अनखिला फूल। (३) १५ मात्राओं का एक छंद जिसको चौपाई या चौपैया भी कहते हैं। उ०—चलत कह्यो मधुकर भूपाल। दखिनी आवत तुम पै हाल।—सूदन।

करीना†—संज्ञा पुं० [देश०] पत्थर गढ़ने की छेनी। टाँकी।

*संज्ञा पुं० [हिं० केराना] केराना। मसाला। उ०—इत पर घर, उत है घरा, बनिज न आए हाट। कर्म करीना बेंचि कै, उठि करि चालो बाट।—कबीर।

करीना—संज्ञा पुं० [अ०] (१) ढंग। तर्ज़। तौर। तरीक़ा। अंदाज़। चाल। (२) क्रम। तरतीब। जैसे,—इन सब चीज़ों को क़रीने से रख दो। (३) रीति व्यवहार। शऊर। सलीक़ा। जैसे,—दस भले आदमियों के सामने क़रीने से बैठा करो। (४) हुक्के के नैचे का कपड़े से लपेटा हुआ वह भाग जो फ़रशी के मुँहड़े पर ठीक बैठ जाता है।

क़रीब—क्रि० वि० [अ०] (१) समीप। पास। नज़दीक। निकट। (२) लगभग। जैसे,—५००) के क़रीब तो चंदा आ गया है।

करीम—वि० [अ०] कृपालु। दयालु।

संज्ञा पुं० ईश्वर। उ०—कर्म करीमा लिखि रहा होनहार समरत्थ।—कबीर।

मुहा०—करीम लेना=भालू के नाख़ून काटना। (कलंदर)

करीमभार—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की जंगली घास जो चौपायों को हरी और सूखी खिलाई जाती है।

करीर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस का अँखुआ। बाँस का नया कल्ला। (२) करील का पेड़। (३) घड़ा।

करील—संज्ञा पुं० [सं० करीर] ऊसर और कँकरीली भूमि में होनेवाली एक करीली झाड़ी जिसमें पत्तियाँ नहीं होतीं, केवल गहरे हरे रंग की पतली पतली बहुत सी डंठलें फूटती हैं। राजपूताने और ब्रज में करील बहुत होते हैं। फागुन चैत में इसमें गुलाबी रंग के फूल लगते हैं। फूलों के झड़ जाने पर गोल गोल फल लगते हैं जिन्हें टेंटी वा कचड़ा कहते हैं। ये स्वाद में कसैले होते हैं और इनका अचार पड़ता है। करील के हीर की लकड़ी बहुत मज़बूत होती है और उससे कई तरह के हलके असबाब बनते हैं। रेशे से रस्सियाँ बटी जाती हैं और जाल बुने जाते हैं। वैद्यक में कचड़ा गर्म, रूखा, पसीना लानेवाला, कफ़, श्वास, वात, शूल, सूजन, खुजली और आँव को दूर करनेवाला माना गया है। उ०—(क) केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारों।—रसखान। (ख) दोष बसंत को दीजै कहा उलही न करील की डारन पाती।—पद्माकर।

करीष—संज्ञा पुं० [सं०] सूखा गोबर जो जंगलों में मिलता है और जलाने के काम आता है। बनकंडा। अरना कंडा। जंगली कंडा। बन-उपला। उ०—कछु है अब तो कह लाज हिये। कहि कौन विचार हथ्यार लिये। अब जाइ करीष की आगि जरौ। गरु बाँधि कै सागर बूड़ि मरौ।—केशव।

करुआ—संज्ञा पुं० [देश०] दारचीनी की तरह का एक पेड़ जो दक्षिण के उत्तरी कनाड़ा नामक स्थान में होता है। इसकी सुगंधित छाल और पत्तियों से एक प्रकार का तेल निकाला जाता है जो सिर के दर्द आदि में लगाया जाता है। इसका फल दारचीनी के फल से बड़ा होता है और काली नाग-केसर के नाम से बिकता है।

*† वि० [सं० कटुक] [स्त्री० करुई] (१) कड़ुआ। उ०— हमारे हरि हारिल की लकरी। मन क्रम बचन नंदनंदन उर यह दृढ़ करि उर पकरी।.........सुनतहि लागत हमैं और ह्वमि ज्यों करुई ककरी।—सूर। (२) अप्रिय। उ०— कहहिं झूठ फुर बात बनाई। ते प्रिय तुमहिं करुइ मैं माई।—तुलसी।

करुआई*—संज्ञा स्त्री० [हिं० करुआ] कड़ुआपन। उ०—(क) सूर सुजान सपूत सुलक्षण गनित ज्ञान गरुआई। बिनु हरि भजन इँदारुनि के फल तजत नहीं करुआई।—तुलसी। (ख) धूमउ तजै सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध बसाई। —तुलसी।

करुखी—क्रि० वि० [हिं० कनखी] कनखी। तिरछी नज़र। उ०— सूरदास प्रभु प्रिय मिली, नैन प्राण सुख भयो चितए करुखियनि अनकनि दिए।—सूर।

करुण—संज्ञा पुं० [सं०] वह मनोविकार वा दुःख जो दूसरों के दुःख के ज्ञान से उत्पन्न होता है और दूसरों के दुःख को दूर करने की प्रेरणा करता है। दया। (२) वह दुःख जो अपने प्रिय बंधु वा इष्ट मित्र आदि के वियोग से उत्पन्न होता है। शोक।

यह काव्य के नव रसों में से है। इसका आलंबन बंधु वा इष्ट मित्र का वियोग, उद्दीपन मृतक का दाह वा वियुक्त पुरुष की किसी वस्तु का दर्शन वा उसका गुण श्रवण आदि तथा अनुभाव भाग्य की निंदा, ठंढी साँस निकलना, रोना पीटना आदि है। करुण रस के अधिष्ठाता वरुण माने गए हैं। (३) एक बुद्ध का नाम। (४) परमेश्वर। (५) कालिका पुराण के अनुसार एक तीर्थ का नाम। (६) करना नीबू का पेड़। वि० करुणायुक्त। दयार्द्र।

करुणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह मनोविकार वा दुःख जो दूसरों के दुःख के ज्ञान से उत्पन्न होता है और जो दूसरों के दुःख को दूर करने की प्रेरणा करता है। दया। रहम। तर्स।

यौ०—करुणाकर। करुणानिधि। करुणासिंधु। करुणामय। करुणायतन। करुणार्द्र इत्यादि।

(२) वह दुःख जो अपने प्रिय बंधु, इष्ट मित्रादि के वियोग से उत्पन्न होता है। शोक। (३) करना का पेड़। उ०—सिय को कछु सोच कहौ करुणामय सो करुणा करुणा करि कै।—केशव।

करुणादृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दयादृष्टि। कृपा। (२) नृत्य की छत्तीस दृष्टियों में से एक जिसमें ऊपर की पलक दबाकर अश्रुपात सहित नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि लाते हैं।

करुणानिधान–वि० [सं०] जिसका हृदय करुणा से भरा हो। दयालु।

करुणानिधि–वि० [सं०] जिसका हृदय करुणा से भरा हो। दयालु।

करुना*–संज्ञा स्त्री० दे० "करुणा"।

करुर*–वि० [सं० कटु] कड़ुआ। तीखा।

करुवा†–संज्ञा पुं० दे० "करवा"।

संज्ञा पुं० दे० "कड़ुआ"।

करुवार–संज्ञा पुं० [हिं० कलवारी] नाव खेने का एक प्रकार का डाँड़।

विशेष—इस डाँड़ के पत्ते में थामने का बाँस और डाँड़ों से लंबा होता है। छोटी नावों में जिनमें पतवार नहीं होती, वह माँझी इसे लेकर पीछे की तरफ़ बैठता है जो अच्छा खेना जानता हो; क्योंकि नाव का सीधा ले जाना और घुमाना सब कुछ उसी के हाथ में रहता है।

संज्ञा पुं० [देश०] लोहे का बंद जिसके दोनों नुकीले छोर मुड़े होते हैं और जो दो लकड़ियों वा पत्थरों के जोड़ को दृढ़ रखने के लिये जड़ा जाता है।

करू*–वि० दे० "कड़ुआ"।

करूष–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम जो रामायण के अनुसार गंगा के किनारे था और जहाँ राम के समय में घोर वन था और ताड़का नाम की राक्षसी रहती थी। महाभारत के समय में यह देश बस गया था और इसका राजा दंतवक्र था। वायुपुराण और मत्स्यपुराण में करूष को विंध्य पर्वत पर बतलाया है। इससे विदित होता है कि वर्त्तमान शाहाबाद का ज़िला ही प्राचीन करूष देश है। उ०—पूरब मलद करूष देश द्वै देव किए निरमाना। पूरन रहे धान्य धन जन ते सरित तड़ागहु नाना।—रघुराज।

करूला†–संज्ञा पुं० [हिं० कड़ा+ऊला (प्रत्य०)] (१) हाथ में पहनने का कड़ा। (२) एक प्रकार का मध्यम सोना जिसकी कड़े के आकार की कामी होती है। इसमें तोला पीछे चार रत्ती चाँदी होती है, इसी से यह कुछ सस्ता बिकता है। (३) मुँह में भरे हुए पानी या और किसी पनीली वस्तु को जोर से मुँह से निकालना। कुल्ला।

करेंसी–वि० [अं०] हाथों हाथ चलनेवाला। लेन देन के व्यवहार में धन की तरह काम आनेवाला। जैसे,—करेंसी नोट।

करेजा*†–संज्ञा पुं० [सं० यकृत] कलेजा। हृदय। उ०—(क) कीजो पार हरतार करेजे। गंधक देख अभहिं जिउ दीजे।—जायसी। (ख) मानो गिर्‌यो हेमगिरि शृंग पै सुकेलि करि कढ़ि कै कलंक कलानिधि के करेजे तें।—पद्माकर। (ग) कवन रोग दुहूँ छतियाँ उपजेउ आय। दुखि दुखि उठै करेजवा लगि जनु जाय।—रहीम। वि० दे० "कलेजा"।

करेजी–संज्ञा स्त्री० [हिं० करेजा] पशुओं के कलेजे का मांस जो खाने में अच्छा समझा जाता है।

यौ०—पत्थर की करेजी=पत्थर की खानों में चट्टानों की तह में निकली हुई पपड़ी की सी वस्तु जो खाने में सोंधी लगती है।

करेणु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी। (२) कर्णिकार वृक्ष।

करेता–संज्ञा पुं० [देश०] बरियारा। बला। खिरैंटी।

करेपाक–संज्ञा स्त्री० [देश०] कृष्ण निंब। मीठी नीम। बरसंग।

करेब–संज्ञा स्त्री० [अं० क्रेप] एक करारा झीना रेशमी कपड़ा।

करेमू–संज्ञा पुं० [सं० कलंबु] एक घास जो पानी में होती है। यह पानी के ऊपर दूर तक फैलती है। इसके डंठल पतले और पोले होते हैं, जिनकी गाँठों पर से दो लंबी लंबी पत्तियाँ निकलती हैं। लड़के डंठलों को लेकर बाजा बजाते हैं। इस घास का लोग साग बनाकर खाते हैं। करेमू अफ़ीम का विष उतारने की दवा है। जितनी अफ़ीम खाई गई हो, उतना करेमू का रस पिला देने से विष शांत हो जाता है।

करेर*†–वि० [सं० कठोर] कड़ा। कठिन। कठोर।

करेरुआ–संज्ञा पुं० [देश०] एक कँटीली बेल जिसके पत्ते नींबू के आकार के होते हैं। चैत बैसाख में इसमें हलके करौंदिया रंग के फूल लगते हैं जिनकी केसर बहुत लंबी होती है। फूलों के झड़ने पर इसमें परवल की तरह फल लगते हैं जिनमें बीज ही बीज भरे रहते हैं। यह खाने में बहुत कड़ुआ होता है, यहाँ तक कि इसके पत्ते से भी बड़ी कड़ुई गंध निकलती

है। फल की तरकारी बनाई जाती है। लोगों का विश्वास है कि आर्द्रा नक्षत्र के पहले दिन इसे खा लेने से साल भर फोड़ा फुनसी होने का डर नहीं रहता। करेरुआ के पत्ते पीसकर घाव पर भी रखते हैं।

करेल–संज्ञा पुं० [हिं० करेला] (१) एक प्रकार का बड़ा मुगदर जो दोनों हाथों से घुमाया जाता है। इसका वज़न दो मुगदरों के बराबर होता है। इसका सिरा गोलाई लिए हुए होता है; इससे यह ज़मीन पर नहीं खड़ा रह सकता, दीवार इत्यादि से अड़ा कर रक्खा जाता है। (२) करेल घुमाने की कसरत।

क्रि० प्र०—करना।

करेलनी–संज्ञा स्त्री० [देश०] लकड़ी की वह फरुई जिससे घास का अटाला लगाते हैं।

करेला–संज्ञा पुं० [सं० कारवेल्ल] (१) एक छोटी बेल जिसकी पत्तियाँ पाँच नुकीली फाँकों में कटी होती हैं। इसमें लंबे लंबे गुल्ली के आकार के फल लगते हैं जिनके छिलके पर उभड़े हुए लंबे लंबे और छोटे बड़े दाने होते हैं। इन फलों की तरकारी बनती है। करेला दो प्रकार का होता है। एक बैसाखी जो फागुन में क्यारियों में बोया जाता है, ज़मीन पर फैलता है और तीन चार महीने रहता है। इसका फल कुछ पोला होता है, इसी से कलौंजी बनाने के काम में भी आता है। दूसरा बरसाती जो बरसात में बोया जाता है, झाड़ पर चढ़ता है और सालों फूलता फलता है। इसका फल कुछ पतला और ठोस होता है। कहीं कहीं जंगली करेला भी मिलता है जिसके फल बहुत छोटे और बहुत कड़ुए होते हैं। इसे करेली कहते हैं। (२) माला वा हुमेल की लंबी गुरिया जो बड़े दानों वा कोढ़ेदार रुपयों के बीच में लगाई जाती है। हर्रे। (३) एक प्रकार की आतशबाज़ी।

करेली–संज्ञा स्त्री० [हिं० करेला] जंगली करेला जिसके फल बहुत छोटे छोटे और कड़ुए होते हैं।

करैत–संज्ञा पुं० [हिं० कारा, काला] काला फनदार साँप जो बहुत विषैला होता है।

करैल–संज्ञा स्त्री० [हिं० कारा, काला] (१) एक प्रकार की काली मिट्टी जो प्रायः तालों के किनारे मिलती है। यह बहुत कड़ी होती है, पर पानी पड़ने पर गलकर लसीली हो जाती है। इससे स्त्रियाँ सिर साफ़ करती हैं। कुम्हार भी इसे काम में लाते हैं। (२) वह भूमि जहाँ की मिट्टी करैल वा काली हो।

संज्ञा पुं० [सं० करीर] (१) बाँस का नरम कल्ला। (२) डोम कौआ।

करैला–संज्ञा पुं० दे० "करेला"।

करैली–संज्ञा स्त्री० दे० "करेली"।

करैली मिट्टी–संज्ञा स्त्री० दे० "करैल"।

करोट–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० करोटी] खोपड़े की हड्डी। खोपड़ा।

‡ संज्ञा पुं० दे० "करवट"।

करोटन–संज्ञा पुं० [अं० क्रोटन] (१) बनस्पति की एक जाति जिसके अंतर्गत अनेक पेड़ और पौधे होते हैं। इस जाति के सब पौधों में मंजरी लगती है और फलों में तीन या छः बीज निकलते हैं। इस जाति के कई पेड़ दवा के काम में भी आते हैं और दस्तावर होते हैं। रेंड़ी और जमालगोटा इसी जाति के पेड़ हैं। (२) एक प्रकार के पौधे जो अपने रंग बिरंग और विलक्षण आकार के पत्तों के लिए लगाए जाते हैं।

करोटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] खोपड़ी।

*संज्ञा स्त्री० करवट। उ०—एक दिना हरि लई करोटी सुनि हरषीं नँदरानी। विप्र बुलाइ स्वस्तिवाचन करि रोहिणि नैन सिरानी।—सूर।

करोड़–वि० [सं० कोटि] सौ लाख की संख्या जो अंकों में इस प्रकार लिखी जाती है—१००००००० ।

मुहा०—करोड़ की एक=बहुत सी बातों का तत्व। यथार्थ तत्व। बड़े अनुभव की बात। जैसे,—इस समय तुमने करोड़ की एक कही।

करोड़खुख–वि० [हिं० करोड़+खुख] झूठ मूठ लाखों करोड़ों की बात हाँकनेवाला। झूठा। गप्पी।

करोड़पती–वि० [हिं० करोड़+सं० पति] करोड़ों रुपए का स्वामी। वह जिसके पास करोड़ों रुपये हों। बहुत बड़ा धनी।

करोड़ी–संज्ञा पुं० [हिं० करोड़] (१) रोकड़िया। तहवीलदार। (२) मुसलमानी राज्य का एक अफ़सर जिसके ज़िम्मे कुछ तहसील रहती थी।

करोत–संज्ञा पुं० [सं० करपत्र] लकड़ी चीरने का औज़ार। आरा।

करोदना*–क्रि० स० [सं० कर्त्तन] खरोचना। खुरचना। करोना। उ०—मिहिर नजर सों भावते राखु याद भरि मोद। अनखन खनि अनखन अरे मत भो मनहिं करोद।—रसनिधि।

करोना–क्रि० स० [सं० क्षुरण=खरोचना] खुरचना। खसोटना। उ०—लाल निठुर ह्वै बैठि रहे। प्यारी हाहा करति न मानत पुनि पुनि चरन गहे। नहिं बोलत नहिं चितवत मुखतन धरनी नखन करोवत।—सूर।

करोनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० करोना] (१) पके हुए दूध वा दही का वह अंश जो बरतन में चिपका रह जाता है और खुरचने से निकलता है। (२) खुरचन नाम की मिठाई। (३) लोहे वा पीतल का बना हुआ खुर्पी के आकार का एक औज़ार जिससे दूध बसौंधी आदि कड़ाही में से खुरची जाती है।

करोर*–वि० दे० "करोड़"।

करोला*†–संज्ञा पुं० [हिं० करवा] करवा। गड़ुवा। उ०—लसत

अमोले कनक करोले। भरे सुरभि जल धरे अतोले।—रघुराज। थार कटोरे कनक करोले। चिमचा प्याले परम अमोले।—रघुराज।

संज्ञा पुं० भालू। रीछ।—डिं०।

करौंछा*†-वि० [हिं० कारा, काला+औंछा (प्रत्य०)] [स्त्री० करौंछी] काला। श्याम। उ०—केसर सों उबटी अन्हवाइ चुनी चूनरी चुटकीन सों कोंछी। बेनी जु माँग भरे मुकता बड़ी बेनी सुगंध फुलेल तिलोंछी। औचक आए वे रोम उठे लखि मूरति नंदलला की करोंछी। ओझिल ह्वै कह्यो आली री तैं इहा देह गुलाब की पोती सों पोंछी।—बेनी।

करौंजी*-संज्ञा स्त्री० [सं० कालाजाजी] कलौंजी। मँगरैला। उ०—काथ करौंजी कारी जीरी। काइफरौ कुचिला कनकीरी।—सूदन।

करौंट*-संज्ञा पुं० दे० "करवट"।

करौंदा-संज्ञा पुं० [सं० करमर्द, पा० करमद्द, पुं० हिं० करवँद] (१) एक कँटीला झाड़ जिसकी पत्तियाँ नीबू की तरह की, पर छोटी छोटी होती हैं। इसमें जूही की तरह के सफ़ेद फूल लगते हैं जिनमें भीनी भीनी गंध होती है। यह बरसात में फलता है। इसके फूल छोटे बेर के बराबर बहुत सुंदर होते हैं जिनका कुछ भाग खूब सफ़ेद और कुछ हलका और गहरा गुलाबी होता है। ये फल खट्टे होते हैं और अचार और चटनी के काम में आते हैं। पंजाब में करौंदे के पेड़ से लाह भी निकलती है। फल रंगों में भी पड़ता है। डालियों को छीलने से एक प्रकार का लासा निकलता है। कच्चा फल मलरोधक होता है और पक्का शीतल, पित्त-नाशक और रक्त-शोधक होता है। इसकी जड़ को कपूर और नीबू में फेंटकर खाज पर लगाते हैं जिससे खुजली कम होती है और मक्खियाँ नहीं बैठतीं। इसकी लकड़ी ईंधन के काम में आती है; पर दक्षिण में इसके कंघे और कलछुले भी बनते हैं। करौंदे की झाड़ी टट्टी के लिये भी लगाई जाती है। करौंदा प्रायः सब जगह होता है।

पर्या०—करमर्द। कराम्ल। करांबुक। बोल। जातिपुष्प। (२) एक छोटी कटीली झाड़ी जो जंगलों में होती है और जिसमें मटर के बराबर छोटे छोटे फल लगते हैं, जो जाड़े के दिनों में पककर खूब काले हो जाते हैं। पकने पर इन फलों का स्वाद मीठा होता है। (३) कान के पास की गिल्टी।

करौंदिया-वि० [हिं० करौंदा] करौंदे के रँग का। करौंदे के समान हलकी स्याही लिए हुए खुलते लाल रंग का।

संज्ञा पुं० एक रंग जो बहुत हलकी स्याही लिए हुए लाल होता है। गुलाबी से इसमें थोड़ा ही अंतर जान पड़ता है। रँगरेज़ लोग जिन वस्तुओं से अब्बासी रंग बनाते हैं, उन्हीं से इसे भी बनाते हैं; अर्थात्—४ छटाँक शहाब के फूल, ½ छटाँक आम की खटाई और ८-९ माशे नील।

करौत-संज्ञा पुं० [सं० करपत्र] [स्त्री० करौती] लकड़ी चीरने का औज़ार। आरा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० करना] रखेली स्त्री।

करौता-संज्ञा पुं० दे० "करौत"।

संज्ञा पुं० [हिं० कारा, काला] करैल मिट्टी।

संज्ञा पुं० [हिं० करवा] काँच का बड़ा बरतन। क़राबा। बड़ी शीशी।

करौती-संज्ञा स्त्री० [हिं० करौता] लकड़ी चीरने का औज़ार। आरी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० करवा] (१) शीशे का छोटा बरतन। क़राबा। उ०—(क) जाही सों लगत नैन, ताही खगत बैन, नख सिख लौं सब गात ग्रसति। जाके रँग राचे हरि सोइ है अंतर संग, काँच की करौती के जल ज्यों लसति।—सूर। (ख) वे अति चतुर प्रवीन कहा कहौं जिन पठई तो को बहरावन। सूरदास प्रभु जिय की होनी की जानति काँच करौती में जल जैसे ऐसे तू लागी प्रगटावन।—सूर। (२) काँच की भट्ठी।

करौना-संज्ञा पुं० [हिं०करोना=खुरचना] कसेरों की वह क़लम जिससे वे बरतनों पर नक्क़ाशी करते हैं। नक्क़ाशी खोदने की क़लम वा छेनी।

करौला*-संज्ञा पुं० [हिं० रौला=शोर] हँकवा करनेवाला। शिकारी। उ०—एक समै सजि कै सब सैन सिकार को आलमगीर सिधाए। "आवत है सरजा सँभरौ" इक ओर तें लोगन बोलि जनाए। भूषन भो भ्रम औरँग को सिव भोंसला भूप की धाक धुकाए। धाय कै "सिंह" कह्यो समुझाय करौलनि आय अचेत उठाए।—भूषण।

करौली-संज्ञा स्त्री० [सं० करवाली] (१) एक प्रकार की सीधी छुरी जो भोंकने के काम में आती है। इसमें मूँठ लगी रहती है। (२) राजपूताने का एक शहर।

कर्कंधू-संज्ञा पुं० [सं०] बेर का पेड़ वा फल।

कर्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) केकड़ा। (२) बारह राशियों में से चौथी राशि जिसमें पुनर्वसु का अंतिम चरण तथा पुष्य और अश्लेषा नक्षत्र हैं। ३६० अंश के १२ विभाग करने से एक एक राशि मोटे हिसाब से ३०° की मानी जाती है। कर्क पृष्ठोदय राशि है। (३) काकड़ासींगी। (४) अग्नि। (५) दर्पण। (६) घड़ा। (७) कात्यायन श्रौत सूत्र के एक भाष्यकार।

कर्कट-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कर्कटी, कर्कटा] (१) केकड़ा। (२) कर्क राशि। (३) एक प्रकार का सारस। करकरा। करकरिया। (४) लौकी। घीआ। (५) कमल की मोटी जड़। भसीड़। (६) तराज़ू की डंडी का मुड़ा हुआ सिरा जिसमें पलड़े की रस्सी बँधी रहती है। (७) सँड़सा। (८) वृत्त की त्रिज्या। (९) नृत्य में तेरह प्रकार के हस्तकों में से एक जिसमें दोनों हाथ की उँगलियाँ बाहर भीतर मिलाकर कड़काते हैं।

यह क्रिया आलस्य या शंख बजाने का भाव दिखाने के लिए की जाती है।

कर्कटशृंगी–संज्ञा स्त्री० [सं०] काकड़ासींगी।

कर्कटा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता जिसमें करैले की तरह के छोटे छोटे फल लगते हैं, जिनकी तरकारी बनती है। ककोड़ा। खेखसा।

कर्कटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कछुई। (२) ककड़ी। (३) सेमल का फल। (४) साँप। (५) घड़ा। (६) बँदाल की लता। (७) तरोई। (८) काकड़ासींगी।

कर्कर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंकड़। (२) कुरंज पत्थर जिसके चूर्ण की सान बनती है। (३) दर्पण। (४) नीलम का एक भेद।

वि० (१) कड़ा। करारा। (२) खुरखुरा।

कर्करेटु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सारस। करकरा। करकटिया।

कर्कश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमीले का पेड़। (२) ऊख। ईख। (३) खड्ग। तलवार।

वि० (१) [भा० संज्ञा कर्कशता, कर्कशत्व, कार्कश्य] कठोर। कड़ा।

यौ०—**कर्कश स्वर**=कड़ी आवाज। कानों को अच्छा न लगनेवाला शब्द।

(२) खुरखुरा। काँटेदार। (३) तेज़। तीव्र। प्रचंड। (४) अधिक। (५) कठोर हृदय। क्रूर।

कर्कशता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कठोरता। कड़ापन। (२) खुरखुरापन।

कर्कशत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कड़ापन। (२) खुरखुरापन।

कर्कशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वृश्चिकाली का पौधा।

वि० स्त्री० झगड़ालू। झगड़ा करनेवाली। लड़ाकी। कटुभाषिणी।

कर्कारु–संज्ञा पुं० [सं०] भूरा कुम्हड़ा। रकसवा कुम्हड़ा। पेठा।

कर्कारुक–संज्ञा पुं० [सं०] तरबूज़। हिनुवाना।

कर्कि–संज्ञा पुं० [सं०] कर्क राशि।

कर्केतन–संज्ञा पुं० [सं०] एक रत्न वा बहुमूल्य पत्थर। ज़मुर्रद।

विशेष—कर्केतन वा ज़मुर्रद हरे वा नीले रंग का होता है। अच्छा ज़मुर्रद दूब के रंग का और बिना सूत का स्वच्छ होता है। ज़मुर्रद से बिल्लौर कट जाता है। ज़मुर्रद को काटने के लिये नीलम और मानिक की आवश्यकता होती है। इसको घिसने से इसमें से एक प्रकार की चमक निकलती है। दक्षिण भारत में कोयमबटूर के पास इसकी खान है। यह और जगह भी नीलम और पन्ने के साथ मिलता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त सिंहल, उत्तर अमेरिका, मिस्र, रूस (यूराल पर्वत), ब्रेज़िल आदि स्थानों में भी यह होता है। जिस कर्केतन में सूत होता है अर्थात् जो बहुत स्वच्छ नहीं होता और मटमैले रंग का होता है, उसे लसुनिया कहते हैं।

कर्केतर–संज्ञा पुं० [सं०] कर्केतन रत्न। ज़मुर्रद।

कर्कोट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेल का पेड़। (२) खेखसा। ककोड़ा। (३) एक राजा का नाम। (४) काश्मीर का एक राजवंश। (५) एक नाग का नाम।

कर्कोटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बनतोरई। (२) खेखसी। ककोड़ा। (३) देवदाली। बंदाल।

कर्चरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] कचौड़ी। बेढ़ई। बेढ़वी।

कर्ची–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया।

कर्चूर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। सुवर्ण। (२) कचूर। नरकचूर।

कर्ज़, कर्ज़ा–संज्ञा पुं० [अ०] ऋण। उधार।

क्रि० प्र०—अदा करना।—करना।—काढ़ना।—खाना।—चुकना।—चुकाना।—देना।—पटना।—पटाना।—लेना।—होना।

मुहा०—**कर्ज़ उतारना**=कर्ज़ देना वा चुकाना। उधार बेबाक़ करना। **कर्ज़ उठाना**=ऋण लेना। ऋण का बोझ ऊपर लेना। **कर्ज़ खाना**=(१) कर्ज़ लेना। (२) उपकृत होना। दबायल होना। वश में होना। जैसे,—क्या हमने तुम्हारा कर्ज़ खाया है, जो आँख दिखाते हो? **कर्ज़ खाए बैठना**=दे० "उधार खाए बैठना"।

यौ०—कर्ज़दार।

कर्ज़दार–वि० [फ़ा०] उधार लेनेवाला। ऋणी।

कर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कान। श्रवणेंद्रिय। (२) कुंती का सब से बड़ा पुत्र। यह कन्याकाल में सूर्य्य से उत्पन्न हुआ था, इसी से कानीन भी कहलाता था।

पर्या०—राधेय। वसुषेण। अर्कनंदन। घटोत्कचांतक। चांपेश। सूतपुत्र।

(३) सुवर्णालि वृक्ष। (४) नाव की पतवार। (५) समकोण त्रिभुज में समकोण के सामने की रेखा। (६) किसी चतुर्भुज में आमने सामने के कोणों को मिलानेवाली रेखा। (७) पिंगल में डगण अर्थात् चार मात्रावाले गणों की संज्ञा। जैसे—ऽऽ—माधो। (८) छप्पय के चौथे भेद का नाम। इसमें ६७ गुरु, १८ लघु, ८५ वर्ण और १५२ मात्राएँ होती हैं। परंतु जिसमें उल्लाला २६ मात्राओं का होता है, उस छप्पय में ६७ गुरु, १४ लघु, ८१ वर्ण और १४८ मात्राएँ होती हैं।

कर्णकटु–वि० [सं०] कान को अप्रिय। जो सुनने में कर्कश लगे।

कर्णकसन्निपात–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात जिसमें रोगी कान से बहरा हो जाता है, उसके शरीर में ज्वर रहता है, कान के नीचे सूजन होती है, वह अंडबंड बकता है, उसे

पसीना होता है, प्यास लगती है, बेहोशी आती है और डर लगता है।

कर्णकीटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कनखजूरा। गोजर।

कर्णकुहर–संज्ञा पुं० [सं०] कान का बिल। कान का छेद।

कर्णक्ष्वेड–संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग जिसमें पित्त और कफ़युक्त वायु कान में घुस जाने से बाँसुरी का सा शब्द सुन पड़ता है।

कर्णगूथ–संज्ञा पुं० [सं०] कान का खूँट। कान की मैल।

कर्णदेवता–संज्ञा पुं० [सं०] कान के देवता, वायु।

कर्णधार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाविक। माँझी। मल्लाह। केवट। (२) पतवार थामनेवाला माँझी। (३) पतवार। कलवारी।

कर्णनाद–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कान में सुनाई पड़ती हुई गूँज। घनघनाहट जो कान में सुन पड़ती है। (२) एक रोग जिसमें वायु के कारण कान में एक प्रकार की गूँज सी सुनाई पड़ती है।

कर्णपरंपरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक के कान से दूसरे के कान में बात जाने का क्रम। सुनी सुनाई व्यवस्था। (किसी बात को) बहुत दिनों से लगातार सुनते सुनाते चले आने का क्रम। श्रुतिपरंपरा।

कर्णपाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कान की लौ। कान की लोलक। कान की लोबिया। कान की लहर। (२) कान की बाली। मुरकी। (३) एक रोग जो कान की लोलक में होता है।

कर्णपिशाची–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देवी जिसके सिद्ध होने पर कहा जाता है कि मनुष्य जो चाहे सो जान सकता है।

कर्णपुट–संज्ञा पुं० [सं०] कान का घेरा।

कर्णपुर–संज्ञा पुं० [सं०] चंपा नगरी जो अंग देश की राजधानी थी।

कर्णपूर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिरिस का पेड़। (२) अशोक का पेड़। (३) नील कमल। (४) करनफूल।

कर्णपूरक–संज्ञा पुं० [सं०] कदंब का पेड़।

कर्णप्रतिनाह–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार कान का एक रोग जिसमें खूँट फूलकर अर्थात् पतली होकर नाक और मुँह में पहुँच जाती है। इस रोग के होने से आधासीसी उत्पन्न हो जाती है।

कर्णप्रयाग–संज्ञा पुं० [सं०] गढ़वाल का एक गाँव जो अलकनंदा और पिंडार नदी के संगम पर है। यहाँ स्नान करने का माहात्म्य है।

कर्णमूल–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें कान की जड़ के पास सूजन होती है। कनपेड़ा।

कर्णमृदंग–संज्ञा पुं० [सं०] कान के भीतर की चमड़े की वह झिल्ली जो मृदंग के चमड़े की तरह हड्डियों पर कसी रहती है। इस पर शब्द द्वारा कंपित वायु के आघात से शब्द का ज्ञान होता है।

कर्ण-युग्म-प्रकीर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य में ५१ प्रकार के चालकों में से एक जिसमें दोनों हाथों को घुमाते हुए बग़ल से सामने ले आते हैं।

कर्ण-लग्न-स्कंध–संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य में कंधे के पाँच भेदों में से एक जिसमें कंधे को सीधा ऊँचा करके कान की ओर ले जाते हैं।

कर्णवर्जित–संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

विशेष—प्राचीनों का विश्वास था कि साँप के कान नहीं होते; पर वास्तव में साँप की आँखों के पास कान के छेद प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

कर्णविद्रधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] कान के अंदर की फुनसी। कान के भीतर की फुड़िया वा घाव।

कर्णवेध–संज्ञा पुं० [सं०] बालकों के कान छेदने का संस्कार। कनछेदन।

कर्णस्राव–संज्ञा पुं० [सं०] कान के भीतर से पीब वा मवाद बहने का रोग जो कान के भीतर फुनसी निकलने वा घाव होने से होता है।

कर्णहीन–संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। साँप।

कर्णाट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दक्षिण का एक देश जिसके अंतर्गत प्राचीन काल में वर्त्तमान मैसूर के उत्तरीय भाग से लेकर बीजापूर तक का प्रदेश था। पर इधर तंत्रवाले आजकल के करनाटक के अनुसार रामेश्वर से लेकर कावेरी तक के प्रदेश को कर्णाट मानते हैं। (२) संपूर्ण जाति का एक राग जो मेघ राग का दूसरा पुत्र माना जाता है। इसके गाने का समय रात का पहला पहर है। इसका स्वरपाठ इस प्रकार है—प ध नि सा रे ग म प। इसे हिंदी में कान्हड़ा भी कहते हैं।

कर्णाटक–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "कर्णाट"।

कर्णाटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संपूर्ण जाति की एक शुद्ध रागिनी जो मालव या किसी किसी मत से दीपक राग की पत्नी है। यह रात के दूसरे पहर की दूसरी घड़ी में गाई जाती है। स्वरपाठ इस प्रकार है—नि सा रि ग म प ध नी। संगीत दर्पण के अनुसार इसका ग्रहांशन्यास वा ग्राम निषाद है; पर किसी किसी के मत से षड्ज भी है। इसे कान्हड़ी भी कहते हैं। (२) कर्णाट देश की स्त्री। (३) कर्णाट देश की भाषा। (४) हंसपदी लता। (५) शब्दालंकार अनुप्रास की एक वृत्ति जिसमें केवल कवर्ग ही के अक्षर आते हैं।

कर्णाभरणक–संज्ञा पुं० [सं०] अमलतास।

कर्णारि–संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन जिसने कर्ण को मारा था।

कर्णिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कान का एक गहना । करनफूल। (२) हाथ की बिचली उँगली । (३) हाथी के सूँड़ की नोक । (४) कमल का छत्ता जिसमें से कँवलगट्टे निकलते हैं । (५) सेवती । सफ़ेद गुलाब । (६) एक योनिरोग जिसमें योनि के कमल के चारों ओर कँगनी के अंकुर से निकल आते हैं ।(७) अरनी का पेड़ । (८) मेढ़ासींगी ।(९) कलम । लेखनी । (१०) डंठल जिसमें फल लगा रहता है।

कर्णिकार–संज्ञा पुं० [सं०](१) कनियार वा कनकचंपा का पेड़। (२) एक प्रकार का अमलतास जिसका पेड़ बड़ा होता है । इसमें भी अमलतास ही की तरह की लंबी लंबी फलियाँ लगती हैं जिनके गूदे का जुलाब दिया जाता है। वैद्यक में यह सारक और गरम तथा कफ़, शूल, उदररोग, प्रमेह, व्रण और गुल्म को दूर करनेवाला माना जाता है।

कर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का बाण।

संज्ञा पुं० [सं० कर्णिन्] बाण । तीर ।

संज्ञा पुं० सप्त वर्ष पर्वतों में से एक । सप्त वर्ष पर्वत ये कहलाते हैं—हिमवान, हेमकूट, निषद, मेरु, चैत्र, कर्णी, शृंगी । वि० (१) कानवाला । (२) बड़े कानवाला । (३) जिसमें पतवार लगी हो ।

कर्णीजप–संज्ञा पुं० [सं०]पीठ पीछे लोगों की निंदा करनेवाला। धीरे धीरे कान में लोगों की चुगली खानेवाला।चुगलखोर। पिशुन ।

कर्ण्यगण–संज्ञा पुं० [सं०] कानों के लिये हितकारी ओषधियों का समूह, जिसके अंतर्गत तिलपर्णी, समुद्रफेन, कई समुद्री कीड़ों की हड्डियाँ आदि हैं ।

कर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काटना । कतरना । (२) (सूत इत्यादि) कातना ।

कर्त्तनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कतरनी । कैंची ।

कर्त्तब*–संज्ञा पुं० दे० "करतब" ।

कर्त्तरि-अंचित–संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य में उतप्लुत करण के ३६ भेदों में से एक जिसमें चरण-स्वस्तिक रचकर उछलते हैं ।

कर्त्तरि लोहड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं०] उतप्लुत करण के ३६ भेदों में से एक । इसमें करण-स्वस्तिक रचकर फिर उसे खोलते हुए उछलकर तिरछे गिरते हैं ।

कर्त्तरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कैंची । कतरनी । (२) (सुनारों की) काती । (३) छोटी तलवार । छुरी । कटारी । (४) ताल देने का एक बाजा । (५) फलित ज्योतिष का एक योग । जब दो क्रूर ग्रहों के बीच में चंद्रमा वा कोई लग्न हो, तब कर्त्तरी योग होता है । इससे कन्या की मृत्यु और अपना बंधन होता है ।

कर्त्तव्य–वि० [सं०] करने के योग । करणीय ।

संज्ञा पुं० करने योग्य कार्य्य । करणीय कार्य्य । उचित कर्म। धर्म । फ़र्ज़ । जैसे,—बड़ों की सेवा करना छोटों का कर्त्तव्य है ।

क्रि० प्र०—करना ।—पालन करना ।—पालना ।

यौ०—कर्त्तव्याकर्त्तव्य=करने और न करने योग्य कर्म । उचित और अनुचित कर्म । योग्य अयोग्य कार्य्य । जैसे,—बहुत से अधिकारियों को अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता ।

कर्त्तव्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कर्त्तव्य का भाव ।

यौ०—इतिकर्त्तव्यता=उद्योग वा प्रयत्न की पराकाष्ठा । कोशिश वा कार्रवाई की हद । दौड़ । जैसे,—उनकी इतिकर्तव्यता यहीं तक थी ।

(२) कर्तव्य कराने की दक्षिणा । कर्मकांड की दक्षिणा ।

कर्तव्यमूढ़, कर्तव्यविमूढ़–वि० [सं०] (१) जिसे यह न सुझाई दे कि क्या करना चाहिए । जो कर्तव्य स्थिर न कर सके । (२) घबराहट के कारण जिससे कुछ करते धरते न बने । भौचक्का ।

कर्त्ता–संज्ञा पुं० [सं० 'कर्तृ' की प्रथमा का एक०][स्त्री० कर्त्री] (१) करनेवाला । काम करनेवाला । (२) रचनेवाला । बनानेवाला। (३) विधाता । ईश्वर । उ०—मेरे मन कछु और है कर्त्ता के कछु और । (४) व्याकरण के ६ कारकों में से पहला जिससे क्रिया के करनेवाले का ग्रहण होता है। जैसे,—यज्ञदत्त मारता है । यहाँ मारने की क्रिया को करनेवाला यज्ञदत्त कर्ता हुआ।

कर्त्तार–संज्ञा पुं० [सं० 'कर्तृ' की प्रथमा का बहु०] (१) करनेवाला । बनानेवाला । (२) विधाता । ईश्वर ।

कर्त्तृ–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कर्त्री] (१) करनेवाला । (२) बनानेवाला ।

कर्त्तृक–वि० [सं०] किया हुआ । सम्पादित । बनाया हुआ ।

कर्त्तृत्व–संज्ञा पुं० [सं०] कर्त्ता का भाव । कर्त्ता का धर्म ।

यौ०—कर्तृत्वशक्ति=करने का सामर्थ्य । कार्य्य करने की शक्ति।

कर्तृप्रधान-क्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह क्रिया जिसमें कर्ता प्रधान हो; जैसे, खाना, पीना, करना आदि ।

विशेष—खाया जाना, पीया जाना, किया जाना आदि कर्मप्रधान क्रियाएँ हैं ।

कर्तृप्रधानवाक्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह वाक्य जिसमें कर्त्ता प्रधान रूप से आया हो; जैसे, यज्ञदत्त रोटी खाता है ।

कर्तृवाचक–वि० [सं०] कर्त्ता का बोध करानेवाला ।

कर्तृवाची–वि० [सं०] जिससे कर्त्ता का बोध हो ।

कर्तृवाच्य-क्रिया–संज्ञा पुं० [सं०] वह क्रिया जिसमें कर्त्ता का बोध प्रधान रूप से हो; जैसे, खाना, पीना, मारना ।

विशेष—खाया जाना, पीया जाना, मारा जाना आदि कर्मप्रधान क्रियाएँ हैं ।

कर्द–संज्ञा पुं० [सं०] कर्दम । कीचड़ ।

कर्दट–संज्ञा पुं० [सं०] कमल की जड़ । पद्मकंद ।

वि० कीचड़ में चलनेवाला।

कर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] पेट का शब्द। पेट की गुड़गुड़ाहट।

कर्दम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कीचड़। कीच। चहला। (२) मांस। (३) पाप। (४) छाया (५) स्वायंभुव मन्वंतर के एक प्रजापति जिनकी पत्नी का नाम देवहूति और पुत्र का नाम कपिलदेव था। ये छाया से उत्पन्न, सूर्य्य के पुत्र थे; इसी से इनका नाम कर्दम पड़ा था।

कर्दमिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कीचड़वाली धरती। दलदली ज़मीन।

कर्नफूली-संज्ञा स्त्री० [सं० कर्ण+हिं० फूल] एक नदी जो आसाम के पहाड़ों से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है। चटगाँव नगर इसी के किनारे बसा है।

कर्नल-संज्ञा पुं० [अं०] एक फ़ौजी अफ़सर।

कर्नेता-संज्ञा पुं० [देश०] रंग के अनुसार घोड़े का एक भेद।
उ०—कारूमी संदली स्याह करनेता रूना।—सूदन।

कर्पट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराना चिथड़ा। गूदड़। लत्ता। (२) कालिकापुराण के अनुसार नाभिमंडल के पूर्व और भस्मकूट के दक्षिण का एक पर्वत।

कर्पटिक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कर्पटिका] चिथड़े गुदड़ेवाला, भिखारी। भिखमंगा।

कर्पटी-संज्ञा पुं० [सं० कर्पटिन्] [स्त्री० कर्पटिनी] चिथड़े गुदड़े पहननेवाला, भिखारी।

कर्पण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शस्त्र।

कर्पर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपाल। खोपड़ी। (२) खप्पर। (३) कछुए की खोपड़ी। (४) एक शस्त्र। (५). कड़ाह। (६) गूलर।

कर्पराल-संज्ञा पुं० [सं०] पीलू का पेड़।

कर्परी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दारु-हलदी के क्वाथ से निकला हुआ तूतिया। खपरिया।

कर्पास-संज्ञा पुं० [सं०] कपास।

कर्पासी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कपास का पौधा।

कर्पूर-संज्ञा पुं० [सं०] कपूर।

कर्पूरगौरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] संकर जाति की एक रागिनी जो ज्योति, खंबावती, जयतश्री, टंक और वराटी के योग से बनी है।

कर्पूरनालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक पकवान जो मोयनदार मैदे की लंबी नली के आकार की लोई में लौंग मिर्च कपूर चीनी आदि भरकर उसे घी में तलने से बनता है।

कर्पूरमणि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पत्थर जो दवा के काम में आता है और वातनाशक समझा जाता है।

कर्फर-संज्ञा पुं० [सं०] दर्पण। आरसी। शीशा। आईना।

कर्बुदार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लिसोड़ा। (२) सफ़ेद कचनार। (३) तेंदू का पेड़ जिससे आबनूस निकलता है।

कर्बुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। स्वर्ण। (२) धतूरा। (३) जल। (४) पाप। (५) राक्षस। (६) जड़हन धान। (७) कचूर।
वि० नाना वर्णों का। रंग बिरंगा। चितकबरा।

कर्बुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बनतुलसी। बबरी। (२) कृष्णतुलसी।

कर्बुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

कर्मंद-संज्ञा पुं० [सं०] भिक्षु सूत्रकार एक ऋषि।

कर्म-संज्ञा पुं० [सं० कर्मन् का प्रथमा रूप] (१) वह जो किया जाय। क्रिया। कार्य्य। काम। करनी। करतूत।
यौ०—कर्मकार। कर्मक्षेत्र। कर्मचारी। कर्मफल। कर्मभोग। कर्मेंद्रिय।
(२) व्याकरण में वह शब्द जिसके वाच्य पर कर्ता की क्रिया का प्रभाव पड़े। जैसे, राम ने रावण को मारा। यहाँ राम के मारने का प्रभाव रावण में पाया गया, इससे वह कर्म हुआ। यह द्वितीय कारक माना जाता है जिसका विभक्ति-चिह्न 'को' है। कभी कभी अधिकरण अर्थ में भी द्वितीया रूप का प्रयोग होता है। जैसे,—'वह घर को गया था'। पर ऐसा प्रयोग अकर्मक क्रियाओं में, विशेष कर आना, जाना, फिरना, लौटना, फेंकना आदि गत्यर्थक क्रियाओं ही के साथ होता है, जिनका संबंध देश, स्थान और काल से होता है। संप्रदान कारक में भी कर्मकारक का चिह्न 'को' लगाया जाता है। जैसे,—'उसको रुपया दो'। (३) वैशेषिक के अनुसार ६ पदार्थों में से एक जिसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—जो एक द्रव्य में हो, गुण न हो और संयोग और विभाग में अनपेक्ष-कारण हो। कर्म पाँच हैं—उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अवक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुंचन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना और गमन (जाना, चलना)। गमन के पाँच भेद किए गए हैं—भ्रमण (घूमना), रेचन (ख़ाली होना), स्यंदन (बहना या सरकना), ऊर्द्धज्वलन (ऊपर की ओर जलना), तिर्य्यग्गमन (तिरछा चलना)। (४) मीमांसा के अनुसार कर्म्म दो प्रकार के हैं—गुण वा गौण कर्म और प्रधान वा अर्थ कर्म। गुण (गौण) कर्म वह है जिससे द्रव्य (सामग्री) की उत्पत्ति वा संस्कार हो; जैसे, धान कूटना, यूप बनाना, घी तपाना आदि। गुण कर्म का फल दृष्ट है; जैसे, धान कूटने से चावल निकलता है, लकड़ी गढ़ने से यूप बनता है। गुण कर्म के भी चार भेद किए गए हैं—(क) उत्पत्ति (जैसे, लकड़ी के गढ़ने से यूप का तैयार होना), (ख) आप्ति (जैसे, गाय के दुहने से दूध की प्राप्ति), (ग) विकृति (धान कूटना, सोम का रस निचोड़ना, घी तपाना), (घ) संस्कृति (चावल पछोड़ना, सोम का रस छानना)। प्रधान वा अर्थ कर्म वह है जिससे द्रव्य की उत्पत्ति वा शुद्धि न हो, बल्कि उसका

उपयोग हो; जैसे, यज्ञ आदि। उसका फल अदृष्ट है; जैसे स्वर्ग की प्राप्ति इत्यादि। प्रधान वा अर्थकर्म के तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य वह है जिसके न करने से पाप हो अर्थात् जिसका करना परम कर्तव्य हो; जैसे—संध्या, अग्निहोत्र आदि। नैमित्तिक वह है जो किसी निमित्त से किसी अवसर पर किया जाय; जैसे, पौर्णमासपिंड, पितृयज्ञ आदि। जो कर्म किसी विशेष फल की कामना से किया जाय, वह काम्य है, जैसे, पुत्रेष्टि, कारीरि आदि। मीमांसक लोग कर्म्म को प्रधान मानते हैं और वेदांती लोग ज्ञान को प्रधान मानकर उससे मुक्ति मानते हैं।

यौ०—कर्मकांड।

(५) योगसूत्र की वृत्ति में भोज ने कर्म के तीन भेद किए हैं। (क) विहित जिनके करने की शास्त्रों में आज्ञा है, (ख) निषिद्ध, जिनके करने का निषेध है और (ग) मिश्र अर्थात् मिले जुले। जाति, आयु और भोग कर्म के विपाक वा फल कहे जाते हैं। (६) जन्मभेद से कर्म के चार विभाग किए गए हैं—संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण और भावी। (७) जैन दर्शन के अनुसार कर्म पुद्गल और जीव के अनादि संबंध से उत्पन्न होता है, इसी से जैन लोग इसे पौद्गलिक भी कहते हैं। कर्म के दो भेद हैं। (क) घाति जो मुक्ति का बाधक होता है और (ख) अघाति जो मुक्ति का बाधक नहीं होता। (८) वह कार्य वा क्रिया जिसका करना कर्त्तव्य हो। जैसे—ब्राह्मणों के षट् कर्म, यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह। (९) कर्म का फल। भाग्य। प्रारब्ध। क़िस्मत। जैसे,—(क) अपना कर्म भोग रहे हैं। (ख) कर्म में जो लिखा होगा, सो होगा।

विशेष—दे० "करम"।

(१०) मृतकसंस्कार। क्रिया कर्म्म। उ०—जब तनु तज्यो गीध रघुपति तब बहुत कर्म विधि कीनी। जान्यो सखा राय दशरथ को तुरतहि निज गति दीनी।—सूर।

कर्मकांड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) धर्म संबंधी कृत्य। यज्ञादि कर्म। (२) वह शास्त्र जिसमें यज्ञादि कर्मों का विधान हो।

कर्मकांडी—संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञादि कर्म करानेवाला। धर्मसंबंधी कृत्य करानेवाला।

कर्मकार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वर्ण-संकर जाति जो शूद्रा और विश्वकर्मा से उत्पन्न हुई। (२) लोहे वा सोने का काम बनानेवाला। (३) बैल। (४) नौकर। सेवक। मज़दूर। (५) बिना वेतन वा मज़दूरी के काम करनेवाला। बेगार।

कर्मकारक—संज्ञा पुं० दे० "कर्म (२)"।

कर्मक्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्य्य करने का स्थान। (२) भारतवर्ष।

विशेष—भागवत में लिखा है कि ९ वर्षों (प्रदेशों) में से भारतवर्ष कर्म करने के लिये है; शेष आठ वर्ष कर्म्मों के अवशिष्ट भोग के लिये हैं।

कर्मचारी—संज्ञा पुं० [सं० कर्म्मचारिन्] (१) काम करनेवाला कार्य्यकर्त्ता। (२) वह जिसके अधीन राज्यप्रबंध वा और किसी कार्य्यालय से संबंध रखनेवाला कोई कार्य्य हो। अमला।

कर्मज—वि० [सं०] (१) कर्म से उत्पन्न। (२) जन्मांतर में किए हुए पुण्य-पाप से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) कलियुग। (२) वटवृक्ष। (३) वह रोग जो जन्मांतर के कर्मों का फल हो। जैसे,—क्षयी।

कर्मजित—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगध का जरासंधवंशी एक राजा। (२) उड़ीसा का एक राजा।

कर्मठ—वि० [सं०] (१) काम में चतुर। (२) धर्मसंबंधी कृत्य करनेवाला। कर्मनिष्ठ।

संज्ञा पुं० (१) शास्त्रविहित अग्निहोत्र, संध्या आदि नित्य कर्मों को विधिपूर्वक करनेवाला व्यक्ति। (२) कर्मकांडी।

उ०—कर्मठ कठमलिया कहै, ज्ञानी ज्ञानविहीन।—तुलसी।

कर्मणा—क्रि० वि० [सं० कर्मन् का तृतीया एक०] कर्म्म से। कर्म्म द्वारा। जैसे,—मनसा, वाचा कर्मणा मैं तुम्हारी सेवा करूँगा।

कर्मण्य—वि० [सं०] काम करनेवाला। कार्य्य में कुशल। उद्योगी। प्रयत्नशील।

कर्मण्यता—संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्य्यकुशलता। तत्परता।

कर्मधारय समास—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह समास जिसमें विशेषण और विशेष्य का समान अधिकरण हो: जैसे, कचलहू, मवठट, नवयुवक, नवांकुर, चिरायु।

विशेष—हिन्दी में कर्मधारय समास बहुत कम होता है क्योंकि इसमें विशेष्य के साथ विशेषण में भी विभक्ति लगाने का साधारण नियम नहीं है।

कर्मदेव—संज्ञा पुं० [सं०] ऐतरेय और बृहदारण्यक उपनिषदों के अनुसार देवताओं का एक भेद। इसमें तैंतीस देवता हैं—अष्टावसु, एकादश रुद्र, द्वादश सूर्य्य, तथा इंद्र और प्रजापति। इनका राजा इंद्र और आचार्य्य बृहस्पति हैं। ये लोग अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म करके देवता हुए थे।

कर्मना—*क्रि० वि० दे० "कर्मणा"।

कर्मनाशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी जो शाहाबाद ज़िले के कैमोर पहाड़ से निकलकर चौसा के पास गंगा में मिलती है। लोगों का विश्वास है कि इसके जल के स्पर्श से पुण्य का क्षय होता है। कोई इसका कारण यह बतलाते हैं कि यह नदी त्रिशंकु राजा की लार से उत्पन्न हुई है; कोई कहते हैं कि रावण के मूत्र से निकली है। पर कुछ लोगों का यह मत है कि प्राचीन काल में कर्मनिष्ठ आर्य्य ब्राह्मण इस नदी को पार कर के कीकट (मगध) और वंग देश में नहीं जाते थे। इसी से यह अपवित्र मानी गई है।

कर्मनिष्ठ–वि० [सं०] शास्त्रविहित कर्म्मों में निष्ठा रखनेवाला। संध्या, अग्निहोत्र आदि कर्त्तव्य करनेवाला। क्रियावान्।

कर्मपंचमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] ललित, वसंत, हिंडोल और देशकार के संयोग से बनी हुई एक रागिनी।

कर्मप्रधान क्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] व्याकरण में वह क्रिया जिसमें कर्म ही मुख्य होकर कर्त्ता के समान आता है और जिसका लिंग, वचन उसी कर्म के अनुसार होता है। जैसे,—वह पुस्तक पढ़ी गई।

कर्मप्रधान वाक्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह वाक्य जिसमें कर्म मुख्य रूप से कर्त्ता की तरह आया हो। जैसे,—पुस्तक पढ़ी जाती है।

कर्मभू–संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्यावर्त देश। भारतवर्ष। दे० "कर्मक्षेत्र"।

कर्मभोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्मफल। करनी का फल। (२) पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम।

कर्मयुग–संज्ञा पुं० [सं०] कलियुग।

कर्मयोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चित्त शुद्ध करनेवाला शास्त्रविहित कर्म्म। उ०—कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सबही भ्रम भरमायो। श्रीवल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।—सूर। (२) उस शुभ और कर्तव्य कर्म्म का साधन जो सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखकर निर्लिप्त रूप से किया जाय। इसका उपदेश श्रीकृष्ण ने गीता में विस्तार के साथ किया है।

कर्मरंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमरख का वृक्ष। (२) कमरख का फल।

कर्मरेख–संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्म की रेखा। भाग्य की लिखन। तक़दीर। उ०—कर्म-रेख नहिं मिटै करै कोइ लाखन चतुराई।

कर्मवाच्य क्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह क्रिया जिसमें कर्म मुख्य होकर कर्त्ता के रूप से आया हो और जिसका लिंग, वचन उसी कर्म के अनुसार हो। जैसे,—पुस्तक पढ़ी जाती है।

कर्मवाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मीमांसा, जिसमें कर्म प्रधान माना गया है। (२) कर्मयोग। उ०—कर्मवाद व्यापन को प्रगटे पृश्निगर्भ अवतार। सुधा पान दीन्हों सुर गण को भयो जग जस विस्तार।—सूर।

कर्मवादी–संज्ञा पुं० [सं० कर्मवादिन्] कर्मकांड वा कर्म को प्रधान माननेवाला। मीमांसक।

कर्मवान–वि० [सं०] वेदविहित नित्य कर्म को विधिपूर्वक करनेवाला। कर्म करनेवाला। क्रियावान।

कर्मविपाक–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्व जन्म के किए हुए शुभ और अशुभ कर्मों का भला और बुरा फल। उ०—राम विरह दसरथ दुखित कहति कैकई काकु। कुसमय जायँ उपाय सब केवल कर्म विपाकु।—तुलसी।

विशेष—पुराण के मत से प्राणी अपने कर्मों के अनुसार भला वा बुरा जन्म धारण करता है और पृथ्वी पर धन, ऐश्वर्य्य इत्यादि का सुख वा रोग इत्यादि का कष्ट भोगता है। किन किन पापों से कौन कौन दुःख भोगने पड़ते हैं, इसका विवरण गरुड़ पुराण आदि ग्रन्थों में है।

कर्मशील–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो फल की अभिलाषा छोड़कर स्वभावतः काम करे। कर्मवान्। (२) यत्नवान्। उद्योगी।

कर्मशूर–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो साहस और दृढ़ता के साथ कर्म करने में प्रवृत्त हो। उद्योगी।

कर्मसंन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्म का त्याग। (२) कर्म के फल का त्याग।

कर्मसंन्यासी–संज्ञा पुं० [सं० कर्म्मसन्यासिन्] कर्मत्यागी। यती।

कर्मसाक्षी–वि० [सं० कर्मसाक्षिन्] जो कर्मों का देखनेवाला हो। जिसके सामने कोई काम हुआ हो।

संज्ञा पुं० वे देवता जो प्राणियों के कर्मों को देखते रहते हैं और उनके साक्षी रहते हैं। ये नौ हैं—सूर्य्य, चंद्र, यम, काल, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश।

कर्मस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काम करने की जगह। (२) फलित ज्योतिष में लग्न से दसवाँ स्थान जिसके अनुसार मनुष्य के पिता, पद, राजसन्मान आदि के संबंध में विचार होता है।

कर्महीन–वि० [सं०] (१) जिससे शुभ कर्म न बन पड़े। अकर्मनिष्ट। (२) अभागा। भाग्यहीन। उ०—(क) मंदमति हम कर्महीनी दोष काहि लगाइए। प्राणपति सों नेह बाँध्यो कर्म लिख्यो सो पाइए।—सूर। (ख) सकल पदारथ है जग माहीं। करमहीन नर पावत नाहीं।—तुलसी।

कर्मांत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काम का अंत। काम की समाप्ति। (१) जोती हुई धरती।

कर्मादान–संज्ञा पुं० [सं०] वह व्यपार जिसका श्रावकों के लिये निषेध है। ये १५ हैं—(१) इंगला कर्म। (२) वन कर्म। (३) साकट कर्म वा साडी कर्म। (४) भाडी कर्म। (५) स्फोटिक कर्म—कोडी कर्म। (६) दंत-कुवाणिज्य। (७) लाक्षा-कुवाणिज्य। (८) रस-कुवाणिज्य। (९) केश-कुवाणिज्य। (१०) विष-कुवाणिज्य। (११) यंत्रपीडन। (१२) निर्लोछन। (१३) दावाग्नि-दान-कर्म। (१४) शोषण-कर्म। (१५) असतीपोषण।

कर्मार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कारीगर। सुनार, लोहार इत्यादि। (२) कर्मकार। लोहार। (३) कमरख। (४) एक प्रकार का बाँस।

कर्मिष्ठ–वि० [सं०] (१) कर्म करनेवाला। काम में चतुर। (२) विधिपूर्वक शास्त्रविहित संध्या, अग्निहोत्र आदि कर्म करनेवाला। क्रियावान्।

कर्मी–वि० [सं० कर्मिन्] [स्त्री० कर्मिणी] (१) कर्म करनेवाला। (२) फल की आकांक्षा से यज्ञादि कर्म करनेवाला।

कर्मीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नारंगी रंग। किर्मीर। (२) चितकबरा रंग।

कर्मेंद्रिय-संज्ञा स्त्री० [सं०] काम करनेवाली इंद्रिय । वह इंद्रिय जिसे हिला डुलाकर कोई क्रिया उत्पन्न की जाती है । कर्मेंद्रियाँ पाँच हैं—हाथ, पैर, वाणी, गुदा और उपस्थ ।

विशेष—सांख्य में ग्यारह इंद्रियाँ मानी गई हैं । पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्मेंद्रिय और एक उभयात्मक मन ।

कर्रा†-संज्ञा पुं० [सं० कराल] [स्त्री० कर्री] जुलाहों का सूत फैलाकर तानने का काम ।

क्रि० प्र०—करना ।

वि० (१) कड़ा । सख़्त । (२) कठिन । मुश्किल । जैसे—कर्रा काम, कर्री मेहनत ।

कर्राना*†-क्रि० अ० [हिं० कर्रा] कड़ा होना । कठोर होना । सख़्त होना ।

कर्री-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जो देहरादून और अवध के जंगलों तथा दक्षिण में पाया जाता है । इसके पत्ते बहुत बड़े होते हैं और मार्च में झड़ जाते हैं । पत्ते चारे के काम में आते हैं । इस वृक्ष में फल भी लगते हैं जो जून में पकते हैं ।

वि० स्त्री० कड़ी । कठोर ।

कर्वट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो सौ गाँवों के बीच का कोई सुंदर स्थान जहाँ आस पास के लोग इकट्ठे होकर लेन देन और व्यापार करते हों । मंडी । (२) नगर । (३) वह गाँव जो काँटेदार झाड़ियों से घिरा हो ।

कर्चूर-संज्ञा पुं० [सं०] कचूर । नरकचूर । ज़रंबाद ।

कर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोलह माशे का एक मान ।

विशेष—प्राचीन काल में माशा पाँच रत्ती का होता था इससे आज कल के अनुसार कर्ष दस ही माशे का ठहरेगा। वैद्यक में कहीं कहीं कर्ष दो तोले का भी माना गया है ।

(२) खिंचाव । घसीटना । (३) जोताई । (४) (लकीर-आदि) खींचना । खरोचना । (५) बहेड़ा ।

संज्ञा पुं० [सं० कर्ष] ताव । जोश । बढ़ावा । दे० "करष" ।

कर्षक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खींचनेवाला । (२) हल जोतनेवाला । किसान । खेतिहर ।

कर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कर्षित, कर्षी, कर्षक, कर्षणीय, कर्ष्य] (१) खींचना । (२) खरोंचकर लकीर डालना । (३) जोतना । (४) कृषिकर्म । खेती का काम ।

कर्षफल-संज्ञा सं० [सं०] (१) बहेड़ा । विभीतक । (२) आँवला ।

कर्षिणी-संज्ञा वि० [सं०] (१) खिरनी का पेड़ । क्षीरिणी वृक्ष । (२) घोड़े की लगाम ।

कर्षू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंडे की आग । (२) खेती । (३) जीविका ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा ताल । (२) नदी । (३) नहर । (४) छोटा कुंड जिसमें यज्ञ की अग्नि रक्खी जाती है ।

कर्हि-क्रि० वि० [सं०] कब ? । किस समय ? ।

कर्हिचित्-क्रि० वि० [सं०] (१) कभी । किसी समय । (२) कदाचित् ।

कलंक-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कलंकित, कलंकी] (१) दाग़ । धब्बा । (२) चंद्रमा पर काला दाग़ ।

यौ०—कलंकांक ।

(३) लांछन । बदनामी । (४) ऐब । दोष ।

क्रि० प्र०—छूटना ।—देना ।—लगना ।—लगाना ।

मुहा०—कलंक चढ़ाना=कलंक वा दोष लगाना । कलंक का टीका=दोष का धब्बा । लांछन ।

कलंधर-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

कलंकांक-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा का काला दाग़ ।

कलंकित-वि० [सं०] (१) जिसे कलंक लगा हो । लांछित । दोषयुक्त । (२) जिसमें मुरचा लगा हो ।

कलंकी-वि० [सं० कलंकिन्] [स्त्री० कलंकिनी] जिसे कलंक लगा हो । दोषी । अपराधी ।

‡ संज्ञा पुं० [सं० कल्कि] कल्कि अवतार ।

कलंकुर-संज्ञा पु० [सं०] पानी का भँवर ।

कलँगड़ा†-संज्ञा पुं० [सं० कलिंग] कलौंदा । तरबूज़ ।

कलँगा-संज्ञा पुं० [हिं० कलँगी] (१) लोहे की एक छेनी जिससे ठठेर थालों में नक्क़ाशी करते हैं । (२) छीपियों का एक ठप्पा जिसमें अठारह फूल होते हैं । (३) दे० "कलगा" ।

कलँगी-संज्ञा स्त्री० दे० "कलगी" ।

कलंज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तमाकू का पौधा । (२) मृग । (३) पक्षी । (४) पक्षी का मांस । (५) १० पल की तौल ।

कलंडर-संज्ञा पुं० [अं० कैलेंडर] वह अंगरेज़ी यंत्री वा तिथि-पत्र जिस का प्रारंभ पहली जनवरी से होता है ।

कलंदक-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

कलंदर-संज्ञा पुं० [अ० क़लंदर] (१) एक प्रकार का मुसलमान साधु जो संसार से विरक्त होता है । (२) रीछ और बंदर नचानेवाला । इस देश में ये लोग प्रायः मुसलमान होते हैं । (३) दे० "कलंदरा" ।

कलंदरा-संज्ञा पुं० [अं०] (१) एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जो सूत, रेशम और टसर से बुना जाता है । गुदड़ । (२) खेमे का अँकुड़ा जिस पर कपड़ा या रेशम लिपटा रहता है । इसमें लोग कपड़े या और और वस्तु लटका देते हैं । उ०—तंबू, पाल, क़नात, साएबान, सिरायचे । रावटिहू बहु भाँति पुनि कुंदरा कलंदरा ।—सूदन ।

संज्ञा पुं० [अं० कैलेंडर] (१) वह जंत्री वा पत्रा जिसका साल पहली जनवरी से प्रारंभ होता है । (२) जुर्म वा जुर्मों की वह सूची वा याददाश्त जो मजिस्ट्रेट को ऐसे मुक़द्दमों में तैयार करनी पड़ती है जिन्हें वह दौरे सुपुर्द करता है ।

कलंदरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कलंदरा+ई० (प्रत्य०)] वह छौलदारी जिसमें कलंदर लगे हों।

कलंब–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शर। (२) शाक का डंठल। (३) कदंब।

कलंबिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] गले के पीछे की नाड़ी। मन्या।

कलंबियन–संज्ञा पुं० [अं०] प्रेस या छापे की कल का एक भेद। इसमें दो लंगर होते हैं। एक चिड़िया के आकार का ऊपर रहता है, दूसरा पीछे की ओर। इन्हीं लंगरों से इसकी दाब उठती है। कमानी नहीं होती। इसका चलन अब कम होता जाता है। इसे चिड़िया प्रेस भी कहते हैं।

कल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अव्यक्त मधुर ध्वनि। जैसे—कोयल की कूक, भौंरों की गुंजार।

यौ०—कलकंठ।

(२) वीर्य्य। (३) साल का पेड़।

वि० (१) मनोहर। सुंदर। (२) कोमल। मधुर।

संज्ञा स्त्री० [सं० कल्य, प्रा० कल्ल](१) नैरोग्य। आरोग्य। सेहत। तंदुरुस्ती। (२) आराम। चैन। सुख।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—पाना।—होना।

मुहा०—कल से=चैन से। उ०—सुवै तहाँ दिन दस कल काटी। आयउ ब्याध ढुका लै टाटी।—जायसी। † कल से=आराम से। धीरे धीरे। आहिस्ता आहिस्ता।

(३) संतोष। तुष्टि।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—पाना।—होना।

क्रि० वि० [सं० कल्य=प्रत्यूष, प्रभात] (१) दूसरे दिन का सबेरा। आनेवाला दिन। जैसे,—मैं कल आऊँगा।

मुहा०—कल कल करना वा आज कल करना=किसी बात के लिये सदा दूसरे दिन का वादा करना। टाल मटूल करना। हीला हवाला करना।

(२) भविष्य में। पर काल में। किसी दूसरे समय। जैसे,—जो आज देगा, सो कल पावेगा। (३) गया दिन। बीता हुआ दिन। जैसे,—वह कल घर गया था।

मुहा०—कल का=थोड़े दिन का। हाल का। जैसे,—कल का लड़का हमसे बातें करने आया है! कल की बात=थोड़े दिनों की बात। ऐसी घटना जिसे हुए बहुत दिन न हुए हों। हाल का मामला। कल की रात=वह रात जो आज से पहले बीत गई।

संज्ञा स्त्री० [सं० कला=अंग, भाग] (१) ओर। बल। पहलू। जैसे,—(क) देखें ऊँट किस कल बैठता है। (ख) कभी वे इस कल बैठते हैं, कभी उस कल। (२) अंग। अवयव। पुरज़ा।

संज्ञा स्त्री० [सं० कला=विद्या] (१) युक्ति। ढंग। उ०—मुझ में तीनों कल बल छल। किसी की कुछ नहिं सकती चल।—हरिश्चंद्र। (२) कई पेंचों और पुरज़ों के जोड़ से बनी हुई वस्तु जिससे कोई काम लिया जाय। यंत्र। जैसे—छापे की कल। कपड़ा बुनने की कल। सीने की कल। पानी की कल।

यौ०—कलदार=यंत्र से बना हुआ सिक्का। रुपया। पानी की कल=वह नल जिसकी मूँठ ऐंठने वा दबाने से पानी आता है।

क्रि० प्र०—खोलना।—चलना।—चलाना।—लगाना।

(३) पेंच। पुरज़ा।

क्रि० प्र०—उमेठना।—ऐंठना।—घुमाना।—फेरना। मोड़ना।

मुहा०—कल ऐंठना=किसी के चित्त को किसी ओर फेरना। जैसे,—तुमने तो ऐसी कल ऐंठ दी है कि अब वह किसी की सुनता ही नहीं। कल का पुतला=दूसरे के कहने पर चलनेवाला। दूसरे के अधीन काम करनेवाला। कल बेकल होना=(१) पुरज़ा ढीला होना। जोड़ आदि का सरकना। (२) अव्यवस्थित होना। क्रम बिगड़ना। किसी की कल हाथ में होना=किसी की मति गति पर अधिकार होना। किसी का ऐसा वश मे होना कि जिधर चलावे, उधर वह चले।

(४) बंदूक का घोड़ा वा चाप।

यौ०—कलदार बंदूक=तोड़ेदार बंदूक।

वि० हिं० "काला" शब्द का संक्षिप्त रूप जिसका व्यवहार यौगिक शब्द बनाने में होता है। जैसे—कलमुहाँ। कलसिरा। कलजिब्भा। कलपोटिया। कलदुमा।

कलइया†–संज्ञा स्त्री० (१) दे० "कलैया"। (२) दे० "कलाई"।

कलई–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) राँगा।

यौ०—कलई का कुश्ता=राँगे का भस्म। बंग।

(२) राँगे का पतला लेप जो बरतन इत्यादि पर खाद्य पदार्थों को कसाव से बचाने के लिये लगाते हैं। मुलम्मा।

यौ०—कलईगर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।—उतरना।—उड़ना।

(३) वह लेप जो रंग चढ़ाने वा चमकाने के लिये किसी वस्तु पर लगाया जाता है। जैसे,—(क) दीवार पर चूने की कलई करना। (ख) दर्पण के पीछे की कलई। (४) बाहरी चमक दमक। दिखाव। आवरण। तड़क भड़क। ऊपरी बनावट। उ०—साहित सत्य सुरीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है।—तुलसी।

मुहा०—कलई खुलना=असलियत जाहिर होना। असली भेद खुलना। वास्तविक रूप का प्रगट होना। उ०—आई उघरि प्रीति कलई सी जैसी खाटी आमी।—सूर। कलई न लगना=युक्ति न चलना। जैसे,—यहाँ तुम्हारी कलई न लगेगी।

(५) चूना। कली।

क्रि० प्र०—करना।—पोतना।

कलईगर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] क़लई करनेवाला।

कलईदार–वि० [फ़ा०] जिस पर कलई की हो। जिस पर राँगे का लेप चढ़ा हो। जैसे,—कलईदार बरतन।

कलकंठ–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कलकंठी] (१) कोकिल। कोयल। उ०—काक कहहिं कलकंठ कठोरा।—तुलसी। (२) पारावत। परेवा। कबूतर। पिंडुक। (३) हंस। वि० मीठी ध्वनि करनेवाला। सुंदर बोलनेवाला।

कलक–संज्ञा पुं० [अ० क़लक़] (१) बेकली। बेचैनी। घबराहट।
क्रि० प्र०—गुज़रना।—होना।—रहना।—मिटना।
(२) रंज। दुःख। खेद। सोच। चिंता। उ०—पर एक कलक होत बड़ ताता। कुसमय भये राम बिनु भ्राता।
संज्ञा पुं० दे० "कल्क"।

कलकना*–क्रि० अ० [हिं० कलकल=शब्द] चिल्लाना। शोर करना। चीत्कार करना। चिग्घाड़ मारना। उ०—अंगनि उतंग जंग जैतवार जोर जिन्हैं चिक्करत दिक्करि हिलति कलकत हैं।—मतिराम।

कलकल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) झरने आदि के जल के गिरने का शब्द। (२) कोलाहल। हल्ला। शोर।
संज्ञा स्त्री० झगड़ा। वाद विवाद। दाँता-किटकिट।
संज्ञा पुं० [सं०] साल की गोंद। राल।
†संज्ञा स्त्री० [हिं० कलाना] खुजली।

कलकानि–†संज्ञा स्त्री० [अ० क़लक़=रंज] दिक़्क़त। हैरानी। दुःख। उ०—(क) नारी गारी बिनु नहिं बोलै पूत करै कलकानी। घर में आदर कादर कोसों सीझत रैनि बिहानी।—सूर। (ख) भूपाल-पालन भूमिपति बदनेस नंद सुजान है। जानै दिली दल दक्खिनी कीन्हे महा कलकानि है।—सूदन।

कलकीट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कीड़ा। (२)संगीत में एक ग्राम।

कलकूजिका–वि० स्त्री०[सं०] मधुर ध्वनि करनेवाली।

कलक्टर–संज्ञा पुं० [अं० कलेक्टर] माल का बड़ा हाकिम जिसके अधिकार में ज़िले का प्रबंध होता है। यह सरकारी मालगुज़ारी वसूल करता है और माल के मुक़द्दमों का फ़ैसला करता है।
यौ०—डिपटी कलक्टर।
वि० वसूल करनेवाला। जैसे—टिकट कलक्टर, बिल कलक्टर।

कलक्टरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कलक्टर] (१) ज़िले में माल के मुहकमें की कचहरी। (२) कलक्टर का पद।
वि० कलक्टर से संबंध रखनेवाला।

कलगट–संज्ञा पुं० [देश०] कुल्हाड़ी।

कलगा–संज्ञा पुं० [तु० कलगी] मरसे की तरह का एक पौधा। यह बरसात में उगता है और क्वार कातिक में इस के सिरे पर कलगी की तरह गुच्छेदार लाल लाल फूल निकलते हैं। ल चोड़ा चपटा होता है, जिसपर लाल लाल रोएँ होते हैं, जो ज्यों ज्यों ऊपर को जाते हैं, अधिक लाल होते हैं। यह देखने में मुर्गे की चोटी की तरह दिखाई देता है। मुर्गकेश। जटाधारी।

कलगी–संज्ञा स्त्री० [तु०] (१) शुतुरमुर्ग आदि चिड़ियों के सुंदर पंख जिन्हें राजा लोग पगड़ी वा ताज पर लगाते हैं और जिसमें कभी कभी छोटे मोती भी पिरोए रहते हैं। (२) मोती वा सोने का बना हुआ सिर का एक गहना। (३) चिड़ियों के सिर पर की चोटी, जैसी मोर वा मुर्गे के सिर पर होती है। (४) किसी ऊँची इमारत का शिखर। (५) लावनी का एक ढंग।
यौ०—कलगीबाज़।

कलचिड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काला=सुंदर+चिड़िया] [पुं० कलचिड़ा] एक चिड़िया जिसका पेट काला, पीठ मटमैली और चोंच लाल होती है। इसकी बोली सुरीली होती है।

कलचुरि–संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण का एक प्राचीन राजवंश जिसके अधिकार में कर्णाट, चेदि, डाहल, मंडल आदि देश थे।

कलछा–संज्ञा पुं० [सं० कर+रक्षा, हिं० करछा] [स्त्री० अल्पा० कलछी] बड़ी डाँड़ी का चम्मच या बड़ी कलछी।

कलछी–संज्ञा स्त्री० [सं० कर+रक्षा] बड़ी डाँड़ी का चम्मच जिससे बटलोई की दाल आदि चलाते या निकालते हैं।

कलछुल†–संज्ञा स्त्री० दे० "कलछी"।

कलछुला–संज्ञा पुं० [हिं० कलछा] लोहे का लंबा छड़ जिसके सिरे पर एक कटोरा सा लगा रहता है। इससे भाड़ में से गरम बालू निकालकर भड़भूँजे चर्बन भूनते हैं।

कलछुली†–संज्ञा स्त्री० दे० "करछी"।

कलजिब्भा–वि० [हिं० काला+जिह्वा वा जीभ] [स्त्री० कलजिब्भी] (१) जिसकी जीभ काली हो। (२) जिसके मुँह से निकली हुई अशुभ बातें प्रायः ठीक घटें।

कलजीहा–वि० दे० "कलजिब्भा"।
संज्ञा पुं० काली जीभ का हाथी जो दूषित समझा जाता है।

कलझँवाँ–वि० [हिं०काला+झाँई] काले मुँह का। साँवला। जैसे,—इस कलझँवें मुँह पर यह लैसदार टोपी।

कलटोरा–संज्ञा पुं० [सं० काल=काला+हिं० ठोर=चोंच] वह कबूतर जिसका सारा शरीर सफ़ेद हो, पर चोंच काली हो।

कलट्टर*–संज्ञा पुं० दे० "कलक्टर।

कलत्र–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कलत्रवान, कलत्री] (१) स्त्री। पत्नी। (२) नितंब। (३) दुर्ग। क़िला।

कलदार–वि० [हिं० कल+दार] जिसमें कल लगी हो। पेंचदार।
संज्ञा पुं० [हिं० कल+दार (प्रत्य०)] वह रुपया जो टकसाल की कल में बना हो। सरकारी रुपया।

कलदुमा–वि० [हिं० काला+फ़ा० दुम] काली दुम का ।
संज्ञा पुं० काली दुम का कबूतर ।

कलधूत–संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी ।

कलधौत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना । उ०—केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारों ।—रसखान । (२) चाँदी । (३) सुंदर ध्वनि ।

कलन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कलित] (१) उत्पन्न करना । बनाना । लगाना । सजाना । (२) धारण करना । होना (३) आचरण । (४) लगाव । संबंध । (५) गणित की क्रिया । हिसाब । जैसे, संकलन, व्यवकलन । (६) ग्रास । कौर । (७) ग्रहण । (८) शुक्र और शोणित के संयोग का वह विकार जो गर्भ की प्रथम रात्रि में होता है और जिससे कलल बनता है । (९) बेंत ।

कलप–संज्ञा पुं० [सं० कल्प=रचना] (१) कलफ । (२) ख़िज़ाब । (३) दे० "कल्प" ।

कलपत्तर–संज्ञा पुं० [सं० कल्पतरु] एक पेड़ जो शिमले और जौनसर की पहाड़ियों में बहुत होता है । इसकी लकड़ी सफ़ेद और मज़बूत होती है, जो मकानों में लगती है तथा खेती के सामान बनाने के काम में आती है ।

कलपना–क्रि० अ० [सं० कल्पना=उद्भावना करना (दुःख की)] (१) विलाप करना । बिलखना । दुःख की बात सोच सोच या कह कहकर रोना । जैसे,—अब रोने कलपने से क्या होगा ? उ०—नेकु तिहारे निहारे बिना कलपै जिय क्यों पल धीरज लेखों । नीरजनैनी के नीर भरे कित नीरद से दृग नीरज देखों ।—पद्माकर ।
*(२) कल्पना करना ।
*संज्ञा स्त्री० दे० "कल्पना" ।

कलपनी–संज्ञा स्त्री० [सं० कल्पनी] कतरनी । कैंची ।—डिं० ।

कलपाना–क्रि० स० [हिं० कलपना] दुःखी करना । जी दुखाना । तरसाना । रुलाना ।

कलपून–संज्ञा पुं० [देश०] एक सदाबहार पेड़ जो उत्तरीय और पूर्वीय बंगाल में होता है । इसकी लकड़ी लाल रंग की और मज़बूत होती है । यह घर बनाने में काम आती है और बड़ी क़ीमती समझी जाती है ।

कलपोटिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० काला+पोटा] एक चिड़िया जिसका पोटा काला होता है ।

कलप्पा–संज्ञा पुं० [मला० कलपा=नारियल] नीलापन लिए हुए सफ़ेद रंग की कड़ी वस्तु जो कभी कभी नारियल के भीतर मिलती है । चीन के लोग इसे बड़े मूल्य की समझते हैं । नारियल का मोती ।

कलफ़–संज्ञा पुं० [सं० कल्प] पके चावल वा आरारोट आदि की पतली लेई जिसे कपड़ों पर उनकी तह कड़ी और बराबर करने के लिये लगाते हैं । माँड़ी ।
क्रि० प्र०—करना—देना ।—लगाना ।
संज्ञा पुं० चेहरे पर का काला धब्बा । झाँई ।

कलफा–संज्ञा स्त्री० [देश०] देशी दारचीनी की छाल जो मलाबार से आती है और चीन की दारचीनी में, उसे सस्ता करने के लिये, मिलाई जाती है ।
†संज्ञा पुं० [देश०] कल्ला । कोपल । नया अंकुर ।

कलब–संज्ञा पुं० [देश०] टेसू के फूलों को उबालकर निकाला हुआ रंग जिसमें कत्था, लोध और चूना मिलाकर अगरई रंग बनाते हैं ।

कलबल–संज्ञा पुं० [सं० कला+बल] उपाय । दाँव पेंच । जुगुत ।
संज्ञा पुं० [अनु०] हल्ला गुल्ला । शोर गुल । उ०—सखिन सहित सो नित प्रति आवै । कलबल मुनि के निकट मचावै ।—विश्राम ।
वि० अस्पष्ट (स्वर) । (शब्द) जो अलग अलग न मालूम हो । गिलबिल । उ०—कलबल बचन अधर अरुनारे । दुइ दुइ दसन बिसद वर वारे ।—तुलसी ।

कलबीर–संज्ञा पुं० दे० "अकलबीर" ।

कलबूत–संज्ञा पुं० [फ़ा० कालबुद] (१) ढाँचा । साँचा । (२) लकड़ी का ढाँचा जिस पर चढ़ाकर जूता सिया जाता है । फ़रमा । (३) मिट्टी, लकड़ी या टीन का गुंबदनुमा टुकड़ा जिस पर रखकर चौगोशिया या अठगोशिया टोपी या पगड़ी आदि बनाई जाती है । गोलंबर । क़ालिब ।

कलभ–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कलभी] (१) हाथी का बच्चा । उ०—उर मनि माल कंबु कलग्रीवा । काम कलभ कर भुज बल सीवा ।—तुलसी । (२) हाथी । (३) ऊँट का बच्चा । (४) धतूरा ।

कलभवल्लभ–संज्ञा पुं० [सं०] पीलू का पेड़ ।

कलभी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हाथी वा ऊँट का बच्चा (मादा) । (२) चेंच का पौधा । चंचु ।

कलम–संज्ञा पुं० स्त्री० [अ० । सं०] (१) सरकंडे की कटी हुई छोटी छड़ वा लोहे की जीभ लगी हुई लकड़ी का टुकड़ा जिसे स्याही में डुबाकर काग़ज़ पर लिखते हैं । लेखनी ।
क्रि० प्र०—चलना ।—चलाना ।—बनना ।—बनाना ।
मुहा०—कलम खींचना, फेरना वा मारना=लिखे हुए को काटना । रद करना । कलम चलना=(१) लिखाई होना । (२) कलम का काग़ज पर अच्छी तरह खिसकना । जैसे,—यह कलम अच्छी नहीं चलती, दूसरी लाओ । कलम चलाना=लिखना । कलम तोड़ना=लिखने की हद कर देना । अनूठी उक्ति कहना । कलमबंद करना=लेखबद्ध करना । कलमबंद=पूरा पूरा । ठीक ठीक । जैसे,—कलमबंद सौ जूते लगेंगे ।

यौ०—कलमकसाई । कलमतराश । कलमदान ।

(२) किसी पेड़ की टहनी जो दूसरी जगह बैठाने वा दूसरे पेड़ में पैवंद लगाने के लिये काटी जाय ।

क्रि० प्र०—करना ।—काटना ।—लगाना ।

मुहा०—कलम करना=काटना छाँटना । उ०—कलम रुके तो कर कलम कराइये ।

(३) वह पौधा जो कलम लगाकर तैयार किया गया हो । (४) वह धान जो एक जगह बोया जाय और दूसरी जगह उखाड़कर लगाया जाय । जड़हन ।

यौ०—कलमोत्तम=बहुत अच्छा महीन धान ।

(५) वे छोटे बाल जो हजामत बनवाने में कनपटियों के पास छोड़ दिये जाते हैं ।

क्रि० प्र०—काटना ।—छाँटना ।—बनाना ।—रखना ।

(६) एक प्रकार की बंसी जिसमें सात छेद होते हैं । (७) बालों की कूची जिससे चित्रकार चित्र बनाते या रंग भरते हैं ।

यौ०—कलमकार ।

(८) शीशे का काटा हुआ लंबा टुकड़ा जो झाड़ में लटकाया जाता है । (९) शोरे, नौसादर आदि का जमा हुआ छोटा लंबा टुकड़ा । रवा । (१०) छछुंदर । फुलझड़ी (आतशबाज़ी) । (११) सोनारों वा संगतराशों का एक औज़ार जिससे वे बारीक नक्काशी का काम करते हैं । (१२) मुहर बनानेवालों का वह औज़ार जिससे वे अक्षर खोदते हैं । (१३) किसी पेशेवाले का वह औज़ार जिससे कुछ काटा, खोदा वा नकाशा जाय ।

कलमक, कलमक्क—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का अंगूर जो बलूचिस्तान में बहुतायत से होता है ।

कलमकार—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) चित्रकार । चित्रों में रंग भरनेवाला । (२) कलम से किसी प्रकार की दस्तकारी करनेवाला । (३) एक प्रकार का बाफ़ता (कपड़ा) जिसमें कई प्रकार के बेलबूटे होते हैं ।

कलमकारी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] कलम से किया हुआ काम । जैसे—नक्काशी, बेलबूटा आदि ।

कलमकीली—संज्ञा स्त्री० [अ० कलम+हिं० कीली] कुश्ती का एक पेंच जिसमें विपक्षी के सामने खड़े होने पर अपने दहिने हाथ की उँगलियों से उसके बाएँ हाथ की उँगलियों में पंजा गठकर अपने दहिने हाथ को उसके पंजे के सहित अपनी गरदन पर लाते हैं और अपनी दहिनी कोहनी उसकी बाँई कलाई से ऊपर लाकर नीचे की ओर दबाकर उसे चित कर देते हैं ।

कलमख*—संज्ञा पुं० [सं० कल्मष] (१) पाप । दोष । (२) कलंक । लांछन । दाग । धब्बा ।

कलमतराश—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) कलम बनाने की छुरी । चाकू । (२) (कहारों और हाथीवानों की बोली में) अरहर की खूँटी ।

कलमदान—संज्ञा पुं० [फ़ा०] काठ का एक पतला लंबा संदूक जिसमें कलम, दवात, पेंसिल, चाकू आदि रखने के खाने बने रहते हैं ।

मुहा०—कलमदान देना=किसी को लिखने पढ़ने की कोई नौकरी देना ।

कलमना*—क्रि० स० [हिं० कलम] काटना । दो टुकड़े करना । उ०—तब तमचरपति तमकि कह्यौ धरि धरि हरि खाहू । मिलि मारौ दोउ बंधु बंक कपि कलमत जाहू ।—रघुनाथ ।

विशेष—यह प्रयोग अनुचित और भद्दा है ।

कलमरिया—संज्ञा स्त्री० [पुर्त०] हवा का बंद हो जाना । (लश०) ।

कलमलना*—क्रि० अ० [अनु०] दाब वा अंडस में पड़ने के कारण अंगों का इधर उधर हिलना डोलना । कुलबुलाना । उ०—(क) चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ।—तुलसी । (ख) चौंके बिरंचि शंकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो ।—तुलसी ।

कलमलाना—क्रि० अ० [अनु०] दाब वा अंडस में पड़ने के कारण अंगों का इधर उधर हिलना डोलना । कुलबुलाना ।

कलमा—संज्ञा पुं० [अ०] (१) वाक्य । बात । (२) वह वाक्य जो मुसलमान धर्म्म का मूल मंत्र है । "ला इलाह इल्लिलाह, महम्मद उर् रसूलिल्लाह" । उ०—चारों वर्ण धर्म छोड़ि कलमा निवाज पढ़ि, शिवाजी न होते तौ सुनति होति सब की ।—भूषण ।

मुहा०—कलमा पढ़ना=मुसलमान होना । किसी के नाम का कलमा पढ़ना=किसी व्यक्ति विशेष पर अत्यंत श्रद्धा या प्रेम रखना । कलमा पढ़ाना=मुसलमान करना ।

कलमास—वि० [सं० कल्माष] चितकबरा ।

कलमी—वि० [फ़ा०] (१) लिखा हुआ । लिखित । (२) जो कलम लगाने से उत्पन्न हुआ हो । जैसे—कलमी नीबू, कलमी आम । (३) जिसमें कलम वा रवा हो । जैसे, क़लमी शोरा ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कलम्बी] करेमू । कलमी साग ।

कलमी शोरा—संज्ञा पुं० [हिं० कलमी+शोरा] साफ़ किया हुआ शोरा जिसमें कलमें होती हैं । शोरे को पानी में साफ़ करके उसकी मैल को छाँटकर कलमें जमाते हैं । यह शोरा साधारण शोरे से अधिक साफ़ और तेज़ होता है । इसकी कलमें भी बड़ी बड़ी होती हैं ।

कलमुहाँ—वि० [हिं० काला+मुँह] (१) काले मुँह का । जिसका मुँह काला हो । (२) कलंकित । लांछित ।

कलरिन—संज्ञा स्त्री० [देश०] जोंक लगानेवाली स्त्री । कीड़ी लगानेवाली स्त्री ।

कलरव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधुर शब्द । (२) कोकिल । (३) कबूतर ।

कलल–संज्ञा पुं० [सं०] गर्भाशय में रज और वीर्य्य की वह अवस्था जिसमें एक पतली झिल्ली सी बन जाती है और जो कलन के उपरांत होती है ।

विशेष—सुश्रुत के अनुसार जब ऋतुमती स्त्री का स्वप्न मैथुन द्वारा रज उसके गर्भाशय में प्रवेश करता है, तब भी उससे हड्डी आदि से रहित एक बुलबुला सा बनकर रह जाता है और कलल कहलाता है ।

कललज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गर्भ । (२) राल ।

कलवरिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० कलवार+इया (प्रत्य०)] कलवार की दूकान । शराब की दूकान ।

कलवार–संज्ञा पुं० [सं० कल्यपाल, प्रा० कल्लवाल] [स्त्री० कलवारिन] एक जाति जो शराब बनाती और बेचती है । शराब बनाने और बेचनेवाला । उ०—चली सुनारि सुहाग सुहाती । औ कलवारि प्रेम मधु-माती ।—जायसी ।

कलविंक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चटक । गौरैया । (२) कलिंदा । तरबूज़ । (३) सफ़ेद चँवर । (४) त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के तीन मस्तकों में से वह मस्तक जिसके मुँह से वह शराब पीता था । (५) एक तीर्थ का नाम ।

कलविंकविनोद–संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य के ५१ मुख्य चालकों में से एक जिसमें माथे के ऊपर दोनों हाथों को ले जाकर आकाश में घुमाते हैं और फिर पसली पर लाकर नीचे ऊपर घुमाते हैं।

कलश–संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री० अल्पा० कलशी] (१) घड़ा । गगरा । (२) तंत्र के अनुसार वह घड़ा वा गगरा जो व्यास में कम से कम ५० अंगुल और ऊँचाई में १३ अंगुल हो और जिसका मुँह ८ अंगुल से कम न हो । (३) मंदिर, चैत्य आदि का शिखर । (४) मंदिरों के शिखर पर लगा हुआ पीतल, पत्थर आदि का कँगूरा । (५) खपड़ैल के कोनों पर रक्खा हुआ मिट्टी का कँगूरा । (६) एक प्रकार का मान जो द्रोण वा ८ सेर के बराबर होता था । (७) चोटी । सिरा । (८) प्रधान अंग । श्रेष्ठ व्यक्ति । जैसे,—रघुकुल-कलश । (९) काश्मीर का एक राजा जिसका नाम रणादित्य भी था । यह ९५८ शकाब्द में हुआ था और बड़ा कुमार्गी तथा अन्यायी था । इसने अपने पिता पर बहुत से अत्याचार किए थे और अपनी भगिनी तक का सतीत्व नष्ट किया था । मंत्रियों ने इसे सिंहासन से उतारकर इसके पिता को गद्दी पर बैठाया था । (१०) कोहल मुनि के मत से नृत्य की एक वर्त्तना ।

कलशक्षेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] कर्णाटक देश के अंतर्गत एक तीर्थ ।

कलशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गगरी । छोटा कलसा । (२) मंदिर का छोटा कँगूरा । (३) पृष्ठपर्णी । पिठवन । (४) एक प्रकार का बाजा, जिसे कलशीमुख भी कहते थे ।

कलस–संज्ञा पुं० दे० "कलश" ।

कलसरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कलाई+सर] कुश्ती का एक पेंच जिसमें विपक्षी को नीचे लाकर उसके मुँह की तरफ़ बैठकर अपना दाहिना हाथ सामने से उसकी बाँह में डालकर पीठ पर ले जाते हैं और दूसरे हाथ की कलाई पकड़कर बाईं ओर ज़ोर करके चित कर देते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० काला+सर वा सिर] एक चिड़िया जिसका सिर काला होता है ।

कलसा–संज्ञा पुं० [सं० कलस] [स्त्री० अल्पा० कलसी] (१) पानी रखने का बरतन । गगरा । घड़ा । (२) मंदिर का शिखर ।

कलसरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काला+सिर] एक चिड़िया जिसका सिर काला होता है ।

वि० स्त्री० [हिं० कलह+सिरी] लड़ाकी (स्त्री) । झगड़ालू (स्त्री) ।

कलसी–संज्ञा स्त्री० [सं० कलश] (१) छोटा गगरा । (२) छोटे छोटे कँगूरे । मंदिर का छोटा शिखर वा कँगूरा ।

कलसीसुत–संज्ञा पुं० [सं०] घड़े से उत्पन्न, अगस्त्य ऋषि ।

कलहंतरिता–संज्ञा स्त्री० दे० "कलहांतरिता" ।

कलहंस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हंस । (२) राजहंस । (३) श्रेष्ठ राजा । (४) परमात्मा । ब्रह्म । (५) एक वर्ण वृत्त का नाम जिसमें प्रत्येक चरण में १३ अक्षर अर्थात् एक सगण, एक जगण, फिर दो सगण और अंत में एक गुरु होता है । उ०—सज सी सिंगार कलहंस गती सी । चलि आइ राम छवि मंडप दीसी । (६) संकर जाति की एक रागिनी जो मधु, शंकरविजय और आभीरी के योग से बनती है ।

कलह–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कलहकार, कलहकारी, कलही] (१) विवाद । झगड़ा ।

यौ०—कलहप्रिय ।

(२) लड़ाई । युद्ध । (३) तलवार की म्यान । (४) पथ । रास्ता ।

कलहकारी–वि० [सं० कलहकारिन्] [स्त्री० कलहकारिणी] झगड़ा करनेवाला । झगड़ालू ।

कलहनी–वि० स्त्री० दे० "कलहिनी" ।

कलहप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] नारद ।

वि० [स्त्री० कलहप्रिया] जिसे लड़ाई भली लगे । लड़ाका । झगड़ालू ।

कलहप्रिया–वि० स्त्री० [सं०] झगड़ालू ।

संज्ञा स्त्री० मैना ।

कलहर–संज्ञा पुं० [देश०] बनियों की एक जाति जो मध्य प्रदेश में पाई जाती है ।

कलहांतरिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] अवस्थानुसार नायिका के दस भेदों में से एक । वह नायिका जो नायक वा पति का अपमान कर पीछे पछताती है ।

कलहारी-वि० स्त्री० [सं० कलहकार] कलह करनेवाली । लड़ाकी । झगड़ालू । कर्कशा ।

कलहास-संज्ञा पुं० [सं०] केशवदास के अनुसार हास के चार भेदों में से एक जिसमें थोड़ी थोड़ी कोमल और मधुर ध्वनि निकलती है। उ०—जेहि सुनिए कलधुनि कछू कोमल विमल विलास । केशव तन मन मोहिए बरनत कवि कलहास ।

कलहिनी-वि० स्त्री० [सं०] लड़ाकी । झगड़ालू ।
संज्ञा स्त्री० शनि की स्त्री का नाम ।

कलही-वि० [सं० कलहिन्] [स्त्री० कलहिनी] झगड़ालू । लड़ाका ।
संज्ञा स्त्री० दे० "कलहिनी" ।

कलाँ-वि० [फ़ा०] बड़ा । दीर्घाकार ।
यौ०—कलाँ राशि का घोड़ा=बड़ी जाति का घोड़ा ।

कलांकुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कराकुल पक्षी (२) कंसासुर । (३) चौर-शास्त्र-प्रवर्त्तक कर्णीसुत ।

कलांतर-संज्ञा पुं० [सं०] सूद । ब्याज ।

कला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंश । भाग । (२) चंद्रमा का सोलहवाँ भाग। इन सोलहों कलाओं के नाम ये हैं—१ अमृता, २ मानदा, ३ पूषा, ४ पुष्टि, ५ तुष्टि, ६ रति, ७ धृति, ८ शशनी, ९ चंद्रिका, १० कांति, ११ ज्योत्स्ना, १२ श्री, १३ प्रीति, १४ अंगदा, १५ पूर्णा और १६ पूर्णामृता ।
विशेष—पुराणों में लिखा है कि चंद्रमा में अमृत रहता है, जिसे देवता लोग पीते हैं । चंद्रमा शुक्ल पक्ष में कला कला करके बढ़ता है और पूर्णिमा के दिन उसकी सोलहवीं कला पूर्ण हो जाती है । कृष्ण पक्ष में उसके संचित अमृत को कला कला करके देवतागण इस भाँति पी जाते हैं—पहली कला को अग्नि, दूसरी कला को सूर्य्य, तीसरी कला को विश्वेदेवा, चौथी को वरुण, पाँचवीं को वषट्कार, छठी को इंद्र, सातवीं को देवर्षि, आठवीं को अजएकपात, नवीं को यम, दसवीं को वायु, ग्यारहवीं को उमा, बारहवीं को पितृगण, तेरहवीं को कुबेर, चौदहवीं को पशुपति, पंद्रहवीं को प्रजापति और सोलहवीं कला अमावस्या के दिन जल और ओषधियों में प्रवेश कर जाती है जिनके खाने पीने से पशुओं में दूध होता है । दूध से घी होता है । यह घी आहुति द्वारा पुनः चंद्रमा तक पहुँचता है ।
यौ०—कलाधर । कलानाथ । कलानिधि । कलापति ।
(३) सूर्य्य का बारहवाँ भाग ।
विशेष—वर्ष की बारह संक्रांतियों के विचार से सूर्य के बारह नाम हैं, अर्थात् १ विवस्वान्, २ अर्य्यमा, ३ पूषा, ४ त्वष्टा, ५ सविता, ६ भग, ७ धाता, ८ विधाता, ९ वरुण, १० मित्र ११ शुक्र और १२ उरुक्रम । इनके तेज को कला कहते हैं । बारह कलाओं के नाम ये हैं—१ तपिनी, २ तापिनी, ३ धूम्रा, ४ मरीचि, ५ ज्वालिनी, ६ रुचि, ७ सुषुम्णा, ८ भोगदा, ९ विश्वा, १० बोधिनी, ११ धारिणी और १२ क्षमा । (४) अग्नि मंडल के दस भागों में से एक । उसके दस भागों के नाम ये हैं—१ धूम्रा, २ अर्चि, ३ उष्मा, ४ ज्वलिनी, ५ ज्वालिनी, ६ विस्फुलिंगिनी, ७ श्री, ८ सुरूपा, ९ कपिला और १० हव्यकव्यवहा (५) समय का एक विभाग जो तीस काष्ठा का होता है ।
विशेष—किसी के मत से दिन का $\frac{1}{900}$ वाँ भाग और किसी मत से $\frac{1}{1800}$ वाँ भाग होता है ।
(६) राशि के तीसवें अंश का ६० वाँ भाग । (७) वृत का १८०० वाँ भाग । राशि चक्र के एक अंश का ६० वाँ भाग। (८) उपनिषदों के अनुसार पुरुष की देह के ये सोलह अंश वा उपाधि—१ प्राण, २ श्रद्धा, ३ व्योम, ४ वायु, ५ तेज, ६ जल, ७ पृथिवी, ८ इंद्रिय, ९ मन, १० अन्न, ११ वीर्य्य, १२ तप, १३ मंत्र, १४ कर्म, १५ लोक और १६ नाम । (९) छंद शास्त्र वा पिंगल में 'मात्रा' वा 'कला' ।
यौ०—द्विकल । त्रिकल ।
(१०) चिकित्सा शास्त्र के अनुसार शरीर की सात विशेष झिल्लियों के नाम जो मांस, रक्त, मेद, कफ़, मूत्र, पित्त और वीर्य्य को अलग अलग रखती हैं । (११) किसी कार्य्य को भली भाँति करने का कौशल । किसी काम को नियम और व्यवस्था के अनुसार करने की विद्या । फ़न । हुनर । कामशास्त्र के अनुसार ६४ कलाएँ ये हैं ।—(१) गीत (गाना), (२) वाद्य (बाजा बजाना), (३) नृत्य (नाचना), (४) नाट्य (नाटक करना, अभिनय करना), (५) आलेख्य (चित्रकारी करना), (६) विशेषकच्छेद्य (तिलक के साँचे बनाना), (७) तंडुल-कुसुमवलि-विकार (चावलों और फूलों का चौक पूरना), (८) पुष्पास्तरण (फूलों की सेज रचना वा बिछाना), (९) दशनवसनांगराग (दाँतों, कपड़ों और अंगों को रँगना वा दाँतों के लिये मंजन, मिस्सी आदि वस्त्रों के लिये रँग और रँगने की सामग्री तथा अंगों में लगाने के लिये चंदन, केसर, मेंहदी, महावर आदि बनाना और उनके बनाने की विधि का ज्ञान), (१०) मणिभूमिकाकर्म (ऋतु के अनुकूल घर सजाना), (११) शयनरचना (बिछावन वा पलंग बिछाना), (१२) उदकवाद्य (जलतरंग बजाना), (१३) उदकघात (पानी के छींटे आदि मारने वा पिचकारी चलाने और गुलाबपास से काम लेने की क्रिया), (१४) चित्रयोग (अवस्था-परिवर्तन करना अर्थात् नपुंसक करना, जवान को बुड्ढा और बुड्ढे को जवान करना, इत्यादि), (१५) माल्यग्रंथविकल्प (देवपूजन के लिये वा पहनने के लिये माला गूँथना), (१६) केश-शेखरापीड़-योजन (सिर पर फूलों से अनेक प्रकार की रचना करना वा सिर के बालों में फूल लगाकर गूँथना), (१७) नेपथ्ययोग (देश काल के अनुसार वस्त्र,

आभूषण आदि पहनना), (१८) कर्णपत्रभंग (कानों के लिये कर्णफूल आदि आभूषण बनाना), (१९) गंधयुक्त (सुगंधित पदार्थ जैसे गुलाब, केवड़ा, इत्र, फुलेल आदि बनाना), (२०) भूषण भोजन, (२१) इंद्रजाल, (२२) कौचुमारयोग (कुरूप को सुन्दर करना वा मुँह में और शरीर में मलने आदि के लिये ऐसे उबटन आदि बनाना जिन से कुरूप भी सुन्दर हो जाय), (२३) हस्तलाघव (हाथ की सफ़ाई, फुर्ती वा लाग), (२४) चित्रशाकापूपभक्ष्य-विकार-क्रिया (अनेक प्रकार की तरकारियाँ, पूप और खाने के पकवान बनाना, सूपकर्म), (२५) पानकरसरागासव भोजन (पीने के लिये अनेक प्रकार के शर्बत, अर्क और शराब आदि बनाना), (२६) सूचीकर्म (सीना, पिरोना), (२७) सूत्रकर्म (रफूगरी और कसीदा काढ़ना तथा तागे से तरह तरह के बेल बूटे बनाना), (२८) प्रहेलिका (पहेली वा बुझौवल कहना और बूझना), (२९) प्रतिमाला (अंत्याक्षरी अर्थात् श्लोक का अंतिम अक्षर लेकर उसी अक्षर से आरंभ होनेवाला दूसरा श्लोक कहना, बैतबाज़ी), (३०) दुर्वाचकयोग (कठिन पदों वा शब्दों का तात्पर्य्य निकालना), (३१) पुस्तकवाचन (उपयुक्त रीति से पुस्तक पढ़ना), (३२) नाटिकाख्यायिका-दर्शन (नाटक देखना या दिखलाना), (३३) काव्यसमस्या-पूर्त्ति, (३४) पट्टिका वेत्र वाणविकल्प (नेवाड़, बाध वा बेंत से चारपाई आदि बुनना), (३५) तर्ककर्म (दलील करना वा हेतुवाद), (३६) तक्षण (बढ़ई, संगतराश आदि का काम करना), (३७) वास्तुविद्या (घर बनाना, इंजीनियरी), (३८) रूप्यरत्नपरीक्षा (सोने, चाँदी आदि धातुओं और रत्नों को परखना), (३९) धातुवाद (कच्ची धातुओं को साफ़ करना वा मिली धातुओं को अलग अलग करना), (४०) मणिराग-ज्ञान (रत्नों के रंगों को जानना), (४१) आकरज्ञान (खानों की विद्या), (४२) वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षों का ज्ञान, चिकित्सा और उन्हें रोपने आदि की विधि), (४३) मेष-कुक्कुट-लावक-युद्धविधि (भेड़े, मुर्गे, बटेर, बुलबुल आदि को लड़ाने की विधि, (४४) शुक-सारिका-प्रलापन (तोता, मैना पढ़ाना), (४५) उत्सादन (उबटन लगाना और हाथ, पैर, सिर आदि दबाना), (४६) केशमार्जन-कौशल (बालों का मलना और तेल लगाना), (४७) अक्षर-मुष्टिका कथन (करपलई), (४८) म्लेच्छितकला-विकल्प (म्लेच्छ वा विदेशी भाषाओं का जानना), (४९) देशभाषा-ज्ञान (प्राकृतिक बोलियों को जानना), (५०) पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादल की गरज, बिजली की चमक इत्यादि देखकर आगामी घटना के लिये भविष्यद्वाणी करना), (५१) यंत्रमातृका (यंत्रनिर्माण), (५२) धारणमातृका (स्मरण बढ़ाना), (५३) संपाठ्य (दूसरे को कुछ पढ़ते हुए सुनकर उसे उसी प्रकार पढ़ देना), (५४) मानसीकाव्य-क्रिया (दूसरे का अभिप्राय समझकर उसके अनुसार तुरंत कविता करना वा मन में काव्य करके शीघ्र कहते जाना), (५५) क्रियाविकल्प (क्रिया के प्रभाव को पलटना), (५६) छलितकयोग (छल वा ऐय्यारी करना, (५७) अभिधानकोष-छंदोज्ञान, (५८) वस्त्रगोपना (वस्त्रों की रक्षा करना), (५९) द्यूतविशेष (जुआ खेलना), (६०) आकर्षणक्रीड़ा (पासा आदि फेंकना), (६१) बालक्रीड़ाकर्म (लड़का खेलाना), (६२) वैनायिकीविद्या-ज्ञान (विनय और शिष्टाचार, इल्मे इख़्लाक वो आदाब), (६३) वैजयिकीविद्या-ज्ञान, (६४) वैतालिकीविद्या-ज्ञान।

यौ०—कलाकुशल। कलाकौशल। कलावंत।

(१२) मनुष्य के शरीर के आध्यात्मिक विभाग। ये संख्या में १६ हैं। पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच प्राण और मन वा बुद्धि। (१३) वृद्धि। सूद। (१४) नृत्य का एक भेद। (१५) नौका। (१६) जिह्वा। (१७) शिव। (१८) लेश। लगाव। (१९) वर्ण। अक्षर। (तंत्र)। (२०) मात्रा (छंद)। (२१) स्त्री का रज। (२२) पाशुपत दर्शन के अनुसार शरीर के अंग वा अवयव। इनमें कला दो प्रकार की मानी गई हैं—एक कार्य्याख्या, दूसरी कारणाख्या। कार्य्याख्या कलाएँ दस हैं; पृथिव्यादि पाँच तत्व, और गंधादि उनके पाँच गुण। कारणाख्या १३ हैं—५ ज्ञानेंद्रियाँ, ५ कर्मेंद्रियाँ तथा अध्यवसाय, अभिमान और संकल्प। (२३) विभूति। तेज। उ०—(क) कासिहु ते कला जाती, मथुरा मसीद होती, सिवाजी न होते तो सुनति होति सब की।—भूषण। (ख) राम जानकी लषन में ज्यों ज्यों करिहो भाव। त्यों त्यों दरसैहै कला दिन दिन दून दुराव।—रघुराज। (ग) ईश्वर की अद्भुत कला है। (२४) शोभा। छटा। प्रभा। उ०—लखन बतीसी कुल निरमला। बरनि न जाय रूप की कला।—जायसी। (२५) ज्योति। तेज। उ०—अब दस मास पूरि भइ घरी। पद्मावति कन्या अवतरी। जानो सुरुज किरिन हुत गढ़ी। सूरज कला घाट, वह बढ़ी।—जायसी। (२६) कौतुक। खेल। लीला। उ०—यहि विधि करत कला विविध बसत अवधपुर माहिं। अवध प्रजानि उछाह नित, राम बाँह की छाँहिं।—रामस्वरूप।

मुहा०—कला बजाना=बंदरों का मजीरा बजाना (मदारी)।

(२७) छल। कपट। धोखा। बहाना। उ०—यौंही रच्यौ करैं हैं कला कामिनी घनी।—प्रताप।

यौ०—कलाकार=छली। कपटी। फसादी।

†(२८) बहाना। मिस। हीला। (२९) ढंग। युक्ति। करतब। जैसे,—तुम्हारी कोई कला यहाँ नहीं लगेगी। (३०) नटों की एक कसरत जिसमें खिलाड़ी सिर नीचे करके उल-

टता है। ढेकली।

यौ०—कलाबाज़ी। कलाजंग। उ०—कतहूँ नाद शब्द ही मला। कतहूँ नाटक चेटक कला।।—जायसी।

क्रि० प्र०—खाना।—मारना।

(३१) यज्ञ के तीन अंगों में से कोई अंग। मंत्र, द्रव्य और श्रद्धा ये तीन यज्ञ के अंग वा उसकी कला हैं। (३२) यंत्र। पेंच। जैसे,—पत्थरकला। दमकला। (३३) मरीचि ऋषि की स्त्री का नाम। (३४) विभीषण की बड़ी कन्या का नाम। (३५) जानकी की एक सखी का नाम। (३६) एक वर्ण वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में एक भगण और एक गुरु (ऽ।। ऽ) होता है। उ०—भाग भरे। ग्वाल खरे। पूर्ण कला। नंद लला। (३७) जैन दर्शन के अनुसार वह अचेतन द्रव्य जो चेतन के अधीन रहता है। पुद्गल। प्रकृति। यह दो प्रकार का है—कार्य्य और कारण।

कलाई—संज्ञा स्त्री० [सं० कलाची] (१) हाथ के पहुँचे का वह भाग जहाँ हथेली का जोड़ रहता है। इसी स्थान पर स्त्रियाँ चूड़ी पहनतीं और पुरुष रक्षा बाँधते हैं।

पर्या०—मणिबंध। गट्टा। प्रकोष्ठ।

(२) एक प्रकार की कसरत जिसमें दो आदमी एक दूसरे की कलाई पकड़ते हैं और प्रत्येक अपनी कलाई को छुड़ाकर दूसरे की कलाई पकड़ने की चेष्टा करता है।

क्रि० प्र०—करना।

संज्ञा स्त्री० [सं० कलापी] (१) पूला। गट्ठा (२) पहाड़ी प्रदेशों में एक प्रकार की पूजा जो फ़सल के तैयार होने पर होती है। इसमें फ़सल के कटने से पहले दस बारह बालों को इकट्ठा बाँधकर कुल-देवताओं को चढ़ाते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं० कलापी=समूह] (१) सूत का लच्छा। करछा। कुकरी। (२) हाथी के गले में बाँधने का कलावा जिसमें पैर फँसाकर पीलवान हाथी हाँकते हैं। (२) अँदुआ। अलान।

†संज्ञा स्त्री० [सं० कुलत्थ] उरद।

कलाकंद—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार की बरफ़ी जो खोए और मिस्री की बनती है।

कलाकर—संज्ञा पुं० [सं०] अशोक की तरह का एक पेड़, जो बंगाल और मदरास में होता है। इसे कहीं कहीं देवदारी भी कहते हैं।

कलाकुल—संज्ञा पुं० [सं०] हलाहल विष।

कलाकेलि—संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

कलाकौशल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी कला की निपुणता। हुनर। दस्तकारी। कारीगरी (२) शिल्प।

कलाक्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] कामरूप देश के अंतर्गत एक प्राचीन तीर्थ।

कलाची—संज्ञा स्त्री० [सं०] कलाई।

कलाजंग—संज्ञा पुं० [हिं० कला+जंग] कुश्ती का एक पेंच जिसमें विपक्षी के दहिने पैंतरे पर खड़े होने पर अपने बाएँ हाथ से नीचे से उसका दहिना हाथ पकड़कर अपना बाँया घुटना ज़मीन पर टेकते हुए दहिने हाथ से उसकी दहिनी रान अंदर से पकड़ते हैं, और अपना सिर उसकी दहिनी बग़ल में से निकालकर बाएँ हाथ से उसका हाथ खींचते हुए दहिने हाथ से उसकी रान उठाकर अपनी बाईं तरफ़ गिरा कर उसे चित कर देते हैं।

कलाजाजी—संज्ञा स्त्री० [सं०] कलौंजी। मँगरैला।

कलाद—संज्ञा पुं० [सं०] सोनार। उ०—जा दिन से तजी तुम ता दिन तें प्यारी पै कलाद कैसो पेसो लियो अधम अनंग है। रावरे को प्रेम खरो हेम निखरौंहें भ्रम द्रवत उसासन रहत बिनु ढंग है। कहा कहौं घनस्याम वाकी अति आँचन ते, औरहू को भूल्यो खान पान रस रंग है। काढ़ि कै मनोरथ बिरह हिय भाठी कियो पट कियो लपट अंगारो कियो अंग है।

कलादा*—संज्ञा पुं० [सं० कलाप, हिं० कलावा] हाथी की गर्दन पर वह स्थान जहाँ महावत बैठता है। कलावा। किलावा। उ०—चारिहु बंधु कबहुँ सीखन हित सखन सहित अहलादे। सज्जित सिंधुर सकल भाँति सों बैठहिं आपु कलादे।—रघुराज।

कलाधर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) दंडक छंद का एक भेद जिसके प्रत्येक चरण में एक गुरु, एक लघु, इस क्रम से १५ गुरु और १५ लघु होकर अंत में गुरु होता है। उ०—जाय के भरत्थ चित्रकूट राम पास बेगि, हाथ जोरि दीन ह्वै सुप्रेम तें बिनै करी। सीय तात मात कौशिला वशिष्ठ आदि पूज्य लोक वेद प्रीति नीति की सुरीति ही धरी। जान भूप बैन धर्म पाल राम ह्वै सकोच धीर दे गभीर बंधु की गलानि को हरी। पादुका दई पठाय औध को समाज साज देख नेह राम सीय के हिये कृपा भरी। (३) शिव।

कलानक—संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक गण का नाम।

कलानाथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) एक गंधर्व का नाम जिसने संगीताचार्य्य सोमेश्वर से संगीत सीखा था।

कलानिधि—संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

कलान्यास—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र का एक न्यास जो शिष्य के शरीर पर किया जाता है।

विशेष—इसमें शिष्य के पैर से घुटने तक "ॐ निवृत्यै नमः", घुटने से नाभि तक "ॐ प्रतिष्ठायै नमः", नाभि से कंठ तक "ॐ विद्यायै नमः", कंठ से ललाट तक "ॐ शांत्यै। नमः" और ललाट से ब्रह्मरंध्र तक "ॐ शांत्यतीतायै नमः" कहकर न्यास करते हैं और फिर इसी क्रिया को सिर से पैर तक उलटा दोहराते हैं।

कलाप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। झुंड। जैसे,—क्रियाकलाप।

(२) मोर की पूँछ । (३) पूला । मुट्ठा । (४) बाण । तूण । तरकश । (५) कमरबंद । पेटी । (६) करधनी । (७) चंद्रमा । (८) कलावा । (९) कातंत्र व्याकरण, जिसके विषय में कहा जाता है कि कार्तिकेय ने शर्ववर्म्मन को उसे पढ़ाया था । (१०) व्यापार । (११) वह ऋण जो मयूर के नाचने पर अर्थात् वर्षा में चुकाया जाय । (१२) एक प्राचीन गाँव जहाँ भागवत के अनुसार देवर्षि और सुदर्शन तप करते हैं। इन्हीं दोनों राजर्षियों से युगांतर में सोमवंशी और सूर्य्य-वंशी क्षत्रियों की उत्पत्ति होगी । (१३) वेद की एक शाखा । (१४) एक अर्द्धचंद्राकार अस्त्र का नाम । (१५) एक संकट रागिनी जो बिलावल, मल्लार, कान्हड़ा और नट रागों को मिलाकर बनाई जाती है। (१६) आभरण । ज़ेवर । भूषण । (१७) एक अर्द्धचंद्राकार गहना । चंदन ।

कलापक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह । (२) पूला, मुट्ठा । (३) हाथी के गले का रस्सा । (४) चार श्लोकों का समूह जिनका अन्वय एक में होता है । (५) वह ऋण जो मयूरों के नाचने पर अर्थात् वर्षा ऋतु में चुकाया जाय ।

कलापट्टी-संज्ञा स्त्री० [पुर्त० कलफ़टर] जहाज़ों की पटरियों की दर्ज में सन आदि ठूसने का काम । (लश०)।

क्रि० प्र०—करना ।

कलापद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कलापग्राम ।

विशेष—भागवत के अनुसार यहाँ सोमवंशी देवर्षि और सूर्य्य-वंशी सुदर्शन नाम के दो राजर्षि तप कर रहे हैं। कलियुग के अंत में फिर इन्हीं दोनों राजर्षियों से चंद्र और सूर्य्य वंश चलेगा । (२) कातंत्र व्याकरण पर एक भाष्य का नाम ।

कलापशिरा-संज्ञा पुं० [सं०] एक मुनि का नाम ।

कलापा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंगहार (नृत्य) में वह स्थान जहाँ तीन करण हों ।

कलापिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात्रि । (२) नागरमोथा । (३) मयूरी । मोरनी ।

कलापी-संज्ञा पुं० [सं० कलापिन्] [स्त्री० कलापिनी] (१) मोर । (२) कोकिल । (३) बरगद का पेड़ । (४) वैशंपायन का एक शिष्य ।

वि० (१) तूणीर बाँधे हुए । तरकशबंद । (२) कलाप व्याकरण पढ़ा हुआ । (३) झुंड में रहनेवाला ।

कलाबतून-संज्ञा पुं० दे० "कलाबत्तू" ।

कलाबतूनी-वि० [तु० कलाबतून] कलाबत्तू का बना हुआ ।

कलाबत्तू-संज्ञा पुं० [तु० कलाबतून] [वि० कलाबतूनी] (१) सोने चाँदी आदि का तार जो रेशम पर चढ़ाकर बटा जाय । (२) सोने चाँदी के कलाबत्तू का बना हुआ पतला फ़ीता जो लचके से पतला होता है और कपड़ों के किनारों पर टाँका जाता है । (३) सोने चाँदी का तार ।

कलाबाज़-वि० [हिं० कला+फ़ा० बाज] कलाबाज़ी करनेवाला । नटक्रिया करनेवाला ।

कलाबाज़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कला+फ़ा० बाज़ी] सिर नीचे कर के उलट जाना । ढेकली ।

क्रि० प्र०—करना ।—खाना ।

मुहा०—कलाबाज़ी खाना=लोटनिया लेना । उड़ते उड़ते सिर नीचे कर के पलटा खाना (गिरहबाज कबूतर का) ।

(२) नाचकूद ।

कलाबीन-संज्ञा पुं० [देश०] एक वृक्ष जो सिलहट, चटगाँव और बर्मा में होता है । यह ४०–५० फुट ऊँचा होता है । इसके फल के बीज को मुँगरा चावल वा कलौंथी कहते हैं, जिसका तेल चर्म रोगों पर लगाया जाता है ।

कलाभृत्-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

कलाम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वाक्य । वचन । उक्ति । (२) बात चीत । कथन । बात । (३) वादा । प्रतिज्ञा । उ०—पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ के प्रीति निबाहन को क्यों कलाम कियो है ।—हरिश्चंद्र ।

क्रि० प्र०—करना ।

(४) उज्र । वक्तव्य । एतराज़ ।

मुहा०—कलाम होना=संदेह होना । शंका होना । जैसे,—तुम्हारी सचाई में कोई कलाम नहीं है ।

कलामोचा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो बंगाल में होता है ।

कलाय-संज्ञा पुं० [सं०] मटर ।

कलायखंज-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें रोगी के जोड़ों की नसें ढीली पड़ जाती हैं और उसके अंगों में कँपकँपी होती है । वह चलने में लँगड़ाता है ।

कलार-संज्ञा पुं० दे० "कलवार" ।

कलाल-संज्ञा पुं० [सं० कल्यपाल] [स्त्री० कलाली] कलवार । मद्य बेचनेवाला ।

यौ०—कलालख़ाना=शराबखाना । मद्य बिकने का स्थान ।

कलावंत-संज्ञा पुं० [सं० कलावान्] (१) संगीत कला में निपुण व्यक्ति । वह पुरुष जिसे गाने बजाने की पूरी शिक्षा मिली हो । गवैया । (२) कलाबाज़ी करनेवाला । नट ।

वि० कलाओं का जाननेवाला ।

कलावती-वि० स्त्री० [सं०] (१) जिसमें कला हो । (२) शोभावाली । छबिवाली ।

संज्ञा स्त्री० (१) तुंबुरु नामक गंधर्व की वीणा । (२) द्रुमिल राजा की पत्नी । (३) एक अप्सरा का नाम । (४) गंगा (काशी खंड) । (५) तंत्र की एक प्रकार की दीक्षा ।

कलावा-संज्ञा पुं० [सं० कलापक, प्रा० कलावअ] [स्त्री०अल्पा०कलाई] (१) सूत का लच्छा जो टेकुए पर लिपटा रहता है ।

(२) लाल पीले सूत के तागों का लच्छा जिसे विवाह आदि शुभ अवसरों पर हाथ, घड़ों तथा और और वस्तुओं पर भी बाँधते हैं। (३) हाथी के गले में पड़ी हुई कई लड़ों की रस्सी जिसमें पैर फँसाकर महावत हाथी हाँकते हैं। (४) हाथी की गरदन।

कलावान-वि० [सं०] स्त्री० कलावती] कलाकुशल। गुणी।

कलाविक-संज्ञा पु० [सं०] कुक्कुट। मुर्गा।

कलास-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत प्राचीन समय का एक बाजा जिस पर चमड़ा चढ़ा रहता था।

कलासी-संज्ञा पुं० [देश०] दो तख्तों के जोड़ की लकीर। (लश०)।

कलाहक-संज्ञा पुं० [सं०] काहल नाम का बाजा।

कलिंग-संज्ञा पु० [सं०] (१) मटमैले रंग की एक चिड़िया जिसकी गरदन लंबी और लाल तथा सिर भी लाल होता है। कुलंग। (२) कुटज। कुरैया। (३) इंद्र जो। (४) सिरिस का पेड़। (५) पाकर का पेड़। (६) तरबूज़। (७) कलिंगड़ा राग। (८) प्राचीन काल का एक राजा जो बलि की रानी सुदेष्णा और दीर्घतमस ऋषि के नियोग से उत्पन्न हुआ था। (९) एक प्राचीन समुद्रतटस्थ देश जिसके राज्य का विस्तार गोदावरी और वैतरणी नदी के बीच मे था। यहाँ के लोग जहाज़ चलाने में बहुत प्रसिद्ध थे। (१०) कलिंग देश का निवासी।

वि० कलिंग देश को

कलिंगक-संज्ञा पु० [सं०] (१) इंद्रयव। (२) तरबूज़।

कलिंगड़ा-संज्ञा पु० [सं० कलिंग] एक राग जो दीपक राग का पाँचवाँ पुत्र माना जाता है। यह संपूर्ण जाति का राग है और रात के चौथे पहर मे गाया जाता है। इसमें सातों स्वर लगते हैं इसका स्वरपाठ इस प्रकार है—म ग रे सा सा रे ग म प ध नी सा।

कलिंगा-संज्ञा पु० [देश०] तेवरी नाम का पेड़ जिसकी छाल रेचक होती है।

कलिंज-संज्ञा पु० [सं०] नरकट नाम की घास।

कलिंजर-संज्ञा पु० दे० "कालिंजर"।

कलिंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहेड़ा। (२) सूर्य्य। (३) एक पर्वत जिससे यमुना नदी निकलती है।

कलिंदजा-संज्ञा स्त्री० [सं० कलिंद+जा] यमुना नदी जो कलिंद नामक पर्वत से निकली है। उ०—कूल कलिंदजा के सुखमूल लतान के वृंद बितान तने हैं।—भिखारीदास।

कलिंदी*-संज्ञा स्त्री० दे० कालिंदी"।

कलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहेड़े का फल या बीज।

विशेष—वामन पुराण में ऐसी कथा है कि जब दमयंती ने नल के गले में जयमाल डाला, तब कलि चिढ़कर नल से बदला लेने के लिये बहेड़े के पेड़ों में चला गया, इससे बहेड़े का नाम 'कलि' पड़ा।

(२) पासे के खेल में वह गोटी जो उठी न हो।

विशेष—ऐतरेय ब्राह्मण से पता लगता है कि पहले आर्य्य लोग बहेड़े के फलों से पासा खेलते थे।

(३) पासे का वह पार्श्व जिसमें एक ही बिंदी हो। (४) कलह। विवाद। झगड़ा। (५) पाप। (६) चार युगों में से चौथा युग जिसमें देवताओं के १२०० वर्ष वा मनुष्यों के ४३२००० वर्ष होते हैं। इसका प्रारंभ ईसा से ३१०२ वर्ष पूर्व से माना जाता है। इसमें दुराचार और अधर्म की अधिकता कही गई है। (७) छंद में टगण का एक भेद जिसमें क्रम से दो गुरु और दो लघु होते हैं (ऽऽ।।)। (८) पुराण के अनुसार क्रोध का एक पुत्र जो हिंसा से उत्पन्न हुआ था। इसकी बहिन दुरुक्ति और दो पुत्र, भय और मृत्यु हैं। (९) एक प्रकार के देव-गंधर्व जो कश्यप और दक्ष की कन्या से उत्पन्न हैं। (१०) शिव का एक नाम। (११) सूरमा। वीर। जवाँमर्द।

यौ०—कलिकर्म=संग्राम। युद्ध।

(१२) तरकश। (१३) क्लेश। दुःख। (१४) संग्राम। युद्ध। उ०—कलि कलेश कलि सूरमा कलि निषंग संग्राम। कलि कलियुग यह और नहिं केवल केशव नाम।—नंददास। वि० [सं०] श्याम। काला। उ०—स्वेत लाल पीरे युग युग में। भे कलि आदि कृष्ण कलियुग में।—गोपाल।

कलिकर्म-संज्ञा पु० [सं०] युद्ध। संग्राम। उ०—करहि आय कलिकर्म धर्म जो क्षत्रिन को है।—विश्राम।

कलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिना खिला फूल। कली। (२) वीणा का मूल। (३) प्राचीन काल का एक बाजा जिस पर चमड़ा मढ़ा जाता था। (४) एक संस्कृत छंद का भेद। (५) कलौंजी। मँगरैला। (६) कला। मुहूर्त्त। (७) अंश। भाग। (८) संस्कृत की पद-रचना का एक भेद जिसमें ताल नियत हो।

कलिकापूर्व-संज्ञा पु० [सं०] वह वस्तु जिसका कारण अंशतः अज्ञातपूर्व हो (जैसे जन्म, आग्नेयादि यज्ञ) और जिसका फल (जैसे स्वर्ग आदि) नितांत अपूर्व वा अज्ञातपूर्व हो।

कलिकारक-वि० [सं०] (१) झगड़ा करने वाला। (२) झगड़ा लगानेवाला।

संज्ञा पु० (१) पूतिकरंज। (२) नारद ऋषि।

कलिकारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलियारी विष।

कलि काल-संज्ञा पु० [सं०] कलियुग।

कलित-वि० [सं] (१) विदित। ख्यात। उक्त। (२) प्राप्त। गृहीत। (३) सजाया हुआ। सुसज्जित। शोभित। युक्त। उ०—(क) कुलिश कठोर, तन जोर परै रोर रन, करुना

कलित मन, धारमिक धीर को ।—तुलसी । (ख) आलस वलित, कोरैं काजर कलित, मतिराम वै ललित अति पानिप धरत हैं ।—मतिराम । (४) सुंदर । मधुर । उ०—कलित किलकिला, मिलित मोद उर, भाव उदोतनि ।

कलिद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] बहेड़े का पेड़ ।

कलिनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत के चार आचार्य्यों में से एक ।

कलिपुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद्मराग मणि वा मानिक की एक प्राचीन खान का नाम । (२) पद्मराग मणि का एक भेद जो मध्यम माना जाता था ।

कलिप्रिय-वि० [सं०] झगड़ालू । दुष्ट ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) नारद मुनि । (२) बंदर । (३) बहेड़े का पेड़ ।

कलिमल-संज्ञा पु० [सं०] पाप । कलुष ।

यौ०—कलिमल सरि=कर्मनाशा नदी ।

कलिया-संज्ञा पु० [अ०] पकाया हुआ मांस । घी में भूनकर रसेदार पकाया हुआ मांस ।

कलियाना-क्रि० अ० [हिं० कलि] (१) कली लेना । कलियों से युक्त होना । (२) चिड़ियों का नया पंख निकलना ।

कलियारी-संज्ञा स्त्री० [सं० कलिहारी] एक विषैला पौधा जिसकी पत्तियाँ पतली और नुकीली होती हैं और जिसकी जड़ में गाँठें पड़ती हैं । इसका फूल नारंगी रंग का अत्यंत सुंदर होता है । फूल झड़ जाने पर मिर्चे के आकार का फल लगता है, जिसमें तीन धारियाँ होती हैं । पके फल के भीतर लाल छिलके में लिपटे हुए इलायची के दाने के आकार के बीज होते हैं । इसकी जड़ वा गाँठ में विष होता है । यह कड़ुई, चरपरी, तीखी, कसैली और गरम होती है तथा कफ, वात, शूल, बवासीर, खुजली, व्रण, सूजन और शोष के लिये उपकारी है । इससे गर्भपात हो जाता है । इसके पत्ते फूल और फल से तीखी गंध आती है ।

पर्या०—कलिकारी । लांगलिकी । दीप्ता । गर्भघातिनी । अग्नि-ज्ह्वा । वह्निशिखा । लांगुली । हली । नक्ता । इंद्रपुष्पिका । विद्युज्ज्वाला । कलिहारी ।

कलियुग-संज्ञा पुं० [सं०] चार युगों में से चौथा युग ।

कलियुगाद्या-संज्ञा पुं० [सं०] माघ की पूर्णिमा जिससे कलियुग का आरंभ हुआ था ।

कलियुगी-वि० [सं०] (१) कलियुग का । (२) बुरे युग का । कुप्रवृत्तिवाला । जैसे,—कलियुगी लड़के ।

कलिल-वि० [सं०] (१) मिला जुला । ओत प्रोत । मिश्रित । (२) गहन । घना । दुर्गम । उ०—मोह कलिल व्यापित मति भोरी ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह । ढेर ।

कलिवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं] एक चालुक्य राजा का नाम जिसे ध्रुव भी कहते थे ।

कलिवर्ज्य-वि० [सं०] जिसका करना कलियुग में निषिद्ध है ।

विशेष—धर्मशास्त्रों में उस कर्म को कलिवर्ज्य कहते हैं जिसका करना अन्य युगों में विहित था, पर कलियुग में निषिद्ध वा वर्जित है । जैसे, अश्वमेध, गोमेध, देवरादि से नियोग, संन्यास, मांस का पिंडदान ।

कलिविक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण देश का एक चालुक्य वंशी राजा जिसे त्रिभुवन मल्ल वा चतुर्थ विक्रमादित्य भी कहते हैं । इसके बाप का नाम आहवमल्ल था । इसने संवत् ९९१ से १०४८ तक राज्य किया था ।

कलिहारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलियारी । करियारी ।

कलींदा-संज्ञा पुं० [सं० कलिंग] तरबूज़ । हिनवाना ।

कली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिना खिला फूल । मुँह बँधा फूल । बोंडी । कलिका ।

क्रि० प्र०—आना ।—खिलना ।—निकलना ।—फटना ।—लगना ।

मुहा०—दिल की कली खिलना=आनंदित होना : चित्त प्रसन्न होना ।

(२) ऐसी कन्या जिसका पुरुष से समागम न हुआ हो ।

मुहा०—कच्ची कली=अप्राप्तयौवना ।

(३) चिड़ियों का नया निकला हुआ पर । (४) वह तिकोना कटा हुआ कपड़ा जो कुर्ते, अंगरखे और पायजामे आदि में लगाया जाता है । (५) हुक्के का वह भाग जिसमें गड़गड़ा लगाया जाता है और जिसमें पानी रहता है । जैसे नारियल की कली । (६) वैष्णवों के तिलक का एक भेद जो फूल की कली की तरह का होता है ।

संज्ञा स्त्री० [अ० कलई] पत्थर वा सीप आदि का फुका हुआ टुकड़ा जिससे चूना बनाया जाता है । जैसे,—कली का चूना ।

क़लील-संज्ञा पु० [अ०] थोड़ा । कम ।

कलीसिया-संज्ञा पुं० [यू० इकलिसिया] ईसाइयों वा यहूदियों की धर्ममंडली ।

कलुख-संज्ञा पुं० दे० "कलुष" ।

कलुखाई*-संज्ञा स्त्री० दे० "कलुषाई" ।

कलुखी-वि० [सं० कलुख+हिं० ई (प्रत्य०)] दोषी । कलंकी । बदनाम । उ०—बैरी यह बंधु, देव, दीनबंधु जानि हम बंधन में डारे तुम न्यारे कलुखी भये ।—देव ।

कलुवाबीर-संज्ञा पुं० [हिं० काला+बीर] टोना टामर वा सावरी मंत्रों का एक देवता जिसकी दुहाई मंत्रों में दी जाती है ।

कलुष-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कलुषित, कलुषी] (१) मलिनता । मैल । (२) पाप । दोष ।

यौ०—कलुषदेता। कलुषमति। कलुषात्मा।
(३) क्रोध। (४) भैंसा।
वि० [स्त्री० कलुषा, कलुषी] (१) **मलिन। मैला। गंदा।** (२) **निंदित। गर्हित।** (३) **दोषी। पापी।**

कलुषयोनि—संज्ञा पुं० [सं०] **वर्णसंकर। दोगला।**

कलुषाई—संज्ञा स्त्री० [सं० कलुष+आई (प्रत्य०)] (१) **बुद्धि की मलिनता। चित्त का विकार वा दोष।** उ०—**आइ रहे जब से दोउ भाई। तब तें चित्रकूट कानन छबि दिन दिन अधिक अधिक अधिकाई।............भए सब साधु किरात किरातिनि राम दरस मिटिगै कलुषाई। खग मृग मुदित एक सँग विहरत सहज विषम बड़ बैर बिहाई।—तुलसी।** (२) अपवित्रता। मलिनता। उ०—**तीय सिरोमणि सीय तजी जिन पावक की कलुषाई दही है।—तुलसी।**

कलुषित—वि० [सं०] (१) **दूषित।** (२) **मलिन। मैला।** (३) **पापी।** (४) **दुःखित।** (५) **क्षुब्ध।** (६) **असमर्थ।** (७) **काला।**

कलुषी—वि० स्त्री० [सं०] (१) **पापिनी। दोषी।** (२) **मलिन। गंदी।**
वि० पुं० [सं० कलुषिन्] (१) **मलिन। मैला। गंदा।** (२) **पापी। दोषी।**

कलूटा—वि० [हिं० काला+टा (प्रत्य०)] [स्त्री० कलूटी] **काले रंग का। काला।**
यौ०—काला कलूटा।

कलूना—संज्ञा पुं० [देश०] **एक प्रकार का मोटा धान जो पंजाब में उत्पन्न होता है।**

कलेऊ*—संज्ञा पुं० [हिं० कलेवा] **प्रातःकाल का लघु भोजन। जलपान। कलेवा।** उ०—**प्रातकाल उठि देहु कलेऊ बदन चुपरि अरु चोटी। को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिए छोटी।—सूर।**

कलेजई—संज्ञा पुं० [हिं० कलेजा] **एक रंग का नाम जो छिबुला, हरें, कसीस और मजीठ वा पतंग के मेल से बनता है। इसे ऊनौटिया रंग भी कहते हैं।**
वि० **कलेजई रंग का। ऊनौटिया।**

कलेजा—संज्ञा पुं० [सं० यकृत, (विपर्य्यय) कृत्य, कृज्ज] (१) **प्राणियों का एक भीतरी अवयव जो छाती के भीतर बाईं ओर को फैला हुआ होता है और जिससे नाड़ियों के सहारे शरीर में रक्त का संचार होता है। यह पान के आकार की मांस की थैली की तरह होता है जिसके भीतर रुधिर बन कर जाता है और फिर उसके ऊपरी परदे की गति वा धड़कन से दब कर नाड़ियों में पहुँचता और सारे शरीर में फैलता है।**
मुहा०—कलेजा उछलना=(१)दिल धड़कना। घबड़ाहट होना। (२) हृदय प्रफुल्लित होना। **कलेजा उड़ना**=होश जाता रहना। घबड़ाहट होना। **कलेजा उलटना**=(१) कै करते करते आँतों में बल पड़ना। वमन करते करते जी घबराना। (२) होश का जाता रहना। **कलेजा कटना**=(१) हीरे की कनी या और किसी विष के खाने से अँतड़ियों में छेद होना। (२) मल के साथ रक्त गिरना। खूनी दस्त आना। (३) दिल पर चोट पहुँचना। अत्यंत हार्दिक कष्ट पहुँचना। **जैसे,—उसकी दशा देख किसका कलेजा नहीं कटता।** (४) बुरा लगना। नागवार लगना। जब्र मालूम होना। **जैसे,—पैसा खर्च करते उसका कलेजा कटता है।** (५) दिल जलना। डाह होना। हसद होना। **जैसे,—उसे चार पैसा पाते देख तुम्हारा क्यों कलेजा कटता है। कलेजा काँपना**=जी दहलना। डर लगना। **जैसे,—नाव पर चढ़ते हमारा कलेजा काँपता है। कलेजा काढ़ना**=(१) दिल निकालना। अत्यंत वेदना पहुँचाना। (२) किसी की अत्यंत प्रिय वस्तु ले लेना। किसी का सर्वस्व हरण करना। **कलेजा काढ़ लेना**=(१) हृदय में वेदना पहुँचाना। अत्यंत कष्ट देना। (२) मोहित करना। रिझाना। (३) चोटी की चीज निकाल लेना। सब से अच्छी वस्तु को छाँट लेना। सार वस्तु ले लेना। (४) किसी की प्रिय वस्तु ले लेना। किसी का सर्वस्व हरण कर लेना। **कलेजा काढ़ के देना**=(१) अपनी अत्यंत प्यारी वस्तु देना। (२) सूम का किसी को अपनी कोई वस्तु देना (जिससे उसे बहुत कष्ट हो)। **कलेजा खाना**=(१) बहुत तंग करना। दिक करना। (२) बार बार तकाजा करना। **जैसे,—वह चार दिन से कलेजा खा रहा है, उसका रुपया आज दे देंगे। कलेजा खिलाना**=किसी को अत्यंत प्रिय वस्तु देना। किसी का पोषण वा सत्कार करने में कोई बात उठा न रखना। **जैसे,—उसने कलेजा खिला खिलाकर उसे पाला है। कलेजा खुरचना**=(१) बहुत भूख लगना। **जैसे,—मारे भूख के कलेजा खुरच रहा है।** (२) किसी प्रिय के जाने पर उसके लिये चिंतित और व्याकुल होना। **जैसे,—जब से वह गया है, तब से उसके लिये कलेजा खुरच रहा है। कलेजा गोदना**=दे० "कलेजा छेदना वा बींधना"। **कलेजा छिदना वा बिंधना**=कड़ी बातों से जी दुखना। ताने मेहने से हृदय व्यथित होना। **जैसे,—अब तो सुनते सुनते कलेजा छिद गया, कहाँ तक सुनें। कलेजा छेदना वा बींधना**=कटु वाक्यों की वर्षा करना। लगती बात कहना। ताने मेहने मारना। **कलेजा छलनी होना**=दे० "कलेजा छिदना"। **कलेजा जलना**=(१) अत्यंत दुःख पहुँचना। कष्ट पहुँचना। (२) बुरा लगना। अरुचिकर होना। **कलेजा जलाना**=दुःख देना। दुःख पहुँचाना। **कलेजा जली**=दुखिया। जिसके दिल पर बहुत चोट पहुँची हो। **कलेजा जली तुक्कल**=वह तुक्कल जिस के बीच का भाग काला हो। **कलेजा टूटना**=जी टूटना।

उत्साह भंग होना। हौसला न रहना। **कलेजा टूक टूक होना**=शोक से हृदय विदीर्ण होना। दिल पर कड़ी चोट पहुँचना। **कलेजा ठंढा करना**=संतोष देना। तुष्ट करना। चित्त की अभिलाषा पूरी करना। **जैसे,—उसे देख मैंने अपना कलेजा ठंढा किया। कलेजा ठंढा होना**=तृप्ति होना। संतोष होना। अभिलाषा पूरी होना। शांति मिलना। चैन पड़ना। **कलेजा तर होना**=(१) कलेजे में ठंढक पहुँचना। (२) धन से भरे पूरे रहने के कारण निर्द्वंद रहना। **कलेजा थामना**=दुःख सहने के लिये जी कड़ा करना। शोक के वेग को दबाना। **कलेजा थामकर बैठ जाना वा रह जाना**=(१) शोक के वेग को दबाकर रह जाना। मन मसोसकर रह जाना। **जैसे,—जिस समय यह शोक समाचार मिला, वे कलेजा थाम कर रह गए।** (२) संतोष करना। **कलेजा थाम थामकर रोना**=(१) मसोस मसोस कर रोना। शोक के वेग को दबाते दबाते रोना। (२) रह रहकर रोना। **कलेजा दहलना**=भय से जी का काँपना। **कलेजा धुकड़ पुकड़ होना**=दे० "कलेजा धड़कना"। **कलेजा धक धक करना**=भय से व्याकुलता होना। आशंका से चित्त विचलित होना। **कलेजा धक से हो जाना**=(१) भय से सहसा स्तब्ध होना। एक बारगी डर छा जाना। **उ०—हरिमोहन का कलेजा धक से हो गया और उन्होंने लड़खड़ाती जीभ से कहा।—अयोध्या।** (२) चकित होना। विस्मित होना। भौचक्का रहना। **उ०—उसकी बुराई सुनते ही उसका कलेजा धक से हो गया।—अयोध्या। कलेजा धड़कना**=(१) डर से जी काँपना। भय से व्याकुलता होना। (२) चित्त में चिंता होना। जी में खटका होना। **कलेजा धड़काना**=(१) डरा देना। भयभीत कर देना। (२) खटके में डाल देना। **कलेजा निकलना**=(१) अत्यंत कष्ट होना। असह्य क्लेश होना। खलना। (२) सार वस्तु का निकल जाना। हीर निकल जाना। **कलेजा निकालना**=दे० "कलेजा काढ़ना"। **कलेजा निकालकर रखना**=अत्यंत प्रिय वस्तु समर्पण करना। सर्वस्व दे देना। **जैसे,—यदि हम कलेजा निकाल कर रख दें, तो भी तुम्हें विश्वास न होगा। कलेजा पक जाना**=कष्ट से जी ऊब जाना। दुःख सहते सहते तंग आ जाना। **जैसे,—नित्य के लड़ाई झगड़े से तो कलेजा पक गया। कलेजा पकड़ना**=दे० "कलेजा थामना"। **कलेजा पकड़ लेना**=(१) किसी कष्ट को सहने के लिये जी कड़ा कर लेना। (२) कलेजे पर भारी बोझ मालूम होना। **जैसे,—(क) बलगम ने कलेजा पकड़ लिया। (ख) मैदे की पूरियों ने तो कलेजा पकड़ लिया। कलेजा पकाना**=इतना दुःख देना कि जी जल जाय। नाक में दम करना। हैरान करना। **पत्थर का कलेजा**=(१) कड़ा जी। दुःख सहने में समर्थ हृदय। (२) कठोर चित्त। **कलेजा पत्थर का करना**=(१) भारी दुःख झेलने के लिये चित्त को दबाना। **जैसे,—जो होना था सो हो गया, अब कलेजा पत्थर का करके घर चलो।** (२) किसी निष्ठुर कार्य्य के लिये चित्त को कठोर करना। **जैसे,—पत्थर का कलेजा करके मुझे उस निरपराध को मारना पड़ा। कलेजा पत्थर का होना**=(१) जी कड़ा होना। (२) चित्त कठोर होना। **कलेजा पसीजना**=दयार्द्र होना। किसी के दुःख से प्रभावान्वित होना। **पत्थर का कलेजा पानी होना**=कठोर चित्त में दया आना। निष्ठुर हृदय का दयार्द्र होना। **जैसे,—उसका दुःख सुनकर पत्थर का कलेजा भी पानी होता था। कलेजा फटना**=(१) किसी के दुःख को देखकर मन में अत्यंत कष्ट होना। **जैसे,—(क) दुखिया माँ का रोना सुन कर कलेजा फटता था। (ख) किसी को चार पैसे पाते देख तुम्हारा कलेजा क्यों फटता है। कलेजा बढ़ जाना**=(१) दिल बढ़ना। उत्साह और आनंद होना। हौसला होना। **कलेजा बाँसों, बल्लियों वा हाथों उछलना**=(१) आनंद से चित्त प्रफुल्लित होना। आनंद की उमंग में फूलना। (२) भय वा आशंका से जी धक धक करना। **कलेजा बैठा जाना**= भय वा शिथिलता से चित्त का संज्ञाशून्य और व्याकुल होना। क्षीणता के कारण शरीर और मन की शक्ति का मंद पड़ना। **कलेजा मलना**=दिल दुखाना। कष्ट पहुँचाना। **कलेजा मसोस कर रह जाना**=कलेजा थामकर रह जाना। दुःख के वेग को रोक-कर रह जाना। **कलेजा मुँह को वा मुँह तक आना**=(१) जी घबराना। जी उकताना। व्याकुलता होना। **उ०—क्षुधा के संताप से कलेजा मुँह को आता है।—अयोध्या।** (२) संताप होना। दुःख से व्याकुलता होना। **उ०—इस दुखिया की इन बातों से बटोही का कलेजा मुँह को आ रहा था।—अयोध्या। कलेजा सुलगना**=दिल जलना। अत्यंत दुःख पहुँचना। संताप होना। **कलेजा सुलगाना**=बहुत सताना। अत्यंत कष्ट देना। दिल जलाना। **कलेजा हिलना**=कलेजा काँपना। अत्यंत भय होना। **कलेजे का टुकड़ा**=(१) लड़का। बेटा। संतान। (२) अत्यंत प्रिय व्यक्ति। **कलेजे की कोर**=(१) संतान। लड़का-लड़की। (२) अत्यंत प्रिय व्यक्ति। **कलेजे खाई**=डाइन। बच्चों पर टोना करनेवाली। **कलेजे पर चोट लगना**=सदमा पहुँचना। अत्यंत क्लेश होना। **कलेजे पर छुरी चल जाना**=दिल पर चोट पहुँचना। अत्यंत क्लेश पहुँचना। **कलेजे पर साँप लोटना**= चित्त में किसी बात के स्मरण आ जाने से एक बारगी शोक छा जाना। **जैसे,—(क) जब वह अपने मरे लड़के की कोई चीज़ देखता है, तब उसके कलेजे पर साँप लोट जाता है। (ख) जब वह अपने पुराने मकान को दूसरों के अधिकार में देखता है, तब उसके कलेजे पर साँप लोट जाता है। कलेजे पर हाथ धरना वा रखना**=अपने दिल से पूछना। अपनी आत्मा से पूछना। चित्त में जैसा विश्वास हो, ठीक वैसा ही कहना। **जैसे,—तुम कहते हो कि तुमने रुपया नहीं लिया,**

ज़रा कलेजे पर तो हाथ रक्खो । (यदि कोई मनुष्य कोई दोष वा अपराध करता है तो उस की छाती धक धक करती है । इसी से जब कोई मनुष्य झूठ बोलता वा अपना अपराध अस्वीकार करता है, तब यह मुहा० बोला जाता है।) कलेजे पर हाथ धर कर वा रखकर देखना=अपनी आत्मा से पूछकर देखना । अपने चित्त का जो यथार्थ विश्वास हो, उस पर ध्यान देना । कलेजे में आग लगना=(१) अत्यंत दुःख वा शोक होना । (२) डाह होना । द्वेष की जलन होना । (३) बहुत प्यास लगना । कलेजे में डालना=प्यार से सदा अपने बहुत पास रखना । हृदय से लगाकर रखना । जैसे,—जी चाहता है कि उसे कलेजे में डाल लूँ । कलेजे में पैठना वा घुसना=किसी का भेद लेने वा किसी से अपना कोई मतलब निकालने के लिये उससे खूब ऊपरी हेल मेल बढ़ाना । जैसे,—वह इस ढब से कलेजे में पैठकर बातें करता है कि सारा भेद ले लेता है । कलेजे में लगना=कलेजे में अटकना । कलेजे पर भारी मालूम होना । कलेजे वा पेट में विकार उत्पन्न करना । जैसे,—(क) पानी धीरे धीरे पीओ, नहीं तो कलेजे में लगेगा । (ख) देखना यह कई दिनों का भूखा है, बहुत सा खा जायगा तो अन्न कलेजे में लगेगा । कलेजे से लगाकर रखना=(१) किसी प्रिय वस्तु को अपने अत्यंत निकट रखना । पास से जुदा न होने देना । बहुत प्रिय कर के रखना। (२) बहुत यत्न से रखना ।

(२) छाती । वक्षस्थल ।

मुहा०—कलेजे से लगाना=छाती से लगाना । आलिंगन करना । प्यार करना । गले लगाना ।

(३) जीवट । साहस । हिम्मत ।

क्रि० प्र०—करना ।—बढ़ना ।

कलेजी—संज्ञा स्त्री० [हिं० कलेजा] कलेजे का मांस ।

कलेटा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की बकरी जिसके ऊन से कम्मल आदि बुने जाते हैं।

कलेवर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर । देह । चोला ।

मुहा०—कलेवर चढ़ाना=महावीर, भैरव, गणेश आदि देवताओं की मूर्ति पर घी वा तेल में मिले सेंदुर का लेप करना । कलेवर बदलना=(१) एक शरीर त्यागकर दूसरा शरीर धारण करना । चोला बदलना । (२) एक रूप से दूसरे रूप में जाना । (३) जगन्नाथ जी की पुरानी मूर्त्ति के स्थान पर नई मूर्त्ति का स्थापित होना । (यह एक प्रधान उत्सव है, जो जगन्नाथपुरी में जब मलमास असाढ़ में पड़ता है, तब होता है । इसमें लकड़ी की नई मूर्त्ति मंदिर में स्थापित की जाती है और पुरानी फेंक दी जाती है ।) (४) काया कल्प होना । रोग के पीछे शरीर पर नई रंगत चढ़ना । (५) पुराना कपड़ा उतारकर नया और साफ़ कपड़ा पहनना ।

(२) ढाँचा ।

कलेवा—संज्ञा पुं० [सं० कल्यवर्त, प्रा० कल्लवट्ट] (१) वह हलका भोजन जो सबेरे बासी मुँह किया जाता है । नहारी । जलपान। उ०—छगन मगन प्यारे लाल कीजिए कलेवा ।—सूर।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—कलेवा करना=निगल जाना । खा जाना ।उ०—जिन भूपन जग जीति बाँधि जम अपनी बाँह बसायो । तेऊ काल कलेवा कीन्हो तू गिनती कब आयो ?—तुलसी ।

(२) वह भोजन जो यात्री घर से चलते समय बाँध लेते हैं । पाथेय । संबल । (३) विवाह के अनंतर एक रीति जिसमें वर अपने सखाओं के साथ अपनी ससुराल में भोजन करने जाता है । यह रीति प्रायः विवाह के दूसरे दिन होती है । खिचड़ी । बासी ।

कलेस*—संज्ञा पुं० दे० "क्लेश" ।

कलेसुर†—संज्ञा पुं० दे० "कलसिरा" ।

कलैया—संज्ञा स्त्री० [सं० कला] सिर नीचे और पैर ऊपर करके उलट जाने की क्रिया । कलाबाजी ।

क्रि० प्र०—खाना । मारना ।

कलोईबोड़ा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बड़ा साँप वा अजगर जो बंगाल में होता है ।

कलोपनता—संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्यम ग्राम की सात मूर्छनाओं में से दूसरी मूर्छना ।

कलोर—संज्ञा स्त्री० [सं० कल्या] वह जवान गाय जो बरदाई या ब्याई न हो ।

कलोल—संज्ञा पुं० [सं० कल्लोल] आमोद प्रमोद । क्रीड़ा । केलि। उ०—(क) विविध्र बिहँग अलि जलज ज्यौं सुखमा सर करत कलोल ।—तुलसी । (ख) मिलि नाचत करत कलोल छिरकत हरद दही । मानो वर्षत भादों मास नदी घृत दूध बही ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—मचाना ।

कलोलना*—क्रि० अ० [सं० कल्लोल, हिं० कलोल] क्रीड़ा करना। आमोद प्रमोद करना ।

कलौंजी—संज्ञा पुं० [सं० कालाजाजी] एक पौधा जो दक्खिन भारत और नैपाल की तराई में होता है।इसकी खेती नदियों के किनारे होती है । दोमट वा बलुई ज़मीन में इसे अगहन पूस में बोते हैं । इसका पौधा डेढ़ दो हाथ ऊँचा होता है। फूल झड़ जाने पर कलियाँ लगती हैं जो ढाई तीन अंगुल लंबी होती हैं और जिनमें काले काले दाने भरे रहते हैं। दानों से एक तेज़ गंध आती है और इसी से वे मसाले के काम में आते हैं । इन बीजों से तेल भी निकाला जाता है, जो दवा के काम में आता है । तेल के विचार से यह दो प्रकार का होता है । एक का तेल काला और सुगंधित होता है,

दूसरे का तेल साफ़ रेंड़ी के तेल का सा होता है। यह सुगंधित, वातघ्न और पेट के लिये उपकारी और पाचक होता है। बंगाल में इसी को काला जीरा भी कहते हैं। मँगरैला। (२) एक प्रकार की तरकारी। इसके बनाने की विधि यह है कि करैले, परवर, भिंडी, बैंगन आदि का पेटा चीरकर उसमें धनियाँ, मिर्च आदि मसाले खटाई नमक के साथ भरते हैं, और उसे तेल वा घी में तल लेते हैं। मरगल।

कलौंस–वि० [हिं० काला+औंस (प्रत्य०)] कालापन लिए। सियाहीमायल।

संज्ञा पुं० (१) कालापन। स्याही। कालिख। (२) कलंक

कलौथी–संज्ञा स्त्री० [सं० कुलत्थ] मुँगरा चावल।

कल्क–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूर्ण। बुकनी। (२) पीठी। (३) गूदा। (४) दंभ। पाखंड। (५) शठता। (६) मल। मैल। कीट। (७) कान की मैल। खूँट। (८) विष्ठा। (९) पाप। (१०) गीली वा भिगोई हुई औषधियों को बारीक पीसकर बनाई हुई चटनी। अवलेह। (११) बहेड़ा। (१२) तुरुष्क नाम का गंध द्रव्य।

कल्कफल–संज्ञा पुं० [सं०] अनार।

कल्कि–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु के दशवें अवतार का नाम जो संभल (मुरादाबाद) में एक कुमारी कन्या के गर्भ से होगा।

कल्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधान। विधि। कृत्य।

यौ०—प्रथम कल्प=पहला कृत्य।

(२) वेद के प्रधान छः अंगों में से एक। इसमें यज्ञादि के करने का विधान है। श्रौत, गृह्य आदि सूत्र ग्रंथ इसी के अंतर्गत हैं। (३) प्रातःकाल। (४) वैद्यक के अनुसार रोगनिवृत्ति का एक उपाय वा युक्ति। जैसे, केश-कल्प। कायाकल्प। (५) प्रकरण। विभाग। जैसे, औषधकल्प। श्राद्धकल्प इत्यादि। (६) एक प्रकार का नृत्य। (७) काल का एक विभाग जिसे ब्रह्मा का एक दिन कहते हैं और जिसमें १४ मन्वंतर वा ४३२००००००० वर्ष होते हैं। पुराणानुसार ब्रह्मा के तीस दिनों के नाम ये हैं—(१) श्वेत (वाराह), (२) नीललोहित, (३) वामदेव, (४) रथंतर, (५) रौरव, (६) प्राण, (७) बृहत्कल्प, (८) कंदर्प, (९) सत्य वा सद्य, (१०) ईशान, (११) ध्यान, (१२) सारस्वत, (१३) उदान, (१४) गारुड़, (१५) कौर्म (ब्रह्मा की पूर्णमासी), (१६) नारसिंह, (१७) समान, (१८) आग्नेय, (१९) सोम, (२०) मानव, (२१) पुमान, (२२) वैकुंठ, (२३) लक्ष्मी, (२४) सावित्री, (२५) घोर, (२६) वाराह, (२७) वैराज, (२८) गौरी, (२९) माहेश्वर, (३०) पितृ (ब्रह्मा की अमावस्या)।

यौ०—कल्पवृक्ष। कल्पतरु। कल्पलता।

वि० तुल्य। समान। जैसे, ऋषिकल्प। देवकल्प।

विशेष—इस अर्थ में यह शब्द समास के अंत में आता है। पाणिनि ने इसे प्रत्यय माना है।

कल्पक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाई। नापित। (२) कचूर।

वि० (१) कल्पना करनेवाला। रचनेवाला। (२) काटनेवाला।

कल्पकार–संज्ञा पुं० [सं०] कल्प-शास्त्र का रचनेवाला व्यक्ति। गृह्य वा श्रौत सूत्र का रचयिता।

वि० कल्प-शास्त्र रचनेवाला जिसने गृह्य वा श्रौत सूत्र रचे हों। जैसे, कल्पकार ऋषियों ने कहा है।

कल्पतरु–संज्ञा पुं० [सं०] कल्पवृक्ष।

कल्पद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] कल्पवृक्ष।

कल्पना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रचना। बनावट। सजावट।

यौ०—प्रबंधकल्पना।

(२) वह शक्ति जो अंतःकरण में ऐसी वस्तुओं के स्वरूप उपस्थित करती है जो उस समय इंद्रियों के सम्मुख उपस्थित नहीं होतीं। उद्भावना। अनुमान। (काव्य, उपन्यास, चित्र आदि इसी शक्ति के द्वारा बनते हैं।)

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—कल्पनाप्रसूत। कल्पनाशक्ति।

(३) किसी एक वस्तु में अन्य वस्तु का आरोप। अध्यारोप। जैसे, रस्सी में साँप की भावना। (४) भावना। मान लेना। फ़र्ज़। जैसे,—कल्पना करो कि अ ब एक सरल रेखा है। (५) मनगढ़ंत बात। जैसे,—यह सब तुम्हारी कल्पना है।

क्रि० प्र०—करना।

(६) सवारी के लिये हाथी की सजावट।

† क्रि० अ० दे० "कलपना"।

कल्पनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्तनी। कैंची।

कल्पपादप–संज्ञा पुं० [सं०] कल्पवृक्ष।

यौ०—कल्पपादप-दान=एक महादान जिसमें सोने के पेड़, फूल आदि बनाकर दान किए जाते हैं।

कल्पभव–संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रानुसार एक प्रकार के देवगण। ये वैमानिक के अंतर्गत माने जाते हैं और संख्या में बारह हैं; अर्थात् सौधर्म, ईशान सनत्कुमार, माहेंद्र, ब्रह्मा, कालांतक, शुक्र, सहस्रार, आनत, प्रणत, आरण और अच्युत। जैनियों का विश्वास है कि ये लोग तीर्थंकरों के जन्मादि संस्कारों में आते हैं।

कल्पलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] कल्पवृक्ष।

यौ०—कल्पलता-दान=जिसमें सोने की दस लताएँ तथा सिद्धि, मुनि, पक्षी आदि बना कर दान किए जाते हैं।

कल्पवर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] उग्रसेन के भाई जो देवक के पुत्र थे ।

कल्पवास–संज्ञा पुं० [सं०] माघ के महीने में महीना भर गंगा तट पर संयम के साथ रहना ।

कल्पविटप–संज्ञा पुं० [सं०] कल्पवृक्ष ।

कल्पवृक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार देवलोक का एक वृक्ष जो समुद्र मथने के समय समुद्र से निकला हुआ और चौदह रत्नों में माना जाता है । यह इंद्र को दिया गया था । हिंदुओं का विश्वास है कि इससे जिस वस्तु की प्रार्थना की जाय, वही यह देता है । इसका नाश कल्पांत तक नहीं होता । इसी प्रकार का एक पेड़ मुसलमानों के स्वर्ग में भी हैं, जिसे वे तूबा कहते हैं ।

पर्या०—कल्पद्रुम । कल्पतरु । सुरतरु । कल्पलता । देवतरु ।

(२) एक वृक्ष जो संसार में सब पेड़ों से ऊँचा, घेरदार और दीर्घजीवी होता है । अफ्रिका के सेनीगाल नामक प्रदेश में इसका एक पेड़ है जिसके विषय में विद्वानों का अनुमान है कि वह ५२०० वर्ष का है । यह पेड़ चालीस से सत्तर फुट तक ऊँचा होता है । सावन भादों में यह पत्तों और फूलों से लदा हुआ दिखाई पड़ता है । फूल प्रायः सफ़ेद रंग के होते हैं और चार से छः इंच तक चौड़े होते हैं । इनसे पके संतरों की महक आती है । फूलों के झड़ जाने पर कद्दू के आकार के फल लगते हैं, जो एक फुट लंबे होते हैं । फल पकने पर खटमिट्ठे होते हैं, जिन्हें बंदर बहुत खाते हैं । मिस्र देश के लोग फल का रस निकालकर और उसमें शक्कर मिलाकर पीते हैं । इसका गूदा पेचिश में देते हैं; इसके बीज दवा के काम में आते हैं । कहीं कहीं इसकी पत्तियों की बुकनी भोजन में मिलाकर खाते हैं । इसकी लकड़ी बहुत मज़बूत नहीं होती, इसी से इसमें बड़े बड़े खोंडरे पड़ जाते हैं । इसकी छाल के रेशे की रस्सी बनती है और एक प्रकार का कपड़ा भी बुना जाता है । यह वृक्ष भारतवर्ष में मद्रास, बंबई और मध्य प्रदेश में बहुत मिलता है । बरसात में बीज बोने से यह लगता है और बहुत जल्दी बढ़ता है । इसे गोरख इमली भी कहते हैं ।

कल्पशाखी–संज्ञा पुं० [सं० कल्पशाखिन्] कल्पवृक्ष । उ०—जयति संग्राम जय राम संदेशहर कौशल कुशल कल्याण भाखी । राम बिरहार्क संतप्त भरतादि नर नारि शीतल करण कल्पशाखी ।—तुलसी ।

कल्पसूत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह सूत्र ग्रंथ जिसमें यज्ञादि कर्मों वा गृह्य कर्मों का विधान लिखा हो । ऐसे ग्रंथ वेदों की प्रत्येक शाखा के लिये पृथक् पृथक् ऋषियों के बनाए हुए हैं और विषय-भेद से इनके दो भेद हैं—श्रौत और गृह्य । वे सूत्र-ग्रंथ जिनमें दर्शपौर्णमास से लेकर अश्वमेधादि यज्ञों तक की विधि का विधान है, श्रौतसूत्र कहलाते हैं; तथा जिनमें गृहस्थों के पंच महायज्ञादि कृत्यों और गर्भाधानादि संस्कारों की विधि लिखी है, वे गृह्यसूत्र कहलाते हैं ।

कल्पहिंसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन शास्त्रों के अनुसार वह हिंसा जो पकाने, पीसने आदि में होती है । हिंदू इसे 'पंच-सूना' कहते हैं ।

कल्पांत–संज्ञा पुं० [सं०] प्रलय ।

कल्पातीत–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के शास्त्रों के अनुसार देव-ताओं का एक एक गण जो वैमानिक देवताओं के अंतर्गत है । इसके देवता दो प्रकार के हैं और इनकी संख्या चौदह है—नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर ।

वि० जिनका अंत कल्प में भी न हो । नित्य ।

कल्पित–वि० [सं०] (१) जिसकी कल्पना की गई हो । (२) मनमाना । मनगढ़ंत । फ़र्ज़ी ।

यौ०—कपोलकल्पित ।

(३) बनावटी । नक़ली ।

कल्पितोपमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का उपमालंकार जिसमें कवि उपमेय के लिये कोई एक स्वाभाविक उपयुक्त उपमान न मिलने से मनमाना उपमान कल्पित कर लेता है । इसे 'अभूतोपमा' भी कहते हैं । उ०—(क) कंकनहार विविध भूषण विधि रचे निज कर मन लाई । गजमणि माल बीच भ्राजत कहि जात न पदिक निकाई । जनु उड़-गन मंडल वारिद पर नवग्रह रची अथाई ।—तुलसी । इसमें गजमुक्ता के हार के बीच में पदिक की शोभा के हेतु उपयुक्त उपमान न पाकर कवि कल्पना करता है कि मानों मेघों के ऊपर बैठकर नवग्रह ने अथाई रची है । (ख) राधे मुख ते छुटि अलक लगी पयोधर आय । शशि मंडल ते मेरु शिर लटकी भोगिनि भाय ।

कल्मष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप । अघ । (२) मैल । मल । † (३) पीब । मवाद । (४) एक नरक का नाम ।

कल्माष–वि० [सं०] (१) चितकबरा । चित्रवर्ण । (२) काला ।

यौ०—कल्माषपाद । कल्माषकंठ ।

कल्माषकंठ–संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

कल्माषपाद–संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा का नाम ।

कल्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सवेरा । भोर । प्रातःकाल । (२) मधु । शराब ।

कल्यपाल–संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री० कल्यपाली] कलवार ।

कल्याण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंगल । शुभ । भलाई ।

यौ०—कल्याणकारी ।

(२) सोना । (३) संपूर्ण जाति का एक शुद्ध राग । यह श्री राग का सातवाँ पुत्र माना जाता है । इसके गाने का समय रात का पहला पहर है । कोई कोई इसे मेघ राग का पुत्र मानते हैं । इसके मिश्र और शुद्ध मिलकर यमन कल्याण,

शुद्ध कल्याण, जयत कल्याण, श्रावणी कल्याण, पूरिया कल्याण, कल्याण बराली, कल्याण कामोद, नट कल्याण, श्याम कल्याण, हेम कल्याण, क्षेम कल्याण, भूपाली कल्याण, ये बारह भेद हैं। इसका सरगम यह है—'ग, म, ध, रि, स, नि, ध, प, म, स, रि, ग'। (४) एक प्रकार का घृत (वैद्यक)।

वि० [स्त्री० कल्याणी] शुभ। अच्छा। भला। मंगलप्रद।

यौ०—कल्याणभार्य।

कल्याणकामोद–संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक संकर राग जो रात के पहले पहर में गाया जाता है।

कल्याणनट–संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक संकर राग जो कल्याण और नट के संयोग से बनता है।

कल्याणभार्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जो बार बार विवाह करे, पर जिसकी प्रत्येक स्त्री मर जाय।

कल्याणी–वि० [सं०] कल्याण करनेवाली, सुंदरी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माषपर्णी। (२) गाय। (३) प्रयाग तीर्थ की एक प्रसिद्ध देवी।

कल्यान–†*संज्ञा पुं० दे० "कल्याण"।

कल्लर–संज्ञा पुं० [देश०। सं० कल्य] (१) नोनी मिट्टी।

क्रि० प्र०—लगना।

(२) रेह। (३) ऊसर। बंजर। उ०—सैकड़ों क्लेशों के साथ एक एक पैसा इकट्ठा करना और फिर विवाह के समय अंधे होकर कल्लर में बखेर देना।—भाग्यवती।

कल्लाँच–वि० [तु० कलाच] (१) लुच्चा। शोहदा। गुंडा। चाँई। (२) दरिद्र। कंगाल। अनाथ।

कल्ला–संज्ञा पुं० [सं० करीर=बाँस का करैल] (१) अंकुर। कलफा। किल्ला। गोंफा।

क्रि० प्र०—उठना।—निकलना।—फूटना।

यौ०—करमकल्ला।

संज्ञा पुं० [सं० कुल्य] वह गड्ढा वा कूआँ जिसे पान के भीटे पर पान सींचने के लिये खोदते हैं।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) गाल के भीतर का अंश। जबड़ा। उ०—त्यौं बोले उमराउ निहल्ला। जम के भये कटीले कल्ला।—लाल।

यौ०—कल्लातोड़। कल्लादराज़।

मुहा०—कल्ला चलना=मुँह चलाना। खाना। जैसे, कल्ला चले बला टले। कल्ला दबाना=(१) गला दबाना। बोलने से रोकना। मुँह पकड़ना। (२) अपने सामने दूसरे को न बोलने देना। कल्ला फुलाना=(१) गाल फुलाना। खफगी या रंज मे मुँह फुलाना या किसी से बोल चाल बंद कर देना। रिसाना। रूठना। (२) घमंड से मुँह फुलाना वा बनाना। घमंड करना।

(२) जबड़े के नीचे गले तक का स्थान। जैसे, खसी का कल्ला। कल्ले का मांस।

मुहा०—कल्ले पाए=सिर और पैर का मास। कल्ला मारना=गाल बजाना वा मारना। डींग हाँकना। शेखी बघारना।

†संज्ञा पुं० [हिं० कलह] झगड़ा। तकरार। वादविवाद।

यौ०—झगड़ा कल्ला=वादविवाद।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।

कल्लातोड़–वि० [हिं० कल्ला+तोड़] (१) मुँहतोड़। प्रबल। (२) जोड़ तोड़ का। बराबरी का।

कल्लादराज़–वि० [फ़ा०] [संज्ञा कल्लादराज़ी, कल्लेदराज़ी] बढ़ बढ़ कर बात बोलनेवाला। दुर्वचन कहनेवाला। जिसकी ज़बान में लगाम न हो। मुँहज़ोर। जैसे,—वह बड़ी कल्लेदराज़ औरत है।

कल्लादराज़ी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बढ़ बढ़कर बातें करना। मुँहज़ोरी।

कल्लाना–क्रि० अ० [सं० कड् या कल्=असंज्ञा होना] (१) शरीर में चमड़े के ऊपर ही ऊपर कुछ जलन लिये हुए एक प्रकार की पीड़ा होना, जैसे थप्पड़ लगने से। (२) असह्य होना। दुःखदायी होना।

मुहा०—जी कल्लाना=चित्त को दुःख पहुँचाना। उ०—आज वे बिना खाए गए हैं, वह भला काहे को खाने पीने को पूछेगी। जैसा हमारा जी कल्लाता है, वैसा ही उसका भी थोड़े कल्लायगा।—सौ अजान एक सुजान।

कल्लू†–वि० [हिं० काला] काला कलूटा।

कल्लेदराज़–वि० दे० "कल्लादराज़"।

कल्लेदराज़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "कल्लादराज़ी"।

कल्लोल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी की लहर। तरंग। (२) मौज। उमंग। आमोद प्रमोद। क्रीड़ा।

कल्लोलिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कल्लोल करनेवाली नदी। लहराती हुई नदी।

कल्व–संज्ञा पुं० [सं०] वास्तु वा भवन-निर्माण शिल्प में द्वार के वे किनारे जो नुकीले बनाए जाते हैं।

कल्ह†–क्रि० वि० दे० "कल"।

कल्हक–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक चिड़िया जो कबूतर के बराबर होती है। इसका रंग ईंट का सा लाल होता है, केवल कंठ काला होता है, आँखें मोतीचूर होती हैं और पैर लाल होते हैं।

कल्हर*–संज्ञा पुं० दे० "कल्लर"।

कल्हरना*–क्रि० अ० [हिं० कड़ाह+ना (प्रत्य०)] भुनना। कड़ाही में तला जाना।

कल्हारना†–क्रि० स० [हिं० कड़ाह+ना (प्रत्य०)] कड़ाही में डाल कर भूनना। तलना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

क्रि० अ० [सं० कल=शोर करना] दुःख से कराहना। चिल्लाना।

कल्हार*-संज्ञा पुं० दे० "कह्लार"।

कवक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कवल। ग्रास। (२) छत्रक। कुकुरमुत्ता।

कवच-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कवची] (१) आवरण। छाल। छिलका। (२) लोहे की कड़ियों के जाल का बना हुआ पहनावा जिसे योद्धा लड़ाई के समय पहनते थे। जिरह-बकतर। सँजोया।

यौ०—कवचधर। कवचधृत। कवचधारी। कवचपाश। कवचहर।

पर्या०—तनुत्र। वर्म। दंशन। कंकटक। अजगर। जगर। जागर। कटक। योग। सन्नाह। कंचुक।

(३) तंत्र शास्त्र का एक अंग जिसमें भिन्न भिन्न मंत्रों द्वारा अपने शरीर के भिन्न भिन्न अंगों की रक्षा के लिये प्रार्थना की जाती है। लोगों का विश्वास है कि कवच का पाठ करने से उपासक समस्त बाधाओं से रक्षित रहता है। इसे कोई कोई भोजपत्र पर लिखकर तावीज़ बनाकर भी पहनते हैं। (४) तांत्रिक मंत्र 'हुँ'। हुंकार। (५) बड़ा नगाड़ा जो लड़ाई के समय बजाया जाता है। पटह। डंका। (६) पाकर का पेड़।

कवचपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र।

कवची-वि० [सं० कवचिन्] [स्त्री० कवचिनी] कवच धारण करनेवाला। कवचयुक्त।

संज्ञा पुं० (१) शिव। (२) धृतराष्ट्र का एक पुत्र।

कवन*-सर्व० वि० दे० "कौन"।

कवयी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मछली जो एक जलाशय से दूसरे जलाशय में सूखे सूखे पल्टा खाती हुई चली जाती है। सुंभा।

कवर-संज्ञा पुं० [सं० कवल] ग्रास। कौर। लुकमा। निवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कवरी] (१) केशपाश। (२) गुच्छा।

यौ०—कवरपुच्छी=मयूरी।

(३) नमक। (४) लोनापन। खटाई। (५) चितकबरा।

वि० [सं०] (१) गुथा हुआ। (२) मिला हुआ।

संज्ञा पुं० [अं०] (१) ढकना। (२) आच्छादन। बेठन। (३) पुस्तकों के ऊपर का वह कागज़ जिस पर नाम आदि छपा रहता है। (४) चिट्ठी का खाम। लिफ़ाफ़ा।

कवरना*†-क्रि० स० दे० "कौरना"।

कवरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चोटी। जूड़ा। वेणी। उ०—अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित गूँथे सुमन रसालहिं। कवरी अति कमनीय सुभग सिर राजति गौरी बालहिं।—सूर। (२) बर्बरी। बबई। बनतुलसी।

कवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कवर्गीय] क से ङ तक के अक्षरों का समूह जिनका उच्चारण कंठ से होता है।

कवल-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कवलित] (१) अन्न वा भोज्य पदार्थ की वह मात्रा जो खाने के लिये एक बार मुँह में डाली जाय। उतनी वस्तु जितनी एक बार में खाने के लिये मुँह में रक्खी जाय। कौर। ग्रास। गस्सा। (२) उतना पानी जितना मुँह साफ़ करने के लिये एक बार मुँह में लिया जाय। कुल्ली। (३) एक प्रकार की मछली। कौवा। (४) एक प्रकार की तौल। कर्ष।

† संज्ञा पुं० किनारा। कोना।

संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० कवली] (१) एक पक्षी का नाम (२) घोड़े की एक जाति का नाम। उ०—जरदा, जिरही, जाँग, सुनौची, खदे खंजन। करर, कवाहे, कवल, गिल-गिली, गुल गुलरंजन।—सूदन।

कवलग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तौल जो दवा तौलने में काम आती थी। यह मागधी मान से सोलह माशे की होती थी। यह आजकल के व्यावहारिक मान से एक तोले के बराबर होती है। कर्ष।

पर्या०—कर्ष। तिंदुक। षोडशिका। हंसपदा। सुवर्ण। उदुंबर। करमध्य। पणितल। किंचित्पणि। पणिमानिका।

कवलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कपड़े वा पत्ते की वह गद्दी जो घाव वा फोड़े के ऊपर बाँधी जाती है।

कवलित-वि० [सं०] कौर किया हुआ। खाया हुआ। भक्षित। उ०—सकुल सदन रावन सरिस कवलित काल कराल। सोच पोच अगगुन असुभ जाय जीव जंजाल।—तुलसी।

कवष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ढाल। (२) एक ऋषि का नाम। ये इलूष के पुत्र थे और इनकी माँ दासी थी। इनके बनाए मंत्र ऋग्वेद के दसवें मंडल में हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि सारस्वत प्रदेश में कुछ ऋषि यज्ञ कर रहे थे। उनकी पंक्ति में बैठकर कवष खाना पीना चाहते थे। ऋषियों ने उन्हें दासीपुत्र कहकर निकाल दिया। इससे वे उनसे क्रुद्ध होकर वहाँ से चले गए और तप करके बहुत से मंत्र रचकर उन्होंने देवताओं को प्रसन्न किया। इस पर ऋषियों ने उनकी बड़ी प्रार्थना की और उन्हें अपनी पंक्ति में ले लिया।

कवाट-संज्ञा पुं० [सं०] कपाट। किवाड़।

क़वाम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पकाकर शहद की तरह गाढ़ा किया हुआ रस। किमाम। जैसे,—सुरती का क़वाम। (२) चाशनी। शीरा।

क़वायद-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) नियम। व्यवस्था।

यौ०—क़वायद पटवारियान।

(२) व्याकरण। (३) सेना के युद्ध करने के नियम। (४) लड़नेवाले सिपाहियों की युद्ध-नियमों के अभ्यास की क्रिया।

विशेष—फ़ौज में सिपाहियों की पंक्तियाँ आगे पीछे खड़ी की जाती हैं। फिर अफ़सर सेना के नियमानुसार भिन्न भिन्न शब्द बोलता है वा बिगुल आदि से संकेत करता है। उन शब्दों और संकेतों के अनुसार सिपाही आगे बढ़ते हैं, पीछे हटते हैं, एक मुद्रा से दूसरी मुद्रा धारण करते हैं, बंदूक

भरते, तानते वा चलाते हैं, धावा करते, हटते, लेटते और बैठते हैं। इन्हीं सब क्रियाओं को कवायद कहते हैं।

क्रि० प्र०—करना।—लेना।

कवार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल। (२) एक प्रकार का ढेंक वा जलपक्षी जिसकी चोंच बहुत लंबी होती है।

कवि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काव्य करनेवाला।

यौ०—कविज्येष्ठ। कविपुत्र। कविराज। कविश्रेष्ठ।

(२) ऋषि। (३) ब्रह्मा। (४) शुक्राचार्य्य। (५) सूर्य्य। (६) उल्लू।

कविक-संज्ञा पुं० [सं०] लगाम।

संज्ञा पुं० [देश०] एक वृक्ष का नाम जो मलाया प्रायद्वीप में होता है। इसके फल गुलाब जामुन की तरह और रसीले होते हैं। बंगाल, दक्षिण भारत तथा बर्मा में भी अब इसके पेड़ लगाए जाते हैं। इसे मलाका जामरूल भी कहते हैं।

कविका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लगाम। (२) केवड़ा। (३) कवई मछली।

कविज्येष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] आदि-कवि वाल्मीकि।

कविता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मनोविकारों पर प्रभाव डालनेवाला रमणीय पद्यमय वर्णन। काव्य।

क्रि० प्र०—करना।—जोड़ना—पढ़ना।—रचना।

कविताई*-संज्ञा स्त्री० दे० "कविता"।

कवित्त-संज्ञा पुं० [सं० कवित्व] (१) कविता। काव्य। उ०—निज कवित्त केहि लाग न नीका।—तुलसी। (२) दंडक के अंतर्गत ३१ अक्षरों का एकवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में ८, ८, ८, ७ के विराम से ३१ अक्षर होते हैं। केवल अंत में गुरु होना चाहिए, शेष वर्णों के लिये लघु गुरु का कोई नियम नहीं है। जहाँ तक हो, सम वर्ण के शब्दों का प्रयोग करे तो पाठ मधुर होता है। यदि विषम वर्ण के शब्द आवें तो दो एक साथ आवें। इसे मनहरन और घनाक्षरी भी कहते हैं। उ०—कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में, क्यारिन में, कलिन कलीन किलकंत है। कहै पदमाकर परागन में, पानहू में, पातन में, पीक में, पलासन पगंत है। हार में, दिसान में, दुनी में, देस देसन में, देखो दीप दीपन में, दीपत दिगंत है। बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगर्‍यो बसंत है।

कवित्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काव्य-रचना-शक्ति। (२) काव्य का गुण।

यौ०—कवित्वशक्ति।

कविनासा*-संज्ञा स्त्री० [सं० कर्मनाशा] कर्मनाशा। उ०—कासी मग सुरसरि कविनासा। मरु मालव महिदेव गवासा।—तुलसी।

विशेष—क्रमनासा पाठ अधिक प्रसिद्ध है।

कविपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भृगु के एक पुत्र का नाम। (२) शुक्राचार्य्य।

कविराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रेष्ठ कवि। (२) भाट। (३) बंगाली वैद्यों की उपाधि।

कविराय-संज्ञा पुं० दे० "कविराज"।

कविलास*-संज्ञा पुं० [सं० कैलास] (१) कैलास। (२) स्वर्ग। उ०—सात सहस हस्ती सिंहली। जनु कविलास इरावत बली।—जायसी।

कविलासिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की वीणा।

कविशेखर-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में ताल के ६० मुख्य भेदों में से एक।

कवीठ-संज्ञा पुं० [सं० कपित्थ, प्रा० कविट्ठ] कैथा।

कवेरा†-संज्ञा पुं० [हिं० गाँव ?] [स्त्री० कवेरिन] (१) गँवार। देहाती। (२) भद्दी चाल चलन का।

कवेला-संज्ञा पुं० [अ० क़िबला] दौर की कील। दिग्दर्शक यंत्र की वह कील जिस पर सूई रहती है। (लश०)।

संज्ञा पुं० [हिं० कौवा+एला (प्रत्य०)] कौए का बच्चा।

कव्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह अन्न जो पितरों को दिया जाय। वह द्रव्य जिससे पिंड, पितृयज्ञादि किए जायँ।

विशेष—कव्य-अन्न श्रोत्रिय को देना चाहिए।

कव्यवाह-संज्ञा पुं० [सं०] वह अग्नि जिसमें पिंड से पितृयज्ञ में आहुति दी जाती है।

कश-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कशा] चाबुक।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) खिंचाव।

यौ०—कश-मकश। धुआँकश (स्टीमर)।

(२) हुक्के वा चिलम का दम। फूँक। जैसे,—दो कश हुक्का पी लें तब चलें।

क्रि० प्र०—खींचना।—मारना।—लगाना।—लेना।

कशाकु-संज्ञा पुं० [सं०] गवेधुक्। कसी।

कशकोल-संज्ञा पुं० दे० "कजकोल"।

कश-मकश-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) खींचा तानी। (२) भीड़। धक्कम धक्का। (३) आगा पीछा। सोच विचार। असमंजस। दुबधा।

कशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रस्सी। (२) कोड़ा। चाबुक।

यौ०—कशात्रय=कोड़ा मारने के तीन प्रकार।

विशेष—चाबुक मारने के तीन प्रकार कहे गए हैं। मृदु, मध्य और निष्ठुर। साधारण नटखटी पर मृदु आघात होता है और अलफ होने वा घोड़ी इत्यादि देखकर बिगड़ने पर मध्य वा निष्ठुर आघात किया जाता है। भड़कने पर गरदन पर चाबुक लगानी चाहिए, घोड़ी देखकर हिनहिनाने वा बिगड़ने पर कंधे पर चाबुक मारनी चाहिए।

कशारि–संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्मकांड में यज्ञ की उत्तर वेदी जिस पर अग्नि जलाई जाती है और कभी कभी अग्निकुंड भी बनाया जाता है।

कशिपु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तकिया। (२) बिछौना। आसन। (३) पहनावा। कपड़ा। (४) अन्न। (५) भात।

यौ०—हिरण्यकशिपु।

कशिश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] आकर्षण। खिंचाव।

कशीदपा–संज्ञा पुं० [फ़ा० कशीद=खींचना+पा=पैर] कुश्ती का एक पेंच जिसमें विपक्षी की गरदन पर बायाँ हाथ रखकर बाएँ पंजे से उसका दाहिना मोज़ा अपनी तरफ़ को खींच और उसे दाहिने हाथ से पकड़कर गिरा देते हैं।

कशीदा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] कपड़े पर सूई और तागे से निकला हुआ काम। तागे भरकर कपड़े में निकाले हुए बेल बूटे। गुलकारी का काम। कशीदा कई प्रकार का होता है। जैसे—सादा, गदारीदार, तिनकलिया, कशीदार, मुर्रीदार, पेंचदार, ज़ंजीरेदार, गुलदार इत्यादि।

क्रि० प्र०—काढ़ना।—निकालना।

कशेरुक–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "कसेरू"।

कशेरुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पीठ की लंबी हड्डी। रीढ़।

कशेरू–संज्ञा पुं० दे० "कसेरू"।

कश्चित्–वि० [सं०] कोई। कोई एक।

सर्व० [सं०] कोई (व्यक्ति)।

कश्ती–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) नौका। नाव। (२) पान, मिठाई वा बायना बाँटने के लिये धातु वा काठ का बना हुआ एक छिछला बर्तन। यह बर्तन लगभग थाली के बराबर और कुछ लंबाई लिए होता है। (३) शतरंज का मोहरा।

कश्मल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोह। मूर्च्छा। बेहोशी। (२) पाप। अघ। (२) अंबरबारी।

वि० [सं०] [स्त्री० कश्मला] पापयुक्त। मैला। गंदा।

कश्मीर–संज्ञा पुं० [सं०] पंजाब के उत्तर हिमालय से घिरा हुआ एक पहाड़ी प्रदेश जो प्राकृतिक सौंदर्य्य और उर्वरता के लिये संसार में प्रसिद्ध है। यहाँ अंगूर, मेव, नाशपाती, अनार, बादाम आदि फल बहुतायत से होते हैं। यहाँ बहुत सी झीलें हैं जिनमें डल प्रसिद्ध है। यहाँ के निवासी भी बहुत भोले और सुंदर होते हैं। केसर इसी देश में होता है। यहाँ के शाल, दुशाले और लोइयाँ बहुत काल से प्रसिद्ध हैं। प्राचीन काल में यह संस्कृत-विद्या-पीठ था। झेलम कश्मीर होकर ही पंजाब की ओर बही है। ऐसा प्रसिद्ध है कि यहाँ पहले जल ही जल था; कश्यप ऋषि ने बारामूला के मार्ग से सारा जल झेलम में निकाल दिया और यह अनूठा प्रदेश निकल आया। इसकी राजधानी श्रीनगर है जो समथल भूमि पर बसा हुआ है

कश्मीरज–संज्ञा पुं० [सं०] केसर।

कश्मीरी–वि० [हिं०कश्मीर+ई (प्रत्य०)] कश्मीर का। कश्मीर देश में उत्पन्न।

संज्ञा स्त्री० (१) कश्मीर देश की भाषा। (२) एक प्रकार की चटनी। इसके बनाने की विधि यों है—अदरक को छील कर छोटे छोटे टुकड़े कर लेते हैं। तदनंतर शक्कर, मिर्च, शीतलचीनी, केसर, इलायची, जावित्री सौंफ़ और ज़ीरा आदि मिला देते हैं। फिर अंदाज से नमक और सिरका डाल कर रख देते हैं।

संज्ञा पुं० [हिं० कश्मीर] [स्त्री० कश्मीरिन] (१) कश्मीर देश का निवासी। (२) कश्मीर देश का घोड़ा।

कश्य–संज्ञा स्त्री० [सं०] शराब। मदिरा।

कश्यप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वैदिक-कालीन ऋषि का नाम। ऋग्वेद में इनके बनाए हुए अनेक मंत्र हैं। (२) एक प्रजापति का नाम। (३) कछुआ। कच्छप। (४) एक प्रकार की मछली। (५) एक प्रकार का मृग। (६) सप्तर्षि मंडल के एक तारे का नाम।

वि० [सं०] (१) काले दाँतवाला। (२) मद्यप। शराबी।

कष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सान। (२) कसौटी (पत्थर)।

यौ०—कषपट्टिका।

(३) परीक्षा। जाँच।

कषा–संज्ञा पुं० दे० "कशा"।

कषाय–वि० [सं०] (१) कसैला। बाकठ।

विशेष—यह छः रसों में है।

(२) सुगंधित। खुशबूदार। (३) रँगा हुआ। (४) गेरू के रंग का। गैरिक।

यौ०—कषायवस्त्र।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) कसैली वस्तु। (२) गोंद। वृक्ष का निर्यास। (३) काथ। गाढ़ा रस। (४) सोनापाठा का पेड़। श्योनाक वृक्ष। (५) क्रोध-लोभादि विकार (जैन)। जैसे,—कषाय दोष। (६) कलियुग।

कष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्लेश। पीड़ा। वेदना। तकलीफ़। व्यथा। दुःख।

क्रि० प्र०—उठाना।—करना।—झेलना।—देना।—भोगना।—सहना।

(२) संकट। आपत्ति। मुसीबत।

कष्टकल्पना–संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुत खींच खाँच की और कठिनता से ठीक घटनेवाली युक्ति। विचारों का घुमाव फिराव।

कष्टसाध्य–वि० [सं०] जिसका साधन वा करना कठिन हो। मुश्किल से होनेवाला। जैसे,—कष्टसाध्य कार्य्य।

कष्टी–वि० स्त्री० [सं० कष्ट] प्रसववेदना से पीड़ित (स्त्री)।

कस–संज्ञा पुं० [सं० कष] (१) परीक्षा। कसौटी। जाँच। उ०—जौ मन लागै रामचरन अस। देह, गेह, सुत, बित, कलत्र

महँ मगन होत बिनु जतन किए जस । द्वंद रहित, गतमान ज्ञान रत, विषय विरत खटाइ नाना रस ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—पर खींचना वा रखना ।

(२) तलवार की लचक जिससे उसकी उत्तमता की परख होती है ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० कसना] वह रस्सी जिससे कोई वस्तु कस कर बाँधी जाय । जैसे—गाड़ी की कस । मोट वा पुरवट की कस ।

संज्ञा पुं० [हिं० कसना] (१) बल । ज़ोर । उ०—रहि न सक्यो कस करि रह्यो बस करि लीनी मार । भेद दुसार कियो हियो तन दुति भेदी सार ।—बिहारी ।

यौ०—कसबल ।

(२) दबाव । वश । क़ाबू । इख़्तियार । जैसे,—(क) वह आदमी हमारे कस का नहीं है । (ख) यह बात हमारे कस की होती तब तो ?

मुहा०—कस का=वश का । अधीन । जिस पर अपना इख़्तियार हो । कस में करना वा रखना=वश में रखना । अधीन रखना । कस की गोदी=कुश्ती का एक पेंच ।

विशेष—जब विपक्षी पेट में घुस आता है, तब खिलाड़ी अपना एक हाथ उसकी बग़ल के नीचे से ले जाकर उसकी गर्दन पर इस प्रकार चढ़ाता है कि दोनों की काँखें मिल जाती हैं । फिर वह दूसरे हाथ से विपक्षी का आगे बढ़ा हुआ पैर और (उसी ओर का) हाथ खींचकर गर्दन की ओर ले जाता है और झोंका देकर चित करता है ।

(३) रोक । अवरोध ।

मुहा०—कस में कर रखना=रोक रखना । दबाना । उ०—पर तिय दोष पुराण सुनि हँसि मुलकी सुखदानि । कस करि राखी मिश्रहूँ मुख आई मुसकानि ।—बिहारी ।

संज्ञा पुं० [सं० कषाय, हिं० कसाव] (१) 'कसाव' का संक्षिप्त रूप । (२) निकाला हुआ अर्क़ । (३) सार । तत्व ।

†*क्रि० वि० (१) कैसे । क्योंकर । (२) क्यों । उ०—सो काशी सेइय कस न ।—तुलसी ।

कसई—संज्ञा स्त्री० दे० "कसी" वा "केसई" ।

कसक—संज्ञा स्त्री० [सं० कष्=आघात, चोट] (१) वह पीड़ा जो किसी चोट के कारण उसके अच्छे हो जाने पर भी रह रह कर उठे । मीठा मीठा दर्द । साल । टीस । उ०—कसक बनी तब तें रहे बँधत न ऊपर खोट । दृग अनियारन की लगी जब ते हिय में चोट ।—रसनिधि ।

क्रि० प्र०—आना ।—होना ।

(२) बहुत दिन का मन में रक्खा हुआ द्वेष । पुराना बैर ।

मुहा०—कसक निकालना वा काढ़ना=पुराने बैर का बदला लेना ।

(३) हौसला । अरमान । अभिलाषा ।

मुहा०—कसक मिटाना वा निकालना=हौसला पूरा करना । (४) हमदर्दी । सहानुभूति । पर-पीड़ा का दुःख । उ०—तिन सों चाहत दादि तैं मन पशु कौन हिसाब । छुरी चलावत हैं गरे जे बेकसक कसाब ।—रसनिधि ।

विशेष—इस अर्थ में यह संबंध कारक के साथ आता है ।

कसकना—क्रि० अ० [हिं० कसक] दर्द करना । सालना । टीसना । उ०—(क) कमठ कठिन पीठ घट्ठा परो मंदर को आयो सोई काम पै करेजो कसकतु है ।—तुलसी । (ख) काहे को कलह नाध्यो, दारुण दाँवरि बाँध्यो, कठिन लकुट लै त्रास्यो मेरो भैया । नाहीं कसकत मन निरखि कोमल तन तनिक दधि काज भली री तू मैया !—सूर । (ग) नासा मोरि नचाइ दृग करी कका की सौंह । काँटे लौं कसकत हिये गड़ी कटीली भौंह ।—बिहारी । (घ) नंदकुमारहिं देखि दुखी छतिया कसकी न कसाइन तेरी ।—पद्माकर ।

कसकुट—संज्ञा पुं० [हिं० काँस+कुट=टुकड़ा] एक मिश्रित धातु जो ताँबे और जस्ते के बराबर भाग से मिलाकर बनाई जाती है । इस धातु से बटलोई, लोटे, कटोरे आदि बनते हैं । इसके बर्तनों में खट्टे पदार्थ बिगड़कर ज़हरीले हो जाते हैं । भरत । काँसा ।

कसगर—संज्ञा पुं० [फ़ा० कासागर] मुसलमानों की एक जाति जो मिट्टी के छोटे छोटे बर्तन बनाती है ।

कसन—संज्ञा स्त्री० [हिं० कसना] (१) कसने की क्रिया । (२) कसने की दशा । कसने का ढंग । जैसे,—इस बोरे की कसन ढीली पड़ गई है । (३) वह रस्सी जिससे किसी वस्तु को बाँधकर कसते हैं । (४) घोड़े की तंग ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कषन] दुःख । क्लेश । तप । उ०—महा तपन से जेहि कारन मुनि साधत तन मन कसनि ।—काष्ठजिह्वा ।

कसनई—संज्ञा स्त्री० [सं० कृष्ण] एक चिड़िया जिसके डैने काले, छाती और पीठ गुलाबी और चोंच लाल रंग की होती है ।

कसना—क्रि० स० [सं० कर्षण, प्रा० कस्सण] (१) किसी बंधन को दृढ़ करने के लिये उसकी डोरी आदि को खींचना । जकड़ने के लिये तानना । जैसे,—(क) फ़ीते को कस कर बाँध दो । (ख) पलंग की डोरी कस दो । (२) बंधन को खींच कर बँधी हुई वस्तु को अधिक दबाना । जैसे,—बोझ को थोड़ा और कस दो ।

मुहा०—कसकर=(१) खींचकर । जोर से । बलपूर्वक । जैसे,—कसकर चार तमाचे लगाओ, सीधा हो जाय ।—उ०—दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत । हौं कसि कसि कै रिस करौं ये निरखे हँसि देत । (२) पूरा पूरा । बहुत अधिक । जैसे, —(क) कसकर तीन कोस चलना । (ख) कसकर दाम लेना । कसा=पूरा पूरा । बहुत अधिक । जैसे—कसा कोस, कसा दाम । कसा तौलना=कम तौलना । तौल में कम देना ।

(३) जकड़कर बाँधना । जकड़ना । बाँधना । जैसे—पेटी

कसना। उ०—कटि पटपीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा।—तुलसी। (४) पुरज़ों को दृढ़ करके बैठाना। जैसे—पेंच कसना। (५) साज रखकर सवारी तैयार करना। जैसे—घोड़ा कसना, हाथी कसना, गाड़ी कसना।

मुहा०—कसा कसाया=चलने के लिये बिलकुल तैयार। जैसे,—हम तो तुम्हारे आसरे में कसे कसाए बैठे हैं।

(६) ठूँस ठूँसकर भरना। बहुत अधिक भरना। जैसे,—(क) संदूक को कपड़ों से कस दो। (ख) संदूक़ में सब कपड़े कस दो। (ग) बंदूक़ कसना=भरना।

*क्रि० अ० (१) बंधन का खिंचना जिससे वह अधिक जकड़ जाय। जकड़ जाना। जैसे,—कुत्ते का पट्टा कसा है, थोड़ा ढीला कर दो। (२) किसी लपेटने वा पहनने की वस्तु का तंग होना। जैसे,—कुरता कसता है। (३) बंधन के तनने वा जकड़ने से बँधी हुई वस्तु का अधिक दब जाना। जैसे,—कुत्ते का गला कसता है, पट्टा ढीला कर दो। (४) बँधना। जैसे,—बिस्तर इत्यादि सब कस गया, चलिए। (५) साज रखकर सवारी का तैयार होना। जैसे,—गाड़ी कसी है, चलिए। (६) ख़ूब भर जाना। जैसे,—(क) संदूक़ कपड़ों से कसा है। (ख) पेट ख़ूब कसा है, कुछ न खायँगे।

क्रि० स० [सं० कषण] (१) परखने के लिये सोने आदि धातुओं को कसौटी पर घिसना। कसौटी पर चढ़ाना। उ०—कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी।—जायसी। (२) खरे खोटे की पहचान करना। परखना। जाँचना। आज़माना। उ०—सूर प्रभु हँसत, अति प्रीति उर में बसत, इंद्र को कसत हरि जगतधाता।—सूर। (३) तलवार को लचाकर उसके लोहे की परीक्षा करना। (४) दूध की परीक्षा के लिये उसे आँच पर गाढ़ा करना। (५) दूध को गाढ़ा करके खोया बनाना। जैसे—कुंदा कसना। (६) घी में भूनना। तलना।

क्रि० स० [सं० कषण=कष्ट देना] क्लेश देना। कष्ट पहुँचाना। उ०—(क) अत्रि आदि मुनिवर बहु बसहीं। करहिं जोग, जप, तप तन कसहीं।—तुलसी। (ख) राम लखन सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तन कसहीं।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [स्त्री० कसनी] (१) जिससे कोई वस्तु कसी जाय। बँधना। जैसे—बिस्तर का कसना। पलंग का कसना। (२) पिटारी वा तकिए आदि का ग़िलाफ़। बेठन। (३) एक प्रकार का ज़हरीला मकड़ा।

कसनि*†-संज्ञा स्त्री० दे० "कसन"।

कसनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कसना] (१) रस्सी जिससे कोई वस्तु बाँधी जाय। (२) वह कपड़ा जिसमें किसी चीज़ को कस कर बाँधते हैं। बेठन। ग़िलाफ़। (३) कंचुकी। अँगिया। उ०—हुलसे कुच कसनी बँद टूटी। हुलसे भुज बलियाँ कर फूटी।—जायसी। (४) कसौटी। (५) परीक्षा। परख। जाँच। उ०—(क) या में कसनी भक्तन केरी। लेहु न नाथ अरज यह मेरी।—विश्राम। (ख) साह सिकंदर कसनी लीन्हा बरत अगिन में डारी। मस्ता हाथी आनि झुकाए कठिन कला भइ भारी—कबीर।

क्रि० प्र०—लेना।—देना।

संज्ञा स्त्री० [सं० कर्षणी] एक प्रकार की हथौड़ी जिससे कसेरे बर्तनों का गला बनाते हैं। हथौड़ी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० कसाव] कसाव का पुट। कसैली वस्तु में डुबाने की क्रिया। उ०—सतगुरु तो ऐसा मिला ताते लोह लोहार। कसनी दै कंचन किया ताय लिया ततकार।—कबीर।

कसपत-संज्ञा पुं० [देश०] (१) काले रंग का कूट्टू। काला फाफर। (२) कूट्टू का पौधा।

कसब-संज्ञा पुं० [अ०] (१) परिश्रम। मेहनत। पेशा।

क्रि० प्र०—उठाना।

(२) छिनाला। व्यभिचार। उ०—बहुर कुमार अवस्था आई। कसब करन लाग्यो हरखाई।—रघुनाथ।

क्रि० प्र०—करना।—कराना।—कमाना।—कमवाना।

कसबल-संज्ञा पुं० [हिं० कस+बल] (१) शक्ति। सामर्थ्य। बल। ज़ोर। ताक़त। (२) साहस। हिम्मत।

क़सबा-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० क़सबाती] बड़ा गाँव। साधारण गाँव से बड़ी और शहर से छोटी बस्ती।

क़सबाती-वि० [अ० क़सबा] (१) क़सबे का। जो क़सबे में हो। जैसे,—क़सबाती मदरसा। (२) [स्त्री० क़सबातिन] क़सबे का रहनेवाला।

कसबिन-संज्ञा स्त्री० दे० "कसबी"।

कसबी-संज्ञा स्त्री० [अ० कसब] (१) वेश्या। रंडी। पतुरिया। (२) व्यभिचारिणी स्त्री। छिनाल औरत।

यौ०—कसबीख़ाना।

क़सम-संज्ञा स्त्री० [अ०] शपथ। सौगंध।

क्रि० प्र०—उठाना।—खाना।—खिलाना।

मुहा०—क़सम उतारना=(१) शपथ का प्रभाव दूर करना। खाई वा दिलाई हुई शपथ के अनुसार न चलने पर उसके दोष का परिहार करना। (खेल में किसी लड़के पर जब दूसरा लड़का शपथ वा क़सम रख देता है तब वह कुछ वाक्य कहता है जिससे यह समझता है कि शपथ का प्रभाव दूर हो जायगा।) (२) किसी काम को नाम मात्र के लिये करना। जैसे,—क़सम उतारने को वे हमारे यहाँ भी होते गए थे। क़सम देना, दिलाना, रखाना=किसी को किसी शपथ द्वारा बाध्य करना। जैसे,—हमारे सिर की क़सम, तुम हमारे यहाँ आज आओ। (इस उदाहरण में क़सम दी गई है।) क़सम

लेना=क़सम खिलाना। शपथ उठाने के लिये बाध्य करना। प्रतिज्ञा कराना। जैसे,—तुम अपने सिर की क़सम खाओ कि वहाँ न जाओगे। (इस उदाहरण में क़सम ली गई है।) किसी बात की क़सम खाना=(१) किसी बात के करने की प्रतिज्ञा करना। (२) किसी बात के न करने की प्रतिज्ञा करना। जैसे,—मैंने आज से वहाँ जाने की तो क़सम खाई है। क़सम तोड़ना=शपथ खाकर किसी कार्य्य को पूरा न करना। प्रतिज्ञा भंग करना। क़सम खाने को=नाम मात्र को। जैसे,—(क) हमारे पास क़सम खाने को एक पैसा नहीं है। (ख) क़सम खाने को तुम भी पुस्तक हाथ में ले लो।

यौ०—क़समा-कसमी=परस्पर प्रतिज्ञा।

कसमसाना-क्रि० अ० [अनु०] (१) एक ही स्थान पर बहुत सी वस्तुओं वा व्यक्तियों का एक दूसरे से रगड़ खाते हुए हिलना डोलना। खलबलाना। कुलबुलाना। उ०—(क) भीड़ के मारे लोग कसमसा रहे हैं। (ख) यहि के बीच निसाचर अनी। कसमसाति आई अति घनी।—तुलसी। (ग) भए क्रुद्ध युद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोण शायक कसमसे।—तुलसी। (२) उकताकर हिलना डोलना। ऊब ऊबकर इधर से उधर होना। जैसे,—ये बड़ी देर से यहाँ बैठे हैं; इसी से अब चलने के लिये कसमसा रहे हैं। (३) विचलित होना। घबराना। बेचैन होना। (४) आगा पीछा करना। हिचकना।

कसमसाहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० कसमसाना] (१) कुलबुलाहट। जुंबिश। डोलाव। हिलाव। (२) बेचैनी। व्याकुलता। घबराहट।

कसमसी-संज्ञा स्त्री० दे० "कसमसाहट"।

कसर-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कमी। न्यूनता। त्रुटि। उ०—कसर न मुझमें कुछ रही असर न अब तक तोहिं। आइ भावते दीजिए वेगि सुदरसन मोहिं।—रसनिधि।

क्रि० प्र०—आना।—करना।—पड़ना।—रखना।—रहना।—होना।

मुहा०—कसर करना, छोड़ना, रखना=त्रुटि करना। कुछ बाक़ी छोड़ना। जैसे,—उन्होंने मेरी बुराई करने में कोई कसर न की। कसर निकालना=कमी पूरी करना।

(२) द्वेष। बैर। मनमोटाव। जैसे,—वे हम से मन में कुछ कसर रखते हैं।

क्रि० प्र०—रखना।

मुहा०—कसर निकालना वा काढ़ना=बदला लेना। (दो आदमियों के बीच) कसर पड़ना=(दो आदमियों के बीच) मनमोटाव होना।

(३) टोटा। घाटा। हानि। जैसे,—इस माल के बेचने में हमें दो सौ की कसर पड़ती है।

क्रि० प्र०—पड़ना।—होना।

मुहा०—कसर खाना वा सहना=हानि उठाना। घाटा सहना। कसर देना वा भरना=घाटा पूरा करना।

(४) नुक़्स। दोष। विकार। जैसे,—उनके पेट में कुछ कसर है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(५) किसी वस्तु के सूखने वा उसमें से कूड़ा करकट निकलने से जो कमी हो। जैसे,—१० सेर गेहूँ में से १ सेर तो कसर गई।

क्रि० प्र०—जाना।

संज्ञा पुं० [देश०] कुसुम वा बर्रे का पौधा।

कसरत-संज्ञा स्त्री० [अ०] [वि० कसरती] (१) शरीर को पुष्ट और बलवान् बनाने के लिये दंड, बैठक आदि परिश्रम का काम। व्यायाम। मेहनत।

क्रि० प्र०—करना।

संज्ञा स्त्री० [अ०] अधिकता। बहुतायत। ज़्यादती।

यौ०—कसरत-राय=बहुमत।

कसरती-वि० [अ० कसरत] (१) कसरत करनेवाला। जैसे—कसरती जवान। (२) कसरत से पुष्ट और बलवान् बनाया हुआ। जैसे—कसरती बदन।

कसरवानी-संज्ञा पुं० [सं० कांस्यवणिक] बनियों की एक जाति।

कसरहट्टा-संज्ञा पुं० [हिं० कसेरा+हट्ट वा हाट] कसेरों का बाज़ार जहाँ बरतन बनते और बिकते हैं।

कसली-संज्ञा स्त्री० [सं० कष्=खोदना] छोटा फावड़ा जिसकी धार पतली होती है।

कसवाना-क्रि० स० [हिं० कसना का प्रे०] कसने में प्रवृत्त करना। कसने का काम कराना।

कसवार-संज्ञा पुं० [सं० कोशकार] एक प्रकार की ऊख जो डेढ़ इंच के लगभग मोटी होती है और जिसका छिलका बादामी और कड़ा होता है। इसके भीतर के गूदे में रस अधिक और रेशे कम होते हैं। यह अधिकतर चूसने के काम में आती है। इसे कुसियार भी कहते हैं।

कसहँड़-संज्ञा पुं० [हिं० काँसा+हंडा] टूटे फूटे काँसे के बरतनों के टुकड़े।

कसहँड़ा-संज्ञा पुं० दे० "कसहँड़ी"।

कसहँड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० काँसा+हाँडी] काँसे वा पीतल का एक बरतन जिसका मुँह चौड़ा होता है। यह खाना पकाने या पानी रखने के काम में आता है।

क़साई-संज्ञा पुं० [अ० क़स्साब] [स्त्री० कसाइन] (१) वधिक। घातक। (२) गोघातक। बूचड़।

मुहा०—क़साई के खूँटे बँधना=निष्ठुर के पाले पड़ना।

यौ०—कसाई-बाड़ा।

वि० निर्दय । बेरहम । निष्ठुर । उ०—नंदकुमारहिं देखि दुखो छतिया कसकी न कसाइन तेरी ।—पद्माकर ।

कसाना–क्रि० अ० [हिं० काँसा वा कसाव] (१) कसैला हो जाना । काँसे के योग से खट्टी चीज़ का बिगड़ जाना । जैसे,—इस बरतन में दही कसा गया है ।

विशेष—जब खट्टी चीज़ काँसे के बरतन में देर तक रक्खी जाती है, तब उसका स्वाद बिगड़कर कसैला हो जाता है । ऐसी बिगड़ी हुई चीज़ के खाने से वमन होता या जी मचलाता है । (२) स्वाद में कसैला लगना । जैसे, —कच्चा अमरूत कसाता है ।

क्रि० स० [हिं० कसना का प्रे०] कसवाना । जैसे,—घोड़ा कसवा लाओ ।

कसार–संज्ञा पुं० [सं० कृसर] चीनी मिला हुआ भुना आटा व सूजी । पँजीरी ।

कसाला–संज्ञा पुं० [सं० कष=पीड़ा, दुःख] (१) कष्ट । तकलीफ़ । उ०—कहै ठाकुर कासों कहा कहिये हमें प्रीति करे के कसाले परे ।—ठाकुर ।

क्रि० प्र०—उठाना ।—करना ।—खींचना ।—झेलना ।—पड़ना ।—सहना ।

(२) कठिन परिश्रम । श्रम । मेहनत । उ०—करत सुतप बीते बहु काला । पुत्र होन हित कियो कसाला ।—रघुराज ।

संज्ञा पुं० [हिं० कसाव] खटाई जिसमें सोनार गहना साफ़ करते हैं ।

कसाव–संज्ञा पुं० [सं० कषाय] कसैलापन । जैसे,—कढ़ी में कसाव आ गया है ।

क्रि० प्र०—आना ।—पड़ना ।—होना ।

संज्ञा पुं० [हिं० कसना] कसने का भाव । खिंचाव । तनाव ।

कसावट–संज्ञा स्त्री० [हिं० कसना] कसने का भाव । तनाव । खिंचावट ।

कसावड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० कसाई] कसाई ।

कसिया–संज्ञा स्त्री० [देश०] भूरे रंग की एक चिड़िया जो राजपूताने और पंजाब को छोड़ सारे भारतवर्ष में पाई जाती है । यह पेड़ों की डालियों में बहुत ऊँचाई पर घोंसला बनाती और पीले रंग के अंडे देती है ।

कसियाना†–क्रि० अ० [हिं० कस=कसाव] कसाव-युक्त होना । ताँबे वा पीतल के बरतन में रहने के कारण कसैला होना ।

कसी–संज्ञा स्त्री० [सं० कशा=रस्सी] (१) पृथिवी नापने की एक रस्सी जो दो क़दम वा ४९½ इंच की होती है ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कषण=खरोचना, खोदना] हल की कुसी । लांगूल । फाल ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कशकु] एक पौधा जिसे संस्कृत में गवेधुक और कशकु कहते हैं । वैदिक काल में यज्ञों में इसके चरु का प्रयोग होता था । उस समय इसकी खेती भी होती थी । यद्यपि आज कल मध्य प्रदेश, शिकम, आसाम और बरमा की जंगली जातियों के अतिरिक्त इसकी खेती कोई नहीं करता, फिर भी यह समस्त भारत, चीन, जापान, बरमा, मलाया आदि देशों में वन्य अवस्था में मिलती है । इसकी कई जातियाँ हैं, पर रंग के भेद से इसके प्रायः दो भेद होते हैं । एक सफ़ेद रंग की, दूसरी मटमैली व स्याही लिए हुए होती है । यह वर्षा ऋतु में उगती है । इसको जड़ में दो तीन बार डालियाँ निकलती हैं । इसके फल गोल, लंबोतरे और एक ओर नुकीले होते हैं । इनके बीच सुगमता से छेद हो सकता है । छिलका इनका कड़ा और चिकना होता है । छिलके के भीतर सफ़ेद रंग की गिरी होती है जिसके आटे की रोटी ग़रीब लोग खाते हैं । इसे भूनकर सत्तू भी बनाते हैं । छिलका उतर जाने पर इसकी गिरी के टुकड़ों को चावल के साथ मिलाकर भात की तरह उबालकर खाते हैं । यह खाने में स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक होती है । जापान आदि में इसके माँवे से एक प्रकार का मद्य भी बनाया जाता है । इसका बीज औषध के काम आता है । बंबई में इसे कसई बीज कहते हैं । इसके दानों को गूँथकर माला बनाई जाती है । नैपाल के थारू इसके बीज को गूँथ कर टोकरों की झालर बनाते हैं ।

पर्या०—कौचिल्ला । केस्सी । कसेई ।

कसीदा–संज्ञा पुं० दे० "कशीदा" ।

क़सीदा–संज्ञा पुं० [अ०] उर्दू वा फ़ारसी भाषा की एक प्रकार की कविता, जिसमें प्रायः किसी की स्तुति वा निंदा की जाती है । इस कविता में १७ पंक्ति से कम न हो, अधिक का कोई नियम नहीं है ।

कसीस–संज्ञा पुं० [सं० कासीस] लोहे का एक प्रकार का विकार जो खानों में मिलता है । यह दो प्रकार का होता है । एक हरा जिसे 'धातु कसीस' अथवा हरा वा हीरा कसीस कहते हैं, दूसरा पीला जिसे 'पांशु' वा 'पुष्प कासीस' कहते हैं । कसैली वस्तु के साथ मिलने से कसीस काला रंग उत्पन्न करता है; अतः यह रँगाई के काम में बहुत आता है । तेज़ाब में घुले हुए सोने को अलग करने के लिए हीरा कसीस बड़े काम का है । वैद्यक के अनुसार कसीस शीतल, कसैला, नेत्रों को हितकारी, तथा विष, कोढ़, कृमि और खुजली को दूर करनेवाला है ।

कसून–संज्ञा पुं० [देश०] कंजी आँख का घोड़ा । सुलेमानी घोड़ा ।

कसूमर–संज्ञा पुं० दे० "कुसुम" ।

क़सूर–संज्ञा पुं० [अ०] अपराध । दोष । ख़ता ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

यौ०—क़सूरमंद । क़सूरवार । बेक़सूर ।

क़सूरमंद-वि० [फ़ा०] दोषी । अपराधी ।

क़सूरवार-वि० [फ़ा०] दोषी । अपराधी ।

कसेरहट्टा-संज्ञा पुं० दे० "कसरहट्टा" ।

कसेरा-संज्ञा पुं० [हिं० काँसा+एरा (प्रत्य०)] [स्त्री० कसेरिन] काँसे, फूल आदि के बरतन ढालने और बेचनेवाला ।

यौ०—कसेरहट्टा या कसरहट्टा ।

कसेरू-संज्ञा पुं० [सं० कशेरू] एक प्रकार के मोथे की जड़ जो तालों और झीलों के किनारे मिलती है। यह जड़ गोल गाँठ की तरह होती है और इसके काले छिलके पर काले रोएँ वा बाल होते हैं। कसेरू खाने में मीठा और ठंढा होता है। फागुन में यह तैयार हो जाता और असाढ़ तक मिलता है। सिंहापुर का कसेरू अच्छा होता है। कसेरू के पौधे को कहीं कहीं गोंदला भी कहते हैं।

कसैया*†-संज्ञा पुं० [हिं० कसना] (१) कसनेवाला । जकड़कर बाँधनेवाला । (२) परखनेवाला । जाँचनेवाला । पारखी ।

कसैला-वि० [हिं० कसाव+ऐला (प्रत्य०)] [स्त्री० कसैली] कषाय स्वादवाला । जिसमें कसाव हो । जिसके खाने से जीभ में एक प्रकार की ऐंठन वा संकोच मालूम हो । जैसे—आँवला, हड़, बहेड़ा, सुपारी आदि ।

विशेष—कसैला छः रसों में से एक है। कसैली वस्तुओं के उबालने से प्रायः काला रंग निकलता है।

कसैलापन-संज्ञा पुं० [हिं० कसैला+पन (प्रत्य०)] कसैले का भाव।

कसैली†-संज्ञा स्त्री० [हिं० कसैला] सुपारी ।

कसोरा-संज्ञा पुं० [हिं० काँसा+ओरा (प्रत्य०)] (१) कटोरा । (२) मिट्टी का प्याला ।

कसौंजा-संज्ञा पुं० [सं० कासमर्द, पा० कासमद्द] एक पौधा जो बरसात में उगता है और बहुत बढ़ने पर आदमी के बराबर ऊँचा होता है। पत्तियाँ इसकी एक सींके में आमने सामने लगती हैं, और चौड़ी तथा नुकीली होती हैं। जाड़े के दिनों में इसमें चकवँड़ की तरह के फूल लगते हैं। ६-७ अंगुल लंबी, चिपटी फलियाँ लगती हैं। फलियों के भीतर बीज भरे रहते हैं, जो एक ओर कुछ नुकीले होते हैं। लाल कसौंजा सदाबहार होता है और इसकी पत्तियाँ गहरे हरे रंग की कुछ ललाई लिए होती हैं तथा फूल का रंग भी कुछ ललाई लिए होता है। कसौंजे का पौधा चकवड़ के पौधे से बहुत कुछ मिलता जुलता है। भेद केवल यही है कि इसके पत्ते नुकीले होते हैं और चकवड़ के गोल, इसकी फली चौड़ी और बीज नुकीले और कुछ चिपटे होते हैं। पर चकवड़ की फली पतली और गोल होती है जिसके भीतर उर्द की तरह के दाने होते हैं। यह कडुआ, गरम, कफ़वात-नाशक और खाँसी दूर करनेवाला होता है। कोई कोई इसका साग भी खाते हैं। लाल कसौंजे की पत्ती और बीज बवासीर की दवा के काम आते हैं।

पर्या०—कासमर्द । अरिमर्द । कासारि । कर्कश । कालकंत । काल । कनक ।

कसौंजी-संज्ञा स्त्री० दे० "कसौंजा" ।

कसौंदा-संज्ञा पुं० दे० "कसौंजा" ।

कसौंदी-संज्ञा स्त्री० दे० "कसौंजा" ।

कसौटी-संज्ञा स्त्री० [सं० कषपट्टी] (१) एक प्रकार का काला पत्थर जिस पर रगड़ कर सोने की परख की जाती है। शालिग्राम इसी पत्थर के होते हैं। कसौटी के खरल भी बनते हैं।

क्रि० प्र०—पर कसना । चढ़ाना ।—रखना ।—लगाना ।

(२) परीक्षा । जाँच । परख । जैसे,—विपत्ति ही धैर्य्य की कसौटी है।

कसौली-संज्ञा पुं० शिमले के पास ६००० फुट की ऊँचाई पर पहाड़ में एक स्थान जहाँ कुत्ते, स्यार आदि के विष की दवा की जाती है।

कस्तरी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कॉसा] मिट्टी का चौड़े मुँह का एक बर्तन जिसमें दूध पकाया और रक्खा जाता है।

कस्तूर-संज्ञा पुं० [सं० कस्तूरी] (१) कस्तूरी मृग । वह मृग जिसकी नाभि से कस्तूरी निकलती है। (२) एक सुगंधित पदार्थ जो बीवर नामक जंतु की नाभि से निकलता है।

कस्तूरा-संज्ञा पुं० [सं० कस्तूरी] कस्तूरी मृग ।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) जहाज़ के तख़्तों की संधि वा जोड़। (२) वह सीप जिससे मोती निकलता है। (३) एक चिड़िया जिसका रंग भूरा, पेट कुछ सफ़ेदी लिए तथा पैर और चोंच पीले होते हैं। यह पक्षी झुंडों में रहना पसंद करता है। यह पहाड़ी देशों में कश्मीर से आसाम तक पाया जाता है और अच्छा बोलता है। (४) एक ओषधि जो पोर्ट ब्लेयर के पहाड़ों की चट्टानों से खुरचकर निकाली जाती है। यह दवा बहुत बलकारक होती है। दूध के साथ दो रत्ती भर खाई जाती है। लोग ऐसा मानते हैं कि यह अबाबील चिड़िया के मुँह की फेन है।

कस्तूरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।

कस्तूरिया-संज्ञा पुं० [हिं० कस्तूरी] कस्तूरी मृग ।

वि० (१) कस्तूरीवाला । कस्तूरी-मिश्रित । (२) कस्तूरी के रंग का । मुश्की ।

कस्तूरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक सुगंधित द्रव्य । यह एक प्रकार के मृग से निकलता है जो हिमालय पर गिलगित से आसाम तक ८००० से १२००० फुट की ऊँचाई तक के स्थानों तथा तिब्बत और मध्य एशिया में साइबेरिया तक अर्थात् बहुत ठंढे स्थानों में पाया जाता है। यह मृग बहुत चंचल और

छलाँग मारनेवाला होता है। डील डौल में यह साधारण कुत्ते के बराबर होता है और रात को चरता है। नर मृग की नाभि के पास एक गाँठ होती है, जिसमें भूरे रंग का चिकना सुगंधित द्रव्य संचित रहता है। यह मृग जनवरी में जोड़ा खाता है और इसी समय इसकी नाभि में अधिक मात्रा में सुगंधित द्रव्य मिलता है। शिकारी लोग इस मृग का शिकार कस्तूरी के लिये करते हैं। शिकार करने पर इसकी नाभि काट ली जाती है, फिर शिकारी लोग इसमें रक्त आदि मिला कर उसे सुखाते हैं। अच्छी से अच्छी कस्तूरी में मिलावट पाई जाती है। कस्तूरी का नाफ़ा मुर्गी के अंडे के बराबर होता है। एक नाफ़े में लगभग आधी छटाँक कस्तूरी निकलती है। कस्तूरी के समान सुगंधित पदार्थ कई एक अन्य जंतुओं की नाभियों से भी निकलता है। वैद्यक में तीन प्रकार की कस्तूरी मानी गई है, कपिल (सफ़ेद), पिंगल और कृष्ण। नेपाल की कस्तूरी कपिल, कश्मीर की पिंगल, और कामरूप (सिकिम, भूटान आदि) की कृष्ण होती है। कस्तूरी स्वाद में कड़ुई और बहुत गरम होती है। यह वात, पित्त, शीत, छर्दि आदि के लिये बहुत उपकारी मानी गई है; पर विशेष कर द्रव्यों को सुगंधित करने के काम में आती है।

मुहा०—कस्तूरी हो जाना=किसी वस्तु का बहुत महँगा हो जाना या कम मिलना।

यौ०—कस्तूरी मृग।

कस्तूरीमृग-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हिरन जिसकी नाभि से कस्तूरी निकलती है। यह ढाई फुट ऊँचा होता है। इसका रंग काला होता है जिसके बीच बीच में लाल और पीली चित्तियाँ होती हैं। यह बड़ा डरपोक और निर्जनप्रिय होता है। इसकी टाँगें बहुत पतली और सीधी होती हैं जिसमे कभी कभी घुटने का जोड़ बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। यह कश्मीर, नेपाल, आसाम, तिब्बत, मध्य एशिया और साइबेरिया आदि स्थानों में होता है। सह्याद्रि पर्वत पर भी कस्तूरी मृग कभी कभी देखे गए हैं। तिब्बत के मृग की कस्तूरी अच्छी समझी जाती है।

क़स्द-संज्ञा पुं० [अ०] संकल्प। इरादा। विचार।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कस्सर-संज्ञा स्त्री० [हिं० कसना। अ० कासर] लंगर खींचना वा उठाना। (लश०)।

क्रि० प्र०—करना। (लश०)।

कस्सा-संज्ञा पुं० [सं० कषाय] (१) बबूल की छाल जिससे चमड़ा सिझाते हैं। (२) वह मद्य जो बबूल की छाल से बनता है। ठर्रा।

कस्सा चना-संज्ञा पुं० दे० "केसारी"।

क़स्साब-संज्ञा पुं० [अ०] कसाई।

यौ०—बकर कसाब=चिक। बूचड़।

कस्सी-संज्ञा स्त्री० [सं० कर्षण=खरोचना, खोदना] मालियों का छोटा फावड़ा।

संज्ञा स्त्री० [सं० कशा=रस्सी] ज़मीन की एक नाप जो दो क़दम के बराबर होती है।

कहँ*-प्रत्य० [सं० कक्ष, पा० कच्छ] के लिये। उ०—(क) राम पयादेहि पाँव सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये।—तुलसी। (ख) तुम कहँ तौ न दीन बनबासू। करहु जो कहहिं ससुर गुरु सासू।—तुलसी।

विशेष—अवधी बोली में यह द्वितीया और चतुर्थी का चिह्न है।

* क्रि० वि० दे० 'कहाँ'।

यौ०—कहँ लगि=कहाँ तक। उ०—कहँ लगि सहिय रहिय मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे।—तुलसी।

क़हक़हा-संज्ञा पुं० [अ०। अनु०] अट्टहास। ठट्ठा। ज़ोर की हँसी।

क्रि० प्र०—उड़ाना।—मारना।—लगाना।

यौ०—क़हक़हा दीवार।

क़हक़हा दीवार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) एक दीवार जो चीन देश के सीह्वाङ्ती नामक राजा ने ईसा मसीह के पूर्व तीसरी शताब्दी के अंत में फू-किन, क्वाँ-तुंग और क्वांसी नामक मंगोल जातियों के आक्रमण को रोकने के लिये चीन के उत्तर में बनवाई थी। यह दीवार १५०० मील लंबी, २०-२५ फुट ऊँची और इतनी ही चौड़ी है। इसमें सौ सौ गज़ दूरी पर बुर्ज बने हैं। (२) कठिन रोक जिसे किसी तरह पार न कर सकें।

क्रि० प्र०—उठाना।—डालना।

कहगिल-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] [काह=घास+गिल=मिट्टी] दीवार में लगाने का मिट्टी का गारा जो मिट्टी में घास फूस सड़ा-कर बनाया जाता है।

क़हत-संज्ञा पुं० [अ०] दुर्भिक्ष। अकाल।

क्रि० प्र०—पड़ना।

यौ०—क़हतसाली=दुर्भिक्ष का समय।

कहतरी-संज्ञा स्त्री० दे० "कस्तरी"।

कहता-संज्ञा पुं० [हिं० कहना, कहता हुआ] कहनेवाला पुरुष। उ०—(क) कहते को कौन रोक सकता है? (ख) कहता बावला, सुनता सरेख।

कहन-संज्ञा स्त्री० [सं० कथन] (१) कथन। उक्ति। (२) वचन। बात। (३) कहावत। कहनूत। (४) कविता। शायरी।

कहना-क्रि० स० [सं० कथन, प्रा० कहन] (१) बोलना। उच्चारण करना। मुँह से शब्द निकालना। शब्दों द्वारा अभिप्राय प्रकट करना। वर्णन करना। उ०—(क) विधि, हरि, हर, कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।—तुलसी।

मुहा०—कहना बदना=(१) निश्चय करना। ठहराना। जैसे,—

यह बात पहले से कही बदी थी । कह बदकर=प्रतिज्ञा करके । दृढ़ संकल्प करके । **जैसे,—तुम कह बदकर निकल जाते हो ।** (२) ललकारकर । खुले खजाने । दावे के साथ । **जैसे,—हम जो करते हैं, कह बदकर करते हैं, छिपकर नहीं । कहना सुनना**=बात चीत करना । **कहने को**=(१) नाम मात्र को । **जैसे,—वे केवल कहने को वैद्य हैं ।** (२) भविष्य में स्मरण के लिये । **जैसे,—यह बात कहने को रह जायगी । कहने सुनने को**=दे० "कहने को"। **कहने की बात**= वह कथन जिसके अनुसार कोई कार्य्य न किया जाय । वह बात जो वास्तव में न हो ।

संयो० क्रि०—उठना—डालना ।—देना ।—रखना ।

(२) प्रकट करना । खोलना । जाहिर करना । जैसे,—तुम्हारी सूरत कहे देती है कि तुम नशे में हो । उ०—मोहिं करत कत बावरी, किए दुराव दुरै न । कहे देत रँग रात के, रँग निचुरत से नैन ।—बिहारी ।

संयो० क्रि०—देना ।

(३) सूचना देना । ख़बर देना । जैसे,—वह किसी से कह सुनकर नहीं गया है । (४) नाम रखना । पुकारना । जैसे,—इस कीड़े को लोग क्या कहते हैं ? (५) समझाना बुझाना । जैसे,—तुम जाओ, हम उनसे कह लेंगे ।

मुहा०—कहना सुनना=(१) समझाना बुझाना । मनाना । (२) बिनती प्रार्थना करना । **जैसे,—हम उनसे कह सुनकर तुम्हारा अपराध क्षमा करा देंगे ।**

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

(६) बहकाना । बातों में भुलाना । बनावटी बातें करना ।

मुहा०—कहने वा कहने सुनने में आना=किसी की बनावटी बातों पर विश्वास करके उसके अनुसार कार्य्य करना । **जैसे,—चतुर लोग धूर्तों के कहने सुनने में नहीं आते । कहने पर जाना**=किसी की बनावटी बातों पर विश्वास करना और उसके अनुसार कार्य्य करना ।

(७) अयुक्त बात बोलना । भला बुरा करना । जैसे,—(क) एक कहोगे, दस सुनोगे । (ख) हमें एक की दस कह लो ।

संयो० क्रि०—बैठना ।—देना ।—लेना ।

(८) कविता करना । उक्ति बाँधना । काव्य की रीति से वर्णन करना । जैसे,—रसनिधि ने आँखों पर बहुत कुछ कहा है ।

संयो० क्रि०—लेना ।

संज्ञा पुं० **कथन । बात । आज्ञा । अनुरोध । जैसे,—(क) उनका यह कहना है कि तुम पीछे जाना । (ख) वह किसी का कहना नहीं मानता ।**

क्रि० प्र०—करना (=मानना) ।—टालना (=न मानना) ।—मानना ।

कहनाउत*—संज्ञा स्त्री० दे० **"कहनावत"** ।

कहनावत—संज्ञा स्त्री० [हिं० कहना+आवत (प्रत्य०)] **(१) बात । कथन । उ०—सुनहु सखी राधा कहनावति । हम देख्यो सोई इन देखे ऐसेहि ताते कहि मन भावति ।—सूर । (२) कहावत । मसल । अहाना । उ०—साँची भई कहनावति वा कवि ठाकुर कान सुनी हती जोऊ । माया मिली नहिं राम मिले दुबिधा में गये सजनी सुनु दोऊ ।—ठाकुर ।**

कहनि*†—संज्ञा स्त्री० दे० **"कहन"** ।

कहनी†—संज्ञा स्त्री० [सं० कथनी, प्रा० कहनी] **(१) कथा । कहानी । (२) कथन । बात ।**

कहनूत†—संज्ञा स्त्री० [हिं० कहना+ऊत (प्रत्य०)] **कहावत । मसल ।**

कहर—संज्ञा पुं० [अ०] **विपत्ति । आफ़त । संकट । ग़ज़ब । उ०—क्या क़हर है यारो जिसे आ जाय बुढ़ापा । आशिक़ को तो अल्लाह न दिखलाये बुढ़ापा ।—नज़ीर ।**

मुहा०—क़हर का—(१) कठिन । असह्य । मात्रा से अधिक । अत्यंत । **जैसे,—क़हर की गरमी, क़हर का पानी ।** (२) भयानक । डरावना । (३) बहुत बड़ा । महान् । **क़हर करना**—(१) अत्याचार करना । जुल्म करना । (२) अद्भुत कर्म करना । ऐसा काम करना जिससे लोगों को विस्मय हो । अनोखा काम करना । (३) असंभव को संभव करना । अमानुष कृत्य करना । **क़हर टूटना**=आफत आना । दैवी विपत्ति पड़ना ।

वि० [अ० क़ह्हार] **अगम । अपार । घोर । भयंकर । उ०—चिबुक सरूप समुद्र में मन जान्यो तिल नाव । तरन गयो बूड़ेउ तहाँ रूप कहर दरियाव ।—मुबारक ।**

कहरना—क्रि० अ० [हिं० कराहना] **कराहना । पीड़ा से आह आह करना । उ०—श्रीपति सुकवि यों वियोगी कहरन लागे, मदन की आगि लहरन लागी तन में ।—श्रीपति ।**

कहरवा—संज्ञा पुं० [हिं० कहार] **(१) पाँच मात्राओं का एक ताल । इसमें चार पूर्ण और दो अर्द्ध मात्राएँ होती हैं । इसमें केवल चार आघात होते हैं । इसके बोल यों हैं—धागे तेटे नाग् दिन, धागे तेटे नाग् दिन । धा । (२) दादरा गीत जो कहरवा ताल पर गाया जाता है । यह गीत प्राय: नाच के अंत में गाया जाता है । (३) वह नाच जो कहरवा ताल पर होता है ।**

कहरुवा—संज्ञा पुं० [फ़ा० कहरुवा] **(१) बरमा की खानों से निकला हुआ एक प्रकार का गोंद । यह रंग में पीला होता है और औषध में काम आता है । चीन देश में इसको पिघला कर माला की गुरियाँ, मुँहनाल इत्यादि वस्तुएं बनाते हैं । इसकी वारनिश भी बनती है । इसे कपड़े आदि पर रगड़ कर यदि घास या तिनके के पास रक्खें तो उसे यह चुंबक की तरह पकड़ लेता है । (२) एक बड़ा सदाबहार वृक्ष जिसका गोंद राल वा धूप कहलाता है । यह पेड़ पश्चिमी घाट की**

पहाड़ियों में बहुत होता है। इसे सफ़ेद डामर भी कहते हैं। पेड़ से पोंछकर राल निकालते हैं। तारपीन के तेल में यह अच्छी तरह घुल जाता है और वारनिश के काम में आता है। इसकी माला भी बनती है। उत्तरीय भारत में स्त्रियाँ इसे तेल में पकाकर टिकली चपकाने का गोंद बनाती हैं। अर्क बनाने में भी कहीं कहीं इसका उपयोग होता है।

कहल*†-संज्ञा पुं० [देश०] (१) उमस। औंस। व्याकुल करनेवाली गरमी जो हवा के बंद होने पर होती है। (२) ताप। कष्ट। उ०—सादर सखी के साथ बादर बदन ह्वै के भूपति पधारे महारानी के महल को। कौशल के अँगना में अँगना की भीर भारी आवैं जाँय नारी सुकुमारी ते रहल को। कौन काको पूछे नहिं छूछे हाथ काहुन के बरनि सकै को कवि चहल पहल को। रघुराज आनँद को दहल अवध भयो कढ़िगो कलेस कोटि कल्मष कहल को।—रघुराज।

कहलना*†-क्रि० अ० [हिं० कहल] कसमसाना। अकुलाना। दहलना। उ०—(क) कन ऐन सुरा बिंदुली दिये भाल सो नेकु न मो मन तें टहलै। मनु इंदु के बीच में कीच अमी अलि बालक आइ पर्‍यो चहलै। कवि ब्रह्म भनै घुँघुँरी अलकैं अपने बल काढ़न को कहलै। जुरि बैठे मयंक के कूल दुहूँ दिसि कोऊ न पैठि सकै पहलै।—ब्रह्म। (राजा बीरबल)। (ख) जै बल प्रचंड उदंड सुंड गहि मार्तंड मंडल खंडै। नभ कहलि परत पुरहूत हहलि मजबूत फूतकारै छंडै। भननात भौर भूषण अमोल झननात झबा झूलनि सरसै। रण तेज वारि दिग्गज उदार अकबर नरेस दरबार लसै।—गुमान। (ग) कहलि कोल अरु कमठ दिग्गज दस दलमलि। धसकि धसकि महि मसकि जाति सहसफ्फण फण दलि।—रसकुसुमाकर।

कहलवाना-क्रि० स० [सं० कहना का प्रे० रूप] (१) दूसरे के द्वारा कहने की क्रिया कराना। (२) सँदेसा भेजना।

कहलाना-क्रि० स० [कहना का प्रे० रूप] (१) दूसरे के द्वारा कहने की क्रिया कराना। (२) सँदेसा भेजना।

संयो० क्रि०—भेजना।—देना।

(३) नामज़द होना। पुकारा जाना। जैसे,—वह क्या कहलाता है जो कल तुमने मुझे दिखलाया था।

कहवाँ*-क्रि० वि० दे० "कहाँ"।

क़हवा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) एक पेड़ का बीज। यह पेड़ अरब, मिस्र हबश आदि देशों में होता है। इसकी खेती भी उन देशों में की जाती है। पेड़ सोलह से अठारह फुट तक ऊँचा होता है, पर फल तोड़ने के सुभीते के लिये इसे आठ नौ फुट से अधिक बढ़ने नहीं देते और इसकी फुनगी कुतर लेते हैं। इसकी पत्तियाँ दो दो आमने सामने होती हैं। पेड़ का तना सीधा होता है जिस पर हलके भूरे रंग की छाल होती है। फरवरी मार्च में पत्तियों की जड़ों में गुच्छे के गुच्छे सफ़ेद लंबे फूल लगते हैं जिनमें पाँच पँखुड़ियाँ होती हैं। फूल की गंध अच्छी होती है। फूलों के झड़ जाने पर मकोय के बराबर फल गुच्छों में लगते हैं। फल पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं। गूदे के भीतर पतली झिल्ली में लिपटे हुए बीज होते हैं। पकने पर फल हिलाकर ये गिरा लिए जाते हैं। फिर उन्हें मलकर बीज अलग किए जाते हैं। फिर बीजों को भूनते हैं और उनके छिलके अलग करते हैं। इन्हीं बीजों को पीसकर गर्म पानी में दूध आदि मिलाकर पीते हैं। अरब आदि देशों में इसके पीने की बहुत चाल है। युरोप में भी चाय के पहुँचने के पूर्व इसकी प्रथा थी। हिन्दुस्तान में इसका बीज पहले पहल दो ढाई सौ वर्ष हुए, मैसोर में बबा बूढ़न लाए थे। वे मक्के गए थे, वहीं से सात दाने छिपाकर ले आए थे। अब इसकी खेती हिन्दुस्तान में कई जगह होती है। इसके लिये गरम देश की बलुई दोमट भूमि अच्छी होती है तथा सब्ज़ी, हड्डी, खली आदि की खाद उपकारी होती है। इसके बीज को पहले अलग बोते हैं। फिर एक साल के बाद इसे चार से आठ फुट की दूरी पर पंक्तियों में बैठाते हैं। तीसरे वर्ष इसकी फुनगी कुपट दी जाती है जिससे इसकी बाढ़ बंद हो जाती है। इसके लिये अधिक वृष्टि तथा वायु हानिकारक होती है। बहुत तेज़ धूप में इसे बाँसों की टट्टियों से छा देते हैं वा इसे पहले ही से बड़े बड़े पेड़ों के नीचे लगाते हैं। सुमात्रा में इसकी पत्तियों को चाय की तरह उबालकर पीते हैं। मुख्या का क़हवा बहुत अच्छा माना जाता है। भारत में क़हवे की खेती नीलगिरि पर होती है। भारत के सिवाय लंका, ब्रेज़िल, मध्य अमेरिका आदि में भी इसकी खेती होती है। क़हवा पीने में कुछ उत्तेजक होता है। (२) इसका पेड़। (३) इसके बीजों की बुकनी से बना हुआ शरबत।

यौ०—क़हवादान।

कहवाना-क्रि० स० ['कहना' का प्रे० रूप] दे० "कहलाना"।

कहवैया†-वि० [हिं० कहना+वैया (प्रत्य०)] कहनेवाला पुरुष।

कहाँ-क्रि० वि० [वैदिक सं० कुहः वा कुत्र, पा० कुत्थ] स्थान के संबंध में एक प्रश्नवाचक शब्द। किस जगह? किस स्थान पर? जैसे,—तुम कहाँ गए थे?

मुहा०—कहाँ का=(१) न जाने कहाँ का? ऐसा जो पहले और कहीं देखने में न आया हो। असाधारण। बड़ा भारी। जैसे,—(क) कहाँ के मूर्ख से आज पाला पड़ा। (ख) उल्लू कहाँ का! (इस अर्थ में प्रश्न का भाव नहीं रह जाता)। (२) कहीं का नहीं। जो नहीं है। जैसे,—(क) वे कहाँ के हमारे दोस्त हैं? (ख) वे कहाँ के बड़े सत्यवादी हैं?

कहाँ का कहाँ=बहुत दूर। जैसे,—**हम लोग चलते चलते कहाँ के कहाँ जा निकले। कहाँ का ...... कहाँ का**...=(१) बड़ी दूर दूर के। जैसे,—**यह नदी नाव संयोग है, नहीं तो कहाँ के हम और कहाँ के तुम।** (२) यह सब दूर हुआ। यह सब नहीं हो सकता जैसे,—**जब वे यहाँ आ जाते हैं तब फिर कहाँ का पढ़ना और कहाँ का लिखना।** (इस अर्थ में 'कहाँ का' के आगे मिलते जुलते अर्थवाले जोड़े के शब्द आते हैं, जैसे—आना जाना, पढ़ना लिखना, नाच रंग)। **कहाँ की बात**=यह बात ठीक नहीं है। यह बात कभी नहीं हो सकती। जैसे,—**अजी! कहाँ की बात, वह सदा यों ही कहा करते हैं। कहाँ तक**=(१) कितनी दूर तक। जैसे,—**वह कहाँ तक गया होगा।** (२) कितने परिमाण तक। कितनी संख्या तक। कितनी मात्रा तक। जैसे,—(क) **हम आज देखेंगे कि तुम कहाँ तक खा सकते हो।** (ख) **उन्हें हम कहाँ तक समझावें?** (ग) **यह घोड़ा कहाँ तक पटेगा?** (३) कितनी देर तक। कितने काल पर्य्यंत। जैसे,—**हम कहाँ तक उनका आसरा देखें? कहाँ ... कहाँ**=इनमें बड़ा अंतर है। उ०—**कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगा तेली।** (**दो वस्तुओं का बड़ा भारी अंतर दिखाने के लिये इस वाक्य का प्रयोग होता है।**)। **कहाँ से**=क्यों व्यर्थ। नाहक। जैसे,—**कहाँ से हमने यह काम अपने ऊपर लिया।** (**जब लोग किसी बात से घबरा जाते वा तंग हो जाते हैं, तब उसके विषय में ऐसा कहते हैं**)। (२) कभी नहीं। कदापि नहीं। नहीं। जैसे,—(क) **अब उनके दर्शन कहाँ।** (ख) **अब उस बूंद से भेंट कहाँ?** (**यह अर्थ काकु अलंकार से सिद्ध होता है**)।

संज्ञा पुं० [अनु०] **तुरंत के उत्पन्न बच्चे के रोने का शब्द** उ०—**'कहाँ कहाँ' हरि रोवन लाग्यो।—विश्राम।**

कहा*†-संज्ञा पुं० [सं० कथन, प्रा० कहन, हिं० कहना] **कथन। कहना। बात। आज्ञा। उपदेश।** उ०—**जासु प्रभाव जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेउ नीचा।—तुलसी।**

क्रि० वि० [सं० कथम्] **कैसे। किस प्रकार के।** उ०—कहा लड़ैते **दृग करे परे** लाल **बेहाल। कहूँ मुरली कहूँ पीत पट कहूँ मुकुट बनमाल।—बिहारी।**

*†सर्व० [सं० कः] **क्या।** (**ब्रज**)। उ०—(क) **नारद कर मैं कहा बिगारा। भवन मोर जिन बसत उजारा।—तुलसी।** (ख) **कहा करौं लालच भरे चपल नैन चलि जात।—बिहारी।**

वि० **क्या।** जैसे,—**कहा वस्तु।**

कहाना-क्रि० स० ['कहना' का प्रे० रूप] **कहलाना।**

कहानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कहना] (१) **कथा। क़िस्सा। आख्यायिका।** (२) **झूठी बात। गढ़ी बात।**

क्रि० प्र०—कहना।—सुनना।—सुनाना।

मुहा०—कहानी जोड़ना=कहानी बनाना। आख्यायिका रचया।

यौ०—रामकहानी=लंबा चौड़ा वृत्तांत।

कहार-संज्ञा पुं० [सं० कं०=जल+हार। सं० स्कंधभार] **एक शूद्र जाति जो पानी भरने और डोली उठाने का काम करती है।**

कहारा†-संज्ञा पुं० [सं० स्कंधभार] **बड़ा टोकरा। बड़ी दौरी।**

कहाल-संज्ञा पुं० [देश०] **एक प्रकार का बाजा।** उ०—**मंजीर मुरज उपंग वेणु मृदंग ललित तरंग।** बाजत **विशाल कहाल त्यों करनाल तालन संग।—रघुराज।**

कहावत-संज्ञा स्त्री० [हिं० कहना] (१) **बोलचाल में बहुत आनेवाला ऐसा बँधा वाक्य जिसमें कोई अनुभव की बात संक्षेप में और प्रायः अलंकृत भाषा में कही गई हो। कहनूत। लोकोक्ति। मसल।** जैसे,—**ऊँची दूकान के फीके पकवान।**

क्रि० प्र०—कहना।—सुनना।

(२) **कही हुई बात। उक्ति।** उ०—**भरत कहावत कही सोहाई।—तुलसी।** (३) **वह सँदेशा वा चिट्ठी जो किसी के मर जाने पर उसके घरवाले अपने इष्ट मित्रों वा संबंधियों को इसलिये भेजते हैं कि वे लोग मृतक कर्म में किसी नियत तिथि पर आकर सम्मिलित हों।**

क्रि० प्र०—आना।—भेजना।

कहा सुना-संज्ञा पुं० [हिं० कहना+सुनना] **अनुचित कथन और व्यवहार। भूल चूक।** जैसे,—**हमारा कहा सुना माफ़ करना।**

कहा सुनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कहना+सुनना] **वादविवाद। झगड़ा तकरार।** जैसे,—**कल उन दोनों से कुछ कहा सुनी हो गई।**

कहिया*‡-क्रि० वि० [सं० कुह] **किस दिन। कब।**

संज्ञा पुं० [हिं० गहना=पकड़ना] **कलईगरों का एक औज़ार जिससे राँगा रखकर जोड़ मिलाते हैं।**

विशेष—यह लोहे का एक दस्ता लगा हुआ छड़ होता है जिसकी एक नोक कौवे की चोंच की तरह झुकाई होती है। इसी नोक को गरम कर के उससे बरतनों पर राँगा रखकर राँजते हैं।

कहीं-क्रि० वि० [हिं० कहाँ] **किसी अनिश्चित स्थान में। ऐसे स्थान में जिसका ठीक ठिकाना न हो।** जैसे,—**वे घर में नहीं हैं, कहीं बाहर गए हैं।**

मुहा०—कहीं और=दूसरी जगह। अन्यत्र। जैसे,—**कहीं और माँगो। कहीं कहीं**=(१) किसी किसी स्थान पर। कुछ जगहों में। जैसे,—**उस प्रदेश में कहीं कहीं पहाड़ भी हैं।** (२) बहुत कम स्थानों में। जैसे,—**मोती समुद्र में सब जगह नहीं, कहीं कहीं मिलता है। कहीं का**=न जाने कहाँ का। ऐसा जो पहले देखने सुनने में न आया हो। बड़ा भारी। जैसे,—**उल्लू कहीं का। कहीं का न रहना वा होना**=दो पक्षों में से किसी पक्ष के योग्य न रहना। दो भिन्न मनोरथों में से किसी एक का भी पूरा न होना। किसी काम का न रहना।

जैसे,—वे कभी नौकरी करते, कभी रोज़गार की धुन में रहते, अंत में कहीं के न हुए। कहीं न कहीं=किसी स्थान पर अवश्य। जैसे,—इसी पुस्तक में ढूँढ़ो, कहीं न कहीं वह शब्द मिल जायगा। कहीं का कहीं=एक ओर से दूसरी ओर। दूर। जैसे,—वे जंगल में भटककर कहीं के कहीं जा निकले।

(२) (प्रश्न रूप में और निषेधार्थक) नहीं। कभी नहीं। जैसे,—(क) कहीं ओस से भी प्यास बुझती है? (ख) कहीं वंध्या को भी पुत्र होता है? (३) कदाचित्। यदि। अगर। (आशंका और इच्छासूचक) जैसे,—(क) कहीं वह आ जायगा तो बड़ी मुश्किल होगी। (ख) इस अवसर पर कहीं वे आ जाते तो बड़ा आनंद होता।

मुहा—कहीं············न=(आशंका और आशा सूचित करने के लिए) ऐसा न हो कि। जैसे,—(क) देखना, कहीं तुम भी न वहीं रह जाना। (ख) कहीं वह आ न जाय। (ग) देखो कहीं वे ही न आ रहे हों, जिनका आसरा देख रहे हो। (इस मुहावरे में या तो भावरूप में क्रियाएँ आती हैं अथवा संदिग्ध भूत, संभाव्य भविष्यत् आदि संभावनासूचक क्रियाएँ आती हैं)। कहीं·········तो नहीं=(प्रश्न के रूप में आशंका और आशा सूचित करने के लिये) जैसे,—कहीं वह रास्ता तो नहीं भूल गया? (इस मुहावरे में प्रायः सामान्य भूत, सामान्य भविष्यत् और सामान्य वर्तमान क्रियाएँ आती हैं)।

(४) बहुत अधिक। बहुत बढ़कर। जैसे,—यह चीज़ उससे कहीं अच्छी है।

कहुँ*—क्रि० वि० दे० "कहूँ"।

कहुवा—संज्ञा पुं० [अ० कहवा] एक दवा जो घी, चीनी मिर्च और सोंठ को आग पर पकाने से बनती है और जुकाम (सरदी) में दी जाती है।

कहूँ*—क्रि० वि० [सं० कुह] किसी स्थान पर। कहीं। उ०—कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल। कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहूँ मुकुट बनमाल।—बिहारी।

काँइयाँ—वि० [अनु० काँव काँव (=कौए का शब्द)] चालाक। धूर्त।

काँई†—अव्य० [सं० किम्] क्यों। उ०—माई म्हा को स्वप्न में बरनी गोपाल। राती पीती चूनरि पहिरी मेंहदी पाणि रसाल। काँई और को भरो भाँवरै म्हा को जग जंजाल। मीरा प्रभु गिरधरन लला सों करी सगाई हाल।—मीरा।

†सर्व० [हिं० काहि] किसे। किसको।

काँक†—संज्ञा पुं० [सं० कंकु] कँगनी नाम का अनाज।

काँकड़ा†—संज्ञा पुं० [हिं० कंकड़] कपास का बीज। बिनौला।

काँकर*†—संज्ञा पुं० [सं० कर्कर] [स्त्री० अल्प काँकरी] कंकड़। उ०—(क) काँकर पाथर जोरि के मसजिद लई चुनाय। ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय?—कबीर। (ख) कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पियादे बिनु पद-त्राना।—तुलसी।

काँकरी*†—संज्ञा स्त्री० [हिं० काँकर का अल्पा०] छोटा कंकड़।—(क) कुस कंटक काँकरी कुराई। कटुक कठोर कुवस्तु दुराई। —तुलसी। (ख) गली साँकरी हेरि री दई काँकरी मारि। नहिं बिसरै बिसरायहूँ हरे हाँकरी नारि।—शृं० सत०।

मुहा०—काँकरी चुनना=चुपचाप मन मारकर बैठना। चिंता वा वियोग के दुःख से किसी काम में मन न लगना।

काँ काँ—संज्ञा पुं० [अनु०] कौए की बोली। उ०—घरी एक सज्जन कुटुंब मिलि बैठे रुदन कराहीं। जैसे काग काग के मूए काँ काँ करि उड़ि जाहीं।—सूर।

काँकुनी—संज्ञा स्त्री० दे० "कँगनी"।

कांक्षनीय—वि० [सं०] इच्छा करने योग्य। चाहने लायक़।

कांक्षा—संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० कांक्षनीय, कांक्षित, कांक्षी, कांक्ष्य] इच्छा। अभिलाषा। चाह।

कांक्षित—वि० [सं०] चाहा हुआ। इच्छित। अभिलषित।

कांक्षी—वि० [सं० कांक्षिन्] [स्त्री० कांक्षिणी] चाहनेवाला। इच्छा रखनेवाला।

संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की सुगंधित मिट्टी।

काँख—संज्ञा स्त्री० [सं० कक्ष] बाहुमूल के नीचे की ओर का गड्ढा। बग़ल। उ०—अंगदादि कपि मुर्छित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहँ चला अमित बल सींव।—तुलसी।

काँखना—क्रि० अ० [अनु०] (१) किसी श्रम वा पीड़ा से उँह आँह आदि शब्द मुँह से निकालना। (२) मल वा मूत्र को निकालने के लिये पेट की वायु को दबाना।

काँखासोती—संज्ञा स्त्री० [हिं० काँख+सं० श्रोत्र, प्रा० सोत] दुपट्टा डालने का एक ढंग जिसमें दुपट्टे को बाँए कंधे और पीठ पर से ले जाकर दाहिनी बग़ल के नीचे से निकालते हैं और फिर बाँए कंधे पर डाल लेते हैं। जनेऊ की तरह दुपट्टा डालने का ढंग। उ०—पियर उपरना काँखासोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती।—तुलसी।

काँखी*—संज्ञा पुं० [सं० कांक्षी] दे० "कांक्षी"। उ०—शुक भागवत प्रगट करि गायो कछु न दुबिधा राखी। सूरदास ब्रज नारि संग हरि मांगी करहिं नहीं कोउ काँखी।—सूर।

काँगड़ा—संज्ञा पुं० [सं० कंक] ख़ाकी रंग का एक पक्षी जिसकी छाती सफ़ेद, कनपटी लाल और चोटी काली होती है। यह डील डौल में बुलबुल से बड़ा और गिलगिलिया से छोटा होता है।

संज्ञा पुं० [देश०] पंजाब प्रांत का एक पहाड़ी प्रदेश। इसमें एक छोटा ज्वालामुखी पर्वत है जो ज्वालामुखी देवी के नाम

से प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में यह कुलूत और कुलिंद प्रदेश के अंतर्गत था।

काँगड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कांगड़ा] एक छोटी अँगीठी जिसे कश्मीरी लोग गले में लटकाए रहते हैं। यह अंगूर की बेल की बनती है, इसके भीतर मिट्टी लपेटी रहती है। पुरुष इसे गले में छाती के पास और स्त्रियाँ नाभि के पास लटकाती हैं।

काँगनी†–संज्ञा स्त्री० दे० "कँगनी"।

काँगरू–संज्ञा पुं० [अं० कंगरू] एक जंतु जो आस्ट्रेलिया महाद्वीप में होता है। यह कुत्ते के बराबर होता है और देखने में खरगोश की जाति का मालूम पड़ता है। इसके आगे के पैर पीछे की टाँगों से बहुत छोटे होते हैं। इसकी मादा में सबसे अद्भुत बात यह होती है कि नाभि के पास पेट के भीतर एक थैला होता है जिसमें वह अपने बच्चों को जब चाहती है, छिपा लेती है। सब मिलाकर इसकी आठ जातियाँ होती हैं। इसके नख होते हैं और यह घास खाता है।

कांग्रेस–संज्ञा स्त्री० [अं०] वह महासभा जिसमें भिन्न भिन्न स्थानों के प्रतिनिधि एकत्र होकर किसी सार्वजनिक वा विद्यासंबंधी विषय पर विचार करते हैं। जैसे–नेशनल कांग्रेस।

काँच–संज्ञा स्त्री० [सं० कक्ष, प्रा० कच्छ] (१) धोती का वह छोर जिसे दोनों जाँघों के बीच से ले जाकर पीछे खोंसते हैं। लाँग।

क्रि० प्र०—बाँधना।—खोलना।

मुहा०—काँच खोलना=(१) प्रसंग करना। उ०—कामी से कुत्ता भला रितु सर खोले काँच। राम नाम जाना नहीं भावी जाय न बाँच।—कबीर। (२) हिम्मत छोड़ना। साहस छोड़ना। विरोध करने में असमर्थ होना।

(२) गुदेंद्रिय के भीतर का भाग। गुदाचक्र। गुदावर्त्त।

क्रि० प्र०—निकलना=काँच का बाहर आना।

विशेष—एक रोग जिसमें कमज़ोरी आदि के कारण पाखाना फिरते समय काँच बाहर निकल आती है। यह रोग प्रायः दस्तों की बीमारीवाले को हो जाता है।

मुहा०—काँच निकलना=(१) किसी श्रम वा चोट के सहने में असमर्थ होना। किसी आघात वा परिश्रम से बुरी दशा होना। जैसे,—(क) मारेंगे, काँच निकल आवेगी। (ख) इस पत्थर को उठाओ तो काँच निकल आवे। काँच निकालना=(१) अत्यंत चोट वा कष्ट पहुँचाना। बे-दम करना। (१) बहुत अधिक परिश्रम लेना।

संज्ञा पुं० [सं० कांच] एक मिश्र धातु जो बालू और रेह या खारी मिट्टी को आग में गलाने से बनती है और पारदर्शक होती है। इसकी चूड़ी, बोतल, दर्पण आदि बहुत सी चीज़ें बनती हैं। यह कड़ा और बहुत खरा होता है, इससे थोड़ी चोट से भी टूट जाता है। उ०—काँच किरच बदले सठ लेहीं। कर तें डारि परसमणि देहीं।—तुलसी।

कांचन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कांचनीय] (१) सोना। (२) कचनार। (३) चंपक। चंपा। (४) नागकेसर। (५) गूलर। (६) धतूरा।

कांचनक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरताल। (२) चंपा।

कांचनचंगा–संज्ञा पुं० [सं० कांचनशृंग] हिमालय की एक चोटी जो नैपाल और सिक्कम के बीच में है।

कांचनार–संज्ञा पुं० [सं०] कचनार।

कांचनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हल्दी। (२) गोरोचन।

कांचरी*–संज्ञा स्त्री० दे० "काँचली"। उ०—जौ लगि पौन चलै जग में सिय जीवित है बिनु राम सँघाती। तौ लगि देह को यों तजु रे जैसे पन्नगी काँचरी को तजि जाती।—हनुमान।

काँचली*–संज्ञा स्त्री० [सं० कंचुलिका=आवरण] साँप की केंचुली। उ०—बल, वक, हीरा, केवरा, कौड़ी करका, काँस। उरग काँचली, कमल, हिम, सिकता, भस्म, कपास।—केशव।

काँचा*–वि० [सं० कषण वा कषाय] [स्त्री० काँची] (१) कच्चा। अपक्व। (२) अदृढ़। दुर्बल। अस्थिर।

मुहा०—काँचा मन=कच्चा मन। जो शुद्धता और भक्ति में दृढ़ न हो। उ०—जप माला, छापा, तिलक सरै न एकौ काम। मन काँचे नाचे वृथा साँचे राँचे राम।—बिहारी। मन काँचा होना=जी छोटा होना। उत्साह और दृढ़ता न रहना। उ०—समय सुभाव नारि कर साँचा। मंगल महँ भय मन अति काँचा।—तुलसी। काँची मति वा बुद्धि=अपरिपक्व बुद्धि। खोटी समझ। उ०—ठकुराइत गिरिधर जू की साँची।…………हरि चरणारविंद तजि लागत अनत कहूँ तिन की मति काँची। सूरदास भगवंत भजत जे तिनकी लीक चहूँ युग खाँची।—सूर।

कांची–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेखला। क्षुद्र घंटिका। करधनी।

यौ०—कांचीकल्प। कांचीगुणस्थान। कांचीपद।

(२) गोटा। पट्टा। (३) गुंजा। घुँघची। (४) हिंदुओं की सात पुरियों में से एक पुरी जिसे अब कांजीवरम् कहते हैं। यह दक्षिण में मदरास के पास है और एक प्रधान तीर्थ है।

कांचीकल्प–संज्ञा पुं० [सं०] मेखला। करधनी।

कांचीगुणस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] पुट्ठा। कमर।

कांचीपद–संज्ञा पुं० [सं०] पुट्ठा। कमर।

कांचीपुर–संज्ञा पुं० [सं०] कांची। कांजीवरम्।

कांचीपुरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कांची। कांजीवरम्।

काँचू†–संज्ञा पुं० [सं० कंचुल] केंचुल।

वि० [हिं० काँच] जिसे काँच का रोग हो।

काँछना–क्रि० स० दे० "काछना"।

काँछा*†–संज्ञा स्त्री० [सं० कांक्षा] अभिलाषा।

कांजिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँजी। (२) चावल का माँड़ जो बहुत दिन रहने से उठ गया हो। पसुई।

कांजिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जीवंती लता।

काँजी-संज्ञा स्त्री० [सं० कांजिक] (१) एक प्रकार का खट्टा रस जो कई प्रकार से बनाया जाता है और जिसमें अचार और बड़े आदि भी पड़ते हैं। यह पाचक होता है और अपच में दिया जाता है। इसके बनाने की प्रधान रीतियाँ ये हैं—(क) चावल के माँड़ को मिट्टी के एक बर्तन में तीन दिन तक राई में मिलाकर रखते हैं और उसमें नमक आदि डालते हैं। (ख) राई को पीसकर पानी में घोलते हैं और फिर उसमें नमक, जीरा, सोंठ आदि मिलाकर मिट्टी के बर्तन में रखते हैं। उठने वा खट्टे होने के पहले बड़े और अचार उसमें डालते हैं। (ग) दही के पानी में राई नमक मिलाकर रख देते हैं और उठने पर काम में लाते हैं। (घ) चीनी और नीबू का रस अथवा सिरका मिलाकर पकाते और क़िमाम बनाते हैं। (२) मट्ठे या दही का पानी। फटे हुए दूध का पानी। छाँछ। उ०—(क) बिरचि मन बहुरि राचो आइ। टूटी जुरै बहुत जतननि करि तऊ दोष नहिं जाइ। कपट हेतु की प्रीति निरंतर नोथि चोखाई गाइ। दूध फाटि जैसे भइ काँजी कौन स्वाद करि खाइ।—सूर। (ख) भरतहिं होइ न राजमद, बिधि हरिहर पद पाइ। कबहुँ कि काँजी सीकरनि; छीरसिंधु बिनसाइ।—तुलसी। (३) क़ैदखाने में वह कोठरी जहाँ क़ैदियों को माँड़ खिलाया जाता है।

काँजीवरम्-संज्ञा पुं० [सं० कांचीपुरं] मदरास प्रांत का एक नगर जिसे प्राचीन काल में कांचीपुर कहते थे।

काँजीहाउस-संज्ञा स्त्री० [अ० काइन हाउस] वह मकान जहाँ खेती आदि को हानि पहुँचानेवाले चौपाए बंद किये जाते हैं। चौपायों के मालिक कुछ देकर अपने चौपायों को छुड़ाते हैं।

काँट*-संज्ञा पुं० दे० "काँटा"। उ०—भवँर भटैया जाहु जनि काँट बहुत रस थोर। आप न पूजै बासरा तासों प्रीति न जोर।—गिरधर।

काँटा-संज्ञा पुं० [सं० कंट] [वि० कँटीला] (१) किसी किसी पेड़ की डालियों और टहनियों में निकले हुए सुई की तरह के नुकीले अंकुर जो पुष्ट होने पर बहुत कड़े हो जाते हैं। कंटक। उ०—रोयँ रोयँ जनु लागहिं चाँटे। सूत सूत बेधे जनु काँटे।—जायसी।

क्रि० प्र०—गड़ना।—चुभना।—धँसना।—निकलना।—लगना।

मुहा०—काँटा निकलना=(१) बाधा वा कष्ट दूर होना। चैन होना। आराम होना। (२) खटका मिटना। **काँटा निकालना**=(१) बाधा वा कष्ट दूर करना। (२) खटका मिटाना। **रास्ते में काँटा बिछाना**=अड़चन डालना। विघ्न करना। बाधा डालना। **रास्ते का काँटा**=विघ्नरूप। बाधास्वरूप। **काँटा बोना**=(१) बुराई करना। अनिष्ट करना। उ०—जो तोको काँटा बुवै ताहि बोउ तू फूल।—कबीर। (२) अड़चन डालना। उपद्रव मचाना। **अपने लिये काँटा बोना**=अपने हित की हानि करना। **काँटा सा**=कंटक के समान दुःखदायी। खटकनेवाला। **काँटा सा खटकना**=अच्छा न लगना। दुःखदायी होना। **आँखों में काँटा सा खटकना**=बुरा लगना। नागवार लगना। असह्य होना। **काँटा सा होना**=बहुत दुबला होना। ठठरी ही ठठरी रह जाना। **काँटा होना**=(१) दुबला होना। सूख कर ठठरी ही ठठरी रह जाना। (२) सूख कर कड़ा हो जाना। जैसे,—चाशनी काँटा हो गई। **काँटे पर की ओस**=क्षणभंगुर वस्तु। थोड़े दिन रहनेवाली चीज। **काँटों में घसीटना**=किसी की इतनी अधिक प्रशंसा वा आदर करना जिसके योग्य वह अपने को न समझे। (जब कोई मित्र वा श्रेष्ठ पुरुष किसी की बहुत प्रशंसा वा आदर करता है, तब वह नम्रता प्रकट करने के लिये कहता है कि "आप तो मुझे काँटों में घसीटते हैं"।) **काँटों पर लोटना**=(१) दुःख से तड़पना। बेचैन होना। तिलमिलाना। (२) डाह से जलना। ईर्षा से व्याकुल होना। **काँटों पर लोटना**=(१) दुःख देना। सताना। तड़पाना। बेचैन करना। (२) डाह से जलाना।

(२) वह काँटा जो मोर, मुर्गे, तीतर आदि पक्षियों की नर जातियों के पैरों में पंजे के ऊपर निकलता है। इससे लड़ते समय वे एक दूसरे को मारते हैं। खाँग।

क्रि० प्र०—मारना।

(४) काँटा जो मैना आदि पक्षियों के गले में निकलता है। यह एक रोग है जिससे पक्षी मर जाते हैं। पालतू मैना का काँटा लोग निकालते हैं।

मुहा०—**काँटा लगना**=पक्षी को काँटे का रोग होना।

(४) छोटी छोटी नुकीली और खुरखुरी फुंसियाँ जो जीभ में निकलती हैं।

मुहा०—**जीभ या गले में काँटे पड़ना**=अधिक प्यास से गला सूखना।

(५) [स्त्री० अल्पा० काँटी] लोहे की बड़ी कील चाहे वह झुकी हो वा सीधी।

क्रि० प्र०—गाड़ना।—जड़ना।—ठोंकना।—बैठाना।—लगाना।

(६) मछली पकड़ने की झुकी हुई नोकदार अँकुड़ी या कँटिया।

मुहा०—**काँटा डालना वा लगाना**=मछली फँसाने के लिये काँटे को पानी में डालना।

(७) लोहे की झुकी हुई अँकुड़ियों का गुच्छा जिसे कूएँ में डालकर गिरे हुए लोटे वा गगरे को निकालते हैं।

क्रि० प्र०—डालना।

(८) सूई वा कील की तरह कोई नुकीली वस्तु। जैसे, साही की पीठ का काँटा, जूते की एँड़ी का काँटा (जिससे घोड़े को एँड़ लगाते हैं)। (९) एक झुका हुआ लोहे का काँटा जिसमें तागे को फँसाकर पटहार वा पटवा गुहने का काम करते हैं। (१०) वह सूई जो लोहे की तराज़ू की डाँड़ी की पीठ पर होती है और जिससे दोनों पल्लों के बराबर होने की सूचना मिलती है। (यदि काँटा ठीक सीधे खड़ा होगा तो समझा जायगा कि पलड़े बराबर हैं। यदि कुछ झुका वा तिरछा होगा, तो समझा जायगा कि बराबर नहीं हैं)। (११) वह लोहे की तराज़ू जिसकी डाँड़ी पर काँटा होता है (इससे तौल ठीक ठीक मालूम होती है)।

मुहा०—काँटे की तौल=न कम न बेश। ठीक ठीक। काँटे में तुलना=महँगा होना। गिराँ होना।

(१२) नाक में पहनने का एक आभूषण। कील। लौंग। (१३) पंजे के आकार का धातु का बना हुआ एक औज़ार जिससे अँग्रेज़ लोग खाना खाते हैं। (१४) लकड़ी का एक ढाँचा जिससे किसान घास भूसा उठाते हैं। बैसाखी। अखानी। (१५) सूआ। सूजा। (१६) घड़ी की सूई। (१७) गणित में गुणन के फल के शुद्धाशुद्ध की जाँच की एक क्रिया जिसमें एक दूसरे को काटती हुई दो लकीरें बनाई जाती हैं।

विशेष—गुण्य के अंकों को जोड़कर ९ से भाग देते हैं अथवा एक एक अंक लेकर जोड़ते और उसमें से ९ घटाते जाते हैं। फिर जो बचता है, उसे काटनेवाली लकीरों के एक सिरे पर रखते हैं। फिर इसी प्रकार गुणक के अंकों को लेकर करते हैं; जो फल होता है, उसे लकीर के दूसरे सिरे पर रखते हैं। फिर इन दोनों आमने सामने के सिरों के अंकों को गुणते हैं और इसी प्रकार ९ से भाग देकर शेष को दूसरी लकीर के एक सिरे पर रखते हैं। अब यदि गुणनफल के अंकों को लेकर यही क्रिया करने से दूसरी लकीर के दूसरे सिरे पर रखने के लिये वही अंक आ जाय, तो गुणनफल ठीक समझना चाहिए। जैसे,—

५   २८४×१२=३४०८ परीक्ष्य।

२+८+४=१४÷९=शेष ५ लकीर के एक सिरे पर।

६   १+२=३ (९ का भाग नहीं लगता) दूसरे सिरे पर।

३   ५×३=१५÷९=शेष ६ दूसरी लकीर के एक सिरे पर।

३+४+८=१५÷९=शेष ६ दूसरे सिरे पर।

(१८) वह क्रिया जो किसी गणित की शुद्धि की परीक्षा के लिये की जाय। (१९) वह कुश्ती जिसमें दोनों पक्ष मिल कर न लड़ें, बल्कि प्रतिद्वंद्विता के भाव से लड़ें। (२०) जमुना के किनारे की वह निकम्मी भूमि जिसमें कुछ उपजता नहीं। (२१) दरी की बिनावट में उसके बेल बूटे का एक भेद जिसमें नोक निकली होती है। (२२) एक प्रकार की आतशबाज़ी।

काँटी—संज्ञा स्त्री० [हिं० काँटा का अल्पा०] (१) छोटा काँटा। कील।

क्रि० प्र०—गाड़ना।—लगाना।—ठोंकना।—जड़ना।

(२) वह छोटी तराज़ू जिसकी डाँड़ी पर काँटा लगा हो। ऐसी तराज़ू सुनार लुहार आदि रखते हैं। (३) झुकी हुई छोटी कील। अँकुड़ा। (४) साँप पकड़ने की एक लकड़ी जिसके छोर पर लोहे का अँकुड़ा लगा रहता है। (५) बेड़ी।

मुहा०—काँटी खाना=क़ैद काटना। जेल काटना। क़ैद होना। (जुआरियों की बोली)।

(६) वह रूई जो धुनने के बाद बिनौलों के साथ रह जाती है। (७) लड़कों का एक खेल जिसमें वे डोरे में कंकड़ बाँधकर लड़ाते हैं। लंगर।

मुहा०—काँटी लड़ाना=लंगर लड़ाना।

काँठा*—संज्ञा पुं० [सं० कंठ] (१) गला। (२) वह लाल नीली रेखा जो तोते के गले के किनारे मंडलाकार निकलती है। उ०—हीरामन हौं तेहि के परेवा। काँठा फूट करत तेहि सेवा।—जायसी। (३) किनारा। तट। उ०—(क) भाई विभीषन जाइ मिल्यो प्रभु आइ परे सुनि सायर काँठे।—तुलसी। (ख) दरिया का काँठा। (लश०)। (४) पार्श्व। बग़ल।

संज्ञा पुं० [सं० काष्ठ] लकड़ी का एक बित्ता लंबा पतला छड़ जिसमें जुलाहे बाना बुनने के लिये रेशम लपेटते हैं। यदि ताना बादले का होता है तो काँठे ही से बुनते भी हैं।

कांड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस, नरकट वा ईख आदि का वह अंश जो दो गाँठों के बीच हो। पोर। गाँडा। गेंडा। (२) शर। सरकंडा। (३) वृक्षों की पेड़ी। तना। (४) पेड़ी वा तने का वह भाग जहाँ से ऊपर चलकर डालियाँ निकलती हैं। तरुस्कंध। (५) शाखा। डाली। डंठल। (६) गुच्छा। (७) धनुष के बीच का मोटा भाग। (८) किसी कार्य्य वा विषय का विभाग। जैसे—कर्म्मकांड, ज्ञानकांड, उपासनाकांड। (९) किसी ग्रंथ का वह विभाग जिसमें एक पूरा प्रसंग हो। जैसे—अयोध्याकांड। (१०) समूह। वृंद। (११) हाथ या पैर की लंबी हड्डी वा नली। (१२) बाण। तीर। (१३) डाँड़। बल्ला। (१४) एक वर्ग माप। (१५ खुशामद। झूठी प्रशंसा। (१६) जल। (१७) निर्जन स्थान। एकांत। (१८) अवसर। (१९) व्यापार। घटना। वि० कुत्सित। बुरा।

कांडतिक्त—संज्ञा पुं० [सं०] चिरायता।

कांडत्रय-संज्ञा पुं० [सं०] तीन कांडों का समूह । वेदों के तीन विभाग, जिनको कर्मकांड, उपासनाकांड और ज्ञानकांड कहते हैं ।

कांडधार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रदेश का नाम जिसका उल्लेख पाणिनि ने अपने तक्षशिलादि गण में किया है ।

वि० कांडधार देश का निवासी ।

काँड़ना†*-क्रि० स० [सं० कंडन (कडि=रौंदना, भूसी अलग करना)] (१) रौंदना । कुचलना । (२) धान को कूटकर चावल और भूसी अलग करना । कूटना । उ०—उदधि अपार उतरतहू न लागी बार केसरीकुमार सो अडंड ऐसो डाँड़िगो । बाटिका उजारि अक्ष रक्षकनि मारि भट भारी भारी रावरे के चाउर से काँड़िगो ।—तुलसी । (३) लात लगाना । खूब पीटना । मारना ।

कांडपृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भारी धनुष । (२) कर्ण के धनुष का नाम । (३) वह ब्राह्मण जो धनुष आदि शस्त्र बनाकर निर्वाह करता हो । (४) सिपाही । (५) वह जो अपने कुल को त्यागकर दूसरे के कुल में मिले ।

कांडभग्न-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में आघात वा चोट का एक भेद जिसमें हाथ वा पैर की हड्डी टूट जाती है । चोट के बारह भेद ये हैं—कर्कट, अश्वकर्ण, विचूर्णित, अस्थिछिलिका पिच्चित, कांडभग्न, अतिपतित, मज्जागत, स्फुटित, वक्र, छिन्न और द्विधाकर ।

कांडर्षि-संज्ञा पुं० [सं०] वह ऋषि जिसने वेद के किसी कांड वा विभाग (कर्म, ज्ञान वा उपासना) पर विचार किया हो; जैसे—जैमिनी, व्यास, शांडिल्य ।

काँडली-संज्ञा स्त्री० [सं० कांड] लोनी । कुलफा ।

काँड़ा-संज्ञा पुं० [सं० कर्णक] (१) पेड़ों का एक रोग जिसमें उनकी लकड़ी में कीड़े पड़ जाते हैं । (२) लकड़ी का कीड़ा । (३) दाँत का कीड़ा ।

† संज्ञा पुं० [सं० काण] काना ।

काँड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० काँड़ना] (१) उखली का वह गड्ढा जिसमें धान आदि डालकर मूसल से कूटते हैं । (२) भूमि में गड़ा हुआ लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा जिसमें धान कूटने के लिये गड्ढा बना रहता है । (३) हाथी का एक रोग जिसमें उसके पैर के तलवे में एक गहरा घाव हो जाता है और उसको चलने फिरने में बड़ा कष्ट होता है । घाव में छोटे छोटे कीड़े रहते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कांड] (१) लकड़ी का डंडा जिससे भारी चीज़ों को ढकेलते, ऊपर चढ़ाते तथा और प्रकार से हटाते हैं । (२) जहाज़ के लंगर की डाँड़ी अर्थात् वह सीधा भाग जो मुड़े हुए अँकुड़ों और ऊपरी सिरे के बीच में होता है । (३) बाँस या लकड़ी का कुछ पतला सीधा लट्ठा जो घर की छाजन में लगता तथा और और कामों में भी आता है ।

मुहा०—काँड़ी कफ़न=मुरदे की रथी का सामान ।

(४) छड़ । लट्ठा । उ०—और सुआ सोने की डाँड़ी । सारदूल रूपे की काँड़ी ।—जायसी । (५) अरहर का सूखा डंठल । रहठा ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कांड=समूह, झुंड] मछलियों का झुंड । छाँवर ।

कांत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पति । शौहर ।

यौ०—उमाकांत, गौरीकांत, लक्ष्मीकांत, इत्यादि ।

(२) श्रीकृष्णचंद्र का एक नाम । (३) चंद्रमा । (४) विष्णु । (५) शिव । (६) कार्त्तिकेय । (७) हिंजल का पेड़ । ईंजड़ । (८) वसंत ऋतु (९) कुंकुम । (१०) एक प्रकार का लोहा जो वैद्यक में औषध के काम में आता है । वैद्यकशास्त्र में इसकी पहचान यह लिखी है कि जिस लोहे के बरतन में रक्खे गरम जल में तेल की बूँद न फैले, जिसमें हींग की गंध और नीम का कड़ुआपन जाता रहे तथा जिसमें औटने पर दूध का उफान किनारे की ओर न जाय, बल्कि बीच में इकट्ठा होकर दूह की तरह उठे, उसे कांत कहते हैं । ऐसे लोहे के बरतन में रक्खी वस्तु में कसाव नहीं आता । इसे कांतसार भी कहते हैं ।

कांतपाषाण-संज्ञा पुं० [सं०] चुंबक पत्थर । अयस्कांत ।

कांतलौह-संज्ञा पुं० [सं०] कांतसार ।

कांतसार-संज्ञा पुं० [सं०] कांत लोहा । दे० "कांत (१०)" ।

कांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रिया । सुन्दरी स्त्री । (२) विवाहिता स्त्री । भार्य्या । पत्नी ।

कांतार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भयानक स्थान । बौद्ध ग्रंथों में पाँच प्रकार के कांतार लिखे हैं—चौर कांतार, व्याल कांतार, अमानुष कांतार, निरुदक कांतार और अल्पभक्ष्य कांतार । (२) दुर्भेद्य और गहन वन । (३) एक प्रकार की ईख । केतारा । (४) बाँस । (५) छेद । दरार ।

कांतासक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] भक्ति का एक भेद जिसमें भक्त ईश्वर को अपना पति मानकर पति-पत्नी भाव से उसमें प्रेम और भक्ति करता है ।

कांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दीप्ति । प्रकाश । तेज । आभा । (२) सौंदर्य्य । शोभा । छवि । (३) चंद्रमा की सोलह कलाओं में से एक । (४) चंद्रमा की एक स्त्री का नाम । (५) आर्य्या छंद का एक भेद जिसमें १६ लघु और २५ गुरु होते हैं ।

कांतिसुर-संज्ञा पुं० [सं० सुरकांति] (१) देवताओं की द्युति । (२) सोना ।—अने० ।

काँथरि*-संज्ञा स्त्री० [सं० कंथा] कथरी । गुदड़ी । उ०—कैसे ओढ़ब काँथरि कंथा । कैसे पाँय चलब मुइँ पंथा ।—जायसी ।

काँदना-क्रि० अ० [सं० क्रंदन=चिल्लाना । बंग०] रोना । चिल्लाना उ०—उसी समय एक ऋषि जो ईंधन के लिये वहाँ जा निकले, दूर ही से उसका रोना सुन के अति व्याकुल हो लगे सोच करने कि यह तो अनाथ स्त्री कोई काँदती है ।—सदल मिश्र ।

कांँदव†-संज्ञा पुं० दे० "काँदो"।

काँदा-संज्ञा पुं० [सं० कंद] (१) एक गुल्म जिसमें प्याज की तरह गाँठ पड़ती है। इसकी पत्तियाँ प्याज़ से कुछ चौड़ी होती हैं। यह तालों के किनारे होता है और वर्षा का जल पड़ने पर इसमें पत्ते निकलते और सफ़ेद रंग के फूल (धतूरे के फूल के ऐसे) लगते हैं जिनके दलों पर पाँच छः रूखी लाल धारियाँ होती हैं। इन धारियों के सिरों पर अर्द्धचंद्राकार पीले चिह्न होते हैं। इसकी गाँठ माँडी देने के काम में आती है इसे कँदरी वा कँदली भी कहते हैं। इसका संस्कृत नाम भी कंदली ही है। (२) प्याज।

काँदू-संज्ञा पुं० [सं० स्कंध] बनियों की एक जाति।

काँदो†*-संज्ञा पुं० [सं० कर्दम, पा० कद्दम] कीच। कीचड़। पंक। उ०—अगिलहि कहँ पानी खर बाँटा। पछिलहिं काहु न काँदो आँटा।—जायसी।

काँध*-संज्ञा पु० [सं० स्कंध, प्रा० खंध] कंधा। उ०—(क) मत्त मतँग सब गरजहिं बाँधे। निसि दिन रहहिं महाउत काँधे।—जायसी। (ख) मस्तक टीका काँध जनेऊ। कबि बियास पंडित सहदेऊ।—जायसी।

मुहा०—**काँध देना**=(१) सहारा देना। उठाने में सहायता करना। किसी भारी चीज़ को कंधे पर उठा कर ले जाने में सहायता देना। (२) अंगीकार करना। ऊपर लेना। मानना। उ०—यह सो कृष्ण बलराज जस कीन चहै छर बाँध। हम विचार अस आवहिं मेरहिं दीज न काँध।—जायसी। (३) **काँध मारना**=न टिकना। धोखा देना। काम न आना। उ०—सजग जो नाहिं मात बल काँधा। बुध कहिये हस्ती काँ बाँधा।—जायसी। **काँध लेना**=उठाना। ऊपर लेना। सभालना। उ०—काँध समुद धस लीन्हेसि भा पाछे सब कोइ। कोइ काहुन सँभारै आपन आपन होइ।—जायसी। (२) कोल्हू की जाठ में मुंडी के ऊपर का पतला भाग।

काँधना*-क्रि० स० [हिं० काँध] (१) उठाना। सिर पर लेना। सँभालना। उ०—(क) प्रीति पहाड़ भार जो काँधा। कित तेहि छूट लाइ जिय बाँधा।—जायसी।—(ख) उठा बाँध जस सब गढ़ बाँधा। कीजै बेगि भार जस काँधा।—जायसी (२) ठानना। मचाना। उ०—(क) सुभुज मारीच खर त्रिसिर दूषन बालि दलत जेहि दूसरो सर न साँधो। आनि पर बाम, बिधि बाम तेहि राम सों रूकत संग्राम दसकंध काँधो।—तुलसी। (ख) भूषन भनत सिवराज तव किस्ति सम और की न किस्ति कहिबे को काँधियतु है।—भूषण। (३) स्वीकार करना। अंगीकार करना। उ०—(क) जो पहिले मन मान न काँधे। परखे रतन गाँठि तब बाँधे।—जायसी। (ख) तिनहि जीति रन आनेसु बाँधी। उठि सुत पितु अनुसासन काँधी।—तुलसी। (२) भार सहना। अँगेजना। सहना। उ०—बिरह पीर को नैन ये सकैं नहीं पल काँध। मीत आइ कै तूँ इन्हैं रूप पीठि दै बाँध।—रसहजारा।

काँधर*-संज्ञा पुं० [सं० कृष्ण, प्रा० कण्ह] कृष्ण। उ०—कहि सुन्दर भीतर जाइ जो देखों तो खोज नहीं कहूँ काँधर को।—सुन्दरीसर्वस्व।

काँधा†-संज्ञा पुं० दे० "कंधा"।
संज्ञा पुं० दे० "कान्हा"।

काँधी-संज्ञा स्त्री० [हिं० काँधा] कंधा।

मुहा०—**काँधी देना**=इधर उधर कर के बात टालना। टाल मटूल करना। **काँधी मारना**=घोड़े का अपनी गर्दन को किसी ओर को झटके के साथ फेरना जिससे सवार का आसन हिल जाय।

काँप-संज्ञा स्त्री० [सं० कम्पा] (१) बाँस वा किसी और चीज़ की पतली लचीली तीली जो झुकाने से झुक जाय। (२) पतंग वा कनकौवे की वह पतली तीली जो धनुष की तरह झुका कर लगाई जाती है। (३) सूअर का खाँग। (४) हाथी का दाँत। (५) कान में पहनने का सोने का एक गहना जो पत्ते के आकार का होता है और पहनने पर हिला करता है। स्त्रियाँ इसे पाँच पाँच या सात सात करके कान की बाली में पहनती हैं। यह जड़ाऊ भी होता है। (६) करनफूल। (७) क़लई का चूना।

काँपना-क्रि० स० [सं० कंपन] (१) हिलना। थरथराना। उ०—खन खन जोहि चीर सिर गहा। काँपत बीजु दुहूँ दिसि रहा।—जायसी। (२) डर से काँपना। थर्राना। उ०—डोलइ गगन इँदर डरि काँपा। बासुकि जाइ पतारहि चाँपा।—जायसी। (३) डरना। भयभीत होना।

संयो० क्रि०—उठना।—जाना।

कांपिल्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन प्रदेश जो आज कल फ़र्रुख़ाबाद ज़िले की क़ायमगंज तहसील के अंतर्गत कंपिल नामक परगना कहलाता है। राजधानी के स्थान पर कंपिल नाम का अब एक छोटा सा क़सबा रह गया है।

कांपिल्ल-संज्ञा दे० "कांपिल्य"।

कांबोज-वि० [सं०] (१) कंबोज देश का। कंबोज-देश-संबंधी। (२) कंबोज देश का निवासी।

काँय काँय-संज्ञा पुं० [अनु०] कौवे का शब्द।

काँव काँव-संज्ञा पुं० [अनु०] कौवे का शब्द।

काँवर-संज्ञा स्त्री० [हिं० काँध+आवर (प्रत्य०)] (१) बाँस का एक मोटा फट्ठा जिसके दोनों छोरों पर वस्तु लादने के लिये छींके लगे रहते हैं और जिसे कंधे पर रखकर कहार आदि ले चलते हैं। बहँगी। (२) एक डंडे के छोर पर बँधी हुई बाँस की दो टोकरियाँ जिनमें यात्री गंगाजल ले जाते हैं।

काँवरा-वि० [पं० कमला=पागल] व्याकुल । घबराया हुआ । भौचक्का । हक्काबक्का । जैसे,—उन लोगों ने चारों ओर से घेरकर मुझे काँवरा कर दिया ।
क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

काँवरि†-संज्ञा स्त्री० [हिं० काँध+आवर (प्रत्य०)] (१) बहँगी । उ०—(क) श्रवन श्रवनकरि ररि मुई माता काँवरि लागि । तुम बिनु पानि न पावइ दशरथ लावै आगि ।—जायसी । (ख) सहस शकट भरि कमल चलाए । अपनी समसरि और गोप जे तिनको साथ पठाए । और बहुत काँवरि माखन दधि अहिरन काँधे जोरी । बहुत बिनती मोरी कहिये और धरे जल जा मल तोरी ।—सूर । (ग) कोटिन काँवरि चले कहारा । विविध वस्तु को बरनइ पारा ।—तुलसी । (२) एक डंडे के छोर पर बँधी हुई बाँस की दो गहरी टोकरियाँ जिनमें यात्री गंगाजल ले जाते हैं ।

काँवरिया-संज्ञा पुं० [हिं० काँवरि] काँवर ले कर चलनेवाला मनुष्य । कामारथी ।

काँवरू-संज्ञा पुं० [सं० कामरूप] कामरूप देश ।
†संज्ञा पुं० [सं० कमल] कमल रोग ।

काँवाँरथी-संज्ञा पुं० [स० कामार्थी] वह जो किसी तीर्थ में किसी कामना से काँवर लेकर जाय ।

काँस-संज्ञा पुं० [सं० काश] एक प्रकार की लंबी घास जो परती अथवा ऊँची और ढालुई ज़मीन में होती है । इसकी पत्तियाँ दो दो ढाई ढाई हाथ लंबी और शर से भी पतली होती हैं । काँस पुरसा भर तक बढ़ता है और वर्षा के अंत में फूलता है । फूल ज़ीरे में सफ़ेद रुई की तरह लगते हैं । काँस रस्सियाँ बटने और टोकरे आदि बनाने के काम में आता है । इसकी एक पहाड़ी जाति बनकस या बगई कहलाती है जिसकी रस्सियाँ ज़्यादा मज़बूत होती हैं और जिससे काग़ज़ भी बनता है । उ०—(क) फूले काँस सकल महि छाई । जनु वर्षा ऋतु प्रगट बुढ़ाई ।—तुलसी । (ख) आए कनागत फूले काँस । बाम्हन कूदें नौ नौ बाँस ।
विशेष—कोई कोई इस शब्द को स्त्री लिंग भी बोलते हैं ।
मुहा०—काँस में तैरना=असमंजस में पड़ना । दुबधा में पड़ना । काँस में फँसना=संकट में पड़ना ।

काँसा-संज्ञा पुं० [सं० कांस्य] [वि० काँसी] एक मिश्रित धातु जो तांबे और जस्ते के संयोग से बनती है । इसके बरतन और गहने आदि बनते हैं । कसकुट । भरत उ०—काँसे ऊपर बीजुरी, परै अचानक आय । ताते निर्भय ठीकरा, सतगुरु दिया बताय ।—कबीर ।
यौ०—कँसभरा=काँस का गहना बनाने और बेचनेवाला ।
संज्ञा पुं० [फ़ा० कासा] भीख माँगने का ठीकरा या खप्पर ।

काँसागर-संज्ञा पुं० [हिं० काँसा+फ़ा० गर (प्रत्य०)] काँसे का काम करनेवाला ।

काँसी-संज्ञा स्त्री० [सं० काश] धान के पौधे का एक रोग ।
क्रि० प्र०—लगना ।
संज्ञा स्त्री० [सं० कांस्य] काँसा ।
संज्ञा स्त्री० [सं० कनिष्ठा] सब से छोटी स्त्री । कनिष्ठा ।

काँसुला-संज्ञा पुं० [हिं० काँसा] काँसे का चौकोर टुकड़ा जिसमें चारों ओर गोल गोल खड्ढे वा गड्ढे बने होते हैं । इस पर सुनार चाँदी सोने आदि के पत्तर रखकर गोल करते हैं और कंठा, घुंडी आदि बनाते हैं । कँसुला ।

कांस्टेब्ल-संज्ञा पुं० [अं०] पुलिस का सिपाही ।
यौ०—हेड कांस्टेब्ल=पुलिस के सिपाहियों का जमादार ।

कांस्य-संज्ञा पुं० [सं०] काँसा । कसकुट ।
यौ०—कांस्यकार । कांस्यदोहनी ।

कांस्यकार-संज्ञा पुं० [सं०] कसेरा । भरतवाला । ठठेरा ।

कांस्यताल-संज्ञा पुं० [सं०] मँजीरा । ताल ।

कांस्यदोहनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काँसे का बर्तन जिसमें दूध दुहा जाता है । कमोरी ।
विशेष—यह गोदान के साथ दी जाती है ।

का-प्रत्य० [सं० प्रत्य० क, उ०—वासुदेवक ; स्थानिक] संबंध वा षष्ठी का चिन्ह; जैसे—राम का घोड़ा । उसका घर ।
विशेष—इस प्रत्यय का प्रयोग दो शब्दों के बीच अधिकारी अधिकृत (जैसे, राम की पुस्तक), आधार आधेय जैसे,—(ईख का रस, घर की कोठरी), अंगांगी (जैसे,—हाथ की उँगली) कार्य्य कारण (जैसे,—मिट्टी का घड़ा), कर्तृ कर्म (जैसे,—बिहारी की सतसई) आदि अनेक भावों को प्रकट करने के लिये होता है । इनके अतिरिक्त सादृश्य (जैसे,—कमल के समान), योग्यता (जैसे,—यह भी किसी से कहने की बात है ?), समस्तता (जैसे,—गाँव के गाँव बह गए) आदि दिखाने के लिये भी इसका व्यवहार होता है । तद्धित प्रत्यय 'वाला' के अर्थ में भी षष्ठी विभक्ति आती है, जैसे वह नहीं आने का । षष्ठी विभक्ति का प्रयोग द्वितीया (कर्म) और तृतीया (करण) के स्थान पर भी कहीं कहीं होता है, जैसे—रोटी का खाना, बंदूक की लड़ाई । विभक्तियुक्त शब्द के साथ जिस दूसरे शब्द का संबंध होता है, यदि वह स्त्रीलिंग होता है तो "का" के स्थान पर "की" प्रत्यय आता है । † सर्व० [सं० कः] (१) क्या ? । उ०—का क्षति लाभ जीर्ण धनु तोरे ?—तुलसी । (२) ब्रजभाषा में कौन का वह रूप जो उसे विभक्ति लगाने के पहले प्राप्त होता है; जैसे—काको, कासों । उ०—कहो कौशिक, छोटो सो ढोटो है काको ?—तुलसी ।

काई–संज्ञा स्त्री० [सं० कावार] (१) जल वा सीड़ में होनेवाली एक प्रकार की महीन घास वा सूक्ष्म वनस्पति-जाल। काई भिन्न भिन्न आकारों और रंगों की होती है। चट्टान वा मिट्टी पर जो काई जमती है, वह महीन सूत के रूप में और गहरे वा हलके हरे रंग की होती है। पानी के ऊपर जो काई फैलती है, वह हलके हरे रंग की होती है और उसमें गोल गोल बारीक पत्तियाँ होती हैं तथा फूल भी लगते हैं। एक काई लंबी जटा के रूप में होती है, जिसे सेवार कहते हैं।

क्रि० प्र०—जमना।—लगना।

मुहा०—काई छुड़ाना=(१) मैल दूर करना। (२) दुःख दारिद्र्य दूर करना। काई सा फट जाना=तितर बितर हो जाना। छँट जाना। जैसे—बादलों का, भीड़ का इत्यादि।

(२) एक प्रकार का हरा मुर्चा जो ताँबे, पीतल इत्यादि के बरतनों पर जम जाता है। (३) मल। मैल। उ०—जब दर्पन लागी काई। तब दरस कहाँ ते पाई।

काऊ*†–क्रि० वि० [सं० कदा] कभी। उ०—हिम तेहि निकट जाय नहिं काऊ।—तुलसी।

सर्व० [सं० कः] (१) कोई। (२) कुछ। उ०—(क) पथ श्रम लेश कलेश न काऊ।—तुलसी। (ख) गुन अवगुन प्रभु मान न काऊ।—तुलसी।

†संज्ञा स्त्री० [देश०] वह छोटी खूँटी जो बरही के सिरे पर जोते हुए खेत को बराबर करनेवाले पाटे वा हेंगे में लगी रहती है। कानी।

काकंदि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम। आज कल इसे कोकंद कहते हैं। तुर्किस्तान में कोकंद नाम का नगर समरकंद से पूरब है।

काक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० काकी] कौआ।

संज्ञा पु० [अं० कार्क] एक प्रकार की नर्म लकड़ी जिसकी डाट बोतलों में लगाई जाती है। काग।

काककंगु–संज्ञा पु० [सं०] चेना। कँगनी। काकुन।

काककला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चतुर्दश ताल का एक भेद। (२) काकजंघा नाम की ओषधि।

काकजंघा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चकसेनी। मसी।

विशेष—इसका पौधा ३—४ हाथ तक ऊँचा जाता है। इसके डंठल में ४—५ अंगुल पर फूली हुई गाँठें होती हैं। गाँठों पर डंठल कुछ टेढ़ा रहता है जिससे वह चिड़िया की टाँग की तरह दिखाई देता है। प्रत्येक पुरानी मोटी गाँठ के भीतर एक छोटा कीड़ा होता है जो बच्चों की पसली फड़कने में दवा की तरह दिया जाता है। इसकी पत्तियाँ इंच डेढ़ इंच लंबी होती हैं। वैद्यक में काकजंघा कफ, पित्त, खुजली, कृमि और फोड़े फुंसी को दूर करनेवाली मानी जाती है।

(२) गुंजा। घुँघची। (३) मुगौन वा मुगवन नाम की लता।

काकड़ा–संज्ञा पुं० [सं० कर्कट, प्रा० कक्कड़] एक बड़ा पेड़ जो सुलेमान पहाड़ तथा हिमालय पर कुमाऊँ आदि स्थानों में होता है। जाड़े में इसके पत्ते झड़ जाते हैं। इसकी कड़ी लकड़ी पीलापन लिए हुए भूरे रंग की होती है और कुरसी, मेज़, पलंग आदि बनाने के काम में आती है। इस पर खुदाई का काम भी अच्छा होता है। पत्ते चौपायों को खिलाए जाते हैं। इसमें सींग के आकार के पोले बाँदे लगते हैं जिन्हें "काकड़ासींगी" कहते हैं।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का हिरन जिसे साँभर वा साबर भी कहते हैं।

काकड़ासींगी–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्कटशृंगी] हिमालय के उत्तर-पश्चिम भाग में काकड़ा नामक पेड़ में लगा हुआ एक प्रकार का टेढ़ा पोला बाँदा जिसका प्रयोग औषधों में होता है। यह रँगने और चमड़ा सिझाने के काम में भी आता है। लोहे के चूर के साथ मिलकर यह काला-नीला रंग पकड़ता है। वैद्यक में इसे गरम और भारी मानते हैं। खाने में इसका स्वाद कसैला होता है। वात, कफ, श्वास, खाँसी, ज्वर, अतीसार और अरुचि आदि रोगों में इसे देते हैं। अरकोल वा लाखर नामक वृक्ष का बाँदा भी काकड़ासींगी नाम से बिकता है।

काकण–संज्ञा पु० [सं०] एक प्रकार का कोढ़। इस रोग में त्रिदोष के कारण रोगी के शरीर में गुंजा के समान लाल रँग के चकत्ते पड़ जाते हैं जिनमें बीच बीच में काले चिह्न भी होते हैं। ये चकत्ते पकते तो नहीं, पर इनमें पीड़ा और खुजली बहुत अधिक होती है।

काकणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] घुँघची।

काकतालीय–वि० [सं०] संयोगवश होनेवाला। इत्तफ़ाकिया।

विशेष—यह वाक्य इस घटना के अनुसार है कि किसी ताड़ के पेड़ पर एक कौआ ज्योंही आकर बैठा, त्योंही उसका एक पक्का फल लद से नीचे टपक पड़ा। यद्यपि कौए ने फल को नहीं गिराया, पर देखनेवालों की यह धारणा होना संभव है कि कौए ने फल गिराया।

यौ०—काकतालीय न्याय।

काकतालीय न्याय–संज्ञा पु० दे० "काकतालीय"।

काकतुंड–संज्ञा पुं० [सं०] काला अगर।

काकतुंडी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कौआठोंठी।

काकदंत–संज्ञा पुं० [सं०] कोई असंभव बात।

विशेष—कौए को दाँत नहीं होते, इससे शशशृंग, बंध्यापुत्र आदि शब्दों की तरह काकदंत भी असंभव-वाचक है।

काकध्वज–संज्ञा पुं० [सं०] बाड़वानल। बाड़वाग्नि।

काकपक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] बालों के पट्टे जो दोनों ओर कानों और कनपटियों के ऊपर रहते हैं। कुल्ला। जुल्फ़। उ०—काक-

पच्छ सिर सोहत नीके। गुच्छा बिच बिच कुसुम कली के।
—तुलसी।

विशेष—इस प्रकार के बाल रखनेवाले माथे के ऊपर के बाल मुँड़ा डालते हैं और दोनों ओर बड़े बड़े पट्टे छोड़ देते हैं जो कौए के पंख के समान लगते हैं।

काकपद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह चिह्न जो छूटे हुए शब्द के स्थान को जताने के लिये पंक्ति के नीचे बनाया जाता है और वह छूटा हुआ शब्द ऊपर लिख दिया जाता है। इसका आकार इस प्रकार होता है—^। (२) हीरे का एक दोष। छपहलू या अठपहलू हीरे में यदि यह दोष हो तो पहननेवाले के लिये हानिकर समझा जाता है। (३) कौए के पैर का परिमाण। स्मृति में यह एक शिखा का परिमाण माना गया है।

काकपीलु–संज्ञा पुं० [सं०] कुचला।

काकपुच्छ–संज्ञा पुं० [सं०] कोयल।

काकपुष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] कोयल।

काकफल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीम का पेड़। (२) नीम का फल।

काकफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का जामुन। बनजामुन।

काकबंध्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसे एक संतति के उपरांत दूसरी संतति न हुई हो। एक बाँझ।

काकबलि–संज्ञा स्त्री०[सं०] श्राद्ध के समय भोजन का वह भाग जो कौओं को दिया जाता है। कागौर।

काकभीरु–संज्ञा पुं० [सं०] उलूक। उल्लू।

काकभुशुंडि–संज्ञा पुं० [सं०] एक ब्राह्मण जो लोमश के शाप से कौआ हो गए थे और राम के बड़े भक्त थे। कहते हैं कि इनका बनाया भुशुंडि रामायण भी है।

काकमाची, काकमाता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मकोय।

काकरव–संज्ञा पुं० [सं०] डरपोक व्यक्ति। असाहसी मनुष्य। वह व्यक्ति जो ज़रा सी बात से डर जाय और कौए की तरह काँव काँव मचाने लगे।

काकरासंगी–संज्ञा स्त्री० दे० "काकड़ासींगी"।

काकरी*–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्कटी] ककड़ी। उ०—काकरी के चोर को कटारी मारियतु है।—पद्माकर।

काकरुक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उल्लू। (२) जोरू का गुलाम। स्त्री-भक्त।

काकरेज़ा–संज्ञा पुं० [हिं० काक+रंजन] (१) काकरेज़ी रंग का कपड़ा। (२) काकरेज़ी रंग।

काकरेज़ी–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक रंग जो लाल और काले के मेल से बनता है। कोकची।

विशेष—कपड़े को आल के रंग में रँगकर फिर लोहार की स्याही में रँगते हैं।

वि० काकरेज़ी रंग का।

काकल–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० काकली] (१) गले में सामने की ओर निकली हुई हड्डी। कौआ। घंटी। टेंटुवा। (२) काला कौआ।

काकली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मधुर ध्वनि। कल नाद। उ०—पिय बिनु कोकिल काकली भली अली दुख देत।—शृं० सत०। (२) सेंध लगाने की सबरी। (३) साठी धान। (४) संगीत में वह स्थान जहाँ सूक्ष्म और स्फुट स्वर लगते हैं। (५) घुँघची। गुंजा।

यौ०—काकली-द्राक्षा।

वि० जिसे काकली वा घंटी हो।

काकली-द्राक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा अंगूर जिसमें बीज नहीं होते और जिसे सुखाकर किशमिश बनाते हैं। (२) किशमिश।

काकली निषाद–संज्ञा पुं० [सं०] एक विकृत स्वर। यह कुमुद्वती नामक श्रुति से आरंभ होता है और इसमें चार श्रुतियाँ होती हैं।

काकलीरव–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० काकलीरवा] कोयल।

काकशीर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] अगस्त का पेड़ वा फूल। वकपुष्प। हथिया।

काकसेन–संज्ञा पुं० [अं० काकसवेन] वह पुरुष जो किसी अफ़सर की मातहती में रहकर जहाज़ और मज़दूरों की निगरानी करता हो। (लश०)।

काका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काकजंघा। मसो। (२) काकोली। (३) घुँघची। (४) कठूमर। कठगूलर। (५) मकोय।

संज्ञा पुं० [फ़ा० काका=बड़ा भाई] [स्त्री० काकी] बाप का भाई। चाचा।

काका कौआ–संज्ञा पुं० दे० "काकातूआ"।

काकाक्षिगोलक न्याय–संज्ञा पुं० [सं०] एक शब्द वा वाक्य को उलट फेरकर दो भिन्न भिन्न अर्थों में लगाना।

विशेष—लोगों का विश्वास है कि कौए को एक ही आँख होती है जिसे वह इच्छानुसार दाहिने वा बाएँ गोलक में लाकर अपना काम चलाता है। इसीलिये संस्कृत में कौए को एकाक्ष भी कहते हैं। जिस तरह एक आँख को कौआ कभी दाहिनी और कभी बाईं ओर ले जाता है, उसी तरह किसी शब्द वा वाक्य का यथेच्छ सीधा उलटा अर्थ करने को काकाक्षिगोलक न्याय कहते हैं।

काकातुआ–संज्ञा पुं० [मला०] एक प्रकार का बड़ा तोता जो प्रायः सफ़ेद रंग का होता है और जिसके सिर पर टेढ़ी चोटी होती है। इस चोटी को वह ऊपर निचे हिला सकता है। इसका शब्द बड़ा कर्कश होता है और सुनने में 'क क तु अ' की

तरह मालूम होता है। यह पक्षी जावा, बोर्नियो आदि पूर्वीय द्वीपसमूह के टापुओं में होता है।

काकादनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कौआठोठी। (२) सफ़ेद घुँघची।

काकिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घुँघची। गुंजा। (२) पण का चतुर्थ भाग जो पाँच गंडे कौड़ियों का होता है। (३) माशे का चौथाई भाग। (४) कौड़ी। उ०—साधन फल स्रुति सार नाम तव भव-सरिता कहँ बेरो। सोइ पर कर काकिनी लागि सठ बेचि होत हठ चेरो।—तुलसी।

काकिनी–संज्ञा स्त्री० दे० "काकिणी"।

काकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कौए की मादा।

संज्ञा स्त्री० [देश०] चाची। चची।

काकु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छिपी हुई चुटीली बात। व्यंग्य। तनज़। ताना। उ०—(क) राम बिरह दशरथ दुखित कहत केकयी काकु। कुसमय जाय उपाय सब केवल कर्म बिपाकु।—तुलसी। (ख) बिनु समझे निज अघ परिपाकू। जारिउ जाय जननि कहि काकू।—तुलसी। (२) अलंकार में वक्रोक्ति के दो भेदों में से एक जिसमें शब्दों के अन्यार्थ वा अनेकार्थ से नहीं बल्कि ध्वनि ही से दूसरा अभिप्राय ग्रहण किया जाय। जैसे—क्या वह इतने पर भी न आवेगा? अर्थात् आवेगा। उ०—अलिकुल कोकिल कलित यह ललित बसंत बहार। कहु सखि! नहिं ऐहैं कहा प्यारे अबहुँ अगार?

काकुत्स्थ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ककुत्स्थ राजा के वंश में उत्पन्न पुरुष। (२) रामचंद्र।

काकुन†–संज्ञा पुं० दे० "कँगनी"।

काकुम–संज्ञा पु० [तु०=क़ाक़ुम] तातार देश के ठंढे भागों में होनेवाला एक प्रकार का नेवला जिसका चमड़ा बहुत सफ़ेद, मुलायम और गरम होता है। अमीर लोग इस चमड़े की पोस्तीन बनवाकर पहनते हैं।

काकुल–संज्ञा पुं० [फ़ा०] कनपटी पर लटकते हुए लंबे बाल। कुल्ले। ज़ुल्फें।

मुहा०—**काकुल छोड़ना**=बालों की लट गिराना वा बिखराना। **काकुल झाड़ना**=बालों में कंघी करना।

काकोदर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० काकोदरी] साँप।

काकोल–संज्ञा पुं० [सं०] एक विष का नाम।

काकोली–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक ओषधी। यह एक प्रकार की जड़ वा कंद है जो सतावर की तरह होती है, पर आज कल मिलती नहीं। इसका एक भेद क्षीरकाकोली भी है। वैद्यक में यह वीर्यवर्द्धक और क्षीरवर्द्धक मानी गई है।

पर्या०—शीतपाकी। पयस्या। क्षीरा। वीरा। धीरा। शुक्ला। मेदुरा। जीवंती। पयस्विनी।

काग–संज्ञा पुं० [सं० काक] कौआ। वायस।

संज्ञा पुं० [अं० कार्क] (१) बलूत की जाति का एक बड़ा पेड़ जो स्पेन, पुर्तगाल तथा अफ़्रिका के उत्तरीय भागों में होता है। यह ३०–४० फुट तक ऊँचा होता है। इसकी छाल दो इंच तक मोटी होती है और बहुत हलकी और लचीली (अर्थात दाब पड़ने से दब जानेवाली) होती है। बोतल, शीशी आदि की डाट इसी छाल की बनती है। (२) बोतल या शीशी की डाट जो काग नामक पेड़ की छाल से बनती है।

काग़ज़–संज्ञा पुं० [अ०] [वि० काग़ज़ी] (१) सन, रूई, पटुए आदि को सड़ाकर बनाया हुआ महीन पत्र जिस पर अक्षर लिखे वा छापे जाते हैं।

यौ०—**काग़ज़ पत्र**=(१) लिखे हुए काग़ज़। (२) प्रामाणिक लेख। दस्तावेज़।

मुहा०—**काग़ज़ काला करना**=व्यर्थ कुछ लिखना। **काग़ज़ रंगना**=काग़ज़ पर कुछ लिखना। **काग़ज़ की नाव**=क्षण-भंगुर वस्तु। न टिकनेवाली चीज़। **काग़ज़ वा काग़ज़ी घोड़े दौड़ाना**=खूब लिखा पढ़ी करना। खूब चिट्ठी पत्री भेजना। परस्पर खूब पत्रव्यवहार करना। **काग़ज़ पर चढ़ाना**=कहीं लिख लेना। टाँकना। टीपना।

(२) लिखा हुआ काग़ज़। लेख। प्रामाणिक लेख। प्रमाण-पत्र। दस्तावेज़। जैसे,—जब तक कोई काग़ज़ न लाओगे, तुम्हारा दावा ठीक नहीं माना जायगा।

क्रि० प्र०—लिखना।—लिखवाना।

(३) संवाद पत्र। समाचार पत्र। ख़बर का काग़ज़। अख़बार। जैसे,—आज कल हम कोई काग़ज़ नहीं देखते। (४) नोट। प्रामिसरी नोट। जैसे,—२००००) का तो उनके पास ख़ाली काग़ज़ है।

काग़ज़ात–संज्ञा पुं० [अ० काग़ज़ का बहु०] काग़ज़ पत्र।

काग़ज़ी–वि० [अ० काग़ज़] (१) काग़ज़ का। काग़ज़ का बना हुआ। (२) जिसका छिलका काग़ज़ की तरह पतला हो। जैसे—काग़ज़ी नीबू, काग़ज़ी बादाम।

यौ०—**काग़ज़ी जोंक**=बहुत पतली और छोटी जोंक। (जोंक तीन प्रकार की होती हैं, भैंसिया, मझोली और काग़ज़ी)।

संज्ञा पुं० (१) काग़ज़ बेचनेवाला। (२) वह कबूतर जो बिलकुल सफ़ेद हो।

कागद†–संज्ञा पुं० [अ० काग़ज़] काग़ज़। उ०—सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।—तुलसी।

कागभुसुंड, कागभुसुंडी–संज्ञा पुं० दे० "काकभुशुंडि"।

कागमारी–संज्ञा स्त्री० [?] एक प्रकार की नाव जिसके आगे पीछे के सिरे लंबे होते हैं।

कागर*–संज्ञा पुं० [अ० काग़ज़] (१) काग़ज़। उ०—तुम्हरे देश कागर मसि खूटी। प्यास अरु नींद गई सब हरि के बिना बिरह तन टूटी।—सूर। (२) पंख। पर। उ०—(क) कीर के कागर ज्यों नृप चीर बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।—तुलसी।

कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यौ तज्यो नीर ज्यों काई।—तुलसी।

कागरी*-वि० [हिं० कागर=कागज] तुच्छ। हीन। उ०—नट नागर गुनन के आगर में प्रीति बाढ़ी गाढ़ी भइ प्रतीति जगी रीति भई कागरी।—रघुराज।

कागाबासी-संज्ञा स्त्री० [हिं० काग+बासी] (१) भाँग जो सबेरे कौआ बोलते समय छानी जाय। सबेरे के समय की भाँग। उ०—आप माल कचरैं छानैं उठि भोरहिं कागाबासी।—हरिश्चंद्र। (२) एक प्रकार का मोती जो कुछ काला होता है।

कागारोल-संज्ञा पुं० [हिं० काग=कौआ+रोर=शोर] हल्ला। हुल्लड़। शोर गुल।

कागिया-संज्ञा स्त्री० [देश०] तिब्बत देश की एक प्रकार की भेड़ जिसका सिर बहुत भारी और टाँगें छोटी होती हैं। इसका मांस बहुत स्वादिष्ट होता है। लोग इसे ऊन के लिये नहीं, मांस के लिये ही पालते हैं।

संज्ञा पुं० [हिं० काग] काले रंग का एक कीड़ा जो बाजरे की फसल को हानि पहुँचाता है।

कागौर-संज्ञा पु० [सं० काकबलि] पितृकर्म में कव्य का वह भाग जो कौए के लिये निकाला जाता है। श्राद्ध में भोजन का वह भाग जो कौओं को दिया जाता है।

काचमल-संज्ञा पुं० [सं०] काच-लवण।

काच-लवण-संज्ञा पुं० [सं०] काचिया नोन। काला नोन। सोंचर नोन।

काचरी*-संज्ञा स्त्री० दे० "काँचली" वा "केंचुली"।

काचा*-वि० [हिं० कच्चा] (१) कच्चा। (२) जी का कच्चा। कायर। डरपोक।

काची*-संज्ञा स्त्री० [हिं० कच्चा] दूध रखने की हाँड़ी।

काचा*-वि०(१) दे० "कच्चा"। (२) अनित्य। असार। मिथ्या। उ०—समझयौं मैं निरधार, यह जग काचो काँच सों। एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ।—बिहारी।

काछ-संज्ञा पुं० [सं० कक्ष, प्रा० कच्छ] (१) पेड़ू और जाँघ के जोड़ पर का तथा उसके कुछ नीचे तक का स्थान। (२) धोती का वह भाग जो इस स्थान पर से होकर पीछे खोंसा जाता है। लाँग। उ०—(क) कसि काछ दिए घँघरी की कपे कटि सों उपरैनिय भाँति भली।—रघुनाथ। (ख) चतुर काछ काछै जब जैसा। तब तहँ नाच दिखावै तैसा।—विश्राम।

क्रि० प्र०—कसना।—काछना।—खोलना।—देना।—बाँधना।—मारना।—लगाना।

(३) अभिनय के लिये नटों का वेश या बनाव।

काछना-क्रि० स० [सं० कक्षा, प्रा कच्छ] (१) कमर में लपेटे हुए वस्त्र के लटकते भाग को जंघों पर से ले जाकर पीछे कसकर बाँधना। (२) बनाना। सँवारना। पहनना। उ०—(क) गौर किशोर वेष वर काछे। कर शर चाप राम के पाछे।—तुलसी। (ख) ए ई राम लखन जे मुनि सँग आये हैं। चौतनी चोलना काछे सखि सोहैं आगे पाछे।—तुलसी।

क्रि० स० [सं० कषण=घिसना, चलाना] हथेली वा चम्मच आदि से किसी तरल पदार्थ को किनारे की ओर खींचकर उठाना वा इकट्ठा करना। जैसे, पोस्त से अफ़ीम काछना, होरसे पर से चंदन काछना।

काछनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० काछना] कसकर और कुछ ऊपर चढ़ा कर पहनी हुई धोती जिसकी दोनों लाँगें पीछे खोंसी जाती हैं। कछनी। उ०—(क) काछनी कटि पीत पट दुति कमल केसर खंड।—सूर। (ख) सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।—बिहारी।

क्रि० प्र०—कसना।—काछना।—मारना।

(२) घाघरे की तरह का एक चुननदार पहनावा जो आधे जंघे तक होता है और प्रायः जाँघिये के ऊपर पहना जाता है। आजकल मूर्तियों के शृंगार और रामलीला आदि में इस पहनावे का व्यवहार होता है।

काछा-संज्ञा पुं० [हिं० काछना] कसकर और कुछ ऊपर चढ़ाकर पहनी हुई धोती जिसकी दोनों लाँगें पीछे खोंसी जाती हैं। कछनी।

क्रि० प्र०—कसना।—काछना।—बाँधना।—मारना।—लगाना।

काछी-संज्ञा पुं० [सं० कच्छ=जलप्राय देश] तरकारी बोने और बेचनेवाला।

काछे-क्रि० वि० [सं० कक्ष, प्रा० कच्छ] निकट। पास। नज़दीक। उ०—ताहि कह्यौ सुख दे चलि हरि को मैं आवति हौं पाछे। वैसहिं फिरी सूर के प्रभु पै जहाँ कुंज गृह काछे।—सूर।

काज-संज्ञा पुं० [सं० कार्य्य, प्रा० कज्ज] (१) प्रयत्न जो किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये किया जाय। कार्य्य। काम। कृत्य। उ०—(क) ज्ञानी लोभ करत नहिं कबहूँ लोभ बिगारत काज।—सूर। (ख) घाम, धूम, नीर औ समीर मिले पाई देह ऐसो घन कैसे वृत काज भुगतावैगो।—लक्ष्मण।

क्रि० प्र०—करना।—कराना।—चलना।—चलाना।—निकलना।—निकालना।—भुगतना।—भुगताना।—सँवारना।—सरना।—सारना।

मुहा०—के काज=के हेतु। निमित्त। लिये। उ०—पर स्वारथ के काज सीस आगे धरि दीजै।—गिरधर।

(२) व्यवसाय। धंधा। पेशा। रोज़गार। जैसे,—(क) इस लड़के को अब किसी काम काज में लगाओ। (ख) अपने घर का काज देखो। (३) प्रयोजन। मतलब। उद्देश्य। अर्थ। उ०—(क) रोए कंत न बहुरै तौ रोए का काज?—जायसी। (ख) बिन काज आज महराज लाज गइ मेरी।—(गीत) (४) विवाह

संबंध उ०—यह श्यामल राजकुमार, सखी, दर जानकी जोगहिं जन्म लयो। रघुराज तथा मिथिलापुर राज अकाज यही जो न काज भयो।—रघुराज।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

संज्ञा पु० [अ० कायज़ा—लगाम, जिसकी डोरी दुम में फँसाई जाती है।] छेद जिसमें बटन डालकर फँसाया जाता है। बटन का घर।

क्रि० प्र०—बनाना।

काजर—संज्ञा पुं० दे० "काजल"।

काजरी—संज्ञा स्त्री० [सं० कज्जली] वह गाय जिसकी आँखों के किनारे काला घेरा हो। उ०—बाँह उचाइ काजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत।—सूर।

काजल—संज्ञा पु० [सं० कज्जल] वह कालिख जो दीपक के धूँएँ के जमने से किसी ठीकरे आदि पर लग जाती है और आँखों में लगाई जाती है।

क्रि० प्र०—देना।—पारना।—लगाना।

मुहा०—काजल घुलाना, डालना, देना, सारना=(आँखों में) काजल लगाना। काजल पारना=दीपक के धुँएँ की कालिख को किसी बरतन में जमाना। काजल की कोठरी=ऐसा स्थान जहाँ जाने से मनुष्य दोष वा कलंक से उसी प्रकार नहीं बच सकता जैसे काजल की कोठरी में जाकर काजल लगने से। दोष वा कलंक का स्थान। उ०—(क) यह मथुरा काजल की ओबरी जे आवहिं ते कारे।—सूर। (ख) काजल की कोठरी में कैसहू सयानो जाय एक लीक काजल की लागै पै लागै री। काजल का तिल=काजल की छोटी बिंदी जो स्त्रियाँ शोभा के लिये गालों पर लगाती हैं।

क़ाज़ी—संज्ञा पु० [अ०] मुसलमानों के धर्म और रीति-नीति के अनुसार न्याय की व्यवस्था करनेवाला। मुसलमानी समय का न्यायाध्यक्ष। उ०—क़ाज़ी जी दुबले क्यों, शहर के अंदेशे से।

काजू—संज्ञा पु० [कोंक० काज्जु] (१) एक पेड़ जो मदरास, चटगाँव और टनासरिम आदि स्थानों में होता है। इसकी छाल बहुत खुरदरी और लकड़ी सुर्ख़ होती है जिससे संदूक और सजावट के सामान तैयार होते हैं। इसके फलों की गिरी को भूनकर लोग खाते हैं। मींगी निकाली हुई गुठलियों के छिलकों से लोग एक प्रकार का तेल भी निकालते हैं जो तेज़ाब की तरह तेज़ होता है। इसके शरीर में लगते ही छाले पड़ जाते हैं। यह तेल पुस्तकों की जिल्दों में लगा देने से दीमकों का डर नहीं रहता। (२) इस वृक्ष का फल। (३) इस वृक्ष के फल की गुठली के भीतर की मींगी वा गिरी।

काजू भोजू—वि० [हिं० काज+भोग] ऐसी दिखाऊ वस्तु जो अधिक काम न आ सके। कमज़ोर या मामूली चीज़।

१३३

काट—संज्ञा स्त्री० [हिं० काटना] (१) काटने की क्रिया। काटने का काम। जैसे,—यह तलवार अच्छी काट करती है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—काटछाँट=(१) मार काट। लड़ाई। (२) काटने से बचा खुचा टुकड़ा। कतरन। (३) किसी वस्तु में कमी बेशी। घटाव बढ़ाव। जैसे,—इस लेख में बहुत काट छाँट की आवश्यकता है। काट कूट=दे० "काट छाँट (१)"। मार काट=तलवार आदि की लड़ाई।

(२) काटने का ढंग। कटाव। तराश। कतर ब्योंत। जैसे,—इस अँगरखे की काट अच्छी नहीं है।

यौ०—काट छाँट—रचना का ढंग। तर्ज़। किता।

(३) कटा हुआ स्थान। घाव। ज़ख़्म।

क्रि० प्र०—करना।

(३) छरछराहट जो घाव पर कोई चीज़ लगने से होती है। (५) ढंग। कपट। चालबाज़ी। विश्वासघात। जैसे,—वह समय पर काट कर जाता है।

क्रि० प्र०—करना।

यौ०—काट छाँट=ढंग। जोड़ तोड़। छक्का पंजा। जैसे,—वह बड़ी काट छाँट का आदमी है। काट फाँस=(१) जोड़। तोड़। फसाने का ढंग। (२) इधर की उधर लगाना। लगाव बझाव।

(६) कुश्ती में पेंच का जोड़। (७) चिकनाई और गर्द मिली मैल। तेल, घी आदि का तलछट।

काटकी—संज्ञा स्त्री० [हिं० काठ+की] लकड़ी वा छड़ी जिसे हाथ में लेकर कलंदर बंदर वा भालू नचाते हैं।

काटन†—संज्ञा पु० [हिं० काटना] किसी काटी हुई वस्तु के छोटे छोटे टुकड़े जिन्हें बेकाम समझकर लोग फेंक देते हैं। कतरन।

काटना—क्रि० स० [सं० कर्त्तन, प्रा० कट्टन] (१) किसी धारदार चीज़ की दाब वा रगड़ से दो टुकड़े करना। शस्त्र आदि की धार धँसाकर किसी वस्तु के दो खंड करना। जैसे, पेड़ काटना, सिर काटना।

मुहा०—काटो तो ख़ून नहीं=किसी दुःखदायी, भयानक वा अपना रहस्य खोलनेवाली बात को सुनकर एकबारगी सन्न हो जाना। स्तब्ध हो जाना। जैसे,—ज्यों ही उसने यह बात कही, काटो तो ख़ून नहीं।

(२) पीसना। महीन चूर करना। जैसे, भाँग काटना, मसाला काटना (इस अर्थ में 'कर्त्ता' प्रायः वस्तु होती है, व्यक्ति नहीं जैसे—यह बट्टा ख़ूब मसाला काटता है)। (३) घाव करना। ज़ख़्म करना। जैसे—जूते का काटना। (४) किसी वस्तु का कोई अंश निकालना। किसी भाग को अलग करना। जैसे,—(क) इस वर्ष नदी उधर की बहुत ज़मीन काट ले गई। (ख) उनकी तनख़्वाह में से २५) काट लो। (५) युद्ध में मारना। बध करना। जैसे,—उस लड़ाई में सैकड़ों सिपाही काटे गए। (६) कतरना। ब्योंतना। जैसे,—तुमने अभी

हमारा कोट नहीं काटा ? (७) छाँटना । नष्ट करना । दूर करना । मिटाना । जैसे, पाप काटना, रंग काटना, मैल काटना । झगड़ा काटना । (८) समय बिताना । वक्त गुज़ारना । जैसे, रात काटना, दिन काटना, महीना काटना, जाड़ा काटना, गरमी काटना, बरसात काटना । (९) रास्ता ख़तम करना । दूरी तै करना । जैसे,—रेल हफ़्तों का रास्ता घंटों में काटती है । (१०) अनुचित प्राप्ति करना । बुरे ढंग से आय करना । जैसे, माल काटना । उ०—उसने उस मामले में ख़ूब रुपये काटे । (११) क़लम की लकीर से किसी लिखावट को रद करना । छेंकना । मिटाना । ख़ारिज करना । जैसे,—(क) उसने तुम्हारा लिखा सब काट दिया । (ख) उसका नाम स्कूल से काट दिया गया । (१२) ऐसे कामों को तैयार करना जो लकीर के रूप में कुछ दूर तक चले गए हों । जैसे, सड़क काटना, नहर काटना । (१३) एक नहर या नाली के पानी का किनारा काटकर दूसरी नहर वा नाली में ले जाना । जैसे,—इस खेत का पानी उसमें काट दो । (१४) ऐसे कामों को तैयार करना जिनमें लकीरों द्वारा कई विभाग किए गए हों, जैसे—ख़ाना काटना, क्यारी काटना । (१५) एक संख्या के साथ दूसरी संख्या का ऐसा भाग लगाना कि शेष न बचे । जैसे,—इस संख्या को सात से काटो । (१६) बाँटनेवाले के हाथ पर रक्खी हुई ताश की गड्डी में से कुछ पत्तों को इसलिये उठाना जिसमें हाथ में आई हुई गड्डी के अंतिम पत्ते से बाँट आरंभ हो । (१७) ताश की गड्डी को इस प्रकार फेंटना कि उसका पहले से लगा हुआ क्रम न बिगड़े । (जादू) (१८) जेलखाने में दिन बिताना । क़ैद भोगना । जैसे, जेलख़ाना काटना । (१९) किसी विषैले जंतु का डंक मारना वा दाँत धँसाना । डसना । जैसे—साँप ने काटा, भिड़ ने काटा, कुत्ते ने काटा ।

संयो० क्रि०—खाना ।

मुहा०—काटने दौड़ना=चिड़चिड़ाना । खीझना । जैसे—उससे रुपया माँगने जाते हैं तो वह काटने दौड़ता है ।

(२०) किसी तीक्ष्ण वस्तु का शरीर के किसी भाग में लग कर खुजली लिए हुए जलन और छरछराहट पैदा करना । जैसे,—(क) पान में चूना अधिक था; उसने सारा मुँह काट लिया । (ख) सूरन में यदि खटाई न दी जाय तो वह गला काटता है । (२१) एक रेखा का दूसरी रेखा के ऊपर से चार कोण बनाते हुए निकल जाना । (२२) किसी जीव का सामने से निकल जाना । जैसे,—बिल्ली का रास्ता काटना बुरा समझा जाता है । (२३) घस्से से डोरी आदि तोड़ना । जैसे—पतंग काटना । (२४) (किसी मत का) खंडन करना । अप्रमाणित करना । जैसे,—उसने तुम्हारे सब सिद्धांत काट दिए । (२५) चलती गाड़ी में से माल का गायब करना । (२६) किसी शृंखला में से कोई भाग जुदा करना । जैसे,—तीन गाड़ियाँ इसी स्टेशन पर काट दी जायँगी । (२७) शरीर पर कष्ट पहुँचाना । दुःखदायी लगना । बुरा लगना । नागवार मालूम होना । जैसे,—(क) जाड़े में पानी काटता है । (ख) पढ़ने जाना तो इस लड़के को काटता है ।

मुहा०—काटे खाना वा काटने दौड़ना—(१) बुरा मालूम होना । चित्त को व्यथित करना । (२) जी को उचाट करना । सूना और उजाड़ लगना । जैसे,—उनके बिना यह मकान काटे खाता है । (२८) पाख़ाना कमाना । मैला उठाना । (लश०) ।

काटू—संज्ञा पुं० [हिं० काटना] (१) काटनेवाला । (२) कटाऊ । डरावना । भयानक ।

काठ—संज्ञा पुं० [सं० काष्ठ, प्रा० कट्ठ] (१) पेड़ का कोई स्थूल अंग (डाल तना आदि) जो आधार से अलग हो गया हो । लकड़ी ।

मुहा०—काठ का उल्लू=जड़ वज्र । मूर्ख । घोर अज्ञानी । काठ कबाड़=लकड़ी का बना सामान जो टूट फूटकर बेकाम हो गया हो । काठ होना=(१) संज्ञाहीन होना । चेतनारहित होना । जड़वत् होना । स्तब्ध होना । जैसे,—सिपाही को सामने देखते ही वह काठ हो गया । (२) सूखकर कड़ा हो जाना (वस्तु के लिये) । काठ की हाँड़ी=धोखे की चीज़ । ऐसी दिखाऊ वस्तु जिसका धोखा एक बार से अधिक न चल सके । उ०—जैसे हाँड़ी काठ की चढ़ै न दूजी बार । काठ का घोड़ा=बैसाखी । काठ कोड़ा चलना=(१) काठ में पैर देने और कोड़ा मारने का अधिकार होना । दंड देने का अधिकार होना । (२) बहुत चलती होना । काठ कटौअल बाँसुरी=आखमिचौली की तरह का एक खेल जिसमें लड़के किसी काठ को छू छूकर आते हैं ।

विशेष—यौगिक शब्द बनाने में "काठ" को "कठ" कर देते हैं । जैसे—कठफोड़वा, कठपुतली, कठघोड़ा, कठकूआ, कठमलिया । ऐसे पेड़ों के नामों में भी "कठ" लगाते हैं जिनके फल नीरस और बिना गूदे के होते हैं, जैसे—कठजामुन, कठगूलर, कठबैर ।

(२) ईंधन । जलाने की लकड़ी । (३) शहतीर । लक्कड़ । लकड़ी का बड़ा तख़्ता । (४) लकड़ी की बनी हुई बेड़ी । कलंदरा ।

विशेष—यह बेड़ी वास्तव में दो बराबर तराशे हुए लक्कड़ों से बनती है । दोनों के बीच में छेद होता है । इसी छेद में अपराधी का पैर डाल देते हैं और दोनों लक्कड़ों को पेंच से कस देते हैं ।

मुहा०—काठ मारना=अपराधी को काठ की बेड़ी पहनाना । काठ में पाँव देना=(१) अपराधी को काठ की बेड़ी पहनाना । कलंदरे में पाँव डालना । (२) जान बूझकर स्वयं बंधन में पड़ना । उ०—फूले फूले फिरत हैं, होत हमारो ब्याव । तुलसी गाय बजाय के देत काठ में पाँव ।—तुलसी ।

काठड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० काठ+ड़ा (प्रत्य०)] [स्त्री० काठड़ी] काठ का बना हुआ बड़ा बरतन । कठौता ।

काठबेल–संज्ञा स्त्री० [हिं० काठ+बेल] इंद्रायन की तरह की एक बेल जो हिंदुस्तान के खुश्क हिस्सों में तथा अफ़ग़ानिस्तान और फ़ारस में होती है। इसके फल इंद्रायन ही के फल के समान कड़ुए होते हैं । इनके बीज से तेल निकलता है जो जलाने के काम में आता है। कोई कोई इसका व्यवहार दवा में इंद्रायन के स्थान पर करते हैं । इसे कारित भी कहते हैं।

काठमांडू–संज्ञा पुं० [सं० काष्ठ, प्रा० कट्ठ+मंडप, प्रा० मंडव] नैपाल की राजधानी । इस नगर में काठ के मकान अधिक होते हैं, इसीसे इसका नाम यह पड़ा ।

काठिन्य–संज्ञा पुं० [सं०] कड़ापन । कठोरता । सख्ती ।

काठियावाड़–संज्ञा पुं० [हिं० काठ=समुद्र तट+वाट=द्वार] भारतवर्ष का एक प्रांत जो अब गुजरात देश का पश्चिमी भाग है। यह कच्छ की खाड़ी और खंभात की खाड़ी के बीच में है। इस प्रांत के घोड़े प्रसिद्ध होते हैं जिन्हें लोग काठी कहते हैं । यह प्राचीन काल में सौराष्ट्र मंडल के अंतर्गत था ।

काठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० काठ] (१) घोड़ों की पीठ पर कसने की ज़ीन जिसमें नीचे काठ लगा रहता है । यह आगे और पीछे की ओर कुछ उठी होती है ।

क्रि० प्र०—कसना ।—धरना ।

(२) ऊँट की पीठ पर रखने की गद्दी जिसके नीचे काठ रहता है । (३) शरीर की गठन । अँगलेट । जैसे—उसकी काठी बहुत अच्छी है । (४) तलवार वा कटार का काठ का म्यान जिस पर चमड़ा वा कपड़ा चढ़ा रहता है ।

वि० [काठियावाड़] काठियावाड़ का (घोड़ा) ।

काठू–संज्ञा पुं० [हिं० काठ] कूटू को तरह का एक पौधा जिसकी खेती हिमालय के कम ठंढे स्थानों में होती है । इसका पेड़ कूटू से कुछ बड़ा होता है और दाने कूटू ही की तरह पहलदार होते हैं, पर कोने नुकीले नहीं होते । इसकी तरकारी भी लोग खाते हैं ।

काठों–संज्ञा पुं० [हिं० काठ] एक प्रकार का मोटा धान जो पंजाब में होता है ।

काड–संज्ञा स्त्री० [अं० कॉड] एक प्रकार की मछली । जो उत्तर की ओर ठंढे समुद्रों में पाई जाती है । यह तीन वर्ष में पूरी बाढ़ को पहुँचती है । उस समय यह ३ फीट लंबी और तौल में १२ पाउंड से २० पाउंड तक होती है। इसका मांस बहुत पुष्टिकर होता है । इससे एक प्रकार का तेल बनाया जाता है जिसे "कॉड लिवर ऑयल" कहते हैं। यह तेल क्षय रोग की अच्छी दवा मानी जाती है ।

यौ०—कॉड लिवर ऑयल=कॉड नाम की मछली के कलेजे से निकाला हुआ तेल ।

काढ़ना–क्रि० स० [सं० कर्षण, प्रा० कड्ढण] (१) किसी वस्तु के भीतर से कोई वस्तु बाहर करना । निकालना । उ०—(क) खनि पताल पानी तहँ काढ़ा । छीर समुद निकसा हुत बाढ़ा ।—जायसी । (ख) मीन दीन जनु जल ते काढ़े ।—तुलसी । (२) किसी आवरण को हटाकर कोई वस्तु प्रत्यक्ष करना । खोलकर दिखाना । जैसे, दाँत काढ़ना । (३) किसी वस्तु को किसी वस्तु से अलग करना । उ०—तव मथि काढ़ि लिए नवनीता ।—तुलसी । (४) लकड़ी, पत्थर, कपड़े आदि पर बेल बूटे बनाना । उरेहना । चित्रित करना । जैसे, बेल बूटा काढ़ना, क़सीदा काढ़ना । उ०—(क) पँवरिहि पँवरि सिंह गढ़ि काढ़े । डरपहिं लोग देखि तहँ ठाढ़े ।—जायसी । (ख) राम बदन बिलोकि मुनि ठाढ़ा । मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा ।—तुलसी । (५) उधार लेना । ऋण लेना । उ०—(क) उनके पास रुपया तो था नहीं, कहीं से काढ़ कर लाए हैं । (ख) मातहिं पितहिं उऋण भए नीके । गुरु ऋण रहा सोच बड़ जी के । सो जनु हमरे माथे काढ़ा । दिन चलि गए ब्याज बहु बाढ़ा ।—तुलसी । (६) कड़ाहे में से पका कर निकालना । पकाना । छानना । जैसे—पूरी काढ़ना, जलेबी काढ़ना ।

काढ़ा–संज्ञा पुं० [हिं० काढ़ना] ओषधियों को पानी में उबाल वा औटाकर बनाया हुआ शरबत । क्वाथ । जोशांदा ।

काण–वि० [सं०] काना ।

संज्ञा पुं० कौआ ।

कातंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] कलाप व्याकरण जिसे कुमार वा कार्त्तिकेय की कृपा से सर्ववर्म्मा ने बनाया था ।

कात–संज्ञा पुं० [सं० कर्त्तन, प्रा० कत्तन] (१) एक प्रकार की क़ैंची जिससे गड़रिये भेड़ों के बाल कतरते हैं । (२) मुर्गे के पैर का काँटा ।

कातना–क्रि० स० [सं० कर्त्तन, प्रा० कत्तन] रूई से सूत बनाना। रूई को ऐंठ वा बटकर तागा बनाना ।

कातर–वि० [सं०] [संज्ञा कातरता] (१) अधीर । व्याकुल । चंचल । (२) डरा हुआ । भयभीत । (३) डरपोक । बुज़दिल। उ०—कोउ कातर युद्ध परात सभय । (४) आर्त्त। दुःखित।

यौ०—कातरोक्ति=(१) दुःख से भरा वचन । (२) विनती । आर्त्त विनय ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) घड़नैल । (२) एक प्रकार की मछली।

संज्ञा पुं० [सं० कर्त्तरी] जबड़ा । चौभर । (कलंदर) ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कर्त्तृ=कातनेवाला] कोल्हू में लकड़ी का वह तख़्ता जिस पर हाँकनेवाला बैठता है और जो कोल्हू की कमर से लगा हुआ उसके चारों ओर घूमता है । इसी में बैल जोते जाते हैं ।

कातरता–संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० कातर] (१) अधीरता। चंचलता। (२) दुःख की व्याकुलता। (३) डरपोकपन।

कातराचार–संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य में एक प्रकार का हस्तक।

काता–संज्ञा पुं० [हिं० कातना] काता हुआ सूत। तागा। डोरा।

यौ०—**बुढ़िया का काता**=एक प्रकार की मिठाई जो बहुत महीन सूत की तरह होती है।

संज्ञा पुं० [सं० कर्तृ, कर्त्ता, प्रा० कत्ता] बाँस काटने वा छीलने की छुरी।

काताबारी–संज्ञा स्त्री० [?] वह पतली कॉड़ी जो जहाज़ पर बेंड़े धरनों के बीच लगी रहती है और जिसके ऊपर तख़्ता जड़ा जाता है।

कातिक–संज्ञा पुं० [सं० कार्तिक] वह महीना जो शरद ऋतु में कार के बाद पड़ता है। कार्तिक।

कातिकी–वि० दे० "कार्तिकी"।

कातिब–संज्ञा पुं० [अ०] लिखनेवाला। लेखक।

क़ातिल–वि० [अ०] प्राण लेनेवाला। घातक।

संज्ञा पुं० क़त्ल वा बध करनेवाला मनुष्य। हत्यारा।

काती–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्त्री, प्रा० कत्ती] (१) क़ैंची। (२) सुनारों की कतरनी। (३) चाकू। छुरी। (४) छोटी तलवार। कत्ती।

कातीय–वि० [सं०] कत ऋषि संबंधी। कात्यायन संबंधी।

संज्ञा पुं० कात्यायन का छात्र।

कात्य–वि० [सं०] कत ऋषि संबंधी।

संज्ञा पुं० (१) कत ऋषि के गोत्रज ऋषि। (२) कात्यायन।

कात्यायन–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कात्यायनी] (१) कत ऋषि के गोत्र में उत्पन्न ऋषि जिनमें तीन प्रसिद्ध हैं—एक विश्वामित्र के वंशज, दूसरे गोभिल के पुत्र और तीसरे सोमदत्त के पुत्र वररुचि कात्यायन। विश्वामित्रवंशीय प्राचीन कात्यायन के बनाए हुए 'श्रौतसूत्र', 'गृह्यसूत्र' और 'प्रतिहारसूत्र' हैं। दूसरे गोभिल पुत्र कात्यायन हैं जिसके बनाए 'गृह्यसंग्रह' और 'छंदोपरिशिष्ट वा कर्म्मप्रदीप' हैं। तीसरे वररुचि कात्यायन हैं जो पाणिनि सूत्रों के वार्तिककार प्रसिद्ध हैं। (२) एक बौद्ध आचार्य्य जिन्होंने 'अभिधर्म ज्ञान प्रस्थान' नामक ग्रंथ की रचना की है। नैपाली बौद्ध ग्रंथों से पता लगता है कि ये बुद्ध से ४५ वर्ष पीछे उत्पन्न हुए थे। (३) पाली व्याकरण के कर्त्ता एक बौद्ध आचार्य्य जिन्हें पाली ग्रन्थों में 'कच्चायन' कहते हैं।

कात्यायनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कत गोत्र में उत्पन्न स्त्री। (२) कात्यायन ऋषि की पत्नी। (३) कषाय वस्त्र धारण करनेवाली अधेड़ विधवा स्त्री। (४) कल्पभेद से कत गोत्र में उत्पन्न एक दुर्गा। (५) याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी।

काथरी†–संज्ञा स्त्री० दे० "कथरी"।

कादंब–वि० [सं०] (१) कदंब संबंधी। (२) समूह संबंधी।

संज्ञा पुं० (१) कदंब का पेड़ वा फल फूल। (२) एक प्रकार का हंस। कलहंस। (३) ईख। (४) बाण। (५) दक्षिण का एक प्राचीन राजवंश। कदंब की बनी शराब।

कादंबर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दही की मलाई। (२) ईख का गुड़। (३) कदम के फूलों की शराब। (४) मदिरा। शराब। (५) हाथी का मद।

कादंबरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोकिल। कोयल। (२) सरस्वती। वाणी। (३) मदिरा। शराब। (४) मैना। (५) बाणभट्ट की लिखी एक आख्यायिका जिसकी नायिका का यही नाम है।

कादंबिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेघमाला। घटा। (२) मेघ राग की एक रागिनी।

कादर–वि० [सं० कातर] (१) डरपोक। भीरु। बुज़दिल। (२) व्याकुल। अधीर। उ०—लाल बिनु कैसे लाज चादर रहैगी आज कादर करत मोहिं बादर नए नए।—श्रीपति।

कादिरी–संज्ञा स्त्री० [अ०] एक प्रकार की चोली जिसे बेगमें पहनती हैं। सीनाबंद। उ०—नीमा जामा तिलक लबादा कुरती दगला। दुतही, नीमस्तीन कादिरी चोला झगला।—सूदन।

कादा–संज्ञा पुं० [?] लकड़ी की पटरी जो जहाज़ की शहतीरों और कड़ियों के नीचे उन्हें जकड़े रहने के लिये जड़ी रहती है।

कान–संज्ञा पुं० [सं० कर्ण, प्रा० कण्ण] वह इंद्रिय जिससे शब्द का ज्ञान होता है। सुनने की इंद्रिय। श्रवण। श्रुति। श्रोत्र।

विशेष—मनुष्य तथा और दूसरे माता का दूध पीनेवाले जीवों के कान के तीन विभाग होते हैं। (क) बाहरी, अर्थात् सूप की तरह निकला हुआ भाग और बाहरी छेद। (ख) बीच का भाग जो बाहरी छेद के आगे पड़नेवाली झिल्ली वा परदे के भीतर होता है और जिसमें छोटी छोटी बहुत सी हड्डियाँ फैली होती हैं और जिसमें से एक नली नाक के छेदों वा तालू के ऊपरवाली थैली तक गई होती है। (ग) भीतरी वा भूलभुलैया जो श्रवण शक्ति का प्रधान साधक है और जिसमें शब्दवाहक तंतुओं के छोर रहते हैं। इसमें एक थैली होती है जो चक्करदार हड्डियों के बीच में जमी रहती है। इन चक्करदार थैलियों के भीतर तथा बाहर एक प्रकार का चेप वा रस रहता है। शब्दों की जो लहरें मध्यम भाग के परदे की झिल्ली पर टकराती हैं, वे अस्थि-तंतुओं द्वारा भूल-भुलैया में पहुँचती हैं। दूध पीनेवालों से निम्न श्रेणी के रीढ़वाले जीवों में कान की बनावट कुछ सादी हो जाती है, उसके ऊपर का निकला हुआ भाग नहीं रहता, अस्थितंतु भी कम रहते हैं। बिना रीढ़वाले कीटों को भी एक प्रकार का कान होता है।

मुहा०—**कान उठाना**=सुनने के लिये तैयार होना। आहट लेना। अकनना। (२) चौकन्ना होना। सचेत वा सजग होना।

होशियार होना । **कान उड़ जाना**=(१) लगातार देर तक गंभीर वा कड़ा शब्द सुनते सुनते कान में पीड़ा और चित्त में घबराहट होना । (२) कान का कट जाना । **कान उड़ा देना**=(१) हल्ला गुल्ला करके कान को पीड़ा पहुँचाना और व्याकुल करना । (२) कान काट लेना । **कान उमेठना**=(१) दंड देने के हेतु किसी का कान मरोड़ देना । **जैसे,—इस लड़के का कान तो उमेठो ।** (२) दंड आदि द्वारा गहरी चेतावनी देना । (३) कोई काम न करने की शपथ करना । किसी काम के न करने की कड़ी प्रतिज्ञा करना । **जैसे,—लो भाई, कान उमेठता हूँ, अब ऐसा कभी न करूँगा । कान ऊँचे करना**=दे० "कान उठाना" । **कान एँठना**="कान उमेठना" । **कान करना**=सुनना । ध्यान देना । **उ०—बालक बचन करिय नहिं काना ।—तुलसी । कान कतरना**=दे० "कान काटना" । **कान काटना**=मात करना । बढ़कर होना । **उ०—बादशाह अकबर उस वक़्त कुल तेरह बरस चार महीने का लड़का था, लेकिन होशियारी और जवांमर्दी में बड़े बड़े जवानों के कान काटता था ।—शिवप्रसाद । कान का कच्चा**=शीघ्र विश्वासी । जो किसी के कहे पर बिना सोचे समझे विश्वास कर ले । जो दूसरों के बहकाने में आ जाय । **कान की ठेंठी वा मैल निकलवाना**=(१) कान साफ़ कराना । सुनने के योग्य होना । सुनने में समर्थ होना । **(अपने) कान खड़े करना**=(१) (आप) चौकन्ना होना । सचेत होना । **जैसे,—बहुत कुछ खो चुके; अब तो कान खड़े करो । (दूसरे के) कान खड़े करना**=सचेत करना । होशियार करना । **कान खड़े होना**=चेत होना । **जैसे,—इतनी हानि तो उठा चुके, पर अब भी उनके कान नहीं खड़े होते । कान खाना वा खा जाना**=बहुत शोर गुल करना । बहुत बातें करना । **जैसे,—कान तो खा गए, अब तो चुप रहो । कान खुलना वा खुल जाना**=सजग होना । सचेत होना । शिक्षा ग्रहण करना । **कान खोलना वा खोल देना**=होशियार कर देना । चेताना । सजग कर देना । भूल बता देना । **कान गरम करना वा कर देना**=कान उमेठना । **कान झनाना**=अधिक शब्द सुनने से कान का सुन्न हो जाना । **जैसे,—इस झांझ की आवाज़ से तो कान झन्ना गए । कान पूँछ दबाकर चला जाना**=चुपचाप चला जाना । बिना चीं चपड़ किए खिसक जाना । बिना विरोध किए टल जाना । **कान छेदना**=बाली पहनाने के लिये कान की लौ में छेद करना । **(यह बच्चों का एक संस्कार है) । कान दबाना**=विरोध न करना । दबना । सहमना । **जैसे,—उनसे लोग कान दबाते हैं । (किसी बात पर) कान देना**=ध्यान देना । ध्यान से सुनना । **जैसे,—हम ऐसी बातों पर कान नहीं देते । (किसी बात पर) कान धरना**=ध्यान से सुनना । **(किसी बात से) कान धरना**=(किसी बात को) फिर न करने की प्रतिज्ञा करना । बाज़ आना ।

कान धरना=दे० "कान उमेठना" । **कान न दिया जाना**=कर्कश वा करुण स्वर सुनने की क्षमता न रहना । न सुना जाना । सुनने में कष्ट होना । **जैसे,—(क) ठठेरों के बाज़ार में कान नहीं दिया जाता । (ख) अपनी माता के लिये बच्चा ऐसा रोता है कि कान नहीं दिया जाता । कान पकड़ना**=(१) कान मलकर दंड देना । कान उमेठना । (२) अपनी भूल वा छोटाई स्वीकार करना । किसी को अपना गुरु मान लेना । (३) किसी बात को न करने की प्रतिज्ञा करना । तोबा करना । **जैसे,—आज से कान पकड़ते हैं, ऐसा काम कभी न करेंगे । किसी बात से कान पकड़ना**=पछतावे के साथ किसी बात के फिर न करने की प्रतिज्ञा करना । **जैसे,—अब हम किसी की ज़मानत करने से कान पकड़ते हैं । कान पकड़ी लौंडी**—अत्यंत आज्ञाकारिणी दासी । **कान पकड़कर उठना बैठना**=एक प्रकार का दंड जो प्रायः लड़कों को दिया जाता है । **कान पकड़कर निकाल देना**=अनादर के साथ किसी स्थान से बाहर कर देना । बेइज़्ज़ती से हटा देना । **कान पड़ना, कान में पड़ना**=सुनने में आना । सुनाई पड़ना । **कान पर जूँ न रेंगना**=कुछ भी परवा न होना । कुछ भी ध्यान न होना । कुछ भी चेत न होना । बेख़बर रहना । **जैसे,—इतना सब हो गया, पर तुम्हारे कान पर जूँ न रेंगी । कान पूँछ फटकारना**—सजग होना । सावधान होना । चैतन्य होना । तुरंत के आघात से स्वस्थ वा तंद्रा से चैतन्य होना । **जैसे,—इतना सुनते ही वे कान पूँछ फटकारकर उठ खड़े हुए । कान फटफटाना**—कुत्तों का कान हिलाना जिससे फट फट शब्द होता है । **(यात्रा आदि में यह अशुभ समझा जाता है ।) कान फुँकवाना**=गुरुमंत्र लेना । दीक्षा लेना । **कान फूँकना**=(१) दीक्षा देना । चेला बनाना । गुरुमंत्र देना । (२) दे० "कान भरना" । **कान फटना वा कान का परदा फटना**=कड़े शब्द को सुनते सुनते कान में पीड़ा होना वा जी ऊबना । **जैसे,—ताशों की आवाज़ से तो कान फट गए हैं । कान फोड़ना**=शोर गुल करके कानों को कष्ट पहुँचाना । **कान बजना**=कान में वायु के कारण साँय साँय शब्द होना । **कान बहना**=कान से पीब निकलना । **कान बींधना**=कान छेदना । **कान चपड़ियाना वा बुचियाना**=कानों को पीछे की ओर दबाकर काटने वा चोट करने की तैयारी करना । **(यह मुद्रा बंदरों और घोड़ों में बहुधा देखने में आती है) । कान भरना**=किसी के विरुद्ध किसी के मन में कोई बात बैठा देना । पहले से किसी के विषय में किसी का ख़्याल ख़राब करना । **जैसे,—लोगों ने पहले ही से उनके कान भर दिए थे, इसलिये हमारा सब कहना सुनना व्यर्थ हुआ । कान भर जाना**=सुनते सुनते जी ऊब जाना । **जैसे,—उसकी तारीफ़ सुनते सुनते [illegible] भर गए । कान मलना**=दे० "कान उमे[illegible]" । **कान में कौ[illegible] डालना**=दास वा गुलाम

बनाना। कान में तेल डाल बैठना=बहरा बन जाना। बात सुनकर भी उस ओर कुछ ध्यान न देना। बेखबर रहना। जैसे,—लोग चारों ओर से रुपया माँग रहे हैं और वह कान में तेल डाले बैठा है। (कोई बात) कान में डाल देना=सुना देना। कान में पारा भरना=कान में पारा भरने का दंड देना। (प्राचीन काल में अपराधियों के कान में सीसा वा पारा भरा जाता था। (किसी का) कान लगना=कान के पीछे घाव हो जाना। कनकटी हो जाना। (किसी का किसी-के) कान लगना=चुपके चुपके बात कहना। गुप्त रीति से मंत्रणा देना। जैसे,—जब से बुरे लोग कान लगने लगे, तभी से उनकी यह दशा हुई है। कान लगाना=ध्यान देना। कान न हिलाना=बिना विरोध किए कोई बात मान लेना। चूं न करना। दम न मारना। कान होना—चेत होना। खबर होना। ख़याल होना। जैसे,—जब तक उन्होंने हानि न उठाई, तब तक उन्हें कान न हुए। कानाफूसी करना=चुपके चुपके कान में बात कहना। कानाबाती करना=(१) चुपके चुपके कान में बात कहना। (२) बच्चों को हसाने का एक ढंग, जिसमें बच्चे के कान मे "काना बाती काना बाती कू" कहकर "कू" शब्द को अधिक जोर से कहते हैं जिससे बच्चा हंस देता है। कानोकान ख़बर न होना=ज़रा भी ख़बर न होना। कुछ भी सुनने में न आना। जैसे,—देखो, इस काम को ऐसे ढंग से करना कि किसी को कानोकान ख़बर न होने पावे। कानों पर हाथ धरना वा रखना=(१) बिल्कुल इंकार करना। किसी बात से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना। किसी बात से अपना लगाव अस्वीकार करना। जैसे,—उनसे इस विषय में कई बार पूछा गया, पर वे कानों पर हाथ रखते हैं। (२) किसी बात के करने से एकबारगी इंकार करना। जैसे,—हमने उनसे कई बार ऐसा करने को कहा, पर वे कानों पर हाथ रखते हैं।

विशेष—जब "कान" शब्द से यौगिक शब्द बनाए जाते हैं, तब इसका रूप "कन" हो जाता है। जैसे—कनखजूरा, कनखोदनी, कनछेदन, कनमैलिया, कनसलाई।

(२) सुनने की शक्ति। श्रवण शक्ति। (३) लकड़ी का वह टुकड़ा जो हल के अगले भाग में बाँध दिया जाता है और जिससे जोती हुई कूँड़ कुछ अधिक चौड़ी होती है। गेहूँ या चना बोते समय यह टुकड़ा बाँधा जाता है। इसे कआ भी कहते हैं। (४) सोने का एक गहना जो कान में पहना जाता है। (५) चारपाई का टेढ़ापन। कनेव। (६) किसी वस्तु का ऐसा निकला हुआ कोना जो भद्दा जान पड़े। (७) तराज़ू का पसंगा। (८) तोप वा बंदूक का वह स्थान जहाँ रंजक रक्खी जाती है और बत्ती दी जाती है। पियाली। रंजकदानी। उ०—जोगी एक मढ़ी में सोवै। दारू पियै मस्त नहिं होवै। जबै बालका कान में लागै। जोगी छोड़ मढ़ी को भागै। (पहेली)।

संज्ञा स्त्री० [?] (१) लोकलज्जा। (२) मर्य्यादा। इज़्ज़त। दे० "कानि"।

कानकुब्ज*-संज्ञा पुं० दे० "कान्यकुब्ज"।

कानकी-संज्ञा पुं० [देश०] कोंकण देश का एक बड़ा पेड़। इसकी लकड़ी मकानों में लगती है। इसके बीजों से एक प्रकार का पीला तेल निकाला जाता है जो दवा तथा जलाने के काम में आता है। इसके फल जायफल के समान होते हैं।

कानड़ा-वि० [सं० काण] (१) एक आँख का काना। (२) सात समुंदर के खेल का वह घर जो चम्मो रानी के बाद आता है।

कानन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जंगल। बन। (२) घर।

कानफरेंस-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) सभा। समिति। (२) जन-समूह जो किसी बड़ी आवश्यक बात के निश्चय के लिये एकत्र हो।

कानस्टेबिल-संज्ञा पुं० [अं०] पुलिस का सिपाही।

काना-वि० [सं० काण] [स्त्री० कानी] जिसकी एक आँख फूट गई हो। जिसे एक आँख न हो। एकाक्ष। एक आँख का।

वि० [सं० कर्णक] फल आदि जिनका कुछ भाग कीड़ों ने खा लिया हो। कआ। जैसे, काना भंटा।

संज्ञा पुं० [सं० कर्ण] 'आ' की मात्रा जो किसी अक्षर के आगे लगाई जाती है और जिसका रूप (ा) है। जैसे—वाला में का (ा)।

वि० [सं० कर्ण] जिसका कोई कोना वा भाग निकला हो। तिरछा। टेढ़ा। जैसे,—कपड़े में से टुकड़ा काटकर तुमने उसे काना कर दिया।

कानाकानी-संज्ञा स्त्री० [सं० कर्णाकर्ण] कानाफूसी। चर्चा। उ०—जब जाना कि लोगों में यही बात कानाकानी हो रही है·········।—सदल मिश्र।

कानाटीटी-संज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की घास।

कानाफुसकी†-संज्ञा स्त्री० दे० "कानाफूसी"।

कानाफूसी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कान+अनु० 'फुस' 'फुस'] वह बात जो कान के पास जाकर धीरे से कही जाय। चुपके चुपके की बातचीत।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कानाबाती-संज्ञा पुं० [हिं० कान+बात] (१) चुपके चुपके कान में बात कहना। कानाफूसी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) बच्चों को हँसाने का एक ढंग, जिसमें उनके कान में "कानाबाती कानाबाती कू" कहकर "कू" शब्द पर ज़ोर देते हैं, जिस पर बच्चा हँस पड़ता है।

कानावेज़-संज्ञा पुं० [?] गबरून वा सींकिया की तरह का एक कपड़ा।

कानि-संज्ञा स्त्री० [?] (१) लोकलज्जा । मर्य्यादा का ध्यान । उ०—(क) तेरे सुभाव सुशील अली कुलनारिन को कुलकानि सिखाई ।—मतिराम । (ख) मैं मरजीवा समुँद का पैठा सप्त पताल । लाज कानि कुल मेटि कै गहि लै निकला लाल ।—कबीर । लिहाज़ । दबाव । संकोच । उ०—(क) खौरि पनच भृकुटी धनुष, बधिक समर तजि कानि । हनत तरुण मृग तिलक सर, सुरकि भाल भरि तानि—। बिहारी । (ख) अब काहू की कानि न करिहौं । आज प्राण कपटी के हरिहौं ।—लल्लू ।

कानिद-संज्ञा पुं० [हिं० खान वा कान] बाँस की एक कमची जिस से खराद पर चढ़ाते समय हीरे पन्ने आदि रत्नों को दबाते हैं।

कानी-वि० स्त्री० [हिं० काना] एक आँखवाली । जिस (स्त्री) की एक आँख फूट गई हो ।

मुहा०—कानी कौड़ी=फूटी कौड़ी । छेदवाली कौड़ी । झंझा कौड़ी ।

वि० स्त्री० [सं० कनीनी] सब से छोटी (उँगली) । जैसे—कानी उँगली ।

कानीन-वि० [सं०] क्वारी कन्या से उत्पन्न । कन्याजात ।

संज्ञा पुं० [सं०] वह पुत्र जो किसी कन्या को कुमारी अवस्था में पैदा हुआ हो । ऐसा पुत्र उस पुरुष का कानीन पुत्र कहलाता है, जिसको वह कन्या ब्याही जाय । व्यास और कर्ण ऐसे ही पुत्र थे ।

क़ानून-संज्ञा पुं० [अ० । यू० केनान] [वि० क़ानूनी] (१) राज्य में शांति रखने का नियम । राजनियम । आईन । विधि ।

यौ०—क़ानूनदाँ । क़ानूनगो ।

मुहा०—क़ानून छाँटना-क़ानूनी बहस करना । कुतर्क करना । हुज्जत करना ।

(२) एक रूमी बाजा जो पटरियों पर तार लगाकर बनाया जाता है ।

क़ानूनगो-संज्ञा पुं० [फ़ा०] माल का एक कर्मचारी जो पटवारियों के उन काग़ज़ों की जाँच करता है जिनमें खेतों और उनके लगान आदि का हिसाब किताब रहता है। क़ानूनगो दो प्रकार के होते हैं, गिरदावर और रजिस्ट्रार। गिरदावर क़ानूनगो का काम है घूम घूमकर पटवारियों के काग़ज़ों की जाँच करना; और रजिस्ट्रार क़ानूनगो के दफ़्तर में पटवारियों के एक साल से अधिक पुराने काग़ज़ दाखिल होते और रक्खे जाते हैं ।

क़ानूनदाँ-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) क़ानून जाननेवाला । विधिज्ञ । (२) क़ानून छाँटनेवाला । हुज्जत करनेवाला । कुतर्की ।

क़ानूनिया-वि० [अ० क़ानून] (१) क़ानून जाननेवाला । (२) तकरार करनेवाला । हुज्जती ।

क़ानूनी-वि० [अ० क़ानून] (१) जो क़ानून जाने । (२) क़ानून संबंधी । अदालती । (३) जो क़ानून के मुताबिक़ हो । नियमानुकूल । (४) तकरार करनेवाला । हुज्जती ।

कान्यकुब्ज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन समय का एक प्रांत जो वर्त्तमान समय के कन्नौज के आस पास था । इस प्रदेश के संबंध में रामायण में लिखा है कि राजर्षि कुशनाभ की घृताची नाम की अप्सरा से १०० कन्याएँ हुईं । उन कन्याओं के रूप को देख वायु उन पर मोहित हो गया । कन्याओं ने जब वायु की बात अस्वीकार की, और कहा कि पिता की आज्ञा के बिना हम लोग किसी को स्वीकार नहीं कर सकतीं, तब वायु देवता ने कुपित होकर उन्हें कुबड़ी कर दिया । पिता कन्याओं पर बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें कांपिल्ल नगर के राजा ब्रह्मदत्त (चुलीय ऋषि के पुत्र) को ब्याह दिया, जिनके स्पर्श से उनका कुबड़ापन जाता रहा । ह्वेन्साँग ने अपने विवरण में यह कथा और ही प्रकार से लिखी है । उसने १०० कन्याओं को कुसुमपुर के राजा ब्रह्मदत्त की कन्याएँ माना है और लिखा है कि महावृक्ष ऋषि ने मोहित होकर उन कन्याओं में से एक को ब्रह्मदत्त से माँगा । राजा सब से छोटी कन्या को लेकर ऋषि के आश्रम पर गए । ऋषि ने कुपित होकर कहा—सब से छोटी कन्या क्यों ? राजा ने डरते डरते कहा कि और कोई कन्या राज़ी नहीं हुई । ऋषि ने शाप दिया कि तुम्हारी और सब कन्याएँ कुबड़ी हो जायँ । इन्हीं कुबड़ी कन्याओं के आख्यान से इस प्रदेश का नाम कान्यकुब्ज पड़ा । (२) कान्यकुब्ज देश का निवासी । (३) कान्यकुब्ज देश का ब्राह्मण ।

कान्ह*-संज्ञा पुं० [सं० कृष्ण, प्रा० कण्ह] श्रीकृष्ण ।

कान्हड़ा-संज्ञा पुं० [सं० कर्णाट] एक राग जो मेघ राग का पुत्र समझा जाता है । इसमें सातों स्वर लगते हैं । इसके गाने का समय रात ११ दंड से १५ दंड तक है ।

यौ०—कान्हड़ा नट=एक संकर राग जो कान्हड़े और नट के मिलाने से बनता है । यह रात के दूसरे पहर में गाया जाता है।

कान्हड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० कर्णाटी] एक रागिनी जो दीपक राग की पत्नी समझी जाती है ।

कान्हम-संज्ञा पुं० [सं० कृष्ण, प्रा० कण्ह=काला] भड़ौंच प्रांत की वह काली मटियार ज़मीन जो कपास की पैदावार के लिये प्रसिद्ध है ।

कान्हमी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कान्हम] भड़ौंच प्रांत की कान्हम भूमि में उत्पन्न कपास ।

कान्हर-संज्ञा पुं० [सं० कर्ण] कोल्हू के कातर के छोर पर लगी हुई बेंड़ी और टेढ़ी लकड़ी जो दोनों ओर निकली होती है और कोल्हू की कमर से लगकर चारों ओर घूमती है ।

*संज्ञा पुं० [सं० कृष्ण, प्रा० कण्ह] श्रीकृष्णजी । उ०—देखी कान्हर की निठुराई । कबहूँ पाती हू न पठाई ।

कान्हरा-संज्ञा पुं० दे० "**कान्हड़ा**"।

कापड़ी-संज्ञा पुं० [सं० कपर्दिन् प्रा० कपद्दी] [स्त्री० कापडिन] एक जाति का नाम।

कापर*-संज्ञा पुं० [सं० कर्पट=वस्त्र, प्रा० कप्पड़] कपड़ा। वस्त्र। उ०—(क) हस्ति घोर औ कापर, सबै दीन्ह बड़ साज। भये गृहस्थ सब लखपती, घर घर मानहुँ राज।—जायसी। (ख) काढ़हु कोरे कापर हो अरु काढ़ौ घी की मौन। जाति पाँति पहिराइ के सब समदि छतीसौ पौन।—सूर।

कापरप्लेट-संज्ञा पुं० [अं०] छापेखाने में काम आनेवाला ताँबे की चद्दर का एक टुकड़ा जिस पर अक्षर खुदे होते हैं। इस पर एक बार स्याही फेरी जाती है और फिर पोंछ ली जाती है जिससे खुदे अक्षरों में स्याही भरी रह जाती है और शेष भाग साफ़ हो जाता है। फिर इसको प्रेस में रखकर इसके ऊपर से काग़ज़ छापते हैं। जहाँ चित्र आदि बनाने होते हैं वहाँ तेजाब आदि रासायनिक द्रव्यों से काम लिया जाता है।

कापर-प्लेट प्रेस-संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का प्रेस या छापने की कल जिसमें प्रायः दो बेलन होते हैं और जिसमें कापर-प्लेट की छपाई होती है।

कापाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन अस्त्र। उ०—वारुनास्त्र क्रौंचास्त्र हयग्रीवास्त्र सुहाये। कंकालहु कापाल मुसल ये दोऊ आये।—पद्माकर। (२) बायबिड़ंग। (३) एक प्रकार की संधि जिसमें संधि करनेवाले पक्ष एक दूसरे के समान स्वत्व को स्वीकार करते हैं।

कापालिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शैव मत के एक तांत्रिक साधु जो मनुष्य की खोपड़ी लिए रहते हैं, और मद्य मांसादि खाते हैं। ये लोग भैरव वा शक्ति को बलि चढ़ाते हैं। (२) तंत्रसार के अनुसार वंग देश की एक वर्ण संकर जाति। (३) एक प्रकार का कोढ़ जिसमें शरीर की त्वचा रूखी, कठोर, काली वा लाल होकर फट जाती है और दर्द करती है। यह कोढ़ विषम होता है और बड़ी कठिनाई से अच्छा होता है।

कापालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक बाजा जो मुँह से बजाया जाता था।

कापाली-संज्ञा पुं० [सं० कापालिन्] [स्त्री० कापालिनी] (१) शिव। (२) एक प्रकार का वर्णसंकर।

कापिल-वि० [सं०] (१) कपिल-संबंधी। कपिल का। (२) भूरा।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दार्शनिक सिद्धांत जिसके प्रवर्तक कपिलाचार्य्य थे। सांख्य दर्शन। (२) कपिल के दर्शन का अनुयायी। (३) भूरा रंग।

कापिश-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मद्य जो माधवी के फूलों से बनता था।

कापिशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देश जिसका नाम पाणिनि की अष्टाध्यायी में आया है। यहाँ का मद्य अच्छा होता था।

कापी-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) नकल। प्रतिरूप।

क्रि० प्र०—उतारना।—करना।—होना।

यौ०—कापी-राइट।

(२) लिखने की सादी पुस्तक।

संज्ञा स्त्री० [अं० कैप] घिर्नी। गड़ारी। (लश०)।

मुहा०—**कापी गोला** वा **कापी का गोला**=वह ढाँचा जिसमें जहाज की चरखी की गड़ारी बैठाई जाती है।

कापी-राइट-संज्ञा पुं० [अं०] क़ानून के अनुसार वह स्वत्व जो ग्रंथकार वा प्रकाशक को प्राप्त होता है। इस नियम के अनुसार कोई दूसरा आदमी किसी ग्रंथ को ग्रंथकर्ता वा प्रकाशक की आज्ञा बिना नहीं छाप सकता।

कापुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] कायर। डरपोक।

कापेय-वि० [सं०] [स्त्री० कापेया] कपिसंबंधी। बंदर का।

संज्ञा पुं० शौनक ऋषि।

काप्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन कालिक गोत्र जिसके प्रवर्त्तक कपि नामक ऋषि थे। (२) आंगिरस।

वि० कपि के गोत्र में उत्पन्न। काप्य गोत्र का।

काफरी मिर्च-संज्ञा स्त्री० [हिं० काफिरी+मिर्च] एक प्रकार का मिरचा जो चिपटे सिर का गोल गोल और पीला होता है।

काफल-संज्ञा पुं० [सं०] कायफल।

क़ाफ़िया-संज्ञा पुं० [अ०] अंत्यानुप्रास। तुक। सज।

क्रि० प्र०—जोड़ना।—मिलना।—मिलाना।—बैठना।—बैठाना।

यौ०—**क़ाफ़ियाबंदी**=तुकबंदी। सज मिलाना। तुक जोड़ना।

मुहा०—**क़ाफ़िया तंग करना**=बहुत हैरान करना। नाकों दम करना। दिक़ करना। **क़ाफ़िया तंग रहना या होना**=किसी काम से तंग रहना या होना। नाकों दम रहना या होना। **क़ाफ़िया मिलाना**=(१) तुक मिलाना। (२) अपना साथी बनाना। किसी काम में शरीक करना।

काफ़िर-वि० [अ०] (१) मुसलमान के अनुसार उनसे भिन्न धर्म को माननेवाला। (२) ईश्वर को न माननेवाला। (३) निर्दय। निष्ठुर। बेदर्द। (४) दुष्ट। बुरा। (५) काफ़िर देश का रहनेवाला।

संज्ञा पुं० [अ०] [वि० काफ़िरी] एक देश का नाम जो अफ़्रिका में है।

क़ाफ़िला-संज्ञा पुं० [अ०] यात्रियों का झुंड जो तीर्थ, व्यापार आदि के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है।

काफ़ी-वि० [अ०] किसी कार्य्य के लिये जितना आवश्यक हो उतना। मतलब भर के लिये। पर्य्याप्त। पूरा।

क्रि० प्र०—होना।

संज्ञा पुं० संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें गांधार कोमल लगता है। इसके गाने का समय १० दंड से १६ दंड तक है। काफ़ी कान्हड़ा, काफ़ी टोरी, काफ़ी होली आदि इसके कई संयुक्त रूप है।

संज्ञा स्त्री० दे० "कहवा"।

काफ़ूर-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [सं० कर्पूर, हिं० कपूर] [वि० काफ़ूरी] कपूर।

मुहा०—काफ़ूर होना=चंपत होना। रफूचक्कर होना। गायब होना। उड़ जाना। लुप्त होना। जैसे,—वह देखते ही देखते काफ़ूर हो गया।

काफ़ूरी-वि० [हिं० काफ़ूर] (१) काफ़ूर का। (२) काफ़ूर के रंग का।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का बहुत हलका रंग जिसमें कुछ कुछ हरेपन की झलक रहती है। यह रंग केसर, फिटकिरी और हरसिंगार से बनता है।

क़ाब-संज्ञा० स्त्री० [तु०] बड़ी रिकाबी।

काबर-वि० [सं० कर्बुर, प्रा० कब्बुर] कई रंगों का। चितकबरा।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार की भूमि जिसमें कुछ कुछ रेत मिली रहती है। दोमट। खाभर। उ०—काबर सुंदर रूप, छवि गेहुँवा जहँ ऊपजै। बाला लगै अनूप, हेरत नैनन लहलही।—रतहजारा। (२) एक प्रकार की जंगली मैना।

काबला-संज्ञा पुं० [अं० केबिल=रस्सा] एक बड़ा पेच जिसमें ढेबरी कसी जाती है। बालटू। (लश०)।

काबा-संज्ञा पुं० [अ०] अरब के मक्के शहर का एक स्थान जहाँ मुसलमान लोग हज करने जाते हैं। यह मुसलमानों का तीर्थ इस कारण है कि यहाँ मुहम्मद साहब रहते थे। उ०—काबा फिर काशी भया राम जो भया रहीम। मोट चून मैदा भया बैठि कबीरा जीम।—कबीर।

क़ाबिज़-वि० [अ०] जिसका किसी वस्तु पर अधिकार वा क़ब्ज़ा हो। अधिकार रखनेवाला। अधिकारकृत्। अधिकारी।

क़ाबिल- वि० [अ०] [संज्ञा क़ाबिलीयत] (१) योग्य। लायक़। (२) विद्वान्। पंडित।

क़ाबिलीयत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) योग्यता। लियाक़त। (२) पांडित्य। विद्वत्ता।

काबिस-संज्ञा पुं० [सं० कपिश] (१) एक रंग जिससे मिट्टी के कच्चे बर्तन रँग कर पकाए जाते हैं। इससे रँगकर पकाने से बर्तन लाल हो जाते हैं और उन पर चमक आ जाती है। यह सोंठ, मिट्टी, बबूल की पत्ती, बाँस की पत्ती, आम की छाल और रेह को एक में घोलने से बनता है। (२) एक प्रकार की मिट्टी जो लाल रंग की होती है और पानी डालने से बड़ी लसदार हो जाती है। यह मिट्टी काबिस बनाने में काम आती है।

काबी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० कावा] कुश्ती का एक पेंच। इसमें खेलाड़ी विपक्षी के पीछे जाकर एक हाथ से उसके जाँघिए का पिछोटा पकड़कर दूसरे हाथ से उसके एक पैर की नली पकड़कर खींच लेता है।

काबुक-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] कबूतरों का दरबा।

काबुल-संज्ञा पुं० [सं० कुभा] [वि० काबुली] (१) एक नदी जो अफ़ग़ानिस्तान से आकर अटक के पास सिंधु नदी में गिरती है। (२) अफ़ग़ानिस्तान का एक नगर जो वहाँ की राजधानी है। यह काबुल नदी पर है। (३) अफ़ग़ानिस्तान का पुराना नाम।

काबुली-वि० [हिं० काबुल] काबुल का। काबुल में उत्पन्न।

यौ०—काबुली अनार। काबुली मेवा। काबुली पट्टू। काबुली घोड़ा।

काबुली बबूल-संज्ञा पुं० [हिं० काबुली+बबूल] एक प्रकार का बबूल जो सरो की तरह सीधा जाता है। यह भारत के प्रायः सभी स्थानों में पाया जाता है। बंबई की ओर इसे राम बबूल कहते हैं। इसकी लकड़ी साधारण बबूल की लकड़ी से कम मज़बूत होती है।

काबुली मस्तगी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] एक वृक्ष का गोंद जो रूमी मस्तगी के समान होता है और मस्तगी की जगह काम आता है। इसका पेड़ बंबई प्रांत तथा उत्तरीय भारत में भी होता है। इसे बंबई की मस्तगी भी कहते हैं।

क़ाबू-संज्ञा पुं० [तु०] वश। अधिकार। इख़्तियार। ज़ोर। बल। कस।

क्रि० प्र०—चलना।—होना।

मुहा०—क़ाबू में करना वा क़ाबू करना=वश में करना। क़ाबू चढ़ना वा क़ाबू पर चढ़ना=अधिकार में आना। दाँव पर चढ़ना। क़ाबू पाना=अधिकार पाना। दाँव पाना।

काम-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कामुक, कामी] (१) इच्छा। मनोरथ।

यौ०—कामद। कामप्रद।

(२) महादेव। (३) कामदेव। (४) इंद्रियों की अपने अपने विषयों की ओर प्रवृत्ति (कामशास्त्र)। (५) सहवास वा मैथुन की इच्छा। (६) चतुर्वर्ग वा चार पदार्थों में से एक।

संज्ञा पुं० [सं० कर्म, प्रा० कम्म] (१) वह जो किया जाय। गति वा क्रिया जो किसी प्रयत्न से उत्पन्न हो। व्यापार। कार्य्य। जैसे,—सब लोग अपना अपना काम कर रहे हैं।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—काम काज। काम धंधा। काम धाम। कामचोर।

मुहा०—काम अटकना=काम रुकना। हर्ज होना। जैसे,—उनके बिना तुम्हारा कौन सा काम अटका है। काम आना=मारा जाना। लड़ाई में मारा जाना। जैसे,—उस लड़ाई में हज़ारों सिपाही काम आए। काम करना=(१) प्रभाव डालना। असर करना। जैसे,—यह दवा ऐसी बीमारी में कुछ

काम न करेगी । (२) प्रयत्न में कृतकार्य्य होना । जैसे,—**यहाँ पर बुद्धि कुछ काम नहीं करती ।** (३) संभोग करना । मैथुन करना । **(बाज़ारी) । काम के सिर होना वा काम सिर होना**=काम में लगना । जैसे,—**महीनों से बेकार बैठे थे, काम के सिर हो गए, अच्छा हुआ । काम चलना**=(१) काम जारी रहना । क्रिया का संपादन होना । जैसे,—**सिंचाई का काम चल रहा है । काम चलाना**=काम जारी रखना । धंधा चलता रखना । **काम तमाम या आख़िर करना**=(१) काम पूरा करना । (२) मार डालना । जान लेना । घात करना । **काम तमाम या आख़िर होना**=(१) काम पूरा होना । काम का समाप्त होना । (२) मरना । जान से जाना । जैसे,—**एक डंडे में साँप का काम तमाम हो गया । काम देखना**=(१) किसी चलते हुए कार्य्य की देख भाल करना । काम की जाँच करना । (२) अपने कार्य्य वा मतलब की ओर ध्यान रखना । जैसे,—**तुम अपना काम देखो, तुम्हें इन झगड़ों से क्या मतलब । काम बँटाना**=किसी काम में शरीक होना । किसी काम में सहायता करना । सहायक होना । **काम बनना**=मामला बनना । बात बनना । **काम बिगड़ना**=बात बिगड़ना । मामला बिगड़ना । **काम भुगतना**=काम निपटना । काम पूरा होना । **काम भुगताना**=कार्य्य समाप्त करना । काम पूरा करना । **काम लगना**=काम जारी होना । कार्य्य का विधान होना । किसी वस्तु के निर्मित करने का अनुष्ठान होना । जैसे,—**(क) महीनों से काम लगा है, पर मंदिर अभी नहीं तैयार हुआ । (ख) जहाँ पर काम लगा है, वहाँ जाकर देख भाल करो । काम लगा रहना**=व्यापार जारी रहना । जैसे,—**कोई आता है, कोई जाता है, यही काम दिन रात लगा रहता है । (किसी व्यक्ति से) काम लेना**=कार्य्य में नियुक्त करना । कार्य्य कराना । **काम होना**=(१) मरना । प्राण जाना । जैसे,—**गिरते ही उनका काम हो गया ।** (२) अत्यंत कष्ट पहुँचना । जैसे,—**तुम्हारा क्या, उठानेवाले का काम होता था ।**

(२) कठिन काम । मुशकिल बात । शक्ति वा कौशल का कार्य्य । जैसे,—**यह नाटक लिखकर उन्होंने काम किया ।**

मुहा०—काम रखता है=बड़ा कठिन कार्य्य है । मुशकिल बात है । जैसे,—**इस भीड़ में से होकर जाना काम रखता है ।**

(३) प्रयोजन । अर्थ । मतलब । उद्देश्य । जैसे,—**हमारा काम हो जाय तो तुम्हें प्रसन्न कर देंगे ।**

मुहा०—काम करना=अर्थ साधना । मतलब निकालना । जैसे,—**वह अपना काम कर गया, तुम ताकते ही रह गए । काम का**=जिससे कोई प्रयोजन निकले । जिससे कोई उद्देश्य सिद्ध हो । जो मतलब का हो । जैसे,—**काम का आदमी । काम चलना**=प्रयोजन निकलना । अर्थ सिद्ध होना । अभिप्राय साधन होना । कार्य्य निर्वाह होना । जैसे,—**इतने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा । काम चलाना**=प्रयोजन निकालना । अर्थ सिद्ध करना । कार्य्य निर्वाह करना । आवश्यकता पूरी करना । जैसे,—**इस वर्ष इसी से काम चलाओ । काम निकलना**=(१) प्रयोजन सिद्ध होना । उद्देश्य पूरा होना । मतलब गँठना । जैसे,—**काम निकल गया, अब क्यों हमारे यहाँ आवेंगे ?** उ०—**मुफ्त निकले काम तो क्यों ख़र्चे दाम ?** (२) कार्य्य निर्वाह होना । आवश्यकता पूरी होना । जैसे,—**इतने से कुछ काम निकले तो ले जाओ । काम निकालना**=(१) प्रयोजन साधना । मतलब गाँठना । जैसे,—**वह चालाक आदमी है, अपना काम निकाल लेता है ।** (२) कार्य्य निर्वाह करना । आवश्यकता पूरी करना । जैसे,—**तब तक इसी से काम निकालो, फिर देखा जायगा । काम पड़ना**=आवश्यकता होना । प्रयोजन पड़ना । दरकार होना । जैसे,—**जब काम पड़ेगा, तुमसे माँग लेंगे । काम बनना**=अर्थ सधना । प्रयोजन निकलना । मतलब गँठना । उद्देश्य सिद्ध होना । मामला ठीक होना । बात बनना । जैसे,—**वह इस समय यहाँ आ जाय तो हमारा काम बन जाय । काम बनाना**=किसी का अर्थ साधन करना । किसी का मतलब निकालना । **काम लगना**=काम पड़ना । आवश्यकता होना । दरकार होना । जैसे,—**जब रुपए का काम लगे, तब ले लेना । काम सँवारना**=काम बनाना । किसी का अर्थ साधन करना । **काम होना**=प्रयोजन सिद्ध होना । अर्थ निकलना । आवश्यकता पूरी होनी ।

(४) ग़रज़ । वास्ता । सरोकार । लगाव । जैसे,—**(क) हमें अपने काम से काम । (ख) तुम्हें इन झगड़ों से क्या काम ?**

मुहा०—किसी से काम डालना=('काम पड़ना' का प्रे० रूप) पाला डालना । जैसे,—**ईश्वर ऐसों से काम न डाले । किसी से काम पड़ना**=किसी से पाला पड़ना । किसी से वास्ता पड़ना । किसी प्रकार का व्यवहार वा संबंध होना । उ०—**चंदन पड़ा चमार घर, नित उठि कूटै चाम । चंदन बपुरा का करै, पड़ा नीच से काम । काम रखना**=वास्ता रखना । सरोकार रखना । लगाव रखना । जैसे,—**उन्हें और किसी बात से उन्हें काम नहीं, खाने पीने से मतलब रखते हैं । काम से काम रखना**=अपने कार्य्य से प्रयोजन रखना । अपने प्रयोजन ही की ओर ध्यान रखना । व्यर्थ की बातों में न पड़ना ।

(५) उपयोग । व्यवहार । इस्तेमाल ।

मुहा०—काम आना=(१) काम में आना । व्यवहार में आना । उपयोगी होना । जैसे,—**(क) यह पत्ती दवा के काम आती है । (ख) इसे फेंको मत, रहने दो, किसी के काम आ जायगा ।** (२) साथ देना । सहारा देना । सहायक होना । आड़े आना । जैसे,—**विपत्ति में मित्र ही काम आते हैं । काम का**=काम में आने लायक । व्यवहार योग्य । उपयोगी (वस्तु) । **काम देना**=व्यवहार में आना । उपयोगी होना । जैसे,—**यह चीज़**

वक्त पर काम देगी, रख छोड़ो। (किसी वस्तु से) काम लेना=व्यवहार में लाना। उपयोग करना। बर्त्तना। इस्तेमाल करना। जैसे,—वाह! आप हमारी टोपी से अच्छा काम ले रहे हैं। काम में आना=व्यवहार में आना। व्यवहृत होना। बर्त्ता जाना। जैसे,—इसे रख छोड़ो, किसी काम में आ जायगी। काम में लाना=बर्त्तना। व्यवहार करना। उपयोग करना। (६) कार बार। व्यवसाय। रोज़गार। जैसे,—उन्हें कोई काम मिल जाता तो अच्छा था।

क्रि० प्र०—करना।

मुहा०—काम खुलना=कार बार चलना। नया कारखाना जारी होना। नया कार बार प्रारंभ होना। काम चमकना=बहुत अच्छी तरह कार बार चलना। व्यवसाय में वृद्धि होना। रोजगार में फायदा होना। जैसे,—थोड़े ही दिनों में उसका काम खूब चमक गया और वह लाखों रुपए का आदमी हो गया। काम पर जाना=कार्य्यालय में जाना। अपने रोजगार की जगह जाना। जहाँ पर कोई काम हो रहा हो, वहाँ जाना। काम बढ़ाना—काम बंद करना। नित्य के नियमित समय पर कोई काम काज बंद करना। जैसे,—संध्या को कारीगर काम बढ़ाकर अपने अपने घर जाते हैं। काम बिगड़ना=कार बार बिगड़ना। व्यवसाय नष्ट होना। व्यापार में घाटा आना। काम सीखना=कार्य्यक्रम की शिक्षा होना। व्यवसाय या धंधा सीखना। कला सीखना। जैसे,—वह तारकशी का काम सीख रहा है। (७) कारीगरी। बनावट। रचना। दस्तकारी। (८) बेल-बूटा वा नकाशी जो कारीगरी से तैयार हो। जैसे,—(क) इस टोपी पर बहुत घना काम है। (ख) दीवार पर का काम उखड़ रहा है।

यौ०—कामदानी। कामदार।

मुहा०—काम उतारना—किसी दस्तकारी के काम को पूरा करना। कोई कारीगरी की चीज तैयार करना। काम चढ़ना=तैयारी के लिये किसी चीज का खराद, करघे, कालिब, कल आदि पर रक्खा जाना। काम चढ़ाना=किसी चीज की तैयारी के लिये खराद, करघे, क़ालिब, कल आदि पर रखना वा लगाना। जैसे,—कई दिनों से काम चढ़ाया है, पर अभी तक नहीं उतरा। काम बनना=किसी वस्तु का तैयार होना। रचना वा निर्माण होना।

कामकला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मैथुन। रति। (२) कामदेव की स्त्री, रति। (३) एक तंत्रोक्त विद्या जिसमें शिव और शक्ति की दो सफ़ेद और लाल बिंदियाँ मानी गई हैं, जिनके संयोग को कामकला कहते हैं। इसी संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है।

काम काज—संज्ञा पुं० [हिं० काम+काज] कार बार। काम धंधा।

कामकाजी—वि० [हिं० काम+काज] काम करनेवाला। उद्योग धंधे में रहनेवाला।

कामकूट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेश्यागामी। लंपट। (२) वेश्याओं का छल छंद। (३) कामराज नामक श्री विद्या का मंत्र जो तीन प्रकार का है—कामकूत, कामकेलि और कामक्रीड़ा।

कामग—वि० [सं०] [स्त्री० कामगा] (१) स्वेच्छाचारी। अपनी इच्छा पर चलनेवाला। उ०—भगवान जब दशरत्थ नृप रानीन के गर्भहिं गये। तदहीं विरंचि सुदेवतन सों बात यह बोलत भये। तुम हरि सहायहि के लिए उत्पत्ति कपि गन की करौ। अब अति बली अति काय कामग कामरूपी विस्तरौ।—पद्माकर। (२) परस्त्री वा वेश्यागामी। लंपट। (३) काम देव।

कामगार—संज्ञा पुं० दे० "कामदार"।

कामचर—संज्ञा पुं० [सं०] अपनी इच्छा के अनुसार सब जगह जानेवाला। स्वेच्छापूर्वक विचरनेवाला।

कामचलाऊ—वि० [हिं० काम+चलाना] जिससे किसी प्रकार काम निकल सके। जो पूरा पूरा वा पूरे समय तक काम न दे सकने पर भी बहुत से अंशों में काम दे जाय।

कामचार—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० कामचारी] इच्छानुसार भ्रमण।

कामचारी—वि० [सं०] (१) मनमाना घूमनेवाला। जहाँ चाहे वहाँ विचरनेवाला। (२) मनमाना काम करनेवाला। स्वेच्छाचारी। (३) कामुक। लंपट।

कामचोर—वि० [हिं० काम+चोर] काम से जी चुरानेवाला। काम से भागनेवाला। अकर्मण्य। आलसी।

कामज—वि० [सं०] वासना से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० मनुसंहिता के अनुसार व्यसन जो दस प्रकार के होते हैं और जिनमें आसक्त होने से अर्थ और धर्म की हानि होती है। दस कामज व्यसन ये हैं—मृगया, जूआ, दिन को सोना, पराई निंदा, स्त्रीसंभोग, मद्यपान, नृत्य, गीत, वाद्य और व्यर्थ इधर उधर घूमना।

कामजित्—वि० [सं०] काम को जीतनेवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। शिव। (२) कार्तिकेय। (३) जिन देव।

कामज्वर—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का ज्वर जो स्त्रियों और पुरुषों को अखंड ब्रह्मचर्य्य पालन करने से हो जाता है। इसमें भोजन से अरुचि और हृदय में दाह होता है, नींद, लज्जा, बुद्धि और धैर्य्य का नाश हो जाता है, पुरुषों के हृदय में पीड़ा होती है और स्त्रियों का अंग टूटता है, नेत्र चंचल हो जाते हैं, मन में संभोग की इच्छा होती है। क्रोध उत्पन्न कर देने से इसका वेग शांत हो जाता है।

कामठक—संज्ञा पुं० [सं०] धृतराष्ट्र के वंश का एक नाग जो जनमेजय राजा के सर्पयज्ञ में मारा गया था।

कामड़िया—संज्ञा पुं० [सं० कम्बल] रामदेव के मत के अनुयायी चमार साधु। ये राजपूताने में होते हैं और रामदेव के शब्द वा उनकी बानी गाते और भीख माँगते हैं।

कामतरु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँदा जो पेड़ों पर होता है। (२) कल्पवृक्ष।

कामता*—संज्ञा पुं० [सं० कामद] चित्रकूट के पास का एक गाँव। चित्रकूट। उ०—पवनतनय कह कलियुग माहीं। अस दरशन होवै कहुँ नाहीं। तुलसिदास कह कृपा तिहारी। मोहि न अचरज परत निहारी। कह कवीश कामता सिधारी। बैठहु कालिह राम उर धारी।—विश्राम।

कामतिथि—संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रयोदशी। (इस तिथि को काम देव की पूजा होती है।)

कामद—वि० [सं०] [स्त्री० कामदा] मनोरथ पूरा करनेवाला। इच्छानुसार फल देनेवाला।

यौ०—कामदगिरी=चित्रकूट।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) स्वामिकार्तिक। (२) ईश्वर।

कामद मणि—संज्ञा पुं० [सं०] चिंतामणि। उ०—अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।……………करिहैं राम भावतो मन को सुख साधन अनयास महा फलु। कामदमनि कामदा कल्पतरु सो जुग जुग जागत जगती तलु। तुलसी तोहिं बिसेखि बूझिए एक प्रतीति प्रीति एकै बलु।—तुलसी।

कामदहन—संज्ञा पुं० [सं० काम+दहन] कामदेव को जलानेवाले शिव। उ०—घर ही बैठे दोऊ दास। रिधि सिधि भक्ति अभय पद दायक आय मिले प्रभु हरि अनयास।…… जाको ध्यान धरत मुनि शंकर शीश जटा दिगंबर तास। कामदहन गिरि कंदर आसन वा मूरति की तऊ पियास।—सूर।

कामदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामधेनु। (२) एक देवी जिसकी महिरावण पूजा करता था। उ०—देहौं बलि कामद कहँ सोई। जानेहु नभ प्रकाश जब होई।—विश्राम। (३) चैत शुक्ल पक्ष की एकादशी का नाम। (४) दश अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसमें क्रम से रगण, यगण और जगण तथा एक गुरु होता है। उ०—रायजू गयो मो लला कहाँ? रोय यों कहैं नंद जू तहाँ। हाय देवकी दीन आपदा। नैन ओट कै मूर्त्ति कामदा। इस वृत्ति के आदि में गुरु के स्थान में दो लघु रखने से "शुद्ध कामदा" वृत्ति होती है। इसमें ५, ५, पर यति होती है।

कामदानी—संज्ञा स्त्री० [हिं० काम+दानी (प्रत्य०)] (१) बेल बूटा जो बादले के तार वा सलमे सितारे से बनाया जाय। (२) वह कपड़ा जिस पर सलमे सितारे के बेल बूटे बने हों।

कामदार—संज्ञा पुं० [हिं० काम+दार (प्रत्य०)] राजपूताने की रियासतों में एक कर्मचारी जो प्रबंध का काम करता है। कारिंदा। अमला।

वि० कारचोबी जिस पर ज़रदोज़ी या तार के कसीदे का काम हो। जिस पर कलाबत्तू आदि के बेल बूटे बने हों। जैसे, कामदार टोपी, कामदार जूता।

कामदुहा—संज्ञा स्त्री० [सं०] कामधेनु।

कामदूतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदंती। हाथी सूँड़ नाम की घास।

कामदूती—संज्ञा स्त्री० [सं०] परवल की बेल।

कामदेव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्री पुरुष के संयोग की प्रेरणा करनेवाला एक पौराणिक देवता जिसकी स्त्री रति, साथी वसंत, वाहन कोकिल, अस्त्र फूलों का धनुष वाण है। उसकी ध्वजा पर मछली का चिह्न है। कहते हैं, जब सती का परलोकवास हो गया, तब शिवजी ने यह विचार कर कि अब विवाह न करेंगे, समाधि लगाई। इसी बीच तारकासुर ने घोर तपकर यह वर माँगा कि मेरी मृत्यु शिव के पुत्र से हो और देवताओं को सताना प्रारंभ किया। इस दुःख से दुःखित हो देवताओं ने कामदेव से शिव की समाधि भंग करने के लिये कहा। उसने शिवजी की समाधि भंग करने के लिये उन पर अपने वाण चलाए। इस पर शिवजी ने कोप कर उसे भस्म कर डाला। इस पर उसकी स्त्री रति रोने और विलाप करने लगी। शिवजी ने प्रसन्न होकर कहा कि कामदेव अब से बिना शरीर के रहेगा और द्वारका में कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के घर उसका जन्म होगा। प्रद्युम्न कामदेव के अवतार कहे गए हैं।

पर्या०—काम। मदन। मन्मथ। मार। प्रद्युम्न। मीनकेतन। कंदर्प। दर्पक। अनंग। पंचशर। स्मर। शंबरारि। मनसिज। कुसुमेषु। अनन्यज। पुष्पधन्वा। रति पति। मकरध्वज। आत्मभू। ब्रह्मसू। विश्वकेतु।

(२) वीर्य्य। (३) संभोग की इच्छा।

काम धाम—संज्ञा पुं० [हिं० काम+धाम (अनु०)] काम काज। धंधा। उ०—ब्रज घर गई गोपकुमारि। नेकहू कहुँ मन न लागत काम धाम बिसारि।—सूर।

कामधेनु—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक गाय जो पुराणानुसार समुद्र के मथने से निकली थी। यह चौदह रत्नों में से एक है। कहते हैं, इससे जो कुछ माँगा जाय वही मिलता है, सुरभी। (२) वशिष्ठ की शवला वा नंदिनी नाम की गाय जिसके कारण उनसे विश्वामित्र से युद्ध हुआ था। राजा विश्वामित्र एक बार वशिष्ठ के यहाँ गए। वशिष्ठ ने अपनी गाय के प्रभाव से राजा का बड़े वैभव के साथ आतिथ्य किया। विश्वामित्र लोभ करके वह गाय माँगने लगे। वशिष्ठ ने अस्वीकार किया, इसी पर दोनों में घोर युद्ध हुआ। (३) दान के लिये सोने की बनाई हुई गाय।

कामध्वज—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कामदेव की पताका पर हो, मछली।

कामना—संज्ञा स्त्री० [सं०] इच्छा। मनोरथ।

कामपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण। (२) बलराम। (३) महादेव।

कामबाण-संज्ञा पुं० [सं०] काम देव के बाण, जो पाँच हैं—मोहन, उन्मादन, संतपन, शोषण, और निश्चेष्टकरण । बाणों को फूलों का मानने पर वे पाँच बाण ये हैं—लाल कमल, अशोक, आम, चमेली और नील कमल ।

कामभूरुह-संज्ञा पुं० [सं० काम+भूरुह] कल्पवृक्ष । उ०—राम भलाई आपनी भल कियो न काको ।.........राम नाम महिमा करै कामभूरुह आको । साखी बेद पुरान है तुलसी तन ताको ।—तुलसी ।

काममुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्र की एक मुद्रा ।

कामयाब-वि० [फ़ा०] जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया हो । सफल । कृतकार्य्य ।

कामयाबी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] [वि० कामयाब] सफलता । कृतकार्य्यता ।

कामरिपु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम ।

कामरी*-संज्ञा स्त्री० [सं० कंबल] कमली । कंबल । उ०—(क) सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग ।—सूर । (ख) काम री मो जिय मारो हुतो वहि कामरी वारो बिचारो बचायो ।—देव ।

कामरुचि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अस्त्र जो रामायण के अनुसार विश्वामित्रजी ने रामचंद्रजी को दिया था । इससे वे अन्य अस्त्रों को व्यर्थ करते थे । उ०—तिमि विभूति अरु वनर कह्यो युग तैसहि वनकर बीरा । कामरूप मोहन आवरणहुँ लेहु काम रुचि बीरा ।—रघुराज ।

कामरू-संज्ञा पुं० दे० "कामरूप" । उ०—कामरू देस कमच्छा देवी । जहाँ बसैं इसमाइल जोगी ।

कामरूप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आसाम का एक ज़िला जहाँ कामाक्ष्या देवी का स्थान है । इसका प्रधान नगर गोहाटी है । कालिका पुराण में कामाख्या देवी और कामरूप तीर्थ का माहात्म्य बड़े विस्तार के साथ लिखा है । यह देवी के ५२ पीठों में से है । यहाँ का जादू टोना प्रसिद्ध है । प्राचीन काल में यह म्लेच्छ देश माना जाता था और इसकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर (आधुनिक गोहाटी) थी । रामायण के समय में इसका राजा नरकासुर था । सीता की खोज के लिये बंदरों को भेजते समय सुग्रीव ने इस देश का वर्णन किया है । महाभारत के समय में प्राग्ज्योतिषपुर का राजा भगदत्त था । जब अर्जुन दिग्विजय के लिये निकले थे, तब यह उनसे चीनियों और किरातों की सेना लेकर लड़ा था । कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी भगदत्त चीनियों और किरातों की म्लेच्छ सेना ले कर कौरवों की ओर से लड़ने गया था । महाभारत में कहीं कहीं भगदत्त को "म्लेच्छानामधिपः" भी कहा है । पीछे से जब शाक्तों और तांत्रिकों का प्रभाव बढ़ा, तब यह स्थान पवित्र मान लिया गया । (२) एक अस्त्र जिससे प्राचीन काल में शत्रु के फेंके हुए अस्त्र व्यर्थ किए जाते थे । (३) बरगद की जाति का एक बड़ा सदाबहार पेड़ । इसकी लकड़ी चिकनी, मज़बूत और ललाई लिए हुए सफ़ेद रंग की होती है जिस पर बड़ी सुंदर लहरदार धारियाँ पड़ी होती हैं । इसकी तौल प्रति घन फुट २० सेर के लगभग होती है । यह लकड़ी किवाड़, कुरसी, मेज़ आदि बनाने के काम में आती है । कामरूप की पत्तियाँ टसर रेशम के कीड़े भी खाते हैं । (४) २६ मात्राओं का एक छंद, जिसमें ९, ७ और १० के अंतर पर विराम होता है । अंत में गुरु लघु होते हैं । उ०—सित पछ सुदसमी, विजय तिथि सुर, वैद्य नखत प्रकास । कपि भालु दल युत, चले रघुपति, निरखि समय सुभास । (५) देवता ।

वि० यथेच्छ रूप धारण करनेवाला । मनमाना रूप धारण करनेवाला । उ०—कामरूप सुंदर तनु धारी । सहित समाज सोह बर नारी ।—तुलसी ।

कामरूपत्व-संज्ञा पुं० [सं०] जैन मत के अनुसार एक प्रकार की सिद्धि जो कर्मादि से निरपेक्ष होने पर प्राप्त होती है । इससे साधक को यथेच्छ अनेक प्रकार के रूप धारण करने की शक्ति होती है ।

कामरूपी-वि० [सं० कामरूपिन्] [स्त्री० कामरूपिणी] इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला । मायावी ।

कामल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक रोग जिसमें पित्त की प्रबलता से रोगी के शरीर का रंग पीला पड़ जाता है, आँखें और नख विशेष पीले जान पड़ते हैं, शरीर अशक्त रहता है और भोजन में अरुचि रहती है । (२) वसंत काल ।

वि० कामी ।

कामला-संज्ञा पुं० दे० "कामल (१)" ।

कामली*-संज्ञा स्त्री० [सं० कंबल] कमली । छोटा कंबल । उ० —साधु हजारी कापड़ा ता में मल न समाय । साकट काली कामली भावै तहाँ बिछाय ।—कबीर ।

कामलोक-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध दर्शन के अनुसार एक परोक्ष लोक । यह ग्यारह प्रकार का है—मनुष्यलोक, तिर्य्यक्लोक, नरक, प्रेतलोक, असुरलोक, चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम्य, तुषित, निर्माणरति और परनिर्मित वशवर्त्ती ।

कामवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दारु हल्दी ।

वि०—काम की वासना रखनेवाली । समागम की इच्छा रखनेवाली ।

कामवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] आम ।

कामवल्लभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चाँदनी । चंद्रिका ।

कामवान्-वि० [सं०] [स्त्री० कामवती] काम की इच्छा करनेवाला । समागम का अभिलाषी ।

कामशर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामबाण । (२) आम ।

कामशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह विद्या वा ग्रंथ जिसमें स्त्री पुरुषों के परस्पर समागम आदि के व्यवहारों का वर्णन हो। इसके प्रधान आचार्य्य नंदीश्वर माने जाते हैं और अंतिम आचार्य्य वात्स्यायन (चाणक्य)।

कामसखा-संज्ञा पुं० [सं० कामसख] वसंत।

कामसुत-संज्ञा पुं० [सं०] अनिरुद्ध जो कामदेव के अवतार, प्रद्युम्न के पुत्र थे।

कामांग-संज्ञा पुं० [सं०] आम।

कामा-संज्ञा स्त्री० [सं० काम] * (१) कामिनी स्त्री। उ०—आधिक कामदग्ध सो कामा। हरि कै सुवा गयो पिय नामा।—जायसी। (२) एक वृत्ति जिसमें दो गुरु होते हैं। जैसे,—आना। जाना। रोना। धोना।

[अं० कामा] एक विराम जो दो वाक्यों वा शब्दों के बीच होता है। इसका चिह्न इस प्रकार है (,)।

कामाक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा देवी का एक अभिग्रह। (२) तंत्र के अनुसार देवी की एक मूर्त्ति।

कामाख्या-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवी का एक अभिग्रह। (२) सती वा देवी का योनिपीठ। कामरूप।

कामातुर-वि० [सं०] काम के वेग से व्याकुल। समागम की इच्छा से उद्विग्न।

कामानुज-संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध। गुस्सा। तामस। उ०—शांत रह्यो कामानुज मुनि को। सेवन कीन्ह्यो गुनि मुनि धनि को।—रघुराज।

कामायुध-संज्ञा पुं० [सं०] आम।

कामारथी†-संज्ञा पुं० दे० "कामार्थी"।

कामारि-संज्ञा पुं० [सं०] शिवजी का एक नाम।

कामावशायिता, कामावसायिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सत्य संकल्पता जो योगियों की आठ सिद्धियों वा ऐश्वर्यों में से है।

कामिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रावण कृष्णा एकादशी।

कामिनियाँ-संज्ञा पुं० [देश०] एक छोटा पेड़ जो सुमात्रा, जावा आदि टापुओं में होता है और जिसकी राल से एक प्रकार का लोबान बनता है।

कामिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामवती स्त्री। (२) स्त्री। सुंदरी। (३) दारुहल्दी। (४) मदिरा। (५) पेड़ों पर का बाँदा। परगाछा। (६) मालकोस राग की एक रागिनी। (७) एक पेड़ जिसकी लकड़ी के मेज़ कुर्सी आदि सजावट के सामान बनते हैं। इसकी लकड़ी पर नक्काशी का काम अच्छा होता है।

कामिनीमोहन-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रग्विणी छंद का एक नाम।

कामिल-वि० [अ०] (१) पूरा। पूर्ण। सब। कुल। समूचा। (२) योग्य। धुरंधर।

कामी-वि० [सं० कामिन्] [स्त्री० कामिनी] (१) कामना रखनेवाला। इच्छुक। (२) विषयी। कामुक।

संज्ञा पुं० [सं] (१) चकवा। (२) कबूतर। (३) चिड़ा। गौरा। (४) सारस। (५) चंद्रमा। (६) काकड़ासींगी। (७) विष्णु का एक नाम।

संज्ञा स्त्री० [सं० कंप=हिलना] (१) काँसे का ढाला हुआ छड़ जिससे मुठिया बनाते हैं। (२) कमानी। तीली।

कामुक-वि० [सं०] (१) [स्त्री० कामुका] इच्छा करनेवाला। चाहनेवाला। (२) [स्त्री० कामुकी] कामी। विषयी।

संज्ञा पुं० (१) अशोक। (२) माधवी लता। (३) चिड़ा। गौरा।

कामुका-वि० स्त्री० [सं०] इच्छा करनेवाली।

संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का मातृका दोष। वैद्यक के अनुसार यह रोग बालकों को उनके जन्म के बारहवें दिन वा बारहवें महीने वा बारहवें वर्ष होता है। इसमें रोगी ज्वर-ग्रस्त होकर हँसता है, वस्त्रादि उतारकर फेंक देता है, अधिक साँस लेता है और अंड बंड बकता है।

कामेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तंत्र के अनुसार एक भैरवी। (२) कामाख्या की पाँच मूर्त्तियों में से एक।

कामोद-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जो मालकोस का पुत्र माना जाता है। इसमें धैवत वादी और पंचम संवादी है। इसके गाने का समय रात का पहला आधा पहर है। करुणा और हास्य में इसका उपयोग होता है। कोई कोई इसे बिलावली और गौड़ के संयोग से बना संकर राग मानते हैं। कई रागों के मेल से कई प्रकार के संकर कामोद बनते हैं। जैसे,—सामंत कामोद, तिलक कामोद, कल्याण कामोद। यह चौताल पर बजाया जाता है। इसका स्वर ग्राम इस प्रकार है—ध नि सा रे ग म प।

कामोदक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जलांजलि जो इच्छानुसार उस मृत प्राणी को दी जाती है जो चूड़ाकर्म के पहले मरा हो और जिसके लिये उदक क्रिया की विधि न हो।

कामोद कल्याण-संज्ञा पुं० [सं० कामोद+कल्याण] एक संकर राग जो कामोद और कल्याण के योग से बनता है। यह संपूर्ण जाति का है। इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। इसका सरगम इस प्रकार है—ग म प ध नि सा रे।

कामोद तिलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर राग जो कामोद और तिलक के योग से बनता है और षाड़व जाति का है। इसमें धैवत वर्जित है। यह रात के पहले पहर में गाया जाता है। इसका सरगम इस प्रकार है।—प नि सा रे ग म प।

कामोद नट-संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर राग जो कामोद और नट के मिलाने से बनता है। यह संपूर्ण जाति का है और इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। इसे कुछ लोग नटनारायण का पुत्र भी मानते हैं। इसके गाने का समय रात का पहला पहर है। कोई कोई इसे दिन के दूसरे पहर में भी गाते हैं। इसका सरगम यह है—ध नि सा रे ग म प प ध नि सा।

कामोद सामंत–संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर राग जो कामोद और सामंत के योग से बनता है। यह षाडव जाति का है। इसमें धैवत वर्जित है। इसके गाने का समय रात का तीसरा पहर है। इसका सरगम इस प्रकार है—ग म प नि सा रे ग।

कामोदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "कामोदी"।

कामोदी–संज्ञा स्त्री० [सं० कामोदा] एक रागिनी जो मालकोश के पुत्र कामोद की स्त्री है। कोई कोई इसे दीपक की चौथी रागिनी भी मानते हैं। यह संपूर्ण जाति की रागिनी है और रात के दूसरे पहर की दूसरी घड़ी में गाई जाती है। कोई कोई इसे संकर रागिनी कहते हैं और सुघराई और सोरठ के योग से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। इसका सरगम यह है—ध नि सा रे ग म प ध।

कामोद्दीपक–वि० [सं०] काम को उद्दीपन करनेवाला। जिससे मनुष्य को सहवास की इच्छा अधिक हो।

कामोद्दीपन–संज्ञा पुं० [सं०] सहवास की इच्छा का उत्तेजन।

काम्य–वि० [सं०] (१) जिसकी इच्छा हो। (२) जिससे कामना की सिद्धि हो। जैसे—काम्य कर्म्म।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह यज्ञ वा कर्म्म जो किसी कामना की सिद्धि के लिये किया जाय। जैसे—पुत्रेष्टि, कारीरी। यह अर्थ कर्म के तीन भेदों में से है। काम्य कर्म्म भी तीन प्रकार का कहा गया है—ऐहिक—वह है जिसका फल इस लोक में मिले जैसे—पुत्रेष्टि और कारीरी। आमुष्मिक—वह है जिसका फल परलोक में मिले जैसे अग्निहोत्र। ऐहिकामुष्मिक, का फल कुछ इस लोक में और कुछ परलोक में मिलता है।

काम्य कर्म–संज्ञा पुं० [सं०] वह कर्म जो किसी फल वा कामना की प्राप्ति के लिये किया जाय।

काम्य मरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इच्छानुसार मृत्यु। (२) मुक्ति।

काम्य दान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रत्न आदि अच्छी वस्तुओं का दान। (२) वह दान जो पुत्र वा ऐश्वर्य्य आदि की कामना से किया जाय।

काम्येष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह यज्ञ जो कामना की सिद्धि के लिये किया जाय। जैसे—पुत्रेष्टि।

काय–वि० [सं०] प्रजापतिसंबंधी, जैसे, कायतीर्थ, कायहवि इत्यादि।

संज्ञा स्त्री० [सं०][वि० कायिक] (१) शरीर। देह। बदन। जिस्म।

उ०—कछु है न आइ गयो जन्म जाय। अति दुर्लभ तन पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन काय।—तुलसी।

यौ०—कायक्रिया। कायक्लेश। कायचिकित्सा। निकाय। दीर्घकाय। महाकाय।

(२) प्रजापति तीर्थ। कनिष्ठा उँगली के नीचे का भाग।

विशेष—मनु ने तर्पण, आचमन, संकल्प आदि की पवित्रता के विचार से अंगों के तीर्थ नाम से विभाग किए हैं।

(३) प्रजापति का हवि। वह हवि जो प्रजापति के निमित्त हो। (४) प्राजापत्य विवाह। (५) मूल धन। असल। (६) वस्तु स्वभाव। लक्षण। (७) लक्ष्य। (८) समुदाय। संघ। (९) बौद्ध भिक्षुओं का संघ।

काय चिकित्सा–संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के किए हुए चिकित्सा के आठ विभागों वा अंगों में से एक। इसमें ज्वर, कुष्ठ, उन्माद, अपस्मार आदि सर्वांगव्यापी रोगों के उपशमन का विधान है।

क़ायज़ा–संज्ञा पुं० [अ० क़ायज़ा] घोड़े की लगाम की डोरी, जिसे पूँछ तक लेजाकर बाँधते हैं।

क्रि० प्र०—चढ़ाना।—बाँधना।—लगाना।

मुहा०—कायजा करना=घोड़े की लगाम की डोरी को पूँछ में फँसाना। (घोड़े को चुप चाप खड़ा करने के लिये खरहरा करते समय प्रायः ऐसा करते हैं।)

कायथ–संज्ञा पुं० [सं० कायस्थ] [स्त्री० कायथिन, कैथिन] दे० "कायस्थ"।

क़ायदा–संज्ञा पुं० [अ० क़ायदा] (१) नियम। (२) चाल। दस्तूर। रीति। ढंग। (३) विधि। विधान। (४) क्रम। व्यवस्था। क़रीना।

कायफर†–संज्ञा पुं० "कायफल"।

कायफल–संज्ञा पुं० [सं० कट्फल] एक वृक्ष जिसकी छाल दवा के काम में आती है। यह वृक्ष हिमालय के कुछ गरम स्थानों में पैदा होता है। आसाम के खासिया नामक पहाड़ पर और बरमा में भी यह बहुत होता है।

क़ायम–वि० [अ०] (१) ठहरा हुआ। स्थिर। (२) स्थापित। जैसे, स्कूल क़ायम करना। शतरंज में मोहरा क़ायम करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) निर्धारित। निश्चित्। मुक़र्रर। जैसे, हद क़ायम करना।

यौ०—क़ायममुक़ाम।

(४) जो बाज़ी बराबर रहे। जिसमें किसी पक्ष की हार जीत न हो।

मुहा०—क़ायम उठाना=शतरंज की बाज़ी का इस प्रकार समाप्त होना जिसमें किसी पक्ष की हार जीत न हो।

क़ायममुक़ाम–वि० [अ०] स्थानापन्न। एवज़ी।

कायर–वि० [सं० कातर] डरपोक। भीरु। असाहसी। कमहिम्मत।

उ०—(क) कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक वेद निंदित बहु भाँती।—तुलसी। (ख) बड़ो क्रूर कायर कपूत कौड़ी आध को।—तुलसी।

कायरता–संज्ञा स्त्री० [सं० कातरता] डरपोकपन। भीरुता।

क़ायल–वि० [अ०] जो दूसरे की बात की यथार्थता को स्वीकार कर ले। जो तर्क वितर्क से सिद्ध बात को मान ले। जो अन्यथा प्रमाणित होने पर अपना पक्ष छोड़ दे। क़बूल करनेवाला।

मुहा०—क़ायल करना=समझा बुझाकर कोई बात मनवाना। स्वीकार कराना। निरुत्तर करना। जैसे,—जब उसको दस आदमी क़ायल करेंगे, तब वह झख मारकर ऐसा करेगा। क़ायल होना=(१) दूसरे की बात की यथार्थता को मान लेना। (२) स्वीकार करना। मानना। जैसे,—हम उसकी चालाकी के क़ायल हैं।

कायली†-संज्ञा स्त्री० [हिं० कायर] ग्लानि। लज्जा।

*संज्ञा स्त्री० [सं० क्ष्वेडिका, क्ष्वेलिका, पा० ख्वेलिका] मथानी। खैलर। (डिं०)

कायव्य-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत में वर्णित एक दस्यु सरदार का नाम जो बड़ा धर्मपरायण था और साधुओं तथा तपस्वियों की सेवा करता था।

कायव्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर में वात, पित्त, कफ़ तथा त्वक्, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र के स्थान और विभाग आदि का क्रम। (२) योगियों की अपने कर्म्मों के भोग के लिये चित्त में एक एक इंद्रिय और अंग की कल्पना की क्रिया।

कायस्थ-वि० [सं०] काय में स्थित। शरीर में रहनेवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीवात्मा। (२) परमात्मा (३) एक जाति का नाम। इस जाति के लोग प्रायः लिखने पढ़ने का काम करते हैं और पंजाब को छोड़ प्रायः सारे उत्तर भारत में पाए जाते हैं।

कायस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरीतकी। हड़। (२) आँवला। (३) तुलसी। (४) काकोली।

काया-संज्ञा स्त्री० [सं० काय] शरीर। तन। देह। उ०—राग को न साज न विराग जोग जाग जिय काया नहिं छाँड़ि देति ठाठिबो कुठाठ को।—तुलसी।

यौ०—कायाकल्प। कायापलट।

मुहा०—काया पलट जाना=रूपांतर हो जाना। और से और हो जाना। जैसे,—इतने दिनों में इस मकान की सारी काया पलट गई। काया पलट देना=रूपांतर करना। और से और कर देना।

कायाकल्प-संज्ञा पुं० [सं० कायकल्प] (१) औषध के प्रभाव से वृद्ध शरीर को पुनः तरुण और सशक्त करने की क्रिया। (२) चिकित्सा या युक्ति जिससे अशक्त और जर्जर शरीर नया हो जाय।

कायापलट-संज्ञा पुं० [हिं० काया+पलटना] (१) भारी हेर फेर। बहुत बड़ा परिवर्तन। (२) एक शरीर वा रूप का दूसरे शरीर वा रूप में बदल जाना। नए रूप की प्राप्ति। और ही रंग रूप होना।

क्रि० प्र० - करना।—होना।

कायिक-वि० [सं०] (१) शरीर संबंधी। (२) शरीर से किया हुआ वा उत्पन्न। जैसे, कायिक कर्म, कायिक पाप। (३) संघसंबंधी। (बौद्ध)।

कायिकावृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह मेहनत मज़दूरी वा काम जो ऋणी मनुष्य सूद के बदले में कर दे वा अपने गाय बैल से करा दे। स्मृतियों में चार प्रकार के ब्याजों में से इसको भी एक प्रकार का ब्याज माना है।

कायोढज-संज्ञा पुं० [सं०] प्राजापत्य विवाह से उत्पन्न पुत्र।

कायोत्सर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] जैन शिल्प में अर्हत् की वीतरागावस्था में खड़ी मूर्त्ति।

कारंड, कारंडव-संज्ञा पुं० [सं०] हंस की जाति का एक पक्षी। एक प्रकार का बत्तख।

कार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रिया। कार्य्य। जैसे,—उपकार, स्वीकार, अहंकार, बलात्कार, चमत्कार।

विशेष—यौगिक अर्थों ही में इसका प्रयोग होता है।

(२) करनेवाला। बनानेवाला। रचनेवाला। व्यवसाय करनेवाला। जैसे, कुंभकार, ग्रंथकार, स्वर्णकार, चर्मकार। (३) एक शब्द जो वर्णमाला के अक्षरों के आगे लगकर उनका स्वतंत्र बोध कराता है। जैसे, चकार, लकार, मकार इत्यादि। (४) एक शब्द जो अनुकृत ध्वनि के साथ लगकर उसका संज्ञावत् बोध कराता है। जैसे, फूत्कार, चीत्कार, झन्कार, फुफकार, सिसकार, टंकार, फटकार। (५) बर्फ़ से ढका पहाड़। (६) पूजा की बलि। (७) पति।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] कार्य्य। काम। धंधा।

यौ०—कारगुज़ारी। कारबार। कारंवाई।

कारक-वि० [सं०] [स्त्री० कारिका] करनेवाला। जैसे—हानिकारक, सुखकारक।

विशेष—इसका प्रयोग इस अर्थ में प्रायः यौगिक शब्दों के अन्त में होता है।

संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में संज्ञा वा सर्वनाम शब्द की वह अवस्था जिसके द्वारा किसी वाक्य में उसका क्रिया के साथ संबंध प्रकट होता है। कारक ६ हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण।

कारकदीपक-संज्ञा पुं० [सं०] काव्य में वह अर्थालंकार जिसमें कई एक क्रियाओं का एक ही कर्त्ता वर्णन किया जाय। जैसे—कहति, नटति, रीझति, खिझति, हिलति, मिलति, लजियात। भरे भवन में करति है, नैनन ही सों बात।

कार-करदा-वि० [फ़ा०] जिसका किया धरा हो। अनुभवी। तजरुबेकार।

कारकुन-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) किसी के बदले काम करनेवाला। प्रबंधकर्त्ता। (२) कारिंदा।

कारख़ाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) वह स्थान जहाँ व्यापार के लिये कोई वस्तु बनाई जाती है। जैसे, पुतलीघर, करघा, छापाख़ाना इत्यादि।

क्रि० प्र०—करना।—खोलना।

(२) कार बार। काम काज। व्यवसाय। जैसे,—थोड़े ही दिनों में उन लोगों ने धीरे धीरे अपना कारख़ाना फैलाया।

क्रि० प्र०—पसारना।—फैलाना।

(३) घटना। दृश्य। मामला। जैसे,—वहाँ अजीब कारख़ाना नज़र आया। (४) क्रिया। व्यापार। जैसे,—वहाँ दिन भर यही कारख़ाना लगा रहता है।

क्रि० प्र०—लगा रहना।

कारगर-वि० [फ़ा०] (१) प्रभावोत्पादक। प्रभावजनक। असर करनेवाला।

क्रि० प्र०—होना।

(२) उपयोगी। लाभकारक। जैसे,—कोई दवा कारगर नहीं होती।

क्रि० प्र०—होना।

कारगुज़ार-वि० [फ़ा०] संज्ञा कारगुज़ारी] काम को अच्छी तरह करनेवाला। अपना कर्त्तव्य अच्छी तरह पूरा करनेवाला। खूब अच्छी तरह और आज्ञा पर ध्यान देकर काम करनेवाला।

कारगुज़ारी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) पूरी तरह और आज्ञा पर ध्यान देकर काम करना। कर्त्तव्यपालन। (२) कार्य्य-पटुता। होशियारी। (३) कर्मण्यता।

कारचोब-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [वि० संज्ञा कारचोबी] (१) लकड़ी का एक चौकठा जिस पर कपड़ा तानकर ज़रदोज़ी वा क़सीदे का काम बनाया जाता है। अड्डा। (२) ज़रदोज़ी वा क़सीदे का काम करनेवाला। ज़रदोज़। (३) क़सीदे वा गुलकारी का काम जो ज़री के तारों को लेकर लकड़ी के चौकठे पर बनाया जाता है।

कारचोबी-वि० [फ़ा०] ज़रदोज़ी का।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] ज़रदोज़ी। गुलकारी। कसीदा।

कारज*†-संज्ञा पुं० दे० "कार्य्य"।

कारटा*-संज्ञा पुं० [सं० करट] कौआ। काग। उ०—काज कनागत कारटा आन देव को खाय। कहै कबीर समुझै नहीं बाँधा यमपुर जाय।—कबीर।

कारटून-संज्ञा पुं० [अं०] वह उपहासपूर्ण कल्पित बेढंगे चित्र जिनसे किसी घटना वा व्यक्ति के संबंध में किसी गूढ़ रहस्य का ज्ञान होता है।

क्रि० प्र०—निकलना।—निकालना।

कारड†-संज्ञा पुं० दे० "कार्ड"।

कारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हेतु। वजह। सबब। जैसे,—तुम किस कारण वहाँ गए थे।

विशेष—इस शब्द के साथ विभक्ति "से" प्रायः नहीं लगाई जाती।

(२) वह जिसके बिना कार्य्य न हो। वह जिसका किसी वस्तु वा क्रिया के पूर्व संबद्ध-रूप से होना आवश्यक हो। वह जिससे दूसरे पदार्थ की संप्राप्ति हो। हेतु। निमित्त। प्रत्यय। न्याय के मत से कारण तीन प्रकार के होते हैं—समवायि (जैसे तंतु वस्त्र का), असमवाय (तंतुओं का संयोग वस्त्र का) और निमित्त (जैसे जुलाहा, ढरकी आदि वस्त्र के)। योगदर्शन में कारण ९ प्रकार के हैं—उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, ज्ञान, प्राप्ति, विच्छेद, अन्यत्व और धृति। यह विभिन्नता केवल कार्य्य-भेद से जान पड़ती है। उत्पत्ति-ज्ञान का कारण मन, शरीर-स्थिति का कारण आहार, रूप की अभिव्यक्ति का कारण प्रकाश, पचनीय वस्तुओं के विकार का कारण अग्नि, अग्नि के कारणत्व का धूमज्ञान, विवेकप्राप्ति और अशुद्धिविच्छेद का कारण योगांगों का अनुष्ठान, स्वर्णकार कुंडल में सोने के रूपान्यत्व का कारण, इस जगत् और इंद्रियों का अधिष्ठान ईश्वर वेदांत उपादान कारण मानता है। कोई कोई कारण तीन प्रकार का मानते हैं, उपादान (=समवायि), निमित्त और साधारण। चार्वाक कारण को कोई पदार्थ नहीं मानता। सांख्य त्रयोगुणात्मिका प्रकृति को मूल कारण कहता है। वेदांत कहता है कि अचेतन प्रकृति से कार्य्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कणाद ने परमाणु को सावयव जगत् का उपादान कारण माना है। (३) आदि। मूल। (४) साधन। (५) कर्म। (६) प्रमाण। (७) एक बाजा। (८) तांत्रिकों की परिभाषा में पूजन के उपरांत का मद्यपान। (९) एक प्रकार का गाना। (१०) विष्णु। (११) शिव।

कारणमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हेतुओं की श्रेणी। (२) काव्य में एक अर्थालंकार जिसमें किसी कारण से उत्पन्न कार्य्य पुनः किसी अन्य कार्य्य का कारण होता हुआ वर्णन किया जाय। जैसे—दल ते बल, बल ते विजय, ताते राज हुलास। कृत ते सुत, सुत ते सुयश, यश ते दिवि महँ बास।

कारणशरीर-संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत में अनुवाद के अनुसार सुषुप्त अवस्था का वह कल्पित शरीर जिसमें इंद्रियों के विषयव्यापार का अभाव रहता है, पर अहंकार आदि का संस्कार-मात्र रह जाता है, जिससे जीवात्मा केवल सुख ही सुख का अनुभव करता है। यह शरीर वास्तव में अविद्या ही है। इसे आनंदमय कोश भी कहते हैं।

कारणोपाधि-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर। (वेदांत)

कारतूस-संज्ञा पुं० [पुर्त्त० कारटूस] एक लंबी नली जिसमें गोली छर्रा और बारूद भरी रहती है और जिसके एक सिरे पर टोपी लगी रहती है। इसे टोंटेवाली और रिवालवर बंदूकों में भरकर चलाते हैं।

कारन*-संज्ञा पुं० दे० "कारण"।

†संज्ञा स्त्री० [सं० करुणा] रोने का आर्त्त स्वर। कूक। करुण स्वर।

क्रि० प्र०—करना।

कारनिस–संज्ञा स्त्री० [अं०] दीवार की कँगनी। कगर।

कारनी–संज्ञा पुं० [सं० कारण वा करण=कान] प्रेरक। करनेवाला। उ०—जो पै चेराई राम की करतो न लजातो। तो तूँ दाम कुदाम ज्यों कर कर न बिकातो।········· राम सोहातो तोहिं जौ तू सबहिं सोहातो। काल कर्म कुल कारनी कोऊ न कोहातो।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० कारीनि] भेद करानेवाला। भेदक। जैसे,—उसके साथ यहीं से कारनी लगे और राह में कान भरकर उन्होंने उसकी मति पलट दी।

कारपरदाज़–वि० [फ़ा०] [संज्ञा कारपर्दाजी] (१) काम करनेवाला। कारकुन। (२) प्रबंधकर्ता। कारिंदा।

कारपरदाज़ी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) दूसरे का काम करने की वृत्ति। दूसरे की ओर से किसी कार्य्य के प्रबंध करने का काम। (२) दूसरे का काम करने की तत्परता। कार्य्यपटुता।

कार बार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [वि० कारबारी] काम काज। व्यापार। पेशा। व्यवसाय।

कारबारी–वि [फ़ा०] कामकाजी।

संज्ञा पुं० दूसरे की ओर से काम करनेवाला आदमी। कारकुन। कारिंदा।

कारबन–संज्ञा पुं० [अं०] [वि० कारबोनिक] रसायन शास्त्र के अनुसार एक तत्त्व जो सृष्टि के बीच दो रूपों में मिलता है, एक हीरे के रूप में, दूसरा पत्थर के कोयले के रूप में।

कारबोनिक–वि० [अं०] कारबन वा कोयला संबंधी। कारबन मिश्रित। कारबन से बना हुआ।

यौ०—कारबोनिक एसिड गैस।

कारबोलिक–वि० [अं०] अलकतरा संबंधी। अलकतरा मिश्रित वा उससे बना हुआ।

संज्ञा पुं० एक सार पदार्थ जो (पत्थर के) कोयले के तेल वा अलकतरे से निकाला जाता है। घाव वा फोड़े फुंसियों पर कारबोलिक का तेल कीड़ों को मारने वा दूर रखने के लिये लगाया जाता है। १ से ३ ग्रेन तक की मात्रा में कारबोलिक खिलाया भी जाता है। इसका तेल और साबुन भी बनता है।

काररवाई–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) काम। कृत्य। जैसे,—(क) यह बड़ी बेजा काररवाई है। (ख) तुम्हारी दरख़ास्त पर कुछ काररवाई हुई या नहीं?

क्रि० प्र०—करना।—दिखाना।—होना।

(२) कार्य्यतत्परता। कर्मण्यता।

क्रि० प्र०—दिखाना।

(३) गुप्त प्रयत्न। चाल। जैसे,—इसमें ज़रूर कुछ काररवाई की गई है।

क्रि० प्र०—करना।—लगना।—होना।

कारवाँ–संज्ञा पुं० [फ़ा०] यात्रियों का झुंड जो एक देश से दूसरे देश की यात्रा करता है।

यौ०—कारवाँ सराय=कारवाँ के ठहरने की सराय।

कारवेल्ल–संज्ञा पुं० [सं०] करेला।

कारसाज़–वि० [फ़ा०] [संज्ञा कारसाजी] काम बनानेवाला। बिगड़े काम को सँभालनेवाला। काम पूरा करने की युक्ति निकालनेवाला। जैसे,—ईश्वर बड़ा कारसाज़ है।

कारसाज़ी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) काम पूरा उतारने की युक्ति। (२) गुप्त कार्रवाई। चालबाज़ी। कपट-प्रयत्न। जैसे,—तुम्हारा कुछ दोष नहीं, यह सब उसी की कारसाज़ी है।

कारस्तानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) कारसाज़ी। काररवाई। (२) चालबाज़ी। छिपी काररवाई।

कारा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बंधन। क़ैद।

यौ०—कारागार।

(२) पीड़ा। क्लेश। (३) दूती। (४) सोनारिन।

वि० *† दे० "काला"।

कारागार–संज्ञा पुं० [सं०] बंदीगृह। क़ैदख़ाना।

कारागृह–संज्ञा पुं० [सं०] क़ैदख़ाना। बंदीगृह।

कारापथ–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश जो लक्ष्मण के पुत्र अंगद और चित्रकेतु के शासन में था।

कारावास–संज्ञा पुं० [सं०] क़ैद।

कारिंदा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [संज्ञा कारिंदगरी] दूसरे की ओर से काम करनेवाला। कर्मचारी। गुमाश्ता।

कारिक–संज्ञा पुं० [देश०] करघे में वह चिकनी लकड़ी जो ताने को सँभालती है और जिसे जोलाहे "खरकूत" भी कहते हैं।

क़ारिक़–संज्ञा पुं० [अ०] कुर्क़ी करनेवाला। जो पुरुष कुर्क़ी करे।

कारिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी सूत्र की श्लोकबद्ध व्याख्या। किसी सूत्र का श्लोकों में विवरण। (२) नाटक करनेवाले नट की स्त्री। नटी। (३) संकीर्ण राग का एक भेद। (संगीत)।

कारिख–संज्ञा स्त्री० [सं० कलुष] (१) कलौंछ। स्याही। कालिमा। उ०—भले भूप कहत भले भदेस भूपनि सों लोक लखि बोलिए पुनीत रीति मारिखी। जगदंबा जानकी जगत पितु रामभद्र जानि जिय जोवो ज्यों न लागै मुँह कारिखी। —तुलसी। (२) काजल। (३) कलंक। दोष। उ०—देवि, बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ। कहौंगो मुख की समर सरि कालि कारिख धोइ।—तुलसी।

विशेष—दे० "कालिख"।

कारित–वि० [सं०] कराया हुआ।

संज्ञा पुं० [दे०] काठबेल।

कारिता–संज्ञा पुं० [सं०] वह ब्याज जो दस्तूर से अधिक हो और जिसे ऋणी ने अपनी इच्छा से देना स्वीकार किया हो।

कारी–संज्ञा पुं० [सं० कारिन्] [स्त्री० कारिणी] करनेवाला। बनानेवाला। जैसे,—न्यायकारी।

विशेष—इसका प्रयोग यौगिक शब्दों ही के अंत में होता है।

वि० [फ़ा०] गहरा। घातक। मर्मभेदी।

वि० स्त्री० दे० "काली" वा "काला"।

कारीगर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [संज्ञा कारीगरी] हाथ से अच्छे अच्छे काम बनानेवाला आदमी। धातु, लकड़ी, पत्थर इत्यादि से विशाल और सुंदर वस्तुओं की रचना करनेवाला पुरुष। शिल्पकार।

वि० हाथ से काम बनाने में कुशल। निपुण। हुनरमंद।

कारीगरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) अच्छे अच्छे काम बनाने की कला। निर्माणकला। (२) सुंदर बना हुआ काम। मनोहर रचना।

कारी जीरी–संज्ञा स्त्री० दे० "काली जीरी"।

कारु–संज्ञा पुं० [सं०] शिल्पी। कारीगर। दस्तकार।

कारुणिक–वि० [सं०] कृपालु। दयालु।

कारुण्य–संज्ञा पुं० [सं०] करुणा का भाव। दया। मेहरबानी।

कारुपथ–संज्ञा पुं० दे० "कारापथ"।

क़ारूँ–संज्ञा पुं० [अ०] हजरत मूसा का चचेरा भाई जो बड़ा धनी था, पर ख़ैरात नहीं करता था। ४० ख़च्चरों पर उसके ख़ज़ानों की कुंजियाँ चलती थीं। कंजूसी के कारण अब उसके नाम का अर्थ ही कंजूस पड़ गया है।

यौ०—क़ारूँ का ख़ज़ाना=असीम धन। अनंत संपत्ति। कुबेर की सी संपत्ति।

वि० कंजूस। बख़ील। मक्खीचूस। कृपण।

कारूनी–संज्ञा स्त्री० [?] घोड़ों की एक जाति। उ०—कारूनी संदली स्याह कर्नेता रूनी। तुक़रा और दुबाज बोरता है छबि दूनी।—सूदन।

क़ारूरा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) फुँकनी शीशी जिसमें रोगी का मूत्र वैद्य को दिखाने के लिये रक्खा जाता है। (२) मूत्र। पेशाब।

क्रि० प्र०—दिखाना।—देखना।

मुहा०—क़ारूरा मिलना=अत्यंत घनिष्टता होना। अत्यंत हेल मेल होना।

(३) बारूद की कुप्पी जिसमें आग लगाकर शत्रु की ओर फेंकते हैं।

कारूष–वि० [सं०] करूष देश संबंधी। करूष देश का।

संज्ञा पुं० करूष देश का निवासी।

कारौंछ–संज्ञा स्त्री० दे० "कालौंछ"।

कारो*†–वि० दे० "काला"।

कारोबार–संज्ञा पुं० दे० "कारबार"।

कार्क–संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार की बहुत ही हलकी लकड़ी की छाल जिसकी डाटें बोतलों में लगाई जाती हैं। यह एक प्रकार का शाहबलूत है जो स्पेन और पुर्तगाल में बहुतायत से पैदा होता है। इसका पेड़ ४० फुट तक ऊँचा होता है। छाल दो इंच तक मोटी होती है। एक बार छील लेने पर यह छाल ४ वा ६ वर्ष में फिर पैदा हो जाती है। इसका वृक्ष १५० वर्ष तक रहता है।

कार्ड–संज्ञा पुं० [अं०] (१) मोटा कागज़। मोटे कागज़ का तख़्ता। (२) छोटे तथा मोटे कागज़ पर लिखा हुआ खुला पत्र। (३) पते का कागज़।

यौ०—पोस्ट कार्ड। विज़िटिंग कार्ड।

कार्तवीर्य–संज्ञा पुं० [सं०] कृतवीर्य का पुत्र सहस्रार्जुन जिसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी। यह राजा तंत्रशास्त्र का आचार्य माना जाता है। कहते हैं कि इसे परशुरामजी ने मारा था। इसके हज़ार हाथ थे।

कार्तिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक चांद्र मास जो क्वार और अगहन के बीच में पड़ता है। जिस दिन इस मास की पूर्णिमा पड़ती है, उस दिन चंद्रमा कृत्तिका नक्षत्र में रहता है, इसी से इसका यह नाम पड़ा है। (२) वह संवत्सर जिसमें वृहस्पति कृत्तिका वा रोहिणी नक्षत्र में हो।

कार्तिकेय–संज्ञा पुं० [सं०] कृत्तिका नक्षत्र में उत्पन्न होनेवाले स्कंदजी। षडानन।

कार्निस–संज्ञा पुं० दे० "कारनिस"।

कार्दम–वि० [सं०] (१) कीचड़ से भरा हुआ। (२) कर्दम नामक प्रजापति संबंधी। कर्दम से उत्पन्न। कर्दम का किया वा बनाया हुआ।

कार्पण्य–संज्ञा पुं० [सं०] कृपण होने का भाव। कृपणता। कंजूसी। बख़ीली। उ०—द्रोह कोतवाल त्यों अज्ञान तहसीलदार गर्व गढ़वाल रोग सेवक अपार हैं। भनै रघुराज कारपण्य पण्य चौधरी है जग के विकार जेते सबै सरदार हैं।—रघुराज।

कार्बन–संज्ञा पुं० दे० "कारबन"।

कार्बोनिक–वि० दे० "कारबोनिक"।

कार्बोलिक–वि० दे० "कारबोलिक"।

कार्मण–संज्ञा पुं० [सं०] मूल कर्म जिनमें मंत्र और औषध आदि से मारण, मोहन, वशीकरण आदि किया जाता है। मंत्र तंत्र आदि का प्रयोग।

वि० कर्म में दक्ष। कर्मकुशल।

कार्मणोन्माद–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का उन्माद जिसमें कंधा और मस्तक भारी रहता है, नाक, आँख, हाथ, पाँव में पीड़ा होती है, वीर्य न्यून हो जाता है, रोगी दुबला होता

जाता है और उसके शरीर में सूई चुभने की सी पीड़ा होती है। लोगों का विश्वास है कि यह उन्माद जादू, टोना, प्रयोग आदि से होता है।

कार्मना-संज्ञा पुं० [सं० कार्मण] (१) मंत्र तंत्र का प्रयोग। कृत्या (२) मंत्र। तंत्र। उ०—जैति परमंत्र यंत्राभिचारक ग्रसन कार्मना कूट कृत्यादि हंता। डाकिनी शाकिनी पूतना प्रेत बैताल भूत प्रथम यूथ जंता।—तुलसी।

कार्मिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह वस्त्र जिसमें बुनावट में ही शंख चक्र, स्वस्तिक आदि के चिह्न बने हों।

वि० कर्मशील। काम करनेवाला।

कार्मुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धनुष।

यौ०—कार्मुकोपनिषद्=धनुर्विद्या।

(२) परिधि का एक भाग। चाप। (३) इंद्रधनुष। (४) बाँस। (५) सफ़ेद खैर। (६) बकायन। (७) एक प्रकार का शहद। (८) धनु राशि। नवीं राशि। (९) रूई धुनने की धुनकी। (१०) योग में एक आसन जिसमें पद्म आसन बैठकर दाहिने हाथ से बाएँ पैर की दो उँगलियाँ और बाएँ हाथ से दाहिने पैर की दो उँगलियाँ पकड़ते हैं।

कार्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काम। कृत्य। व्यापार। धंधा। (२) वह जो कारण से उत्पन्न हो। वह जो कारण का विकार हो अथवा जिसे लक्ष्य करके कर्त्ता क्रिया करे। जो कारण के बिना न हो। (३) फल। परिणाम। प्रयोजन। (४) ऋण आदि संबंधी विवाद। रुपए पैसे का झगड़ा। ज्योतिष में जन्मलग्न से दसवाँ स्थान। (६) आरोग्यता।

कार्यकर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं०] काम करनेवाला। कर्मचारी।

कार्य-कारण-भाव-संज्ञा पुं० [सं०] कार्य और कारण का संबंध।

कार्यदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी के किए हुए काम को आलोचनार्थ देखना। काम की देख भाल। (२) अपने काम की फिर से जाँच।

कार्यदर्शी-संज्ञा पुं० [सं० कार्यदर्शिन्] काम को देखने भालनेवाला। निरीक्षक।

कार्यपंचक-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर के पाँच विशेष काम, अर्थात् अनुग्रह, तिरोभाव, आदान, स्थिति और उद्भव।

कार्यपुट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडबंड काम करनेवाला। उन्मत्त। (२) क्षपणक। बौद्ध भिक्षुक।

कार्यसम-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में चौबीस जातियों में से एक। इसमें प्रतिवादी, वादी के इस कथन पर कि प्रयत्न से उत्पन्न कार्य अनित्य हैं, प्रयत्न द्वारा उत्पन्न कार्य्यों की अनेकरूपता की दलील देता है जो कि वादी का पक्ष खंडन करने में असमर्थ होती है। जैसे वादी नैयायिक कहता है कि प्रयत्न से उत्पन्न कार्य्य होने के कारण शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिवादी वा मीमांसक कहता है कि प्रयत्न से उत्पन्न कार्य्य अनेक प्रकार के होते हैं; जैसे कूँआँ खोदने से जल निकलता है; तो क्या जल कूँआँ खोदने के पहले नहीं था? इसी को कार्यसम वा कार्यविशेष कहते हैं। इस पर वादी कहता है कि व्यवधान के हटने से अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं होती, शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं। अनुपलब्धिकारण वा व्यवधान के दूर करने के प्रयत्न को कारणत्व नहीं होता।

कार्याधिकारी-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके सुपुर्द किसी कार्य्य का प्रबंध आदि हो। अफ़सर।

कार्याध्यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] अफ़सर। मुख्य कार्य्यकर्त्ता।

कार्यार्थी-वि० [सं०] कार्य की सिद्धि चाहनेवाला। कोई ग़रज़ रखनेवाला।

संज्ञा पुं० किसी मुक़दमे की पैरवी करनेवाला।

कार्यालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ कोई काम होता हो। दफ़्तर। कारख़ाना।

कारवाई-संज्ञा स्त्री० दे० "काररवाई"।

कार्श्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कृशता। दुबलापन। दुर्बलता। (२) साल का पेड़। (३) बड़हर का पेड़। (४) कचूर।

कार्षापण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन सिक्का जो यदि ताँबे का होता था तो अस्सी रत्ती का, यदि सोने का होता था तो सोलह माशे का और यदि चाँदी का होता था तो सोलह पण वा १२८० कौड़ियों का (किसी किसी के कथनानुसार एक पण वा अस्सी कौड़ियों का) होता था।

कार्ष्ण-वि० [सं०] (१) कृष्णसंबंधी। (२) कृष्ण द्वैपायन-संबंधी। (३) कृष्णमृग-संबंधी।

कार्ष्णायन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यासवंशीय ब्राह्मण। (२) वसिष्ठ गोत्र का ब्राह्मण।

कार्ष्णि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कृष्ण का पुत्र, प्रद्युम्न। (२) कामदेव। (३) कृष्ण द्वैपायन व्यास के पुत्र, शुकदेव। (४) एक गंधर्व का नाम।

कार्ष्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सतावर।

कार्ष्ण्य-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णता। कालापन।

कालंजर-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "कालिंजर"।

काल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समय। वक्त। वह संबंध-सत्ता जिसके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान आदि की प्रतीति होती है और एक घटना दूसरी से आगे पीछे आदि समझी जाती है।

विशेष—वैशेषिक में काल एक नित्य द्रव्य माना गया है और "आगे" "पीछे" "साथ" "धीरे" "जल्दी" आदि उसके लिंग बतलाए गए हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग उसके गुण कहे गए हैं। "पर" "अपर" आदि प्रत्ययों का मान सर्वत्र सब प्राणियों में समान होता है, और इस परत्व अपरत्व की उत्पत्ति में असमवायि कारण से काल का संयोग होता है। इससे काल सब का कारण

तथा व्यापक और एक माना गया है। उसकी अनेकता की प्रतीति केवल उपाधि से होती है। कोई कोई नैयायिक काल के "खंडकाल" और "महाकाल" दो भेद करते हैं। पदार्थों (ग्रहों आदि) की गति आदि से क्षण, दंड, मास, वर्ष आदि का जिसमें व्यवहार होता है, वह खंडकाल है और उसी का दूसरा नाम कालोपाधि है। जैनशास्त्रकार काल को एक अरूपी द्रव्य मानते हैं और उसकी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दो गतियाँ कहते हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों में लेबनीज़ काल को संबंधों की अव्यक्त भावना कहता है। कांट का मत है कि काल कोई स्वतंत्र बाह्य पदार्थ नहीं है, वह चित्तप्रयुक्त अवस्था है जो चित्त के अधीन है, वस्तु के अधीन नहीं। देश और काल वास्तव में मानसिक अवस्थाएँ हैं जिनसे संबद्ध सब कुछ देख पड़ता है।

मुहा०—काल काटना=समय बिताना। कालक्षेप करना=समय काटना। दिन बिताना। काल पाकर=कुछ दिनों के पीछे। कुछ काल बीतने पर। जैसे,—काल पाकर उसका रंग बदल जायगा।

(२) अंतिम काल। नाश का समय। अंत। मृत्यु।

क्रि० प्र०—आना।

(३) यमराज। यमदूत। उ०—प्रभु प्रताप ते कालहिं खाई।—तुलसी। (४) नियत ऋतु। नियत समय। जैसे,—ये पेड़ अपने काल पर फूलेंगे। (५) उपयुक्त समय। अवसर। मौक़ा। (६) अकाल। महँगी। दुर्भिक्ष। क़हत।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(७) ज्योतिष के अनुसार एक योग जो दिन के अनुसार घूमता है और यात्रा में अशुभ माना जाता है। (८) कसौंजा। (९) काला साँप। (१०) लोहा। (११) शनि। (१२) [स्त्री० काली] शिव का एक नाम। महाकाल।

वि० काला। काले रंग का।

यौ०—काल कोठरी।

*क्रि० वि० दे० "कल"।

कालकंटक—संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

कालकंठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) मोर। मयूर। (३) नीलकंठ पक्षी। (४) गौरा पक्षी। (५) खंजन। खिड़रिच।

कालकंदक—संज्ञा पुं० [सं०] पानी का साँप। डेड़हा।

कालकंध—संज्ञा पुं० [सं०] तमाल वृक्ष।

कालक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तैंतीस प्रकार के केतुओं में से एक केतु का नाम। (२) आँख की पुतली। (३) बीज गणित में द्वितीय अव्यक्त राशि। (४) अलगर्द नामक पानी का साँप। (५) एक देश विशेष। यह पतंजलि महाभाष्यकार के समय में आर्य्यावर्त्त की पूर्वी सीमा माना जाता था। (६) यकृत। (७) एक राक्षस का नाम जो कालक नामक स्त्री से उत्पन्न कश्यप का एक पुत्र था।

काल करंज—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कंजा जिसकी ऊपरी छाल साधारण कंजे की छाल से कुछ अधिक नीली होती है। काला कंजा।

कालकवि—संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

कालका—संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्ष प्रजापति की एक कन्या जो कश्यप को ब्याही थी और जिससे नरक और कालक नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए थे।

कालकार्मुक—संज्ञा पुं० [सं०] वाल्मीकि के अनुसार खर-दूषण की सेना का एक सेनापति जिसे रामचंद्र ने मारा था।

कालकूट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का अत्यंत भयंकर विष। इसे काला बच्छनाग भी कहते हैं। भावप्रकाश के अनुसार यह एक पौधे का गोंद है जो शृंगवेर, कोंकण और मलय पर्वत पर होता है। शुद्ध करने के लिये इसे तीन दिन गोमूत्र में रखकर सरसों के तेल से भींगे कपड़े में बाँधकर कुछ दिन तक रखना चाहिए। शुद्ध रूप में कभी कभी सन्निपात, श्लेष्मा आदि दूर करने के लिये इसका प्रयोग होता है। (२) सिकिम और भूटान में होनेवाले सींगिया की जाति के एक पौधे की जड़ जिसमें छोटी छोटी गोल चित्तियाँ होती हैं।

कालकेतु—संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम। उ०—कालकेतु निश्चर तहँ आवा। जेहि शूकर ह्वै नृपहिं भुलावा।—तुलसी।

कालकोठरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० काल+कोठरी] (१) जेलखाने की एक बहुत तंग और अँधेरी कोठरी जिसमें क़ैद तनहाईवाले क़ैदी रक्खे जाते हैं। (२) कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम नामक क़िले की एक तंग कोठरी जिसमें सिराजुद्दौला ने अँगरेज़ों को क़ैद किया था।

कालक्षेप—संज्ञा पुं० [सं०] दिन काटना। समय बिताना। वक्त गुज़ारना। जैसे,—वह हीन ब्राह्मण किसी प्रकार अपना कालक्षेप करता है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कालगंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह गंगा जिसका रंग काला हो; अर्थात् यमुना नदी। (२) लंका द्वीप की एक नदी।

कालगंडैत—संज्ञा पुं० [हिं० काला+गंडा] वह विषधर साँप जिसके ऊपर काले गंडे वा चित्तियाँ होती हैं।

कालगोतम—संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

कालचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) समय का चक्र। समय का हेर फेर। ज़माने की गर्दिश।

विशेष—दिन रात आदि के बराबर आते जाते रहने से काल की उपमा चक्र से देते आए हैं। मत्स्यपुराण में पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न को कालचक्र की नाभि, संवत्सर, परिवत्सर, आदि को आरे और छः ऋतुओं को नेमि लिखा है। जैन

लोग भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में छः छः आरे मानते हैं।

(२) उतना काल जितना एक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में लगता है। (३) एक अस्त्र का नाम।

कालजुवारी-संज्ञा पुं० [हिं० काल+जुवारी] बड़ा जुवारी। ग़ज़ब का जुवारी।

कालज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समय के हेर फेर को जाननेवाला। (२) ज्योतिषी। (३) मुर्ग़ा।

कालज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समय की पहचान। स्थिति और अवस्था की जानकारी। (२) मृत्यु का समय जान लेना।

कालतुष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] सांख्य में एक प्रकार की तुष्टि। यह विचार कर संतुष्ट रहना कि जब समय आ जायगा, तब यह बात स्वयं हो जायगी।

कालधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृत्यु। विनाश। अवसान। उ०—सगर भूप जब गयो देवपुर कालधर्म कहँ पाई। अंशुमान को भूप कियो तब प्रकृत प्रजा समुदाई।—रघुराज। (२) वह व्यापार जिसका होना किसी विशेष समय पर स्वाभाविक हो। समयानुसार धर्म। जैसे बसंत में मौर लगना, ग्रीष्म ऋतु में गरमी पड़ना।

कालनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। शिव। (२) काल भैरव। काशीस्थ भैरव विशेष। उ०—लोक वेदहू विदित बारानसी की बड़ाई वासी नर नारि ईश अंबिका सरूप हैं। कालनाथ कोतवाल दंडकारि दंडपानि सभासद गणप से अमित अनूप हैं।—तुलसी।

कालनाभ-संज्ञा पुं० [सं०] हिरण्याक्ष दैत्य के नौ पुत्रों में से एक।

कालनिर्यास-संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुल।

कालनिशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दिवाली की रात। (२) अत्यंत काली रात। अँधेरी भयावनी रात।

कालनेमि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रावण का मामा एक राक्षस जो हनुमानजी को उस समय छलना चाहता था, जब वे संजीवन लाने जा रहे थे। (२) एक दानव का नाम जिसने देवताओं को पराजित करके स्वर्ग पर अधिकार कर लिया था और अपने शरीर को चार भागों में बाँटकर सब कार्य्य करता था। अंत में यह विष्णु के हाथ से मारा गया और दूसरे जन्म में कंस हुआ।

कालपट्टी-संज्ञा स्त्री० [पुर्त० कोलाफटी] जहाज़ की सीवन वा दरार में सन आदि ठूँसने का कार्य्य।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कालपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काली तुलसी।

कालपाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समय का बंधन। समय का वह नियम जिसके कारण भूत प्रेत कुछ समय तक के लिये कुछ अनिष्ट नहीं कर सकते। (२) यमपाश। यमराज का बंधन।

कालपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर का विराट् रूप। विराट् रूप भगवान। (२) काल।

कालप्रमेह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह रोग जिसमें काला पेशाब आता है। सुश्रुत ने इसे अम्लप्रमेह लिखा है।

कालबंजर-संज्ञा पुं० [सं० काल+हिं० बंजर] वह भूमि जो बहुत दिनों से जोती बोई न गई हो। बहुत पुरानी परती।

कालबूत-संज्ञा पुं० [फ़ा० कालबुद] (१) वह कच्चा भराव जिस पर मेहराव बनाई जाती है। छैना। उ०—कालबूत दूती बिना जुरै न और उपाय। फिर ताके टारे बनै पाके प्रेम लदाय।—बिहारी। (२) चमारों का वह काठ का साँचा जिस पर चढ़ाकर वे जूता सीते हैं। (३) रस्सी बटने का एक औज़ार। यह औज़ार काठ का एक कुंदा होता है जिसमें रस्सी की लड़ जाने के लिये कई छेद वा दरार बने रहते हैं। इन्हीं दरारों में लड़ों को डालकर बटते हैं जिसमे कोई लड़ मोटी वा पतली न होने पावे, बल्कि दरार के अंदाज़ से एक सी रहे।

कालभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] काशीस्थ शिव के मुख्य गणों में से एक गण।

कालम-संज्ञा पुं० [अं०] पुस्तक वा संवादपत्र के पृष्ठ की चौड़ाई में किए हुए विभागों में से एक।

विशेष—इन विभागों के बीच या तो कुछ जगह छोड़ दी जाती है या खड़ी लकीर बना दी जाती है। पृष्ठ का इस प्रकार विभाग करने से पंक्तियाँ बहुत बड़ी नहीं होने पातीं, इससे आँख को एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति पर आने में उतना कष्ट नहीं होता।

काल-यवन-संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार यवनों का एक राजा जिसे गार्ग्य ऋषि ने मथुरावालों पर क्रुद्ध होकर उनसे बदला लेने के लिये गोपाली नाम की अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न किया था। जरासंध के साथ इसने भी मथुरा पर चढ़ाई की थी। श्रीकृष्ण ने यह जानकर कि यह मथुरा-वालों के हाथ से नहीं मारा जायगा, एक चाल की कि उसके सामने से भागकर वे एक गुफा में जाकर छिपे रहे जिसमें मुचकुंद नामक राजा बहुत दिनों से सो रहे थे। जब कालयवन ने गुफा के भीतर जा मुचकुंद को लात से जगाया, तब उन्हीं की कोपदृष्टि से वह भस्म हो गया।

कालयापन-संज्ञा पुं० [सं०] कालक्षेप। दिन काटना। गुज़ारा करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

कालयुक्त-संज्ञा पुं० [सं०] प्रभव आदि साठ संवत्सरों में से बावनवाँ संवत्सर।

कालर-संज्ञा पुं० [अं०] (१) गले में बाँधने का पट्टा। (२) कोट, क़मीज़ वा कुरते में वह उठी हुई पट्टी जो गले के चारों ओर रहती है।

कालराति*-संज्ञा स्त्री० दे० "कालरात्रि"।

कालरात्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अँधेरी और भयावनी रात। (२) ब्रह्मा की रात्रि जिसमें सारी सृष्टि लय को प्राप्त रहती है, केवल नारायण ही रहते हैं। प्रलय की रात। (३) मृत्यु की रात्रि। (४) ज्योतिष में रात्रि का वह भाग जिसमें किसी कार्य्य का आरंभ करना निषिद्ध समझा जाता है।

विशेष—इसके लिये रात के दंडों के आठ सम भाग करते हैं। फिर वारों के हिसाब से एक एक दिन के लिये एक एक भाग वर्जित हैं। जैसे रविवार को रात का छठाँ भाग अर्थात् २० दंड के बाद के ४ दंड, सोमवार को चौथा भाग अर्थात् १२ दंड के बाद के ४ दंड, मंगलवार को दूसरा भाग अर्थात् ४ दंड के बाद के ४ दंड, बुधवार को सातवाँ भाग अर्थात् २४ दंड के बाद के ४ दंड, बृहस्पतिवार को पाँचवाँ भाग अर्थात् १६ दंड के बाद के ४ दंड, शुक्रवार को तीसरा भाग अर्थात् ८ दंड के बाद के ४ दंड और शनिवार को पहला और आठवाँ भाग अर्थात् पहले ४ दंड और अंतिम ४ दंड। यह हिसाब ३२ दंड की रात के लिये है। यदि रात्रि इससे कम वा अधिक दंडों की हो, तो उन दंडों के आठ सम-भाग करके उसी क्रम से हिसाब बैठा लेना चाहिए।

(५) दिवाली की अमावस्या। (६) दुर्गा की एक मूर्त्ति। (७) यमराज की बहिन जो सब प्राणियों का नाश करती है। (८) मनुष्य की आयु में वह रात जो सतहत्तरवें वर्ष के सातवें महीने के सातवें दिन पड़ती है और जिसके बाद वह नित्यकर्म आदि से मुक्त समझा जाता है।

कालवाचक-वि० [सं०] काल वा समय का प्रबोधक। समय का ज्ञान करानेवाला।

कालवाची-वि० [सं०] समय का ज्ञान करानेवाला। जिसके द्वारा समय का ज्ञान हो।

कालविपाक-संज्ञा पुं० [सं०] समय का पूरा होना। किसी काम के पूर्ण हो जाने की अवधि। उ०—उर न टरै नींद न परै हरै न काल विपाक। छिन छाके उछकै न फिरि खरो विषम छवि छाक।—बिहारी।

कालवृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह ब्याज जो बढ़ते बढ़ते दूने से अधिक हो जाय। यह स्मृति में निंदित कहा गया है।

कालवेला-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष में वह योग वा समय जिसमें किसी कार्य्य का करना निषिद्ध हो।

विशेष—इसमें दिन और रात के दंडों के आठ आठ सम-विभाग किए जाते हैं और फिर एक एक वार के लिये कुछ विशेष विशेष विभाग अशुभ ठहराए जाते हैं, जैसे—

		दिन का		रात का
रविवार को—		पाँचवाँ	और	छठा भाग
सोमवार को—	,,	दूसरा	,, ,,	चौथा ,,
मंगल ,,—	,,	छठा	,, ,,	दूसरा ,,
बुध ,,—	,,	तीसरा	,, ,,	सातवाँ ,,
बृहस्पति ,,—	,,	सातवाँ	,, ,,	पाँचवाँ ,,
शुक्रवार ,,—	,,	चौथा	,, ,,	तीसरा ,,
शनिवार ,,—	,,	पहला, आठवाँ,		पहला, आठवाँ,,

कालशाक-संज्ञा पुं० [सं०] पटुआ साग। करेमू।

कालसर-संज्ञा पुं० दे० "कालसिर"।

कालसिर-संज्ञा पुं० [हिं० काल+सिर] जहाज़ के मस्तूल का सिरा।

कालसूक्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक सूक्त का नाम जिसमें काल का वर्णन है।

कालसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] अट्ठाइस मुख्य नरकों में से एक नरक।

कालसूर्य-संज्ञा पुं० [सं०] कल्पांत के समय का सूर्य।

कालसेन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार उस डोम का नाम जिसने राजा हरिश्चंद्र को मोल लिया था।

कालांजनी-संज्ञा पुं० [हिं० काल+अंजनी] नरमा। बन कपास।

कालांतर विष-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसे जंतु जिनके काटने का विष तत्काल नहीं चढ़ता, कुछ समय के उपरांत मालूम होता है। जैसे चूहा आदि।

काला-वि० [सं० काल] [स्त्री० काली] (१) काजल या कोयले के रंग का। कृष्ण। स्याह।

यौ०—काला कलूटा। काला भुजंग। काला चोर। काला पानी। काला जीरा।

मुहा०—(अपना) **मुँह काला करना**=(१) कुकर्म करना। पाप करना। (२) व्यभिचार करना। अनुचित सह-गमन करना। (३) किसी ऐसे मनुष्य का हटना वा चला जाना जिसका हटाना वा चला जाना इष्ट हो। किसी बुरे आदमी का दूर होना। जैसे,—जाओ, यहाँ से मुँह काला करो। (दूसरे का) **मुँह काला करना**=(१) किसी अरुचिकर वा बुरी वस्तु वा व्यक्ति को दूर करना। व्यर्थ वस्तु को हटाना। व्यर्थ की झंझट दूर हटाना। जैसे,—(क) तुम्हें इन झगड़ों से क्या काम, जाने दो; मुँह काला करो। (ख) इन सबों को जो कुछ देना लेना हो, दे लेकर मुँह काला करो, जायँ। (२) कलंक का कारण होना। बदनामी का सबब होना। ऐसा कार्य्य करना जिससे दूसरे की बदनामी हो। जैसे,—तुम आप के आप गए, हमारा भी मुँह काला किया। **काला मुँह होना वा मुँह काला होना**=कलंकित होना। बदनाम होना। **काली हाँडी सिर पर रखना**=सिर पर बदनामी लेना। कलंक का टीका लगाना। **काले कौवे खाना**=बहुत दिनों तक जीवित रहना। (बहुत जीनेवालों को लोग हँसी से ऐसा कहते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि कौवा बहुत दिनों तक जीता है।)

(२) कलुषित। बुरा। जैसे,—उसका हृदय बहुत काला है। (३) भारी। प्रचंड। बड़ा। जैसे,—काली आँधी। काला कोस। काला चोर।

मुहा०—काले कोसों=बहुत दूर। उ०—तातें अब मरियत अपसोसन। मथुराहू ते गए सखी री अब हरि काले कोसन।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० काल] काला साँप। उ०—(क) जननी खरिक गई तू नीके आवत ही भइ कौन बिथा री। एक बिटिनियाँ सँग मेरे थी कारे खाई ताहि तहाँ री।—सूर। (ख) जा, तुझे काला डसे।

क्रि० प्र०—काले का काटना, खाना वा डसना।

काला कंद—संज्ञा पुं० [हिं० काला+कण] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है और जिसका चावल सैकड़ों वर्षों तक रक्खा जा सकता है।

काला कलूटा—वि० [हिं० काला+कलूटा] बहुत काला। अत्यंत श्याम।

विशेष—इसका प्रयोग मनुष्यों ही के लिये होता है, जड़ पदार्थों के लिये नहीं।

कालाक्षरिक—वि० दे० "कालाक्षरी"।

कालाक्षरी—वि० [सं०] काले अक्षर मात्र का अर्थ बता देनेवाला। अत्यंत विद्वान्। सब विद्याओं और भाषाओं का विद्वान्। जैसे,—वह तो कालाक्षरी पंडित है।

काला गरु—संज्ञा पुं० [सं०] काला अगर।

काला गाँड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० काला+गन्ना] एक प्रकार की ईख जो बहुत मोटी और रंग में काली होती है।

काला गुरु—संज्ञा पुं० दे० "काला गरु"।

काला गेंडा—संज्ञा स्त्री० दे० "काला गाँडा"।

कालाग्नि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रलय काल की अग्नि। (२) प्रलयाग्नि के अधिष्ठाता रुद्र। (३) पंचमुखी रुद्राक्ष।

काला चोर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा चोर। बहुत भारी चोर। वह चोर जो जल्दी पकड़ा न जा सके। (२) बुरे से बुरा आदमी। तुच्छ मनुष्य। जैसे,—हमारी चीज़ है, हम काले चोर को देंगे, किसी का क्या?

काला जीरा—संज्ञा पुं० [हिं० काला+जीरा] (१) एक प्रकार का जीरा जो रंग में काला होता है। यह मसाले और दवा में अधिक काम आता है और सफ़ेद जीरे से अधिक सुगंधित और मँहगा होता है। स्याह जीरा। मीठा जीरा। पर्वत जीरा। (२) एक प्रकार का धान जिसके चावल बहुत दिनों तक रह सकते हैं। यह धान अगहन में होता है।

काला ढोकरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जिसकी डालियाँ नीचे की ओर झुकी होती हैं और जाड़े में पत्तियाँ ताँबड़े रंग की हो जाती हैं। इसकी लकड़ी बहुत मज़बूत होती है। उसका रंग कालापन लिए लाल होता है। यह वृक्ष मालवा, मध्य प्रदेश और राजपूताने में बहुत होता है। धवा। धव।

काला तिल—संज्ञा पुं० [सं०] काले रंग का तिल।

मुहा०—(किसी का) काले तिल चबाना=(किसी का) दबैल होना। अधीन वा वशवर्ती होना। गुलाम होना। जैसे,—क्या तुम्हारे काले तिल चबाए हैं जो न बोलें?

कालातीत—वि० [सं०] जिसका समय बीत गया हो।

संज्ञा पुं० (१) न्याय के पाँच प्रकार के हेत्वाभासों में से एक जिसमें अर्थ एक देश काल के ध्वंस से युक्त हो और इस कारण हेतु असत् ठहरता हो। जैसे किसी ने कहा कि शब्द नित्य है; संयोग द्वारा व्यक्त होने से, जैसे अँधेरे में रक्खे हुए घट के रूप की अभिव्यक्ति दीपक लाने से होती है, ऐसे ही डंके के शब्द की अभिव्यक्ति भी उस पर लकड़ी का संयोग होने से होती है; और जैसे संयोग के पहले घट का रूप विद्यमान था वैसे ही लकड़ी के संयोग के पहले शब्द विद्यमान था। इस पर प्रतिवादी कहता है कि तुम्हारा यह हेतु असत् है; क्योंकि दीपक का संयोग जब तक रहता है, तभी तक घट के रूप का ज्ञान होता है, संयोग के उपरांत नहीं। पर संयोग निवृत्त होने पर संयोग काल के अतिक्रमण में भी शब्द का दूरस्थित मनुष्य को ज्ञान होता है। अतः संयोग द्वारा अभिव्यक्ति को नित्यता का हेतु कहना हेतु नहीं है, हेत्वाभास है। (२) आधुनिक न्याय में एक प्रकार का बाध जिसमें साध्य के आधार अर्थात् पक्ष में साध्य का अभाव निश्चित रहता है।

कालादाना—संज्ञा पुं० [हिं० काला+दाना] (१) एक प्रकार की लता जो देखने में बहुत सुंदर होती है। इसके फूल नीले रंग के होते हैं। फूल झड़ जाने पर बोंड़ी लगती है जिसमें काले काले दाने निकलते हैं। इसका गोंद भी औषधि के काम में आता है। दाना आधे ड्राम से एक ड्राम तक और गोंद दो से आठ ग्रेन तक खाया जा सकता है। (२) इस लता का बीज जो अत्यंत रेचक होता है।

काला नाग—संज्ञा पुं० [हिं० काला नाग] (१) काला साँप। विषधर सर्प। (२) अत्यंत कुटिल वा खोटा आदमी।

काला पहाड़—संज्ञा पुं० [हिं० काला+पहाड़] (१) बहुत भारी और भयानक। दुस्तर वस्तु। जैसे,—दुःख की रात नहीं कटती, काला पहाड़ हो जाती है। (२) बहलोल लोदी का एक भांजा जो सिकंदर लोदी से लड़ा था। (३) मुरशिदाबाद के नवाब दाऊद का एक सेनापति जो बड़ा क्रूर और कट्टर मुसलमान था। इसने बंग देश के बहुत से देवमंदिर तोड़े थे। यहाँ तक कि एक बार जगन्नाथ की मूर्त्ति को समुद्र में फेंक दिया था। वह पहले ब्राह्मण था। किसी नवाब-कन्या के प्रेम में पागल हुआ था।

काला पान-संज्ञा पुं० [हिं० काल+पान] ताश में "हुकुम" का रंग।

काला पानी-संज्ञा पुं० [हिं० काला+पानी] (१) देशनिकाले का दंड। जलावतनी की सज़ा। (२) एंडमन और निकोबार आदि द्वीप।

क्रि० प्र०—जाना।—भेजना।

विशेष—एंडमन, निकोबार आदि द्वीपों के आस पास के समुद्र का पानी काला दिखाई पड़ता है; इसी से उन द्वीपों का यह नाम पड़ा। भारत में जिनको देशनिकाले का दंड मिलता है, वे इन्हीं द्वीपों को भेज दिए जाते हैं। इसी कारण उस दंड को भी इस नाम से पुकारने लगे।

(३) शराब। मदिरा।

कालानल-संज्ञा पुं० [सं०] प्रलय काल की अग्नि। कालाग्नि। उ०—कालानल मय क्रोध कराला। क्षमा क्षमा सम जासु विशाला।—रघुराज।

काला बाल-संज्ञा पुं० [हिं० काला+बाल] झाँट। पशम।

मुहा०—काला बाल जानना वा समझना=किसी को अत्यंत तुच्छ समझना। उ०—चोर कब उसका ज़ोर माने है। काला बाल उसको अपना जाने है।—सौदा।

काला भुजंग-वि० [हिं० काला+भुजंग] बहुत काला। अत्यंत काला। घोर कृष्ण वर्ण का।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्राणियों ही के लिये होता है। भुजंग शब्द से या तो सर्प का अभिप्राय है या भुजंगे पक्षी का जो बहुत काला होता है।

काला मोहरा-संज्ञा पुं० [हिं० काला+मोहरा] सींगिया की जाति का एक पौधा जिसकी जड़ में विष होता है।

कालाशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष में वह समय जो शुभ-कार्य्यों के लिये निषिद्ध है।

कालाशौच-संज्ञा पुं० [सं०] वह अशौच जो पिता माता आदि गुरुजनों के मरने के उपरांत एक वर्ष तक रहता है।

कालासुखदास-संज्ञा पुं० [हिं० काला+सुखदास] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है।

कालास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाण जिसके प्रहार से शत्रु का निधन निश्चय समझा जाता था। संघातक बाण।

कालिंग*-वि० [सं० कलिंग] कलिंग देश का। कलिंग देश में उत्पन्न।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) कलिंग देश का निवासी। (२) कलिंग देश का राजा। (३) हाथी। (४) साँप। (५) कलिंदा। तरबूज़। हिंदुवाना। (६) भूमिकर्कारु। कुटज। विलायती कुम्हड़ा। (७) लोहा।

कालिंगिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोथ।

कालिंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की ककड़ी।

कालिंजर-संज्ञा पुं० [सं० कालंजर] एक पर्वत जो बाँदे से ३० मील पूर्व की ओर है। यह पर्वत संसार के नौ ऊखलों में से एक ऊखल माना जाता है। इसका माहात्म्य पुराणों में वर्णित है, और यह एक तीर्थ माना जाता है। इस पहाड़ पर एक बड़ा पुराना क़िला है। कालिंजर नाम का क़स्बा पहाड़ के नीचे है। रामायण (उत्तर कांड) महाभारत और हरिवंश के अतिरिक्त गरुड़, मत्स्य आदि पुराणों में इस स्थान का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर नीलकंठ महादेव का एक मंदिर है। प्रसिद्ध इतिहासलेखक फ़रिश्ता लिखता है कि कालिंजर का गढ़ केदारनाथ नामक एक व्यक्ति ने ईसा की पहली शताब्दी में बनवाया था। महमूद ग़ज़नवी ने सन् १०२२ में इस गढ़ को घेरा था। उस समय यहाँ का राजा नंद था जिसने एक वर्ष पहले कन्नौज पर चढ़ाई की थी।

कालिंदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कलिंद पर्वत से निकली हुई, यमुना नदी। (२) अयोध्या के राजा असित की स्त्री जो सगर की माता थी। (३) कृष्ण की एक स्त्री। (४) लाल निसोथ। (५) एक असुरकन्या का नाम। (६) उड़ीसा का एक वैष्णव संप्रदाय जिसके अनुयायी प्रायः छोटी जाति के लोग हैं। (७) ओड़व जाति की एक रागिनी।

कालिंदीभेदन-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्ण के जेठे भाई बलराम जो अपने हल से यमुना नदी को वृंदावन खींच लाए थे।

विशेष—कालिंदीकर्षण की कथा हरिवंश में दी हुई है।

कालि*†-क्रि० वि० [सं० कल्य] (१) गत दिवस। आज से पहले का दिन। उ०—जनक को सीय को हमारो तेरो तुलसी को सब को भावतो ह्वै है मैं जो कह्यो कालि री।—तुलसी।

मुहा०—कालि को=कल का। थोड़े दिनों का। उ०—दूषण विराध खर त्रिशिर कबंध बधे, तालऊ विसाल बेधे कौतुक है कालि को।—तुलसी।

(२) आगामी दिवस। आनेवाला दिन। उ०—जैहौं कालि नेवतवा भव दुख दून। गाँव करसि रखवरिया सब घर सून।—रहीम। (३) आगामी थोड़े दिनों में। शीघ्र ही।

कालिक-वि० [सं०] (१) समयसंबंधी। समयोचित। (२) जिसका कोई समय नियत हो।

संज्ञा पुं० (१) नाक्षत्र मास। (२) काला चंदन। (३) क्रौंच पक्षी।

कालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) देवी की एक मूर्त्ति। चंडिका। काली।

विशेष—शुंभ और निशुंभ के अत्याचारों से पीड़ित इंद्रादिक देवताओं की प्रार्थना पर एक मातंगी प्रकट हुई जिसके शरीर से इन देवी का आविर्भाव हुआ। पहले इनका वर्ण काला था, इसी से इनका नाम कालिका पड़ा। यह उग्र भयों से रक्षा करती हैं, इस कारण इनका एक नाम उग्रतारा भी है। इनके सिर पर एक जटा है इसीसे ये एक जटा भी कहलाती

हैं। इनका ध्यान इस प्रकार है—कृष्णवर्णा, चतुर्भुजा, दाहिने दोनों हाथों में से ऊपर के हाथ में खड्ग और नीचे के हाथ में पद्म, बाएँ दोनों हाथों में से ऊपर के हाथ में कटारी और नीचे के हाथ में खप्पर, बड़ी ऊँची एक जटा, गले में मुंडमाला और साँप, लाल नेत्र, काले वस्त्र, कमर में बाघंबर, बायाँ पैर शव की छाती पर और दाहिना सिंह की पीठ पर, भयंकर अट्टहास करती हुई। इनके साथ आठ योगिनियाँ भी हैं जिनके नाम ये हैं—महाकाली, रुद्राणी, उग्रा, भीमा, घोरा, भ्रामरी, महारात्रि और भैरवी। (२) कालापन। कलौंछ। कालिख। (३) बिछुआ नामक पौधा। (४) क़िस्तबंदी। (५) रोमराजी। (६) जटामासी। (७) काकोली। (८) शृगाली। (९) कौवे की मादा। (१०) श्यामा पक्षी। (११) मेघ घटा। (१२) सोने का एक दोष। सूबर। (१३) मट्ठे का कीड़ा। (१४) स्याही। मसी। (१५) सुरा। मदिरा। शराब। (१६) एक प्रकार की हर। काली हर। (१७) एक नदी। (१८) आँख की काली पुतली। (१९) दक्ष की एक कन्या। (२०) कान की मुख्य नस। (२१) हलकी झड़ी। झींसी। (२२) बिच्छू। (२३) काली मिट्टी जिससे सिर मलते हैं। (२४) चार वर्ष की कन्या। (२५) रणचंडी। (२६) चौथे अर्हत की एक दासी। (जैन)।

कालिकाक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसकी आँख स्वभावतः काली हो। (२) एक राक्षस।

कालिकापुराण—संज्ञा पुं० [सं०] एक उपपुराण का नाम जिसमें कालिकादेवी के माहात्म्य आदि का वर्णन है।

कालिकावन—संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत।

कालि काला*—क्रि० वि० [हिं० कालि+काल] कदाचित्। कभी। किसी समय। उ०—देवसरि सेवौं बामदेव गाँव रावरे ही नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं। दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं। एतेहू पर कोऊ जो रावरो ह्वै जोर करै ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं। पाइ कै ओराहनो ओराहनो न दीजै मोहिं कालि काला काशीनाथ कहे निबरत हौं।—तुलसी। (यह शब्द संदिग्ध जान पड़ता है, बैजनाथ कुरमी ने अपनी टीका में यही अर्थ दिया है)।

कालिकेय—संज्ञा पुं० [सं०] दक्ष की कन्या कालिका से उत्पन्न असुरों की एक जाति।

कालिख—संज्ञा स्त्री० [सं० कालिका] वह काली महीन बुकनी जो आग वा दीपक के धूँए के जमने से वस्तुओं में लग जाती है। कलौंछ। स्याही।

क्रि० प्र०—जमना।—लगना।

मुहा०—मुँह में कालिख लगना=बदनामी और कलंक के कारण मुँह दिखलाने लायक न रहना। कलंक लगना। मुँह में कालिख लगाना=(१) कलंक लगने का कारण होना। बदनामी का कारण होना। जैसे,—उसने ऐसा करके हमारे मुँह में भी कालिख लगाई। (२) कलंक लगाना। दोषी ठहराना।

कालिज—संज्ञा पुं० [अं०] वह विद्यालय जहाँ ऊँचे दर्जे की पढ़ाई होती हो।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का चकोर जो शिमले में मिलता है।

कालिब—संज्ञा पुं० [अ०] (१) टीन वा लकड़ी का एक गोल ढाँचा जिस पर चढ़ाकर टोपियाँ दुरुस्त की जाती हैं। (२) शरीर। देह।

कालिमा—संज्ञा स्त्री० [सं० कालिमन्] (१) कालापन। (२) कलौंछ। कालिख। (३) अँधेरा। (४) कलंक। दोष। लांछन। उ०—तात मरन तिय हरन गीध बध भुज दाहिनी गँवाई। तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहिं कालिमा लाई।—तुलसी।

कालिय—संज्ञा पुं० [सं०] एक सर्प जिसे कृष्ण ने वश में किया था।

यौ०—कालियजित्, कालियदमन, कालियमर्दन=कृष्ण।

काली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चंडी। कालिका। दुर्गा। (२) पार्वती। गिरिजा। (३) हिमालय पर्वत से निकली हुई एक नदी। (४) दस महाविद्याओं में पहली महाविद्या। (५) अग्नि की सात जिह्वाओं में पहली।

काली अंछी—संज्ञा स्त्री० [?] एक बड़ी झाड़ी जिसकी टहनियों में सीधे सीधे काँटे होते हैं। इसके पत्ते १२-१३ अंगुल लंबे और किनारों पर दंदानेदार होते हैं। इसमें गुलाबी रंग के फूल लगते हैं। फल लाल होते हैं, जो बहुत पकने पर काले हो जाते हैं। काली अंछी पंजाब और गुजरात को छोड़ भारतवर्ष में सर्वत्र होती है और फूल के लिये लगाई जाती है।

काली घटा—संज्ञा स्त्री० [हिं० काली+घटा] घने काले बादलों का समूह जो क्षितिज को घेरे हुए दिखाई पड़े। सघन कृष्ण मेघमाला।

क्रि० प्र०—उठना।—उमड़ना।—घिरना।—घेरना।—छाना।

काली ज़बान—संज्ञा स्त्री० [हिं० काली+फ़ा० ज़बान] वह ज़बान जिससे निकली हुई अशुभ बातें सत्य घटा करें।

काली जीरी—संज्ञा स्त्री० [सं० कणजीर, हिं० काला+जीरा] एक ओषधि। इसका पेड़ ४-५ हाथ ऊँचा होता है और इसकी पत्तियाँ गहरी हरी, गोल, ५-६ अंगुल चौड़ी और नुकीली होती हैं, तथा उनके किनारे दंदानेदार होते हैं। पेड़

प्रायः बरसात में उगता है और कार कातिक में उसके सिर पर गोल गोल बोंढ़ियों के गुच्छे लगते हैं जिनमें से छोटे छोटे पतले पतले बैंगनी रंग के फूल वा कुसुम निकलते हैं। फूलों के झड़ जाने पर बोंढ़ी बढ़ें वा कुसुम की बोंढ़ी की तरह बढ़ती जाती है, और महीने भर में पककर छितरा जाती है। उसके फटने से भूरे रंग की रोईं दिखाई पड़ती है जिसमें बड़ी झाल होती है। यह रोईं बोंढ़ी के भीतर के बीज के सिरे पर लगी रहती है और जल्दी अलग हो जाती है। कालीजीरी खाने में कड़ुई और चर्परी होती है। वैद्यक में इसे व्रणनाशक तथा घाव फोड़े आदि के लिये उपकारी माना है। ब्याई हुई घोड़ी के मसालों में भी यह दी जाती है।

पर्या०—वनजीरा। अरण्यजीरक। बृहत्पाली। कण।

कालीदह—संज्ञा पुं० [सं० कालिय+हिं० दह] वृंदावन में जमुना का एक दह वा कुंड जिसमें काली नामक नाग रहा करता था। उ०—(क) गयो डूबि कालीदह माहीं। अब लों देखि पर्यो पुनि नाहीं।—रघुराज। (ख) पहुँचे जब कालीदह तीरा। पियत भये गो बालक नीरा।—विश्राम।

कालीन—वि० [सं०] कालसंबंधी। जैसे, समकालीन, प्राक्कालीन, बहुकालीन। उ०—देखत बालक बहुकालीना।—तुलसी।

विशेष—यह शब्द समस्त पद के अंत में आता है, अकेला व्यवहार में नहीं आता।

क़ालीन—संज्ञा पुं० [अ०] ऊन वा सूत के मोटे तागों का बुना हुआ बिछावन जो बहुत मोटा और भारी होता है और जिसमें रंग बिरंग के बेल बूटे बने रहते हैं। गलीचा।

विशेष—इसका ताना खड़े बल रक्खा जाता है अर्थात् वह छत से ज़मीन की ओर लटकता हुआ होता है। रंग बिरंगे तागों के टुकड़े लेकर बानों के साथ गाँठते जाते हैं, और उनके छोरों को काटते जाते हैं। इन्हीं निकले हुए छोरों के कारण क़ालीन पर रोएँ जान पड़ते हैं। क़ालीन का व्यवसाय भारतवर्ष में कितना पुराना है, इसका ठीक ठीक पता नहीं लगता। संस्कृत ग्रंथों में दरी वा क़ालीन के व्यवसाय का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। बहुत से लोगों का मत है कि यह कला मिश्र देश से बाबिलन होती हुई और देशों में फैली। फ़ारस में इस कला की बहुत उन्नति हुई। इससे मुसलमानों के आने पर इस देश में इस कला का प्रचार बहुत बढ़ गया और फ़ारस आदि देशों से और कारीगर बुलाए गए। आईन अकबरी में लिखा है कि अकबर ने उत्तरीय भारत में इस कला का प्रचार किया, पर यह कला अकबर के पहले से यहाँ प्रचलित थी। क़ालीनों की नक्काशी अधिकांश फ़ारसी नमूने की होती है, इससे यह कला फ़ारस से आई बतलाई जाती है।

कालीफुलिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० काली+फूल] एक प्रकार की बुलबुल।

काली बेल—संज्ञा स्त्री० [हिं० काली+बेल] एक बड़ी लता जिसकी पत्तियाँ दो तीन इंच लंबी होती हैं और जिसमें फागुन चैत में छोटे छोटे फूल लगते हैं जो कुछ हरापन लिए होते हैं। बैसाख जेठ में यह लता फलती है। यह समस्त उत्तरीय और मध्य भारत तथा आसाम आदि देशों में बराबर होती है।

काली मिट्टी—संज्ञा स्त्री० [हिं० काली+मिट्टी] चिकनी करैल मिट्टी जो लीपने पोतने वा सिर मलने के काम में आती है।

काली मिर्च—संज्ञा स्त्री० [हिं काली+मिर्च] गोल मिर्च। दे० "मिर्च"।

काली सर—संज्ञा स्त्री० [हिं० काली+सर] एक प्रकार की लता जो सिकिम, आसाम बर्मा आदि देशों में होती है। इसके पत्ते से नीला रंग निकाला जाता है।

काली शीतला—संज्ञा स्त्री० [हिं० काली+सं० शीतला] एक प्रकार की शीतला वा चेचक जिसमें कुछ काले काले दाने निकलते हैं और रोगी को बड़ा कष्ट होता है।

काली हर्र—संज्ञा स्त्री० [हिं० काली+हर्र] जंगी हर्र। छोटी हर्र।

कालू—संज्ञा स्त्री० [देश०] सीप की मछली। सीप के अंदर का कीड़ा। लोना कीड़ा। सियाल पोका।

कालौंछ—संज्ञा स्त्री० [हिं० काला+औंछ (प्रत्य०)] (१) कालापन। स्याही। कालिख। (२) आग के धूएँ की कालिख जो छत, दीवार इत्यादि में लग जाती है। रहूँ। (३) काला जाला जो रसोई घर में वा भाड़ वा भट्ठी के ऊपर लगा रहता है।

काल्पनिक—संज्ञा पु० [सं०] कल्पना करनेवाला।

वि० [सं०] कल्पित। फ़र्ज़ी। मनगढ़ंत।

काल्ह†—क्रि० वि० दे० "कल"।

काल्हि†*—क्रि० वि० दे० "कल", "कालि"।

कावड़—संज्ञा पुं० [देश०] दे० "कावर"।

कावर—संज्ञा पुं० [देश०] एक छोटी बरछी जो जहाज़ की माँग या गलही में बँधी रहती है और जिससे ह्वेल आदि का शिकार करते हैं।

कावरी—संज्ञा पुं० [देश०] रस्सी का फंदा जिसमें कोई चीज़ बाँधी जाय। यह दो रस्सियों को ढीला बटकर बनाया जाता है और जहाज़ में काम आता है। मुद्दी। (लश०)।

कावली—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो दक्षिण भारत की नदियों में होती है।

कावा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] घोड़े को एक वृत्त में चक्कर देने की क्रिया।

क्रि० प्र०—काटना।—खाना।—देना।—मारना।

मुहा०—कावा काटना=(१) वृत्त में दौड़ना। चक्कर खाना। चक्कर मारना। (२) आँख बचाकर दूसरी ओर फिर निकल

जाना। **कावा देना**=वृत्त में दौड़ना। चक्कर देना। **(घोड़े को) कावे पर लगाना**=(घोड़े को) कावा या चक्कर देना।

कावेरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दक्षिण की एक नदी जो पश्चिमी घाट से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है। (२) संपूर्ण जाति की एक रागिनी। (३) वेश्या। (४) हलदी।

काव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वाक्य वा वाक्यरचना जिससे चित्त किसी रस वा मनोवेग से पूर्ण हो। वह कला जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों पर प्रभाव डाला जाता है।

विशेष—रसगंगाधर में "रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को "काव्य" कहा है"। अर्थ की रमणीयता के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दालंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं। पर "अर्थ की रमणीयता" कई प्रकार की हो सकती है, इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक जँचता है। उसके अनुसार "रसात्मक वाक्य ही काव्य है"। रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार ही काव्य की आत्मा है। काव्यप्रकाश में काव्य तीन प्रकार के कहे गए हैं, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र। ध्वनि वह है जिसमें शब्दों से निकले हुए अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा छिपा हुआ अभिप्राय (व्यंग्य) प्रधान हो। गुणीभूत व्यंग्य वह है जिसमें व्यंग्य गौण हो। चित्र वा अलंकार वह है जिसमें बिना व्यंग्य के चमत्कार हो। इन तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम भी कहते हैं। काव्यप्रकाशकार का ज़ोर छिपे हुए भाव पर अधिक जान पड़ता है, रस के उद्रेक पर नहीं। काव्य के दो और भेद किए गए हैं, महाकाव्य और खंड-काव्य। महाकाव्य सर्गबद्ध और उसका नायक कोई देवता, राजा वा धीरोदात्तगुणसंपन्न क्षत्रिय होना चाहिए। उसमें श्रृंगार, वीर वा शांत रसों में से कोई रस प्रधान होना चाहिए। बीच बीच में करुणा, हास्य इत्यादि और और रस तथा और और लोगों के प्रसंग भी आने चाहिएँ। कम से कम आठ सर्ग होने चाहिएँ। महाकाव्य में संध्या, सूर्य्य, चंद्र, रात्रि, प्रभात, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु, सागर, संभोग विप्रलंभ, मुनि, पुर, यज्ञ, रणप्रयाण, विवाह आदि का यथा-स्थान सन्निवेश होना चाहिए। काव्य दो प्रकार का माना गया है, दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो अभिनय द्वारा दिखलाया जाय, जैसे, नाटक, प्रहसन आदि। जो पढ़ने और सुनने योग्य हो, वह श्रव्य है। श्रव्य काव्य दो प्रकार का होता है, गद्य और पद्य। पद्य काव्य के महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद कहे जा चुके हैं। गद्य काव्य के भी दो भेद किए गए हैं, कथा और आख्यायिका। चंपू, विरुद और करंभक तीन प्रकार के काव्य और माने गए हैं।

(२) वह पुस्तक जिसमें कविता हो। काव्य का ग्रंथ। (३) शुक्राचार्य्य। (४) रोला छंद का एक भेद जिसके प्रत्येक चरण की ग्यारहवीं मात्रा लघु पड़ती है। किसी किसी के मत से इसकी छठी, आठवीं और दसवीं मात्रा पर यति होनी चाहिए। उ०—अंजनिसुत यह दशा देखि अतिशै रिसि पाग्यो। बेगि जाय लव निकट शिला तरु मारन लाग्यो। खंडि तिन्हैं सिय पुत्र तीर कपि के तन मारे। बान सकल करि पान कीश निःफल करि डारे।

काव्यलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें किसी कही हुई बात का कारण वाक्य के अर्थ द्वारा वा पद के अर्थ द्वारा दिखाया जाय। जैसे,—(क) (वाक्यार्थ द्वारा) कनक कनक ते सौ गुनो, मादकता अधिकाय। वह खाए बौरात है, यह पाए बौराय। यहाँ पहले चरण में सोने की जो अधिक मादकता बतलाई गई, उसका कारण दूसरे चरण के 'वह पाए बौराय' इस वाक्य द्वारा दिया गया। (ख) (पदार्थता द्वारा) जनि उपाय औरै करौ, यहै रासु निरधार। हिय वियोग तम टारिहै विधुवदनी वह नार। इस दोहे में वियोगरूप तम दूर होने का कारण "विधुवदनी" इस एक पद के अर्थ द्वारा कहा गया। कोई कोई इस काव्यलिंग को हेतु अलंकार के अंतर्गत ही मानते हैं, अलग अलंकार नहीं मानते।

काव्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूतना। (२) बुद्धि।

काव्यार्थापत्ति-संज्ञा पुं० [सं०] अर्थापत्ति अलंकार।

काव्यहास-संज्ञा पुं० [सं०] प्रहसन जिसका अभिनय देखने से अधिक हँसी आती है।

काश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की घास। काँस। (२) खाँसी। (३) एक प्रकार का चूहा। (४) एक मुनि का नाम।

काशिका-वि० [सं०] (१) प्रकाश करनेवाली। (२) प्रकाशित। प्रदीप्त।

संज्ञा स्त्री० (१) काशीपुरी। (२) जयादित्य और वामन की बनाई हुई पाणिनीय व्याकरण पर एक वृत्ति।

विशेष—राजतरंगिणी में जयापीड़ नामक राजा का नाम आया है जो ६६७ शकाब्द में कश्मीर के सिंहासन पर बैठा था और जिसके एक मंत्री का नाम वामन था। लोग इसी जया-पीड़ को काशिका का कर्त्ता मानते हैं। पर मैक्समूलर साहब का मत है कि काशिकाकार जयादित्य कश्मीर के जयापीड़ से पहले हुआ है, क्योंकि चीनी यात्री इत्सिंग ने ६१२ शकाब्द में अपनी पुस्तक में जयादित्य के वृत्तिसूत्र का उल्लेख किया है। पर इस विषय में इतना समझ रखना चाहिए कि कल्हण के दिए हुए संवत् बिलकुल ठीक नहीं हैं। काशिका के प्रकाशक बालशास्त्री का मत है कि काशिका का कर्त्ता बौद्ध

था, क्योंकि उसने मंगलाचरण नहीं लिखा है और पाणिनि के सूत्रों में फेरफार किया है।

काशिराज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) काशी का राजा। (२) दिवोदास। (३) धन्वंतरि।

काशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तरीय भारत की एक नगरी जो वरुणा और अस्सी के बीच गंगा के किनारे बसी हुई है और प्रधान तीर्थस्थान है। वाराणसी। बनारस।

विशेष—काशी शब्द का सब से प्राचीन उल्लेख शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण और ऋग्वेद के कौशीतक ब्राह्मण के उपनिषद् में पाया जाता है। रामायण के समय में भी काशी एक बड़ी समृद्ध नगरी थी। ईसा की ५वीं शताब्दी में जब फ़ाहियान आया था, तब भी वाराणसी एक विस्तृत प्रदेश की प्रसिद्ध नगरी समझी जाती थी।

काशी-करवट—संज्ञा पुं० [सं० काशी+सं० करपत्र, प्रा० करवत] काशीस्थ एक तीर्थस्थान जहाँ प्राचीन काल में लोग आरे के नीचे कटकर अपने प्राण देना बहुत पुण्य समझते थे। दे० "करवट" उ०—सूरदास प्रभु जो न मिलेंगे लेहौं करवट कासी।—सूर।

मुहा०—काशी-करवट लेना=(१) काशी-करवट नामक तीर्थ में गला कटवा कर मरना। प्राणत्याग करना। (२) कठिन दुःख सहना।

काशीफल—संज्ञा पुं० [सं० कोशफल] कुम्हड़ा।

काशू—संज्ञा स्त्री० [सं०] बरछी। भाला।

काश्त—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) खेती। कृषि।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) ज़मींदार को कुछ वार्षिक लगान देकर उसकी ज़मीन पर खेती करने का स्वत्व।

मुहा०—काश्त लगना=वह अवधि पूरी होना जिसके बाद किसी काश्तकार को किसी खेत पर दख़ीलकारी का हक प्राप्त हो जाय।

काश्तकार—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) किसान। कृषक। खेतिहर। (२) वह मनुष्य जिसने ज़मींदार को कुछ वार्षिक लगान देने की प्रतिज्ञा करके उसकी ज़मीन पर खेती करने का स्वत्व प्राप्त किया हो।

विशेष—साधारणतः काश्तकार पाँच प्रकार के होते हैं, शरहमुऐअन, दख़ीलकार, ग़ैर दख़ीलकार, साक़ितुल-मालकियत और शिकमी। शरह मुऐअन वे हैं जो दवामी बंदोबस्त के समय से बराबर एक ही मुकर्रर लगान देते आए हों। ऐसे काश्तकारों की लगान बढ़ाई नहीं जा सकती और वे बेदख़ल नहीं किए जा सकते। दख़ीलकार वे हैं जिन्हें बारह वर्ष तक लगातार एक ही ज़मीन जोतने के कारण उस पर दख़ीलकारी का हक़ प्राप्त हो गया हो और जो बेदख़ल नहीं किए जा सकते हों। ग़ैर दख़ीलकार वे हैं जिनकी काश्त की मुद्दत बारह वर्ष से कम हो। साक़ितुल-मालकियत वह है जो उसी ज़मीन पर पहले ज़मींदार की हैसियत से सीर करता रहा हो। शिकमी वह है जो किसी दूसरे काश्तकार से कुछ मुद्दत तक के लिये ज़मीन लेकर जोते।

काश्तकारी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) खेतीबारी। किसानी। (२) काश्तकार का हक़। (३) वह ज़मीन जिस पर किसी को काश्त करने का हक़ हो।

काश्मीर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देश का नाम। दे० "कश्मीर"। (२) कश्मीर का निवासी। (३) कश्मीर में उत्पन्न वस्तु। (४) पुष्करमूल। (५) केसर। (६) सोहागा।

वि० कश्मीर में उत्पन्न। कश्मीर का।

काश्मीरा—संज्ञा पुं० [सं० काश्मीर] (१) एक प्रकार का मोटा ऊनी कपड़ा। (२) एक प्रकार का अंगूर।

काश्मीरी—वि० [सं० काश्मीर+ई] (१) कश्मीर देशसंबंधी। कश्मीर देश का। (२) कश्मीर देशनिवासी।

संज्ञा पुं० रबर का पेड़। बोर। लेसू।

काश्यप—वि० [सं०] (१) कश्यप प्रजापति के वंश वा गोत्र का। कश्यपसंबंधी। (२) जैनमतानुसार महावीर स्वामी के गोत्र का।

संज्ञा पुं० (१) बौद्धमतानुसार एक बुद्ध जो गौतम बुद्ध से पहले हुए थे। (२) रामचंद्र की सभा के एक सभासद।

काश्यपी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। ज़मीन। (२) प्रजा।

काष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सान का पत्थर। (२) एक ऋषि।

काषाय—वि० [सं०] (१) हर्रे, बहेड़े, कटहल, आम आदि कसैली वस्तुओं में रँगा हुआ। (२) गेरुआ।

संज्ञा पुं० (१) हर्रा, बहेड़ा, आम, कटहल आदि कसैली वस्तुओं में रँगा हुआ वस्त्र। (२) गेरुआ वस्त्र।

काष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लकड़ी। काठ। (२) ईंधन।

काष्ठ कदली—संज्ञा स्त्री० [सं०] कठकेला।

काष्ठ कुट्ट—संज्ञा पुं० [सं०] कठफोड़वा नामक पक्षी।

काष्ठतंतु—संज्ञा पुं० [सं०] काठ के भीतर रहनेवाला कीड़ा।

काष्ठमठी—संज्ञा स्त्री० [सं०] चिता। सरा।

काष्ठरंजनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दारु हलदी।

काष्ठलेखक—संज्ञा पुं० [सं०] घुन।

विशेष—घुन लकड़ियों में काट काटकर टेढ़ी मेढ़ी लकीरें वा चिह्न डालते हैं जिन्हें घुणाक्षर कहते हैं।

काष्ठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हद। अवधि। (२) उच्चतम चोटी वा ऊँचाई। उत्कर्ष। (३) अठारह पल का समय वा एक कला का ३०वाँ भाग। (४) चंद्रमा की एक कला। (५) घोड़दौड़ का मैदान वा दौड़ लगाने की सड़क। (६) दक्ष की एक कन्या का नाम जो कश्यप को ब्याही थी। (७) दिशा। ओर। तरफ़। (८) स्थिति।

कास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खाँसी। (२) सहिजन का पेड़।
संज्ञा पुं० [सं० काश] काँस।

कासकंद–संज्ञा पुं० [सं०] कसेरू।

कासनी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) एक पौधा जो हाथ डेढ़ हाथ ऊँचा होता है और देखने में बहुत हरा भरा जान पड़ता है। इसकी पत्तियाँ पालकी की छोटी पत्तियों की तरह होती हैं, डंठलों में तीन तीन चार चार अंगुल पर गाँठें होती हैं जिनमें नीले फूलों के गुच्छे लगते हैं। फूलों के झड़ जाने पर उनके नीचे मटमैले रंग के छोटे छोटे बीज पड़ते हैं। इस पौधे की जड़, डंठल और बीज सब दवा के काम में आते हैं। हकीमों के मत में कासनी का बीज द्रावक, शीतल और भेदक तथा उसकी जड़ गर्म, ज्वरनाशक और बलवर्द्धक है। डाक्टरों के अनुसार इसका बीज रजस्रावक, बलकारक और शीतल तथा इसका चूर्ण ज्वरनाशक है। कासनी बगीचों में बोई जाती है। हिंदुस्तान में अच्छी कासनी पंजाब के उत्तरीय भागों में तथा कश्मीर में होती है। पर यूरोप और साइबेरिया आदि की कासनी औषध के लिये बहुत उत्तम समझी जाती है। युरोप में लोग कासनी का साग खाते हैं और उसकी जड़ को क़हवे के साथ मिलाकर पीते हैं। जड़ से कहीं कहीं एक प्रकार की तेज़ शराब भी निकालते हैं। (२) कासनी का बीज। (३) एक प्रकार का नीला रंग जो कासनी के फूल के रंग के समान होता है। यह रंग चढ़ाने के लिये कपड़े को पहले शहाब में, फिर नील में और फिर खटाई में डुबाते हैं। (४) नीले रंग का कबूतर।

कासमर्द–संज्ञा पुं० [सं०] कसौंदा।

कासर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कासरी] भैंसा। महिष।
संज्ञा स्त्री० [देश०] वह काली भेड़ जिसके पेट के रोएँ लाल रंग के हों।

कासा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) प्याला। कटोरा। उ०—हाथ में लिया कासा, तब भीख का क्या साँसा? (२) आहार। भोजन। उ०—कासा दीजिये बासा न दीजिये।

कासार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटा तालाब। ताल। पोखरा। (२) २० रगण का एक दंडक वृत्त। (३) एक प्रकार का पकवान।

क़ासिद–संज्ञा पुं० [अ०] सँदेसा ले जानेवाला। हरकारा। दूत। पत्रवाहक।

कासी‡–संज्ञा स्त्री० दे० "काशी"।

कासुंदा†–संज्ञा पुं० दे० "कसौंदा"।

कास्टिक–वि० [अं०] वह तेज़ाब जो चमड़े पर पड़कर उसे जला दे वा आबले डाल दे। जारक।

काहँ†–प्रत्य० दे० "कहँ"।

काह*–क्रि० वि० [सं० कः, को] क्या? कौन वस्तु? उ०—का सुनाय विधि काह सुनावा। का दिखाइ चह काह दिखावा।—तुलसी।

काहल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा ढोल। (२) [स्त्री० काहली] बिल्ला। (३) [स्त्री० काहली] मुर्गा। (४) अव्यक्त शब्द। हुंकार।

काहला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वरुण की स्त्री। (२) एक अप्सरा का नाम।

काहि*–सर्व० [सं० कः, हिं० का+हिं० (प्रत्य०)] (१) किसको। किसे। (२) किससे। उ०—काहि कहौं यह जान न कोऊ।—तुलसी।

क़ाहिल–वि० [अ०] जो फुर्तीला न हो। आलसी। सुस्त।

काहिली–संज्ञा स्त्री० [अ०] सुस्ती। आलस्य।

काही–वि० [फ़ा० काह वा हिं० काई] घास के रंग का। कालापन लिए हुए हरा।
संज्ञा पुं० एक रंग जो कालापन लिए हुए हरा होता है और नील, हल्दी और फिटकिरी के योग से बनता है।

काहु*–सर्व० दे० "काहू"।

काहू–सर्व० [सं० कः, हिं० का+हू (प्रत्य०)] किसी। उ०—(क) जो काहू की देखहिं विपती।—तुलसी। (ख) धार लगै तरवार लगै पर काहू की काहू सों आँखि लगै ना।
विशेष—ब्रज भाषा के 'को' शब्द का विभक्ति लगने के पहले 'का' रूप हो जाता है। इसी "का" में निश्चयार्थक "हू" विभक्ति के पहले लग जाता है, जैसे, काहू ने, काहू को, काहू सों आदि।
संज्ञा पुं० [फ़ा०] गोभी की तरह का एक पौधा जिसकी पत्तियाँ लंबी, दलदार और मुलायम होती हैं। हिंदुस्तान में यह केवल बगीचों में बोया जाता है, जंगली नहीं मिलता। अरब, फ़ारस और रूम आदि में यह वसंत ऋतु में होता है, पर भारतवर्ष में जाड़े के दिनों में होता है। यूरोप के बगीचों में एक प्रकार का काहू बोया जाता है जिसकी पत्तियाँ पातगोभी की तरह एक दूसरी से लिपटी और बँधी रहती हैं और उनके सिरों पर कुछ कुछ बैंगनी रंगत रहती है। पश्चिम के देशों में काहू का साग या तरकारी बहुत खाई जाती है। बहुत से स्थानों में काहू के पौधे से एक प्रकार की अफ़ीम पाछ कर निकालते हैं जो पोस्ते की अफ़ीम की तरह तेज़ नहीं होती। इसमें गोभी की तरह एक सीधा डंठल ऊपर जाता है जिसमें फूल और बीज लगते हैं। इसके बीज दवा के काम में आते हैं। हकीम लोग काहू को रक्तशोधक, रक्तवर्द्धक तथा पित्त और प्यास को शांत करनेवाला मानते हैं। दस्त और पेशाब खोलने के लिये भी इसे देते हैं। काहू के बीजों से तेल निकाला जाता है जो सिर के दर्द आदि में लगाया जाता है।

काहे*–क्रि० वि० [सं० कथं, प्रा० कहं] क्यों। किस लिये।
यौ०—**काहे को**=किस लिये? क्यों?

किं—अव्य० दे० "किम्"।

किंकर—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० किंकरी] (१) दास। सेवक। नौकर। (२) राक्षसों की एक जाति जिनको हनुमान जी ने प्रमदा वन को उजाड़ते समय मारा था।

किंकर्त्तव्य-विमूढ़—वि० [सं०] जिसे यह न सूझ पड़े कि अब क्या करना चाहिए। हक्का बक्का। भौचक्का। घबराया हुआ।

किंकिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्षुद्र घंटिका। करधनी। जेहर। कमरकस। (२) एक प्रकार की खट्टी दाख। (३) कँटाय का पेड़। विकंकत वृक्ष।

किंकिर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी का मस्तक। (२) कोकिल। (३) भौंरा। (४) घोड़ा। (५) कामदेव। (६) लाल रंग।

किंकिरात—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अशोक का पेड़। (२) कट-सरैया। (३) कामदेव। (४) सूआ। तोता।

किंगरई—संज्ञा पुं० [देश०] लाजवंती की जाति का एक कँटीला पौधा जिसकी पत्तियों के सींके ७-८ इंच लंबे और उनमें लगी हुई पत्तियाँ ¼ इंच लंबी होती हैं। यह असाढ़ सावन में फूलता है। फूल पहले लाल रहते हैं, फिर सफ़ेद हो जाते हैं। इसकी पत्तियाँ और बीज दवा के काम में आते हैं। इसकी लकड़ी का कोयला बारूद बनाने के काम में आता है। यह भारतवर्ष में सर्वत्र होता है।

किंगिरी—संज्ञा स्त्री० [सं० किन्नरी] छोटा चिकारा। छोटी सारंगी जिसे बजाकर एक प्रकार के जोगी भीख माँगते हैं। उ०—(क) किंगिरी गहे जो हुत बैरागी। मरती बार वही धुन लागी।—जायसी। (ख) तजा राज राजा भा योगी। और किंगिरी कर गहे बियोगी।—जायसी।

किंगोरा—संज्ञा पुं० [देश०] दारुहलदी की जाति की ४–५ हाथ ऊँची एक कँटीली झाड़ी जो ज़मीन पर दूर तक नहीं फैलती, सीधी ऊपर जाती है। इसकी पत्तियाँ ४–५ अंगुल लंबी होती हैं जिनके किनारों पर दूर दूर दाँत होते हैं। इसमें छोटे छोटे फूल और लाल या काली फलियाँ लगती हैं जो खाई जाती हैं। इसमें भी वेही गुण हैं जो दारुहलदी में हैं। इसे किलमोरा और चित्रा भी कहते हैं।

किंचन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) थोड़ी वस्तु। असमग्र वस्तु। (२) पलाश।

किंचित्—वि० [सं०] कुछ। थोड़ा। अल्प। ज़रा सा।

यौ०—किंचिन्मात्र=थोड़ा भी।

क्रि० वि० कुछ। थोड़ा।

किंचिलिक—संज्ञा पुं० [सं०] केंचुआ नाम का कीड़ा।

किंजल्क—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद्मकेशर। कमल। केशर। (२) कमल के फूल का पराग। (३) नागकेशर।

वि० [सं०] कमल के केसर के रंग का। पीला। उ०—घन-श्याम काम अनेक छबि लोकाभिराम मनोहरं। किंजल्क बसन किशोर मूरति भूरि गुण करुणाकरं।—तुलसी।

किंडरगार्टन—संज्ञा पुं० [जर्मन] एक जर्मन विद्वान की निकाली हुई शिक्षा-प्रणाली जिसने एक बगीचे में छोटे छोटे बच्चों के लिये स्कूल खोल रक्खा था और अनेक प्रकार की ऐसी सामग्रियाँ इकट्ठी की थीं जिनसे बच्चों का मनबहलाव भी होता था और अंकों और अक्षरों आदि का अभ्यास भी होता था। यह प्रणाली अब बहुत से देशों में प्रचलित हो गई है और इसके अनुसार बच्चों को रंग बिरंग की गोलियों और लकड़ियों आदि के द्वारा शिक्षा दी जाने लगी है।

किंतु—अव्य० [सं०] (१) पर। लेकिन। परंतु। जैसे,—हमारी इच्छा तो नहीं है, किंतु तुम्हारे कहने से चलते हैं।

विशेष—जहाँ एक वाक्य के विरुद्ध दूसरे वाक्य की योजना होती है, वहाँ इस अव्यय का प्रयोग होता है।

(२) वरन्। बल्कि। जैसे,—ऐसे लोगों पर क्रोध न करना चाहिए, किंतु दया दिखानी चाहिए।

किंतुघ्न—संज्ञा पुं० [सं०] ग्यारह करणों में से एक। (ज्योतिष)

किंदुबिल्व—संज्ञा पुं० [सं०] बंगाल का एक गाँव जो अजय नदी के किनारे पर है और जहाँ गीतगोविंद के रचयिता वैष्णव कवि जयदेव उत्पन्न हुए थे।

किंनर*—संज्ञा पुं० दे० "किन्नर"।

किंपुरुख*—संज्ञा पुं० दे० "किंपुरुष"।

किंपुरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किन्नर। (२) दोगला। वर्णसंकर। नीच। (३) हिंदू शास्त्रों के अनुसार जंबू द्वीप के ९ खंडों में से एक खंड। यह हिमाचल और हेमकूट के मध्य में माना गया है। (४) आग्नीध्र के नौ पुत्रों में से एक पुत्र का नाम, जो किंपुरुषखंड का राजा था। (५) प्राचीन काल की एक मनुष्य जाति।

विशेष—रामायण में लिखा है कि किंपुरुष लोग जंगल-पहाड़ों में झोपड़े बनाकर रहते थे और फल पत्ते खाकर निर्वाह करते थे।

किंवदंती—संज्ञा स्त्री० [सं०] अफ़वाह। ख़बर। उड़ती ख़बर। जनरव।

किंवा—अव्य० [सं०] या। या तो। अथवा। यदि वा।

किंशुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलाश। ढाक। टेसू।

विशेष—पलाश के फूल सुग्गे की चोंच की तरह कुछ कुछ टेढ़े और लाल होते हैं, इसी से पलाश का यह नाम पड़ा।

(२) तुन का पेड़।

कि—क्रि० वि० [सं० किम्] किस प्रकार? कैसे? उ०—जगदंबा जहँ अवतरी, सो पुर बरणि कि जाय। ऋद्धि सिद्धि संपत्ति सुख, नित नूतन अधिकाय।—तुलसी।

अव्य० [सं० किम्। फ़ा० कि] (१) एक संयोजक शब्द जो कहना, वर्णन करना, देखना, सुनना इत्यादि क्रियाओं

के बाद उनके विषय-वर्णन के पहले आता है। जैसे,—(क) उसने कहा कि मैं नहीं जाऊँगा। (ख) राम ने देखा कि आगे एक साँप पड़ा है। (ग) जब उसने सुना कि उसका भाई मर गया, तब वह भी संन्यासी हो गया। (२) तत्क्षण। तत्काल। तुरंत। जैसे,—(क) मैं जाने ही को था कि वह आ गया। (ख) चुपचाप बैठो, उठे कि मारा। (ग) तुम यहाँ से हटे कि चीज़ गई। (३) या। अथवा। जैसे,—तुम आम लोगे कि इमली?

किक्—संज्ञा स्त्री० [अं०] ठोकर। पाँव का आघात।

किकि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीलकंठ पक्षी। (२) नारियल।

किकियाना—क्रि० अ० [अनु०] (१) कीं कीं वा कें कें का शब्द करना। (२) चिल्लाना। (३) रोना। चीख़ना।

किकोरी—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पौधा।

किचकिच—संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) व्यर्थ का वाद विवाद। व्यर्थ की बकवाद। (२) झगड़ा। तकरार। जैसे,—दिन रात की किचकिच अच्छी नहीं।

क्रि० प्र०—करना।—मचना।—मचाना।

किचकिचाना—क्रि० अ० [अनु०] (१) (क्रोध से) दाँत पीसना। जैसे,—तुम तो व्यर्थ ही किचकिचाया करते हो। (२) भरपूर बल लगाने के लिये दाँत पर दाँत रखकर दबाना। जैसे,—उसने किचकिचाकर पत्थर उभाड़ा तब उभड़ा। (३) दाँत पर दाँत रखकर दबाना। जैसे,—उसने किचकिचाकर काट लिया।

किचकिचाहट—संज्ञा पुं० [हिं० किचकिचाना] किचकिचाने का भाव।

किचकिची—संज्ञा स्त्री० [हिं० किचकिचाना] किचकिचाहट। दाँत पीसने की अवस्था।

मुहा०—किचकिची बाँधना=(१) क्रोध से दाँत पीसना। (२) भरपूर बल लगाने के लिये दाँत पर दाँत रखकर दबाना।

किचपिच—वि० दे० "गिचपिच"।

किचड़ाना—क्रि० अ० [हिं० कीचड़+आना (प्रत्य०)] (आँख का) कीचड़ से भरना। कीचड़ से युक्त होना। जैसे,—आँख किचड़ाई है।

किचर पिचर|*—वि० दे० "गिचपिच"।

किछु|*—संज्ञा वि० दे० "कुछ"।

किटकिट—संज्ञा पुं० [अनु०। सं० किटकिटाय] वादविवाद। किचकिच।

किटकिटाना—क्रि० अ० [सं० किटकिटाय। [अनु०] (१) क्रोध से दाँत पीसना। (२) दाँत के नीचे कंकड़ की तरह कड़ा लगना। जैसे,—दाल बिनी नहीं गई है, किटकिटाती है।

किटकिना—संज्ञा पुं० [सं० कृतक] (१) वह दस्तावेज जिसके द्वारा ठेकेदार अपने ठेके की चीज़ का ठीका अपनी ओर से दूसरे असामियों को देता है। (२) सोनारों का ठप्पा जिस पर ठोंककर चाँदी सोने के पत्रों वा तारों पर कुछ चित्र वा बेलबूटे उभारते हैं। (३) चाल। चालाकी।

यौ०—किटकिनेबाज़ी=चालबाजी।

किटकिनादार—संज्ञा पुं० [हिं० किटकिना+फ़ा० दार (प्रत्य०)] वह पुरुष जो किसी वस्तु को ठेकेदार से ठेके कर ले।

किटकिरा—संज्ञा पुं० दे० "किटकिना (२)"।

किटिभ—संज्ञा पुं० [सं०] केशकीट। जूँ।

किटिभकुष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कोढ़ जिसमें चमड़ा सूखे फोड़े के समान काला और कड़ा हो जाता है।

किट्ट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) धातु की मैल। (२) तेल इत्यादि में नीचे बैठी हुई मैल। (३) जमी हुई मैल।

किड़कना—क्रि० अ० [अनु०] चुपके से चला जाना। खिसकना।

कित|*—क्रि० वि० [सं० कुत्र] (१) कहाँ। (२) किस ओर। किधर।

कितक|*—वि०, क्रि० वि० [सं० कियत्] कितना। किस क़दर।

कितना—वि० [सं० कियत्] [स्त्री० कितनी] (१) किस परिमाण, मात्रा वा संख्या का? (प्रश्नवाचक) जैसे,—(क) तुम्हारे पास कितने रुपए हैं? (ख) यह घी तौल में कितना है?

यौ०—कितना एक (परिमाण वा मात्रा)=कितना। किस परिमाण वा मात्रा का। जैसे,—कितना एक तेल ख़र्च हुआ होगा? कितने एक=किस संख्या में। जैसे,—कितने एक आदमी तुम्हारे साथ होंगे।

(२) अधिक। बहुत ज़्यादा। जैसे,—यह कितना बेहया आदमी है।

क्रि० वि० (१) किस परिमाण वा मात्रा में? कहाँ तक? जैसे,—तुम हमारे लिये कितना दौड़ोगे? (२) अधिक। बहुत ज़्यादा। जैसे,—कितना समझाते हैं, पर वह नहीं मानता।

कितव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जुआरी। (२) धूर्त। छली। (३) उन्मत्त। पागल (४) खल। दुष्ट। (५) धतूरा। (६) गोरोचन।

क़िता—संज्ञा पुं० [अ०] (१) सिलाई के लिये कपड़े की काट छाँट। ब्योंत।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) काट छाँट। ढंग। चाल। जैसे,—(क) टोपी अच्छे क़िते की है। (ख) यह तो अजीब क़िते का आदमी है। (३) संख्या। अदद। जैसे—दस क़िता मकान। चार क़िता खेत। पाँच क़िता दस्तावेज़। (४) विस्तार का एक भाग। सतह का हिस्सा। (५) प्रदेश। प्रांगण। भूभाग।

किताब—संज्ञा स्त्री० [अ०] [वि० किताबी] (१) पुस्तक। ग्रंथ। (२) रजिस्टर। बही खाता।

मुहा०—किताबी कीड़ा=(१) वह कीड़ा जो पुस्तकों को चाट जाता है। (२) वह व्यक्ति जो सदा पुस्तक ही पढ़ता रहता है।

किताबी चेहरा=वह चेहरा जिसकी आकृति लंबाई लिये हो।

किताबी–वि० [अ० किताब] **किताब के आकार का।**

कितिक*†–वि० दे० **"कितक", "कितना"।**

कितेक*†–वि० [सं० कियदेक] **(१) कितना। (२) जिसकी संख्या निश्चित न हो। असंख्य। बहुत।**

कितो*†–वि० [सं० कियत] [स्त्री० किती] **कितना। उ०—किती न गोकुल कुलबधू, काहि न केहि सीख दीन?—बिहारी।** क्रि० वि० **कितना।**

कित्ता†–वि० दे० **"कितना"।**

कित्ति*–संज्ञा स्त्री० [सं० कीर्ति, प्रा० कित्ति] **कीर्त्ति। यश।**

किदारा–संज्ञा पुं० दे० **"केदारा"।**

किधर–क्रि० वि० [सं० कुत्र] **किस ओर। किस तरफ़। जैसे,—तुम आज किधर गए थे?**

मुहा०—किधर आया, किधर गया=किसी के आने जाने की कुछ भी खबर नहीं। **जैसे,—हम तो चारपाई पर बेसुध पड़े थे, जानते ही नहीं कौन किधर आया किधर गया। किधर का चाँद निकला?**=यह कैसी अनहोनी बात हुई? यह कैसी बात हुई जिसकी कोई आशा न थी? **(जब किसी से कोई ऐसी बात बन पड़ती है जिसकी उससे आशा नहीं थी, या कोई मित्र अचानक मिल जाता है, तब इस वाक्य का प्रयोग होता है)। किधर जाऊँ, क्या करूँ**=कौनसा उपाय करूँ? कोई उपाय नहीं सूझता।

किधौं*–अव्य० [सं० किम्, हिं० कि+हिं० दवँ, दहुँ] **अथवा। वा। या तो। न जानें। उ०—अब है यह पर्णकुटी किधौं और, किधौं यह लक्ष्मण होय नहीं?—केशव।**

किन–सर्व० **'किस' का बहुवचन। उ०—अक्रूर कहावत क्रूर-मति बात करत बनि साधु अति। किन नाम कीन्ह तुव दान पति है नितही नादानपति।—गोपाल।**

क्रि० वि० [सं० किम्+न] **क्यों न। उ०—(क) बिनु हरि भक्ति मुक्ति नहिं होई। कोटि उपाय करो किन कोई।—सूर। (ख) बिगरी बात बनै नहीं लाख करौ किन कोय। रहिमन बिगरे दूध को मथे न माखन होय।—रहीम।**

संज्ञा पुं० [सं० किण] **किसी वस्तु के लगने, चुभने वा रगड़ पहुँचने का चिह्न। चिह्न। दाग। उ०—ध्वज कुलिश अंकुश कंज युत बन फिरत कंटक किन लहे।—तुलसी।**

किनका–संज्ञा पुं० [सं० कणिक] [स्त्री० अल्पा० किनकी] **(१) छोटा दाना। अन्न का टूटा हुआ दाना। (२) चावल आदि के दाने का महीन टुकड़ा जो कूटने से अलग हो जाता है। खुदी।**

किनहा–वि० [सं० कर्णक, प्रा० कण्णअ+हा प्रत्य०)] **(फल) जिसमें कीड़े पड़े हों।**

किनाती–संज्ञा स्त्री० [देश०] **एक चिड़िया जो तालों के किनारे रहती है और जिसकी चोंच हरी तथा सिर और कंठ सफ़ेद होता है। यह मई और सितंबर के बीच अंडा देती है।**

किनार*–संज्ञा पुं० दे० **"किनारा"।**

किनारदार–वि० [फ़ा० किनारा+दार (प्रत्य०)] **(कपड़ा) जिसमें किनारा बना हो। जैसे किनारदार धोती।**

किनारपेच–संज्ञा पुं० [हिं० किनारा+पेंच] **डोरियाँ जो दरी के ताने के दोनों ओर लगी रहती हैं। ये डोरियाँ दरी के ताने बाने से कुछ अधिक मोटी होती हैं और ताने के रक्षार्थ लगाई जाती हैं।**

किनारा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] **(१) किसी अधिक लंबाई और कम चौड़ाईवाली वस्तु के वे दोनों भाग वा प्रांत जहाँ से चौड़ाई समाप्त होती हो। लंबाई के बल की कोर। जैसे—(क) थान वा कपड़े का किनारा। (ख) थान किनारे पर कटा है। (२) नदी वा जलाशय का तट। तीर।**

मुहा०—किनारे लगना=(१) (नाव का) किनारे पर पहुँचना। (२) (किसी कार्य्य का) समाप्ति पर पहुँचना। समाप्त होना। **किनारे लगाना**=(१) (नाव को) किनारे पर पहुँचाना वा भिड़ाना। (२) (किसी कार्य्य को) समाप्ति पर पहुँचाना। पूरा करना। निर्वाह करना। **जैसे,—जब इस काम को हाथ में लिया है, तब किनारे लगाओ।**

(३) समान वा कम असमान लंबाई चौड़ाई वाली वस्तु के चारों ओर का वह भाग जहाँ से उसके विस्तार का अंत होता हो। प्रांत। भाग। जैसे, खेत का किनारा, चौकी का किनारा। (४) (स्त्री० किनारी) **कपड़े आदि में किनारे पर का वह भाग जो भिन्न रंग वा बुनावट का होता है। हाशिया। गोटा। बार्डर।**

यौ०—किनारेदार वा किनारदार।

(५) किसी ऐसी वस्तु का सिरा वा छोर जिसमें चौड़ाई न हो। जैसे, तागे का किनारा। (६) पार्श्व। बग़ल।

मुहा०—किनारा करना=अलग होना। दूर होना। परित्याग करना। छोड़ देना। **उ०—जिनके हित परलोक बिगारा। ते सब जिअतै किहिन किनारा।—विश्राम। किनारा खींचना**=किनारे होना। अलग होना। दूर होना। हटना। **किनारे करना**=दूर करना। अलग करना। हटाना। **किनारे न जाना**=दूर रहना। अलग रहना। बचना। **जैसे,—हम ऐसे काम के किनारे नहीं जाते। किनारे न लगना**=पास न फटकना। निकट न जाना। दूर रहना। **जैसे,—कभी बीमार पड़ोगे तो कोई किनारे न लगेगा। किनारे बैठना**=अलग होना। छोड़कर दूर हटना। **जैसे,—हम अपना काम कर लेंगे, तुम किनारे बैठो। किनारे रहना**=दूर रहना। बचना। **जैसे,—हम ऐसी बातों से किनारे रहते हैं। किनारे होना**=अलग होना। दूर हटना। संबंध छोड़ना। छुट्टी पाना। मत-

लब न रखना। जैसे,—तुम तो ले देकर किनारे हो गए, हमारा चाहे जो हो।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग विभक्ति का लोप करके प्रायः किया जाता है। जैसे,—(क) नदी के किनारे चलो। (ख) वह किनारे किनारे जा रहा है।

किनारी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० किनारा] सुनहला या रुपहला पतला गोटा जो कपड़ों के किनारे पर लगाया जाता है।

यौ०—किनारीबाफ़=किनारी या गोटा बनानेवाला।

किन्नर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० किन्नरी] (१) एक प्रकार के देवता जिनका मुख घोड़े के समान होता है और जो संगीत में अत्यंत कुशल होते हैं। ये लोग पुलस्त्य ऋषि के वंशज माने जाते हैं।

पर्या०—तुरंगमुख। किंपुरुष। गीतमोदी।

संज्ञा पुं० [देश०] तकरार। विवाद। दलील।

किन्नरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किन्नर की स्त्री। (२) किन्नर जाति की स्त्री।

संज्ञा स्त्री० [सं० किन्नरी वीणा] (१) एक प्रकार का तँबूरा। (२) किंगरी। सारंगी।

किफ़ायत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) काफ़ी वा अलम् होने का भाव। (२) कमख़र्ची। थोड़े में काम चलाने की क्रिया। जैसे,—ख़र्च में किफ़ायत करो। (३) बचत। जैसे,—ऐसा करने से ५०) की किफ़ायत होगी। (४) कम दाम। थोड़ा मूल्य। जैसे,—अगर किफ़ायत में मिले तो हम यहीं कपड़ा ले लें।

यौ०—किफ़ायत का=थोड़े दाम का। सस्ता।

किफ़ायती-वि० [अ० किफ़ायत] कमख़र्च करनेवाला। सँभाल कर ख़र्च करनेवाला।

क़िबलई-संज्ञा स्त्री० [अ० क़िबला] पश्चिम दिशा। (लश०)

क़िबला-संज्ञा पुं० [अ०] (१) जिस ओर मुख करके मुसलमान लोग नमाज़ पढ़ते वा प्रार्थना करते हैं। पश्चिम दिशा। (२) मक्का।

यौ०—क़िबलानुमा।

(३) पूज्य व्यक्ति। (४) पिता। बाप।

यौ०—क़िबला आलम।

क़िबला आलम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) सारा संसार जिसकी प्रार्थना करे। ईश्वर। (२) बादशाह। सम्राट्। राजा।

क़िबलागाह, क़िबलागाही-संज्ञा पुं० [अ०] पिता। बाप।

क़िबलानुमा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] पश्चिम दिशा को बतानेवाला एक यंत्र जिसका व्यवहार जहाज़ों पर मल्लाह करते थे। इसमें एक सुई ऐसी लगा देते थे जो पश्चिम ही की ओर रहती थी। आज कल के ध्रुवदर्शक यंत्रों में पश्चिम को विशेष रूप से निर्दिष्ट नहीं करते। उ०—सब ही तन समुहाति छन, चलति सबन दै पीठि। वाही तन ठहराति यह, क़िबलनुमा लौं दीठि।—बिहारी।

किम्-वि०, सर्व० [सं०] (१) क्या? (२) कौन सा?

यौ०—किमपि=कोई भी। कुछ भी। उ०—(क) ताते गुप्त रहौं जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं।—तुलसी। (ख) अति हरख मन, तन पुलक, लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा। का देहुँ तोहि त्रिलोक महँ, कपि, किमपि नहिं वाणी समा।—तुलसी।

किमरिक-संज्ञा पुं० [अं० कैंब्रिक] एक चिकना सफ़ेद कपड़ा जो नैनसुख की तरह का होता है। यह पहले सन के सूत का ही बनता था और बड़ा मज़बूत होता था, अब कपास के सूत का भी बनने लगा है।

किमाछ-संज्ञा पुं० दे० "केवाँच"।

क़िमाम-संज्ञा पुं० [अ० क़िवाम] शहद के समान गाढ़ा किया हुआ शरबत। ख़मीर। जैसे,—सुरती का क़िमाम।

क़िमारख़ाना-संज्ञा पुं० [अ० क़िमार+फ़ा० ख़ाना] वह घर जहाँ लोग जुवा खेलते हैं। जुवाघर।

क़िमारबाज-वि० [अ०] क़िमार+फ़ा० बाज] जुआरी।

क़िमारबाज़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] जुवे का खेल।

क़िमाश-संज्ञा पुं० [अ०] (१) तर्ज़। ढंग। वज़ा। जैसे,—वह न जाने किस क़िमाश का आदमी है। (२) गंजीफ़े का एक रंग जिसे ताज भी कहते हैं।

किमि-क्रि० वि० [सं० किम्] कैसे? किस प्रकार? किस तरह? उ०—किमि सहि जाति अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं।—तुलसी।

कियत्-वि० [सं०] कितना। उ०—राम से प्रीतम की प्रीति रहित जीउ जाय जियत। जेहि सुख सुख मानि लेत सुख सो समुझ कियत।—तुलसी।

कियारी-संज्ञा स्त्री० [सं० केदार] (१) खेतों वा बगीचों में थोड़े थोड़े अंतर पर दो पतले मेड़ों के बीच की भूमि जिसमें बीज बोए वा पौधे लगाए जाते हैं। क्यारी। (२) खेत का एक विभाग। (३) खेतों के वे विभाग जो सिंचाई के लिये बरहों वा नालियों के बीच की भूमि में फावड़े से पतले मेंड़ डालकर बनाए जाते हैं। (४) एक बड़ा कड़ाह जिसमें समुद्र का खारा पानी नमक नीचे बैठने के लिये भरते हैं। (५) (सुनारों की बोली में) चारपाई।

कियाह-संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का घोड़ा।

किरंटा-संज्ञा पुं० [अं० क्रिश्चियन] छोटे दरजे का क्रिस्तान। केरानी। (एक तुच्छताव्यंजक शब्द)

किरका-संज्ञा पुं० [सं० कर्कट=कंकड़ी] छोटा टुकड़ा। कंकड़। किरकिरी। उ०—गर्व करत गोवर्द्धन गिरि को। पर्वत माँह आइ वह किरको।—सूर।

किरकिटी–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्कट] धूल वा तिनके आदि का कण जो आँख में पड़कर पीड़ा उत्पन्न करता है। उ०—मैं हो जान्यौ लोयननि, जुरत बाढ़ि है जोति। को हो जानत दीठि, कों दीठि किरकिटी होति।—बिहारी।

किरकिन–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का दानेदार चमड़ा जो घोड़े या गधे का होता है। एक प्रकार का कीमुख़्त।

किरकिरा–वि० [सं० कर्कट] कँकरीला। कंकड़दार। जिसमें महीन और कड़े रवे हों।

मुहा०—किरकिरा हो जाना=रंग में भंग हो जाना। आनंद में विघ्न पड़ना। बात बिगड़ जाना।

किरकिराना–क्रि० अ० [हिं० किरकिरा] (१) किरकिरी पड़ने की सी पीड़ा करना। जैसे,—आज आँख किरकिराती है। (२) दे० "किटकिटाना"

किरकिराहट–संज्ञा स्त्री० [हिं० किरकिरा+हट (प्रत्य०)] (१) किरकिराने की सी पीड़ा। आँख में किरकिरी पड़ जाने की सी पीड़ा। (२) दाँत के नीचे कँकरीली वस्तु के पड़ने का शब्द। (३) किटकिटापन। कंकरीलापन। जैसे,—कत्थे को और छानो, अभी इसमें किरकिराहट है।

किरकिरी–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्कर] (१) धूल या तिनके आदि का कण जो आँख में पड़कर पीड़ा उत्पन्न करता है। जैसे,—आँख में किरकिरी पड़ गई है। (२) अपमान। हेठी। जैसे,—आज तो उनकी बड़ी किरकिरी हुई।

किरकिल–संज्ञा पुं० [सं० कृकलास] गिरदान। गिरगिट।

संज्ञा स्त्री० * [सं० कृकर वा कृकल] शरीरस्थ दस वायुओं में से वह वायु जिससे छींक आती है। उ०—किरकिल छींक लगावै भाई।—विश्राम।

किरकिला–संज्ञा पुं० [सं० कृकर] एक पक्षी जो आकाश से मछलियों पर टूटता है। दे० "किलकिला"।

किरकी†–संज्ञा स्त्री० [सं० किंकिणी] एक प्रकार का गहना।

किरच–संज्ञा स्त्री० [सं० कृति=कैंची (अस्त्र)] (१) एक प्रकार की सीधी तलवार जो नोक के बल सीधी भोंकी जाती है। (२) नुकीला टुकड़ा (जैसे काँच आदि का)। नुकीला रवा। छोटा नुकीला टुकड़ा। उ०—काँच किरच बदले शठ लेहीं। कर ते डारि परस मणि देहीं।—तुलसी।

किरचिया–संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी जो बगले से छोटा होता है। इसके पंजे की झिल्ली सुनहले रंग की होती है।

किरची–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का मुलायम रेशम जो बंगाल में होता है। (२) रेशम का लच्छा।

किरण–संज्ञा पुं० [सं०] किरन।

यौ०—किरणमाली।

किरणमाली–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

किरन–संज्ञा पुं० [सं० किरण] (१) ज्योति की अति सूक्ष्म रेखाएँ जो प्रवाह के रूप में सूर्य्य, चंद्र, दीपक आदि प्रज्वलित पदार्थों से निकलकर फैलती हुई दिखाई पड़ती हैं। रोशनी की लकीर।

पर्या०—अंशु। कर। दीधिति। मयूख। मरीचि। रश्मि।

मुहा०—किरन फूटना=सूर्योदय होना।

(२) कलाबत्तून वा बादले की बनी हुई एक प्रकार की झालर जो बच्चों वा स्त्रियों के कपड़ों में लगाई जाती है।

किरपा‡*–संज्ञा स्त्री० दे० "कृपा"।

किरपान*–संज्ञा स्त्री० दे० "कृपाण"।

किरम–संज्ञा पुं० [सं० कृमि] (१) दे० "किरिमदाना"। (२) कीट। कीड़ा।

किरमई–संज्ञा स्त्री० [सं० कृमि] एक प्रकार की लाख। लाख का एक भेद।

किरमाल*†–संज्ञा पुं० [सं० करवाल] तलवार। खड्ग।

किरमाला–संज्ञा पुं० [सं० कृतमाल] अमिलताश। किरवारा।

किरमिच–संज्ञा पुं० [अं० कैनवस] एक प्रकार का मोटा विलायती कपड़ा जो महीन टाट की तरह होता है और जिससे परदे, जूते, बैग आदि बनते हैं।

किरमिज–संज्ञा पुं० [सं० कृमि+ज] [वि० किरमिजी] (१) एक प्रकार का रंग। किरिमदाने का चूर्ण। बुकनी किया हुआ किरिमदाना। हिरमजी। दे० "किरिमदाना"। (२) किरमिजी रंग का घोड़ा। वह घोड़ा जिसका रंग हिरमिजी के समान लाल हो।

किरमिजी–वि० [सं० कृमिज] किरमिज के रंग का। किरिमदाने के रंग का लाल। मटमैलापन लिए हुए करौंदिया रंग का। दे० "किरिमदाना"।

किरयात–संज्ञा पुं० [सं० किरात] चिरायता।

किरराना–क्रि० अ० [अनु०] (१) दाँत पीसना। (२) क्रोध से दाँत पीसना। (३) किर्र किर्र शब्द करना। उ०—पनवारो चंपति को आनो। देखि सुवा सारो किररानो।—लाल।

किरवार*–संज्ञा पुं० [सं० करवाल] तलवार। खड्ग। उ०—रन समुद्र बोहित को छियो। करिया सो किरवारो लियो।—केशव।

किरवारा†*–संज्ञा पुं० [सं० कृतमाल] अमलताश। उ०—कमल मूल किरवार कसेरू। काच नून कर मूल कसेरू।—सूदन।

किरांची–संज्ञा स्त्री० [अं० केरोच] (१) २ या ४ पहियों की गाड़ी जो माल असबाब ढोने के काम में आती है। वह बैलगाड़ी जिस पर अनाज भूसा आदि लादा जाता है। (२) मालगाड़ी का डब्बा।

किरात–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० किरातिनी, किरातिन, किराती] (१) एक प्राचीन जंगली जाति। उ०—मिलहिं किरात, कोल

बनवासी। बपानस, बटु, गृही, उदासी।—तुलसी। (२) एक देश का प्राचीन नाम जो हिमालय के पूर्वीय भाग तथा उसके आसपास में माना जाता था। वर्त्तमान भूटान, शिकिम, मनीपूर आदि इसी देश के अंतर्गत माने जाते थे। (३) चिरायता। (४) साईस।

क़िरात–संज्ञा स्त्री० [अ० क़ेरात] (१) जवाहरात की एक तौल जो लगभग ४ जौ के बराबर होती है। (२) एक आउंस का २४ वाँ भाग। (३) एक बहुत छोटा सिक्का वा धातुखंड जिसका मूल्य पाई से भी कम होता था।

किरातपति–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

किरातार्जुनीय–संज्ञा पुं० [सं०] भारविकृत १८ सर्गों का एक काव्य।

किराताशी–संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

किरातिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किरात जाति की स्त्री। (२) जटामासी।

किराती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किरात जाति की स्त्री। (२) दुर्गा। (३) स्वर्ग की गंगा। (४) कुट्टिनी। (५) चँवर डोलानेवाली।

किरान*†–क्रि० वि० [अ० क़िरान] पास। निकट। नज़दीक। उ०—ततखन सुनि महेश मन लाजा। भाट किरान ह्वै बिनवा राजा।—जायसी।

क़िराना–संज्ञा पुं० [सं० क्रय] दे० "केराना"।

क्रि० स० [सं० कीर्ण] दे० "केराना"।

क़िरानी–संज्ञा पुं० दे० "केरानी"।

किराया–संज्ञा पुं० [अ०] वह दाम जो दूसरे की कोई वस्तु काम में लाने के बदले में उस वस्तु के मालिक को दिया जाय। भाड़ा।

क्रि०प्र०—उतारना।—करना।—चुकाना।—देना।—लेना।

यौ०—**किरायादार**=किराये पर लेनेवाला व्यक्ति।

मुहा०—**किराया उतारना**=भाड़ा वसूल करना। **किराए करना**=भाड़े पर लेना। जैसे,—एक गाड़ी किराए कर लो। **किराए पर देना**=अपनी वस्तु को दूसरे के व्यवहार के लिये कुछ धन के बदले में देना। **किराए पर लेना**=दूसरे की वस्तु का कुछ दाम देकर व्यवहार करना।

किरायेदार–संज्ञा पुं० [फ़ा० किरायादार] वह जो किसी की कोई वस्तु भाड़े पर ले। कुछ दाम देकर किसी दूसरे की वस्तु कुछ काल तक काम में लानेवाला।

किरार–संज्ञा पुं० [देश०] एक नीच जाति।

किराव†–संज्ञा पुं० "केराव"।

किरावल–संज्ञा पुं० [तु० करावल] (१) वह सेना जो लड़ाई का मैदान ठीक करने के लिये आगे जाय। (२) बंदूक से शिकार करनेवाला आदमी।

किरासन–संज्ञा पुं० [अं० केरोसिन] करोसिन तेल। मिट्टी का तेल।

किरिच–संज्ञा स्त्री० [सं० कृति] कड़ी वस्तु का छोटा नुकीला टुकड़ा। दे० "किरच"।

यौ०—किरिच का गोला।

किरिच का गोला–संज्ञा पुं० [हिं० किरिच+गोला] एक प्रकार का जहाज़ी गोला जिसके भीतर लोहे के टुकड़े, कीलें या छर्रें भरे रहते हैं। यह गोला शत्रु के जहाज़ का पाल फाड़ डालने वा रस्सियों और मस्तूल को काटकर गिरा देने की इच्छा से फेंका जाता है।

किरिन†–संज्ञा स्त्री० दे० "किरण"।

किरिम–संज्ञा पुं० दे० "कृमि"।

किरिमदाना–संज्ञा पुं० [सं० कृमि+हिं० दाना] किरमिज नामक कीड़ा। किरमिजी।

विशेष—ये एक प्रकार के छोटे छोटे कीड़े होते हैं जो थूहड़ के पेड़ों पर फैलते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि लगभग ७० हज़ार कीड़े तौल में आध सेर होते हैं। मादा कीड़ों को इकट्ठा कर सुखा लेते हैं और उन्हें पीसकर रँगने के काम में लाते हैं। इसी बुकनी को किरमिजी वा हिरमिजी कहते हैं। इसका रंग हलका और मटमैला लाल होता है।

किरिया*†–संज्ञा स्त्री० [सं० क्रिया] (१) शपथ। सौगंध। क़सम।

क्रि० प्र०—खाना।—देना।—दिलाना।—धराना।—रखना। (२) कर्तव्य। काम। (३) मृत व्यक्ति के हेतु श्राद्धादि कर्म। मृतकर्म।

यौ०—**किरियाकरम**=(१) क्रियाकर्म। मृतकर्म्म। (२) दुर्दशा।

किरिरना†–क्रि० अ० दे० "किचकिचाना (२)"।

किरीट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का शिरोभूषण जो माथे में बाँधा जाता था और जिसका व्यवहार प्राचीन राजा पगड़ी के स्थान पर करते थे। इसके ऊपर मुकुट भी कभी कभी पहनते थे। (२) एक वर्ण वृत्त वा सवैया जिसमें ८ भगण होते हैं। जैसे,—भा बसुधा-तल पाप महा तब धाय धरा दइ देव सभा जहँ। आरत नाद पुकार करी सुनि वाणि भई नभ धीर धरो तहँ। लै नर देह हतौं खल पुंजन थापहुँ गो नय पाथ मही महँ। यों कहि चारि भुजा हरि माथ किरीट धरे जनमे पुहुमी महँ।

किरीटी–संज्ञा पुं० [सं० किरीटिन्] (१) इंद्र। (२) अर्जुन। (३) राजा।

वि० कोई किरीटधारी। जो किरीट पहने हो।

किरोर†–संज्ञा पुं० दे० "करोड़"।

किरोलना–क्रि० स० [सं० कर्त्तन] करोदना। खुरचना।

किरौना†–संज्ञा पुं० [हिं० कीरा+औना (प्रत्य०)] कीड़ा।

किर्च*–संज्ञा स्त्री० दे० "किरच"।

किर्मिज–संज्ञा पुं० [सं० कृमिज] (१) एक प्रकार का रंग। किरिमदाने का चूर्ण। बुकनी किया हुआ किरिमदाना। हिरमिजी। दे० "किरिमदाना"। (२) किरमिजी रंग का घोड़ा।

किर्मीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राक्षस जिसे भीमसेन ने मारा था।

यौ०—किर्मीरजित्, किर्मीरसूदन, किर्मीरभिद्=भीमसेन।

(२) नारंगी का पेड़।

वि० [सं०] चितकबरा।

किर्री–संज्ञा स्त्री० [सं० कीर्ण] एक प्रकार की छेनी जिससे धातु की नक्काशी में पत्तियाँ और डालियाँ बनाई जाती हैं।

किलक–संज्ञा स्त्री० [हिं० किलकना] (१) किलकने की क्रिया। हर्षध्वनि करने की क्रिया। (२) आनंदसूचक शब्द। हर्षध्वनि। किलकार।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा० किलक] एक प्रकार का नरकट जिसकी कलम बनती है।

किलकना–क्रि० अ० [सं० किलकिला] किलकिल शब्द कर के आनंद प्रकट करना। किलकार मारना। हर्षध्वनि करना। उ०—(क) तुलसी निहारि कपि भालु किलकत ललकत लखि ज्यों कंगाल पातरी सुनाज की।—तुलसी। (ख) गहि पलका की पाटी डोलै। किलकि किलकि दसननि दुति खोलै।—लाल।

किलकार–संज्ञा स्त्री० [हिं० किलक] वह गंभीर और अस्पष्ट स्वर जिसे लोग आनंद और उत्साह के समय मुँह से निकालते हैं। हर्षध्वनि।

किलकारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० किलकना] वह गंभीर और अस्पष्ट स्वर जिसे लोग आनंद और उत्साह के समय मुँह से निकालते हैं। हर्षध्वनि।

क्रि० प्र०—देना।—मारना। उ०—चले हनुमान मारि किलकारी।—तुलसी।

किलकिंचित–संज्ञा पुं० [सं०] संयोग श्रृंगार के ११ हावों में से एक जिसमें नायिका एक ही साथ कई एक भावों को प्रकट करती है। जैसे—(क) कहति, नटति, रीझति, खिझति, मिलति, खिलति, लजिजात। भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात।—बिहारी। (ख) सी करति ओठन, बसी करति आँखिन रिसौंही सी हँसी करति, भौंहनि हँसी करति।—देव।

किलकिल–संज्ञा स्त्री०[अनु०] झगड़ा। लड़ाई। वाद विवाद। किटकिट। जैसे,—रोज़ की किलकिल अच्छी नहीं।

किलकिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] हर्षध्वनि। आनंदसूचक शब्द। किलकारी। उ०—लाँघि सिंधु एहि पारहिं आवा। शब्द किलकिला कपिन सुनावा।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० कूकल] मछली खानेवाली एक छोटी चिड़िया। जिस पानी में मछलियाँ होती हैं, उस पानी के ऊपर लगभग १० हाथ की ऊँचाई पर यह उड़ती रहती है। मछली को देखकर अचानक उस पर टूटती है और उसे पकड़कर उड़ जाती है। उ०—मेरे कान सुजान तुव नैन किलकिला आइ। हृदय सिंधु ते मीन मन, तुरत पकरि लै जाइ।—रसनिधि।

संज्ञा पुं० [अनु०] समुद्र का वह भाग जहाँ की लहरें भयंकर शब्द करती हों। उ०—पुनि किलकिला समुँद महँ आई। गा धीरज देखत डर खाई।—जायसी।

किलकिलाना–क्रि० अ० [हिं० किलकिला] (१) आनंदसूचक शब्द करना। हर्षध्वनि करना। उ०—(क) किलकिलाहिं बालक लै अंका। बमन रहित धावहिं नहिं शंका।—रघुराज। (ख) चली चमू चहुँ ओर शोक कछु ब्नै न बरनत भीर। किलकिलात कपमसत कोलाहल होत नीरनिधि तीर।—तुलसी। (२) अस्पष्ट शब्दों में चिल्लाना। हल्ला-गुल्ला करना। (३) वादविवाद करना। झगड़ा करना।

किलकिलाहट–संज्ञा स्त्री० [हिं० किलकिलाना] किलकिलाने का शब्द।

किलीक–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० किलक=नरकट वा क़लम] बढ़इयों का एक औज़ार जिससे वे नाप के अनुसार काठ पर निशान करते हैं।

किलकैया–संज्ञा पु० [देश०] नहरुए के ढंग का एक प्रकार का रोग जिसमें चौपायों के खुरों में कीड़े पड़ जाते हैं।

†संज्ञा पुं० [हिं० किलकना] किलकनेवाला।

किलटा–संज्ञा पुं० [देश०] बेंत का टोकरा जो इस युक्ति से बना रहता है कि उसमें रक्खी हुई वस्तु का भार ढोनेवाले के कंधों ही पर पड़ता है। इसे पहाड़ी लोग लेकर ऊँचाई पर चढ़ते हैं।

किलना–क्रि० अ० [हिं० कील] (१) कीलन होना। कीला जाना। (२) वश में किया जाना। गति अवरोध होना। जैसे—शत्रु की जीभ किल गई।

किलनी–संज्ञा स्त्री० [सं० कीट, हिं० कीड़ा] एक प्रकार का छोटा कीड़ा जो गाय, बैल, कुत्ते, बिल्ली आदि पशुओं के शरीर में चिपटा रहता है और उनका रक्त पीता है। किल्ली।

किलबिलाना–क्रि० अ० दे० "कुलबुलाना"।

किलमी–संज्ञा पुं० [?] (१) जहाज़ का पिछला खंड। (२) पिछले खंड के मस्तूल का बादबान।

किलमोरा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की दारु हलदी जिसकी झाड़ियाँ हिमालय पर कोसों फैली हुई मिलती हैं। दे० "दारु हलदी"।

किलवाँक–संज्ञा पुं० [देश०] काबुल देश का एक प्रकार का घोड़ा। उ०—काबिल के किलवाँक कच्छ दच्छी दरियाई। उम्मट के हबसान जंगली जाति अलाई।—सूदन।

किलवा†–संज्ञा पुं० [देश०] बड़ा फावड़ा या बड़ी कुदाल। (रुहेलखंड)

किलवाई†–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक बड़ा पाँचा वा लकड़ी की फरुई जिससे सूखी घास या पयाल इकट्ठा करते हैं।

किलवाना–क्रि० स० [हिं० किलना का प्रे० रूप] (१) कील ठोकवाना। कील लगवाना या जड़वाना। (२) तंत्र वा मंत्र द्वारा किसी भूत प्रेत के विघ्नकारी कृत्य को रोकवा देना। जादू या टोना करा देना।

किलवारी†–संज्ञा स्त्री० [सं० कर्ण] पतवार। कन्ना।

किलविष*–संज्ञा पुं० दे० "किल्विष"।

क़िला–संज्ञा पुं० [अ०] लड़ाई के समय बचाव का एक सुदृढ़ स्थान। दुर्ग। गढ़।

क्रि० प्र०—टूटना। तोड़ना।—बाँधना।—ले लेना।

यौ०—क़िलेदार=दुर्गपति। गढ़पति। क़िलेदारी=दुर्गाध्यक्षता। क़िलाबंदी=क़िला बाँधने का काम।

मुहा०—क़िला फ़तेह करना=महा कठिन काम कर लेना। अत्यंत विकट कार्य्य करने में सफलता प्राप्त करना। क़िला बाँधना=शतरंज के खेल में बादशाह को किसी घर में सुरक्षित रखना जिसमें प्रतिपक्षी जल्दी मात न कर सके। क़िला टूटना=किसी बड़ी भारी कठिनता वा अड़चन का दूर होना। किसी दुःसाध्य कार्य्य का पूरा होना।

किलाट–संज्ञा पुं० [सं०] खटाई डालकर फाड़ा हुआ दूध। छेना।

किलाना–क्रि० स० दे० "किलवाना"।

क़िलाबंदी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) दुर्ग-निर्माण। (२) व्यूह रचना। सेना की श्रेणियों को विशेष नियमानुसार खड़ा करना। (३) शतरंज में बादशाह को सुरक्षित घर में रखना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

किलावा–संज्ञा पुं० [?] सोनारों का एक औज़ार।

संज्ञा पुं० [फ़ा० कलावा] हाथी के गले में पड़ा हुआ रस्सा वा बंधन जिसमें पैर फँसाकर महावत हाथी को चलने आदि का इशारा करता है।

किलिक–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] एक प्रकार का नरकट जिसकी क़लम बनती है।

किलिन–संज्ञा पुं० [?] जहाज़ के पीछे का वह स्थान जहाँ बाहरी तख्ते मुड़कर मिलते हैं। जहाज़ के पेंदे का वह छोर जो पिछाड़ी की ओर होता है। केदास की मोड़।

किलोवा–संज्ञा पुं० [बरमी] एक प्रकार का लंबा बाँस जो बरमा में पेगू और मर्तबान के जंगलों में होता है। इसकी लंबाई ६० से १२० फुट तथा घेरा ५ से ८ इंच तक होता है। इसका रंग खाकी होता है और यह नाव के मस्तूल बनाने के काम में अधिक आता है।

किलोल–संज्ञा पुं० दे० "कलोल", "कल्लोल"।

किलौनी†–संज्ञा स्त्री० दे० "किलनी"

क़िल्लत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कमी। न्यूनता। (२) संकोच। तंगी।

किल्ला–संज्ञा पुं० [हिं० कील] (१) बहुत बड़ी कील वा मेख़। खूँटा। (२) लकड़ी की वह मेख़ जो जाँते के बीचोबीच गड़ी रहती है और जिसके चारों ओर जाँता घूमता है। कील।

मुहा०—किल्ला गाड़कर बैठना=अटल होकर बैठना।

किल्ली–संज्ञा स्त्री० [हिं० कील] (१) कील। खूँटी। मेख़। उ०—भया तुँवर मतिहीन कहिय किल्ली तैं ढिल्लिय।—चंद। (२) सिटकिनी। विल्ली। (३) किसी कल वा पेंच की मुठिया जिसे घुमाने से वह चले।

क्रि० प्र०—ऐंठना।—घुमाना।—दबाना।

मुहा०—किसी की किल्ली किसी के हाथ में होना=किसी का वश किसी पर होना। किसी की चाल किसी के हाथ में होना। जैसे,—वह हम से भागकर किधर जायगा, उसकी किल्ली तो हमारे हाथ में है। किल्ली घुमाना वा ऐंठना=दाँव वा पेंच चलाना। युक्ति लगाना। जैसे,—उसने न जाने कैसी किल्ली ऐंठ दी है कि वहाँ कोई हमारी बात नहीं सुनता।

किल्विष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप। अपराध। दोष। (२) रोग।

किवाँच–संज्ञा पुं० दे० "केवाँच"।

किवाड़–संज्ञा पुं० [सं० कपाट, प्रा० कवाड़] [स्त्री० किवाड़ी] लकड़ी का पल्ला जो द्वार बंद करने के लिये द्वार की चौखट में जड़ा जाता है। (एक द्वार में प्रायः दो पल्ले लगाये जाते हैं)। पट। कपाट।

क्रि० प्र०—खोलना।—चपकाना।—बंद करना।

मुहा०—किवाड़ देना, लगाना वा भिड़ाना=किवाड़ बंद करना। किवाड़ खटखटाना=किवाड़ खुलवाने के लिये उसकी कुंडी हिलाना या उस पर आघात करना।

किवार–संज्ञा पुं० दे० "किवाड़"।

किशटा–संज्ञा पुं० [फ़ा० किश्ता] एक प्रकार का छोटा शफ़तालू जिसका मुरब्बा पड़ता है और जिसकी गुठलियों से चाँदी साफ़ की जाती है।

किशनतालू–संज्ञा पुं० [सं० कृष्णतालु] वह हाथी जिसका तालू काला हो। ऐसा हाथी अच्छा समझा जाता है।

किशमिश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [वि० किशमिशी] सुखाया हुआ छोटा, लंबा बेदाना अंगूर। सुखाई हुई छोटी दाख।

विशेष—दे० "अंगूर"।

किशमिशी–वि० [फ़ा०] (१) किशमिश का। जिसमें किशमिश हो। (२) किशमिश के रंग का।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का अमौआ रंग जो किशमिश के ऐसा होता है और इस प्रकार बनता है—पहले कपड़े को धोकर उसे हड़ के पानी में डुबाते हैं। फिर गेरू देकर हलदी में और

उसके उपरांत तुन वा अनार की छाल में रंगकर सुखा लेते हैं। दूसरी रीति यह है कि कपड़े को ईंगुर में रंग कर सुखाते हैं और फिर कटहल की छाल, कुसुम, हरसिंगार और तुन के फूलों के अर्क में उसे रँगते हैं।

किशलय-संज्ञा पुं० [सं०] नया निकला पत्ता। कोमल पत्ता। कल्ला। उ०—नूतन किशलय मनहु कृशानू।—तुलसी।

किशोर-वि० [सं०] [स्त्री० किशोरी] ११ वर्ष से १५ वर्ष तक की अवस्था का।

यौ०—किशोरावस्था।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) ११ से १५ वर्ष तक की अवस्था का बालक।

यौ०—युगलकिशोर।

(२) पुत्र। बेटा। जैसे—नंदकिशोर। (३) घोड़े का बछेड़ा।

किशोरक-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा बालक। बच्चा। उ०—शशिहि चकोर किशोरक जैसे।—तुलसी।

किश्त-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] शतरंज के खेल में बादशाह का किसी मोहरे के घात में पड़ना। इसे 'शह' भी कहते हैं।

क्रि० प्र०—देना।—लगना।

किश्तवार-संज्ञा पुं० [फ़ा० किश्त=खेत+वार (प्रत्य०)] पटवारियों का एक काग़ज़ जिसमें खेतों का नंबर, रक़बा आदि दर्ज रहता है।

किश्ती-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) नाव।

यौ०—किश्तीनुमा=नाव के आकार का।

(२) एक प्रकार की छिछली थाली वा लंबी तश्तरी जिसमें रखकर किसी को कुछ सौगात देते हैं। (३) शतरंज का एक मोहरा जिसे हाथी भी कहते हैं।

किश्तीनुमा-वि० [फ़ा०] नाव के आकार का। जिसके दोनों किनारे टेढ़े वा धन्वाकार होकर दोनों छोरों पर कोना डालते हुए मिलें। जैसे,—किश्तीनुमा टोपी।

किष्किंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैसूर के आस पास के देश का प्राचीन नाम। राम के समय में यह देश बिलकुल जंगल था और बालि यहाँ का राजा था। (२) एक पर्वत जो किष्किंध देश में है।

किष्किंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किष्किंध पर्वतश्रेणी। (२) किष्किंध पर्वत की गुफा। (३) रामायण का एक कांड।

किस-सर्व० [सं० कस्य] 'कौन' का वह रूप जो उसे विभक्ति लगने के पहले प्राप्त होता है। जैसे—किसने, किसको, किससे, किसमें इत्यादि।

वि० कौन का वह रूप जो उसे उस समय प्राप्त होता है जब उसके विशेष्य में विभक्ति लगाई जाती है। जैसे, किस व्यक्ति को, किस वस्तु में।

विशेष—इस शब्द के अंत में जब निश्चयार्थक "ही" लगता है, तब उसका रूप "किसी" हो जाता है।

किसनई†-संज्ञा स्त्री० [हिं० किसान+ई (प्रत्य०)] किसान का काम। किसानी। खेती।

किसबत-संज्ञा स्त्री० [अ०] एक थैली जिसमें नाई अपने उस्तरे, कैंची आदि रखते हैं।

किसमत-संज्ञा स्त्री० दे० "क़िस्मत"।

किसमिस-संज्ञा पुं० दे० "किशमिश"।

किसमिसी-वि० दे० "किशमिशी"।

किसमी*-संज्ञा पुं० [अ० कसबी] श्रमजीवी। कुली। मज़दूरा। उ०—किसमी, किसान, कुलबनिक, भिखारी, भाट, चाकर, चपल, नट, चोर, चार चेटकी।—तुलसी।

किसलय-संज्ञा पुं० दे० "किशलय"।

किसान-संज्ञा पुं० [सं० कृषाण, प्रा० किसान] (१) कृषि वा खेती करनेवाला। खेतिहर। † (२) गाँव में नाई, बारी आदि जिनके घर कमाते हैं, उन्हें किसान कहते हैं।

किसानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० किसान] खेती। कृषि कर्म। किसी का काम।

वि० कृषिसंबंधी। खेती से संबंध रखनेवाला।

किसिम-संज्ञा स्त्री० दे० "किस्म"।

किसी-सर्व० वि० [हिं० किस+ही] "कोई" का वह रूप जो उसे विभक्ति लगने से पहले प्राप्त होता है। जैसे किसी ने, किसी को, किसी पर आदि।

वि० 'कोई' का वह रूप जो उसे उस समय प्राप्त होता है जब उसके विशेष्य में विभक्ति लगाई जाती है।

मुहा०—किसी न किसी=कोई न कोई। कोई एक। एक न एक।

किसू*-सर्व० दे० "किसी"।

क़िस्त-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) ऋण वा देन चुकाने का वह ढंग जिसमें सब रुपया एकबारगी न दे दिया जाय, बल्कि उसके कई भाग करके प्रत्येक भाग के चुकाने के लिये अलग अलग समय निश्चित किया जाय। जैसे,—सब रुपया एक साथ न दे सको तो क़िस्त कर दो।

यौ०—क़िस्तबंदी।

क्रि० प्र०—करना।—बाँधना।

(२) किसी ऋण वा देन का वह भाग जो किसी निश्चित समय पर दिया जाय। जैसे,—उसके यहाँ एक क़िस्त लगान बाक़ी है।

यौ०—क़िस्तवार।

क्रि० प्र०—अदा करना।—चुकाना।—देना।

(३) किसी ऋण वा देन के किसी भाग के चुकाने का निश्चित

समय। जैसे,—दो क़िस्तें बीत गईं अभी तक रुपया नहीं आया।

क़िस्तबंदी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] थोड़ा थोड़ा करके रुपया अदा करने का ढंग।

क़िस्तवार-क्रि०वि०[फ़ा०](१)क़िस्त के ढंग से। क़िस्त क़िस्त करके। (२) हर क़िस्त पर। जैसे,—वह क़िस्तवार नज़राना लेता है।

क़िस्म-संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रकार। भेद। भाँति। तरह। (२) ढंग। तर्ज़। चाल। जैसे,—वह तो एक अजीब क़िस्म का आदमी है।

क़िस्मत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) प्रारब्ध। भाग्य। नसीब। करम। तक़दीर।

मुहा०—क़िस्मत आज़माना=भाग्य की परीक्षा करना। किसी कार्य्य को हाथ में लेकर देखना कि उसमें सफलता होती है या नहीं। क़िस्मत उलटना=भाग्य खराब हो जाना। क़िस्मत चमकना=भाग्य प्रबल होना। बहुत भाग्यवान् होना। क़िस्मत जगना या जागना=भाग्य का अनुकूल होना। क़िस्मत पलटना=भाग्य में परिवर्त्तन होना। प्रारब्ध का अच्छे से बुरा या बुरे से अच्छा होना। क़िस्मत फिरना=दे० "क़िस्मत पलटना"। क़िस्मत फूटना=भाग्य का बहुत मंद हो जाना। क़िस्मत खुलना=भाग्य अच्छा होना। क़िस्मत लड़ना=(१) भाग्य की परीक्षा होना। जैसे,—इस समय कई आदमियों की क़िस्मत लड़ रही है, देखें किसे मिलता है। (२) भाग्य खुलना। प्रारब्ध अच्छा होना। जैसे,—उनकी क़िस्मत लड़ गई, वे इतने ऊँचे पद पर पहुँच गए।

यौ०—क़िस्मतवाला=भाग्यवान्। बड़े भाग्यवाला। क़िस्मत का धनी=जिसका भाग्य प्रबल हो। भाग्यवान्। क़िस्मत का हेठा=जिसका भाग्य मंद हो। अभागा। बदक़िस्मत। क़िस्मत का फेर=भाग्य की प्रतिकूलता। क़िस्मत का लिखा=वह जो भाग्य में लिखा है। करमरेख। क़िस्मत का लिखा पूरा होना=भाग्य का फल मिलना।

(२) किसी प्रदेश का वह भाग जिसमें कई ज़िले हों और जो एक कमिश्नर के अधीन हो। कमिश्नरी।

क़िस्मतवर-वि० [फ़ा०] भाग्यवान्।

क़िस्सा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) कहानी। कथा। आख्यान।

क्रि० प्र०—कहना। सुनना इत्यादि।

यौ०—क़िस्सा कहानी=झूठी कल्पित कथा।

(२) वृत्तांत। समाचार। हाल। जैसे,—उनका क़िस्सा बड़ा भारी है।

क्रि० प्र०—कहना।—सुनना।

मुहा०—क़िस्सा कोताह वा मुख़्तसर=(क्रि० वि०) थोड़े में। संक्षेप में। सारांश। क़िस्सा नाधना=अपनी बीती सुनाना। अपने कष्ट का वृत्तांत आरंभ करना। जैसे,—अब चलो, वे अपना क़िस्सा नाधेंगे तो रात हो जायगी। क़िस्सा बढ़ाना=किसी वृत्तांत का विस्तार से कहना।

(३) कांड। झगड़ा। तकरार।

मुहा०—क़िस्सा खड़ा करना=कांड खड़ा करना। झगड़ा खड़ा करना। क़िस्सा ख़तम करना, चुकाना, तमाम करना वा पाक करना=(१) झगड़ा मिटाना। झंझट दूर करना। (२) किसी वस्तु वा विषय को समूल नष्ट करना। क़िस्सा ख़तम होना, चुकना, तमाम वा पाक होना=(१) झगड़ा मिटना। (२) किसी वस्तु वा विषय का समूल नष्ट होना। क़िस्सा मोल लेना=झगड़ा खड़ा करना। क़िस्सा नाधना=झगड़ा खड़ा करना।

किहकल-संज्ञा पुं० [देश०] एक चिड़िया।

किहुनी-संज्ञा स्त्री० दे० "कुहनी"।

की-प्रत्य० [हिं० की] हिं० विभक्ति "का" का स्त्री०। जैसे,—उसकी गाय।

क्रि० स० [सं० कृत, प्रा० कि] हिं० "करना" के भूतकालिक रूप "किया" का स्त्री०। जैसे,—उसने बड़ी सहायता की।

* अव्य० ['कि' का विकृत रूप] (१) क्या? उ०—अपयश योग की जानकी, मणिचोरी की कीन्हि।—तुलसी। (२) या। या तो। उ०—की मुख पट दीन्हें रहै, की यथार्थ भाखंत।—तुलसी।

कीक-संज्ञा पुं० [अनु०] चीत्कार। चीख़। चिल्लाहट। शोर गुल।

क्रि० प्र०—देना।—मारना। उ०—तहँ काक विपुल शृगाल गीध बलाक आमिष भखत हैं। योगिनि जमाति कराल कीकैं देत पल अभिलषत हैं।—रघुराज।

कीकट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगध देश का प्राचीन वैदिक नाम।

विशेष—तंत्र के अनुसार चरणाद्रि (चुनार) से लेकर गृद्धकूट (गिद्धौर) तक कीकट देश है और मगध उसी के अंतर्गत है।

(२) [स्त्री० कीकटी] घोड़ा। (३) प्राचीन काल की एक अनार्य्य जाति जो कीकट देश में बसती थी।

वि० (१) निर्धन। ग़रीब। (२) लोभी। कृपण। कंजूस।

कीकना-क्रि० अ० [अनु०] की की करके चिल्लाना। हर्ष, क्रोध वा भयसूचक शब्द करना। चीत्कार करना।

कीकर-संज्ञा पुं० [सं० किंकराल] बबूल का पेड़।

कीकरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कीकर] एक प्रकार का कीकर वा बबूल जिसकी पत्तियाँ बहुत महीन महीन होती हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० कँगूरा] एक प्रकार की सिलाई जिसमें कपड़े को कतरकर लहरदार या कँगूरेदार बनाते हैं।

क्रि० प्र०—काढ़ना।—काटना।—बनाना।

कीका-संज्ञा पुं० [सं० कीकट] घोड़ा। उ०—(क) हरि आ न लसे कीकान इमि उमड कान उन्नत करे।—गोपाल। (ख) जसवंत

जसावंत साज बाज। चढ़े किकान करि करि गराज।—सूदन।

कीच-संज्ञा पुं० [सं० कच्छ] कीचड़। कर्दम। पंक। उ०—(क) गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहि मिलै नीच जल संगा।—तुलसी। (ख) पाथर डारै कीच में, उछरि बिगारै अंग।

कीचक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस जिसके छेद में घुसकर वायु हू हू शब्द करती है। (२) राजा विराट् का साला और उसकी सेना का नायक। जब पांडव लोग राजा विराट् के यहाँ अज्ञात वास करते थे, उस समय उसने द्रौपदी से छेड़ छाड़ की थी। इसी पर भीम ने उसे मार डाला था।

कीचड़-संज्ञा पुं० [हिं० कीच+ड़ (प्रत्य०)] (१) गीली मिट्टी। पानी मिली हुई धूल वा मिट्टी। कर्दम। पंक।

मुहा०—कीचड़ में फँसना=असमंजस में पड़ना। संकट में पड़ना। कठिनाई में पड़ना।

(२) आँख का सफ़ेद मल जो कभी कभी आँख के कोने पर आ जाता है।

क्रि० प्र०—आना।—निकलना।—बहना।

कीट-संज्ञा पुं० [सं०] रेंगने वा उड़नेवाला क्षुद्र जंतु। कीड़ा। मकोड़ा।

विशेष—सुश्रुत ने कीटकल्प में इनके जो नाम गिनाए हैं और उनके काटने और डंक मारने आदि से जो प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता है, उसके विचार से उनके चार भेद किए हैं। वात प्रकृति, जिनके काटने आदि से मनुष्य के शरीर में वात का प्रकोप होता है। पित्त-प्रकृति, जिनके काटने से पित्त का प्रकोप होता है। श्लेष्म-प्रकृति, जिनके काटने से कफ़ कुपित होता है। त्रिदोष-प्रकृति, जिनके काटने से त्रिदोष होता है। अगिया (अग्निनामा), ग्वालिन (आवर्त्तक) आदि को वात-प्रकृति, भिड़, भौंरा, बम्हनी (ब्रह्मणिका), पतबिछिया वा छिउँकी (पत्रवृश्चिक), कनखजूरा (शतपादक), मकड़ी, गदहला (गर्दभी) आदि को पित्त-प्रकृति तथा काली गोह आदि को श्लेष्म-प्रकृति लिखा है। ऊपर की नामावली से स्पष्ट है कि कीट शब्द के अंतर्गत कुछ रीढ़वाले जंतु भी आ गए हैं, पर अधिकतर बिना रीढ़वाले जंतुओं ही को कीट कहते हैं। पाश्चात्य जीवतत्त्वविदों ने इन बिना रीढ़वाले जंतुओं के बहुत से भेद किए हैं जिनमें कुछ तो आकार-परिवर्त्तन के विचार से किए गए हैं, कुछ पंख के विचार से और कुछ मुख-आकृति के विचार से। हमारे यहाँ कीट शब्द के अंतर्गत जिन जीवों को लिया है, वे सब ऊष्मज और अंडज हैं। ऊष्मज तो सब कीट हैं, पर सब अंडज कीट नहीं हैं; जैसे—पक्षी, मछली आदि को कीट नहीं कह सकते।

संज्ञा पुं० [सं० किट्ट] जमी हुई मैल। मल।

क्रि० प्र०—जमना।—लगना।

कीटभृंग-संज्ञा पुं० [सं०] एक न्याय जिसका प्रयोग उस समय होता है जब दो वा कई वस्तुएँ बिलकुल एक रूप हो जाती हैं। उ०—भइ गति कीटभृंग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखे रघुराई।—तुलसी।

विशेष—भृंग वा गुहाँजनी (जिसे बिलनी और भँवरी भी कहते हैं) के विषय में यह प्रवाद प्रसिद्ध है कि वह दूसरे कीड़ों को अपनी बिल में पकड़ ले जाती है और उन्हें अपने रूप का कर लेती है।

कीटमणि-संज्ञा स्त्री० [सं०] जुगनू। खद्योत।

कीड़ा-संज्ञा पुं० [सं० कीट, प्रा० कीड़] (१) छोटा उड़ने वा रेंगनेवाला जंतु। मकोड़ा। जैसे,—कनखजूरा, बिच्छू, भिड़ आदि।

यौ०—कीड़ा फतिंगा। कीड़ा मकोड़ा।

(२) कृमि। सूक्ष्म कीट।

मुहा०—कीड़े काटना=चुनचुनाहट होना। बेचैनी होना। चंचलता होना। जी उकताना। जैसे,—दम भर बैठे नहीं कि कीड़े काटने लगे। कीड़े पड़ना=(१) (वस्तु में) कीड़े उत्पन्न होना। जैसे,—(क) घाव में कीड़े पड़ना। (ख) पानी में कीड़े पड़ना। (२) दोष होना। ऐब होना। जैसे,—इसमें क्या कीड़े पड़े हैं जो नहीं लेते। कीड़े लगना=बाहर से आकर कीड़ों का किसी वस्तु को खाने वा नष्ट करने के लिये घर करना। जैसे—कपड़े, कागज़ आदि में कीड़े लगना।

(३) साँप। (४) जूँ, खटमल, आदि। (५) थोड़े दिन का बच्चा।

कीड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० कीड़ा] (१) छोटा कीड़ा। (२) चींटी। पिपीलिका।

कीनख़ाब-संज्ञा पुं० दे० "कमख़ाब"।

कीनना‡-क्रि० स० [सं० क्रीणन] खरीदना। मोल लेना। क्रय करना।

कीना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] द्वेष। बैर। शत्रुता। दुश्मनी।

क्रि० प्र०—रखना।

कीनिया†-संज्ञा पुं० [फ़ा० कीना] कपट रखनेवाला। बैर रखनेवाला।

कीनास-संज्ञा पुं० [सं० कीनाश] (१) यम। यमराज। (डिं०)। (२) एक प्रकार का बंदर। (३) किसान। खेतिहर।

कीप-संज्ञा स्त्री० [अं० कीफ़] वह चोंगी जिसे तंग मुँह के बरतन में इसलिये लगाते हैं जिसमें तेल, अर्क आदि द्रव पदार्थ उसमें ढालते समय बाहर न गिरें। छुच्छी।

क़ीमत-संज्ञा पुं० [अ०] [वि० क़ीमती] वह धन जो किसी चीज़ के बिकने पर उसके बदले में मिलता है। दाम। मूल्य।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।

मुहा०—क़ीमत ठहरना=मूल्य निश्चित होना। दाम तै होना। क़ीमत ठहराना=मूल्य निश्चित करना। दाम तै करना। क़ीमत चुकाना=(१) दाम देना। (२) दे० "क़ीमत ठहराना।"

क़ीमत लगाना=दाम आँकना। (ख़रीदनेवाले का) दाम कहना।

क़ीमती-वि० [अ०] अधिक दामों का। बहुमूल्य।

क़ीमा-संज्ञा पुं० [अ०] बहुत छोटे छोटे टुकड़ों में कटा हुआ गोश्त (खाने के लिये)।

मुहा०—क़ीमा करना=किसी चीज के बहुत छोटे छोटे टुकड़े करना।

कीमिया-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] रासायनिक क्रिया। रसायन।

यौ०—कीमियागर।

कीमियागर-संज्ञा पुं० [फ़ा०] रसायन बनानेवाला। रासायनिक परिवर्त्तन में प्रवीण।

कीमियागरी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] रसायन बनाने की विद्या।

कीमुख़्त-संज्ञा पुं० [अ०] गधे या घोड़े का चमड़ा जो हरे रंग का और दानेदार होता है। इसके जूते बरसात में पहने जाते हैं।

कीमुख़्ती-वि० [अ० कीमुख़्त] कीमुख़्त का बना हुआ।

कीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुक। सुग्गा। तोता। (२) व्याध। बहेलिया। (३) काश्मीर देश। (४) काश्मीर देशवासी।

कीरतन-संज्ञा पुं० दे० "कीर्त्तन"।

कीरति*-संज्ञा स्त्री० [सं० कीर्ति] (१) दे० "कीर्त्ति (१), (२)"। उ०—कुँवरि मनोहरि विजय बड़ि, कीरति अति कमनीय पावनहार विरंचि जनु, रचेउ न धनु दमनीय।—तुलसी। (२) राधिका की माता 'कीर्त्ति'।

यौ०—कीरतिकुमारी=राधा।

कीरशब्दा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चतुर्दश ताल का एक भेद जिसमें तीन आघात, एक, खाली और फिर तीन आघात होते हैं।

कीरी-संज्ञा स्त्री० [सं० कीट] (१) महीन छोटे कीड़े जो गेहूँ, जौ या चने की बाल के भीतर जाकर उसका दूध खा जाते हैं। (२) चींटी। कीड़ी। उ०—साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।—कबीर। (३) बहुत छोटे कीड़े। (४) व्याध या बहेलिया की स्त्री।

कीर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कथन। यशवर्णन। गुणकथन। (२) कृष्णलीला संबंधी भजन और कथा आदि।

यौ०—हरिकीर्त्तन। नगरकीर्त्तन।

कीर्त्तनिया-संज्ञा पुं० [सं० कीर्त्तन+इया (प्रत्य०)] कृष्णलीला संबंधी भजन और कथा सुनानेवाला। कीर्त्तन करनेवाला।

कीर्त्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुण्य। (२) ख्याति। बड़ाई। नामवरी। नेकनामी। यश।

यौ०—कीर्त्तिस्तंभ।

(३) सीता की एक सखी का नाम। (४) आर्या छंद के भेदों में से एक। इसमें १४ गुरु और १९ लघु वर्ण होते हैं। (५) दशाक्षरी वृत्तों में से एक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तीन सगण और एक गुरु होता है। जैसे—शशि है सकलंक खरो री। अकलंकित कीर्त्तिकिशोरी। (६) एकादशाक्षरी वृत्तों में से एक वृत्त जो इंद्रवज्रा के मेल से बनता है। इसके प्रथम चरण का प्रथम अक्षर लघु होता है और शेष तीन चरणों के प्रथमाक्षर गुरु होते हैं। जैसे—मुकुंद राधारमणै उचारो। श्री रामकृष्ण भजिबो सँवारो। गोपाल गोविंदहिं ते पसारो। ह्वै है जबै सिंधु भवै उबारो। (७) प्रसाद। (८) शब्द। (९) दीप्ति। (१०) मातृकाविशेष। (११) विस्तार। (१२) कीचड़। (१३) एक ताल। (संगीत)। (१४) दक्ष प्रजापति की कन्या और धर्म्म की पत्नी।

कीर्त्तिमंत-वि० दे० "कीर्त्तिमान्"।

कीर्त्तिमान्-वि० [सं०] यशस्वी। नेकनाम। मशहूर। विख्यात।

कीर्तिवंत-वि० दे० "कीर्त्तिमान्"।

कीर्त्तिवान-वि० [सं०] दे० "कीर्त्तिमान्"।

कीर्त्तिस्तंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्तंभ जो किसी की कीर्त्ति को स्मरण कराने के लिये बनाया जाय। (२) वह कार्य्य या वस्तु जिसके द्वारा किसी की कीर्त्ति स्थायी हो।

कील-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लोहे वा काठ की मेख। काँटा। परेग। खूँटी।

यौ०—कील काँटा=लोहार वा बढ़ई का औज़ार।

(२) वह मूढ़ गर्भ जो योनि में अटक जाता है। (३) नाक में पहनने का एक छोटा आभूषण जिसका आकार लौंग के समान होता है। लौंग। (४) मुहाँसे की माँस-कील। (५) स्त्री-प्रसंग में एक प्रकार का आसन जिसे "कीलासन" कहते हैं। (६) जाँते के बीचोबीच का खूँटा जिसके आधार पर वह गड़ा रहता है। (७) वह खूँटी जिस पर कुम्हार का चाक घूमता है। (८) आग की लवर। अग्निशिखा। (९) दे० "कीलक (५)"।

संज्ञा स्त्री० [देश०] खुंगी वा देवकपास जो आसाम की गारो पहाड़ियों में होती है।

कीलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खूँटी। कील। (२) गौओं और भैंसों के बाँधने का खूँटा। (३) तंत्र के अनुसार एक देवता। (४) किसी मंत्र का मध्य भाग। (५) वह मंत्र जिससे किसी अन्य मंत्र की शक्ति या उसका प्रभाव नष्ट कर दिया जाय। (६) ज्योतिष में प्रभव आदि ६० वर्षों में से बयालीसवाँ वर्ष। इस वर्ष में अमंगलों का नाश होकर सब जगह मंगल और सुख होता है। (७) एक स्तव जो सप्तशती पाठ करने के समय किया जाता है। (८) केतुविशेष।

कीलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन। रोक। रुकावट। (२) किसी मंत्र को कील देने का काम।

कीलना-क्रि० स० [सं० कीलन] (१) मेख जड़ना। कील लगाना। (२) किसी मंत्र वा युक्ति के प्रभाव को नष्ट करना। (३) साँप को ऐसा मोहित कर देना कि वह किसी को काट न सके। (४) अधीन करना। वश में करना।

कीलमुद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं० कील+मुद्रा] दे० "कीलाक्षर"।

कीला–संज्ञा पुं० [सं० कील] (१) बड़ी कील। काँटा। शंकु। (२) दे० "कील (६), (७)"।

कीलाक्षर–संज्ञा पुं० [सं० कील+अक्षर] एक प्रकार की बहुत प्राचीन लिपि जिसके अक्षर कील के आकार के होते थे। इस लिपि के ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व के कई लेख बर्बर देश में पाए गए हैं।

कीलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मनुष्य के शरीर की वे हड्डियाँ जो ऋषभ और नाराच को छोड़कर दूसरे स्नायु से बँधी होती हैं। (२) एक प्रकार का बाण।

कीलित–वि० [सं०] (१) जिसमें कील जड़ी हो। (२) मंत्र से स्तंभित। कीला हुआ।

कीलिया–संज्ञा पुं० [हिं० कील] मोट के बैलों को हाँकनेवाला। पुरबोलवा। पैरहा।

कीली–संज्ञा स्त्री० [सं० कील] (१) किसी चक्र के ठीक मध्य के छेद में पड़ी हुई वह कील वा डंडा जिस पर वह चक्र घूमता है। जैसे,—पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती है, जिससे रात और दिन होता है।

† (२) दे० "कील" और "किल्ली"।

कीश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंदर। वानर। लंगूर।

यौ०—कीशध्वज, कीशकेतु=अर्जुन।

(२) चिड़िया। (३) सूर्य्य।

कीस–संज्ञा पुं० [फ़ा० कीसा] गर्भ की थैली।

कीसा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) थैली। खीसा। (२) जेब। खरीता।

कुँअर–संज्ञा पुं० [सं० कुमार] [स्त्री० कुँअरि] (१) लड़का। पुत्र। बालक।

यौ०—राजकुँअर।

(२) राजपुत्र। राजकुमार। उ०—देखन बाग कुँअर दोउ आये। वय किशोर सब भाँति सुहाये।—तुलसी।

कुँअरपुरिया–संज्ञा पुं० [हिं० कुँअरपुर] एक प्रकार की हलदी जो कटक के पास कुँअरपुर राज्य में पैदा होती है। यह प्रति पाँचवें वर्ष खेत से खोदी जाती है। इसकी जड़ वा पत्ती लंबी और बड़ी होती है। इसके खेत में भैंस के गोबर की खाद दी जाती है।

कुँअर बिरास–संज्ञा पुं० [हिं० कुँअर+विलास] कुँअर विलास। एक प्रकार का धान वा चावल। उ०—घी खाड़ौं औ कुँअर बिरासू। रामदास आवै अति वासू।—जायसी।

कुँअरेटा‡*–संज्ञा पुं० [हिं० कुँअर+एटा] [स्त्री० कुँअरेटी] लड़का। बालक। उ०—लालन माल जरी पट लाल सखी सँग बाल बधू कुँअरेटी।—देव।

कुँआ–संज्ञा पुं० [सं० कूप, प्रा० कूव] [स्त्री० अल्प० कुँइयाँ] कुँआ। कूप।

कुँआरा–वि० [सं० कुमार] [स्त्री० कुँआरी] जिसका ब्याह न हुआ हो। बिन ब्याहा। उ०—सुकृत जाइ जो पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ।—तुलसी।

कुँइयाँ–संज्ञा स्त्री० [हिं० कुँआ] छोटा कुँआ।

यौ०—कठकुँइयाँ=वह छोटा कुँआ जो काठ से बँधा हुआ हो।

कुँई–संज्ञा स्त्री० [सं० कुमुदिनी, प्रा० कुउई] कुमुदिनी।

कुंकुम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) केसर। ज़ाफ़रान। उ०—कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचंद सो चंदन होड़ परी है।—तुलसी। (२) लाल रंग की बुकनी जिसे स्त्रियाँ माथे में लगाती हैं। रोली। (३) कुंकुमा।

कुंकुमफूल–संज्ञा पुं० [देश०] दुपहरिया का फूल।

कुंकुमा–संज्ञा पुं० [सं० कुंकुम] झिल्ली की कुप्पी या ऐसा बना हुआ लाख का पोला गोला जिसके भीतर गुलाल भरकर होली के दिनों में मारते हैं। लाख को लोहे की नली में भरकर फूँकते हैं जिससे उसका फूलकर गोला बन जाता है।

कुंचन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिकुड़ने वा बटुरने की क्रिया। सिमटना। (२) आँख का एक रोग जिसमें आँख की पलकें सिकुड़ जाती हैं।

कुंचि–संज्ञा पुं० [सं०] आठ मुट्ठी का एक परिमाण।

कुंचिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घुँघची। गुंजा। (२) बाँस की टहनी। (३) कुंजी। ताली। चाभी। (४) एक प्रकार की मछली। (५) हुरहुर।

कुंचित–वि० [सं०] (१) घूमा हुआ। टेढ़ा। वक्र। (२) घुँघरवाले। छल्लेदार (बाल)। उ०—(क) कुंचित अलक तिलक गोरोचन शशिपुर हरषे ऐन। कबहुँक खेलत जात घुटुरुवनि उपजावत सुख चैन।—सूर। (ख) चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे।—तुलसी।

कुंची–संज्ञा स्त्री० [सं० कुंचिका] ताली। कुंजी। चाभी। उ०—धर्मधीर कुलकानि कुँची कर तेहि तारौ दै दूरि धर्‍यो री। पलक कपाट कठिन उर अंतर इतेहु जतन कछुवै न सर्‍योरी।—सूर।

कुंज–संज्ञा पुं० [सं०, मिलाओ फ़ा० कुंज] (१) वह स्थान जिसके चारों ओर घनी लता छाई हो। वह स्थान जो वृक्ष लता आदि से मंडप की तरह ढका हो। उ०—(क) जहँ वृंदावन आदि अजर, जहँ कुंज लता विस्तार। तहँ बिहरत प्रिय प्रीतम दोऊ, निगम भृंग गुंजार।—सूर। (ख) सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर। मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर।—बिहारी।

यौ०—कुंजकुटीर=लतागृह। कुंजगली=(१) वाटिका में लताओं से छाया हुआ पथ। भूलभुलैयाँ। (२) तंग और पतली गली।

(२) हाथी का दाँत।

संज्ञा पुं० [फ़ा० कुंज=कोना] (१) वह बूटे जो दुशाले के कोनों पर बनाए जाते हैं। (२) खपरैल वा छप्पर की छाजन में वह लकड़ी जो बँड़ेर से आकर कोने पर तिरछी गिरती है। कोनिया। कोनसिला।

कुंजक*–संज्ञा पुं० [सं०] कंचुकी। डेवढ़ी पर का वह चोबदार जो अंतःपुर में आता जाता हो। ख़्वाजःसरा, उरदाबेग। उ०—कुंजक क्लीव विविध परिचारक। जे रनिवास खबरि परचारक।—रघुराज।

कुंजकुटीर–संज्ञा स्त्री० [सं०] लतागृह। कुंजगृह। लताओं से घिरा हुआ घर। उ०—चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर? तो बिनु कुँअरि कोटि बनिताजुत बिलपत बिपिन अधीर।—हितहरिवंश।

कुंजगली–संज्ञा स्त्री० [हिं० कुज+गली] (१) बगीचों में लता से छाया हुआ पथ। (२) पतली तंग गली।

कुंजड़–संज्ञा पुं० [अ० कुंदुर] पिस्ते का गोंद जो दवा में काम आता है और देखने में रूमीमस्तगी से मिलता जुलता होता है। कुंदुर।

कुँजड़ा–संज्ञा पुं० [सं० कुंज+ड़ा (प्रत्य०)] [स्त्री० कुँजड़ी, कुँजड़िन] एक जाति जो तरकारी बोती और बेचती है। इस जाति के लोग प्रायः अब मुसलमान हो गए हैं।

मुहा०—कुँजड़े कसाई=नीच जाति के लोग। नीची श्रेणी के मुसलमान। कुँजड़े का गल्ला=(१) वह गल्ला, राशि वा वस्तु जिसके लेन देन का लेखा न लिखा जाता हो। (२) बे-सिर पैर का लेखा। गड़बड़ हिसाब। (३) गोलमाल। गड़बड़। कुँजड़े की दूकान=वह स्थान जहाँ सब छोटे बड़े जा सकें वा जहाँ भीड़ भाड़ और शोर गुल हो। जैसे,—क्या तुम लोगों ने कचहरी को कुँजड़े की दूकान समझ लिया है?

कुंजर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० कुजरा, कुजरी] (१) हाथी।

मुहा०—कुंजरो वा नरो वा, कुंजरो नरो=हाथी वा मनुष्य। श्वेत वा कृष्ण। यह वा वह। अनिश्चित वा दुबधे की बात। उ०—सोहौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि धरो। स्वारथ हू परमारथ हू को नहिं कुंजरो नरो।—तुलसी।

विशेष—द्रोणाचार्य्यजी को वरदान था कि उनका प्राण पुत्र-शोक में निकलेगा। महाभारत के युद्ध में जब दोणाचार्य्यजी के बाणों से पांडव-दल को बड़ी क्षति पहुँची, तब कृष्णचंद्र ने यह गप उड़ाने की सलाह दी कि 'अश्वत्थामा मारा गया' और इसकी सत्यता के लिये अश्वत्थामा नाम के एक हाथी को मरवा डाला। द्रोणाचार्य्यजी से बहुतों ने अश्वत्थामा के मारे जाने का समाचार कहा; पर उन्हें विश्वास नहीं आया; यहाँ तक कि स्वयं कृष्णचंद्र के कहने पर भी उन्होंने सत्य नहीं माना और कहा कि जब तक धर्मपुत्र युधिष्ठिर न कहेंगे, मैं इसे सत्य न मानूँगा। इस पर कृष्णचंद्र ने युधिष्ठिर को इतना कहने के लिये राजी किया कि "अश्वत्थामा मारा गया, न जाने हाथी वा मनुष्य।" "अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो वा"। कृष्णजी ने ऐसा प्रबंध किया कि ज्योंही युधिष्ठिर के मुँह से "अश्वत्थामा हतो" वाक्य निकला, शंखध्वनि होने लगी और द्रोणाचार्य्यजी शेष 'कुंजरो वा नरो वा' जो धीरे से कहा गया था, न सुन सके। वे प्राणायाम द्वारा सब बातों को जान कर प्राण त्यागना चाहते थे कि उनका सिर काट लिया गया। युधिष्ठिर के इस संदिग्ध वाक्य को लेकर वह महाविरा दुबधे की बातों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(२) एक नाग का नाम। (३) बाल। केश। (४) एक देश का नाम। (५) रामायण के अनुसार एक पर्वत का नाम। यह मलयागिरि की किसी शृंखला का नाम था। (६) अंजना के पिता और हनुमान् के नाना का नाम। (७) पद्मपुराण के अनुसार एक वृद्ध शुक पक्षी का नाम जिसने महर्षि च्यवन को उपदेश दिया था। (८) छप्पय के इक्कीसवें भेद का नाम जिसमें ५० गुरु, ५२ लघु, १०२ वर्ण और १५२ मात्राएँ वा ५० गुरु, ४८ लघु, ९८ वर्ण और १४८ मात्राएँ होती हैं। (९) पाँच मात्रा के छंदों के प्रस्तार में पहला प्रस्तार। (१०) हस्त नक्षत्र। (११) पीपल। (१२) आठ की संख्या।

वि० श्रेष्ठ। उत्तम। जैसे—पुरुषकुंजर, कपिकुंजर।

विशेष—इस अर्थ में यह शब्द समस्त पदों के अंत में ही आता है।

कुंजरक्षरण–संज्ञा स्त्री० [सं०] गजपिप्पली। गजपीपल।

कुंजरच्छाय–संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक योग। जब कृष्ण त्रयोदशी तिथि मघा नक्षत्र-युक्त होती है अथवा सूर्य्य, चंद्र मघा नक्षत्र के होते हैं, तब यह योग होता है। मनु के अनुसार जब कृष्णपक्ष में त्रयोदशी और चतुर्दशी का योग हो और उसी दिन पूर्वाह्न में हस्त नक्षत्र भी हो तब कुंजरच्छाय होता है। यह एक पर्व माना गया है और शास्त्रों में इस दिन पितरों के श्राद्ध का बड़ा फल लिखा है।

कुंजरदरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रदेश का नाम। अनुमलय।

कुंजरपिप्पली–संज्ञा स्त्री० [सं०] गजपिप्पली।

कुंजरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] हथिनी। धातकी। धव।

कुंजराराति–संज्ञा पुं० [सं०] हाथी का शत्रु, सिंह।

कुंजरारि–संज्ञा पुं० [सं०] हाथी का वैरी, सिंह। उ०—प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड वीर धाए जातुधान हनुमान लिए घेरि कै। महा बलपुंज कुंजरारि ज्यौं गरजि भट जहाँ तहाँ पटके लँगूर फेरि फेरि कै।—तुलसी।

कुंजरारोह–संज्ञा पुं० [सं०] हाथीवान। महावत। पीलवान।

कुंजराशन–संज्ञा पुं० [सं०] अश्वत्थ । पीपल ।

कुंजल*–संज्ञा पुं० [सं०] काँजी ।

संज्ञा पुं० [सं०] हाथी । हस्ती । गज । उ०—(क) अब जोबन बारी को राखा । कुंजल बिरह बिधाँसइ साखा ।—जायसी । (ख) ज्यों शिवछत दरशन रवि पायो जेही गर निगन्यो । सूरदास प्रभु रूप थक्यो मन कुंजल पंक पन्यो ।—सूर ।

कुंजविहारी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंजों में विहार करनेवाला पुरुष । (२) श्रीकृष्ण ।

कुंजा†–संज्ञा पुं० [अ० कूजा] पुरवा । चुक्कड़ । उ०—प्याली गंगाजली टोकनी गंगाजागर । कुंजा जंबू डबा और ताँबे की गागर ।—सूदन ।

कुंजिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] कृष्णजीरा । कालाजीरा ।

कुंजी†–संज्ञा स्त्री० [सं० कुंचिका] (१) चाभी । ताली ।

मुहा०—(किसी की) कुंजी हाथ में होना=किसी का वश में होना । किसी की चाल वा गति का वश में होना । जैसे,—वे तुमसे कुछ न बोलेंगे, उनकी कुंजी तो हमारे हाथ में है ।

(२) वह पुस्तक जिससे किसी दूसरी पुस्तक का अर्थ खुले । टीका ।

कुंठ–वि० [सं०] [संज्ञा कुंठता, कुंठत्व । वि० कुंठित] (१) जो चोखा वा तीक्ष्ण न हो । गुठला । कुंद । (२) मूर्ख । स्थूल बुद्धि का । कुंद ज़ेहन ।

कुंठित–वि० [सं०] (१) जिसकी धार चोखी वा तीक्ष्ण न हो । कुंद । गुठला । उ०—बहइ न हाथ दहइ रिस छाती । भा कुठार कुंठित नृपघाती ।—तुलसी । (२) मंद । बेकाम । निकम्मा । जैसे,—तुम्हारी बुद्धि कुंठित हो गई है ।

कुंड–संज्ञा पुं० [सं० कुंड] खेत में वह गहरी रेखा जो हल जोतने से पड़ जाती है ।

कुंड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चौड़े मुँह का एक गहरा बर्तन । कुंडा । (२) एक प्राचीन काल का मान जिससे अनाज नापा जाता था । (३) छोटा बँधा हुआ जलाशय । बहुत छोटा तालाब । जैसे—भरतकुंड, सूर्य्यकुंड ।

मुहा०—कुंड पड़ना=नदी के बहाव में किसी स्थान का अत्यंत गहरा पड़ जाना ।

(४) पृथिवी में खोदा हुआ गड्ढा अथवा मिट्टी धातु आदि का बना हुआ पात्र, जिसमें आग जलाकर अग्निहोत्रादि करते हैं । उ०—आहुति यज्ञ कुंड में डारि । कह्यो पुरुष उपजै बल भारि ।—सूर । (५) बटलोई । स्थाली । (६) ऐसी स्त्री का जारज लड़का जिसका पति जीता हो । (७) शिव का एक नाम । (८) एक नाग का नाम । (९) धृतराष्ट्र का एक लड़का । (१०) मुजारी । पूला । गट्ठा । जैसे—दर्भकुंड । (११) ज्योतिष के अनुसार चंद्रमा के मंडल का एक भेद । (१२) लोहे का टोप । कूँड़ । खोद । उ०—नीर तरवारि भाला बरछी बंदूक हाथ आयस के कुंड माथ करन पनाह के ।—गोपाल । (१३) हौदा । उ०—चढ़ि चित्रित सुंड भुसुंड पै सोभित कंचन कुंड पै । नृप सजेउ चलत जदु झुंड पै जिमि गज मृग सिर पुंड पै ।—गोपाल ।

कुंडकीट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चार्वाक मत का अनुयायी । (२) पतित ब्राह्मणी का पुत्र ।

कुंडगोलक–संज्ञा पुं० [सं०] काँजी ।

कुंडपायिनामयन–संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ जिसमें यजमान को २१ रात्रि तक दीक्षित रहना पड़ता है और उसके एक मास के उपरांत सोम-संग्रह के लिये जाना पड़ता है ।

कुंडपायी–संज्ञा पुं० [सं०कुंडपायिन्] (१) वह सोमयाग करनेवाला यजमान जिसने सोलह ऋत्विजों से सोमसत्र करा के कुंडाकार चमसे से सोमपान किया हो । (२) याज्ञिकों का एक संप्रदाय जिनके पूर्वज कुंडपायी थे वा जिनके कुल में सोमयाग में कुंडाकार चमसे से सोमपान होता था । ऐसे लोगों के अयनयागादि औरों से कुछ विलक्षण हुआ करते थे । आश्वलायन श्रौतसूत्र में इनके अयन याग का पृथक् विधान मिलता है ।

कुँडपुजी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कुंड+पूजना=भरना] किसानों का एक उत्सव जो उस दिन किया जाता है जिस दिन रबी की बोआई समाप्त होती है । कुँडमुँदनी ।

कुँडबुजी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कुंड+बजना=भरना] कुँडपुजी । कुँडमुदनी ।

कुँडमुदनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० कुंड+मूँदना] कुँडपुजी ।

कुँड़रा–संज्ञा पुं० [सं० कुंडल] [स्त्री० अल्पा० कुँडरी] (१) मंडलाकार खींची हुई रेखा (क) जिसके भीतर खड़े हो कर लोग शपथ करते थे, (ख) जिसके भीतर किसी वस्तु को रखकर उसे मंत्र आदि से रक्षित करते थे, और (ग) जिसके भीतर भोजन रखकर उसे छूत से बचाते हैं । (२) कई फेरे देकर मंडलाकार लपेटी हुई रस्सी वा कपड़ा जिसे सिर के ऊपर रख कर बोझ वा घड़ा आदि उठाते हैं । इँडुवा । गेंडुरी ।

कुँडरा–संज्ञा पुं० [सं० कुंड] कुंडा । मटका । उ०—अस कहि इक कुंडरा मँगायो । निज तुंबा तेहि औंध करायो ।—रघुराज ।

कुंडल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोने चाँदी आदि का बना हुआ एक मंडलाकार आभूषण जिसे लोग कानों में पहनते हैं । बाली । मुरकी । उ०—घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ।—तुलसी । (२) पहिए के आकार का एक आभूषण जिसे गोरखनाथ के अनुयायी कनफटे कानों में पहनते हैं । यह सींग, लकड़ी, काँच, गेंडे की खाल तथा सोने आदि धातुओं का भी होता है । (३) कोई मंडलाकार

आभूषण, जैसे—कड़ा, चूड़ा आदि। (४) रस्सी आदि का गोल फंदा। (५) लोहे का वह गोल मँडरा जो मोट वा चरस के मुँह पर लगाया जाता है। मेखड़ा। मेंडरी। (६) कोल्हू के चारों ओर लगा हुआ गोल बंद। (७) किसी लंबी लचीली वस्तु की कई गोल फेरों में सिमटकर बैठने की स्थिति। फेंटी। मंडल। जैसे,—साँप कुंडल बाँधकर बैठा है।

क्रि० प्र०—बाँधना।—मारना।

(८) वह मंडल जो कुहरे वा बदली में चंद्रमा वा सूर्य्य के किनारे दिखाई पड़ता है।

क्रि० प्र०—में बैठना।

(९) छंद में वह मात्रिक गण जिसमें दो मात्राएँ हों, पर एक ही अक्षर हो। जैसे—"श्री"। (१०) बाईस मात्राओं का एक छंद जिसमें बारह और दस पर विराम होता है और अंत में दो गुरु होते हैं। इस छंद में अंतिम दो गुरु के अतिरिक्त शेष अठारह मात्राओं का यह नियम है कि पहली बारह मात्राओं के शब्द या तो सब द्विकल वा त्रिकल, अथवा दो त्रिकल के बाद तीन द्विकल, अथवा तीन द्विकल के बाद दो त्रिकल होते हैं और शेष बारह मात्राओं में त्रिकल के पश्चात् त्रिकल वा तीन द्विकल होते हैं। इस छंद से चरणांत में यदि एक ही गुरु हो तो उसे उड़ियाना कहते हैं। उ०—तू दयालु दीन हौं तु दानि हौं भिखारी। हौं प्रसिद्ध पातकी तु पाप-पुंज-हारी। नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मों सों। मों समान आरत नहिं आरतहर तोसों।

कुंडलपुर—संज्ञा पुं० दे० "कुंडिनपुर"।

कुंडलाकार—वि० [सं०] (१) वर्तुलाकार। गोल। मंडलाकार।

कुंडलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मंडलाकार रेखा। (२) एक जलेबी नाम की मिठाई। (३) कुंडलिया छंद।

कुंडलित—वि० [सं०] जो कुंडली मारे हुए हो। जो फेंटी मारे हुए हो। कई बलों में घूमा हुआ।

कुंडलिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तंत्र और उसके अनुयायी हठयोग के अनुसार एक कल्पित वस्तु जो मूलाधार में सुषुम्ना नाड़ी की जड़ के नीचे मानी गई है। यह वहाँ साढ़े तीन कुंडली मारकर त्रिकोण के आकार में पड़ी सोती रहती है। योगी लोग इसी को जगाने के लिये अष्टांग योग का साधन करते हैं। अत्यंत योगाभ्यास करने से यह जागती है। जागने पर यह साँप की तरह अत्यंत चंचल होती है, एक जगह स्थिर नहीं रहती; और सुषुम्ना नाड़ी में होती हुई मूलाधार से स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, अग्नि और मेरुशिखर होती हुई वा उन्हें भेदन करती हुई ब्रह्मरंध्र से सहस्रार चक्र में जाती है। ज्यों ज्यों वह ऊपर चढ़ती जाती है, त्यों-त्यों साधक में अलौकिक शक्तियों का विकास होता जाता है और उसके सांसारिक बंधन ढीले पड़ते जाते हैं। ऊपर के सहस्रार चक्र में उसे पकड़कर योगबल से ठहराना और सदा के लिये उसे वहीं रोक रखना हठयोग के साधकों का परम पुरुषार्थ माना गया है। उनके मत से यही उनके मोक्ष का साधन है। किसी किसी तंत्र का यह भी मत है कि कुंडलिनी नित्य जागती है और वह बीच के चक्रों को भेदती हुई सहस्रार कमल में जाती है और वहाँ देवगण उसे अमृत से स्नान कराते हैं। उनका कथन है कि यह कुंडलिनी मनुष्यों के सोने की अवस्था में ऊपर चढ़ती है और जागने के समय अपने स्थान मूलाधार में चली जाती है।

पर्या०—कुटिलांगी। भुजंगी। ईश्वरी। शक्ति। अरुंधती। कुंडली।

(२) जलेबी नाम की मिठाई। इमरती। (३) गुडुचि। गिलोय।

कुंडलिया—संज्ञा स्त्री० [सं० कुंडलिका] एक मात्रिक छंद जो एक दोहे और एक रोला के योग से इस प्रकार बनता है कि दोहे के अंतिम चरण के कुछ शब्द रोले के आदि में अविकल आते हैं। उ०—गुण के गाहक सहस नर बिनु गुण लहै न कोय। जैसे कागा कोकिला शब्द सुनै सब कोय॥ शब्द सुनै सब कोय कोकिला सबै सुहावन। दोउ के एक रंग काग सब भये अपावन॥ कह गिरधर कविराय सुनो हो ठाकुर मन के। बिनु गुण लहै न कोइ सहस नर गाहक गुण के॥

कुंडली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलेबी। (२) कुंडलिनी। (३) गुडुचि। गिलोय। (४) कचनार। (५) केवाँच। (६) जन्म काल के ग्रहों की स्थिति बतानेवाला एक चक्र जिसमें बारह घर होते हैं। (७) गेंडुरी। इँडुवा। (८) साँप के बैठने की मुद्रा। फेंटी। (९) खंजरी। डफली।

संज्ञा पुं० [सं० कुंडलिन्] (१) साँप। (२) वरुण। (३) मयूर। मोर। (४) चित्तल हरिण। (५) विष्णु।

वि० जो कुंडल पहने हो। कुंडलधारी।

कुंडा—संज्ञा पुं० [सं० कुंड] मिट्टी का बना हुआ चौड़े मुँह का एक गहरा बरतन जिसमें पानी, अनाज आदि रक्खा जाता है। बड़ा मटका। कछरा।

संज्ञा पुं० [सं० कुंडल] (१) दरवाज़े की चौखट में लगा हुआ कोंढ़ा जिसमें साँकल फँसाई जाती है और ताला लगाया जाता है। (२) कुश्ती का एक पेंच जिसमें नीचे आए हुए विपक्षी की दाहिनी ओर खड़े होकर अपनी दाहिनी टाँग उसकी गरदन में बाईं तरफ़ से डालकर उसकी दाहिनी बगल से बाहर निकाल लेते हैं और अपने बाएँ पैर के घुटने के अंदर अपने दाहिने मोजे को दबाकर उसके सिर पर बैठकर बाएँ हाथ से उसका जाँघिया पकड़कर उसे चित कर लेते हैं।

संज्ञा पुं० [?] जहाज़ के अगले मस्तूल का चौथा खंड। निरकट। तावर डोल।

कुँडाला—संज्ञा पुं० [सं० कुंड] मट्टी की कूँडी वा पथरी जिसमें कलाबत्तू बनानेवाले टिकुरियों पर कलाबत्तू लपेट कर रक्खे रहते हैं।

कुंडाशी—संज्ञा पुं० [सं० कुंडाशिन्] (१) कुंड नामक जारज पुरुष का अन्न खानेवाला। दोगले का अन्न खानेवाला। (२) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

कुंडिक—संज्ञा पुं० [सं०] धृतराष्ट्र के एक लड़के का नाम।

कुंडिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमंडल। (२) कूँड़ी। अथरी। पथरी। (३) ताँबे का कुंड जिसमें हवन किया जाता है। (४) अथर्ववेद का एक उपनिषद्।

कुंडिन—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर जो विदर्भ देश में था। वहाँ का राजा भीष्मक था, जिसकी कन्या रुक्मिणी को श्रीकृष्ण हर ले गए थे। विदर्भ का आधुनिक नाम बीदर है जो हैदराबाद राज्य में है। बीदर से कुछ दूर पर कुंडिलवर्ती नाम की एक पुरानी नगरी आज तक है जिसमें पूर्व समृद्धि के चिह्न पाए जाते हैं। यही स्थान प्राचीन कुंडिनपुर हो सकता है।

कुँडिया—संज्ञा स्त्री० [सं० कुंड] (१) एक चौखूँटा गड्ढा जो शोरे के कारखानों में होता है। यह गड्ढा दो हाथ चौड़ा, पाँच हाथ लंबा और हाथ भर गहरा होता है। शोरा जमाने के लिये इसमें नोनी मिट्टी पानी में मिलाकर डाली जाती है। कोठी। (२) मिट्टी का बरतन जिसमें बादले की पिटाई करनेवाले पीटने के लिये बादला रखते हैं। कूँडी।

कुंडी—संज्ञा स्त्री० [सं० कुंड] पत्थर वा मिट्टी का कटोरे के आकार का बरतन जिसमें लोग दही, चटनी आदि रखते हैं। कुंडी में भाँग भी घोंटी जाती है।

यौ०—कुंडी सोंटा=भाँग घोटने का सामान।

संज्ञा स्त्री० [हिं० कुंडा] (१) जंजीर की कड़ी। (२) किवाड़ में लगी हुई साँकल जो किवाड़ को बंद रखने के लिये कुंडे में फँसाई वा डाली जाती है।

क्रि० प्र०—खोलना।—बंद करना।

मुहा०—कुंडी खटखटाना=द्वार को खुलवाने के लिये साँकल को जोर जोर से हिलाना। **कुंडी देना, मारना, लगाना**=कुंडी बंद करना।

(३) लंगर का बड़ा छल्ला जो उसके सिरे पर लगा रहता है। संज्ञा स्त्री० [सं० कुंडल] मुर्रा भैंस जिसके सींग घूमे हुए होते हैं। दे० "मुर्रा"।

कुंडू—संज्ञा पुं० [देश०] काले रंग की एक चिड़िया जिसका कंठ और मुँह सफ़ेद तथा पूँछ पीली होती है। लंबाई में यह ११ इंच की होती है। यह काश्मीर से आसाम तक मिलती है। इसे कस्तूरा भी कहते हैं।

कुंडोदर—संज्ञा पुं० [सं०] महादेवजी का एक गण। उ०—विरूपाक्ष कुंडोदर नामा। रहिहैं तुव समीप सब यामा।—रघुराज।

कुंढ़वा†—संज्ञा पुं० [सं० कुंड] मिट्टी का कूजा। कुल्हिया। पुरवा।

कुंत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गवेधुक। कौड़िल्ला। केसई। (२) भाला। बरछी। उ०—कुवलय विपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा।—तुलसी। (३) जूँ। (४) चंड भाव। क्रूर भाव। अनख।

कुंतल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिर के बाल। केश। उ०—श्रवण मणि ताटंक मंजुल कुटिल कुंतल छोर।—सूर। (२) प्याला। चुक्कड़। (३) जौ। (४) सुगंधबाला। (५) हल। (६) संगीत में एक प्रकार का ध्रुपद जिसके प्रति पाद में १६ अक्षर होते हैं। (७) एक देश का नाम जो कोंकण और बरार के बीच में था। (८) संपूर्ण जाति एक राग जो दीपक का चौथा पुत्र माना जाता है। इसके गाने का समय ग्रीष्म ऋतु का दोपहर है। (९) सूत्रधार (अने०)। (१०) वेष बदलनेवाला पुरुष। बहुरूपिया (अने०)। (११) राम की सेना का एक बंदर।

कुंतलवर्द्धन—संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज। भँगरा। भँगरैया।

कुंतली—संज्ञा स्त्री० [सं० कुंत=भाला] एक छोटी मक्खी जिसके छत्ते से 'डामर' नाम की मोम निकलती है। इन मक्खियों को डंक नहीं होता। अलमोड़ा, बेलगाँव, छिंदवाड़ा, ख़ानदेश आदि में ये मक्खियाँ बहुत होती हैं।

पर्या०—कुंती। भिनकवा। नसरी। बँकुआ।

कुंता*†—संज्ञा स्त्री० दे० "कुंती"।

कुंतिभोज—संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा का नाम जिसने पृथा को गोद लिया था।

कुंती—संज्ञा स्त्री० [सं०] युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम की माता। पृथा।

विशेष—यह शूरसेन यादव की कन्या और वसुदेव की बहन थी। इसे इसके चचा भोज देश के राजा कुंतिभोज ने गोद लिया था। यह दुर्वासा ऋषि की बहुत सेवा किया करती थी, इससे उन्होंने इसे पाँच मंत्र ऐसे बतलाए जिनके द्वारा वह पाँच देवताओं में से किसी को आह्वान कर पुत्र उत्पन्न करा सकती थी। उसने कुमारी अवस्था में ही सूर्य्य से 'कर्ण' को उत्पन्न कराया। इसके उपरांत इसका विवाह पांडु से हुआ।

संज्ञा स्त्री० [सं० कुंत] (१) बरछी। भाला। (२) दे० "कुंतली"।

संज्ञा स्त्री० [देश०] कंजे की जाति का एक पेड़ जो मध्य बंगाल, बरमा, आसाम आदि स्थानों में होता है। इसकी

फलियाँ रँगने और चमड़ा सिझाने के काम में आती हैं और बीज से तेल निकलता है जो जलाने के काम में आता है। इसके फलों को टेंटी कहते हैं।

पर्या०—चकेटी। अमलकुची।

कुंथु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनशास्त्रानुसार छठा चक्रवर्ती। (२) जैनियों के मत से वर्त्तमान अवसर्पिणी (काल) का सत्रहवाँ अर्हत्।

कुंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जूही की तरह का एक पौधा जिसमें सफ़ेद फूल लगते हैं। इन फूलों में बड़ी मीठी सुगंध होती है। यह पौधा क्वार से फागुन चैत तक फूलता रहता है। वैद्यक में यह शीतल, मधुर, कसैला, कुछ रेचक, पाचक तथा पित्तरोग और रुधिरविकार में उपकारी माना जाता है। प्रायः कवि लोग दाँतों की उपमा कुंद की कलियों से देते हैं। उ०—बर दंत की पंगति कुंदकली, अधराधर पल्लव खोलन की।—तुलसी।

पर्या०—माध्य। मकरंद। श्वेतपुष्प। महामोद। सदापुष्प। वरट। मुक्तापुष्प। वनहास। भृंगबंधु। अट्टहास। (२) कनेर का पेड़। (३) कमल। (४) कुंदर नाम का गोंद। (५) एक पर्वत का नाम। (६) कुबेर की नौ निधियों में से एक। (७) नौ की संख्या। (८) विष्णु। (९) खराद। उ०—गढ़ि गढ़ि छोलि छोलि कुंद की सी भाई बातें जैसी मुख कहौ तैसी उर जब आनिहौं।—तुलसी।

वि० [फ़ा०] (१) कुंठित। गुठला। (२) स्तब्ध। मंद।

यौ०—कुंद ज़ेहन=कुंठित बुद्धि का। मंदबुद्धि।

कुंदन–संज्ञा पुं० [सं० कुंद=श्वेतपुष्प] (१) बहुत अच्छे और साफ़ सोने का पतला पत्तर जिसे लगाकर जड़िये नगीने जड़ते हैं।

क्रि० प्र०—लगाना।

(२) स्वच्छ सुवर्ण। बढ़िया सोना। ख़ालिस सोना।

विशेष—दमकती हुई स्वच्छ निर्मल वस्तु की उपमा प्रायः कुंदन से देते हैं, जैसे,—कुंदन सा शरीर।

मुहा०—कुंदन सा दमकना=स्वच्छ सोने की भाँति चमकना। कुंदन हो जाना=खूब स्वच्छ और निर्मल हो जाना। निखर आना।

वि० (१) कुंदन के समान चोखा। ख़ालिस। स्वच्छ। बढ़िया। जैसे,—यह कुंदन माल है। (२) स्वस्थ और सुंदर। नीरोग। जैसे,—चार दिन औषध खाओ, तुम्हारा शरीर कुंदन हो जायगा।

कुंदनपुर–संज्ञा पुं० दे० "कुंडिनपुर"।

कुंदन-साज़–संज्ञा पुं० [हिं० कुंदन+फ़ा० साज] (१) कुंदन का पत्तर बनानेवाला। (२) कुंदन देकर नगीना बैठानेवाला। जड़िया।

कुंदर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक घास जो कलिंग देश में होती है और जिसकी जड़ ओषध के काम में आती है। (निघंटु)।

पर्या०—कुंदूर। मिटी। दीर्घपत्र। खरच्छद। रसाल। सुतृण। मृगवल्लभ।

(२) विष्णु।

कुँदरू–संज्ञा पुं० [सं० कदुर=करेला] एक बेल जिसमें चार पाँच अंगुल लंबे फल लगते हैं जिनकी तरकारी होती है। ये फल पकने पर बहुत लाल होते हैं, इसी से कवि लोग ओठों की उपमा इनसे देते हैं। कुँदरू की पत्तियाँ चार पाँच अंगुल लंबी और पँचकोनी होती हैं। इसमें सफ़ेद फूल लगते हैं। वैद्यक में कुँदरू का फल शीतल, मलस्तंभक, स्तनों में दूध उत्पन्न करनेवाला तथा श्वास, दमा, बात और सूजन को दूर करनेवाला माना गया है। इसकी जड़ प्रमेह-नाशक और धातुवर्द्धक मानी गई है। बरई प्रायः अपने पान के भीटों पर परवल की तरह इसकी बेल भी चढ़ाते हैं। कुँदरू के विषय में यह प्रवाद चला आता है कि यह बुद्धिनाशक होता है।

पर्या०—बिंबी। बिंबा। रक्तफला। तुंडी। ओष्ठोपमफला। पीलुपर्णी। ओष्ठी। कर्म्मकरी। गोह्णी। छर्दिनी।

कुँदना–संज्ञा पुं० [हिं० कुंदन=सोना] बाजरे का एक रोग जिससे डंठल लाल हो जाते हैं और बाल में काली काली धूल जम जाती है, और दाने नहीं पड़ते।

कुंदलता–संज्ञा पुं० [सं०] छब्बीस अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसे सुख भी कहते हैं। दे० "सुख"।

कुँदला–संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का खेमा या तंबू।

कुंदा–संज्ञा पुं० [फ़ा०, मिलाओ सं० स्कंध] (१) लकड़ी का बहुत बड़ा, मोटा और बिना चीरा हुआ टुकड़ा जो प्रायः जलाने के काम में आता है। लक्कड़। (२) लकड़ी का वह टुकड़ा जिस पर रखकर बढ़ई लकड़ी गढ़ते, कुंदीगर कपड़े पर कुंदी करते और किसान घास काटते हैं। निहठा। निष्ठा। (३) बंदूक में वह पिछला लकड़ी का तिकोना भाग जिसमें घोड़ा और नली आदि जड़ी होती है और जो बंदूक चलानेवाले की ओर रहता है।

मुहा०—कुंदा चढ़ाना=बंदूक की नली में लकड़ी जड़ना।

(४) वह लकड़ी जिसमें अपराधी के पैर ठोंके जाते हैं। काठ। (५) दस्ता। मूठ। बेंट। (६) लकड़ी की बड़ी मोगरी जिससे कपड़ों की कुंदी की जाती है।

संज्ञा पुं० [सं० स्कंध, हिं० कंधा] (१) चिड़िया का पर। डैना।

मुहा०—कुँदे बाँध, जोड़ या तौलकर उतरना=पक्षी का अपने दोनों पर समेटकर नीचे आना।

(२) कुश्ती का एक पेंच। "दे० कुंडा"। (३) कुश्ती में एक प्रकार का आघात जो प्रतिद्वंद्वी को नीचे लाकर